हिन्दू विश्वविद्यालय श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला
Hindu Vishvavidyalaya Shrimati Saradar
Kunwar Bai Fund Sanskrit Series

Vol. I

वैदिक विश्वदर्शन

लेखक
पण्डित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०

प्रधान संपादक
श्री वासुदेव शरण अग्रवाल

वैक्रमाब्द २०२२] [प्रथम संस्करण

श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

मूल्य ६)

मुद्रक—
लक्ष्मी दास
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी-५

प्राक्कथन

वैदिक विश्व-दर्शन एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके लेखक पं० हरिशंकर जोशी, एम्० ए० हैं। इन्होंने बहुत वर्षों तक वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। उसके फलस्वरूप उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें अनेक वैदिक परिभाषाओं की स्पष्ट व्याख्या की गई है। इनके नाम पाठक विषय सूची में देख सकते हैं। वेद-विद्या सृष्टि-विद्या का ही विवेचन है। वेदार्थ के जिज्ञासु पाठकों को यहाँ अनेक वैदिक परिभाषाओं और प्रतीकों के स्पष्ट विवरण प्राप्त होंगे।

श्री जोशी जी वेद और ब्राह्मण दोनों की सामग्री को साथ लेकर चलते हैं। वेदों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय पद्धति भी यही थी और इसी का पुनः उद्धार होना चाहिए।

हमें इस बात की प्रसन्नता है कि काशी विश्वविद्यालय से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। भाग १ में लगभग आधा ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसका शेषांश भाग २ के रूप में प्रकाशित होगा। हम श्री एन० एच० भगवती, कुलपति और श्री ज्योतिभूषण जी गुप्त, कोषाध्यक्ष के अनुगृहीत हैं कि उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की विशेषनिधि 'सरदार कुवर बाइ फण्ड' के अन्तर्गत इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति और स्वीकृति प्रदान की। यह निधि विशेष संस्कृत ग्रन्थों के लिए विश्व-विद्यालय को मिली थी। उसका इस प्रकार सदुपयोग कल्याणकारी है। आशा है, इससे ग्रन्थ लेखक पं० हरिशंकर जोशी को जो इस समय काशी में ही निवास कर रहे हैं और अन्य सब वैदिक विद्वानों को भी प्रसन्नता होगी। काशी विश्वविद्यालय मुद्रण संस्थान के प्रवन्धक श्री लक्ष्मीदास जी, जिन्होंने इस ग्रन्थ का धैर्यपूर्वक मुद्रण किया है, धन्यवाद के पात्र हैं।

वासुदेवशरण

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं० २०२२
२-४-१९६५

सूची-पत्र

अध्याय १

सच्चीवेद व्याख्या पृ० १-१२

साक्षात्कृत धर्मा ऋषि पृ० १, वैदिक ऋषियों का मुख्य लक्ष्य पृ० १-२, ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य पृ० २, वेद व्याख्या में ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व पृ० २-३, वेद व्याख्या में कर्मकाण्ड का महत्त्व पृ० ३-३, वेद स्वयं ब्रह्म है पृ० ३-४, वेदों की प्राचीन व्याख्यायें, ब्राह्मण और उपनिषद् पृ० ४-४, प्राचीन युग में कर्मकाण्ड वेदार्थ की ही विधि थी पृ० ५-५, वेदों में कर्मकाण्ड के महत्त्व का प्रमाण पृ० ५-५, संहिता युग में ही वेदार्थ लुप्त होने के संकेत पृ० ५-७, संहिता युग में ही याज्ञिकों के सोम सम्बन्धी अज्ञान का संकेत पृ० ७-८, वेदों में वर्णित देवासुर संग्राम का रहस्य पृ० ८-८, उपनिषत्कारों ने प्राचीन ऋषियों का सम्मत वेदार्थ ही दिया है पृ० ८-९, वाल्मीकि और उनके परवर्ती ग्रन्थों के समय वेदार्थ की श्रुतियों के नष्ट होने का संकेत पृ० ९-१०, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति का वेद-व्याख्या का गुप्त प्रयास १०-११, वेदार्थ के प्राचीन असफल प्रयत्न ११-१२, देवों की अति स्तुति ही देवों और वेदों की सच्ची व्याख्या है १२ ।

अध्याय २

पृ० १३-२७

वेदों का आत्मा और विद्यापरक अर्थ पृ० १३-१६

परोक्ष प्रिय देव १७-१८, कर्मकाण्ड विद्या १८-२०, वैदिक हवन २०-२१, अश्वमेध तत्त्व २१-२३, अग्नि तत्त्व २३-२४, अग्नि का स्वरूप, यूप और यजमान २४-२६, परिमर २६-२७।

अध्याय ३

वैदिक व्याख्या की सात योग्यताएँ पृ० २८-३४

पूर्व वैदिकों के ज्ञान की परिस्थिति २८-२९, कल्प ज्ञान ३०-३१, निरुक्त की अनुपादेयता ३१, व्याकरण ज्ञान ३१-३२, अहोरात्र सिद्धान्त ३२-३३, वैदिक छन्द शास्त्र ३३, वैज्ञानिक दृष्टिकोण ३४, वैदिक पृष्ठ-भूमि ३४ ।

अध्याय ४

वैदिक विश्व दर्शन के तत्त्वों का निर्णय पृ० ३५–७५

प्रस्तावना ३५, चक्रवाद ३६, अष्टचक्र ३६–३७, इन्द्राष्टचक्री ३७–३८, पुस्करपर्णी, अष्टचक्र ३८, अष्टौ आयतनानि, अष्टौ लोकाः, अष्टौ पुरुषाः ३८–३९, ऊर्ध्वबुघ्न, सृष्टिवृक्ष, सप्तभुवन, षडुर्वी ३९–४१, अष्टौपुरुषाः ४१–४२, सप्तचक्री सप्तवाद ४२–४३, नाना सप्त ४३–४६, सप्त प्राणवाद ४६–४७, सप्त संसदः ४७, सप्त मुखः, सप्त रश्मिः ४७, सप्त शीर्ष्णीः ४७–४८, सप्त हस्त, सप्त छन्द या सप्त वाणी ४८ सप्तमातरः ४८, सप्तस्वसारः ४८, सप्त सिन्धवः ४८–४९, सप्तार्णवाः ४९, सप्त मर्यादाः ४९, सप्त परिधयः ४९, सप्त तन्तुः ४९, सप्त वाजिनः आदि ४९–५२, षट्चक्र या षड्वाद ५२–५४, पञ्चचक्र या पञ्चवाद ५४–५५, अङ्गुलिसरणि ५५-५६, पञ्चचक्रों के अनेक नाम और रीति ५६-५७, चतुष्चक्र ५७, त्रिचक्र ५७–६१, त्रिः सप्तवाद ६१, त्रिः सप्तवाद का आधार ६२, त्रिः त्रिसप्तनद्यः ६२, त्रिसप्तधेनवः ६२, त्रिसप्तपर्वताः ६३, त्रिः सप्त विस्फुलिङ्गाः ६३, त्रिः सप्त रश्मयः ६३–६४, त्रिः सप्तधातवः ६४, त्रिः सप्तपदाः ६४, त्रिः सप्त-सत्वाः ६५, त्रिः सप्त रत्नानि ६५, त्रिः सप्त अश्वाः ६५, त्रिः सप्तमयूर्यः ६५, त्रिः सप्त तन्तु आदि ६६–६७, द्विचक्रवाद ६७, द्विचक्र का स्वरूप ६७–६८, द्यावा पृथिवी ६८–६९, दो चमू, दो उत्तान पद आदि ६९, अदिति, दिति ६९–७०, अवस्तात्, परस्तात् ७०, अवरः, परः ७०–७१, सत्यानृतम् ७१, ऋतं-अनृतम् ७१, असद् और सद् ७१, "असद् सद्" ७१, स्वस्ति पन्था ७१, क्षेम्या धूः, उत्तरा धूः ७२, अर्वावत, परावत ७२. पूर्वासः, उपरासः आदि ७२, द्विता नक्षत्रं ७२, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष ७२–७३, देव, असुर, सुरासुर आदि ७३, त्रिपाद्ब्रह्म, चन्द्रमा (सोम) ब्रह्म ७३, क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रविद्-क्षेत्र ७३, अक्षर ब्रह्म, क्षर ब्रह्म ७३, प्राणाः नामरूपे कर्म च ७३, विद्या-अविद्या ७३–७४, विरजः, रजः ७४, एक चक्र ७४–७५,

अध्याय ५

पृ० ७६–१०१

छान्दस-दर्शन

षडङ्गों से वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय

षडङ्गों का महत्त्व, शिक्षा दर्शन से तत्त्व निर्णय ७६, कल्प और व्याकरण ७६, छान्दस-दर्शन, वैदिक काल में छान्दस-दर्शन की महिमा और स्थिति, सुपर्ण छान्दस दर्शन का तत्त्व ७८–७९, छन्द और ऋषि तथा इनके देवता ७९–८०, छन्दाक्षरों से तत्त्व दर्शन ८०, छन्द पशु क्यों कहलाते हैं, देवतानुसार छन्दों का प्रयोग ८१, छन्दानुसार तत्त्व का नाम परिवर्तन ८३, छन्दाक्षरों की उत्पत्ति ८३ ।

अध्याय ६

पृ० ८६-१०१

ज्योतिष और संवत्सर ब्रह्म द्वारा तत्त्व निर्णय

अंक निर्देश द्वारा तत्त्व निर्णय ८६, कई प्रसिद्ध तत्त्वों का स्थानीय नाम, छन्दाक्षरों द्वारा अक्षर ब्रह्म व्याख्या ८७, संवत्सर ब्रह्म और अहोरात्र की नाना सरणियाँ ८८, संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति, ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म ८९, पितृ अर्धमासीय संवत्सर ब्रह्म ९२, षोडशकल ब्रह्म ९३, मानुष अहोरात्रवादी संवत्सर ब्रह्म ९४, ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म ९५, गर्त, विषुवान्, अयनवादी संवत्सर ब्रह्म ९६ ।

अध्याय ७

पृ० १०२-११९

अक्षर ब्रह्म या वैदिक विश्व दर्शन के तत्त्वों का अङ्कों में निर्देश। वेदों में अङ्कवादशैली की प्रचुरता, यजुर्वेद के दो प्रकार के अङ्कों का रहस्य, तै० ब्रा० में इकाई-दहाई क्रम में २० कोटियों के नाम १०२, यजुर्वेद के सम-विषम अङ्कों के विषय की व्याख्या का उल्लेख १०३, वैदिक दर्शन के तत्त्वों की संख्या क्रम से कुछ तत्त्वों के नाम, तत्त्वों का संख्या रूप में विभाजन १०४, संवत्सर के दिन रूप अंशों की क्रमिक विकासीय व्याख्या १०५, अक्षर ब्रह्म के अक्षर और वेदों के मन्त्रों की संख्या १०६, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन की व्याख्या से अक्षर संख्या, पञ्चात्माएं १०७, गौरीर्मीमाय मंत्र से अक्षर ब्रह्म के अक्षरों की संख्या १०८, तदनुरूप अन्यऋचाओं द्वारा अक्षर संख्या, सप्तवादादि और छन्दों द्वारा अक्षर निर्णय १०९, व्रत, व्रात, व्रात्य वर्णन ११०-१, भूर्भुवः स्वः, श्री की उत्पत्ति ११२, विषुवत वर्णन ११३, अक्षर ब्रह्म की आसन्दी ११३, अहोरात्र सिद्धान्त में सूर्यचन्द्र, अहोरात्र के अनन्ताक्षर ११५, वे ही ऋचो अक्षरे के भी अक्षर हैं ११६, युगाक्षर ११७, सांख्य और योग के अक्षर ११८ ।

अध्याय ८

पृ० १२०-१३४

वैदिक दर्शन पर वैदिक पशुवाद या कल्प का नोहारावृत परदा, पशुवाद स्थापना का कारण, पशुवध का रहस्य, पशु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ-१२०, वेदों में पशुओं के प्रकार-१२१, छन्दों को पशु क्यों कहते हैं ?-१२२; मुख्य छन्द और छन्दों का तत्त्वों से तादात्म्य-१२३, देवपशु-१२४, पशुवाद का लक्ष्य, कथा रूप पशु-१२५, देवता नाम भी पशु ही हैं प्रत्येक देवता को पशु कहा है-१२६, प्रत्येक देवता का सम्बन्ध पशु से है; पशु नाम की सार्थकता-१२७, यज्ञादि भी पशु हैं-१२८, पशुवाद को न समझने वालों की हँसी उड़ाई जाती रही, पशुवाद को समझने वाले आचार्य और

यजमान की संविद्–१२९, स ऐक्षत आदि वाक्य और सब कथानक पशु हैं–१३०, कथानकों का खोल, इन्द्र-वृत्र युद्ध की पशुता–१३१, पशुता स्वयं वैदिक भावना है—इसका प्रमाण, सृष्टि-वृक्ष रूप पशुता १३२, पशुवाद कितना ग्राह्य है, कितना त्याज्य–१३४।

अध्याय ९

पञ्चपर्वा विद्या — पृ० १३५–१४६

पञ्चपर्वा विद्या किसे कहते हैं?, पञ्चपर्वा का विषय–१३५; दुर्ग और दुर्गा, गंगादि की पञ्चपर्वा विद्या–१३७, पञ्चपर्वा की महत्ता १३८, पञ्चपर्वा के पञ्च पर्व–१३९, पञ्चपर्वा और हमारे पर्व, पञ्चपर्वा और स्त्री, पञ्चपर्वा और हमारे मेले त्योहार १४१, पञ्चपर्वा तथा संवत्सर ब्रह्म यज्ञ–१४२, पञ्चपर्वा और पर्वत १४३, पञ्चपर्वा और वृक्ष, नदी, सागर, पञ्चपर्वा और कूटस्थ–१४५, पञ्चपर्वा और पर्वतों के दो प्रकार–१४६।

अध्याय १०

अष्टौ लोकाः — पृ० १४७–१५३

अष्टलोक कौन हैं?, सृष्टि वृक्ष का स्वरूप–१४७, वेदों में भूर्भुवः स्वः शब्दों के प्रयोग किस लोक के लिए हैं?, भुवः और भूः–१४८, भूर्लोक ब्रह्म लोक है, षडुर्वी कौन हैं?–१४९, सृष्टिवृक्ष में भूर्भुवः स्वः आदि का स्थान, भूः और पृथ्वी–१५०, भूः प्रजापतिः–१५१, देवलोक और देववर्णों का तादात्म्य, ऋग्वेद में सात भुवन, सृष्टि कल्प में लोकों का स्थान–१५२।

अध्याय ११

अष्टौ पुरुषाः–अष्टौ प्रजापतयः — पृ० १५४–१६५

विश्पति या प्रजापति का स्थान–१५४, प्रजापति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में, प्रजापति शब्द किनके लिए आया है?–१५५; वास्तविक प्रजापति कौन है?; संवत्सर ब्रह्म के विकासीय तत्त्वों का नाम भी प्रजापति है–१५७, तत्त्वों के क्रमिक संख्या से प्रजापति का संकेत, कः प्रजापतिः–१५८, कं या शं प्रजापति १५९; नामतः उल्लिखित प्रजापतियों का तत्तत् संख्या से तादात्म्य–१६०; अनिरुक्त और निरुक्त प्रजापति–१६१; वैदिक और पुराणों के प्रजापतियों का मूल स्रोत–१६२, ऋषिरूप प्रजापति–१६३, पुराणों के प्रजापतियों से तादात्म्य–१६४।

अध्याय १२

पृ० १६६–१७४

विश्व ब्रह्माण्ड का आदि मूल बिन्दु, भौतिक ब्रह्माण्ड का मध्य मूल बिन्दु–१६६, पुरुष या अक्षर ब्रह्म एक है या अनेक?–१६८, सुपर्ण और द्वा सुपर्णा, व्यक्त ब्रह्माण्ड का विकास–१६९, व्यक्त या परमाणु से क्रमिक

विवर्त–१७०, स्थूल सृष्टिका प्रारम्भिक स्वरूप, ग्रह निर्माण, इस पृथ्वी का प्रकट होना और आर्यों का आदि स्थान–१७१, आर्य और शूद्र, वेदवृक्ष–१७३।

अध्याय १३

ब्रह्मविषयक वैदिक रहस्य की संकेतावलि पृ० १७५–१८४

शाखानुसार ब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम–१७५, हिरण्यगर्भ शब्द या तत्त्व का रहस्य–१७६, ब्रह्म के पञ्चपर्वा विद्यापरक नामों की व्युत्पत्ति–१७७, नैयायिक तथा वैयाकरणों का शब्द विग्रह–१७८, शब्द ब्रह्म क्या है ?–१७९, बृहस्पति शब्द ब्रह्म–१८१, बृहस्पति और पञ्चपर्वा विद्या–१८१, पर्व-पार्वती और दक्ष–१८२, ब्रह्मविषयक अनुश्रुतियां–१८३ ।

अध्याय १४

वेदों की प्राण-विद्या पृ० १८५–१९८

प्राणों का स्वरूप–१८५, प्राणों के बारे में श्रुतियां–१८६, अन्य श्रुतियां –१८७, दश प्राण आदि की व्याख्या, मुख्य प्राण और उनकी व्याख्या–१८८ ।

अध्याय १५

अश्वमेध, पुरुषमेध (या नरमेध), गोमेध और पितृमेध पृ० १८९–१९५

सु, असु, स्व, स्वा, स्वाहा–१८९, श्वा, अश्वा, मातरिश्वा आदि १९०, असु, अश्रु, अश्म, अन्नम् और पृश्निः–१९१, चन्द्र और श्वश्रू, श्वसुरः–१९२; अश्व और अश्वमेध–१९३ ।

अध्याय १६

पृ० १९६–२०२

गणानान्त्वादि मन्त्र और अश्वमेध–१९६; गणानान्त्वादि मन्त्र और कात्यायन, महीधर तथा उव्वट, दार्शनिक गर्भ का वर्णन–१९७, पूर्वोक्त का भाव, दधिक्राब्णो अकारिषं मन्त्र का वास्तविक अर्थ–१९८, उक्त व्याख्या का निर्णय–१९९, अश्वमेध का महत्त्व, गोमेध–२००, पुरुषमेध–२०१, शुनःशेप का नरमेध–२०२ ।

अध्याय १७

गुहा या त्रिःसप्तवाद पृ० २०३–२१५

गुहा शब्द की पारिभाषिकता, गुहा और त्रिःसप्त तथा त्रिपादमृत–२०३, गुहा और दो चक्र, वाणी के चार पद कौन-कौन हैं–२४, चत्वारी वाक् पदानि और परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी–२०६, उपनिषदों में गुहा का प्रयोग–२०७, शारीरिक गुहा–२०८, यजुर्वेद और गुहा–२१०, दासं वर्णमधरं गुहाकः का अर्थ, सनातन धर्म–२११, आज का धर्म, वास्तविक धर्म हैं, वास्तव में धर्म तत्त्व गुहा में ही है–२१४।

अध्याय १८

वैदिक आर्यों का नासद् नोसद्वाद पृ० २१६–२३१

वैदिक दर्शन के तत्त्वों के दो भाग, प्राचीन और नवीन सदसद्वाद, अभाव को तत्त्व मानने का कारण–२१६, सदसद्वाद का सेतुबन्ध, असत्-सत् और ऋत.नृत या सत्यानृत–२१७, असत् सत्महिमा और उत्पत्ति–२१८, असत् से सृष्टि का आरम्भ–२२०, असन्नाम के ऋषियों से सृष्ट्यारम्भ–२२१, असत्सद् और नासन्नोसद्–२२३, यजुर्वेद में असत्सद्–२२४, उपनिषदों में असत्-सद्–२२५, असत् सत् के लिए अन्य पारिभाषिक शब्द, बृहदारण्यक में असत्-सद् के अन्य नाम–२२६, गीता में असद्-सत्–२२७, अव्यक्त और व्यक्त–२२८, सत् का स्वरूप–२२९, असतो मा सद्गमय आदि की व्याख्या–२३० ।

अध्याय १९

वेदों में अग्नि पृ० २३२–२४२

वेदों में अग्नि की महिमा, कर्मकाण्ड और दर्शन में अग्नि का भेद–२३२, अग्नि की गवेषणा–२३३, अग्नि को ब्रह्म क्यों कहते हैं–२३४, अग्नि का सम्बन्ध कई विद्याओं से है–२३५, अग्निवाद विद्युद्वाद है, अग्निर्देवता के अनेक उद्धरण–२३६, ब्रह्म का नाम अग्नि रखने का रहस्य–२३८, इन्द्र और अग्नि, ज्ञानरूप अग्नि–२३९, संस्कार रूप अग्नि–२४०, वेदों में अग्नि का इतना महत्त्व क्यों है–२४२ ।

अध्याय २०

घृत और आज्य पृ० २४३–२४५

अग्नि, रेतः–२४३, अग्नि का नाम घृतपृष्ठ, आज्य शब्द की व्याख्या–२४४ ।

अध्याय २१

आपो ब्रह्म और पञ्चामृत, वैदिक और तांत्रिक पृ० २४६–२५६

आपः–२४६, सभी ग्रन्थों में सृष्टि का आरम्भ अप् से–२४७, ब्राह्मण ग्रन्थों में आपः की व्याख्या–२४८, उपनिषदों में अप् की व्याख्या–२४९, पञ्च या सप्त सागर–२५१, आपो ब्रह्म और आपो देवी के सागरों के स्थानों का अन्तर–२५२, आपो देवियों का वर्णन, भौतिकात्मा और आसुरी खोल–२५३, आधुनिक युग और भौतिक आत्मा, आपो ब्रह्म का विकास क्रम–२५४, रेणु और सोम, आपो देवी और पौराणिक विष्णु–२५५ ।

अध्याय २२

चतुष्पाद् ब्रह्म और चार वर्ण पृ० २५७-२६७

छन्दोदर्शन द्वारा वैदिक दर्शन—२५७, देवताओं के पादादि छन्दों के ही पाद हैं—२५८, अवस्थाओं, वेदों, अङ्गों और देव विभागों से चतुष्पाद्—२५९, कर्मकाण्ड में चतुष्पाद् ब्रह्म—२६०, सप्तकों द्वारा चतुष्पाद् ब्रह्म, श्राद्ध तथा देवताओं द्वारा चतुष्पाद—२६२, चतुष्पाद ब्रह्म की चार आत्माएँ कौन हैं—२६३, चार वर्ण—२६४, वैदिक चतुष्पाद ब्रह्म और वैदिक वर्ण—२६५, वैदिक दर्शन के तत्त्व रूप ब्राह्मण, वैदिक और पौराणिक ऋषियों में रूपान्तर—२६६।

अध्याय २३

पृ० २६८-२८२

हमारा वास्तविक ब्रह्म-सूत्र (गायत्री ब्रह्म), गायत्री और वैदिक दर्शन, जनेऊ और चोटी क्यों रखते हैं—२६८, गायत्री क्या वस्तु है—२६९, गायत्री ब्रह्म और छान्दोग्य उपनिषद्—२७०, वेद और गायत्री—२७१, गायत्री और सप्तलोक—२७२, ब्रह्मोपनिषद् में गायत्री की व्याख्या—२७३, अजपा गायत्री—२७४, गायत्री और दिव्य शरीर २७५, गायत्री के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में कथाएँ—२७७, गायत्री मंत्र की प्रसिद्ध व्याख्या—२७९, गायत्री और उपाकर्म, गायत्री के सूत्र—२८०, गायत्री सम्बन्धी श्रुतियाँ—२८१।

अध्याय २४

दाशराज्ञ-युद्ध पृ० २८३-२९२

वेद और उनके रहस्य की पृष्ठभूमि, दार्शनिक दाशराज्ञ युद्ध किनमें हुआ ?—२८३, ऐतिहासिक दाशराज्ञ-युद्ध किनमें हुआ—२८४, दाशराज्ञ-युद्ध का कारण—२८५, दिवोदास और सुदास कौन थे ?—२८७, दाशराज्ञ-युद्ध और वृत्र तथा दास किस जाति के थे—२८८, वसिष्ठ और विश्वामित्र—२८९, दाशराज्ञ-युद्ध में वसिष्ठ विश्वामित्र की स्थिति—२९०, दाशराज्ञ-युद्ध में आधुनिकों का मत—२९१।

अध्याय २५

ऋषयः पृ० २९३-२९८

ऋषितत्त्व का महत्त्व, ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति, वेदों में मुख्य ऋषियों के नाम—२९३, ऋषि और महर्षि में अन्तर—२९४, सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि से—२९६, तत्त्वरूप ऋषियों की प्रशंसा, पुराणों के ऋषि, मरुत् भी ऋषि हैं—२९८।

अध्याय २६

अदिति और दिति पृ० २९९–३०५

अदिति के बारे में आधुनिकों के मत, अदिति सर्वा देवता–२९९, अदिति की अनेक व्याख्यायें–३०१, अदिति विश्वे देवता–३०३, दितिः–३०४, अदिति, दिति और गर्त–३०५, पुराणों में अदिति और दिति–३०५, अदिति और उसके पुत्र।

अध्याय २७

पृ० ३०७–३१२

अत्रिजन्म कथा–३०७, अन्न ब्रह्म किसे कहते हैं–३०९, परजन्य की उत्पत्ति–३१०, उपनिषदों में अन्न ब्रह्म–३१२।

अध्याय २८-२९

निर्ऋतिः पृ० ३१३–३१

निर्ऋति के बारे में भ्रम, निर्ऋति के सूक्त और भाष्य–३१३, निर्ऋति के बारे में सर्वैकमत्य, शतपथ ब्राह्मण का दिया भाष्य, निर्ऋति के जन्म आहुः की कथा–३१५, यजुर्वेद में दिए मन्त्रों का शतपथ ब्राह्मण में अर्थ–३१६, निर्ऋति निर्णय का विचार–३२७, संदर्भीय पृथिवी और गौ–३१९, निर्ऋति का निर्णय–३२०, निर्ऋति के सम्बन्ध में कई अन्य बिखरे मन्त्र–३२१।

अध्याय ३०

वृषभः–३२२ पृ० ३२२–३२३

अध्याय ३१

वृषभः पृ० ३२३–३२८

वृषभ विश्वे देवता का स्थान–३२४, किसको वृषभ रूप में वर्णित किया गया है–३२५, मुद्गल इन्द्र का इतिहास–३२७, नामकरण कारण, वृषभ और गौ पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं–३२८।

वैदिक विश्व-दर्शन

अध्याय १

सची-वेद-व्याख्या

निरुक्त में ऋषियों को 'साक्षात्कृत धर्मा' कहा गया है। इसका आशय यह है कि ऋषियों ने अपने मेधा बल से सृष्टिविद्या के मौलिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था। उन तत्त्वों को उन्होंने मन्त्रों में

१—साक्षात्कृत धर्मा ऋषि

ग्रथित किया है। वैदिक युग में देवता, छन्द, ऋषि, स्तोत्र आदि तत्त्वों के रूप में अमृत और मर्त्य, अभौतिक और भौतिक सृष्टियों का विचित्र वर्णन पाया जाता है। अनेक रहस्यात्मक विद्याओं के रूप में ऋषियों ने सृष्टि के तत्त्वों को समझ कर उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए 'देवरथ विद्या' ऋग्वेद की एक महत्त्व पूर्ण विद्या है। जिस प्रकार कोई रथ अपने चक्रों से गतिशील होता है, उसी प्रकार यह विश्वरूपी रथ कालचक्र के द्वारा गतिमान् है। कहीं इस रथ को एकचक्र, कहीं सप्तचक्र आदि कहा गया है। कभी एक अश्व और कभी सप्त अश्वों का इसके वाहन रूप में वर्णन है। विश्वरूपी यह देवरथ, देश और काल में अनादि और अनन्त है। इसके रथी, सारथी, नाभि, चक्र, वाहन आदि का पल्लवित वर्णन कितने ही मन्त्रों का विषय है। उन परिभाषाओं को संगत रूप में समझना आवश्यक है। इसी प्रकार देवता, छन्द और ऋषियों के विषय में विस्तृत सामग्री मंत्रों में और ब्राह्मण आदि व्याख्या ग्रन्थों में पाई जाती है। वैदिक संस्कृति के मनीषी उत्तराधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे इस सामग्री की बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत करें और शृङ्ग ग्राहिकया आमने-सामने जूझ कर मन्त्रों के अर्थों का स्पष्टीकरण करें।

ऋग्वेद के ऋषियों ने निरर्गल या निरुद्दिष्ट कुछ कहने के लिए मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया, उनका लक्ष्य सुनिश्चित था, ब्रह्मवाद उनका मूलसिद्धान्त था। ब्रह्म नामक मूल तत्त्व से किस प्रकार सृष्टि का

२—वैदिक ऋषियों का मुख्य लक्ष्य

विकास होता है और उस विकास क्रम में कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक होते हैं, इन सब का सुनिश्चित और स्पष्ट विचार, चित्र और चक्र ऋषियों के मन में था। उसे ही उन्होंने मन्त्रों की भाषा में ढाला है। इन विचारों की साङ्गोपाङ्गमीमांसा ही वैदिक विश्वदर्शन का लक्ष्य है।

हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दृष्टिकोण को मुख्यतः अपनाया है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि वैदिक परिभाषाओं के उद्घाटन के लिए जो प्राचीन सामग्री स्वयं मन्त्रों में, ब्राह्मणों और उपनिषदों में, एवं बहुत अंश तक पुराणों के आख्यानों में भी उपलब्ध है, उसका बुद्धि-परायण उपयोग किये बिना कोई भी वेदार्थ में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कोई प्राचीन या अर्वाचीन टीकाकार कितना भी बड़ा विद्वान् हो, यहाँ उसके व्यक्तिगत पाण्डित्य या अहं का प्रश्न नहीं उठता। यहाँ तो मुख्य उद्देश्य नम्र भाव से उस अर्थ की सम्प्राप्ति है, जो मन्त्रों में ऋषियों को अभीष्ट था और जो सचमुच वैदिक-विश्वदर्शन पर प्रकाश डालता है या सृष्टितत्त्व के किसी रहस्य का उद्घाटन करता है, न कि टीकाकारों के मस्तिष्क से उलझना। इस ग्रन्थ में जिस पद्धति से वैदिक परिभाषाओं पर प्रकाश डाला गया है, हमारी दृष्टि में वह प्राचीन वैदिक सामग्री के सर्वथा अनुकूल है और उसके बिना वैदिक ऋचाओं का अर्थ या भाव ठीक-ठीक लगाना सम्भव नहीं।

३—ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य

वर्तमान युग में अनेक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों ने भी वेदों के सम्बन्ध में पर्य्याप्त परिश्रम किया है। किन्तु वेदार्थ के मार्ग में वे दूर तक हमारी सहायता नहीं करते। अतएव सत्य तक पहुँचने के लिए मन्त्रार्थों का स्वयं अनुशीलन आवश्यक है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि ब्राह्मण ग्रन्थों की मूल्यवान् साक्षी एक ऐसी निर्भ्रान्त कसौटी है जो सदा हमारे साथ रहनी चाहिए और जिस पर पदे-पदे हमें अपने अर्थों की परख करना आवश्यक है। यज्ञीय कर्मकाण्ड और मीमांसाशास्त्र दोनों की वेदार्थ में उपयोगिता है, इसका हम निराकरण नहीं करते; किन्तु केवल मात्र उन्हीं के आधार पर या उन्हीं के आश्रय से वेदार्थ की समस्या का समाधान अशक्य और असम्भव है। उदाहरण के लिए वेदों में अनेक छन्दों और पशुओं का वर्णन आता है। इसके लिए छन्दों की विद्या और वैदिक पशुविद्या, इन दोनों के रहस्यों का अच्छी प्रकार मनन करना होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो लिखा है कि 'छन्द भी पशु' हैं जिसका यज्ञ में आलभन किया जाता है, उसे समझने के लिए सृष्टि क्रम में छन्दों और पशुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को भली प्रकार जानना आवश्यक है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों को एक ओर छोड़कर हम बच निकलना चाहें तो मन्त्रार्थ को समझने में उतनी ही बाधा होगी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रभाग की उस पृष्ठभूमि के पूर्ण वातावरण का स्पष्ट चित्र देते हैं जिस संस्कृति के आधार पर उस (मंत्रभाग) की रचना हुई है, भले ही इनका संकलन और सम्पादन मंत्रभाग के पश्चात् इसलिए किया जाने लगा था कि कुछ लोग उस परम्परागत संस्कृति को भुलानेसे लग गये थे, जिसके संकेत स्वयं मंत्रभाग में भी मिलते हैं (आगे देखें)। इस प्रकार इन

४—वेद-व्याख्या में ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों का मौलिक विषय तो मंत्रभाग की रचना का मुख्य स्रोत और उद्गम या मधु का उत्स है, भाषा और सम्पादन काल परवर्ती है। इसीलिए इन्हें 'वेद' नाम से पुकारा भी जाता है 'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः'। कोई भी साहित्य ऐसी पृष्ठभूमि के बिना सत्ता में ही नहीं आ सकता, यह स्वाभाविक नियम है। अतः वेदार्थ के ज्ञान के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों को प्रामाणिकता में प्रथम पद मिलता है।

५—वेद-व्याख्या में कर्म-काण्ड का महत्त्व

इसी प्रकार कर्मकाण्ड न हेय है, न निरर्गल। यह सृष्टि विषयक ब्राह्म-तत्त्वों की विकास परम्परा का अद्भुत चित्रण करता है। यह बात ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों से स्पष्ट होती है। वहां कोई कण्डिका या प्रपाठक ऐसा नहीं, जिसमें वैदिक दर्शन की विद्युत् का प्रकाश न हो। स्थान-स्थान पर मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की ओर ध्यान दिलाया गया है। किन्तु आज कर्मकाण्ड की उस सर्वाङ्गीण संगति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

६—वेद स्वयं ब्रह्म हैं

वस्तुतः वेद सर्वसम्मत, सर्वदर्शनमय, सर्वज्ञान-विज्ञानमय, सर्वधर्ममय, सर्व रहस्यमय और इस प्रकार के केन्द्र विन्दु हैं जिनमें विद्या की दिव्यमूर्ति है। वेद स्वयं ब्रह्म ही हैं जैसा यजुः (२।२१) और शतपथ ब्राह्मण (१।७।३।२३) में कहा है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद येन देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः।" अर्थात् "हे देव (ब्रह्म)! तुम स्वयं वेद रूप हो, उसी से तुम वेद या ज्ञेय या ज्ञात भी हो और इसी वेदरूप से तुम देवरूपों में (इन्द्रादि रूपों में) वेद या ज्ञेय या ज्ञात हुए हो, अतः तुम मेरे लिए भी इस वेद रूप से ही ज्ञेय और ज्ञात हो जाओ।" इस प्रकार मन्त्रात्मक वेदों में तत्त्वात्मक ब्रह्म का ऐसा तादात्म्य है कि वेद और ब्रह्म दोनों का एक ही अर्थ हो गया है। मंत्रात्मक वेदों में ब्रह्म की व्याख्या सीधे ब्रह्मरूप में कम की गई है, अधिकांश मंत्रों में ब्रह्म की व्याख्या रहस्यरूप में पाई जाती है। इस रहस्य शैली को नीहारावृत शैली कहा गया है जैसे—"नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।" (ऋ० वे० १०।८२।७)। यह नीहार या कुहासा कई प्रकार का है, जैसे देवता-वाद, पशुवाद और दोनों की समासोक्ति या मिला-जुला वर्णन जैसे अक्षाः मण्डूकाः, शकुनिः या कपिञ्जलः। इनके व्याज से क्रमशः देवरथ(अक्षाः),परा वाणी के भौतिक सृष्टि में पृथक्-पृथक् बीज (मण्डूकाः) और इन्द्र (शकुनि और कपिञ्जल) का वर्णन करना ऋषियों का लक्ष्य था। इन नीहारात्मक वादों के अन्तर्गत जिस ज्योतिर्मय रहस्य की प्रतिष्ठा है, वह केवल ब्रह्म या ब्राह्मसृष्टि का विवेचन है। ऊपर के कुहासे को हटा कर ही भीतरी ज्योति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में बहुशः इसी शैली में ब्रह्म विषयक रहस्य की व्याख्या की गई है। उनके शब्दों के पीछे ब्रह्म विषयक

ज्योति अन्तर्निहित है। श्रीमद्भगवद्गीता भी संक्षिप्त शैली में उसी ब्रह्मतत्त्व व्याख्या का संकलन करती है। महाभारत, रामायण, पुराण एवं अन्य धर्मग्रन्थ भी इसी रहस्यात्मक या प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण करते हैं। इनकी परिभाषात्मक शैली ब्रह्म विषयक ज्ञान और विज्ञान से ओतप्रोत है। अतएव पुराणों के समान ही इन सबको पञ्चमवेद कहा जाता है (छान्दोग्य ७।१)।

प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। पर दोनों का सह अस्तित्व है। अज्ञान शरीर है, ज्ञान उसकी आत्मा है।

७—वेदों की प्राचीन व्याख्याएं, ब्राह्मण और उपनिषद्

अतएव जहाँ एक ओर अनूचान, शुश्रुवान्, ब्राह्मण और मनुष्य, देव, ऋषि और महर्षि आदि मेधावी और मनीषी विद्वानों ने वैदिकदर्शन का पूर्ण विकास किया था और तदनुरूप श्रुतियों या आख्यानों का विपुल भण्डार निर्मित किया था, वहाँ ऐसे भी लोग कालान्तर में हुए जो उन प्राचीन अर्थों और विधि-विधानों को विस्मृत करने लगे। तब अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक उन तत्त्वों की व्याख्या की गई। इस कार्य में भी सहस्रों वर्ष लगे होंगे। किन्तु वर्त्तमान काल में उस इतिहास के यथार्थ निर्णय के साधन उपलब्ध नहीं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का अन्तिम भाग वेदान्त या उपनिषद् और आरण्यक कहलाता है। इस वाङ्मय के भी अनेक ग्रन्थ हैं। उपनिषद् साहित्य में दस या पन्द्रह ग्रन्थ अधिक प्राचीन और प्रामाणिक हैं। उपनिषद् (प्राचीन) काल के अनन्तर वैदिक तत्त्वों के विषय में अन्धकार का युग आया हुआ जान पड़ता है। उस समय या तो वेदों को कण्ठस्थ रख कर ही लोग सन्तुष्ट हो जाते थे या यज्ञीय कर्मकाण्ड वा विधि-विधान से सन्तोष कर लेते थे। किन्तु वैदिक तत्त्व-दर्शन की ओर उस प्रकार का आग्रह नहीं हो रहा था। कालान्तर के इस युग में वेदार्थ के लिए वैदिक तत्त्व की अपेक्षा लौकिक व्याकरण और लौकिक निरुक्त पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। 'उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे' आदि लिख कर यास्क ने अपने सम्प्रदायिक लौकिक निरुक्त में इसी परिस्थिति का संकेत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संहिता, श्रुतिमंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों को ही प्रमाण कोटि में लिया गया है। जहाँ गीता, महाभारत, रामायण, पुराण आदि में भी वैदिक धारा का ही प्रवाह मिलता है, उसका भी यदा-कदा संकेत किया गया है। इन ग्रन्थों में ब्राह्म चरित्र को ही ब्रह्म के प्रतिरूप पुरुष देवों या स्त्री देवियों के रूप में ढालकर वर्णित किया गया है। ये सब वैदिक दर्शन के तत्त्वों के लौकिक अवतार हैं।

याज्ञिक अर्थों की धारा भी अपना महत्त्व रखती है। यज्ञों में जो विधि-विधान प्राप्त होता है वह वैदिक-दर्शन को ही प्रकट करता है। उसका उद्देश्य वैदिक तत्त्व की ही व्याख्या है। तब कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्रात्मक विधि

८—प्राचीन युग में कर्मकाण्ड वेदार्थ ज्ञान की ही विधि थी

सज्ञान होती थी। उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति आत्म-दर्शन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब देख सकता था। सोम तत्त्व को पूरी तरह समझने के लिए सोमयाग का परिचय आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्मकाण्ड का भी पर्याप्त महत्त्व था और उसके द्वारा वेदार्थ का ही उपबृंहण किया जाता था। कर्मकाण्ड को जीवित वेद या प्रायोगिक वेद कहना चाहिए।

९—वेदों में कर्मकाण्ड के महत्त्व के प्रमाण

ऋग्वेद के खिल भाग में (८।५८) इस ओर संकेत किया गया है कि यजमान को यज्ञ से किस ज्ञान या संविद् की प्राप्ति होती है? यज्ञ के लिए जब उनके यहाँ अनेक अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण एकत्र होते हैं तब इस कर्मकाण्ड से यजमान के ज्ञान में यह भासमान होता है कि अग्नि (ब्रह्म) केवल एक है, उसी की बहुविध कल्पना या व्याख्या की जाती है। इस समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड की भौतिक आत्मा और स्रोत केवल एक ही सूर्यात्मक प्रकाशित तत्त्व है जिसे अन्यत्र 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। एवं इस भौतिक विश्व की जननी भी केवल एक है जिसे उषा या मनोब्रह्माण्ड या २४ वें तत्त्व का उत्तरार्द्ध कहा जाता है, जिसके लिए अन्यत्र 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा है, वह उषा नेत्री है (उषा वर्णन देखें)। इस प्रकार यज्ञीय कर्मकाण्ड द्वारा यजमान का ध्यान समस्त विश्व के एक मूल स्रोत की ओर आकृष्ट किया जाता था, जिसे अन्यत्र 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' कहा है। यहीं यजमान की संवित् या आत्मोपलब्धि होती थी जैसे—

प्रश्न—"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्॥"

उत्तर—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥"

(ऋ०वे० ८।५८।१-२)

इसी कल्पना के कारण यज्ञीय कर्मकाण्ड को कल्पशास्त्र भी कहा गया।

१०—संहिता युग में ही वेदार्थ लुप्त होने के संकेत

उस युग में भी इस बात के अनुभव किये जाने के प्रमाण मिलते हैं कि कुछ लोग मन्त्रार्थों के आन्तरिक तत्त्व या ब्राह्म पक्ष को न जानकर बाह्य अक्षरों का ही आग्रह करने लग गये थे। इस सम्बन्ध में ऐसे लोगों के लिए कड़ी फटकार भरी निम्नलिखित कुछ ऋचाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥"

(ऋ० वे० १।१६४।३९)

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥"
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥"

(ऋ० वे० १०।७१।४-५)

इनमें प्रथम ऋचा में कहा गया है कि जो अक्षर ब्रह्म के आठ अरब, चौसठ करोड़ अक्षरों (मूल-बीजों) को नहीं जानता, वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा ? इसमें ऋक् पद पर एकशेष समास से ऋक् और यजुः (दर्शन के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध वाची पारिभाषिक) पदों का ग्रहण है। अभौतिक या आध्यात्मिक (पूर्वार्द्ध) के लिए ऋक् और भौतिक (उत्तरार्द्ध) के लिए यजुः प्रतीक हैं। ऋक् और यजुः दोनों में तत्त्वरूप देवताओं का निवास है। जो इस प्रकार ऋक् और यजु से परिचित है, वही विद्वान् वेदों का अधिकारी है। दूसरी ऋचा का तात्पर्य स्पष्ट है, अर्थात् जो याज्ञिक कर्मकाण्ड-निरत होने के कारण वेदों की स्पष्ट वाणी को समझते हुए भी नहीं समझते और सुनते हुए भी अनसुनी करते हैं, उनके लिये वेद का मर्म प्रकट नहीं होता। वेदों की वाणी रूप स्त्री, अनूचान और शुश्रुवान् ब्राह्मणों के पास इस प्रकार अपने आप को प्रकट करती है, जैसे सुन्दर वस्त्र पहने हुए स्त्री अपने अङ्गों को पति के लिए। तीसरी ऋचा का भावार्थ यह है कि कुछ अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण वाग्-ब्रह्म का विवेचन करने वाले स्थिरपीत या आकण्ठतृप्त या सर्वज्ञ होते हैं। वे वेदों के अर्थों को यज्ञों में भी (पूर्वोक्त रीति से) नहीं भुलाते (नैनं हिन्वन्ति वाजिनेषु)। पर जो कर्मकाण्ड की विधियों में उलझ कर अर्थ को भूल जाते हैं, उनके लिए वेदों की वाग्रूपा कामधेनु अधेनु या बाँझ हो जाती है। उनके लिए वेदों की वाणी निष्फल और पुष्पहीन ही रहती है।

इसी प्रकार की ध्वनि उपनिषदों और गीता में भी मिलती है, जैसे :—
"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥"

(कठ २।५)

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥"

(मुण्डक २।८-११)

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

(गीता २।४२-४५)

११—संहितायुग में ही याज्ञिकों के 'सोम' सम्बन्धी अज्ञान का संकेत

सोम को केवल बूटी समझ कर उसे सिल-बट्टों पर घोटकर पी लेने में ही कृतार्थता मानने वाले कर्मकाण्डी लोगों के विषय में कहा है :—

"सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥"

(ऋ० वे० १०।८५।३-४)

इनका आशय यह है कि याज्ञिक लोग जड़ी-बूटी को सिलबट्टों पर पीस कर इसके घोल को पीकर समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम को पी लिया। पर अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण जिसको वेदों में सोम नाम से पुकारते हैं उसे कोई पी ही नहीं सकता वह तो अनुभूति की वस्तु या तत्त्व है। वह वाग्ब्रह्म के नाना विधानों से आच्छादित और सुरक्षित है उसका नाम 'दृषदुपले' (पत्थर) सुनकर ये लोग धोखा खा गये हैं।

अतः वैदिक मंत्र युग में ही वेदार्थ का मर्म जानने वाले कम रह गये थे। इसीलिए अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मणों को 'मनुष्यदेवाः' कहा गया। उनकी उपस्थिति के बिना कोई यज्ञ सफल भी नहीं समझा जाता था। जैसे—

"अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवान्सोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।······मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषामनूचाना नामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति॥"

(श० प० ब्रा० २।२।२।६)

और—

"ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृहत्।"

(श० प० ब्रा० ३।५।३।१२)

शतपथ ब्राह्मण में और भी कहा है :—

"योषा वै वेदिः। तामेतद्देवाश्च पर्यासते। ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसो-ऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोति ॥"

(श० प० ब्रा० १।२।५।१८; तुलना कीजिए ऋ० वे० १०।७१।४)

प्रायः यह समझा जाता है कि वेदों में या ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित देवासुर संग्राम किसी रणभूमि में जमकर लड़ा गया होगा जिसमें एक ओर देवता या आर्य रहे होंगे और दूसरी ओर असुर या अनार्य। यह विचार भी नितान्त निराधार है। वस्तुतः देव और असुर तत्त्वों के या दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के सूचक हैं। इन दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम कहलाता है। इस संग्राम का आधार वैदिक युग में घटित 'दाशराज्ञ' युद्ध है जिसके दो दल आर्यों ही के थे। विश्वामित्र के दल के साथ पाँच जातियाँ अनार्यों की भी सम्मिलित थीं। वेदों का शूद्र शब्द भी आर्यों की ही जाति के एक वर्ग का या अंग का नाम है। इसका विवेचन 'दाशराज्ञ युद्ध' इन्द्र और वृत्र शीर्षकों में स्पष्ट किया गया है। वैदिक देवासुर संग्राम केवल तात्त्विक संग्राम है, यह घोषणा स्वयं वेद कर देता है, जिसका समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थ भी लगभग वैसी ही भाषा में करते हैं, जैसे :—

१२—वेदों में वर्णित देवासुर-संग्राम का रहस्य

(१) "नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥"

(ऋ० वे० १०।२७।३)

"यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥"

(ऋ० वे० १०।५४।२)

(२) "नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतऽइति ह्रासे त्वत्तोह्येव तान्प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्।

"न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्सऽइति ॥"

(श. प. ब्रा. ११।१।६।९-१०)

१३—उपनिषत्कारों ने प्राचीन ऋषियों का सम्मत वेदार्थ ही दिया है

वैदिक रहस्यों का इस प्रकार का उद्घाटन संहिता, ब्राह्मण और उपनिषदों में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। कहीं-कहीं यह संकेत भी मिलता है कि उत्तर काल के विद्वान् जो कह रहे हैं उस प्रकार की व्याख्या पूर्वकालीन अनूचान विद्वानों ने भी की थी, जैसे—

(१) "इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।" (ईश उप.)

(२) "इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।" (केन उप.)

(३) "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।" (कठ ३।१४)

(४) "सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥"
(ऋ. वे. १०।१३०।७)

१४—वाल्मीकि और उनके परवर्ती ग्रन्थों के समय वेदार्थ की श्रुतियों के नष्ट होने के संकेत

ऐतिहासिक कालक्रम से वेदार्थ के रहस्यों को जानने वाली आचार्यों की इस परम्परा का लोप होने लग गया। वाल्मीकि ने सीता की खोज करने वाले सुग्रीव के मुख से इसका संकेत कहलाया है :—

"अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेद श्रुतीमिव।"
(किष्किन्धा काण्ड ६।५)

इसी अन्धयुग की ओर गीता में भी संकेत है :—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(गीता ४।१, २, ३)

गीता में प्रयुक्त 'महता कालेन नष्टः' और रहस्यं पदों से ज्ञात होता है कि यह परम्परा दीर्घकाल तक टूटी रही। यास्क के शब्दों में भी हमें इस प्रकार की ध्वनि मिलती है।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा॥"
(निरुक्त)

वैदिक दर्शन के लुप्त हो जाने के ऐसे संकेत स्मृतियों और पुराणों में भी प्रायः आये हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है :—

"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः काल विप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥
(१।३।१०)

सांख्य दर्शन तो वैदिक विश्वदर्शन का अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण है जिसका विस्तार कठ, श्वेताश्वतर तथा गीता में पाया जाता है।

ज्ञात होता है कि ह्रास की इस परिस्थिति से विवश होकर कुछ विद्वानों ने वैदिक विश्वदर्शन के पुनरुद्धार का भार फिर गुप्त रूप से उठाया। उदाहरण के लिए महाभारत ने कृष्ण चरित्र और गीता ने ब्राह्म पुरुष के दैवी चित्रण और दर्शन प्रस्तुत किये हैं। कृष्ण का नाम वेदों में 'कृष्ण मृग' रूपी यज्ञ के नाम से आता है (श. प. ब्रा. १।१।४।१ और तै. ब्रा.) और छान्दोग्य उपनिषद् 'कृष्णाय देवकी पुत्राय' (१।१७) इन शब्दों में ऐतिहासिक दार्शनिक कृष्ण का उल्लेख करता है।

१५—वाल्मीकि, व्यास प्रभृति का वेद व्याख्या का गुप्त प्रयास

वैदिक विश्वदर्शन में कृष्ण विष्णु के ही भौतिकात्मिक स्वरूप के प्रतीक हैं। पाण्डव भी वैदिक दर्शन के ही प्रतीक हैं, ऐतिहासिक तो हैं ही। इसी प्रकार द्रौपदी उत्तरार्द्ध रूप कृष्ण या रात्रि की वैश्वानराग्नि है, उसे आजकल पञ्चभर्त्री या पाँच पतियों की पत्नी समझा जाता है, पतिव्रताओं में धुरीणा भी, (दोनों परस्पर विरोधी भाव)। पर वह केवल एक भर्त्री ही है, इसका विश्लेषण मार्कण्डेय पुराण ने निम्न प्रकार दे रखा है जिसके अनुसार ही उसे पतिव्रताओं में अग्रगण्या कहा भी जा सकता है, अन्यथा नहीं, जैसे—

"यदिन्द्रदेहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः।
कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः॥
बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत।
शक्रवीर्य्याद्धृतश्चैव जज्ञे पार्थो धनञ्जयः॥
उत्पन्नौ यमजौ माद्र्यां शक्ररूपौ महाद्युती।
पञ्चधा भगवानित्थमवतीर्णः शतक्रतुः॥
तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात् (वैश्वानराग्नेः)।
शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित्॥"

(मार्क. पु. अध्याय ५ श्लोक २१-२४)

इसी प्रकार राम गायत्री ब्रह्म हैं। 'गीते वा रमते' (गायत्री श. प. ब्रा. ६।१।१-१५) सीता वेदों की प्रसिद्ध सीता या कृषि विद्या है। इस प्रतीक में सृष्टि ही प्रजापति की कृषि है। दुर्गा वाग्ब्रह्माणी सप्तकादि रूप सप्त दुर्गमती है। मोहिनी अवतार सतीरूप या भौतिकी सृष्टिरूप प्रेयसी तत्त्व है। यह भौतिकात्मा विष्णु या सोम की प्रतिपक्षिणी है। अतः विष्णु का अवतार कही गई है। त्रिपादामृत रुद्रतो इसका महादेव (वृषभो रोरवीति) पति है, वही इसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं; मोहिनी पाने के लिए या भौतिकात्मा पाने के लिए। मोहिनी वास्तव में आसुरी या राक्षसी प्रकृति या माया या भौतिक वाणी रूप भौतिकात्मा है। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेताश्व उप. ४. १०) और "मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥" (गीता ६।१२)। इस प्रकार पुराण वेदों के ही देवताओं की व्याख्या करते हैं। पुराणों में वैदिक विश्व दर्शन के ही रहस्यों का उद्घाटन

पाया जाता है। इन कथाओं के गूढार्थ को वही समझ सकता है जो वैदिक विश्वदर्शन को भली भांति जानता है। कहा जा सकता है कि पुराणों ने ही आख्यानों के रूप में वैदिक संस्कृति की परम्परा को पुनरुज्जीवित और सुरक्षित रखा है। पुराणों की अनेक कथायें आज भी उसी वैदिक युग की हैं। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में कई बार पुराणों को भी वेद नाम से पुकारने का उल्लेख आया है (जैसे छान्दोग्य ७।१)। वे पुराण वेदों की ही व्याख्या कथाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार मूल वैदिक दर्शन का अटूट प्रवाह उन तथा इन पुराणों में प्रवाहित होता हुआ अब तक जनता के धरातल तक पहुँचता रहा है। आवश्यकता है कि उस ताले को ठीक कुञ्जी से खोला जाय। यदि हम वैदिक विश्वदर्शन का यथार्थ उद्घाटन कर सकें तो पुराणों का उद्घाटन भी स्वतः सम्भव है।

यद्यपि पौराणिक साहित्य ने वैदिक विश्व दर्शन और वैदिक संस्कृति की सुरक्षा का भगीरथ प्रयत्न किया, पर उनकी शैली और वैदिक शैली में कोई अन्तर नहीं दीखता। दोनों रहस्यात्मक या एक दूसरे के समानान्तर बिम्ब प्रतिबिम्ब से हैं। प्राचीन युग में तो अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण इन रहस्यों का उद्घाटन कर

१६—वेदार्थ के प्राचीन असफल प्रयत्न

देते रहे। पर पौराणिक युग ऐसे ब्राह्मणों से सर्वथा शून्य प्रतीत होता है। क्योंकि किसी ने इस दिशा में कोई प्रयत्न किसी युग में किया ही नहीं। ऐसे अन्धकार के वातावरण में एक युग ऐसा आया था जब अनेक आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में नये सिरे से कई प्रकार के प्रयत्न किए। यास्क के निरुक्त में इन आचार्यों के कुछ नाम आये हैं और स्वयं निरुक्त भी इसी प्रकार का एक प्रयत्न है। औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकटायन, गार्ग्य आदि शिक्षा शास्त्र या भाषा-तत्त्व शास्त्र के आचार्य थे। शाकपूणि, कात्थक्य, और्णवाभ, औपमन्यव आदि निरुक्तकार थे। इनका मत नैरुक्त समय या नैरुक्त मत कहलाता था। एक मत वैयाकरणों का था जो समझता था कि मंत्रों का अर्थ करना ठीक नहीं, उनमें कौत्स मुख्य थे; 'कौत्सो हि अनर्थका मन्त्राः'। कुछ लोगों को नैदान नाम से पुकारते थे। कुछ लोग आर्षमत का अनुसरण करते रहे। कुछ को पूर्व याज्ञिक कहते थे, कुछ नूतन याज्ञिक नाम से विदित थे। इनके अतिरिक्त उस युग में एक मत ऐतिहासिकों का भी था, जिसकी चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी प्रशस्त रूप में मिलती है। कई मतों के अनुयायिओं को 'एके' (कोई) तथा कई दूसरों को भी 'एके' (कई दूसरे) नाम से उद्धृत किया गया है। अन्तिम मत नैघण्टुकों का है। ये लोग निघण्टुकार या निघण्टु भाष्यकार हैं, जैसे यास्क। नैघण्टुकों में अन्तिम यास्क हैं। क्योंकि ये स्वयं अपने निरुक्त को नैघण्टुक कहते हैं। 'नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येन' (१।६।२०)। उक्त सब मतों का उल्लेख यास्क ने स्वयं स्थल-स्थल पर कर रखा है जैसे १।१, १।२, १।३, १।२-१२, ३।३।१४, २।२।८, २।५।१६, १।५।१५, ७।३।१७, ११।३।१६, १२।४।४१,

११।४।४१, ७।३।१२, ६।१।४, ११।२।१९, १२।२।१९, १०।१।२, ११।१।३, १२।१।१, १२।१।१०, ३।२।१, ३।४।१९, ७।४।१४, ७।६।२३, ७।७।२७, ७।२।५, ६।१५।१७, १८, परिशिष्ट १-१०, १-११ इत्यादि। नैरुक्तों का पृथक् मार्ग है, नैघण्टुकों का पृथक्। प्रथम इन्द्रप्रधान मार्ग है, द्वितीय वायुकर्म प्रधान जैसे 'इन्द्र प्रधानेत्येके' नैघण्टुकम्, वायुकर्म प्रधानेत्यपरम्।" (१०।१।६; ११।१।२)

एक और बात का उल्लेख किए बिना इस प्रकरण को समाप्त नहीं किया जा सकता। वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में प्रत्येक तत्त्व रूप देवता की व्याख्या

१७–देवों की अति स्तुति ही देवों और वेदों की सच्ची व्याख्या है

अतिस्तुति या अत्यन्तातिशयोक्ति के रूप में की गई है। यह बात बहुतों को उचित सी नहीं लगती। वे ऐसे वर्णन को अवैज्ञानिक और विशिष्टता विहीन समझते हैं। इनके उदाहरण 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादाः।' 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' आदि ऋचायें हैं। पहली बात तो यह है कि ऐसी ऋचायें रहस्य भरी हैं, कम लोग इन्हें ठीक-ठीक समझ पाये होंगे। दूसरी बात यह है कि ऐसे मंत्रों में जिन तत्त्वों की व्याख्या है, वे इतने सूक्ष्म हैं और इतना गहन मूल रहस्य रखते हैं कि उनका प्रभाव-और आत्मारूप विकास नितान्त ही अलौकिक है। ऐसे तत्त्व अलौकिक शक्तियों के प्रधान केन्द्र विन्दु हैं। उनकी ऐसी अलौकिक, आत्मीय, स्वर्गीय, अनन्त शक्तियों का प्रतिपादन भी इन्हीं जैसी अलौकिक, स्वर्गीय, आत्मीय शक्ति केन्द्र रूपी भाषा की अपेक्षा स्वतः रखता है। ऐसी ही विस्मयकारिणी, असाधारण काव्य प्रतिभा की उच्चतम कोटि भी भाषा में ही वास्तव में ऐसे शक्ति पुञ्ज स्वरूप तत्त्वों की यथार्थ प्रतिमा कुछ-कुछ प्रस्तुत की जा सकती है, पूर्ण फिर भी नहीं। साधारण भाषा तो उनके उपयुक्त है ही नहीं। अतः इन आत्मतत्त्वरूप सभी देवताओं में से किसी की भी कहीं भी अतिस्तुति का नाम नहीं है। वे अतिस्तुतियाँ भी वास्तव में उनकी उस अभूतपूर्व, अवर्णनीय वास्तविक महिमा का शतांश-सहस्रांश भी नहीं व्यक्त कर सकतीं। ये अतिस्तुतियाँ थोड़ी सी झलक मात्र हैं, पूर्ण चित्र नहीं। अतः वेद मंत्रों या ब्राह्मण ग्रन्थों या उपनिषद् वाक्यों की अतिस्तुति रूप अत्यन्तातिशयोक्तियों द्वारा ही हम ऐसे सूक्ष्मतम आत्मीय तत्त्वों को यथार्थता की सीमा तक पहुचाने में समर्थ होते हैं। ऐसे गम्भीर रहस्यों वाले तत्त्वों की व्याख्या ऐसी ही कल्पनामय अतिस्तुतियों में यथार्थतया की भी जा सकती हैं, साधारण काव्य-हीन, प्रतिभाहीन भाषा में नहीं। फलतः वेदों का प्रत्येक मन्त्र, ब्राह्मणों के सभी ग्रन्थ और उपनिषदों का प्रत्येक वाक्य अपनी स्वस्थ प्रकृति से तत्त्वों के स्वस्थ चित्रों का प्रतिपादन कर रहा है, न कोई अतिस्तुति है, न अतिशयोक्ति। सम्पूर्ण वर्णन वास्तविकता के ही धरातल पर खड़ा है। यही तत्त्व रूप देवों की एवं वेदों की सच्ची व्याख्या है।

अध्याय २

वेदों का आत्मा और विद्यापरक अर्थ

उपनिषदों में विद्या और अविद्या की बड़ी चर्चा है। आजकल इन दोनों शब्दों के अर्थ उपनिषत्कालीन न रह कर मध्ययुगीय सांख्यादि दर्शनों में स्वीकृत रूप में ढल गये हैं जिससे इनसे सांकेतिक वैदिक अर्थ को समझने में कठिनाई का अनुभव होता है। वैदिकयुग में विद्या और अविद्या शब्दों का प्रयोग वैदिक-दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के लिए होता रहा। पूर्वार्द्ध की आध्यात्मिक सृष्टि का अमृतमय ज्ञान विद्या कहलाती रही और उत्तरार्द्ध की भौतिकता प्रधान विवेचना अविद्या। दोनों का जानना बराबर आवश्यक था। अतः लिखा गया था 'अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' कि उत्तरार्द्ध की मृत्यु रूप भौतिकता के ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही पूर्वार्द्ध के आध्यात्मिक त्रिपादामृत की अनुभूति की जा सकती है। पर कर्मकाण्ड के अलीक अभिनय की इतिश्री समझने वालों की विधि-विधान शैली भी त्रैगुण्य विषयक बन जाने से अविद्या कही जाने लगी। जो इस विधि-विधान की मृत्यु या वध से उस अभिनय में सृष्टि विकास को देख सकता था उस दर्शन का नाम भी विद्या पड़ गया था। षडङ्ग तो वैदिक-दर्शन के रहस्य को खोलने के लिए ही निर्मित किये गये थे पर उत्तर कालीन षडङ्ग वेत्ताओं और कर्मकाण्डियों ने अपने-अपने शास्त्रों को स्वतन्त्र समझ कर उनके लौकिक व्याख्यान और कर्मकाण्ड के हिरण्मय पात्रों से सत्य रूप वैदिक-दर्शन के रहस्यों को एकदम ढक दिया, वास्तव में षडङ्ग अंग ही है बिलकुल स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते। सब मिलकर एक शरीर रूप वेद की रचना या व्याख्या करते हैं। इनसे छिन्न-भिन्न होकर स्वतन्त्रता लेना ही वेदों की विद्या के विनाश का मूल कारण बना। अतः षडङ्गों की ऐसी उछृंखलता को ही अनूचान, शुश्रुवान् औपनिषदिक आचार्यों ने ही अविद्या कहना प्रारम्भ किया था। तब ईशावास्य ने समझाया था 'अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया' कि 'लौकिक षडङ्ग या अविद्या अलीक ज्ञान है लौकिक अभिनय है इससे वेदों का अर्थ कुछ और ही हो जाता है, वेदों का वास्तविक अर्थ तो कुछ और ही है। अतः ज्ञानी वही समझा जाता था जो वेदों के दोनों प्रकार के प्रयोग जानता है। विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते। ईशावास्य ने उक्त दो प्रकार की विद्याओं और अविद्याओं के तीन-तीन जोड़े के अन्य शब्द भी दिये हैं। उपनिषद् चाहता है कि वैदिकज्ञान के लिए इन दो बातों का जानना नितरां आवश्यक है। अतः लिखा है "अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः॥" अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।......सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥" इस प्रकार विद्या के नाम सम्भूति और सम्भव भी है ये भी दार्शनिक विद्या के सूचक शब्द हैं, साथ में ब्रह्मविद्या के भी वेदों का यथार्थ, सम्भव और अनुभूतिपूर्ण अर्थ प्राप्त हो सकता है और असम्भूति तथा विनाश नाम दार्शनिक अविद्या और कर्मकाण्ड लौकिक षडङ्ग या लगाया अर्थ वेदों तथा पाठकों के लिए स्वयं ही विनाश और असम्भूति कारक सिद्ध होता है। यहां कर्मकाण्डादि की निन्दा नहीं है, वरन् यह समझाया जा रहा है कि उस कर्मकाण्ड में ब्राह्मसृष्टि का अभिनय देखने की चेष्टा करो। अभिनय ही इतिश्री नहीं है, आभिनयिक शरीरी कर्म के विनाश या वध या असम्भूति या असम्भव से ही वेदार्थरूप विद्या की सच्ची और पूर्णप्राप्ति हो सकती है। सांख्यादि दर्शनों की अविद्या अब विचित्र अर्थ रखती है। वे इस शब्द से पूर्व जन्म से संरक्षित ऐसे संस्कार विशेष का संकेत करते हैं जिसके कारण जीव पुनः-पुनः जन्म लेने को बाध्य होता है अथवा वह मोह या अज्ञान का एक ऐसा पतला पर्दा है, जो कभी भी ज्ञान या ब्रह्मज्ञान नहीं होने देता; फलतः भाव तक कोई भी मुक्त हुआ ही नहीं हैं, एक भी मुक्त हो जाय तो सब मुक्त हो जावें। वेदों में अविद्या का यह रूप नहीं है। सभी इस अविद्या को पार कर सकते हैं; सभी को पूर्ण ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति हो सकती है। सभी को मोक्ष मिल सकता है। पुराणों ने बारंबार लिखा है कि असंख्य ऋषि मुनियों को साक्षात्मोक्ष प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वेदों के उक्त दो प्रकार के अर्थों की धारा में वैदिक काल से ही कर्मकाण्डी व्याख्या प्रवाहित होती चली आ रही हैं। प्रस्तुत युग के विद्वानों को वेदों की सम्पत्ति इन्हीं कर्मकाण्डी वैदिकों से प्राप्त हुई है। वेदों पर मध्ययुग के आचार्यों ने जो भाष्य लिखे, वे भी प्रायः कर्मकाण्डी और श्रौतसूत्री व्याख्यायें ही प्रधानतः कही जा सकती हैं। अतः आजकल के समालोचकों ने वैदिक देवताओं का तादात्म्य कर्मकाण्डी अभिनय में प्रयुक्त प्राकृत पदार्थों को यथार्थ समझ कर देवताओं के पाँच भाग किये हैं (१) पारदर्शी या स्पष्ट (२) अल्प पारदर्शी या मध्यम स्पष्ट (३) अस्पष्ट (४) कर्ममय (५) भावमय। इसके साथ इन्द्र, वृत्र और अदिति आदि के बारे में कई नई कल्पनाएँ जोड़ कर कह दिया है कि ये तो मेघकथा, उषाकथा, सौरमंडल कथा, तारा पूजाकथा, सूर्यपूजा कथा, चन्द्रपूजा कथा, वीरपूजा कथा या ऋतुकथा हैं। ये सब निराधार हैं क्योंकि इनकी कल्पना उस भित्ति पर है जिसे अविद्या या वेदों का असम्भव अर्थ या विनाशकारी असम्भूति या अज्ञान का अर्थ कहा जा चुका है।

देवता या देव तत्त्व की व्याख्या आगे दी जावेगी। यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि देवता नाम तत्त्व का है। यह वह तत्त्व है जो दिव्य है, आध्यात्मिकरूप से दीप्तिमान् या प्रकाशवान् या ज्ञान समान है या ज्ञान ही है। यह तत्त्व नितरां परोक्ष है, आखों से दीखने वाला नहीं, वरम् ज्ञान चक्षु या अनु-

भूति से ही दीखने वाला तत्त्व है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्थान-स्थान पर बार-बार लिखा है कि 'परोक्षेण परोक्ष प्रिया इव हि देवाः'। यह परोक्षता दो प्रकार की है। एक तो देव तत्त्व अव्यक्त ही नहीं अव्यक्ततम है, किसी भी प्रकार चर्मचक्षुओं से दृष्ट हो ही नहीं सकता। देव अतितम सूक्ष्मतम हैं जिन्हें 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। दूसरे इनकी व्याख्या के लिए ऐसे-ऐसे शब्दों को चुन-चुन कर रखा गया है कि उनके प्रचलित अभिधा के अर्थ से उन तत्त्वों की व्याख्या हो ही नहीं सकती। प्रायः प्रत्येक तत्त्ववाची देवता के संज्ञा शब्द का एक परोक्ष सांकेतिक अर्थ विद्यमान है। इनमें से प्रायः सभी का व्याख्यान इतस्ततः बिखरा पड़ा है जिनको एकत्र कर इस ग्रन्थ में उचित स्थलों पर दे दिया गया है। इनको देव नाम से इसलिए पुकारा गया है कि ये केवल दीप्ति या कान्ति रूप में व्यापक हैं तथा नित्य गति क्रियाशील या प्रगतिशील प्राणरूप हैं। यह दीप्ति या देवन पाँच अमृतस्वरूप वर्णों की है, शुद्ध, पीत या लोहित, बभ्रु और कृष्ण, यही पञ्चामृत हैं (पञ्चामृत शीर्षक देखें)। ये केवल तत्त्वरूप हैं।

ऐसी परिस्थिति में देवताओं के पाँच प्रकार के विभाजन में भी पारदर्शी और अपारदर्शी आदि जैसे विभाजनों की कल्पना का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता, यह स्वयं स्पष्ट है। साथ में इन्द्रादि देवताओं के सम्बन्ध में जो नाना मतों का जाल गूँथा गया है, वह इन अव्यक्ततम देवताओं की महिमा अन्धयुग के पश्चात् के आचार्यों ने देवताओं का विभाजन एक दूसरे ढंग से किया है। उन्होंने इनको पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानों में–कर्मकाण्ड के अभिनेय स्थानों में–बाँटा है। यह भी उचित नहीं है, यह तो पहिले ही बताया जा चुका है। इस ग्रन्थ में देवताओं के विभाजन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो देवताओं का क्रमशः विकास पाया और दिखाया गया है। देवताओं के विकास की सरणियों के नाम को शाखा नाम से पुकारा जाता रहा। कोई शाखा किसी एक देवता की सरणि स्वीकार करती रही, कोई दूसरे देवता की, कोई तीसरे की। कई सबकी सरणियों को स्वीकार करते हैं तो कोई कुछ-कुछ को चुन कर अपनाते हैं। उनमें किसी का किसी से संघर्ष नहीं है। सबके मत सबको मान्य हैं। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यकों में प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में मतैक्य है और एक भावना है।

वेदों में तत्त्व या देवता रूप में जो-जो नाम आते हैं उनके मुख्य नाम 'द्यौ, अन्तरिक्ष, वेदि, दुरोण, नर, वर, ऋत, व्योम; या ब्राह्ममुहूर्त, उषा, सूर्य चन्द्र; अथवा देव, मनुष्य, पितर; अथवा एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् या पशु; अथवा वसु, रुद्र, आदित्य; अथवा सोम, बृहस्पति, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति, वषट्कार, स्वाहा, स्वधा, हन्तकारः; अथवा ब्रह्मा, कवि, विप्रा, महिष (अग्नि), श्येन (गृध्र); अथवा समुद्राः सरितः गिरयः; अथवा ऋतु-वसन्त ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, संवत्सर, अहोरात्र, नेमि इत्यादि रखे गये हैं। ये

सबके सब प्रत्यक्ष देवता से लगते हैं। पर वैदिकों ने इन सबकी व्याख्या सर्वाङ्गीण रूप से अव्यक्त रूप ही में कर रखी है, लोग इन्हें प्रत्यक्ष स्वरूपीय अर्थों में घसीटने का नितान्त विफल प्रयास करते हैं। मोटी-सी बात है गायत्री का सूर्य, प्रत्यक्ष सूर्य बिलकुल नहीं है। सविता और अर्क में महान् अन्तर है, अर्क से गायत्री के उपस्थान वाले 'सूर्य' में उत्तरीध्रुव और दक्षिणीध्रुव के समान दो अन्तिम छोरों का अन्तर है। आदित्य उक्त तीनों से नितान्त भिन्न तत्त्व है। लोगों ने इन सब को पर्यायवाची इसलिए मान रखा है कि कर्मकाण्ड में उक्त सबका अभिनायक पात्र एक ही प्रत्यक्ष सूर्य है। वैदिकों ने उक्त प्रकार के शब्दों के प्रयोग में देवों (तत्त्वों) की परोक्षप्रियता को मुख्य कारण बतलाते हुए लिखा है।*

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यं न कृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैछन्य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविदंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसँस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवोऽभवत् तत् अस्यै तद्भूतवन्नाम भवति वै स योस्यै तदेवं नाम वेद। तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्य इति स तथेत्यब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं। तदस्यैतत्पशुमन्नाम पशुमान्भवति योस्यै तदेवं नाम वेद। तमभ्यायत्याविध्यत्सविद्ध ऊर्ध्व उदप्रपततमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृगव्याधः स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा। तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्तत्सरोवत्ते देवा अब्रुवन्मेदं (मा+इदं) प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्तन् मादुषस्य मादुषत्वं; मादुषं ह वै नामैतत् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते। "**परोक्षेण परोक्षप्रियाइवहि देवाः**" (ऐ०ब्रा० ३–३३)।

यहाँ पर पूरी की पूरी कहानी परोक्षवर्णन की प्रतिमूर्त्ति है। २५वां ब्रह्म प्रजापति है, वह सृष्टि का उषा काल या भूतात्मा का प्रथम जन्म क्षण है, अतः उषा और प्रजापति के प्रेम की चर्चा उक्त रूप में की गई है, यही भूतात्मा इस चतुर्थ सप्तक में भौतिक तत्त्व रूप में या चतुष्पाद् ब्रह्म में परिणत होता है, तब वह 'पशु' ब्रह्म कहलाता है। क्योंकि इसमें चार आत्मायें [ब्रह्म, जीव, भूतात्मा, (मन), भौतिकात्मा (शरीर)] होते हैं, अतः पशु कहलाता है। और 'मानुष' नाम पर यहाँ कथा रचते हुए लिखा है कि प्रजापति के वीर्य के सरोवर को 'मा दुषद् कहते-कहते' उसे 'मादुष' कहते रहे, पर उस रहस्य को छिपाने के लिए लोग उसे 'मादुष' न कह कर 'मानुष' कहने लगे। यह है तत्त्वों की परोक्षप्रियता या दिव्यस्वरूप या सूक्ष्मरूप। इतनी लम्बी कथा कहने का तात्पर्य केवल तत्त्वों या देवों की परोक्षप्रियता पर बल देने मात्र से है। वैसे यह वैज्ञानिक विकास क्रम देता ही है। वैदिक देवताओं या तत्त्वों की इस परोक्षप्रियता को शतपथ ब्राह्मण भी नहीं छिपा सका, उसने कई स्थलों में उक्त प्रकार के ही शब्दों

---

* श०ब्रा० १–६–२ भी देखें।

की व्याख्या को आगे करके स्पष्ट शब्दों में लिखा है "अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्। सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षऽकामा हि देवा अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्-सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यद्रसदिव स रासभोऽभवदथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्सोऽजोऽभवद*थ यत्कपालमासीत्सा पृथिव्यभवत् (पृथिवी=आयो)। सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमितितांऽ······ (६-१-१-११-१२)† यहाँ पर अग्नि=अग्रि या सबसे प्रथम उत्पन्न का नाम अश्व=अश्रु या निमीलित नेत्र (चन्द्रः २६वां तत्त्व) चन्द्र से चूते रस का या आंसू का नाम रासभ=जो इस रूप में द्रवित हुआ वह तत्त्व है। लोग अग्नि माने आग, अश्व माने घोड़ा और रासभ माने गदहा लगाते हैं। यह अनर्थ है। दूसरा उद्धरण भी लीजिए "परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः (शत०ब्रा० ३-१-३-२५) कि यज्ञ और तत्त्व परोक्षप्रिय हैं, तीसरा वाक्य लीजिए "अयं वाव माधूर्वीदिति यदब्रवीदधूर्वीन्मेति तस्माद्धूर्वा धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः (श०ब्रा० ७-३-२-१२) कि धूर्वा धूर्वा कहते हुए वे इसे दूर्वा कहने लगे, अब चौथा भी लीजिए। ऐतरेय उपनिषद् इन्द्र की परिभाषा देते हुए लिखता है "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती (३।१३) तस्मादिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः; परोक्षप्रिया इव हि देवाः(३।१४)यहां इदिदन्द्र से द्वन्द्व नाम की स्वीकृति बताई गई है, पाचवाँ उद्धरण लीजिए—"सा यदुरवा नाम। एतद्वै देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमां लोकानुदखनन्यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखे-त्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवाः (श० ब्रा० ६-५-१-२३)। यहां उषा नाम की व्युत्पत्ति दी गई है। ऐसे नितान्त नीहारावृत शब्दों की व्याख्या मंत्रद्रष्टा ऋषियों की शब्द प्रयोग की चातुरी या परोक्षप्रिय प्रयोग की प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष सूचना देती है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रायः प्रत्येक परोक्षप्रिय अर्थ वाले शब्द की, मंत्रों का उद्धरण देकर उनका प्रयोग कर्मकाण्डीय या दार्शनिक विस्रंसन या विकास के सन्दर्भानुसार रख कर वेदों के सब सूक्तों और मन्त्रों का दार्शनिक या विद्यापरक अर्थ जल की तरह तरल और स्पष्ट कर रखा है, जैसे 'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्' की व्याख्या में समिधः='शीर्ष्णन् धित्सेत् इति शीर्षन् प्राणाः', और 'समिधः प्राणाः', तथा 'घृतैरिति प्राणैः' स्पष्टतः दिया है (ऐ०ब्रा० १-३-११, २-१-४) (शतपथ ब्रा० १-४-५-१)। इसी प्रकार 'वसन्तो ब्रह्मैव' 'ऋतवः देवाः" (तत्त्वानि) (श०ब्रा० २-१-३, ५; २-१-३-१) भी लिखा

१-परोक्षप्रिय देव

* तस्मादश्वा अजायन्त (पु०सू०) बृहदारण्यक १-१-७।

† शतपथ ब्राह्मण ६-१-२-३-"एष वै यशोऽथ यदश्रुसंक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्नि-रभवत् अश्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्ते रश्मयोऽभवन्।

है और 'संवत्सरः आत्मा' 'सोमः आत्मा' इत्यादि जितने भी परोक्षप्रिय अर्थ के शब्द हैं, जो गिनती में अनेक हैं, उन सबका परोक्षप्रिय अर्थ या 'विद्या' परक अर्थ या दार्शनिक अर्थ ब्राह्मणों ने प्रत्येक परिच्छेद में दे रखा है। उधर उपनिषदों ने इन परोक्षप्रिय अर्थों को क्रमिक या विकासीय स्वरूप देकर ब्राह्मणों ही की तरह लिख रखा है जैसे 'अत्तीति अन्नं वाग् ब्रह्मैव' १-२-३ (बृह०उप०) "अंगानां हि रसः प्राणो,' "बृहस्पतिर्वागवै बृहती। तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः" इत्यादि (बृ० १-३-२०)। वाग्ब्रह्म को चार स्तनों के समान माना गया है जैसे "वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति (प्रथम दो सप्तक) स्वाहाकारं (प्रथम सप्तक) च वषट्कारं (द्वितीय सप्तक) च हन्तकारं (चन्द्रमा सप्तक) मनुष्याः स्वधाकारं पितरस् तस्याः प्राण ऋषभो (२४वां ब्रह्म) मनो (सूर्यः २५वां ब्रह्म) वत्सः।" (बृह० ५।८)* यह चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या है। इन्हीं चार स्तनों में क्रमसे पय, घृत, मधु और मेदरूप रस माना गया है, यह आगे दिये जाने वाले उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा। अतः देवताओं या तत्त्वों के भेद, विस्रंसन या विकास के आधार वसुरुद्रादित्यों के अनुसार या संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र के अनुसार या ब्रह्म, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, अदिति, आप, शुचि, अन्तरिक्षादि के भेद से या उषा, विषुवद्रेखा, नक्षत्रों के आधार पर या एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् और सरित्, समुद्र, अद्रि के अनुरूप ही हो सकता है और किसी भेद से नहीं।

कर्मकाण्ड में विद्या

२—कर्मकाण्ड विद्या

कर्मकाण्ड ब्रह्मज्ञान की सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारधारा का परम वैज्ञानिक अभिनय प्रस्तुत करता है। वैदिकों ने अपने ज्ञान को छिपाने का यत्न नहीं किया है पर उनकी भाषा में ऐसा श्लेष है जिसे वे स्वयं 'नीहारावृत' कह गये हैं—"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।" (ऋ० वे० १०-८२-७)।

जब महायज्ञ का आरम्भ किया जाता था सर्व प्रथम 'पुरोडाश' का निर्माण होता था। उसकी रचना में शतप्रतिशत ब्रह्म विकास का अभिनय दिखलाया गया है। वह विधि अभी समझ में न आ सकेगी। अतः यूप और पशु की स्थापना, (पुरोडाश निर्मित के तुरन्त पश्चात्) का विवरण देखें। लिखा है कि यूप स्वयं यजमान (योगी) है और पशु भी यजमान (योगी) ही है। हमारे वैयक्तिक और पारिवारिक या आकाश गांगेय ब्रह्माण्डों में प्रत्येक के शरीर में चार आत्मायें हैं (१) ब्रह्म शरीर जिसे ब्रह्म कहते हैं (२) पुरुष या

* ऐ० ब्रा० १-४-२५ भी देखें।

जीवात्मा या आकाशीय ब्रह्म रुद्र है (३) तैजसात्मा इन्द्र (४) देह या पाञ्चभौतिक शरीर का अणु। अणु परमब्रह्म और पुरुष या जीवात्मा की तरह सचेतन और स्वतन्त्र है। चतुर्थ तृतीय से, तृतीय द्वितीय से सम्बद्ध रहता है, द्वितीय प्रथम से। द्वितीय का नाम इन्द्रवायु और तृतीय का इन्द्राग्नि भी है। वैदिकों ने पाञ्चभौतिक चतुर्थ देहात्मा को पशु नाम से पुकारा है, उसे वे यूप नामक जीवात्मा से नित्य सम्बन्ध दिखलाने के लिए मेधीय पशु को अभिनयिक यूप से बाँधते थे। यूप रूपी जीवात्मा तबतक ब्रह्म से एकान्ततः सम्बद्ध होने में असमर्थ रहता है, जबतक वह देहात्मारूप पशु का गला ऐसे न घोट डाले कि वह अपनी नित्य क्रियाशीलता या अशान्ति को खो दे। जीवात्मा, तैजसात्मा और देहात्मा या पशु नित्य अशान्त हैं। जीवात्मा की अधिक अशान्ति का कारण तैजसात्मा के प्राण हैं, अतः उन्हें बाँधना योगक्रिया या ब्रह्मज्ञान के लिए परम आवश्यक है। इसकी नाना विधियाँ हैं जैसे "अपाने जुह्वति प्राणंप्राणे-ऽपानं तथापरे' आदि। इसी विधि को दृष्टिपथ में रखकर वैदिकों ने अन्यत्र लिखा है "देवाः यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्"। यह है पशुरूप पुरुष या देहात्मरूप पशु जिसे बिना बाँधे यज्ञ या योगक्रिया सम्भव ही नहीं हो सकती। कर्मकाण्ड में इसका अभिनय जीवात्मा को यूप, यजमान शरीर को पशु बनाकर करते थे, पुनः यजमान अपने शरीर का मोल चुका कर उस देह को खरीदता था, उसकी जगह मेध्य पशु की बलि का नाटक खेला जाता था। प्रसंगवश यह भी जान लें कि यूप या जीवात्मा ही वज्र या चक्र कहलाता है: हमारी देह में अष्ट चक्र हैं उनका सामूहिक नाम 'वज्र' है। जब तक यह 'वज्र' चक्र चलता है तब तक हमारा जीवन है, वज्र चक्र चलना समाप्त हुआ नहीं कि जीवन भी समाप्त। यह जीवात्मा चक्र ब्रह्म की शान्त तथा परम शान्त परिधि में चक्कर काटता है। उद्धरण—"तिष्ठेद्यूपा ३ : अनुप्रहरे ३दित्याहुस्तिष्ठेत् पशुकामस्य। देवेभ्यो वै पशवोऽन्नाद्यायालंभाय नातिष्ठंत। तेऽपक्रम्य प्रतिवावदतो तिष्ठन्नस्मानालप्स्यध्वे नास्मानिति ततो वै देवा एतं यूपं वज्रमपश्यंस्तमेभ्य उदश्रयंस्तस्माद्बिभ्यत उपावर्तंत। तमेवाद्याप्युपावृत्तास्ततो वै देवेभ्यः पशवोऽन्नाद्यायालंभायातिष्ठंत। तिष्ठतेऽस्मै पशवोऽन्नाद्यायालंभाय (घास डालकर) य एवं वेद यस्य चैवंविदुषो यूपस्तिष्ठति। अनु प्रहरेत्स्वर्गकामस्य, तमुह स्मैतं पूर्वेऽन्वेव प्रहरंति। यजमानो वै यूपो, यजमानः प्रस्तरोऽग्निर्वै देवयोनिः, सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेष्यतीत्यथ ये तेभ्यो ऽवर आसंस्, त एतं स्वरूमपश्यन्यूपशकलं, तं तस्मिन्कालेऽनुप्रहरेत्तत्र स काम उपाप्तो योऽनुप्रहरणे, तत्र स काम उपाप्तो यः स्थाने। सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते यो दीक्षितेऽग्निः सर्वा देवताः सोमः सर्वा देवताः। स यदग्नीषोमीयं (जीवात्मा भौतिकात्मा मिश्रित) पशुमालभते सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते। तदाहुर्द्विरूपोऽग्नीषोमीयः कर्तव्यो, द्विदेवत्यो हीति तत्तन्नादृत्यं पीव इव कर्तव्यः; पीवोरूपा वै पशवः (देहात्मा)

क्रुशित इव खलु वै यजमानो भवति। तद्यत्पीवा पशुर्भवति यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति। तदाहुर्नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात्पुरुषस्य वा एषो ऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति। यजमानो ह्येतेनात्मानं निष्क्रीणीते इति तत्तन्नादृत्यं। वार्त्रघ्नं वा एतत्धविर्यदग्नीषोमीयोऽग्नीषोमाभ्यां वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तावेनमब्रूताम्, आवाभ्यां वै वृत्रप्रवधीर्वरं ते वृणावहा इति वृणाथामिति तावेतमेव वरमवृणातां श्वः सुत्यायां पशुम्। स एनयोरेषोऽच्युतो वरवृतो ह्येनयोस्तस्मात्तस्याशितव्यं चैव लीप्सितव्यं च॥" (पं० २-३ ऐतरेय ब्राह्मण)। इस उद्धरण में आये इन्द्र और वृत्र शब्द क्रम से जीवात्मा (यूप) और देहात्मा (पशु) के लिए स्पष्टतया प्रयुक्त हुए हैं। इन्द्र द्वारा वृत्र का वध या जीवात्मा द्वारा देहात्मा का वध नियन्त्रण है। योग में नियन्त्रण ही वध है। बलिदान के नाटक में बलि ही वध है। इन्द्र और वृत्र, आकाशगांगेय (द्विधा) सौरमंडलीय और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों के चार प्रकार के भेद मुख्यतः हैं, उनके वैयक्तिक भेद उतने हैं जितने सत्व और तत्त्व सृष्टि में है।

३—वैदिक हवन

अब हवन द्रव्यों के रहस्य को देखिए। आजकल हवन में 'बलिदान, पय, आहुति, आज्याहुति, सोमाहुति, मेदाहुति, मध्वाहुति और वषट्काराहुति दी जाती है। इनके स्थान में तिलाज्याहुति, पलाशाहुति या अन्य द्रव्याहुतियों के नाटक का भी अभिनय किया जाता है। वैदिकों का हवन आभ्यन्तर हवन था। वह दो प्रकार का था योगाहुति और प्रयोगाहुति। योगाहुति में वही विधि थी जो 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे' इत्यादि में बतलाई गई है। प्रयोगाहुति पाँच प्रकार की थी। ये पञ्चमहायज्ञ कहलाते थे। इन्हीं को महासत्र भी कहते थे। इनके नाम भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ थे जिन्हें गीता 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः' कहती है। भूतयज्ञ प्रतिदिन प्राणियों को अन्नादिदान से पूर्ण हो जाता है, यही द्रव्ययज्ञ है। मनुष्ययज्ञ प्रतिदिन तर्पणादिक, अन्य-वस्तुओं का दान करना, लोक संग्रह और परिश्रम करना है। प्रतिदिन पितरों की तृप्ति करना या आदर्श जीवन (स्वधा) धारण करना और बिताना पितृयज्ञ है, प्रतिदिन अपने शरीर के तत्त्वों की पुष्टि के लिए कहीं से भी 'स्वाहा' (आकाष्ठान्) करना यह देवयज्ञ है। देव शरीर के अदृश्य तत्त्व चक्रादिक हैं, उनकी पुष्टि के लिए कहीं से भी अनुकूल भोजनादिक आवश्यक हैं। स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ है, इसकी जुहू वाणी है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा स्रुवा है, सत्य अवभृथ है, उसकी हथेली में ही स्वर्ग है। पय की आहुतियाँ ऋचाओं का पाठ करना है, आज्याहुति और यजुर्वेद मन्त्राध्ययन है, सोमाहुति सामवेद पाठ है, मेद आहुति अथर्ववेद का पाठ है, इसी को घृतकुल्या और मधुकुल्या भी कहते हैं। मध्वाहुति, अनुशासन विद्या, वाकोवाक्यं, इतिहास, पुण्यगाथा, नाराशंस के अध्ययन का नाम है। चार वषट्काराहुति चार वेदों का ज्ञान है तथा इन सबके

अध्यापन का भी नाम है। जिसको सच्चा ज्ञान है, वह विद्युद्गर्जना के समान वाणी के षड्वषट्कार से षण्मुख ज्ञान या षडङ्गज्ञान उगलता है। वह ब्रह्म की स्वात्मता को प्राप्त होता है। उद्धरण—शतपथ ब्राह्मण—(११।५।६।१) "पञ्चैव महायज्ञास्ता-न्येव महासत्त्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥१॥ अह-रहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतंभूतयज्ञं समाप्नोति। अहरहर्दद्यादोदपात्रात्तथैतंमनु-ष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वधाकुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वाहाः कुर्यादा काष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति ॥२॥ अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्य-मवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं ह्वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददंल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं चाक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मा-त्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥ पय आहुतयो ह वाऽएता देवानां यद्दचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते पयआहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽ एनं तृप्ता-स्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिर्घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन्त्स्वधा अभिवहन्ति ॥४॥ आज्याहुतयो ह वाऽएता देवानां। यद्यजूंषि स य एवं विद्वान्यजूँष्यहरहः स्वाध्यायमधीत आज्याहुतिभिरेव तद्देवाँ-स्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण······(५) सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् यत्सामानि स य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते सोमाहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण······॥६॥ मेद आहुतयो ह्वा एता देवानां यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण······॥७॥ मध्वाहुतयो ह वा एताऽदेवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वानुशासनानिविद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति तऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण······॥८॥ तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य। चत्वारोवषट्-कारा यद्वातो वाति यद्विद्योतते यत्स्तनयति यदवस्फूर्जति तस्मादेवं विद्वातेति वाति विद्योतमानेस्तनयत्यवस्फूर्जत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बङ्कारायाति ह्वै पुन-र्मृत्युं मुच्यते गच्छति ब्रह्मणः सात्मतां स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीतैव तथा भूतेभ्यो न हीयते ॥९॥"

४–अश्वमेध तत्त्व अब अश्वमेध यज्ञ का ज्ञानयज्ञात्मक अर्थ देखें। इस पर आगे एक स्वतन्त्र लेख दिया है उसे भी देखें। अश्वमेध यज्ञ* वाजसनेय संहिता का प्रधान यज्ञ है। उस अश्वमेध के अश्व में पूर्ण ब्रह्मज्ञान की अनुभूति है। अश्व प्राण है, मेध मेधा है, प्राणों

* 'अश्व' शब्द की व्याख्या 'अश्रु' से पहिले दी जा चुकी है। यह प्रथम प्राण ब्रह्म और प्रथम प्राण भी अश्व प्राण है—'अश्वो न देव वाहनं'।

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। दददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥ ऋ० ५।२७।४। समवर्तताधि' सूक्त देखें। अश्वमेधस्य दानाः सोमाइव त्र्याशिरः ऋ० ५।२७।५।

से मेधा फूंकते थे, यह ऋग्वेद स्वयं लिख गया है वाजसनेय संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ के आदि में ही लिखा है कि उषा (२४ वाँ ब्रह्म) ही मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य (२५ वाँ ब्रह्म) उसकी आँख है, वायु (१९ वें से २२ वें ब्रह्म, पंच प्राण ब्रह्म) उसके प्राण हैं, व्याप्त अग्नि वैश्वानर (प्रथम तीन सप्तक के ब्रह्म), संवत्सर आत्मा है, द्यौ आदि ब्रह्म उसकी पीठ हैं, अन्तरिक्ष व्याप्त आकाशीय प्रथम सप्तक का ब्रह्म उसका उदर है, पृथिवी के भौतिक तत्त्व उसकी दिशायें हैं, पार्श्व अवान्तर दिशायें हैं, स्थूल भाग ऋतु हैं, उनके अंग मास और अर्द्धमास (पक्ष) हैं; पर्व दिन-रात हैं, उनकी हड्डियाँ नक्षत्र हैं; नभ मांस है, ऊवध्य (रस) शुक्र (सिकता) हैं, सिन्धु गुदा है, यकृत् और ऊँचे उठे अंग पर्वत हैं, औषधि और वनस्पति उसके रोम हैं, मुख भाग पूर्वार्द्ध उत्तरायण है, जघन भाग उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन है, उसकी गति ब्रह्म विजृम्भण है, उसका विधूनन विद्युद्गर्जना है, उसका मूत्र वर्षा है, उसकी बोली ही वाणी है। "ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः, पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसान्यूवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि। उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो, तद्विजृम्भते यद्विद्योतते, यद्विधूनुते तत्स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥" (वाजसनेय ब्राह्मणोपनिषद् १-१-१)। यहाँ पर 'उषा' से लेकर वाक् तक जिन-जिन तत्त्वों का तादात्म्य अश्व के अंग-प्रत्यंग से किया गया है वे सब ब्रह्म के विकासीय तत्त्वों के विभिन्न ५० स्वरूप हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान आगे दी जाने वाली इनकी व्याख्याओं से अपने आप हो जायगा। उषा, प्राण, अग्निवैश्वानर, द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, दिक्, मास अर्द्धमास, अहोरात्र, नक्षत्र, नभ, सिन्धु, पर्वत, ओषधि, वनस्पति, उत्तरायण, दक्षिणायन, स्तनयितु, वर्षा और वाक् इन सबकी एक-एक करके पूर्ण व्याख्या आगे दी जायगी, ये सब ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के अंग या विकास हैं, यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है। अतः स्वयं स्पष्ट है कि वाजसनेय संहिता के अश्वमेधवादी ब्रह्मज्ञान को ही प्रमुखता देकर यज्ञीय अश्वमेध का अभिनय करते रहे। अश्वमेधयज्ञ ब्रह्मयज्ञ का प्रतीक है। क्योंकि वास्तव में वैदिकों ने सृष्टि विकास का वर्णन मुख्यतः पाद् रूप में किया है। उनकी सृष्टि का विकास सप्तपदी या सात पदों में विभाजित है। ये सात पाद्, एक-एक सप्तक में एक-एक करके विकसित होते हैं। कुल सात सप्तक हैं। प्रथम सप्तक के आठ ब्रह्म एक पाद् हैं, द्वितीय सप्तक के सात ब्रह्म द्विपाद् हैं, तृतीय सप्तक के सात ब्रह्म त्रिपाद् हैं और चतुर्थ सप्तक के आठ ब्रह्म चतुष्पाद् हैं। इन्हीं चतुष्पाद् ब्रह्मों को पशु-ब्रह्म भी कहते हैं क्योंकि चतुष्पाद् पशु का नाम है। प्रथम तीन पाद् ब्राह्म सृष्टि के तीन रूप हैं परम ब्रह्म, जीवात्मा, देहात्मा। जब देहात्मा पाञ्चभौतिक स्वरूप को स्वीकार करता है तब यह पाञ्चभौतिक शरीर ही देहात्मा या अग्निरूप

प्राणों का खोल या चतुर्थपाद् कहलाता है। अतः यहाँ पर ब्राह्म सृष्टि चतुष्पाद् कहलाती है। इसी विचार को दृष्टिपथ में रखकर भौतिक सृष्टि के विकास को पशुरूप में वर्णित करते हुए लिखा है। "पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये" ऋ०१०।९०।८ "तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः। ऋग्वेद १०।९०।१०* प्रथम तीन प्रकार के पद छन्द रूपी पशु हैं और अश्व, गो आदि तत्त्वरूप चतुष्पाद् पशु। ये पशु भौतिक सृष्टि के प्रथम विकास के स्वरूपों का विवरण देते हैं। ये पाँच पशु हैं जिनमें से आदि पशु को पुरुष पशु कहते हैं और उसी का दमन मुख्य है। चतुर्थ सप्तक में भौतिक तत्त्व के अभ्युदय के माने अतीन्द्रिय सम्बन्धी भौतिक तत्त्व का अभ्युदय है, जिनका स्वरूप तैजसीय और जलीय (वैद्युतीय) है, सब अतीन्द्रिय हैं। योग और आत्मज्ञान की शैली में इन्हीं वायवीय, तैजसीय और जलीय अतीन्द्रियों का बन्धन या वध परम आवश्यक होता है। यह ऐतरेय ब्राह्मण के यूप और पशु शब्द की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः पशुमेध, अश्वमेध, गोमेध और अजामेध माने उक्त वायवीय, तैजसीय और जलीय भौतिक अतीन्द्रियों का दमन है जिनका नाटक प्रख्यात अश्वमेध, गोमेध, अजामेध और पशुमेध के यज्ञों द्वारा करते रहे। इसीलिए महाभारत ने भी लिखा है "अहंकारो (देहात्मा) महाभूतेषु अश्वरूपेण (वायव्यरूपेण) तिष्ठति" (१०–३२७,३२० अध्याय)। यहाँ तक चार अतीन्द्रिय भौतिक तत्त्वों का अभ्युदय हो चुका है, शब्द (वाक्), स्पर्श (अश्व), रूप (गावः), रस (अजा) जलीय। परन्तु इस चतुर्थ सप्तक में गन्ध या प्राणीय तत्त्व का या पार्थिव तत्त्व के अतीन्द्रिय स्वरूप का अभ्युदय नहीं हो पाया है। उसका अभ्युदय होते ही दृश्य ब्रह्माण्ड का सूत्रपात पञ्चम सप्तक में हो पड़ेगा। अतः कर्मकाण्डीय अश्वमेधादि की कल्पना वैज्ञानिक और बहुत ऊँचे स्तर की आध्यात्मिकता है।

अब छोटे-छोटे कर्मकाण्डों की आध्यात्मिकता के नाटक का दर्शन गर्भोपनिषद् में कीजिए :—"हमारे शरीर में पञ्चमहाभूत तत्त्व हैं, पञ्च गुण (शब्द-स्पर्शादि) हैं, षड् रस (मधुरलवणाम्लकटुतिक्तकषाय) हैं, इसमें सप्त धातु, सप्त स्वर, त्रिमल, द्वियोनि और चतुर्विधाहारपेक्ष हैं। इसमें तीन प्रकार की अग्नियों का ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि का निवास है। कोष्ठाग्नि खाना पचाती है, दर्शनाग्नि रूप दर्शन करती है, ज्ञानाग्नि शुभाशुभ का निर्णय करती है। इनके तीन स्थान हैं, मुख में आहवनीय अग्नि रहती है, उदर में गार्हपत्य अग्नि, हृदय में (मस्तिष्क में) दक्षिणाग्नि। आत्मा ही यजमान है, मन पुरोहित है, लोभादिक (पाञ्चभौतिक तत्त्वों की लोलुपता) ही पशु है (पाञ्चभौतिक शरीर ही पशु है)। धृति और सन्तोष धारणा करना (ब्रह्मप्राप्ति) दीक्षा है, बुद्धीन्द्रियाँ (गावः) यज्ञ

५–अग्नि तत्त्व

* आगे 'पशुः और अवधून् पुरुषं पशुम्' देखें।

पात्र हैं, कर्मेन्द्रिय (अजावयः) हवि है, शिर कपाल है, केश ही कुश हैं, मुख अन्तर्वेदि (यज्ञवेदी) है।" उद्धरण इस प्रकार दिया है :—"ॐ पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्। तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरं भवति ॥ गर्भ उ० १।१॥ शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते (हमारी देह का नाम शरीर इसलिए है कि इसमें तीन प्रकार की अग्नियाँ आश्रित हैं या आश्रय लेती हैं) ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीत लेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणिस्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः आत्मा यजमानो मनो ब्रह्मा लोभादयः (महाभूतानि) पशवो, धृतिर्दीक्षा सन्तोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि हवींषि कर्मेन्द्रियाणि शिरः कपालं केशा दर्भा, मुखमन्तर्वेदिः॥" (गर्भोपनिषद् १, ५)। कर्मकाण्डी लोग उक्त पदार्थों का बाहरी अग्नि, कुश, वेदि, कपाल, पुरोहित, यजमान आदि के प्रतीकों से नाटक मात्र करते हैं। वह देखने में अच्छा पर फलतः शून्य है। नाटक करना या देखना ही इनके कर्मकाण्ड का फल है बस। असली यज्ञ तो आभ्यन्तर यज्ञ ही है जिसकी व्याख्या यह उपनिषद् साफ-साफ दे रहा है।

अब उक्त चारों अवतरणों के विधान को स्पष्टतः और पूर्णतः देने वाले दो अन्तिम उद्धरणों का और अवलोकन कर लीजिए जिनसे वैदिक आर्यों के दार्शनिक विचारों और बिछाया यौगिक प्रक्रियाओं का ज्ञान स्वयं स्पष्ट हो जावेगा। 'प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्' लिखता है :—"अब हम अपने शरीर में यज्ञ करते हैं। चार अग्नियों के क्या नाम हैं? सर्व प्रथम सूर्याग्नि सूर्यमण्डलाकृति की है, सहस्ररश्मि वाली है जिनसे घिरा हुआ एक ऋषि (अग्नि) होकर हमारे मस्तिष्क में रहता है। दूसरी दर्शनाग्नि है, चार आकृति की हैं और आहवनीय होकर मुख में रहती हैं, शारीराग्नि जरा लाने वाली (पचाने वाली) हवि को फेंकती हैं। अर्द्धचन्द्राकार की दक्षिणाग्नि हृदय में रहती है; कोष्ठाग्नि खाये-पिये वस्तुओं को पचाने वाली गार्हपत्य बनकर नाभि में वास करती है, नीचे प्रायश्चित्त नाम की तीन अग्नियाँ तीन हिमांशुओं द्वारा प्रजनन कर्म करने वाली भी हैं॥२॥ इस यूप और डोरी से बँधे शरीरी यज्ञ का यजमान कौन है? कौन स्त्री है? कौन ऋत्विज् है? कौन सदस्य है? कौन यज्ञपात्र है? हवि क्या है? वेदि क्या है? कौन अन्तर्वेदि है? कौन द्रोणकलश है? कौन रथ है? कौन पशु है? कौन अध्वर्यु है? कौन होता है? कौन ब्राह्मणाच्छंसी है? कौन प्रतिप्रस्थाता है? कौन प्रस्तोता है? कौन मैत्रावरुण है? कौन उद्गाता है? कौन धारापोता है? कौन कुश है? कौन स्रुवा है? आज्यस्थाली क्या है? कौन आधार हैं? कौन दो आज्य भाग हैं? कौन प्रयाजक है? कौन अंतुयाजक हैं? कौन इडा है? कौन सूक्तवाक् है? पत्नीसंयाज कौन हैं? यूप क्या है? डोरी क्या है? इष्टि क्या है? दक्षिणा क्या है? अवभृथ क्या है?"॥३॥ इन प्रश्नों

६–अग्नि का स्वरूप, यूप और यजमान

के उत्तर इस प्रकार दिये गये हैं। "इस शारीरिक यज्ञ की डोरी से बंधे यूप का यजमान स्वयं आत्मा है, बुद्धि पत्नी है, वेद महर्त्विज हैं, अहंकार अध्वर्यु है, चित्त 'होता' है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता है, उदान उद्गाता है, समान मैत्रावरुण है, शरीर वेदि है, नासिका उत्तर वेदि है, मूर्द्धा (शिर) द्रोणकलश है, पाद रथ हैं, दाहिना हाथ स्रुवा है, बायाँ हाथ आज्यस्थाली है, दोनों कान आधार हैं, दोनों आखें आज्यभाग हैं, ग्रीवा धारापोता है, तन्मात्रा सदस्य हैं, पञ्चमहाभूत प्रयाज हैं, भूतानि (गुणा) अनुयाज हैं, जीभ इडा है, दन्त और ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक् है, स्मृति, दया, क्षान्ति, अहिंसा, पत्नी-संयाज हैं, ओंकार यूप है, आशा रस्सी है, मन रथ है, काम पशु है, केश कुश हैं, बुद्धीन्द्रिय यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं, अहिंसा इष्टियाँ हैं, त्याग दक्षिणा है, अवभृथ मरण से होता है, ये सब हमारे इसी शरीर में सन्निहित हैं। बाहर के ढकोसले वाले कर्मकाण्ड का तो केवल नाटक है। असली यज्ञ इसी शरीर में होता है। इसी प्रकार की व्याख्या का एक परिच्छेद 'नारायणोपनिषद्' के अन्तिम खण्ड के अन्तिम पक्तियों में है—(१) "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि सवनानि येअहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानम्" उद्धरण—(२) "स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं भागधेयाः। तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्ररश्मिपरिवृत एकऋषि (प्रजापति) र्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति तत्र कोष्ठाग्निरिति। कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढखादितानि सम्यग् व्यष्टयां श्रपयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति। प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ इतिद्वितीयः खण्डः॥ अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः, का पत्नी। के ऋत्विजः, के सदस्याः, कानि यज्ञपात्राणि, कानि हवींषि, का वेदिः, कोत्तरवेदिः, को द्रोणकलशः, को रथः, कः पशुः, कोऽध्वर्युः, को होता, को ब्राह्मणाच्छंसी, कः प्रतिप्रस्थाता, कः प्रस्तोता,

को मैत्रावरुणः, क उद्गाता, का धारापोता, के दर्भाः, कः स्रुवः, काज्यस्थाली, कावाधारौ, कावाज्यभागौ, केऽत्र याजाः, के अनुयाजाः, केडा, कः सूक्तवाकः, कः शंयोर्वाकः, का हिंसा, के पत्नीसंयाजाः, को यूपः, का रशना, का इष्टयः, का दक्षिणा, किमवभृथमिति ।। इति तृतीयः खण्डः ।।

(३) अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः, बुद्धिः पत्नी, वेदा महर्त्विजः, अहङ्कारोऽध्वर्युः, चित्तं होता, प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी, अपानः प्रतिप्रस्थाता, व्यानः प्रस्तोता, उदान उद्गाता, समानो मैत्रावरुणः, शरीरं वेदिः, नासिकोत्तरवेदिः, मूर्द्धा द्रोणकलशः, पादो रथः, दक्षिणहस्तः स्रुवः, सव्यहस्त आज्यस्थाली, श्रोत्रे आधारौ, चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारापोता, तन्मात्राणि सदस्याः, महाभूतानि प्रयाजाः, भूतानि (गुणा) अनुयाजाः, जिह्वेडा, दन्तोष्ठौ सूक्तवाकौ, तालुः शंयोर्वाकः, स्मृतिर्दयाक्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः, ओंकारो यूपः, आशा रशना, मनो रथः, कामः पशुः, केशा दर्भाः, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, कर्मेन्द्रियाणि हवींषि, अहिंसा इष्टयः। त्यागो दक्षिणा, अवभृथं मरणात्, सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधि समाहिताः ।।" (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्) ।

७–परिमर

ऐतरेयब्राह्मण ने सृष्टि के विकास और प्रलय क्रमों की व्याख्या में उन्हीं देवताओं को तत्त्व रूप में वर्णित किया है जिन्हें अविद्या वाले मीमांसक और आधुनिक अनुवादादिकारक प्रत्यक्ष या प्राकृतेय स्थूल देवता मानने की भूल करते आ रहे हैं। ऐतरेयब्राह्मण विकास और प्रलय दोनों को ब्रह्म का 'परिमर' नाम देते हुए लिखता है। "यो ह वै त्रीन् पुरोहितांस्त्रीन् पुरोधातॄन् (ब्रह्म या द्यौ, अन्तरिक्ष और वेदि) वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः स वदेत पुरोधाया। अग्नि (ब्रह्म)र्वाव पुरोहितः पृथिवी (वेदिः) पुरोधाता; वायुर्वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षं पुरोधातादित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधातैष ह वै पुरोहितो य एवं वेदाथ सति रोहितो य एवं न वेद (रोहितो रोहिणी प्रथम वसुः)। तस्य राजा (सोमः) मित्रं भवति द्विषंतमपबाधते······(८–५–२७) ।। अथातो ब्रह्मणः परिमरो। यो ह वै ब्रह्मणः परिमरं वेद पर्येनं द्विषंतो भ्रातृव्याः परिसपत्ना (आसुरी वृत्तयः) म्रियंते (शत्रूणां बुद्धि नाशाय मित्राणामुदयस्तव)। यं वै ब्रह्म योऽयं पवते तमेताः पञ्चदेवताः परिम्रियंते, विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निर्विद्युद्वै विद्युद्वृष्टिमनुप्रविशति सांतर्धीयते। तान्न निर्जानन्ति यदा वै म्रियते ऽ थांतर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति। स ब्रूयाद्विद्युतो मरणे द्विषन्मे म्रियतां सोन्तर्धीयतां······(एवं वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निश्च); चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति सोन्तर्धीयते······ आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति। सोऽन्तर्धीयते···अग्निर्वा उद्वान्वायुमनु-प्रविशति। सोन्तर्धीयते तन्न निर्जानन्ति। यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयते······ता वा एता देवता अत एव पुनर्जायन्ते (सृष्टि)—वायोरग्निर्जायते प्राणाद्धि बलान्मथ्य-मानोऽधिजायते······अग्नेर्वा आदित्यो जायते।······आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।

······चन्द्रमसो वै वृष्टि (अश्वाः) जायते······वृष्टेर्वै विद्युज्जायते······स एष ब्रह्मणः परिमरः, ८-५-२८॥" यहाँ पर सबसे पहिले तीन पुरोहित ब्रह्म या द्यौ, अन्तरिक्ष और वेदि का (प्रथम दो सप्तकों का) स्पष्ट वर्णन है। तदनन्तर अग्नि तृतीय सप्तक के प्रथम ब्रह्म का वर्णन है, आदित्य २५ वाँ तत्त्व है, चन्द्रमा २६ वाँ तत्त्व है, वृष्टि २७ वाँ और विद्युत् २८ वाँ तत्त्व है। इनके विकास और ह्रास का परिमर शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से वर्णित है।

अध्याय ३

वैदिक व्याख्या की सात योग्यताएँ

ऋग्वेद सब वेदों और उनकी शाखाओं का मूलाधारभूत बृहद्ग्रन्थ है। इसी ऋग्वेद के अन्तर्गत सब वेदों और उनकी शाखाओं के सभी मूलभूत मन्त्रों का निर्माण हो चुका था। इनके आपसी मौलिक भेद ध्वनिविषयक और पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी मुख्यतः रहे। जब ये पृथक् हो गये तो मन्त्रों के अंशों में भी कुछ-कुछ पाठान्तर आवश्यकतानुसार कर लिया गया। साथ में कर्मकाण्डी विधि में किसी ने किसी नाम को प्राथमिकता दी, किसी ने किसी दूसरे को। यह भेद शाब्दिक रहा, व्याख्या का रहा, तत्त्व का नहीं। अतः सब वेदों में विषय का मेरुदण्ड तो सर्वत्र एक ही मिलता है। पर पारिभाषिक शब्दावली में इतने मत भेद हो गये कि उन्हें गिनना भी असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। एक ही सृष्टि क्रम ब्रह्म दर्शन, विश्वदर्शन विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों और व्याख्याओं द्वारा सहस्रधारा में परिणत हो गया। वैदिक साहित्य को समझने के लिए इन पारिभाषिक शब्दावलियों और इनकी व्याख्याओं को सुलझाना और उनका तारतम्य बिठलाना भगीरथ प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। वेदों के निर्माण के पूर्व, अनेकों ऐतिहासिक और पौराणिक गाथायें प्रचलित थीं। उनकी भाषा बड़ी समृद्ध हो चुकी थी। वेदमन्त्रों की भाषा के सम्बन्ध में वेदों में ही स्वयं लिखा है कि उन्होंने भाषा को सभ्यता की चलनी से छान-छान कर, सभा-समिति-गोष्ठी में नाना रीति से नाप-तौल कर मन्त्रों का निर्माण किया है "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥"* (१०-७१-२) इसीलिए वैदिकों की प्रतिज्ञा है कि उनकी भाषा में 'लक्ष्मी' या 'प्रतिभा' का निवास स्थान है। वैदिक भाषा प्रौढ़ और प्राञ्जल भाषा है। इसकी प्रौढ़ता की परीक्षा एक ही मन्त्र में इतिहास, दर्शन और कर्मकाण्ड तीनों के त्रिवृत् को एकत्र समाविष्ट करने की उनकी अलौकिक प्रतिभा से स्वयं हो जाती है। वेद निर्माण से पूर्व नक्षत्र, राशि, मास, ऋतु, पक्ष, अयन, आकाशगंगा की दो परतों, सौरमण्डल के ग्रहों और अतिग्रहों का पूर्ण ज्ञान हो चुका था। समस्त दर्शन की ज्ञानगंगा सहस्रधाराओं में विद्युत्तरंगिणी के रूप में बहने लग गई थी। कर्मकाण्ड रूप नाट्यशास्त्र का अद्भुत रंगमंच भी प्रस्तुत हो चुका था। ब्रह्मसूत्र-

१—पूर्व वैदिकों के ज्ञान की परिस्थिति

---

* हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥ (ऋ० १०-७१-८) इसमें तो साफ लिखा है कि प्रत्येक शब्द की बारीक परीक्षा की गई थी, ऐसे ज्ञाता को ऋषि कहते थे। (ऋ० १०-७१-२)

शुद्धब्राह्म सृष्टि के २४ ब्रह्म+चक्षु रूप २५ वें ब्रह्म के चतुष्पाद् के तीन सूत= २७ सूत्री यज्ञोपवीत रूप प्रतीक ब्रह्मसूत्र प्रत्येक आर्यजन के गले का हार बन चुका था। शिक्षा या प्रतिभा दर्शन प्रादुर्भूत कर लिया गया था, नाम रूप का व्याख्याता (शब्द संधि, वाक् संधि का व्याख्याता व्याकरण या व्याख्या शास्त्र स्थापित हो चुका था, छन्द शास्त्र बने बिना तो छन्द ही कैसे बनते ? आजकल लोग कहते हैं कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द वेदों के अंग हैं। ऐसा नहीं है, वेदों से ये नहीं निकले हैं, प्रत्युत इन सब शास्त्रों का एक सामूहिक सुवर्ण फल वेद है। पहिले ये शास्त्र पूर्णतः विकसित हो चुके थे, तब वेदों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। अतः वैदिक साहित्य प्रौढ़ और प्राञ्जल तथा दर्शन, पुराण, इतिहास, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त, व्याख्या (व्याकरण) और प्रतिभा दर्शनों का एक ब्रह्माण्ड सम हिरण्यगर्भ है। ज्ञान का जितना भी उदय होना था वह वेदों में हो चुका था।

वेद-मन्त्रों के ज्ञान के महासागर की मेखला तक पहुँचने के लिए लम्बी पदयात्रा की आवश्यकता है। वेदों की व्याख्या समझने और करने वाले की सर्वप्रथम योग्यता शिक्षादर्शन या प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्वशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान है। भाषा विज्ञान कोई शास्त्र नहीं है, कम से कम वेदों के अध्ययन के लिए, यह प्रतिभा दर्शन लुप्त प्राय है। जो व्यक्ति शिक्षा दर्शन या प्रतिभा दर्शन को नहीं जानता, जिस दर्शन के बिना द्विधा अक्षर ब्रह्म का ज्ञान नितान्त असम्भव है, वह हमारी ऋचाओं को (व्याख्या के लिए) छूने तक का साहस कदापि न करे। वह इन ऋचाओं से क्या करेगा, क्या पा सकेगा, यह वैदिकों ने स्वयं वेद में ही लिख दिया है जिसने प्रतिभादर्शन पढ़ लिया है, उसे ही ऋचाओं और अक्षर ब्रह्म का ज्ञान सुलभ हो सकेगा।" जैसे "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्वि-दुस्त इमे समासते॥" (ऋ० वे० १।१६४।३९) वैदिकों ने प्रतिभा दर्शन के ज्ञान के बिना वेदों का अर्थ करने और समझने को इसलिए मना किया है कि उन्होंने समस्त वैदिक दर्शन का मेरुदण्ड प्रतिभादर्शन के दो स्वरूपों में खड़ा किया है। 'अक्षरे'=दो प्रकार के अक्षर, (१) अनिरुक्त आध्यात्मिक, (२) भौतिक निरुक्त इन दोनों से आठ अरब चौसठ करोड़ बीजाक्षर तथा ध्वन्यात्मक वर्णात्मक तत्त्वों या देवों की क्रमिक व्याख्या बिठाई गई है। गायत्री ब्रह्मसूत्र, सामवेद की ध्वनियों का विवेचन, ऋक् और यजु के स्वरों का निर्णय, पद वाक्यार्थ आदि का स्फोट द्वारा विवेचन, सप्तपरिधियों और 'चत्वारि वाग्परिमिता पदानि' आदि आदि का वैदिक दर्शन के मुख्य शरीर के ज्ञान बिना इस दर्शन का ज्ञान सर्वथा असम्भव है। प्रतिभादर्शन शिक्षादर्शन है जिससे ज्ञानपुरुष वेद की नाक कहा गया है 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'*।

*यह शास्त्र शब्द ब्रह्म शास्त्र है। ब्रह्म स्वयं शब्द स्वरूप है। जो व्यक्ति शब्द स्वरूप ब्रह्म के निरूपण वाले प्रतिभा दर्शन को नहीं जानता उसकी विद्या अधूरी है।

वेद व्याख्याता की द्वितीय आवश्यक योग्यता है 'कल्प' का ज्ञान। कल्प माने 'कल्पना' ही है। कल्पना अभिनेय पात्रों तथा पात्रों के प्रयोग की विधि के अनुसार दो प्रकार की कीजाती है। इन दोनों के सम्मिश्रित प्रयोग को कर्मकाण्ड कहते हैं। इस कल्प या कर्मकाण्ड की नींव वैदिक ब्रह्मविकास के ५० तत्त्वों की अनेकधा व्याख्या को दृष्टिपथ में रखते हुए डाली गई थी। जितने सूक्ष्म विधान और अटल विधान कर्मकाण्ड में विहित किये गये हैं उनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध ब्राह्म सृष्टि के एक-एक तत्त्व की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या से है। सब कर्म स्वस्तिवाचन से, सब तत्त्वों के आह्वान और स्तुति से आरम्भ किये जाते हैं। तदनन्तर 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्' आदि से ब्रह्म के साथ में विष्णु और रुद्र की प्रार्थना के अनन्तर गणपति रूप अखिल ब्रह्माण्ड का आह्वान किया जाता है। षोडश मातृका उत्तर षोडशकल ब्रह्म या ब्राह्मी व्याख्या है। नान्दी श्राद्ध, तृतीय, चतुर्थ सप्तक के ब्रह्मों की पितर रूप में पूजा है। कलश स्थापना के बाद फिर सद्ब्रह्म रूप हिरण्यगर्भ का आह्वान किया जाता है उसमें समस्त ब्रह्माण्ड के बीजों के प्रतीक अन्न पलाशादि, हरिद्रादि, औषधि, रत्नादि डाल कर ॐकार की ग्रन्थि सहित चतुष्पाद (चतुर्मुख) ब्रह्म की स्थापना की जाती है और उसी में पञ्चतत्त्वीय पञ्चामृत तथा नवग्रहीय नवाहुति दी जाती है। कुशकण्डिका पुनः इसके विकास को एकपाद्, द्विपाद्, और त्रिपाद् ब्रह्मों की सृष्टि का सजीव नाटक करती है। तदन्तर ग्रहयाग, चतुष्पाद ब्रह्मों के रसों के हवन द्वारा यज्ञ के पूर्वार्द्ध को या ब्राह्म सृष्टि के ३३ देवों के विकास तक पहुँचा देता है। अन्य यज्ञों में एक-एक अंग का अभिनय होता है, जैसे उपनयन में 'गायत्री' याग में प्रथम २७ तत्त्वों के प्रतीक यज्ञोपवीत का ब्रह्मज्ञान ज्योति के प्रतीक शिखा रखने का शुद्ध ब्रह्म विज्ञान का अभिनय होता है। दूसरी बात यह है कि कर्मकाण्ड में ऐसे नपे-तुले, चुने हुए मुख्य आवश्यक और अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्रों को ही अपनाया गया है और उनका प्रयोग ऐसे उचित स्थानों में किया गया है कि वैदिक दर्शन स्वयं स्पष्टतया दृष्टिगत हो जाता है। अतः जो कर्मकाण्ड नहीं जानता उसे वैदिक ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव है। कुछ भी हो ब्रह्मज्ञान की द्वितीय सीढ़ी कर्मकाण्ड के अभिनय को यथार्थ ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से देखना ही है। तीसरी बात वेद के मन्त्रों के प्रयोग की है। कुछ लोग पञ्चामृत और ग्रहयाग के मन्त्रों में दूध, दही, घी, मधु, शर्करा तथा सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु के मन्त्रों में उनके लौकिक स्वरूप के अर्थों में साम्य न पाकर कहते हैं कि यहाँ उन मन्त्रों का प्रयोग अनर्थक और असंगति पूर्ण है। ये पञ्चामृत और ये ग्रह पार्थिव दही, दूध आदि और सौर मण्डलीय ग्रहों को दृष्टिपथ में रख कर सांकेतित नहीं हुए हैं। ये पञ्चामृत और ग्रह हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड तथा अखिल ब्रह्माण्ड के मूल हैं। पञ्चामृत प्रथम चार सप्तकों के तत्त्व हैं, ग्रह प्रथम चार सप्तकों के मुख्य आठ ब्रह्म हैं जिनका अभिनय सौर मण्डलीय ग्रहों का प्रतीक बनाकर उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार गायत्री ब्रह्मों का ज्वलन्त सूर्य की उपासना को प्रतीक

बनाकर। न तो गायत्री का यह सूर्य है, न वैदिक ग्रहयाग के सौरमण्डलीय ग्रह हैं, न पञ्चामृत के द्रव्य दूध, दही आदि हैं, ये तो अभिनय के प्रतीक मात्र हैं और उनके सब मन्त्र ब्रह्म सृष्टि के तत्त्वों की व्याख्या हैं जिन्हें आगे सविस्तर दे दिया जायगा।

३—निरुक्त की अनुपादेयता

वेद व्याख्याता की तीसरी आवश्यक योग्यता है निरुक्त का गम्भीर ज्ञान। इतना मानना पड़ता है कि प्रायः सभी भाष्यकारों और अनुवाद तथा आलोचनाकारों ने यास्क का निघण्टु और निरुक्त अवश्य पढ़ा है और पढ़ते भी हैं। पर खेद तो यह है कि यास्क के समय भी कोरे कर्मकाण्डी अर्थ की अन्ध परम्परा ही प्रचलित रही। यास्क ने देवी-देवताओं का विश्लेषण अन्धमार्गी कर्मकाण्डी परम्परा के ही अनुसार दिया है और स्थल-स्थल पर जहां पर मन्त्र का आध्यत्मिक अर्थ देने का प्रयास भी किया है, वहां पर वे उपनिषदों को एकदम छोड़ गये हैं और ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के रहस्यों को नहीं समझ पाये हैं। दृष्टान्त के लिए 'अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षादु अदितिः परि' की व्याख्या में "कथमितरेतरजन्मानाविति" "देवधर्मेण इतरेतरप्रकृती" कहकर किनारे लग गये हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' और 'चत्वारि वाक् पदानि' की व्याख्या में उस समय के याज्ञिक, वैयाकरण, नैरुक्त आदि के मतों को देकर भी यह नहीं बता पाये हैं कि 'अक्षरे' क्या है ? 'तिस्रो' वाचो क्या है और 'चत्वारि वाक्' क्या है ? अतः वैदिक दर्शन की खोज के लिए उनके निरुक्त का सहारा लेना अपर्याप्त है। उनके समय में वैदिक दर्शन लुप्त हो चुके थे। इसीलिए उन्होंने निरुक्त के अन्त में सांख्य योग के प्रचलित स्वरूप को विश्वसनीय रूप में देने का यत्न किया है, तथा उसके पश्चात् अन्त में सोम ब्रह्म सम्बन्धी १०,१५ ऋचाओं की कुछ-कुछ आध्यात्मिक व्याख्या देने का प्रयास भी किया है जिससे यह विदित हो जाता है कि उनके समय में लोगों की ऐसी धारणा नहीं मिट पाई थी कि वेदों में पूरा या अधूरा कुछ न कुछ दर्शन अवश्य है। निरुक्त का महत्त्व, शब्दार्थ प्रस्तुत करने तथा चुने-चुने उत्तम-उत्तम मन्त्रों को एकत्रित करने में अवश्य मान्य है। सम्भवतः यास्क के पूर्ववर्ती निरुक्तकार वार्ष्यायणि और शाकपूणि ने कुछ-कुछ आध्यात्मिक या दार्शनिक व्याख्या दी हो। पर इनमें प्रथम का ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। अतः निरुक्त से वैदिक दर्शनों का कुछ भी पता नहीं लग सकता, भले ही पद व्याख्या में यह प्रामाणिक माना जावे।

४—व्याकरण ज्ञान

वेद व्याख्याता की चौथी आवश्यक योग्यता है 'व्याकरण' का ज्ञान। पर भय तो यह है कि आजकल लोग 'शब्दानुशासन' को व्याकरण नाम से पुकार रहे हैं। वेदाङ्ग व्याकरण का इस शब्दानुशासन वाले व्याकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदाङ्ग व्याकरण तो प्रतिभा दर्शन का एक अंग था। शिक्षादर्शन ध्वनि तत्त्व

का विकास तथा ध्वनियों के स्वराघात आदि पर विचार करता था तो उस समय का व्याकरण वाक्यों और छन्दों में सन्धियों तथा उनके स्वराघात प्रभृति पर सूक्ष्म विचार करता था। उस युग में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। अतः भवति गच्छति रामः रामौ रामाः, जैसे रूपों की सिद्धि करने वाले पाणिनि के जैसे 'शब्दानुशासन न तब थे न उनकी तब आवश्यकता ही थी'। उन दिनों उतने ही व्याकरण से सर्वसिद्धि हो जाती थी। वही उतना भाग बहुत कठिन है। उस व्याकरण को आजकल के धुरंधर वैयाकरण नहीं जानते। आज के युग में इस अंग को प्रतिभादर्शन में सम्मिलित कर दिया गया है। भर्तृहरि जी ने अपने वाक्यपदीय में उसी व्याकरण को प्राचीन दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उनका 'वाक्यपदीय' शिक्षादशन या प्रतिभादर्शन की कोटि में आता है। भर्तृहरि जी के उक्त कथन से आजकल कुछ लोगों को यह भ्रम होने लग गया है कि पाणिनि व्याकरण एक दर्शन था, पाणिनि व्याकरण तो कोरा शब्दानुशासन है, रूप सिद्धि का ग्रन्थ है। इस युग में वेदों की व्याख्या के लिए उक्त प्राचीन व्याकरण का ज्ञान सर्वथा आवश्यक है।

वेदों के व्याख्याता की पाँचवीं योग्यता है वैदिक ज्योतिष का ज्ञान। ज्योतिष में भी गणित और फलित दोनों की सरणि का ज्ञान चाहिए। वैदिकों के ब्रह्मदर्शन की मूल भित्ति 'अहोरात्र' सिद्धान्त है। इस

५—अहोरात्र सिद्धान्त

अहोरात्र दर्शन में कौन दिन है, कौन रात है? दिन का आरम्भ किस तत्त्व से है, उषा का आरम्भ किस तत्त्व से है, सूर्योदय किस तत्त्व का नाम है, चन्द्रोदय किस तत्त्व का नाम है? ग्रह और अष्ट अतिग्रह कौन-कौन तत्त्व हैं, यह जानना अहोरात्रवाद का ज्ञान है। अहोरात्रवाद से मिला हुआ नक्षत्रवाद है। ५० तत्त्वों में से प्रत्येक को एक नक्षत्र या उसके स्वामी के नाम से पुकारा गया है। 'अश्विनी' को कहाँ पर बैठाया जाय या बैठती है, पहिले यह निर्णय करना पड़ता है। यह निर्णय ऐसा होना चाहिए जो 'अहोरात्र' सिद्धान्त के तीसरे पहलू संवत्सरवाद और संवत्सर-वाद के ऋतुवाद में गणितानुसार ठीक बैठ जाय। संवत्सरवाद में एक अयन-वाद और एक पक्षवाद भी है। इन दोनों अयनों और पक्षों को भी गणिता-नुसार उन्हीं ५० तत्त्वों में ठीक बैठ जाना चाहिए। जो यह नहीं कर सकता उसे वैदिकों के ब्रह्मदर्शन का ज्ञान नहीं हो सकता। 'अहोरात्र सिद्धान्त के उक्त छह पहलुओं का निर्वचन ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् गीता, स्मृति, महाभारत और पुराण आदि ग्रन्थ कुछ न कुछ, कोई अधिक कोई कम अवश्य देते आ रहे हैं। अतः ज्योतिष के इस प्रकार के ज्ञान के बिना वैदिक दर्शन का ज्ञान नहीं हो सकता। और वैदिक ज्योतिष जाने बिना न तो वैदिक ब्रह्मवाद आ सकता है, न अहोरात्रवाद, न नक्षत्रवाद, न संवत्सर, ऋतु, मास, अर्द्धमास पक्ष और अयनवाद। वैदिकों के ज्योतिष के अन्तर्गत कलावाद भी है जिसके अनुसार पूरे ५० तत्त्वों को दो पक्षों

में विभाजित कर रखा है। इन्हें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो नाम; शुक्ल तथा कृष्ण के लिए दिये गये हैं। ये पक्ष संवत्सरवाद के छह-छह महीने के पक्षों से भिन्न हैं। इनके पक्षों के ब्रह्मों को षोडशकलाब्रह्मों में विभाजित कर रखा है। प्रथम पक्ष को गुहा नाम भी दिया गया है। ये सब बातें बिना वैदिक ज्योतिष जाने समझ में नहीं आ सकतीं। जिन ग्रन्थों ने चतुष्कल ब्रह्म की व्याख्या दी है वह कलावाद, पादवाद का दूसरा नाम है। इसका पाक्षिक कलावाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

६—वैदिक छन्दः शास्त्र

वेद व्याख्याता की छठी महत्त्वपूर्ण योग्यता है कि वह वैदिकों के छन्दः शास्त्र के प्रयोग को उनकी अभीष्ट प्रणाली में समझ ले। छन्दः शास्त्र कोई कठिन शास्त्र नहीं है। पर वैदिकों ने छन्दों के अक्षरों को तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त किया है, उनके पदों को आदि सृष्टि के पादों के रूप में। गायत्री ब्रह्मवाद तो पूरे का पूरा छन्दः शास्त्र के अक्षरों और पादों में ढला हुआ है। यहाँ पर यह छन्दः शास्त्र, शिक्षा दर्शन या प्रतिभादर्शन के 'ऋचो अक्षरे' के वर्णात्मक अक्षरों का प्रतिनिधि बनाया गया है। ब्रह्म को जो एकपाद्, द्विपाद् और त्रिपाद् कहा गया है वह गायत्री छन्द के अक्षरानुरूप तीन पादों के आठ-आठ अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर को एक-एक ब्रह्म और आठ ब्रह्मों का एक पाद, तीन पादों के २४ ब्रह्मों का गायत्री ब्रह्म होता है। २४वां ब्रह्म चतुर्थ सप्तक का प्रथम ब्रह्म है। पुरुष 'सूक्त के 'त्रिः सप्त' समिधः' २१ नहीं यही २४ समिध हैं। इसीलिए एकविंशति न कहकर त्रिःसप्त या तीन सप्तक (यहाँ अष्टक में व्याख्या है) से तात्पर्य है। २५वां ब्रह्म सूर्य या चक्षु है उसी का उपस्थान होता है। लिखा है "देवता अक्षरभाजः करोति अक्षरमक्षरमेवैतद्देवता अनु प्रपिबन्ति, देवपात्रेण (छन्दसा) एव तद्देवतास्तृप्यन्ति यं कामयेतानायतनवान्त्स्यादित्यविराजास्य यजेत् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वा अन्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायननवन्तमेवैनं तत्करोति।" (ऐ०ब्रा० ३-२-२२)। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द के ३२ अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर एक ब्रह्म है, कुल ३२ अक्षरों में ३२ ब्रह्मों में ब्राह्मसृष्टि पूरी होती है। इसी सृष्टि तत्त्वों को त्रिष्णुप् छन्द के ११,११ के तीन पादों द्वारा ३३ ब्रह्मों की सृष्टि को रौद्र सृष्टि नाम दिया गया है। जगती के १२,१२ के चार चरणों से ४८ तत्त्वों या अक्षरों से पूर्ण सृष्टि का वर्णन दिया गया है, दशाक्षरी विराट् से ४० तत्त्वों के विराट् पुरुष का इत्यादि। यह है वैदिक छन्दों के अक्षरों से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान। अभी तक किसी भी भाष्यकार और टीका, टिप्पणी, अनुवाद और आलोचना के लेखकों की दृष्टि वैदिकों के इस महत्त्वपूर्ण छन्दः शास्त्र के अक्षरों से अक्षर ब्रह्म ज्ञान की ओर गयी ही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों ने इस प्रकार के छन्दःशास्त्र की व्याख्या पद-पद पर सैकड़ों बार दी है, छान्दस पशुओं के बारे में आगे छान्दस दर्शन देखें।

सातवीं मुख्य योग्यता है वेद व्याख्याता का परमवैज्ञानिक व दार्शनिक होना। यहाँ परमवैज्ञानिक दार्शनिकता के माने अनुभूति से परिपक्व विचारों से स्थिर मत का दार्शनिक है। ऐसा दार्शनिक नहीं जो दूसरों के मतों का उद्धरण देकर संतोष मान ले। ऐसे परम वैज्ञानिक दार्शनिकता के लिए, वेद व्याख्याता को प्रत्येक ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तथा गीता का अक्षरशः गम्भीर अध्ययन करना तो अनिवार्य है ही, साथ में भारतीय दर्शन सांख्य, योग से पूरा परिचय रहना भी अनिवार्य है, सांख्य-योग में भी प्राचीन सांख्य-योग का विशद अध्ययन चाहिए।

७—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वैदिक वाङ्मय की व्याख्या उक्त सात योग्यताओं की प्रस्तुति मात्र से ही पूर्ण न हो सकेगी। वेद व्याख्याता को वेदों की पृष्ठभूमि का एक स्पष्ट प्रतिबिम्ब सामने रखना परम आवश्यक है। ब्राह्मण भाग और उपनिषद् ग्रन्थ भले ही तब लिखे गये हों जब लोग प्राचीन गाथाओं और व्याख्याओं को भूलने लगे थे, पर इनका पूरा पक्का ढांचा मंत्रभाग से बहुत पहिले इसलिए निश्चय पूर्वक निर्मित हो चुका था कि मंत्रभाग तो ब्राह्मण और उपनिषदों का संक्षिप्त छन्दोबद्ध संस्करण मात्र है, असली वेद तो या पूरा वेद तो ब्राह्मण तथा उपनिषद् ही हैं, इनमें जो व्याख्यायें शेष रह गई हैं वे पुराणों और महाभारत में निबद्ध हैं, इसीलिए 'भारतं पञ्चमो वेदः' और 'पुराणं पञ्चमो वेदः' कहते हैं। भारत ही पुराणों का स्रोत है। दूसरी बात जो परम आवश्यक है वह यह है कि वेदों के लिखते समय वैदिकों के सामने अपने वैदिक दर्शन की एक पूर्ण रूप-रेखा टँकी है, तत्त्व को चाहे वे किसी भी नाम से पुकारें, उनमें से प्रत्येक का स्थान निर्णीत और निश्चित है। उन्होंने ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रत्येक तत्त्व की क्रमिक संख्या साफ-साफ दे रखी है। जैसे 'प्रथमोऽयमग्निः, द्वितीयं परिजातवेदाः, कुमारो नवमो रुद्रः, इन्द्रो ह षोडशी, सप्तदशोऽयं प्रजापतिः, एकोनविंशोऽयम्, विंशोऽयं, चतुर्विंशं महाव्रतं, एकत्रिंशोऽयं पुरुषः, चतुस्त्रिंशोऽयं प्रजापतिः, चत्वारिंशोऽयं विराट्, अष्टा-चत्वारिंशोऽयं जागतः पुरुषः'' इत्यादि। अभी तक इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। ब्रह्म सप्त पदी है। सप्तवाद कई प्रकार के हैं, ये ब्रह्म दर्शन की सात मञ्जिलें हैं। प्रत्येक मञ्जिल में सात-सात कहीं-कहीं आठ या छह, षडष्टक या अष्टषट्क हैं 'सप्तधामानि सप्त च'। इस पर भी किसी ने विचार नहीं किया है। संवत्सर ब्रह्मवाद तो वैदिक योगमार्ग का एक सर्वाङ्गीण बृहद्विशाल कल्पवृक्ष है। इन सबका ज्ञान परम आवश्यक है।

८—वैदिक पृष्ठभूमि

अध्याय ४

वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों का निर्णय

वैदिकों ने अपने विश्वदर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिए एकचक्र, द्विचक्र, त्रिचक्र, पञ्चचक्र, षड्चक्र, सप्तचक्र और अष्टचक्रों की अद्भुत अनुभूति की थी। समस्त वेदों में इन्हीं चक्रों की विभिन्न नामावलियों या विभिन्न विभागीय देवताओं की स्तुति रूप में व्याख्या दी गई है। जिस व्यक्ति को इनका समुचित बोध नहीं उसे वेदों का अभीष्ट अर्थ कदापि नहीं लग सकता। उक्त सब चक्र वैदिक दर्शन के मुख्य-मुख्य प्रकाशस्तम्भ हैं। इन्हीं की ज्योति में बैठ कर वेदों के अर्थ को पढ़ा भी जा सकता है। इनका वैदिक ऋषियों ने साक्षात् दर्शन किया था; अतः उन्हें मन्त्रद्रष्टा* (अर्षन्ति इच्छन्ति पश्यन्तीति वा) ऋषयः या 'साक्षात्कृतधर्माणः' कहते हैं। ये सब अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के मौलिक धर्म या परिस्थितियाँ हैं जिनसे इसका विकास हुआ है। ये चक्र वैयक्तिक ब्रह्माण्ड (शरीर) में भी हैं, पारिवारिक ब्रह्माण्डों में भी हैं, स्तवकीय ब्रह्माण्डों में भी हैं और सर्वैक्य अखिलब्रह्माण्ड में भी। इनमें से किसी एक की अनुभूति अखिल-ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् परितः दृश्यमान, अवगत और पूर्णरूपेण साक्षात् कराकर त्रिकालदर्शी बना सकती है। वेदों में उक्त चक्रों का वर्णन दो प्रकार से दिया हुआ मिलता है (१) अव्यक्त ब्रह्माण्ड का या सृष्टयादि तत्त्वों का क्रमशः विकास देवताओं के नाम से; (२) व्यक्त ब्रह्माण्ड या शरीर या दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड उसी क्रम और परम्परा में वर्णित। वास्तव में वेदों में मुख्यतः उसी प्रथम अव्यक्त ब्रह्माण्ड या ब्रह्म का विकास दिया हुआ मिलता है, जो ५० तत्त्वों के अन्त में विवर्त्त नामक परमाणु के रूप में प्रस्तुत होता है। द्वितीय स्वरूप के या दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर में इसका प्रयोग केवल आक्षेप से या ध्वनि से किया गया है। इसे जानने के लिए वैदिक ज्योतिष दर्शन को जानने की परम आवश्यकता है। जो बात अखिल व्यक्त ब्रह्माण्ड में पाई जाती है वही वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में भी मिलती है। इसका ज्ञान योग क्रिया के अष्टचक्रों के ज्ञान से किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति या गोल या अखिल ब्रह्माण्ड, ब्रह्म की प्रतिमूर्त्ति या साक्षात्मूर्त्ति है। यहाँ पर केवल वेदों के धरातलीय प्रथम अर्थ या ब्रह्म विकासीय परम्परा में वर्णित देवताओं या तत्त्वों का क्रमिक विकास दिया जायगा, शेष दो का इसी के समानान्तर आक्षेप पाठकों को स्वयं कर लेना पड़ेगा या सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार पढ़कर इस आक्षेप को समझ लेना होगा।

१—प्रतावना

---

* 'ऋषयः' शीर्षक और 'सप्तचक्रवाद' तथा पुरुष सूक्त ऋचा १५ देखें।

वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय मुख्यतः सप्तवाद, पञ्चवाद या त्रिवाद से किया जाता है। ये ही सप्तचक्र, पञ्चचक्र और त्रिचक्र हैं। जितने तत्त्व सप्तवाद में हैं उतने ही पञ्चवाद और त्रिवाद में भी हैं। इतने ही तत्त्व द्विचक्र में भी हैं और एकचक्र इन सबका एक समाहार है। सप्तचक्र या सप्तवाद से ब्रह्मचक्र पृथक् है। उसे मिला कर कुल अष्टचक्र या पञ्चवाद में षडचक्र हो जाते हैं। सप्तवाद की वर्णना नाना नामों और विषयों को आधार बनाकर की गई है। यही बात पञ्चवाद, द्विवाद और त्रिवाद के बारे में भी पाई जाती है। ये नाना सरणियाँ या शाखायें हैं। सप्तवाद में एक बात ध्यान देने की यह है कि कई मन्त्र केवल चतुर्थ सप्तक के सात तत्त्वों का ही विवेचन देते हैं उसकी छानबीन चतुर्थ सप्तक के ज्ञान से हो सकती है। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि प्रत्येक सप्तक में कम से कम सात तत्त्व हैं पर कहीं-कहीं छान्दस दर्शनानुसार ८,९,१२ तत्त्व भी एक सप्तक में वर्णित हैं। इन सबका वर्णन निम्न प्रकार से दिया हुआ मिलता है।

२—चक्रवाद

अष्टचक्रों का वर्णन ऋ० वे० (४-४०-५) की निम्न ऋचा आठ सदः या सभाओं के नाम से घोषित करती है जैसे—

"हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥"

३—अष्टचक्र

इसका चित्र निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक सद् में सात-

हंसः	वसु	होता	अतिथिः	अब्जा	गोजा	ऋतजा	अद्रिजा
शुचिषद्	अन्तरिक्ष-षद्	वेदिषत्	दुरोणसत्	नृषत्	वरसत्	ऋतषद्	व्योमसद्

सात तत्त्व हैं जैसे अखिल वैदिक दर्शन, देवताओं या तत्त्वों की अयोध्या या दुर्जेय पुरी है, वह हिरण्मय कोष के समान (हिरण्यगर्भ) स्वर्गीय ज्योतियों से आवृत है इस प्रकार का वर्णन अथर्व (१०-२-३१) इस प्रकार देता है"—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृत्तः॥"

इसी का समर्थन अथर्व (११-४-२२) ने पुनः अक्षर ब्रह्म के रूप में किया है जैसे—

"अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरोनिपश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥"

यहाँ पर क्रम या दर्शन के दो मुख्य भाग पूर्वार्द्ध और परार्द्ध अथवा 'द्वे ते चक्रे सूर्ये' का उल्लेख करते हुए यह घोषणा भी की गई है कि उत्तरार्द्ध में

भौतिक सृष्टि का सृजन आरम्भ किया गया तथा पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का। जो ऐसा केतु या झंडा या सहारा है जिसे कम लोग समझ पाते हैं। इसी विषय का सांकेतिक वर्णन अथर्ववेद (८-९-२१ और २३) में इस प्रकार देता है"—

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥
अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या नोषधीस्तां उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥"

ऋत नाम ब्रह्म का है, उससे आठ भूत या चक्ररूप आठ धामों की उत्पत्ति हुई, उन्हीं को इन्द्र (सर्वादेवता) के आठ दैवी ऋत्विक् नामों से पुकारा जाता है, उन्हीं को अदिति की आठ योनियाँ या गर्भ या अष्टपुत्रा अदिति कहते हैं। अष्टमी सन्तति का उदय रात्रि या उत्तरार्द्ध में होता है ॥२१॥

इन्द्र (सर्वादेवता) की व्याख्या अष्टचक्रों से की जाती है, यम की षडष्टक से, ऋषियों की सप्तसप्तकों से, आपोब्रह्म, नदी, पर्वत, समुद्र, मनुष्य या विश्वदेवताओं और ओषधियों का वर्णन पञ्चदशक या दश-दश तत्त्वों के पाँच चक्रों से। इनका विवेचन आगे है।

४—इन्द्राष्टचक्री

अदिति की अष्टयोनी या अष्टभागों या अष्टपुत्रों की चर्चा ऋ० वे० (१-८९-१० और १०-७२-८-९) में इस प्रकार दी हुई मिलती है—

"अदिति र्द्यौरदितिरन्तरिक्ष मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"

"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वास्परि।
दैवाँ उपप्रैत सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत् ॥८॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरूप प्रैत पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्तण्डमाभरत् ॥९॥"

ऋग्वेद ने उक्त अष्टचक्रों को दो विभागों (गुह्य या गुहास्थ, पूर्वार्द्ध और पर या उत्तरार्द्ध) में विभक्त करते हुए भी उन्हें सदांसि और सदन (षद्, धाम, लोक आदि) नामों से पुकारते हुए लिखा है कि इनका जानने वाला देखने वाला और इनकी व्याख्या करने वाला केवल 'कः ब्रह्म' है जैसे—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचद् देवाँ अच्छा पथ्या का समेति।
ददृश्रएषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥" (ऋ०वे० ३-५४-५)

"कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विधृते मदन्ती।
नानाचक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने ॥"
(ऋ० वे० ३-५४-६)।

और कवियों या ऋषियों ने इस रहस्य को रहस्य ही बना कर रखा है,

स्पष्टतया नहीं कहा है ? यहाँ पर उक्त चक्रों का नाम 'पदा' या पदानि या पादा बतलाते हुए लिखा है—

"सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥
(ऋ० वे० १०-५३-१०)

शतपथ ब्राह्मण ने 'चितेः प्रथमः प्रस्तारः' (७-३-१) में इस अष्टचक्र विद्या का विवेचन 'पुष्करपर्ण' विधि से अभिनयात्मक रूप में वर्णित किया है जिसका धुँधला स्वरूप उपनिषदों में दिया हुआ मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण इस विद्या का अभिनय यज्ञमण्डप में स्थापित 'यूप' के द्वारा करता है जिसको आठ भागों में विभक्त किया जाता रहा जैसे—

५—पुस्करपर्णी, अष्टचक्र, अष्टाश्रिर्यूप अष्टापदी

"तद्यद्यूप ऊर्ध्वो निर्मीयते यज्ञस्य प्रज्ञात्यै स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै। वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः (अष्टचक्री) कर्त्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्ततं प्रहरति द्विषतेभ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति" (२-१-१)।

श० प० ब्रा० इसी बात का समर्थन (५-१-६-५ में) इस प्रकार करता है—

"अष्टाश्रिर्यूपो भवति अष्टाक्षरा वै गायत्री ।
गायत्रमग्निश्छन्दो देवलोकमेवैतेनोज्जयति ॥"

यहाँ पर यह यूप अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। उसके अष्टाश्रिः अष्टचक्र या आठ विभाग हैं जो सृष्टि का क्रमिक विकास सूचित करते हुए इस ब्राह्माण्ड में उनकी मौलिक स्थिति का भी परिचय देते हैं। ऋग्वेद (२-७-५) (८-७६-१२) इनको अष्टापद नाम से पुकारता है जैसे—

"त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टा पदीभिराहुतः ॥"
"वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात् परि तन्वं ममे ॥"

इसी को ऐ० ब्रा० (४-३-१६) षडष्टक द्वारा वर्णित करता है।

पुरुष विद्या में जिसका वर्णन पुरुष सूक्त और उसके उपोद्घात में किया गया है—इन्हीं अष्टौ षद् या सदांसि या चक्रों को तीन अन्य प्रसिद्ध नामों से पुकारा जाता है। वे नाम हैं (१) अष्टौ आयतनानि, (२) अष्टौ लोकाः (३) अष्टौ पुरुषाः। 'अष्टौ आयतनानि' में पृथिवी, रुप, आकाश, काम, तेज, तम, आपः, रेतः, हैं। 'अष्टौ लोकाः' में ब्रह्म लोक तथा 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' हैं तथा 'अष्टौ पुरुषाः' में 'ऋषयः' शीर्षक और आगे सप्तवाद में वर्णित सप्तर्षि तथा उन सब से परे ब्रह्मर्षि (ब्रह्म) हैं। इनका

६—अष्टौ आयतनानि, अष्टौ लोकाः, अष्टौ पुरुषाः।

विवेचन बृहदारण्यक २-९-२६ तथा श० प० ब्राः १४-६-९-पूरे प्रपाठक में दिया गया है जिसका स्पष्ट वाक्य यह है—

"इत्येतान्यष्टावायतनानि अष्टौ लोकाः अष्टौ पुरुषाः ।।"

इनमें से आयतन तो उक्त चक्रों के स्वरुप हैं और आठ लोक उनके क्रमिक स्थान हैं। 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' तो सात लोक सात सप्तकों के संकेतक हैं, प्रत्येक सप्तक एक लोक है। इन सबके आदि में ब्रह्मलोक है जिसका वर्णन बृहदारण्यकीय श. प. ब्रा. (१४-७-१ पूरे प्रपाठक) में क्रमशः दिया गया है। इस लोक विद्या का सम्बन्ध सृष्टिवृक्ष विद्या से है। सृष्टिवृक्ष रुप पुरुष, बीज रुप में ब्रह्मलोकात्मा होता है, उसे सर्वप्रथम भू-नामक लोक में बोया जाता है, वह भुवः लोक में प्रवृद्ध होता है और फूलकर फट जाता है, स्वर्लोक में वह तेजस स्वरुप से त्रिधा दोपटल और अङ्कुर हो जाता है। महर्लोक में उसकी आँख-सी निकल कर पर्ण या सुपर्ण रूप में या भौतिकात्मरूप में प्रथम उत्पत्ति होती है। तब जनः लोक में वह पञ्चधा पञ्चजन रूप में उत्पन्न होता है, तदनन्तर वह तपोलोक में तपोरूप में विकसित होकर सत्यं लोक में विवर्त नामक परमाणु रूप को प्राप्त होता है, यह सृष्टि का महापरमाणु है। इन लोकवाची भूर्भुवः स्वः में भूः शब्द प्रथम सप्तक का वाची है न कि हमारी धरती का संकेतक।

श० प० ब्रा० ने लिखा है कि ब्रह्म ने सर्व प्रथम वाणी 'भू' उच्चरित की तो पृथिवी या ब्रह्मबीज बोने की प्रथम पृथिवी भू निकली।

फिर दूसरी वाणी भुवः कही तो अन्तरिक्ष लोक बना, अन्त में 'स्वः' कहा तो स्वर्लोक बना जैसे—

"स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्तस्मै भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्स्वरिति सासौ द्यौः ।।" (श० प० ब्रा० ११-१-६-३)

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह सृष्टिपुरुष उलटा उगा है या उगता है जिसको अथर्व, कठ, मुण्डक और गीता 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'अर्वाग्बिलश्च-मस ऊर्ध्वबुध्नो' या 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्' इत्यादि बार-बार कहते आ रहे हैं। उसके उगने की भूः, भुवः आदि हमारी धरती नहीं हैं, यह तो सत्य लोक या सातवें लोक का विस्तार है। ब्रह्म के उगने की पृथिवी या भूर्भुवस्वरित्यादि लोक प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम सप्तक हैं इसमें भी सन्देह का लवलेश नहीं। क्योंकि इनके प्रत्येक लोक को उर्वीनाम से पुकारते हुए उनकी संख्या षडष्टक द्वारा छह दी गई है जिनका वर्णन आगे षट्चक्रों में दिया जायगा। इन्हीं अष्ट लोकों में से ब्रह्मलोक को छोड़कर शेष सातों को भुवन नाम से पुकारते हुए ऋ० वे० ने (९-७०-१) लिखा है—

७—ऊर्ध्वबुध्न, सृष्टिवृक्ष, सप्तभुवन, षड्उर्वी।

"त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्यमाशिरं पूर्व्ये व्योमनि।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चक्रे यद्दतैरवर्धत॥"

अथर्व (८।९।१६) ने तो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में छह छह उर्वी मानी हैं जैसे—"षडाहुर्द्यावा पृथिवी षडुर्वी" जिसका समर्थन ऋ० वे० (१०-१४-१६) भी निम्नऋचा से करता है "त्रिकदुकेभिः यतति षडुर्वी रेकमिद्बृहत्॥"

'षडुर्वी या अष्टौ लोकाः या अष्ट चक्रों के बदले इन्हें अष्ट रोदसी या अष्ट द्यावा पृथिवी और सैकड़ों द्यावापृथिवी सैकड़ों पृथिवी या भूमि कहते हुए लिखा है।

"यद्द्याव इन्द्र शतं, शतं भूमि रुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥" (८-७०-५)

'अष्टौ पुरुषा:' में ब्रह्म तो पुरुषोत्तम कहलाता है, शेष प्रत्येक सप्तक के मुख्य पुरुष को प्रजापति, महर्षि या पुरुष कहते हैं, सप्तकों के प्रत्येक तत्त्व को प्रजा, ऋषि और यज्ञ पुरुष कहते हैं। यह सप्तवाद में स्पष्ट हो जायगा। इनको सप्त पुरुषाः या ग्रन्थयः भी कहते हैं या पर्व या पर्वाणः भी। इनका वर्णन सृष्टि वृत्त रूप में बृहदारण्यकीय श० प० ब्रा० (१४-६-९-३० से ३४ तक) में निम्नश्लोकों के द्वारा दिया है।

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य पर्णानि लोमानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥३०॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात्तदातुन्नात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥३१॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्य तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥३२॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥३३॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते।
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः॥
धानारुह उ वै वृक्षोऽन्यतः प्रेत्य सम्भवः।
मत्समूलमुद्वृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवत्॥
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् रोहति।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् तिष्ठमानस्य
तद्विद इति॥३४॥

अथर्व, कठ, मुण्डक और गीता के वर्णित सृष्टि वृक्ष से तुलना करें। समस्त—वेद और वेद-विद्या का मूलाधार यही सृष्टि वृक्ष पुरुष है जिसके कारण वेद को वृक्ष तथा चार वेदों को उसकी मुख्य शाखा, उनकी प्रशाखाओं को

विभिन्न शाखाओं के नाम से पुकारा जाता है। ब्रह्म तथा उसका ज्ञान भी आरण्यक (ज्ञान) कहलाता है। यह वेदवृक्ष या ब्रह्मवृक्ष या सृष्टिवृक्ष इसी ब्रह्मरूप आरण्यकीय ज्ञान वन में उत्पन्न हुआ है। समस्त वैदिक ज्ञान इसी आरण्यकीय ब्रह्म—ज्ञान वन में उत्पन्न ज्ञानवृक्ष या वेदवृक्ष या सृष्टिवृक्ष रूप पुरुष है। इसके विवेचन में ऋग्वेद १०-३१-७ तथा १०-८१-४ में इस प्रकार प्रश्न किया गया है जैसे—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥१॥"

इसके उत्तर में तै ब्रा० ने लिखा है—

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसत्। यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥" (२-८-९) इत्यादि

फलतः—अखिल ब्रह्माण्ड, अखिल वैदिकदर्शन और अखिल वेदविद्या एक ब्रह्म—महावृक्ष है, जिसका वर्णन श० प० ब्रा० ने उक्त रीति से दे रहा है। इसी के ज्ञाता को 'वेदविद्' नाम से पुकारा भी जाता है 'यस्तं वेद स वेदवित्' (गीता १५-१) जो इसे नहीं जानता उसे न वेदविद् कहा जा सकता है, न वह वेदविद् हो सकता है।

"अष्टौ पुरुषाः" में सात पुरुषों का नाम सप्तर्षि या सप्तमहर्षि है। ये प्रत्येक सप्तक के मुख्य ब्रह्म हैं। अतः प्रत्येक ऋषि या महर्षि या पुरुष सात-सात तत्त्वों या सप्तक का गुच्छा है। ब्रह्म इनसे परे सर्वचूड़ामणि सा पुरुषोत्तम कहलाता है। विश्वकर्मा सूक्त १०।८२।२ में आया "सप्तऋषीन् पर एकमाहुः" वाक्य बहुत भ्रामक है क्योंकि इससे तो उस विश्वकर्मा को सप्त ऋषियों से परे या उत्तरार्द्ध का एक तत्त्व कहा है। सप्तऋषि पूर्ण दर्शन है पर वह धाता-विधाता है अतः एक है। इस ऋचा के सप्तर्षि चतुर्थ सप्तक के अङ्गिरस ऋषि हैं न कि 'पूर्वेसप्तर्षि' जिनका अच्छा वर्णन निम्न ऋचा देती है।

८—अष्टौपुरुषाः

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति ॥"
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।

(ऋ०वे० १।१६४।१५)

यहाँ पर इन चक्रों को एक नया नाम 'धाम' भी दिया है। इन सप्त पुरुषों का वर्णन आगे सप्तवाद में देखें। यहाँ इन ऋषियों को षडष्टक द्वारा षड् बतलाया है अन्यथा ये हैं सात ही। कर्मयोग में केवल चार चक्रों की अनुभूति की जा सकती है। इसका क्रम उलटा है पञ्चम चक्र, तृतीय, सप्तकीय चक्र है जिसकी अनुभूति करने वाले का ब्रह्माण्ड फूट जाता है, यह

ओंकार ब्रह्म योग है, मोक्ष योग है* इसकी अनुभूति के पश्चात् ४५ दिन में तीन पक्ष में ब्रह्म में लीन होता है प्रत्येक सप्तक या पाठ में १५, १५ दिन कपाल क्रिया के बाद लगते हैं जसात्मा, रुद्रात्मा और ब्रह्मात्मा क्रमशः बनता है।

सप्तचक्री सप्तवाद में मूल स्रोत ब्रह्म चक्र को स्वयमधिगत समझा गया है। उससे जो सात चक्ररूप विकास हुए हैं उनका नाना सरणियों

१—सप्तचक्री सप्तवाद में विवेचन दिया गया है। सप्तर्षि, सप्तचक्रवाद—

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः ॥ (ऋ० वे० २-१८-१)
"सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।"

(ऋ० वे० २-४०-३);

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ॥" ऋग्वेद १-१६४-३
यहां पूरा दर्शन एक रथ है सात सप्तक इसके सात चक्र या मान अंश है।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-१२)

यहाँ प्रत्येक चक्र में प्रथम को छोड़ कर शेष छह तत्त्वों के उस चक्र को 'आरा' नाम से पुकारा है जिससे इनकी संख्या ७×७+१=५० हो जाती है। अथर्ववेद (१९-५३-२) ने उक्त सात चक्रों को काल के चक्रों के नाम से पुकारा है और प्रत्येक चक्र की एक-एक नाभि भी बतलाई है तथा इसके अक्ष को अमृत कहा है जैसे—

"सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः"

यहां काल के माने विकास काल या ब्रह्म विकास ही माना गया है। यह सप्तवाद या सप्त-चक्रवाद प्राणरूप सप्त ऋषियों का मुख्यतः (८-१-३३ अथर्व-ऋषीणां सप्त सप्तधा) है। पर इस सप्तवाद को वैदिकों ने अनेक सरणियों में ढाला है जिनका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है। अथर्व का उल्लेख (८-१-२३) दिया जा चुका है, साथ में ऋ० वे० १-१६४-१४ और १०-८२-२ भी उद्धृत किये जा चुके हैं। ये ऋषियों या तत्त्वरूप महर्षियों का ही उल्लेख करते हैं। इनका खुलासा श० प० ब्रा० (६-१-१-१, २, ६, ४,) में बहुत प्राञ्जलता से इस प्रकार दे रखा है—

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव ते ऽग्रेऽस-

* यह वही मोक्ष योग है जिसे गीता "सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ कहती है। अध्याय ८ श्लोक १२, १३

दासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरा स्मात्सर्वस्मात् इदमिच्छन्तः (सृष्टिमिच्छन्त) श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः ॥१॥ स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥ तेऽब्रुवन्। न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति तऽएतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥ अथ यै तेषां सप्तनां पुरुषाणां श्रीः…… ॥४॥"

इन ऋषियों का विवेचन 'ऋषयः' नामक शीर्षक में किया गया है। इन्हीं सप्त ऋषि रूप प्राणों का नाम पुरुष या पुरुषाः भी है। यह यहाँ भी स्पष्ट है, 'सप्त नाना पुरुषान्' का अर्थ ७×७+१=५० तत्त्व है इसका समर्थन श० प० ब्रा० १०-२-२-१ भी 'यान्वै तान्त्सप्त पुरुषान्' इत्यादि वाक्यों से करता है पुरुष सूक्त ऋचा १५ भी देखें। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अन्य प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं।

(१) "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ०वे० ८-२८-५) और सप्तऽऋषयोऽसृज्यन्त' (यजु १४-२८)

१०—नाना सप्त — इन सात सप्तकों में सात ऋषि और सातों सप्तकों को सात द्युम्नानि या लोक तथा सात श्री बतलाई गई है।

(२) "सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥" (यजु ३४-५५)। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड और दर्शन को शरीर नाम से पुकारा गया (अस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् श० प० ब्रा० ६-१-१) प्रत्येक सप्तक को 'सदः' संज्ञा दी गई है, चतुर्थ सप्तक के साथ आपोमय तत्त्व लोक को या भौतिक स्वरूप को पा जाते हैं तथा उसमें पूर्वार्द्धीय ब्रह्मजीव, तैजसात्मारूप में जाग्रत रहते हैं और संरक्षक की तरह व्यवहार करते हैं।

(३) सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥" (यजुः १७-७९)।

इसमें अग्निः सर्वादेवता का विवेचन देते हुए उसके सात सप्तकों में जो विकास होते हैं, उन्हें कभी सात समिध कहते हैं, कभी सात जिह्वायें (अग्नि की जिह्वायें अग्नि के समिध) कभी सात धाम या सात ऋषि, कभी सात होता, जो प्रत्येक सप्तक में सात-सात प्रक्रम से (सप्तधा) विकास पाते हैं (यजन्ति) रूपक लौकिक यज्ञ का है, परमार्थ में दार्शनिक विकास दिखलाने की चेष्टा है। यज्ञ या यज्ञ माने विकास होता है (यज्ञ देखें)।

(४) "सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त।" (ऋ०वे० ९-११४-३; १०-६३-७; १०-३४-१०; ९-६०-१६)।

यहाँ पर उक्त ऋषियों को सप्त होतार ऋत्विक् और सातों सप्तकों को सप्त आदित्य या अदितिभव बतलाया है। यहाँ भी वही रूपक है जो पूर्ववर्ती ऋचा में बताया जा चुका है। यही भाव 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।' (यजु ३४-४) मंत्र में भी निहित मिलता है।

(५) सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-७)।

यह मन्त्र लौकिक और दार्शनिक दोनों प्रकार के ऋषियों में घट तो सकता है, पर यहाँ पर 'दैव्या ऋषयः' पद इनको एकान्ततः दार्शनिक ऋषि घोषित कर देता है। फिर भी लौकिक मन्त्र रचयिता ऋषियों की कृतियों पर भी ध्वनि से प्रकाश डालने में समर्थ हैं। ये ऋषि दार्शनिक तत्त्व हैं। इसका प्रमाण इसी सूक्त के कुछ अन्य मन्त्र इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं। जैसे—

यो यज्ञो (सृष्टि विकास यज्ञः) विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥१॥ पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्। इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे॥२॥" १०-१३०-१, २।

यहाँ पर विकासीय तत्त्वों को वस्त्र की तरह बुना जाना और उनके विकासों को पट या सदः तथा विकास करने वालों को पुमान् (यज्ञपुरुष) पितर या ये ही महर्षि बतलाये गये हैं। इन बुनकारों में अग्नि (ब्रह्म) नाम भी आता है जो यज्ञ या विकास से सृष्टिपट को बुनता है जैसे—

अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
(ऋ०वे० १०-५२-४)।

(६) अन्य मन्त्रों में "ऋषयः सप्त विप्राः" (ऋ० वे० ९-९२-२) और "वाणीर्ऋषीणां सप्त" (ऋ०वे० ९-१०३-३) "ऋषीणां सप्तधीतिभिः" (ऋ० वे० ९-६२-१७) इत्यादि इन्हीं दार्शनिक तत्त्व रूप ऋषियों का उल्लेख करते हैं। इनका समर्थन अथर्ववेद (१०-८-९) बृहदा० उप० (२-२-३) इस मन्त्र से करता है।

"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥"

अन्तिमपाद में (बृह-पाठान्तर) वागष्टमी ब्रह्मणा सम्विदाना। प्रथमपाद में 'अर्वाग्बिल' प्रारम्भ में है।

(७) उक्त ऋषियों का नाम 'कविः, कारुः और विप्राः' भी है उन्हें भी सप्तसंख्या में ही पुकारा गया है जैसे—

"सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।"
(ऋ०वे० १०-५-६)

यहां पर सात सप्तकों या सदों को मर्यादा नाम से पुकारा है तथा अन्तिम भौतिकता की पूर्णता आ जाने से उससे अखिल स्थूल भौतिक ब्रह्माण्ड मर्यादाहीन सीमातीत रूप में होने की बात कही गई है। कारु नाम 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' (ऋ० वे० ९-११२-३) और 'आ ते कारो शृणुवामा' (ऋ० वे० ३-३३-१०) इत्यादि ऋचाओं में मिलते हैं। और इनको भी संख्या में साथही बतलाया है जैसे—

इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्वा चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः।"

(ऋ० वे० ४-१६-३)

विप्रनाम पहिले आ चुका है (ऋषयः सप्त विप्राः ९-९२-२)

विप्राः* शब्द कहीं-कहीं पर चतुर्थ सप्तक के अङ्गिरस ऋषियों के लिए भी आता है और ऐसे स्थलों में इस शब्द के साथ 'अङ्गिरस' विशेषण भी प्रायः अनिवार्य रूप से आता है, इसके बारे में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए जैसे ऋ० वे० (४-२-१५) ने लिखा है—

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः ॥४।२।१५॥
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः।

ऋग्वेद ४।२।१८

इस ऋचा का पूरा प्रसंग चतुर्थ सप्तकीय है जिसमें उषा, दिवस्पुत्रा, अद्रि, उर्वशी और उपस्थ शब्द इस सप्तक के तत्त्वों का ही निर्देश कर रहे हैं। वास्तव में विप्र नाम प्रत्येक सप्तक के एक-एक तत्त्व का नाम है, सप्तक के साथ विप्ररूप-तत्त्वों के समुदाय को ऋषि कहते हैं या इनके मुख्य ब्रह्म को ऋषि कहते हैं जैसे 'ऋषिर्विप्राणाम्' (ऋ० वे० ९-९६-६)

(८) श० प० ब्रा० (८-१-१; ८-१-२) आदि ग्रन्थों ने उक्त ऋषियों का तादात्म्य यज्ञपुरुष या सृष्टि विकासीय पुरुष के विभिन्न अंगों से करते हुए जमदग्नि, वर्षर्तु, जगती, शुक्र और विश्वव्यचा (सूर्य आदित्य) को उस पुरुष की 'चक्षुः' नाम से पुकारा है, शरदृतु, अनुष्टुप्, मन्थी, एकविंशस्तोम, वैराज, और विश्वामित्र को 'श्रोत्रम्' नाम से, वसन्त, गायत्री, उपांशुग्रह, त्रिवृतस्तोम और वसिष्ठ को 'प्राणों' के नाम से, ग्रीष्म त्रिष्टुप्, स्वारंसाम, अन्तर्यामग्रह (उदान) बृहत्पृष्ठस्तोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, वाग् और भरद्वाज को 'मनः' नाम से। इस प्रकार वेदों में ऋषियों का वर्णन दो प्रकार से मिलता है— एक दार्शनिक दूसरे ऐतिहासिक। जैसे सूर्य के वर्णन में अत्रि के बारे में कहा

---

* कहीं-कहीं पर सप्त ऋषि शब्द भी सात अङ्गिरस ऋषियों के लिए आया है जैसे **"सप्त ऋषिन् पर एकमाहुः"** में एक ऋषि विश्वकर्मा है, वह अङ्गिरसों से परे है। यह भाव है (ऋ० वे० १०-८२-२)

गया है, मन्त्र रचयिता भी अत्रि है, तत्त्व भी अत्रि ही है, उसी की आँख को सूर्य कहा गया—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अधुक्षत् ।"

(ऋ० वे० ५-४०-८)

यहाँ 'अत्रि ने दिव में सूर्य की आँख धारण की' और स्वर्भानु की माया को दुहा' कहने का तात्पर्य—'अत्रि रूप २४ वें तत्त्व ने सूर्य को आँख (अङ्कुर) की तरह धारण किया जिसमें भौतिकात्मा का आवरण लगा तो उसी से भौतिक सृष्टि का दोहन किया गया, (सूर्य तत्त्व को देखें)। पुराणों ने इस कथा का अनुसरण करके अत्रि की आँख से चन्द्रमा के उदय या जन्म की कथा दे रखी है, सूर्य २५ वें (चक्षु) तत्त्व से २६ वें चन्द्र या इन्दु या सोम का विकास होता है, यह दार्शनिक और परम वैज्ञानिक कथन है पर लोग इसे न समझकर ऐसी बातों की मखौल उड़ाते दिखाई पड़ते हैं।

इस सप्तचक्री सप्तवाद में प्रत्येक सप्तक एक-एक ऋषि या मनु हैं और ये प्रत्येक सप्तक के प्रथम तत्त्व हैं। इन सप्तकों में से प्रत्येक में सात या आठ या छह जैसी विवक्षा या छन्दः ही उतने तत्त्व होते हैं।

११—सप्तप्राणवाद
७×७=४९
प्राणाऋषयः

गीता ने भी इन महर्षियों को यज्ञ पुरुष के मनः (इच्छां अर्षन्तीति ऋषयः) से उत्पन्न बतलाते हुए लिखा है "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥" (१०-६) यहाँ का प्रजा शब्द अखिल सृष्टि का वाचक है। प्रत्येक सप्तक में सात-सात तत्त्वों का निर्धारण या उल्लेख निम्न मन्त्र कर देते हैं। जैसे अग्निः सर्वा देवता का विवेचन आग्नेय विकासों द्वारा देते हुए, प्रत्येक सप्तक को दम (गृह) कहकर प्रत्येक दम या गृह में सात-सात रत्नरूप सात तत्त्वों को धारण करने वाला कहा है जैसे "दमेदमे सप्त रतना दधानो ऽग्निः" (ऋ० वे० ५-१-५; ६-७४-१) अतः "अग्निमीले पुरोहितं······रत्नधातमम्" (ऋ० वे० १-१-१) के रत्नधातम शब्द का अर्थ भी यही है कि वह ७×७+१=५० तत्त्वों को धारण करने वाली अग्नि है। इसका समर्थन आपको श० प० ब्रा० ८-१-१-२ में स्पष्ट मिलेगा जिसमें साफ लिखा है कि प्राणों की संख्या १०,१० के पाँच पञ्चकों में ५० होती है जैसे "दश वै प्राणा यदु वाऽअपि बहु कृत्वो दश-दश दशैव तत्पञ्च कृत्वो दश-दशोपदधाति।" यहाँ पञ्चपर्वाविद्या के अनुसार वर्णन है, यही भाव आपको मुण्डक उप और ना. उप. (२-१; उत्तरार्द्ध ११) के निम्न मन्त्र में मिल जायगा। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।" इसमें सप्त-सप्त' में वीप्सा नहीं है वरन् ७×७ का भाव है, प्राणों का विवेचन सदा ही सप्त सप्तकों में ७×७=४९ (सप्तधा सप्तभिन्नाः) अर्थ में *ही किया जाता है। यहां

* सप्त × सप्त हि मारुतो गणः' (श. प. ब्रा. २-५-१-१३) **तस्मान्मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति'**

प्राणों का ही विवेचन मुख्य है, यहाँ सप्त×सप्त (७×७) निहिताः कहा गया है कि सात के सात गुने रखे गये हैं और उनको ही अर्चिषः, समिधः और लोकाः बहुवचन में कहा गया है, इन्हीं में से पूर्वार्द्ध के २४ प्राण गुहाशायी कहलाते हैं। अर्चिष भी ४९ ही हैं, समिध भी ४९ ही हैं, सात लोकों में रहते हैं, उनका पूर्वार्द्ध गुहा या गुफा में शयित या सुप्त रहता है। श्री शंकराचार्य जी ने इसका गलत अर्थ किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (६-३-९) ने उक्त मत की पुष्टि में लिखा है 'ते हैके सप्त सप्तान्वाहुः' अर्थात् उन सप्त लोकों या पुरुषों या सप्तकों को पुनः सात-सात में विभाजित किया गया है। इसका अधिक स्पष्टतया स्पष्टीकरण आगे दिये जाने वाले त्रिः सप्तवाद या त्रिचक्रवाद से हो जायगा। पूर्वोक्त मुण्डक और नारा. उप. के मन्त्र का आधार ऋ०वे० १०-५५-१ का "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।" मन्त्र में सप्त की पुनरुक्ति से ७ को ७ बार गुणित करके ४९ मानने का आशय है। यहाँ व्यर्थ की वीप्सा नहीं है, पूर्ण तत्त्व ग्राही गुणित शब्द हैं।

सप्तचक्री सप्तवाद वैदिक आर्यों को इतना अधिक प्रिय तथा मार्मिक लगा कि इस सप्तवाद को नाना शाखाओं तथा सरणियों ने नाना रूपों में स्वीकार कर अपने समय में प्रचलित सभी विद्याओं का सार निचोड़ कर रख दिया है। अब वे शाखायें, विद्यायें तथा दार्शनिक सरणियाँ प्रायः नष्ट हो गई हैं। अतः लोग उनका अर्थ लौकिक या ऐतिहासिक या भौगोलिक वस्तुओं में घटाते आ रहे हैं।

सबसे पहिले वैदिकों ने उक्त सप्तवाद या सप्तचक्री दर्शन के प्रत्येक चक्र या सप्तक का नाम 'संसदः' या महासभा रखा है और पूरे सप्तचक्री दर्शन में सात संसदों या महासभाओं को माना है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक सप्तक, सात-सात तत्त्वों की सभा थी, क्योंकि सभा या महासभा एक, दो की नहीं होती जैसे "यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः॥" (ऋ०वे० ८-९२-२०)। इसका समर्थन यजुर्वेद (२६-१) "सप्त संसदोऽअष्टमी भूतसाधनी" मंत्र से करता है। इस मन्त्र की अष्टमी भूतसाधनी वही अष्टमी वाग् (ब्रह्म) है, जिसे अथर्व 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' कहता है (ऋषयः देखें)।

१२—सप्त संसदः

१३—सप्तमुखः, सप्तरश्मिः

"बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥"
(ऋ०वे० ४-५०-४)

'कालो अश्वो वहति सप्त रश्मिः' (अथर्व १९-५३-१) "सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान-वासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्" (ऋ०वे० २-१२-१२)

१४—सप्तशीर्ष्णीः (वाग्)

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्यो ऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्॥"
(ऋ०वे० १०-६७-१)

यह वाग्ब्रह्म (बृहती) रूप स्त्री का वर्णन है जिसके चतुर्थ सप्तक से भौतिकात्मा द्वारा भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि के सूत्रपात की बात तथा उसके पहले इन्द्र के सौ यज्ञ (शतक्रतुता) पूर्ण करने की बात कही गई है। तथा "अर्कं सप्तशीर्षाणम्" (ऋ०वे० ८-५१-४) में अर्क या प्रथम तत्त्व को सप्त शिर वाला कहा गया है। अर्क माने आदित्य या सूर्य नहीं है; यह प्रथम तत्त्व है, बृह० उप० १-१-१ देखें।

१५—सप्तहस्त "सप्तह स्तासो अस्य" (ऋ० वे० ४-५८-३)
"एकं गर्भं दधिरे सप्तवाणीः" (ऋ० वे० ३-१-६) "वाणीर्ऋषीणां

सप्त छन्द या सप्तवाणीः सप्त" (ऋ० वे० ९-१०३-३) "चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्तवाणी" (ऋ० वे० १-१६४-२४) "वाचा प्र णयन्ति मप्त" (ऋ० वे० १०-११४-७)

१६—सप्त मातरः "जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये" (ऋ० वे० ९-१०२-४; ९-६६-६; ९-६६-२५, ३६, १०-१३-३)

"अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः"
(ऋ० वे० ८-९६-१)

"द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु" (ऋ० वे० १-१४१-२) "सिन्धुमातरः" (१०-७८-६)

१७—सप्त स्वसारः "सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र" (ऋ० वे० १-१६४-३) 'सप्त स्वसारो' (ऋ० वे० १-१९१-१४; ९-९६-३६)

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम्।"
(ऋ० वे० १०-५-५)

"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
१८—सप्त सिन्धवः अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥"
(ऋ० वे० ८-६९-१२)

"अवर्धयन् त्सुभगं सप्त यह्वीः" (ऋ० वे० ३-१-४)
"वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः। (ऋ० वे० ६-७-६)
मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः ॥" (ऋ० वे० ९-९२-४)

'तवेमे सप्त सिन्धवः' (ऋ० वे० ९-६६-६)

"सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित ॥"
(ऋ० वे० १०-१०४-८)

"स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् ॥"
(ऋ० वे० १-७२-८)

"(सप्त) वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।"
(ऋ० वे० ३-१-६)

"अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि।"
(ऋ० वे० १०-४९-९)

"अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्" (ऋ० वे० १०-६७-१२)
अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो (सप्त) दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥"
(ऋ० वे० १-३२-१०)

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥"
(ऋ० वे० १०-७५-५)

"सिन्धुमातरः (ऋ० वे० १०-७८-६) "अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्" (ऋ० वे० २-१२-१२)

१९—सप्तार्णवाः "या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्र"
(ऋ० वे० ८-४०-५।)

"सप्त क्षरन्ति शिशवे" (ऋ० वे० १०-१३-५; अथर्व ७-५७-२)

२०—सप्तमर्यादाः "सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्"
(ऋ० वे० १०-५-६)

२१—सप्तपरिधयः 'सप्तास्यासन् परिधयः' (ऋ० वे० १०-९०-१५) (पुरुष सूक्त ऋचा. १५ का अर्थ देखें)

२२—सप्ततन्तुः इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
असो हव्यवालुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः॥"
(ऋ० वे० १०-१२४-१)

"मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥"
(ऋ० वे० १०-५२-४)

"वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ।"
(ऋ० वे० १-१६४-५)

"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥"
(ऋ० वे० १०-११४-३)

२३—सप्तवाजिनः "यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं हविष्मन्त ईलते सप्त वाजिनम्।"
(ऋ० वे० १०-१२२-४)

२४—*सप्तधामानि "सप्त धामानि परियन्नमर्त्यो (ऋ० वे० १०-१२२-३) "पृथिव्याः सप्त धामभिः" (ऋ० वे० १-२२-१६) "दमेदमे सप्त रत्ना दधाना।" (ऋ० वे० ६-७४-१; ५-१-५)

२५—सप्तपुरः "एषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।" (७-१८-१३)
"सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन्।" (ऋ० वे० ६-२०-१०)
"आ दर्षते शवसा सप्त दानून्।" (ऋ० वे० १०-१२०-६)

२६—सप्तपदानि "ऋताय सप्त दधिषे पदानि।" (ऋ० वे० १०-८-४)

२७—सप्तजिह्वम् "होतारं सप्त जुह्वो यजिष्ठम्।" (ऋ० वे० १-५८-७) "वह्नयः सप्तजिह्वाः" (ऋ० वे० ३-६-२)

२८—सप्तपुत्रम् "विश्पतिं सप्तपुत्रम्।" (ऋ० वे० १-१६४-१) "सप्तभिः पुत्रैरदितिः" (ऋ० वे० १०-७२-८)

२९—सप्तदिशः, सप्त होतारः, सप्त ऋत्विजः, सप्त देवाः, सप्तादित्याः "सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त" (ऋ० वे० ९-११४-३; १०-६३-७; ८-६०-१६)
"सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति" (यजु० २३-५८)

३०—सप्तशाकिनः "सप्त मे सप्त शाकिन।" (ऋ० वे० ५-५२-१७; ८-२८-५३)

३१—सप्तऋतु "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।" (ऋ० वे० १०-५५-३)
सप्त × सप्त = ४९ अर्थ है। "सप्तर्तवो हि सप्त"
(अथव० ८-५-२०)

३२—सप्तसप्ती, सप्त सप्ति (सप्ताश्च) "यूयं सखायः सप्तयः।" (ऋ० वे० ८-२०-२३)
"प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।" (ऋ० वे० १-८५-१)
"तमा वहन्तु सप्तयः पुरूवसुं मदाय हरयः सुतम्॥"
(ऋ० वे० ८-४६-७)
"आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।"
(ऋ० वे० १-८५-६)
"उपाजिरा पुरुहूताय सप्ती हरी रथस्य धूर्ष्वा युनज्मि।"
(ऋ० वे० ३-३५-२)

---

*इन सात धामों में से 'महिषो मृगाणाम्' (ऋ० वे० ९-९६-६) के महिष, सोम का धाम तृतीय धाम बताया है जैसे "तृतीयं धाम महिषः सिषासन्" (ऋ० वे० ९-९६-१८) तथा अब्जा, नृषद् (भुवन या सदः) (ऋ० वे० ४-४०-५) का स्थान चतुर्थ धाम बताया है जैसे "अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥" (ऋ० वे० ९-९६-१९) यही चमू भी है।

"उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-४६-२६) "तिसृणां सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-१९-३७) 'सप्तिरसि' (यजु० २२-१९)

३३—सप्तसुपर्णाः "सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः" (अथर्व० ८।९।१७)।

३४—सप्तगृध्राः "ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्" (अथर्व० ८।९।१८)।

३५—सप्तदीक्षाः "सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः" (अथर्व ८।९।१७)।
सप्तछन्दांसि "सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि" (अथर्व० ८।९।१९)।

३६—सप्ताज्यानि (सप्तप्राणाः) "सप्ताज्यानि परि भूतमायन्" (अथर्व० ८।९।१८)।

३७—सप्तहोमाः सप्तसमिधः "सप्त होमाः समिधो ह सप्त" (अथर्व० ८।९।१८)

३८—सप्तहरयः (सप्ताश्व) "सप्त त्वा हरितो रथे" (ऋ०वे० १-५०-८, अथर्व १३-२-२३, २०-४७-२०, तै० सं० २-४-१४-४)
"तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्" (नारा० उप० उत्तरार्द्ध ४०) 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्।' (ऋ० वे० १-१६४-२)

३९—सप्तहोतारः "सप्त होतारस्तमिदीळते।" (ऋ० वे० ८-६०-१६) 'सप्त होत्राणि मनसा' (ऋ० वे० ३-४-५)

४०—सप्तवीराः "सप्त वीरासो अधरात्" ऋ० वे० १०-२७-१५)

४१—पूर्वोक्त कुछेक का एकसाथ समाहार तथा सप्तप्राणाः, सप्तयोनीः, सप्तार्चिषः नवीन हैं।

१—सप्त ते ऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥"
(यजु० १७-७९)

२—"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥
(मुण्ड० २-१-८, नारा० उप० ११)

३—"ब्रह्मा देवानां पदवीः कविनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥"
(ऋग्वेद ९-९६-६)

४—"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः।
अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। घृतस्य धारा अभिचाकशीमि।

हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी
भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्॥"
(यजु० १३-३६, नारा० उप० ४०)

५—"सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥"
(अथर्व ८-९-१८)

सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।"
(ऋ० वे० ८-२८-५)

६—"सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।"
(अथर्व० ८-९-१९)

७—"प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥१॥
सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य ऊ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा॥"
(ऋ० वे० २-१८-१,२)

आजकल के योगशास्त्र में षट्चक्रों की ही चर्चा अधिक मिलती है। वे पुराने अष्टचक्र और सप्तचक्र प्रायः विस्मृत से हो गये हैं। पर षड्चक्र भी उसी वैदिक दर्शन के तत्त्वों को छह भागों में विभक्त करता है। जिससे यह अष्टचक्रों या सप्तचक्रों का कार्य भी पूर्णरूपेण प्रतिपादित कर लेता है। यह षड्चक्रवाद गायत्री के पादों के आधार पर तीन पाद पूर्वार्द्ध में और तीन पाद उत्तरार्द्ध में बनाकर कुल षड्पदी या षड्पाद या षड्चक्र बनाता है। इसके प्रत्येक पाद में आठ-आठ तत्त्व होते हैं, चक्रों में ये ही अष्टदल कहलाते हैं। अष्टचक्र षड्दल होता है, सप्तचक्र सप्तदल, षड्चक्रों को इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण 'अष्टषट्क' या 'षडष्टक' नाम से पुकारता है (५-२-१२,४-३-२६)। ऋग्वेद तथा अथर्व वेद ने इन षड्ष्टकों या षट्चक्रों को षडुर्वी या षड्-भूमि, मही, रजांसि, भारा, व्रता (नि), ऋतु आदि नामों से पुकारा है। इन चक्रों के नाम षड्ऋतुओं के आधार पर भी निश्चित किये गये हैं। संवत्सर ब्रह्म में छह ऋतुयें होती हैं, प्रत्येक ऋतु एक अष्टक या चक्र है। यह बात ऐ.ब्रा. के दिये प्रकरणों में स्पष्ट है। आगे त्रिवाद देखें। ऋग्वेद में इन षड्चक्रों को इस प्रकार वर्णित किया गया है। प्रत्येक चक्र एक-एक उर्वी या (उर्ष्णोतीति वा वयतीति उर्वी वा) भूमि है, अतः लिखा है॥"

४२—षट्चक्र या षड्वाद

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥"
(ऋ० वे० १०-१४-१६)

यहाँ त्रिकद्रुक के लिए त्रिष्टुप् छन्दाक्षर तत्त्व हैं तो षडुर्वी के लिए गायत्री छन्दाक्षर, यह भी नितरां स्पष्ट किया गया है। षड्चक्रों को षड्भाराः या छह बोझ कहा गया है जिन्हें गायत्री छन्द एक-एक चरण से (या में) ढोता है। छन्द देवताओं या तत्त्वों को ढोने वाले पशु हैं (पशुवाद देखें)। अतः लिखा है—

षड् भाराँ एको अचरन् विभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका॥"
(ऋ० वे० ३-५६-२)।

इन छह भारों में से तीन चक्रों या भारों को 'गुहा' (पूर्वार्द्ध) में निहित बतलाया है, जिनमें से एक दृश्य (दृश्या) है, दो गुप्त हैं, तथा उत्तरार्द्ध की तीन महीधर भूमियों को उसके समीप प्रस्तुत बतलाया है। इसी बात के समर्थन में (ऋ० वे० ७-८७-५) में "तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः" लिखकर भूमि को षड्विध बतलाया है। इन्हीं षड्चक्रों को ऋग्वेद (४-२-१२) दुर्ग या दुर्या (दुःखेन यातीति दुर्या दुर्गवत् दुःखेन गच्छतीति) नाम से पुकारते हुए लिखता है कि ऋषि या कवि या योगी अप्रतिहत शक्ति से तुम षट्चक्रों में प्राणों को धारण करते हुए तुम्हें दृश्य करके अद्भुत ब्रह्माण्ड रूप अर्थ को साक्षात् देखते रहते हैं, (ये चक्र तो अद्भुत और बड़े भारी काम के या सर्वव्यापी तत्त्व हैं) जैसे—

"कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्यां अग्न एतान् षड्भिः पश्येरद्भुतां अर्य एवैः॥"

इन षड्चक्रों को ही पुनः 'सप्तहस्तासो अस्य' की शैली में षड्हस्तरूप चक्र बतलाया गया है, जैसे—

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया षड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥"
(ऋ० वे० ४-२-१४)

यहाँ पर छह हस्तरूप तनुओं से या चक्रों से हम सब हे अग्ने! रथ की तरह शरीर से चलते हैं, ये बहुतों से मिलकर बनने पर भी अपने आदिस्वरूपी ऋत को स्मरण करते हुए उसके पास पहुँच ही जाते हैं। अन्यत्र दर्शन के पूर्वार्द्ध को त्रियून् या तीन दिव और उत्तरार्द्ध को तिस्रोभूमि बतलाते हुए कुल छह या षड्चक्रों का वर्णन दिया गया है। जिनमें एक दूसरे को जोड़ने के तीन व्रत या नियम भी बतलाये हैं जैसे—

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रिँरुत द्यून त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥"
(ऋ० वे० २-२७-८)

शेष आगे त्रिपाद में देखें। अन्त में इन षड्चक्रों को ऋग्वेद षड्रजांसि के नाम से पुकारते हुए लिखता है—

"वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।
(ऋ० वे० १-१६४-६)

अथर्ववेद ने इन षड्चक्रों का वर्णन इस प्रकार दिया है। इस वेद ने इनके कई नये-नये नाम दिये हैं जैसे—

"षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥"
(अथर्व० ८-९-१६)

"षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।"
(अथर्व० ८-९-१७)

"षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश।" (अथर्व० ४-११-१)
"अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात्।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम॥"
(अथर्व० १२-२-४८)

"षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः॥" (अथर्व० १३-१-४)
श्वेताश्वतर ने इसे 'अष्टकैः षड्भिः विश्वरूपैकपाशं' (श्वे० उ० ४) कहा है।

यह सरणि गायत्री की सरणि है और सबसे अधिक सरल है। अतः सबसे अधिक प्रचलित है। अब लोग इन्हें केवल वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में ही समझते हैं। वास्तव में ये तो दर्शन के मौलिक चक्र हैं; शरीरादि में उन्हीं के स्थूल रूप हैं 'षडर आहुरर्पितम्' (ऋ० वे० १-१६४-१२)।

पञ्चचक्रवाद पञ्चपर्वा विद्या है। पञ्चपर्वा विद्या वैदिकों की एक गम्भीर विद्या है। इस विद्या का आज के युग में सर्वथा लोप हो गया है। यह लोप या नाश यास्क और गीता के युग से भी पहिले ही हो चुका था, क्योंकि इन्हों ने इसकी कहीं चर्चा ही नहीं की है। हमारी संस्कृति का अधिकांश इसी पञ्चपर्वा विद्या में ढला है। इस पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा गया है; उसे पढ़कर इसका रहस्य जान लेने का कष्ट किया जाय। पञ्चपर्वा विद्या में पूरा दर्शन क्षेत्र पांच भागों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक पञ्चक में दस-दस तत्त्व होते हैं, कुल मिलाकर ५० तत्त्व हो जाते हैं। श्वेताश्वतर का यह वाक्य 'पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः' श्वे० उ० ५.) इसी विद्या की ५० तत्त्वों की घोषणा करता है। इसको ऋग्वेद (१-१६४-१२) 'पञ्चपादं पितरं' नाम से पुकारते हुए लिखता है—

४३—पञ्चचक्र या पञ्च वाद

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥"

कि जिसको अन्य आचार्य सप्तचक्री षडर कहते हैं उसी को अधिक आचार्य या महर्षि पञ्चपाद पितर नाम से पुकारते हैं जिसके दोनों भागों में

संवत्सर ब्रह्म के द्वादश आकृति या मास (दो-दो तत्त्वों का एक मास, एक तत्त्व, एक पक्ष, कुल १५×२४=३६० दिन+३६० रात) होते हैं और इसके उत्तरार्द्धीय रात्रिभागीय चक्रों या पादों में ब्रह्म को पुरीषिन् या पुरीशेते इति पुरीषी, भौतिकात्मा की पुरी में सोने वाला कहा जाता है; पूर्वार्द्ध के दिनरूप पादों में वह निष्केवल आध्यात्मिक पुरुष होता है। यह विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य बात है कि पञ्चपर्वा विद्या या पञ्चचक्री दर्शन से आपः नृषद् के मनुष्य तत्त्वों और ओषधि नामक तत्त्वों का समस्त व्याख्यान किया जाता है, जैसे पहले बतलाया भी जा चुका है जैसे—

"अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे॥" (अथर्ववेद ८-९-२३)

यदि पूरे दर्शन को एक ही चक्र माना जाय तो इन पाँच पर्वों को उस एक चक्र की पाँच आरा कहते हैं, इसका वर्णन यह ऋचा देती है।

"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१३)

पाँच आरे वाले इस चक्र में अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त भुवन मौलिक स्वरूप में समाये रहते हैं, उसका अक्ष इतने भारी बोझ होने पर भी न तो घिसता ही है, न उष्ण होता है, वह अनादिकाल से (सनादेव) न सड़ता है, नाभियुक्त सदा नया ही रहता है। इस पञ्चपर्वा विद्या के पञ्चचक्री दर्शन रथ के प्रत्येक चक्र में दस-दस तत्त्वों का उल्लेख भी ऋग्वेद स्वयं निम्न ऋचा से दे देता है—

"सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१४)

इस पञ्चपर्वीय पञ्चचक्री सनेमि अजर चक्र को विवर्त रूप से उत्तानित करके दस-दस तत्त्व नियुक्त होते हैं। इसके मध्यस्थल में विराजमान सूर्यतत्त्व की चक्षुष्मत्ता या दिव्य दृष्टिरूप भौतिकता रजोरूप में उसे व्यावृत्त कर तो लेती है, पर उसी आवरणीय रजोरूप चक्षुष्मत्ता में ही अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के समस्त भुवनों के मौलिक बीज समर्पित या सुरक्षित से रहते हैं।

पञ्चचक्री पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों की गिनती अङ्गुलिसरणि से की जाती है। इसका वर्णन वहाँ निम्न ऋचा में स्पष्टतया दिया हुआ मिलता है, जैसे—

"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
४४—अङ्गुलिसरणि दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"
(ऋ० वे० १०-९४-७)।

यहाँ 'अवनि' शब्द का अर्थ 'अङ्गुली' है उसी सरणि की कक्ष, योक्त्र, योजन,

अभीशु, धुरः स्वरूपों में यह विस्तार पूर्वक वर्णन देती है। प्रत्येक सरणि में दस-दस की संख्यायें अवश्यमेव स्वीकार की गई हैं। इस पञ्चचक्री पञ्चपर्वा विद्या को प्राचीन महर्षियों ने पञ्चऋतुओं के आधार पर प्रतिष्ठापित किया था, पञ्चचक्रों को 'पञ्चदेवाः' भी कहते थे और 'पञ्चजनाः' भी जैसे—"पञ्चदेवाँ ऋतुशः ।।" (ऋ० वे० १०-५५-३) यहाँ पर लिखा है कि जिन्हें सप्तऋतुवादी सप्त-सप्त चक्र कहते हैं उन्हीं को ऋतुवादी पञ्चर्तवः या पञ्चपर्वा या पञ्चचक्री विद्या या दर्शन कहते हैं। कोई-कोई इन्हें 'पञ्चपदानि' कहते हैं जो 'पञ्चपादं पितरं' कहने के स्थान में पाद के स्थान में पदानि मानते हैं जैसे—

"पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि ।।"
(ऋ० वे० १०-१३-३, अथर्व १८-३-४०)

जैसे सप्तपदी, अष्टपदी या षट्पदी हैं वैसे ही पञ्चपदी या चतुष्पदी भी हैं। पञ्चपदी विराट् को पाँचपाद देती है तो चतुष्पदी जगती को चार पाद। इनका विवेचन अक्षरब्रह्म के अक्षरों से किया जाता है। वे अक्षर इन चक्रों की नाभियों में निहित हैं। श०प०ब्रा० ८-१-१-१ में प्राणभृत की व्याख्या में ५० प्राणों को १०-१० के पाँच भागों में या ५० भागों में वर्णित कर उक्त कथन की पुष्टि की गई है।

अथर्ववेद ने इन पञ्चचक्रों के अनेक नये नाम सुरक्षित रख दिये हैं वे हैं व्युष्टि (व्यष्टि) गा, दोहा, ऋतु, दिश इत्यादि। इनकी गणना पाँच दशों से (पञ्चदशेन) की जाती है यह भी इस वेद ने उल्लेख करके उक्त तथ्य को प्रामाणिकता दे दी है। इनके शिर में ब्रह्मरूपिणी व्युष्टि, गा, दोहा, ऋतु और दिक् हैं जैसे—

४५—पञ्चचक्रों के अनेक नाम और रीति

"पञ्चव्युऽष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन (१०×५=५०) क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ।।"
(अथर्ववेद ८-९-१५)

इन पचासों का एक ही बोझ है या एक ही शिर है या एक ही दर्शन है, यह भी इसी से स्पष्ट है। यजुर्वेद (१६-६४) ने पञ्चदिशाओं का वर्णन चक्राकार आसन्दी के रूप में इस प्रकार दिया है जैसे—

"नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः।
तेभ्यो नमोऽअस्तु···।।"

यहाँ प्रत्येक दिशा में दस-दस तत्त्वों का निर्देश कुल ५० का उल्लेख रुद्र विकास शैली की पूर्ण व्याख्या देता है। इसका विशद् वर्णन 'पञ्चपर्वा विद्या' नामक शीर्षक में दे दिया गया है। इसके अनेक भेद हैं वे सब वहीं वर्णित किये गये हैं। इन्हीं का नाम पञ्चजनाः तथा पञ्चदेवाः भी है, (ऋ० वे० १०-५५-३)

"आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त ।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन ॥"

यहाँ पर इनका विकास शब्दब्रह्म के ज्योतींषि से या प्रकाशरश्मियों के विवर्त रूप में बतलाया गया है ।

चतुश्चक्र का वर्णन नहीं के बराबर है । पर जगती के चार पादों से चार पाद या भाग या चक्र हो सकते हैं उसे ऋ० वे० (२-१८-१ पूर्वोद्धृत) चतुर्युग और ऋ० वे० (१०-१३-३) तथा अथर्व (१८-३-४०) पूर्वोद्धृत चतुष्पदो नाम से पुकारते हैं । परन्तु वेदों में अन्यत्र चतुष्पदी या चतुष्पाद् नाम प्रथम चार सप्तकों या ३ देवताओं (+प्रथम ब्रह्म+अन्तिम इन्द्र या इन्द्र और प्रजापति या वषट्कार के लिए ही प्रयुक्त मिलता है । इनका वर्णन गायत्री ब्रह्म, गुहा और चतुष्पाद्ब्रह्म नामक शीर्षकों में विस्तार पूर्वक किया जायगा । संक्षेप में चतुश्चक्र प्रथम चार चक्र हैं जिनमें से केवल अन्तिम चक्र की ही अनुभूति की जा सकती है । त्रिपादामृत की अनुभूति अमृत शरीर मात्र से की जा सकती है, मर्त्यधर्मा शरीर से नहीं । यह अष्टचक्रवाद के पूर्वार्द्ध का संकेत करता है । अष्टचक्रों के प्रथम चार चक्रों को चतुष्पाद्, चत्वारि पदानि, चतुर्सागराः, चतुर्पर्वताः, चतुर्नद्यः आदि नामों से पुकारा जाता है इसी को पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र नाम से भी कहते हैं, इन्हीं को 'चत्वारि शृङ्गा' 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (ऋ० वे० १०-११४-३) 'चत्वारि ते असुर्याणि' ऋ० वे० १०-५४-४) 'चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः' (ऋ० वे० ७-१८-२३) 'चत्वारो मा मशर्शारस्य' (ऋ० वे० १-१२२-१५) भी कहते हैं । 'तुरीयं धाम तुरीयं ब्रह्म' है ।

४६—चतुश्चक्र

त्रिचक्रवाद वैदिक ऋषियों का अमृत और प्राण स्वरूपी है । इसकी व्याख्या अनेकों और अनन्त शैलियों या सरणियों से करते हुये वे थकते ही नहीं, न कहीं ऊबते से दृष्टिगोचर होते हैं । यह त्रिचक्रवाद, षड्चक्रों के प्रथम तीन चक्रों की व्याख्या है । जितना प्रसिद्ध षड्चक्रवाद है उससे कहीं अधिक यह त्रिचक्रवाद है । यह त्रिचक्रवाद ही वैदिकों का रहस्यमय अमृत है । इसकी व्याख्या मुख्तः दो प्रकार से की गई है (१) तीन पद, शिर, त्रिवंश, त्रिपिता, त्रिमाता, त्रिसोम, त्रिवृत्, त्रिकद्रु, त्रिकूप, त्रिधाम, त्रिरन्तरिक्ष, त्रिदिव, त्रियज्ञ, त्रिरयि, त्रिवर्ति, त्रिबन्धुर, त्रिकेशी, त्रिधाबद्ध, त्रिबधु, त्रिवरूथः, त्रिनाभिः, त्रिधन्व, त्रिविष्टप, त्रिषधस्थ, त्रिजना, त्रीणिज्योतींषि, त्रिबन्धन, त्रित, त्रिराजानः, त्रिकोष, त्रेता, त्रितः, त्रिसरांसि, त्रिसमुद्र, त्र्यायूंषि, त्रिमहिष, त्रीरोचना, त्र्यम्बक, त्र्यर्थमा । ये सब नाम पूर्वार्द्ध के हैं । उत्तरार्द्ध के तीन चक्रों के नाम तिस्रो भूमीः, त्रिपृथिवी, त्रियातुधान इत्यादि हैं (२) त्रिःसप्तवाद । इससे वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्धारण करना सबसे अधिक सरल हो जाता है क्योंकि यह त्रिःसप्तवाद का त्रिचक्रवाद वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध के पूरे तत्त्वों की पूरी संख्या दे देता है ।

४७—त्रिचक्र

जितनी संख्या पूर्वार्द्ध में है उतनी ही संख्या उत्तरार्द्ध में भी हैं। इससे अधिक स्पष्ट विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। इस त्रिःसप्तवाद में निम्न शीर्षक आते हैं। त्रिःसप्तनद्यः, त्रिःसप्तधेनवः, त्रिःसप्तगिरयः, त्रिःसप्तविस्फुलिङ्गाः, त्रिःसप्तपदाः, त्रिःसप्तसूराः, त्रिःसप्तसमिधः, त्रिःसप्तरत्नानि, त्रिःसप्तमयूखः, त्रिकद्रुक इत्यादि। ये सब त्रिचक्र पञ्चपर्वा विद्या के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का निर्देश करते हैं। त्रिचक्र का वर्णन वेदों में कई स्थानों में आता है जैसे "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण" (ऋ० वे० १-११८-२) और

"अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः।
त्रिवन्धुरो (ऋ० वे० १-१५७-३)

"क त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क त्रयो वन्धुरो ये सनीलाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः॥"
(ऋ० वे० १-३४-९)

इस त्रिचक्र को त्रिनाभि चक्र के नाम से पुकारा जाता रहा। प्रत्येक सप्तक एक-एक नाभि है, एक-एक चक्र है। ऋ० वे० (१-१६४-२) ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है।

"त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।"

इन्हीं को तीन पिता और तीन माता के नाम से पुकार कर इनसे अखिल विश्व की रचना की कल्पना निम्न मंत्र देता है।

"तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१०)

इन्हीं को गायत्री के तीन पाद कहने के स्थान में गायत्री (अग्नि) के तीन समिध भी कहा गया है, जैसे

गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा।"
(ऋ० वे० १-१६४-२५)

"तिस्रो यह्वस्य समिधः" (ऋ० वे० ३-२-९) इन्हीं तीन समिध रूप तीन पादों को या 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' के प्रथम तीन पादों को 'गुहा' में निहित या स्वयं गुहा नाम से भी पुकारा है जैसे

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"
(ऋग्वेद १।१६४।४५)

इन्हीं को 'तिस्रो वाचः' भी कहते हैं जैसे "तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निः" (ऋ० वे० ९-९७-३४) "तिस्रो वाच उदीरते" (ऋ० वे० ९-३३-४) "तिस्रो वाचः प्र वद"

(ऋ० वे० ७-१०१-१)। इन्हीं को सविता का 'तिस्रोद्यावः', भी कहा है जैसे "तिस्रो द्यावः सवितुः" (ऋ० वे० १-३५-६), और "तिस्रो द्यावो निहिता" (ऋ० वे० ७-८७-५), इन्हीं को तिस्रो भूमि कहते हैं जैसे "तिस्रो भूमीर्धारयन्" (ऋ० वे० २-२७-८), इन्हीं को तिस्रो देवी, तिस्रो देष्ट्राय, तिस्र (दिव) अहः भी कहते हैं जैसे "तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं वरीय" (ऋ० वे० १०-७०-८), "तिस्रो देष्ट्राय' (ऋ० वे० १०-११४-२), "तिस्रः क्षपस्त्रिरह" (ऋ० वे० १-११६-४), इन्हीं को तिस्र शरद और त्रयः केशिनः' भी कहते हैं 'तिस्रो यदग्ने शरदः" (ऋ० वे० १-७२-३), "त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते" (ऋ० वे० १-१६४-४४), इन्हीं का नाम (गायत्री के) त्रिपाद हैं चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा' (ऋ० वे० ४-५८-३, यजु० १७-९१), "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः" (ऋ०वे० १०-९०-४), "त्रिपादस्यामृतं दिवि" ऋ०वे० १०-९०-३), इन्हीं तीन पादों का नाम 'त्रिकद्रुक' 'त्रिकूप' और 'त्रेधा त्रयं' भी है जैसे "त्रिकद्रुकेभिः पतति" (ऋ०वे० १०-१४-१६, अथर्व० १८-२-६), "त्रिकद्रुकेषु चेतनं" (अथर्व २०-११०-३, ऋ०वे० ८-९२-२१), "त्रिकद्रुकेषु" (ऋग्वेद ८-१३-१८), "त्रिकद्रुकेषु महिषो" (ऋ०वे० २-२२-१, अथर्व २०-९५-१), 'त्रितः कूपे' (ऋ० वे० १-१०५-१७), "त्रिधा हितं पणिभिः" (ऋ०वे० ४-५८-४), "विद्मा ते ऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि" (यजु० १२-१९)। इन्हीं तीन पादों (गायत्री के तीन पादरूप २४ अक्षरीय २४ तत्त्वों) को विष्णु के तीन पगों से भू भुंवः स्वः (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, सप्तकों) को नापना कहते हैं, यहाँ भूः माने हमारी पृथ्वी नहीं है वरन् प्रथम सप्तक है (अष्टौ लोकाः' देखें) जैसे 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।" (ऋ०वे० १-२२-१७, अथर्व ७-२६-४; तै सं० १-२-१३-१; साम २२२, १६६९) "त्रीणि पदा वि चक्रमे" (ऋ०वे० १-२२-१८; यजु ३४-४३; तै०सं० २-७-१२-२; साम १६७०)। इन्हीं को त्रिराये, त्रिपदा, त्रित आदि नामोंसे भी पुकारते हैं जैसे 'त्रीणि त्रितस्य धारया' (ऋ०वे० ९-१०२-३; साम १०१५। "त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना" (१-३४-५), 'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि' (ऋ०वे० १-३४-६) "त्रिर्नो अश्विना यजता" (ऋ०वे० १-३४-७) और "त्रीणि पदान्यश्विनोराविः" (ऋ०वे० ८-८-२३) इन्हीं को त्रिधामीय सिंधु भी कहते हैं जैसे "त्रिषधस्था सप्तधातुः", 'त्रिरश्विना सिन्धुभिः' (ऋ०वे० १-३४-८), इन्हीं तीनों को 'त्र्यम्बक' और 'त्र्यायुष' भी कहते हैं जैसे—"त्र्यम्बकं यजामहे" (ऋ०वे० ७-५९-१२; अथर्व १४-१-१७; यजु ३-६०; तै०सं० १-८-६-२), "त्रीण्यायूंषि तव" (ऋ०वे० ३-१७-३; तै०सं० ३-२-११-२), "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्" (यजु ३-६२), इन्हीं को 'त्र्यविः' कहते हैं, जैसे "त्र्यवयो गायत्र्यै" (यजु २४-१२), गायत्री के तीन अवि या पाद। "त्र्यविं गां वयो दधत्" (यजु २८-२४), त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः" (यजु २१-१'), "त्रिवत्सो वयः" (यजु १४-१०), "त्र्यविर्गौर्वयो दधुः" (यजु २१-१२) 'त्र्यविर्वयः' (वय का नाम तीन अवि या त्र्यवि है), 'त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे' (यजु १८-२६), "त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' (यजु १८-२६)। इन्हीं तीनों को पृश्निः के तीन सरोवर भी कहते हैं "त्रीणि सरांसि पृश्नयो" (ऋ०वे० ८-७-१०)। यही उरुगाय विष्णु के तीनों पदों का ऐक्य कहलाता है "त्रीण्येक उरुगायो" (ऋ०वे० ८-२९-७) इन्हीं को 'त्रीरोचना'

भी कहते हैं "त्री रोचना दिव्या धारयन्त" (ऋ०वे० २-२७-९), "त्री रोचना वरुण" (ऋ० वे० ५-६९-१), "त्रिष्वा रोचने दिवः" (यजु १२-५५), येही महिषनामाग्नि के तीन स्थान हैं "त्री यच्छता महिषाणाम्" (ऋ०वे० ५-२९-८), इन्हीं का नाम त्रयोधर्मा, त्रीणि ज्योतींषि या तिस्रो ज्योति भी है जैसे "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" (यजु० ८-३६; ३२-५)।

"त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत् तां अनु विदुर्वसिष्ठाः॥"
(ऋ०वे० ७-३३-७)।

इन्हीं का नाम त्रिपवित्र और त्रिरन्तरिक्ष भी है जैसे "त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्य" (ऋ०वे० ३-२६-८), "त्रिभिष्ट्वं देव सवितः" (ऋ०वे० ९-६७-२६), "त्रिरन्तरिक्षं सविता" (ऋ०वे० ४-५३-५), इन्हीं को तीन परम स्थान या त्रिदिव भी कहते हैं जैसे "त्रिरस्य ता परमा (ऋ०वे० ४—१-७), "त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता" (ऋ०वे० २-२७-८), 'त्रिरा दिवः सवितर्वार्याणि' "त्रिरा दिवः सविता सोषवीति" (ऋ०वे० ३-५६-६,७)। इन्हीं तीनों को त्रिविष्ट या त्रिविष्टप भी कहते हैं 'त्रिविष्टधातु प्रतिमानम्" (ऋ०वे० १-१०२-८)।

"इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥"
(ऋ०वे० ८-९१-५)

इसी का नाम त्रिलोक या त्रिष्पूष (त्रिपुरी) है जैसे

"खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥"
(ऋ०वे० ८-९१-७)।

इन्हीं का नाम 'त्रिवर्ति' भी है, जैसे "त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते" (ऋ०वे० १-३४-४), इन्हीं को त्रिवन्धुर औद त्रिवरुथ नाम से भी पुकारते हैं जैसे "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेना यातं" (ऋ०वे० ८-८५-८), "त्रिवरुथस्त्रिवन्धुरो" (यजुर्वेद २८-१९,२१- ५५), "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा" (ऋ०वे० १-४७-२), इसी को त्रिचक्र या त्रिवृत भी कहते हैं "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण" (ऋ०वे० १-११८-२), "त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा" (यजुः १५-९; १५-१०; १२-४), इन्हीं को त्रीणि जनाः कहते हैं "त्रीणि जाना परि" (ऋ०वे० १-९५-३), इन्हीं को दिव के तीन बन्धन भी कहते हैं "त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि" (ऋ०वे० १-१६३-४; यजु २९-१५) तै०सं० ४-६-७-२), इन्हीं को 'त्रीधन्व' या त्रिसमुद्र नाम से भी पुकारते हैं, जैसे "त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्" (यजु ३४-२४), "त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गान्" (यजुः १३-३१), इन्हीं को 'त्रेता' नाम से भी पुकारते हैं "त्रेतायै कल्पिनम्" (यजुः ३०-१८), इन्हीं का नाम 'त्रित' भी है, त्रिधाबद्ध भी है जैसे "त्रिताय त्वा" (यजु १-२३), "त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति" (ऋ०वे० ४-५८-३; यजु १७-९०)। इन्हीं का नाम गुहा और 'त्रीणिपदा' भी है जैसे "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य" (यजु० ३२,९), अश्विनी और विष्णु के पद और 'गुहा त्रीणि (पदा)

निहिता' नामक चत्वारि वाक् परिमिता पदानि के तीन पद भी ये ही तीन हैं। इन तीन सप्तकों को 'त्रयः कोशास' और त्रयः चमू भी कहते हैं जैसे

"त्रयः कोशासः श्चोतन्ति तिस्रश्चम्वः सुपूर्णाः।"
(ऋ०वे० ८-२-८)।

इस प्रकार इस त्रिचक्रीय त्रिपाद के अनन्त नाम हैं कुछ और नाम (ऋ० वे० १-३४ के पूरे सूक्त में दिये मिलेंगे उन्हें अवश्य देख लें। इन सबका संकलन 'देवरथ' और 'अश्विनी रथ' के वर्णनों में पूरा-पूरा दिया गया है।

त्रिःसप्तवाद नाम त्रिचक्रवाद या त्रिवाद का विस्तृत या व्याख्या रूप नाम है। इससे वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय करना बड़ा सरल हो जाता है। सचमुच में वैदिक दर्शन के जटिल कपाटों को खोलने के लिए यह त्रिःसप्तवाद कुञ्जी का सा काम करता है। बिना इसको पढ़े किसी को वैदिक दर्शन के इतने तत्त्व होंगे, इस विषय में विश्वास जमना भी कठिन है क्योंकि उस दर्शन को लोग तीन हजार वर्ष से एकदम भूल चुके हैं। दुर्भाग्य की समता ने इस वाद की भी अधोगति कर रखी है। लोग इस 'त्रिःसप्त' के माने तीन गुना सात बराबर इक्कीस (३×७=२१) लगाकर इन इक्कीसों को सांख्य के ज्ञानकर्मेन्द्रिय गुण और महाभूत कुल २१ तत्त्व समझते भी चले आ रहे हैं। यह एक महा भयानक भ्रम है। ये वैदिक दर्शन के भिन्न तत्त्व हैं, सांख्य के नहीं हैं और इनकी संख्या २१ नहीं, २४ है। यह सब पुरुष सूक्त १५ ऋचा के "त्रिःसप्तसमिधः कृताः" की व्याख्या में मिलेगा। संक्षेप में सांख्य-योग दर्शन औपनिषदिक दर्शन हैं। यह वैदिक दर्शन का अत्यन्त सूक्ष्मतम स्वरूप है। संहिता और ब्राह्मण युग में सांख्ययोग दर्शन इस स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। जब लोग वैदिक दर्शन को भुलाते जा रहे थे, तब सिद्धराट् महर्षि कपिल ने इस दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया था। 'त्रिः-सप्तवाद' के २४ तत्त्वों में केवल दैवी प्रकृति (पुरुष) का वर्णन है। इसके तीन गुण ही त्रिचक्र या त्रिवाद हैं। इन तीन गुणों के विकास की २४ सीढ़ियाँ हैं। जिन्हें सब भुला चुके हैं। जिसे सांख्ययोग वाले 'बुद्धिः' कहते हैं। उसे वेदों में 'धी' 'कविः' सूर्यः, सविता, चक्षुः, सोमः, चन्द्रः, वृत्र आदि नाम से पुकारा गया है। इसमें दैवी और आसुरी दोनों वृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं। योग दर्शन इसी आसुरी वृत्ति के दमन का एक अप्रतिहत शस्त्र है। जिन्हें सांख्य-योग में महत्, अहंकार, ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चगुण, पञ्चमहाभूत नाम से पुकारा जाता है उनमें से महत् का उदय विराट् के ४८ वें तत्त्व से प्रारम्भ होता है और अहंकारादि का परमाणु बनने पर ४० वें तत्त्व के पश्चात् निर्माण होता है। अतः सांख्य के प्रचलित २१ तत्त्वोंका वेदों के इस त्रिःसप्तवादीय २४ तत्त्वों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात ध्यान से न उतरने पावे।

४८—त्रिःसप्तवाद

जिस प्रकार त्रिचक्रवाद की व्याख्या अनन्तमुखी बनाई गई है उसी प्रकार इस 'त्रिःसप्तवाद' की व्याख्या भी अनेक रूपों में की गई है। हमारी सँस्कृति में और प्राचीन ग्रन्थों में जो-जो भावनायें अब तक बड़े भारी महत्त्व को रखती हैं, चाहे आजकल की नई रोशनी वाले उन्हें हमारे ही विद्वानों की तीन हजार वर्षों से की गई भूलों के कारण—वैदिकदर्शन को खो बैठने के कारण-भार सा समझते हुए भी न जाने क्यों किस दैवी प्रेरणा से लादते से आ रहे हैं? इनमें पञ्चपर्वा विद्या का गहरा पुट है, अमृत है, अत्यन्त मिठास और रसातल तक पहुँची जड़े हैं। अनुच्छेद्य, अभेद्य और अमिट हैं, यह वेदों की भारी विजय है। इसका विवेचन 'पञ्चपर्वा विद्या' शीर्षक में मिलेगा। यह त्रिःसप्तवाद वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों की व्याख्या करता है। इनकी व्याख्या पुरुष, अग्नि, इन्द्र, सोम, विष्णु, रुद्र, ब्रह्म, (ब्रह्मणस्पति बृहस्पति) अदिति, आदि सर्व देवताओं के रूप में क्रमिक विकास परम्परा द्वारा तथा अन्य देवताओं के यथा स्थान व्याख्यान से जैसे उषा, सूर्य, चक्षु, चन्द्र, वृत्र, देव, असुर, पुरुषपशु, पशु और ऋषियों में अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, अङ्गिरस आदि किया गया है पर इससे भी वैदिकों को तृप्ति न हुई, तब उन्होंने पञ्चपर्वा विद्या की नींव डालकर उनका विवेचन एक नवीन सरणि से या प्राकृतिक सरणि से किया था, वे उनके आधार तत्त्व थे। इन आधारभूत तत्त्वों की पारिभाषिक पदावलियाँ निम्न नामों से 'त्रिःसप्त' या त्रिचक्रवाद की पूरी व्याख्या करते हैं। जितने तत्त्व इस त्रिःसप्त या पूर्वार्द्ध में दिये गये हैं उतने ही इसके उत्तरार्द्ध में भी समझे जाने चाहिए क्योंकि दोनों अर्द्ध बराबर हैं।

४९—त्रिःसप्तवाद का आधार

ब्रह्म को समुद्र माना गया है 'त्वं समुद्रो असि विश्ववित्' (ऋ० वे० ९-८६-२९) उससे पहिले गंगा नदी रूप प्रथम तत्त्व का उदय होता है। तदनन्तर उसकी सहायक नदियाँ एक-एक तत्त्व के रूप में उसी गंगा नदी से निकलती हैं "त्वं सिन्धूँरवासृजो" (ऋ० वे० १०-१३३-२; अथर्व २०-९५-३; साम १८०२ वैदिक गंगा से अन्य नदियां निकलती हैं, लौकिक नदियों की तरह ये इसमें मिलती नहीं। जैसे "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो" (ऋ० वे० १०-६४-८) प्रत्येक सप्तक एक मुख्य नदी है। वे क्रमसे गंगा नदी से ही निकलती हैं (सप्तचक्रवाद देखें)

१—'त्रिसप्तनद्यः'

ब्रह्म एक महाकामधेनु गौ पृश्नि है। उससे वत्स रूप में त्रिवत्स प्रथम तीन सप्तकों में प्रत्येक वत्स से आठ-आठ धेनुएं क्रमसे उत्पन्न होकर पूर्वार्द्ध में २४ धेनुओं की उत्पत्ति करती हैं। (गौ, गौरी, धेनु आदि शीर्षक देखें और सप्त चक्रीवाद भी देखें) जैसे "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे" (ऋ० वे० ९-७०-१; साम ४६०, १४२३) आदित्य-रूपगावः दूसरी वस्तु है (आदित्याः देखें)

२—'त्रिसप्तधेनवः'

जिस प्रकार ब्रह्म समुद्र से तत्त्व रूप नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म-रूप हेमकूट (हिमवान्) पर्वत से अन्य पर्वत पर्व-पर्व में या एक-एक तत्त्व रूप में उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म या पुरुष का जो नाम 'कूटस्थ' मिलता है वह इसी पर्वतविद्या का शब्द है। 'कूटस्थ' माने ब्रह्म, पर्वत के कूट या चोटी का वासी प्रथम तत्त्व है जो अविकारी और कालरूप है और काल रूप में व्यापक है। प्रत्येक सप्तक या दशक एक महा पर्वत है। प्रत्येक सप्तक या दशक के सात, आठ या दस तत्त्व उसके छोटे-छोटे क्षुर पर्वत हैं। पूर्वार्द्ध की गुहा के पर्वतों का वर्णन इस प्रकार दिया मिलता है।

३—त्रिःसप्तपर्वताः

"त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२)

"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये"

(ऋ० वे० १०-६४-८)

ये पर्वत वास्तव में प्राणरूप ब्रह्म की व्याख्या करते हैं, ये प्राणों के पर्वत हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक या अखिल ब्रह्माण्ड में भी ये पर्वत प्राणों के पर्वतों के रूप में विद्यमान रहते हैं। जिन्हें लोक में पहाड़ कहते हैं वे इन पर्वतों से नितान्त भिन्न हैं, पर हैं इन्हीं के समान क्रमशः एक दूसरी श्रेणी से हिलेमिले जुड़े-जुड़ाये। कई लोगों ने शरीर की रीढ़ की हड्डियों को इन पर्वतों में घटाया है जिसको उनके वैदिक दर्शन के ज्ञान न होने का प्रमाण समझ लेना चाहिए।

४—"त्रिःसप्त विस्पुलिङ्गाः"

जब ब्रह्म की व्याख्या अग्निरूप में की जाती है तो प्रत्येक तत्त्व अग्नि की चिनगारियों की तरह प्रस्फुटित होता है, ५० चिनगारियों के बनजाने पर एक परमाणु प्रस्तुत होता है। इन चिनगारियों के उद्भव का क्रम रुद्र, इन्द्र, वरुण और चन्द्र की व्याख्या में दिया मिलेगा। पूर्वार्द्ध की गुहा के २४ तत्त्वों की व्याख्या (ऋ० वे० १-१९१-१२) लिखता है "त्रिःसप्त विस्पुलिङ्गकाः"। यह 'अग्निः सर्वा देवता' का विकास क्रम है 'अग्निवाद' देखें।

५—'त्रिःसप्तरश्मयः'

जब ब्रह्म का वर्णन प्रकाश रूप या शुद्ध-बुद्ध ज्ञान रूप में किया जाता है तब प्रत्येक तत्त्व एक-एक रश्मि के रूप में विकसित होता हुआ बतलाया जाता है। इस प्रकार दर्शन के पूर्वार्द्ध की गुहा के २४ तत्त्वों से २५ वें में २४ तत्त्व रूप रश्मियों के समुदायरूप चक्षु या मनः या सूर्य नामक तत्त्व का उदय होता है, उससे चन्द्रमा का तदनन्तर प्रकाश भौतिकता में एक-एक रश्मि द्वारा चन्द्रमा की तरह क्षीण होता जाता है। अन्त में परमाणु अमावस्या के समान भौतिक पिण्ड अन्धकारमय स्वरूप को धारण कर इस अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करता है। योगी को उसी ब्रह्म प्रकाश की ज्योति की खोज, अनुभूति आदि करनी पड़ती है। प्रत्येक सप्तक एक-एक

शिर हैं, उसके तत्त्व रश्मियाँ जैसे "त्रिमूर्द्धानं सप्तरश्मिं" (ऋ० वे० १-१४६-१)। यह वही त्रिवाद है जिसको त्रिचक्रवाद में 'त्रीणि ज्योतींषि', 'तिस्रो ज्योति' और 'त्रिवर्ति' नाम से पुकारा है वे भी 'त्रिःसप्त ज्योतींषि, त्रिसप्त ज्योति' त्रिसप्त वर्तिकायें हैं। ये त्रिज्योतींषि आदि त्रिःसप्तरश्मिः शब्द क्रम की विकास परम्परा को बतलाते हैं ऐ० ब्रा० (५-५-३२) ने लिखा है कि प्रजापति ने बहु रूपों में प्रगट होने के लिए जो तप किया उससे भूर्भुवः स्वर्लोक बने। उन्हीं से तीन ज्योतियाँ (अग्नि, वायु, आदित्य) उत्पन्न हुए उन्हीं के ऋग् (स्वराः) यजु (दीर्घ स्वराः) साम (ऊष्माण) प्रतीकी शब्द से ब्रह्म का विकास हुआ। ये त्रिदिव (त्रिलोक) हैं, अतः त्रिस्वः (महि) कहलाते हैं। इसीलिए इन स्वः लोकों (तीनों) से उत्पन्न शब्दब्रह्म विकास को 'स्वराः' या 'स्वर्लोकादागच्छन्तीति स्वराः' कहते हैं। ये तीनपादों या लोकों में अष्टौ स्वराः, अष्टौ दीर्घाः, अष्टौ ऊष्माणः प्रतीकी शब्द ब्रह्मरूप स्वर हैं। इनके सूक्ष्म प्रतीक अ उ म् हैं जिनका समाहार ॐ है। उत्तरार्द्ध में व्यञ्जन प्रतीकी शब्दब्रह्म विकास (व्यष्टिरूपेण समञ्जयन्तीति विशिष्टरूपेण व्यक्तिरूपेण अञ्जयन्तीति व्यञ्जनानि श्रौतिकानि तत्त्वानि) क्रमशः २४ ध्वनियों में होता है (शब्दब्रह्म व्याख्या देखें) प्रथम सप्तक अग्नि (वसु) का है उससे ऋग् (ह्रस्व स्वर) निकले, द्वितीय वायु सप्तक है उससे यजुः (दीर्घ स्वर) और तृतीय आदित्य सप्तक है उससे सामवेद निकला। अतः 'भूतस्य निश्वसितं' (बृह० उप० उप० ४-५-११, छान्दोग्य) माने जिसके प्राणरूप स्वरूप से स्वर या ॐ निकला होता है।

जब ब्रह्म का विवेचन हिरण्यादि धातुओं के रूप में किया जाता है तब प्रत्येक सप्तक 'षद्' कहलाता है और पूर्वार्द्धीय गुहा के २४ तत्त्वों को 'त्रिषधस्था सप्तधातुः' (ऋ० वे० ६-६१-१२) कहते हैं। हिरण्य रूप वर्णन

६—त्रिःसप्त धातवः

पूर्वार्द्धीय सब तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' को प्रस्तुत करते हैं। हिरण्य-गर्भ देखें। इन्हीं को 'त्रिविष्ट धातुः' (ऋ० वे० १-१०२-८) या त्रिविष्टप धातु भी कहते हैं। ब्रह्म का हिरण्य या रुक्म नाम ऋग्वेदाध्यायी ऋषियों का है जिसका विवेचन 'ब्रह्मविषयक संकेतावली' शीर्षक में मिलेगा।

'गुहा' शीर्षक के विवेचन में "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" नामक प्रसिद्ध ऋचा की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि 'त्रीणि पदा' गुहा में या पूर्वार्द्ध में रहते हैं जैसे उसी में लिखा है 'गुहा त्रीणि (पदा) निहिता'।

७—त्रिःसप्तपदाः

उन्हीं त्रीणि गुहावासी पदों के कुल भेद २४ या त्रिः सप्त होते हैं जिनका उल्लेख निम्न ऋचायें कर रही हैं "त्रिःसप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविदन्निहिता" (ऋ०वे० १-७२-६) और "त्रिः सप्त सख्युः पदे" (ऋ०वे० ८-६९-७) इनमें से प्रथम उल्लेख इनको गुह्यानि या गुहास्थ बतलाता ही है, साथ में निम्न दूसरा उल्लेख इसकी परिपुष्टि में लिखता है—

"विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः"

(ऋ०वे० १०-५३-१०)।

ये वाग्ब्रह्म के विकासीय पद हैं। ये सब पद या पर्व अनिरुक्त हैं। अतः अमृत या नित्य विभु व्यापक हैं। ये तीन पद उन तीन अन्यों के मौलिक बीज हैं जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी कहते हैं। 'परा' पद का प्रारम्भ उक्त २४ (त्रिःसप्त) के गुहास्थ पदों के पश्चात् २५ वें तत्त्व से होता है। अतः "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" के चार पदों में से चतुर्थ पद ही परा है, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तो बहुत स्थूल वाणियों के स्वरूपों को बतलाते हैं ('गुहा' शीर्षक देखें) उनका इन पदों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। तुरीय मनुष्य या चतुर्थ सप्तकीय पद ही परा पद है।

८—"त्रिः सप्तसत्त्वाः" प्रजापति या देवरूपों में प्रत्येक तत्त्व एक सत्व या प्राणी या ऊर्जस्वान् के रूप में वर्णित किया जाता है, वे भी 'त्रिः सप्त' या २४ ही हैं जैसे "त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः" (ऋ०वे० १-१३३-६)।

जिस प्रकार सप्तधातु रूप विवेचन दिया मिलता है; उसी प्रकार त्रिःसप्त रत्न रूप विवेचन भी दिया गया है। ऋ०वे० के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में जो

९ "त्रिः सप्त रत्नानि" 'रत्नधातमम्' शब्द अग्नि के विशेषण रूप में दिया मिलता है, वह इन्हीं त्रिःसप्त रत्नानि का संकेत करते आ रहा है जैसे—"ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते" (ऋ०वे० १-२०-७)।

यजुर्वेद पूरा अश्वरूप या प्राणरूप की व्याख्या देता है। बृहदारण्यक का आरम्भ ही अश्वरूप ब्रह्मविवेचन से किया गया है। ऋ०वे० में इसका विशिष्ट

१० "त्रिः सप्त अश्वाः" वर्णन दधिक्रा के सूक्तों में मिलता है (दधिक्रा, शीर्षक देखें) प्रत्येक तत्त्व एक अश्व या श्वः या श्वा या शुन है पूर्वार्द्धीय गुहा के त्रिः सप्त या २४ तत्त्वों को "उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ०वे० ८-४६-२६) या सप्तकों के अनुसार "तिसृणां सप्ततीनाम्" (ऋ०वे० ८-१९-३७) या "यूयं सखायः सप्तयः" (ऋ०वे० ८-२०-२३) कहते हैं। अश्व को प्राण समझ कर ऋ०वे० ने 'अश्वस्य धारा' वाक्य लिखा है; धारा तो प्राणों की ही होगी।

तत्त्वों का वर्णन पक्षियों के रूप में करते हुए प्रत्येक तत्त्व एक-एक पक्षी हैं जैसे "श्येनो गृध्राणां" पशुओं की वर्णना में 'महिषो मृगाणाम्" इनकी निरुक्ति कुछ

११ त्रिः सप्त मयूर्यः और ही है। मयूरियों के रूप में ब्रह्म की विचित्रता या विश्वतोमुखता दिखलाने के लिये लिखा है कि "त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः" (ऋ०वे० १-१९१-१४) "मयं सुखं उरीकुर्वन्तीति मयूर्यः मयूरी वा) यह नानारूपी विश्वतोमुख आनन्दमय ब्रह्म का विवेचन है।

अखिल ब्रह्माण्ड एक वस्त्र का ज्ञान सा है। इसमें पूर्वार्द्ध की गुहा के तत्त्व तो ताने हैं और उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्व बाने हैं। इन दोनों को पुरुषाः, पितरः या समुद्रिया, अप्सरसः या आपो मातरः बुनती हैं 'देवा यद्यज्ञं तन्वाना' 'देवा यज्ञमतन्वत' और 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' पुरुष सूक्त की ऋचायें तथा "ऋचो अक्षरे" के अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को देखें। यहाँ पर इन तन्तुओं (तागों) के बारे में पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों के विषय में लिखा है

१२ त्रिः सप्ततन्तु

"इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
असौ हव्यवालुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः ॥
(ऋ०वे १०-१२४-१)

"मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ॥
(ऋ०वे० १०-५२-४) और

"वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥"
(ऋ०वे० १-१६४-५)

"ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यं नव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः॥"
(ऋ०वे० १-१५९-४)।

१३—त्रिः सप्तमही
१४—त्रिः सप्त आपः

"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥"
(ऋ०वे० १०-६४-८)

१५—त्रिःसप्त वनस्पति इसमें नदी, मही, आप, वनस्पति, पर्वत और अग्नि सब
१६—त्रिः सप्त अग्नयः पूर्वार्द्ध में एक-एक करके २४ रहे हैं
१७—त्रिः सप्त आशिरः "अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं
सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः।"
(ऋ०वे० ९-८६-२१)।

पूर्वोक्त सभी की पूरी व्याख्या इस पद की व्याख्या में पुरुषसूक्त (ऋ०वे० १०-९०-१५) के भाष्य में अन्यत्र दे दी गई हैं, वहीं देखा जाय। संक्षेप में प्रत्येक तत्त्व या प्रत्येक देवता एक-एक समिध हैं। पूर्वार्द्धीय गुहा में २४ समिध हैं, उत्तरार्द्ध में भी २४ समिध हैं। ये सब आध्यात्मिक समिध हैं, अध्यात्मयज्ञ या योग यज्ञ के समिध हैं। लौकिक यज्ञ उस आध्यात्मिक यज्ञ का अभिनय मात्र है। संहिताओं में आध्यात्मिक यज्ञ मात्र है पर ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका

१८ त्रिः सप्तसमिधः
(कृताः)

अभिनय लौकिक यज्ञ के रूप में किया गया है जिनमें आध्यात्मिक धारा अप्रतिहृत तथा अविच्छिन्न रूप में सर्वत्र बहती हुई सुरक्षित रखी गई है।

यह द्विचक्री विचारधारा वेदों में, ब्राह्मणों में, आरण्यकों और उपनिषदों में सर्वत्र परम मुख्य धारा के रूप में प्रवाहित हुई है। अभी तक विद्वानों को इस द्विचक्री वैदिक दर्शन के चक्रों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो

५०—द्विचक्रवाद पाया है। ये इतने मुख्य और इतने स्थूल विभाजन हैं कि इनको समझे बिना वेदों का अर्थ लगना शशक शृङ्गोपलब्धि सम नितान्त असम्भव है; इन दो चक्रों के एक-एक नहीं सैकड़ों नाम हैं। जिन्हें इन नामों से परिचय नहीं, वह वेदों का क्या अर्थ करेगा? वैदिक दर्शन के ये स्थूल विभाजन रूप दो चक्र दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहलाते हैं। गायत्री के २४ तत्त्वों को यज्ञ का या सृष्टि विकास का पूर्वार्द्ध कहा गया है। (गायत्री ब्रह्म देखें—"चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः") इसके पादों के अनुसार गायत्री के तीन पादरूप तीन समिध कहे गये हैं जैसे—"गायत्रस्य समिधस्तिस्र" (ऋ०वे० १-१६४-२५)। जितने तत्त्व पूर्वार्द्ध में हैं उतने ही उत्तरार्द्ध में भी हैं। पूरा दर्शन जगती या ४८ अक्षरों या तत्त्वों का होता है। इन दोनों अर्द्धों का मध्यवर्ती तत्त्व सूर्य २५ वां तत्त्व है। सूर्य तत्त्व इन दोनों विभाजनों के दो मुख्य नाम अह और रात्रि देता है, पूरा दर्शन अहोरात्र कहलाता है (सूर्य की व्याख्या देखें) इन दोनों भागों में क्रम से ३६० दिन और ३६० रातें कुल ७२० अहोरात्र माने जाते हैं। पूर्वार्द्ध ३६० दिन का एक दिन, उत्तरार्द्ध ३६० रातों की एक रात्रि। दिन का नाम शुक्लपक्ष है, रात्रि का कृष्णपक्ष "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" (ऋ०वे० ६-९-१)। यह वैदिक दर्शन की मूल भित्ति है। इसे संवत्सर ब्रह्म भी कहते हैं, इसका विवेचन आगे दिया जायगा।

सूर्य तत्त्व की मध्यस्थता के अनुसार उसे दर्शन के दो चक्रों का मध्यवर्ती बतलाया गया है जैसे

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
५१—द्विचक्र का स्वरूप अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥"
(ऋ०वे० १०-८५-१६)

"अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम्" (ऋ०वे० ८-६-३८)।

इसमें 'गुहा' या पूर्वार्द्धीय गायत्री के त्रिपादों के २४ तत्त्वों को एक चक्र बतलाया है। दूसरा अपने आप उत्तरार्द्ध का चक्र हुआ, इसे सभी दार्शनिक तथा वेद जानते हैं। इन दोनों चक्रों को क्रम से देवताओं, पितरों और तत्त्वरूप मनुष्यों की स्रुतियाँ या मार्ग नाम से भी पुकारते हैं जैसे

"द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥"
(ऋ०वे० १०-८८-१५)

इसमें पूर्वार्द्ध को पिता तथा उत्तरार्द्ध के चक्र को माता नाम से भी पुकारा है। इन दोनों चक्रों को बराबर सन्तुलित बतलाते हुये आगे लिखा है कि

"द्वे समीची (बराबर) बिभृतश्चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विमृष्टम्।
स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थावप्रयुच्छन् तरणिर्भ्राजमानः॥"
(ऋ०वे० १०-८८-१६)।

यहां पर दोनों चक्रों की उत्पत्ति शिर से और मनः से बतलाई गई है जिसका यह तात्पर्य है कि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का प्रथम तत्त्व शिरः और मनः नाम से पुकारा जाता रहा। अतः अन्यत्र

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य"

(ऋ०वे० ४-५८-३) में उल्लिखित 'द्वे शीर्षे' या दो शिर यही पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के प्रथम तत्त्व हैं अर्थात् प्रथम और पच्चीसवां तत्त्व दो सिर हैं। प्रथम तत्त्व आदि ब्रह्म है तथा २५ वां मध्यस्थ तत्त्व सूर्य है, यही दो शिर हैं जैसे

"मध्या कर्तोर्विततं सं जभार" (ऋ०वे० १-११५-४)
"वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना॥"
(ऋ०वे० १०-१३८-३)।

इस परिच्छेद में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को जो क्रम से पिता और माता नाम से (ऋ०वे० १०-८८-१५) पुकारा गया है उसकी बड़ी लम्बी कथा है, वह अगले परिच्छेद में देखें।

वेदों में एक देवता का नाम 'द्यावा पृथिवी' है। उसे आजकल के विद्वान् महाशय लोग आकाश और हमारी खगोलीय पृथिवी समझते आ रहे हैं। यह बहुत बड़े खेद की बात है। वास्तव में 'द्यावा पृथिवी' देवता दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पारिभाषिक नाम हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड मौलिक स्वरूप में द्यावा पृथिवी कहलाता है। पूर्वार्द्ध का आध्यात्मिक भाग द्यावा कहलाता है, उत्तरार्द्ध का भौतिक भाग पृथिवी। अथर्व वेद का पृथिवी सूक्त इसी उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मामय पृथिवी का सूक्त है, हमारी मिट्टी की पृथिवी का नहीं। इन दोनों भागों में से पूर्वार्द्धीय द्यावा को पिता तथा उत्तरार्द्धीय पृथिवी को माता कहते हैं। इन दोनों के संयोग से यह अखिल ब्रह्माण्डप्रजा या सन्तति के रूप में नाना रूपता को प्राप्त होता है। इस विषय के निम्न प्रमाण हैं।

५२—द्विचक्रवाद के नाना नाम
१—द्यावापृथिवी

(१) "द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"
(ऋ० वे० ६-५१-५)

(२) "द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"

(ऋ० वे० १-१९१-६)

(३) "द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

(ऋ० वे० १-१६४-३३)

(४) "तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः" (ऋ० वे० १-८९-४)

(५) "मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १-९०-७)

इनमें प्रथम और अन्तिम दो विश्वेदेवता सूक्त की प्रार्थना हैं जो द्वितीय सूर्या, और तृतीय अस्य वामीय सूक्त की हैं, शेष 'द्यावापृथिवी' देवता के वर्णन में देखें। कश्यप कूर्म भी द्यावा पृथिवी कहलाते हैं। पूर्वार्द्ध कश्यप हैं उत्तरार्द्ध कूर्म। अतः लिखा है "कश्यप कूर्मौ वै द्यावा पृथिव्यौ" (शप० ७-५-१-१०)

वैदिक दर्शन के उक्त द्विचक्री दो भागों के अनेकों प्रसिद्ध नाम मिलते हैं जिनमें से कई अब तक प्रचलित हैं।

(क) उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्"

(ऋ० वे० १-१६४-३३)

पूर्वार्द्ध द्यौ प्रथम उत्तानपद या एक चमू है, उत्तरार्द्ध पृथिवी दूसरा उत्तानपद या दूसरी चमू है। इन दोनों का मध्यवर्ती भाग योनि है, पूर्वार्द्ध पिता है या भू है और उत्तरार्द्ध भुवः या माता रूपिणी है जिसमें उक्त योनि द्वारा पुत्री रूप वाक् का गर्भदान दिया गया है। यह वैज्ञानिक सत्य है।

२—दो चमू, दो उत्तान-पद या भू और भुवः

(ख) इसीलिए सोम के चतुर्थ सप्तक को अब्जा, नृषद् कहने के स्थान में 'चमूषद्' और सोम को 'चमूसुतम्' कहते हैं जैसे

"चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा······समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति।"

(ऋ० वे० ९-९६-१९) और

"इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम्" (ऋ० वे० १०-२४-१)

(ग) इन्हीं दो भागों को दो उत्तानपद अथवा भू और भुवः नाम से पुकारा गया है जैसे

"भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त" (१०-७२-४)

वैसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों भाग अदिति कहलाते हैं, जैसा कि प्रसिद्ध ऋचा के आधार पर—

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥"

३—अदिति, दिति

(ऋ० वे० १-८९-१०)

इस सर्व व्यापी उभयभागी अदिति के अहोरात्र भागीय दो भागों को मुख्य बतलाते हुए लिखा है।

"अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥"

(ऋ० वे० ८-१८-६)

इस मन्त्र के अनुसार पूर्वार्द्धीय अदिति 'दिवा अदितिः' है, उत्तरार्द्धीय अदिति "नक्तमदिति" है परन्तु इनमें से उत्तरार्द्धीय नक्तमदिति का एक नाम 'दिति' भी है वह निम्न ऋचा से स्पष्ट है

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

हे मित्रावरुण, दर्शन के मध्य विन्दु में सूर्य रूप २५ वां तत्त्व उषा के पश्चात् स्थूण रूप में (स्तम्भ रूप में) उदित होने वाला है, तुम उस स्थूण रूप गर्त (विषुवत् रेखा नाभि) तत्त्व में आरोहण करो या विकसित हो जाओ, वहां से तुम अदिति पूर्वार्द्ध के पहलू और दिति उत्तरार्द्ध के ढालू दोनों को एक साथ देख सकोगे। शेष अदितिदिति शीषक में देखें। इस गर्त शब्द का प्रयोग दूसरे स्थलों में भी मिलता है, जैसे

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।"

(ऋ० वे० १-१२४-७)

"तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते वचो युजा बहुत इन्द्र मृघम्।"

(ऋ० वे० ६-२१-९)

जिस प्रकार का वर्णन पिछले परिच्छेद में मित्रावरूण के बारे में दिया गया है ठीक उसी प्रकार का वर्णन यजुर्वद (८-९) का मंत्र निम्न रूप में प्रस्तुत करता है

४—अवस्तात् परस्तात् "अहं परस्तादहमवस्तात् यदन्तरिक्षं तन्मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्श अहं देवानां परमं गुहा यत्॥"

कि मैं ही उत्तरार्द्ध हूं, मैं ही पूर्वार्द्ध हूं; पूर्वार्द्ध रूप अन्तरिक्ष मेरा पिता है, मैंने उक्त दोनों भागों में स्थित होने के कारण मध्यवर्ती सूर्य तत्त्व को दोनों भागों को दोनों ओर से देखा और मैं ही देवताओं की गुहा रूप पूर्वार्द्ध (त्रिपाद्) भी हूं। वस्तु स्पष्ट है कि उभयतः दर्शन, दोनों भागों से उनके मध्य विन्दु सूर्य तत्त्व हो रहा है।

ऋ० वे० १०-८८ सूक्त के दो मंत्र पहिले दिये जा चुके हैं जिनमें पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध को 'द्वे स्रुती' और 'द्वे समीची' नाम से घोषित किया गया है। उसी के विस्तृत वर्णन में उन भागों के ये नाम स्पष्ट दिये हैं जैसे

५—अवरः, परः "यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।"

(ऋ० वे० १०-८८-१७)

इन भागों की चर्चा ऋग्वेद के अस्यवामीय दैर्घतमसीय सूक्त (ऋ० वे० १-१६४-१७, १८) में इस प्रकार की गई है।

"अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।" और
"अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।"

जो भाव तीसरे-चौथे भागों में अदिति, दिति और 'अवस्तात्, परस्तात्' के वर्णन में दोनों भागों को देखने की बात कही गई है वही भाव मित्रावरुण का दोनों भागों को 'सत्यानृत' नाम से देखना वर्णित करके

६—सत्यानृतम् व्यक्त किया गया है जैसे—
"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यवञ्जनानाम् ॥"
(ऋ० वे० ७-४९-३)

इसका विशद विवेचन 'प्राचेतसौ मित्रावरुणौ' शीर्षक के 'सत्यानृत' भाग में दिया गया है, वहीं देखें।

जिसको द्यावापृथिवी नाम से पुकारते हैं उन्हीं को रोदस्यौ नाम से भी पुकारते हैं ऋ० वे० १-१०-५ सूक्त ने 'वित्तं मे अस्य रोदसी' ध्रुपद के सूक्त में दो रोदसियों को या रोदस्यौ के दो भागों को क्रम से ऋतं

७—ऋतं, अनृतं, रोदस्यौ और अनृतं नाम से पुकारते हुए लिखा है—
"क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी"
"कद् वऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी"
(ऋ० वे० १-१०५-४,५)।

ऋत नाम पूर्वार्द्ध का है और अनृत नाम उत्तरार्द्ध का है। जो ऋत है, वही सत्य भी है। अतः जो सत्यानृत है वही ऋतानृत भी है। मित्रावरुण देखें।
"अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्यतशम्"
(ऋ० वे० ८-६-३८)

८—असद् और सद् पूर्वोक्त दोनों के समान
इसका विवेचन "नासन्नोसद" शीर्षक में विस्तार पूर्वक
९—"असद् सद्" अथवा किया जा चुका है। सप्तचक्री सप्तवाद में भी सबसे पहिले
"नासद् नोसद्" ऋसद् रूप ऋषि या प्राण थे, बतलाया गया है।
"यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः। युवानस्तथेदसत्"
(ऋ० वे० ८-२०-१८)

(ऋ० वे० ५-५१-१५, १४ और १० ६३-१५, १६, १०-७-१)
१०—स्वस्ति पन्था, तै० सं० ४-३-१३-२; ऋ० वे० १०-१३०-७, १०-५९-७ 'स्वस्ति
पथ्यां या स्वस्तिः पन्थामनु चरेम', 'स्वस्ति पथ्ये रेवति', पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य' "पथ्यां या स्वस्तिः"। (ऋ० वे० ३-५४-५ पथ्या का समेति")

"यमर्द्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः" (ऋ० वे० १०-२८-५) "बृहत उत्तरा
११—क्षेम्या धूः, उत्तरा धूः धूः" (ऋ० वे० १०-२८-६) "युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया" (ऋ० वे० १-१६४-९) 'अथर्व० (९-९-९) 'युक्तस्ते अस्तु दक्षिण (१-८५-२)

१२—पूर्व्ये व्योमनि, परमे व्योमन् 'पूर्व्ये व्योमनि' (ऋ० वे० ९-७०-१) 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (ऋग्वेद १६४-३९) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋ० वे० १-१६४-४१) "स पूर्व्यो महानां वेनः" (ऋ० वे० ८-६३-१) 'असच्च सच्च परमे व्योमन्' (१०-४-७)।

१३—अर्वावत, परावत "यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे" (ऋ० वे० ३-४०-९)
"यच्छक्रासि परावति यदर्वावति" (ऋ० वे० ८-१३-१५, ८-५३-३)

'अर्वाक्पथ' (७-३९-३) "यन्नासत्या परावतियद् वास्थो अध्यम्बरे" (ऋ० वे० ८-८-१४)

'अर्वाङ' (१०-८३-६) "ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुः" (ऋ० वे० १-१६४-१९)

'परावैः' (१०-१०८-१) "अर्वाचीनैः पथिभिर्ये रजिष्ठा" (ऋ० वे० ९-९७-२८)

परावत् (१०-१०८-४) "पारावतस्य रातिषु द्रवच्चक्रेष्वाशुषु" (ऋ० वे० ८-३४-१८)

'पूर्वास उपरास इन्दवो महे' (ऋ० वे० ९-७७-३) 'अस्य
१४—पूर्वासः उपरासः वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः' (ऋ० वे०
१५—वामा दक्षिणाः १-१६४-१) "यज्ञेन (२४ वंतल से) दक्षिणया समक्ता"
१६—पूर्वाः पश्चात् वामा दक्षिणाः (ऋ० वे० १०-६२-१) "सावर्ण्यस्य दक्षिणा" (१०-६२-९ ऋ० वे०) "आ दक्षिणा सृज्यते" (ऋ० वे० ९-७१-१)
उत्तरावर्त, दक्षिणावर्त "सविता पश्चातात्" (१०-३६-१४) 'दक्षिणतः' (ऋ० वे०
उत्तरापथ दक्षिणापथ १०-८३-७) "असश्च त्वं दक्षिणतः सखा (ऋ० वे० ८-१००-
पूर्वेऽर्द्धे-परेऽर्द्धे २) "पूर्वे अर्द्धे रजसो अप्त्यस्य गवां" (ऋ० वे० १-१२४-५)
'नरे च दक्षिणावते' (ऋ० वे० ९-९८-१०) "पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्" (ऋ० वे० १-१६४-१२) युक्ता 'मातासीद् धुरि दक्षिणाया (१-१६४-९)

१७—द्वे विरूपे "द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे" (ऋ० वे० १-९५-१)

१८—से २१ श्री, लक्ष्मी; पत्न्यौ; अहोरात्रे; अश्विनौ "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्" (यजु ३१-२२)

२२—द्विता नक्षत्रं "द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम" (ऋ० वे० ७-८६-१) "द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः" (ऋ० वे० ३-१७-५) "इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि" (ऋ० वे० ८-७०-२; ९-४७-४)। आगे नक्षत्रवाद देखें।

२३—शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः" (ऋ० वे० ६-९-१)

२४—देव, असुर, सुरासुर,	"अहैव देवा रात्रिरेव असुरा" "स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय। दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम इवास तां रात्रिमकुरुत तेऽअहोरात्रे" (श० प० ब्रा० ११-१-६-११) देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः (सर्वत्र)
२५—संवत्सरस्यावारं च पारं च—	"यो वै संवत्सरस्यावारं च पारं च वेद स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)
२६—होता-रेतः	"यद्वै चतुर्विंशं तन्महाव्रतं बृहद्दिवे नात्र होता रेतः सिञ्चति। तददो महाव्रतीयेनाह्ना प्रजनयति। संवत्सरे संवत्सरे वै रेतः सिक्तं जायते" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)
२७—अनारम्भणीय, आरम्भणीय	ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म आगे देखें (ऋ०वे० १-११६-५; १०-८२-२)
२८—कः-कम्, शम्	,, ,, ,, ,, ,, (ऋ०वे० ७-३२-४)
२९—अमूर्तं, मूर्तं ३०—अमृतं-मृतं (मर्त्यं) ३१—यत्-स्थितं ३२—त्यद्-सद्	"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यंचामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।" (बृहदा० उप० ५-३-१; शा०प०ब्रा० १४-५-३-१)
३३—गुहा०	(बाह्यम्, अधरं) "दासं वर्णमधरं गुहाकः" (ऋ०वे० २-१२-४) 'गुहावाद', शीर्षक इसका पूरा विवेचन देता है।
३४—त्रिपाद्ब्रह्म-चन्द्रमा (सोम) ब्रह्म	'त्रिपादस्यामृतंदिवि' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः' ऋचा देखें।
३५—क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रविद्-क्षेत्र	"क्षेत्रवित्तरो मनुषो वि वो मदे" (ऋ०वे० १०-२५-८) "अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः" (ऋ०वे० १०-३२-७)
३६—अक्षर ब्रह्म, क्षरब्रह्म	"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" "गौरीर्मिमाय···सहस्राक्षरा परमे व्योमन्" (ऋ०वे० १-१६४-३९, ४१) "द्वे अक्षरे, ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या" (श्वेताश्वतर उ० ५-१)।
३७—प्राणाः नामरूपे कर्म च	"त्रयं वाऽइदं नामरूपं कर्म।···प्राणो वाऽअमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः; (एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्) (बृहदा० उप० १, ६, १-३; श० प० ब्रा० १४-४-४, १, २, ३) शरीरं ज्योती रूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः" (बृह० उप० ४-३-२०; श०प०ब्रा० १४-४-३-२०)
३८—विद्या-अविद्या	द्वे अक्षरे ब्रह्मपुरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या। (श्वे० उप० ५-१)

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" ईशावास्योपनिषद्

सम्भूति-विनाश, धर्म-अधर्म, अपरा-परा कहाँ तक लिखें; इन दोनों भागों के सैकड़ों नाम हैं, इनका कुछ विवेचन सूर्य, अहोरात्र, द्यावापृथिवी, उषा, उषासानक्ता और अश्विनी तथा 'देवरथ' शीर्षकों में मिलेगा। गीता ने संख्या ३२ के अक्षर और क्षर भागों का दूसरा नाम अव्यक्त और व्यक्त दिया है—

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥ (८-२१)

और आदि ब्रह्म इन दोनों से परे हैं जैसे—

"परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥" (८-२०)

इसका तात्पर्य यह है कि अक्षर और क्षर भी नश्वर हैं केवल ब्रह्म नामक अव्यक्त अनश्वर है।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५-१८)।

"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
३९—विरजः रजः यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।" (मुण्डक उप० १-२-११)
"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो" इत्यादि। (ऋ०वे० १-३५-२)

इसका पूर्ण विवेचन 'देवरथ' शीर्षक में बहुत विस्तार के साथ प्रायः सभी उपलब्ध उद्धरणों और विषयों के साथ दिया जायगा। इस रथ से सम्बन्ध रखने वाले कई मन्त्रों को अष्टचक्र, सप्तचक्र, षड्चक्र, पञ्च-
४०—एक चक्र, एक रथ चक्र और त्रिचक्र के वर्णनों में पहिले उद्धृत किया जा चुका है जैसे—

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको……त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं…
(ऋ० वे० १-१६४-२) इत्यादि।

"भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः ।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः ॥"
(ऋ०वे० १०-११४-१०)

इस एक चक्र को श्वेताश्व. उपनिषद् एकनेमि चक्र नाम से पुकारता है और इस चक्र में षोडशकल ब्रह्म १६-१६ कला का और १६-१६ के त्रिवृत्त या तीन भागों या पादों से ४८ तत्त्व और दो सिर प्रथम तथा २५ वें को मिलाकर कुल शतार्द्धार या ५० आरे, तथा २० प्रत्यार (३१ देवता २० शेष तत्त्व) हैं। इसमें षड्, अष्टक या गायत्री के ८, ८ अक्षरों के तीन पाद पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में रहते हैं। येही विश्वरूप को बाँधने या निर्मित करने वाले पाश या ग्रन्थियाँ हैं। इसके तीन भाग ऋग्, यजु, साम रूप स्वर (दीर्घ स्वर सहित) ऊष्माण और व्यञ्जन प्रतीकी तत्त्व हैं। इसमें सोम और वृत्र रूप दो का मोह है। इनकी

कई प्रकार की शाखायें हैं। ये शाखायें पञ्चपर्वा विद्या की हैं। इसमें ५० तत्त्व रूप भेद हैं। इनमें से १०, १० के पाँच भाग हैं। कोई इन पाँच भागों को पञ्चपदी (पञ्चस्रोतोऽम्बु) कहता है, कोई पञ्चपशु (पञ्चयोनि), कोई पञ्चप्राणों की लहरें, कोई पञ्चबुद्धियाँ (अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्), कोई इन्हें पञ्चसागर (पञ्चावर्ता) कहता है, कोई पञ्चप्रकार के दुःखों का वेग या सृष्टिविकास का पारस्परिक संघर्ष। इस प्रकार इस पञ्चपर्वा विद्या की नाना सरणियों में प्रत्येक में ५० तत्त्व होते हैं, उन्हीं का अध्ययन करते हैं जैसे—

"तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैक मोहं।
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥"
(१-४, ५, श्वेता० उप०)

इसे कठ ने दूसरे प्रकार से वर्णित किया है, वह है रथरूप का वर्णन। अतः एक चक्रवाद भी पूरे-पूरे ५० तत्त्वों का षडष्टक (गायत्री के तीन-तीन पादों के आठ-आठ अक्षरों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध भेद) से ४८ तत्त्वों तथा दो सिरों को मिला कर कुल ५० तत्त्वों (शतार्धारं, पञ्चाशद्भेदां) का पूर्ण विवेचन देता है। पूर्व के सब चक्रों का अन्तर्भाव इसी एक चक्र में होता है। सब इसी के विभाग करते हैं। अतः सब मिलकर वैदिक दर्शन के तत्त्वों का पूरा निर्णय देते हैं, उक्त चक्र स्वतन्त्र नहीं सब इसी के अन्दर हैं।

———

अध्याय ५

छान्दस दर्शन

षडङ्गों से वैदिक-दर्शन के तत्त्वों का निर्णय

षडङ्ग वेदों के अङ्ग ही हैं। ये वेदों के विषयरूप ब्रह्मात्मा की विवेचना के विभिन्न अंग या शरीर हैं। शरीर के बिना आत्मा अबोध्य है, आत्मा के बिना शरीर या शरीर के अङ्ग निष्प्राण या निर्जीव शव।

१—षडङ्गों का महत्त्व इन षडङ्गों का वेदपुरुष के निम्न अङ्गों से तादात्म्य किया गया था।

"शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
"छन्दः पादौ च विज्ञेयं मुखं व्याकरणं स्मृतम्।"

फलतः सब षडङ्ग वैदिक दर्शन के विभिन्न अंग थे।

२—शिक्षा दर्शन से तत्त्व निर्णय

यहां पर तत्त्व निर्णय का क्रम चल रहा है। शिक्षा दर्शन ने वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों का निर्णय अपने ढंग से पृथक् रूप में किया था। इसने आठ ह्रस्व स्वर, आठ दीर्घ स्वर तथा आठ ऊष्माणों से दर्शन के पूर्वार्द्ध की रचना की थी, २५ वाँ ॐ कार था। उत्तरार्द्ध में पञ्च-वर्गीय व्यञ्जनों के विकास से इन २५ व्यञ्जनों को उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्वों का प्रतीक बनाया गया था। अन्तःस्थों का स्वरों में (य र ल व=इ ऋ लृ उ) और क्ष, त्र, ज्ञ का व्यञ्जनों में अन्तर्भाव किया गया था। हमारी वर्णमाला 'समाम्नाय' या वेद नाम से पुकारी जाती है। यह शिक्षादर्शन शब्दब्रह्म दर्शन है। अक्षर ब्रह्मदर्शन है। प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं प्रतीकाक्षरों में अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'सूत्रे मणिगण इव' ओतप्रोत है। ओंकार भी उसी दर्शन की देन है। यह पूर्वार्द्ध के स्वरोष्माणों का ऐक्य रूप त्रिपादामृतीय समाहार है जिसके खण्ड रूप अ+उ+म् को अग्नि, वायु, सूर्य से उद्भूत ऋग्यजुः साम का भी प्रतिनिधि माना गया है।

३—कल्प और व्याकरण

कल्प शास्त्रमें 'यज्ञ पुरुष' का विवेचन होता है, जितने तत्त्वों के पुरुष का यज्ञ हो, उतने पात्रों का प्रयोग किया जाता है (पुरुष व्याख्या देखें)। व्याकरण और निरुक्त अर्थस्फोट ज्ञान और वैदिक व्युत्पत्ति के मार्ग हैं। ज्योतिष और छन्दों के दर्शन का विवेचन आगे दिया जा रहा है।

समस्त वैदिक दर्शन छादस दर्शन में ढाला गया है जिसकी सहायता के बिना किसी तत्त्व का न तो स्थान निर्णीत हो सकता है न उसका वास्तविक मूल्याङ्कन या विवचन किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व या देवता की व्याख्या सबसे पहिले उसके स्थान और परिस्थिति के संदर्भ की प्राथमिक आवश्यकता रखती है। यह बिना छान्दस दर्शन के ज्ञान के, सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि वैदिकों ने तत्त्वों के नामों को तथा प्रत्येक सरणि की व्याख्या के तत्त्वों के नामों को भी छान्दस दर्शन के छन्दों के नाम से पुकारा है। दृष्टान्त के लिये 'गायत्री ब्रह्म' है। यह षडष्टक पद्धति है जिसके पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों को गायत्री के त्रिपादों के अनुसार त्रिपाद् पुरुष कहा जाता है। लोग इस त्रिपाद् का तीन चौथाई सा अर्थ लगाये हैं। सायणादि इस त्रिपाद् ब्रह्म को विराट् कहते हैं। विराट् ब्रह्म व्याख्या की सरणि ही अलग हैं। वह विराट् छन्द के अक्षरों से की जाती है। विराट् छन्द दस-दस अक्षर के चार पादों के ४० अक्षरों का होता है और यही ४० अक्षररूप ४० तत्त्वों के ब्रह्म का नाम विराट् ब्रह्म है। जगती ब्रह्म ४८ अक्षररूप ४८ तत्त्वों का १२-१२ अक्षर रूप १२-१२ तत्त्वों के चार पादों का अखिल ब्रह्माण्ड या पूर्ण दर्शन का प्रतीक होता है। इनमें से प्रत्येक की विवेचना स्वतन्त्र रूप से की जाती है। ये एक दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं। गायत्री ब्रह्म या त्रिपाद् ब्रह्म (२४ तत्त्वों का) अलग है, विराट् ब्रह्म ४० तत्त्वों का पृथक् है, जगती ब्रह्म ४८ तत्त्वों का इन दोनों से नितांत भिन्न है। लोग इस बात को न समझ सकने के कारण त्रिपाद् माने विराट्, विराट् माने जगती या अखिल ब्रह्माण्ड समझते हुए वैदिक विज्ञान और दर्शन दोनों पर आघात करते हैं।

४—छान्दसदर्शन

छान्दस दर्शन को संहिता-ब्राह्मण और उपनिषद् युग में केवल अनूचान और सुश्रुवांस से ब्राह्मण जानते थे। संहिता भाग में उक्त परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि "वह कौन धीर विद्वान् है जो छान्दस दर्शन के योग या योग दर्शन या प्रयोग को जानता है? कौन विद्वान् वेदों की वाणी का प्रतिपादन इस छान्दस दर्शन के अनुरूप कर सकता है? वह कौन अष्टम (चक्र रूप) ऋत्विज (तत्त्व) है जिसको 'शूर' (महावीर, सर्वशक्तिमान्) नाम से पुकारा जाता है? कौन विद्वान् इस प्रकार इन्द्र देवता या तत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकता है? जैसे—

५—वैदिककाल में छान्द दर्शन की स्थिति और महिमा

"कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्॥"
(ऋ०वे० १०-११४-९)

वैदिकों ने जिस तत्त्व को सुपर्ण और श्येन नाम से पुकारा है, जिसे पुराणों

में गरुड़ कहा जाता है और जिसको देवताओं या तत्त्वों के लिए अमृत रूप सोम लानेवाला बतलाया गया है वह 'गायत्री' (छन्द) रूप सुपर्ण ही है (गायत्री ब्रह्म देखें)। अतः (ऋ०वे० १०-११४-५) लिखता है कि छन्द तो एक ही गायत्री (सुपर्ण) छन्द है, उसी से नाना छन्दों की रचना हुई,* जैसे—

६—सुपर्ण छान्दस दर्शन का तत्त्व है।

"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥"

इसका समर्थन ऐ०ब्रा० ३-२-१२ तथा श०प०ब्रा० १-६-४-१० में विस्तार पूर्वक मिलता है। छान्दस दर्शन के मुख्य छन्द ३६ हैं जिनमें चार पाद हैं, इनमें से १२ छन्द सोम के ग्रहों का वर्णन करते हैं। ये दर्शनरथ के चक्र हैं जिनके ऋग् और साम नामक आगे पीछे के विभाजन हैं जिन्हें दर्शन का पूर्वार्द्ध और परार्द्ध कहते हैं जैसे—

"षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति॥"
(ऋ०वे० १०-११४-६)।

उक्त ३६ छन्दों के अतिरिक्त १४ और छन्द हैं जिनका प्रयोग दर्शन के प्रत्येक तत्त्व के रूप में भी किया जाता है फिर प्रत्येक तत्त्व को मुख्य सात छन्द रूप वाणी में विभक्त करते हैं, यह सप्तचक्री विवेचन में किया जाता है। ऋचाकार कहते हैं कि इनके तीर्थ रूप ज्ञान को प्राप्त करते हुए उन रहस्यों को कौन खोज सकता है ? उन रहस्यों ही में अमृत भरा है। यही अमृत पीने या पाने का मार्ग है, अमृत तो ये ही छान्दस सुपर्ण लाते हैं !!! जैसे—

"चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त।
आप्रानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य॥"
(ऋ०वे० १०-११४-७)।

वैदिक दर्शन में कुल ५० तत्त्व हैं इनमें से ३६ पहिले दिये गये हैं यहाँ पर और प्रत्येक तत्त्व का वर्णन छन्दों में है। प्रत्येक तत्त्व नाना स्रोतों या विकासों का मूल कारण है, यहाँ तक कि प्रत्येक तत्त्व से हजारों विकास होने लगते हैं। अतः विकासों की संख्या अनन्त हो जाती है, उतनी हो जाती है जितना यह दृश्य ब्रह्माण्ड है, जितना बड़ा ब्रह्म है और उतनी ही बड़ी वाग् है। अतः ये सब विकास वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म के ही कहलाते हैं जैसे—

---

*छन्द की व्युत्पत्ति 'छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेनेति वा छन्दः' है। चन्द धातु के प्रथमाक्षर का छ करने से (चन्देराहेश्चन्द्रः पा० ४, २, १८) या छन्द धातु से बनता है। मन्त्रा मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोम स्तवनात् (यास्क ७-१२) भी दिया है, पर अर्थ तो यह है 'छन्दौ पक्षौ यस्य स्त इति छन्दः सुपर्णः पक्षी।

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था (५×१०=५० उक्था मूलस्रोतादि)
यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं
यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥" (ऋ०वे० १०-११४-८)

छान्दस दर्शन के अनुसार प्रत्येक देवता का छन्द और ऋषि पृथक्-पृथक् होता है। कर्मकाण्ड में प्रत्येक देवता के पूजापाठ, यज्ञ में प्रत्येक मन्त्र उसके छन्द और ऋषि के नाम सहित दिया जाता है। उसका तात्पर्य भी उस देवता, छन्द और ऋषि की तात्विक स्थिति (स्थान) निर्दिष्ट करने से है। छन्द भी तात्त्विक हैं, ऋषि भी तात्विक हैं। ये दर्शन के विभिन्न अङ्गों के निश्चित स्थान में निर्दिष्ट किये गये हैं। बड़ी भारी जादूगरी तो यह है कि छन्द या मन्त्र का रचयिता ऋषि और तात्त्विक ऋषि भी प्रायः एक ही हैं, कहीं-कहीं भेद मिलेगा। अत्रि मुनि का ऋषिरूप स्थान और चक्षुरूप सूर्य का स्थान एक ही २४ वाँ है। उस "ऋ०वे० ५-४०" सूक्त का ऋषि भी अत्रि ही हैं। पर सूर्य के सूक्त के रचयिता दूसरे ऋषि भी हैं, वे अङ्गिरस हैं (ऋ०वे० १-११५) पर अङ्गिरस का स्थान भी वहीं पड़ता है। इसी प्रकार सविता के वर्णन वाला गायत्री मंत्र भी विश्वामित्र ऋषि का है, रचयिता भी विश्वामित्र ही हैं, सविता और विश्वामित्र का स्थान लगभग एक ही है (ऋ०वे० ३-६२-१०) इत्यादि। इनका तादात्म्य सप्तचक्री दर्शन में सप्तर्षियों और सप्तवाणी या सप्तमुख्य छन्दों के अनुसार किया जाता है। (सप्तचक्रीवाद देखें)। इस बात का प्रमाण ऋ०वे० ने दो अन्य स्थलों में निम्न मन्त्रों से दिया है।

७—छन्द और ऋषि तथा इनके देवता

१—"यद् गायत्रे अधि गायत्र (पुरुष) माहितं
त्रैष्टुभाद् वा त्रैष्टुभं (इन्द्र रुद्र सर्वादेवता ३३) निरतक्षत।
यद्वाजगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्तवाणीः॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥
(ऋ०वे० १-१६४-२३, २४, २५)।

२—अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-४, ५)।

इनका अर्थ पुरुष सूक्त के 'छन्दाꣳसि यज्ञिरे' पद के भाष्य में दिया जायगा। अतः इस सूक्त में इन ऋषियों का स्थान छन्दों और उनके तत्त्वों के निर्दिष्ट स्थान

(प्रमा) के साथ होने की घोषणा निम्न मंत्र में की गई है, ये ऋषि क्रम से उत्तरोत्तर वैसे ही विकास पाते गये जैसे पूर्व-पूर्व के क्रम से पाते चले आये जैसे—

"सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥"
(ऋ०वे० १०-१३०-७)

यह मन्त्र वेदों के मन्त्र रचयिता ऋषियों की विचारधारा तथा कृतियों पर भी ध्वनि से प्रकाश डालता है।

प्रत्येक छन्द का प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व है, एक-एक देवता है, उसी के अनुसार या विवक्षा या देवता के अनुसार छन्द और ऋषि का प्रयोग या नामोच्चारण किया जाता है कि हम अमुक तत्त्व रूप देवता का

८—छन्दाक्षरों से तत्त्व दर्शन

आह्वान कर रहे हैं जैसे ऐ०ब्रा० ३-२-२२ में स्पष्ट उद्धरण दिया है—

"त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च; देवता अक्षरभाजः करोति। अक्षरमक्षरमेव तद्देवताः। अनुप्रपिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति यं कामयेतानायतनवान्स्यादित्यविराजास्य यजेद्गायत्र्या वा त्रिष्टुभावान्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति ॥"* इन तत्त्व निर्देशक छन्दों में मुख्य सात या आठ हैं। गायत्री, अनुष्टुब्, उष्णिक, त्रिष्टुब्; जगती, विराट् बृहती और पंक्ति हैं जिनमें क्रम से निम्नलिखित तत्त्वरुप अक्षर या देवता निवास करते हैं (२४, ३२, २८, ३३, ४८, ४०, ३६, ५१) इनका विवेचन शौनक की अनुक्रमणी (१-१) में इस प्रकार दिया है "छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् बृहती पंक्ति त्रिष्टुब्जगती शक्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यतियष्टि धृत्यतिधृतयः कृतिप्रकृत्या कृतिविकृति संकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराणि नाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ इत्यादि ॥"

गायत्री २४ अक्षरों की होती है। तदनन्तर दिये क्रम के छन्दों में क्रमशः ४, ४ अक्षर अधिक होते हैं जैसे गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुब् ३२, बृहती ३६, विराट् ४०, त्रिष्टुब् ४४, जगती ४८। इसी प्रकार अन्य ४, ४ अधिक अक्षरों के होते हैं अन्तिम उत्कृति १०४ अक्षरों की होती हैं। इनमें से प्रत्येक छन्द के अक्षरों में एक कम करने से उसे निचृत् और अधिक करने से भूरिज कहते हैं जैसे २३ अक्षर की निचृत् गायत्री, २५ अक्षर की भूरिज्गायत्री और दो-दो कम करके विराट् और अधिक होने से स्वराट् जैसे २२ की विराट् गायत्री २६ की स्वराट्

*जै०ब्रा० (१-९४) इसकी पुष्टि में लिखता है "छान्दसैवैनान् रूपिणा समावद्भाजः करोति।" संयजमानानां प्रतिपदं कुर्यात्।"

गायत्री। विराट् स्वयं ४० की है† §जिस देवता की विवक्षा होती है तब उसी के अनुरूप छन्द या पाद का निर्देश किया जाता है। कभी-कभी छन्दों के अक्षरों से दूसरे प्रकार से भी गणना या निर्धारण किया जाता है, जैसे—"अग्निरेकाक्षरेण प्राणदः, अश्विनौ द्व्यक्षरेण, विष्णुस्त्र्यक्षरेण, सोमश्चतुरक्षरेण, पूषापञ्चाक्षरेण, सविता षडक्षरेण, मरुतः सप्ताक्षरेण, बृहस्पतिरष्टाक्षरेण, मित्रोनवाक्षरेण, वरुणोदशाक्षरेण, इन्द्र एकादशाक्षरेण विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण॥" (श० प० ब्रा० तथा उपाकर्म पद्धति, ऋषितर्पण)। इनको उलटे क्रम से जगती, त्रिष्टुप्, विराट्, बृहती, गायत्री, उष्णिक् (सप्ताक्षर तक) छन्दों के अक्षर समझिये। पञ्चाक्षरी विराट् का अंग है, चतुरक्षरी अनुष्टुप् का, त्र्यक्षरी बृहती का, द्व्यक्षरी समाक्षरी छन्दों का, एकाक्षरी विषमाक्षरी या सब छन्दों का प्रतिनिधि है। ये सब छन्दों के अक्षरों के अनुसार ही पूरे-पूरे तत्त्वों का निर्देश करते हैं, विवक्षा में पाद या पाद के भागों का भी। कहीं कहीं दो या तीन छन्दों के एक एक पाद को जोड़कर भी तत्त्व निर्धारण किया जाता है, जैसे वसुरुद्रादित्यों की समष्टि में गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती के प्रथम चरणों (८+११+१२=३१+प्रजापति वषट्कार या इन्द्र=३३) से या त्रिष्टुप् के तीन चरणों से (११=३३) या अनुष्टुप् (३२+इन्द्र या वषट्कार) से ३३ देवताओं की गिनती की जाती है।

९—छन्द, पशु क्यों कहलाते हैं।

अतः इन सप्तवाणी रूप सप्त छन्दों या अन्य सभी छन्दों को तत्त्व रूप देवताओं का भार या बोझा ढोने वाला पशु कहा गया है। क्योंकि ये देवताओं को तृप्ति या स्थान नियुक्ति कर उन्हें सन्तुष्ट कर देते हैं, जैसा कि श० प० ब्रा० (४-३-५-१) ने लिखा है।

"पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं (नियतस्थानं) वहन्ति। तद्यत्र छन्दांसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन्॥" यही भाव ऐ० ब्रा० (३-५-४७) ने "छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति" वाक्य से दिया है।

१०—देवतानुसार छन्दत्रों का प्रयोग

जो छन्द जिस देवता के लिए नियत है, उस छन्द को उस देवता की पत्नी और उस देवता को उस छन्द का पति भी कहा जाता है। ऋ० वे० १०-१३०-४,५ के पूर्वोद्धृत उद्धरणों में छन्दों और देवताओं का यह सम्बन्ध भी प्रतिध्वनित किया गया है। गायत्री का पति अग्नि या पुरुष या क्रतु या यज्ञ है "गायत्रो वै पुरुषः" (ऐ० ब्रा० ४-१-३) उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का

†जैसे "चत्वारिंशत्तमोऽयं विराट्" इत्यादि।

§इस लेखक ने 'दशाक्षरा विराट्' छन्द का वर्णन नहीं दिया है वह अनुचित है, गलत है।

बृहस्पति, विराट् का मित्रावरुण और विराट् पुरुष, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वेदेवता इत्यादि (ऐ० ब्रा० ३-२-१६) में भी दिया है; पुरुष सूक्त भी देखें 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'। इन छन्दों से दर्शन के तत्त्वों का निर्देश करने की शैली ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस प्रकार प्राप्त होती है, "चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य, गायत्री पूर्वार्द्ध एष यज्ञस्य तस्माश्चतुर्विंशति विक्रमा भवन्त्येषा मात्रा वेदे ॥" (श० प० ब्रा० ३-४-१-१०) ।* प्रत्येक अक्षर, एक विक्रम या पद या पग है। अष्टाक्षरी पाद तो पूर्वार्द्ध नाम्नी गायत्री में तीन होते हैं, जिन्हें विष्णु के 'त्रेधा निदधे पदम्' कहते हैं, पर प्रत्येक अक्षर भी एक एक पग या विक्रम या क्रम है। इतने ही उत्तरार्द्ध में भी हैं "उत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे हैके" (श० प० ब्रा० १-५-२-३९) तथा

"अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्द्ध एष यज्ञस्य ॥"
(श० प० ब्रा० ३-५-३-२०)

यज्ञ नाम पुरुष या दर्शन का पूर्वार्द्ध है। पूर्णयज्ञ तो ४८ तत्त्वों का होता है, पर प्रत्येक तत्त्व भी एक-एक यज्ञ है। इसी प्रकार जगती के बारे में भी एक उल्लेख लीजिए।

"साष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीयं वै जगत्यस्यां हीदं सर्वं जगदियमुवाऽअग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति ॥" (श० प० ब्रा० ६-२-१-३२)।

४८ अक्षरों की जगती से अखिल ब्रह्माण्ड का मूल बीज रूप महापरमाणु बनता है। उसके निर्माण में ४८ तत्त्व रूप अक्षर या सीढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है। जब जिस तत्त्व की विवक्षा होती है, वहां जगती के उतने अक्षर के तत्त्व का विवेचन समझना चाहिए। पूरे ४८ तत्त्वों में जगती ही कहलायेगी। यह जगती सरणि की चर्चा है। इसी प्रकार विराट् आदि छन्दोरूपदर्शन की अपनी पृथक् सरणि है, जिस व्याख्या को 'विराट् पुरुष' व्याख्या कहते हैं (पुरुष सूक्त की 'ततो विराडजायत' ऋचा देखें)। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख प्रत्येक पाद में कई बार आते हैं, उन सबका तात्पर्य वैदिक दर्शन के उस तत्त्व के स्थान और मान निर्धारण करने तथा छान्दस दर्शन की व्यापकता दिखलाने से है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन छन्दों की महिमा इस प्रकार गाई गई है:—अति छन्द छदि छन्द है, वह सब छन्दों का छादन करती है, यह अन्तरिक्ष कहलाती है (यजु १५-५)। छन्द अन्न हैं (म २-६-१३)। प्रजापति के लिए छादना करने वाले छन्द कहलाते हैं (२१-१-८-५-२-१-३-१९)। छन्दों से सोम का सवन किया, यही इनका छन्दत्व है (तै. २-२-८-७)। छन्द एक अक्षरों से नहीं बनते (ऐ. १-६)। छन्द सात हैं (श प. ९-५-२-८)। छन्दों का नाम हारियोजन है (शप० ४-४-३-२)। छन्द ही व्रज और गो स्थान हैं (तै. ३-२-९-३)। छन्द ही अश्व

*चतुर्विंशम् महाव्रतं (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)

वाजिन् तथा पशु हैं (तै.१-६-३-९, ऐ. ४-२१) छन्द ही रस हैं, इन्द्रिय, वीर्य और प्राण हैं (श० प० ७-३-१-३७); ता० म० ६-९-२६; कौ० ७-९; ११-८ छन्द ही देवता हैं, (तांड्य ६-६-६), छन्द ही देवियां हैं (श० प० ९-४-१-३९)। छन्द ही साध्या देवता हैं (ऐ०१-१-६), छन्द ही प्रातर्यापण देवता हैं (श० प० ३-९-३-८), छन्द ही वयोनाद्या देवता हैं (यजु १४-७), छन्द ही ग्राम हैं (श० प० ६-५-४-७), छन्दों से देवता स्वर्ग जाते हैं (श० प० ६-५-४-७, ताण्ड ७-४-२)। छन्द प्रजापति के अंग हैं (ऐ० २-१८)। एकाक्षर देवताओं का अवम छन्द है, सप्ताक्षर परम एकाक्षर अन्न है, असुरों का पञ्चदशाक्षर है (ताण्ड्य १२-१३-२७)। छन्द के समिद्ध होने से देवताओं का यज्ञ किया जा सकता है (श० प० १-३-४-६)। छन्द ही हिरण्यमय हैं (श० प० ६-३-१-४१,४२)। छन्द ही लोम हैं (श० प० ६-४-१-६)। बृहती छन्द, स्वराट् है (ताण्ड्य १०-३-८), स्वाराज्य भी यही है, श्री भी यही है (ताड्य २४-६-३; ऐ १-५)। छन्द ही सावित्री है (गो० पू० १-३३)। अनुष्टुप्, गायत्री, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, जगती ये पांच रात्रि छन्द हैं (कौ० ३०-११)। छन्द ही हिरण्य और अमृत हैं (श० प० ६-३-१-४२)।

छन्दानुसार तत्त्व का नाम परिवर्तन

छन्द के अनुसार देवता या तत्त्व के एक ही स्थान का नाम बदल जाता है। जैसे विराट् छन्द से सोम एक दैवत्य का स्थान तृतीय धाम पड़ता है या तृतीय पाद या दशक या पञ्चक पड़ता है तो अनुष्टुप् छन्द के अनुसार इसका स्थान चतुर्थ धाम या चतुर्थ पाद या अष्टक में पड़ता है। यह ऋ० वे० ९-९६-१८,१९ दो मन्त्रों में स्वयं उल्लिखित है, जैसे—

"ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥"
"चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥"

यह ऐसा महा महत्त्व है इन वैदिक छन्दों का।

११—छन्दाक्षरों की उत्पत्ति की कथायें और छन्दों के पादों से ब्रह्म विकास का वर्णन

इन छन्दों के अक्षर रूप की उत्पत्ति की कथायें ऐ० ब्रा० (४-४-२८) ने इस प्रकार दे रखी है। पहिले बृहत् और रथन्तर थे। उनसे वैरूप, उससे विराट् उससे शाकर उससे गायत्री, फिर क्रम से अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् जगती, पंक्ति, अतिछन्द, इत्यादि बने। परन्तु यह गायत्री का सौभाग्य है कि वह कनिष्ट होते हुए भी छन्दों में सर्व प्रथम मानी जाती है, क्योंकि वह श्येन बन कर सोमामृत को देवताओं के लिए सर्व प्रथम लाने में समर्थ हुई। यह गायत्री सरणि ही है जिससे वैदिक दर्शन को सर्व प्रिय तथा सर्व संगठन कर्त्री होने का सौभाग्य मिला कि यह वैदिक दर्शन को दो भागों को बाँटने तथा पूर्वार्द्ध समाप्त होते ही सोम रूप भौतिकात्मा को

उदित होने का तत्काल अवसर देती है। यह इसकी अष्टाक्षरी जादूगरी की महत्ता है। अन्य छन्दों से वैसे चोखे विभाजन भी नहीं बन सकते, जैसे गायत्री के पादों से या अक्षरों से। अतः लिखा है—

"तद्वै कनिष्ठं छन्दः सद् गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते तदु तद्वीर्येणैव यच्छ्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् ।।" (श० प० ब्रा० १-६-४-१०)

गायत्री छन्द का वैदिक दर्शन से एक प्रकार से तादात्म्य सा है। समस्त पादवाद जहां कहीं भी उल्लिखित हैं उन सबका आधार इसी गायत्री के पाद हैं। समस्त त्रिचक्रवाद इसी गायत्री के तीन पादों से सम्बन्ध रखता है। चतुष्पाद् का सब विवेचन भी इसी गायत्री के दिखलाये चत्वारिपद् के चतुर्थ पदा या अनुष्टुप् गायत्री के अनुसार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि गायत्री वैदिक दर्शन का अभिन्न अंग है। अतः ब्रह्म का नाम भी एक पाद्, त्रिपाद्, चतुष्पाद् आदि इसी गायत्री के पादों से पड़ गया है, जैसे—

"एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पंक्तीरुपतिष्ठमानः ।।"

"समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सं मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ।।"
(ऋ० वे० १०-११७-८,९)।

समस्त वैदिक दर्शन अक्षर ब्रह्म की विवेचना करता है। यह कूटस्थ, अव्यक्त, त्रिपाद् पुरुष, यज्ञ, आत्मा आदि कहलाता है। आदि ब्रह्म अपाद्, अन्य, अव्यक्त, आदि नामों से पुकारा जाता है, जैसे—

"स यह्व्योऽवनीर्गोष्वर्वाऽऽजुहोति प्रधन्यासु सस्रिः ।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ।।"
(ऋ० वे० १०-९९-४)

"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्य ऋतं पिपर्त्यनृतं नि तारीत् ।।"
(ऋ० वे० १-१५२-३)

अथर्व वेद ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"अपादग्रे समभवत्सो अग्रे स्वराभरत् ।
चतुष्पाद्भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ।।"

पाद का ही नाम पद नहीं है। और पदों की संख्या 'सात' ही दी गई है और पाद के अनुसार कोई भी छन्द एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, पञ्चपदी, षट्पदी या सप्तपदी हो सकता है, जैसे गायत्री के बारे में बृहदारण्यक उप० ने लिखा है "तस्या उपस्थानं गायत्री एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यसि नहि पद्यसे

तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदो मा प्रापद (२-१४-३)।" और स्वयं ऋग्वेद ने सप्तपदी का उल्लेख किया है "ऋताय सप्त दधिषे पदानि" (ऋ० वे० १०-८-४)। ये पद पाद नहीं हैं सप्तक हैं। दर्शन के ऋतुमय विभागों का विवेचन देते हैं, जैसे "पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त" (ऋ० वे० १०-५५-३); "सप्ततंवो हि सप्त" (अथर्व ८-५-१-२०)। इन सप्त पदों में प्रत्येक में सात-सात तत्त्व भी माने गये हैं। अतः सप्त शब्द की वीप्सा दी गई है, जो ७×७=४९+ब्रह्म=५० कुल तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। यही सप्तपदी भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं मूलक सात लोक हैं। अष्टम लोक ब्रह्म का अति स्थान है। श० प० ब्रा० (३-२-४) में इसी सप्तपदी का वर्णन है।

अध्याय ६

ज्योतिष और संवत्सर ब्रह्म द्वारा तत्त्व निर्णय

शुक्लयजुर्वेद ने अध्याय १८ में २४ वें और २५ वें दो बड़े मन्त्रों में दो प्रकार की गिनतियों की प्राप्ति की कामना की है। प्रथम मन्त्र में विषमाङ्क एक से ३३ तक गिनाये हैं, द्वितीय में समाङ्क ४८ तक गिनाये हैं।

अंक निर्देश द्वारा तत्त्व निर्णय

अङ्कों की संख्यायें तो वैदिक ऋषि १००,००,००,००,००,००,-००,००,००,०० तक गिन लेते थे। तब यहां इतनों ही का उल्लेख क्यों है? बात यह है कुल देवता ३३ हैं उनको 'एका च मे तिस्रश्च मे' मन्त्र द्वारा स्त्री लिंग में कहा है और कुल तत्त्व रूप देवता ४८ हैं। अतः उन्हें "चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे" इत्यादि द्वितीय मंत्र में चतुरक्षरी विभाजन से छन्दों के भाग द्वारा वर्णित किया है। ये दोनों अङ्क संख्यायें निश्चय पूर्वक ३३ देवताओं तथा ४८ छान्दसाक्षरानुरूप वैदिक दर्शन के ४८ तत्त्वों की ही प्राप्ति की कामना करते हैं। इन अङ्कनिर्देशों से संकेतित तत्त्वसंख्याओं का विवेचन एक-एक करके देते हुए श०प०ब्रा० (८-४-३-२ से १९ तक पूरे) ने इन संख्याओं को ३३ देवतावाची और छान्दस दर्शन के ४८ तत्त्ववाची स्पष्टतया ठहराते हुए प्रत्येक अङ्क से निर्दिष्ट देवता की पूरी-पूरी व्याख्या दे दी है। इसके उद्धरणों को 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में पूरा-पूरा उद्धृत कर दिया गया है। अन्त में पुनः स्पष्ट लिखा है कि विषम संख्या ३३ देवताओं की संख्या की अन्तिम सीमा है और सम संख्याओं में छान्दस दर्शन के तत्त्वों की अन्तिम संख्या ४८ है, जैसे—

"अन्तो वै त्रयस्त्रिंशोऽयुजां स्तोमाना-
मन्ततऽएव तद्देवाः स्वर्गंलोकमायन्।
अन्तो वा अष्टाचत्वारिंशो युग्मतां स्तोमाना-
मन्तत एव तच्छन्दांसि स्वर्गं लोकमायन्॥"
(श०प०ब्रा० ९-३-३-३ और ९-३-३-५)।

ऐ०ब्रा० ४-२-१२ में अग्निष्टोम को अष्टाचत्वारिंशत् कहता है, जैसे "अग्निष्टोम स्यादष्टाचत्वांरिशत्" यह उक्त कथन की पुष्टि है। इन विषम सम संख्याओं से संकेतित वैदिक दर्शन के तत्त्वों का पुनः स्पष्ट विश्लेषण देते हुए लिखा है कि ४८ तत्त्वों की संख्या के दो पक्ष या दो भाग हैं, प्रत्येक भाग में २४, २४ तत्त्व (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के) हैं। पचीसवां तत्त्व 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' है, २१ वाँ पुच्छ है, (४५ वाँ तत्त्व) और ३३ संख्या का वश या वशा महदुक्थ है, इत्यादि जैसे–

"यान्यष्टा चत्वारिंशत्तौ चतुर्विंशौ पक्षौ अथ, यानि पञ्चविंशतिः स पञ्चविंशः आत्मा अथ यान्येक विंशति स्तदेकविंशम् पुच्छमथ, यानि त्रयस्त्रिंशत्स वशो········॥"
(श०प०ब्रा० ९-३-४-१९)

अन्त में लिखा है 'द्वे प्राणे द्वे शिरे'। मंत्र में 'दो' अंक का निर्देश नहीं हैं। ये वही 'द्वे शीर्ष्णे' हैं जो 'चत्वारि शृङ्गाः' आदि ऋचा में लिखे हैं, ये प्रथम और २५ वें तत्त्वरूप शिर हैं।

शुक्लयजुर्वेद (१४-२३) ने पुनः कई प्रसिद्ध तत्त्वों का नाम उसकी क्रमागत तत्त्व संख्या के साथ देकर पूर्वोक्त कथन पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। इसमें लिखा है कि १५ वें तत्त्व का नाम 'भान्तः' है, १७ वें का नाम 'व्योमा' है, इक्कीसवें का नाम 'धरुणः' है, अठ्ठारहवें का नाम 'प्रतूर्तिः' है, उन्नीसवें का नाम 'तपः' है, बीसवें का नाम 'अभीवर्तः' है, बाइसवें का नाम 'वर्चः' है, तेईसवें का नाम 'संभरण' है, चौबीसवें का नाम 'योनिः' है, पच्चीसवें का नाम 'गर्भाः' है, सत्ताइसवें का नाम 'ओजाः' है, इकतीसवें का नाम 'क्रतुः' है; तेंतीसवें का नाम 'प्रतिष्ठा' है, चौतीसवें का नाम 'ब्रध्नस्य विष्टप' है, छत्तीसवें का नाम 'नाकः' है और अड़चालीसवें का नाम 'विवर्तः' है (श०प०ब्रा० ८-४-१से १० तक) जैसे "भान्तः पञ्चदशः व्योमा सप्तदशः, धरुण एकविंशः, प्रतूर्तिरष्टादशः, तपो नवदशः, अभीवर्तः सविंशः, वर्चोद्वाविंशः, सम्भरणस्त्रयोविंशः, ब्रध्नस्य विष्टपं चतुरस्त्रिंशः, नाकः षट्त्रिंशः, 'विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशत् ॥'

२—कई प्रसिद्ध तत्त्वों का स्थानीय नाम

इस ४८ वें विवर्त नामक तत्त्व से पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड का विवर्त प्रारम्भ होता है। वैसे विवर्त का आरम्भ २५ वें तत्त्व उषा से आरम्भ हो जाता है जैसे—

"कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव ॥"
(ऋ०व० १-१८५-१)

"आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन ॥"
(ऋ०वे० १०-५५-३)

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' और 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति……… सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋ०वे० १-१६४-३९-४१) की ऋचाओं में दर्शन के दो भागों को अक्षर और क्षर ब्रह्म कहने के स्थान में 'अक्षरे' (अक्षरञ्च क्षरञ्च अक्षरे) कहा है और इन्हीं दो भागों को (ऋचां च यजुषां अक्षराणां समाहार ऋग् तयोः) 'ऋचोः' कहा है। इसका विवेचन 'ऋचो अक्षरे' नामक शीर्षक में विस्तार पूर्वक दिया गया है। प्रत्येक भाग में ४३२००००००० अक्षर हैं; दोनों भागों को मिलाकर कुल ८६४००००००० अक्षर क्षर हैं। अथर्व, व्रात्य काण्ड में इनका वर्णन आसन्दी के रूप में दिया है। ये अक्षर अक्ष रूप और अक्षर रूप दोनों प्रकार के हैं। दोनों का तात्पर्य सूक्ष्मातितम सूक्ष्म बीजरूप ध्वनि या शब्द

३—छन्दाक्षरों द्वारा अक्षरब्रह्म व्याख्या

ब्रह्म के ऐक्य या ब्रात्य से है। अक्षमालोपनिषद् ने १४ स्वर, ११ ऊष्माण और २५ वर्गीय व्यञ्जन प्रतीकी अक्ष रूप या अक्षर रूप ध्वनियों या शब्द ब्रह्म विकास परम्पराओं को देकर वैदिक दर्शन के शब्दब्रह्म विकास की ५० तत्त्व रूप ५० सीढ़ियों का स्पष्ट विवेचन दे दिया है। हमारा लौकिक वर्णसमाम्नाय भी इन्हीं वैज्ञानिक या दार्शनिक ध्वनियों के आधार पर ढला है। पर दोनों की यथार्थता में आकाश-पाताल का अन्तर है। वैदिक समाम्नाय तत्त्व प्रतीकी है, लौकिक वैकारिक ध्वनिप्रतीकी है। वैदिक दर्शन के अक्षर समाम्नाय के पूर्वार्द्ध के तीन पाद रूप २४ तत्त्वों से क्रम से अ इ उ (ह्रस्वदीर्घ ऊष्माण) प्रतीकी तत्त्वों के समाहार को ओँकार और प्रत्येक पाद को क्रम से ऋग्, यजु, साम कहते हैं। आसन्दी से पूर्वार्द्ध ऋग् (स्वर ऊष्माण) हैं तो उत्तरार्द्ध यजु अन्तस्थादि पञ्चवर्ग)। ये ध्वनियाँ अनिरुक्त या अस्फुट हैं। अतः नित्य हैं, पर लौकिक ध्वनियाँ वैकारिक या अस्फुट या स्फोट रूप ध्वनियाँ हैं, अतः नश्वर हैं। वैदिक ध्वनियों का विवेचन पद या पाद या सप्तवाद से भी किया जाता है। अक्षर ब्रह्म के अक्षरों की गिनती की कई अन्य शैलियाँ हैं जिन्हें आगे संवत्सर ब्रह्म के वर्णनावसर पर दिया जा रहा है।

४—संवत्सर ब्रह्म और अहोरात्र की नाना सरणियाँ।

वैदिक विश्वदर्शन में संवत्सर ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म का काल रूप में वर्णन करता है। परन्तु विद्वान् लोग इस संवत्सर नाम को लौकिक वर्ष समझ कर वेदों में वर्णित संवत्सर ब्रह्मरूप अक्षरब्रह्म को हम आप लोगों के दिन-मास वाला वर्ष ही समझते चले आ रहे हैं। वैदिकों का यह संवत्सर ब्रह्मवाद दर्शन का एक बृहत्प्रकाश स्तम्भ है। यह संवत्सर ब्रह्म कई प्रकार से वर्णित है। यह वर्णना शाखान्तर या प्रकारान्तर से है। संवत्सर ब्रह्म की मूल भित्ति वैदिक अहोरात्रवाद है। यह अहोरात्रवाद चार प्रकार का है, ब्राह्म, दैव, पैत्र और मानुष। ये चारों तत्त्व तात्त्विक हैं। ब्राह्म अहोरात्र की व्याख्या युगों और वर्षों से होती है, दैव अहोरात्र एक वर्ष का होता है, पितृ अहोरात्र दो पक्षों या अयनों के अर्द्ध मासों का होता है, मानुष अहोरात्र एक दिन और एक रात का होता है। इन चारों प्रकारों में दर्शन के पूरे पचास तत्त्वों को वर्षों, मासों, अयनों और दिनों में विभक्त किया जाता है। इनका विशद वर्णन अन्यत्र दिया जायगा। इनके अतिरिक्त ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म हैं, जिसके अनुसार पञ्चपर्वा विद्या में तत्त्वों की १०, १० की ५ ऋतुयें, षडष्टक में छह ऋतुयें तथा सप्तकों में सात ऋतुयें मानी जाती है। नक्षत्रवादी संवत्सर ब्रह्म भी पूर्वार्द्धपरार्द्ध में २७-२७ नक्षत्रों को क्रम से ५० तत्त्वों में बिठलाता है। इन सब में मध्यवर्ती तत्त्व विषुवद्रेखा या उषा या सूर्य या अश्विनी या सोम माने जाते हैं।

'संवत्सर' शब्द की व्याख्या 'यो हैव मेतत् संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा माययात्सरति' (श०प०ब्रा० ११-१-६-१२) है। 'सर्वं अत्सरत्' माने सब

देवताओं की सृष्टि करने वाला है। संवृत् नाम भी संवत्सर का है, ब्रह्म का नाम भी संवृत् है जैसे—

५—संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति

"त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा
विवृदसि विवृते त्वा संवृदसि संवृते त्वा।"

(यजु० १५-९)।

अतः जो संवृत् रुप होते हुए भी सरण प्रसरण करता या प्रसारण या विकास पाता है वही संवत्सर है 'संवृत्सरतीति संवत्सरः'। संवत्सर का जो नाम वर्ष है वह उसके कृत्तिका या वृषराशि से प्रारम्भ होने के कारण पड़ा है, वृष ही वर्ष है, वृषा है, वृषभः है (वृषभो रोरवीति—संवत्सर रुप देवो रोरवीति)। यही ऋषि रूप में (प्राणाः ऋषयः) 'ऋषभः' भी कहलाता है ऋषि भी, 'ऋषीन्प्राणान् भरतीति ऋषभः'। अतः ब्राह्मणों और उपनिषदों ने गलाफाड़ कर चिल्ला चिल्ला कर बार-बार कहा है "संवत्सरो ह्ययं आत्मैव" जैसे श०प०ब्रा० १४-४-३-२२,२३ बृह० उप० ३-६-१४-१५ में; जै०ब्रा० (२-६०) ने संवत्सर शब्द की रोचक और वैज्ञानिक व्युत्पत्ति दी है, लिखा है जो चमकता है (भाति) वह तो संवत् है जो बीच में कृष्ण है वह सरः है यह अधि दैवत 'संवत्सरः' है; जो चक्षु का शुक्ल रूप है वह संवत् है जो बीच में कृष्ण है वह सरः है, यह अध्यात्म संवत्सर है। सूर्य रूप तो संवत् है और चन्द्ररूप सरः है। अतः 'संवत्सरः' दोनों मिलकर पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के जोड़े का नाम है।

ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म युगों से चलता है, इसमें पूर्वार्द्ध और परार्द्ध में चार-चार युग होते हैं। चौथा मध्यवर्ती युग है। कुल सात युग हैं ये सप्तचक्र वाद के अङ्ग हैं और सात ऋतुओं से युगों की वर्णना की जाती है जैसे—

६—ब्राह्म संवत्सर ब्रह्म

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"।

(ऋ०वे० १०-९७-१, यजु० १२-७५; तै०सं० ४-२-६-१) की व्याख्या में (श०प०ब्रा० ७-२-२-२६ ने लिखा है

"इति ऋतवो वै देवास्तेभ्यः एतास्त्रिपुरा जायन्ते वसन्ता प्रावृषि शरदि।"

यहां पर तीन देवों का वर्णन तीन ऋतुओं के द्वारा किया है। इनके वर्षों का विवेचन अन्यत्र 'अहोरात्रवाद' में दिया है। पूर्वार्द्ध के चार युगों में ४३२०००० वर्ष और उत्तरार्द्ध में भी इतने ही वर्ष होते हैं, कुल ८६४०००० वर्ष रूप अक्षरों का एक संवत्सर ब्रह्म होता है। यहां पर श० प० ब्रा० की दी गई व्याख्या में कुछ भ्रम है। इसमें वसन्त, प्रावृट्, शरद् तीन ऋतुओं का नाम लिखा है इनमें ग्रीष्म ऋतु के स्थान में शरद् दे दिया है। शरद् में ये उत्पन्न होती हैं और प्रथम तीन ऋतुओं में ये उस उत्पत्ति की व्यवस्था पाती हैं। प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है। ऐ० ब्रा० ४-३-१५, १६ में 'ॐ ज्योतिर्गौरायुरिति' वाक्य द्वारा उक्त ऋतुओं को तीन लोक तथा षडह या ऋतु नाम से पुकार कर पूर्वार्द्ध में चार षडह या ऋतुएं या

२४ तत्त्व और उत्तरार्द्ध में भी इतनी ही ऋतुएं मानी हैं। इनके बीच के भाग को मध्य और उक्थ्य नाम से पुकारते हुए, दूसरे वाक्य में अधिक खुलासे के साथ षडह को 'षड् ऋतवः' कहा है तथा ऐ० ब्रा० ४-२-१४ में उस २४ वें को महाव्रत नाम से पुकार कर इसे एक पूर्वार्द्धीय संवत्सर नाम की उपाधि दी है, जो २५ वें में 'रेतः' का सिञ्चन या बीजारोपण या भौतिकता का आरम्भ करता है। यहाँ से दूसरा संवत्सर या भौतिकता के संवत्सर का आरम्भ होता है। ये दोनों भाग संवत्सर के प्राण और उदान कहलाते हैं और इन्हीं को संवत्सर के अवार और पार नाम से भी पुकारा जाता है जैसे "अस्य प्रायणीयः प्राण उदान उदयनीयः स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते य एवं वेद।" "यो संवत्सरस्य अवारं च पारं च वेद स वै स्वस्ति संवत्सरस्य पारमश्नुते॥" (ऐ० ब्रा० ४-२-१४)

६—संवत्सर ब्रह्म के वैदिक नाम

संवत्सर ब्रह्म के पूर्वोक्त दो भागों के नाम वेदों में प्रसिद्ध रूप से उल्लिखित कुछ और हैं। वे हैं अनारम्भणीय और आरम्भणीय; तथा कः और कम् या शम्। (ऋ० वे० १-११६-५१) ने उक्त दोनों की चर्चा इस प्रकार की है।

"अनारम्भणे यद्वीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥"

तथा ऋ० वे० १०-८१-२ ने लिखा है

"किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥"

पूर्वार्द्ध अनारम्भणीय है, उसी से उत्तरार्द्ध में रेतः सिञ्चन द्वारा आरम्भण भाग उदीयमान होता है। इन्हीं को कः और कम् या शम् कहते हुए ऐ० ब्रा० ६-४-२१ पुनः २-५-३ में भी लिखता है "इति कद्वन्तः प्रगाथा आरम्भणीया अहरहः शस्यन्ते, को वै प्रजापतिः प्रजापते राप्त्यै यदेव कद्वन्ताः ३।" इत्यादि। यह ऋग्वेद के ७-३२-४ ऋचा 'कस्त मिन्द्र त्वा वसुं कं नव्यो अतसीनां कदू त्वस्या कृतम्' इत्यादि की व्याख्या में लिखा गया है। श० प० ब्रा० (६-२-१-५, १२) में इसी प्रकार का व्याख्यान दिया हुआ मिलता है। और विशेष करके इस श० प० ब्रा० ने कम् और शम् नामक उत्तरार्द्धीय भागों की व्याख्या २-४-३-११,१२ में "कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कंवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते।" "शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शंवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते।" वाक्यों से दी है। इन अनारम्भणीय और आरम्भणीय संवत्सर ब्रह्मों का मध्यविन्दु या मिलन विन्दु २४ वां तत्त्व है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख ऐ० ब्रा० ४-२-१२ में इस प्रकार दिया गया है जैसे "चतुर्विंशमेतदाहरुपयन्ति आरम्भणीयमेतेन वै संवत्सर मारभन्त एतेन स्तोमाश्च छन्दांसि······तच्चतुर्विंशस्य चतुर्विंशत्वम्।" इन्हीं दो भागों को श० प० ब्रा० के उक्त २-४-३-५ में दो वेदी के नाम से पुकारा है जिन्हें उत्तर वेदि और दक्षिण वेदि कहा है या ऊर्ध्वा और अवाची जैसे—

"तद्वै द्वे वेदी भवतः द्वावग्नी भवतः।......
ऊर्ध्वा इतश्चावाची तस्माद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः॥"
(श० प० ब्रा० १२-७-६-७ भी देखें)

अस्तु ! इसी चतुर्युगीय संवत्सर ब्रह्म को चतुष्कल या चतुष्पाद् ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है (गायत्री ब्रह्म और चतुष्पाद ब्रह्म देखें) जिनको 'त्रियुगं' कहा है उन्हीं को अन्यत्र 'त्रयः केशिनः' भी कहा है जैसे—

"त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते। संवत्सरे वयते एक एषाम्।"

इसमें रेतः सिञ्चति (वयति) का भाव भी भरा है। श० प० ब्रा० १२-७-३-७ में पूर्वार्द्ध को देव लोक उत्तरार्द्ध को पितृलोक नाम से भी पुकारा है।

यह एक पूरे वर्ष का होता है जिसमें पूर्वार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म में ३६० दिन तथा उत्तरार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म में ३६० रातें होती हैं। पूर्वार्द्ध में २४ तत्त्वरूप २४ अर्द्धमास (या पक्ष १५ दिन के) होते हैं, उत्तरार्द्ध में भी इतने ही अर्द्धमास होते हैं। इनको वैदिकों ने १२ महीने के १२ प्रधयः या १२ आर और आकृति नामों से पुकारा है जैसे—

७—दैवी अहोरात्रीय संवत्सर ब्रह्म

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणिनभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

(ऋ० वे० १-१६४-४८ अथर्व १०-८-४) कि इस संवत्सर ब्रह्म में १२ प्रधियाँ या मास हैं तीन नभ्य या पाद (गायत्री के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में २४ तत्त्वों के) हैं, उसमें ३६० शङ्कुओं के समान या पर्वतों के समान दिन होते हैं। यहां एकही अर्द्ध का वर्णन दिया है, ऐसा ही उत्तरार्द्ध में जानना चाहिए। उत्तरार्द्ध का वर्णन ऋ० वे० १-१६४-१२ इस प्रकार दे देता है।

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।"

उत्तरार्द्ध में भौतिकात्मा का दिव्य शरीर पुरी के समान प्रस्तुत हो जाता है। अतः उन्हें पुरीषिणः कहते हैं। यहाँ द्वादश मासों को इसीलिए द्वादशाकृति या रुपवान् कहा है। यहाँ पञ्चपाद नाम पञ्चपर्वा का है। एक चक्र का वर्णन इस प्रकार दिया है

"चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्।"

(ऋ०वे० १-१५५-६) अर्थात् ४×९०=३६० पूरे अहोरात्र होते हैं दो अर्द्धों के आधे भाग दिन, आधे भाग रात्रि में ७२० अहोरात्र (३६०+३६०=७२०) होते हैं। इन दोनों अर्द्धों का एक साथ वर्णन यह निम्न ऋचा देतो है

"द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिच तस्थुः॥"
(ऋ०वे० १-१६४-११, अथर्व ९-९-१३)।

इसमें बारह महीनों को १२ आरे बतलाया है; यह अमृत का चक्र (पूर्वार्द्ध) है और इसका जोड़ीदार (मिथुन) उत्तरार्द्ध है, दोनों को अग्निरूप ब्रह्म के दो पुत्र कहा है जैसा कि श०प०ब्रा० ने लिखा है 'तद्वै द्वेवेदी भवतः द्वावग्नी भवतः' (२-४-३-५–ब्राह्म संवत्सर में पूरा उद्धरण दिया है। इन दोनों में इन दोनों भागों में ७२० अहोरात्र (३६० दिन पूर्वार्द्ध के, ३६० रात उत्तरार्द्ध के) मिलकर होते हैं। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों में से प्रत्येक एक अर्द्धमास है, १५ दिन का है, दो तत्त्वों या दो अर्द्धमासों का एक मास ३० दिनका होता है अतः कुल २४×१५=३६० दिन होते हैं। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में ३६० रातें होती हैं कुल मिलाकर ७२० दिन रातें होती हैं। इसका विशद वर्णन (ऐ०ब्रा० ४-२-१२) में दे रखा है उद्धरण 'इन्द्र' शीर्षक के शतक्रतु इन्द्र व्याख्या में भी दिया गया है यहां भी दे दिया जाता है

"चतुर्विंशति वा अर्द्धमासा, अर्द्धमासश एव संवत्सरमारभन्त। उक्थ्यो भवति पशवो वै उक्थ्यानि। पशूनामवरुद्ध्यै पञ्चदशस्तोत्राणि पञ्चदश शस्त्राणि समासो (२४×१५) मासश एव तत्संवत्सरमारभन्ते। तस्य षष्टिश्च त्रीणि च शतानि (३६०) स्तोत्रिया (दिनानि) स्तावन्ति संवत्सरस्याहान्यहश एव।" इनके पूर्वार्द्ध में देवता, उत्तरार्द्ध में असुर रहते हैं जैसे

"अहर्वै देवा अश्रयन्त रात्रिमसुरास्तेसमावद्वीर्या, तम इव रात्रिर्मृत्युरिवः।"

(ऐ०ब्रा० ४-१-६) इन अहोरात्रों के वर्णन या गिनती की कई अन्य शैलियां हैं, उन्हें ऐ०ब्रा० ४-१-३ में देखें। 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक भी देखें।

८—पितृ अर्द्धमासीय संवत्सर ब्रह्म

पैत्र संवत्सर ब्रह्म पक्षवादी या कलावादी संवत्सर ब्रह्म कहलाता है। इसमें दर्शन के कुल तत्त्वों को दो पक्षों या अर्द्धमासों में विभक्त किया जाता है। पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष कहलाता है, उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वरूप शुक्लपक्ष की १५ कलाओं में संवत्सर ब्रह्म रूप सोम या चन्द्रमा पूर्णता या पौर्णमासी को प्राप्त होता है, वही उत्तरार्द्ध में भौतिकता की क्रमिक वृद्धि के साथ-साथ त्रिपादामृत रूप सोम या चन्द्र की कलाओं को रात्रि प्रतिरात्रि क्षीण करते जाता है। इस मत में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को रात्रि ही माना जाता है, पर पूर्वार्द्ध शुक्लपक्षीय उजियाली रात्रि उत्तरार्द्ध कृष्णपक्षीय अंधियारी रात्रि कहलाती है और इन्हीं को मानुष संवत्सर ब्रह्मवाद में क्रम से दिन और रात कहते हैं ('अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' ऋ०वे० ६-९-१) अतः लिखा है

"य एव आपूर्यते अर्द्धमास स देवा योऽपक्षीयते स पितरो।
अहरेव देवाः रात्रिः पितरः पुनरहः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः॥"
(श०प०ब्रा० २-१-३-१)

इसका सुन्दर विवेचन पुनः (श०प०ब्रा० १४-४-३-२२; २३) तथा बृहदारण्यक उप० (३-६-४४; १५) ने निम्न वाक्यों में प्राञ्जलतया दिया है।

"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभि (शुक्लाभि) रापूर्यतेऽप च क्षीयते (कृष्ण पक्षीयाभिः) सोऽमावास्यायां रात्रिमेतया षोडस्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते (उत्तरार्द्धारम्भे आरम्भणे) तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणान्न विच्छिन्द्याद् अपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ।।२२।। यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं (त्रीणि नभ्यानि ऋ०वे० १-१६४-४८) यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं ('द्वादश प्रधयः' ऋ० वे० १-१६४-४८) तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिज्जीयत आत्मना चेज्जीवति 'प्रधिनाऽऽगादित्याहुः' ।

यह परिच्छेद ऋ०वे० १-१६४-४८ (पूर्वोद्धृत) की पूरी दार्शनिक व्याख्या देता है।

जिसको उपनिषदों में षोडशकल ब्रह्म कहा है वह यही पैत्रसंवत्सर ब्रह्म है। इस मत में पूर्वार्द्ध में १५ कलायें या तिथियाँ मानी जाती हैं, सोलहवीं तिथि में चन्द्रमा पूर्ण होता है वह अमावास्या में पड़ती है

९—षोडशकल ब्रह्म

पर इसमें सूर्योदय या आदित्योदय का सा पूर्ण प्रकाश केवल रात्रि की अमावास्या वाली षोडशी कलारूप उत्तरार्द्ध के आदि ब्रह्म मात्र में रहता है, अतः उसे प्रकाशमय और ज्ञानमय कहा जाता है। अक्षर ब्रह्म से या संवत्सर ब्रह्म से शुक्लपक्ष की सी उजियाली रात्रि रह जाती है। तब सृष्टि के आरम्भ ही से जो अन्धकार उत्पन्न होने लगता है, उसमें त्रिपादामृतरुप चन्द्रमा धीरे-धीरे २५ वें तत्त्व में अमृतरुप में पूर्णता को प्राप्त होता है* अतः यह सोम वैदिकों का 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' या अमृतमय प्रकाश तथा ज्ञानयुक्त कहा गया है। यही २५ वें तत्त्व में अमावस्या को सूर्य में भौतिकावरण से प्राप्त होता है। यह षोडशी कला है, यहीं से रात्रि होती है। छान्दोग्य उपनिषद् (६-६) ने उक्त उद्धरणों की पुष्टि में लिखा है—

"अमायामेव षोडशी कला षोडशकलः सौम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ।" श्वेताश्वतर का 'तमेक नेमिं षोडशान्तं' का 'षोडशान्तं' शब्द इसी षोडश कल ब्रह्म की सूचना देता है। नृसिंह पूर्व तापिनी उपनिषद् में भी इसका वर्णन है; यह

"षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडश कलौ वै पुरुषः"

वाक्य द्वारा उक्त ध्वनि में ही कहता है। श० प० ब्रा० ने अन्यत्र भी

---

*पौर्णमासी तो २४ वें में होती है, २५ वीं अमावास्या होती है उसी को षोडशीकला कहते हैं—'अनुमति तथा सिनीवाली कुहू' शीर्षक देखें—

इसका विवेचन कई स्थलों में दिया है, जैसे पुरुष सूक्त की व्याख्या के अवसर में (पु० सू० देखें) तथा ७-१-४-१७ में लिखा है।

"ता उभय्य षोडश सम्पद्यन्ते षोडशकलः प्रजापतिः ॥"

ऐ० ब्रा० (५-५-१) ने भी इसकी व्याख्या लिखा है।

"यो वा अग्नि होत्रं वैश्वदेवं षोडशकलं पशुषु प्रतिष्ठितं वेद ।"

प्रश्नोपनिषद् (षष्ठ प्रश्न) में इस षोडशकल ब्रह्म का पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है जैसे "तं त्वां प्रच्छामि क्वाऽसौ पुरुष इति। तस्मै स हो वाच। इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशकला भवन्तीति। स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्निह उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामीति कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति। स प्राणान-सृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुं ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽभयमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा कर्मलोका लोकेषु नाम च। स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्यते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ॥"

नारद परिव्राजकोपनिषद् ने 'षोडश मात्रक' का जो वर्णन दिया है वह षोडशकल (वैदिक ब्रह्म) से नितान्त भिन्न है। यह भी एक प्रकार का विकास क्रम है और विचारणीय विषय है। इसमें कई बातें अनोखी हैं। इस षोडश-कल ब्रह्म की प्रत्येक कला में सहस्रता या अनन्त बीजता मानी जाती है। अतः पुरुषसूक्त प्रारम्भ ही से 'सहस्रशीर्षापुरुषःसहस्राक्षः' इत्यादि साहस्री व्याख्या करता है और वेदों में जिस किसी तत्त्व के लिए सहस्र, अयुत आदि संख्यायें दी गई हैं वे सब इसी का संकेत करते हैं। 'अन्ततोगत्वा ये सहस्रादि अनन्तबीजरूप' अक्षरों के सूचक हैं। श्रीकृष्ण की सोलह हजार गोपियों या स्त्रियों की वर्णना का आधार भी यही षोडशकल ब्रह्म की सहस्रावाग् रूपिणी व्याख्या है। यह पौराणिकों की व्याख्यान चातुरी का एक उदाहरण है।

इस कलावादी संवत्सरब्रह्म में ही दो पौर्णमासियाँ (पूर्वार्द्ध में) और दो अमावास्यायें (उत्तरार्द्ध में) होती हैं। प्रथम पौर्णमासी अनुमति कहलाती है द्वितीय राका। राका के पश्चात् तुरन्त अमावस्या होती है, यहीं पर षोडशकल ब्रह्म होता है इस अमावस्या का नाम सिनीवाली है, दूसरी का नाम कुहू है। इनका विवेचन स्वतन्त्र रूप में पृथक् दिया जा रहा है।

वेदों में प्रयुक्त मानुष, मनुष्य, नर, नृ आदि शब्द तात्त्विक और पारिभाषिक हैं। इनका अर्थ हम, आप जैसे मनुष्य नहीं है। यह मुख्यतः चतुर्थ सप्तक का भौतिकात्मा का प्रतीक है। जैसा बतलाया जा चुका है कि त्रिपादामृत या पूर्वार्द्ध में भी आध्यात्मिक अमृतमय भौतिकता है जिसे शुक्ल पक्षीय रात्रि कह चुके हैं। उसी भाव को लेकर मानुषअहोरात्रवाद की प्रतिष्ठा की गई है। इसमें दर्शन

१०—मानुषअहोरात्र-वादी संवत्सर ब्रह्म

के पूरे ५० तत्त्वों का विभाजन अहः और रात्रि, केवल एक 'अहोरात्र' मात्र में किया जाता है। पूर्वार्द्ध या अहः को अर्जुन या शुक्ल या दिन कहते हैं तो उत्तरार्द्ध को कृष्ण या रात्रि।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च"　　(ऋ० वे० ६-९-१)।

इस अहोरात्र का आरम्भ ब्राह्म मूहूर्त से होता है। पूर्वार्द्ध की समाप्ति 'उषा' काल २४ वें तत्त्व में होती है। उषा उल्व या गर्भ है, 'उल्वं वै उषा' ऐ. ब्रा० ७-२-३-११। तदन्तर २५ वें तत्त्व में सूर्योदय होता है। उसके तुरन्त पश्चात् रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है। भौतिक सृष्टि का आरम्भ उषा काल २४ वें तत्त्व से होने लगता है। अतः लिखा है—

तस्मादापूर्यमाणपक्षेषु यजन्त एतदेवोपेप्सन्त ऊषानसावस्यां तद्धापि तुरः कावषेय उवाचोषः पोसो जनमेजयकेति। तस्माद्धाप्येतर्हि गव्यं मीमांसमानाः पृच्छन्ति सन्ति तत्रोषाः३ः इति। ऊषोहि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकम् अभि पर्यावर्तत। ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां; न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः॥"

(ऐ० ब्रा० ४-४-२७)

उषा का शेष वर्णन 'उषा' शीर्षक में देखें। इसी संवत्सर ब्रह्म की सरणि में 'सूर्य' नामक तत्त्व चक्षुः और उषा को नेत्री नाम से पुकारा जाता है*। इसी से पूषा (२४ वें) को 'स्वसु (उषाया) र्यो जार उच्यते' कहते हैं। इसी सूर्य से चन्द्रमा का उदय होता है। इसी चन्द्रमा से रात्रि का प्रारम्भ पूर्ण रूप से हो जाता है। येही सूर्य, चन्द्रमा इस संवत्सर ब्रह्म की 'चक्षुषी' (सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी) कहे जाते हैं। यही 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस भौतिक ब्रह्माण्ड के 'धाता विधाता यथापूर्वमकल्पयत्' का काम करते हैं। 'अङ्क निर्देश द्वारा तत्त्व के निर्णय' नामक शीर्षक के अन्त में बतलाया जा चुका है कि इस उषा को इस भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भणीय विवर्त का सूत्रपात करने वाला बतलाया गया है वैसे पूर्ण विवर्त ४८ वें तत्त्व से होता है, यह वहीं लिख दिया गया है।

पूर्वोक्त चार प्रकार के संवत्सर ब्रह्म के अतिरिक्त यह संवत्सर ब्रह्म तीन अन्य प्रकारों से भी वर्णित मिलता है जिनमें से एक ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म है, दूसरा नक्षत्रवादी और तीसरा अभिनेय संवत्सर ब्रह्म भी है।

११—ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म

ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म की व्याख्या सात ऋतु, छह ऋतु या पाँच ऋतु में की गई है जिनके उद्धरण पहिले सप्तचक्र, षड्चक्र और पञ्चचक्र के वर्णन के अवसर पर दिये जा चुके हैं। सात ऋतुओं के पक्ष में प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है, षट् ऋतुओं में तीन पूर्वार्द्ध, तीन उत्तरार्द्ध में हैं, पाँच ऋतुओं का विभाजन पञ्चपर्वा के १०-१० तत्त्वों

* यथोषस्यं यथाश्विनं सप्त वै देवलोका······एषामेव देवलोकाकानामभिजित्यै' तदाहुः "उदु त्यं जातवेदसं देवं बहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। (ऐ० ब्रा० ४-२-९) मंत्र (ऋ० वे० १-५०-१)।

की पांच ऋतुयें मानी गई हैं। प्रथम दो में, तीन पूर्वार्द्ध में, तीन उत्तरार्द्ध में आती हैं। सप्तचक्री की चौथी ऋतु मध्यवर्ती होती है। इस विभाजन का उल्लेख ऐब्रा० ने कई स्थलों (१-३-१६; १-५-२८; १-५-२६; २-१-२; ४-२-२६ इत्यादि) में किया है। जिसका अनुसरण (श०प०ब्रा० ने १-३-२-६ इत्यादि में) कई बार दोनों ने इस प्रकार किया है

"य एवं वेद त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह यज्ञस्यैव
तद्बर्सौ नह्यति स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय ॥"

(यजुर्वेद २१-२३, २४, २५, २६, २७, २८) ने प्रत्येक सप्तक या ऋतु में देवताओं को पृथक् पृथक् विभक्त किया है। वसन्त वसुओं की, ग्रीष्म रुद्रों की और इन्द्र शची उषा की, वर्षा आदित्यों की और वृष, भीम, इन्द्र, गौ आदि की, शरद ऋभुओं की, हेमन्त मरुतों की, शिशिर विश्वेदेवताओं की बतलाई है। वसुरुद्रादित्यवाली प्रथम तीन ऋतुओं को २४ तत्त्वों की ही बतलाया है, यह 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः' और "या ओषधीः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा' की तीन ऋतुओं से मेल खाती है। यहाँ आदित्यों में से प्रथम छह आदित्य ही लिए जा सकेंगे, तदनन्तर उत्तरार्द्ध (हविः सोम, ओषधीः जाता) हो जावेगा। यह ध्यान रहे कि ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म में पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में ५, ६ या सात ऋतुयें पृथक्-पृथक् नहीं होतीं। ये ऋतुयें दोनों भागों को मिलाकर पूरे में होती हैं। अतः इनके मध्यवर्ती विन्दु को विषुवान् या गर्त कहते हैं। पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में तीन ऋतुयें होती हैं।

१२—गर्त, विषुवान्—अयनवादी सवत्सर ब्रह्म

ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म का विभाजन कर्क रेखा या विषुवद्रेखा से होता है। अतः इनके कर्क रेखा या विषुवद्रेखा को दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती तत्त्व कहते हैं। इसका नाम या पारिभाषिक नाम एकविंश भी है। ३४ देवताओं में ब्रह्म के आगे के दस तत्त्वों को विंश तत्त्व कहा जाता है।* यह संवत्सर ब्रह्म का मध्यवर्ती तत्त्व निश्चित रूप से घोषित किया गया है जैसे

"एकविंशमेतदहरुपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्यैतेन···एष इतएक विंशस्तस्य दशावस्तादहानि······दश परस्तात् मध्य एष एक विंशः उभयतो विराजि प्रतिष्ठितः ॥" चतुस्त्रिंशत्स्तोमानां उत्तमस्तेषु (ऐ०ब्रा० ४-३-१८) और "सोऽसावेक-

*यह एकविंश नाम 'त्रिः सप्त' की एकविंशता है जिसमें ('त्रिः सप्त में') २४ ही तत्त्व होते हैं 'त्रिः सप्त समिधः कृताः' पुरुष सूक्त देखें जिसकी व्याख्या में द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमेलोका असावादित्यः' वाक्य का प्रत्येक शब्द जैसे द्वादशमासा माने भी २४ तत्त्व हैं, पञ्चतर्व माने भी २४ ही तत्त्व हैं, 'त्रयोलोका' माने भी २४ ही तत्त्व हैं, अतः एकविंश २४ तत्त्वों का ही संकेतक हैं।

विंशोध्याहितस्तपति विषुवान्वा एष स्तोमानां दश वा एतस्मादर्वाञ्चसित्रवृतो दश पराञ्चो मध्य एष एकविंशः।" (ऐ०ब्रा० ३-४-४१)।

इस बात की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण ने 'मध्यत एव यज्ञस्य प्रतितिष्ठन्ति' वाक्य को 'विषुवानेव भवति' शीर्षक में पूर्वोक्तानुसार एकविंश नाम देकर की है। श०प०ब्रा० (४-६-१, २, ३, ४, ५) ने इसका वर्णन अनेक स्थलों में बहुत विशद रीति से दिया है जिनका संकलन 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में दिया गया है। यह इक्कीसवें उपनाम का या एवविंश उप नाम का तत्त्व ही वास्तव में चतुर्विंश या चौबीसवाँ तत्त्व और महाव्रत तत्त्व कहा जाता है जैसे—

"स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः। चतुर्विंशे महाव्रतं विषुवति महाव्रतम्।"
(श०प०ब्रा० १२-१-३-२३)

इसी विषुवान् या विषुवद्रेखा का नाम 'द्वेशीर्ष्णे' द्वितीय शिर या नासिका भी कहा है, जैसे—

"यदिदमक्ष्णः शुक्लं स प्रथमः स्वरसामा यत्कृष्णं स द्वितीयो, यन्मण्डलं स तृतीयो नासिके विषुवान्यदिदमक्ष्णो मण्डलं।"
(श०प०ब्रा० १२-२-४-१५)

"इम एव दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामानो मूर्द्धा विषुवानिम एवोत्तरे।"
(श०प०ब्रा० १२-१-४-२)

इसका समर्थन ऐ०ब्रा० (४-३-२२) 'शिर एव विषुवान्' वाक्य से करता है। श०प०ब्रा० के अन्य उद्धरण (१२-२-३-६; १२-२-३-११; १२-१-४-२; १२-३-१-४; १२-३-५-१२ इत्यादि) स्थलों में मिलेंगे। इस विषुवान् या विषुवद्रेखा से दर्शन चक्र के कुल ५० तत्त्वों को दो अयनों में विभक्त किया जाता है। पूर्वार्द्ध उत्तरायण और परार्द्ध दक्षिणायन कहलाता है। केवल अयनवाद में उत्तर शब्द का प्रयोग पूर्वार्द्ध शब्द के लिए होता है, अन्यत्र उत्तर शब्द सदा परार्द्ध या दक्षिणार्द्ध का संकेतक होता है, यह ध्यान रहे। ब्रह्मविन्दूपनिषद् इस अयनवाद और विषुवद्वाद के ज्ञान को योग की क्रिया में प्राथमिक महत्त्व देते हुए इसीलिए लिखता है—

"अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्॥ ५५॥"

ऋ०वे० १-१६४-४३ ने दर्शन के दो भागों को अपर और पर बतलाते हुए मध्यवर्ती तत्त्व को विषुवान् कहा है, जैसे—

"शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥"

उक्त दो अयनों का मध्यवर्ती बिन्दु विषुवद्रेखा या विषुवान् तो कहलाता

ही है, पर साथ में इसका एक प्रसिद्ध नाम 'गर्त' भी है। यह गर्त शब्द 'विषुवद्' शब्द का ही पर्यायवाची शब्द है। इसका प्रयोग ब्राह्मणों और उपनिषदों में कम मिलता है। वेदों में विषुवान् या विषुवद्रेखा के स्थान में प्रायः 'गर्त' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका वर्णन द्विचक्रवाद के 'अदिति-दिति' शीर्षक में किया जा चुका है, वहीं देख लिया जाय (ऋ० वे०, ५-६२-८; १-१२४-७, ६-२१-६ मन्त्र देखें)। इस अयनवादी गर्त या विषुवद्रेखा का सीधा सम्बन्ध ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म से है। इन ऋतुओं में वर्षा ऋतु के आरम्भ वा चतुर्थ सप्तक के प्रारम्भ में ही कर्करेखा पड़ती है, उसी को विषुवान् या गर्त की अयनीय रेखा कहते हैं। ऋतुओं की कर्करेखा ही विषुवत् या मध्यवर्ती रेखा है।

१३—गर्त शब्द की व्याख्या

वैदिकदर्शन का ज्योतिषदर्शन एक अद्भुत रहस्य से भरा है। वैदिक दर्शन के पूरे ५० तत्त्वों में नक्षत्रों का विभाजन एक बड़ी भारी चातुरी से किया गया है। नक्षत्र तो केवल २७ ही हैं पर तत्त्व ५० हैं। इनको बराबर-बराबर बैठाने में जिस अनोखी प्रतिभा की सूचना मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सृष्टि का आरम्भ वृष राशि से और कृत्तिका नक्षत्र से किया गया है, जिससे पूरादर्शन वृष, वृषभ, ऋषि, ऋषभ इत्यादि प्रख्यात नाम पाता है। प्रत्येक देवता वृष, वृषा, वृषभ, ऋषि ऋषभ हैं (वृषभ शीर्षक देखें), पर पौर्णमासी या पूर्ण चन्द्रोदय (सोमोत्पत्ति) अश्विनी नक्षत्र में होती है। अतः आश्विन मास और कृत्तिका की पौर्णमासी कार्त्तिकी का महत्त्व माना गया है। नक्षत्र की परिभाषा श० प० ब्रा० (२-१-२-१९) ने एक रोचक ढंग से दे रखी है। "यानि वै तानि क्षत्राणि अभूवन् न वै तानि क्षत्राणि अभूवन्निइति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।" क्योंकि ये नक्षत्र २७ के गणरूप के हैं। अतः ये जाति में विश् हैं, जैसे वसु, रुद्र और आदित्यादि। अतः वैदिक तत्त्वों में जिन्हें क्षत्र तत्त्व कहा जाता है, जैसे द्वितीय सप्तक, इन्द्र, सोम, रुद्र आदि उन तत्त्वों के वाची या ब्राह्मणादि तत्त्वों के वाची होते हुए भी वे क्षत्र जाति के तत्त्व नहीं कहलाते। अतः इन्हें 'नक्षत्र' (जो क्षत्र नहीं) कहते हैं। इनका दूसरा नाम गन्धर्व भी है, जैसे—

१४—नक्षत्रवादी संवत्सर ब्रह्म

"वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जंस्तेऽअस्मिञ्जवमादधुः ॥"
(यजुः० ९-७)

ये नक्षत्र या गन्धर्व २७ हैं, इनका प्रथम नक्षत्र या गन्धर्व अश्व या अश्विनी है, जिसमें इन्होंने वेग या जव धारण किया। इनके स्वामी का नाम यक्ष है। "किमेतद्यक्षमिति" (केन उप० ३,४) और श० प० ब्रा० (१०-५-२-२) कहता है कि गन्धर्व का ब्रह्म विषयक नाम 'रूप' है, जैसे "रूपमिति गन्धर्वाः" अर्थात् गन्धर्ववाद माननेवाले ब्रह्म को 'रूप' नाम से पुकारते हैं। और बृह०

उप० में लिखा है "स यो हैतं महद्यत्तं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान्" (२-५-४-१)।

वास्तव में नक्षत्रवाद प्राणवाद है। नक्षत्रों का प्रमुख नक्षत्र 'अश्विनौ' द्विवचनान्त शब्द दो बातों का संकेतक है। यह दो अश्वों या प्राणों का सूचक है। ये दो प्राण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के हैं। और यह 'अश्विनौ' नक्षत्र वैदिक दर्शन का मध्यवर्ती २५ वां रूप नामक तत्त्व है।

१५—नक्षत्रवाद प्राणवाद है।

'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥'

मंत्र का काम्पीलवासिनी के साथ सोनेवाला त्र्यम्बक उत्तरार्द्ध का अश्व है, और उलाहना वाली पूर्वार्द्ध में अश्व की अमृत आत्मा है। अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके त्रिनाभियाँ हैं। इनका दर्शन के चक्र में स्थान निर्धारण करनेवाला यजुर्वेद के पुरुषसूक्त का २३ वां मंत्र है, जो इस प्रकार है—

"श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकम्म इषाण ॥"

इस मंत्र के अनुसार पूर्वार्द्ध का नाम श्री और उत्तरार्द्ध का नाम लक्ष्मी है। ये दोनों अहोरात्रीय संवत्सर ब्रह्म की पत्नियाँ हैं। इनका मध्यवर्ती तत्त्व 'अश्विनौ' नामक 'रूप' लक्षण से युक्त है। इससे अगल-बगल पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में, शेष नक्षत्रों का स्थान क्रमसे पूर्वार्द्ध में विलोम उलटे) और उत्तरार्द्ध में सलोम (सुलटे) बिठाया गया है या इस प्रकार खुला या व्याप्त है। अमुम् शब्द 'रूप' का विशेषण है। पूर्वार्द्ध में इसकी उत्पत्ति की कामना (इष्णन्) करते हुए, इस भौतिकात्मा की लब्धि चाहते हुए (अमुम्मिषाण) फिर सर्व लोकों की सृष्टि की कामना करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है। इन नक्षत्रों के उक्त प्रकार के चक्र को उचित रूप से अङ्कित करने में श० प० ब्रा० (२-१-२-१, २) की सहायता की परम आवश्यकता है। उसमें लिखा है कि—

"कृत्तिकास्वग्नी आदधीत। एता वा अग्निनक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सलोम योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधातै तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत। एकं द्वे त्रीणि। चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत।"

अब कृत्तिका से प्रत्येक तत्त्व को एक-एक नक्षत्र देते हुए २५ वें तत्त्व में अश्विनी स्वयं आ जाता है, वहाँ से स्वयं सलोम क्रिया से अन्त तक नक्षत्रों को बिठाना है। प्रथम में कृत्तिका, द्वितीय में कृत्तिका और रोहिणी, तृतीय में कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, इस क्रम से नक्षत्रों को बिठाने का आदेश उक्त ब्राह्मण ने दे रखा है। यहाँ एक-एक ही दिया जा रहा है, शेष समझते जायँ। प्रथम और अन्तिम का अन्तर्भाव क्रम से आगे और पीछे है।

१६—नक्षत्र चित्र

	प्रथम सप्तक								द्वितीय सप्तक						
कृति.	रो.	मृ.	आ.	पु.	ति.	अ.	म.	पू.फा	उ.फा.	ह.	चि.	स्वा.	वि.	अनु.	ज्ये.
१	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

तृतीय सप्तक								चतुर्थ सप्तक							
मू.	पू.षा.	उ.षा.	श्र.	ध.	श.	पू.भा.	उ.भा.	रे.	अश्विनौ.	भ.	कृ.	रो.	मृ.	आ.	पु.
१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	रूपम् २५	२६	२७	२८	१९	३०	३१

पञ्चम सप्तक							षष्ठ सप्तक						
ति.	अ.	म.	पू.फा.	उ.फा.	ह.	चि.	स्वा.	वि.	अनु.	ज्ये.	मू.	पू.षा.	उ.षा.
३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५

सप्तक सप्तक					
श्र.	ध.	श.	पू.भा.	उ.भा.	रे. ॥
४६	४७	४८	४९	५०	१

'अश्विनी' तत्त्व पर एक स्वतन्त्र लेख दिया गया है, यह त्वष्टा का देवता, या दुहिता का पुत्र है, सररायू के अश्वीरूप में उत्पन्न, विवस्वान् का पुत्र है (ऋ० वे०, १०-१७-१,२ देखें)। त्वष्टा भी रूप का निर्माता है 'त्वष्टा पिंशद्रूपाणि' 'तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति' इत्यादि, और यह अश्विनी भी स्वयं 'रूप' स्वरूप है। यह रूप उत्तरार्द्ध का प्रथम भौतिकात्मीय स्वरूप है, जिसके बारे में निम्न दो और प्रसिद्ध उल्लेखों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। ये उल्लेख द्विचक्रवाद के अन्त में 'अमूर्तं मूर्तं' (संख्या २९) और 'प्राणा नामरूपे कर्म च' (संख्या ३७) में मिलेंगे। द्वितीय उद्धरण में 'रूप' तत्त्व का उक्थ्य चक्षु नामक सूर्य २५ वां तत्त्व निश्चित रूप से घोषित करते हुए लिखा है।

१७—अश्विनी व्याख्या

"अथ रूपाणाम्। चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति एतदेषां सामैतद्धि सर्वैः रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि विभर्त्ति॥" (बृह० उप० १-६-१, २, ३) कि "रूप तत्त्व का मूल स्रोत चक्षु नामक सूर्य तत्त्व है (जो २५ वां है), इसी से अखिल ब्रह्माण्ड को सब रूप मिलते हैं। इन सब रूपों से वेष्टित त्रिपाद्ब्रह्म, सब रूपों को धारण करता है।" यह रूप तत्त्व प्रथम भौतिकात्मा सोम का दिव्य शरीर है। इसके समर्थन में ऐ० ब्रा० (४-२-९) उक्त सूर्य तत्त्व के उपस्थान के मंत्र 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।' (ऋ० वे० १-५०-१) की स्पष्ट व्याख्या देते हुए लिखता है "यथोषस्यं यथाश्विनं सप्त वै देवलोका·········एषामेव देवलोकानामभिजित्यै तदाहुरुदुत्यं

जातवेदसमिति ।।" कि उषा और अश्विनी के रूप के सात लोक हैं, जिनकी उत्पत्ति दृशे (चक्षुः) नामक सूर्य से जातवेदा रूप केतु या पताका के रूप में होती है।

१८—नक्षत्रों का द्विधा विभाजन सिद्धान्त

नक्षत्रों का, वैदिक दर्शन में पूर्वोक्त प्रकार से, द्विधा विभाजन या दो भागों में प्रतिष्ठा के सिद्धान्त की सूचना ऋग्वेद ने स्वयं कई स्थलों में स्पष्टतया देते हुए लिखा है—

"धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।।"
(ऋ० वे०, ७-८६-१)*

इसमें 'नक्षत्र गण को द्विता या द्विधा पप्रथत् या प्रस्थापित किया गया', यह स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार इस द्विता (द्विधा) शब्द को कई अन्य स्थानों में यही संकेत करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जैसे—

"प्र ये द्विता दिव ऋञ्जन्त्याताः सुसंमृष्टासो वृषभस्य मूराः"
(ऋ० वे०, ३-४३-६)

"अव द्विता वरुणो मायी नः सात् ।।"
(ऋ० वे०, ७-२८-४)

"इन्द्र तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।।"
(ऋ० वे०, ८-७०-२)

"द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः।" (ऋ० वे०, ३-१७-५)

इनके अर्थ में सायणादिक ने भी द्यावापृथिवी, देवासुर और अहोरात्र आदि द्विधा विभाजनीय ही अर्थ दिया है। द्विता माने द्विधा ही है, वह उक्त प्रकार का द्विधा विभाजन ही है। यह इनके सन्दर्भों तथा 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' के स्पष्ट व्याख्यान से स्वयं स्पष्ट है। यहां द्विता शब्द 'पार्श्वे' शब्द का प्रतिनिधि है।

---

*"यच्च परस्तात् नक्षत्राणां यच्चावस्तात्" (कृ० य०, तै० ब्रा०)

अध्याय ७

अक्षर ब्रह्म

या

वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों का अङ्कों में निर्देश

वैदिकों को अपने दर्शन के तत्त्वों को नामतः कहने में उतना अधिक आनन्द नहीं आता जितना उन्हें अंकवाद की शैली में देने में। अङ्कवाद की शैली स्वयमेव रहस्यमय हो जाती है, जिसमें लोगों को ठग जाने का अधिक अवसर मिलता है। 'चत्वारिश्रृंगा' 'सप्त ते अग्ने: समिध:' 'सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे' 'सप्तास्यासन् परिधय:' 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' 'गुहा त्रीणि निहिता' इत्यादि मन्त्रों को अबतक सब लोग अपनी डफली अपना राग के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से घटित करते चले आ रहे हैं; पर ये सब निश्चित और निर्णीत तत्त्वों का निर्देश करते हैं। यही दशा एकवाद, द्विवाद (द्वासुपर्णा आदि), त्रिवाद, चतुर्वाद, पञ्चवाद, षड्वाद, सप्तवाद, अष्टवाद, नववाद, दशवाद, एकादशवाद, द्वादशवाद, सप्तदशवाद आदि की भी है, जिनके सम्बन्ध में ऋग्वेद में ही असंख्य ऋचायें विद्यमान हैं। जबतक लोगों की समझ में यह अङ्कवाद नहीं आयगा तबतक इन सब की पहेलियाँ वैसी ही बनी बनायी रह जायगी। अतः इनका व्याख्यान परम आवश्यक हो गया है। कुछ वादों पर पहिले तत्त्व निर्णय के अवसर पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। शेष यहाँ पर दे दिया जाता है।

१—वेदों में अङ्कवाद शैलीकी प्रचुरता

यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में अङ्कों की संख्या दो प्रकार से दी हुई मिलती है, पहिले विषम संख्यायें दी गई हैं। वे एक से ३३ तक गिनी गई हैं। सम-संख्याओं की गिनती चार से आरम्भ की गई है और ४८ तक दी गई है। इसमें क्या कारण है? वैदिकों ने ३३ की संख्या क्रम से ३३ देवताओं का आह्वान किया है तथा ४८ की संख्या से वैदिक दर्शन के ४८ तत्त्वों की प्रस्तावना। नहीं तो उन्हें तो गिनतियाँ बीस अङ्कों तक (१,०००,०००, ०००,०००,०००,०००,०) गिननी आती थी, सब को क्यों नहीं गिन गये?

२—यजुर्वेद के दो प्रकारके अङ्कों का रहस्य

इन बीस अंक तक की गिनतियों के नाम भी वैदिकों ने वैदिक दर्शन के तत्त्वों के नाम से दिये हैं, जैसा कि तै० संहिता के वचन से स्वयं सिद्ध है (तै० सं० ७-२-२-२०); जैसे :—एक, दश, शत, सहस्र, उदित, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्द्ध, उषस, व्युष्टि, उदेष्यत्, उद्यत, उदित, सुवर्ग, लोक (अयम् ?)। इस गिनती में समुद्र से लेकर (अयम्) लोकः तक के नाम सब वैदिक दर्शन के तत्त्वों के हैं। सृष्टिवृक्ष उलटा है, अतः सृष्टिक्रम

३—तै. ब्रा. में इकाई दहाई क्रम में २० कोटियों के नाम

'अयं लोकः' से आरम्भ होता है, गिनती का मूल्य भी इसी 'लोक' से आँका जाता है (१,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०)। यहाँ का प्रथम 'एक' ही 'अयं वै लोकः' है। यही 'द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः' का 'एकः' है, यही 'एकं सत्रेधाऽभवत्' का 'एकं' है। समुद्र तक चार पाद आ जाते हैं, वह मध्य में पड़ता है और 'सहस्र' में 'सहस्रशीर्षा पुरुष' बनता है, अन्त में एक 'परमाणु' प्रस्तुत होता है। एक से आरम्भ होकर एक में अन्त होता है, वह भी 'अतिसूक्ष्मतम' प्रमाण का। ब्राह्मणों और उपनिषदों में जहाँ कहीं भी 'अयं वै लोकः' आता है, जैसे 'अयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरास' (श० प० ब्रा० ९-२-३-१४, १५, १६) वहाँ-वहाँ इस 'लोक' शब्द का अर्थ यही प्रथम तत्त्व होता है, जिसकी सफाई उद्धृत उल्लेख में शतपथ ने उसे 'द्यौः' आदितत्त्व के नाम से पुकार कर स्वयं स्पष्ट कर दी है।

४—यजुर्वेद के सम-विषमअङ्कों के विषय की व्याख्या का उल्लेख

यजुर्वेद ने जिन अंक संख्याओं को विषम और सम विभाग द्वारा अठ्ठारहवें अध्याय में दिया है, उनकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ने इनका तादात्म्य देवताओं या तत्त्वों से करके उक्त वक्तव्य पर सत्यता की मुहर लगा दी है। जैसे:—विषम संख्या के तत्त्वों की व्याख्या इस प्रकार दे रखी है "एकया स्तुवीतेति वाग्वा एका वाचेव तदस्तुवत" इत्यादि लिखकर यजुर्वेद के १४ वें अध्याय के २८ से ३१ तक के मन्त्रों में दिये हुए तत्त्वों का उनसे क्रमशः तादात्म्य दिखला कर इन विषम संख्याओं की पहेली सुलझा दी है, मन्त्र इस प्रकार हैं—

"एकयास्तुवतेति.......प्रजापतिरधिपतिरासीत्.......तिसृभिरस्तुवत....... ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् (प्राण उदानो व्यानस्तिस्रः) ॥ पञ्चभिरस्तुवत। भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीद् (मनःपञ्चमाः प्राणाः ॥ सप्तभिर स्तुवत, सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त, धाताधिपतिरासीद् (सप्तशीर्षन्प्राणाः) ॥ नवभिर स्तुवत पितरोऽत्रासृज्यन्त, अदितिरधिपत्नी आसीद् (नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नऽवाञ्चौ द्वौ) ॥ एकादशभिरस्तुवत, ऋतवोऽसृज्यन्तअधिपतय आसन् (दश प्राणा आत्मैकादशः) ॥ त्रयोदशभिरस्तुवत, मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीद् (दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशः) ॥ पञ्चदशभिरस्तुवत, क्षत्रमसृज्यत इन्द्रोऽधिपतिरासीद् (दश हस्त्याङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशः) ॥ सप्त दशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवः असृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीद् (दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तदस्तुवत) ॥ नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् (दश हस्त्याङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत) ॥ एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त (वरुणो ऽधिपतिरासीद्) दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः)॥ त्रयो विंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः) ॥ पञ्चविंशत्यास्तुवत आरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वायङ्गा-

न्यात्मा) ॥ सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैताम् वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन् त एवाधिपतय आसन् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दशपाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे) ॥ नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोत्राधिपतिरासीद् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव वै प्राणाः) ॥ एक त्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवश्चायवाश्चाधिपतय आसन् दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दशप्राणा आत्मैक त्रिंशः) ॥ त्रयास्त्रिंशतास्तुवत भूतान्याशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् (दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशः) ॥" (८-४-३-२ से १९ तक पूरा) ॥

५—वैदिक दर्शन के तत्त्वोंकी संख्या क्रम से कुछ तत्त्वों के नाम

कुछ अन्य तत्त्वों के नाम समविषम संख्या के विमिश्रण रूप में भी दिये मिलते हैं, जैसे भान्तः पञ्चदशः (वज्रः, चन्द्रः); व्योमा सप्तदशः (संवत्सरः प्रजापति); धरुण एकविंशः (आदित्यः) प्रतूर्तिरष्टादशः (आदित्यः); तपो नवदशः (संवत्सरः); अभीवर्तः सविंशः (संवत्सरः); वर्चो द्वाविंशः (संवत्सरः); सम्भरणस्त्रयोविंशः (संवत्सरः); योनिश्चतुर्विंशः (संवत्सरः); गर्भाः पञ्चविंशः (संवत्सरः); ओजस्त्रिनवः (संवत्सरो वज्रः); क्रतुरेकत्रिंशः (क्रतुसंवत्सरः); प्रतिष्ठात्रयस्त्रिंशः (संवत्सरः); ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः (स्वाराज्य संवत्सरः) चतुस्त्रिंशोऽश्वः प्रजापतिः (जै० ब्रा० २-१२९) नाकः षट्त्रिंशः (संवत्सरः); 'विवर्तो अष्टाचत्वारिंशः, इत्यादि (शु० य० वे० १४-२३; और श० प० ब्रा० ८-४-१-१० से २५ तक)। यह संवत्सर विद्या है। इसमें अन्तिम 'विवर्त' नामक ४८ वाँ तत्त्व संवत्सर विद्या से सम्बन्ध रखता है; यह इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। इसका विवरण ऋग्वेद में भी मिलता है, जैसे "आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त। चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेत।" (ऋ० वे० १०-५५-३) इसमें 'विव्रतेत' (विवर्त) शब्द उल्लेखनीय है।

"एष एव वज्रः पञ्चदशस्तस्यासावेवादित्यः षोडशी वज्रस्यभर्ता······
पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा······पाप्मानमपाहत" (८-५-१-१०)

"चतुश्चत्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणम्" (शु०य०वे० १५-३; श०प०ब्रा० ८-५-१-११) ("चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्)

६—तत्त्वों का संख्या-रूप में विभाजन

विषम संख्या के तत्त्वों में ३३ वाँ और समसंख्यक तत्त्वों में ४८ वां अन्तिम तत्त्व है। इस बात की भी घोषणा इस प्रकार कर रखी है "अन्तो वै त्रयस्त्रिशोऽयुजां स्तोमानामन्तत एव तद्देवाः स्वर्गं लोकमायन्" (श० प० ब्रा० ९-३-३-३) "अन्तो वाऽअष्टाचत्वारिंशो युग्मतां स्तोमानामन्तत एव तच्छन्दांसि स्वर्गं लोकमायन्" (९-३-३-५)। ध्यान रहे यहाँ पर तथा अन्यत्र भी 'देवाः' और 'छन्दांसि' दोनों शब्द प्रायः तत्त्वों का निर्देश करते हैं। जब 'छन्दांसि स्वरा पशवः' कहते हैं तब तत्त्वरूप

पशु अर्थ अभीष्ट रहता है। जैसे "सप्त वै ग्राम्याः पशवः सप्त वै छन्दांसि, छन्दांसि वै पशवः" इत्यादि। उक्त ४८ तत्त्वों के दो मुख्य विभाजन २४,२४ किये गये हैं, जिन्हें तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध नाम से पुकारा जाता है; कोई पक्ष नाम से कहते हैं। जैसे "यान्यष्टाचत्वारिंशत्तौ चतुर्विंशौ पक्षौ, यानि पञ्चविंशतिः स पञ्चविंश आत्मा (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च), अथ यान्येकविंशतिस्तदेकविंशपुच्छम्, यानि त्रयस्त्रिंशत् स वशोऽथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिरशीतिभिर्हिमहदुक्थमाख्यायते।" (श० प० ब्रा० ९-३-३-१९) "यानि पञ्चत्रिंशत् स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिंशम्।" (९-३-३-१८)

७—संवत्सर के दिन रूप अंशों की क्रमिक विकासीय व्याख्या

संवत्सर, प्रजापति और पुरुष का नाम है। पुरुषसंवत्सर के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के ३६० रात्रि और ३६० दिनों का विभाजन क्रम से तत्त्वानुसार करते हुए प्रत्येक तत्त्व रूप पुरुष संवत्सर में ३६० विभागों की कल्पना वैज्ञानिक ढंग से की गई है, जिससे कार्यकारण भाव सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि होती है: आदि पुरुष संवत्सर में ७२० दिन-रात सूक्ष्म रूप में विद्यमान थे—"तस्य वा एतस्य संवत्सरस्य प्रजापतेः सप्त च शतानि विंशतिश्च अहोरात्राणि ज्योतींषि, ता इष्टकाः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे॥"

द्वितीय तत्त्व में वह दो भागों में विभक्त हुआ। तब उसका स्वरूप २×३६०=७२० बन गया।

तृतीय	तत्त्व में	तीन	,,	३×(८०+८०+८०)=७२०	,,
चतुर्थ	,,	चार	,,	४×१८०=७२०	,,
पाँचवे	,,	पाँच	,,	५×१४४=७२०	,,
छठे	,,	छह	,,	६×१२०=७२०	,,
सातवें	,,	सात	,,	७× विभक्त नहीं हो सका	,,
आठवें	,,	आठ	,,	८×९०=७२०	,,
नवम	,,	नव	,,	९×८०=७२०	,,
दशम	,,	दश	,,	१०×७२=७२०	,,
ग्यारहवें	,,	ग्यारह	,,	११× विभक्त नहीं हो सका	,,
बारहवें	,,	बारह	,,	१२×६०=७२० बन गया	,,
तेरहवें	,,	तेरह	,,	१३× विभक्त नहीं हो सका नहीं बना	
चौदहवें	,,	चौदह	,,	१४× ,, ,,	,,
पन्द्रहवें	,,	पन्द्रह	,,	१५×४८=७२० बन गया	,,
सोलहवें	,,	सोलह	,,	१६×४५=७२०	,,
सत्रहवें	,,	सत्रह	,,	१७× नहीं विभक्त हो सका, नहीं बना	
अट्ठारहवें	,,	अट्ठारह	,,	१८×४०=७२० बन गया	,,

उन्नीसवें तत्त्व में	उन्नीस भागों में	१९×—विभक्त नहीं हो सका, नहीं बना
बीसवें ,,	बीस ,,	२०×३६=७२० बन गया
एक्कीस, बाईस, तेइस	एक्कीस, बाईस, तेइस	२१×—२२×—२३×—नहीं बना
चौबीसवें ,,	चौबीस ,,	२४×३०=७२० बन गया

जो २४ वें तत्त्व में २४ भागों में विभक्त हुआ, वे भाग २४ अर्द्धमास कहलाते हैं। अतः संवत्सर में १५;१५ दिन के २४ अर्द्धमास होते हैं, जो ३६० दिन (२४×१५) बनाते हैं। ७२० तो दिन-रात हैं, दिनरात दोनों मिलकर ३६० ही दिन (२४ घंटे के) बनाते हैं। पूर्वार्द्ध में दिन ही दिन ३६० होते हैं, उत्तरार्द्ध में ३६० रात ही रात, ये क्रम से १२,१२ घंटे के या ३०,३० घड़ी के होते हैं। इन्हीं दिनों से मासों, पक्षों, ऋतुओं का विभाजन तत्त्वों तथा तत्त्वों के स्तवक सप्तकों के द्वारा निश्चित किया जाता है। शुक्ल-कृष्ण पक्ष (मास के) सम्बन्ध में प्रत्येक तत्त्व एक तिथि है, आदि ब्रह्म अनुमति है, पूर्णिमा है और २५ वाँ तत्त्व सिनीवाली अमावास्या, २६ वाँ तत्त्व राका पूर्णिमा (श० प० ब्रा० १०-४-२-२ से १९ तक पूरा पढ़ लें)। प्रत्येक दिन में ३० मुहूर्त्त होते हैं या एक दिन में १५, एक रात में १५। अतः पूरे संवत्सर में (१५×३६०)+(१५×३६०)=१०८०० मुहूर्त्त हो जाते हैं। इनका भी उल्लेख दिया है।

"स पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्त्तांल्लोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहु त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्त्ता। अथ यत्क्षुद्राः सन्त इमाँल्लोकानापूरयन्ति तस्माल्लोकम्पृणाः। एष वा इदं सर्वं पचति। अहोरात्रैरर्द्धमासैर्मासैऋर्तुभिः संवत्सरेण तदमुना पक्वमयम्पचति, पक्वस्य पक्तेति ह स्माह भारद्वाजो अग्निममुना हि पक्वमयमपचतीति॥ तानि संवत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त॥" (श० प० ब्रा० १०-४-२-१८,१९,२०)

अब वेदों की ऋचाओं की संख्या भी उक्त संवत्सर ब्रह्म के नाना विभागानुकूल ही सम्पादित की जाने की वैज्ञानिक विशेषता का उल्लेख देते हुए कहा गया है कि संवत्सर ब्रह्म ने वेद त्रयी की ही (२४ तत्त्वों में ही) विद्या में सब तत्त्वों या भूतों को देखा। अतः उक्त त्रयी विद्या रूप २४,२४ पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के तत्त्वों में ही उस संवत्सर ब्रह्म ने सब देवताओं (तत्त्वों) का अमृत (पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व) और मर्त्य (उत्तरार्द्ध के २४ तत्त्व) रूप देखा। सबसे पहिले उसने ऋचाओं को उगला। १२०००×३६=४३२००० ऋचायें बृहती रूप में, १०८०० पंक्ति रूप में×४०=४३२०००, ये ३०,३० के व्यूहों में स्थित हुईं। इतनी ही ४३२००० ऋचायें यजुर्वेद में, उतनी ही ४३२००० ऋचायें साम में हुईं। प्रत्येक की गणना बृहती के बारह हजार और पंक्ति के १०९०० के द्वारा की गई है। इनमें से प्रत्येक में १०८००×८०=८६४००० (दिन-रात मिलकर) मन्त्र हुए। "मुहूर्त्तेनाशीतिः समपद्यत" (१०-४-२-२१, से, २५ तक)

८—अक्षर ब्रह्म के अक्षर और वेदों के मंत्रों की संख्या

ऋग्वेद की ऋचा—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्* यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३९) के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' का सम्बन्ध इन्हीं ३६०×३०×८०=८६४००० मन्त्रों और संवत्सर ब्रह्म के इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागों या शब्द ब्रह्म के इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागों से है। 'अक्षरे' का द्विवचन पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो प्रकार के अक्षरों के लिए आया है। उत्तरार्द्ध के आरम्भ में पूर्वार्द्ध के परिपाक से चन्द्रमा या सर या सोम का अभ्युदय इसीलिए इसी ब्राह्मण में इस प्रकार दिया हुआ है।

'९—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' की व्याख्या से अक्षर संख्या

"तद्यत्परिश्रितमुपाधत्त, तद्रात्रिमुपाधत्त तदनु पञ्चदशमुहूर्तान् मुहूर्ताननु पञ्चदशाशीतिः, अथ यद् यजुष्मतीमुपाधत्त तदहरुपाधत्त तदनु;...............
एवं एतान्त्रयीं विद्यामात्मन्नावपत आत्मन्नकुरुत सो ऽत्रैव सर्वेषां भूताना-मात्माऽभवत् छन्दोमयः स्तोममयः प्राणमयो देवतामयः स एतन्मय एव भूत्वा ऊर्द्ध्वं उदक्रामत् स यः स उदक्रामदेष स चन्द्रमाः॥" (१०-४-२-२७)।

इस चन्द्र का उदय ८६४०००×३=२५९२००० सूक्ष्म भागों या २६ वें तत्त्व में चन्द्ररूप में हुआ, जिसका वर्णन इस प्रकार दिया है। उक्त तीनों वेदों के विभागों की 'उखा' रूप योनि में संवत्सर ब्रह्म पुरुष ने रेतः का सिञ्चन किया, उसके प्रथम अर्द्धमास में प्रथम आत्मा (ब्रह्मात्मा) का जन्म हुआ। फिर क्रम से दवीयान् जीवात्मा का, तदनन्तर तैजसात्मा का (वह भी दवीयान् ही ठहरा)। अन्त में दिव्यशरीर रूप उक्त चन्द्रमा या सोम का अभ्युदय उत्तरार्द्ध में हुआ (श० प० ब्रा० ४-२-२-६,२९,३०)। यह चन्द्रमा सूर्यरूप कामब्रह्म का पुत्र है। अतः दोनों को आत्मा या दिव्यशरीरी आत्मा कहा जाता है (सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) और "चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा।" उक्त अन्य तीन आत्माओं का विवेचन भी इसी प्रकार दिया है। ब्रह्मात्मा का नाम 'अग्निरात्मा' है, "अग्नि वै सर्वेषां देवानामात्मा"। वायु जीवात्मा का प्रतिनिधि है, "वायु वै सर्वेषांदेवा-नामात्मा"। सूर्य के बारे में भी कहा है "सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा"। यह तैजसात्मा का प्रतिनिधि है। अन्त में पाचवीं आत्मा का भी नाम दिया है; वह है 'वरुणात्मा'। "वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा"। यह वरुण संगात्मा है, सम्बद्धकारी, सम्बन्धनकारी

१०—पञ्चात्मायें

---

*यहाँ 'परमे व्योमन्' माने 'अर्कः'='मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत्' है—"अर्को देवानां परमे व्योमन्। अर्कस्य देवाः परमे व्योमन्। इत्येतद्वै देवानां विशतां प्रजापति-रुत्तमोऽविशत्तस्मादाह, अर्को देवानां परमे व्योमन् इति। अथ यदाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन् इत्ययं वाऽअग्निरर्कस्तस्यैतदुत्तमायां चितौ सर्वे देवा विष्टास्तस्मा-दाहार्कस्य देवाः परमे व्योमन्निति। (श० प० ब्रा० ८-६-२-१९)

या बन्धन धारण कराने वाला आत्मा है। इसके बिना प्रथम तीन आत्माओं का द्वितीय दो (सूर्य-चन्द्र) से सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता। (श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ तक पूरा देखें)। इन आत्माओं के आयतनों के नाम भी येही दिये हैं, उनके नाम क्रमशः ये हैं (१) अन्तरिक्षं (२) द्यौः (३) दिशः (सूर्य की) (४) नक्षत्र (चन्द्र के) (५) आपः (वरुण का)।

संवत्सर ब्रह्म के द्विधा मासों और दिनों की व्याख्या।

अब उक्त कथन की पुष्टि कुछ अन्य वैदिक मन्त्रों से कर लेनी आवश्यक है। 'चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्' (ऋ० वे० १-१५५-६) में (डिग्रियों द्वारा) दिनों की संख्या अंशों में दी है ४×९०=३६० दिनरात। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन ऋग्वेद संवत्सर ब्रह्म के द्विधा द्वादश मासों के दिनों और रातों की गिनती देते हुए लिखता है कि ब्रह्म (संवत्सर) का एक चक्र है उसमें १२ आरे हैं, जो मिथुन रूप में विद्यमान हैं, वे उस संवत्सर ब्रह्म रूप अग्नि के ७२० पुत्र कहलाते हैं। १२×३०×२=७२० दिन। "द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।" (१-१६४-११)। इनकी गिनती कुछ लोग दूसरे ढंग से पञ्चपर्वा विद्या की सरणि से इस प्रकार करते हैं। समस्त संवत्सर ब्रह्म पाँच भागों में विभक्त हैं, प्रत्येक भाग में १० दश तत्त्व होते हैं। प्रत्येक द्वादश भागों और छह्-छह् उप भागों में विभक्त हैं। अतः १०×१२×६=७२० दिन-रात हो जाते हैं। कुछ लोग इसे सप्तचक्र या सप्त सप्तकों (सात ऋतुओं) में विभक्त करते हैं। पर दूसरी ऋचा फिर पञ्चपर्वा विद्या का विभाजन देती हुई लिखती है कि समस्त संवत्सर ब्रह्म पाँच चक्रों में विभक्त हैं जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड का स्वरूप विद्यमान रहता है। वह अमृत नाभि युक्त है अतः विशीर्ण या नष्ट नहीं होता।

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१२,१३)

११–'गौरीर्मिमाय' मंत्र से अक्षर ब्रह्म के अक्षरों की संख्या

इसी प्रकार 'गौरी' की विवेचना में भी केवल ७२० अहोरात्र का ही वर्णन नहीं मिलता अपितु ८६४००० मुहूर्तों की (पूर्ण दिन-रातों) की संख्या दी है। वह इस प्रकार एकपदी+द्विपदी×चतुष्पदी×अष्टपदी×नवपदी×सहस्राक्षरा=१+२=३×४×८×९×१०००=८६४००० मुहूर्त दिन रातों के मिलाकर हुए।

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४१)

येही अक्षर 'ऋचो अक्षरे' के हैं, मुहूर्त्तों का नाम अक्षर है। इसी बात को पुनः दूसरे ढंग से कहा है कि १२ प्रधियाँ हैं, एक चक्र है, उसकी तीन नाभियाँ हैं, प्रधियों में ३६० शङ्कुओं को लगाया गया है। प्रत्येक शंकु में ६० चला और ६० अचला हैं। यहाँ चला=कला है, अचला=विकला। १२ × ३० × ६० × ६०=१२९६००० विकलाओं का अर्द्ध संवत्सर ब्रह्म हुआ। यह वर्णन अंशों में या डिग्रियों में है। इसी के पूर्ण मुहूर्त ८६४००० होंगे। दोनों दिनरातों की विकलायें २५९२००० होंगी।

१२—तदनुरूप अन्य ऋचाओं द्वारा अक्षर संख्या

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४८)

अथर्ववेद (१०-४-८) में उक्त-उक्त मन्त्र का पाठान्तर है 'त्रिशता' के स्थान में 'त्रीणि सहस्राणि' है तथा अन्तिम पद 'खीला अविचाचला ये' है। अन्यत्र इस वेद ने उक्त मुहूर्तों या अंशों को वर्ष नाम से (हायन) पुकारा है और लिखा है कि तेरे ४३२००० वर्ष युगल रूप में करते हैं जिसमें इन्द्राग्नी आदि विश्वेदेव आनन्द से रहते हैं।

"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥" (८-२-२१)

इससे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद भी तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों की ८६४००० वर्ष संख्या मानता है। एक दूसरी ऋचा में ७२००० संख्या दी हुई है। १×१०×२×२०×३×३०×२=७२००० यह एक ऋतु की मुहूर्त है। इसीलिए 'एकया' लिखा है। छह ऋतुओं में वही ४३२००० संख्या हो जायगी और दोनों अर्द्धों में ८६४००० हो जायगी। वैसे ७२०००×६=४३२०००×२=८६४०००।

"एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥"
(अथर्व ७-१-४)

अथर्ववेद ९-४-९ में ठीक ऋ० वे० १-१६४ के मन्त्रों को उद्धृतकर रखा है, देख लें (अथर्व १०-३-८ भी देखें)।

सप्तवाद का सम्बन्ध सीधे संवत्सरवाद से नहीं है। उसका सम्बन्ध अष्टचक्रवाद से है। हां, त्रिवाद का सम्बन्ध संवत्सरवाद से है। त्रिवाद भी दो-तीन प्रकार का है (१) त्रिपादामृतवाद (जो पुरुष और अश्विनी सूक्तों में प्रायः मिलता है (१-३४ ऋ० वे० आदि) (२) त्रिरथवाद (३) तीन ऋतुवाद (पु० सू०) इनके उल्लेख सप्तवाद में दे दिये गये हैं, यहाँ दुहराये नहीं जाते।

१३—सप्तवादादि और छन्दों द्वारा अक्षर निर्णय

दिनरात्रि को पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध, अर्वाच पराच, परेण अवरेण, अपरावत परावत, उत्तरावत दक्षिणावत आदि नामों से पुकारा गया है (१-१६४-११,१७,१८,१९, ४७ १-९०-६, १-३१-२, इत्यादि देखें)। छन्दों के अनुसार तत्त्व संख्या देनेवाले मन्त्र ये हैं।

"यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥"

(ऋ० १-१६४-२३,२४,२५ अथर्व ९-४-९)

"सिकताभ्यः शर्करा" के सिकताओं का सम्बन्ध भी संवत्सर ब्रह्म से देते हुए सिकताओं को दो प्रकार का कहा है (१) शुक्ल और कृष्ण। ये भी तत्त्वों के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध ही हैं। इनमें ७२०×१००×६=४३२००० अक्षरों की योजना की गई है। "कैतासामसंख्यातानां संख्येति। द्वेऽइति ब्रूयात्। द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो सप्तविंशतिशतानीति (७२०×१००) ब्रूयात्। एतावन्ति हि संवत्सरस्य अहोरात्राणि (७२०) अथो द्वे द्वापञ्चाशे शते (५२००×२=१०४००) इत्येतावन्ति ह्येतस्य षड्चस्याक्षराणि (७२०००× ६=४३२००; १०४०० अंश या कलायें या अक्षराणि) अथो पञ्चविंशतिरिति पञ्चविंशं हि रेतः॥" "ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः" (उत्तरार्द्ध की संख्या) (श. प. ब्रा. ७-३-१-४३,४४)

१४—व्रत, व्रात, व्रात्य वर्णन

उक्त तत्त्वों का नाम देव, देवता, छन्द, व्रत और पर्ण है, एक-एक तत्त्व के ये नाम हैं, जब झुण्ड में देवताओं या तत्त्वों को लिया जाता है तब उसे 'गण' 'व्रात'* या छन्दांसि कहते हैं। ऐसे तत्त्व गणपति, वसु, रुद्र, आदित्य, अयन, ऋतु, गायत्री, वृषभ, रुद्र, विष्णु, पूषा, अदिति, इन्द्र, सोम इत्यादि हैं। जब इनको केवल एक समूह में कहते हैं, तब इनका नाम योग, सांख्य, ब्रह्म संवत्सर, व्रात्य, अहो-रात्र, वर्ष, ब्रह्मणस्पति आदि पड़ता है। ये सब रहस्यमय नाम हैं। सुपर्ण नाम मध्यवर्ती दो तत्त्वों सूर्य चन्द्र का है। इनकी व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें।

'व्रत' तत्त्व का नाम है। इसके प्रमाण ये हैं "को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्दे-वाँ अच्छा पथ्या का समेति। ददृश्र ऐषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥" (ऋ० वे० ३-५४-५,) "व्रता ते अग्ने महतो" (ऋ० वे० ३-६-५) 'व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा' (ऋ० वे० ५-७२-२) 'व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः (ऋ० वे० ३-२६-६) 'व्रतं कृणुत (यजु ४-११) व्रतं च मे ऋतवश्च मे' (यजु १८-२३) 'व्रता ददन्ते अग्नेः' (यजु २७-२६) 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' (यजु १९-३०) 'व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो' (अथर्व ७-७४-४)

*को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवाँ अच्छा पथ्या का समेति। ददृश्र ऐषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥" ऋ० वे० ३-५४-५,

'सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु' (अथर्व ७-६८-१) 'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे (यजुः ६-४; १३-३३) द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः, 'तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनुड्हो व्रतम् (अथर्व ४-११-११) 'भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि, (४-११-२) "इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।" (ऋ० वे० ३-३२-८) "नमो व्रातेभ्यो व्रातपति-भ्यो नमो नमः" (रुद्री ५) "तिस्रोभूमीर्धारयन् त्रींरुतद्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्" (ऋ० वे० २-२७-८) "व्रतान्यन्यो रक्षते सदा।" (ऋ० वे० ७-८६-६) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं" (ऋ० वे० २-१-४)

अब फिर अपने तत्त्व निर्णायक विषय को सभालें। तैंतीस देवता रूप तत्त्वों में से प्रत्येक के सैकड़ों नाम उपलब्ध होते हैं, पर ३३ से आगे के तत्त्वों में कुछेक के निश्चित नाम मिलते हैं, शेषों को अंक संख्या से ही निर्दिष्ट किया गया है। यद्यपि ३३ तत्त्वों में भी ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य=३१+एक इन्द्र+एक वषट्कार या प्रजापति जोड़ा गया है, पर ३४ वें को भी प्रजापति नाम से ही पुकारा गया है जैसे "त उभये चतुस्त्रिंशद्ग्रहाः सम्पद्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तत्प्रजापतिमुज्जयति ॥" (श० प० ब्रा० ५-१-२-१३) प्रजापति कई हैं, प्रायः मुख्य तत्त्वों को प्रजापति नाम से पुकारा गया है। २१ वें को भी प्रजापति कहा गया है "एकविंशोऽयं वै पुरुषो दश हस्त्याङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः (ऐ० ब्रा० १-४-१९; श० प० ब्रा० ६-२-१-४) यह २१ तो ३१ वाँ बैठता है क्योंकि इसमें आदि के १० प्राण नहीं जोड़े गये हैं, इसीलिए अन्यत्र 'दश प्राणा आत्मैकविंशः:" लिखा है (श० प० ब्रा० ३-१-४-२३ ; ३-६-५-१)। यही सहस्रशीर्षा पुरुष है। सत्रहवाँ तत्त्वरूप पुरुष भी प्रजापति है, "सप्तदशं पुरुषः प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० ६-२-१-९) यह वाक्य कई बार पुनरुक्त हुआ है जैसे (५-१-२-१२) "सप्तदशो वै प्रजापतिर्यज्ञः"। चौबीसवाँ तत्त्व भी प्रजापति है "चतुर्विंशो वै पुरुषो-दश हस्त्या अङ्गुलयो दशपाद्याश्चत्वार्यङ्गानि पुरुषः प्रजापतिः" (६-१-४-२३ श० प० ब्रा०)। पैंतीसवें तत्त्व को संवत्सर नाम से पुकारा गया है "यानि पञ्चत्रिंशत् स त्रयोदशो मासः स आत्मा त्रिंशदात्मा प्रतिष्ठा द्वे प्राणा द्वे शिर एव पञ्चत्रिंशम् एतावान्वै संवत्सरः।" (९-१-१-४३ श० प० ब्रा०) यही बात पुनः श. प. ब्रा. ९-३-३-१८ में दुहरायी गई है। इस प्रपाठक में ४० वें तत्त्व की व्याख्या में कहा गया है कि इसके २४,२४ तत्त्वों के दो पक्ष होते हैं, २१ वाँ इसका पुच्छ है और २५ वाँ आत्मा, ३३ वाँ 'वशः' नाम का तत्त्व है, इनमें से प्रत्येक के ८० भाग उनकी आप्तियाँ कहलाती हैं। "यानि अष्टा चत्वारिंशत् तौ चतुर्विंशौ पक्षौ, यानि पञ्च-विंशतिः स आत्मा यानि एकविंशतिस्तदेकविंशंपुच्छं। यानि त्रयस्त्रिंशत् स वशोऽथ या अशीतयः सैवाशीतीनामाप्तिः। अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते ॥" (श० प० ब्रा० ९-३-३-१९)। ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम में १५ वें और १७ वें को पवमान पक्ष कहा है और १५ वें को होता का राज्य, सप्तदश को पृष्ठ, २१ वें को पुच्छ। २५ वें को पुनः आत्मा कहा है, सात को परिमाद पशु। सात छन्दों जिनमें

विराट् अष्टम ली जाती है, के कुल अक्षर ८३ होते हैं उनमें ४५ वाँ और २५ वाँ आत्मा नाम से पुकारा गया है। (श० प० ब्रा० १०-१-३-९ से १९ तक)। ३६ वें तत्त्व को भी त्रयोदशमास और आत्मा नाम से पुकारा गया है और संवत्सर के अहोरात्रों की संख्यायें २७ नक्षत्रों के आधार पर निश्चित की गई हैं, सत्ताईस का नाम 'सप्त विंशति' है, उसी से 'सप्त च शतानि विंशतिश्च' को व्याख्यात किया गया है। इन्हें यजुष्मत्यः इष्टकाः कहा गया है। षट्त्रिंशत् दो प्रकार का माना गया है, क्योंकि 'शिर' द्वयक्षर हैं या तत्त्वों के दो सिर हैं। जिस प्रकार दो सिर हैं उसी प्रकार नक्षत्र और उपनक्षत्र दो प्रकार के हैं। पूर्वार्द्ध के नक्षत्र, उत्तरार्द्ध के उपनक्षत्र कहलाते हैं; दोनों में ७२० रात-दिन होते हैं। यहाँ पर एकविंश (२१ वें) को स्वर्गलोक बृहत्य नाम से पुकारा गया है (श० प० ब्रा० १०-५-४-६ से १२ तक)

१५—भूर्भुवःस्वः, श्रीकी उत्पत्ति

संवत्सर ब्रह्म के जन्म को कुमार जन्म नाम से पुकारते हुए श० प० ब्रा० ११-१-६ प्रपाठक ने एक बड़ी रोचक तथा रहस्यमय कथा दी है जिससे 'भूर्भुवः स्वः' लोकों के क्रम तथा अहोरात्र और देवासुर जन्म कथा पर भी गम्भीर प्रकाश पड़ता है। लिखा है कि संवत्सर ब्रह्म हिरण्मय अण्डे के समान तैरता सा था। वह संवत्सर पूरे होने पर पहिली वाणी 'भूः' बोल पड़ा, उससे पृथिवी उत्पन्न हुई, दूसरी वाणी 'भुवः' बोला उससे अन्तरिक्ष हुआ और तीसरी 'स्वः' उससे 'द्यौ' बनी। प्रथम एकाक्षर, द्वितीय द्वयक्षर और तृतीय त्र्यक्षर बोला। ऐसी वाणियों को बोलते हुए कुमार नामक संवत्सर का जन्म हुआ। जब वह पाँच अक्षर बोला तब पाँच ऋतुयें उत्पन्न हो गईं। इनका सीधा आशय यह है कि सृष्टि वृक्ष की आदि भूमि या सदः या लोक 'भू' है जिसे सृष्टि वृक्ष की भू या पृथिवी कहते हैं, यह हमारी पृथिवी नहीं है, भूः अन्तरिक्ष का प्रथम सप्तक का नाम है, स्वः तृतीय सप्तक का, भुवः पृथिवी या द्वितीय सप्तक का, जिनकी मौलिक सत्ता आदि 'भूः' में ही उत्पन्न या बीज रूपेण या अंकुर रूपेण उत्पन्न बताई गई है, प्रथम सप्तक एकाक्षर है, द्वितीय द्वयक्षर (दीर्घ) तृतीय त्र्यक्षर (ऊष्माणप्लुत)। इनके अंकुर भी वहीं आदि भूः में माने गये हैं, जो बाद में क्रम से पनपे। इस संवत्सर कुमार के ऊर्ध्व प्राणों से या मुख से देवताओं की सृष्टि हुई। अर्वाङ् प्राण या अपान से असुरों भौतिक तत्त्वों की, जिनसे अन्धकार छा गया, पर प्रथमों के प्रकाश से उनकी अधिक नहीं चल पाई। देवता पूर्वार्द्ध के शुक्लपक्ष के वासी हैं, असुर उत्तरार्द्ध के कृष्णपक्ष के, जिन्हें क्रम से अहः+रात्रि=अहोरात्र कहते हैं। यहाँ पर पृथिवी का नाम 'श्री' दिया है जिसे शिर नाम से पुकारा गया है 'श्री वै शिरः' अतः यहाँ भूः से पृथिवी का होना इसी शिर वाची श्री का संकेत करता है। यहाँ पर पञ्चदेवताओं और एकादश देवताओं के नाम भी दिये हैं। उत्तरार्द्ध लक्ष्मी है।

संवत्सर ब्रह्म के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के २४,२४ तत्त्वों के बीच में २५ वें तत्त्व को विषुवत् नाम से पुकारा जाता है। यहाँ से तत्त्वों के दो अयन उत्तरायण, दक्षिणायन माने जाते हैं। प्रथम और २५ वें को जोड़कर सब तत्त्व १+२४+१+२४=५० हो जाते हैं।

१६—विषुवत् वर्णन

"स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः। चतुर्विंशे महाव्रतं विषुवति महाव्रतम्" (१२-१-३-२३) "इमऽएव दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामानो मूर्द्धा विषुवानिमऽएवोत्तरे।" (१२-१-४-२) "संवत्सरस्य विषुवान् अंगानि" (१२-२-३-६) "यदिदमक्ष्णः शुक्लं स प्रथमः स्वरसामा यत्कृष्णं स द्वितीयो यन्मण्डलं स तृतीयो नासिके विषुवान् यदिदमक्ष्णो मण्डलं।" (श० प० ब्रा० १२-२-४-१५) विषुवते विषुवान् १२-२-३-११। संवत्सर के इन्हीं दो भागों को 'द्वे वेदी' कहते हैं, दो लोक कहते हैं, वे हैं देवलोक और पितृलोक, पूर्वार्द्ध देवलोक है, उत्तरार्द्ध पितृलोक। "द्वे वेदी भवतः। द्वौ वाव लोकावित्याहुर्देवलोकश्चैव पितृलोकश्चेत्युत्तरान्या भवति दक्षिणान्योत्तरो वै देवलोको, दक्षिणः पितृलोकः।" (श० प० ब्रा० १२-७-३-७)

ऋतु विद्या में उक्त विषुवद्रेखा कर्करेखा का काम करती है, यहीं से वर्षा ऋतु वृष्टि (पर्जन्य) का आरम्भ होता है। इस प्रकार अयन विद्या दो प्रकार की है। पक्षवादी और ऋतुवादी (अयन ऋतुवाद देखें)। 'चतुर्विंशमेतदहरुपयन्त्यारम्भणीयम्' (ऐ० ब्रा० ४-२-१२) 'अग्निष्टोमः स्यादष्टाचत्वारिंशास्त्रयः' (ऐ० ब्रा० ४-२-१२) 'चतुस्त्रिंशो वै स्तोमानामुत्तमः' (ऐ० ब्रा० ४-३-१८) विषुवान्, (४-३-२२, ४-३-१८) "यथा दक्षिणोऽर्द्ध एवं पूर्वोऽर्द्धो"…'शिर एव विषुवान्' (४-३-२२) "वृत्रं हत्वा विश्वकर्माभवत्प्रजापतिः। प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्संवत्सरः" (४-३-२२)' षट्त्रिंशदहो वा एष यद्द्वादशाहः' (४-४-२४) "असौ वा अस्यादित्यो यूपः पृथिवी वेदिरोषधयो बर्हिर्वनस्पतय इध्मा आपः प्रोक्षण्यो, दिशः परिधयः" (५-५-२८) "चतुर्विंशे ह वै संवत्सरे…गायत्री लोकमाप्नोति" (५-५-२९), 'एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे' (५-५-३०), ब्रध्नस्य विष्टपं स्वर्गं लोकं (५-५-३०) "अग्निना—वैश्वानरेण पर्योदधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्—तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत। तदसावादित्योऽभवत् यद् द्वितीयमासीत्तद् भृगुरभवत् तं वरुणोन्यगृह्णीत। तस्मात्स भृगुर्वारुणिरथ यत् तृतीयमदीदेदिवत आदित्या अभवन्येंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त। तद्बृहस्पतिरभवत् यानि परिक्षाणां न्यासंस्ते कृष्णाः (३-३-३४) शं नः करतीत्येव शंसेच्छमिति प्रतिपद्यते……सो गायत्री ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणैवैनं तं नमस्यति" (ऐ० ब्रा० ३-३-३४)

अक्षर ब्रह्म की आसन्दी

"भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तानि… ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्।।" (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)। "त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा सम-

भरत्तदेतदोमिति···वै स्वर्गो लोकः” (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)। ‘पूर्वे प्रेतास्ते वै कवयः’ (ऐ० ब्रा० ६-४-२०) “ब्रह्म वै यज्ञो;···क्षत्रं हि राष्ट्रं” (ऐ० ब्रा० ७-४-२२); ‘इन्द्रो वै देवतया क्षत्रियो···सोमो राज्येन राजन्यो।’ (ऐ० ब्रा० ७-४-२३) ‘ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं पञ्चदश; ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्येण समर्द्धयति। तद्बारद्वाजं भवति······बृहादार्षेयेण सलोमैष ह वाव क्षत्रिययज्ञः समृद्धो यो बृहत्पृष्ठः।” (ऐ० ब्रा० ८-१-३)

अथर्व १५-१-३,

देवतानां राज्ञां चासन्दी—ऐ० ब्रा० ८-४-१७, श० प० ब्रा० ८-६-४-९,

दिशः —	प्राची;	दक्षिणा;	प्रतीची;	उदीची	ऊर्ध्वा	ध्रुवा
देवताः —	वसवः;	रुद्राः	आदित्याः	विश्वेदेवाः	परमेष्ठी	मरुताश्चा-
राज्यम् —	अग्निः, राजा;	इन्द्रः विराट्;	वरुणः सम्राट्	सोमः स्वराट्	प्रजापतिः	ङ्गिरसश्च
राजानः —	प्राच्यानां राजानः साम्राज्यं, सम्राट्	सात्वतां राजानः भौज्यं भोजाः (इन्द्रः)	नीच्यानां राजानः स्वाराज्यं स्वराट्	हिमवन्तो जन- पदाः उत्तरा कुरवः उत्तर यज्ञः वैराज्यं विराट्	परमेष्ठी प्राजापत्यः महाराजाधि पतिः	 शवसोशी- नराणां कुरु-पा- ञ्चालः जान- राज्यानां राजा बृहस्पतिः महाराज्यं

कौन देवता किसका पति है इसका विवरण इस प्रकार दिया है (श० प० ब्रा० ११-४-३-८ से १७ तक) (१) अग्निः अन्नादः अन्नपतिः। (२) सोमो राजा राजपतिः। (३) वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। (४) मित्रः क्षत्रं क्षत्र-पतिः। (५) इन्द्रो बलं बलपतिः। (६) बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः। (७) सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः। (८) पूषा भगं भगपतिः। (९) सरस्वती पुष्टिः पुष्टिपतिः। (१०) त्वष्टा रूपकृत् रूपपतिः। (११) सोमः परमेष्ठी प्रजापतिः।

यह अक्षर ब्रह्म वैदिक आर्यों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। जितने भी देवी, देवता हैं, जिनकी वर्णना जिस किसी भी रूप में वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में तत्त्वों या देवताओं के रूप में आई है, वे सब के सब इसी अक्षर ब्रह्म के अक्षर हैं, वे सब अक्षर इसी अक्षर ब्रह्म में ‘सूत्रे मणि-गणा इव’ ओत प्रोत हैं। यह निर्णय वाचक्नवी गार्गी विदुषी के प्रश्न के उत्तर के रूप में याज्ञवल्क्य जी द्वारा स्पष्टतया उल्लिखित है (बृह० उप० ३-९)। इसीलिए ऋग्वेद ने लिखा है कि जो इस अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को नहीं जानता वह ऋचाओं की रट लगाकर क्या करेगा? (ऋ० वे० १-१६४-३९)।

अहोरात्र और संवत्सर के वर्णन में निम्नलिखित उद्धरण देते हैं।

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवींचाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥" तै० ब्रा० २-८-९, ऋ० वे० १०-१९०

१७—अहोरात्र सिद्धान्त में सूर्यचन्द्र

इसी तै० ब्राह्मण ने संवत्सर की प्रतिष्ठा में लिखा है "आदित्योऽसि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा। चन्द्रमा आदित्ये श्रितः। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। संवत्सरस्य प्रतिष्ठा। संवत्सरोऽसि नक्षत्रेषु श्रितः॥" तै० ब्रा० के इस अंश को न समझ सकने के कारण सूचना विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ से प्रकाशित भारतीय ज्योतिष पृ० २५,२६ में लिखता है कि आर्यों को चन्द्रमा सूर्य से ऊपर दिखलाई पड़ता था। अतः यहाँ चन्द्रमा को सूर्य पर आश्रित लिखा है। यहाँ पर चन्द्रमा तत्त्व है आकाश का चमचमाता ग्रह पृथिवी की परिक्रमा करने वाला चन्द्रमा कदापि नहीं है। अपनी बात ठीक बैठाने के लिए उन्होंने ऋ० वे० (१-१०५-११) का मन्त्र "सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥" को उद्धृत करके यास्क के अर्थ का अनुसरण करते हुए लिखा है कि यहाँ 'अपः' शब्द के माने यास्क ने अन्तरिक्ष दिया है। ये दोनों, अन्तरिक्ष माने 'पृथिवी और सूर्य के बीच का मध्य स्थान' समझते हैं यह गलत है। हाँ इससे इनके अभिप्राय की पुष्टि हो जाती है कि सूर्य चन्द्रमा से नीचे है। पर बात तो दूसरी है। यहाँ 'आपः' माने 'आपः' जल ही है यह चतुर्थ सप्तक का वर्णन है। वृत्र का क्षेत्र है जिससे "अप तद्वार" (ऋ० वे० १-३२-११) 'जल की धारायें फूट निकलीं' कहा गया है। यह समुद्र सप्तक है। वहीं पर वृत्र का सौम्य भाग चन्द्र है, वही सुपर्ण है। दूसरा सुपर्ण सूर्य तत्त्व है, ये दोनों, ५० तत्त्वों के मध्यवर्ती हैं, २५ वें २६ वें तत्त्व हैं, अतः इन्हें 'मध्ये आरोधने दिवः' कहा है। ऋचा तो कह रही है कि चन्द्र दिव के मध्य में (५० तत्त्वों के मध्य में) स्थित है पर ये 'आपः' का गलत अर्थ लगाकर उसे लौकिक अन्तरिक्ष में घसीट ले जा रहे हैं। वैदिक अन्तरिक्ष तो प्रथम सप्तक है, वसुओं की 'सदः' है।

अन्त में श० प० ब्रा० संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्रों के अनन्त अक्षरों की संख्या देते हुए लिखता है कि संवत्सर पुरुष है, उसके ७२० दिनरात होते हैं।

१८—अहोरात्र के अनन्ताक्षर

उसमें १०८०० संवत्सर के मुहूर्त्त होते हैं। (३६०×३०=७२०×१५=१०८००), इनके १५ गुणित १०८००×१५=१६२००० क्षिप्र हुए। इनके १५ गुने १६२०००×१५=२४३०००० एतर्हीणी (एतर्हि) होते हैं। इनके १५ गुने २४३००००×१५=३६४५०००० इदानीनि (इदानि) हुए। इनके १५ गुने ३६४५-

००००×१५=५४६७५०००० प्राण होते हैं। अब जितने प्राण हैं उतने ही 'अना', जितने 'अना' उतने ही निमेष, जितने निमेष उतने ही 'लोमगर्त्ताः'; जितने लोमगर्त्त उतने ही स्वेदायन, जितने स्वेदायन उतने ही स्तोक बरसते हैं; जो कुल मिलाकर ५४६७५००००×६=स्तोकाः=३२८०५०००० हुए*। इन्हें संवत्सर या वर्ष के स्तोक नाम से पुकारा जाता है। अतः श्लोक दिये हैं।

प्रश्न—"श्रमादन्यत्र परिवर्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥?

उत्तर—"शतं शतानि पुरुषः समेनाष्टौ शता यन्मितं तद्वदन्ति। (१०८००)
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानितीति ॥
(श० प० ब्रा० १२-३-२-४ से ८ तक पूरा देखें)

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' के अक्षरे (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के) ये ही हैं 'ऋचां च यजुषां च एकशेषः ऋक् तस्य पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूपे अक्षरे द्वे ऋग्यजुषेक्षरे'।

१९—वेही 'ऋचो अक्षरे' के भी अक्षर हैं

इसीलिए तो इस ऋचा में कहा है। जो इस अर्थ को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा? यही भाव अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड १५-३ पूरे में पूरा दिया है, संख्या भी दे रखी है। उपनिषदों ने ऋचो अक्षरे के अर्थ में केवल इतना ही लिखा है 'ऋचो द्वे अक्षरे'। ये 'द्वे अक्षरे' ५० तत्त्वों के दो अर्द्धों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध रखते हैं। ये 'द्वे अक्षरे' पूर्वार्द्ध के २४ स्वर और ऊष्माण हैं, २५ वाँ ॐ है, उत्तरार्द्ध के २५ पञ्चवर्गीय व्यञ्जन हैं। ये तत्त्वों के प्रतीकाक्षर या अक्षर हैं। पर इनकी कुल संख्या ४३२०००० पूरे या ८६४००० अर्द्ध है। इस समूह का नाम व्रात्य है, प्रत्येक अक्षर का नाम 'व्रत'। इसीलिए अथर्ववेद 'ऋचो अक्षरे' की आसन्दी में इस व्रात्य को बैठने की आज्ञा देता है। ये ४३२०००० अखिल देवताओं की संख्या है, इसीलिए 'ऋचो अक्षरे, में सब देवों या तत्त्वों या व्रतों का निवास कहा गया है, और उसे व्रात्य। यहाँ 'ऋचो अक्षरे' के 'ऋचो' शब्द में 'ऋचां यजुषां च एकशेषः ऋक् तयोर्ऋचोः' (४३२००००००००) अक्षर हैं (पूरे)। दोनों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के आधे इतने ही हुए।

*दश च वै सहस्राणि अष्टौ च शतानि। संवत्सरस्य मुहूर्त्ता यावन्तो मुहूर्त्तास्तावन्ति पञ्चदश कृत्वः क्षिप्राणि, यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पञ्चदश कृत्व एतर्हीणि···तावन्ति पञ्चदश कृत्व इदानीनि, यावन्ति इदानीनि तावन्तः पञ्चदश कृत्वः प्राणा यावन्तः प्राणास्तावन्तोऽना, यावन्तोऽना स्तावन्तो निमेषा यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्त्ता यावन्तो लोमगर्त्तास्तावन्ति स्वेदायनानि यावन्ति स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति। एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह वार्कलिः। सार्वभौमं मेघं वर्षन्तं वेदाहमस्य वर्षस्य स्तोकानिति। तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—श्रमा······(श. प. ब्रा. १२-३-२-५ से ८ तक)

"स एतैः सुप्तः। न कस्य चन वेद न मनसा सङ्कल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति······सर्वमग्निमनुविभवत्यथ यदेक एव तस्मादेका। तदाहुः। एको मृत्युर्बहवा ३ इति। एकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयात्। यदहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१५-१६)

और छान्द. उप. ने मधु के उदाहरण में श्वेतकेतु से सत् की व्याख्या में कहा है "यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहार-मेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽ-

२०—युगाक्षर मुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥२॥ त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्-भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ३ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (६-९)। हमारे शास्त्रों में, चार युग माने जाते हैं उनके वर्षों का कुल योग ४३२००० वर्ष है। यह संख्या वैदिक है; जिसकी चर्चा की जा चुकी है। चार युग जगती ब्रह्म के चार पाद ४८ तत्त्व के हैं। कुल अर्द्ध वर्ष तो ८६४००० होते हैं। अतः जगती के चार पदों से पूरे षडष्टक या सप्तकों का प्रति-निधित्व होता है। वे सब अहोरात्र के एक रूप में हैं। चारों पाद के विकास के वर्षों का अनुपात १,२,३,४ स्थानों के विपरीत क्रम से या ४,३,२,१, है। यही अनुपात उन चार युगों के वर्षों का है। यदि ४३२००० वर्षों को इस अनुपात में विभक्त किया जाय तो प्रथम सप्तक या युग में $\frac{४३२०००\times४}{१०}=१७६४००$ वर्ष, द्वितीय सप्तक या युग में $\frac{४३२०००\times३}{१०}=१२९६०००$ वर्ष, तृतीय युग या सप्तक में $\frac{४३२०००\times२}{१०}=८६४०००$ वर्ष, और चतुर्थ युग में या सप्तक में $\frac{४३२०००\times१}{१०}=$ ४३२००० वर्ष होते हैं। इनके कुल योग ४३,२००,०० को हजार से गुणा किया जाय तो ४,३२,००,००,००० वर्षों में पूर्ण अहोरात्र या एक कल्प माना जाता है। प्रत्येक युग १२,१२ तत्त्वों का है। यह गीता और मनुस्मृति के अल्पपाठान्तर के श्लोक से पुष्ट है। 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।' (गीता ८-१७, मनु २)। इस श्लोक में वर्षों की संख्या ८६४००००,००० है, दिन ४,२२,००,००,००० रात ४,३२,००,००,००० वर्ष। ये दिन-रात बारह-बारह घंटे के पूरे ४३२००००,००० वर्ष ही होंगे। ये तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध हैं। युगों के नाम उनके अनुपातीय अंकों के आधार पर रखे गये हैं। जो दोनों काम करते हैं, अनुपातीय अंक का उद्बोधन और नाम का संकेत भी। सत्य युग ४ अनुपात का युग है, वाग्धेनु के चार स्तन या पाद हैं। त्रेता युग ३ अनुपात का युग है, द्वापर दो अनुपात का, कलि, एक कला का युग है। द्वापर में या चतुर्थ नृषद् सप्तक में रोहिणी नामक नक्षत्र में अष्टमी,

आदित्य में सोम, विष्णु, वा कृष्ण यज्ञ का जन्म होता है जो २६ वाँ तत्त्व है, कलियुग ३६ वें से ४८ वें तत्त्व तक रहेगा। यह अष्टम आदित्यरूप विष्णु कृष्ण यज्ञ तत्त्व अदिति (देवकी) के आठ पुत्रों में अन्तिम अष्टम पुत्र है, इसका नाम मार्तण्ड, पुरुषपशु, हस्ति आदि भी है। परशु नाम वेदि या द्वितीय सप्तक का, ९ वें से १६ वें तक के तत्त्वों का है (अथर्व ७-३-२८)। यही रुद्र का सप्तक है, रुद्र के परशु के टुकड़े से परशुराम का परशु बना है, परशुराम भार्गवेय हैं, 'भृगुर्वारुणिः'। अतः वरुण के आधार पर परशुराम का स्थान भी वहीं पड़ता है जो सोम या विष्णु का है। दशरथ २५ वें से १० तत्त्वों का नाम है। (आश्विनो दशमो ग्रहः)। इसलिए 'राम' नाम गायत्री के पुरुष रूप पति का है (गीते रमते त्रायते इत्यादि); वैसे वेदों में इन सब के नाम आते ही हैं (ऋ० वे० १०-३-१४)। लोमश ऋषि के लोम भी उक्त संख्या के योग के लोम हैं लोमश व्रात्य या योग या संवत्सर ब्रह्म अनन्त अमर है। इन्हीं का नाम समिध भी है, इतने समिध व्रात्य हैं। 'त्रिःसप्त समिधः' व्रात है, सब समिध व्रत हैं।

२१—सांख्य और योग के अक्षर

वैदिकों के केवल दो दर्शन हैं, सांख्य और योग। इन्हीं दर्शनों का वास्तविक नाम वेदान्त भी है, जैसा कि श्वेताश्वतर उप० ने पूरे सांख्य योग का वर्णन देने के अन्त में (अध्याय ६-१९) लिखा है कि यह सांख्ययोग का ही ज्ञान वेदान्त में परम गुह्य है, जैसे 'वेदान्ते परमं गुह्यं इत्यादि। ये दोनों एकदम एक दूसरे से विपरीत क्रम को बतलाने वाले तत्त्व हैं। दर्शन का आरम्भ योग से होता है, योग युगों या व्रतों का होता है, युग चार हैं, नाना प्रकार के युगों के वर्षों का व्रत और व्रतों के समूह का नाम व्रात है। कुल वर्ष संख्या ८६४,००,००,००० है, यह योग है। इसी का नाम व्रात्य है। योग और व्रात्य नाम पर्यायवाची हैं। यही संवत्सर ब्रह्म है, नाना नामों का ब्रह्म है। इसके विकास का क्रम पहिले दिये हुए २४ तत्त्वों की सरणि में दिया है (जैसे १×७२०,२×३६०), यह संख्या दिनों में है। वैसे एक तत्त्व में ८,६४,००,००,००० विभाग, दूसरे तत्त्व में ४३२००००००० दो भाग, प्रत्येक तत्त्व में ८,६४,००,००,०००÷४८=१८०,००,००० विभाग हैं। प्रत्येक तत्त्व के विकास में १,८०,००,०० भागों का विकास होता है, जो अन्त में ८६४००००००० हो जाते हैं। यह तो रहा सांख्य या संख्याओं के क्रम से सृष्टि का विकास। इसमें ब्रह्म का ज्ञान उत्तरोत्तर क्षीण होकर कुहू बन जाती है, ४८ वें तत्त्व में। उस ब्रह्मज्ञान की ज्योति जागृत करने के लिए उलटे क्रम से तत्त्वों का एक-एक करके पूर्व-पूर्व में लय करना पड़ता है। उत्तरार्द्ध में कृष्ण पक्ष है, सोम रूप दिव्यशरीरी चन्द्रमा की क्षीण ज्योति का धुँधला प्रकाश रहता है, इस पक्ष में ४,३२००००००० तत्त्व रूप तारों के बीच हमारा सोमात्मा दिव्यशरीर ही ज्ञान का दीपक बनता है। हमारे पूर्ण भौतिक शरीर में ८६४००००००० तारे रूप तत्त्व हैं। उनमें सोमात्मा रूप चन्द्र की ज्योति है। जब योगी सोम को पा जाता है, तब वह इन तारों

को क्रमशः पूर्वार्द्ध के दिन रूप अग्नि के प्रकाश में अस्त करने लगता है। यह स्थिति २५ वें से प्रथम तक में आती है। सूर्योदय २५ वाँ तत्त्व है, उसे या इस सूर्य रूप काम को अस्त करके, भौतिक तारों की समाप्ति कर देनी पड़ती है, फिर भी ४३२०००००००० आध्यात्मिक तारे रह जाते हैं। उनको, १८०००००० तारों को एक-एक तत्त्व के क्रम से प्रत्येक तत्त्व में लय करके, अन्त में व्रात्य या योग रूप संवत्सर ब्रह्म ज्योति का अनुभव करना पड़ता है। जो क्रम योगी के वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में घटित होता है, वही अखिल ब्रह्माण्ड के प्रलय काण्ड में भी चलता है। यही सांख्य और योग का अन्तर है, सांख्य क्रमिक विकास देने वाला दर्शन है तो योग, क्रमिक प्रलयकारी, ह्रासकारी, पर ज्ञान ज्योति देने वाला। जो व्यक्ति इस सांख्य योग को या ऋचो अक्षरे (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध) के तत्त्वों को व्रात्य या योग में (परमे व्योमन्=अर्कः) नहीं जानता, वह वेदों को व्यर्थ में पढ़कर क्या करेगा? शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म पुरुष से यह अक्षरब्रह्म या शब्दब्रह्म परे का तत्त्व है; उसमें इन अक्षरों या पुरुषों या कलाओं या स्वभावों या बीजों का लय या प्रलय या एकात्म्य हो जाता है। अतः वह पुरुषोत्तम उत्तम, परमात्मा और ईश्वर कहलाता है। सारी सृष्टि क्षर है। अतः गीता ने कहा है।

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि <u>लोके वेदे च</u> प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१५।१८।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकोत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१५।१७।।

इसी उद्धरण के रेखाङ्कित भाग में इस मत को वैदिक मत के नाम से घोषित किया गया है।

अध्याय ८

वैदिक दर्शन पर वैदिक पशुवाद या कल्प का नीहारावृत परदा

समस्त वैदिक वाङ्मय वैदिक पशुवाद से ओतप्रोत है। वैदिक वाङ्मय के अन्तस्तल में वैदिक दर्शन के अमृत का क्षीर सागर निहित है, उसके पास तक पहुँचने के मार्ग में आपको सैकड़ों तत्त्व रूप पशुओं का सामना करना पड़ेगा। वैदिक चाहते तो वे इसे सीधी भाषा में कहकर लिख देते, पर इस शैली से ये वेद हमें अबतक चिरस्थायी रूप में न मिल पाते। उन्होंने वेद (ज्ञानमय) ब्रह्म की व्याख्या को वेद (ऋग्यजुःसामाथर्व) के मन्त्र रूप पशुओं की पीठ में रखकर, उन्हें काव्यमय, रसमय और कल्पना से अवतारित पशुमय कथानकों के रूप में, सरल सुबोध और आकर्षक बनाने के लिए उक्त वेद (ब्रह्म और ऋग्यजु सामाथर्वीय) को देव रूप तत्त्वों की गाथा रूप में वर्णित करते हुए अपनी प्रतिभा का अनुपम प्रमाण प्रस्तुत किया, खेद है कि इसे न समझ सकने के कारण वेदों का वास्तविक रहस्य अबतक रहस्य ही बना रह गया है।

१—पशुवाद स्थापना का कारण

वैदिकों ने 'पशु' शब्द का प्रयोग यज्ञ प्रणाली को स्थापित करने के लिए ही किया था। ऋग्वेद, सर्वप्रथम वेद की सर्वप्रथम ऋचा ही अग्नि को 'यज्ञस्य देवं' या यज्ञ का देवता बतलाती है। यज्ञ में बध माने हिंसा अवश्य है, पर रहस्य या दर्शन में यही वध शब्द तत्त्व के बन्धन या अनुगमन या दमन का अर्थ निश्चयात्मकतया रखता है। यही श्लेषार्थ दूसरे शब्द 'आलभन' का है, जिसका सीधा अर्थ पूर्णज्ञान या पूर्ण प्राप्ति है, इसका प्रयोग जब यज्ञ के पशु के सम्बन्ध में किया जाता है तब इसका अर्थ हिंसा हो जाता है। इस शब्द का प्रथम अर्थ (पूर्णज्ञान, पूर्णप्राप्ति) तो दार्शनिक और रहस्यमय है, द्वितीय (हिंसा) यज्ञ सम्बन्धी। इस प्रकार के श्लिष्ट शब्दों के उक्त श्लेषार्थ जाने बिना वेदों का अर्थ न लगेगा।

२—पशुवध का रहस्य

पशु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ भी अनोखे ही हैं। पशु माने कल्पना, कल्प, प्रतिभा की ऊँचो उड़ान और जैसा समझा या देखा उसका तद्वत् वर्णन करना है। 'पश्यतीति पशुः' या स्वर विपर्यय से 'पुष्यतीति पशुः' इसकी निरुक्ति है। जिस तत्त्व को जैसा देखा या समझा या जिस तत्त्व का विकास जिस प्रकार होते देखा या समझा (पुष्यतीति) या कल्पित किया उसका तदनुरूप वर्णन 'पशुः' या कल्प कहलाता है। लिखा भी है 'यदपश्यत् तस्मादेते पशवः'

३—पशु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

(श० प० ब्रा० ६-१-४-२)। इसी सन्दर्भ से 'पशु' वह बृहत् या महतो महीयान् या अणोरणीयान् तत्त्व है जिसे दिव्यचक्षुओं या ज्ञाननेत्रों से देखा या समझा जा सकता है, न कि तत्तन्नाम के पशु के आकार-प्रकार में जो इतना छोटा या तुच्छ है। तत्तन्नाम के पशुरूप में कल्प या वर्णन तो दार्शनिक विवेचन को रोचक काव्यशैली में आकर्षक और अति सरल सुबोध बनाकर सर्वस्तरीय बुद्धि के लोगों की पहुँच तक लाने के प्रयास के लिए किया गया है।

वेदों में वर्णित पशु तीन प्रकार के हैं (१) छान्दस पशु (२) देव पशु और (३) उक्त दोनों की व्याख्या के लिए अनन्त गाथाओं की श्रुतियों या मन्त्रों के रूप में व्यङ्ग्य लक्षणा, श्लेषोक्ति, समासोक्ति, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति प्रभृति अलंकारों की सहायता से कल्परूप ऐतिहासिक आख्यान देना। इस बात का समर्थन ऐ० ब्रा० (३-२-२४) ने इस वाक्य द्वारा किया है।

४—वेदों में पशुओं के प्रकार

"पशवो वै स्वरः पशवः प्रगाथः"; तथा श. प. ब्रा. ने (३-६-५-१६) "सप्त वै छन्दांसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः" "त्रीणि ह पशोरेकादशानि" (३-६-५-१) वाक्यों से, और "पशवो वै देवानां छन्दांसि" श० प० ब्रा० (४-३-५-१) में यह बिलकुल स्पष्ट है। इसी बात को ऐ० ब्रा० (३-५-४७) ने दूसरे ढंग से पुष्ट किया है।

(१) छान्दस पशु—अखिल वैदिक विश्वदर्शन का मूल शिलान्यास छान्दस पशुओं की कल्पना से किया गया है। छन्द प्रायः चार पाद का होता है, अतः पशु कहलाता है, जो छन्द जितने पादों का है उसे उतने पाद का पशु कहा गया है, जैसे :—'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः·······वृषभो रोरवीति' मन्त्र का त्रिपादी वृषभ, गायत्री के तीन पादों का पशु है, गायत्र पशु या पुरुष पशु है। क्योंकि पुरुष गायत्री का पतिः है जैसे 'गायत्रो वै पुरुषः' (ऐ० ब्रा० ४-१-३)। यह त्रिपदी गायत्री पशु का त्रिपदी गायत्र पशु या पुरुष पशु या वृषभ है। प्रत्येक छन्द में जितने अक्षर होते हैं उनमें से प्रत्येक अक्षर एक-एक तत्त्व या देवता का प्रतीक माना जाता है। जैसे ऐ० ब्रा० लिखता है :—

"त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषटकारश्च। 'देवता अक्षरभाजः करोति। अक्षरमक्षरमेव तद्देवता' अनु प्र पिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति। यं कामयेतानायतनवान्त्स्यादित्यविराजास्य यजेत् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वान्येन वा छन्दसा वषट् कुर्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति, यं कामयेतायतनवान्त्स्यादिति विराजास्य यजेत् 'पिबा सोममिन्द्र मदन्तु त्वा' इति एतयायतनवन्तमेवैनं तत्करोति ॥" (३-२-२२;२-५-३७)

यहाँ ३३ देवता हैं। इसमें त्रिष्टुप् या अनुष्टुप् से इनकी गणना बैठती है। अतः इन्हीं का विधान दिया है, विराट् से ३३ अक्षरों की पूर्ति नहीं होती, अतः उसे मना किया है। छन्द का प्रत्येक अक्षर एक देवता है। छन्दाक्षर देवता का पानपात्र है। गायत्री त्रिपादामृत २४ तत्त्वों या अक्षरों की दर्शन की पूर्वार्द्ध

है, त्रिष्टुप् या अनुष्टुप् या चतुष्पदा गायत्री ३३ देवताओं या तत्त्वों की पूरी गिनती देती है, विराट् ४० अक्षरों या तत्त्वों की, जगती ४८ अक्षरों या तत्त्वों की, गायत्री को छोड़ सब चतुष्पद पशु हैं। एकपदी, द्विपदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टापदी तक होते हैं जैसे "वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्" (ऋ० वे० ८-७६-१२)

छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाया गया है, क्योंकि ये प्रायः चतुष्पाद् और कभी-कभी त्रिपाद, द्विपाद, एकपाद होते हैं, ऐसे पशु होते हैं जैसे—

५—छन्दों को पशु क्यों कहते हैं ?

"पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। तद्यत्र छन्दांसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥" (श० प० ब्रा० ४-३-५-१)।

वेदों में प्रायः हारियोजन इन्द्र का वर्णन है। यह हारियोजनीय इन्द्र भी छान्दस इन्द्र है, छन्द के प्रत्येक अक्षर उत्तरोत्तर विकासीय इन्द्र हैं, अतः लिखा है, "छन्दांसि वा हारियोजनः···तं वै अतिरिक्तं गृह्णाति" (४-३-५-२ श. प. ब्रा.)। इस हारियोजन इन्द्र को अतिरिक्त ग्रह कहते हैं। क्योंकि इन्द्र तीन प्रकार का है, सर्वादेवता, हारियोजन और शतक्रतु। इनमें हारियोजन या छान्दस इन्द्र अतिरिक्त इन्द्र कहलाता है। छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाने वाला वाक्य ऐ० ब्रा० (३-५-४७) में भी मिलता है जैसे—

"छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति। यथाश्वो वाश्वतरो वोहिवाँस्तिष्ठेदेवं तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोडाशमनु देविकाहवींषि निर्वपेत् ॥"

इस प्रकार वेदों या ब्राह्मणों में बिना छन्दाक्षरों की गिनती, छन्द तथा ऋषि का नाम दिए किसी तत्त्व का न वर्णन मिलता है, न देवताओं को हवि देने की विधि। छन्द ही एक ऐसी वस्तु है जिस पर वेद मन्त्र निर्माण स्वरूप का भार लदा है, जिस पर वैदिक दर्शन का ढाँचा आधारित है, जिसके द्वारा सब यज्ञ विधान प्रचालित होते हैं। इस विषय पर मन्त्रभाग कम महत्त्व और अवधारण नहीं देता। जैसे :—"गायन्ति त्वा गायत्रिणो ऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥" (ऋ० वे० १-१०-१) तथा—

"यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृत्वमानशुः ॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥

है, त्रिष्टुप् या अनुष्टुप् या चतुष्पदा गायत्री ३३ देवताओं या तत्त्वों की पूरी गिनती देती है, विराट् ४० अक्षरों या तत्त्वों की, जगती ४८ अक्षरों या तत्त्वों की, गायत्री को छोड़ सब चतुष्पद पशु हैं। एकपदी, द्विपदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टापदी तक होते हैं जैसे "वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्" (ऋ० वे० ८-७६-१२)

छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाया गया है, क्योंकि ये प्रायः चतुष्पाद् और कभी-कभी त्रिपाद, द्विपाद, एकपाद होते हैं, ऐसे पशु होते हैं जैसे—

५—छन्दों को पशु क्यों कहते हैं ?

"पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। तद्यत्र छन्दांसि देवान्त्समतर्पयन्नथ छन्दांसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागभूद्यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान्त्समतीतृपन् ॥" (श० प० ब्रा० ४-३-५-१)।

वेदों में प्रायः हारियोजन इन्द्र का वर्णन है। यह हारियोजनीय इन्द्र भी छान्दस इन्द्र है, छन्द के प्रत्येक अक्षर उत्तरोत्तर विकासीय इन्द्र हैं, अतः लिखा है, "छन्दांसि वा हारियोजनः···तं वै अतिरिक्तं गृह्णाति" (४-३-५-२ श. प. ब्रा.)। इस हारियोजन इन्द्र को अतिरिक्त ग्रह कहते हैं। क्योंकि इन्द्र तीन प्रकार का है, सर्वादेवता, हारियोजन और शतक्रतु। इनमें हारियोजन या छान्दस इन्द्र अतिरिक्त इन्द्र कहलाता है। छन्दों को देवताओं के यज्ञ का ढोनेवाला पशु बतलाने वाला वाक्य ऐ० ब्रा० (३-५-४७) में भी मिलता है जैसे—

"छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति। यथाश्वो वाश्वतरो वोह्विवाँस्तिष्ठेदेवं तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोडाशमनु देविकाहवींषि निर्वपेत् ॥"

इस प्रकार वेदों या ब्राह्मणों में बिना छन्दाक्षरों की गिनती, छन्द तथा ऋषि का नाम दिए किसी तत्त्व का न वर्णन मिलता है, न देवताओं को हवि देने की विधि। छन्द ही एक ऐसी वस्तु है जिस पर वेद मन्त्र निर्माण स्वरूप का भार लदा है, जिस पर वैदिक दर्शन का ढाँचा आधारित है, जिसके द्वारा सब यज्ञ विधान प्रचालित होते हैं। इस विषय पर मन्त्रभाग कम महत्त्व और अवधारण नहीं देता। जैसे :—"गायन्ति त्वा गायत्रिणो ऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ॥" (ऋ० वे० १-१०-१) तथा—

"यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृत्वमानशुः ॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥

से किसी एक के विस्तार या भेद हैं। श० प० ब्रा० ३-२-४-१ में कर्मकाण्ड में विहित सप्तपद या सप्तपदी को भी इन्हीं सात छन्दों को बतलाते हुए लिखा है।

"यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै तेषां पराध्यो शक्करी तामेवैतत्परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते तस्मात्सप्त पदान्यनुनिक्रामति।"

कहने का तात्पर्य यह है कि सप्त पद, सात सप्तक हैं, जिनका प्रतिनिधित्व सात मुख्य छन्द करते हैं। ऐ० ब्रा० ने ५-२-१३ में भी कुछ इसी प्रकार का संकेत किया है। अन्त में श० प० ब्रा० ने ३-६-५-१६ में पुरुष सूक्त १०-९० के मंत्र "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।" का भाष्य सा करते हुए लिखा है कि ये वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु, छान्दस पशु हैं, सात-सात पशु हैं, वायव्य मरुतों के सात सप्तकों के ४९ पशु हैं (श० प० ब्रा० २-४-२-१३—सप्त-सप्त हि मरुतः गणाः) सात आरण्य या अरणि भवा आग्नेय पशु हैं, सात ग्राम्य या सप्त सप्तकीय पशु हैं। इनके निर्माण का आधार छन्दों को बतलाते हुए लिखा है "छन्दांसि गच्छस्वाहेति। सप्त वै छन्दांसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः सप्त वायव्यास्तानेवैतदुभयान् प्रजनयति॥" और ३-६-५-८ में पृषदाज्य का भाष्य देते हुए लिखा है कि पृषदाज्यं माने प्राणाः है, अन्नं या सोम है, जिनका प्रतिनिधित्व कर्म में दधि आज्य का मिश्रण करता है। 'द्वयं वा इदं सर्पिश्च दधि च द्वन्द्वं वै मिथुनं'। यहाँ पर आरण्य पशु गायत्र पशु हैं, आग्नेय पशु हैं, अरणि भवा आग्नेया तृतीय सप्तकीय गायत्र पशु हैं, वायव्य पशु वसु तत्त्वों से उद्भव द्वितीय सप्तकीय वायवीय पशु तत्त्व है, ग्राम्य पशु तीन ग्रामों से उद्भूत चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ पाद हैं। ये अन्तरिक्ष नामक प्रथम सप्तक से वायुरूप में उत्पन्न होने के कारण वायव्य, दो अरणि या द्विपाद् रूप द्वितीय सप्तक से उत्पन्न होने के कारण आरण्य, तीन ग्राम रूप तीन सप्तकों से उत्पन्न होने के कारण ग्राम्य पशु कहलाते हैं, न कि ये आकाशीय, जंगली और गाँव के पशु हैं। ये तत्त्व रूप पशु हैं, इनको श० प० ब्रा० (१-२-१-७) ने 'आत्रो सा सम्पद्यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति' या ये अत्रितत्त्व से उत्पन्न पशु हैं कहा है।

(२) देव पशु—वैदिकों ने प्रत्येक देवता का जो वर्णन सामाजिक प्राणी या व्यक्ति के रूप में किया है, क्या वहाँ पर उनकी सामाजिकता यथार्थवादिता है? नहीं, इनमें से कोई भी सामाजिक विषय नहीं है, पर यहाँ पर देवताओं के जिस समाज की अलौकिक वर्णना की गई है, वह सब पशुवाद है। इससे तत्कालीन वैदिकों की सामाजिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है, तत्त्वों का समाजानुकूल वर्णन, समाज के व्यक्तियों और वर्गों की समता और भेदभाव हीनता का भी उद्घाटन करता है। और तत्त्व रूप देवताओं का व्यवहार मानुषिक समाज से बाहर का या स्वाभाविक होने से प्रत्येक तत्त्व का व्यक्तिरूप (प्रजापति) पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र रूप में वर्णित करने पर भी जब काम न चला तब उनका वर्णन पशु समाजानुकूल मान्य बनाने के लिए सब का पशु रूप में वर्णन

किया, इस रूप के वर्णन से यज्ञ में बध और आलभन शब्दों को दो श्लेषार्थ भी बड़ी चतुराई से भिड़ा दिये गये। जैसे जब बृहदारण्यक उपनिषद (१-१-४-४) यह लिखता है "सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा (पत्नी) सम्भवति, । हन्त तिरोऽसानीति, । सा गौरभवदृषभ इतरः" इत्यादि कि जब पुरुष विध का प्रथम आत्मा अकेला था उसे भय लगता रहा; उसने साथी चाहा, शरीर के दो भाग किये, पति-पत्नी बने, पर उसने सोचा मेरे ही शरीर से उत्पन्न स्त्री मेरी पत्नी कैसे बने ? अतः वह ऋषभ बना स्त्री भाग गौ (गाय)। पशु समाज में कोई किसी की पत्नी बन सकती है, बहिन हो या माँ या कोई और। इस दृष्टिकोण को अपना कर सामाजिकता भी निभ गई और तत्त्व रूप देवताओं का पशु समान स्वभाविक विकास सम्बन्धी प्रणाली भी पूर्णतः सफल हो गई, उधर बध और आलभन शब्दों के श्लेष से सामाजिकता और पशुता दोनों का यज्ञ में यथानुरूप विधान और पालन भी हो गया।

इस बात को सब मानेंगे कि देवता तत्त्व न तो प्राणी थे न पशु थे, वे तो व्यापक, बृहत्, शक्ति पुञ्ज, सृष्टि विकास परम्परा के तत्त्व रूप प्रतिनिधि हैं।

७—पशुवाद का लक्ष्य

ऐसी परिस्थिति में इन सब का ब्राह्मणादि जातिरूप में, राजा, सम्राट्, स्वराट्, प्रजा आदि पदवी रूपों में और नाना जड़ पदार्थों के समान—समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, रत्न, धन के रूपों में एक दूसरे के शत्रु मित्ररूप देवासुर रूप में और नाना पशु, पक्षी, मृगादि रूपों में वर्णना तो दर्शन को छोटी-छोटी रोचक कथानकों में ढालकर सबके समझने के योग्य बनाने का प्रयास मात्र है। इसीलिए ये सब कथानक पशु कहलाते हैं, क्योंकि इनमें कथा का क्रम तो कल्पना है, पशु है, इन सबका वास्तविक रहस्य तो प्रत्येक देवता की क्रियाओं की विशिष्टता पर ही प्रकाश डालना है, इस ओर उक्त सब कथानक आवश्यकता से अधिक संकेत कर देते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि देवताओं के बारे में वेदों में जो कुछ भी जैसी-जैसी भी जितनी भी कथायें दी गई हैं या वर्णित हैं, वे सब कथानक सच्चे

८—कथारूप पशु

पशु हैं, वे कहानियाँ अक्षर प्रत्यक्षर कल्पनायें हैं, इन कथाओं में देवताओं का यथार्थ इतिहास या चरित्र नहीं है। इन कथा रूप पशु का बध या आलभन करके, इनके नायक देवता रूप पुरुष या देवता का बन्धन या ज्ञानग्रन्थि में बन्धन या आलभन या पूर्णज्ञान प्राप्त करना या कराना वेदों या वैदिकों का मुख्य कर्त्तव्य है। उदाहरण के लिए पुरुष सूक्त के "सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्" ऋचा के पुरुष पशु की पशुता इस पुरुष तत्त्व को पुरुष (पुल्लिंग) कहना और पशु कहना है, पशु इसलिए कहा है कि इसका सिर और धड़ दोनों (२५,२५ तत्त्वों के होने से) बराबर थे, उसे कुतरना पड़ा था। यह तो केवल उस पुरुष तत्त्व के दार्शनिक रूप के दो भागों की

पशुरूप में व्याख्या देता है, ऐसा नहीं कि कोई ऐसा पशु हो जिसके सिर और धड़ बराबर हों। और ऋचा के अनुसार जिसने उस पुरुष नामक दार्शनिक तत्त्व ब्रह्म की सात परिधियों या सात सप्तकों के ५० तत्त्वों को और पूर्वार्द्ध के 'त्रिः सप्त समिधः' रूप २४ तत्त्वों को भलीभाँति यज्ञ से या ज्ञान यज्ञ को करते हुए या ज्ञान चक्षुओं से देख लिया और समझ लिया, उसने या ऐसे दैवी शक्ति सम्पन्न देव या देवों ने, उस पुरुष पशु का बधकर डाला, अर्थात् उसने उस पुरुष और पुरुष पशु की उक्त कथा का बधकर डाला, उसे चीर डाला, उसने उसमें से वास्तविक ब्रह्म विकास परम्परा के चित्र रूप आध्यात्मिक पुरुष या ब्रह्म का ज्ञानग्रन्थि में बन्धन या हृदय मन्दिर में आलभन या पूर्ण प्राप्ति करली। यह है वैदिकों की हिंसा। वैदिक हिंसा—कथारूप पशुओं की हिंसा है, उनमें जो ज्ञान निहित है उसे निचोड़ कर, निकालकर, ज्ञानग्रन्थि या हृदय-मन्दिर में सुरक्षित करना है। इसीलिए कहा है 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कि वैदिक हिंसा-हिंसा नहीं होती। कर्मकाण्डी लोगों की हिंसा तो अभिनय की हिंसा है। वहां यज्ञस्थल में भी वध नहीं करना चाहिए था, पर खाने-पीनेवाले मस्त कर्मकाण्डी कब मानने वाले थे—वे हिंसा अवश्य करते रहे, अतः यह भ्रम बना पड़ा रह गया है। ऋषियों ने तो पञ्चपशुओं के मांस को अपक्रान्तमेधा होने से खाने के लिए स्पष्ट मना किया था (अश्वमेध और पु० सू० देखें)।

देवता विषयक कथायें ही पशु हैं, सचमुच में देवताओं के नामों की कल्पना भी पशु है। प्रत्येक देवता का जो कुछ भी नाम है वह सार्थक और पारिभाषिक है। इन नामों की दार्शनिकता उनकी निरुक्ति व्युत्पत्ति या पारिभाषिकता पर निर्भर है, बिना इनके, ये सब नाम केवल पशुवाद मात्र के प्रतीक हैं। प्रत्येक देवता का कथानकीय नाम भी पशु है, उसका भी वध या आलभन करना वैदिकी हिंसा है। इनके निरुक्ति मूलक व्युत्पत्ति सिद्ध और पारिभाषिक अर्थ को समझना ही उसका ज्ञानग्रन्थि में बन्धन और हृदय मन्दिर में आलभन या पूर्ण प्राप्ति है। यह बात प्रत्येक देवता के नाम पर घटित समझनी चाहिए।

९—देवता नाम भी पशु ही हैं

इतना ही नहीं वैदिकों ने प्रत्येक देवता को पशु नाम से भी पुकारा है और प्रत्येक को पशु का स्वरूप और नाम भी दिया है। जैसे ३३ देवताओं को पशुओं के तीन एकादशों में विभक्त करके प्रत्येक देवता को एक-एक पशु घोषित कर दिया है जैसे—

१०—प्रत्येक देवता को पशु कहा है

"त्रीणि ह वै पशोरेकादशानि। एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजो दश पाण्या अङ्गुलयो दशपाद्या दशप्राणाः प्राण उदानो व्यान इत्येतावान्वै पुरुषो यः पराद्धर्थ्यः पशूनां यं सर्वेऽनु पशवः॥" (श० प० ब्रा० ३-६-५-१)

यह पुरुष सूत्र के पुरुष पशु की व्याख्या है। उसे परार्द्ध या दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का बतलाया है, ३३ वाँ घोषित किया है, प्रथम एकादश प्रयाज पशु है, द्वितीय, तृतीय, एकादश क्रम से अनुयाज पशु और उपयाज पशु हैं। उदान-व्यान को छोड़ जो पुरुष ३१ वां होता है वही 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' वाला भयंकर पशु है जो १० दश अंगुलि सरणि से पूर्व-पूर्व का क्रम से अतिक्रमण करके ३१ वां बनता है। अतः लिखा है 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (पुरुष पशु देखें) जिसका एक अर्थ यह भी है कि वह विराट् पुरुष से १० अंगुल पीछे रह गया, विराट् ४० वाँ तत्त्व है। आगे चलकर श० प० ब्रा० ३-७-२ पूरे प्रपाठक में मुख्य-मुख्य देवताओं को पशु नाम से पुकार कर उनमें से ११ को 'पश्वेकादशिनी' पशुओं की एकादशी या ११ मुख्य पशुओं के नाम दिये हैं। वे ११ मुख्य पशु ये हैं "आग्नेय, सारस्वत, सौम्य, पौष्ण, बार्हस्पत्य, वैश्वदेव, ऐन्द्र, मारुत, ऐन्द्राग्न, सावित्र, और वारुण,"।

११—प्रत्येक देवता का सम्बन्ध पशु से है

प्रत्येक वैदिक देवता का सम्बन्ध किसी न किसी पशु से है। वृषभ' नामक शीर्षक से स्पष्ट है कि ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवा, भगः, मरुत, पर्जन्य, विष्णु, रुद्र, नदी, सिन्धु, मित्रावरुण, वास्तोष्पति, मुद्गल इन्द्र, गौ, वाग्धेनु आदि को वृषभ या धेनु नामक पशु रूप में वर्णित किया गया है। ब्रह्मणस्पति गणपति है, उसका वाहन मूषक है। आग्नेय पशु मेष और महिष है। सारस्वत पशु असुर है। पौष्ण पशु आदित्य है जिन्हें गाव या गो कहा गया है (आदित्य देखें)। सौम्य पशु वृत्र, अहि आदि हैं। वैश्वदेव पशु पितृरूप पशु हैं। मारुत और इन्द्र पशु, रुद्रादि गण और कूर्म नाग आदि हैं। सावित्र पशु गायत्र पुरुष पशु है। विष्णु का पशु, शेष वृत्र गौ, प्रश्नि हैं। रुद्र का वृषभ है और स्वयं पशुपति हैं। सरस्वती का हंस और लक्ष्मी का मयूर है, पूषा के पञ्च पशु-पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि, अजा हैं। इनके अतिरिक्त अन्यत्र किम्पुरुष, अश्व, अश्वतरी, रासभ, गर्दभी, उष्ट्र, उष्ट्री इत्यादि पशुओं को इन्हीं के साथ जोड़ रखा है। जिसको वृषभ करते हैं उसी को ऋषभ भी करते हैं। ऋषभ देव भी पशु है, स्थान-स्थान पर प्रत्येक पशु के नाम की व्याख्या दार्शनिक ढंग से दी गई है जैसे—

१२—पशु नाम की सार्थकता

"यो रसदिव स रासभो ऽभवत्; यः कपाले लिप्तो रस आसीद् सो ऽजो ऽभवत्" (श० प० ब्रा० ६-१-१-११)। 'अविरितीयं वा अधिरियं हीमाः सर्वाः प्रजा अवतीयमसुं वा' 'अवी इतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा अवतो यन्मृदि' 'इमे वै लोका गौः यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकां गच्छतीम उ लोकाः' (श० प० ब्रा० ६-१-२-३३,३४,३५);

अर्थात् रासभ वह पशु या तत्त्व है जो रसमय है। 'अज' वह है जो लिप्त या व्याप्त है, अवि (भेड़) वह है जो अवन या रक्षण करती है, इसका सम्पूर्ण

विवेचन मुण्डक द्वितीय खण्ड में विस्तारपूर्वक मिलेगा। गौ वह है जो इस भौतिकता में परिणत होती रहती है, भौतिक ब्रह्माण्ड गमनशील परिवर्तन शील है। अतः 'गौः' कहलाता है, यह अनन्त रूपिणी है। अतः पृश्निः कहलाती है 'त्र्यायं गौः पृश्निर क्रमीत्' इत्यादि। इस प्रकार पशुओं का नाम केवल दार्शनिकता की व्याख्या का आधार मात्र बनाने के लिए, कल्पना मात्र के लिए, परदे के समान रखा गया है।

वेदों में यज्ञ नाम पुरुष का है "पुरुषो वै यज्ञः" और इस यज्ञ पुरुष को पशुरूप हवि नाम से पुकारा है 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वतः'। अतः यज्ञ भी पशु है, यज्ञ विधान भी पशु है, ये दोनों पशु वैधानिक, कर्मकाण्ड के नियमों के पशु हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर लिखा है कि उषा पशु है, रुद्र पशु हैं, आदित्य पशु हैं, मरुत पशु हैं, ऋभु पशु हैं, छन्द पशु हैं, सब वैदिक देवताओं के नाम पशु हैं। ये सब नाम दार्शनिक व्याख्या के लिए काल्पनिक कथानकों के या ऐतिहासिक कथानकों के दर्शन में ढले आख्यानों के लिए अपनाये गये हैं जैसे—

१३—यज्ञादि भी पशु हैं

"सरस्वत्यै, पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वैपूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदैवतत्सम्भृत्यात्मन्कुरुते ॥" (श० प० ब्रा० ३-१-४-९)

यहाँ यज्ञ को पशु बतलाया है और श० प० ब्रा० ३-९-२-१ में यज्ञ रूप पशु के शिरोच्छेद की कथा देते हुए लिखा है कि यज्ञरूप पशु के शिरोच्छेद से ही (चतुर्थसप्तकीय वृत्रमय आपोरूप रस प्रस्यन्दमान होने (टपकने) लगा जैसे—

"यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽछिद्यत। तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसं स्यन्दमानं मन्यते।"

इस प्रकार समस्त यज्ञ विधान पशु का बध और बन्धन या आलभन (हिंसा तथा पूर्णता प्राप्ति) करना वैदिकों का अभिप्राय था। संहिता युग में ही वैदिकों ने इस प्रकार के कर्मकाण्डियों की हँसी उड़ाते हुए लिख दिया था कि—

"सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥"

(ऋ० वे० १०-८५-३-४)

ये कर्मकाण्डी ओषधि, जड़ी-बूटी घोटकर सोम पी लिया करके समझते हैं। वेदों में जिसे सोम समझा गया है उसे कोई (मिट्टी का पुतला कर्मकाण्डी

१५—पशुवाद को न समझने वालों की हँसी उड़ाई जाती रही।

नहीं पी सकता। उसे तो वाग्ब्रह्म के नाना विधानों से सुरक्षित किया गया है। ये उसका पत्थर (सिलवट्टा) नाम सुनकर ठगे गये हैं। यह सोम उक्त यज्ञरूप पशु के शिरोच्छेद से टपकने वाला रसमय, आपोमय शब्द ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ऋचो अक्षरे' ऋचा में 'किमृचा करिष्यति' वाक्य द्वारा 'जो अक्षर ब्रह्म के अक्षरों को नहीं जानता वह ऋचाओं को क्यों पढ़ता है' ? कहा है।

१६—पशुवाद को समझने वाले आचार्य और यजमान की संविद्

अनूचान ब्राह्मणों के यज्ञ विधान में चारों ओर दार्शनिकता की मधुधारा बहती रहती थी। उन्हें 'शुश्रुवान्सः, अनूचानाः, ब्राह्मणाः' कहते थे। इसका संकेत वालखिल्य काण्ड में इस मधुमयी भाषा और ऋचा में दिया मिलता है।

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै ॥"

(ऋ० वे० ८-५८-१,२,३ पूरा सूक्त)।

इस सूक्त में भी स्पष्ट लिखा है कि ऋत्विज लोग यज्ञ में जिस ब्रह्म की नाना विधियों से कल्पना करते थे और उस कल्पना में यजमान—यज्ञकर्त्ता और ब्राह्मण दोनों को जैसी संविद् या आभ्यन्तर अनुभूति होती रही, वह यह थी कि एक ही अग्नि रूप ब्रह्म नाना रूपों में आहूत किया जाता है; सूर्य एक ही है, उषा एक ही है, अखिल सृष्टि एक है, सृष्ट्यादि काल में सब कुछ 'एक' था। वह ज्योतिष्मान्, प्रकाशवान्, केतुमान् या भौतिकता युक्त, त्रिचक्री (त्रिपादामृत युक्त भौतिकता मिश्रित) सुखमय आनन्दमय रथ या शरीर सम था जो 'सुषद' या प्राणों का अधिष्ठान था, पर था नाना ऊर्मिमय वैद्युतीय तरंगों से परिपूर्ण आपोमय सागर सा और जो चित्रामघा या चतुर्थ सप्तक के भौतिकता के आवरण में सोमरूप रसमय था; उसी का यज्ञों में आह्वान या अभिनय किया जाता था, जिसकी सम्पादन क्रिया में अधिकाधिक ब्रह्मरस पिये जाने के समान आनन्द आता रहा। यह था यज्ञरूप पशु का वध या बन्धन या आलभन। वैदिकों की उषा और सूर्य नित्य उदित होने वाले उषा, सूर्य नहीं हैं, ये तो अभिनय के काल्पनिक आधार हैं। उषा नाम भौतिकता के प्रथमाभास, रमणीय दृश्यमान आभास का है। भौतिकता का पूर्णोदय सूर्य है, जिसका उदय दर्शन के मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व में होता है। अतः जहाँ-जहाँ सूर्य का सूक्त है, वहाँ-वहाँ उसे मध्यवर्ती बतलाते हुए 'मध्या कर्तो विततं सं जभार' आदि लिखा है (चित्रं

देवानामुदगादनीकं, इत्यादि ऋ० वे० १-११५ सूक्त देखें)। इसी को चक्षु नाम देकर, वरुण, मित्र, अग्नि की चक्षु कहा है। चक्षु माने भौतिकता का प्रथमाङ्कुर और प्रथम दृश्यमान या चक्षुमय या भौतिकात्मा की दृश्य शक्ति है, यही भौतिकात्मा सहस्राक्ष या सर्वतोऽक्षिरूप है, स्थूल ब्रह्माण्ड का सर्वतोचक्षुमय अंकुरमय मूलबीज है। अतः 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। उषा को पिछले परिच्छेद में संवत्सर ब्रह्म की पत्नी बतलाया जा चुका है। उसे सूर्य की पत्नी या इन्द्र की मघोनी भी कहा है, पर यह तो भौतिकता का प्रथमाभास रूप है, भौतिकता को त्रिपादामृतरूप ब्रह्म की पत्नी ही माना है, कहीं इसे अश्व (ढोने वाला) कहते हैं, कहीं रथ या शरीर या स्त्री इत्यादि नामों से पुकारते हैं। कुछ भी कहें, यह उषा इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की आदि जननी स्वरूपिणी है। इसीलिए इसे, सूर्य को चक्षु कहने की तरह, 'भास्वती नेत्री' या चमकीली आँख सी बतलाते हुए कहा है कि यह वह प्रथम भौतिक तत्त्व है जो अहोरूप त्रिपादामृत से दिव की दुहिता के रूप में उत्पन्न होकर भौतिकता के विवर्त को सर्वप्रथम प्रारम्भ करती है।

"कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना विभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव।"
(ऋ० वे० १-१८५-१)

अतः श० प० ब्रा० उषा को 'उल्व' या गर्भ नाम से पुकारता है 'उषा वै उल्वं' (७-२-३-११)। और ऐ० ब्रा० (४-४,२७) में लिखा है कि केवल इसी उषा से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना प्रारम्भ हुई, जैसे "ऊषोहि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत। ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षान् नान्तरिक्षाद्भूमिः।" ऐ० ब्रा० (४-४-२७)। यह उषा नामक देवता की पशुरूप व्याख्या है। इस कथानक रूप पशु का बध करके यह गाँठ में बाँधना है कि २४ वें तत्त्व के अन्त को उषा या भौतिकता का प्रथमाभास या प्रथमाङ्कुर कहते हैं। २५ वें में वह सूर्य तत्त्व रूप में पूरा अंकुर (चक्षु या आँख) बनकर फूट निकलता है, भौतिक सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। २४ वाँ अत्रि तत्त्व है। अतः सूर्य को अत्रि की आँख (चक्षु) कहते हैं। यही २४ वाँ तत्त्व कथान्तर से मित्र, वरुण या जातवेदाग्नि है। अतः उसे 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा गया है, कथारूप पशु की बलि कर दीजिए, शेष ज्ञान उक्त सृष्टिज्ञान रह जायगा।

वेदों, ब्राह्मणों या उपनिषदों में जब यह लिखा है कि "तदैक्षत, बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उप० ६-२) 'सो···एकाकी बिभेति, आत्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्'। (बृह० उप० १-४) इत्यादि जिनके बदले मंत्र भाग में काम नामक तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋ० वे० १०-१२९-४) तब इस प्रकार के वचन रूप कथानक सब पशु हैं। ये कल्पशास्त्र की कल्पना की व्याख्या रखते हैं। कामना की

१७—'स ऐक्षत' आदि वाक्य और सब कथानक पशु हैं

स्मृति, विराट् या जाग्रत पुरुष रूप पशु के रूप में की गई है। उस पुरुषपशु का कथानक भी पशु है। वास्तविकता यह है कि मनोवाग्प्राण तीनों का संयोग या तेजोमय वैद्युतीय वेगवान् सर्वव्यापक तत्त्व विकास की लहरों में प्रवाहित होने लगा। नहीं तो इच्छा करने वाला कौन था? देव या असुर, नर या नारी, मनुष्य या देव, पशु या पक्षी? प्रथम है तो दूसरा कैसे विकसित होगा? दूसरा है तो प्रथम कैसे? दोनों या सब हैं तो सबकी सृष्टि साथ-साथ गणेशाकार धनुर्धराकार सृष्टि न कर देंगे? ये सबपशुरूप कल्पनायें हैं। इनका बध करके ज्ञान की ज्योति को अपनाना वैदिकों को अभीष्ट था, इन्हीं पशुरूप कल्पनाओं का, फल के छिलके रूप कथानक का बध या तोड़फोड़ करके ज्ञानरूप गूदे या भीतरी फल या रस का अमृतमय पान करना, वैदिकी हिंसा है और सर्वश्रेष्ठ हिंसा है।

१८—कथानकों का खोल

वेदों के कथानक लौकिक या बाहरी खोल हैं, कथानक अखरोट के फल के बाहरी छिलके हैं, वे पशु हैं। देवताओं के नाम भी ऐसे ही छिलके हैं, उनका बध या तोड़फोड़ करना है, उनका भीतरी गूदा या फल वैदिक (दर्शन) है, वेदों की, ब्राह्मणों की और उपनिषदों की अमृतमय आत्मा है। लौकिक कथानकों में कोरी कल्पना नहीं है, कल्पना दर्शन विषयक है, कथानक तो ऐतिहासिक हैं, इन ऐतिहासिक लौकिक कथानकों को वैदिक दर्शन के अमृतमय रस भरने का पात्र या लादने का पशु या कल्पना का आधार बना रखा है। वैदिक मन्त्रों के बाहर लौकिकता का ऐतिहासिक परदा है। उनके भीतर ही भीतर रसमय ब्रह्म का अनन्त क्षीरसागर सन्निहित है। जैसे वेदों में इन्द्र-वृत्र के युद्ध का अनन्त वर्णन है, पर श० प० ब्रा० ने सबकी आखें खोल देने के लिए उक्त निष्कर्ष और कथन की पुष्टि करते हुए, वैदिक अहोरात्रवाद पर प्रकाश डालने के लिए लिखा है कि देवताओं की सृष्टि मुख से या पूर्वार्द्ध से हुई और असुरों की सृष्टि अवाङ् प्राण या उत्तरार्द्ध से। पूर्वार्द्ध दिन है, प्रकाशमय है, अतः देवता प्रकाश रूप ज्ञानरूप हैं, उत्तरार्द्ध तमोमय रात्रि है, अतः असुर तमोमय अज्ञानमय हैं। इन दोनों के संयोग के अहोरात्र से, देवासुर संग्राम से, प्रकाशान्धकार संघर्ष तो वैदिक मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक घटना रूप में कभी भी नहीं घटा है। परन्तु इतिहास में या लौकिक संसार में ऐसी घटनायें नित्य घटा करती हैं। उनका उपमान मात्र लेकर यहाँ पर उन्हें वैदिक दर्शन के रहस्यों का खोल बना लिया गया है।

१९—इन्द्रवृत्र युद्ध की पशुता

इसीलिए ऋषियों ने बार-बार कहा है कि हे इन्द्र! तुम कभी भी एक दिन भी नहीं लड़े, न हे मघवन! तुम्हारा कोई शत्रु ही है; वेदों में जिन युद्धों का वर्णन किया गया है, वे तो माया हैं अर्थात् दार्शनिक रहस्य के ऐसे सांकेतिक या काल्पनिक कथानक हैं, जो लोक में नित्य प्रति घटते रहते हैं, तब (उस वैदिककाल में भी)

घटे थे, अतः न तो तुम्हारा शत्रु आदि में कोई था, न तुम कभी भी पहिले लड़े। जैसे—

"स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त।···योऽयमवाङ्प्राणः। तेनासुरानसृजत···तम इवास।···तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत, इति ह्यासे त्वत्ततोह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्–'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहन्न तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुन्न नु पुरा युयुत्स'इति···तेअहोरात्रे॥"

(११-१-६—७, ८, ९, १०, ११, १२ श० प० ब्रा०)

यहां पर जो कथन उद्धृत किया गया है, वह श० प० ब्रा० की अपनी कोरी कल्पना नहीं है। इसमें ऋग्वेद की एक ऋचा भी उद्धृत है, पर इसी भाव को रखने वाली दो अन्य ऋचायें स्वयं वेदों में निहित मिलती हैं; जिनसे यह सन्देहहीन रूप से निश्चित हो जाता है कि वेदों के लौकिक आख्यान केवल वैदिक दर्शन के खोल हैं, खाल हैं, पशु हैं, कल्पना के आधार के लिए पशु कथानक हैं, जैसे ऋ० वे० १०-२७-३ लिखता है

२०—पशुता स्वयं वैदिक भावना है इसका प्रमाण

"नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून् समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत् समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति॥"

कि मैं उस व्यक्ति को नहीं समझ पाता जो यह कहता है कि इन्द्र ने अदेवयू, वृत्रादि असुरों को युद्ध में मारा। जब वह यह कहता है कि यह युद्ध तो व्यथ में बाहरी खोल है, अजागलस्तमवत् है, हां, तब वह सचमुच में एक समझदार की सी बातें करता है। दूसरी ऋचा कहती है

"यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥"

(ऋ० वे० १०-५४-२)

कि जब वेदों में यह कहा जाता है कि इन्द्र शत्रुओं की अनन्त सेना को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को इतना बढ़ा देता है, (कि वे सब नष्ट हो जाते हैं) तब यह समझना चाहिए कि यह सब माया का वर्णन है, अर्थात् काल्पनिक कथा है। इन्द्र का न कोई शत्रु आदि से रहा है, न उसने कभी शत्रु को देखा या समझा ही, उसके युद्धों का वर्णन तो केवल रूपक या दार्शनिक रहस्य के सांकेतिक या काल्पनिक कथानक हैं, जिन्हें इनके ऐसे कल्पशास्त्र से समझना आवश्यक है।

समस्त वेदों को और अखिल सृष्टि को वैदिक आर्यों ने वृक्ष का रूपक दिया है। कुछ दिनों पश्चात् यह साधारण वृक्ष, वट या पिपल का वृक्ष—बड़े होने के कारण कहलाने लगा। हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय जब एक वृक्ष या महान् वृक्ष है या अश्वत्थादि वृक्ष है, तभी वेदों के विभेद ऋग्यजुःसामाथर्व तथा इनके सब प्रभेद अब तक

२१—सृष्टि वृक्ष रूप पशुता

शाखायें कहलाती हैं, इनके छन्द उस वृत्त या शाखाओं के पर्ण कहलाते हैं। उधर जब अखिल ब्रह्माण्ड एक वृक्ष है तो उसका मूल ऊपर को है, शिर नीचे को, उसके क्रमिक विकास, शाखायें हैं, ये क्रमिक विकास, देवता या तत्त्व रूपी हैं, इसका प्रथम पर्ण भौतिकता का प्रथम आभास और द्वितीय पर्ण पूर्ण भौतिकता है। इन दोनों को चक्षु (वृक्ष की अङ्कुर उगाने वाली आँख) से उत्पन्न सुपर्ण या प्रथम दो पत्ते कहते हैं। इन्हीं को दो सुपर्ण रूप पक्षी भी कहते हैं। इसका वर्णन ऋग्वेद में दो स्थलों में आया है। ऋ० वे० १०-३१-७ और १०-८१-४

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
सन्तस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त॥"

इसी भाव को अथर्ववेद ने कई शब्दान्तरों में एक नये ढंग से कहा है, जो सर्वोपनिषद् प्रसिद्ध है।

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त साकं वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति॥"

(ये अस्य गोपा महतो बभूवुः—चतुर्थ चरण का पाठान्तर अथर्व १०-८-९में) कठ, श्वेत, मुण्डक और बृहदारण्यक (२-२-३) में यह उक्त रूप में मिलता है। गीता ने इसको इस प्रकार बदल दिया है।

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद्॥" (१५-१)

गीता ने तो यहां पर यह भी शर्त रख दी है कि वही वेदविद् या वेदवेत्ता कहला सकता है जो इस वेद वृक्ष या देव वृत्त को जानता है, अन्य नहीं। अस्तु! हमारा प्रश्न यह है। क्या सृष्टि या वेद वृत्त हैं? या कुछ और? क्या यह काल्पनिक सुन्दर आकर्षक रूपक नहीं? तब क्या वृत्त को वेद कहेंगे या सृष्टि कहेंगे? या इसके उलटे सृष्टि की व्याख्या एक वृत्त से की गई कहेंगे। सृष्टिदेव या वेददेव की यह वृक्ष रूप वर्णना कोरी कल्पना है, पशु है, इसकी हिंसा से ही वेदों या देवों का उचित ज्ञान या भान होगा। इसी प्रकार शब्दब्रह्म, वाग्ब्रह्म या अक्षर-ब्रह्म वर्णना भी पशुवत् वर्णना है। ब्रह्म तो मधुमयी विद्युत् का व्याप्तिमय, एकमय, सूक्ष्मतम हिरण्यगर्भ या सुवर्णाण्ड है, जिसमें अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उगा, पनपा और स्थिर है। उसकी मधुमती लहरियों को-जिन्हें ज्ञानमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय या आनन्दमय कहते हैं—शब्दब्रह्म या वाग्ब्रह्म या अक्षरब्रह्म कहते हैं। ये आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार के ऋत और सत्य शरों से युक्त हैं, दोनों अनादि, अनन्त और नित्य हैं। हां, स्थूल भौतिकता में इनका स्वरूप परिवर्तनशील हो जाता है तो ये फिर भी अनित्य नहीं होते, एक का परिणाम दूसरे में हो जाता है। एक स्थल की लहरी दूसरे स्थल में व्याप्त हो जाती है, कोई लहरी कभी नष्ट नहीं होती, सब नित्य हैं, स्वरूप बदलना अनित्यता नहीं है, परिवर्तन तो परम्परा-क्रम है। शब्द या वाग् की लहरियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि इनका अनुभव

मात्र हो सकता है। जिसे लोग अनित्य शब्द कहते हैं उसकी स्मृति मूर्ति तो जीवनभर या सृष्टिपर्यन्त बनी रहती है और परिवर्तित भी होती है, सर्प चलते हुए जैसे अपनी गति की लकीर छोड़ जाता है, वह इतना स्थूल भी यहां अपने सूक्ष्म रूप में रहता ही है। शब्द ब्रह्म की गति तो और भी निराली है। इसी प्रकार ब्रह्म का समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष (पंच या सप्त) रूपों की वर्णना सब पशुवाद हैं। ये कल्पना के महल रूप कथानक हैं, ब्रह्म की विशद या यथार्थ चित्रमयी व्याख्यायें हैं, अतः पशुवाद हैं। इनके भीतरी रहस्य के रस को चूस कर शेष को फेंक देना ही वेदों की विद्वत्ता कहलाती है। गीता ने इसी भाव को मन में रख कर लिख भी दिया था।

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (२-४६)

जिस प्रकार चारों ओर फैले हुए पानी में से प्यासे को अपनी प्यास बुझाने मात्र से सम्बन्ध रहता है, (शेष को देख कर केवल अवाक् रह जाना पड़ता है) वैसे ही नाना प्रकार की कथारूप कल्पनारूप वैदिक साहित्य सागर के पास जाकर ज्ञानी ब्राह्मण या ब्रह्मज्ञान के प्यासे को ब्रह्मज्ञान पीने मात्र से (उसके मीठे रस को अपनी तृप्ति के अनुकूल पीने मात्र से) सम्बन्ध रखना है, उसे उन कथानकों की अनन्तता में नहीं डूबना चाहिए। जो यहां डूबा, वह कहीं नहीं उतर सकता। अतः वेदों का पशुवाद इतना अधिक महत्त्व पूर्ण है कि इसे जाने समझे बिना किसी को भी वेदों का अर्थ नहीं लग सकता। जो इसे समझ गया, उसके लिये वेद हस्तामलकवत् स्वयं दृश्य है।

२२—पशुवाद में कितना ग्राह्य है कितना त्याज्य

अध्याय ९

'पञ्चपर्वा-विद्या'

आजकल तो वैदिक 'पञ्चपर्वा-विद्या का लोप हो चुका है। पर हमारी सारी संस्कृति, संस्कार, धार्मिक भावनायें और मार्मिक धार्मिक कृत्य सब उसी पञ्चपर्वा-विद्या की प्राचीन भावनाओं के प्रतिबिम्ब रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं। इसके नाम से तो प्रायः सभी परिचित हैं, पर इनका विषय अवगत नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इस विद्या का स्पष्ट उल्लेख और पूर्ण विवेचन निम्न मंत्र से दे रखा है :—

१—पञ्चपर्वा विद्या किसे कहते हैं ?

"पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥"

इस पञ्चपर्वा के पाँच पर्वों की गिनती के कई मार्ग हैं, जिनमें से पञ्चनद्यः, पञ्चपशवः, पञ्चर्तवः, पञ्चप्राणाः, पञ्चबुद्धयः, पञ्चचितयः, पञ्चाग्नयः, पञ्चसमुद्राः, पञ्चपर्वताः, और पञ्चवृक्षाः मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक पञ्चक में पूरे-पूरे ५० तत्त्व हैं। प्रत्येक पर्व विद्या में पाँच-पाँच पर्व या गाँठ हैं। प्रत्येक पर्व या गाँठ में दस-दस तत्त्व आते हैं। इनकी गिनती में अङ्गुलिसरणि के दस-दस तत्त्वों के गुच्छे होते हैं। पाँच गुच्छे मिलकर 'ऋतं बृहत्' का पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। ब्रह्म को प्राण, चिति, अग्नि, ऋतु, ज्ञान, अश्म, अश्रु, समुद्र आदि नामों से पुकारा गया है। अश्मवाद पर्वत विद्या में, ऋतुवाद ऋतुओं में, अग्निवाद अग्नियों में, अश्रुवाद नदीवाद में, समुद्रवाद समुद्रों में, ओषधिवाद वृक्षों में, पशुवाद और प्राणवाद प्राणियों में या पुरुषवाद में, ज्ञानवाद बुद्धिवाद में परिणत करके, एक ब्रह्म की व्याख्या को पाँच-पाँच पर्वों में विभक्त करके उक्त पञ्चपर्वा विद्या की नाना रूपों में सृष्टि की गई है।

उक्त सब पर्वत, नदी, वृक्ष, ओषधि और प्राणादिकों की पञ्चपर्वीय सृष्टि उस आदि ब्रह्म से ही मानी गई है, जिसके सैकड़ों प्रमाण हैं। जैसे—

"अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।" (मुण्डक)

२—पञ्चपर्वा का विषय

"तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति॥" (ऋ. वे. १-१६४-४२)

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत॥

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्॥"
(ऋ० वे० १०-१९०-१,२,३)

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः॥"
(ऋ० वे० १०-५-१)

"अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥"
(ऋ० वे० १०-६८-११)

ब्रह्मणस्पति और इन्द्र को पर्वत भेत्ता उक्त और निम्न तथा कई अन्य मन्त्रों में बतलाया है। इन्द्रापर्वतौ नामक देवता तो इन्द्र और पर्वतों का तादात्म्य भी करता है (ऋ० वे० ३-५३)। अतः पर्वत इन्द्र के समान आध्यात्मिक तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। "त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२) "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वतां अग्निमूतये।" (ऋ० वे० १०-६४-८) "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्तं वि पर्वतम्।" (ऋ० वे० २-२४-२) में पर्वतों का भेत्ता ब्रह्मणस्पति भी है। नदियों का भेत्ता इन्द्र है "इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुः" (३-३३-६)। सर्वदेवता सोम को भी समुद्र नाम से पुकारा गया है "त्वं समुद्रिया अपो" (ऋ० वे० ९-६२-२६) "त्वं समुद्रो असि विश्ववित्" (ऋ० वे० ९-८६-२९) अश्विनी की तीन नदियाँ बतलाई हैं "त्रिरश्विना सिन्धुभिः" (ऋ० वे० १-३४-८)। "त्वं सिन्धूंरवासृजो" (१०-१३३-२) मन्त्र तो नदियों के सर्जनहार को ब्रह्म ही बतलाता है। इसका समर्थन ऐ० उप० (१-१) ने—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽदो···शिश्नाद्रेतः रेतस आपः" वाक्य से, छान्दोग्य (६-१०) ने "इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह।" वाक्य से—और बृह० उप० (३-८-९) ने "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां-यां च दिश मनु एति एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः-प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः।" वाक्य से की है।

हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० वे० १०-१२९-४) ने इसीलिए हिमवान् पर्वत को ब्रह्म का अपना पर्वत बतलाते हुए कहा है "यस्येमे हिमवन्तोः"। शेष उद्धरण अष्टचक्र, सप्तचक्र, षड्चक्र, पञ्चचक्र, चतुश्चक्र और त्रिचक्र वर्णन में पहिले देखें। मैत्रायणी संहिता ने तो पर्वतों को प्रजापति का सबसे ज्येष्ठ पुत्र बतलाया है (मै० सं० १-१०-१३)।

उक्त सब प्रमाण यह सिद्ध कर देते हैं कि वेदों में वर्णित नदी, पर्वत, वृक्ष, वनस्पति, समुद्र, पशु, नाग, ग्रावाण आदि सब वैदिक विश्वदर्शन के मौलिक तत्त्व हैं, इनका विकास वैदिक दर्शन के तत्त्वों का विकास क्रम देता है। इनके ही आधार पर दुर्ग या दुर्गा का शाक्त सिद्धान्त भी स्थापित हुआ था। 'शाक्त' शब्द मण्डूक सूक्त में आता है। दुर्ग का विवेचन निम्न प्रसिद्ध ऋचा देती है

३—दुर्ग और दुर्गा गंगादि की पञ्च-पर्वा विद्या

"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥"
(ऋ० वे० १-९९-१)

इसी को गीता (अध्या० १८) "मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।" कहती है।

ये दुर्ग वही तत्त्व रूप पर्व या तत्त्व हैं। इन पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों की गिनती दशाङ्गुलि सरणि से, पुरुष सूक्त या 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' की व्याख्या, 'पुरुष' शीर्षक और प्रथम ऋचाभाष्य में वर्णित रूप से तथा पीछे पञ्चचक्रों के वर्णन में दिये गये उद्धरणों और उदाहरणों के आधार पर 'पञ्चदर्शन' (५×१०) की जाती रही। वहाँ पढ़ लें। पञ्चचक्रवाद को इसके साथ पढ़ना समझने के लिए बहुत आवश्यक है। यहाँ पर एक बड़े महत्त्वपूर्ण विषय पर संकेत करना आवश्यक है। हमारी संस्कृति में गंगा नदी के नाम विष्णुपदी, सुरसरी और भागीरथी हैं। यह विष्णुपदी क्यों कहलाती है? विष्णु के तीन पद तो त्रिपादामृत हैं, सप्तकों के तीन पद रूप पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्व हैं जिसमें सब देवताओं का क्रमिक विकास होता है। और भग उत्तरार्द्ध का तत्त्व है, रथ पूरा दर्शन है। अतः गंगा नदी जिसको विष्णुपदी, सुरसरी या सुरसरिता या भागीरथी (भग+रथ, तयोर्जाता) कहते हैं; वह निश्चय पूर्वक हमारे दर्शन की तत्त्वविकास-धारारूप नदी है। इसी प्रकार यमुना को आदित्य-पुत्री, और यम की स्वसा कहते हैं। आदित्य और यम दर्शन के तत्त्व हैं, अतः यह यमुना २० वें तत्त्व से प्रारम्भ होनेवाले आदित्यों का विकास बतलाती है, आदित्यों में एक आदित्य यम भी है, अतः यम की स्वसा भी कहलाती है। इसी प्रकार सरस्वती को पूष्णा और वृत्रघ्नी नाम दिया गया है। अतः सरस्वती पूषा तत्त्व (२४ वें) से उत्पन्न होती है; २६ वें में गंगा, यमुना सरस्वती तीनों की त्रिवेणी होती है, जहाँ वृत्रवध होता है। इस भारत की गंगा, यमुना, सरस्वती नदियाँ तो उक्त दार्शनिक तत्त्व विकासधारारूप नदियों के वर्णन की प्रतीक मात्र हैं। उक्त दार्शनिक नदियों का प्रत्येक तत्त्व में विकास ही 'तीर्थ' कहलाता है। अतः लौकिक तीर्थः भी प्रायः नदी, समुद्र; पर्वत और वृक्षादिकों के किनारे या पास ही माने गये हैं, यह अब स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

पञ्चपर्वा विद्या की प्राचीन युग में इतनी अधिक मान्यता थी कि वे इस

विद्या के तत्त्वों के नामों का प्रयोग तर्पण में करते थे, जिस प्रणाली को हम भी आजतक उसी रूप में तर्पण और श्राद्ध में प्रयोग करते हुए भी यह नहीं समझ पाते हैं कि हम क्या कर रहे हैं या कह रहे हैं? तर्पण में वैदिक कहते थे, हम भी लीक को पीटते हुए कहते जाते हैं।

४—पञ्चपर्वा की महत्ता

"ॐ ब्रह्मा तृप्यताम् ॐ विष्णुस्तृप्यताम् ॐ रुद्रस्तृप्यताम् ॐ प्रजापतिस्तृप्यताम् ॐ देवास्तृप्यन्ताम् ॐ छन्दांसि तृप्यन्ताम् ॐ वेदास्तृप्यन्ताम् ॐ ऋषयस्तृप्यन्ताम् ॐ पुराणाचार्यास्तृप्यन्ताम् ॐ गन्धर्वास्तृप्यन्ताम् ॐ इतराचार्यास्तृप्यन्ताम् ॐ संवत्सरः सावयवस्तृप्यताम् ॐ देव्यस्तृप्यन्ताम् ॐ अप्सरस स्तृप्यन्ताम् ॐ देवानुगा स्तृप्यन्ताम् ॐ नागास्तृप्यन्ताम् ॐ सागरास्तृप्यन्ताम्, ॐ पर्वतास्तृप्यन्ताम् ॐ सरितस्तृप्यन्ताम् ॐ मनुष्या (चतुर्थसप्तक) स्तृप्यन्ताम् ॐ यक्षांसि तृप्यन्ताम् ॐ पिशाचास्तृप्यन्ताम् ॐ सुपर्णास्तृप्यन्ताम् ॐ भूतानि तृप्यन्ताम् ॐ पशवस्तृप्यन्ताम् ॐ वनस्पतयस्तृप्यन्ताम् ॐ ओषधयस्तृप्यन्ताम् ॐ भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम् ॥" (तर्पण और श्राद्धविधिः)।

यहाँ पर जिन-जिनको जलाञ्जलि देने की प्रस्तावना की गई है, वे सब के सब वही और केवल वही वैदिक दर्शन के मौलिक तत्त्व हैं जिनसे यह प्रस्तुत अखिल ब्रह्माण्ड इस स्वरूप को क्रमिक विकासों द्वारा पहिले विवर्तरूप परमाणु तदनन्तर भुवन, लोक और 'जातमिदं जनित्वं' रूप द्वारा प्राप्त हुआ है। इनमें से कोई एक भी इस दृश्य ब्रह्माण्ड की वस्तु या विकृतरूप नहीं है। सब के सब सृष्ट्यादि के मौलिक तत्त्व हैं। इसीलिए इनकी स्मृति का उद्बोधन करने के लिए या वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों को अमर बनाने के लिए ही इस तर्पण या श्राद्धविधि का आयोजन किया गया था। आज हमारा इतना बड़ाभारी पतन हो गया है कि हम उक्त तत्त्वों के नामों के विषयों को व्यक्त ब्रह्माण्ड या व्यक्त प्रकृति के गहरे कुँए में देखने की चेष्टा में अपने को उस (कुँए) में डूबे पाते हैं। खुली बात है, उसी नदी या सागर के जल से उसी नदी या सागर का तर्पण क्या माने रख सकता है? पर्वतों, पशुओं, वनस्पतियों के तर्पण का पितरों के तर्पण से क्या सम्बन्ध? यक्ष और राक्षसों के तर्पण से क्या मतलब है? इस पर तो कोई सोच भी नहीं देता। यह प्रश्न अवश्य ही युक्ति संगत सा लगता है कि श्राद्ध या पिण्ड पितरों को कैसे पहुंचता होगा। पर पहिले यह तो विदित हो कि श्राद्ध किसे कहते हैं, किस लिए करते हैं? दूसरे ढंग से क्यों नहीं करते? जो यह नहीं जानता उसे श्राद्ध या श्राद्धविधि के बारे में बोलने का अधिकार ही नहीं हो सकता। पहिले समझें, तब प्रश्न करें! संक्षेप में श्राद्धविधि मानव सृष्टि की शैली है। कुश के तीन ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा प्रथम तीन सप्तक के मुख्य ब्रह्मों के प्रतीक हैं, वैश्वदेव चतुर्थ सप्तक के दिव्य शरीर का प्रतिनिधि है। इन्हीं के संकेतक पिण्ड भी बनाये जाते हैं। ये वैयक्तिक हिरण्यगर्भ के प्रतीक हैं। ऋ० वे० १-१०४-

६, ७. में श्रद् नाम तृतीय सप्तक का है, तृतीय सप्तक प्राणाग्नियों का है, वही इन्द्र का भी है, जो श्रद नामक प्राणों को धारण करता है वह श्रद्ध या श्रद्धा या वाक् या दिव्य शरीर, भौतिक पिण्ड या अणु है। जो व्यक्ति इस श्रद् 'श्रद्ध' या श्रद्धा (वाणी रूप) दिव्य शरीर का ज्ञान रखता है या रखना चाहता है या इसका अभिनय करता है उसका या उस क्रिया का नाम श्राद्ध है। अतः श्राद्ध तो वैदिकों का दुधारू और दुधारी दर्शन है, इससे अपने निजी पूर्वजों की स्मृति के साथ, आदि कालीन वैदिक ऋषियों के ज्ञान और विज्ञान दोनों की दिव्य ज्योति भी मिलती है। (शेष 'श्रद् , श्रद्धा, श्राद्ध' शीर्षक में देखें)। इसीलिए ब्रह्म का नाम पिता, ५० तत्त्वों का नाम पितर है जिनका कई प्रकार का विभाजन है (पितर शीर्षक देखें)। यही पिता क्रमशः पुत्र रूप में प्रस्तुत होता है 'सः पिता सः पुत्रः' और इसी पिता को पञ्चपदी कहा गया है।

५—पञ्चपर्वा के पञ्चपर्व

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव
आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं
सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१२)

इन्हीं पञ्चपादों को पञ्चारचक्र के नाम से पुकारा गया है

"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"

(ऋ० वे० १-१६४-१३ अथर्व ९-९-११) अन्यत्र इनको केवल पञ्चपदानि नाम से पुकारते हुए लिखा है।

"पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥"
(ऋ० वे० १०-१३-३ अथर्व १८-३-४०)

यहाँ पर सबसे बड़ी बात जो कही गई है वह है 'अक्षरेण प्रति मिम' कि पञ्चपदी या चतुष्पदी का निर्धारण छन्दों के अक्षरों से किया जाय जैसा कि ऐ० ब्रा० (३-२-२२) लिखता है "देवता अक्षरभाजः करोत्यक्षरमक्षरमेव तद्देवता"। छन्दों का प्रत्येक अक्षर एक देवता का प्रतीक है। जिसको यहाँ पर पञ्चपादं, पञ्चपदानि या पञ्चार चक्र नाम से पुकारा गया है, उन्हीं का एक नाम पञ्चजनाः भी है। पञ्चजनाः पञ्चमसप्तक और आर्यों की पाँच जातियों के भी नाम हैं, पर यहाँ पर नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण अदिति पञ्चजनाः रूप में पञ्चपर्वा विद्या रूपिणी भी है। इस अदिति के दो मुख्य भाग भी हैं, अदिति, दिति (पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध) या 'अदिति' और 'अदिति, दिति'। दोनों अदिति अदिति ही हैं। क्योंकि पूर्वार्द्ध की अदिति से २४ वां तत्त्व दक्ष उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाले आगे के सभी शेष तत्त्व भी इसी अदिति के नाम से पुकारे जाते हैं, 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ० वे० १०-७२-४) इसका इतना ही सीधा अर्थ है।

दक्ष से आगे की अदिति का नाम दिति भी है "आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ।।" (ऋ० वे० ५-६२-८) 'दितिं च रास्वाादितिमुरुष्य' (ऋ० वे० ४-२-११) । प्रथम मन्त्र में वरुण और मित्र नामक २४ वें तत्त्व से प्रार्थना की गई है कि तुम गर्त नामक या विषुवद् रेखा वाची २५ वें २६ वें तत्त्व पर आरोहण करो वहां से तुम दोनों अर्द्धों को या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पूरे पूरे तत्त्वों को या अदिति और अदिति-दिति को देख सकोगे। द्वितीय में 'दिति भौतिक है, अतः उसे दूर करो, अभौतिक ब्रह्म को हृदयंगम करो' कहा है। व्याख्याकारों और अनुवादकों में से किसी की भी समझ में यह अदिति नहीं आई है। अदिति माने 'केवलम्' 'एकम्' अन्नमय-रस ब्रह्म या अग्निमय ब्रह्म आदि है। इसी से अग्नि, अन्न, आदित्य, अतिथि, अत्रि, अजा आदि वैदिक शब्द भी सम्पन्न हुए हैं। अदिति का नाम ऋग्वेद में ८० बार और दिति का केवल तीन बार आता है।

चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या के अवसर पर यह स्पष्टतया निर्णीत किया जा चुका है कि जिसे यहां पञ्चपदं, पञ्चपादं या पञ्चार या पञ्चपर्वा कहा जा रहा है उसी को दूसरे प्रकार की विद्याओं में सप्तचक्रं, सप्तसप्तकं, सप्तधामानि, सप्तपुरुषं या ब्रह्म को मिला कर अन्य विद्याओं में अष्टचक्रं, अष्टधाम, अष्टौलोकाः आदि भी कहा है। और प्रथम चार सप्तकों या गायत्रीपादों को क्रम से पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र नाम से पुकारा गया है "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" (श० प० ब्रा० ६-१-२-१३) और विकास परम्परा में "स एष पिता पुत्रः" (श० प० ब्रा० ६-१-२-२६) को प्रायः जानते सब हैं, पर उसका अर्थ लौकिक या दृश्य सृष्टि में लगा कर भूल करते हैं। यहां तो आदि सृष्टि की बात है, पौत्र दिव्य शरीर रूप प्रथम भौतिक अणु का प्रथमोदय मात्र है। इनका विशद विवेचन वहीं देखें। प्राचीन काल में कर्मकाण्ड कोई भी हो, वह ज्ञान काण्ड को समझाने के लिए किया जाता रहा। इसका प्रमाण भी ऋग्वेद ही से लीजिए—

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ।।
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।।"
(८-५८-१, २)

इसमें सचेतसो, 'अनूचानो' 'ब्राह्मणो' 'युक्तः' और 'संविद्' शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि कर्मकाण्ड खुली आखों से या ज्ञान चक्षुओं से होता रहा, उसे अनूचान युक्त ब्राह्मण (दार्शनिक) ही कराते रहे, उसका फल 'संवित्' परम ज्ञान ही होता था; उसका कुछ रूप दूसरी ऋचा में दिया गया है 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'। इसीलिए यज्ञों की सफलता तब तक नहीं समझी जाती रही जब तक उसका संचालक कोई अनूचान, शुश्रुवान् ब्राह्मण न होता था, यह तो प्रथम खण्ड में विस्तार पूर्वक बताया जा चुका है

पर्व विद्या हमारे जीवन के पर्वों का भी निर्धारण करती है। जितने तत्त्व हैं उतने वर्ष में मनुष्य का ज्ञान परिपक्व होता है। अतः जनश्रुति चली आती है कि वेदों का ज्ञान बारह-बारह वर्ष प्रत्येक वेद के अध्ययन से ४८ वर्ष में हो सकता है। इस ज्ञान में पर्व या स्तर हैं। प्रथम आठ वर्ष ब्रह्म के हैं, एकमय के हैं, उन्हें हम 'अबोध' काल या बाल कहते हैं। नवम वर्ष में जीवात्मा का स्फुरण होता है तो कहते हैं, अब चेतना आने लगी। इस समय बालक पितामह के बीजों को पुष्ट करता है, पन्द्रहवें वर्ष में बालक प्रौढ़ या तेज युक्त होने लगता है। तब उसमें अपने देह (पुत्र) के अंगों का विस्फुरण होने लगता है; २३ वें वर्ष में वह परिपक्व हो जाता है, २४ वें में सांसारिक और २५ वें में एक के दो होने की, २६ वें में तीन की, पौत्र प्राप्ति की इच्छा करता है। यह सब स्वाभाविक प्रवाह है। अन्तर इतना है। स्त्री में स्त्रीत्व भावना नवें वर्ष में जाग्रत हो जाती है तो पुरुष में २० वें, प्रथम आदित्य के उदीयमान वर्ष में। राजघरानों में कई वंश निर्वंश इसलिए हो जाते हैं कि उनकी सन्तानें २० वर्ष से पहिले ही उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी सन्तानों के पिता में 'पुत्र' तत्त्व को प्रौढ़ता नहीं मिलती, अतः उसके बीज कमजोर होने से गर्भ में नहीं जम सकते। क्योंकि वे उगने योग्य होने से पूर्व ही बोये जाते हैं। जिन साधारण घरानों में लड़की छोटी अवस्था में गर्भवती होती है, उसके पुत्रों में भी सन्तान कमजोर ही रहते हैं। अतः वे भी निर्वंश हो जाते हैं।

६—पञ्चपर्वा और हमारे पर्व

यह पर्व विद्या जीवन की दूसरी पहेली को भी सुलझाती है। मनुष्य का शरीर आधा या तिहाई पर्व है, उसकी पूर्णता स्त्री तथा सोम (वनस्पति-खाद्य पेय) से ही हो सकती है। स्त्री को हमारे यहां इसी लिए ईश्वरीय संयोग माना जाता है, विवाह को धार्मिकता की मोहर लगाते हैं। स्त्री-पुरुष संयोग ही अर्द्धनारीश्वर है। इसी लिए वर के स्वागत में हमारे यहां कहा जाता है "अथ वरं वृणीते" इत्यादि। यहां पार्थक्य से एकत्व की ओर-आश्रम से समाज की ओर-आने का आह्वान है। और यहां का कर्मकाण्डीय 'वर' तो विष्णु या सविता है, उससे कन्या को सम्बद्ध कर देने से या दोनों के सम्मिलन से सोम या चन्द्र या दिव्य शरीर की अर्द्ध-नारीश्वरीय एक रूपता का सच्चा नाटक खेला जाता है।

७—पञ्चपर्वा और स्त्री

समस्त हिन्दू समाज, सारी हिन्दू संस्कृति, और सारी हिन्दू विचार धारा, इसी महती पर्वा विद्या के पर्वों से बड़ी जटिलता से जकड़ी हुई है। हमारा सबसे बड़ा पर्व तो अर्द्ध-कुम्भ है, फिर कुम्भ, तदनन्तर चन्द्र और सूर्य पर्व, तदनन्तर दर्श पूर्णमास, और नवरात्र, फिर प्रत्येक तिथि जिनमें प्रतिपद्, पञ्चमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी मुख्य हैं। अर्द्ध कुम्भ और कुम्भ क्या हैं, यह तो अब सब भूल गये हैं और गंगा किनारे कहीं मुख्य स्थान में नहाने के माने यह माना और समझा जाता है। पर्वविद्या के कई अंग हैं

८—पञ्चपर्वा और हमारे मेले त्यौहार

जिसमें एक नदी विद्या है। ब्रह्म को गंगा नदी माना गया है। गंगा माने 'गच्छन्ती गायतीति' वा 'गच्छन्त्यो गावो वा' 'गायत्री रूपेण इमांल्लोकान् गच्छतीति वा' 'गोरूपेण इमान् लोकान् गच्छतीति वा' है, जिसे अब सब भूल गये हैं। फलतः गंगा शब्दमय संगीतमय शब्द ब्रह्म है, उसके तीर्थ ब्रह्म विकास की सीढ़ियाँ हैं। अर्द्धकुम्भ २५ वें तत्त्व में प्रस्तुत होता है। २५ वें तत्त्व का नाम द्रोण कलश भी है जिसका अभिनय कर्मकाण्ड में कलश स्थापना द्वारा भी किया जाता है। उसी का बृहत्स्वरूप अर्द्धकुम्भ स्नान है। अर्द्धकुम्भ-ज्ञान दिव्यशरीर का ज्ञान है। पूर्णकुम्भ पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड है, ५० वाँ तत्त्व है। प्रथम में ब्रह्म या बृहस्पति 'चित्रामघा' या सिंह में रहता है द्वितीय में उत्तरा या कुम्भ में। आजकल भौतिक बृहस्पति से भौतिक कुम्भ मनाये जा रहे हैं, उनमें उस आध्यात्मिकता का लवलेश भी नहीं जिसे लेकर इनकी अवतारणा की गई थी; चन्द्र-सूर्य-पर्व को हम लोग देखने के आदी हैं, ठीक यही स्थिति तब उत्पन्न हुई थी जिस स्थिति के वर्णन में ऋषियों ने इन्द्र-वृत्र के युद्ध का वर्णन किया है। जब सृष्टि अपने २५ वें तत्त्व पर थी, उस समय सूर्यपर्व सा हुआ था। बृहदारण्यक का वाक्य है। "तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताँ समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त।" (१-१-४-३) तिलक महोदय ने पर्वविद्या के ज्ञान के अभाव में वेद के उक्त आध्यात्मिक सूर्य ग्रहण के वर्णन को भौतिक सूर्य ग्रहण समझ कर वेदों के समय को निर्धारण करने की जो चेष्टा की थी उसे गणित से भी डा० तारापोरे वाला ने खण्डित कर ही दिया है, पर बात यह है, यह गणित ठीक बैठ ही कैसे सकता था ? यहाँ तो आध्यात्मिक विवेचन हो रहा है कि ब्राह्म मण्डल भौतिक मण्डल से आच्छादित सा दीखता है, है नहीं, ग्रहण की तरह। यहाँ उपमा अनुपम है।

"यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य न्ये अशक्नुवन्॥"
(ऋ० वे० ५-४०-९)

यहाँ अत्रयः २४ वें तत्त्व हैं, शुद्ध ब्रह्म हैं।

पर्वविद्या का सम्बन्ध जब तिथि, मास, बार, अयन, ऋतु आदि से रहता है तब उसका तात्पर्य संवत्सर ब्रह्म विद्या की व्याख्या होताहै। दर्शयाग, पितृयाग

९—पञ्चपर्वा तथा संवत्सर ब्रह्म के यज्ञ

पूर्णमास याग में कुल ३३ देवों की और साथ पितरों की उपासना होती है, इसी के दो अन्य भेद राजसूय और वाजपेय भी हैं। पौर्णमासी प्रथम और २६ वां तत्त्व है; दर्शमास २६ वें से ४८ वें तक*। रुद्र नवमी है; सविता या विष्णु एकादशी (२६ वाँ), वही आठवाँ आदित्य है 'आदित्यानामहंविष्णुः' (गीता १०)।

---

*'अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू' शीर्षक देखें। †यमुना माने 'यमेन ऊना यमुना' है अर्थात् जो यम से छोटी बहन है, वह यमुना है।

अतः कृष्ण जन्म अष्टमी अर्द्धरात्रि रोहिणी नक्षत्र में, सब २६ वें में मिलते हैं। दुर्गा या सरस्वती के पर्व शब्द ब्रह्म के 'वाणी' रूप के पर्व या विकास हैं। वे भी ५० ही हैं। जितने देव उतनी देवियाँ, स्वतन्त्र भी साथ भी। वाणी का आदि नाम 'श्री' है। अन्य नाम उसकी व्याख्यायें करते हैं। अहोरात्र मार्ग भी पर्व विद्या है, नक्षत्र विद्या भी पर्व विद्या है, इसका वर्णन 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' (यजु० ३१-२२) इत्यादि में स्पष्ट मिलता है। अयनवाद ५० तत्त्वों को दो भागों में विभक्त करता है। पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्व उत्तरायण और शुक्लपक्ष कहलाते हैं। उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्व दक्षिणायन और कृष्णपक्ष कहलाते हैं। गीता ने आठवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में इन्हीं का वर्णन दिया है "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्……धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्……(८-२४-२५-२६)। प्रत्येक अयन में २७ नक्षत्र होते हैं। २५ वाँ तत्त्व अश्विनौ है। इससे उलटे-सुलटे नक्षत्रों की स्थापना तत्त्व संख्याक्रमानुसार की जाती है, 'पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ' का यही अर्थ है। ऋतुओं में शिशिर से, मासों में माघ से सम्वत्सर ब्रह्म का विकास माना जाता है, वसन्त प्रथम, ग्रीष्म द्वितीय सप्तक है, वर्षा तृतीय, शरद् हवि रूप चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ ऋतु है। क्योंकि वेदों में सात तक ऋतुयें मानी गई हैं। मास दोनों अयनों में बारह बारह हैं, अधिमास मिलाकर तेरह भी होते हैं, कुल बारह भी, क्योंकि अहोरात्र सिद्धान्त दो प्रकार का है। एक मत में पूर्वार्द्ध में ३६० दिन होते हैं, उत्तरार्द्ध में ३६० रात्रि। दूसरे मत में दोनों अर्द्धों में कुल ७२० दिन-रात होते हैं। पर एक साथ सम्मिलित। तिलक महोदय ने उक्त तत्त्वों के अयन वृत्त वाची छह-छह महीने की दिन रातों के वर्णन के आधार पर 'ओरायाँ' नामक ग्रन्थ में वैदिक आर्यों के आदि निवास की कल्पना उत्तरी ध्रुव प्रदेश की है। क्योंकि वहाँ सदा छह-छह महीने के दिन-रात होते हैं। उत्तरीध्रुव का ज्ञान हमारे आर्यों को रहा होगा इसमें सन्देह नहीं। पर यहाँ तो तत्त्वों का विभाजन है, सृष्ट्यादि के तत्त्वों का विभाजन है, जिनसे अन्त में केवल एक परमाणु बनता है। ऐसे परमाणु निर्माणकर्त्ता तत्त्वों के अयनों का हमारे लौकिक अयनों या उत्तरीध्रुव के छह-छह महीने की दिन-रात से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं।

देवताओं का एक नाम 'सुपर्वाणः' इसी पर्वविद्या के आधार पर पड़ा है, "चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः" (ऋ० वे० १०-७९-७) 'पर्वशश्चकर्त गामिवासिः' (ऋ० वे० १०-७९-६)। सृष्टि वृक्ष के ५० तत्त्वों में प्रत्येक एक पर्व या गांठ है, वही तत्त्व एक देवता के नाम से भी पुकारा जाता है। अतः उन तत्त्व रूप देवताओं को सुपर्वाणः कहते हैं। इस पर्वविद्या का महत्त्व वैदिक स्वयं नहीं छिपा सके। वे कह गये हैं।

१०—पञ्चपर्वा और पर्वत

"न तद्दिवा न पृथिव्यानु मन्ये न यज्ञेन नोत शमीभिराभिः। उब्जन्तु तं सुम्वः पर्वतासो नि हीयतामतियाजस्य यष्टा।" (ऋ० वे० ६-५२-१) कि वैदिक दर्शन की व्याख्या जितनी गम्भीरतया पर्वत विद्या से की जा सकती है वह यज्ञ, पृथिवी, दिव आदि विभाजनों द्वारा नहीं हो सकती। प्रत्येक पर्व एक पर्वत है, प्रत्येक सप्तक एक पर्वत श्रेणी है। प्रत्येक पर्वत श्रेणी से एक-एक मुख्या नदी (वाक्) का उद्गम होता है। पर्वतों और सोम को ग्रावाण देवता के नाम से पुकारा गया है। प्रत्येक पर्वत श्रेणी में दस-दस तत्त्वों का संकेत करती हुई यह ऋचा कितनी स्पष्ट है।

"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो अर्चतांजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"
(ऋ० वे० १०-९४-७)

यहां पर 'अवनि' माने अङ्गुलि है। और प्रथम 'दशावनिभ्यो' शब्द तत्त्वों की संख्या या क्रम अङ्गुलि शरणि से देने की सूचना देता है। अंगुली शरणि में दस-दस तत्त्वों के गुच्छे होते हैं। आगे अधिक स्पष्टतया लिखा है कि प्रत्येक पर्वत दस तत्त्वों का है जैसे—

"ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्।
ते ऊ सुतस्य सोम्यस्यान्धसोंऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे॥"
(ऋ० वे० १०-९४-८)

कि प्रत्येक पर्वत दस तत्त्वों का है, और इन्हीं पर्वतों ने प्रथम या आदि ब्रह्म के अमृत रूप सोम को सबसे पहिले पान करने का श्रेय लिया। सबसे प्रथम पर्व या पर्वत हेमाद्रि पर्वत है। उसकी ऋतु शिशिर और अधिष्ठाता देव या तत्त्व बृहस्पति है, जिसके वर्णन में ऋग्वेद लिखता है।

"हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥"
(१०-६८-१०)

"बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥"
(ऋ० वे० १०-६८-७)

हेमाद्रि के हिम से अग्नि की उत्पत्ति बतलाते हुए निम्न ऋचा कहती है।

"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।"
(ऋ० वे० १-११६-८)

इसी को हिरण्यगर्भ सूक्त में 'यस्येमे हिमवन्तो' 'जिसके हिमालय पर्वत हैं' लिखा है। यह हेमाद्रि पर्वत १० तत्त्वों तक है, १० से २० तक के तत्त्व 'रत्नसानु' कहलाते हैं, जिसे ऋग्वेद की प्रथम ऋचा 'रत्नधातमम्' नाम से पुकारती है। इन्द्र इसी पर्वत का वासी है। वह इन्हीं से विपाट्, शुतुद्री नदियों की सृष्टि करता

है 'इन्द्रो अस्म अरदद्वज्रबाहुः' इत्यादि देखें (३-३३-६)। २० वें तत्त्व से ३० वें तक सुमेरु पर्वत है। इन्हीं के मध्य २५ वें तत्त्व में सूर्य नामक तत्त्व का उदय होता है, २६ वें में चन्द्र नामक तत्त्व का। ३० वें से ४० तक १० तत्त्वों का मेरु पर्वत है, और ४० वें से ५० वें तक सुरालय नाम का पर्वत। जहां पर सप्त पर्वतों की चर्चा आती है वहां ये सात पर्वत सात सप्तकों या अष्ट चक्रों या षडष्टकों के सूचक होते हैं।

इसी प्रकार पाँच वृक्ष, पाँच नदियों और पाँच सागरों का विभाजन है। पाँच वृक्ष क्रम से मन्दार (१०) पारिजातक (परिजात वेदाग्नि द्वितीय सप्तक है, उसी से पारिजातक नाम पड़ा); (१०) सन्तानः (तृतीय-चतुर्थ सप्तक पुत्र और पौत्र के हैं। अतः इसका नाम सन्तान वृक्ष पड़ा)। (१०); कल्प वृक्ष (पञ्चम, षष्ठ सप्तक सहस्रशीर्षा और विराट् पुरुष); (१०) हरिचन्दन ४० वें से ५० वें तक के तत्त्वों का नाम है। इसी प्रकार पाँच सागर-क्षीर सागर (१०) पीत सागर (१०) मधु सागर (१०) सोम सागर (१०) कृष्ण सागर हैं; पाँच नदियाँ–गंगा, यमुना, सरस्वती, विपाट्, शुतुद्री हैं। गंगा प्रथम १० या विष्णु के प्रथम पद से निकलती है, यमुना आदित्य पुत्री है। अतः २० वें में प्रकट होती हैं; सरस्वती को पूष्णा कहते हैं; अतः २४ वें में उत्पन्न होती है, तब क्रम से विपाट् और शुतुद्री। "पञ्च नद्यः सरस्वती-मपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित्।" (यजु. ३४-११) जहाँ सात नदी, सागर, वृक्षादि का वर्णन आता है वहाँ वे सब सात सप्तकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह ध्यान रहे कि प्राकृतेय नदी, पर्वत, वृक्ष, सागर आदि तो केवल रहस्य के आधारभूत प्रतीक मात्र हैं। इसीलिए लोगों को इस लोक में न तो सुमेरु और मेरु मिलते हैं, न त्रिवेणियों में सरस्वती, मन्दारादि वृक्ष और क्षीरादि सागर।

११—पञ्चपर्वा और वृक्ष, नदी, सागर

ब्रह्म का नाम 'कूटस्थ' है, यह नाम पर्वत विद्या का है। मै० सं० १-१०-१३ में पर्वतों के उड़ने और इन्द्र द्वारा उनके पर काटने की कथा देते हुए पर्वतों को प्रजापति का सबसे ज्येष्ठ पुत्र कहा है। ब्रह्म हेमाद्रि हेम ही हिम है, अतः हिमाच्छादित है, हिरण्यगर्भ है, और अनन्त चोटियों वाला या अनन्त मुख है, विश्वरूप धारी है; अतः ब्रह्म को कूटस्थ चोटी का तत्त्व तथा हमारे लिए अविद्या रूप हिम से आच्छादित सा माना गया है, वहीं से दर्शन की सहस्रों धारायें स्वभावतः प्रस्फुटित होती बतलाई गई हैं। यही 'कूटस्थ' 'अक्षर' ब्रह्म कहलाता है, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' 'अक्षरं ब्रह्म परमं' (गीता)। इसीलिए मुण्डक और नारायण उपनिषद् लिख गये हैं "अतः समुद्रा गिरयश्चसर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।" एक बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ भौगोलिक नदियाँ समुद्र में गिरती हैं वहाँ ये दार्शनिक नदियाँ ब्रह्म रूप समुद्र से निकलती हैं, प्रलय में ही इनका जल उलटे समुद्र में बहता है। इन्हीं नदियों को श्वेताश्वतर 'पञ्चस्रोतोऽम्बुम्' नाम से

१२—पञ्चपर्वा और कूटस्थ

पुकारता है। 'पञ्चयोनि' में 'पुरुष पशु, गौ, अश्व, अवि, अजा' हैं, पञ्चावर्त पञ्च समुद्र हैं, पञ्चप्राण-प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान हैं, येही पञ्चबुद्धियाँ हैं, 'पञ्चदुःखौघ' पञ्चवृक्ष या सन्तान मार्ग हैं। ये सब के सब ५०,५० प्रकार के हैं।

उक्त पर्वों के दो मुख्य भाग किये गये हैं, प्राचीन पर्वत और अधराचीन पर्वत जैसे "स प्राचीनान्पर्वतॉं दृंहदोजसाधराचीनमकृणोदपामपः।" (ऋ० वे० २-१७-५)। ये भाग वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध हैं। उत्तरार्द्ध २६ वें वृत्र से 'अप तद् ववार' कहा गया है। वही यहाँ पुष्ट किया गया है। इन पर्वतों का भेत्ता आदि में ब्रह्मणस्पति कहा गया है; फिर इन्द्र। "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद वसुमन्तं वि पर्वतम्" (ऋ० वे० २-२४-२)। उसी पर्वत के अश्म से अग्नि का भी विकास किया गया। वही पुरोहित भी कहलाता है; "ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्।" "सः सन्नयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः" (ऋ० वे० २-२४-७,९)। इसी ने नदी, समुद्र भी रचे, जैसे "अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्। तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्" (२-२४-४)।

१३—पञ्चपर्वा और पर्वतों के दो प्रकार

अन्त में यह निश्चय पूर्वक जान लीजिए कि हमारी संस्कृति का कम से कम आधा भाग इन्हीं पञ्चपर्वा विद्याओं की मूल भित्ति पर आधारित है। हमारी मूर्त्त पूजा का मूल आधार भी यही है। सुमेरु और पर्वत की स्फटिक शिला ही ग्रावाण देवता हैं; उसी से प्रस्तर मूर्त्ति मान्य हुई।

अध्याय १०

अष्टौ लोकाः

वैदिक दर्शन के तत्त्वों के निर्णय के तुरन्त पश्चात् 'अष्टौ लोकाः' के भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् और ब्रह्म के क्रमिक स्थान का निर्धारण करना परम आवश्यक है।

१—अष्टलोक कौन हैं?

'अष्टौ लोकाः' वेही आठ लोक हैं जिन्हें अष्टचक्रवाद में आठचक्र या सप्तचक्रवाद में ब्रह्म को मिलाकर (सात+१) आठ चक्र कहा गया है। इन लोकों में से प्रत्येक के सैकड़ों नाम हैं जिन्हें उन्हीं के व्याख्यान में वहीं विस्तार पूर्वक सोद्धरण दिया जा चुका है। इन नामों में से 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' और आदि ब्रह्म नामक आठ लोकों के नाम सर्व-प्रसिद्ध हैं। इनमें से, आजकल की वैदिक विद्वन्मण्डली 'भूः' लोक को यह हमारी मिट्टी की पृथिवी, भुवः को मध्याकाश, स्वः को ऊर्ध्वाकाश और महः, जनः आदि को क्रम से ऊपर-ऊपर मानती आ रही है, यह भूल है।

२—सृष्टिवृक्ष का स्वरूप

वैदिक आर्यों ने अपने दर्शन या ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सृष्टि को एक कल्पवृक्ष के रूप में प्रतिपादित किया है। यह सृष्टिवृक्ष, हमारी इस मिट्टी की पृथिवी में उगे वृक्ष से एकदम उलटे उगा है। अतः इसे 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'तिर्य्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' या 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' कहते हैं। अतः जिस भूमि में यह सृष्टि का कल्पवृक्ष उगा है, वह भूमि हमारे पावों तले न होकर हमारे सिर की ओर ऊपर या ऊर्ध्व की ओर है। मनुष्य का शरीर भी 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' ही है। हमारा सिर, हमारा मूल या जड़ है, हमारे पाँव हमारे उस शरीर वृक्ष की शाखायें हैं। ऋ० वे० ने इस सृष्टि वृक्ष की चर्चा दो स्थलों (१०-३१-७ और १०-८१-४) में निम्न ऋचा से की है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। सन्तस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त।" कि वह कौन वन था और कौन वृक्ष था जिससे द्यावाभूमी या दर्शन के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध की रचना की गई थी........। यही वेद वृक्ष भी है, ब्रह्म वृक्ष भी है। अतः वेदों की भी शाखाप्रशाखायें हैं, सृष्टि वृक्ष के विकास की शाखा प्रशाखायें भी हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस वृक्ष को उगाने वाली भूमि कौन सी हो सकती है? जब हम समस्त वैदिक वाङ्मय को इसी सृष्टि कल्पवृक्ष के रूप में प्रतिपादित पाते हैं और सृष्टि का आरम्भ ब्रह्म से करते हैं तो इस सृष्टि कल्पवृक्ष को उगाने या उगने का स्थान केवल ब्रह्म या

अक्षर ब्रह्म ही हो सकता है। और वही ब्रह्म या अक्षरब्रह्म ही इस सृष्टि के कल्पवृक्ष की 'भूः' या भूर्लोक है। इसीलिए उस लोक का नाम भूर्लोक रखा भी है कि सृष्टिवृक्ष उगने की समासोक्ति पूर्णता प्राप्त कर सके।

दूसरी बात जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है, यह है कि वैदिकों ने पृथिवी, भूमि, उर्वी, भूः आदि शब्दों का प्रयोग भी हमारी इस मिट्टी की पृथिवी के अर्थ में नहीं किया है। भूः शब्द तो केवल ब्रह्म और सप्तक है, और पृथिवी आदि शब्द सदा ही चतुर्थ सप्तक या चतुर्थ सप्तक से आरम्भ होनेवाले उत्तरार्द्ध के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे द्यावाभूमी, द्यावापृथिवी इत्यादि में द्यावा पूर्वार्द्ध है, पृथिवी या भूमि उत्तरार्द्ध। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त (अध्याय १२) इसी उत्तरार्द्धीय दर्शन चक्र की व्याख्या देता है। एक और बात देखने में आती है जिस प्रकार द्यावापृथिवी पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के जोड़े के प्रतिनिधि हैं वैसे ही 'भूर्भुवः' ये दो शब्द भी दर्शन चक्र के उन्हीं विख्यात पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के सूचक हैं, जिससे 'भूः' लोक का स्थान नितान्त ही पूर्वार्द्ध में ही रहता है। अवश्यमेव यहाँ पर 'भुवः' उत्तरार्द्ध का संकेतक हो जाता है; पर यह 'भूर्भुवः' जोड़े की वैसी ही पारिभाषिकता है जैसे द्यावापृथिवी के पृथिवी शब्द की। इनके प्रमाण ये हैं।

३—वेदों में भूर्भुवः, स्वः प्रथम शब्दों के प्रयोग किस लोक के लिए हैं ?

४—भूः और भुव

"भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥"
(ऋ० वे० १०-७२-४)

इसमें भूः पूर्वार्द्ध का वाचक है और भुवः उत्तरार्द्ध का। अतः भूः को उत्तानपद प्रथम चमस से उत्पन्न और भुवः तत्त्व आशा या दिक् रूप में उत्पन्न हुआ कहा है। दिशा का जन्म उत्तरार्द्ध में पुरुष के पादों से चतुर्थपाद में होता है; "पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्" (पुरुष सूक्त)। और उक्त ऋचा की पहिली ऋचा भी पूर्वार्द्ध के असत् नामक तत्त्व से उत्तरार्द्ध के सत् नामक तत्त्व की उत्पत्ति बतलाते हुए उसी से 'आशा' तत्त्व का उद्भव बतलाते हुए कहती है "देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥" (ऋ० वे० १०-७२-३)। इस 'भुवः' तत्त्व के बारे में अन्य भी प्रमाण मिलते हैं जैसे—

"भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः॥
"भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥"
(ऋ० वे० १०-८-५,६)।

इन ऋचाओं में जिन तत्त्वों को भुवः का प्रतिनिधि बतलाया है वे सब के सब या तो चतुर्थ सप्तक या उत्तरार्द्ध के प्रथम सप्तक के हैं या उत्तरार्द्ध मात्र के; जैसे चक्षुः, महः, वरुणः, यज्ञः, रजः इत्यादि। और इस भुवः को दिव नामक

तृतीय सप्तक को सिर में रखने वाला भी कहा है, तथा अग्नि की जिह्वा भी बतलाया है। ये सब 'भूर्भुवः' को द्यावापृथिवी के समान दर्शन के दो भागों में, या पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में स्पष्टतः बाँटते हैं। यहाँ भी ये शब्द पारिभाषिक ही हैं; लोकवाची से कुछ भिन्न हैं, पर हैं उसी मार्ग में। इन दो भागों में चतुर्थ सप्तक मध्यवर्ती है और भूर्भुवः, स्वः पूर्वार्द्ध में; जनः, तपः, सत्यम् उत्तरार्द्ध में। अतः 'त्रिपूर्वान् त्रिरुत्तरान्' कहा है। संवत्सर ब्रह्म देखें। यह भी लिखा है कि दोनों भागों में बराबर लोक हैं; जैसे 'यावन्त इमे लोका ऊर्ध्वास्तावम्तस्तिर्यञ्चः' (ताण्ड्य १८-६-३)

परन्तु दर्शन के क्षेत्र में सप्तलोकों या अष्टलोकों के वर्णन में भूर्भुवः, स्वः, महः' ये चार लोक तो क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पद या सप्तक के ही लिए सर्वत्र प्रयुक्त किये गये हैं। इनमें सर्वप्रथम लोक

५—भूर्लोक ब्रह्मलोक है

ब्रह्मलोक के पश्चात् भूर्लोक ही आता है; तदनन्तर क्रम से भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् आदि। सबसे पहिले श० प० ब्रा० (११-१-६-३) ने स्पष्ट लिखा है कि सर्वप्रथम भू तत्त्व उत्पन्न हुआ वही पृथिवी कहलाया, तदन्तर भुवः, वह अन्तरिक्ष हुआ, फिर स्वः जो दिव हुआ। यही क्रम सप्तकों या पदों का भी है। जैसे—"स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत्सेयं पृथिव्यभवद्भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत्स्वरिति सासौ द्यौः।" इस उद्धरण में भूः के बदले पृथिवी शब्द प्रथम सप्तक ही के लिए आया है न कि हमारी मिट्टी की पृथिवी के लिए इसका निर्णय निम्नलिखित तीन उद्धरण स्वयं कर देंगे। सबसे पहिले तैत्तिरी उप० (१-५) का उद्धरण लीजिए—

"भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः[1] तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। महाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः[2]। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः[3]। मह इत्यादित्यः[4]। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः[5]। भुव इति वायुः[6]। सुवरित्यादित्यः[7]। मह इति चन्द्रमाः[8]। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म[9]। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्[10]। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः॥"

इस उद्धरण में प्राण, अपान, व्यान और अन्न तथा ऋग्यजुःसाम ब्रह्म नामक भेद तथा महर्लोक के लिए ॐ, सूर्य (आदित्य) ब्रह्म, (अत्रि) अन्न, चन्द्रमा आदि नाम प्रत्यक्ष रूप से प्रथम चार सप्तकों के क्रम को अविच्छिन्न रूप से दे रहे हैं। बात तो यहाँ तक आगे बढ़ी

६—षडुर्वी कौन हैं ?

हुई है कि वैदिकों ने प्रत्येक सप्तक या षडष्टक को षड्चक्र व्याख्या में षडुर्वी कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक लोक सृष्टि वृत्त की

---

[1] व्याजिहीर्षत्। [2] ब्रह्मलोकः। [3] दिवः। [4] सूर्यः। [5] ब्रह्म। [6] द्वितीय सप्तक। [7] सूर्यः तृतीयोत्पन्न। [8] सोम। [9] अत्रिः। [10] सोम।

भूः भूमिः, पृथिवी या उर्वी है जिसमें वह "काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि' क्रम से क्रमशः आगे-आगे उगता, बढ़ता फैलता-फूलता चला जाता है। जैसे इनको ऋग्वेद षडष्टकों में विभक्त करते हुए षडुर्वी नाम से पुकारता है "त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत्" (१०-१४-१६) 'षड् भाराँ एको अचरन्बिभर्त्यृतम्' (३-५६-२) तिस्रोभूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून्' (२-२७-८)। अथर्व भी लिखता है।

"षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षड् सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥
(८-५-९-१६)

कहीं-कहीं इन्हें नवभूमी भी कहा गया है "नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः।" (अथर्व ११-४-१४) षड् चक्रवाद देखें। अतः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, सत्यं सब लोक सृष्टि वृक्ष की उत्पत्ति की क्रमिक भूमियां हैं जिनमें सर्व प्रथम भूः है फिर भुवः आदि।

७—सृष्टि वृक्ष में भूर्भुवः, स्वः आदि का स्थान

पिछले दो उद्धरणों में दिये हुए इस भूमिबुध्न, ऊर्ध्वमूल, अधःशाखम् सृष्टि वृक्ष को भूर्भुवः, स्वः, महः आदि भागों में नामतः स्पष्टतया वर्णन करने का श्रेय बृहदारण्यक उपनिषद् ने इस प्रकार लिया है।

"य एष एतस्मिन्मण्डले[1] पुरुषस्तस्य भूरितिशिरः। एकं शिर एकमेतदक्षरं, भुवः इति बाहू[2]। द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे, तस्योपनिषदहरिति[3]। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद। योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः एकं शिर एकमेतदक्षरं, भुव इति बाहू। द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहमिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥" (५-५-३,४)

इसमें सृष्टि वृक्ष के ऊर्ध्वमूल को शिर तथा उस शिर को 'भूः' नाम से पुकारा है, बाहु वायु रूप द्वितीय सप्तक है; उसे 'भुवः' तथा 'स्वः' को प्रतिष्ठा, जहां वृक्ष की जड़ जमी है उसको स्वः कहा है। यह तृतीय सप्तक है, यह स्पष्ट है। 'ऋग्यजुः-साम' नामक तत्त्व प्रत्यक्ष मंत्र रूप ग्रन्थ नहीं हैं अपितु 'प्राण' रूप तत्त्व हैं या वाणी के विकास रूप 'स्वर, अन्तःस्थ, ऊष्माण' हैं। इस बात की सूचना उक्त उपनिषद् "उक्थं प्राणो वै, यजुः प्राणो वै, सामः प्राणो वै" कह कर स्पष्ट कर देता है (५-५-१२,१६, १४), यहां उक्थं माने ऋग् या स्वर हैं।

८—भूः और पृथिवी

जिसको तैत्तिरीय ब्राह्मण ने 'भूः' के स्थान में पृथिवी कहा है उसी को ऐतरेय ब्राह्मण भी 'पृथिवी' कहता है। 'पृथिवी' नाम भी 'भूः' तत्त्व का ही है, जो सर्वादि तत्त्व का संकेतक है।

प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्त्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम् ताँल्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि

---

[1] सृष्टि चक्रे। [2] द्वितीय सप्तक। [3] पूर्वार्द्ध के सप्तक जहाँ से उषा द्वारा दिन का आरम्भ होता है।

ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्तान्वेदानभ्यतपत्तेभ्यो ऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदो ३ मिति। तस्मादोमोमिति प्रणौत्योमिति वै स्वर्गो लोक ओमित्यसौ योऽसौ तपति। स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। तमाहरत्तेनायजत स ऋचैव होत्रमकरोद्यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं। यदेतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमकरोत्स प्रजापतिर्यज्ञं देवेभ्यः सम्प्रायच्छत्ते देवा यज्ञमतन्वत तमाहरन्त तेनायजन्त इत्यादि ॥" (ऐ० ब्रा० ५-५-३२)

इस उद्धरण में 'भूः' का सम्बन्ध ऋग् और अ से, भुवः का सम्बन्ध यजुः और उ से तथा स्वः का सम्बन्ध साम और म् से, तथा इन्हीं को क्रम से अग्नि (प्रथम नृम्णाग्नि ब्रह्म) वायु (द्वितीय सप्तक) और आदित्य (तृतीय सप्तक) से जोड़ कर, भूः को आदि तत्त्व का और भुवः, स्वः को उसके क्रमिक विकास बतलाने में बिलकुल स्पष्ट उज्वलता है। इसी क्रम की पुष्टि पुनः यही ब्राह्मण इस अगले उद्धरण से इस प्रकार देता है।

"भूरिति ब्रह्मा प्रातःसवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति, भुव इति माध्यन्दिने सवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति स्वरिति तृतीयसवने ब्रूयादिन्द्रवन्तः स्तुध्वमिति ॥" (५-५-३४)

इसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय सवन, प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्तकों के देवों के लिए हैं। इसमें सन्देह करने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। अब अन्त में शतपथ ब्राह्मण के नितान्त स्पष्ट और उज्वल उद्धरण से पूर्वोक्त सब अवतरणों के वक्तव्य की पूर्णतया पुष्टि कीजिए।

९—भूः प्रजापतिः

"तदाहुः। यन्नर्चा न साम्ना न यजुषाग्निराधीयतेऽथ केनाधीयतऽइति ब्रह्मणो हैवैष ब्रह्मणाऽधीयते वाग्वै ब्रह्म तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म ता वाऽएताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य सत्येनैवाधीयते ॥१०॥ भूरिति वै प्रजापतिः। ब्रह्माजनयत भुव इति क्षत्रं स्वरिति विशमेतावद्वा इदं सर्वं यावद्ब्रह्मक्षत्रं विट सर्वेणैवाधीयते ॥१२॥ भूरिति वै प्रजापतिः। आत्मानमजनयत भुव इति प्रजां स्वरिति पशूनेतावद्वाऽइदं सर्वं यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वेणैवाधीयते ॥१३॥ स वै भूर्भुव इति। एतावतैव गार्हपत्यमादधात्यथ यत्सर्वैरादध्यात्केनाहवनीयमादध्याद्द्वेऽअक्षरे परिशिनष्टि तेनो एतान्ययातयामानि भवन्ति तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि सम्पद्यन्तेऽष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दः स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१४॥" (२-१-४-१०,१२ से १४ तक)

(साथ में गायत्री ब्रह्मसूत्र में दिये बृहदारण्यक उपनिषद् के अष्टावक्षराणि के उद्धरण को भी देखने की कृपा करें)। जब मनु लिखते हैं—आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः

पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु" तब वे यही संकेत करते हैं कि ब्रह्म प्राण रूप है, प्रजापति जनक रूप है, भूः या आपः (मिट्टी नहीं) माता के समान है।

उक्त उद्धरणों में भूर्भुवः, स्वः इत्यादि का जो क्रम दिया हुआ मिलता है उसका आशय तबतक ठीक नहीं बैठ सकता जबतक हम उन्हें पूर्व निर्णीत लोकों के अनुसार या सप्तकों या पदों के अनुकूल व्याख्या न करें। प्रथम चार सप्तकों या पादों की व्याख्या में प्रथम पद या पाद या सप्तक को ब्राह्मण, द्वितीय को राजन्य या बाहु, तृतीय को ऊरू या विश्, चतुर्थ को पाद या शूद्र बतलाने वाली "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" ऋचा को यहाँ पर उचित रूप से बिठलाया है और भूः को प्रजापति तथा ब्रह्मा या ब्राह्मण बतलाकर इसका स्थान सात लोकों में सर्वोच्च कहा है। इस क्रम की पुष्टि ऐ० ब्रा० के उद्धरण ने इन लोकों का तादात्म्य ऋग्यजुः, सामादि से करके इसमें प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। होम में भी सर्व प्रथम व्याहृति भूः है; उसे अग्नि (ब्रह्म) या प्रजापति का समकक्ष, भुवः को वायु या द्वितीय सप्तक का समानान्तर, स्वः को इन्द्र या सूर्य के समान तृतीय या तृतीपद या पादस्थित तत्त्व बतला कर उक्त तथ्य की सर्वतो पुष्टि भी अबतक सब क्यों करते आ रहे हैं? जैसे—"भूः स्वाहा इदमग्नये (प्रजापतये वा), भुवः स्वाहा इदं वायवे, स्वः स्वाहा इदमिन्द्राय (सूर्याय वा)।" अतः कर्मकाण्ड तक में अब तक उक्त महाव्याहृति रूप सप्तलोकों का क्रम ठीक वैदिक युग के समान बरतता चला आ रहा है। यहाँ ये शब्द सब पारिभाषिक हैं, लौकिक नहीं।

१०—देवलोक और देववर्णों का तादात्म्य

ऋ० वे० (९-७०-१) ने उक्त सात लोकों को भुवन नाम से पुकारते हुए प्रथम तीन को उनके प्रसिद्ध नाम त्रिःसप्त या त्रिपादामृत कहकर, भूर्भुवः, स्वः को तो त्रिपाद्ब्रह्म या त्रिपाद्पुरुष या त्रिपादामृत घोषित कर दिया है जैसे "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे सत्यमाशिरं पूर्व्ये व्योमनि। चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदुतैरवर्धतः॥" यहाँ पर भूर्भुवः, स्वः नामक तीन भुवनों को पूर्व्ये व्योमनि या दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध में बतला दिया है जिससे इन पारिभाषिक भूर्भुवः, स्वः शब्दों के स्थानों को लौकिक पृथिवी, मध्याकाश और ऊर्ध्वाकाश में विभक्त समझने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यहाँ अन्य चार लोकों या भुवनों को चारूणि या चरुरूप या भौतिकात्मा रूप बतलाकर उनका स्थान उत्तरार्द्ध में स्वयं फेंक दिया है जिससे सारी समस्या स्वयं सुलझ जाती है।

११—ऋग्वेद में सात भुवन

अन्त में छान्दोग्य उपनिषद् के एक उस प्रसिद्ध उद्धरण को सामने रख दिया जाता है जो इस सृष्टिचक्र को कल्पवृक्ष के रूप में वर्णित करते हुए इसके प्रथम चार लोकों को प्राणः (ब्रह्म) भूर्भुवः, स्वः को क्रम से आदि से वर्णित करके रहे—सहे सन्देह को धो—पोंछ कर साफ कर देता है जैसे—

१२—सृष्टि कल्पवृक्ष में लोकों का स्थान

"अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति। दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौ-रस्योत्तरं बिलम्॥ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम्॥१॥ तस्य प्राची दिग् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुना ऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुना ऽमुना ऽमुना भूः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना भुवः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना स्वः प्रपद्ये ऽमुना ऽमुना ऽमुना। स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्स्यथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्ये ऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचमथ, यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचमथ, यदवोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्॥" (३-१५)

इसमें इस सृष्टि कल्पवृक्ष की जन्म भूमि को द्यौ तथा उसके उदर को अन्तरिक्ष और जड़ भूमिबुध्न कहा है जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड पूर्णरूप से आधारित बतलाया है। इसके चार लोक या भुवन हैं। प्राणः (ब्रह्मलोक), भूः, भुवः, स्वः जिनका तादात्म्य क्रम से पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव; अग्नि, वायु, दिव और ऋग्यजुसाम से करके, सम्पूर्ण अर्थ जल समान तरल और स्वच्छ कर दिया है। जिसको यह भूमिबुध्न कहता है वही ऊर्ध्वमूलमगधःशाखा या तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न या अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न है। इसने इस बिल को स्वयं 'द्यौ' या शुचिषद् बतलाया है। उसकी भूमि भूः है जिसमें उसका बुध्न है। अतः उसे भूमिबुध्न कहा है। अस्तु, इन्हीं सात या आठ लोकों को 'सप्तधामानि' भी कहते हैं। इन लोकों या भुवनों या धामों में प्रत्येक में ७,७ या ८,८ या किसी में ७ किसी में ८ तत्त्व हैं। यह अष्टचक्रवाद तथा सप्तचक्रवाद में पहिले तत्त्व निर्णयावसर पर बतलाया जा चुका है "सप्त धामानि सप्त च" "सप्त सप्त" इत्यादि। बृह० उप० (३-९-२६) ने इन्हें 'अष्टौ लोकाः' कहा है। इसका पूर्ण समर्थन निम्न उद्धरण करते हैं। (१) त्रयो वै देवलोकाः (पूर्वार्द्ध) (गो० उ० १-१) 'सप्त वै देवलोकाः' (ऐ० २-१७) 'सप्त देवलोकाः' (श० प० ९-५-२-८) 'एष एकविंशति देवलोकाः' (पूर्वार्द्ध) (तै० ३-८-१०-३) 'देवलोको वा एष यद्विषुवान्' (ताण्ड्य ४-६-२) इत्यादि।

अध्याय ११

अष्टौ पुरुषाः–अष्टौ प्रजापतयः

वेदों में प्रजापतियों का वर्णन एक दूसरे ढंग से दिया हुआ मिलता है और पुराणों, स्मृतियों, महाभारतादि धर्म ग्रन्थों में इनका वर्णन कुछ दूसरे ढंग से दिया गया है। वास्तव में इन दोनों में तादात्म्य है, परन्तु बहुत बड़ा रूपान्तर है। वेदों में प्रजापतियों का वर्णन समासोक्ति द्वारा होते हुए भी पूर्णतः दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा तात्त्विक है, और उनमें ऐतिहासिकता का आभास कम मिलता है। पुराणों ने इनकी इस कमी की पूर्ति के लिए वैज्ञानिकता और तात्त्विकता को पृष्ठ भूमि में ढकेल कर उनकी ऐतिहासिकता पर अधिक बल देते हुए भी उनमें कुछ-कुछ दार्शनिकता, वैज्ञानिकता और तात्त्विकता के आभास की पर्याप्त समानान्तर भूमिका भी प्रतिष्ठित कर रखी है। फिर भी उनकी उस बहुमूल्य आवश्यक तात्त्विक वर्णना के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को कुछ देर के लिए एकदम भुला ही देना पड़ता है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि पुराणादिकों में केवल वैदिक ऋषि रूप को प्रजापति माना गया है। इनमें उन्हें प्रजापति नहीं कहा गया है जिन्हें वेदों में देवता या तत्त्व कहा गया है, उनमें से केवल 'ब्रह्मा' का नाम इन ग्रन्थों में प्रजापति कहा गया है। पर वेदों में तो प्रत्येक तत्त्व ब्रह्मा या ब्रह्म है। इन दोनों भेदों का विवेचन अगले परिच्छेद में दिया जाता है। 'प्रजापति र्वै सर्वा देवता' है। (तै० ३-३-७-३) 'सर्वं वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० १-३-५-१०)

१–वैदिक और पौराणिक प्रजापतियों में अन्तर

वेदों में प्रजापति का पुराना नाम विशाम्पति या विश्पति है। प्रजापति या विश्पति दोनों का एक ही अर्थ है। विश् माने प्रजा, प्रजा माने विश् है, दोनों के माने सन्तान, विकास, परिणाम, परिवर्तित या विकसित उद्भूत या उत्पन्न होना है, उनका पति या पाता या पूर्वज या पूर्व रूप या मूल रूप प्रजापति कहलाता है या प्रत्येक तत्त्व प्रजा है जैसे 'संवत्सरं हि प्रजाः पशवो' अर्द्धमासो हि प्रजाः पशव ओजो बलं पुष्यन्ति' (श० प० ३-७-२-८; ताण्ड १०-१-६) आदित्यों का नाम भी प्रजा है 'आदित्या वा इमाः प्रजाः' (ताण्ड १८-८-१२)'वैश्वदेव्यो वै प्रजाः' विश्वेदेवा भी प्रजा हैं (तै० १-६-२-५) 'अयास्य (अङ्गिरस) भी प्रजा है' आदित्य और अङ्गिरस भी प्रजा हैं (श० प० ब्रा० ३-५-१-१३, १३-३-४-५, तै० ३-९-११-४)। आद्य प्रजा विश् है 'आद्या हीमाः प्रजाः विशः' (श० प० ब्रा० ४-२-१-१७) प्रजापति के पुराने नाम विश्पति, विशाम्पति के प्रमाण ये हैं।

२–विश्पति या प्रजापति का स्थान

"विशां कविं विश्पतिं शश्वतीनाम्" (ऋ० वे० ६-१-८, तै० ब्रा० ३-६-१०-३); विशां कविं विश्पतिं मानुषीणाम्" (ऋ० वे० ५-४-३) "विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः" (ऋ० वे० ३-२-१०) "विशां गोपा अस्य चरन्ति" (ऋ० वे० १-९४-५) "विशां राजानमद्भुतम्" (ऋ० वे ८-४३-२४)।

प्रत्येक तत्त्व का नाम विश् है जैसे "विशोविश ईड्यमध्वरेषु" (ऋ० वे० ६-४९-२) "विशोविशो वो अतिथिम्" (ऋ० वे० ८-७४-१) 'विशामासामभयानाम्' (ऋ० वे० १०-९२-१४) "विशो यदह्वे नृभिः" (ऋ० वे० १-६९-६)। कहीं-कहीं विश्पति नाम केवल तृतीय सप्तक के वैश्य नामक तत्त्वों के मुख्य ब्रह्म अतिथि ब्रह्म (१६ वें) के लिए भी प्रायः आता है, इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए, और इस सप्तक के तत्त्व तो प्रायः विश् ही कहलाते हैं जैसे "विशोविशो वो अतिथिम्"(ऋ० वे० ८-७४-१) "विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः" (ऋ० वे० ३-३-८)। प्रजा नाम पशुओं और अर्द्धमासों का भी है, तथा निम्नलिखित कई स्थलों में कई तत्त्वों को प्रजापति के नाम से घोषित किया है जैसे हिरण्यगर्भ के लिए—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।" (ऋ० वे० १०-१२१-१० अथर्व ७-७९-४; ७-८०-३; यजु० १०-२०; २३-३५; तै० से० १-८-१४-२; ३-२-५-६; तै० ब्रा० २-८-१-२; ३-५-७-१) सोम के लिए—"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।" (ऋ० वे० १०-१६९-४)। इन्दु या चन्द्रमा के लिए—'इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः।" (ऋ० वे० ९-५-९)। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने भी हिरण्यगर्भ को प्रजापति लिखा है "प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वमेति" (५-५-१-२)। हिरण्यगर्भ का नाम कः प्रजापति है और उसे 'भूतस्य जातः पतिः' कहा है अर्थात् यह ब्रह्म से उत्पन्न तत्त्व रूप प्रथम तत्त्व है और अग्रिम विकास पाने वालों के बीजों का संरक्षक या पति या मूल बीज है। इसका विवेचन हिरण्यगर्भ शीर्षक में विस्तार पूर्वक दिया गया है।

३—प्रजापति शब्द का प्रयोग

ब्राह्मण ग्रन्थों ने निम्न लिखित तत्त्वों को प्रजापति नाम से पुकारा है। सबसे पहिले 'संवत्सर ब्रह्म' या पूर्ण दर्शन के ५० तत्त्वों वाले संवत्सर ब्रह्म को प्रजापति नाम से कई स्थलों में कई प्रकार से घोषित करते हुए लिखा है "प्रजापतिर्वा अग्निः। संवत्सरो वै प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० २-३-१-१८) "संवत्सरो वै प्रजापतिः। अग्निरु सर्वे कामाः सोऽयं संवत्सरः प्रजापतिरकामयताग्निं सर्वान्कामानात्मानमभिसंचिन्वीयेति···" (श० प० ब्रा० १०-२-४-१) "संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः" (श० प० ब्रा० १०-४-२-१) "एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति···एष उऽएवान्तकः" (श० प० ब्रा० १०-४-३-१-२) "संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतद्द्वारं यदमावास्या चन्द्रमा एव द्वारपिधानः" (श० प० ब्रा० ११-१-१-१)

४—ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति शब्द किनके लिए आया है ?

'प्रजापतिः स उ देवेन्द्रः' (तै० १-२-२-५) 'एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्' श० प० ब्रा० १४-८-४-२) 'यः प्रजापतिस्तन्मनः' (श० प० ब्रा० ४-१-७-२२) 'प्रजापति र्वै मनश्छन्दः' (यजु १५-४) 'प्रजापति र्वै वाक्पतिः प्रजापति र्वै वाचस्पतिः' (यजु ४-४, श० प० ब्रा० ५-१-१-१६) 'षोडशकलः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ७-२-२-१७) 'संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० १-५-१-१६); 'स वै यज्ञ एव प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० २-२-२-४); 'प्रजापतिरश्वमेधः' (श० प० ब्रा० १३-२-२-१३); 'प्रजापतिर्यद् विश्वजित्' (कौ० २५-११-१२-१५); 'यो ह्येव सविता स प्रजापतिः' (ताण्ड्य १६-५-१); 'प्राणः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-९); 'प्रजापति र्वै मनुः' (श० प० ब्रा० ६-६-१-१९); 'प्रजापति र्वै वशिष्ठः' (कौ० २५-२-२६-१५), 'प्रजापति र्वै वराहो' (तै० ब्रा० १-१-३-६); 'प्रजापति र्वै विश्वकर्मा' (यजुः १३-१६); सुपर्णो 'अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्' पूर्वो जातः (ऋ० वे० १०-१४९-३); 'प्रजापति र्वै मूर्द्धा' (यजुः १४-९); 'सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-२-१-३०); 'पुरुषः प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ६-२-१-२३); 'आत्मा वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ४-५-९-२); 'पितरः प्रजापतिः' (गो० उ० ६-१५); 'प्रजापति र्वै भरतः' (यजुः १२-३४); 'ऋषयो वै पशूनां प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-२-५-१७); 'प्रजापति र्वै बृहदुक्थः' (श० प० ब्रा० ४-४-१-१४); 'प्रजापति र्वै विप्रः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-१६); 'प्रजापति र्वै नृम्णा' (यजुः १२-१८); 'प्रजापति र्वै नृचक्षा' (यजुः १२-२०); 'प्रजापति र्वै धाता' (श० प० ब्रा० ९-५-१-३८); 'प्रजापति र्वै जमदग्निः' (श० प० ब्रा० १३-२-२-१५); 'भूतो वै प्रजापतिः' तै० ब्रा० २-२-३-५); प्रजापतिश्चतुर्होता' (तै० ब्रा० २-२-३-५); 'प्रजापतिर्दशहोता' (तै० ब्रा० २-२-१-१); 'द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-१-५-६); प्राजापति र्वा एकः' (तै० ब्रा० ३-८-१६-१); एको वै प्रजापतिः' (ताण्ड्य० १६-१६-४; ऐ० ब्रा० २-२३); 'अन्तो वै प्रजापतिः' (श० प० ब्रा० ५-१-३-१३); 'प्रजापत्यो वै वल्मीकः' (तै० ब्रा० ३-७ २-१); 'प्रजापते र्यदुदरं सदः' (ताण्ड्य० ६-७-११); 'प्रजापति र्वा अमृतः' (श० प० ब्रा० ६-३-१-१७); 'प्रजापति र्हि स्वराज्यम्' (ताण्ड्य० १९-१३-३); 'एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्' (श० प० ब्रा० २-१-२-८); यावान्वै प्रजापतिरूर्ध्वस्तावाँस्तिर्यङ्' (ताण्ड० १८-६-२)।

"ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। तस्मादु संवत्सरऽएव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजन्नाह तर्हि का चन प्रतिष्ठास तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासोत्तावद्बिभ्रत्पर्यप्लवत ॥२॥ स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति" (श० प० ब्रा० ११-१-६-२,३) "संवत्सरो यज्ञः……ऋतव ऋत्विजः—अर्द्धमासा हविष्पात्राणि……अहोरात्रे परिवेष्ट्री……ऋतमेव पूर्व आघारः सत्यमुत्तरो ऽव ह् वा ऋतसत्ये रुन्धेथो…त्विषिरेव प्रथमः प्रयाजः। अपचितिर्द्वितीयो, यशस्तृतीयो ब्रह्मवर्चसंचतुर्थो ऽन्नाद्यं पञ्चमः ॥ भूतमेवपूर्व आज्यभागः। भविष्यदुत्तरो ऽव

ह वै भूतं च भविष्यच्च रुन्वेऽथो....इत्यादि (श० प० ब्रा० ११-२-७-१ से १३ तक)। "स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (पुरुषः) (श० प० ब्रा० १४-४-३-२२,२३; बृहदारण्यक उप० ३-६-१४,१५)। ऐ० ब्रा० ४-२-१२,४-१-६ में वही वर्णन है जो यहाँ श० प० ब्रा० के ११-२-७-१ से १३ में दिया गया है।

संवत्सर ब्रह्म सम्बन्धी उक्त समस्त उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वास्तव में प्रजापति नाम का तत्त्व केवल संवत्सर ब्रह्म ही है। और इसी

५—वास्तविक प्रजापति कौन है ?

संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति को वर्णना भेद से कभी अग्नि नामक प्रजापति कहते हैं, कभी मृत्यु नामक प्रजापति, कभी अन्तक नामक प्रजापति, कभी यज्ञ नामक प्रजापति, कभी पुरुष नामक प्रजापति, कभी हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति, प्रजापति वैं हिरण्यगर्भः (श० प० ब्रा० ६-२-२-५), कभी कः प्रजापति, कभी अन्य नामों से। कः प्रजापति के बारे में हिरण्यगर्भ शीर्षक में कई उद्धरण दिये जा चुके हैं जिनसे अतिरिक्त कुछ ये हैं "कोऽसि कतमोऽसीति" प्रजापति वैं कः "कस्यासि को नामासी" ति प्रजापति वैं को नाम" (श० प० ब्रा० ४-४-७-४; का० श० ४-६-३, यजुः ७-२९) "प्रजापति वैं कः" (ऐ० ब्रा० २-४-२८)। संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के अर्द्धमास, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, अहोरात्र, घटी, पल, विपल आदि भागों का नाम ही अक्षर है, इन्हीं अक्षरों से सृष्टि क्रमशः क्षरित होती है, अतः येही संवत्सर ब्रह्म नामी प्रजापति ही अक्षर ब्रह्म हैं। अक्षर ब्रह्म के इन संवत्सर ब्रह्म भागीय अक्षरों का विस्तृत विवेचन 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में दिया मिलेगा। यही अक्षर संवत्सर ब्रह्म की प्रजायें हैं, उन्हीं का यह पति है, अतः प्रजापति कहलाता भी है। फलतः प्रजापति नाम अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म का है। उसके अन्य नाम वर्णना भेद तथा तत्त्व भेद बतलाते हैं।

इस संवत्सर ब्रह्म नामी प्रजापति (या अक्षर ब्रह्म) के कई विकासीय या विकसित मुख्य अङ्गों का नाम भी प्रजापति है, जैसा कि कई ब्राह्मण ग्रन्थों ने या

६—संवत्सर ब्रह्म के विकासीय तत्त्वों का नाम भी प्रजापति है

वेदों ने इनको दर्शाया है, जैसे श० प० ब्रा० (३-७-२) में पूरे ब्राह्मण में नौ प्रजापतियों के नाम गिनाये हैं। "अग्नि वैं देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः"॥ "वाग्वै सरस्वती वाचैव तत्प्रजापतिः"; ॥ "अन्नं वै सोमो अन्नेनैव तत्प्रजापतिः"॥ "पशवो वै पूषा पशुभिरेव तत्प्रजापतिः"॥ "ब्रह्म वै बृहस्पति र्ब्रह्मणैवैतत्प्रजापतिः"॥ "सर्वं वै विश्वेदेवाः सर्वेणैव तत्प्रजापतिः"॥ "इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण तत्प्रजापतिः"॥ "विशो वै मरुतो भूमो वै विड्भूम्नैव तत्प्रजापतिः"॥ "तेजो वा अग्निरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र उभाभ्यामेव तद्वीर्याभ्यां प्रजापतिः"। इसके अनुसार अग्नि, वाग्, सोम, पूषा, बृहस्पति, विश्वेदेवता, इन्द्र, मरुतः, और इन्द्राग्नी में नौ के नौ सब प्रजापति हैं। इसका समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थलों में मिलता है। उदाहरण के लिए श० प० ब्रा० ८-४-३-३ से २० तक और ऐ. ब्रा. २-५-३८ का ब्राह्मण देखें। इनके अतिरिक्त कई अन्य तत्त्वों को भी प्रजापति

नाम से पुकारा है जैसे "प्रजापति र्वै द्रोणकलशः" (श० प० ब्रा० ४-२-५-६) और "अथ द्रोण कलशम्। 'कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापति र्वै कः, "कस्यासि को नामासी" "ति प्रजापति र्वै को नाम" (श० प० ब्रा० ४-४-७-४) "एष वै प्रजापति र्य एष यज्ञ-स्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः" (श० प० ब्रा० ४-४-७-१) "प्रजापति र्वा एष यदंशु सोऽस्यैष आत्मैवात्मा ह्ययं प्रजापतिः॥" (श० प० ब्रा० ४-५-४-१) "अंशु र्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० ४-१-१-१) ("प्राणो ह्वा अस्योपांशुः" वहीं) 'प्रजापति र्ह वा ऐतेनाग्रे यज्ञेनेजे……स वै दक्षो नाम। तद्यदनेन सोऽग्रेऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नामोतैनमेके वशिष्ठयज्ञ इत्याचक्षत एष वै वशिष्ठ एतमेव तदन्वाचक्षते स एतेन यज्ञे नेजे॥" (श० प० ब्रा० २-४-१-१,२) "दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणो-ऽभिगन्तैव ब्रह्मकर्ता क्षत्रियः।" (श० प० ब्रा० ४-१-४-१) "भूरिति वै प्रजापतिः" (श० प० ब्रा० २-१-४-११,१२,१३)। इन उद्धरणों के अनुसार द्रोण कलश, यज्ञ, अंशुः (प्राण ब्रह्म), दक्ष और 'भूः' सब के सब प्रजापति हैं। एक और प्रजापति हैं जिनका नाम कश्यप या कूर्म है (कूर्म की व्याख्या करोतीति कूर्म है)। "स यत्कूर्मो नाम एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। स य स कूर्मोऽसौ स आदित्यः" श० प० ब्रा० (७-४-१-५,६) वृषा वै कूर्मो योषाऽषाढा; प्राणो वै कूर्मो वागाषाढा' (७-४-१-६-७)

उक्त प्रजापतियों का नामतः उल्लेख कर लेने पर भी ब्राह्मण ग्रन्थों को तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने तत्त्वों की क्रमिक संख्या से उस तत्त्व को प्रजापति कहा है।

७—तत्त्वों के क्रमिक संख्या से प्रजापति का संकेत

उदाहरणतः 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' सत्रहवां तत्त्व प्रजापति है यह वाक्य अनेक स्थलों में बार-बार प्रयुक्त हुआ है, जैसे—'एष एव प्रजापतिः सप्तदशः' (श० प० ब्रा० १-३-२-१०) 'सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः' (श० प० ब्रा० ५-४-२-१९) इसी को पुरुष संवत्सर और प्रजापति नाम से एक साथ पुकारा है (श० प० ब्रा० ६-२-१-८-९)। इसी प्रकार ३४ वें को भी प्रजापति नाम से पुकारते हुए लिखा है "चतुस्त्रिंशोऽश्वः प्रजापतिः" (जै० ब्रा० २-१२९ ऋ० वे० १०-५५-३)। २४ वें तत्त्व को संवत्सर का आरम्भणीय प्रथम विन्दु बतलाते हुए इसे 'महाव्रत' नाम से पुकारा है (ऐ० ब्रा० ४-२-१३,१४)। इसी प्रकार २१ वें तत्त्व की महिमा भी गाई है (ऐ० ब्रा० ३-४-४१;४-३-१८)। ये सब एक ही नाम हैं। 'सप्तदश' माने बारह मास और पाँच ऋतु बराबर सत्रह या २४ वां तत्त्व है। २१ माने बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक, आदित्य २४ वां ही है (चि० सप्त देखें)

कः प्रजापति की व्याख्या तो हिरण्यगर्भ नामक तत्त्व की पूरी व्याख्या में दी जा रही है। यह कः प्रजापति जैसा कि श० प० ब्रा० ११-२-७-१ से १३ तक के

८—कः प्रजापतिः

उद्धरण (पूर्वोदधृत) से स्पष्ट है; वही संवत्सर ब्रह्म या संवत्सर प्रजापति है जिसका विवेचन 'संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र शीर्षक में दिया गया है। यह दो प्रकार का प्रजापति है, (१) अनारम्भणीय (पूर्वार्द्धीय) संवत्सर प्रजापति या कः प्रजापति

और (२) आरम्भणीय (उत्तरार्द्धीय) संवत्सर प्रजापति या कम् प्रजापति या शम् प्रजापति। इन तीनों का विवेचन ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है। श० प० ब्रा० ४-४-७-४ और यजु ७-२९ ने "कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि" की व्याख्या में 'प्रजापतिर्वै कः, को वै प्रजापतिः, लिखा ही है। इसी प्रकार 'को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन' इत्यादि अनेक ऋचायें (हिरण्यगर्भ में उद्धृत) इसी कः प्रजापति की व्याख्या करती हैं। कः प्रजापति शब्द ब्रह्म के अक्षरों का प्रतीकी पूर्वार्द्धीय तत्त्व का प्रतिनिधि रूप वह देखता है जिसे हिरण्य-गर्भ कहते हैं। ऐ० ब्रा० (६-४-२१) ने कः और कम् नामक दो प्रजापतियों की व्याख्या और अन्तर बतलाने के लिए (ऋ० ७-३२-१४) की ऋचा का वर्णन किया।

'कस्तमिन्द्र त्वा वसुंन्कंनऽयो अतसीनां, कदू न्वस्या कृतम्' को उद्धृत करके इस ऋचा में दिये कः और कम् प्रजापतियों में से 'कम्' को आरम्भणीय या उत्तरार्द्धीय कम् प्रजापति सूचित करते हुए लिखा है:—"इति कद्वन्तः प्रगाथा आरम्भणीया अहरहः शस्यन्ते को वै प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै यदेव कद्वन्ता३ः। अन्नं वै कमन्नाद्यस्यावरुध्यै। यद्वेव कद्वन्ताः अहरहर्वा एते शान्तान्यहीन सूक्तान्युपयुञ्जाना यन्ति तानि कद्वद्भिः प्रगाथैः शमयन्ति तान्येभ्यः शान्तानि कं भवन्ति। तान्येनाच्छान्तानि स्वर्गं लोकमभिवहन्ति। त्रिष्टुभः सूक्तप्रतिपदः शंसेयुस्ता हैके पुरस्तात्प्रगाथानां शंसन्ति।'

*इसी प्रकार का वर्णन श० प० ब्रा० ६-२-१-५ से १२ तक में दिया है। वह इसे संवत्सर प्रजापति बतलाता है। 'को वै प्रजापतिः' तो 'अनारम्भणीय कः प्रजापति' है और 'अन्नं वै कम् प्रजापतिः' आरम्भणीय है। इसी की प्राप्ति को बताने से इस सूक्त की महिमा बड़ी है। यह स्वर्ग लोक या अनारम्भणीय पूर्वार्द्धीय कः प्रजा-पति को वहन करता है या धारण या विकसित करता है, जिनका वर्णन ऋ० वे० १-१६६-५ और १०-८१-२ में दिया है। और इनका वर्णन ब्रह्म संवत्सर अहोरात्र में पहिले दिया जा चुका है।

९—कम् या शम् प्रजापति

श० प० ब्रा० ने २-४-३-१; और २-४-३-५ में कम् और शम् नामक दोनों प्रजापतियों को वैश्वदेव प्रजापति या उत्तरार्द्धीय प्रजापति बतलाते हुए दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध, दोनों को दो वेदी और दो अग्नियाँ बतलाया है जैसे—

"वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्ट्वा वरुणस्य यवान् जक्षुः।" "तद्यद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात्प्रजाः प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः॥" अब कम् और शम् प्रजापतियों के बारे में

*संवत्सरः प्रजापति कद्वत्यो याज्यानुवाक्याः को हि प्रजापतिः (श० प० ब्रा० ६-२-१-५,१२) कः प्रजापति शब्द ब्रह्म के अक्षरों का प्रतीक पूर्वार्द्धीय है, कम् और शम् पूर्वार्द्ध की शान्ताग्नि रूप और आपोब्रह्म उत्तरार्द्धीय हैं।

लिखा है "तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरत कम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते। तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति। शं वै प्रजापतिः शमीपलाशैरकुरुत शम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते॥" (२-४-३-११,१२)

ये दोनों कम् और शम् शब्द आपः या जल अर्थ के शब्द हैं। ये चतुर्थ सप्तक की आपोमय सृष्टि (उत्तरार्द्ध के प्रथम सप्तक) या समुद्रमय महो नामक तत्त्वों के निर्देशक हैं। कर्मकाण्ड में इनका अभिनय करीर और शमीपलाश पत्रों से किया जाता था। बृहदारण्यक ने आरम्भ में ही 'कम्' की व्याख्या दे दी है। शम् का सम्बन्ध आपोदेवियों से बतलाने वाली प्रसिद्ध ऋचा सबको विदित होगी "शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।" (ऋ० वे० १०-९-४) शमी का उल्लेख श० प० ब्रा० (१-१-५-१७) ने पुनः दिया है। कम् प्रजापति का जन्म चतुर्थ सप्तक के आपो देवियों से होता है। इसका पक्का प्रमाण ऋ०वे० १०।८२-५ की यह ऋचा है।

"परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥"

जितने भी उद्धरण पहिले दिये जा चुके हैं, उनसे दो बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। (१) प्रजापति नाम संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म का है। प्रजापति के अन्य सब नाम इसी संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के उपनाम हैं। (२) इस संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति के दो भेद हैं, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय जिनको क्रम से अनारम्भणीय और आरम्भणीय; कः और कम् या शम् दो प्रकार से पुकारा जाता है। पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है, उत्तरार्द्ध भौतिकात्मा का विकास कारक भौतिक प्रजापति। कः नामक प्रजापति पूर्वार्द्धीय है, पर हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति कः भी है; कम् भी है, वह पूर्वार्द्ध में कः है, उत्तरार्द्ध में कम्। इन दोनों कः और कम् के लिए हिरण्यगर्भ सूक्त ने 'कस्मै' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया है कि 'कस्मै' शब्द दोनों को एक रूपता में ले आता है। 'किम्' शब्द के जितने भी रूप हैं वे सब कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ प्रजापति के ही नाम हैं जैसे "कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि" (यजुः ७-२९) में प्रत्येक रूप हिरण्यगर्भ को ही सम्बोधित कर रहा है। वह 'सम्प्रश्न' या नानारूपधरः है। अतः सब रूप उसके नाम हैं जिसके प्रमाण ("एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या" (ऋ० वे० १०-८२-३) सर्वाणि रूपाणि "पृश्निः" (ऐ० ब्रा० ५-३-२३) हैं। यज्ञ नामक प्रजापति प्रत्येक तत्त्व है, प्रत्येक तत्त्व एक यज्ञ या विकास है (यज्ञ पुरुष देखें)। पर क्रतु नामक प्रजापति जिसका नाम पुराणों में प्रजापति रूप में आता है वह 'वरुण' का नाम है, २४ वाँ तत्त्व है (मित्रावरुण और दक्षक्रतू शीर्षक देखें)। पुरुष नामक प्रजापति भी यज्ञ की तरह प्रत्येक तत्त्व रूप प्रजापति है, जिसे कभी-कभी 'यज्ञपुरुष' नाम से भी पुकार लेते हैं। (यज्ञ पुरुष देखें)। दक्ष नाम का प्रजापति मित्र नामक २४ वां तत्त्व है। हिरण्यगर्भ सूक्त में ही इस दक्ष और यज्ञ को हिरण्यगर्भ ने उत्पन्न किया है

१०—नामतः उल्लिखित प्रजापतियों का तत्तत् संख्या से तादात्म्य

जैसे "दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्" (ऋ० वे० १०-१२१-८)। इस ऋचा का यज्ञ शब्द क्रतु वाचक है। दक्षक्रतू से भौतिक सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। अतः ये उत्तरार्द्धीय कम् प्रजापति के भेद हैं और इनका स्थान चतुर्थ सप्तक भी है। चन्द्रमा को प्रजापति कहा गया है। वह तो २६ वां तत्त्व है, अतः सीधे उत्तरार्द्ध में आता है। यही एकदैवत्य सोम प्रजापति का स्थान भी है। पर सर्वा-देवता सोम पूरा संवत्सर ब्रह्म प्रजापति का प्रतिनिधि है (सोम देखें)। अग्नि प्रजापति तो दोनों हैं। पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय, क्योंकि यह भी उभयदेवता या सर्वादेवता है, स्वयं संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है। यही बात मृत्यु नामक संवत्सर में घटित होती है। संवत्सर प्रजापति के दो भागों के कई नये नाम यहाँ उपलब्ध हुए हैं (१) अहोरात्रे या परिवेष्ट्री, ऋतं सत्यम्, भूतम् भविष्यत् (येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतम्, यजुः)। वाग्प्रजापति को सरस्वती नाम से पुकारा गया तो परावाग् का संकेतक होता है, अतः उत्तरार्द्ध का सूचक है। परन्तु वाग् मानसी भी होती है, वह सर्वादेवता और पूर्वार्द्धीय ही है। पूषा उत्तरार्द्धीय चतुर्थ सप्तकीय भौतिक प्रजापति है। बृहस्पति तो ब्रह्मणा प्रजापति है; अतः पूर्वार्द्धीय है, इन्द्र प्रजापति इन्द्रिय या भौतिक रसतत्त्व से है, अतः यह भी उत्तरार्द्धीय ही है। मरुत विड्भूम्ना प्रजापति है। विश् गणों का नाम है और तृतीय सप्तक का भी, अतः यह उभय प्रजापति है। इन्द्राग्नी प्रजापति उभय प्रजापति है, इसी प्रकार विश्वेदेवता सर्वादेवता होने से उभय प्रजापति हैं। द्रोण कलश को तो स्वयं कः प्रजापति बताया ही है, अंशु प्रजापति, कम् प्रजापति या भौतिकात्मा रूप प्राण है। भूः नामक प्रजापति कः प्रजापति है। यह पूर्वार्द्धीय संवत्सर ब्रह्म रूप प्रजापति है। कश्यप नामक प्रजापति तो पूर्ण भौतिक प्रजापति है। क्योंकि इसी से सब प्रजा या भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई है, ठीक उसी तरह जिस तरह वृत्ररूप भौतिकाणु समस्त प्रजा को उत्पन्न करता है ('यदासुर्यमास तेनेमाः सर्वाः प्रजाः' श० प० ब्रा० १-५-२-१७)। 'कम् शमाप्नोतीति कश्यपः' यह इसकी व्युत्पत्ति है। कूर्म भी इसी का नाम है; करोतीति कूर्म इसकी व्युत्पत्ति दे दी गई है। सत्रहवाँ प्रजापति भी इन्द्राग्नी है, २४ वां तत्त्व अत्रि, पूषा, दक्षक्रतू आदि का संकेतक है। ३४ वां प्रजापति 'अज' नामक तत्त्व तथा कश्यप नामक प्रजापति है। २१ वां तत्त्व २४ वां ही है यह ऋतुवादी संवत्सर में बताया जा चुका है।

उक्त अनेक प्रजापतियों में जो पूर्वार्द्धीय प्रजापति हैं उन्हें अनिरुक्त या अनुच्चारणीय, मौन या तूष्णीम् वाग् रूप प्रजापति या शब्द ब्रह्म कहते हैं, और जो उत्तरार्द्धीय हैं उन्हें निरुक्त या परा वाग्। पूर्वार्द्ध के अपरिमित असीम हैं; उत्तरार्द्ध के परिमित या सीमित जैसे "प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च" (श० प० ब्रा० ६-५-३-७) और "तूष्णीमिव हीदं मूलम्" (श० प० ब्रा० १-३-६-१०) शेष 'वाग्' शीर्षक में देखें।

११—अनिरुक्त और निरुक्त प्रजापतिः

पुराण, महाभारत और धर्म ग्रन्थों में जिनको प्रजापति कहा गया है, उनमें से अब तक केवल एक दो ही के नाम आ पाये हैं, अन्य प्रजापतियों का क्या हुआ? क्या वे प्रजापति हैं या नहीं ? इस विषय पर विस्तार पूर्वक विचार करने का अवसर अभी मिल पाया है। पिछले परिच्छेदों में एक प्रजापति पुरुष या यज्ञ या यज्ञ पुरुष नाम से आया है। आदि ब्रह्म ही प्राण रूप है। ऋषि नाम इच्छा का है। आदि ब्रह्म की प्राणरूपता की यह प्रथम इच्छा कि मैं सृष्टि रचना करूं 'ऋषि' नामक प्राण या इच्छा रूप प्राण नाम से पुकारी जाती है। यह प्राण रूप ब्रह्म या ऋषि रूप प्राण आदि ही से त्रिवृत् (मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत्) होता है। इसका मध्यम प्राण इन्द्रिय रूपता से मध्य के प्राणों को इद्ध या दीप्त करके ऋषि रूप प्राणों को सृष्टि क्रम के लिए प्रस्तुत करता है। अतः इस कारण वह इद्ध, इन्ध या इन्द्र कहलाता है। इसी से सात नाना पुरुष या सात नाना प्राण रूप पुरुषों की उत्पत्ति होती है। वे सब एक साथ सम्मिलित एक पुरुष रूप में ही प्रस्तुत होते हैं। उनमें दीप्ति रूप शरीर प्रस्तुत हो जाता है। उसी सप्तपुरुष क्रम से सात ऋषि या महर्षि कहलाते हैं और सात प्रजापति भी बनते हैं। इनमें से प्रत्येक एक-एक सप्तक का प्रथम मुख्य ब्रह्म कहलाता है जिनमें से प्रथम चारों को चार आत्मायें और शेष तीन में से दो को दो पक्ष और तीसरे को पुच्छ या अन्तिम कहते हैं। यह आशय निम्न उद्धरण में प्राप्त होगा।

१२—वैदिक और पुराणों के प्रजापतियों का मूलस्रोत

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः ॥१॥ स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो हवैतमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥ तेऽब्रुवन् न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुष पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥ अथ यै तेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः। यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवत् यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्माच्छिरस्तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेवैतच्छिरोऽथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियोऽथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् ॥४॥ स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः सः पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते ॥५॥ स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि ॥" (श० प० ब्रा० ६-१-१-१ से ६ तक)

इसका अन्तिम वाक्य इस श० प० ब्रा० में अनेक बार दुहराया गया है, यहीं पर दो बार कहा है, अन्यत्र भी। इन सप्त पुरुषों का विवेचन पुनः "यान्वै तान्त्सप्तपुरुषान्" वाक्य से श० प० ब्रा० १०-२-२-१ ने एक पूरा ब्राह्मण दिया है। यजुर्वेद (१५-१०) ने भी इन ऋषियों को देवताओं में प्रथमोत्पन्न

बतलाते हुए लिखा है "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु" और श० प० ब्रा० (८-६-१-५) ने इनकी व्याख्या में "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजा तद्धि ब्रह्म प्रथमजं" लिखकर उक्त कथन की पूर्ण पुष्टि कर दी है। यही भाव ऋ० वे० १-१६४-१५ की ऋचा का है जैसे— "साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति । तेषामिष्टानि विहितानि धामशः ॥" इन ऋषियों का विकास क्रम से प्रत्येक सप्तक में हुआ। यह इसी ऋचा में 'धामशः, रेजन्ते' पदों से स्वयं स्पष्ट है। और ऋ० वे० १०-८२-२ में विश्वकर्मा को 'सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः' कहा है। यह विश्वकर्मा उक्त सप्त ऋषियों से पृथक् और परे है, क्योंकि प्रथमोक्त ऋषियों को इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में 'पूर्वे ऋषयः' कहा है। अतः ये पर के ऋषयः या उत्तरार्द्ध के अङ्गिरस ऋषि हैं। इनका स्थान चतुर्थ सप्तक है, विश्वकर्मा इनका शीर्षण्य ऋषि है, ये सब 'परे' या उत्तरार्द्ध के हैं।

सप्त चक्र वाद की व्याख्या में विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है कि यह ऋषिवाद वैदिक आर्यों के वैदिक दर्शन की मुख्य और मूल भित्ति है। तथा ऋषयः शीर्षक में इनका अलग विवेचन दिया जा रहा है।

१३—**ऋषिरूप प्रजापति** श० प० ब्रा० (८-१-१-१ और २) में तथा यजुर्वेद (१३-५४, ५५, ५६, ५७ और ५८) में इन ऋषियों का तादात्म्य सृष्टि पुरुष के अङ्गों से निम्न प्रकार से किया हुआ मिलता है। 'वशिष्ठ ऋषिरिति प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनोऽ एव वसिष्ठः" कि प्राण ही वशिष्ठ हैं, श्रेष्ठ प्राण वशिष्ठ हैं। वह निवसित होकर रहता है, इस लिए भी वशिष्ठ है। श० प० ब्रा० या बृह० उप० में इन्द्रियों के परस्पर द्वन्द्व में प्राणों को सर्वश्रेष्ठ ठहरा कर उन्हें वशी वशिष्ठ कहा है (श० प० ब्रा० १४-९-२-१४ बृह० उप० ६-२-१४); और अन्त में प्राणों को सम्राट् परम ब्रह्म नाम से घोषित कर दिया है "प्राणो वै सम्राट् परम ब्रह्म" (श० प० ब्रा० १४-६-१०-३ बृह० ६-९-३) और भरद्वाज ऋषि को 'मनः' नाम से पुकारते हुए लिखा है "भरद्वाज ऋषिरिति मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः" कि वाक् माने अन्न या सोम या भौतिकात्मा है, जो मन को धारण करता है वह भौतिकात्मा को धारण करता है। अतः उसे भरद्वाज ऋषि कहते हैं। जमदग्नि ऋषि को 'चक्षु' नाम से पुकारा है 'चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषि' र्यदेनेन जगत्पश्यति···तस्माञ्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। इस जमदग्नि नामक चक्षु रूपता से प्रत्येक इस ब्रह्माण्ड को जानता या देखता है। विश्वामित्र को श्रोत्र नाम से पुकारा है। इसी से अखिल ब्रह्माण्ड को सुना या जाना जाता है। "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषि र्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यस्मै सर्वतो मित्रं भवति"। विश्वामित्र माने, इसलिए, वह तत्त्व है जो सबका मित्र है, किसी का शत्रु नहीं। विश्वकर्मा ऋषि को जिसके ऋ० वे० १०-८१ और १०-८२ दो स्वतन्त्र सूक्त हैं 'वाग्' नाम से पुकारा है "वाग्वै विश्वकर्मर्षिर्वाचाहीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः" क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि वाणी से होती है। अतः उसे विश्वकर्मर्षि नाम से पुकारते

हैं। इसीलिए वाग् को कई स्थलों में प्रजापति कहा है जैसा कि बताया जा चुका है "वाग्वै प्रजापतिः प्रजापति वैं वाग्" (श० प० ब्रा० ५-१-५-६)। यह ऋषि और वाग् उत्तरार्द्ध के हैं। इसीलिए इसे सात पूर्व ऋषियों से परे 'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' कहा है*। भगवद्गीता ने भी इन सात महर्षियों को 'मद्भावा' और 'मानसा जाता' मुझसे (ब्रह्म से) उत्पन्न तथा मन से उत्पन्न बतलाया है, जैसे "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥" गीता ने यहाँ पर अन्त में यह लिख कर कि इस ब्रह्माण्ड की अखिल सम्पत्ति या उत्पत्ति इन्हीं से हुई, अतः इनकी ही प्रजा है, यह भी सिद्धकर दिया है। ये सप्तर्षि प्रजापति हैं, और यह इन सप्तर्षियों को 'पूर्वे' विशेषण से सर्वादिकालीन भी घोषित कर रही है। इसमें जिन चार मनुओं की चर्चा की गई है वे भी तात्त्विक ही हैं। मानव सृष्टिवाद में प्रथम चार सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों को ही चार मनु कहा है। यही 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा' के या चतुष्पाद्ब्रह्म के क्रम से चार शृङ्ग या चार पाद भी हैं (मनु शीर्षक देखें)। श्वेताश्वतर उपनिषद् रुद्र को भी महर्षि नाम से पुकारता है (३-४;४-१२)। यहाँ इसे तो हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखने वाला महर्षि भी बतलाया है। ब्रह्मा को तो वेद निर्माता महर्षि सब मानते हैं। दुर्गासप्तशती 'ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र' ऋषि संकल्प से तीनों को ऋषि कहती है। ये सब प्रजापति रूप पुरुष या ऋषि हैं।

१४—पुराणों के प्रजापतियों का वैदिक प्रजापतियों से तादात्म्य

पौराणिकों ने उक्त वर्णित ऋषियों में से दक्ष और वसिष्ठ को छोड़ अन्यों को नामान्तर से स्वीकार किया है। जैसे मारुत प्रजापति के लिए मरीचि; 'मरीचिर्मरुतामस्मि' (गीता १०.), यज्ञ या पुरुष के लिए क्रतु। दक्षक्रतू २४ वें तत्त्व के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध हैं जिन्हें मित्रावरुण भी कहते हैं। अङ्गिरस तथा भृगु को बार्हस्पत्य प्रजापति तथा भरद्वाज के लिए भृगु तो वरुण की प्रजा है "भृगुर्वै वारुणिः" (ऐ० ब्रा० ३-३-३४)। पुलस्त्य को विश्वामित्र के स्थान में, अत्रि को जमदग्नि के लिए, इत्यादि, और नारद को अधिक जोड़ा गया है। इनके नाम श्रीमद्भागवत (३-१२-२२,२३,२४) के अनुसार उनके उत्पत्ति स्थान सहित ये हैं।

"मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥
उत्संगान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥"

---

*'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' (ऋ० वे० १०-८२-२) के सप्त ऋषि प्रजापतिरूप सप्त ऋषि या पुरुष नहीं हैं वरन् सात अङ्गिरस ऋषि हैं जिनका स्थान चतुर्थ सप्तक है। उनसे यह विश्वकर्मा परे और एक है।

इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि पुराणों ने सृष्टि विवरण में विशेष कर प्रजापति वर्णन में वेदों का ही अनुसरण किया है। और इस वर्णना का यह भी स्पष्ट तात्पर्य है कि ये प्रजापति, दर्शन पुरुष के अध्यात्म अंग रूप वाक्, मनः चक्षुः, श्रोत्र, प्राण, त्वक्, हस्त, पाद, हृदय और शिर के प्रतिनिधि रूप तत्त्व हैं; जिनका विशिष्ट वर्णन उपनिषदों में आता है, ये ही वास्तविक प्रजापति हैं या इनके देवता। इनके नामान्तर करने में एक बड़ी विशेषता यह है कि ये सृष्टि को विशेषकर मानव सृष्टि को ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं। इस भूलोक का सर्वप्रथम मानव मनु देव हैं, उन्हें ये स्वयम्भू कहते हैं। उक्त नाम के प्रजापति उनकी प्रजा या प्रथम मानव सन्तान हैं। इन्हीं से मानव सृष्टि हुई। आर्यों के दश दल भी थे; उनके पूर्वज दश प्रजापति के नाम से पुकारे गये हैं तो यह रीति एक साथ दो काम करती है (१) वैदिक दर्शन का तद्वत् (वेदों के अनुसार) वर्णन देते हुए (२) मानव सृष्टि की प्रथम भूमिका सत्यरूप में प्रस्तुत करना। और मनु का प्रथम आर्य मानव रूप में वर्णन तो वेदों में आता ही है, शेष इतिहास की आर्य लुप्त श्रुतियों का संकलन कर इन्होंने वैदिक पुराणों का भी उद्धार किया है (मनु की व्याख्या देखें)। यह भी चतुर पौराणिकों की कृतियों और उदात्त लक्ष्यों में एक बड़ा रहस्य है।

———

अध्याय १२

अव्यय कल्प वृक्ष (अक्षर ब्रह्म)

अखिल ब्रह्माण्ड ऐसे गोलों का एक बृहत् वृक्ष सा है जिनके रूपाकार नाना प्रकार की स्थितियाँ तथा गतियाँ एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

१–विश्व ब्रह्माण्ड का आदि मूल विन्दु

वैदिक दर्शन का अन्तिम ५० वाँ तत्त्व तो केवल एक परमाणु का निर्माण करता है। तब प्रश्न उठता है कि इतने से छोटे परमाणु से इतने अनन्त गोल, उतनी विभिन्नताओं, और अपरिमित आकार प्रकारों में कैसे, किस प्रकार प्रस्तुत हो सके होंगे? साथ में लगा हुआ नानाजात प्राणिवर्ग की, ओषधिवर्ग की असाध्य समस्या भी है। आजकल के दार्शनिक उक्त प्रश्न के उत्तर में तैत्तिरीय ब्राह्मण उपनिषद् के वाक्य "तस्माद्वा एतस्मादादात्मनआकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" से यह समझते हैं कि ब्रह्म से एकदम आजकल दीखने वाला आकाश उत्पन्न हुआ, उससे क्रमशः वायु, अग्नि, आपः और हमारी पृथिवी जैसी दीखती है वैसी ही झट निकल पड़ी। इन लोगों की दृष्टि में केवल एक ही सौर मण्डल है, पृथिवी जैसा गोल केवल यही हमारा अपना है। थोड़े से लोग ७ ग्रहों (दस हैं) को भी पृथिवी सा मान लेते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण उपनिषद् का वाक्य तो देखने में आने वाले आकाश वायु आदि की बात तो दूर रही, परमाणु की भी बात नहीं करता, वह तो केवल परमाणु बनने के मौलिक क्रम के मौलिक आकाश, वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी की ही बात करता है, ऐसे ही मौलिक स्वरूप का विकास उस आदि ब्रह्म से हो भी सकता है। पारमाणविक आकाश का आरम्भ तो ५० वें तत्त्व में प्रथम परमाणु निर्माण से होता है। जब इसका विकास दो परमाणुओं में होता है तब उसका रूप (आकाश+) वायु हो जाता है, जब वह तीन परमाणुओं में वृद्धि पाता है, तब वह (आकाश+वायु+) अग्नि हो जाता है, चार परमाणु बनने पर (आकाश+वायु+अग्नि+) आपः हो जाता है, और पाँच परमाणुओं में विकसित हो जाने पर (आकाश+वायु+अग्नि+आपः+) पृथिवी नाम से पुकारा जाता है। पूर्व-पूर्व वालों के गुण और द्रव्य, उत्तर-उत्तर वालों में क्रमशः विद्यमान् रहते हैं जिनमें अपना गुण और द्रव्य प्रधान और पूर्ववर्तियों के गुण और द्रव्य अप्रधान रहते हैं, पर रहते अवश्य हैं। और ब्रह्माण्ड में आजकल के वैज्ञानिकों ने कम से कम एक अरब सौरमण्डलों को देख लिया है जिनके सूर्य हमारे सूर्य से करोड़ों गुने बड़े बतलाये जाते हैं।

२—भौतिक ब्रह्माण्ड का मध्य मूल विन्दु

अस्तु, परमाणु ५० वें तत्त्व में प्रस्तुत होता है, यह मुख्यतया भौतिक है, पर इसमें आध्यात्मिक सब तत्त्व विद्यमान हैं, इसमें पञ्चात्मायें, पञ्च मौलिक तत्त्वों का एक साथ समावेश है।

इसकी भौतिकता का प्रथम सूत्रपात २५ वें तत्त्व में 'रेणु' रूप में होता है जिसे तात्त्विक सूर्य या सूर्योदय के नाम से पुकारा गया है।

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूल्हमा सूर्यमजभर्तन॥"
(ऋ० वे० १०-७२-६,७)

अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि के बीजभूत इस 'रेणु' और परमाणु में केवल एक ही भाग नहीं है। केवल रेणु में ही कम से कम ४३,२०,०००००० भाग हैं और इसे बनने में ४३,२०,०००००० वर्ष भी लगते हैं। परमाणु बनने में फिर ४३,२०,००० वर्ष अधिक लगते हैं। फलतः इस परमाणु के बनने में ८६,४०,०००००० वर्ष लगते हैं, और उसमें इतने ही भाग (८६,४०,००००००) होते हैं। यह योनियों और वनस्पतियों के मौलिक बीजों का सार है। पार्थिव परमाणु बनने तक ८६,४०,००००००×५=४,३२,००,०००००० भाग और उपजातियाँ बन जाती हैं। इतने ही वर्ष लगते हैं। अब बना भौतिक ब्रह्माण्ड का पूर्ण बीज रूप पञ्चपारमाणविक पार्थिव परमाणु। ये तो इसके खण्डित होने वाले भाग हैं, इसमें पाँच अखण्ड आत्मायें भी हैं, जो प्रत्येक खण्ड में भी अखण्ड रूप से व्याप्त रहती हैं (संख्याओं को 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में विदित करें)। उन्हीं आत्माओं की गुहा में यह परमाणु स्थित है, वह निराधार नहीं है (ब्रह्म व्याख्या देखें)। यह परमाणु पुरुष है। इसमें तीन तत्त्व मुख्य हैं, द्रष्टा या आधार (पञ्चात्मा) भोजन और भोक्ता, जो भोजन है वही भोक्ता है, इन्हें वैदिक लोग अन्न और अन्नाद कहते थे जिसे आजकल के विद्वान् जड़ और चेतन कहते हैं। वैदिकों का अर्द्धनारीश्वर आध्यात्मिक और भौतिकता का सम्मिश्रण है। और 'पुरुष एवेदं सर्वं······यदन्नेनातिरोहति' (पु० सू० २) ने जिसको अन्न से विकास पाने वाला बतलाया है वह अन्न प्रथम 'रेणु' है। यही तब अन्नाद कहलाता है जब यह विकास पाने लगता है, बिना अन्नाद हुए विकास सम्भव ही नहीं। अन्नाद सृष्टि आसुरी है, समस्त सृष्टि आसुरी है, समस्त विकास असुर या आसुर हैं। इनके दैव भाग भी हैं, प्रत्येक में दैव भाग या सौम्य भाग या सोम भाग या वही आध्यात्मिक (पञ्चविध) भाग भी हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के भागों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह परमाणु है। यह है सर्व बीजात्मक सर्वशक्तिमान् सृष्टिकारक ५० वाँ ब्रह्म। इसका वैदिक नाम है 'विवर्तः' जैसे "विवर्तो ऽष्टाचत्वारिंशत्"* कि ४८ वाँ 'विवर्त' नामक ब्रह्म है। इसमें आदि और मध्य ब्रह्म को जोड़ें तो यह ५० वाँ ही होता है, अतः प्रथम परमाणु ५० वाँ आकाश या खं ब्रह्म प्रथम विवर्त है। अब चल पड़ा विवर्त आगे। विवर्त, माने विशिष्ट रूप

*'ऋचो अक्षरे' में श० प० ब्रा० का उद्धरण देखें।

से व्यावृत करने वाला (आकृष्णोन रजसा वर्तमानो; वृणीते वृत्रः इत्यादि) या विकास पाने वाला है।

अव्यय कल्पवृक्ष का आदि मूल न तो रेणु ही है न परमाणु। ये तो क्रम से २५ वें और ५० वें तत्त्व हैं। इसका मूल तत्त्व है अक्षरब्रह्म (ब्रह्म) जिसमें ८६,२०,००००० या ४,३२,००,००००० या इससे अनन्त संख्या के अक्षर या अन्न अन्नादों के मूल बीज सार भूत या विद्युच्छर स्वरूप या ऋतसत्यशरसंघातरूप या पञ्चात्म संघात में ब्रह्ममय एकमय होकर रहते हैं, वे हैं तो अनन्त, पर एकमय एकात्म्य ब्रह्मरूप होने से 'एक' नाम से पुकारे जाते हैं, फिर भी वैदिकों का आदेश है कि कहना यही चाहिए कि बहुत हैं, एक नहीं, 'बहवः इति वक्तव्यम्' (ब्रह्मविषयक संकेतावली देखें)। इसीलिए आदि सांख्यकार ने 'अनन्ताः पुरुषाः' कह दिया था। वृक्ष जितना बड़ा बाहर दिखलाई पड़ता है, प्रायः उतना ही गहरा नीचे भूमि के अन्तर्गत होता है। सृष्टि वृक्ष के मूल में भूमि के अन्तर्गत भाग में २४ तत्त्व आते हैं। यह वृक्ष उलटा है, इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, तना टहनियाँ शाखायें नीचे की ओर। अतः कहा है "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।" (अथर्व) "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥" (गीता १५-१) जिनका मूलस्रोत ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (१०-३१-७; १०-८१-४)। इस ऊर्ध्वबुध्न वृक्ष में विश्वरूप यशः या भौतिक तत्त्वों का सार निहित है। यशः नाम सूर्य, चन्द्रमा आदि भौतिक तत्त्वों का है। इस वृक्ष के पर्णानि पत्ते वही हैं जिनकी गिनती ८६,४०,००००० व्रतों, वर्षों या योनियों की जातियों में की गई हैं, जिनको सरलतया या संक्षेपतया व्याख्यात करने के लिए विभिन्न अक्षर संख्या के छन्दों के पुञ्जों या वैदिक मन्त्रों का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न साथ में यह भी उठता है कि यह वृक्ष उगा किस भूमि में है ? अज्ञ भी इस वृक्ष की उत्पत्ति की भूमि ब्रह्म को ही बतलायेगा। हमारे यहाँ अष्टौ लोकाः, अष्टौ धामानि, अष्टौ पुरुषाः, अष्टौ चक्राणि प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक के अष्टकों के अलग-अलग नाम हैं, अष्टौ लोकाः ये हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं और आदि का ब्रह्म। इनमें से प्रथम तीन लोक 'भूर्भुवः, स्वः' इस वृक्ष के मूल में हैं। इन्हीं की भूमि के अन्तर्गत ब्रह्म वृक्ष का मूल है। इसी मूल को गायत्री ब्रह्म (२४ तत्त्वों का) कहा जाता है, इसी को गुहा या गुहावासी कहा जाता है। इसीलिए गायत्री मन्त्र में 'भूर्भुवः, स्वः' को आदि में अनिवार्यतया उच्चरित भी किया जाता है।

३—पुरुष या अक्षर ब्रह्म एक है या अनेक ? और सृष्टि कल्पवृक्ष

वैदिकों ने अपने दर्शन में जिस अलौकिक अद्भुत तथा सरलतम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है, उसे देख सभी को बड़ा ही आश्चर्य होगा। वृक्ष का अंकुर जब भूमि को चीर कर बाहर फूटता है तो वह केवल एक पर्ण या सुपर्ण

रूप में सुकोमल पर्णरूप में निकलता है। दूसरे दिन आप उसे देखने जावेंगे तो उसमें आप एक से दो पर्ण बने पायेंगे। बस, वृक्ष के तने शाखा प्रशाखा आदि बनने का तब श्रीगणेश आरम्भ हो जाता है। सृष्टि वृक्ष की विकास व्याख्या में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते" (ऋ० वे० १-१६४-२०) के दो सुपर्ण, येही दो पर्ण या पत्ते हैं, प्रथम पर्ण रेणु है और द्वितीय पर्ण सोम। यहाँ से भौतिक और आध्यात्मिक सम्मिश्रित सृष्टि रूप वृक्ष पनपने लगता है। सुपर्ण शब्द की व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें। वैसे पर्ण माने पूर्ण (ब्रह्माण्ड) रूप पत्ता है, सुपर्ण=प्राण रूप पूर्ण ब्रह्माण्ड (पृणातीति पूर्णायते इति पर्णः)। हंस विद्या में सुपर्ण माने प्राणरूप 'पक्ष' या 'पर' वाला पक्षी होता है। यहाँ से सृष्टिवृक्ष एक-एक बाल की खाल के बराबर २५ काण्डों, पर्वों या परुषों में क्रमशः ४३२०, ०००००० विकास पाकर अन्त में परमाणु रूप तने के रूप में प्रस्तुत होता है, "काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि" और जब यह तना शाखा प्रशाखाओं द्वारा अनन्तता की ओर झुकता है; तब कहते हैं "एवा नो दूर्वा प्रतनु सहस्रेण शतेन च।" दूर्वा नाम 'धूर्वा'* का संक्षेप है; धूर्वा इसी परमाणु रूप ५० वें विवर्त ब्रह्म का नाम है (श० प० ब्रा० ७-३-२-१२)। धूर्वा का सीधा अर्थ है 'धुरं वहतीति धूर्वा'। जो आदि धुरी है वही धूर्वा या दूर्वा या परमाणु है, विवर्तीय ब्रह्म है। यह सब सृष्टि अव्यक्त सृष्टि है। व्यक्त सृष्टि का आरम्भ परमाणु नामक विवर्तीय ब्रह्म से होता है। पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व अव्यक्ततर हैं, आदि ब्रह्म अव्यक्ततम।

४—सुपर्ण और द्वा सुपर्णा

व्यक्त अव्यय कल्प वृक्ष ज्यों-ज्यों आगे पनपता जाता है, त्यों-त्यों उसके विकास योग्य परिस्थितियाँ साथ-साथ बनती जाती हैं, जैसे गर्भ में बालक की उत्पत्ति के साथ-साथ माता के स्तन में दूध के बनने का क्रम चल पड़ता है, जिससे बालक का जन्म होते ही जीने और विकास पाने का मौलिक अन्न मिल जाता है। प्रत्येक विकास अपने विकास की पूर्वापर योजना के साथ चलता है। जिस प्रकार अव्यक्त सृष्टि के सात सप्तक या षडष्टक हैं, उसी क्रम से व्यक्त सृष्टि के भी सप्तलोक या षडष्टकीय लोक हैं। ब्रह्म अष्टम है। येही इस व्यक्त ब्रह्माण्ड के अष्टचक्र भी हैं, वैयक्तिक ब्रह्माण्ड भी अखिल ब्रह्माण्ड का एक संक्षिप्त नमूना है। उसमें (हमारे जैसे लोगों में) भी वही अष्टचक्र हैं। पारिवारिक ब्रह्माण्ड (सौरमण्डलादिक) भी इसी प्रकार अष्टचक्रीय हैं। इन अष्टचक्रों में से [१]श्रीः, वसु, [२]रुद्र, [३]आदित्य-विश्वेदेव-मरुतः, [४]असुर, [५]सिद्ध-साध्य, [६]'यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नक्षत्र,' [७]अश्विनौ, [८]सूर्य, ग्रह-मण्डल, चन्द्रमा, अन्न, अन्नाद हैं। इनके विशद वर्णन का क्षेत्र सांख्ययोग दर्शन है। लेखक के सांख्ययोग के १८ वें अध्याय को देखें। वेदों में जो ३३ देवता हैं वे तो मौलिक तत्त्व हैं; उनसे ३३ करोड़ देवता (पुराणों के) येही विकास हैं। इन्हीं को वस्तु

५—व्यक्त ब्रह्माण्ड का विकास

*श० प० ब्रा० ७-३-२-१२

या आधार बनाकर मौलिक तत्त्वों का रहस्य वर्णित किया गया है। जिस प्रकार अश्वत्थ या वट धीरे-धीरे उतना बड़ा विशाल रूप केवल एक क्षुद्र बीज मात्र से धारण करता है उसी प्रकार परमाणु रूप बीज से व्यक्त कल्पवृक्ष धीरे-धीरे इतने बड़े विशाल ब्रह्माण्ड का स्वरूप धारण कर लेता है। परमाणु में ८६,४०,०००००० पर्ण हैं, उतने ही तने या शाखायें, उनसे पुनः शाखा प्रशाखायें फूट कर चार अरब बत्तीस करोड़ बन जाती हैं। एक कल्प इतने ही वर्षों का होता है, इसमें दो अरब बत्तीस करोड़ अन्न या गोल या फल या पुष्प हैं, जिनमें इतनी ही अन्नाद जातियाँ भी हैं। तब कल्पवृक्ष पूरा होता है, यह है अव्यय कल्पवृक्ष।

६—व्यक्त या परमाणु से क्रमिक विवर्त

वैज्ञानिक दृष्टि कोण से वह प्रथम विवर्तीय परमाणु सर्व प्रथम एक अणुबम के समान था। उसका विकास उसमें एक बृहद्विस्फोट को ले आया, जिससे उसके ८६४००००० तत्त्व सूक्ष्म रूप से चारों ओर इस प्रकार फैल गये जैसे अतिशबाजी के गोले के परिमित उज्वल कण। वेही तत्त्व एक से दो, दो से चार, चार से सोलह, सोलह के दो सौ छप्पन की वर्गाकार शैली में चार अरब बत्तीस करोड़ पिण्डों का क्रमिक निर्माण करने में समर्थ हुए। परमाणु विस्फोट विकास क्रम को देख कर यह सरणि सरलता से विदित हो सकेगी। आज का परमाणु तो एक सेन्टीमीटर का १००००००००००००० वां अंश है। एक ही तत्त्व का इतना छोटा अंश है, वह अणु तो समस्त ब्रह्माण्ड के अखिल बीजों का सारमय पिण्ड था। अतः जितनी शक्ति आधुनिक परमाणुबम में है वह उसके सामने कम से कम चार अरब बत्तीस करोड़वें अंश के समान भी नहीं हो सकती, फिर भी यह इतना बली प्रभावशाली और प्रलयंकारी है। इस अणुबम में प्रलयकारिता है तो उस अणुबम में रचनात्मकता, सृष्टिकारिता और मधुरता थी। दोनों में इस प्रकार आकाश-पाताल का अन्तर है। एक प्राण हारक है, दूसरा प्राण-मय प्राणदायक। दोनों का साम्य अणुता और उसके विस्फोट एक बार नहीं क्रमशः सहस्रों बार होते रहने में है; जब तक कि 'यथापूर्वमकल्पयत्' के लिए उचित परिस्थित या मौलिक परिस्थिति उपस्थित न हो सकी। यह सब क्रिया वैद्युतीय अणुओं के पुञ्जों के रूप में छः सप्तकों के बनने तक चलती रही। छठा सप्तक सूर्यों का है, आकाश गंगा की अन्तिम छोर है। इनसे भारी परिमाण के पुञ्ज ठोस रूप से बढ़कर पहिले शुण्डाकार फिर दश विभिन्न ग्रहों के स्वरूप में प्रस्तुत हुए। इनमें सबसे बड़ा (गुरु) ग्रह बृहस्पति है, जो अपने बड़प्पन के कारण गुरु भी कहलाता है। इसके अगल बगल के क्रमिक ग्रह क्रमशः छोटे और क्रमशः बराबर की दूरी में, पर सूर्य से क्रमशः बड़े-बड़े अयनवृत्त वाले हैं। यही सप्तम सप्तक या चक्र है। आदि चक्र परमाणु विवर्त है।

यह सारी सृष्टि पाञ्चभौतिक सृष्टि है, पञ्चात्मीय सृष्टि का भौतिक स्वरूप है, केवल अन्न सृष्टि है, जिसे वास्तव में आसुरी सृष्टि की पराकाष्ठा कहना चाहिए।

इनका जीवन जलना जलाना, तेली के बैल की तरह एक धुरी के चारों ओर चक्कर काटना मात्र है, यन्त्र की तरह तन्त्र में बंधकर चक्की पीसना जैसा ही है। जब

७—स्थूल सृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप

ग्रहों में शीतलता अपने स्वस्थ वृत्त पर आती है, तब अन्नाद सृष्टि का आरम्भ होता है। तारों में पञ्चात्मायें आनन्द से रहती हैं उनका मुख ही अग्नि है 'अग्नि वैं देवानां मुखं' अग्नि ही उनका भोजन भी है। पर ग्रही प्राणी में पञ्चतत्त्व परिमित अनुपात से रहते हैं। वह हिरण्यगर्भ है, अखिल ब्रह्माण्ड का एक दिव्य नमूना है। वह एक अन्नाद है, दूसरों का अन्न भी। इनकी आत्मायें अग्नि स्वरूप में ही इन ग्रहों में पुञ्जीभूत हुई हैं। वेही पार्थिव गर्भाशय पाकर प्राणी रूप में स्वयं प्रस्तुत हो गये। पहिला प्राणी दिव्य प्राणी होगा, प्रत्येक जाति का दिव्य प्राणी होगा, चाहे वृक्ष हो या जीव। आजकल के वैज्ञानिकों की विकास शैली कि मछली, मेंढक आदि से होते-होते बन्दर, तब मनुष्य बनने की कल्पना, अवैज्ञानिक तो है ही अदार्शनिक भी है। ऐसा होता तो अब भी ऐसा होते देखने में आ सकता। जिस प्रकार प्रथम मछली बनने की ठीक कल्पना है उसी प्रकार मनुष्य की कल्पना भी जल मनुष्य रूप में हो सकती है, नाना प्राणी, पक्षी आदि वृक्षादि का मूल स्रोत कोई ऐसी ही स्थली रही होगी जो जलमय रही हो। जलचर का स्थलचर बनना कोई अस्वाभाविक नहीं लगता। सृष्टि चालू होने से मतलब है। हमारे पुराणों की बालमुकुन्द की पीपल के पत्ते की नाव में सोकर समुद्र में तैरते रहने की कथा व्यक्त ब्रह्माण्ड के इस मानव सृष्टि के प्रथम पहलू का विवेचन रहस्य द्वारा देती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अव्यक्त सृष्टि विवेचन में यह वर्णन 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' का वर्णन देता है। भौतिकता का आरम्भ भी इन्हीं सुपर्णों से होता है, प्राणिसृष्टि (वृक्ष और जीव) को भी व्यक्त ब्रह्माण्ड में येही सुपर्ण करते हैं। यह हमारे वैदिकों की अद्भुत प्रतिभा की महिमा है जो एक ही वाक्य में कई प्रकार के रहस्यों को कूट-कूट कर भर सकी है।

एक दूसरा भी रहस्य है। सूर्य से जब ग्रह बनने लगे, तब क्या उस समय ग्रहों का पार्थिव भाग बन गया होगा? कदापि नहीं। उस सूर्य से तो भार रूप

८—ग्रह निर्माण, इस पृथिवी का प्रकट होना और आर्यों का आदि स्थान

अग्नि की ज्वाला रूप में ही ग्रहों की धार निकली होगी। अग्नि के प्रवाह का विकास जल होता है। अतः ग्रहों का द्वितीय स्वरूप तो जलमय ही होना चाहिए। जल का विकास पृथिवी रूप में होता है। इसीलिये प्रत्येक ग्रह में जल की मात्रा स्थल मात्रा से लगभग तिगुनी है। उससे जितनी पृथिवी बन सकी वेही पर्वत, मैदान आदि बने। यह अधिक संभव है कि कई लाख वर्ष तक सब ग्रह जलमग्न रहें होंगे, जीव भी इसी में रमते रहे होंगे, ज्यों-ज्यों पृथिवी का भाग दृश्य होने लगा, प्राणी भी स्थलचर बनते चले। सम्भवतः सर्व प्रथम पृथिवी का दर्शन हेमाद्रि (हिमालय पर्वत) के रूप में हुआ होगा। यही भूमि आर्यों की सर्व प्रथम निवास की

देव भूमि भी है। कैलास के मानस सरोवर में रुद्र रूप जीवात्मा का निवास इसी ओर संकेत करता है। "अन्तर्हृदा मनसाः पूयमानाः···। तस्मिन सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः" (नारा० उप०)। पुराणों की मत्स्यावतार-कथा का रहस्य भी यही प्रतीत होता है कि पहिले मनुष्य जलवासी था और शतपथ ब्राह्मण (१-६-३) के उल्लेख से इस बात की पुष्टि होती है। मनु का आरम्भ प्रातः या सूर्योदय से होता है। वह अपने को जलप्लाव या विप्लव में या चतुर्थ सप्तक में पाता है। उसे मछली रूप नाव मिलती है, उस नाव को वह सृष्टि वृक्ष पर, आदि गिरि पर बांधता है। यहां पर आदि प्राण रूप मनु है। पर यहां प्रत्यक्ष लौकिक मानव सृष्टि का भी मुख्य संकेत है कि मानव की आदि सृष्टि या इस कल्प की आदि सृष्टि उत्तर गिरि या हेमाद्रि से ही प्रारम्भ हुई, जब कि इस पर्वत तक समुद्र था। यह स्थिति कब थी, चन्द्रमा के विस्फोट के समय या किसी भयंकर ज्वाला मुखी के फटने के बाद में, कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। पर इतना निश्चित है कि वर्तमान जीव सृष्टि हेमाद्रि से ही आरम्भ हुई। मानव सृष्टि उक्त विस्फोट से पहिले भी अवश्य रही होगी, जिनमें से मनु और श्रद्धा किसी बड़ी मछली की नाव में बैठकर जीवित रह सके। कथानक में भूमि का भी संकेत दिया है, (श० प० ब्रा० १-६-३-६)

"अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद्यावद्यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति"।

पुराणों में वराहावतार द्वारा पृथिवी को समुद्रतल से उद्धृत करने की बात कही गई है। यह आख्यान, उक्त व्याख्यान की पुष्टि करता है। वराह नाम वेदों में रुद्र का है। रुद्र को 'दिवो वराहमरुषं कपर्दिनम्' (ऋ० वे० १-११४-५) कहा है और (श० प० ब्रा० ५-३-५-१९) ने वराह की उत्पत्ति घृत रूप अग्नि अर्थात् चतुर्थ सप्तक से मानी है। यह सप्तक महादेव रुद्र का ही है। अतः वराहावतार की कथा सीधे-सीधे पृथिवी का प्रकट होना, वह भी हेमाद्रि रूप में ही स्वयं सिद्ध कर देता है, "अग्नौ ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयां-चक्रुस्ततो वराहः सम्बभूव तस्माद्वराहो मेदुरो घृताद्धि संभूतस्तस्माद्वराहे गावः संजानते" इत्यादि)। 'चत्वारिश्रृंगा' नाम की ऋचा में महादेव नामक सोम चतुर्थ सप्तकीय ही वराह कहलाता है, वहां यह सत् या भौतिक या पृथिवी का संकेतक है,

"महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्"
(ऋ० वे० ९-९७-७)।

अतः यह पुष्ट मत प्रतीत होता है। त्रिविष्टप् नाम का—जो त्रिपाद् ब्रह्म का पारिभाषिक संकेतक है—आधार भी यही त्रिविष्टप (तिब्बत) प्रतीत होता है (ऋ० वे० ८-९१-५)। अतः प्रथम मानव सृष्टि इसी (हिमालय) हेमाद्रि की गोद में कैलास मानस सरोवर के ही आस-पास से हुई प्रतीत होती है। तब हेमाद्रि में

हिम नहीं रहा होगा और भूगर्भ शास्त्रियों का मत भी इस मत की पुष्टि करता है। यह अधिक सम्भावना भरा विचार प्रतीत होता है। समुद्र धीरे-धीरे आगे बढ़ा और हिमालय से ही आर्य जाति भारत में और विदेशों में बिखरी। चीन में एक और ऊँची चोटी है, उसके पास से मंगोल पीली जाति का अभ्युदय हुआ होगा। आर्य लोग नदियों के घाटियों के साथ-साथ भारत में या पश्चिमी तुर्किस्तान आये होंगे। पारसीक आर्य भारत से सिन्धु पार कर गये होंगे। इसीलिये उनके जिन्दावेस्ता में वेदों की छाप है, जिन्दावेस्ता की छाप वेदों में बिलकुल नहीं मिलती। जिन्दावेस्ता की भाषा, हमारी वैदिक भाषा से अधिक बिगड़ी और अपभ्रंश रूप में हैं, मौलिक रूप में नहीं। अभी नहीं कहा जा सकता कि कहीं ये पारसीक आर्य वहीं द्रुह्यु वंश के आर्य तो नहीं हैं जिन्हें दाशराज्ञ युद्ध में ध्वस्त कर भारत से बाहर खदेड़ दिया गया था। क्यों कि बड़े ऐतिहासिकों ने हमारी वैदिक संस्कृति के सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने से, कुछ विपरीत मत प्रगट कर आर्यों की जन्म भूमि मध्य एशिया से नार्वे और उत्तरी ध्रुव तक खींच डाली है, इससे उनके जातीय गौरव को प्रतिष्ठा मिलती है। आर्य जन्म भूमि भारत त्रिविष्टप मानने पर उनके जातीय गौरव को धक्का लगता है।

पाश्चात्यों ने आर्यों के भारत में विदेश से आने की भूमिका बाँधते हुए यह तर्क भी दिया है कि वेदों के शूद्र उनके मत से भारत के आदि वासी कोल, भील, द्रविड़ जातियों के थे। पर खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वेदों में अङ्कित शूद्र या दास वर्ण कोई अनार्य जाति नहीं थी। ये शूद्र या दास वर्ण सब आर्यों के ही सम्प्रदाय के लोग थे। इनकी वृत्ति मात्र शूद्रों या दासों की थी। इसके प्रमाण में निम्नलिखित ऋचायें दी जाती हैं जिनमें दास वर्ण को स्पष्ट शब्दों में आर्य नाम से पुकारा गया है। "अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।" (ऋ० वे० १०-८६-१९) "हतोवृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती। हतो विश्वा अप द्विषः।" (६-६०-६ ऋ० वे०) इत्यादि। और 'दास' को वर्णों के अन्दर मानकर उन्हें आर्यों के खोल में ही समझा है अनार्य नहीं 'दासं वर्णमधरं गुहाकः" (२-१२-२)। वास्तव में शूद्र या दास चतुर्थ सप्तक के पूषा पशुओं का नाम है, यह नाम तत्त्वों का है; किसी जाति का नहीं। हां, आर्यों में दास या शूद्र वर्ण अवश्य था। इनका रंग ईषत्कृष्णपिंगल (गोधूम) भी था। ये भौतिकता में अधिक सने शारीरिक श्रम जीवी थे। अतः पाश्चात्यों का उक्त तर्क निराधार सिद्ध हो जाता है।

९—आर्य और शूद्र

वैदिकों ने अपने दर्शन को वेदवृत्तदर्शन नाम से भी पुकारा है। इसी आधार पर वेदों की नाना प्रकार की विद्याओं की विवेचना करने वाली संहिताओं का नाम 'शाखा' पड़ा है। संहिता रूप शाखाओं के समाहार का नाम ही वेद या वेदवृक्ष है। इनके छन्दों का नाम पर्ण है। इनके मुख्य तने तीन ऋग्, यजु, साम हैं। पर दर्शन की व्याख्या के अवसर पर ये मुख्य तने, शाखायें और पर्ण सब वैदिक दर्शन के पृथक्-

१०—वेदवृक्ष

पृथक् तत्त्वों के नाम हैं। इन्हें 'ऋचो अक्षरे' कहते हैं। जो इन्हें जानता है उसी को वेदविद् कहा जाता है। जो इन्हें नहीं जानता वह वेदों को छूकर क्या करेगा, यह वे वैदिक स्वयं कह गये हैं। 'ऋचो अक्षरे' की व्याख्या में इन तत्त्वों को और इन उद्धरणों को विस्तार से दे दिया है। इसी ओर संकेत करते हुए गीता में कई स्थलों में कहा है'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' 'यस्तं वेद स वेदवित्' इत्यादि। वेदवृक्ष दर्शन के तत्त्व वेही हैं जो अव्यय कल्पवृक्ष और 'ऋचो अक्षरे' में वर्णित किये जा चुके हैं।

अध्याय १३

ब्रह्मविषयक

वैदिक रहस्य की संकेतावली

वेदों में 'ब्रह्म' के संकेतक शब्द अनेक हैं, वेदों के बनने के पहिले ही वैदिकों ने अपने दर्शन के तत्त्वों के नाम नाना मार्गों के अनुसार ढाल लिए थे।

१—शाखानुसार ब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम

प्रत्येक वैदिक को दूसरे सब मार्गों के पारिभाषिक शब्द मान्य थे। इस प्रकार वेद नाना मतों का एक ठोस मतैक्य प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्म को अध्वर्यु लोग सबसे पहिले 'अग्नि' नाम से पुकारते थे। उस नाम को सबने स्वीकृत कर लिया। याजक लोग उसी ब्रह्म को यजु नाम से पुकारते थे, साम गायक 'साम' नाम से। यजु इसलिए कि वह सर्वत्र व्याप्त या युक्त रहता है, साम इसलिए कि वह सब में समान प्राणरूप में रहता है। 'ऋग्वेदी' या 'बह्वृच' लोग उस ब्रह्म को 'उक्थ' नाम से पुकारते थे; क्योंकि उसी ब्रह्म से सब सृष्टि उद्भूत होती है। यातुविद् लोग पराशर आदि (ऋ. वे. ७-१०४-२१) उसे 'यातु' नाम से पुकारते रहे, क्योंकि उससे समस्त ब्रह्माण्ड संयत रहता है। सर्प लोग उसे 'विष' नाम से पुकारते थे, क्योंकि वह ब्रह्म विष की तरह चिकित्सा या विचिकित्सा द्वारा आनन्द देने वाला है। रुद्र के कण्ठ का विष यही प्राणरूप विष है (खानेवाला, मारने वाला विष नहीं)। सर्पविद् लोग उसे सर्प या अहि नाम से या कीटाणुवाद रूप में मानते रहे। देवता लोग उस ब्रह्म को ऊर्क् या 'ऊर्ज' (प्राण) नाम से पुकारते हैं। देवता तो ३३ ही हैं जिनमें से २४ से ३३ वें तक के मनुष्य कहलाते हैं, २४ देवता या तत्त्व 'ऊर्ज' 'ऊर्क्' कहे जाते हैं। मनुष्य या २४ वें से ३३ तक के देव उस ब्रह्म को 'रा' 'रयि' या धन नाम से पुकारते हैं, उसी को असुर लोग माया या रहस्य नाम से पुकारते रहे। असुर देवों के सगे भाई भौतिकता प्रधान मात्र, वही तत्त्व कहलाते हैं जो देवता हैं। पितर उसे 'स्वधा' नाम से कहते हैं, देवजनविद् उसे 'देवजन' नाम देते हैं। गन्धर्व या नक्षत्र उस ब्रह्म को 'रूप' नाम से पुकारते हैं और अप्सरायें उसी ब्रह्म को गन्ध नाम से कहती हैं 'गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्' इत्यादि।

जैसे :—"तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचा एष हीदं सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविद एतेन हीदं सर्वं यतम्। विषमिति सर्पाः सर्प इति सर्पविद ऊर्गिति देवाः रयिरिति मनुष्या मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजनविदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसस्तं यथा यथोपासते तदेव भवति।" (श० प० ब्रा० १०-५-२-२०) (अथर्व ८-५-५)

जो जिस ढंग से माने उसे उसी प्रकार सिद्धि मिल जाती है। गीता ने इसी कथन को अपने दूसरे वचन में इस प्रकार कहा है "ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम् ।।" गीता ने तो ब्रह्म को 'भूत-प्रेतगण' इत्यादि नामों से भी उपासित किये जाने की बात कही है। ये भूत-प्रेत भी कोई दूसरी चीजें नहीं हैं। ये नाम और स्थान भेद के तत्त्व हैं जिनकी व्याख्या भी वेदों में दी गई है। तत्त्वों के अन्य नाम पर्ण, व्रत भी हैं; तत्त्व समूह व्रात हैं, सम्पूर्ण व्रत ८६४०००००० हैं। इनके समूह को 'व्रात्य' कहते हैं। अथर्व १५वें काण्ड में यही व्रात्य संवत्सर ब्रह्म है। अथर्व में ही व्रत माने तत्त्व सैकड़ों बार आया है।

२—हिरण्यगर्भ शब्द या तत्त्व का रहस्य

अब 'हिरण्यगर्भ' शब्द के रहस्य को देखें। 'हिरण्य' नाम रुक्म या सुवर्ण का है। ऋग्वेदी लोगों की एक शाखा ब्रह्म को अग्नि कहती रही, दूसरी उक्थ तो तीसरी शाखा उसे 'रुक्म' या हिरण्य या सुवर्ण नाम से भी पुकारती रही। इस कथन की पुष्टि में कई उद्धरण मिलते हैं।

(१) "स एष त्रीष्टकोऽग्निः। ऋगेका यजुरेका सामैका। तद्याङ्काञ्चात्रऽर्चो-पदधाति रुक्म एव तस्याऽऽयतनम्। अथ यां यजुषा पुरुष एव तस्या आयतनमथ यां साम्ना पुष्करपर्णमेव तस्या आयतनमेवन्त्रीष्टकः" ।।२१।। "ते वा एते, उभे एष च रुक्म एतच्च पुष्करपर्णमेतम्पुरुषमपीत उभे ह्यृक्सामे यजुरपीत एवम्वेकेष्टकः ।।" (श० प० ब्रा० १०-५-२-२१,२२)।

जब ऋग्वेदी ब्रह्म को रुक्म, सुवर्ण या हिरण्य कहते हैं तब यजुर्वेदी उसे पुरुष और सामवेदी पुष्करपर्ण (कमलपत्र) कहते हैं। ये सब नाम ब्रह्मरूप अग्नि के हैं जिसे इस प्रकार त्रीष्टक या तीनों के तीन इष्ट कहते हैं। पुरुष नाम तो गायत्री ब्रह्म का और पुष्करपर्ण 'अष्टौचक्रा:' विद्या का आधारस्तम्भ है। यहाँ हम हिरण्यगर्भ की व्याख्या कर रहे हैं। अतः इस विषय पर अन्य उद्धरण अधिक स्पष्टता लाने के लिए दिये जाते हैं। बृहदारण्यक (१-२-२६) ने 'सुवर्ण' शब्द की व्याख्या देते हुए लिखा है—

"तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद" और उक्त साम नामक सुवर्ण का ब्रह्म से अभेद करते हुए लिखा गया है कि (ब्रह्मणस्पति ब्रंह्म वाग्) "एष उ एव साम, वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं।" (१-२-२२) यह वाक्य पिछले परिच्छेद के 'सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदं सर्वं समानम्' की पूर्ण पुष्टि करता है।

इस साम को स्व या स्वा नाम से भी पुकारा जाता है जिससे 'स्वाहा' शब्द भी बनता है। और इस स्व या स्वा का अर्थ भी स्वर या शब्द ब्रह्म ही है, यही अर्थ सुपर्ण या रुक्म या हिरण्य का भी है जैसे "तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत ।।" (१-२-२५)। इस प्रकार स्वं, स्वा, सुवर्ण, साम, हिरण्य और रुक्म ये सब नाम ब्रह्म के हैं और इनका अर्थ शब्द ब्रह्म है। हिरण्यगर्भ माने सुवर्ण गर्भ

या स्वरगर्भ, शब्दगर्भ, या शब्दब्रह्म हुआ या प्राणगर्भ। स्वं माने प्राण भी होता है। रुक्मगर्भ माने प्रकाश गर्भ या ज्ञानगर्भ 'रोचते इति रुक्म्' है। हिरण्य नाम रखने में एक और रहस्य भी है। हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति का है। बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति से पर्वतों का अभ्युदय होता है, वह स्वयं हिमालय पर्वत है। "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम् (ऋ० वे० २-२४-२)। उस पर्वत को वसुमान् वसुदेवता वाला या हिरण्यादि वसु या धन वाला या रत्न वाला माना गया है। अतः उसे हिरण्यगर्भ कहा गया है। और इस 'हिरण्य' माने भी प्रकाशमय, ज्ञानमय ही होता है "हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः" इत्यादि विशेषण इसी बात की पुष्टि करते हैं। गर्भ, नाम, द्यौ, अन्तरिक्ष, वेदि, दुरोण, नृषद् आदि सदों का है। हिरण्यगर्भ माने वह शब्दब्रह्म या प्रकाशमय, ज्ञानमय ब्रह्म है जो उक्त सप्त सदों में क्रम से निवास करता है। अथवा 'हि' निश्चयपूर्वक ही जो रणनशील या शब्दमय है वह है 'हिरण्य'। यह अपूर्व अव्ययीभाव समास 'सुवर्ण' पद के 'सुवर्ण स्वरः (शब्द) एव सुवर्णम्' के अनुरूप दार्शनिक व्युत्पत्ति है। ऐसा हिरण्य या शब्द जिसके गर्भ में है वह है हिरण्यगर्भः। तब लिखा है "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"। इस मन्त्र का पतिशब्द मिथुन में पतिपत्नी रूप तो है पर भूत तत्त्वों का 'संरक्षक' अर्थ रखता है, मिथुन, द्यौ इत्यादि का है, अतः हिरण्यगर्भ है। यह हिरण्यगर्भ अक्षर ब्रह्म है, विकासोन्मुख ब्रह्म है, इसमें द्यौ रूप आत्मीय प्राणीय भौतिकता है।

३—ब्रह्म के पञ्चपर्वा विद्या परक नामों की व्युत्पत्ति

अक्षर ब्रह्म के अन्य नाम गिरि, नदी, सिन्धु भी यही अर्थ रखते हैं, 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः' (मु०उप)। जो गिरा (या वाक्) है वही गिरि, गिर या ब्रह्म है, जैसा कि अथर्ववेद ने लिखा है 'गिर्दुरमण्य ऊर्जा मधुमती वाक्' (अथर्व १६-२-१) कि गिर्, दुर्, ऋ, मणि (मण्य) नाम मधुमती वाक् (ब्रह्म) के हैं। वदनशील, वाग्ब्रह्म की लिंग में स्पष्टता के लिए 'नदी' (वाक्) कहलाता है, नित्यनदनशीला वाग्ब्रह्म ही नदी है। 'सिम् स्वयं ध्वनतीति सिन्धुः' जो स्वयं शब्दमय है (वासस्तनुते सिमस्मै १-११५-२)। वही शब्द ब्रह्म सिन्धु है, (ऋ० वे० १-१६४-४२); 'तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति।' 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः' इत्यादि (य० वे० १३-३८)। 'पर्वणि पर्वणि जातः पर्वतः' ५० तत्त्व ५० पर्व हैं। जो इन पर्वों द्वारा विकसित होता है, वही पर्वत है "पर्वभिर्वावृधानः" "पर्वशश्चकर्त गामिवासिः" (ऋ० वे० १०-७९-६,७)। पञ्चपर्वा विद्या में अनेक उद्धरण दिये हैं, देखें। इसी प्रकार दुर्गं दुर्गं इति 'दुर्गाणि' (स नः पर्षदति दुर्गाणि इत्यादि)। जब ब्रह्म को मनः स्वरूप में वर्णित करते हैं, जैसे 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमित्यादि' में, तब उसे मानस सरोवर कहते हैं 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः' (यजुः १७-९४, १३-३८)। इसी प्रकार वृश्चतीति 'वृक्षः' सृष्टि वृक्ष भी ब्रह्म ही है। 'समुदेतीति समुद्रः' भी ब्रह्म ही है। मण्डूकादि चतुर्थ सप्तक के प्रतिनिधि हैं।

वर्तमान युग में हमारे न्याय और व्याकरण शास्त्रों के विद्वान् 'शब्द' पर विचार करते हैं। कोई 'शब्दोऽनित्यः' (न्याय) कहते हैं, कोई 'शब्दो नित्यः' (व्याकरण)। बड़ा आश्चर्य होता है कि ये किस 'शब्द' की चर्चा करते हैं। सम्भवतः कभी-कभी वैयाकरण लोग भर्तृहरि के 'स्फोट' नामक शब्द को नित्य कहते हैं। न्याय वालों के पक्ष में आधुनिक विज्ञान है। वह उच्चरित ध्वनि को अनित्य या क्षणिक मानता है। पर वैदिकों का शब्द या शब्द ब्रह्म न तो उच्चरित ध्वनि है, न स्फोट। स्फोट का सम्बन्ध भी उच्चरित ध्वनि के मौलिक रूप से ही है। यह मौलिक स्वरूप क्या है? इसकी तत्त्वतः विवेचना वाक्यपदीय भी नहीं दे सका है। हां, उसने इसका मूल स्वरूप ॐकार माना है। पर प्रश्न तो यह है कि यह ॐकार है क्या? इसकी चर्चा तो सभी उपनिषदों में मिलती है, पर इसकी तात्त्विक व्याख्या अबतक गहन अन्धकार में है। ॐकार का सम्बन्ध अक्षर ब्रह्म से है। अक्षर ब्रह्म की व्याख्या केवल प्रतिभादर्शन के विज्ञान मात्र से की जा सकती है। इसका सूत्रपात 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' आदि ऋचा करती है। यह वैदिकदर्शन की आधार शिला है। स्फोट तो परा या उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की अन्तिम श्रेणी के शब्द का स्वरूप है। उसके पहिले उत्तरार्द्ध के प्रथम २० तत्त्वों तथा पूर्वार्द्ध के अपरा के २४ वें तत्त्व और ॐ तक की बात को तो कोई कुछ भी नहीं जानता। इतना ध्यान रहे स्फोटवाद व्याकरण का विषय नहीं है। वैयाकरण तभी झट मीमांसक मत का आसरा लेते हैं। हमारे ऋषि, मुनि, योगी, यति, विद्वान्, कवि, अनूचान, आचार्य ब्रह्म को शब्द या वाक् या शब्द ब्रह्म कहते आये हैं, इसमें क्या रहस्य है? वैयाकरणों का विषय भी ब्रह्म परक शब्द नहीं है, स्फोट भी नहीं है। स्फोट तत्त्व तो प्रतिभा दर्शन या शिक्षा शास्त्र या भाषा तत्त्वशास्त्र का विषय है। न्याय वैशेषिक का विषय भी ब्रह्म विषयक शब्द नहीं है। इन दोनों के क्षेत्र तो बहुत स्थूल विषयों की व्याख्या करना है। व्याकरण को भाषा के शब्दरूप पढ़ाने हैं, न्याय वैशेषिक को परमाणु से आगे के तत्त्वों के गुण विकार विकासों की व्याख्या देना है। अतः उक्त सबने ब्रह्मपरक 'शब्द' पर विवाद करके केवल अनधिकार चेष्टा मात्र की है। 'आप्तवाक्यं शब्दः' वाक्यका एक और शब्द है जो मन्त्रात्मक वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् के वाक्यों को शब्द नाम से पुकारता है। मीमांसकों का 'शब्दः' यही 'शब्दः' या वेदरूप शब्द है। यह वेद रक्षा निमित्त मत है, इसे शास्त्रार्थ का विषय नहीं बनना चाहिए। वैयाकरण लोग घुमा-फिरा कर इसी 'शब्द' की दुहाई देकर कभी-कभी नैयायिकों को चुप भी कर लेते हैं। वास्तव में वेद नाम तो ब्रह्म का है, मन्त्रात्मक, ब्राह्मणात्मक, उपनिषदात्मक वाक्यों का नहीं, क्योंकि इनमें आदि से लेकर अन्त तक केवल अक्षर ब्रह्मरूप वेद (ज्ञानमय ब्रह्म) की व्याख्या है। अतः इन्हें भी वैसे ही वेद कहते हैं जैसे घरवाले के नाम से घर का नाम पड़ता है। वेद स्वयं शब्दब्रह्म है।

४—नैयायिक तथा वैयाकरणों का शब्द विग्रह

यह इस मन्त्र से स्पष्ट है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु २-२१)। शब्दब्रह्म तो अक्षरब्रह्म है। इसमें निर्ऋति, द्यौ, वेदि आदि के अक्षरों, या समिधों की अभौतिक भौतिकता है, आत्मीय भौतिकता है। ब्रह्म निर्विकार है, शुद्ध अभौतिक है।

भौतिकामृतयुक्त शुद्ध-बुद्ध-ब्रह्म पुरुषोत्तम, ईश्वर, परमात्मा, उत्तमः कहलाता है। यह अक्षरब्रह्म ८६४०००००० अक्षरों, पुरुषों, कलाओं और समिधों का एकत्वैकरूप है। "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" और "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"। यही ईश्वर है। वह शुद्ध बुद्ध ब्रह्म सद् तत्त्व सोमात्मा से बने भौतिक तत्त्वों के क्रम से सोम, तैजसात्मा, जीवात्मा और अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म में परिणत होकर, भौतिकता के लय की अन्तिम पराकाष्ठा है। यह शब्दब्रह्म या अक्षरब्रह्म भी निर्ऋति या द्यौ के रूप में शुद्ध ब्रह्म में एकाकार हो जाता है, इसी को अव्यक्त या परम गति कहते हैं, यही परम मुक्ति है, कैवल्य है, गीता अध्याय आठ देखें। अक्षर ब्रह्म का ही नाम पुरुष और शब्द ब्रह्म है, इसी का नाम स्वभाव है, इसी को अध्यात्म भी कहते हैं। इसके विकारों को क्षर-ब्रह्म या विसर्गब्रह्म नाम से पुकारते हैं। ये सबके सब क्षेत्र हैं, क्षेत्रज्ञ इनमें से केवल ब्रह्म है। अहोरात्र अक्षर ब्रह्म के हैं ८६४०००००० अक्षर, इसी अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के हैं, येही समिध हैं, येही सृष्टि वस्त्र के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के ऋक् यजु नाम के (४३२०००००० + ४३२००००००) ताने बाने भी हैं, यही आसन्दी है, येही व्रत, व्रात और व्रात्य भी हैं। अक्षर ब्रह्म ही बृहस्पति भी है, अनड्वान्, वृषभ, रुद्र, विष्णु आदि भी व्याख्या भेद से हैं। येही हेमाद्रि, गंगा आदि भी हैं। यही अव्यय कल्पवृक्ष भी है, आदि ब्रह्म इन सबसे पृथक् शुद्ध, बुद्ध; ज्ञान-प्रकाश-चेतनमय है।

शब्दब्रह्म की पूर्ण व्याख्या अन्यत्र दे दी गई है। यहाँ पर सिद्धान्त मात्र उद्धृत कर दिया जाता है। वैदिकों का अक्षर ब्रह्म परक 'शब्द' पद के बदले भौतिकी

५—शब्द ब्रह्म क्या है?

'वाक्' है। 'वाक्' प्रकाशमय प्रवाह का नाम है, एक है, एक मय है। यह वाक् अक्षर ब्रह्म रूप में केवल मधुविद्युत् के प्रकाश का एक ठोस पिण्ड है। अखिल ब्रह्माण्ड में यह एक ही ठोस पिण्ड है। इस मधुविद्युत् के ठोस पिण्ड का नाम 'गुहा' है जिसमें अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अनन्त गोल समाये हुए हैं। इसी गुहा का नाम वाक् है जो अखिल गोलों की भ्रमण क्रिया से सतत् शब्दायमान सी रहती है। जिस प्रकार ईथर या मैगनेटिक लहरों का विश्वव्यापी एक ही पिण्ड है उसी प्रकार इस वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म का एक ठोस पिण्ड है। यह शब्दब्रह्म पिण्ड आजकल के रेडियोधर्मी धूल से भी इतना अधिक सूक्ष्म और इतना अधिक मधुमय है कि न उसका यन्त्र-तन्त्र से अनुमान किया जा सकता है, न वह किसी के लिए हानिकर है। इस अखिल ब्रह्माण्ड में जो अणोरणीयान् या तरलतम मधुविद्युत् है वही अक्षर

ब्रह्म या वाग्ब्रह्म या शब्दब्रह्म है। ब्रह्म सृष्टि और प्रलय दोनों अवस्थाओं में निर्विकार और एकाकार रहता है। हाँ, जो भौतिक तत्त्व हैं वे भी प्रलय काल में उसी के समान होकर उसमें इस प्रकार घुल जाते हैं कि उनमें अभेद सा हो जाता है, पर फिर भी कुछ भेद तो अवश्य मानना ही पड़ता है। ऐसी ही स्थिति को द्यौ नाम से पुकारा जाता है जिनमें उस ब्रह्म के सो जाने की कल्पना की जाती है। सृष्टिकाल में जो विकास होते हैं वे द्यौ से या प्रलयकालीन या अनारम्भणीय स्वरूप ब्रह्म या वाग्ब्रह्म से ही होते हैं। ब्रह्म तो सदा अपाणिपाद अविकृत ही रहता है। इसीलिए गीता ने साफ लिखा है कि इस अखिल ब्रह्माण्ड या तत्त्वों में सब त्रिवृत् या त्रिगुण या त्रिपादी हैं। केवल ब्रह्म अगुण अवृत्, अपाद् है जैसे 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्वं प्रकृतिजैर्युक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥" (१७-४०)। बृहस्पति आदि जितने देव हैं, सब त्रिवृत् 'मनोवाक् प्रणानां त्रिवृत्' हैं। यह है शब्दब्रह्म, नैयायिकों के परमाणु से ५० तत्त्व पीछे का शीर्षण्य मूर्धन्य तत्त्व। यही आदि ब्रह्म है। हमारे ऋषि, मुनि, योगी, यतियों ने उस मूर्धन्य तत्त्व को 'एक' अणोर-णीयान्' और 'महतो महीयान्' नाम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर दिये हैं, यों ही नहीं। ब्रह्म तो बृहत् है। इतना बृहत् ज्ञानरूप है कि आज के प्रशस्त वैज्ञानिक युग में भी उसके व्यक्त भौतिक गोलों तथा उनकी चरम सीमाओं का ही पूरा पता नहीं लगाया जा सक रहा है। ये गोल-खगोल तो उस बृहत् अक्षर ब्रह्म के रस की बनी गुड़ की भेलियाँ या डालियाँ सी हैं, कितना बड़ा होगा वह ? इसका अनुमान किसी भी प्रमाण और परिमाण को 'अनन्त' नाम देकर ही किया जा सकता है। इसीलिए उसे अनन्त असीम भी कहना वैज्ञानिक ही है। अस्तु, वह प्रमाण परिमाण में भौतिक गोलों की दृष्टि से नापा जाता है, उसका अपना स्वरूप तो भौतिक है ही नहीं, शुद्ध अभौतिक है। अतः अभौतिकता वाले उस उतने अनन्त असीम को ही अपने आप महतोमहीयान् नाम से इस भौतिक दृष्टिकोण से पुकार लें। जो वस्तु अभौतिक होती है, उसमें प्रमाण, परिमाण रहता ही नहीं, तब महतोमहीयान् किससे ? कैसे ? जिसमें प्रमाण, परिमाण नहीं रहता वह वस्तु व्यापक कहलाती है। जो व्यापक है वह केवल 'एक' होती है। क्योंकि टुकड़े या भेद तो केवल उसके किये जा सकते हैं, जिसमें भौतिकता या प्रमाणपरिमाण हैं। जो एक है और व्यापक है उसे भौतिक दृष्टि से भले ही आप महतोमहीयान् कहते जाँय, वह वैसा न होकर व्यापकता और एकता के कारण सचमुच में अणोरणीयान् है। जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है, जिसमें हम परिमाण प्रमाण नहीं आँक सकते, वह भी दूसरे ढंग से या सच्चे ढंग से व्यापक और एक ही है। भौतिक तत्त्व भी व्यापक होता है, जैसे ईथर मैगनेटिक प्रवाह, रेडियोधर्मी विकिरण। उनका भी एक ठोस गोल, सीमित व्यापक गोल होता है; उन्हीं से रेडियो के समाचार तुरन्त तत्काल ग्राह्य होते हैं। यह उनकी व्यापकता के कारण होता है। ब्रह्म की अणोरणीयानता इन सबसे

भी कहीं अधिक सूक्ष्म है, उसकी व्यापकता इनसे अत्यन्त तरलतम सूक्ष्मतम और असीम है, यहाँ जो कुछ हो रहा है, वही सर्वत्र हो रहा है, ब्रह्म में जितनी भी जैसी भी चेतनता, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द आदि हमारे अंशगत भाग में हैं, वेही सर्वत्र हैं। जो अन्यत्र हैं, वे सब यहाँ हैं। सबके समाचार रेडियो समाचारगति से, अतितम तीव्र गति से या अगति से—या उसमें गति की आवश्यकता ही नहीं है, अणोरणीयान् तो ठहरा ही—जो हो रहा है सर्वत्र, नहीं हो रहा है तो सर्वत्र, जो कुछ है सर्वत्र है, चारों ओर है, उस विन्दु में ही है। उसमें इधर-उधर के भाग की कल्पना का भी स्थान नहीं है। अतः वह 'एक' अणोरणीयान् है, इतने विशाल भौतिक ब्रह्माण्ड को वह इतना सूक्ष्म अपने उदरस्थ रखता है। इसलिए उसे इस दृष्टिकोण से महतो महीयान् या बृहत् या 'ऋतं बृहत्' व्याप्त 'खोल सा बृहत्' कहते हैं तो बिलकुल ठीक ही है।

६—बृहस्पति शब्द ब्रह्म

बृहस्पति नाम शब्द ब्रह्म का है, शब्द ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म वाग्ब्रह्म है। बृहत् नाम ज्ञान रूप वाणी का है। 'बृहतां वाचां पतिर्बृहस्पतिः' (बृहदारण्यक)। वाणी के अक्षर शब्द ब्रह्म के असंख्य भेद हैं। इतने असंख्य हैं उन्हें 'बृहत्' नाम से पुकारना उपयुक्त है। वे बृहत्संख्या के अक्षर हैं। इसी को 'ऋतं बृहत्' नाम से पुकारा जाता है। इन अक्षरों की संख्या चार अरब बत्तीस करोड़ तक गिनी गई है ('ऋचो अक्षरे' शीर्षक देखें)। इन अक्षरों को व्रत या देवता या सूक्ष्म पल या वर्ष भी कहते हैं। अक्षरों के व्रतों या पुञ्जों; जैसे—अहोरात्र, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि को व्रात कहते हैं और तब शब्द ब्रह्म को 'व्रात्य' नाम से भी पुकारा जाता है। इन व्रातों की गिनती या मुख्य गिनती बृहती छन्द से भी की जाती है। बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। इसके ८, ८ के पादों को ८, ८ प्राण कहा जाता है। २८ वें में ये बृहती के प्राण वृषभ कहलाते हैं। 'वृषभो रोरवीति' पद चाहे रुद्र या विष्णु या बृहस्पति या इन्द्र किसी के लिए भी कहें वह बृहती के इन्हीं २८ प्राणों या २८ तत्त्वों से सम्बन्ध रखता है। शुद्ध कैवल्य ब्रह्म में न वाग् है न अक्षर। वह केवल एक है। वाक् अनेकों प्रकाशमय किरणों की एक देह है। दोनों का जोड़ा वाग्ब्रह्म कहलाता है। बृहती नाम अक्षर रूप ज्ञानमयी का है, इसका पति बृहस्पति ज्ञानपति या ज्ञानमय ब्रह्म है, विद्यामय या त्रयीमय ब्रह्म है। यही बृहती मनोमयी भी है।

७—बृहस्पति और पञ्चपर्वा

बृहस्पति पर्व विद्या का भी प्रधान अंग है। पर्वत विद्या, पर्व पर्व की विवेचना करने वाली विद्या है। ये पर्व सूक्ष्मतया अक्षर हैं, स्थूलतया इनका विभाजन त्रिवाद, पंचवाद, षड्वाद, सप्तवाद, अष्टवाद, नववाद, एकादशवाद, सप्तदशवाद से होता है। पर्वविद्या मुख्यतया दशवादी है। जहां कहीं बृहस्पति का सूक्त मिलता है वहां 'बृहस्पतिः पर्वतानभिनत्' वाक्य प्रायः मिलता है। बृहस्पति ओषधियों का और सोम का जनक है 'या ओषधीः·····बृहस्पतिप्रसूताः' आदि।

इन ओषधियों और इस सोम को बृहस्पति तत्त्व के पर्वतों में उत्पन्न कहना तब सार्थक सा लगता है। सोम और ओषधियों का जन्म २६ वें (आदि से २७ वें) तत्त्व में होता है, तब तक उनकी उत्पत्ति की भूमिका बँधती है। इसीलिए उन लोगों की हँसी उड़ाते हुए जो सोम को जड़ी-बूटियों वा गेहूं, जौ से निकाली गई मदिरा समझते हैं, लिखा है कि "लोग ओषधियों को पीसकर सोम बन गया करके समझते हैं और उसको पीकर सोमपान कर लिया कहते हैं। जिसको ब्रह्म दर्शन में सोम कहते हैं उसे तो कोई सांसारिक मिट्टी का पुतला पी ही नहीं सकता। उसे तो बृहती के छन्दाक्षरों के गुप्त विधान या दार्शनिक तत्त्वों की संख्या को जानने से ही विदित किया जा सकता है, उसकी योजना या स्थापना या कल्पना दार्शनिक तत्त्वों से गुप्त या सुरक्षित रखी गई है, अर्थात् सोम को वही जान सकता है जो बृहस्पति तत्त्व को बृहती छन्दाक्षरों की तत्त्व रूप गणना से जानने का अभ्यस्त है। ये बेचारे ग्रावाण (पर्वत विद्या शब्द) को पत्थर समझते हैं। इस प्रकार के पत्थर में घोटा गया सोम, वास्तविक सोम नहीं है। उस सोम को तो कोई पी ही नहीं सकता" (ऋ० वे० १०-८५-३, ४) सोम तो दिव्य शरीर है। दिव्य शरीर पाना और उसका विकास होना ही सोम पान है ('सोम' शीर्षक देखें)। कुल पचास तत्त्व पांच मुख्य पवर्तों में विभक्त हैं। सोमादि तृतीय मेरु पर्वत में उत्पन्न होते हैं। गंगा आदिपर्वतरूप रुद्र की जटा से, जमुना द्वितीय पर्वत रत्नसानु (आदित्यों) से—जो इन्द्र का पर्वत है—उत्पन्न होती हैं। यहीं से विपाट्, शुतुद्री अपने को इन्द्र द्वारा उद्भिन्न बतलाती हैं। 'इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुः' इत्यादि। सरस्वती पूषा से उत्पन्न होती है, इसी प्रकार अन्य नदियां भी।

इन्हीं पर्वों की वाक् का नाम पार्वती है। पार्वती दो हैं, अभौतिक और भौतिक। पर्वत भी दो ही प्रकार के हैं, भौतिक और अभौतिक। अभौतिक पार्वती हेमाद्रि आदिपर्वत की पुत्री है जो रुद्राणी या रोदसी भी कहलाती है। भौतिक पार्वती दक्ष की कन्या २५ वें सत् तत्त्व की सती नाम्नी वाणी है। दक्षाध्वरविध्वंस, दक्ष २४ वें तत्त्व के क्रतु से विकास परम्परा द्वारा ३१ वें अज तक विकास पाने की कथा को दक्ष के शिर को काट कर उसमें 'अज' का शिर लगा देने की रोचक कथा है। गणेश तीन हैं। आदि गणेश तो ब्रह्मणस्पति है जो वसु, रुद्र, आदित्यों के गणों के (ब्रह्मणः) ब्रह्मों का पति है। द्वितीय गणेश भौतिक पार्वती का पुत्र है जिसका विकास पुरुष पशु है। इस पुरुष पशु का नाम शतपथ और अथर्व हस्ति देते हैं, अतः इसको गजानन कहते हैं (पुरुष पशु देखें)। शेष पर्व विद्या और 'पुरुष पशु' में देखें।

८—पर्व-पार्वती और दक्ष

ब्रह्म के बारे में निम्न लिखित अन्य श्रुतियां बिखरी मिलती हैं। इनका प्रयोग सन्दर्भ के अनुसार किया जाना चाहिए। 'ब्रह्मेतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति' सब

नाम ब्रह्म के ही हैं (श० प० १४-४-४-१) वाक् ही ब्रह्म है, 'वाग्ब्रह्म' (गो० पू० २-१०, ११)। 'वाग्वै ब्रह्म', 'वाग्घि ब्रह्म' 'वागिति ब्रह्म' 'सा या सा वाग्ब्रह्मैव तत्' 'ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम' 'तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म' (ऐ० ६-३; २-१५; जै० उ० २-९-६, २-१३-१२; तै० ३-९-५-५, श० प० २-१-४-१०; १४-८-५-१० क्रम से)।

९—ब्रह्म विषयक अन्य श्रुतियां

'ब्रह्म वा ऋतम्' (श० प० ४-१-४-१०) ब्रह्म ही ऋत है। मन ही ब्रह्म है 'मनो ब्रह्म' (गो० पू० २-१०, ११)। 'मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म'। 'हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म' 'चक्षुर्ब्रह्मः' 'श्रोत्रं सम्राट् परमं ब्रह्म' कि हृदय, चक्षुः, और श्रोत्र ब्रह्म हैं, सम्राट् हैं, परमं ब्रह्म हैं (श० प० १४-६-१०-१५,१८,८, १२; गो० पू० २-१०,११; ऐ० २-४०)। गायत्री ब्रह्म है, प्रणव ब्रह्म है 'ब्रह्म वै गायत्री,' 'ब्रह्म गायत्री ब्रह्म हि गायत्री,' 'ब्रह्म वै प्रणवः,' 'ब्रह्म ह वै प्रणवः' (ऐ० ४-११; ता० ११-११-९, श० प० ४-४-१-१८, कौ० ११-१८ गो० उ० ३-११)। ब्रह्म ने भू नामक प्रजापति को जन्म दिया, प्रजापति ने सर्व प्रथम ब्रह्म (शब्द ब्रह्म) को जन्म दिया। अतः त्रयी विद्या को सबसे प्रथम जन्मा कहते हैं, (श० प० २-१-४-१२-७; ६-१-१-८;१०) (भूरिति वै प्रजापति ब्रह्माऽजनयत।' 'स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां,' 'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या तस्मादाहु ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति।')। ब्रह्म ही ऋक् है, ब्रह्म ही मंत्र है, ब्रह्म ही देवताओं का प्रच्यावक है, वेद ही ब्रह्म है, ब्रह्म सप्ताक्षर है "ब्रह्म वा ऋक्, ब्रह्म वै मन्त्रः, ब्रह्म हि देवान्प्रच्यावयति, वेदो ब्रह्म, सप्ताक्षरं ब्रह्म;" कौ० ७-१०, श०-प० ७-१-१-५, ३-३-४-१७; जै० उ० ४-२५-३; श० प० १०-२-४-६)

ब्रह्म प्रजापति है, ब्रह्म बृहस्पति है, ब्रह्म बृहस्पति है, ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा होता है, ब्रह्म ने पुष्कर में ब्राह्मण को उत्पन्न किया (श० प० १३-६-२-८, कौ० ७-१०, गो० उ० ६-७; तै० १-३-८-४, गो० उ० १-३,४ तै० २-५-७-४; कौ० ८-५, तै० ३-१२-९-३) जैसे "ब्रह्म वै प्रजापतिः, ब्रह्म वै बृहस्पतिः, ब्रह्म बृहस्पतिः, ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः, बृहस्पति वै सर्वंब्रह्म, बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः, ब्रह्म वै ब्रह्णस्पतिः, ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्, ब्रह्म ह वै ब्राह्मणं पुष्करे ससृजे।" चन्द्रमा ब्रह्म है, आदित्य ब्रह्म है। "चन्द्रमा वै ब्रह्म, आदित्यो वै ब्रह्म"। (ऐ० २-४१, जै० उ० ३-४-९, श० प० ७-४-१-१४)। अग्नि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म का वत्स है (श० प० १-३-३-१९; कौ० ९-१,५; श० प० १-५-१-११, १०-४-१-५, ९-२-१-१५, जै० उ० २-१३-१) अतः अग्नि ब्राह्मण है, अग्नि का मुख ब्रह्म है, जब अङ्गार चमचमाते हैं तब यह अग्नि ब्रह्म कहलाता है; जैसे 'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति, मुखं ह्येतदग्नेयद्ब्रह्म, अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्तऽइव। तर्हि हैष भवति ब्रह्म (श० प० १-३-४-२, ६-१-१-१०, २-२-२-१३)। यह अग्नि ब्रह्म और क्षत्र है (श० प० ६-६-३-१५)

अग्नि ब्रह्म है, अग्नि यज्ञ है, ब्रह्म यज्ञ है, 'अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञः' 'ब्रह्म वै यज्ञः' 'ब्रह्म हि यज्ञः', 'ब्रह्म यज्ञः' (श० प० ३-२-२-७; ऐ० ७-१२ श० प० ५-३-२-४, ३-१-४-१५)। जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह ब्रह्म से उत्पन्न होता है (श० प० ३-

२-१-४०)। ब्रह्म वाजपेय है, वायु ब्रह्म है, प्राण सम्राट् परम ब्रह्म है, ब्रह्म प्राण है, प्राण ही ब्रह्म है, प्राणापनौ ब्रह्म हैं—"ब्रह्म वै वाजपेयः, अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायुः) पवते, प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म, तद्यद्वै ब्रह्म स प्राणः, प्राणो वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म प्राणाऽवै ब्रह्म, प्राणापानौ ब्रह्म" (तै० १-३-२-४, ऐ० ८-२८, शप १४-६-१०-२,३, जै० उ० १-३३-२, तै० ३-२-८-८, श० प० ८-४-१-३, गो० पू० २-१०,११)। ब्रह्म क्षत्र से पूर्व में है, ब्रह्म क्षत्र की योनि है, ब्रह्म ने क्षत्र का निर्माण किया, ब्रह्म के वश में क्षत्र है, वही राष्ट्र समृद्ध है, तब वीर उत्पन्न होता है, ब्रह्म अभिगन्ता है, क्षत्रिय कर्ता, ब्रह्म ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण का रूप है वही ब्रह्म का रूप है,—"ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्, एषा क्षत्रस्य योनिर्ब्रह्म, ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते, अभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः, ब्रह्म वै ब्राह्मणः, ब्रह्म हि ब्राह्मणः, ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद्ब्राह्मणः" (तांडय ११-१-२, श० प० १४-४-२-२३, तै० २-८-८-९, ऐ ८-९, श० प० ४-१-४-१, तै० ३-९-१४-२, श० प० ५-१-५-२,१३-१-५-२)

वसन्त ब्रह्म है, रथन्तर ब्रह्म है, विद्युद्ब्रह्म है, मित्र ब्रह्म है, पण ब्रह्म है-"ब्रह्म-हि वसन्त, ब्रह्म वै रथन्तरम्, विद्युद्ध्येव ब्रह्म, ब्रह्मैव मित्रः, ब्रह्म वै पणः" (श० प० २-१-३-५, ऐ० ८-१-२, श० प० १४-८-७-१,४-१-४-१,१०, तै० १-७-१-९,)। ब्रह्म पलाश है, ब्रह्म पौर्णमासी है, क्षत्र अमावस्या, जो अमृत है वह ब्रह्म है, जो ब्रह्म है वह अमृत है, ब्रह्म अभय है, अभय ब्रह्म है, ब्रह्म भूत तत्त्वों में ज्येष्ठ श्रेष्ठ है, ब्रह्म यशः, श्रीः से परिवृढ है, ब्रह्म षोडशकल है—'ब्रह्म वै पलाशः', ब्रह्म वै पौर्णमासी क्षत्रममावास्या, यदमृतं तद्ब्रह्म, अथ यद्ब्रह्म तदमृतम्, अभयं वै ब्रह्म, ब्रह्माभयं हि, वै ब्रह्म भवति, ब्रह्म वै भूतानां ज्येष्ठं, ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठम्, तदेनद्ब्रह्म यशः श्रिया परिवृढम्' (श० प० १-३-३-१९, कौ० ४-८, गो० पू० ३-४, जै० उ० १-२५-१०, श० प० १४-७-२-३१, तै० २-८-८-१०, श० प० ८-४-१-३ जै० उ० ३-३८-८)। उस ब्रह्म का नाम त्यद् है, एक है, ब्रह्म का रूप दिन है, क्षत्र की रात्रि है, ब्रह्म के दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। ब्रह्म ही सब कुछ है, अतः द्यावापृथिवी को ब्रह्म से विष्टब्ध कहते हैं, अन्तरिक्ष ब्रह्म है, ब्रह्म त्रिवृत् है, ब्रह्म तपः में प्रतिष्ठित है (सदा तपता है) पुरुष ब्रह्म है, 'कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते, ब्रह्म देवानजनयत्, ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः, ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यदहः, द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च, ब्रह्मैव सर्वम्, तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धेति, तद् (ब्रह्म) इदमन्तरिक्षम्, ब्रह्म वै त्रिवृत्, ब्रह्म तपसि प्रतिष्ठितम्, त्वं ब्रह्मासि, (शरीरे) पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास" (श० प० १४-६-९-१०, तै० २-८-८-९, ३-९-१४-३, श० प० १३-१-५-४, १४-५-३-१, २, ४, ५, ६, ८; गो० पू० ५-१५, श० प० ८-४-१-३, जै० उ० २-९-६, ताण्ड्य २-१६-४, ऐ० ३-६, श० प० ५-४-४-१०, १४-५-१-१३)

अध्याय १४

वेदों की प्राण-विद्या

यद्यपि वेदों में दर्शन के दो मुख्य और बराबर भागों को क्रम से त्रिपादामृत और भौतिकात्मा के रूप में वर्णित किया गया है, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जिसको भौतिक या भौतिकात्मा कहा गया है वह इस प्रकार की भौतिकता है जिसे महाभूत या त्रिगुणात्मिका स्थूल प्रकृति या अंग्रेजी में नेचर या कौसमौस कहते हैं।

१—प्राणों का स्वरूप

वेदों में व्याख्यात उत्तरार्द्ध की भौतिकता या भौतिकात्मा तो स्वच्छ रूप से दिव्यशरीरी आत्मा ही है। यह न तो पारमाणविक है, न महाभूत रूप। यह शुद्ध आत्मा या भौतिकात्मा तो सर्व व्यापक और एक है। पर इसमें उस अनेकता का आभास उत्पन्न हो जाता है जिसको अविद्या, माया या नाना रूपता का इन्द्र जाल कहा जाता है। सभी तत्त्व चाहे वे पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय हों या उत्तरार्द्धीय भौतिक या भौतिकात्मीय, दोनों भाग नितरां अव्यक्त ही हैं। व्यक्तता का आरम्भ ५० वें तत्त्व से, विवर्त्त नामक परमाणु से होता है। यहां पर भेद दिखाई पड़ने लगते हैं। पूर्वार्द्ध को अव्यक्त और उत्तरार्द्ध को व्यक्त कहा है, पर ये हैं दोनों अव्यक्त, सुतरां अव्यक्ततर तथा अव्यक्ततम और आदि ब्रह्म अव्यक्ततम है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने इस वैदिक विश्व दर्शन के प्रत्येक तत्त्व को केवल 'प्राण' और गणीय या सामूहिक तत्त्वों को प्राणाः नाम से ही सर्वत्र पुकार रखा है। प्राण मुख्यतः दो प्रकार के हैं, पूर्वार्द्ध के अमृत रूप प्राण और दूसरे उत्तरार्द्ध के भौतिकात्मा रूप भौतिक प्राण। ये प्राण या प्राणाः शब्द प्रत्येक अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरूप के द्योतक हैं, क्योंकि तत्त्वों का विकास क्रमिक है। प्रत्येक देवता का अपना पदक्रम युक्त स्थान है, जिसका जो स्थान है, वह उसी स्थान रूप प्राण या प्राणाः का रूप होगा। अतः प्राण या प्राणाः शब्दों के अभिप्राय से अवगत होने के लिए प्रत्येक तत्त्व के स्थान रूप सन्दर्भ का ज्ञान आवश्यक है। इन तत्त्वों की प्राणमयी व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार दी गई है। प्राण नाम समञ्चन और प्रसारण का है। जिस अंग या स्थान का प्राण है वह उस अंगीय प्राण का समञ्चन और प्रसारण करता है (श०प०ब्रा० ८-१-४-१०)। प्राण नाम उस तत्त्व का है जो अपनी प्राण शक्ति से अन्न द्वारा आत्मा का प्रणयन करता है, अर्थात् जो तत्त्व क्रमशः विकासोन्मुख होता है, भौतिकता से आवृत होकर सृष्टि संचालन करता है वह है प्राण (श० ब्रा० १२-९-१-१४)। जो प्रकर्ष रूप से विकसित होता है वह है प्राणः 'प्रेतीति प्राणः'; और जो ऊर्ध्व गति का है, वह है उदान 'उदेतीति उदानः'; जो अधः की ओर गतिमान होता है, उसे अपान कहते हैं 'अपेतीति अपानः'; जो व्याप्त होकर समन्तात् विक-

सित होता है, वह है व्यान, 'व्येतीति व्यानः' । जो समान रूप से ऊर्ध्वाधः, इतस्ततः सर्व दिग्गामी होकर विकसित होता है, उस सन्तुलनीय प्रवाह को समान कहते हैं, 'समेतीति समानः' (श० प० १-४-१-५) । उपनिषद्कारों ने इनके नाम इनकी क्रियाओं को दृष्टि पथ में रख कर क्रम से ये दिये हैं :—

'सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः । प्राणापान समानाख्या, व्यानोदानौ च वायवः ॥ नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः । हृदि प्राणःस्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः । व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः ॥ उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा । कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः" ।

ब्रह्म शीर्षक में उद्धृत शेष नाम भी देखें ॥ ये व्याख्यान बहुत संकुचित और शारीरिक प्राणों के हैं, सर्वव्यापक वैदिक प्राणों का उनसे थोड़ा ही संकेत मिलता है ।

२—प्राणों के बारे में श्रुतियां

प्रत्येक तत्त्व को प्राणा बतलाने वाले वाक्य ये हैं । सूर्य उदित होते ही सब भूत तत्त्वों का प्रणयन करना आरम्भ करता है अतः वह प्राण है (ऐ० ५-३६) । अर्क प्राण है (श० प० १०-४-१-२३) । सविता प्राण है (ऐ० १-१९) । सावित्र ग्रह प्राण है (कौ० १६-२) । सोम प्राण है (श० प० ७-३-१-२) । चन्द्रमा प्राण है (जै० उ० ४-२२-११) । अग्नि प्राण है (श० प० २-२-१५) । पूर्वार्द्ध के प्राण अमृत कहलाते हैं (श० प० १०-२-६-१८) । उत्तरार्द्ध के प्राणों का भाग अमृत ही रहता है, उसे सोम या चन्द्रमा कहते हैं, इसका दूसरा प्रतिपत्तीय भाग आसुर हो जाता है । जातवेदाः भी प्राण हैं । ये सबको जानते हैं, स्वयं ज्ञान रूप प्राण हैं (ऐ० २-३९) । वायु प्राण है ऐ० २-२६) । पूर्वार्द्ध में प्राण, उदान और व्यान का क्रम से उत्थान होता है (श० प० ३-१-२-२०); उत्तरार्द्ध में अपान और समान का, तदनन्तर पूर्वार्द्धियों का भौतिकता में रूपान्तर । वात भी प्राण है (श० प० ५-२-४-९) । वातहोमा भी प्राण है (श० प० ९-४-२-१०) मातरिश्वा भी प्राण है (ऐ० २-३८) । मरुतः भी प्राण हैं (ऐ० ३-१६) । वनस्पति भी प्राण हैं (ऐ० २-४-१०) । रुद्र और एकादश रुद्र, प्राण और एकादश प्राण हैं (श० प० ११-६-३-७) । वसु प्राण हैं (तै० ३-२-३-३) मित्र भी प्राण है (यजु० ११-५३) । हरि प्राण है (कौ० १७-१) । साध्या देवाः प्राण हैं (यजु० ३१-१६) । द्रविणोदा देव भी प्राण हैं (यजु० १२-२) । देवाधिष्ण्या भी प्राण हैं (श० प० ७-१-१-३४) । धी भी प्राण है (श० प० ६-३-१-१३) वयोनाधा देवाः भी प्राण हैं (यजु० १४-७) । अपान्या देवाः भी प्राण हैं तै० ३-८-१७-५) । अतः सब देवता प्राण हैं (श० प० ७-५-१-२१ । विश्वेदेवता भी प्राण हैं (यजु० ३८-१५) । ऋषि प्राण हैं (यजु० १५-१०, ऐ० २-२७, श० प० ६-१-१-१) । वसिष्ठ प्राण है ।

४-२३-४) । प्रजापति प्राण है (श० प० ब्रा० ७-४-१-११) । कूर्म प्राण है (श०प० ७-५-१-७) क्षत्र प्राण ही है। प्राण क्षणित होता है (श०प० १४-८-१४-४)।

३—अन्य श्रुतियां

तनूनपात् प्राण है (ऐ० २-२४) । गोपा प्राण है (जै० उ० ४ ३८) पिता प्राण है (ऐ० २-३८) । नृषद् प्राण है (यजु० १२-१४ श० प० ६-७-३-११) । वाचः और असु भी पिता प्राण है (जै० उ० १-४०-७)। अङ्गिरा प्राण है (श० प० ६-५-२-३,४)। इन्द्रिय प्राण है (तांड्य २-१४-२)। अङ्ग प्राण हैं (श० प० १-६-३-७)। अर्णवः प्राण है (यजु० १३-५३)। अन्नं प्राण है (श० प० ४-३-४-२५)। भक्ष प्राण हैं (श० प० ४-२-१-१९)। सखाभक्ष भी प्राण हैं (श० प० १-८-१-२३)। पुरुष प्राण हैं। 'प्राण एष पुरिशेते तं पुरिशेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते' (गो० पू० १-३९)। पतङ्ग प्राण हैं (ऋ० वे० १०-१७१-१)। प्रतिख्वा प्राण है (यजु० ३८-१५)। उद्गीथ प्राण है (जै० उ० १-१३-५)। उद्गाता प्राण है (कौ० उ० १७-७)। सामवेद प्राण है (श० प० १४-४-३-१२), इसमें सब भूत सम्यञ्चित रहते हैं (श० प० १४,८-१४-३)। साम सुवर्ण प्राण है (जै० उ० १-३९-४)। वामदेव्य प्राण है (श० प० ९-१-२-३१)। हिंकार प्राण है (श० प० ४-२-२-११)। स्वर प्राण है (तांड्य २४-११-९)। स्तव, स्तोम, वषट्कार, स्वाहा प्राण हैं (कौ० ८-३; १०-५ श० प० ८-४-१-३; ४-२-१-२९)। द्युलोक प्राण हैं (श० प० १४-४-३-११)। भरत प्राण है (ऐ० २-२४)। मनुष्य की सम्भूति प्राण है (जै० उ० ४-७-४)। ब्रह्म, सम्राट् परम ब्रह्म, पूर्व्य ब्रह्म सब प्राण हैं (श० प० १४-६-१०-२, ३; यजु ११-५)। बृहती प्राण है (ऐ० ३-१४)। बृहत् प्राण हैं (तांड्य ७-६-१४)। बृहस्पति ब्रह्मणस्पति प्राण हैं (श० प० १४-४-१-२२, २३)। वाचस्पति प्राण है (यजु ११-७)। वाग् कर्म है। वाचस्पति प्राण है (यजु ३०-१)। वाणी प्राणपत्नी है (ष० २-९)। वाक् प्राण का मिथुन होता है (श० प० १-४-१-२)। सब प्राण वाग् में ही रहते हैं (श० प० १२-८-२-२५)। वाणी और प्राण रस हैं (जै० उ० १-१-७)। प्राणों में आपः होते हैं, वही वाणी से बोलती हैं (श० प० ५-३-५१६)। आपः प्राण हैं (तै० ३-२-५-२)। वाक् वसिष्ठा है, प्राण वसिष्ठ (श० प० १४-९-२-१४)। सदसद् में सत् साम रूप मनः है, वही मन प्राण है (जै० उ० १-५३-२)। मनः प्राणों का अर्द्धभाग है (ष० १-५)। मनः प्राणों का अधिपति है, सब प्राण उसी में प्रतिष्ठित हैं (श० प० १४-३-२-३)। ब्रह्मा प्राणदैवत्य है (ष० २-९)। भुजः प्राण हैं (श० प० ७-५-१-२१)। ऋतुयाजा प्राण हैं (ऐ० २-२९)। धाय्या प्राण हैं (कौ० १५-४)। दिशा प्राण हैं (जै० उ० ४-२२-२१)।

धूः या धुरः प्राण हैं (ताण्ड्य १४-९-१८)। अवकाश प्राण हैं (कौ० ८-६)। दीक्षा प्राण है (तै० ३-८-१-३) ककुप्छन्द प्राण है (श० प० ८-५-२-४)। उष्णिक्ककुप् प्राण है (ताण्ड्य ८-५-५)। गायत्री प्राण है (श० प० ६-४-२-५)। धवित्र प्राण है (श० प० १४-२-१-२१)। आकूध्रीच्य प्राण हैं (कौ० ८-५)। ग्रावाण प्राण हैं (यजु० ३८-१५), अश्मा आषण प्राण हैं (जै० उ० १-६०)। प्रयाजा शीर्षन्प्राण हैं (ऐ० १-१७), अनुयाजा भी प्राण हैं (श० प० १४-२-२-२१)। यशः भी प्राण हैं

(श० प० १०-६-५-६)। पशु, मनुष्य, ऋत्विक् सब प्राण हैं (ऐ० ६-१४, तै० ३-२-८-९, श० प० १४-४-३-१३)। श्री प्राण है, क्योंकि इनमें प्राण आश्रित रहते हैं (श० प० ६-१-१-४)। द्विदैवत्य भी प्राण हैं (ऐ० २-२८)। उपांशु प्राण है (कौ १२-४)। प्राण त्रिवृत् है (तांड्य २-१५-३)। प्राण, अपान, व्यान 'तिस्रो देव्यः' हैं (ऐ० २-४) षड् ऋतु प्राण हैं (श० प० १२-९-१-९)। प्राणोदानौ दो अध्वर्यू हैं (श० प० ५-५-१-११)। प्राणोदानौ प्रणयनादाहवनीय अग्नि हैं। प्राणापानौ ही आहवनीय गार्हपत्य हैं (श० प० २-२-२-१८)। प्राणोदानौ ही रेतः को विकृत करते हैं (श० प० ९-५-१-५६)।

वाक्, मनः, प्राणः, चक्षुः, श्रोत्रं का संकेत इन स्वरूपों के आध्यामिक शरीरों के रूप में किया गया है। इनके देवता या आत्मा क्रमशः अग्नि, चन्द्रमा, (सोम) वायु, सूर्य (आदित्य) और दिशायें हैं। इनके अतिरिक्त प्राण, उदान, व्यान, अपान और समान प्राण हैं, जिनमें से चक्षुः प्राण आत्मा, पृथिवी अपान, वायु व्यान, तेज उदान और आहवनीय के उच्छ्वास निश्वास समान हैं। सप्तार्चियों में वायु, उपस्थ, अपान, श्रोत्र, चक्षु, मुख, नासिका में प्राण और समान मध्यवर्ती बताये गये हैं। गार्हपत्य अपान है, अन्वाहार्यपचन व्यान है, आवहनीय उच्छ्वास-निश्वास रूप समान है। प्राण चक्षु है, व्यान श्रोत्र है, दिशा अपान, वाक् पृथिवी है, समान मन, प्राण पर्जन्य, विद्युत् उदान और त्वक् आकाश या वायु है। इन सबको एक नाम से पुकारने में 'प्राणाः', 'दश प्राणाः' या 'षोडश प्राणाः' या बीस प्राण कहते हैं। ये प्राण आध्यात्मिक शरीर और उनकी आत्मारूप देवताओं का संयोग करते हैं। इनका वर्णन प्रायः योगयज्ञ प्रक्रिया में दिया जाता है। वाक् 'होता' है, चक्षु अध्वर्यु है, वायु प्राण उद्गाता है, मन ब्रह्मा है, अन्य सब ऋत्विज हैं। सब योग यज्ञ करते हैं।

४—दश प्राण आदि की व्याख्या

वेदों में वर्णित भूत रूप प्राणों में से मुख्य प्राण तो तीन ही हैं। उनके नाम प्रथम प्राण, मध्यम प्राण और उत्तम प्राण हैं। इनको प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष भी कहते हैं। प्रथम प्राण आदि ब्रह्म है, मध्यम प्राण इन्द्र है, उत्तम प्राण भौतिकात्मा है। सब विश्वेदेवता, विष्णु, रुद्र आदि देवता उत्तम प्राण या उत्तम पुरुष हैं। इनको दूसरे शब्दों में अग्नि, वायु और आदित्य भी कहते हैं। प्रथम अग्निरूप मुख है, द्वितीय अन्नादरूप अन्नग्राही है, तृतीय अन्न और अन्नाद दोनों है। इन्हीं को 'तेजोवती वाक्'; 'आपोमयाः प्राणः' और 'अन्नमयं मनः' भी कहते हैं। इनके मूल तत्त्व वाक्, आपः और अदिति हैं। इनके वर्ण लोहित, शुक्ल और कृष्ण हैं। इनसे योग में अग्नि, वायु और आदित्यों की सृष्टि या अतिसृष्टि की जाती है, इनमें से प्रत्येक तत्त्व में इन तीनों का मौलिक त्रिवृत् भी रहता है और इन तीनों में भी एक त्रिवृत् रहता है, उसीसे सृष्टि आगे चलती है।

५—मुख्य प्राण और उनकी व्याख्या

अध्याय १९

अश्वमेध, पुरुषमेध (या नरमेध) गोमेध और पितृमेध

तथा

सुः, असुः, स्वः; स्वाः, स्वापः, स्वाहा, श्वा, श्वानौ, शुनः, मातरिश्वा, अश्वः।
अश्रु, अश्म, सुरः, असुरः, श्वश्रूः, श्वसुरः, इषः, ऊर्जम्, महः, दधिक्रा, दधिक्राव्णः, नराशंसः ॥
(३-२९)

यहां पर दिये गये सु आदि तेइसों (२३) नाम 'प्राणों' के या ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों के हैं। इनमें से आदि का 'सोर्देवानसृजत असोरसुरान्' (श० प० ब्रा० ११-१-६-७, ८) के अनुसार 'सु' प्राणों का वह आदि रूप या मनोवाग्प्राणों के त्रिवृत् के प्राणों का वह स्वरूप है जिससे दैवी सृष्टि के प्रवाह का क्रम चल पड़ा। 'असुः' भी उसी त्रिवृतीय प्राणों का वह स्वरूप है जिससे आसुरी सम्पदा की सृष्टि के बीज साथ-साथ या साकं बोये गये। अतः 'सुः' से सुर या सुरा दैवी सम्पदा और असु से असुर, असुरा, आसुरी सम्पदा साथ-साथ उत्पन्न हुये। इसीलिए ब्राह्मणों और उपनिषदों में बारंबार घोषित किया गया है कि 'देवाश्चासुराश्चाभवन् उभये प्राजापत्याः'। प्रजापतिः यहां पर 'कः' प्रजापति है और 'सुरासुर' दोनों 'कः' प्रजापति कहलाते हैं। कम् नामक प्रजापति को 'शम्' नाम से भी पुकारते (दे० 'अष्टौ पुरुषाः') हैं। सु+असु या सु और असु के योग को श्वसु और सु+असुर को 'श्वसुर' नाम से भी पुकारा गया है, 'श्वसुरो नाजगाम' (ऋ० वे० १०-२८-१)। जब सु+असु को प्रलय के रूप में वर्णित किया जाता है तब उसे 'स्वा' (या सु+अ) नाम से पुकारा जाता है। 'स्वाः' नाम 'स्वपिति' से सम्बद्ध किया गया है। यह वैदिकों की एक शैली है। वे कहते आये हैं कि प्रलय में ब्रह्म (पुरुष रूपी) सो जाता है, तब उसके दोनों प्रकार के प्राण 'स्वाः' रूप को शुद्ध ब्रह्म रूप को प्राप्त हो जाते हैं अतः वह 'स्वाः' कहलाता है जैसे—"एष उ एव प्राणः। एष हीमाः सर्वाः प्रजाः प्रणयति तस्यैते प्राणाः 'स्वाः' स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा अपियन्ति तस्मात्स्वाप्ययः स्वाप्ययो ह वै तं स्वप्न इत्याचक्षते परोक्षम्परोक्ष कामा हि देवाः॥ ॥स एतैः सुप्तः। न कस्य चन वेद न मनसा संकल्पयति" इत्यादि॥ (श० प० ब्रा० १०-५-२-१४, १५)। इसी 'स्वाः' का नाम 'स्वाहा' भी है। 'स्वाहा' 'स्वान् आहरतीति' या अपने प्राण तत्त्वों को संकुचित करके रखने वाले का नाम है। इस 'स्वाहा' शब्द के प्रयोग को जैन, बौद्ध तथा सभी सम्प्रदाय के हिन्दू मतमतान्तर वाले बिना इस तरह समझे भी इतना और इस तरह करते हैं कि वे बिना इसके अपने किसी कर्म को शुद्ध और पूर्ण ही नहीं समझते। इसी 'स्वाहा' का दूसरा प्रतिरूप 'स्वापः' भी है जैसा कि उक्त उद्धरण से ही स्पष्ट है। जब 'स्वाः' को एक वचन में कहते हैं तब उसे 'स्वाः' की जगह 'स्वः' नाम से

१—सु, असु, स्व, स्वा, स्वाहा

पुकारते हैं। स्वः या स्वं या स्वाः, स्वापः और स्वाहा नाम गायत्रीब्रह्म के प्रलय 'पुरुष' रूप के हैं। स्वं माने 'शब्द' या शब्द ब्रह्म होता है जैसे 'स्वर एव स्वम्' (बृह० उप० ३-२-२६) यद्यपि इसका उपसंहार एक है, ब्रह्म एक है, पुरुष एक है। परन्तु वैदिकों ने उस ब्रह्म या सुषुप्त ब्रह्म या सुषुप्त पुरुष को 'एक' कहने को मना तो नहीं किया पर समझने के लिए 'अनन्तपुरुषाः' कहने को बाध्य किया है। जैसे— "यदेक एव तस्मादेका ॥१५॥ तदाहुः। एको मृत्युर्बहवा ३ इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयाद्य-दहासावमुत्र तेनैकोऽथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः॥" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१५, १६)। सांख्य में पुरुष को इसीलिए अनन्त संख्यक माना गया है, वह एक होते हुए भी अनन्त रूपी अनन्त प्राणों का समाहार है, अतः अनन्त है। स्वाहा नाम यज्ञ या सृष्टि विकास का अन्त है। यह हेमन्त अन्तिम ऋतु का सूचक है। इसके बाद महाघोर भौतिक अहंकार आदि की सृष्टि नव वसन्त में होती है, देव सृष्टि भी वसन्त से ही आरम्भ हुई; श० प० ब्रा० (१-४-५-१३)। अथर्व वेद (८-४-१-२४) ने 'इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः' वाक्य द्वारा स्वाहा का प्रतिकूल शब्द दुराहा बतलाया है, यहां पर 'स्वाहा' शब्द को वैदिकों का एक नारा बतलाया है; जैसे बाद में 'हर हर महादेव' कहते थे। शत्रुओं के लिए 'दुराहा' कहते थे; मुर्दावाद या नाश उसका अर्थ था। 'स्वाहा' माने जिन्दावाद या जय जय कार और सु+आह=स्वाहा=शुभ वाणी भी है।

२—श्वा, अश्वा, मातरिश्वा आदि

श्वा, अश्वा दोनों नाम सर्वा देवता के भी हैं और एक दैवत्य के भी और मातरिश्वा इन तीनों नामों की एक दूसरी पहेली है। इनमें से एक दैवत्य अश्वा नाम द्वितीय सप्तक के मरुतों या प्राण वायुओं का है। इस सप्तक के प्राण वायुओं के अन्य कई और नाम 'दधिक्रावन्, इष, ऊर्जः, महः आदि भी हैं जैसे "दधिक्राण्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्" (ऋ० वे० ४-३९-४) और दधिक्रावन् नाम 'अश्व' भी कहलाता है जैसे "यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ" (ऋ० वे० ४-३९-३)। अतः अश्व, दधिक्रावन् आदि सब द्वितीय सप्तक के मरुतों के नाम हैं। एकदैवत्य 'श्वा' नाम चतुर्थ सप्तक के प्राणों का है, जिसका पता निम्न ऋचा देती है, जिसमें लिखा है कि—

"मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि" (ऋ० वे० ३-२९-११)।

मातरिश्वा उस तत्त्व का नाम है जिसमें माता 'वात' या वायु को जन्म देती है। यहां मातरः, उषा और आदित्य रूप गौ या आपः हैं। ये सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्व हैं। अतः 'श्वा' माने स्वयं ही 'वाता' हो जाता है*। वैश्वदेव इन्द्र भी इसी सप्तक का तत्त्व है, इन्द्र का नाम इसी लिए 'श्वा' लिखा गया है "शुनं हुवेम

* अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः। स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने। (ऋ० वे० १-१४३-१,२)

मघवानमिन्द्रम्" (ऋ० वे० ३-३१; ३-३२, ३-३४, इत्यादि)। ऋग् और अथर्ववेद शुनं माने सुफाला, कीनाशा, वाहा, नरः और वरत्रा लिखा है जो चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए विशेष कर सोम नाम या भूमि की कृषि का संकेतक है (३-३-१)। लोग श्वा माने कुत्ता और अश्वा माने 'घोड़ा' लगाते हैं। दधिक्रावन् को भी घोड़ा समझते हैं*। यहां प्रत्यक्ष से परोक्ष भावना का वर्णन मात्र है। प्रत्यक्ष अर्थ बिलकुल व्यर्थ है। मातरिश्वा का ही नाम 'दधीच' है जिसकी हड्डियों से इन्द्र का वज्र बना (पुराणों के अनुसार) माना जाता है। जैसे "अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि। अहं दस्युभ्यः परिनृम्णमाददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने॥" (ऋ० वे० १०-४८-२) नराशंस नाम इन्हीं मातरिश्वा वातों या प्राण वायुओं की आसुरी शक्ति या क्रिया या शरीर का है 'आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते' (ऋ० वे० ३-२९-११)। यास्क प्रभृति लेखकों ने 'नराशंस' के मंत्रों को अनादिष्ट देवता कहा है। नराशंस तो प्राणाग्नि है; आप्रं देवता के अन्तर्गत इसकी महिमा गाई गई है, जैसे "आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः। ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्" (ऋ० वे० १०-७०-२)।

अब यह जान लीजिए कि वेदों में जिसका नाम असु है उसी का नाम 'अश्रु भी है और जिसे अश्रु कहते हैं उसी को 'अश्व' नाम से भी पुकारा जाता है। अश्रु आँख से निकलते हैं। यहां अश्रु नामक रसात्मक तत्त्व या ब्रह्म का उद्भव चन्द्रमा नामक प्रथम अणु रूप फूटी आँख से होता है।

३—असु, अश्रु, अश्म, अन्नं और पृश्निः

"सोऽस्य द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादस्रवत्॥" (श० प० ब्रा० ७-१-२-७)।

यही अश्रु जब अग्नि से निकला कहा गया है तब इसे अश्व नाम से पुकारा गया है "यदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्रु रभवदश्रुहं वै तमश्वमित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवाः।" (श० प० ब्रा० ६-१-१-११)।

और यही अश्रु अन्यत्र या पञ्चपर्वा विद्या में 'अश्म' नाम से पुकारा जाता है "एष वै यशोऽथ यदश्रु संक्षरितमासीद् सोऽश्मा पृश्निरभवदश्रुहं वै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः॥" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३)। इसी अश्म से अग्नि उत्पन्न मानी जाती है "यो ऽश्मनोरग्निं जजान" (ऋ० वे० २-१२) इसी अश्स को अन्यत्र या अन्य विद्याओं में अरणि या समिध भी कहा जाता है।

"अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु" "समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्"। यहीं पर उक्त असु, अश्रु, अश्व, अश्म, अरणि या समिध को 'अन्नं' और 'यज्ञ' नाम से पुकारा है 'पुरुष एवेदं सर्वं······यदन्नेना-

---

* ऋ० वे० ५-८३-६ में तो 'अश्वस्यधारा' या अश्व की धारा बहने का वर्णन आता है। यह धारा भी पर्जन्य रूप अश्व या प्राणों की ही है।

तिरोहति' और 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्' में जो 'अन्न' और 'यशः' शब्द आये हैं वे उक्त असु आदि का ही विवेचन दे रहे हैं, यह ध्यान रहे। इन्हीं को गौ, वृषभ रूप वर्णना में "आयं गौः पृश्नीरक्रमी-दसन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः" (ऋ. वे. १०-१८९-१ अथ० ६-३१-१) या 'पृश्नि मातरः' भी कहते हैं। पृश्निः=विश्वरूपिणी, विश्वरूपम्। पृश्नि नाम अश्मा का है, यह उक्त ६-१-२-३ के उद्धरण में साफ लिखा है। यही वाग्धेनु है 'वाचं धेनु मुपासीत'।

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत। पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानु जायते॥" (ऋ० वे० ६-४८-२२)।

हां, जिस असु से या प्राण रूप चन्द्रमा से अश्रु, अश्व, अश्म, अरणि, यशः पृश्निः नामक तत्त्व उत्पन्न हुए उनका स्वरूप 'असुर' बना। प्राण रूप चन्द्रमा तो सु+असु=स्वसुः या 'श्वश्रू' रूप था। उसके दो भाग हो गये एक सु या स्वसु या श्वश्रु, दूसरा अश्रु आदि असुर। और हमारी समस्त भौतिक सृष्टि अखिल ब्रह्माण्ड 'असुर' सृष्टि है। इसका भी वर्णन वैदिक दे गये हैं। जब इन्द्र ने वृत्र का वध करना चाहा तो वृत्र ने उसे सलाह दी, भाई मुझे न मारो, जो तुम हो वही मैं हूँ, मैं तुमसे कई बातों में बढ़ कर हूं, क्योंकि मैं ही भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर (अन्न) हूँ और उसका वर्धन करने वाला हूँ 'अन्नमेधी' हूं। इससे तुम्हारा कोई काम नहीं बनेगा, उलटे सब काम नष्ट हो जावेगा। इन्द्र की समझ में बात आ गई कि यह मेरा दिव्य शरीर है, तब उसने उसके दो भाग किये। जो उसका सौम्य भाग था उससे चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, जो आसुरी भाग (अन्नमेधी) था उससे अखिल ब्रह्माण्ड (इमाः प्रजाः) की सृष्टि की। जो अखिल प्रजा उदर भरण चाहती है, वह उसी वृत्र रूप उदर की पूर्ति के लिए या अन्न रूप दिव्य शरीर की पुष्टि के लिए। इसीलिए वृत्र को अन्नाद भी कहते हैं।

४—चन्द्र और श्वश्रू श्वसुरः

"स होवाच, मानु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु मासुया भूवमिति, स वै मे ऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजा उदरेणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद् वृत्र एतर्हीतीदं हि यदसावापूर्यतेऽस्मादेवैतल्लोकादाप्यायते ऽथ यदिमाः प्रजाऽअशनमिच्छन्तेऽस्माएवैतद्वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति स यो हैव मेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति॥" (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)।

अतः जब चन्द्रमा को देवता कहते हैं तब वह श्वश्रु या स्वसु या सौम्य या सुर रूप में रहता है। सभी देवता सुर या श्वश्रु रूप में दूर से शुभ कामना करने वाले होते हैं। वे अपनी बेटी रूप अश्रु को दे देते हैं। इसीलिए सभी देवताओं का 'देवता' स्त्रीलिंग में कहने की शैली है कि वे 'श्वश्रू' के सम व्यवहार करती हैं और 'ब्रह्म' 'श्वसुर' रूप में दूर से अश्रु रूप दिये हुए दिव्य शरीरिणी पुत्री को असुर रूप

जामाता को देकर उसकी समृद्धि की शुभाकाक्षायें लगाये रखता है, अपने कुछ नहीं करता, केवल द्रष्टा रूप में रहता है। इसीलिए कहा है "विश्वोह्यन्यो अरिराजगाम ममेदिह श्वसुरो ना जगाम।" (ऋ० वे० १०-२८-१) (वृत्र देखें)। श्वश्रू वाग् स्वरूपिणी होती हैं। समझाना, बुझाना, रोना, पीटना, वाग् स्वरूपिणी देवताओं का काम है, श्वसुर वाग् रूपिणी श्वश्रू के कारण सुख दुःखी सा दीखता है, वह हँसता रहता है (आनन्द मग्न) रहता है, अच्छा तो हंसे, बुरा तो हंसे, न अच्छा न बुरा तो हँसे। 'प्रजापतिर्वै श्वसुरः' (ऐ० ब्रा० ३-२-२२)

अश्वादि शब्द की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति जान लेने के पश्चात् 'अश्वमेध' के सम्बन्ध में 'अश्व' तत्त्व का जो तादात्म्य वैदिक दर्शन के प्रत्येक तत्त्व के नाम से उसके अंग प्रत्यंगों से श० प० ब्रा० (१०-६-४-१) तथा बृहदारण्यक ने आरम्भ में ही दिया है उसे यहां पर अवश्य जोड़ लें। उद्धरण 'वेदों की आत्मा विद्या परक अर्थ की दुन्दुभिः' नामक शीर्षक में पूरा दे दिया गया है, वहीं देख लें। अश्वमेध इस ब्रह्माण्ड का सबसे बड़ा मेध है। यह ब्रह्माण्ड अश्वमय या प्राणमय है जिसमें दोनों प्रकार के प्राण हैं, मेध्य प्राण और अमेध्य प्राण, जिन्हें क्रम से दैवी प्राण और आसुरी प्राण या दैवी संपदा और आसुरी संपदा कहते आये हैं। इनमें से भौतिक ब्रह्माण्ड में आसुरी प्राणों या सम्पदा का बाहुल्य रहता है। क्योंकि कहा जा चुका है कि अखिल ब्रह्माण्ड का भौतिक स्वरूप आसुरी प्राणों से बना है। यहां तक कि सभी देवताओं को भी 'असुर' नाम से पुकारा गया है (इन्द्र १-५४-३, वरुण १-२४-१४, सविता १-३५-१०) पूषा असुरः—स्वस्ति वाचन, अग्नि (असुर) ऋ०वे० (१-१०८-६)। अतः इस अमेध्यता या असुरता का मेधन करना मानवता का सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार के प्राणों का मेधन करने से प्राणों में शुद्धता आती है। बृह० उप० (१-१-७)। में लिखा है "यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्"। यह योग प्रक्रिया है, जिसके नाना रूप हैं। इसी को वैदिक आर्य अश्वमेध कहते थे। योग प्रक्रिया में सर्व प्रथम इन्हीं बाहरी अश्वों (प्राणों) का मेध (प्राणायाम प्रत्याहारादि) किये भी जाते हैं, जिससे बुद्धि में शुद्धता मेध्यता आती है, तब आगे क्रम चलता है। ऋग्वेद इसी बात को लिखते हुए कहता है।

५—अश्व और अश्वमेध

"यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। ददहचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥" (५-२७-४)।

अत्रि, अश्वमेधी, भातत ऋषि कहते हैं कि जो मुझ से अश्वमेध के बारे में पूछता है, उससे वही निवेदन है कि पहिले अश्वमेध मेधा देता है, फिर उससे वह ब्रह्ममय हो जाता है (ऋतायते), जिससे इन्द्राग्नी इस अश्वमेध के द्वारा 'शतदानी' या सैकड़ों फल देने वाला होता है। क्योंकि ऐसे अश्वमेध से इन्द्राग्नी रूप आत्मा भीतर ही भीतर ज्योतिष्मान् सूर्य की तरह चमकने लगता है (ऋ० वे० ५-२७-६)। इसीलिए अश्व के तीन बन्धन बतलाये हैं वे तीन बन्धन दिवि (त्रिपाद) में कहे

गये हैं। अश्व के ये तीन बन्धन प्रथम तीन सप्तकों के सूचक हैं। येही तीन नाभियां हैं। जैसे—

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः। सप्तस्वसारो अभि-संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्तनाम" (ऋ० वे० १-१६४-३)। 'सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति। सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा। (१-१६४-१४) सबसे अच्छा मन्त्र ऋ० वे० १-१६४-२ है जिस में इस अश्व का सर्वादेवता रूप में इस प्रकार विवेचन दिया है। "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥"

पुनः इसका स्पष्ट विवेचन ऋ० वे० १-१६३ सूक्त में बड़े विस्तार से दे रखा है। जिस अश्व का वर्णन वेदों में आता है वह भूलोक में घोड़ा-घोड़ी से उत्पन्न नहीं होता। वरन् उसका उद्गम समुद्र नामक या पुरीष नामक चतुर्थ सप्तक से भौतिकात्मा या भौतिक प्राण रूप में ज्यों ही हुआ वह चिल्लाया। उसके श्येन के समान पंख हैं, हरिण के समान बाहु हैं, उसके अभिनय में पृथ्वी में जन्मे घोड़े की पूजा होती है ॥१॥ इसको सर्व प्रथम यम ने दिया, इसको सर्व प्रथम इन्द्र ने अपना वाहन बनाकर सवारी की, गन्धर्व ने इसकी लगाम पकड़ी, और वसुओं ने इसे सूर्य तत्त्व से निर्मित किया ॥२॥ हे अश्व तुम यम ही हो, तुम आदित्य ही हो, तुम दर्शन के पूर्वार्द्ध के तीन गुह्य व्रत या त्रिपादामृतीय गुहा हो, त्रिगुण हो, तुम सोम से सिञ्चित हो और दिव या पूर्वार्द्ध में तुम्हारे तीन बन्धन या तीन सप्तकों के विकासीय क्रम हैं ॥३॥ तुम्हारे तीन बन्धन दिव में हैं, तीन बन्धन आपो ब्रह्म में है, तीन बन्धन समुद्र रूप चतुर्थ सप्तक में हैं। कोई आपके जनित्र को वरुण बतलाते हैं ॥४॥ ·····इसके सींग सोने के हैं, पाँव लोहे के हैं, पर मनोवेग के समान चलने में तेज हैं, इसलिए 'प्रथमो मनस्वान् इन्द्र' ने सबसे पहले इसकी सवारी कर सकी, इन्द्र के इसी कार्य से सब उसे हवि प्रदान करते आते हैं ॥९॥ यह अश्व अखिल भुवन में व्याप्त है, अन्तिम सीमा तक व्याप्त है, इसका मध्यम अंग आदित्य या २५ वां सूर्य है (मंत्र २ देखें) यह उसका दूसरा शिर है, हंस रूप ब्रह्म के समान क्रमशः एक-एक तत्त्व रूप में विकसित होता है। अन्त में अग्नि रूप, चक्षु रूप आदित्य या सूर्य से इन अश्व रूप प्राणों का जन्म (भौतिक प्राण रूप में) होता है ॥१०॥ (ध्यान रहे घोड़े के सींग तो किसी ने देखे न होंगे, पर वैदिक अश्व के सोने के सींग हैं, 'हिरण्यशृङ्गो'।) इस अश्व को (जै० ब्रा० २-१२९) ने ३४ वें तत्त्व रूप प्रजापति नाम से पुकारा है "अश्वश्चतु-स्त्रिंशः प्रजापतेर्वा एतद्रूपं यदश्वः"। उक्त मन्त्र यहां दे दिये जाते हैं:—

(१) यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुतवा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

(२) यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥

(३) असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥
(४) त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥
(९) हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवेर इन्द्र आसीत्।
देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ॥
(१०) ईर्मन्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥

अब विचारणीय विषय यह है कि जो पशुरूप बलिरूप घोड़ा यज्ञ में प्रयुक्त होता रहा, क्या उसका वर्णन इस प्रकार का हो भी सकता है ? यहां पर जिस अश्व का वर्णन है वह स्पष्टतया वैदिक दर्शन के तत्त्व रूप प्राण रूप विश्वेदेवता रूप अश्व का है, बिना यह माने उक्त ऋचाओं का कोई भी उचित या संगत अर्थ कदापि भी नहीं लगा सकता, यह तो बिलकुल निर्विवाद बात है। यजुर्वेद-जिसमें अश्वमेध यज्ञ का आयोजन उक्त अश्व के अभिनय मात्र के लिए किया गया है—ने भी उक्त सूक्त के भाव को छिपा कर नहीं रखा है।* उसने यह बात मन में रख कर कि उक्त अश्व चतुर्थ सप्तक में विष्णु, रुद्र बृहस्पति, वृषभ की तरह भौतिक स्वरूप प्राप्त कर पूर्णता पाता है उसका आरम्भ कः ब्रह्म से हो जाता है—लिखा है—"त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे। उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥" (यजु० २९-१५) अश्वमेध यजुर्वेद का मुख्य यज्ञ है, उसी में अश्व की यह व्याख्या है। अतः मीमांसकीय अश्वबलिः अभिनय मात्र है, वास्तविक रहस्य वही है जो पहिले लिखा है।

---

*विशेष—इस अश्व के रथ के बारे में 'देवरथ' शीर्षक को अवश्य पढ़ लिया जावे।

अध्याय १६

अश्वमेध

अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में यजुर्वेद के २३ वें अध्याय में आये 'गणानान्त्वा 'गणपति ᳪ हवामहे' से लेकर 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' तक (२३-१८ से ३४ तक) के मन्त्रों के भाष्य में महीधर, उव्वट ने कात्यायन जी के श्रौत्रसूत्र (२०-६-१३ आदि) का अनुसरण करके उसे बीसवीं शताब्दी के आर्य समाजी विद्वानों के आलोचना का मुख्य विषय बना डाला है। यह निश्चित है कि कात्यायन जी का श्रौतसूत्र इस सम्बन्ध में गलती करता है। ऐसे ही महीधर, उव्वट के भाष्य भी हैं। उक्त तेरह मन्त्रों के अन्तःस्थल में निहित वास्तविक रहस्य यह है, जिसे हमारे ब्राह्मण ग्रन्थ स्वयं दे गये हैं। 'गणानान्त्वा' इत्यादि मन्त्र तो ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति का है जिसके बारे में ऐतरेय ब्राह्मण ने स्पष्ट लिखा है "गणानान्त्वा गणपति ᳪ हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहणस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।" (१-४-२१) और स्वस्ति वाचन का "बृहस्पतिं सर्व गण ᳪ स्वस्तये" इत्यादि मन्त्र इस कथन की पुष्टि करता है। शतपथ ब्राह्मण इस ब्रह्म रूप बृहस्पति की व्याख्या अश्वमेध यज्ञ में अश्व रूप में करते हुए इसी 'गणानान्त्वा' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग करता है। इस अश्व रूप गणपति या ब्रह्मणस्पति की परिक्रमा तीन पत्नियाँ करती हैं। इन पत्नियों के नाम हैं 'अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका'। ये ब्रह्म की पत्नियाँ हैं जिन्हें 'त्रिनाभि' कहते हैं (त्रिनाभि चक्रम् इत्यादि १-१६४-२) जो प्रथम तीन सप्तकों के प्रथम परुष, पुरुष, पर्व, या ब्रह्म की प्रतिनिधियाँ हैं और अपने-अपने सप्तकों के मुख्याधिष्ठाता हैं। उन्हीं की ये पत्नियाँ हैं वाग्रूपिणी हैं। यहां अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या पशु (अश्व) रूप में की गई है। वही अश्वक पति है, उसीकी चार पत्नियाँ है, चतुर्थ पत्नी सुभद्रिका काम्पीलवासिनी या भौतिक शरीरिणी है। इस संबन्ध में यह मन्त्र पढ़ा जाता है "अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥" (यजु० २३-१८)। यह अश्वक नामक अग्नि से उत्पन्न ब्रह्म अब प्रथम आत्माओं–अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका–में रत न होकर उन्हें छोड़कर, भौतिकात्ममयी सुभद्रिका के साथ सोता है, अर्थात् आध्यात्मिकता से विरत है। योगी (भोगी नहीं) इन आत्मा रूप पत्नियों को उस अश्वक नामक ब्रह्म से मिला सकता है। अतः उनका उलाहना है कि हमें कोई उनके पास नही ले जा देता, सब भौतिकात्मा रूपी स्त्री के वशंगत हो गये हैं। उसके पास पहुँचने में अब भौतिक दीवाल (भौतिक दिव्य शरीर वृत्र) खड़ी है। शतपथ ब्राह्मण (१३-२-८) ने उक्त मंत्रों की व्याख्या में इसी भाव को विस्तार दिया है। उसमें तीन लोक, छह ऋतु, नौ प्राण, प्रजा, पशु, गर्भ, प्रजा

इत्यादि का व्याख्यान इसी सरणि में दिया है। अश्व के 'चतुरः पादः सम्प्रसार-याव' में चतुष्पाद ब्रह्म की योजना बनाई है। अन्त में 'स्वर्गे लोके प्रोर्णु-वाथाम्..... वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु' (यजु० २३-२०) का उल्लेख किसी अश्लील भावना से नहीं रंगा है। यह वृषा वही वृषभ है जिसे 'चत्वारिश्रृंगा' इत्यादि रूप में वर्णित किया गया है, यहां अश्व रूप वर्णना शाखा भेद से है, अन्यथा कोई अन्तर नहीं है।

कात्यायन, महीधर, उव्वट ने जिस योनि भोग को साकारता देने की चेष्टा में रानी और राजकुमारी से अध्वर्यु के व्यभिचार की कल्पना करके उसकी विधि दी है वह भ्रमपूर्ण और मर्यादाहीन आदेश है। यहां 'योनि' शब्द चतुर्थ सप्तक का निर्देशक है जिसका उल्लेख ऋग्वेद "स मातुर्योना परिवीतो" (१-१६४-३२) और "पिता दुहितु-गर्भमाधात्" (ऋ० वे० १-१६४-३३) के अनुसार है। "आहमजानि गर्भधमा त्वजासि गर्भधम्' का सीधा अर्थ यह है" तुम गणपति या ब्रह्मणस्पति रूप अश्व स्वयं गर्भधम् अजासि या गर्भ धारण करने वाले हिरण्य गर्भ हो, और मैं भी तुम्हारे समान तुम्हीं से उसी रूप में गर्भधं रूप या हिरण्य गर्भ रूप या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड रूप में 'अजानि' उत्पन्न हो जाऊं।" यह वाक्य "पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का पूर्ण आशय दे रहा है। 'यकासकौ शकुन्तिका' शब्द 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' का प्रतिद्वन्द्वी है। अध्वर्यु से 'मा अभिभाषथा' का भाव पूर्व पूर्व के सप्तकों के स्वरों के क्रम से मौन उपांशु अंशु स्वरूप से है। 'गिरिभार' 'मध्य' "शीते वाते पुनन्निव" शब्द मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व रूप पर्वत की पञ्चपर्वा विद्या में विवेचना दे रहा है। शूद्र नाम चतुर्थ सप्तक के तत्त्व के लिए आया है। गभः शब्द गर्भवाची है; वर्ण विपर्यय से भगः नहीं है। भगः मानने पर भी यह द्वितीय सप्तक की वेदि के 'योनि' नाम का पर्य्याय होगा जैसा पहिले बताया जा चुका है, न कि रानी या राजकुमारी के भग का। 'मुष्टि' माने अध्वर्यु का लिंग नहीं वरन् गर्भावस्था के बालक की स्थिति का वर्णन देता है जैसा ऐ० ब्रा० ने लिखा है। जो कुछ यहां दो परिच्छेदों में कहा गया है उसका स्पष्ट विवेचन ऐतरेय ब्राह्मण ने ठीक इसी स्थिति और विधि का वर्णन देते हुए सा लिखा है।

२—गणनान्त्वादि मंत्र और कात्यायन महीधर तथा उव्वट

"पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्त्यद्भिरभिषिञ्चन्ति रेतो वा आपः सरेतसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्ति नवनीतेनाभ्यञ्जन्त्याज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणमायुतं* पितृणां नवनीतं गर्भाणां तद्यन्नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति, स्वेनैवैनं तद्भागधेयेन समर्द्धयन्त्याञ्जन्त्येनं तेजो वा एतदक्ष्यो यदाञ्जनं सतेजसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्त्येकविंशत्या दर्भपिञ्जूलैः पावयन्ति शुद्धमेवैनं तत्पूतं दीक्षयन्ति दीक्षितविमितं प्रपादयन्ति योनिर्वा एषा दीक्षितस्य, यद्दीक्षितविमितं योनिमेवैनं

३—दार्शनिक गर्भ का वर्णन

* मलाई

तत्स्वां प्रपादयन्ति, तस्मात्ध्रुवाद्योनेरास्ते च चरति च तस्माद् ध्रुवाद्योनेर्गर्भा धीयन्ते च प्र च जायन्ते, तस्मादीक्षितं नान्यत्र दीक्षितविमितादादित्योऽभ्युदियाद्वाभ्यस्तमियाद्वापि वाभ्याश्रावयेयुर्वाससा प्रोर्णुवन्त्युल्वं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वास उल्वेनैवैनं तत्प्रोर्णुवन्ति, कृष्णाजिनमुत्तरं भवत्युत्तरं वा उल्बाज्जरायु जरायुणैवैनं तत्प्रोर्णुवन्ति। मुष्टी कुरुते, मुष्टी वै कृत्वा गर्भोन्तः शेते, मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते, तद्यन्मुष्टी कुरुते यज्ञं चैव तत्सर्वाश्च देवता मुष्ट्योः कुरुते, तदाहुर्न पूर्वदीक्षिणः संसवोऽस्ति परिगृहीतो वा एतस्य यज्ञः परिगृहीता देवता नैतस्यार्तिरस्त्यपरदीक्षिण एव यथा तथेत्युन्मुच्य कृष्णाजिनमवभृथमभ्यवैति, तस्मान्मुक्ता गर्भा जरायोर्जायन्ते सहैव वाससाभ्यवैति, तस्मात्सहैवोल्बेन कुमारो जायते" (१-१-३)

उक्त परिच्छेद में तो यजुर्वेद के २३-१८ से ३४ तक के मन्त्रों का भाष्य-सा लिखा प्रतीत होता है। यजुर्वेद जिसे उक्त छन्दों में देता है उसे ऐतरेय ब्राह्मण गद्य में प्रस्तुत कर रहा है। छोटे अक्षर वाले वाक्यों के शब्दों से दोनों की तुलना करके देखें। 'रेतः' माने कात्यायन प्रभृति ने वीर्य लगाया है, पर रेतः माने यहां 'आपः' साफ दिया है। योनि माने कात्यायन प्रभृति ने रानी या राजकुमारी की योनि लगाया है, पर यहां योनि माने 'ध्रुवा' स्रुक् स्पष्ट लिखा है। लकड़ी के बने ध्रुवा स्रुक् से ही योनि या द्वितीय सप्तक की वेदी का सदा अभिनय होता रहा है। अन्यत्र भी लिखा है "योषा वै वेदि वृषा अग्निः" (श० प० ब्रा० १-२-३-१५) "अथेतरा स्रुचो योषा स्रुग्वृषा" (श० प० ब्रा० १-२-४-९)। अन्तिम उद्धरण में मिथुन सम्पादन के लिए केवल घी में मुंह देखने का विधान मात्र स्पष्ट दे रखा है। उस स्रुवा को वस्त्र से ढक कर, उसे जरायु या गर्भाशय सा बनाते हैं। ऐसी क्रिया के बाद गर्भ में कुमार रूप का अभिनय करने के लिए कुमार की मुद्रा 'मुष्टि' या समुष्टिक मुद्रा दिखलाते हैं। यह तो है परम पूत या गर्भ या रेतोदधान या योनि का अभिनय। उसको कात्यायन प्रभृति ने यजमान की पत्नी और पुत्री और अध्वर्यु के सम्मिलन के अश्लील भाषण का स्वरूप देकर अच्छा नहीं किया।

४—पूर्वोक्त का भाव

अन्त में "सुरभिणो मुखाकरत्" का अर्थ भी गलत दिया है। यहां पर 'नो मुखं सुरभि आ करत्' का अर्थ "हमने अश्लील भाषण से जो अपने मुख दुर्गन्धित किये थे उन्हें सुगन्धित कीजिए" भी लिख दिया है। यहां 'सुरभि' शब्द सुगन्ध, दुर्गन्ध का वाचक कतई है ही नहीं। सुरभि शब्द पारिभाषिक है, द्वितीय सप्तक के प्राणों का विशेषण है। पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के उद्धरण की दूसरी पंक्ति में स्पष्ट लिखा है कि देवताओं की सुरभि 'आज्य' है, मनुष्यों की सुरभि घृत, पितरों की सुरभि आयुत (मलाई), गर्भों की सुरभि नवनीत। यहां पर सुरभि मनुष्यों के लिए है। अतः घृत प्राणों का प्रतिनिधि है। 'घृतं वै आयुः' कहा है। अतः इस मंत्र में "प्र न आयूंषि तारिषत्" 'हमारी आयु को पूरा करो' की स्पष्ट प्रार्थना है। इसी प्रकार उक्त

५—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' मंत्र का वास्तविक अर्थ

२३-१८ से ३४ तक के यजु के मन्त्रों में आये पारिभाषिक शब्दों का बिलकुल उलटा अर्थ लगा रखा है। इन मन्त्रों में माता, पिता, अग्नि, अञ्जन, निगल्गलीति, आहलक्, वृक्ष आदि सब शब्द पारिभाषिक हैं। सबका प्रयोजन द्वितीय सप्तक की अग्नियों का वर्णन गर्भ रूप में देना है। शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रों के अर्थ के बारे में जितनी प्रामाणिकता शतपथ ब्राह्मण को दी जा सकती है उतनी और किसी को भी नहीं। शतपथ ब्राह्मण (१३-२-९-पूरे) ने उक्त संवादीय मंत्रों का अर्थ स्वयं दे दिया है, पूरा पढ़ लें। उसमें 'ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय' माने श्री का राष्ट्र में क्रयण करना दिया है। 'गिरौ भारं हरन्निव' में 'श्रीवैं राष्ट्रभारं' लिखा है, 'अथास्यै मध्यमेधतां' माने श्री का मध्य कहा है, 'यकासकौ शकुन्तिका' माने विड् लिखा है, आहलक् माने भी विड् दिया है, 'गभः' माने भी विड् ही लिखा है, 'पसो' माने 'राष्ट्रं'; 'अग्रं वृक्षस्य रोहत' माने श्री ही राष्ट्र की अग्र बतलाई गई है, 'प्रति लामीति, ते पिता गभे मुष्टिमतंसय' का अर्थ 'गभ विड् है वह राष्ट्र में प्रवेश करके हन्ति' लिखा है। 'हरिण्यो यवमत्तीति' में 'यव' माने भी विड् लिखा है और विड् को राष्ट्र का आद्य कहा है। 'न पुष्टं पशु मन्यते' माने राजा पशुओं को पुष्ट नहीं करता लिखा है। 'शूद्रा यदर्यजारा' के अर्थ में वैशी पुत्र के अभिषेक की मना ही की गई है और अन्त में 'दधिक्राव्णो अकारिषं' मन्त्र के अर्थ में इस मन्त्र को ऋचाओं में परमपूत माना है। क्योंकि यह सुरभि (घृत) वाली है, इससे प्राण अपक्रामण नहीं कर सकते, दीर्घायु बनते हैं। इतना स्पष्ट अर्थ है। कहीं भी किसी प्रकार की अश्लीलता की गंध तक भी नहीं है। इससे बिलकुल स्पष्ट है, उक्त मंत्रों का कोई भी अर्थ उक्त दो में से स्वीकार करें, इनमें दोनों अर्थ ठीक हैं। ऐ० ब्रा० तो हिरण्यगर्भ परक कुमारवाद की व्याख्या देता है और शतपथ ब्राह्मण वर्ण परक सिद्धान्त से अर्थ दे रहा है। दोनों ब्रह्म विद्यायें हैं।

अन्त में बड़े खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि श० प० ब्रा० १३-५-२ का पूर्वार्द्ध का पूरा अर्द्ध प्रपाठक किसी का किया या लिखा प्रक्षिप्तांश है। इसमें सन्देह नहीं। इसमें तीन मुख्य कारण हैं (१) संवाद नामक शीर्षक पहिले आ चुका है, उसमें इन्हीं मन्त्रों का अर्थ दूसरा दिया है जैसा लिखा जा चुका है (१३-३-९) (२) एक ही व्यक्ति एक ही मन्त्र का दो जगह दो प्रकार का अर्थ नहीं दे सकता, न शतपथ ने कहीं अन्यत्र ऐसा किया है (३) इस १३-५-२ को परिशिष्ट नाम से पुकारा है। शतपथ ने कहीं भी परिशिष्ट देने का अवसर ही नहीं छोड़ा है, सब विस्तार से कहा गया है, कोई दूसरा परिशिष्ट भी नहीं मिलता। अतः यह परिशिष्ट रूप द्वितीय संवाद व्यर्थ का संवाद है और निश्चय रूप से प्रक्षिप्त है।

६—उक्त व्याख्या का निर्णय

अश्वमेध वैदिकों को अत्यन्त प्यारा था। इसीलिए उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर गये हैं। इसकी महिमा के दो वाक्य बड़े महत्त्व के और परम वैज्ञानिक हैं।

(१) "एष वै व्यष्टिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यष्टं भवति।" (२) "एष वै व्यावृत्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यावृत्तं भवति।" (१३-३-७-३, ५) इनका आशय यह है कि अश्वमेध यज्ञ व्यष्टिकारक और व्यावृत्ति (पार्थक्य) कारक यज्ञ है। यह कार्य सृष्टि विकास के क्रम में चतुर्थ सप्तक के पश्चात् 'अश्व' तत्त्व से (२९ वें से) आरम्भ होता है। इसके पहिले सम्पूर्ण सृष्टि एक रूप में, एकत्त्व रूप में या समष्टि रूप में ही सम्पन्न होती है। 'एकं सदेतत् त्रयमिदम्' (बृह० उप०)। त्रिपादामृत सब समष्टि की ही सृष्टि है।

७—अश्वमेध का महत्त्व

गोमेध वास्तव में धीमेध है। गो नाम वृषभ का भी है, आदित्यों का भी 'गावो वा आदित्याः'(ऐ० ब्रा० ४-३-१७)। जिस प्रकार प्राणों में दैवी और आसुरी दोनों भाव इकट्ठे रहते हैं उसी प्रकार बुद्धि में भी दैवी और आसुरी विचार एक साथ रहते हैं। आसुरी बुद्धि को पवित्र करना ही गोमेध है। संसार की सारी बुराइयों की जड़ यही आसुरी बुद्धि है। अतः उसको पवित्र करना मानवता या धर्म समाज के लिए एक परम आवश्यक कार्य है। फलतः गोमेध अन्य मेधों से अधिक आवश्यक है। गो माने मन, इन्द्रिय या रसमय भौतिक शरीर ही होता है। गोमेध इनको वश में करने का एक उत्तम मार्ग है। गो रूप इद्रियाँ, रसमय व्याप्ति और आदित्यों की प्रतिनिधियाँ हैं। उनका दमन ही गोमेध है। मन सबसे बड़ा 'गौ' (साँड़) है*। इसका दमन योगी ही कर सकते हैं। वे ही सच्चे गोमेधक हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड में स्वागत में गो बलि देते थे, अपने को संयत रखने की सूचना सत्कार पूर्ति के लिए देते थे। पर वैदिक लोग अश्व और गौ के मांस को नहीं खाते थे, इसका प्रमाण हमें इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में ही दिया मिलता है जैसे—

८—गोमेध

(१) "नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात् पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति।" (ऐ० ब्रा० २-१-३) (२) "स यं पुरुषमालभन्त स किम्पुरुषोऽभवद्यावश्वं च गां च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत् तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा हैते पशवः।" (श० प० ब्रा० १-२-१-९)।

ऐतरेय ब्राह्मण ने तो यहां तक कह दिया है कि जो इन पशुओं के मांस को खाता है वह ब्रह्म (पुरुष) को खाता है; अतः इन्हें नहीं खाना चाहिए। और शतपथ ने घोषणा की है कि उक्त पशु अपक्रान्तमेधा हैं, इनके खाने से बुद्धि नष्ट हो जावेगी; अतः नहीं खाना चाहिए। गो वध को तो ऋग्वेद में स्पष्टतया मना किया है—

---

* चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्य वायोरिव सुदुष्करम्॥ गीता (६—३४)

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"
(ऋ० वे० ८-१०१-१५)

कि अनपराध वाणी रूप गाय का वध मत करो, वह अदिति है। अजामेध ३० वें तत्त्व का विकास बतलाता है।

९—पुरुषमेध

यदि आप शतपथ ब्राह्मण के 'पुरुष मेध' नामक अध्याय को (१३-६-१-१) पढ़ें तो आप को पूरा विश्वास हो जायगा कि अब तक जो कुछ भी मेध के बारे में कहा गया है वह सर्वांश में अक्षरशः सत्य है। वेदों में पुरुषमेध की चर्चा पुरुष सूक्त के 'अबध्नन्पुरुषं पशुम्' मंत्र और ऐतरेय ब्राह्मण के 'शुनः शेप' वाले आयोजन के सम्बन्ध में मिलती है। इसे लोग नरमेध संज्ञा देने में भी नहीं हिचके हैं। पर श० प० ब्रा० ने लिखा है कि पुरुष तो नारायण है, वह एक से अनेक होने की कामना से पुरुषमेध या अपना विकास पाँच रातों में करता है (पञ्चैव पशवः)। उसने यज्ञ क्रतु देखा, उसी के यज्ञ से सर्व भूतों में या नाना रूपों में प्राप्त हो गया। उसकी २३ दीक्षा हैं—प्रथम २३ तत्त्व विकास हैं, २४ वां दक्षक्रतू है। यह विराट् पुरुष तब बनता है जब यह ४० वें तत्त्व तक विकास पा जाता है..........यह पञ्चरात्र मध्यवर्ती यज्ञ या विकास है। पुरुष-मेध नाम तो पूर्ण सृष्टि-विकास का है, उसके दो भाग पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों विभिन्न प्रकार से ज्योतिष्मान् हैं, इसी मध्यस्थल में वृत्रवध होता है। यह पुरुषमेध सप्तसदों, सप्त ऋतुओं या विराट् छन्द द्वारा पञ्चभागों के पञ्चाहों में विभक्त है। इसका नाम नृमेध दिया है और कहा है कि नृमेध प्रजा के विस्तार का नाम है 'अग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम्' (ऋ० वे० १०-८०-३)। यह पुरुषमेध स्वयं संवत्सर आत्मा है, इससे सम्पूर्ण सृष्टि विकसित होती है। इसी प्रकार १३-६-३-१ में सर्वमेध का वर्णन किया गया है। यह सर्व मेध ब्रह्म मेध है, स्वयम्भू मेध है, जिसका विकास दशरात्र में वर्णित किया गया है। विकास क्रम देखकर विश्वास पूरा कर लीजिये—प्रथम दिन–अग्नि; द्वितीय दिन–इन्द्र; तृतीय दिन–सूर्य, चतुर्थ दिन–वैश्वदेव; पञ्चम दिन–अश्वमेध, षष्ठ दिन–पुरुषमेध, सप्तम दिन–आप्तोर्याम; अष्टम दिन–त्रिणव; नवम दिन–तैंतीस देवता; दशम दिन–विश्वजित्; इसके बाद दक्षिण भाग के तत्त्वों का विकास कहा है, पूरा दिया नहीं गया है। अन्त में पितृमेध का वर्णन (१३-८-१ में) दिया मिलता है। क्या पितरों का वध होता रहा? कैसे? कदापि नहीं; अब तो आपको निश्चय हो गया होगा कि वैदिकों का मेध शब्द, बलि, हत्या या वध वाची नहीं वरन् यज्ञ, पवित्र मेधन, पूति और विकास अर्थ में प्रयुक्त है। यज्ञ माने भी विकास ही होता है। यह ऋग्वेद स्वयं सूचित करता है—

"शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः"।
"विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।।"(१०-८१-५,६)

यहां पर 'यजस्व' दो बार आया है; दोनों स्थलों में इसका अर्थ 'विकास' या 'विकसित होना' ही ठीक-ठीक बैठता है।

अब शुनः शेप सम्बन्धी नरबलि की कथा भी सुन लीजिए। नरबलि तो हुई नहीं, पर आयोजन बहुत तीव्र, गम्भीर और हृदय विदारक सा प्रस्तुत किया गया है। इस कथा में सरसता का यही एक कारण भी है, नहीं तो वे ही ढाक के तीन पात दृष्टि गोचर होते हैं।

१०—शुनःशेप का नरमेध

अपनी मुक्ति के लिए शुनः शेप सर्व प्रथम प्रजापति की फिर क्रम से वरुण, अग्नि, सविता, विश्वेदेव, इन्द्र की प्रार्थना करता है और अश्विनी की प्रार्थना करके उनके साथ चल देता है। यहां पर सब देवता चतुर्थ सप्तक के हैं। विश्वामित्र जिसने उसकी सहायता की, अपना ज्येष्ठ पुत्र माना, वह स्वयं वैदिक तत्त्व है। चतुर्थ सप्तक 'नर' कहलाता है या 'नृषद्' कहा जाता है। यहां नर रूप भौतिकता का आरम्भ हो जाता है। शुनःशेप इसी भौतिकता से उक्त देवताओं का ध्यान करके मुक्ति पाता है। यहां अजीगर्त और हरिश्चन्द्र की आसुरी भौतिकता का शमन है, शुनः-शेप तो स्वयं प्राणमय है। शुनः प्राणस्य शेपः रूपमिति शुनः शेपः। वह अभौ-तिक है, उसका बन्धन और वध असम्भव है। 'शुनःशेप' यह नाम ही संके-तक है। यहां पर नरमेध माने चतुर्थ सप्तक के 'नर' तत्त्वों या भौतिक तत्त्वों का मेध या विकास है। अजीगर्त और हरिश्चन्द्र जैसे भौतिक लोगों की भावना का विकास इस प्रकार से दिखलाया गया है। कर्मकाण्ड में कोई लुके-छिपे नरबलि करते भी हों तो कहा नहीं जा सकता, पर वैदिकों का अभिप्राय पुरुषमेध से या इस आख्यान से नरबलि का ढिढोरा पीटना नहीं था। यह भी शतप्रतिशत सत्य है। यह तो योग की प्रक्रिया या ज्ञान प्रक्रिया का एक सरल मार्ग मात्र है और "परोक्षं वै देवाः, परोक्षं वै यज्ञः" वाक्य तो शुनः शेप की प्रार्थना तथा हरिश्चन्द्र के यज्ञ की परोक्ष भूमिका स्वयं प्रस्तुत करके उक्त आख्यान को रहस्यवादी घोषित किये बिना नहीं रह सकता।

अध्याय १७

गुहा या त्रिःसप्तवाद

वैदिक दर्शन में 'गुहा' नाम का तत्त्व अनेक रहस्यों का सूचक है। केवल ऋग्वेद में ही वह शब्द ५३ बार आया है। अन्य वेदों में इसका प्रयोग इससे कम संख्या में नहीं मिलता। बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वैदिक दर्शन के पारमार्थिक ज्ञान के अभाव में लोग या आधुनिक तथा मध्यकालीन यास्क, शंकर, सायणादिक इस शब्द का अर्थ उसी अन्धकारमय अर्थ में लगाते हैं या प्रयुक्त करते हैं, जो 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' के गुहा शब्द का लगाते फिरते हैं। गुहा माने न तो 'गुफा' बिल या गुहा है, न अन्धकारमय। इसका अर्थ 'गुहा' तत्त्व की पारिभाषिकता पर निर्भर है। गुहा शब्द के पारिभाषिक अर्थ के पेट में ही धर्म तत्त्व का भी वास है। अतः उक्त वाक्य भी वैदिक दर्शन के धर्म तत्त्व की समुचित व्याख्या गुहावादी अर्थ में वैज्ञानिक रीति से देता है। इसका विवेचन इस प्रकरण के अन्त में दिया जायगा।

१—गुहा शब्द की पारिभाषिकता

वेदों में या ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में गुहा शब्द का प्रयोग दर्शन के पूर्वार्द्ध के तीन पद रूप २३ तत्त्वों के लिए किया गया है। यह शब्द यहां पर पारिभाषिक है। गुहा शब्द की इस पारिभाषिक अर्थ की प्रामाणिकता :—

२—गुहा और त्रिःसप्त तथा त्रिपादामृत

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।'
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४५)

पाठ की ऋचा घोषित करती है। यह ऋचा चतुष्पाद शब्दब्रह्म के प्रथम तीन पदों को 'गुहा' पूर्वार्द्ध नामक २३ तत्त्वों में सुरक्षित बतलाती हुई कहती है कि शब्दब्रह्म के इन चतुष्पादों को केवल अनूचान, शुश्रुवान् मनीषी ब्राह्मण या दार्शनिक ही जानते हैं। इनमें से गुहा में स्थित तीन पद रूप २३ तत्त्व तो नेङ्गयन्ति या अनिरुक्त हैं अथवा तूष्णीं उपांशु और अंश रूपी हैं। तुरीय पादीय या चतुष्पादीय वाक्पद को मनुष्या या नृषद् या नरषद या चतुर्थ सप्तक के तत्त्व रूप मनुष्य, या देवता या पशु बोलते हैं। प्रथम तीन पदों को वैदिक आर्य एक दूसरे 'त्रिःसप्त' नाम से भी पुकारते थे। अतः उक्त तीन पद रूप त्रिःसप्त या तीन सप्तकों को भी गुह्यानि पदानि कहा है। जैसे "त्रिःसप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदा ॥" (ऋ०वे० १-७२-६), तथा "त्रिःसप्त सख्युः पदे" (ऋ०वे० ८-६९-७)। ये उद्धरण हमारी ऋचा के 'गुहा त्रीणि निहिता (पदानि)' की व्याख्या सी कर देते हैं। वैदिक ऋषि त्रिःसप्तवादी गुहावाद को कभी 'त्रिःसप्त समिधः कृताः' (ऋ० वे० १०-९०-१५) कहते हैं तो कभी "त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो"

(ऋ० वे० १०-६४-८), कभी 'त्रिःसप्त सानु संहिता गिरीणाम्' (ऋ० वे० ८-९६-२) कभी "त्रिःसप्त विष्पुलिङ्गकाः" (ऋ० वे० १-१९१-१२), कभी "त्रिःसप्तैः शूर सत्वभिः" (ऋ० वे० १-१३३-६), कभी "ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते।" (ऋ० वे० १-२०-७) कभी "उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्" (ऋ० वे० ८-४६-२६) कभी "त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रे" (ऋ० वे० ९-७०-१, ४-१-१६; ७-८७-४; ९-८६-२१)। प्रतीत होता है समस्त वैदिक वाङ्मय इस त्रिःसप्तवादी गुहा में ही समाया है। त्रिवादी रथ और व्याख्यायें सब इसी गुहावाद के अंग हैं (देवरथ देखें)। उक्त अन्तिम धेनुविषयक उद्धरण का समर्थन निम्न ऋचा करती है—

"तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥"
(ऋ० वे० ९-९७-३४)

और, 'तिस्रो वाच उदीरते' (ऋ० वे० ९-३३-४)
'तिस्रो वाचः प्र वद' (ऋ० वे० ७-१०१-१)

इसी प्रकार के त्रिवादी उल्लेख केवल ऋग्वेद में ६६ और मिलते हैं। त्रिवादी मंत्र प्रारम्भ में देखें। हां, उक्त धेनुओं को ऋग्वेद वाक् नाम से ही पुकारता है। "धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु' ऋ० वे० ८-१००-११) इसी को बृहदारण्यक उपनिषद् 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारःस्तनाः' (७-८) कहकर स्तन रूपी चतुःस्तनीय ब्रह्म की व्याख्या देता है।

अतः ऋग्वेद ने समस्त दर्शन के दो भाग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को दो चक्रों के नाम से पुकार कर प्रथम चक्र का नाम ही गुहा कहा है। इसे केवल ज्ञानी ही या अर्द्धों के ज्ञानी ही जानते हैं यह भी लिखा है जैसे

३—गुहा और दो चक्र

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥" १०-८५-१६
"इच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः" (ऋ० वे० १०-६७-४)

'गुहा' माने त्रिपादामृत के 'त्रिःसप्त' या पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्व होते हैं। 'वाणी के वे चार पद कौन-कौन से हैं' (कतमानि तानि चत्वारि पदानि ?) प्रश्न के उत्तर में यास्क ने जो आर्ष और प्राचीन नैरुक्त मत दिये हैं वे वास्तव में 'गुहा त्रीणि निहिता' पद की समुचित व्याख्या देते हैं। आर्ष मत यह है कि 'ॐकारो महाव्याहृतयश्च' कि तीन पद ॐकार या ओ३म् रूप शब्द ब्रह्म के तीन पद हैं या येही 'भूर्भुवःस्वः' नामक तीन महा व्याहृतियाँ तीन सप्तकों के प्रतिनिधि रूप तीन लोकों के प्रतीक रूप पद हैं। प्राचीन नैरुक्त मत इन्हीं तीनों को 'ऋचो यजूंषि सामानि' या ह्रस्व स्वर, दीर्घस्वर और ऊष्माण रूप तीन पद मानते थे। पुरुष सूक्त की "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥" ऋचा की व्याख्या को इस सम्बन्ध में देखा

४—वाणी के चार पद कौन-कौन हैं ?

जावे। वैयाकरणों और याज्ञिकों के मत तो इन तीन या चार पदों की व्याख्या न करके लौकिक व्यावहारिक वाणी के चार पदों की व्याख्या करते हैं, उनका वैदिक ऋचा की वाणी के पदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैयाकरण मतानुसार 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' या संज्ञा, क्रिया, निपात और उपसर्ग पद भेद हैं। ये बोलचाल की या साहित्य की भाषा के शब्दों के चार भेद हैं। इनमें तीन के गुहास्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। महाभाष्यकार पतञ्जलिने 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा' आदि ऋचा की व्याख्या में इन्हीं लौकिक भाषा के भागों को 'चत्वारि पदानि या 'चत्वारि शृङ्गा' समझा है। इस ऋचा की व्याख्या तत्त्वनिर्णय तथा विष्णु, रुद्र शीर्षकों में दे दी गई है। याज्ञिक मंत्र या कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्र, कल्प (विधि), ब्राह्मण (व्याख्या) ग्रन्थों या भागों को तीन पद तथा व्यावहारिक भाषा को चतुर्थ पद कहता है। तब प्रथम तीन पद गुहास्थ और नेङ्गयन्ति कैसे कहे जावेंगे ? एक और प्रसिद्ध मत उद्धृत करके यास्क जी अधूरी बात लिखकर कुछ अन्धकार में डालने का प्रयत्न कर गये हैं, ठीक नहीं समझ पाये हैं। तीन पदों में से प्रथमपद सर्पवाक्, द्वितीयपद पक्षीवाक्, तृतीयपद क्षुद्रसरीसृप वाक् और चतुर्थीवाक् को याज्ञिक नैरुक्त और एके (किन्हीं के) मत में व्यावहारिकी बतलाते हैं। एक और हैं जो तीन पदों को पशुवाक्, तूणववाक्, मृगवाक् कहते हैं। और चतुर्थी वाक् को आत्मा की वाणी बतलाया है इसे 'आत्म प्रवादाः' नाम से पुकारा है। सम्भवतः अन्तिम दो मत किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्यों के संकलन हैं। वेदों में एक मत सर्पवादी भी है (अहिर्बुध्न्य देखें)। पशुवाद तो वेदों की आत्मा है (पशुवाद देखें)। अन्त में यास्क ने एक उद्धरण ब्राह्मण ग्रन्थ का दिया है जिसमें ऋचा के चारों पदों की व्याख्या शब्द ब्रह्म व्याख्या रूप में उत्तम और स्पष्ट रीति से इस प्रकार दे रखी है

"सा बै वाक् (ब्रह्म) सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेषु लोकेषु त्रीणि; पशुषु तुरीयं या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे; यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति ॥"

कि वाक् (ब्रह्म) सर्वप्रथम विकास रूप में प्रगट होने पर चार भागों में विभक्त हुई (चार पदों में विभाजित हुई)। इनमें जो प्रथम पद है, वह पृथिवी या प्रथम पद या सप्तक अग्नि रूप में प्रगट हुई। यहां पर पृथिवी भू लोक या प्रथम लोक का वाचक है (पृथिवी छः प्रकार की है—'पृथिवी' शीर्षक देखें)। उसकी गणना रथन्तर छन्द से की जाती है, द्वितीय पद या सप्तक अन्तरिक्ष में द्वितीय सप्तक या पद में वायु रूप में प्रगट हुआ, वह वामदेव्य छान्दस वाणी कहलाई; तृतीय सप्तक या पद दिव या तृतीय सप्तक में उदित हुआ। वहां वह वाक् आदित्य रूप में प्रगट हुई, जिसकी गणना बृहती से की जाती है। वह वज्र या वैद्युतीय स्वरूपी वाणी रही (ये तीन पद गुहास्थ हैं)। अन्त

में चतुर्थ पद चतुर्थ सप्तक के 'पुरुषपशुरश्वोगौरविरज' रूप पशुओं की वाणी रूप में विकसित हुई। यहां वाणी निरुक्त बनी इस से पहिले, गुहा में तूष्णी या उपांशु रूपिणी थी। इनका विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में दिया है जिनमें लौकिक और वैदिक दोनों पक्षों की वाणी की व्याख्या मिलती है। चतुर्थ सप्तक मनुष्य नामक सप्तक है, नृषद् कहलाता है और सोमसूर्य चन्द्रादि देवता भी इसी सप्तक में हैं। अतः इस सप्तक के तत्त्वों की व्याख्या ब्राह्मणों ने मनुष्य वाणी और देववाणी दोनों रूपों में दे रखी है। भूल से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये मनुष्य हम आप जैसे हैं। ये मनुष्य तो पारिभाषिक 'मा दुषदिति मनुष्याः' (ऐ० ब्रा० ३-३-३३) के मनुष्य रूप तत्त्व हैं, या मनु रूप चतुर्थ सप्तक के मुख्य ब्रह्म की प्रजा रूप तत्त्व नामक मनुष्य हैं (पुरुष सूक्त १०-९०-१० मंत्र की व्याख्या देखें)। यास्क उक्त मंत्र की शब्द या वाक् की व्याख्या को अति-स्तुति या प्रवह्लित अथवा अतिशयोक्ति कह देते हैं।

आजकल के कुछ संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों में इस 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' नामक ऋचा का महावरा सा है। इसके अर्थ में वे यास्क के दिये मतों को भी नहीं जानते और ये लोग इसके अर्थ में एक मध्यकालीन उपनिषद् के दिये हुए वाणी के चार भेदों—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—को समझते हैं। वाणी के चार पदों में केवल अन्तिम पद या चतुर्थ पद मात्र 'परा' वाणी है। और शेष पद तो मानसिक वाणी या अनिरुक्त वाणी या 'पूर्वा' वाणी के तीन पद या सप्तक हैं।

५—चत्वारि वाक्-पदानि और परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी

पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तो बिलकुल लौकिक और महाभौतिक वाणियाँ हैं। इनका सम्बन्ध उक्त वैदिक चार वाणियों में से किसी भी पद या पाद से नहीं है। इस सम्बन्ध में यहां पर स्पष्टता के लिए श० प० ब्रा० (१-४-७-८ से १३ तक) की एक कथा दे देना आवश्यक और सार्थक सिद्ध होगा। "एक बार मन और वाणी में विवाद छिड़ गया। प्रत्येक अपने को एक दूसरे से बड़ा कहने लगा। दोनों निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति मन ही मन बोले और यह निर्णय दिया कि वाणी तो मन की अनुकरण शीला है और 'परा' है। तब वाणी को इतना आश्चर्य हुआ कि उसका गर्भपात हो पड़ा और कहने लगी मुझे तो 'परा' या अहव्यवाड् कह दिया है। मैं देवताओं के काम की नहीं रही। जब देवता उसके गर्भपात को ढूँढने लगे तो देखने वालों ने कहा 'अत्रत्यात्' अर्थात् 'यहां गिरा'। तब जो वहां उत्पन्न हुआ था उसे 'अत्रत्यात्' कहते-कहते संक्षेप करते-करते 'अत्रिः' कहने लगे, उसकी वाणी आत्रेयी कहलाने लगी।" कथा का सार यह है कि पूर्वार्द्ध या गुहा की वाणी मानसिक या आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय या अनिरुक्त या तूष्णीं या उपांशु ही रहती है, यह प्रजापति की वाणी है। और जो परा या अहव्यवाड् वाणी है वह उत्तरार्द्ध की भौतिकी वाणी है। इस दृष्टि से 'गुहा त्रीणि निहिता (पदानि)' के तीन पद पूर्वा वाणी

के या पूर्वार्द्धीय गुहा की तीन सप्तक वाणियाँ हैं। परा वाणी का आरम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है जो भौतिकी या पशु रूप तत्त्वों की या नृषद् नामक नर तत्त्वों की या ऐ० ब्रा० की कथानुरूप (३-३-३३) मादुष या मनुष्य नामक तत्त्वों की (तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति) वाणी है। इससे यह फलित हुआ कि उपनिषद् के दिये हुए पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेद केवल लौकिक बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के वैसे ही पारिभाषिक अंग हैं, जैसे वैयाकरणों के 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताः'। इनका वेद की ऋचा के उक्त किसी पद या सप्तक से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऊपर जो कथा अत्रि की दी गई है, वह अत्रि तात्त्विक महर्षि हैं, छन्द या मंत्र रचयिता ऋषि नहीं हैं। यह अत्रि वाक् रूप अत्रि है, 'परा' वाक् रूप अत्रि है। इसका ज्वलंत प्रमाण बृहदारण्यक उपनिषद् ने दर्शन की व्याख्या सृष्टि-वृक्ष रूप में करते हुए इस प्रकार प्रस्तुत किया है

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।

तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥" (४-३-२, ४)

इसकी व्याख्या स्वयं देते हुए उपनिषद् ने लिखा है कि ऋषि नाम प्राणों का है (ऋषयः शीर्षक भी देखें)। वाणी सात ऋषियों में से अन्तिम या अष्टम या आत्रेयी 'परा' वाक् है जैसे—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिरः (गुहापूर्वार्द्धम्) तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो, निहितं विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते (अत्रत्यादिति)—इमावेव गोतमभारद्वाजा ·········वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते ऽत्तिर्ह वै नामैतत् यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥"

यहां रेखाङ्कित शब्दों में 'वाणी ही अत्रि है' 'अत्ति नाम वाले ही को अत्रि कहते हैं' यह स्पष्ट लिखा है। यही अन्न या भौतिक तत्त्व या भौतिक वाणी कही गई है। यह वाक् सर्वस्यात्ता या सर्वभक्षी या सर्वहुत है, अर्थात् वैश्वानराग्नि रूप है और जातवेदा अग्नि का अन्तिम परिणाम है। अतः उक्त आख्यान पूर्णतः दार्शनिक है और परा को उत्तरार्द्ध की भौतिकी वाणी सिद्ध करता है।

उपनिषदों में गुहा शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है, और अर्थ वही है, जो वैदिक ऋचाओं और ब्राह्मण विवेचनाओं से निर्णीत किया जा चुका है।

६—उपनिषदों में गुहा का प्रयोग

कठोपनिषद् ने "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।" (३-१) में प्रथम या परम परार्द्ध या पूर्वार्द्ध रूप गुहा में प्रविष्ट होकर ऋत नामक त्रिपादामृत को पीने वालों को सुकृत लोक या गुहा में तपोरूप में विद्यमान बतलाया है, और कहा है कि उत्तरार्द्ध रूप शरीर या शरीरी पूर्वार्द्ध रूप प्रकाश की छाया या प्रतिबिम्ब हैं। इस सिद्धान्त के ज्ञाताओं का नाम ब्रह्मविद् है। सुकृत नाम क्रतु या शतक्रतु का है, जैसे 'कृतो

स्मर कृतं स्मर, कृतो स्मर कृतं स्मर"। यह सुकृत लोक या क्रतु लोक या कृतलोक गुहा या गायत्री के त्रिपादामृत से ही उत्पन्न है, यह यहाँ भी स्पष्ट है। गुहा लोक का नाम अकृत लोक है। (दश० उप०) दोनों सुपर्ण गुहा से बाहर उत्तरार्द्ध के सोम और वृत्त या दैवी तथा आसुरी वृत्ति की भौतिकात्मायें हैं, जिनमें प्रथम अनश्नन् द्वितीय अश्नन् तत्त्व है, क्षेत्रज्ञ पूर्वार्द्ध है क्षेत्र उत्तरार्द्ध। "ऋषिभिर्बहुधा गीतं..........एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" (गीता) देख लें। कठोपनिषद् ने फिर गुहा शब्द को दुहराया है और यहाँ परं ब्रह्म को उस गुहा में गूढ, अनुप्रविष्ट, गुहा में व्याप्त, और सदा उस गुहा में स्थित तथा सबसे प्राचीन या पुराण या पूर्वार्द्धीय बतलाते हुए लिखा है कि वह दुर्दर्श या अनभिज्ञेय या अदृष्ट है जैसे "तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ॥" (२) तदनन्तर फिर लिखा है कि वह गुहा में प्रवेश करके स्थित रहता है, उसे भूतों या तत्त्वों के समीचीन ज्ञान से देखा या समझा जा सकता है जैसे "गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत एतद्वै तद्"। (कठ ४)। गुहा प्रविष्ट तत्त्व ही त्रिपादामृत रूप ब्रह्म है यह इसका निर्णय है। तैत्तिरीय उपनिषद् (अनुच्छेद १ ब्रह्मानन्द वल्ली) कहता है कि ब्रह्म सत्य (विभुः) ज्ञान (ज्योतिः) और अनन्त (अक्षरों का अक्षर ब्रह्म) है वह इस रूप में गुहा या त्रिपादामृत में या परमे व्योमन् या पूर्वार्द्ध में रहता है। जो इस गुहावासी ऐसे तत्त्व को जानता है वही ब्राह्मण (ब्रह्म वेत्ता) है, वही विपश्चित् है, वही सब ज्ञान की कामनाओं की अनुभूति का आस्वादन कर सकता है, जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥" मुण्डक उपनिषद् ने गुहा शब्द का प्रयोग दो बार किया है जैसे "आविः...गुहा चरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।" "तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।" (३-१, २) यहाँ पर प्रथम में आविः नामक ब्रह्म को गुहा का संचरणकारी बतलाया है, उस गुहा में २४ तत्त्व रूप ग्रन्थियाँ हैं जिनको पार करके प्रथम ब्रह्म रूप अमृत की प्राप्ति तथा पाप्मा और शोक रूप भौतिकता से मुक्ति मिलती है। श्वेताश्वतर उप० ने भी इस गुहा शब्द का प्रयोग दो बार किया है जैसे "अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः" (३-२० नारा० उप० में भी है)। यह आत्मा को गुहा वासी बतलाता है। वह आत्मा अणोरणीयान महतो महीयान् है। यही त्रिपादमृत कहलाता है।

नारायण उपनिषद् (६८) तथा सुबाल उपनिषद् (६) ने गुहा को वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के भीतर बतलाया है। ये दोनों गुहा शब्द का संकुचित तथा एकाक्षी अर्थ दे रहे हैं। गुहास्पद आत्मा तो त्रिपादमृत है, वह

७—शारीरिक गुहा

शरीर के बाहर भीतर दोनों ओर बराबर व्याप्त है जिससे यह सिद्ध होता है कि गुहा में शरीर है, शरीर में गुहा नहीं। शरीर के अन्दर भी गुहा है। उसी एक पक्ष को लेकर ये कहते हैं,

"अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु" (ना० उ०); "अन्तः शरीरे निहितो गुहायाम्" (सुबाल० उप०) कहा तो इन्होंने भी ठीक है कि विश्व मूर्ति रूप ब्रह्माण्ड के भीतर भी वह ब्रह्म गुहास्थ होकर त्रिपादामृतीय दैवी त्रिधात्मा स्वरूप में ही रहता है, क्योंकि भौतिक ब्रह्माण्ड में तो पाप्मा, भ्रातृव्य, भौतिकता की आसुरी वृत्ति का प्राबल्य रहता है, तिस पर भी वह अमृत या दैवी स्वरूप में, गुहास्थ या उस भौतिकता से पृथक् सा ज्योतिर्मय रूप में इस अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर को प्रकाशित किये रखता है, बाहर तो वह अनन्त असीम रूप में है ही। कहने का तात्पर्य यह है कि गुहा नाम त्रिपादामृत के त्रिधात्मामृत का या दर्शन के पूर्वार्द्ध का है जो वैयक्तिक या अखिल ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर दोनों ओर एक रूप में व्याप्त है, विभुः है। इतना अवश्य है कि ये ग्रन्थ गुहा शब्द के प्राचीन अर्थ को कुछ नवीनता दे रहे हैं, और प्रायः योग मार्ग में घटित कर रहे हैं। इसका स्पष्टीकरण श्वेताश्वतर (५-१) ने पुनः वैदिक ढंग से कर दिया है। कहा है हमारे या अखिल ब्रह्माण्ड में दो अक्षरों का ब्रह्म अनन्त या असंख्य बीजों के एक बीज रूप में विद्या (दैवी-वृत्ति) और अविद्या (आसुरी वृत्ति) के रूप में गूढ़ रहता है। वे दो अक्षर 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' ऋचा के वे अक्षर हैं जिन्हें "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती······ सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' ऋचा वर्णित करती है, वे दो हैं पूर्वार्द्ध के 'ऋचां अक्षराणि' और उत्तरार्द्ध के यजुष्मतीनि अक्षराणि (ऋचो अक्षरे और आसन्दी देखें)। अतः लिखा है—

"द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।"

उक्त दो अक्षरों को दो अरणियाँ बतलाकर कठोपनिषद् योग की भी प्रतिष्ठा करते हुए लिखता है—

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥"

यहाँ जिसे प्रणव रूप अरणि बतलाया है वही गुहा है यह तो प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है। भौतिक ब्रह्माण्ड या शरीर की भौतिक गुहा भी है उसे सोमचन्द्र या वैश्वानराग्नि कहते हैं। पहिले इसकी अनुभूति हो जाय तब इसके द्वारा त्रिपादामृतीय गुहास्थ त्रिपाद्ब्रह्म की अनुभूति हो सकती है। भौतिक दिव्य शरीर को वैदिकों ने गुहा नाम से नहीं पुकारा है। भौतिकात्मा वास्तव में भौतिक ब्रह्माण्ड का महदुक्थ्य या मूलस्रोत है, इसी को कठ आत्मा नामक अरणि के नाम से पुकार रहा है और प्रणव या त्रिपादामृत रूप गुहा को उत्तरारणि। यही आत्मा (भौतिक दिव्यशरीर) अणोरणीयान् है और गुहास्थ त्रिपादामृतीय त्रिपाद्ब्रह्म 'महतो महीयान्'। यह गुहा ही महतो महीयान् है।

यजुर्वेद ने भी इस गुहा शब्द का समुचित अर्थ में प्रयोग किया है। जैसे १२-१९ मंत्र में गुहा का पूरा परिचय देते हुए लिखा है—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि, विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्, विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥"

८—यजुर्वेद और गुहा

कि हे अग्ने हम तेरे उस मूलस्रोत को (ब्रह्म को) जानते हैं, जहाँ से तुम निकले हो, हम तेरे उन तीन विकासक्रमीय (जिन्हें त्रिपादामृत कहते हैं) जिन्हें त्रिधाम या भूर्भुवः स्वः भागों को जानते हैं नामक तेरे धारण किये कहे जाते हैं, और हमें यह भी विदित है कि तेरी परम गुहा क्या है ? वही गुहा है जिसे ये 'त्रेधा त्रयाणि' या त्रिपादामृत कह रहे हैं । इसका समर्थन पुनः निम्न मंत्र करता है—

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाऽहं देवानां परमं गुहा यत् ॥"

इसके अर्थ को जानने के लिए ऋ० वे० (५-६२-८) की ऋचा का अर्थ सहायक होगा—

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य ।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥"

इस मंत्र में दर्शन के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध के मध्यभागीय तत्त्व सूर्य को गर्त या विषुवद्रेखा या विषुवान् नाम से पुकार कर उसमें सूर्य रूप मध्यवर्ती तत्त्व को लोहे की (अयः) स्थूण नाम दिया है, उस स्थूण रूप सूर्य का, जो गर्तवासी है आरोहण करने के लिए, मित्रावरुण २४ वें तत्त्वों से प्रार्थना की गई है कि तुम दोनों (मित्रावरुण) उस स्थूण रूप सूर्य के गर्त में खड़े होकर अदिति पूर्वार्द्ध तथा दिति उत्तरार्द्ध दोनों को देख सकोगे । यही भाव यजु के इस मंत्र में प्रथम पुरुष में दिया गया है जो कहता है मैंने सूर्य रूप स्थूण या गर्त में खड़े होकर परस्तात् या उत्तरार्द्ध के दिति नामक भौतिक तत्त्वों को और अवस्तात् या पूर्वार्द्ध के अदिति नामक तत्त्वों को दोनों को एक साथ देखा और सूर्य तत्त्व को भी दोनों ओर से देख लिया कि यह प्रारम्भ और अन्त में किस क्रम से विकसित हुआ । और इस प्रकार पूर्वार्द्ध को देख लेने से मैंने देवताओं या त्रिपादामृतीय तत्त्वों की परम गुहा त्रिपाद्ब्रह्म को भी भलीभांति देख लिया । वह कहता है कि मेरा पिता तो अन्तरिक्ष या प्रथम सप्तकीय ब्रह्म है (पुरुषसूक्त "नाभ्या आसीदन्तरिक्षं' और 'सूर्यः' देखें) । यजुर्वेद ने 'गुहा' को तीन पदों या पादों का सूचक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दिया है "त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्" (यजु० ३२-९ तथा नारा० उप० ४) । इन त्रीणि पदानि वाली गुहा को इसने विष्णु के 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' के रूप में तीन सप्तकों को त्रीणि पदानि कहा है जैसे 'त्रीणि पदा विचक्रमे' (यजुः ३४-४३) जिससे स्पष्ट है कि पदा या पदानि शब्द यहाँ पर और 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' में भी केवल इन्हीं विष्णु के तीन विक्रमण रूप त्रिपाद्ब्रह्म या त्रिपदामृत के ही संकेतक हैं ; उसी का नाम गुहा या परमं गुहा है, क्योंकि इन सब स्थलों में पाद शब्द के बदले पदा या पदानि शब्द का ही प्रयोग किया

गया है जिसको सब लोग पौराणिक कथा की सहायता से भलीभाँति जानते हैं। पद और पाद में भी भेद है। पद नाम सप्तक का है पाद नाम गायत्री प्रभृति के पादों का है। तीन पद में २३ और तीन पादों में २४ ही तत्त्व हैं। इसलिए गड़बड़ी है। पद सात हैं, पाद चार या पाँच हैं, पर चतुष्पदी, पञ्चपदी, षट्पदी, अष्टापदी, नवपदी भी पद भेद हैं, पाद भेद नहीं।

ऋग्वेद (२-१२-४) में एक पद यह है, "यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।" इसका अर्थ देते हुए सायणाचार्य जी लिखते हैं—

"यः दासं वर्णं शूद्रादिकं यद्वा दासमुपलक्षयितारं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्॥"

९—'दासं वर्णमधरं गुहाकः' का अर्थ

वे 'गुहा' माने 'नरक' या 'गूढस्थाने' कह गये हैं। गुहा का अर्थ स्वर्ग है, त्रिपादामृत है। 'अधर' का अर्थ 'निकृष्ट' 'नीच' लिख गये हैं। पद का वास्तविक अर्थ यह है। दास वर्ण भौतिक तत्त्वों का है। इन भौतिक तत्त्वों का स्थान चतुर्थ सप्तक है जिसके तत्त्वों को असुर, वृत्र, शूद्र, दास, अश्व, स्त्री, वृषभ आदि वाहनों के नामों से पुकारा गया है। ये सब तत्त्व गुहा या त्रिपादामृत के प्रथम तीन पाद रूप पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों के नीचे (अधरं) उत्तरार्द्ध में आते हैं। अतः कहा है कि इन्द्र ने इन दास नामक वृत्रादि असुर भौतिक तत्त्वों को गुहा नामक पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के २४ तत्त्वों के नीचे या अधर या उत्तरार्द्ध में कर दिया। यह तो सीधी बात है।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।—पूरा श्लोक यह है—

"वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

१०—सनातनधर्म=गुहा

कि "वेद भी भिन्न-भिन्न हैं शाखा प्रशाखा रूप में पृथक-पृथक् रूप के हैं, उनमें तथा ब्राह्मण और उपनिषदादिकों में श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करती हैं। इन सब में सर्वादेवता वादी देवताओं में से कोई ग्रन्थ किसी एक देवता को अधिक महत्त्व देता है तो कोई दूसरे को, कोई इन सबको। अतः यह नहीं जाना जा सकता कि किस मुनि या ऋषि का कौन मत उपादेय या हेय है। इतना विस्तृत विवेचन मिलता है कि धर्म क्या वस्तु है उसका ठीक-ठीक निर्धारण करना कठिन है, उसे खोजना गुहा के अन्दर अन्धकार में खोज के समान है, अतः जिस मार्ग से आजतक के महाजन या बड़े-बड़े ऋषिमुनि वर्ग चलते चले आ रहे हैं, उसीको अपनाना सच्चा मार्ग है।" यह तो इसका लौकिक अर्थ है। परन्तु श्रुतियों और संहिताओं के पृथक्-पृथक् शरीर होने पर भी, उन सब में जिस वैदिक दर्शन का विवेचन है उसकी एक अविच्छिन्न धारा बहती हुई सर्वत्र दिखलाई पड़ती है, उस प्रवाह का वर्णन प्रत्येक ऋषि या मुनि ने अपनी-अपनी स्वतंत्र सरणि की नदियों में प्रवाहित किया है, जिनमें से किसी को भी अप्रामाणिक

कहने का किसी को कोई साहस या अधिकार भी नहीं है। क्योंकि उन सब ने धर्मतत्त्व का विवेचन वैदिक दर्शन के 'गुहा' तत्त्व या त्रिपादामृत के सिद्धान्तों में ढाल रखा है। उसे आज का कोई व्यक्ति नहीं समझ पा रहा है कि वह गुहास्थ त्रिपादामृतीय धर्म तत्त्व क्या है, अतः उसे न समझने के कारण, उसे छोड़ देने के स्थान में यह अच्छा है कि हम सब उस मार्ग का अनुसरण करते जावें जिसको उन महर्षियों ने अपने जीवन में अपना रखा था।* वही मार्ग धर्म की गुहास्थ त्रिपादामृतीय सरणि की सच्ची व्याख्या को अपनाने, समझने और जानने के समान फलदायक सिद्ध होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि वह त्रिपादामृतीय गुहास्थ धर्म वास्तव में है क्या वस्तु, जिसको न समझ सकने पर भी उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त महाजन मार्गानुसरण का आदेश दिया गया है। वह धर्म इस प्रकार का है:—

११—आज का धर्म

आज कल तो धर्म नाम परस्पर विद्वेष, इर्ष्या, दंगा, फसाद, मार-काट, लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद फैलाने वाले सम्प्रदायों को दिया जाता है। सभी सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने सिद्धान्तों को ऊँचा बतलाने, कहने और सिद्ध करने की बड़ी-बड़ी वकालत करते हैं, और सिद्धान्तों का कोई दोष भी नहीं है, सब ऊँचे हैं परन्तु उनकी यथार्थता का पता तो उनके प्रयोगात्मक व्यावहारिक कार्यों से जिस प्रकार सामने आता है वह तो प्रथम वाक्य के स्वरूप में ही आता है, जिससे ऊँची-ऊँची चोटी के समान के सिद्धान्त लज्जा के मारे अधोमुख होकर (फली वाली की तरह) लटकी शोक ग्रस्त सी स्पष्टतः सामने आते हैं।

१२—वास्तविक धर्म

धर्म तत्त्व जन्म और जीवन के साथ-साथ जन्म लेता है। धर्म केवल इसी जीवन या जन्म की वस्तु भी नहीं है। उसका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों की परम्पराओं में भी निहित है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने इस विषय पर पूरा प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जब ब्रह्म का विकास चतुष्पाद ब्रह्म रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक तत्त्वों के रूप में हुआ (पुरुष सूक्त 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी' दित्यादि ऋचा की व्याख्या देखें) तब इस प्रकार की तत्त्व रचना सफल सिद्ध न हो सकी। चतुर्थ सप्तक में उनके प्रत्येक तत्त्व में पारस्परिक समन्वय या सामञ्जस्य की कोई सामग्री नहीं थी। प्रत्येक पाद के तत्त्व अपनी-अपनी विशेष-

---

* मनु ने भी इसी बात की चर्चा करते हुए लिखा है—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥" (२-१)

इसके अन्तिम पद में आत्मा की तुष्टि के माने भी त्रिपादामृत की दैवी वृत्ति के अनुकूल जीवन या कर्म करने को धर्म या सनातन धर्म बतलाया गया है। अतः धर्म का सीधा सम्बन्ध ब्राह्म तत्त्वों से है वर्गादि से नहीं, सार्वजनीन दैवी गुणों से है।

ताओं से एक दूसरे को दबोच कर सृष्टि के क्रम में ऐसी खलबली मचाने लगे कि उनकी सब क्रियाओं में एक अराजकता की सी, उच्छृङ्खल और अकल्याणकारी प्रवृत्तियों का प्राधान्य होने लगा। सृष्टि का यह लक्ष्य न था। सृष्टि की कामना, सार्वजनीन सर्वहित के लिए की गई थी। इसकी पूर्ति के लिए श्रेयोरूप धर्म की प्रतिष्ठा या विकास किया गया। यह दैवी वृत्ति का धर्म उन चतुर्थ सप्तक के सब तत्त्वों में अस्फुट रूप में पहिले से विद्यमान था। इस विद्यमानता का नाम 'गुहा' या त्रिपादामृत है। इसका संकेत पुरुष सूक्त की ऋचा—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥"

स्पष्ट शब्दों में करती है कि वे धर्म के तत्त्व उन तत्त्वों में पहिले ही से विद्यमान थे। जब तक सब तत्त्व त्रिपादामृत की गुहा में थे तब तक तो इसी धर्म या दैवी वृत्ति की सामञ्जस्य का त्रिपादामृत बरसता रहा, जब वे इस गुहा के द्वार से बाहर आकर भौतिकता बहुल इस चतुर्थ सप्तक की शूद्रता के नशे में चूर होने लगे, तभी उस अराजकता का बोलबाला होने लगा था। अतः उस गुहास्थ त्रिपादामृतीय तत्त्व की दैवीवृत्ति को भी भौतिकता के आवरण में उन्हीं के साथ-साथ विकसित कर उनकी नूतन उच्छृङ्खलता को दबोचा गया। यह धर्म सृष्टि के बीज रूप उन्हीं तत्त्वों का आत्मीय अंग गुण वृत्ति या क्रियाओं में से एक है, उन तत्त्वों से बाहर की सम्प्रदाय रूप संगठन रूप कोई नई वस्तु नहीं। गुहास्थ गुणों या धर्मों का या दैवी वृत्ति का पुनर्नवोत्थान मात्र किया गया। इस धर्म को 'क्षत्र' नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इसकी प्रतिष्ठा में क्षत्र या बल या ओजः की आवश्यकता रहती है, यह भय का विनाशक है, समन्वय स्थापक है। अतः इन तत्त्वों के गुणों में इस धर्म नामक प्रवृत्ति से ऊँचा गुण कोइ दूसरा नहीं कहा गया है। यह सर्वश्रेष्ठ, सार्वजनीन, सर्वभूतहितेरत, सर्वकल्याणकारी दैवी प्रवृत्ति है। प्रत्येक को अपना-अपना क्षेत्र और क्षत्र या धर्म प्रदान कर सब में सर्वतन्त्र तथा स्वतन्त्र स्थान दिया गया। इस प्रकार अबली बलवान् की शरण में, धर्म के प्रेयो रूप में श्रेयो रूप की प्रतिष्ठा करता है। जैसे बालकों की रक्षा, धर्म के श्रेयो रूप को, प्रेयो रूप में परिणत कर एक कल्याणकारी सृष्टि की रचना की प्रतिष्ठा होती है। पक्षी, पशु, कीट, पतंगों में भी इस श्रेयो रूप धर्म का वह प्रेयो-रूप (प्रेममार्गी) स्वरूप सबको दिखाई पड़ रहा है। उन की रक्षा में धर्म के क्षत्र रूप या रक्षा की भी सर्वत्र पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती है। यह धर्म मार्ग न किसी व्यक्ति का चलाया हुआ है न कोई इस धर्म मार्ग को कभी भी किसी रूप में नष्ट कर सकेगा। इसीलिए हमारे ऋषियों ने इसका नाम सनातन धर्म रखा है। यह सनातन धर्म सृष्टि के तत्त्वों की दैवी वृत्ति है। अधर्म इसके विपरीत आसुरी भौतिकता का नाम है।

तब धर्म क्या है? उसका समाधान भी इस उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में दिया है कि धर्म नाम सत्य का है, सत्य नाम ब्रह्म का है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

१३—वैदिक धर्म, सनातन धर्म स्वाभाविक धर्म है

यह सत्य नामक धर्म उसी गुहास्थ त्रिपादामृतीय ब्रह्म का सर्वमुख्य गुण है। अतः लिखा है "यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्"। जड़ और जीवों में यह धर्म, सत्य ब्रह्म रूप में सार्वजनीन रूप में प्रस्तुत रहता है। प्रत्येक पदार्थ या प्राणी ब्रह्म के इस सत्य या सार्वजनीन या दैवीवृत्ति के गुण या धर्म से युक्त है। कोई किसी को इस दैवी सार्वजनीनता को जान सके या नहीं, वह उसमें अवश्य निहित है। जहाँ इनमें भौतिकता के बाहुल्य से असत् या अकल्याणकारी आसुरी भ्रातृव्य तुल्य गुण दिखलाई पड़े उनका प्रतीकार क्षात्रधर्म या दण्डविधान से ही सब लोग करते दिखलाई पड़ते हैं। सृष्टि में जड़ जीवों में इस ब्राह्मधर्म की सबसे बड़ी समस्या, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ अंग मानव सृष्टि है। यह भौतिकता की प्रबलता से आसुरी या असत्य की ओर एकदम आकर्षित हो जाती है। अन्य सृष्टियों में धार्मिकता या ब्राह्मदैवी वृत्ति, स्वाभाविकता से समायी रहती है। अतः मानवता के कल्याण के लिए धर्म का केवल एक ही उदात्त स्वरूप है कि वह ब्राह्म-दैवी वृत्ति रूप सत्य बोले। अतः जो सनातन और स्वाभाविक गुहास्थ त्रिपादामृत ब्रह्म रूप आत्मा के धर्म का पालन करने के लिए सत्य बोलता या दैवी वृत्ति को अपनाता है, उसको कहते हैं कि धर्म को बोलता है या बोल रहा है, जो उस धर्म की बातें करता है उसे कहते हैं कि देव या सत्य धर्म बोल रहा है। धर्म के ये दोनों रूप हैं। अतः लिखा है—

"स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत।
धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्॥"
"यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति।
अथो अबलीयान्बलीयांसं समाशंसते।"
"धर्मेण यथा राज्ञा। एवं यो वै स धर्मः
सत्यं वै तत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहु-
र्धर्मं वदतीति। धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदती
त्येत्येतद्ध्येवेतदुभयं भवति॥" (१-३-४-१४)।

भगवान् मनु ने भी इसी वाक्य का अनुसरण करते हुए लिखा है—

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥"

यही सनातन धर्म है।

अतः उक्त श्लोककार ने ठीक लिखा है कि धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है। यह गुहा भी वही त्रिपादामृतीय सत्य ब्रह्म का संकेतक है जिसकी व्याख्या पहले दी जा चुकी है। धर्म तत्त्व आत्मा का

१४—वास्तव में धर्म तत्त्व गुहा में ही है

आत्मीय या ब्राह्म धर्म या गुण या वृत्ति है, स्वाभाविक है, सार्वजनीन है, सर्वकल्याणकारी है, केवल किसी वर्ग या

सम्प्रदाय की निजी सम्पत्ति नहीं है। यह तो कण-कण में समाया हुआ है, इसका कभी भी विनाश नहीं हो सकता। अतः गीता ने ठीक लिखा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति भारत।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

यह मानवों की आसुरी और विप्लवकारिणी प्रवृत्ति का विनाश करने के लिए महाविभूतियों के जन्म का युग-युग में अवतार सूचित करता है। येही महाजन हैं जैसे ऋषि, मुनि, महात्मा, साधु, संन्यासी ऐसे अवसरों में जिस प्रणाली को जन्म दे जावें उन्हीं का अनुसरण करके प्रत्येक समाज कल्याणकारी हो सकता है।

अध्याय १८

वैदिक आर्यों का 'नासत् नोसद्वाद'

जब वैदिकों ने अपने दर्शन की स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की थी तब उन्होंने पूरे दर्शन में ५० तत्त्व आँके थे। इन पचास तत्त्वों का विभिन्न विद्याओं की सरणि से वर्णन करने के लिए उन्होंने इन्हें नाना प्रकार

१—वैदिक दर्शन के तत्त्वों के दो भाग

के विभागों में बाँटा था। वे विभाग सप्तक, अष्टक, दशक और षोडशक आदि हैं, तथा इन सप्तकादिकों के त्रिक भी हैं। परन्तु इन छोटे-छोटे विभाजनों को भी उन्होंने दो मुख्य खण्डों में विभक्त किया था। ये दो विभाजन वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों को ठीक २५, २५ के दो अर्द्धों में बाँट देते हैं। इन दोनों विभागों के मध्यवर्ती तत्त्व के कई नाम हैं जैसे सूर्य, अश्विनौ गर्त (विषुवद्रेखा) चक्षुः, आदि। यह मध्य-वर्ती विन्दु वैदिक दर्शन के तत्त्वों को दो स्थूल नामों से विभाजित कर देता है। पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्वों का नाम असत् है उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्वों का सत्। आदि ब्रह्म न सत् है न असत्, अतः उसे 'नासद् नोसद्' नाम से पुकारा गया था। नासत्=न+असत्=सत्तावान् पर अभौतिक=नोसद्=अभौतिक पर सत् सत्य।

अतः 'नासद् नोसद्वाद' का आधार सदसद्वाद है। यह हमारे परम वैज्ञानिक वैदिकों की अद्भुत खोजों में से एक अत्यन्त रहस्यमय है। ये तब जितने सरल थे अब उतने ही अधिक जटिल बन गये हैं। सदसद्वाद्

२—प्राचीन और नवीन सदसद्वाद

के क्षेत्र में आधुनिक नैयायिक और वैशेषिक असत् का अर्थ केवल 'अभाव' मानते हैं; और यह भी न जाने कैसे मान बैठे हैं कि सारी सृष्टि अभाव से होती है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक जिन्होंने इन शास्त्रों की नींव डाली थी—वे अक्षपाद और कणाद तो 'अभाव' को कोई पदार्थ ही नहीं मानते। उनके मत से 'षडेव पदार्थ' हैं अभाव का वे कहीं नाम नहीं लेते। गीता से निर्धारित सदसद्वाद तो उक्त अभाव से सृष्टि होने के मत का समूल खण्डन कर देता है, यह कार्यकारण-भाव या अन्वयव्यतिरेकी भाव या 'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' से जल की तरह तरल और स्पष्ट है।

बात यह है कि मध्ययुग में नागार्जुन और वसुबन्धु (विक्रम ३००) जैसे बौद्धों के धुरंधर विद्वानों ने भारत में जिस अनात्मवाद के डंके को बजाना चाहा था उसी के प्रतीकार में शंकराचार्य प्रभृति ने अपना

३—अभाव को तत्त्व मानने का कारण

शारीरक भाष्य लिखा था, और उन्हीं बौद्धों को ठगने या हराने के निमित्त मध्ययुग के नैयायिक वैशेषिकों ने 'अभाव' को सप्तम पदार्थ मानकर इसके खोखले जाल में उन्हें ऐसा

जकड़ा कि कोई बौद्ध या जैन इनकी तर्कना के जाल से न बच सका। पर अब तो हमें अपने वेदों के सदसद्वाद को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने की चेष्टा करनी ही पड़ेगी।

अब हम सत् और असत् नामक वैदिक दर्शन के तत्त्वों की व्याख्या वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में उपलब्ध अङ्कित और व्याख्यात रीति से देने का प्रयास करेंगे। सत् और असद् का सम्बन्ध सेतुबन्ध रामेश्वर का सा पुल है जो ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश का द्वार खोल देता है। सचमुच में वैदिकों ने इनके मिलन बिन्दु का नाम सेतु ही रखा है जैसे—

४—सदसद्वाद का सेतुबन्ध

"अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः॥"
(ऋ० वे० १०-६७-४)

यहाँ सत् को अनृत कहा है असत् को सत्य नाम से पुकारा है, असत् सत्य सृष्टि है, सत् या भौतिक सृष्टि को अनृत कहते हैं (द्यावापृथिवी देखें)।

जिसको 'असत्' नाम से कहा जाता है उसी का एक दूसरा प्रसिद्ध वैदिक नाम 'ऋत' भी है और 'सत्' का नाम 'अनृत' है। यहाँ पर दोनों ढंग के शब्दों में विरोध सा प्रतीत होगा, पर इनके भाव में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। ब्रह्मणस्पति आदि तत्त्व हैं, गणपति है उसे 'ऋतप्रजात' (२-२३-१५–बृहस्पते अति यदर्यो-) कहा है तथा साथ में उसी को यह भी कहा है कि तुम्हारा उद्गम 'असत्' है।

५—असत्सत् और ऋता-नृत या सत्यानृत

"तेजिष्ठया तपनी···आविस्तत् कृष्व यदसत् त उक्थ्यं बृहस्पते वि परिरापो अर्दय।"
(२-२३-१४ ऋ० वे०)

उसे तुम आविष्कृत या प्रगट करो। इसी 'ऋत' या असत् ही को 'ऋतम् बृहत्' भी कहते हैं। इसी बृहत्=वाणी का पति ही बृहस्पति भी कहलाता है और बृहत्=ब्रह्म=५० तत्त्वों का पति ब्रह्मणस्पति या गणानां तत्त्वानां (५०) पति गणपति भी। जिस ब्रह्म का विकास होता है या जो विकास होते हैं उन्हें 'अनृत' या सत्य या सत् कहते हैं। यह तब कहा जाता है जब ब्रह्मणस्पति को वृषभ आदि नामों से पुकारते हैं जैसे "अनानुदो वृषभो······असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिणः॥" (२-२३-११)। ऋग्वेद १-१०५-४, ५, ६ में ऋत और अनृत की व्याख्या करते हुए 'सत्य' या सद् को नव्य उक्थ कहा गया है, आदि उक्थ तो असद् या ऋत है यह बतलाया जा चुका है।

"नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥"
(ऋ० वे० १-१०५-१२)

यहाँ पर जिसे नवीन उक्थ या सत्य कहा है उसे सर्वप्रथम उदित करने वाला तत्त्व 'सूर्य' (२५ वाँ तत्त्व) भी बतलाया गया है। इतना ही पर्याप्त है जिससे असत् और सत् और ऋत तथा अनृत की सीमाओं का निर्धारण ५० तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध रूप के २५, २५ तत्त्वों में हो जाता है। यह सूक्त बहुत ही श्रेष्ठ है इसमें वही भाव निहित है जो छान्दोग्य ६-८ से १६ तक के "तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" वाक्य में मिलता है "अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्।" (ऋ० वे० १-१०५-७) यही भाव १०-४८, १०-४९ के सूक्तों में भी मिलता है। यजुर्वेद में इसके समानान्तर भाव रखने वाले दो मंत्र हैं "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि" (यजु० २-२८) और "इदमहमनृतात्सत्य-मुपैमि॥" (यजु० १-५) शतपथ ब्राह्मण उक्त दोनों मंत्रों की व्याख्या प्रारम्भ में ही देते हुए लिखता है "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।" (श० प० ब्रा० १-१-१-४, ६)। यहां पर शतपथ ब्राह्मण ऋत के देव रूप को सत्य नाम से पुकार रहा है। यह असत् को ही 'सत्य' नाम से पुकार रहा है। यहाँ सत्य शब्द सत्ता वाचक है 'सत्' के भौतिकता का वाचक नहीं। देवरूप सत्य है, मनुष्य अनृत है। अनृत का उलटा ऋत ही सत्य है, यही भाव तै० उप० के 'ऋतं चाधीयीत' 'सत्यं चाधीयीत' का भी है। शतपथ के वाक्य 'अनृतं मनुष्याः' में 'मनुष्य' शब्द हम आप जैसे मनुष्यों के लिए न होकर 'नृषद्' चतुर्थ सप्तक के नृ या नर तत्त्वों के लिए है। चतुर्थ सप्तक से ही भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है, उन्हीं चतुर्थ सप्तकीय नर रूप तत्त्वों को या सत् या भौतिकात्मा तत्त्वों को ही अनृत कहा है। इन भौतिक तत्त्व रूप मनुष्यों की 'मनुष्येभ्यो देवानुपैति' भौतिकता से अभौतिक या आध्यात्मिक देव रूप प्राप्ति की कामना की गई है। श्वेतकेतु या चन्द्र या श्वेतध्वजा का भौतिक दिव्य शरीर है, वह वही है जो ब्रह्म या असत् था और अब विकसित होकर श्वेतकेतु या चन्द्र बना है, जिसके तुम चन्द्र या श्वेतकेतु बने हो, तुम उसी के प्रतिनिधि या वही हो, वही तुम्हारा मूल है, इसीलिए कहा है "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि।" उसका अन्तिम परिणाम 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' अर्थात् भौतिकता से अभौतिक रूप पा जाना है।

६—असत्सन्महिमा और उत्पत्ति

ऋग्वेद में भी महत्त्वाकांक्षा की गई है कि 'यदि इन्द्र प्रसन्न होकर हमें 'असत्' की प्राप्ति करा देता तो कितना अच्छा होता "कुवित्तस्मा असति नो भराय न सुष्विमिन्द्रोऽवसे मृधाति॥" और ६-२४-५ में असत् को 'अद्य' (आज) और सत् को श्वः (कल) कहकर अहोरात्र मार्ग से सदसत् की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इन्द्र ने आज कुछ या असत् की उत्पत्ति की और कल कुछ और की या कल सत् की, यह वह बारम्बार करता रहता है "अन्यदद्य कर्वरमन्यदु श्वो ऽसच्च सन्मुहुराचक्रिरिन्द्रः॥" यह असद् और सद् तत्त्वों के विभाजनों को तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की सरणि में दे रहा है।

इन्द्र १७ वें से ३२ वें तत्त्व तक रहता है। (आज) अद्य २४ तत्त्व तक है, और श्वः (कल) २६ वें से ५० वें तत्त्व तक, प्रथम दिन है द्वितीय रात, प्रथम शुक्ल पक्ष है, द्वितीय कृष्ण पक्ष। असत् और सत् को परमे व्योमन या तत्त्वाकाश में बतलाते हुए यह भी लिखा है कि दक्ष का जन्म इन दोनों (अदिति) के मध्य (उपस्थे) हुआ। दक्ष से 'सत्' की उत्पत्ति आरम्भ होती है। यह भी पूर्वोक्त ऋचा का पूर्ण समर्थन कर रही है—

> असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
> अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥"
> (ऋ० वे० १०-५-७)

यहाँ पर असत् नामक तत्त्व को ऋत नाम से पुकारते हुए उससे सर्वप्रथम अग्नि नामक तत्त्व की तथा वृषभ नामक ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति की धेनु या वाणी के जन्म होने की बात लिखी है। धेनु नाम वेदों में वाणी का ही है "देवीं वाचं···'धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु" (८-१००-११) "वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारः स्वधाकारो हन्तकारो वषट्कारश्च" (बृह० उप० २-१-५-१)। वसिष्ठ जी इसी वाग्धेनु के दो स्वरूपों को सद् और असद् बतलाते हुए कहते हैं—

> "सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
> तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥
> ······हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥"
> (७-१०४-१२, १३)

इस उद्धरण में सोम असत् और सत्य की रक्षा करनेवाला कहा गया है। सत् असत् के विभाजन तो वैज्ञानिक हैं जिसको जानने के लिए ज्ञानी लोग बड़े उत्सुक रहते हैं, यह बात प्रथम पंक्ति साफ कह रही है। जिस असत् का सोम हनन करने वाला कहा गया है वह सदसत् विभाजनीय तत्त्वों का सूचक नहीं है वरन् सदसद् वाणी का है। यहाँ पासा उलटा पड़ा है। सत् की वाणी असत् आसुरी होती है, असत् की सत् या दैवी। अतः सोम तो असत् या आसुरी वाणी का हन्ता है। वह चाहे सत् की हो या असत् की। ये दोनों प्रकार की वाणियाँ इन्द्र या तैजसात्मा की हथेली में नाचती रहती हैं। ऋग्वेद ८-२०-१७ में मरुतों को जो द्वितीय सप्तक के स्थानवासी हैं, युवानः और असत् नाम से पुकारा गया है "यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः। युवानस्तथेदसत्॥" यहाँ पर रुद्र को असुर और वेधा (ब्रह्मा) भी कहा गया है। आगे चलकर ऋग्वेद ८-८९-४ में इन्द्र को भी असत् नाम से पुकारा गया है "अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित्ते असद् बृहत्॥" इन्द्र मनः स्वरूपी है, अतः उसके मन को ही 'असद् बृहत्' ठीक उसी ढंग से कहा गया है जैसे ब्रह्म को 'ऋतं बृहत्' कहते हैं। ऋग्वेद १०-७२-२, ३ में तो यह स्पष्टतया लिखा है कि वैदिक दर्शन के तत्त्वों के निर्माण में यह निर्धारित किया गया था कि आदि तत्त्व असत्

(अभौतिक) है उसी से सत् या भौतिक तत्त्वों की सृष्टि हुई। इस मंत्र का अधिष्ठाता देवता ब्रह्मणस्पति है उसने लोहार (कर्मठ) की तरह (काम) धौंकना आरम्भ किया तो तत्त्वों में प्रथम तत्त्व असत् निकला, इसका दूसरा नाम उत्तानपात् भी है। उससे सत् की उत्पत्ति हुई, उसी से आशायें, दिशायें उत्पन्न हुईं। उक्त उत्तानपाद् का एक और नाम 'भूः' भी है। उससे भुवः की उत्पत्ति मानी गई है, भुव से दिशायें।

"ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां (तत्त्वानां) पूर्व्य युगे (पूर्वार्द्ध) ऽसतः सदजायत (उत्तरार्द्ध)।
देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥"

७—असत् से सृष्टि का आरम्भ

सृष्टयुन्मुख ब्रह्म का नाम 'काम ब्रह्म' है जिसे उत्तरवर्त्ती ब्राह्मणों और उपनिषदों ने 'ऐक्षत', 'यदृच्छा' और 'काम' नाम से पुकारा है। यह 'काम ब्रह्म' ब्रह्म की तत्कालीन मानसिक हलचलों से युक्त पुरुष कहलाता है। मानसिक हलचलें वाक्स्वरूपिणी हैं, शब्द ब्रह्म रूपिणी हैं जिनसे तीसरा तत्त्व 'प्राण जाग्रत होता है, और वह काम ब्रह्म 'मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्' बन जाता है, पर वह कहलाता 'असत्' ही है। इस त्रिवृत् से सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। इसे आरम्भणीय 'कः' ब्रह्म कहते हैं। अतः ऋचा लिखती है कि वैदिक आर्यों ने दार्शनिक निरूपण में उक्त काम ब्रह्म के रेतः रूप 'मनोवाक्प्राणत्रिवृत्' नामक असत् तत्त्व से सत् नामक तत्त्व के उत्पन्न होने के सम्बन्ध का ज्ञान किया था। जैसे—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-४)।

यह तो असत् या सृष्टयुन्मुख काम ब्रह्म तथा उससे उत्पन्न होने वाले सत् के सम्बन्ध मात्र की बात रही। उससे पहिले प्रलय काल में ब्रह्म की परिस्थिति या स्वरूप कैसा रहा होगा? इस पर वैदिक ऋषि हिचकिचाते हुए कहते हैं "उस स्वरूप को कौन जानता है? या केवल कः प्रजापति ही जानता है? कौन कह सकता है कि यह सृष्टि आदि में किस रूप में थी या कः प्रजापति ने ही हमें बताया कि यह इस प्रकार हुआ। जितने तत्त्वों या देवों की हमने कल्पना की है। वे सब उसके अगले विकास श्रेणियों के प्रतीक हैं, यह कः प्रजापति जानता है। इस सृष्टि का आरम्भ किस स्वरूप के आदि तत्त्व से हुआ होगा? जो यह सृष्टि व्यक्त स्वरूप में दिखाई दे रही है, उसका कोई प्रारम्भिक बीज रहा होगा या नहीं यह स्पष्ट कहना उसके लिए भी सम्भव नहीं प्रतीत होता जिससे इसकी उत्पत्ति हुई, जिसे हम इस सृष्टि का अध्यक्ष कहते हैं" जैसे—

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-६-७)

वैदिकों की इस वचनावली का तात्पर्य आदि ब्रह्म को कुछ 'अनिर्वचनीय' 'अप्रतर्क्य' और 'अचिन्त्य' कहने का सा प्रतीत होता है। क्योंकि उन्होंने फिर भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा से विरक्ति नहीं दिखलाई है। उस आदि स्वरूप की साहित्यिक और दार्शनिक व्याख्यायें दे गये हैं। उनके मन में यह भ्रम बैठ गया था कि भविष्यत् काल के वेद व्याख्याता 'असत्' माने कहीं 'अभाव' या 'बुरा' अर्थ न लगाने लग जायँ, इसलिए वे उस आदि ब्रह्म को 'नोसत्' कह गये; तथा इस भ्रम को मिटाने के लिए कि लोग सत् माने 'भाव' या 'अच्छा' न समझ बैठें इसलिए आदि ब्रह्म को 'नासत्' कह गये। इन्हीं दो मूर्द्धन्य शब्दों से उन्होंने 'नासदीय सूक्त की रचना आरम्भ भी की है जिसके आदि के तीन मन्त्र ये हैं—

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-१, २, ३)

इन मन्त्रों की व्याख्या भी शतपथ ब्राह्मण तथा कई उपनिषद् दे गये हैं।

शतपथ ब्राह्मण में नासदीयसूक्त के प्रथम मंत्र की व्याख्या इस प्रकार है।

८—असन्नामक ऋषियों से सृष्ट्यारम्भ

"नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् तद्ध तन्मन एवास ॥१॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति। नेव हि सन्मनो नेवासत् ॥२॥ तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्। निरुक्ततरं मूर्त्ततरं तदात्मानमन्वैच्छत् तत्तपोऽतप्यत। तत्प्रामूर्च्छत् तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान् मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त······। तन्मनो वाचमसृजत······सा वाक् प्राणमसृजत······स प्राणश्चक्षुरसृजत······॥" (श० प० ब्रा० १०-५-३, १, २, ३, ४, ५, ६) का सृष्ट्युन्मुख ब्रह्म केवल 'मनोब्रह्म' रूप था जिसे काम ब्रह्म कहते हैं उसका स्वरूप इतना अतितम सूक्ष्मतम था कि उसे न तो सत् ही या भौतिकवान् ही कह सकते हैं न उसे असत् या अभौतिक ही। वह कुछ ऐसा अस्तित्ववान् सा था जिसे वह अस्तित्ववान् था कहने में भी संकोच सा

होता है, और ऐसा अस्तित्ववान् था जो बिलकुल नहीं सा था कहना भी अनुचित न हो। जो कुछ था वह था केवल मनः स्वरूपी। वह मन ऐसा था जिसे न तो सत् या भौतिक कहा जा सकता है न उसे नितान्त अभौतिक या असत्। वह इन दोनों का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण था जिसे सत्, असत्, भेदक पारिभाषिक शब्दों से कहने के बदले अभेदक नासत्, नोसत् नाम से पुकारना अधिक वैज्ञानिक या दार्शनिक प्रतीत होता है। इसीलिए 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' पद वाली उपयुक्त भाषा में इसे प्रारम्भ किया गया है। शतपथ ब्राह्मण ने 'असत्' को पुनः प्राण या ऋषि नाम से पुकारते हुए इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "असद्वा इदमग्रआसीत् तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीद् तदाऽऽहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुराऽस्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस्तस्माद्दषयः॥" (श० ब्रा० ६-१-१-१)। अतः असत् माने प्राण या ऋषयः है जो उस समय अभौतिक भौतिक रूप में थे। इतनी सन्देह हीन भाषा में असत् की व्याख्या दे देने पर भी कोई असत् माने अभाव समझता चला जाय तो बिलकुल लाचारी ही है। सचमुच यहां पर सत्, असत् या नासत्, नोसत् संज्ञायें भाव, अभाव या सत्ता असत्ता के वाचक नहीं हैं। यहां उसको केवल सूक्ष्मता मात्र के लिए असत् कहा जा रहा है। और ब्रह्म चाहे किसी भी स्वरूप में रहे, चाहे प्रलयावस्था में रहे वा सृष्टिक्रमावस्था में या व्यक्त सृष्टि में, वह अकेले या अलग शुद्ध ब्रह्म रूप में किसी भी प्रकार नहीं रह सकता। प्रलय में भी ब्रह्म एक तथा एकात्मीय रहते हुए भी कुछ भौतिक बीजों से युक्त रहता है। उस स्थिति में भौतिक बीज आत्म रूप में रहता है, अपार्थक्य रूप में रहता है। भौतिक तत्त्वों* के मूल बीज युक्त होते हुए भी अभौतिक स्वरूप में रहता है, भौतिकता के इस अभौतिक स्वरूप का ही नाम शुचिषद् या द्यौ है। वही आगे मनोवाक्प्राणों के त्रिवृत् में क्रमशः परिवर्तित होकर सर्वप्रथम कः प्रजापति कहलाता है जिसका विकास खं ब्रह्म में, खंब्रह्म का पाक या योनि या वेदि में होकर दुरोण या अतिथि या जातवेदा में होता है। मूल भौतिकता का यह क्रमिक विकास ही जीवात्मा, तैजसात्मा का सृष्टि क्रम कहलाता है। तैजसात्मा से २५ वें तत्त्व में मूल भौतिक अपने दिव्यशरीरी अणोरणीयान् पूर्णभौतिक देहात्मा में विकसित हो जाता है। इसे तब 'सत्' या मृत्यु नाम से पुकारते हैं। इसके पहिले के असत् (खं ब्रह्म जीवात्मा तैजसात्मा) को अमृत या नित्य कहते हैं। ब्रह्म आदि से अन्त तक अपने एक मात्र अविकृत चेतन ज्ञान कूटस्थ, प्रकाश, आनन्द रूप में उक्त चारों आत्माओं के साथ रहता है। सृष्टि क्रम के ५० विकासीय तत्त्वों में विकास या ह्रास बस इसी अभौतिक भौतिक या असत् और भौतिक सत् का ही होता है। ब्रह्म तो नित्य अविकृत एक ऋतं और बृहत् है।

* स सैन्धवघनः विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविशति तप्रेत्यत्संज्ञाऽस्ति।

जिन्हें असद् कहते हैं वेही नासद्, नोसद् हैं, या अभौतिक भौतिक हैं। इसीलिए इन्हें त्रिधात्मा या त्रिपादामृत कहते हैं। सोम या चतुर्थ पाद भी अमृत है और पूर्ण सद् है पर उसके अकले विकास मरण-धर्मा हैं। प्रलय कालीन ब्रह्म के अभौतिक भौतिक तत्त्व को ही नासद्, नोसद् कहते हैं, ब्रह्म तो विलक्षण रूप से सूक्ष्म है, उसमें नासद्, नोसद् विशेषण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में वह नासद्, नोसद् अभेद रूप में रहता है। इसलिए उसको भी लक्षणतः नासद्, नोसद् कहा गया है। और इसीलिए वैदिकों ने ब्रह्म व्याख्या को सदा उक्त मिथुन रूप में ही सर्वत्र वर्णित किया है, अकेले नहीं। उस ब्रह्म में अखिल ब्रह्माण्ड के सब तत्त्वों के बीज एक बीज रूप में रहते हैं, अभौतिक भौतिक रूप में रहते हैं, इसलिए ब्रह्म को 'एक' तो कहना चाहिए पर उसे अनेक या अनन्त या बह्वः ही समझना चाहिए। यह हमारे वैदिकों का निश्चित और निर्णीत सिद्धान्त है। ब्रह्म के सोने की कल्पना इसी भावना पर आधारित है। वह अभौतिक भौतिक बीज निऋति में सोता है जैसे "स एतैः सुप्तः न कस्यचन वेद न मनसा संकल्पयति न वाचान्नस्य रसं विजानाति····सर्वमग्निमनुविभवत्यथ यदेक एव तस्मादेका। तदाहुः एको मृत्युर्बह्वा इत्येकश्च बह्वश्चेति ह ब्रूयाद्य-दहासावमुत्र तेनैकोथ यदिह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बह्वः (श. प. ब्रा० १०-५-२-१५, १६)। अब शेष मंत्रों का अर्थ स्वयं सरल हो जाता है। उस प्रलय कालीन ब्रह्म में न तो रजः रूप भौतिक तत्त्व था, न परमे व्योमन् या ५० तत्त्वों में प्राप्त अभौतिक भौतिकता, (पूर्वार्द्ध की) या पूर्ण भौतिकता (उत्तरार्द्ध की) यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस ब्रह्म को बाहर से किस तत्त्व ने आवृत कर रखा था ? वह किस स्थल में रहा होगा ? किस अवस्था में था ? क्या कः ब्रह्म के पूर्वरूप में था या केवल आपो ब्रह्म रूप में जो केवल वैद्युतीय तरंगों का ही गम्भीर संघर्ष रूप था; उस अवस्था में न तो मृत्यु या संघर्ष हीनता थी न अमृतत्व। क्योंकि मृत्यु और अमृत दोनों उस स्वरूप के अग्रिम विकासों के नाम हैं। वहाँ न तो रात थी न दिन, क्योंकि रात का आरम्भ २५ वें आरम्भ-णीय काम ब्रह्म के कः प्रजापति स्वरूप से होता है और दिन का आरम्भ वसु नामक तत्त्व से। उस समय अग्नि हीन, वात हीन स्वरूप में शान्त प्राण रूप में जिसे 'स्वधा' कहते हैं (स्वं प्राणान् धारयतीति स्वधा)। ऐसे प्राणों को छोड़ और कुछ नहीं-सा था। ये प्राण भी अभौतिक भौतिक स्वरूप मूल बीज युक्त ब्रह्म स्वरूप में थे। जो अभौतिक-भौतिक स्वरूप प्राण थे। वे उस शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म के चारों ओर तमो रूप में जैसे व्याप्त प्रतीत होते रहे। तमः नाम भौतिक तत्त्व का है। ऋग्वेद १-३२-१० में वृत्र भौतिक तत्त्व ही को 'तमः' नाम से पुकारा गया है। "वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।" दोनों मंत्रों के भावों का यहाँ पर बिलकुल साम्य भी है। क्योंकि यहाँ भी उक्त ऋचानुरूप 'अप्रकेतं सलिल सर्वमा इदम्' वाक्य कहा गया है। यहाँ

९—असत्सद् और नासन्नोसद्

सलिल या आप वैद्युतीय मण्डल का व्याख्यान कर रहे हैं हमारे जैसे जल का नहीं। एक नई बात कह रहे हैं, कि भौतिक चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो, अभौतिक स्वरूप या त्रिपादामृत रूप में ही क्यों न हो, वह सब उस बृहद् ब्रह्म के सामने बिलकुल तुच्छ या एक अत्यन्त संकीर्ण छोटा क्षुद्र तत्त्व है। फिर भी उस ब्रह्म ने इससे अपने को आवृत करना या अपने से उसे व्यावृत करना स्वीकार किया। और उसमें धीरे-धीरे तेज या उष्णता का आविर्भाव होने लगा, पर रहा एक ही। इस अन्तिम वाक्य के 'तपः' शब्द की व्याख्या पुरुष में की गई है जिसका उल्लेख ऊपर दिये हुए श. प. ब्रा० १०-५-३-१ आदि के उद्धरण में तथा अन्यत्र सर्वत्र मिलता है। "तदात्मानमन्वैच्छत् तत्तपोऽतप्यत" इत्यादि।

यजुर्वेद ने उक्त सिद्धान्त संदेह हीन भाषा में प्रस्तुत किया है—

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः।
१०—यजुर्वेद में असत्सद् स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥"
(१३-३)

यहाँ पर सीधे-सीधे कहा है कि ब्रह्म तो 'सत्' और 'असत्' दोनों की योनि या मूल बीज या बीज धारक गर्भ है या हिरण्य गर्भ है। हिरण्य तो सत् और असत् है, उनका गर्भ ब्रह्म है, वह सत्य है। इसीलिए अन्यत्र कहा है "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" (४०-१७)। यदि ये सद्, असद्, भाव, अभाव वाचक होते तो उनके जन्मदाता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ पर 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादि मंत्र के भाव को मन में रखकर 'सबुध्न्या उपमाऽस्य विष्ठाः' पद कहा गया है जिससे वह ब्रह्म के विकास को सृष्टि वृक्ष के रूप में वर्णित कर रहा है। श. प. ब्रा० ७-३-१-१४ में ब्रह्म 'असौ वाऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्तात् जायते' यह आदित्य द्वादशादित्यों का आदित्य नहीं वरन् 'कः' ब्रह्म का 'अर्थ' है जिसका खुलासा ऐतरेय ब्राह्मण १-४-१९ में स्पष्टतया करते हुए लिखा है कि इस मंत्र का 'ब्रह्म' शब्द आदित्य वाची नहीं, परब्रह्म या बृहस्पति का ही वाचक है जैसे "ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति प्रतिपद्यते। ब्रह्म वै बृहस्पति र्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यतीयं पित्रे" इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण ब्रह्म को 'असावादित्य' इसलिए भी कह रहा है कि कर्मकाण्ड में ब्रह्म का अभिनय हमारे देदीप्यमान सूर्य द्वारा ही किया जाता है। अस्तु, मंत्र का अर्थ ब्रह्म परक स्पष्ट है कि पुरस्तात् या पूर्वार्द्ध में ब्रह्म प्रथम विकसित होता है, फिर 'विसीमतः' अर्थात् मध्य के २५ वें तत्त्व से वह सुरुच, वेन और भौतिक आवरण वाला बन जाता है, वह सबुध्न या समूल या सादक् हो जाता है। दिशायें ही भौतिकता की मूल हैं। दिशाओं का सम्बन्ध भौतिक तत्त्व से है, जो अभौतिक तत्त्व भौतिक या केवल अभौतिक है उसका दिशाओं से कोई सम्पर्क नहीं हो सकता, वह तो एक है, अणोरणीयान् है, उसकी कैसी या क्या दिशायें होंगी ?

अब इन सद्, असद् की व्याख्याओं को उपनिषदों में भी देख लें। सबसे पहिले तैत्तिरीय उपनिषद् एक लिखता है।

"असद्वा इदमग्र आसीत्ततो सदजायत। तदात्मानं
स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते।"

११—उपनिषदों में असत्सद्

और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी लीजिए। वह लिखता है "नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाय-याशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपो-जायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेत-दर्कस्यार्कत्वम्॥" (बृ० उप० १-२-१)। यह पूरा परिच्छेद नासदीय के प्रथम मंत्रों की पूरी वैज्ञानिक व्याख्या सी दे रहा है। जिसको नासन्नोसद् कहा गया है, उसी को मृत्यु नाम से दोनों स्थलों में पुकारा गया है। मृत्यु की परिभाषा अशन और अनशन हीनता बतलाई गई है। ऐसे तत्त्व ने मनस्वी होने की प्रथम कामना को, तप से अप् की सृष्टि हुई वह अर्क कहलाया। अब छान्दोग्य को लीजिए। वह लिखता है "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत् तु एव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (२-१) यह उपनिषद् परम्परा से चली आती हुई प्रथा का स्पष्ट उल्लेख करता है कि कुछ लोग कहते हैं कि पहले असद् था; उसी से सद् निकला। यह उपनिषद् 'नासद्-नोसद् शब्दों को बिरा रहा है और जो लोग असद् को 'अभाव' समझते हैं, उन्हें समझाने के लिए एक प्राचीन सिद्धान्त की रूपरेखा अपने शब्दों में प्रस्तुत करता है कि कार्यकारण भाव सर्वत्र लागू होता है; अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सद् या भाव की उत्पत्ति सत् या भाव से ही हो सकती है। जो लोग असद् से सद् की उत्पत्ति मानते हैं वे असद् को अभाव अर्थ में प्रयुक्त न करके भाव या सद् अर्थ में करते हैं। अतः समस्त सृष्टि का मूल सद् या भाव है उसे कोई किसी नाम से पुकार ले चाहे उसे सद् कहे, नासद् कहे, नोसद् कहे या असद्, वह किसी न किसी रूप में सद् ही है। छान्दोग्य के इस कथन के संकेत से गीता ने कार्यकारण भाव सिद्धान्त को "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" पद से प्रतिष्ठापित भी किया है। छान्दोग्य यहाँ पर एक तीर से दो पक्षियों का आलभन कर रहा है, (१) वैदिकों के प्राचीन नासद्, नोसद्वाद (२) के साथ-साथ उनके कार्यकारण वाद की स्थापना जिसके लिए उसे 'असद्' शब्द को श्लेष द्वारा 'सद् और अभाव' दो अर्थों में प्रयुक्त करना पड़ा है, अन्यथा छान्दोग्य उपमंत्रभाग या ब्राह्मण भाग के विरुद्ध कदापि नहीं जा सकता, न ऐसा करने का उसका अभिप्राय है, केवल भ्रम दूर करने के लिए अधिक स्पष्टता बरत रहा है। गीता के उक्त वाक्य का अर्थ यह भी है कि असत् का कहीं अभाव नहीं है (विद्यते-ऽभावः) और असत् का अभाव भी नहीं हो सकता (विद्यतेऽसतः) तथा सत् का भी कहीं अभाव नहीं है इत्यादि।

वैदिक पारिभाषिक शब्द असद् और सद् के लिए कई अन्य पारिभाषिक

शब्दों का भी प्रयोग वेदों में मिलता है। वे नाम उत्तरायण और दक्षिणायन; रात्रि और दिन; शुक्ल और कृष्ण पक्ष; पुरस्तात् और अवस्तात्; परावत, उत्तरावत और अर्वावत (८-८२-१) या दक्षिणावत; परा और अपरा, उत्तरापथ और दक्षिणापथ; विद्या और अविद्या इत्यादि विभिन्न सूक्तों, मंत्रों और शाखाओं में बिखरे पड़े मिलते हैं। कुछ अन्य वैदिक नाम बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्न दो उद्धरणों में मिलते हैं। "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यं च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रस य एष तपति सतो ह्येष रसः। अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यद् एतत्त्यम् तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत ह्येष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥ अथाऽमूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः एतदमृतमेतद्यदेतत् त्यत् तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य एष रसः॥" (२-४-१-, २, ३, ४, ५)। यहां 'असद्' के नाम हैं अमूर्त, अमृत, त्यत्, यत्; और सद् के नाम हैं:—मूर्त, मर्त्य, स्थित, और सद्। असद् का या अमूर्त का क्षेत्र वायु (द्वितीय-तृतीय सप्तक-मरुत् और मातरिश्वा) तथा अन्तरिक्ष प्रथम सप्तक हैं। ये २४ तत्त्वों के पूर्वार्द्ध के सूचक हैं। सद् या मूर्त का क्षेत्र चक्षु या सूर्य या २५ वें तत्त्व से आरम्भ होकर ५० वें तत्त्व तक है। पूर्वार्द्ध के असद् या अमूर्त नामक तत्त्वों को कोई अमृत नाम से कोई त्यत् नाम से और कोई यत् नाम से पुकारते हैं। मरुतों के लिए और इन्द्र के लिए प्रायः त्यद् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के सूक्तों में सर्वत्र मिलता है। इसी प्रकार यद् का प्रयोग भी 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतं' इत्यादि। मरुतों के प्राणों को अन्तरात्मा भी कहा जाता है। आकाश खंब्रह्म का नाम है। शेष चतुर्थ सप्तक से सप्तम तक सब तत्त्व सद्, स्थित, मूर्त और मर्त्य कहे जाते हैं। यह बात यहां बिलकुल स्पष्ट है। 'रस' नामक तत्त्व इन्हीं असद् और सद् दोनों के स्वरूपों को बतलाता है। रसब्रह्म असद् भी है, सद् भी है या अभौतिक भी है, भौतिक भी। वह तत्त्वों के अनुसार ५० प्रकार की विकास श्रेणियाँ रखता है।

१२—असत्सद् के लिए अन्य पारिभाषिक शब्द

बृहदारण्यक ने उक्त असद् और सद् विभागों के कई अन्य नाम दिये हैं वे हैं नाम, रूप और कर्म जैसे "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म···तदेतत् त्रयं सद् एकमयमात्मा। आत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥" (१-६-१, ३) यहाँ पर 'नाम' असद् वाणी का नाम है। वाणी से नाम नामक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, रूप नाम सद् का

१३—बृहदारण्यक में असत्सद् के अन्य नाम

है। रूप की उत्पत्ति 'चक्षुः' नामक सद् तत्त्व में होती है। "अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्" (वहीं) 'कर्म' का सम्बन्ध आत्मा या द्वितीय सप्तक के वायु से है। ये तीनों अमृत हैं, एक ब्रह्म का नाना नामरूपकर्म भेद से वर्णन करते हैं। ये अमृत प्राण, सद् और नाम नामक सत्य (भौतिक तत्त्व) से आच्छादित हैं, सद् और सत्य में इतना अन्तर है कि सद् तो शुद्ध भौतिक तत्त्व है 'सत्य' शब्द असद् और सद् की ब्रह्म सत्ता का वाचक है इसीलिए कहा है "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" वही (३-१-३-६) इसीलिए "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" भी कहा गया है। हिरण्मय पात्र नाम, रूप और कर्म है 'सत्य' स्वधारूप प्राण है, नाम, रूप, कर्म और असद् सद् से उस ब्रह्म रूप एक सत्य का मुख (स्वरूप) आच्छादित है, इनके आवरण के ज्ञान हटाने पर सत्य ब्रह्म का बोध हो जाता है। यहाँ पर दोनों उद्धरणों के सत्य की व्याख्या एक सी दे रखी है। प्रथम में 'नाम रूपे सत्य' ताभ्यां प्राणान्न और द्वितीय में 'नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राण' लिखा है। दोनों का अर्थ एक-सा है। उपनिषद् का यह भाव ऋग्वेद १०-७१-१ के मन्त्र "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः" के आधार पर लिखा गया है। यहां उपनिषद् देवत्व नामक तत्त्व को गुहा और नामधेय को अविः कहकर, अविः को गुहा में सुरक्षित कहा गया है। गुहा प्रथम २४ तत्त्वों का नाम है। अवि ३ तत्त्व है, पञ्चपशु में चतुर्थ पशु है।

गीता ने ब्रह्म की व्याख्या में "अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते" (१३-१२) में नासदीय सूक्त के पारिभाषिक पदों का प्रयोग किया है, और "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" (९-१९) में ब्राह्मण तथा

१४—गीता में असद्-सद्

उपनिषदों की पारिभाषिक पदावली का सदुपयोग करके उक्त व्याख्यात विषय पर सत्यता की मुहर लगा दी है। छान्दोग्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्याद् असतः सज्जायते' को 'कार्य-कारण सिद्धान्त' के रूप में "नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः" (२-१६) लिखकर समस्त वैदिक भावनाओं के उल्लेख को प्रशंसनीय प्रयास मानकर स्वतः स्पष्ट कर दिया है।

असद् और सद् नाम के विभाजन तो वैदिकों के दर्शन के मुख्य स्तम्भ हैं। इनके कई अन्य नाम भी हैं जैसे शब्द ब्रह्म परक व्याख्या में असद् को अक्षर ब्रह्म और सद् को क्षर ब्रह्म कहा जाता है।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥"

(ऋ० १-१६४-३९)

मंत्र के 'अक्षरे' शब्द में अक्षर और क्षर शब्द का समाहार है। असद् या अक्षर का अन्तिम विकास २४ वाँ ॐ है और सद् से ऊष्माणों का निर्माण

प्रारम्भ होता है तब पञ्चवर्गीय ध्वनियाँ। स्वर और व्यञ्जन नामक ५० विकास तो तात्त्विक विकास हैं, आत्मीय और भौतिक विकास हैं, जिस प्रकार ध्वनियों का विकास होता है, उसी प्रकार तत्त्वों का भौतिक या अभौतिक विकास होता है। स्वर अभौतिक हैं तो ऊष्माण व्यञ्जन भौतिक। इनका मध्यबिन्दु ॐ है जिस आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति के लिए सब उपनिषदों ने यौगिक प्रक्रियायें दी हैं। गीता के 'अत्तरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (८-३) इत्यादि वाक्य वेदविद् दर्शन शाखा के हैं, यह सर्वश्रेष्ठ शाखा है।

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके त्तरश्चाक्षर एव च।
त्तरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽत्तर उच्यते।।" (१५-१६)

ये सब उक्त विभाजन के समर्थक हैं।

उपनिषद् काल में असद् और सद् विभाजनों के दो नये नाम आविष्कृत हुए हैं; वे हैं अव्यक्त (असद्) और व्यक्त (सद्)। इनकी सर्वप्रथम चर्चा कठ और श्वेताश्वतर में "महतः परमव्यक्तं" इत्यादि में मिलती

१५–अव्यक्त और व्यक्त है जिनका संकलन गीता ने

"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।"(८-१८)

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' (८-२१) इत्यादि श्लोकों में किया है। अव्यक्त प्रथम २४ तत्त्वों का नाम है जिनको दिन कहते हैं, अहरागम या दिन का अन्त २५ वें सूर्य नामक तत्त्व में होता है, उसी तत्त्व से व्यक्त या सद् तत्त्व का आरम्भ होता है। प्रलय में व्यक्त अव्यक्त में लीन होता है। इसी अव्यक्त को अत्तर भी कहते हैं। परन्तु आजकल के दार्शनिक लोग तो व्यक्त माने यह दृश्यमान स्थूल ब्रह्माण्ड" समझते हैं। वैदिकों के 'व्यक्त' शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं है, वह उक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है। जहां विष्णु, रुद्र आदि देवताओं के लिए 'अव्यक्तव्यक्त' शब्द आता है, वहां-वहाँ वैदिक अर्थ अभीष्ट रहता है। हां, ब्रह्म को इस अक्षर और अव्यक्त से भी परे का तत्त्व (८-२०, १५-१८) कहते हैं। वह 'नासद् नोसद्' है या अव्यक्ताव्यक्त है। वैदिक असद् या अमूर्त और सद् या मूर्त नामक पारिभाषिक शब्दों के आधार पर सम्प्रदायवादी पौराणिकों ने दो जोड़े के अन्य शब्दों को गढ़ा है। वे हैं निराकार या निर्गुण और साकार या सगुण। इन शब्दों की सृष्टि अवतारवादी कथाओं की भूमिका पुष्ट करने के लिए की गई है। सबसे अधिक प्रचलित अवतारवाद वैष्णवों का है फिर शाक्तों का। विष्णु नामक तत्त्व २६ वां सविता नामक आदित्य है 'आदित्यानामहं विष्णुः' (गीता १०-१०)। यह विष्णु सद् तत्त्व की दूसरी श्रेणी है और नित्य ही सद् मर्त्य (मनुष्य) मूर्त, व्यक्त और स्थित है। अतः उसे उक्त नामों से पुकार कर उनपर पौराणिक कम्बल रूप 'साकार' या अवतार या सांख्य के गुणों के आधार पर सगुण नाम का आवरण डाल कर समस्त सत्य को उक्त हिरण्मय पात्र रूप कथानक से ढक दिया गया है। गीता ने पौराणिकों

के उक्त तथ्य को न समझ सकने वाले विद्वानों की खिल्ली लेते हुए बड़ी मार्मिक भाषा में सत्य को उगल कर रख दिया है कि पौराणिक अवतार के साकार सगुण कथानकों के पेट में कुछ और ही सत्य छिपा है, वैदिक दर्शन का रत्न ढका पड़ा है, उसे ये भद्र लोग नहीं समझ पाते जैसे—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (९-११)

बड़ी विचित्रता तो यह है कि वैदिक दर्शन के जिस चौथे सप्तक में २६ वां तत्त्व विष्णु है उस सप्तक का नाम 'नर' या मनुष्य है 'नृसद्' है। उसी आधार पर मानवी अवतारों की फुलझड़ी लगाने का चतुर आयोजन रहस्यमय कथारूप में किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि विष्णु देवता नित्य ही साकार सगुण मूर्त, मर्त्य और स्थित हैं। यह इषत्कृष्णपिंगल विद्युन्मय है और कृष्ण पक्ष में उत्पन्न होता है। जब इसका लय होता है तब वह निराकार निर्गुण या असद् अमृत त्यत् या यत् बन जाता है तो पहिले इन्द्रमित्र वरुणों में बदलता है। फिर रुद्रों में, फिर वसुओं तब अन्त में ब्रह्म में यही तीन विक्रम वाला विष्णु पूर्वार्द्ध का अमृत या असद् या अव्यक्त या निर्गुण या निराकार है। चतुर्थ सप्तक 'आपः' सागर का है। अतः विष्णु को समुद्रशायी कहते भी हैं। जिसको व्यक्त रूप या सद्रूप विष्णु कहते हैं उसे 'ब्रह्म' या आदि ब्रह्म समझने वाले भी नादान हैं इस बात का वर्णन देने में भी गीता नहीं चूकी है। उसने लिखा है।

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥" (७-२४, २५)

जब सद् या मूर्त तत्त्व या प्रथम भौतिक अणुरूप दिव्य शरीर ही ब्रह्म नहीं है तो जो लोग व्यक्ति को या किसी विशेष कुल में उत्पन्न व्यक्ति को अवतार आदि नाम से उस विष्णु के जन्म जन्मान्तरों में उत्पन्न होना समझते हैं वे भी कम भ्रम में नहीं हैं। यह यहाँ पर गीता स्पष्ट शब्दों में कह रही है। सामाजिक अवतारवाद लाक्षणिक या नैतिक चरित्र शक्ति या प्रतिभा विशेष का द्योतक समझें तो इसका वैदिक दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह भावना धर्म की है जैसे "यदा यदा हि धर्मस्य" वाक्य से सिद्ध है; पर निराकार और साकार की भावना इस प्रकार के अवतार वाद से अवश्य भिन्न है, वह तो चोखा वैदिक दर्शन का पररूप है। निराकार-साकार दोनों रूप भौतिक ही हैं, एक असद् भौतिक है, दूसरा सद् भौतिक, ब्रह्म इन दोनों से परे है। वह नासद् नोसद् ब्रह्म है, व्यक्ताव्यक्त है।

वैदिकों ने असद् से सद् का सम्बन्ध जोड़कर यह बतलाना नहीं भुलाया है कि जब असद् भौतिक तत्त्व से सद् भौतिक दिव्य शरीर रूप में उदित हुआ तो उस समय उसका स्वरूप क्या था? इसकी चर्चा करने में उन्होंने अपने दर्शन की जो स्पष्ट रूपरेखा बनाई थी उसको अक्षरशः कार्यरूप में परिणत करते हुए लिखते हैं

१६—सत् का स्वरूप

कि सद् नामक भौतिक तत्त्व का पूर्व रूप सूर्य नामक २५वें तत्त्व से होता है, जब देवता भुवनों का २४ तत्त्व रूप तीन भुवनों का भूः, भुवः, स्वः या प्रथम, द्वितीय, तृतीय सप्तक का निर्माण कर चुके तब उन्होंने समुद्र रूप चतुर्थ सप्तक में सर्वप्रथम सूर्य की सृष्टि की। यह सूर्य २५वां तत्त्व है, यहां से दिन का आरम्भ होता है। यह "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर रूप भौतिक आत्मा (चतुर्थ आत्मा) है। जैसे

"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥" (ऋ० वे० १०-७२-७)

इस सूर्य रूप भौतिक दिव्यशरीरी तत्त्व से सर्व प्रथम एक ऐसा तीव्र गति का 'रेणु' उत्पन्न हुआ जो दशों दिशाओं में नाचने सा लगा। उस समय वह सूर्यरूप भौतिक दिव्य शरीर विद्युत् तरंगों के समुद्र के समान था जिसमें प्रचण्ड संघर्ष चल रहा था, उसी संघर्ष के परिणाम स्वरूप यह सद् नामक प्रथम भौतिक अणु उदीयमान हुआ। जैसे—

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥"
(ऋ० वे० १०-७२-६)

एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामा—
युः क्षिणोति·······एष उऽएवान्तकः········ ॥
(श० प० ब्रा० १०-४, ३, १, २)

अन्त में आर्य समाज में प्रसिद्ध 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय" का अर्थ दे देना एक बड़े सनसनीपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करेगा। आर्य समाजी या कोई भी समाजी उक्त तीन वाक्यों का अर्थ असद् और सद्; मृत्यु, अमृत और तमः ज्योति का अर्थ लौकिक संस्कृत के शब्दों के समान लगाकर यह कह कर कि बुराई से भलाई में ले जाओ, अंधेरे से उजाले में ले जाओ, मृत्यु से अमर बनाओ इत्यादि, इन वाक्यों को वैदिकार्थ आत्मा का हनन करते हैं, यह उक्त संदर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए बृहदारण्यक की इस मन्त्र की व्याख्या स्वयं अपने मुँह से बतला देगी। १-३-२८ में इस उपनिषद् ने उक्त तीन वाक्यों का भाष्य इस प्रकार दिया है "अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति। स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेद्, असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असद् सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत। यं कामं कामयेत्।" पिछले समस्त परिच्छेदों के विवेचनों से यह स्पष्टतया विदित हो चुका है कि

१७—असतो मा सद्गमय आदि की व्याख्या

असद् और सद् ये दो तत्त्व वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध और परार्द्ध के वाचक हैं। तथा यह ध्यान में रखते हुए कि बृहदारण्यक ने मृत्यु और असद् तत्त्वों को सृष्टि के आदि काल की स्थिति बतलाया है 'मृत्युनैवेदमावृतमासीद्'। यह मृत्यु स्थिति अशनया अनशनया रहित बतलाई गई है ऐसा तत्त्व पूर्वार्द्ध की आसुरी शक्तिहीन होता है। आसुरी शक्ति का नाश मृत्यु है और पूर्वार्द्ध में आसुरी शक्ति नहीं है। अतः वहाँ इसकी मृत्यु है मृत्यु तत्त्व यही नहीं अन्य भी हैं जैसे मृत्यु नाम पूर्वार्द्ध के संवत्सर ब्रह्म का है। आदि से लेकर २६ वें सोम तक के विकासों को पद्धति में उत्तरोत्तर तत्त्व के विकास के बाद पूर्व-पूर्व के तत्त्व की आसुरी मृत्यु को मृत्यु नाम से पुकारा गया है। जब सोम चन्द्र रूप में उदित हो गया तब आसुरी मृत्यु का अन्त हो गया। अतः चन्द्र या सोम चमकता है। (बृह० उप० १-३-९ से १६ तक) अतः यहाँ पर इसी के अनुरूप व्याख्या देते हुए लिखा है 'मृत्युर्वा असद् सदमृतं' कि असद् पूर्वार्द्ध की आसुरी शक्ति का नाश है, उत्तरार्द्ध का सद् अमृत रूप है। अतः 'असतो मा सद्गमय' का सीधा अर्थ यह हुआ कि मुझे पूर्वार्द्धीय दैवी सृष्टि से उत्तरार्द्ध की दैवी भौतिकता में विकसित कर दो। इस बात का समर्थन अन्यत्र भी इसी उपनिषद् ने किया है। पूर्वार्द्ध के त्रिपादमृत को 'तदेतत्रयं सदेकमयमात्मा कहकर तदेतदमृतं सत्येन छन्नं, प्राणो वा अमृतं (सोम) नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' वाक्य द्वारा सद् को अमृत (सत्य) कहा है। अतः प्रार्थना की है कि मुझे भौतिकात्मा के अमृत रूप में परिणत कर दो। पर जब सद् रूपी अमृत या भौतिकात्मा मिल जाती है तब उसमें या उत्तरार्द्ध में रात्रि या दक्षिणायन का अन्धकार या आसुरी शक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रार्थना की है कि सद् रूपी अमृत मिलने पर भी हमें पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत की दैवी ज्योति को सदा प्राप्त रहने दो। इस प्रकार मुझे दोनों प्रकार की आसुरी मृत्युओं से अमृत ही दो, सद् में भी अमृत दो, उसके तमोरूप में भी अमृत ही दो। एक अमृत भौतिकात्मा है इसमें आसुरी मृत्यु से छुटकारा है, जिससे रात्रि के तमोरूप आसुरी मृत्यु से छुटकारा पाकर त्रिपादमृत की अमृत ज्योति मिलती रहे।

अध्याय १९

वेदों में अग्नि

१—वेदों में अग्नि की महिमा

जिसने वेदों को योंही उलट-पुलट कर भी देखा होगा, उसे विदित होगा और वह यह देखकर चकित भी हुआ होगा और ऊब कर भिन्नाया भी होगा कि समस्त वेदों का लगभग एक तिहाई से अधिक भाग केवल 'अग्नि-देवता' से सम्बन्ध रखता है। बात यह है कि वेदों में केवल एक अग्नि का नहीं वरन् अनेकों अग्नियों की व्याख्या दी गई है जिनमें से लोग केवल दो-चार के ही नाम मात्र जानते हैं उनकी भी यथार्थता नहीं समझते, सबके तो नाम तक नहीं जानते, उनकी विशेषतायें जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वे लोग इनमें पुनरुक्ति सी पाते हैं और ऊब कर पटक देते हैं पूरा देखने-पढ़ने, समझने का कष्ट हीं क्यों करें ? वास्तविक बात तो यह है कि 'अग्निवाद' तो वैदिकों की आत्मा है। अग्निवाद ही ब्रह्म विकास वाद है, 'अग्नि' ही ऐसा तत्त्व है जिसके एक नाम से कुल पचासों तत्त्वों को पुकारा जा सकता है क्योंकि कुल पचास तत्त्व उत्तरोत्तर विकासीय अग्नि तत्त्व ही हैं। अतः ऐतरेय ब्राह्मण तो अपने ग्रन्थ का उद्घाटन 'अग्निः सर्वा देवता' कहकर ही करता है और शतपथ भी प्रारम्भ में अग्नि का ही विवेचन देता है। ऋग्वेद का आरम्भ ही 'अग्नि' शब्द से होता है। इस महत्त्वपूर्ण अग्नि शब्द के रहस्य का उद्घाटन और विवेचन इस प्रकरण में क्रमशः पर संक्षेप में दिया जा रहा है :—

२—कर्मकाण्ड और दर्शन में अग्नि का भेद

कर्मकाण्ड में वेदों में वर्णित अग्नि तत्त्व का अभिनय घी, लकड़ी, कोयले आदि से जलाने वाली आग से किया जाता है। उस अभिनेय पात्र रूप जलती आग को वेदों में वर्णित अग्नि तत्त्व का सच्चा प्रतिनिधि जान-मान और समझकर—आलोचकों ने कर्मकाण्ड के आधार पर, सचमुच में वैदिक अग्नितत्त्व को जलती आग ही समझ रखा है। एम० ए० के पाठ्य ग्रन्थों तक में यही भावना निबद्ध मिलती है। कहते भी जाते हैं वैदिक आर्य ठंडे देशों के रहने वाले थे। अतः उन्हें अग्नि का महत्त्व अधिक जचा। ये दोनों बातें अनभिज्ञता की द्योतक हैं। ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा निरुक्त में भी 'अग्नि' शब्द को आत्मा तत्त्ववाची बार-बार घोषित किया गया है, केवल अग्नि ही नहीं, वेदों में जितने जो कोई भी देवता हैं वे सब आत्मा रूप हैं यह मनु ने स्पष्ट लिखा है 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्' (मनुस्मृति १२-११९)। पर अग्नितत्त्व तो कई स्तरों में विभक्त है। जैसे नृम्ण, वस्वग्नि, पुरोहिताग्नि, होता, परिजातवेदा, अपाँ नपात्, अतिथिः, जातवेदा, द्रविणोदाःस रत्नधातमं, सहस्पुत्र, सहसः सूनु, सहसोयहुम्, सहसो नपात्, आप्रियः,

तनूनपात्, दूतमग्नि, कवि, प्रचेतस्, प्राणाग्नि, महिष, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, मातरिश्वा, गावः पृश्नि, दधिक्रावन्, दिवोनपात्, मिहोनपात्, मनोनपात्, सूर्य, सविता, वैश्वानर इत्यादि ये नाम विभिन्न शैलियों में अग्नि के ही हैं। पर सब इनके भेदों को नहीं समझते हैं। यह वेदों का दुर्भाग्य है। वैदिकों ने नाना विद्याओं में वर्णित अनेक शाखाओं में व्याख्यात तथा ५० तत्त्वों में विभाजित अग्नि के नाना रूपों को भी विभिन्न रूप में समझते हुए भी एक ही रूप में देखने की धीरता का वर्णन प्रश्नोत्तर द्वारा इस प्रकार दिया है। पर यह समझदारी की एक रूपता है, ना समझी की एक रूपता नहीं; यह अन्तर ध्यान से न उतारा जाना चाहिये।

प्रश्नः—'यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित् सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्।
३—अग्नि की गवेषणा कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः ?।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्।
(ऋ० वे० १०-८८, १७-१८)

उत्तरः—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।
ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै॥
(ऋ० वे० ८-५८-२, ३)

'अग्निर्वै महिषः' प्राणा वै 'महिषा' (श० प० ब्रा० ७-२-३-२३; ६-५-४-५)
इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥
(यजु० १२-१०५)

यहां इस अग्नि को राष्ट्रिय नाम से पुकारा है। यहाँ विशेषता यह है कि प्रश्न तो दशम मण्डल में और उत्तर है अष्टम मण्डल में। इससे यह प्रतीत होता है कि मण्डलों का विभाजन रचना क्रम से नहीं है। अतः जो लोग दशम मण्डल को अन्य मण्डलों से परवर्ती समझते हैं वे भी बड़ी भारी गलती करते हैं। इसी प्रकार दूसरा प्रश्न परिधि के बारे में ऋ० वे० १०-१३०-३ में है और इसका उत्तर तो १०-९०-१५ में उससे पहले ही मिलता है जिससे यह प्रतीत होता है कि दशम मण्डल के सूक्तों का संकलन भी रचना क्रम से नहीं हुआ है। १०-१३० सूक्त पहले रचा गया है, १०-९० उसके बाद में। अस्तु, यहाँ पर अग्नि इत्यादि के बारे में प्रश्न वाली ऋचा कहती है' आप ने दलों के अवर और पर या पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भेद किये हैं, अग्नि इसमें किस पक्ष में है, हमें कौन बता सकता है और इसे कौन जानता है ? अग्नियाँ कितनी (शाखायें) हैं ? सूर्य कितने हैं, उषा कितनी हैं, आपः कितने हैं ? हे गुरुजनों ? हम आपसे पूछते हैं, आप लोग कवि, कारु या दार्शनिक हैं, यह ज्ञान के लिए पूछा जा रहा है (गर्व से नहीं)। इसके उत्तर में कहा गया है कि अग्नि तो केवल एक

ही है, आदि ब्रह्म ही है, पर उसका विकास (समिद्धः) अनेक प्रकार से—नाना विधियों की नाना नामावलियों से वर्णित किया गया है। सूर्य भी केवल एक ही (२५वां) तत्त्व है जिससे भौतिक सृष्टि (विश्व) का आरम्भ होता है, उषा भी केवल एक ही २४वां तत्त्व है, वह स्वयं प्रकाशमान तत्त्व है, भीतर ज्ञान भी, मन, बुद्धि आदि रूप में बाहर भी ज्योतिरूप में विभा ही है, प्रत्येक तत्त्व एक-एक ही है। आदि में २४वें तक सब तत्त्व त्रिधा होते हुए भी एक ही अभौतिक ब्रह्माण्डकार में अभौतिक गुहा रूप में थे 'एकं सदेतत्त्रयम्' (बृ०उप०)। रहा आपः तत्त्व–वह ज्योतिष्मान् केतुमान् त्रिनाभि सुरथ रूप में, सुसद् रूप में, बहुविद्युत् धर्मीतरंग (भूरिवारम्) रूप में था जिसका पूर्ण विकास ऋतसत्यशर रूप में, चित्रामघा या वृत्र के योग में हुआ। उससे पहिले केवल ऋतशर मात्र था। तब से पौराणिकों के कथनानुसार "जले ज्वाला स्थले ज्वाला ज्वाला चाकाशमण्डले। त्रैलोक्यव्यापिनी ज्वाला दीपज्वाला नमोऽस्तुते।" वह विद्युन्मयी ज्वाला सर्वतोमुखी जलने लगी; "अग्निर्हिवै चतुर्दिक्षु ज्वलति" श० प० ब्रा०। इस आपः तत्त्व की व्याख्या अतिरिक्त तत्त्व रूप में या हरियोजन ग्रह रूप में की गई है, इसी को सोमपान कहते हैं। सोमपान माने अभौतिक त्रिधात्मा का भौतिक खोल स्वीकार करना या दिव्य शरीर में बन्धन पा जाना है।

'अग्नि' नाम ब्रह्म का है, उसका यह नाम क्यों पड़ा? इसकी विवेचना करते हुए श० प० ब्रा० (६–१–१–११) ने लिखा है "यो गर्भोऽन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षकामा हि देवाः।" कि हिरण्यगर्भ रूप आदि ब्रह्म के अन्दर जो कुछ था वह अग्नि रूप में था, वह सबसे पहिले विकास को प्राप्त हुई। अतः उसे अग्नि-अग्नि कहते रहे, और अग्नि-अग्नि कहते-कहते उसे नीहारावृत करने के लिए अग्नि-अग्नि नाम से पुकारने लगे। यह रहस्यवादी वैदिकों की व्याख्या शैली का एक रहस्यपूर्ण नमूना है। इसी व्याख्या की पुष्टि यास्क ने लौकिक कर्मकाण्ड रूप में दे रखी है,—

४—अग्नि को ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति सन्नममानः।
अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति॥
त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्।
स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः॥"

(निरुक्त ७-४-१४)

इन व्युत्पत्तियों में प्रथम और रेखाङ्कित तो कुछ-कुछ ठीक हैं, शेष उनकी या निरुक्तकारों की अपनी ऊलजलूल कल्पनायें हैं। कठिनाई इन दोनों में भी है, इनमें भी नीहारावृतता माने बिना काम नहीं चल सकेगा; नहीं तो 'अग्नि या अङ्गि' समान ही रूप बनेंगे। इसीलिए सभी ब्राह्मण और उपनिषद् अग्नि को देवताओं या तत्त्वों का मुख या प्रथम स्वरूप मानते हैं। उदाहरण में श० प० ब्रा० (२-५-१-८) लिखता है "अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः"।

यहाँ पर 'प्रजनयिता' शब्द अग्नि को सब तत्त्वों का पिता उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार ब्रह्म को माना जाता है जैसे "मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १-९०-७; वा० सं० १३-२८; तै सं० ४-२-९-३; तै० आ० १०-१०-२, श० प० ब्रा० १४-९-३-१२ इत्यादि)। अन्त में श० प० ब्रा० १४-३-२ ने 'अग्निरात्मा' कह कर अग्नि को आत्मा घोषित कर दिया है।

अग्निवाद का सम्बन्ध कई विद्याओं से है जिनमें से सात विद्यायें मुख्य हैं; वे हैं (१) अहोरात्रवाद (२) तेजोवाद (३) आपोवाद (४) अश्मवाद (५) वृक्षवाद (६) ओषधिवाद (७) सन्तानवाद। तेजोवाद, रेतोवाद या बुद्धि-वाद है। इनकी व्याख्या ऋग्वेद स्वयं इस प्रकार देता है।

५—अग्नि का सम्बन्ध कई विद्याओं से है

"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥"
(ऋ० वे० २-१-१)।

अहोरात्र वाद में पूर्वार्द्ध-परार्द्ध; दिन और रात या शुक्ल और कृष्ण पक्षरूप अग्नियाँ हैं। पूर्णाहोरात्र में सृष्टि दिन, प्रलय रात्रि है। तेजोवाद सवितावाद या विष्णुवाद है 'विष्णुः सर्वा देवता' (ऐ० ब्रा० १-१-१)। यह बुद्धि, ज्ञान, प्रतिभारत्नरूप 'अग्नि' है। आपोवाद समुद्र, नदी, नदवाद रूप हैं।* इसी का अंग 'अपां नपात्' है। अश्मवाद, रसवाद का दूसरा नाम है। इसी से सम्बद्ध अरणिवाद है जो दो अश्म को दो अरणियों के नाम से पुकारा जाता है। 'अरण्योर्निहितो जातवेदाः' इत्यादि (ऋ० वे० ३-२९-२, साम ७९)। यह अरणिवाद वृक्षवाद का अंग है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" (ऋ० वे० १०-३१-७; वा० स० १७-२०; तै सं० ४-६-२-५, तै ब्रा० २-८-९-६)। ओषधिवाद, वैश्वानराग्नि और सोमवाद है; अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, गीता १५-१४। सन्तानवाद प्राणिवाद है 'तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते' (श० प० ब्रा० ६-१-२-१३) और "अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे १४-९-४८ आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् (श० प० ब्रा० १४-९-४-२६)। ब्रह्म पिता या प्रपितामह है, जीवात्मा, पितामह, तेजसात्मा पुत्र है, दिव्य शरीर पौत्र है। इनका विकास अग्निरूप में तेजोरूप के द्वितीय स्वरूप वीर्य या रेत रूप में होता है। दिव्य शरीर में इन सब का एकत्व रहता है। पौत्र (सन्तान) उत्पत्ति में ये चारों आत्मायें सम्मिलित रहती हैं। ये क्रमसे आकाशीय, वायवीय, तैजसीय और जलीय मिश्रण रूप में रहते हैं। हमारा शरीर इनकी जलीयता को पार्थिव रूप देता है, वही अखण्डब्रह्माण्डका पाञ्चभौतिक शरीर या स्थूल शरीर का दिव्य शरीर कहलाता है। इस शरीर में प्रपितामह, पितामह, पिता और पुत्र सबके बीज होते हैं। प्रत्येक सन्तान इन बीजों सहित उत्पन्न होता है। ओषधिवाद में भी यही सरणि चलती है। उक्तवादों की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण ने

* अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। (मुण्डक, २-१-९, नारायणोपनिषद्)

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और वरुण पाँच आत्माओं को माना है। अग्नि ब्रह्म है, वायु जीवात्मा रुद्र, वरुण अबात्मा संगात्मा, सूर्य कामात्मा, चन्द्रभौतिकात्मा तथा इन्द्र ध्यानात्मा तेजसात्मा है (श० प० ब्रा० १४-३-२)।

६—अग्निवाद विद्युद्वाद है

अग्निवाद विद्युद्वाद है। आदि ब्रह्म विद्युत् की अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता मात्र है। इतना अतितमसूक्ष्मतम विद्युत् स्वरूपी है कि उसका नाम तक 'असत्' रख दिया गया है। यह सूक्ष्मता प्रमाण, परिमाण से हीन या व्यापक रूप, एक रूप होते हुए नितान्त अभौतिक सा है।

"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥" (यजु० ३२-२)

पचासवें तत्त्व तक सब विकास वैद्युतीय स्वरूप में ही होते हैं। इस ब्राह्मविद्युत्स्वरूप का सबसे बड़ा स्वरूप पचासवाँ तत्त्व केवल एक विवर्त परमाणु या अधिपुरुष है। विद्युत् की इन विकास श्रेणियों या पर्वों का नाम ही चेतना है, शब्द है, वाक् है, देवता है, प्राण है या अग्नि है, अन्य सभी नाम उन्हीं के हैं। यह प्राणमय, तापमय चेतनमय, प्रकाशमय, विज्ञानमय, शक्तिमय, बुद्धिमय, आनन्दमय, व्यापक, मधु विद्युत् स्वरूपी अग्नि है जिसका कभी किसी अवस्था में भी नाश नहीं होता, पर विकास और विकासों का प्रतिविकास या अतिविकास या ह्रास होता है, जिन्हें लोग जन्ममृत्यु कहते हैं।† जन्म, मृत्यु का उस मौलिक मधु विद्युत् से कोई सम्बन्ध है ही नहीं; इनका सम्बन्ध विकास परम्परा की सन्तान या तारतम्य की शृङ्खलाओं से है जिनके होने न होने, रहने न रहने से उस मधु विद्युतीय अग्नि में कोई अन्तर नहीं आता या नहीं आ सकता।

७—अग्निर्देवता के अनेक उद्धरण

अग्निर्देवता के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक अपना-अपना, पृथक्-पृथक् सन्दर्भ रखता है; तदनुरूप उसका स्थान, मान और मूल्याङ्कन निर्धारित करना चाहिए। आदि अग्नि तो शान्ततम अग्नि प्रजापति ब्रह्म है, उसके अन्य विकास, उसके अशान्ताग्नि रूप कहलाते हैं। अग्नि नाम रुद्र का भी है। अतः जो अग्नि का वर्णन है उसे रुद्र का भी वर्णन समझना चाहिए। जैसे "अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति, तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमम्।" (श० प० ब्रा० १-७-३-८) यहां पर प्राच्य लोग शर्व को भव कहते हैं और बाहीक उसी को पशुपति रुद्र कहते हैं। जो रुद्र है वही अग्नि है "यो वै रुद्रः सोऽग्निः" (श० प० ब्रा० ५-२-४-१३)। अतः जिस प्रकार अग्नि सर्वा देवता है, उसी प्रकार रुद्र भी सर्वा देवता है। शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव, ईशान और कुमार नाम अग्नि के हैं और रुद्र के भी (श० प० ब्रा० ६-१-३-१८) यो वै रुद्रः सोऽग्निः (श०प०ब्रा० ५-२-४-१३)। अर्क नाम भी अग्नि

† विराजोऽधिपुरुषः (पु० सू०)

ही का है 'अग्निर्वा अर्कः' (श० प० ब्रा० २-५-१-१४ इत्यादि) अग्नि देवताओं का पशु है 'पशुरेष यदग्निः' (श०प०ब्रा० ६-३-१-२ आदि)। अग्नि अवम है विष्णु परम है 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः' (ऐ० ब्रा० १-१)। अग्नि पूर्वार्द्धीय है, विष्णु परार्द्धीय 'अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः' (श० प० ब्रा० ३-१-३-१, ५-२-३-६) यही दो अग्नि के तनु हैं (ऐ० १-१)। अग्नि ही देवताओं का वसिष्ठ है (ऐ० १-२८), अग्नि ही शिर है (श० प० १०-१-२-५)। अग्नि ही यश की योनि है (श० प० ब्रा० ९-२-३-३१)। अग्नि ही यज्ञ का मुख है 'अग्निर्वै यज्ञमुखम्' (तै० १-६-१-८) अग्नि सब देवताओं की आत्मा है 'अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' (श० ब्रा० १४-२-५)। अग्नि को सर्व प्रथम उत्पन्न किया गया 'अग्निमेव देवतानां प्रथममसृजत' (तै० २-१-६-४)। अग्नि ही ज्येष्ठ पुत्र है "अग्निमब्रवीत्त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि" (जै० उ० १-५१; ५-६)। अग्नि ही देवताओं का मुख है, अग्नि ही देवताओं का अन्नाद है (श० प० ब्रा० ३-७-२-६) अग्नि ही देवताओं की योनि है (ऐ० ब्रा० १-२२; २-३)। अग्नि देवताओं का जहर है (तै० २-७-१२-३)। अग्नि ही अन्नाद और अन्नपति भी है (ऐ०ब्रा० १-८)। अग्नि ही मिथुन कर्ता और रेतोधा है (श० प० ब्रा० ३-४-३-४; तै० २-१-२-११)। प्रजनन भी अग्नि ही है (तै० १-३-१-४)। पृथिवी भी अग्नि है, यह लोक भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ६-१-१-१४, १४-९-१-१४)। संवत्सर भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ६-७-१-१८)। वाक् भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ३-२-३-१३)। तेज भी अग्नि है, ज्योति भी अग्नि ही है, रक्षोहा भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० २-५-४-८; ७-४-१-३४)। अग्नि ही पाप्माओं का हन्ता है (श०प०ब्रा० ७-३-२-१६)। तप भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ३-४-३-२)। अग्नि व्रतपति, यष्टा, होता और दूत है (श० प० ब्रा० ३-३-७-६; १-४-५-४)। अग्नि ही मृत्यु भी है (जै० उ० १-२५-८)। पुरुष भी अग्नि है (श० प० ब्रा० १०-४-१-६)। योषा, वृषा, स्त्री भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० १-१-१-१८, २-१-१-३)। मन, प्राण, तीर्थ भी अग्नि ही है (श० प० ब्रा० १०-१-२-३, ९-५-१-६८, तै० १-७-२-२)। गायत्री और गायत्र सब अग्नि हैं (श० प० ब्रा० ३-४-१-२९; ताण्ड्य १६-५-१९)। अग्नि गायत्री का मुख है (जै० उ० ४-८-२)। यह अग्नि ब्रह्म, क्षत्र दोनों हैं (श० प० ब्रा० ६-६-३-१५)। पर्जन्य भी अग्नि है (श० प० ब्रा० १३-९-१-१३)। अग्नि दिन है, ब्रह्म का वत्स है, दिशा भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ६-२-२-३४, जै० उ० २-१-३-१)। अग्नि लोकों का अधिपति है (ऐ० ३-४२)। अग्नि आयु है, अतिथि है, (श० प० ब्रा० १६-८-४-८ तै० २-९-३-६)। अग्नि सब भूतों का अतिथि है (श० प० ब्रा० ६-७-३-११)। अग्नि नाम पवित्र और अनीक का है और वह देवताओं का गोपा है (तै० ३-३-७-१०, श० प० ब्रा० ५-३-१-१ ऐ० २-२८)। अग्नि वसु से उत्पन्न हुई (ऐ०१-२४)। अग्नि त्रिवृत् है (श० प० ब्रा० ६-३-१-२५)। अग्नि का प्रथम जन्म द्यौ है (श० प० ब्रा० ९६-३-३९)। अग्नि ही स्वाहा और हिम का भेषज है (पं० २-३-२ तै० ३-९-५-४)। आदित्य भी अग्नि है (श० प० ब्रा० ६-४-१-१)। अग्नि प्रातः सवन है (कौ० १८, १२-६)। अग्नि विलीयमान होकर पृथिवी (चतुर्थ सप्तक में आखु या अश्व रूप में प्रविष्ट हुई (तै० १-१-३-३९)। अग्नि ही अर्वा है (तै० १-३-६-४)। अग्नि की आहुति प्रथम होती है, अग्नि की पांच या सात चितियाँ होती हैं

(६-३-१-२५; ६-६-१-१४)। अग्नि का पुरोडाश एक कपाल या अष्ट कपाल होता है (ताण्ड्य २१-१०-२३; श० प० ब्रा० २-५-१-८)। अग्नि ही देवताओं का 'काम' है (कौ० १९-२)। पशु रूप में अग्नि को पवमान कहते हैं, आपः रूप में पावक; आदित्य-रूप में शुचि (तै० १-१ ६-२)। आदित्य नामक अग्नि को अनीकवान् कहते हैं (तै० १-१-६-२)। अग्नि नामक संवत्सर को नचिकेता कहते हैं (तै० ३-११-७-३)। हिरण्य नाम नाचिकेताग्नि के शरीर का है (तै० ३-११-७-३)। संवत्सर नामक अग्नि को ही वैश्वानर कहते हैं (ऐ० ब्रा ३-४१)। इस पृथिवी (चतुर्थ सप्तक) की अग्नि का नाम वैश्वानर है। अग्नि का ही नाम अग्निष्टोम है। ब्रह्म का नाम अग्निष्टोम है (श० प० ब्रा० ३-९-३-३२, कौ० २१-५)। अग्नि के सब विशेषण अग्निष्टोम पर लागू किये गये हैं। अग्नि होत्र गो का नाम है, इसका वर्णन अग्निष्टोम के समान है। अग्नि होत्री वाग् का नाम है (तै० ३-७-३-२)। यज्ञमुख का नाम अग्नीत् है (गो० उ० ३-१८)। अग्नीषोम, शुक्लकृष्ण, शुष्कार्द्र, आग्नेय सौम्य या अहोरात्र का नाम है। पूर्वार्द्ध अग्नि उत्तरार्द्ध सोम है, अग्नीषोम, पूरा दर्शन है "अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ" (का० १०-३)। इन्द्राग्नी भी सर्वा देवता है 'इन्द्राग्नी वै सर्वा देवाः' (श० प० ब्रा० ६-१-२-२८ कौ० १२-३; १६-१८)। अग्नि का नाम द्रष्टा भी है 'अग्निर्वै द्रष्टा' (गो० उ० २-१९)।

वैदिकों ने ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर का नाम अग्नि रखने में बड़ी ही कुशल बुद्धि का परिचय दिया है। ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर शब्द परिभाषाओं की आवश्यकता रखते हैं और परिभाषायें ऐसी जटिल, कठिन तथा अस्पष्ट रहती हैं कि समझाने वाला ही उन्हें अच्छी तरह नहीं समझे रहता, वह समझायेगा क्या ? प्रत्येक को हठात् कुछ न कुछ मानने को बाध्य होना पड़ता है। पर अग्नि शब्द एक ऐसा संकेत है जो स्वयं स्पष्ट है। प्रत्येक चेतन की चेतना उसके तापमान से नापी जाती है, शारीरिक सुख-दुःख का निर्णायक भी यही तापमान या अग्नि है। वैदिकों ने ब्रह्मादि को उसके वास्तविक स्वरूप 'विद्युत्' में पहिचान कर उसे अग्नि कहा तो कितना बड़ा भाव सागर इस छोटे अग्नि रूप शब्द गागर में भर दिया; यह तो उनकी मार्मिक रहस्यवादिता का द्वार खोल देता है। तीसरे उन वैदिकों ने दर्शन का सरल और स्वाभाविक सरणि में विवेचन करने के लिए ब्रह्म को अप्, समुद्र आदि नाम का प्रतीक बनाया। समुद्र की वडवाग्नि को सब जानते हैं पर उसे कोई देख नहीं सकता। वैसे ही इस व्यक्त ब्रह्माण्ड रूप समुद्र में ब्रह्म वडवाग्नि के समान व्याप्त है, यह कितना सरल व्याख्यान है ?

१—ब्रह्म का नाम अग्नि रखने का रहस्य

"समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्" ॥

(यजु १२-२०; ऋ वे १०-४५, ३; श० प० ब्रा० ६-५-४-३, तै० सं ४-२-२-१ से ५ तक)

वैदिकों ने अपने दर्शन को साधारण जनता के लिए परम सरल बनाने के लिए उन्हीं रूपकों को रहस्य का प्रतीक बनाया जिन्हें सभी लोग भलीभाँति जानते हैं। अतः पूर्ण ब्रह्म को कहीं 'वृषभ' कहा तो कहीं 'पुरुष', कहीं 'पुरुष पशु और कहीं

'महिष'। इसकी अनन्तता बतलाने के लिए हमें साधारण वृषभादि से अत्यन्त विचित्र सा वर्णित किया। "सहस्रशृङ्गो वृषभो यः" "सहस्रशीर्षा पुरुषः" "सहस्रधारं वृषभं" (ऋ० वे० (१) ७-५५-७; अथर्व ४-५-१; (२) १०-१६०-१ साम ६१७ अथर्व १९-६:१; वा० सं० ३०-१; तै आ० ३-१२-१; (३) ९-१०८-८ साम १३१५) इत्यादि।

इन्द्र सर्वा देवता भी है और हारियोजन इन्द्र तत्त्व १६ तत्त्वों का निर्देशक है, जो १७वें से प्रारम्भ होता है, यह इध्म रूप अग्नि है, यही बुध है, यही गोतमाग्नि है, यही वसिष्ठाग्नि। इसी अग्नि के प्रकाश रूप, काम, उषा, शची, अहिल्या और उर्वशी हैं। इन्हीं पर नाना कथायें गढ़ी गई हैं।

९—इन्द्र और अग्नि

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"॥
(१-१६४-४६ ऋ० वे; अथर्व ९-१०-१८)

नामक ऋचा को हमारे सभी विद्वान् ब्रह्म के नाना नाम देने वाली समझते चले आ रहे हैं। पर इनमें से एक भी नाम ब्रह्मवाची नहीं है, न यह ऋचा ब्रह्म के एकत्व का व्याख्यान करती है। यह ऋचा इन्द्र के १० नामों और विकासों का विवेचन दे रही है। इसमें ये दो सूक्त प्रमाण हैं—पूरे सूक्त पढ़ें—अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयम् इत्यादि···ऋ० वे ४-२६-१ और 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' इत्यादि ऋ० वे २-१२-१ सूक्त में उक्त १२ प्रकार के इन्द्रों का वर्णन पृथक् किया है। इस दस तत्त्व वाची इन्द्र का नाम हारियोजन ग्रह है। ये दस नाम इन्द्र के हैं। इतना ही इस ऋचा का आशय है। इन्द्र सत्रहवां तत्त्व है; मित्र २४ वें का पूर्वार्द्ध और वरुण २४ वें का उत्तरार्द्ध है, इन दोनों को दक्षक्रतू भी कहते हैं। अग्नि शब्द यहाँ दो बार आया है। प्रथम शब्द २३वां ॐ कार का वाचक है, द्वितीय अग्नि वैश्वानर २६वां और स्वयं इन्द्राग्नि १७वें तत्त्व का; दिव्य सुपर्ण २६वाँ चन्द्र या सोम है, सुपर्ण सूर्य २५वां, गरुत्मान् २४वाँ श्येन है, मातरिश्वा २४ से ३१ तक के तत्त्वों का नाम है, यम २८वाँ तत्त्व है। इनमें से प्रत्येक तत्त्व को अनेक नामों से पुकारा और वर्णन किया गया है, यही यह ऋचा भी कह रही है ('द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के द्वा सुपर्ण २५, २६वें तत्त्व हैं,)। १७वें से २८वें तत्त्वों में से प्रत्येक के और भी अनेक नाम और व्याख्यायें हैं जैसे तनूनपात्, मनोनपात्, दिवोनपात्, मिहोनपात्, दधिक्रा, महिष, सहसो नपात्, सहस्वान् ऋभु, भुज्यु, अश्विनौ, चक्षुः अतिथि, जातवेदा, अत्रि, कश्यप आदि। यही भाव है यहाँ के 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का। इसका आदि ब्रह्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान भी अग्नि ही है "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः" (गीता ४-१९)। उपनिषद्कारों ने विशेषकर गर्भोपनिषद् (५) ने उक्त अग्नि को इस प्रकार विभाजित किया है—(१) ज्ञानाग्नि (२) दर्शनाग्नि (३) कोष्ठाग्नि, जिन्हें क्रम से (१) दक्षिणाग्नि (२) गार्हपत्याग्नि (३) और आहवनीयाग्नि भी कहते हैं। ये तीनों परार्द्ध के प्रथम, द्वितीय और तृतीय सप्तक के ४८ तत्त्व तक की अग्नियों का वर्णन करते हैं। इनके तीन स्थान हृदय,

१०—ज्ञानरूप अग्नि

कण्ठ और उदर हैं। ये नाम हमारे शरीर के अंगों के न होकर 'पुरुषपशु' के अंगों के नामों का संकेत करते हैं, जिसका हृदय शिर था, मस्तिष्क समुद्र रूपी अप् था। हृद् या हृदय चतुर्थ सप्तक है। कण्ठ में दो तत्त्व २४वें, २५वें आते हैं। उदर वृत्र है "वृत्रं वै उदरं"; वह २६वें से ५०वें तत्त्व तक के सब तत्त्वों के दिव्य शरीर का वाचक है। इन अंगों का विवेचन श० प० ब्रा० १०-३-२ में तथा ८-१-२ में देखें। पूर्वार्ध की तीन अग्नियों का विवेचन निम्नलिखित ऋचायें स्पष्टतया देती हैं।

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः"॥
(ऋ० वे० १०-४५-१; वा० सं० १२-१०, तै० सं० १-३-१४-५; ४-२-२-१)

इसमें उल्टा क्रम है। आदि अग्नि नृमणा, अजस्र इन्धान है, द्वितीय परि-जातवेदाः, तृतीय जातवेदाः। अन्तिम का उदय दिव या तृतीय सप्तक में होता है; यहीं यह सर्व प्रथम प्रकाशमान होती है।

(२) "विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ"॥
(ऋ० वे० १०-४५-२; यजु० १२-१९; तै० सं० ४-२-२-१)

हम तेरे तीन विभाजनों के उक्त तीन-तीन प्रकार की व्याख्यायें जानते हैं, तेरे स्थानों को जानते हैं और तीनों स्थानों का एक नाम गुहा है, और हम तुम्हारे उस उत्स या उद्गम (ब्रह्म) को भी जानते हैं जहाँ से तुम प्रकट हुई हो।

(३) अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानो ऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम"॥
(ऋ० वे० ३-२६-७; यजु १८-२६)

(४) "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वो देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेव मावा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि"॥
(तै० ब्रा० २-८-८-१)

जातवेदा का नाम घृतपृष्ठ (घृत माने भौतिकात्मा रूप प्राण) है। चक्षु का नाम अमृत भी है; वह इस घृत रूप अमृत को वाहन बनाकर उसकी पीठ पर बैठता है, अतः घृतपृष्ठ कहलाता है। अर्क आदि कम् ब्रह्म है उसका रजः २५वाँ तत्त्व है। प्रथमाग्नि प्रथम नाभि है, द्वितीयाग्नि द्वितीय नाभि है, तृतीयाग्नि तृतीय नाभि, जिससे 'अन्नं ब्रह्म' या वाग्ब्रह्म या ॐ की उत्पत्ति होती है।

जिसका नाम 'सँस्कार' कहते हैं वह 'जातवेदाग्नि' या ज्ञानाग्नि ही है। यह अग्नि जन्म-जन्मान्तर में सदा एक रूप में बीज रूपेण रहती है। स्थूल शरीर में इस संस्कार रूप जातवेदाग्नि को अधिक उद्दीप्त सा करने की आवश्यकता रहती है। स्थूलशरीर वृत्र या सोम रूप दिव्यशरीर का विकास है, जातवेदाग्नि इन्द्र का प्रतिनिधि है। इन दोनों का निरन्तर युद्ध चला करता है। हमारा जीवन इन दोनों की धूपछाँह या प्रकाश, अन्धकार की सम्मिश्रित यात्रा है।

११—संस्काररूप अग्नि

अतः लिखा है। "जन्मन्जन्मन्निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः।" (ऋ० वे० ३।१।२१) "महान्ति वृष्णै सवना कृतेमा जन्मन्जन्मन्निहितो जातवेदाः।" (ऋ० वे० ३-१-२०)। गीता ने जीवन के जन्म-जन्मान्तर में विद्यमान रहने वाली इस जातवेदाग्नि की प्रकाशान्धकारता या धूप-छाँह या इन्द्रवृत्र द्वन्द्व का वर्णन एक नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है।

"धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥" (गीता ३-३८)

गीता ने वृत्र या सोम को कामरूपी अग्नि और जातवेदाग्नि का जन्मजात नित्य शत्रु कहा है।

"आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥" (३-३९)

गीता का यह कथन सोलह आने भर वैदिक भावना पर आधारित है। वृत्र या सोम का जन्म कामरूपी २५ वें तत्त्व सूर्य से होता है, वह समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर देता है। अतः गीता उसे 'दुष्पूरेणानलेन' नाम से पुकारती है। यह 'काम' सृष्टि का मूल कारण है, यही काम या सोम विद्या का महाभण्डार है, विद्या जातवेदस् अग्नि, होताअग्नि (परिजातवेद अग्नि) और नृम्णाग्नि ही हैं। गीता को पढ़ने और पढ़ाने वाले उक्त श्लोकों में ज्ञान की व्याख्या में अग्नि की उपमा दी हुई सी समझते और समझाते चले आ रहे हैं। उन्हें कौन बता सकता है कि यहां ज्ञान स्वयं अग्नि है, हमारा शरीर उसका धुआँ सा, अन्धकार सा स्वयं है। इसीलिए इसे प्रकाश में बाधक होने के कारण शत्रु या भ्रातृव्य कहा जाता है। इस अन्धकारमय दिव्य-शरीर वृत्र को भ्रातृव्य तो भाई का पुत्र होने के कारण कहा जाता है, पर यह भ्रातृव्य शत्रुरूप का व्यवहार करता है। अतः भ्रातृव्य माने भी 'शत्रु' माना जाने लगा। पूर्वार्द्ध में तीन सप्तक या पाद आते हैं, प्रत्येक पाद एक भाई है।

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-१)

यहां वामस्य माने 'आदि ब्रह्म का' है "विश्वा वामानि धीमहि" (ऋ० वे० ५-८२-६) और "वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती" (ऋ० वे० ४-३० अन्तिम) मंत्र इसका प्रमाण है। पलितस्य माने वृद्ध 'श्वेत रंग वाले का' है, यह प्रथम भ्राता है; होतुः, होताग्नि या पारिजातवेदाग्नि द्वितीय भ्राता द्वितीय सप्तक है। मध्यम भ्राता २५ वां तत्त्व चतुर्थ भ्राता है, यही घृत है, अशन युक्त है, इसकी पीठ पर तृतीय सप्तकरूप जातवेदस् अग्नि तृतीय भ्राता है, यह विट् या वैश्य है, इसके सात पुत्र हैं, चतुर्थ सप्तक के सात अङ्गिरस नामक ऋषि हैं, ये भौतिक हैं, कृष्ण हैं। द्वितीय सप्तक क्षत्र है, प्रथम ब्राह्मण। तृतीय भ्राता का पुत्र वृत्र भी है। अतः वह भ्रातृव्य और शत्रु भी कहलाता है। यजुर्वेद ने इन चारों

सप्तकों को क्रम से बन्धु, सुबन्धु, प्रियबन्धु और विश्वबन्धु नाम के चार भाई कहा है। 'विश्वबन्धु' वृत्र है पर यह अपने प्रथम तीन भाइयों का शत्रु है; अतः इसे मारा (क्या जाता है वृत्र के समान विजित किया) जाना लिखा है। 'विश्व' माने भौतिक शरीर है। विश्वबन्धु को वैश्वानराग्नि द्वारा विजित या पराजित किया जाता है। विश्वबन्धु या वृत्र का मारा जाना या वैश्वानराग्नि की चिता में जला देना' माने केवल भौतिक दिव्य शरीर की अन्धकारमयता को प्रदीप्त या प्रकाशित या ज्ञानमय बना देना है - "तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य" (ऋ० वे० ६-१६-११) की व्याख्या में श० प० ब्रा० १-३-५-६४ ने प्रत्येक अग्नि का तादात्म्य प्राण, उदान, अपान आदि से किया है।

१३–वेदों में अग्नि का इतना महत्त्व क्यों है?

वेदों में जितना अधिक वर्णन अग्नि देवता का है उतना किसी अन्य देवता का नहीं। इसका क्या कारण है। इस पर कम लोगों ने विचार किया है। वेदों में जितने भी देवता हैं वे सब मिलकर 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की रचना करते हैं। या यों कहिए कि ब्रह्म अखिल ब्राह्माण्डीय एक शरीर है, अन्य सब देवता उसके अङ्ग और प्रत्यङ्ग हैं। इनमें से ज्ञान और मुख ये दो मुख्य अंग ब्रह्म के अग्नि रूप मुख्य अंग हैं। ब्रह्मरूप ब्रह्माण्ड का मुख अग्नि है। वही मुखाग्नि सब कुछ का सार रूप सोम (भौतिकात्मा) को पीने (या शरीर पाने का मुख्य द्वार है। जितने शेष देवता हैं वे ब्रह्म के अन्य अंग हैं। उनको भी यह सोमात्मा इसी मुख के द्वारा हमारे मुख से खाये अन्नों की तरह सभी अंग रूप देवताओं का भी मिल जाता है। अर्थात् अन्य किसी भी देवता के पास मुख है ही नहीं, वे इसी अग्नि के मुख से हवि पाते हैं। अतः अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है और यह भी कहा गया है कि मुख से अग्नि पैदा हुई। 'अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता (श० प० ब्र० ३-७-२-६) और 'मुखादग्निरजायत' (पु० सू०) कौन देवता ब्रह्म का कौन अंग है, यह आगे 'देवाः' शीर्षक में दिया जायगा। इस अग्नि का रूप अन्न-मय और अन्नाद या आध्यात्मिक वाक् या आध्यात्मिक शरीररूप वाक् का आत्मा या देवता है। ज्ञानमयी, मनोमयी वाक् दूसरी है, नाम भी दुसरा है। इसको धी, धियः मेधा कहते हैं, यह बृहती है जिसका पति बृहस्पति है, शब्द ब्रह्म या अमृत ज्ञानमय है। उत्तरार्द्धीय ज्ञानमयी बृहती का देवता वाचस्पति विश्वरूप या विश्वधर्मा है।

अध्याय २०

घृत और आज्य

वेदों में वर्णित 'घृत' तत्त्व के बारे में विद्वानों ने प्रायः अपनी-अपनी कल्पनाओं को प्रमाणित करने का प्रयास किया है न कि वेदों में इसका क्या स्थान या मान है, इसकी खोज का। वेदों में जिसे जातवेदस् नाम की अग्नि कहते हैं उसका स्थान तृतीय सप्तक है; यह बताया जा चुका है। उसी जातवेदस् अग्नि रूप पुरुष की चक्षुस् का नाम घृत है जैसे

१—अग्नि

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम" ॥
(ऋ० वे० ३-२६-७। यजु १८-६६)

यह जातवेदस् अग्नि तो त्रिपादमृत की तृतीय पाद् रूप अमृत है, पर इसका अन्तिम विकास 'चक्षुः' नामक सूर्य तत्त्व में होता है। 'चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' (ऋ० वे० १-११५-१) के 'अग्नेः' के माने इसी जातवेदस् नामक अग्नेः या अग्नि की चक्षुस है। उसी को 'घृतं' कहते हैं, इसी का नाम हवि है। जातवेदस् रूप सूर्य या चक्षुस् में 'अमृत और घृत' दो तत्त्व है, अमृत आध्यात्मिक आत्मा है, 'घृत' भौतिक रजस्, यह घृत भी अमृत है। अतः 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः' नामक यह चक्षु; 'त्रिपादमृत रूप त्रिधातु आत्मा रजोरूप घृत के विमान में बैठा है। ये दोनों अपरिमित मान रहित हैं। इसी रजोरूप घृत को 'हवि' कहते है। यह नित्य अग्नि रूप (धर्म) है। अतः 'सोम' का और शरद् ऋतु का नाम भी हवि है, जैसे "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० सोम देखें) 'शरद्धविः' (पुरुष सूक्त)। ये भौतिकात्मा रजस् के प्रतिनिधि हैं। ये उत्तरार्द्ध पृथिवी के स्थानीय हैं। अतः लिखा है 'घृतेन पृथिवी व्युद्यते' (ऋ० वे० १-१५२-४७) कि सम्पूर्ण पृथिवी या दक्षिणार्द्ध इस भौतिक रजोरूप दिव्य शरीर घृत से गीली है।

रेत दो प्रकार का है—आध्यात्मिक और भौतिक। वस्तुतः रेत नाम आपोमयी सृष्टि-विकास पद्धति में प्रयुक्त होता है। अदिति और अप् तत्त्व पूर्वार्द्धीय भी हैं, उत्तरार्द्धीय भी, ये पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक हैं, उत्तरार्द्ध में भौतिक अतः लिखा है 'रेतो वा आपः' (ऐ० ब्रा० १-१-०)। रेत पर आगे एक स्वतन्त्र शीर्षक है; देखें। जब भौतिक रेत की चर्चा आती है तब इसे 'घृतं' नामक रेतस् कहते हैं। यह रेत नाम प्रायः तब दिया जाता है जब उक्त 'चक्षु' रूप अमृतघृतीय तत्त्व को 'चक्षु' नाम से न पुकार कर मन नाम से पुकारते हैं। मन नाम चक्षु नामक सूर्य ही का है। अतः 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' (पु० सू०) लिखा है कि उस अमृतघृत रूप चक्षु से 'सूर्य' और उस

२—रेतः

'अमृतं मनः' से चन्द्रमा उत्पन्न हुए। अर्थात् अमृतघृत से सूर्य रूप, अमृतसूर्य के मनोरूप से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। अमृतघृत का नाम काम (ब्रह्म) भी है। इसी काम से मनोरूप रेतस् या घृत का विकास है। उसी को रेतस् कहते हैं "कामस् तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" ॥ काम ही मनस् का रेत या घृत है। इसकी पुष्टि में निम्न अन्य प्रमाण दिये जाते हैं। 'रेतो वै घृतम्' (श० प० ९-२-३-४४) 'आग्नेयं वै घृतम्' श० प्र० ब्रा० ७-४-१-४१)। 'एनद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्' (तै० ब्रा० १-१-९-६) 'एतद्वै प्रत्यक्षाद्यज्ञरूपं यद्घृतम्' (श० १२-८-१५) इत्यादि। इनमें जातवेदस् से उत्पन्न घृत रूप चक्षु ही रेतस् आग्नेय, अग्निप्रियधाम और यज्ञ रूप हैं। ये सब चतुर्थ सप्तक के भौतिकात्मीक तत्त्व हैं। इसीलिए ऐ० ब्रा० (१-१-३) ने लिखा है कि घृत तत्त्व मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तकीय भौतिक तत्त्वों के लिए ही प्रयुक्त होता है जैसे 'घृतं मनुष्याणाम्'

इस जातवेदस् अग्नि का नाम वेदों में कई स्थलों पर 'घृतपृष्ठ' आया है। 'अस्य वामस्य' सूक्त के चार भाइयों में तृतीय भ्राता इसी जातवेदस् को भी 'घृत पृष्ठ कहा गया हैं जिस पर हजारों कल्पनायें की जा चुकी हैं।

३—अग्नि का नाम घृतपृष्ठ

जातवेदस् अग्नि के सात भेद रूप सात तत्त्व तृतीय सप्तक के कहलाते हैं, इनसे आठवां घृत नामक चक्षु उपनामक सूर्य, मन, आत्मा आदि अन्य नामवाला तत्व उत्पन्न होता है, इसकी पीठ पर यह जातवेदस् रूप तृतीय भ्राता बैठा है। अतः इसे घृत पृष्ट या भौतिकात्मा के घृतपृष्ठ रूप या वाहन के पीठ पर बैठा हुआ कहा है तो कितना रमणीय रुपक बनाया है। घृत भौतिकात्मा रूप रजस् और तमस् है, उसकी पीठ पर सूर्यरूप प्रकाश युक्त वह जातवेदस् बैठी है। यह सीधा आशय है। दशाक्षरी विराट् विधि में पञ्च-सागर या सप्तसागर विद्या में प्रथय १० तत्वों का सागर पय का है, दूसरा १० तत्त्वों का दधिक्रा (दधिक्रा) २० से ३० तक तीसरा घृत का उसी की पीठ पर यह तृतीय भ्रातृ रूप त्रिपादमृत बैठा है, अतः घृतपृष्ठ कहलाता है। यह भौतिकात्मा रूप घृत अमृत है। यह वही अमृत है जिसे श्येन रूपी गायत्री लाती है, वही कुलायी घृतमत् कहलाता है, वह इस घृतामृत को देवताओं में बांटता है। यही चतुष्कपर्दा युवति आनुष्टुभी गायत्री है। इसे भी 'घृत प्रतीका' कहा गया है 'तस्मिन्वसति घृतसत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः' (यजुः नारा० उप) चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा घृत प्रतीका' (ऋ० वे० १०-११४-३) इत्यादि।

'आज्य' नाम घृत का नहीं है, यह अज एकपाद् सृष्टि वृक्ष की ऋतु रूप विकास को देनेवाली सरणि का पारिभाषिक शब्द है। अज एकपाद् आदि ब्रह्म का प्रथम ऋतु रूप विकास जब 'वसन्त' ऋतु नाम से होता है तब इसे

४—आज्य शब्द की व्याख्या

'आज्यम्' कहते हैं जैसे 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः'। यह वसन्त प्रथम सप्तक है, इसी का नाम आज्य है, यह देवताओं की सुरभि है 'आज्यं वै देवानां सुरभिः' (ऐ० ब्रा० १-१-३)। फलतः अजस्य अजाज्जातं आज्यम्' है पूर्वार्ध पूरा 'आज्य'

है, उत्तरार्द्ध पूरा घृत। पितरों के लिए 'आयुत' और 'गर्भ' के लिए 'नवनीत' का प्रयोग करते हैं। पूर्वार्धीय रेत का नाम भी आज्य है 'रेतः आज्यं' (श० प० ब्रा० १-३-१-१८) 'अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम्' (तैत्ति ब्रा० ३-८-१४-२)। अतः पुरुष सूक्त उस सर्वहुत या सर्वस्वाहा कृत आदि तत्व में 'आज्य' सम्भृत बतलाती हुई कहती है 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्य' (पु० सू०)। पृषदाज्य माने प्राणरूप आज्य है। इस सम्बन्ध में, अश्वमेध' शीर्षक में दिये ऐ० ब्रा० के (१-१-३) के अवतरण को पुनः पूरा पढ़ लिया जावे (पृ० १५४ देखें)।

अध्याय २१

आपोब्रह्म और पञ्चामृत

आपोब्रह्म, वैदिक दर्शन का सबसे जटिल विषय है। पर जब इसको अच्छी तरह समझ लिया जावे तो वैदिक दर्शन का अधिकांश भाग सुबोध और सरल-तथा भावगम्य हो जाता है। वैदिक दर्शन नाना तत्व के पारस्परिक सम्बन्धों से ऐसा निबिड़तया गुथा और उलझा सा है कि इनको पखारना एक बड़ी समस्या प्रस्तुत कर देता है। आपोब्रह्म में प्रायः सभी तत्व सन्नद्ध, सम्बद्ध, प्रबद्ध तथा निबद्ध हैं। वैदिकों का 'आपः' शब्द ही एक समस्या है। लोग इसका लौकिक अर्थ जल-पानी लगाकर वैदिक ऋषियों की गम्भीरता की ऊपरी तह में तैरते दिखाई पड़ते हैं, फिर वेदों का अर्थ कैसे लगे? वैदिकों ने तो इस आपोब्रह्म ही से सृष्टि के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ की है। यदि इस 'आपः' का अर्थ पानी या जल है और महाभूतों में भी चौथा महाभूत है तब इससे प्रथम तीन महाभूतों का क्या हुआ? यह तो कोई सोच भी नहीं सकता। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी बतला देना उचित है कि यदि हमारे वर्तमान दार्शनिक लोग 'आपः' नामक महाभूत को भी पानी या जल ही समझते हैं तो आजकल के रसायनिक वैज्ञानिकों का इसका खण्डन करते हुए यह कहना कि हमारे पीने का पानी या जल तो दो पदार्थों का सम्मिश्रण है, जो पदार्थ सम्मिश्रण है वह तत्व नहीं हो सकता, बिलकुल ठीक ही है? तब तो हमारे सब दर्शन गलत हैं, क्योंकि सब में ये महाभूत स्वीकृत हैं। नहीं! ऐसा नहीं है। हमारा भौतिक अप् तत्व पीने का जल नहीं वरन् इस अखिल ब्रह्माण्ड का प्रथम व्यक्त या भौतिक स्वरूप है; जिसे दिव्यशरीर या भौतिकात्मा या सोम या चन्द्र या विश्वकर्मा या परा वाग् या धाता, विधाता कहते हैं, यह वैद्युतीय सर स्वरूपी, भौतिकात्माणुओं का प्रवाही मधूर्मिमान् समुद्र सा है, केवल आत्मा स्वरूपी, सर्वव्यापी विभु, विश्वतोमुख चक्षुपादादि है। परन्तु आपोब्रह्म जिसकी यहां पर व्याख्या की जा रही है; वह इससे भी अनन्तानन्त गुना सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम आदि ब्रह्म का सर्वप्रथम विकास रूप महानात्मा है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। आपोब्रह्म आकाश की उच्चतम मेखला बतलावे तो भौतिक अप् पाताल की सर्वतोऽधोऽधो-भाग सिद्ध हो जावे। वैदिक दर्शन में आपोब्रह्म; दर्शन के पूर्वार्द्ध का प्रथम विकास है तो भूत नामक अप् उत्तरार्द्ध का प्रथम सप्तक। दर्शन के येही दो भाग हमारे वैदिकों के स्वर्ग और पाताल या नरक है; दृश्य ब्रह्माण्ड में इनका इस रूप में मिलना नितान्त असम्भव है, हां लाक्षणिकतया इन्हें कोई कहीं घटित कर ले, शरीर में, या भावनाओं में, या गोलों में, या पुण्यापुण्य परिस्थितियों में, जैसा कि भागवत में कपिल ने अपनी माता देवहूति से कहा—"इहैव नरकः स्वर्गः" यह लौकिक स्वर्ग-

१—वैदिक और तात्विक आपः

नरक है, आध्यात्मिक, दार्शनिक या वैदिक नहीं। महाभूतों का आपः तत्त्व भी सर्वात्मा रूप है, वह परमाणु बनने पर चौथे परमाणु में प्रस्तुत होता है।

अस्तु, अब इस आपोब्रह्म की व्याख्या यथोपलब्ध रूप में दी जाती है। आप चाहे किसी भी ग्रन्थ को उठा कर देखें, चाहे वेदों को लेलें, चाहे ब्राह्मणों को, चाहे उपनिषदों को और चाहे महाभारत, स्मृतियों, पुराणों या अन्य धर्म ग्रन्थों को लेलें, उन सब में आपको सृष्टि के आरम्भ में 'अप्' तत्त्व की उपस्थिति का वर्णन अवश्य मिलेगा। उदाहरणतः वेदों में—सबसे पहले अक्षरब्रह्म के अक्षरों के पिण्ड-रूप हिरण्यगर्भ के जल रूप आपोब्रह्म का वर्णन लीजिए—

२—सभी ग्रन्थों में सृष्टि का आरम्भ अप् से

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥
तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति"॥

(ऋ० वे० १-१६४-४१, ४२)

इनका अर्थ 'ऋचो अक्षरे' और 'गौरी-धेनु' शीर्षकों में देखें। अब नासदीय सूक्त लीजिए—

"तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३ दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसत् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥५॥

(ऋ० वे० १०-१२९-३, ४, ५)

इनकी व्याख्या 'नासन्नोसद्वाद' में विस्तार पूर्वक दी गई है। इन दोनों उद्धरणों में आपोब्रह्म को आदि तत्त्व का प्रथम स्वरूप बतलाया है, ये कामरूपिणी अप् थे, रेतोधारी या अक्षरब्रह्म के अक्षरबीज धारण करने की महिमा से युक्त थे। ऊपर-नीचे अपनी स्वधा से, निराधार से स्वयं-स्वयं में व्याप्त थे। इनमें से रश्मियाँ सी फूट-फूट कर ऊपर-नीचे को निकल रही थीं। इनमें इतना अधिक प्रकाश था कि अन्धकार सा प्रतीत होता रहा। इसी आपोमय, आपोब्रह्म से सप्तसागर रूप सात सप्तक, या सात नदियाँ निकलती हैं; पञ्चपर्वा विद्या में पञ्चसागर तथा पञ्चनदियाँ हैं। इसका समुद्रमय वर्णन इस प्रकार है "ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव" - (ऋ० वे० ७-९६-५; का० स० १९-१४, तै० सं० ३-१-११-३;

* पञ्चभौतिक अप् या जल तत्व अग्निरूप तृतीय तत्व की ज्वाला या दीप्ति है जो सूर्यादि तारों में जलती या चमकती रहती है, उसी की मूर्धन्य कालिमा पृथिवी तत्त्व है। उसी तापरूप अप् से यह भौतिक ब्रह्माण्ड बनता है। अप् अग्निरूप हैं हमारे पीने के जल नहीं। पीने का जल तो पार्थिव है, मिश्रण है।

वा० स० ४-१०-१-१४२)। इन आपः का जन्म केवल एक ही बार होता है जैसे

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत।
पृश्न्या दुग्धं सकृत् पयस्तदन्यो नानु जायते" ॥

(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इस प्रकार का यह आपोमय सागर अमृतमय ऊर्मियों वाला और प्राणों को चुवाने वाला है, उससे हमारी रक्षा करो।

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः" ॥

(ऋ० वे० १०-५-१)

यह एक मूलाधार समुद्र सा है, वह अनन्त जन्म लेने वाला एक ह्रद् है (नानारूपों में विकसित होने वाला है)। यह रूप का सिञ्चन करने वाला है और उसके विकासीय धारा के प्रपात के मध्य में सुपर्ण का स्थान निर्धारित है, इत्यादि। सप्तवाद के 'सप्त सिन्धवः' तथा 'सप्तार्णवाः' शीर्षक देखें। 'आपः' सर्वा देवता हैं "आपो वै सर्वा देवताः" (ऐ० ब्रा० २-१६, को० ११-४; तै० ३-२-४६; श० प० ब्रा० १०-५-४-३)

अब ब्राह्मण ग्रन्थों को लीजिए। ब्राह्मण ग्रन्थों ने 'अप्' तत्व की व्याख्या सबसे उत्तम दी है। नवधा सृष्टि के विवेचन में सप्तपुरुषी प्रजापति (प्रथम) ने सर्व प्रथम 'आपः' की सृष्टि की, यह बतलाते हुए सर्व प्रथम आपः की व्याख्या भी बड़े वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की है। 'आपः' माने वह तत्व है जिसमें सर्व बीजात्मायें समायी हुई है इसी 'अप्' शब्द से 'आत्मा' शब्द भी निकलता है, जिसमें आप्तता है, विश्वस्तता है, धैर्य से विना सन्देह के, जिसमें भरोसा किया जा सकता है, जिसको निश्चित आधार पर माना जा सकता है, जो संरक्षण के लिए चारों ओर से व्याप्त होकर चौकन्ना रहता है, वह है 'अप्; या स्वयं सा या आत्मा या 'वारि,। यह आपः या आत्म वास्तव में वाग् या वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है या ब्रह्म की पत्नी या ब्रह्म की प्रथम आधेयात्मा है। ये अप् ब्रह्म के प्रथम-प्रथम या अग्र-अग्र विकास होने से 'अग्नि' भी कहलाते हैं। इन 'आपः' 'आत्मा, या अग्नि की उत्पत्ति ब्रह्म रूप प्राणों से होती हैं। जैसे "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत भूयान्त्स्यां प्रजायेय इति····ब्रह्मैव प्रथममसृजत,······सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकाद् वाच एवास्य सासृज्यत-सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किंच तस्मादापो यदवृणोत्तस्माद्वाः" ॥ इसका समर्थन (गो० पू० १-२) इस वाक्य से करता है "आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्याभि यदिदं किञ्च तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै"।

३—ब्राह्मण ग्रन्थो में आपः की व्याख्या

इसी (अप) से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है जैसे 'सोऽकामयत। आभ्यो ऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्तत आण्डं समवर्तत'। उसी से अग्नि का जन्म होता है जैसे 'अथ यो गर्भोन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत् तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षं परोक्षऽकामा हि

देवाः" । इत्यादि (श० प० ब्रा० ६-१-१-१० से ११ तक) । इस प्रकार नवधा सृष्टि का ही नाम गायत्री ब्रह्म भी है "सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्यदगायत्तस्मादग्निर्गायत्र इति ... गायति वैव गीते वा रमते (गायत्री) (वहीं १५) । यह इतना अधिक प्रचलित मार्ग था कि पुनः श० प० ब्रा० ६-१-३-१ में इसी बात को स्पष्टतया दुहराते हुए लिखा है "प्रजापतिर्वाऽइदमग्र आसीद् । एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानादापोऽसृज्यन्त तस्मात्पुरुषात्तप्तादापो जायन्ते" । इसी प्रकार का वर्णन अन्य ब्राह्मणों में भी मिलता है जैसे ऋ० वे० (१०-१९०) ने लिखा है "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ कि ऋत और सत्य नामक तत्त्व, उस ब्रह्म के तप से निकले, उससे समुद्र (आपः), उससे संवत्सर प्रजापति, उससे अहोरात्र नामक दो भाग (दर्शन के) और इनसे भौतिक सृष्टि आगे चलाने के लिए उत्तरार्द्ध में सूर्याचन्द्रमसौ नामक धाता-विधाताओं की रचना हुई, जिन्होंने इस भौतिक ब्रह्माण्ड की मौलिक रचना यथापूर्व निश्चित रूप रेखा में प्रस्तुत कर दी। इन अप् को स्त्री या ब्रह्म की स्त्री या वाग् या वाग्ब्रह्माणी कहा है तथा इनका स्वरूप वज्र या वैद्युतीय या मधुवैद्युतीय, और वह भी श्री या कान्ति रूप, शिर रूप, वैद्युतीय शोभा सी कही गई हैं जैसे "वज्रो वाऽआपः" "श्रीर्हि वै शिरः" इत्यादि (श० प० ब्रा० १-१-१-१७; १-२-३-२०; १-४-१-५; १-५-३-८ इत्यादि) इस अप् या वाग् को पुल्लिङ्ग में शब्द ब्रह्म या पुरुष या प्रजापति भी कहते हैं । 'प्रजापति' शीर्षक देखें ।

४—उपनिषदों में अप् की व्याख्या

उपनिषदों में बृहदारण्यक ने अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही इसी आपोब्रह्म की चर्चा से किया है जिसका भाव प्रायः उसी प्रकार का है जैसा कि श० प० ब्रा० और तै० ब्रा० के पूर्वोद्धृत उद्धरणों (१-१-३-१) में मिलता है जैसे "नैवेह किञ्चनाग्र आसीद् । मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया-शनाया हि मृत्युः (अहोरात्राभ्यां) तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति, सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्त अर्चते वै मे कमभूदिति । तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद । आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततााग्निः । स त्रेधात्मानं व्यकुरुत" । "यहां पर मृत्यु' रूप स्थिति अशन और अनशन से या उत्तरार्द्ध-पूर्वार्द्ध के भागों के संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र रूपों का विवेचन देती है । उस समय दोनों नहीं थे, दोनों की मृत्यु रूप अवस्था थी, जिनका लय अहोरात्रों की समाप्ति से हो चुका था । तब उस स्थिति से सर्वप्रथम आपोरूप वाग्ब्रह्म उत्पन्न हुआ जो उस ब्रह्म का अर्क सा 'अपांसर' या वैद्युतीय किरण प्रवाह रूप था, जिसको दूसरे सीधे शब्द में 'अग्नि' भी कहते हैं । उत्तरार्द्ध में यही 'शम्' नामक प्रजापति कहलाता है । ऐतरेय उपनिषद (१-१, २) ने इसका विवेचन निम्न पंक्तियों में दिया है, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन

मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥ स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽ-दोऽम्भः परेण दिवम्। द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरः या अधस्तात्ता आपः। स ईक्षेतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्त-मभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद् वाग्। वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येताम् अक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत। त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत। हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभि-द्यत। नाभ्या अपानः। अपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत। शिश्नाद्रेतः। रेतस आपः॥ "ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्"॥ इत्यादि। यहाँ पर जो सृष्टिक्रम है, वह सब इन्हीं जल देवियों के गर्भ से पूर्व मौलिकावस्था में अक्षरब्रह्म के बीजाक्षर रूप में वर्णित किया गया है। आगे इनका विकास ठीक इसी क्रम से उत्तरोत्तर होता जायगा। यहाँ पर ये सब आपोरूप (महत्यर्णवे) महान् समुद्र के गर्भ में मछलियों की तरह तैरने लग गये हैं जो क्रमशः अपनी-अपनी भूमि (स्थान) में पूर्ण विकसित होकर क्रमशः उतरने लगेंगे। श्वेताश्वतर ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है।

"एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"॥
(६-१५)

यहां पर हंस नामक आदि पुरुष को जिस भुवन के मध्य में सलिल निविष्ट बताया है। वह भुवन भौतिक ब्रह्मलोक है जिसे नृषद् नाम से या पवित्रतम सदन या सभा या निवास या 'परमं पदं' कहते हैं जैसे "हंसः... नृषद्" (ऋ० वे० ४-४०-५)

"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि"॥
(ऋ० वे० १-१५४-६)

यहाँ पर इन आपोमय ब्रह्म की किरणों या अक्षरब्रह्म के अक्षरों को 'भूरिशृङ्गा गावः' अनेक सींगों वाली गायें बतलाते हुए उनके गोष्ठ को विष्णु का परम पद कहा है। यही मथुरा या मधुरा है जो तीन लोक से न्यारी, अनन्त गायों वाली है। मथुरा माने जो उर या हृदय का मन्थन कर के नवनीत रूप अमृत निकालती है और मधुरा माने जो उरों में मधु या अमृत सींच देती है। यह है आपोब्रह्म। मुण्डक और नारायण उपनिषदों ने उक्त कथनों की पुष्टि में लिखा है "अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः"। (२-१-९)। जिन ग्रन्थों ने 'सलिल' शब्द का प्रयोग किया है उनका आशय आपोमय शरीर से है, सलिलं=सरिर=शरीरं =श्रीः="प्राणाः श्रियोऽथ यत्सर्वमस्मिन्नात्मन्नश्रयन्त तस्माद् शरीरम्। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्"। (श० प० ब्रा० ३-१-१४,५ और गर्भोपनिषद्) अप् का जन्म अश्मा से (अश्रु से) बतलाया है (श० प० ब्रा० ९-१-१-४)। तप्त पुरुष से इनकी उत्पत्ति होती है (श० प० ब्रा० ६-१-३-१)। १७ प्रकार के अप् है (श० प० ब्रा० ५-३-४-२२) नाम प्राणों का है (तै० ३-२-५-२; ताण्ड्य ९-९-४, श० प० ब्रा० ३-८-२

४, जै ९-३-१०-९)। ये अप् अमृत हैं (ऐ० ब्रा० ९-२०; श प ब्रा० ३-९-४-१६; कौ १२-१)। ये आपः उत्स हैं, शान्ति हैं, भेषज हैं, ओषधिरस हैं, रस हैं, सत्य प्रतिष्ठित हैं, श्रद्धा हैं, मेधा हैं, अन्न हैं, वज्र हैं, वीर्य हैं, अर्क हैं, देवी हैं, यज्ञ हैं, रेतस् हैं, तेज हैं, सर्वा देवता हैं, वरुण की पत्नियाँ हैं, चतुर्थ लोकीय हैं, योषा हैं; इसे विभिन्न ब्राह्मणों ने विभिन्न रूप से सर्वतोमुखी व्याख्या में लिखा है।

आपोदेवता या आपोदेवी—आपोब्रह्म के बारे में एक दूसरा भ्रम भी विद्वानों के मन में बैठा रह गया है। वे आपोब्रह्म तथा अपोदेवता या आपोदेवी को एक ही वस्तु समझते हैं। पर इन दोनों में भी वही आकाश-पाताल का अन्तर है जिसकी चर्चा इसी प्रकरण में पहिले की जा चुकी है। बात यह है कि आपोब्रह्म के सप्तकों के अनुसार सात सागर माने गये हैं तो पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पाँच ये हैं

५—पञ्च या सप्तसागर

"इक्षुनीरघृतं चैव पयो दधि मधुस्तथा।
लवणं सप्तमं ज्ञेयं सागराःसप्त कीर्तिताः"॥

(१) ईख के रस का (२) जल का (३) दूध का (४) दधि का (५) घी का (६) मधु का (७) नमक का। इनका उचित क्रम यह होगा दूध, दही, घी, मधु, नीर, इक्षु और लवण पञ्च सागरों में (१) जल का (२) दूध का (३) दही का (४) घी का (५) मधु का। छान्दोग्य उपनिषद् (१-३-५-६, ७-८-९-१०) ने इन्हें पञ्चामृत नाम से पुकार कर इनका विभाजन क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ऋषयों में किया है। प्रथम अमृत वसुओं का, द्वितीय रुद्रों का, तृतीय सोम या अग्नि का, चतुर्थ मरुतों का, पञ्चम साध्यों का है। इनको क्रम से पयस्, आहुति, आज्याहुति, सोमाहुति, मेदाहुति और मध्वाहुति भी कहते हैं। इनका प्रथम आपोब्रह्म है और मध्यवर्ती सागर सोम या मधु सागर है। सोम सागर ही का नाम मधुसागर या आपोदेवता सागर या आपोदेवी सागर है। यहाँ मधु नाम अमृत का है शहद का नहीं। शहद को तो कर्मकाण्ड में अभिनय करने मात्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इक्षु सागर ईक्षतेऽधिकारी सागर है, पयस् सागर खंब्रह्म है, दधि और घृत प्राण सागर हैं। लवण सागर रसमय सागर है, जलसागर स्वयं आपोब्रह्म भी है, आपोदेवी सागर भी है। ये सागर विभिन्न सप्तकों में भी हैं, एक में सब भी हैं, जिस प्रकार की वर्णना हो वैसा समझना चाहिए। ये सब ब्रह्म की नाना रसमयता का या रस ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। सातों सागर सोम के भी हैं, मधु के भी, पय के भी, घृत के भी, नीर के भी, इक्षु के भी, लवण के भी, और दूध के भी। अतः "पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे" इत्यादि मन्त्र में सभी सप्तकों में पयस् सागर की भावना की गई है तो "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नःसन्त्वोषधीः॥ मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः"। में सब देवताओं में मधु सागर की लहरें उमड़ती रहने की प्रार्थना की गई है।

आपोब्रह्म का सागर पूर्वार्ध का प्रथम सप्तकीय सागर या प्रथम पञ्चकीय सागर है तो आपो देवता या आपो देवी का सागर उत्तरार्द्ध का प्रथम सप्तकीय या प्रथम पञ्चकीय सागर है जो आदि के सप्तकों में चतुर्थ सागर है, तो पञ्चकों में तृतीय सागर है। यह सोम सागर है, मधु सागर है, अतः लिखा है "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० १८-२)। अतः सोम का धाम तुरीय और तृतीय दोनों बतलाये गये हैं जैसे "अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति" (९-९६-१९)। "तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्" (ऋ० वे० ९-९६-१८)। यहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि सोम विराट् छन्दसम्बन्धी १०, १० के तत्त्वों के पाँच गुच्छों में से तृतीय धाम या पञ्चक का निवासी है। यह सोम सागर या मधुसागर सुपर्ण का सागर भी है। सोम मधु भी (अमृत भी) है, सुपर्ण भी है। अतः लिखा है कि एक सुपर्ण था वह समुद्र में प्रविष्ट होकर अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करने लगा जैसे—

६—आपोब्रह्म और आपोदेवी के सागरों के स्थानों का अन्तर

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्" ॥
(ऋ० वे० १०-११४-४)

यहाँ पर इस समुद्र के, आपोदेवताओं या देवियों को सुपर्ण की माता के नाम से पुकारते हुए लिखा है कि यहाँ पर माता उसे चाटती या प्यार करती है तो पुत्र (सुपर्ण) माता को चाटता या प्यार करता है, और कहा है कि इस तथ्य को परिपक्व दार्शनिक ज्ञान से, और इस परिपाक को प्राप्त कर इस सुपर्ण को हृदय में देखने का यत्न करो (इन आपोदेवियों का वर्णन 'आपोदेवता' शीर्षक में पृथक् किया गया है, वहीं देखें)। यजुर्वेद (१३-३८-३९; १७-८९) तथा नारायणोपनिषद् (५-४०) में उक्त सन्दर्भ के अनुकूल वर्णन करते हुए इसमें रहस्य और कार्य पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला है। यह इस चतुर्थ सप्तकीय या तृतीय पञ्चकीय सोमसागर और आपोदेवियों का ऐसा महत्त्वपूर्ण परम वैज्ञानिक वर्णन है जो ऋ० वे० ४।५८।६ के सूक्तों में दिये गये आपो देवताओं के वर्ण्य विषय की भूमिका सी है। जैसे "ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः (अन्नं सोमो वा)। अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः घृतस्य धारा अभिचाकशीमि। हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्त्सुपर्णो घृतमत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्" ॥ कि उस सोम सागर में ऋचाओं के या पूर्वार्द्धीय अक्षरों के (ऋचो अक्षरे देखें) समिधों या प्राणों की नदियाँ अन्नरूप भौतिकात्मा के स्वरूप में निर्झरित होती हैं। यह अन्तर्हृद या आभ्यन्तर जगत् है, और उन घृत या प्राणों की धाराओं को भीतर शुद्ध मन से अनुभूत करता हूँ। इस प्राण सागर या सोम सागर या भौतिकात्मा के हिरण्यगर्भ के भीतर प्राणमय घोंसले में वह सोम नामक सुपर्ण अन्य देवताओं या विश्वेदेवताओं को मधु या सोम बाँटता रहता है (गरुड़ का अमृत लाना देवताओं को बाँटना रूपान्तरीय कथा है)। इसके किनारे सात अन्य प्राण रूप अश्व

या ऋषि हैं जो इस सोम सागर की स्वयं धारित की हुई अमृत या सोम की धाराओं का दोहन करते रहते हैं। इस सप्तक में सभी देवता सोम का दिव्य शरीर पा जाते हैं। यही उनके लिए अमृत या मधु बाँटना या अमृत दुहना कहलाता है।

अब ऋग्वेद के उक्त दो सूक्तों में आये आपोदेवियों का वर्णन देख लीजिए।

७—आपोदेवियों का वर्णन

"परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥
तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः"॥
(ऋ० वे० १०-८२-५, ६)

पूर्वार्द्ध से परे (दिवा पूर्वार्द्ध) और पृथिवी या उत्तरार्द्ध से परे, द्यावा पृथिवी है। अतः पूर्वार्द्ध के देवताओं तथा उत्तरार्द्ध के भौतिक बहुल असुरों से पृथक् अर्थात् इन दोनों के मध्यवर्ती स्थान पर, आपो देवियों ने कं नामक प्रजापति को गर्भ (हिरण्यगर्भ) में धारण किया (हिरण्यगर्भ का अण्डा यही परिपूर्णता को प्राप्त होता है)। अतः इस प्रजापति के गर्भ में आ जाने से सब देवता अपने भौतिकात्मा के मौलिक स्वरूप में दीखने लगे। "जब आपो देवियों ने उस (तम्) कम् प्रजापति को धारण करके विश्वे देवताओं को भौतिकात्मा का मौलिक स्वरूप प्रदान करा दिया तब तो उस परमब्रह्म की इस नाभि या मध्यवर्ती तत्त्व में अखिलब्रह्माण्ड के अनन्त लोक भी (मौलिक स्वरूप को प्राप्त हो गये या) उसमें मौलिक रूप में विराजमान दीखने लगे। *

८—भौतिकात्मा और आसुरी खोल

जब उक्त मौलिकात्मा रूपी भौतिकात्मायें उस सोम सागर में व्यक्त होकर प्रस्तुत हो गईं तब उसी भौतिकात्मा का प्रतिपक्षी आसुरी भौतिकात्मा वृत्र का उदय भी साथ-साथ हुआ। देवताओं की भौतिकात्मा सोम या चन्द्रमा तत्त्व का दैवी स्वरूप है। वह तब तक स्थिति में ही नहीं आ सकता जब तक उसमें आसुरी भौतिकात्मा का पुट न मिल जाय। यह आसुरी भौतिकात्मा, दैवी भौतिकात्मा का खोल है, शरीर है, आधार है, यद्यपि दोनों भौतिक हैं, पर दैवी भौतिकात्मा अमृत है, सोम है, चन्द्रमा है, एक है, और आसुरी भौतिकात्मा मर्त्य है; पृथक् या विभक्त है, विष है, वृत्र है, असुर है, यह दृश्यब्रह्माण्ड सब उसी का परिवर्द्धित स्वरूप है, परिवर्तन शील है (वृत्र देखें)। इसका सर्व प्रथम उदय रज, या रेणु रूप में हुआ जैसेः—

---

* जो भाव इन ऋचाओं में निहित है वही हिरण्यगर्भ सूक्त के निम्न दो मंत्रों में तत्त्वों के दूसरे नाम से वर्णित मिलता है जैसे "आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम" "यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीद्···,(१०-१२१-७-८) यहां पर असु नामक तत्त्व रेणु है" अग्नि या यज्ञ या दक्ष प्रथम गर्भ है जिससे यह रेणु निकला।

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत" ॥
"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन" ॥

(ऋ० वे० १०-७२-६, ७)

जब उक्त देवता अपनी भौतिकात्मा के दैवी स्वरूप के सागर में संक्षुब्ध हुए तब उस संक्षुब्ध भौतिकात्मा के दैवी सागर से एक रेणु या रज का उदय हुआ। वह बड़ी तीव्रता के साथ नाचता सा प्रतीत हुआ। तब देवताओं ने अखिल आसुरी भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ग्रहणग्रस्त सूर्य के समान प्रजापति (कम्) का स्वरूप धारण किया ('सूर्य' शीर्षक देखें)। यह रज या रेणु उस दैवी भौतिकात्मा के सामने राई के दाने के बराबर रहा। इस लोक से देखने या समझाने वाले आर्य दार्शनिकों ने इस स्थिति का वर्णन दिखला कर उस स्थिति का जहाँ तक हो सके उचित वर्णन दिया है। इतना छोटा होने से यह अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म का एक अंश कहलाता है "एकांशेन स्थितो जगत्" (गीता १०-अन्तिमश्लोक) "इमा गिर आदित्येभ्य······वरुणो दक्षो अंशः" (ऋ० वे० २-२७-१) वरुण और दक्ष से ही भौतिकात्मा का उदय होता है; वे अंश रूप हैं, (दक्ष-क्रतू और मित्रावरुणौ देखें)।

आज के वैज्ञानिक युग में इस रजस् या रेणु नामक एक अंश का क्या प्रमाण माना जाना चाहिए यह कठिन नहीं रह गया है। अमेरिका के आधुनिकतम नोवेल पुरस्कार विजेता डा० ग्लासेर ने 'फेन प्रकोष्ठ' (Bulbe chambar) नामक यन्त्र द्वारा प्रोटोन (परमाणु के मूलभाग) के ३० भाग करके उसके फेन या बुलबुले के प्रवाह के चित्र अङ्कित कर लिए हैं। पर अभी इसके ३० नहीं ७२० भाग किये जाँय और उन ७२० को चार अरब बत्तीस करोड़ भागों में विभक्त किया जाय तब जो उसका चार अरब बत्तीस करोड़ अंश होगा उसे इस रजः या रेणु का समकक्ष कहा जा सकेगा। क्योंकि ये आत्मायें हैं। सम्भवतः इनके चित्र न उतरें पर कौन जाने, इन सबसे उत्पन्न फेन लहरियों का चित्राङ्कन सम्भव हो जाय।

९—आधुनिक युग और भौतिकात्मा

कौन कह सकता है कि जब श० प० ब्रा० (६-१-३-१ से ६ तक) उक्त आपो देवताओं से भौतिक सृष्टि का विकास क्रम देता है वह सम्भवतः आज के वैज्ञानिकों की खोज से मेल खाले। वह क्रम यह है कि प्रजापति (कम्)—आपः (त्रिपादमृत)–फेनं (प्रथम भौतिकात्मा का आभास)–मृद (दैवी भौतिकात्मा)–सिकता) आसुरी भौतिकात्मा-अबतक सब एक या अविभक्त हैं)–शर्करा (आसुरी भौतिकात्मा विभक्ताविभक्त)–अक्षरा (प्रटोन के चार अरब बत्तीस करोड़ मुखी सर्वतो मुखी प्रवाह)—[लोकों का मौलिक स्वरूप, पारिवारिकों का मौलिक स्वरूप–वैक्तिकों का मौलिक स्वरूप (महत्)—परमाणु (अहंकार)—पञ्चगुण विवर्त (एक गुणी, द्विगुणी, त्रिगुणी,

१०—आपोब्रह्म का विकास क्रम

चतुर्गुणी, पञ्चगुणी क्रम से)—पञ्चेन्द्रियाँ रसमय···पञ्चगुणी महाभूत—व्यक्त ब्रह्माण्ड का महा हिरण्यगर्भ—विस्फोट—यथापूर्वक्रम से नव सृष्टि निर्माण·············] बड़े कोष्ट के अन्तर्गत वैदिक दर्शन से प्राप्त सामग्री के आधार पर है 'ऋचो अक्षरे' और 'अङ्क निर्देश से तत्त्व निर्णय' देखें।

यहां पर जिस अंश रूप भौतिकात्मा के रजस् या रेणु रूप की व्याख्या दी जा रही थी; उसका नाम दैवी रूप में सोम या चन्द्रमा है तो आसुरीरूप में वृत्र। इन दोनों से यानी दैवी, आसुरी आत्माओं से अप् चूता है, टपकता है,

११—रेणु और सोम

और बरसता है। अतः इनके इस स्वरूप को वैदिकों में 'पर्जन्य' नाम दिया है। सोम से पर्जन्य, वृत्र से 'अप्' प्रवाहित होते हैं। येही चतुर्थ सप्तकीय सागर को प्रस्तुत करते हैं। "वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार" (ऋ० वे० १-३२-११)। इसलिए इन आपः का नाम अन्नं या सोम भी है जैसा कि श० प० ब्रा० (२-१-१-३) लिखता है "अन्नं हि वा आपः" बृह० उप० और वेन सूक्त इनको 'अपां सरः' अपां संगम वैद्युतीय उर्मी या विद्युत् का तार कहता है

"अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाँ संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"॥
(बृह० उप० १-१-१, २ ऋ० वे० १०-१२३-१)

इनके विद्युत् किरणों का नाम सूर्यशिशु दिया है। इन भौतिकात्मा रूप अप् को श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-१३) और भगवद्गीता 'मोहकलिल' नाम से पुकारती हैं। यह त्रिपादमृत के लिए मोह या अज्ञान या अविद्या का पर्दा बनाता है जैसे :—श्वे०

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"॥

यहाँ पर भी इस तत्त्व को वृणोतीति वृत्रः की तरह विश्वस्य परिवेष्टितारं कहा है। गीता लिखती है

"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च"॥ (२।५२)

यही कलिल सागर, रज सागर या रेणुसागर या चतुर्थ सप्तकीय है।

विष्णु पक्ष में यह सोमसागर, पयस् सागर या क्षीर सागर कहलाता है उसको शेषशय्या में सोया कहते हैं। शेषनाग वृत्ररूप अहि वही आसुरी भौतिकात्मा का शरीर है उसमें दैवी आत्मा का निवास विष्णु शयन है। दोनों व्यापक हैं उनकी वही व्यापकता सागर है जिसमें आसुरी व्यापकता के ऊपर दैवी व्यापकता सोई हुई कही जाती है। कम् स्वयम् दैवी आत्मा विष्णु है, कमला उनकी वाग् ब्रह्माणी है, कम् से लगी हुई (कस्य लग्ना कमला), कम् से अभिन्न वाग् कमला है। शेष के सिर में पृथिवी का भार माने आसुरी भौतिकात्मा के सिर में भौतिक सृष्टि निर्माण का भार है, भौतिक सृष्टि इसी से आगे चलती है न कि विष्णु आदि

१२—आपोदेवी और पौराणिक विष्णु

से। वे तो प्रेक्षक या निर्देशक या संचालक हैं। पृथिवी का भार माने भौतिक सृष्टि निर्माण का भार है इत्यादि। ये सब व्यापक तत्त्व हैं; उनका निर्देश पृथक्-पृथक् नामों से किया है; वास्तव में सब एक दूसरे में व्याप्त हैं। विष्णु का शयनागार सागर यही चतुर्थ सप्तकीय मधुसागर है जिसे विष्णु पक्ष में पयस् सागर कहते हैं। अप् माने और आपोब्रह्म माने वैद्युतीय व्यापक ब्रह्म है जो दो प्रकार का है। आध्यात्मिक त्रिपादमृत रूपी पूर्वार्द्धीय और भौतिकात्मामय उत्तरार्द्धीय। दोनों के संयोग से या मिलन या विकास से इस अखिल ब्रह्माण्ड की क्रमिक उत्पत्ति होती है। यज्ञ नाम प्रत्येक तत्त्व का है पर दक्षक्रतू नामक तत्त्वों के अनुसार शतक्रतु के अनुसार सौवां क्रतु ३१वां तत्त्व भी मुख्य क्रतु यज्ञ कहलाता है। इससे इस चतुर्थ सप्तकीय आपो-देवियों का रस रूप में प्रस्तावित होना भी इस प्रकार लिखा है "यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽछिद्यत तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसं स्यन्द-मानं मन्यते" (श० प० ब्रा० ३-७-३-१)। पौराणिकों ने इसी यज्ञ के शिरोच्छेद को रुद्र से दक्ष के शिरोच्छेद की कथा दी है दक्षक्रतू ही यज्ञ या दक्ष है। उसी से इस आपो रूप रस ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। यह २४वां तत्त्व है; जब इसका विकास ३१ वें में 'अजा' रूप में होता है तो कहा जाता है कि दक्ष के शिर में अजा का शिर लगा दिया। सब कथायें नितान्त वैज्ञानिक हैं।

अध्याय २२

चतुष्पाद्ब्रह्म और चारवर्ण

ब्रह्म तो है, उसके न कोई पैर है, न हाथ, जैसा कि अपाणिपादो जवनो ग्रहीता आदि वाक्य से स्पष्ट है। ऋ०वे० स्वयं लिखता है "अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः"॥ (१०-९९-४) और "अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत"॥ (१-१५२-३) तब ब्रह्म को चतुष्पाद् क्यों कहा गया है, सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है। वास्तव में मूलपुरुष आदि ब्रह्म 'अपाणिपाद' ही है। परन्तु इस अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि की आदि की विकास परम्परा में ५० तत्त्व या ५० श्रेणियाँ हैं। वे सब एक-एक करके ब्रह्म के उत्तरोत्तर विकास ही हैं। अतः प्रत्येक तत्त्व ब्रह्म ही कहलाता है। यद्यपि उनके पृथक्-पृथक् नाम भी हैं जो पृथक्-पृथक् देवता, ऋषि, समुद्र, पर्वत, नदी, पुरुष, पक्षी, पशु आदि के नामों से चुनकर रखे गये हैं। इनके (५० तत्त्वों या ब्रह्मों या देवताओं आदि के) अनेक प्रकार के स्थूल विभाजन किये गये हैं जिससे समझने और समझाने में बहुत सरलता हो जाता है। इन स्थूल विभाजनों का विवेचन "वैदिक दर्शन के तत्त्व निर्णय" नामक प्रकरण में विस्तार पूर्वक दिया जा चुका है। इन सब सरणियों में वैदिकों ने अपनी अत्यन्त प्यारी सरणि और सर्वश्रेष्ठ सरणि छान्दस दर्शन को अपनाया है। "वैदिक दर्शन के तत्त्व निर्णय का मूलाधार-छान्दस दर्शन" नामक शीर्षक में पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। छान्दस दर्शन की सरणियों में भी वैदिकों को जितनी प्यारी गायत्री छन्दोमय ब्रह्म की सरणि है, उतनी विराट् को छोड़कर अन्य नहीं। वैदिकों की दूसरी प्यारी सरणि है ब्रह्म को अग्नि यज्ञ या पुरुष संवत्सर नाम से वर्णित करना। इन वैदिकों ने अपने इन दोनों प्यारे तत्त्वों का परस्पर विवाह कर दिया है। अतः अग्नि यज्ञ या पुरुष या संवत्सर गायत्री का पति कहलाता है। "गायत्रो वै पुरुषः" (ऐ० ब्रा० ४-१-३) और 'अग्नेर्गायत्र्यभवत्' (ऋ० वे० १०-१३०-४)। और इन दोनों के सम्मिलन से, अग्नि या यज्ञ या पुरुष का वर्णन गायत्री के शरीर से किया जाता है। ब्रह्म या अग्नि या पुरुष या यज्ञ का कोई शरीर ही नहीं है, उसका वर्णन कैसे हो सकता है? अतः उसको गायत्री के पात्र में, शरीर में, व्याप्त मानकर उस ब्रह्म या पुरुष या संवत्सर या अग्नि या यज्ञ का वर्णन गायत्री के अङ्गप्रत्यङ्गों के द्वारा किया जाता है। यह सबको विदित होगा कि गायत्री के तीन पाद होते हैं, प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं। यह २४ अक्षर रूप तत्त्वों की गायत्री या गायत्री ब्रह्म या दोनों, दर्शन के पूर्वार्द्ध कहलाते हैं। इतने ही पाद या अक्षर उत्तरार्द्ध में भी होते हैं। इस प्रकार इसको षड्विधा गायत्री कहते हैं। वैदिकों के ३३ देवताओं का स्थान गायत्री के चार पदों में या आनुष्टुभी गायत्री में पूर्ण होता है। अतः इस दृष्टिकोण

१—छन्दोदर्शन द्वारा वैदिक दर्शन

से इन ३२ या ३३ तत्त्वों को चतुष्पदा गायत्री कहते हैं जैसा कि छान्दोग्य (३-१२) लिखता है—"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री"। गायत्री के इन चार पदों या पादों के पति रूप पुरुष, यज्ञ और अग्नि को ही चतुष्पाद्ब्रह्म कहते हैं; येही चार वर्ण हैं। विराट् व्याख्या में कुल ५० तत्त्वों में विराट् के पांच पाद (१०, १० के) होते हैं उनके अनुसार ब्रह्म को पञ्चपाद कहते हैं "पञ्चपादं पितरं" (ऋ० वे० १-१६४-१२)। इन्हीं को पञ्चसागरीय व्याख्या में पञ्चामृत कहते हैं, 'आपो-ब्रह्म और पञ्चचक्रीवाद तथा सोम देखें'। अब इनका एक-एक करके पृथक्-पृथक् विवेचन लीजिए।

२—देवताओं के पादादि छन्दों ही के पाद हैं

छन्द प्रायः चतुष्पाद् होते हैं: यद्यपि गायत्री त्रिपाद् ही है पर यह अधिक पादों की भी है, इसे गायत्री चतुष्पदा भी कहते हैं। यही चतुष्पदता या चतुष्पादता इसको या यज्ञ, पुरुष, अग्नि, संवत्सर आदि को पशु नाम से पुकारने को बाध्य करती है। और जहाँ-जहाँ चतुष्पाद् या त्रिपाद् या द्विपाद् या एकपाद् का विवेचन आता है वहां निश्चय पूर्वक गायत्री के ही पादों का वर्णन समझना चाहिए क्योंकि यह बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध सरणि है। इन चार पादों की चतुष्कलता को चार जन्म रूप में मानने वाले ऐतरेय आरण्यक का उद्धरण लीजिए "पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः-सम्भूतमात्मानमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद् यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म। ता स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यै तमात्मानमत्रगतं भावयति सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्रीगर्भं बिभर्ति सोऽग्रएव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेधिभावयति आत्मानमेव तद्भावयति एषां लोकानां सन्तत्या एव सन्तता हीमे लोका तदस्य द्वितीयं जन्म। सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इत प्रयत्नेन पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म तदुक्तमृषिणा ''गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्" (ऋ० वे० ४-२७-१), इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच"॥ (२-२४) यहाँ पर हिरण्यगर्भ के गर्भ में पादरूप का विकास है, उसका प्रथम विकास उसकी स्त्री जैसा बन जाता है, विकास आकाशात्मा या खंब्रह्मरूप आत्मा है। यह विकास अष्टधा होता है जिसका विवरण आगे दिया जायेगा। फिर यह अष्टधा आकाशात्मा अपने अष्टमी स्वरूपिणी माता के गर्भ से पुनः द्वितीय आत्मा को जन्म देती है इसे कुमार या रुद्र कहते हैं। यह ब्रह्म का द्वितीय जन्म है, इसे जीवात्मा या अन्तरात्मा कहते हैं। फिर इससे इतर या तृतीय आत्मा का रूपात्मा में जन्म होता है। यह ब्रह्म का तृतीय जन्म है। इसी भाव को उल्लिखित ऋचा "गर्भेनु···निरदीयम्" व्यक्त करती है। इस रूपात्मा से बाद में भूतात्मा का अभ्युदय होता है। छान्दोग्य उपनिषद् ब्रह्म के इन चार विकासों को दिशा रूप में चतुष्कल ब्रह्म कहता है—

"प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः" (४-५-३)। इसमें जो दिशायें दी हैं; उस सप्तसप्तक को रथ या चक्र मान कर उसकी दिशायें पादों में वर्णित की गई हैं। वैदिकों की यह भी अपनी एक प्रधान प्रचलित शैली है।

ऐतरेय के उक्त कथन की पुष्टि बृहदारण्यक दो ढंग से करता है "स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां...अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्। ततो मनुष्या अजायन्त"। (१-४-३)। यहाँ पर ब्रह्म को पहिले भय लगा और द्वितीय सहायक की इच्छा हुई तो अर्द्धनारीश्वर बन गये, उनसे पति और पत्नी, ब्रह्म और जीवात्मा बन गये, इन दोनों से मनुष्य-रूपात्मा उत्पन्न हुये। रूपात्मा से भूतात्मा की चर्चा यहीं पर गो, वृषभ, अश्व, रासभ की विवेचना से कर रखी है। चतुर्धात्मा का विवेचन, १-२-३, ४, ५, में 'स त्रेधात्मानं व्यकुरुत' कह कर करते हुए, 'अन्नं करिष्ये' लिखकर दे दिया है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहते हुए लिखा है "अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह (कुमारं रुद्रं प्राणात्मानं) त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति।...प्राणैः सह पुत्रमाविशति...पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति। अथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति"॥ (१-५-१७)। यहाँ पर अक्षरब्रह्म, अन्तरात्मा को पुत्र और ब्रह्म कहता है, वह प्राण द्वारा पुनः पुत्र की उत्पत्ति करते बतलाया गया है, यह रूपात्मा का प्रतिनिधि है। उक्त चतुष्पाद् ब्रह्म की स्थिति हमारे शरीर में इस प्रकार बताई गई है, ब्रह्म मस्तिष्क में, अन्तरात्मा कण्ठ, फेफड़े में, रूपात्मा हृदय में और भूतात्मा नाभि में है जैसेः—

३—अवस्थाओं, वेदों, अंगों और देव विभागों से चतुष्पाद्

"अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्द्धा च।
तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्"॥
ब्रह्मोपनिषद्

अथर्व शिखोपनिषद् चारों वेदों को ऋगुस्वर, यजु, अन्तःस्थ, साम, ऊष्माण, अथर्व पञ्चवर्गों को क्रम से चतुष्पाद् कहता है, साथ में ॐकार के चार भाग करके उन्हें ब्रह्म के चतुष्पाद् कहता है और प्रत्येक पाद को क्रमसे रक्त, पीत, कृष्ण, शुक्ल, सर्ववर्ण बताते हुए सभी को विद्युन्मय बतलाता है (१-१) नृसिंह तापिनी उपनिषद् अवस्था भेदों से (जाग्रत्, सुषुप्ति, स्वप्न, तुरीय) 'अयमात्मा ब्रह्म चतुष्पाद्' कहता है (१-२) नृसिंहोत्तर तापिन्युपनिषद् भी इसी ढंग से 'सोयमात्मा चतुष्पाद्' कहता है। वही आगे चलकर इस चतुष्पाद् शब्द के बदले 'चतुरात्मानं' का प्रयोग करता है (१-२) फिर नृसिंहतापिनी उपनिषद् की शैली में देवताओं के अनुसार (वसु, रुद्र, आदित्य) से पादों की वर्णना दी है। ये दोनों पुरुष को १९वाँ तत्त्व या एकोनविंशतिमुख कहते हैं जिसकी पुनरावृत्ति नारदपरिव्राजकोपनिषद् करता है "चतुष्पाज् जागरित स्थूलः......एकोनविंशतिमुखः" (७, ८)। त्रिपाद्विभूति

महानारायणोपनिषद् लिखता है "ब्रह्मणः पादचतुष्टयं निर्विशेषं भवति" और आगे उसी स्वर में लिखता है "पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म। तत्रैकमविद्यापादं पादत्रयममृतं भवति"॥ इन दोनों उद्धरणों के पूर्व में फिर लिखता है "किं तत्पादचतुष्टयं ब्रह्म भवति। अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति"। (पृ० ४७२) पहले दो उद्धारण पृ० ४७९, ४८० में है। अन्त में लिखता है "तस्मात्पादत्रयं परमः मोक्षः, पादत्रयं परमो वैकुण्ठः" पृ० ५०३ (बम्बई तत्त्वविवेक मुद्रणालय शक सं १८१७) रामोत्तरतापिन्युपनिषद् ने नृसिंहतापिन्युपनिषद् के समान उन्हीं शब्दों में ॐकार की मात्राओं द्वारा चतुष्पाद्ब्रह्म की व्याख्या दी है (पृ० ५३१)। आत्मोपनिषद् त्रिधात्मा का वर्णन देता है "त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमाऽत्मा चेति"। (प्रथम पंक्ति)। रुद्रहृदयोपनिषद् भी इन्हीं त्रिधा आत्माओं को मानते हुए लिखता है

"आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च।
ज्ञात्वा त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत्"॥
(१२ श्लोक)।

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् कुछ और ही हांकता है "तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदात् वायुश्चरमपदाद् व्योमेति"॥ (३-४, ५)। सरस्वतीरहस्योपनिषद् तथा कई उक्त उपनिषद् 'चत्वारि वाग्परिमिता-पदानि' को उद्धृत करके भी तथा सरस्वती (वाक्) सम्बन्धी विशिष्ट मंत्रों का संकलन देते हुए भी चतुष्पाद् ब्रह्म के ज्ञान से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं। 'चत्वारि-वाक्पदानि' वास्तव में ब्रह्म के चतुष्पादों का सप्तकों के रूप में वर्णन देता है।

४—कर्मकाण्ड में चतुष्पाद्ब्रह्म

ब्राह्मण ग्रन्थों ने ब्रह्म की व्याख्या विशदता और स्पष्टता से दे रखी है। इन वैदिकों ने अक्षरब्रह्म का अभिनय पुरोडाश और व्रतपति, अग्निरूप आदि प्रजापति ब्रह्म और उसके क्रमिक विकास रूप तत्त्वों को देवताओं के नाना रूपों और नामों के द्वारा परम वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर रखा है। ऐतरेय ब्राह्मण ने पुरोडाश रूप ब्रह्म से कुमार रूप रुद्र की उत्पत्ति करके तदन्तर अग्निमन्थन द्वारा अग्निरूप रूपात्मा का विकास, तदन्तर आदित्य रूप चतुष्पाद् पशु ब्रह्मों का क्रमिक विकास दिया है तब 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममभ्याहरत्' कहकर भौतिक सृष्टि का सूत्रपात किया है। ठीक यही शैली शतपथ ब्राह्मण ने भी अपनाई है। दोनों ने स्थान-स्थान पर प्रत्येक देव या तत्त्व पर पूर्ण दार्शनिक प्रकाश भी डाला है जिससे उनके यथोचित अभिनय में बाल की खाल के बराबर भी भूल न हो सके। बीच-बीच में उनके क्रमिक विकास के स्थानों का निर्णय देने के लिए यथोचित छन्दाक्षरों की गिनती देते हुए सब भ्रम मिटाये गये हैं। इनमें वैदिक विश्वदर्शन का कोई भी अंग कहीं भी भंग नहीं हुआ है, प्रायः सभी प्रकार के मतमतान्तरों की यथेष्ट व्याख्या कर दी गई है। इनमें दो पलड़े हैं—ज्ञान-काण्ड और कर्म-काण्ड। दोनों पलड़े सर्वत्र बराबर समानान्तर रेखा में वर्णित किये गये हैं, एक के बिना दूसरे की चर्चा ही नहीं है।

ऐसे अद्भुत अलौकिक ग्रन्थों का अध्ययन अब तक एकांगी होता चला आ रहा है, जिसको उपनिषदों ने सविता कहा है उसे शतपथ "सविता वै देवानां प्रसविता" कि सविता तत्त्वों का विकास करके कहता है(१-१-२-१७)। जिसे उपनिषद् 'पतिश्चपत्नी चाभवताम्' कहते हैं उसे यह ब्राह्मण स्पष्ट स्थान देते हुए लिखता है "आपो वै वज्रो योषा' (१-१-१-१७) और 'योषा वै वेदिः' (१-२-३-१५) कि वेदि द्वितीय सप्तक. स्त्री या पत्नी है जिससे रूपात्मा (अग्नि) की उत्पत्ति होगी। इसी की विशद व्याख्या में आगे लिखा है "योषा वै पत्नी रेतः आज्यं" "यज्ञो (महः) वेदिः यज्ञः आज्यं" (१-२-३-१८, २१)। त्वष्टा, अग्नि का नाम है। द्वितीय सप्तक का अन्तिम ब्रह्म है उसके पुत्र का नाम त्रिशीर्षा षडक्षः' कहा है (५-४-६-२७-१-५-२७)। यह त्रिशीर्षा तीन आत्मा का सूचक है, षडक्ष इसके छः विकासो का। आगे चलकर संवत्सर ब्रह्म को चतुर्मुख कहते हुए चतुष्पाद् ब्रह्म की वैज्ञानिक व्याख्या दे रखी है "संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाणि अहो रात्रयोः सन्धी पौर्णमासी अमावास्या चतुर्मुखानि' (१-५-२-३५)। यही चत्वारि श्रृङ्गा है, यही 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' हैं। पुनः ऋचा ही को उद्धृत करके द्विपाद् (जीवात्मा) और चतुष्पाद् (चतुर्धात्मा) की स्थिति पक्की करते हुए लिखा है—'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' (१-७-२-२८)। द्विपाद् की व्याख्या में "द्विपादो वयांसि" (द्वितीय सप्तक अन्तरिक्ष) लिखते हुए साफ लिखा है कि एकपाद् प्रजापति से पहिले इसी द्विपाद् (जीवात्मा) की सृष्टि हुई "प्रजापतिर्ह इदमग्र एक आस। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा पराबभूवुस्तानीमानि वयांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद् अयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयांसि"। (२-४-२-१) त्रिपाद् को यहाँ पर सरीसृपं कहा है "क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीया ससृजे" (२-४-२-२) इन त्रेधात्माओं की व्याख्या की ऋचा भी है "प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे। महद्धि तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश॥ (२-४-२-३, ४)। आज कल आर्यों की सरीसृप पूजा को जंगलीपना बताते हैं। पर ध्यान रहे यह सरीसृपवाद सृष्टिविकास का एक बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण अंग है। यह क्षुद्र सरीसृपवाद कीटाणुवाद का ठेठ पूर्वरूप है जब कि रूपात्मा का आत्मा रूप में लहर रूप या क्षुद्र सरीसृप रूप में अभ्युदय होता है। यह रूप का पूर्व रूप है या अणु रूप भूतात्मा का पूर्व रूप है जिसे क्षुद्र सरीसृप या लहर में वर्णित किया गया है। यह आग्नेय लहर है जिसका विकास वारुणेय या वैद्युतीय प्रवाह में होकर, उससे भौतिक अणु का प्रथम उदय होता है। अतः इसके अनन्तर "तद्वै पय एवान्नम्" कहकर अन्न रूप भौतिक सृष्टि के उदय की बात कही है इस अन्न को (अणु को) 'इदं हि यदैवस्त्रियै स्तनावाप्यायेते ऊधः पशूनामथैव यज्जायते तज्जायते" (२-४-२) कहकर पशु या चतुष्पाद् बतला दिया है। इसी को 'रेतो वै सोमः' (३-७-१-१) कहकर सोम भी बतलाया है, और इसी को 'वृत्रो वै सोमः' (४-१-४-८) कहकर वृत्र भी कहा है। (४-३-५-५)

आगे चलकर पूरे सप्तसप्तकों का उल्लेख करते हुए पुरुष की त्रिधात्मा (त्रिपादमृतता) और चतुर्धात्मा को स्वीकार करते हुए लिखा है "सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि, अथ यदेकेन पुरुषेण (भौतिकेन पुरुषेण) आत्मानं वर्द्धयति तेन वीर्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्यच्छति" (१०-२-२४ श० ६-१-१-६)। इस चतुर्धात्मा को पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र नाम से भी पुकारा गया है "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" (६-१-२-१३)। ऐतरेय ब्रा० और श० प० ब्रा० के स एष पिता पुत्रः (६-१-२-२६) नामक वाक्य को कौन नहीं जानता ? पर खेद है इसका भाव अबतक सब ने गलत समझ रखा है। यह वाक्य उक्त पिता, पितामह, पुत्र और पौत्र के बारे में कहा गया है जो लौकिक अर्थ में भी घटित हो ही सकता है। अंग्रेजों ने इसके आधार पर कहावत तक बना डाली है 'चाइल्ड इज द फादर आफ मैन'। पौत्र भौतिक अणु है, पुत्ररूपात्मा अग्नि ब्रह्म है, पितामह रुद्र है, या कुमार है, पिता स्वयं ब्रह्म है। जीवात्मा को द्विपाद् कहा है "द्विपाद् यजमानः" (६-३-१-२१; ६-३-२-३, ६-३-२-१२, ६-३-५-१८; ६-५-१-२४)। इस चतुर्धात्मा को दो अन्य प्रकार से भी कहा है कि आत्मा के चार अंग हैं और वाणी चार अक्षर की है। अतः सर्वदिग्प्रवाही है "चत्वार्यङ्गान्यात्मा" (६-१-४-२३; ६-२-१-९) "चतुरक्षरा वै सर्वा वाग्……तस्मात्सर्वासु दिक्षु वाग्वदति" (६-२-३-४३, ४४)। अन्त में "अथ सर्वसम्पद्, चत्वारः पादाश्चत्वार्यनूच्यानि" (६-५-१-२८) "तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेतत्संभरत्यथोऽन्नं वै पशवः" (६-५-६-७) कह कर चतुष्पाद् का स्पष्ट विवेचन दे दिया है, चतुष्पाद् को पशु और पशु को अन्न कह कर वैज्ञानिक स्थिति भी स्पष्ट कर दी है कि पशु नाम प्रथम भौतिक अणु का है। यह भौतिक अणु ही बढ़कर प्राणियों या जड़ों का स्वरूप पाता है। अतः श्राद्ध करने वाले उक्त त्रिपादों को वसुरुद्र, आदित्य मानकर उनका प्रतिनिधित्व पिता, पितामह और प्रपितामह से करके ब्रह्म से अपना पूरा नाता जोड़ने का सच्चा अभिनय या प्रयास करते हैं।

५—सप्तकों द्वारा चतुष्पाद्ब्रह्म

श्राद्ध चतुष्पाद् ब्रह्मोपासना है, त्रिपाद् अमृतोपासना है 'स एष पिता पुत्रः' की साक्षात् उपासना है। यह पूजा गायत्री उपासना या ज्ञान से कम नहीं है। इन अमृतपादों की 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः' अग्नि के नाम से पुकारते हैं नृमणा स्वाधी ब्रह्म है* परिजात वेदा दूसरी है तृतीय है "विद्मा ते धाम परमं गुहा यत्' से इन्हें गुहा नाम के धाम में बतलाया है। त्रिधात्मा या त्रिपाद्ब्रह्म या त्रिपाद्पुरुष का वर्णन त्रिचक्रवाद गुहावाद तथा पुरुष सूक्त के "त्रिपादूर्ध्व पुरुषः" "त्रिपादस्यामृतं दिवि" की व्याख्या के अवसर पर दिया जा चुका है। यज्ञ पुरुष, संवत्सर अग्नि या ब्रह्म तो विवक्षानुसार पाद संख्या वाला है। इसके पञ्चपाद,

६—श्राद्ध तथा देवताओं द्वारा चतुष्पाद्

* अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुः (ऋग्वेद ३।२६।७)

षट्पाद, सप्तपाद भी हैं, त्रिपाद्, द्विपाद्, एकपाद् भी जैसा कि चक्रों की व्याख्या से स्पष्ट है। पर चतुष्पाद्ब्रह्म तो केवल गायत्री के ही पादों से विवक्षित किया गया है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इसके प्रत्येक पाद में एक-एक मुख्य आत्मा का विकास होता है। प्रत्येक आत्मा के विकास में आठ-आठ तत्त्वों की आठ-आठ सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। पादों के अनुसार जिन चार आत्माओं का मुख्यतः विकास ३३ देवताओं में होता है उनका विशिष्ट वर्णन श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ तक में विशदतया दिया गया है। चार क्रम से विकसित आत्माओं के नाम ये हैं "अग्निर्वैदेवानामात्मा" (प्रथमपाद) "वायुर्वैदेवानामात्मा" (द्वितीयपाद) सूर्यो वै देवानामात्मा" (चतुर्थपाद) "चन्द्रो वै देवानामात्मा" (चतुर्थपाद) इसी चतुर्थ पाद का पुनः विकास वृत्र या वरुण रूप में होता है उसे "वरुणो वै देवानामात्मा" भी कहते हैं। इनको आत्मा घोषित करने वाली ऋचायें मिलती हैं जो इन्हीं की व्याख्या के शीर्षकों ('अग्नि' 'वायु' 'सूर्य' 'चन्द्रमस् या सोम' और वरुण' या 'वृत्र') में उपलब्ध हो जावेंगे। वैसे सभी देवता आत्मा रूप ही हैं।

"आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।"

(मनुस्मृति १२-११९)

चतुष्पाद्ब्रह्म की पूर्वोक्त चार आत्मायें "सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि चत्वारो हि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रयः पक्षपुच्छानि (श० प० ब्रा० ६-१-१-६; १०-२-२-४) दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निम्न प्रकार से वर्णित किये गये हैं। प्राणविद्या में ये चार आत्मायें क्रम से प्राण, उदान, व्यान, अपान हैं (श० प० ब्रा० ४-१-२-२) जिनका विकास प्रथम चार पादों में क्रम से एक-एक पाद एक-एक देवता रूप तत्त्वों में बड़ी लम्बी प्रणाली से होता है। गणदेवता विद्या में ये चार पाद वसु, रुद्र, आदित्य (प्रथम भाग) और आदित्य द्वितीय भाग है। ब्रह्मविद्या में प्रथम पाद ब्रह्म है, द्वितीय प्राणात्मा है, तृतीय कर्मात्मा या तैजसात्मा है, चतुर्थ भौतिकात्मा। पुरुषवाद में इनके नाम क्रम से ब्रह्म, पुरुष, प्राणात्मा, सततकर्ममयात्मा और बुद्धि या आसुरी आत्मा (भौतिकात्मा) है। यज्ञवाद में इनके नाम आदि ब्रह्म-अक्षर ब्रह्म (कूटस्थ), विसर्गब्रह्म और क्षर ब्रह्म हैं। इनका यह क्रम गीता में इस प्रकार मिलता है। अक्षरब्रह्म, जीवब्रह्म, कर्मब्रह्म और यज्ञब्रह्म। ये चार आत्मायें हैं। यज्ञब्रह्म से विकास की सीढ़ियाँ-यज्ञब्रह्म, पर्जन्य, अन्नब्रह्म (या सोम)-अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल बीज। जैसे—अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।" आदिब्रह्म इन सबका मूल स्रोत है। वैयक्तिक देवतावाद में इन चार पादों के नाम क्रम से [ब्रह्म] कः (अक्षर ब्रह्म)-रुद्र, इन्द्र, सूर्य, चक्षु, सोम, चन्द्र, विष्णु, सविता, त्वष्टा, वृत्र,-अश्विनी, सूर्या, सावर्णि, यम] आदि हैं। अग्निवाद में ये अग्नि-परिजात

७—चतुष्पाद्ब्रह्म की चार आत्मायें कौन हैं ?

वेदस्-(अतिथि या) जातवेदसः—वैश्वानर हैं। सप्तर्षिवाद में ये प्राणवाद के अनुरूप हैं, चतुर्थ ऋषि अत्रि हैं, उन्हीं को चक्षु का नाम सूर्य है, चन्द्रमा उसीसे उत्पन्न होता है। चतुर्थ पाद के तत्त्वों के तो सैकड़ों नाम हैं। कहां तक गिनाया जाय। "चत्वारि वाक् परमिता पदानि" के तीन पद प्रथम तीन सप्तक हैं। चतुर्थ पद या पाद परा या उत्तरार्द्ध की वाक् है 'पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी' वाणियों का इन चार पदों या पादों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो पारमाणविक या महाभूतीय वाणियाँ हैं जिनका उदय वैदिक दर्शन के पूरे तत्त्वों के विकास के पश्चात् होगा। श. प. ब्रा. की दी हुई पञ्चात्माओं का विकास क्रम यह है कि अग्नि, आत्मा, वायु, आत्मा, सूर्यात्मा [वरुणात्मा-चन्द्रात्मा] सोम। इन चारों आत्माओं का सम्मिलन हिरण्यगर्भ है, सहस्रशीर्षा पुरुष है, बृहस्पति है, ब्रह्मणस्पति है, महादेव है, (वृषभ) अग्नि है, सोम है, इन्द्र है, प्रजापति है, द्यावापृथिवी है, द्यावाभूमि इत्यादि है।

जिनको पिछले परिच्छेद में चार आत्मायें या चतुष्पाद् अक्ष कहा गया है। वे ही वैदिक दर्शन के तत्त्वों की जाति परक व्याख्या या कल्पना के आधार भी हैं। वैदिक दर्शन के प्रथम चार पादों के ३२ तत्त्वों में से प्रथम पाद के तत्त्वों का नाम ब्राह्मण है, द्वितीय पाद के तत्त्वों का क्षत्र या राजन्य है, तृतीय पाद के तत्त्वों को विट् या वैश्य कहते हैं और चतुर्थ पाद के तत्त्वों को शूद्र या दास नाम से भी पुकारा जाता है। यह तो ठेठ पुरुष सूक्त के निम्न दो मन्त्रों का सीधा अर्थ है जिनका पाठ इस प्रकार है।

८—चार वर्ण

"यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि कई मध्ययुग के उपनिषदों से लेकर सायण तथा आधुनिक आलोचकों या अनुवादकों ने इस ऋचा में वर्णित ब्राह्मणादि जातियों को लौकिक या हिन्दुओं की जातियाँ ही समझ कर बहुत बड़ा अनर्थ कर रखा है। वैदिक युग में आर्यों में निःसन्देह चार जातियाँ थीं, पर ये जातियाँ सब आर्य ही थे और सब कर्ममय भेद से बँटे थे, सबमें बराबरी का अधिकार था। प्रत्येक आर्य ब्राह्मण भी था, क्षत्रिय भी था, वैश्य भी था और शूद्र भी था जैसा कि वेदों में प्रत्येक देवता कर्म और स्थान भेद से ब्राह्मण भी है, क्षत्रिय भी है; वैश्य भी है, शूद्र भी है। जैसे "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" में ब्राह्मण शब्द समस्त ब्रह्मवादी आर्य जाति के लिए आया है। वैदिक आर्य ब्रह्मवादी थे। अतः उन्होंने भारत का नाम ब्रह्मावर्त रखा, भाषा का नाम ब्राह्मी रखा, आर्य जाति का नाम ब्राह्मण रखा, लिपि का नाम भी ब्राह्मी ही रखा और वेदों का नाम भी ब्रह्म रखा, तदनुकूल जो वेदों के दर्शन का अनुयायी रहा वह ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, ब्रह्माध्यायी, ब्राह्मण तथा

ब्राह्मी भाषा और लिपि का भाषी और लेखक भी ब्राह्मण ही कहा जाता रहा। इतना अवश्य था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की श्रेणियों की ऊँचता-नीचता भी उनके मुख्य कर्म के अनुकूल समझी जाती रही। कर्म में ऊँचता-नीचता रही न कि वंशानुगत। जो कोई ब्राह्मण का सा कर्म करे वह ब्राह्मण था, पैदा कहीं हो ऐसा ही जो क्षत्रिय का सा काम करे वह क्षत्रिय ही था, पैदा कहीं हो इत्यादि। यह सब होते हुए भी वेदों में या उक्त ऋचा में जिन ब्राह्मणादिकों के जन्म की कथा ब्रह्म या ब्रह्मरूप पुरुष के विभिन्न अंगों से बतलाई गई है। वे जातियाँ आर्यों की सामाजिक जातियाँ न होकर देवताओं या तत्त्वों की जातियाँ हैं। यह भी तो किसी ने समझने का प्रयत्न नहीं किया कि लौकिक जातियाँ ब्रह्म से सीधे कैसे उत्पन्न हो जातीं हैं और वे भी उसके विभिन्न अंगों से?

वास्तविक बात यह है कि यहाँ पर जिन ब्राह्मणादिक जातियों की चर्चा है वे तत्त्वों के क्रमिक विकास देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए बिलकुल साफ लिखा है कि ये जातियाँ तत्त्वों

९—वैदिक चतुष्पाद्ब्रह्म और वैदिक वर्ण

या देवताओं की हैं जैसे "ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्रात् परं नास्ति। तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते॥ स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥ स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च॥ (१-४-११, १२, १३) इसमें ब्राह्मण तत्त्व तो ब्रह्म है, प्रथम सप्तक है, वही मुख है, द्वितीय सप्तक क्षत्र या राजन्य है। इसमें क्षत्र जाति के देवताओं के नाम स्पष्टतः दिये हैं कि वे इन्द्र, वरुण, सोम रुद्र, पर्जन्य, मृत्यु, ईशान देवता हैं। तृतीय सप्तक वैश्य या गुरु हैं। ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वे देव और मरुत हैं। चतुर्थ सप्तक शूद्र और चरण हैं। इस जाति में केवल पूषा देवता है, पूषा आदित्य है। कई बातें ध्यान देने योग्य और हैं। उक्त ऋचा में 'ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ' ऐसा नहीं कहा है वरन् 'ब्राह्मण मुख था, कहा है, ऐसे ही 'राजन्य को बाहू बनाया' कहा है, न कि राजन्य बाहु से उत्पन्न हुआ है, कहा है। इसी प्रकार उसके उरु वैश्य जाति से तादात्म्य या रूपक बताया है न कि ऊरू से उत्पत्ति, हाँ शूद्र की उत्पत्ति पांवों से बताई है पर शूद्र भौतिक तत्त्व है, यही एक जन्म लेता है। अतः अजायत कहा है। दूसरी बात, प्रश्न में 'कतिधा व्यकल्पयन्' 'कितने प्रकार से कल्पना की' वाक्य स्पष्ट बतला रहा है कि तत्त्वों की इन जातियों की तो केवल वर्णन के लिए कल्पना की गई है। तीसरी बात जो उल्लेखनीय है वह यह है कि एक ही देवता कभी ब्राह्मण है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र जैसे उक्त उद्धरण में प्रथम पाद वसुओं का है। ये ब्राह्मण हैं पर गणरूप में वे विश हैं। रुद्र अकेले क्षत्र हैं, गजरूप में वैश्य हैं। बृहस्पति ब्राह्मण हैं पर विश्वदेवताओं में विश हैं। अग्नि, सोम, इन्द्र

रुद्र, वरुण सर्वादेवता हैं इनकी सब जातियां हैं। प्रत्येक देवता का विकास चतुर्थ पाद में अवश्य होता है। वहाँ वह नियमतः शूद्र ही है शूद्रता भौतिकात्मा की प्राप्ति है।

ऋषिरूप देवता और प्राणरूप देवता सब ब्राह्मण हैं। प्राणरूप देवताओं में सु और असु तथा इनसे उत्पन्न सुर और असुर हैं। ये दोनों के दोनों बाह्य सृष्टि हैं, ब्राह्मण हैं देवता भी ब्राह्मण हैं, और असुर भी ब्राह्मण हैं। प्रजापति भी ब्राह्मण हैं, सप्तर्षि भी ब्राह्मण हैं। पुलस्त्य, रावण, वृत्र, त्वष्टा, विश्वरूप त्वाष्ट्र, विश्वकर्मा सब ब्राह्मण हैं, ऋषि हैं। क्योंकि ये सब प्राणरूप, ऋषि-रूप ब्रह्म या प्रजापति की सन्तानें या विकास हैं। परन्तु जब इनका वर्णन चतुर्थपाद या चतुर्थ सप्तक के विकास के रूप में वर्णित किया जाता है तो इनको शूद्र कहा जाता है। दास नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इनमें आसुरी शक्ति की बहुलता और भौतिक शरीररूप दासता होती है। रावण ब्राह्मण था, यह सब जानते हैं। वृत्र की हत्या से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी। तब उसके शरीर में हजारों भग हो गये यह कथा पुराण में आती है, यह वैदिक कथा है। दार्शनिक कथा है। भग २४ वें तत्त्व वाली योनियाँ हैं उनसे सहस्रचक्षु सूर्य उत्पन्न होता है। तब सहस्राक्ष सोम या वृत्र का पूर्णदमन या बन्धन या बध होता है। यह ब्रह्म-हत्या नहीं ब्रह्म विकास है। जिसका लौकिक रूपान्तर उक्त रोचक कथा के रूप में वर्णित है।

१०—वैदिक दर्शन के तत्त्वरूप ब्राह्मण

लौकिक संस्कृत के प्रथम महाकवि वाल्मीकि तो भाग वीयाङ्गिरसीय तत्त्वों के विकास रूप च्यवन ऋषि के प्रतिनिधि हैं और उनका वाल्मीकिरूप शरीर जीर्णिः कृत्या रूप शरीर है। 'कविमिव प्रचेतसं' (ऋ. वे. ८-८४-२) के आधार पर इनका प्रचेतस और कवि नाम वरुण या मित्रावरुण रूप में दिया गया है। इनका रावण भी आसुरी विराट् पुरुष है जिसका बध उन्होंने रामरूप इन्द्र से कराया है और यह आसुरी विराट् वेदों का वृत्र है। सीता वाग्ब्रह्माणी हैं, दैवी वाग् हैं। यह उत्तरार्द्ध की परा वाग् है। कवि वाल्मीकि ने वैदिकदर्शन के उद्धार की प्रतिज्ञा में इसी सीता के उद्धार की प्रतिज्ञा भी की है "अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव" (सुन्दरकाण्ड)। इन्होंने नष्ट वेद श्रुतियों का व्याख्यान नवीनरूप में प्रस्तुत किया है। अस्तु ! रावण तो 'वृषभो रोरवीति' का प्रतीक रावण (रोरवीति इति रावणः) है। इसके मुखों और शिरों का वर्णन अथर्ववेद ने इस प्रकार दिया है।

११—वैदिक और पौराणिक ऋषियों में रूपान्तर

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराारसं विषम् ॥" (४-६-१)

जहाँ दस-दस तत्त्वों से दर्शन के तत्त्वों का विभाजन होता है वहां विराट् दल की व्याख्या होती है क्योंकि इनमें विराट् छन्दके अक्षरों से वर्णना की जाती है,

बृहदारण्यक के उक्त उद्धरण के क्रम से ही ब्राह्मणादि जातियों का विकास, क्रम से १०, १० तत्त्वों का होता है। इसको दशाङ्गुलि सरणि कहते हैं* आदि के दस तत्त्व दस मुख्य प्राण कहलाते हैं। शेष हाथ की दस अङ्गुलियां, पाद की दस अङ्गुलियां सब मिलाकर ३० तत्त्व होते हैं। प्रथम तीन पाद चाहे किसी सरणि के हों विद्या नाम हैं, अन्तिम पाद अविद्या का है अर्थात् अविद्या माने भौतिक तत्त्व होता है। अतः शूद्र को 'अविद्या' या अविद्यः या निर्विद्य या विद्याधिकार-हीन या विद्या क्षेत्र से बहिर्भूत कहते हैं। लोगों ने इसका अर्थ भी चौपट कर दिया है। वे शूद्रों को वेदों के पढ़ने का अधिकार ही नहीं मानते। यही बात स्त्रियों के लिए है। शूद्र तत्त्व रूप भौतिकात्मा को पूर्वार्धीय द्यावा रूप पुरुष की पृथिवी रूप 'स्त्री' कहा जाता है। 'द्यावापृथिवी' के स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त शरीर में द्यावा विद्या है, पृथिवी अविद्या। अतः स्त्रियों को भी वेदाध्ययन अधिकार से उक्त प्रकार की समझ के कारण शूद्रों की तरह वञ्चित मानने और करने लगे। वेदों में तो कई स्त्रियाँ स्वयं मन्त्र रचयिता ऋषि हैं, कई वेदज्ञ महिलाओं की चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलती है। इनके महत्त्व की ओर भी वे ध्यान नहीं दे सके (ऋ० वे० १०-१५६;१०-४५; १-१२६-७; ५-९; ५-२८, १०-१६० आदि देखें) यहां तक कि एक शूद्र आर्य भी वेदों के मन्त्रों का रचयिता है, ऊर्ध्वग्रावा उसका नाम है। एक और बात है। प्रत्येक देवता जब-जब चतुर्थ सप्तक या शूद्र सप्तक या भौतिकात्मा को धारण या बन्धन रूप में प्राप्त करता है। उसे नियमतः असुर नाम से भी पुकारा गया है। 'देवासुर' शीर्षक देखें। जिनको 'अस्य वामस्य पलितस्य' मन्त्र(ऋ० वे० १-१६४-१) पालन, होता, मध्यम भ्राता, तृतीय भ्राता के नाम से पुकारता है वे उन्हीं चार भ्राताओं में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ भ्राता हैं। जिन्हें यजुर्वेद 'बन्धु, सुबन्धु, प्रियबन्धु और विश्वबन्धु के नाम से पुकारता है। प्रत्येक पाद एक भाई है। चारों भाई मिलकर चतुष्पाद् ब्रह्म कहलाते हैं। येही चार भाई ही चार वर्णों के मूल स्रोत भी हैं। एक ही पिता के चार पुत्र चार वर्ण हैं, अतः वर्णों के सम्बन्ध में वेदों में सामाजिक भेद नहीं है। केवल धार्मिक और अवस्था (छोटी-बड़ी अवस्था) का भेद है। बड़ा भाई ऊँच, छोटा नीच नहीं होता। भाई सब बराबर ही समझे जाते हैं केवल अवस्था (आयु, धनादि, पद) भेद को छोड़कर।

---

* श. प. ब्रा. ३-८-४-१—"दश पाण्या अङ्गुलयो दशपाद्या दशप्राणाः, प्राण उदानो व्यान इत्येतावान्वै पुरुषः।

† अव्यय उपनिषद् तो ब्राह्मण को १२ तत्त्वों का बतलाता है, क्षत्रिय और वैश्यों को १०, १० का (५) इनमें आठ वसुओं को मिलाकर कुल ४० तत्त्व हो जाते हैं।

अध्याय २३

'हमारा वास्तविक ब्रह्मसूत्र' ('गायत्रीब्रह्म')

भारतीय आर्यों का ब्रह्मसूत्र तो प्रत्येक वैदिक सन्तान के गले का हार बन गया है, वैदिकों के ब्रह्म सूत्र* के दो भाग थे, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रत्येक अर्द्ध में २५, २५ तत्त्व थे। उन्हीं तत्त्वों को वे ब्रह्म-सूत्र कहते थे। कुल ५० मुख्य सूत्री तत्त्व थे, इनमें चतुष्पाद् ब्रह्म या चार आत्मायें जोड़कर, कुल ५४ सूत्र बन जाते थे। इन ५४ सूत्रों के प्रतीक और अमर प्रतीक के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध के २७, २७ सूत्रों के दो प्रतीकों के दो उपवीत बनाये गये थे। इनमें भी सचमुच ५४ ही सूत्र होते हैं जो सचमुच में वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों और उनसे बने इस पवित्र ब्रह्माण्ड के, और चतुष्पाद् ब्रह्म रूप इस देह के पुनीत प्रतीक थे। और उपवीत संस्कार इसी ब्रह्मज्ञान के संस्कार को नित्य रूप से देह और अन्तर्देह में स्थापित करने का 'न भूतो न भविष्यति' के समान अमरज्ञान का संस्कार था। उपवीत की ग्रन्थि का नाम अबतक 'ब्रह्मग्रन्थि' ही कहा जाता है। ये ग्रन्थियाँ भी दो होती हैं, ये ग्रन्थियाँ दो मुख्य ब्रह्मों की असद्ब्रह्म और सद्ब्रह्म की प्रतीक थीं। एक पूर्वार्द्ध का प्रथम ब्रह्म है, दूसरा उत्तरार्द्ध का प्रथम ब्रह्म। वैदिक साहित्य में सूत्र साहित्य का सूत्रपात भी गायत्री के इन्हीं ५४ सूत्री वैदिक दर्शन की प्रणाली की अनुकृति में हुआ था। इसी ५४ सूत्री वैदिक ब्रह्मसूत्र में वैदिकदर्शन के ५० तत्त्व और चतुष्पाद् ब्रह्म या ४ आत्मा रूप मणियाँ 'सूत्रे मणिगणा इव' उद्ग्रथित थीं।

१—गायत्री और वैदिकदर्शन

आज यदि किसी से पूछा जाय कि आप जनेऊ क्यों पहिनते हैं? चोटी क्यों रखते हैं? इनका उत्तर किसी के पास कुछ है ही नहीं, केवल सनातनधर्म या संस्कृति या परिपाटी की दुहाई दी जाती है। इसी लिए कई नये-नये पढ़े-लिखे लोगों ने इसे या इन्हें सदा के लिए तिलाञ्जलि दे दी है। हाँ, हमारे यहाँ के वैदिक चोटी क्यों रखते थे? चोटी एक शब्द में, 'ज्ञान ज्योति' का प्रतीक है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र जिसके गले का हार है, उसका ज्ञानी होना अनिवार्य और स्वभावतः स्वयं सिद्ध वस्तु होती है। जिसको वैदिक ब्रह्मसूत्र का, ५४ सूत्र का पूर्ण ज्ञान है। उसके पास ज्ञान दीप शिखा अपने आप प्रज्वलित बनी

२—जनेऊ और चोटी क्यों रखते हैं?

---

* वैदिकों के ब्रह्मसूत्र में आठ अध्याय थे और ५ पाद। प्रथम सूत्र था 'श्रीः' दूसरा 'गणपतिं हवामहे' पच्चीसवां सूत्र "चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। चौबीसवां 'ॐतत्सत्' चालीसवां ततो वै विराडजायत 'तस्माद्विवर्तः' इत्यादि।

रहती है। इस प्रकार हमारे पूर्वज वैदिक आर्य अपनी भावी सन्तानों को ब्रह्म ज्ञानी रूप में या ब्रह्मज्ञानज्योति शिखा रूप में देखना चाहते रहे। इसीलिए उन्होंने इस आदर्श जीवन प्रणाली की अमर नींव डाली थी। वे यह चाहते रहे कि उनकी सन्तानों का बच्चा-बच्चा ब्रह्मज्ञान का पूर्ण ब्रह्माण्ड बना रहे, गायत्री ब्रह्म उनके गले का उज्वल हार बना रहे, उनके मस्तिष्क में ब्रह्मज्ञान की दीप शिखा निरन्तर प्रदीप्त रहे। कितनी दूरदर्शिता की, सर्वजन मंगलकामनाकी, सर्वाभ्युदय की उदात्त भावना थी जिसे आज हमारा अज्ञान भार सा समझता है या पगपगपर ठुकराया जाता है। इससे अधिक दयनीय दशा और क्या हो सकती है ? यह तो रही प्रतीक के तिरस्कार या अवहेलना की बात। वास्तविक बात तो यह है कि आज के युग में, लगभग तीन हजार वर्ष पहले से गायत्री के बारे में जितना भ्रम है उतना अधिक अन्य विषयों में नहीं। लोग तो यह भी नहीं जानते कि गायत्री है क्या वस्तु ? और उसका जो सूर्य है, वह कौन है ? 'गायत्री' वास्तव में पूरा वैदिक विश्वदर्शन है। उसका सूर्य, आकाश में चमकने वाला सूर्य न होकर, दर्शन के उत्तरार्द्ध के भौतिक सृष्टि के प्रथमोदय का प्रथम बिन्दु है, जिसको सविता २५ वाँ तत्त्व या सोम भी कहते हैं। उस अर्क-सविता का सर्वप्रथम विकास पूर्वार्द्ध का सर्वप्रथम तत्त्व है।

गायत्री को आजकल के लोग केवल एक छन्द या बहुत हुआ तो इस छन्द का एक मन्त्र, वह भी 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि ही तक सीमित समझते आ रहे हैं। ऐसा नहीं है। 'गायत्री' काम तो वास्तव में साक्षात् ब्रह्म ही का नाम है। ब्रह्मवाद की सरणियों में जितनी प्यारी वैदिकों को यह सरणि है उतनी और कोई दूसरी नहीं। गायत्री छन्द इस सरणि का मुख्य मेरुदण्ड है।

३—गायत्री क्या वस्तु है ?

गायत्री छन्द में तीन पाद और २४ अक्षर होते हैं। ये २४ अक्षर गायत्री ब्रह्मवाद के २४ तत्त्वों का संकेत करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३-२२) में लिखा है "छन्दसां देवता अत्तरभाजः करोति, अत्तरमक्षरमेव तद् देवता।" वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में 'देवता' शब्द तत्त्ववाची है, पूजा और प्रार्थना में ही उन्हें 'देवता' नाम से पुकारा जाता है। इसी से लोगों को भ्रम होता चला आ रहा है। वेदों में ब्रह्म को जो एकपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद् या चतुष्पाद् नाम से पुकारा जाता है, उसका आधार भी इसी गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के तत्त्वरूप ब्रह्म के विकासों का विवेचन देना है, प्रथम आठ विकासों को एकपाद् ब्रह्म कहते हैं, द्वितीय पाद के आठ ब्रह्मों को द्विपाद् ब्रह्म कहते हैं, तृतीय पाद के आठ ब्रह्मों को त्रिपाद् ब्रह्म कहते हैं। चतुर्थ पाद अनुष्टुप् का मिलाकर 'चतुष्पदा गायत्री कहते हैं, इसीलिए गायत्री को 'दर्शत चतुर्थपदा' नाम से पुकारा जाता है (आगे का उद्धरण देखिए। जिसको वेदों में 'गुहा' या 'त्रिःसप्त' कहते हैं वह भी इसी गायत्री के तीन पादों के २४ तत्त्वों का संकेत करते हैं। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' मन्त्र में जिन्हें 'गुहा त्रीणि निहिता' और जिसे 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति'

कहा है कि वे भी तीन सप्तकों के प्रथम तीन पदों के २३ तत्त्वों का निर्देश करते हैं। समस्त संवत्सर ब्रह्मवाद जिसमें अयनवाद, ऋतुवाद, द्विधा अहोरात्रवाद, पक्षवाद, ब्राह्ममुहूर्त, उषा, सूर्यचन्द्रोदयवाद हैं। इन सबको इसी गायत्री ब्रह्मवाद की उपासना के अनुकूल ढालने का परम वैज्ञानिक प्रयास किया गया है। इसी गायत्री ब्रह्मवाद पर सोमवाद और सवितावाद भी लटका है। गायत्री ब्रह्म वैदिकदर्शन का पूर्वार्द्ध या २४ तत्त्वों का संकेत करता है। अतः २४ वें में चौथे पद को दिखाने वाली यह 'दर्शत चतुर्थपदा' कहलाती है। इसे यज्ञ (दर्शन) का पूर्वार्द्ध माना जाता है "गायत्री पूर्वार्द्धो यज्ञस्य" (शतपथ ब्राह्मण ३-४-१-१०; ३-५-३-२०)। पुरुष सूक्त में 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' और 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' इत्यादि वाक्य इसी गायत्री ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। लोग इन 'पाद' शब्दों का अर्थ हम आप जैसे लोगों के 'पावों' को समझते हैं, ब्रह्म का जो परम प्रसिद्ध नाम 'पुरुष' है जिससे 'पुरुषसूक्त' नाम पड़ा है, जिसे सांख्य में 'पुरुष' कहते हैं। उपनिषदों, ब्राह्मणों में भी वह इसी गायत्री ब्रह्म का पति कहलाता है। ऐतरेय ब्राह्मण ने स्पष्ट लिखा है "गायत्रो वै पुरुषः" (४-१-३)। अतः पुरुष सूक्त, गायत्री सूक्त है, जहाँ-जहाँ उपनिषदों में पुरुष शब्द है वह केवल गायत्री ब्रह्म की ही व्याख्या देता है। इस प्रकार इस गायत्री ब्रह्म सूत्र में वैदिक दर्शन के अनेकों मार्ग मणियों की तरह पिरोये गये हैं। जैसे पुरुष सूक्त में वैदिक कालीन कई मार्गों का एकत्र अन्तर्भाव किया गया है, पुरुष सूक्त स्वयं गायत्री सूक्त है। अतः स्वयं पुरुष सूक्त ने अपने समय में प्रचलित वैदिक दर्शन के उज्वलतम हीरों के समान मार्ग रूप या शाखा रूप दर्शनों की सरणियों का इस गायत्री ब्रह्म को चूडामणि बना रखा है। यह किसी से छिपा नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि गायत्री ब्रह्मवाद वैदिकों का सबसे अधिक प्यारा, प्रधान ब्रह्मज्ञान मार्ग है, जिसकी आज यह दशा है।

४—गायत्री ब्रह्म और छान्दोग्य उपनिषद्

गायत्री ब्रह्मकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या छान्दोग्य उपनिषद् ने दे रखी है कि गायत्री तो इस अखिल ब्रह्माण्ड का मूलभूत तत्त्व और शब्दरूप तत्त्व है। गायत्री माने जो गाता है या ध्वनिमय वाक है और सबका त्राता या आधार भूत तत्त्व है" वह प्राण स्वरूपिणी है, जिसके बल पर यह समस्त जगत् जीवित सा कार्यरत है। यह वही गायत्री है जिसे चतुष्पदा या षड्विधा गायत्री कहते हैं, इसके पाद समस्त तत्त्वों का विस्रंसन करते हैं जिनमें से त्रिपाद् या प्रथम तीन पाद, २५ तत्त्वों को अमृत नाम से पुकारा जाता है इत्यादि जैसे "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच। वाग्वै गायत्री; वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी (भू आदि तत्त्व)। अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमे तामेव नातिशीयते। या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः(गायत्री)प्रतिष्ठिताः····सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाऽभ्यनूक्तं 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि

त्रिपादस्यामृतं दिवीति। (३-१२-१)। इसी बात को शतपथ ब्राह्मण इस प्रकार लिखता है "सर्वः कृत्स्नो मन्यते सानोऽगायात् गायति वैव गीते वा रमते गायत्री (६-१-१-१५) बृहदारण्यक उपनिषद् ने उक्त सिद्धान्त के समर्थन में एक और नई बात सामने रखते हुए लिखा है कि 'गय' नाम प्राणों का है, जो प्राणों का त्राण करती है, वही गायत्री कहलाती हैं। "गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्रणाँस्तत्रे तद्यत् गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम" (५-१४-४) ध्यान रहे स्वस्तिवाचन मंत्र में 'अंहोमुञ्चमाङ्गिरसं गयं च में जो 'गय' शब्द आता है। वह इसी 'गायत्री' के गयाः—प्राणाः का संकेतक है। इस गय की कथा ही निराली है उसके विवेचन का यहां स्थान नहीं है। यह उपनिषद् गायत्री के सूर्य को उसके चतुर्थ पाद में २४ वें के पश्चात् मानते हुए लिखता है 'अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा····चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं' तस्या उपस्थानं—गायत्र्यस्येकपदीद्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसा-वदो मा प्रापदिति ॥(५-१४-३-६) चक्षुर्नाम (छा.उप) दैवं चक्षुः माने तत्त्व रूप चक्षु होता है, इसी का उपस्थान किया जाता है। यह तत्त्व रूप सूर्य भौतिक सृष्टि का पूर्व रूप तत्त्व है जहां से भौतिक शरीर का दिव्य शरीर बनना आरम्भ होता है। यास्क ने "त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतद्" ब्राह्मणवाद को उद्धृत करते हुए त्रिगमना वा विपरीता व्युत्पत्ति किसी प्राचीन निरुक्त से उद्धृत करके बिना समझे दी है, पर ठीक है। त्रिगमना माने त्रिपाद गमना ठीक बैठता है और विपरीतं मुखादुदपतत् भी मरा से रामकी तरह त्रि गाय से गायत्री ठीक ही है; (नि. ७-३-५)।

वेद शब्द ब्रह्म या गायत्री ब्रह्म का रूप है, यह स्वयं वेद लिखता है "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः॥" (शतपथ ब्राह्मण १-७-३-३३;यजुर्वेद-२-२१) "वेदेन रूपे व्यपिबत्'(यजु०१९-७८)।

५—वेद और गायत्री

ब्रह्म ही वेद है। ब्रह्म के प्रथम तीन पादों के क्रमिक विकासों का नाम ऋक्; यजुः और साम है। पुरुष सूक्त भी जब यह कहता है कि 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि तब वह इसी बात का स्पष्ट विवेचन करता है कि वे इसी ब्रह्म के ध्वनि रूप, प्राणरूप विकास हैं, मश्नरूप नहीं क्योंकि बृहदारण्यक गायत्री के पादों से तादात्म्य करते हुए स्पष्ट लिखता है "ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराणि वा एकं गायत्र्यै पदम्" कि ऋग् नाम आठ अक्षरों के गायत्री के प्रथम पाद का नाम है, यजुः पुनः आठ अक्षरों के द्वितीय पाद का नाम है, साम तृतीय पाद के आठ अक्षरों का नाम है। प्रथम में शुद्ध स्वर का विकास होता है। द्वितीय में दीर्घ या द्वित्व या अन्तःस्थ स्वरों का, तृतीय से प्लुत और सानुनासिक ऊष्माणों का। यह शब्दब्रह्म का क्रमिक विकास है। जो २४ वें तत्त्व में 'ॐ' या 'हरि ॐ' का निर्माण प्रस्तुत करते हैं। यही शब्द ब्रह्म वेद है, अपौरुषेय है और नित्य है। इसमें किसी के खण्डन-मण्डन का कोई स्थान नहीं है। इस वेद ब्रह्म की व्याख्या, मंत्र रूप वेदों

में की गई है। उक्त शब्द ब्रह्म रूप वेद व्याख्या करने वाले मंत्रों को भी वेद नाम से पुकारते आ रहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्म शब्द माने 'ब्रह्म' भी होता है। ये मन्त्र न तो अपौरुषेय हैं, न नित्य, इन्हें ऐसा सिद्धकरना केवल वितण्डा है, व्यर्थ की माथा पच्ची है। ठग विद्या है और पढ़े लिखे की भाषा में हठ है। हमारे उपवीत के तीन वेद रूप ब्रह्म के विकासों के द्योतक हैं। प्रत्येक पलड़े में ९, ९ सूत या सूत्र होते हैं। उनकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ने फिर परम वैज्ञानिक ढंग या प्राणवाद में घटाते हुए इस प्रकार दे रखी है। जैसे "गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राणामेवास्मिन्नेतद्धाति;तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्धाति तासां नव पदानि नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्धाति।" (६-४-२-५)। मुख्य प्राण तीन हैं, प्रथम पाद में प्राणों का, द्वितीय में उदान का, तृतीय में व्यान का मुख्यतः विकास होता है, पर प्रत्येक में विकास होता है, पर प्रत्येक के विकास में नौ-नौ सीढ़ियाँ लगती हैं, उन्हें नव प्राणाः कहते हैं। इसी प्रकार गायत्री ब्रह्म प्राणमय ब्रह्म का विकास है। यही प्राणमय ब्रह्म शब्द ब्रह्म है। यही शब्द ब्रह्म ॐ ब्रह्म है। यह ॐ ब्रह्म हम-आप लोगों का उच्चरित ध्वनि रूप प्राणमय शब्द ब्रह्म है।

६—गायत्री और सप्तलोक

नारायणोपनिषद् गायत्री ब्रह्म को ओंकार ब्रह्म मानकर सप्तधामों का विवरण देता है। वे हैं "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्"। इनका प्रयोग प्राणायाम खींचते समय किया जाता है। ये नाम दर्शन के सात लोकों, सात पुरुषों, या सात सदों के हैं। लोग इन्हें उलटा समझते हैं, वे भू माने हमारी पृथिवी ही समझते हैं, यह सबसे महान् भूल है। यहाँ तो ब्रह्म के विकास की बात है। इस पृथिवी की कहीं भी नहीं। हमारा ब्रह्म दर्शन 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं' वृक्ष है, उलटा वृक्ष है। इस वृक्ष की उत्पत्ति की मुख्य भूमि को, जड़ों वाली भूमि को 'भू' कहते हैं, यह भू साक्षाद् ब्रह्म ही का नाम है, भुवः नाम उस भूमि का है जहाँ पर वृक्ष भूमि पर खड़ा दीखता है। भू प्रथम पाद है, भुवः द्वितीय पाद, स्वः तृतीय पाद है, महः चतुर्थ पाद, जनः पञ्चम पाद है, तपः षष्ठ, तब सत्यम् (या व्यक्तब्रह्माण्ड) सप्तम पाद। यह वैदिक दर्शन की सप्तपदी है। इस सप्तपदी में पूरे ५० तत्त्व आ जाते हैं। उक्त उपनिषद् गायत्री को त्रिसुपर्ण नाम से पुकारता है, ये तीन सुपर्ण,-गरुत्मान् (अत्रि २४ वां) सुपर्ण (सूर्य २५ वां) और दिव्यः सुपर्ण (२६ वां सविता) है। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखायः' के दो सुपर्ण अन्तिम हैं। 'भूः' को साक्षाद् ब्रह्म कहने का प्रमाण शतपथ ने इस प्रकार स्पष्ट दे रखा है "स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत् भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत् स्वरिति सासौ द्यौरभवत्" (११-१-६-३) कि प्रलयकाल में सर्व प्रथम वाणी जिसका ब्रह्म ने उच्चारण किया वह थी 'भूः' उससे भुवः नामकी (पृथिवी धरातल तत्त्वों का) प्रगट हुई, प्रथम को अन्तरिक्ष भी कहते हैं, भुवः को पृथिवी या वेदि भी, और द्यौ से,

उसी ब्रह्म से तब तृतीय पद 'स्वः' उत्पन्न हुआ। यहाँ ब्रह्म के प्रथम तीन पदों की चर्चा है जिन्हें "गुहा त्रीणि निहिता" कहते हैं*। ये पद प्रथम तीन पादों के संकेतक हैं हमारी मिट्टी की भूमि की कहीं भी चर्चा ही नहीं है।

ब्रह्मोपनिषद् ने गायत्री ब्रह्म की जितनी चोखी व्याख्या दी है; सम्भवतः उतनी किसी अन्य ग्रन्थ ने नहीं। उसने हमारे शरीर में गायत्री ब्रह्म के पादों का स्थान बतलाते हुए गायत्री ब्रह्मसूत्र की बड़ी ही अनमोल व्याख्या प्रस्तुत की है जो ध्यान देने योग्य है "अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्द्धा च। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्"

७—ब्रह्मोपनिषद् में गायत्री व्याख्या

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुरिति॥
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद् योगी योगवित्तत्वदर्शिवान्॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा॥
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः।
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः॥
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्।
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्॥
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः।
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्॥
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः॥"

(ब्रह्मोपनिषद्)

* चत्वारि वाक् परिमिता पदानि के 'गुहा त्रीणि निहिता' पद यही भूः, भुवः, स्वः है, इसका ही नाम पद या पाद है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् ने उक्त उद्धरण 'सशिखं वपनं' से लेकर 'इति ब्रह्मविदो विदुः' तक ज्यों का त्यों उद्धृत करके दे रखा है (७७ से ८५ तक)। इसी पाठ को पुनः 'परम ब्रह्मोपनिषद्' ने भी श्लोक १ से ६ तक दुहरा रखा है। शाट्यायनीयोपनिषद् ने गायत्री को ज्ञान यज्ञ बतलाते हुए लिखा है "ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयःसर्वयज्ञोत्तमोत्तमः। ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम्॥" (१६, १७)। सरस्वती रहस्योपनिषद् में सरस्वती वाक् और चत्वारि वाक् को गायत्री के रूप में वर्णित किया है। अब आपने गायत्री के पूरे महत्त्व को जान लिया होगा कि इसके जनेऊ के सूत्र ब्रह्मज्ञान के तत्त्वों के सूत्र हैं और हमारी शिखा ज्ञान-दीप की शिखा है।

८—अजपा गायत्री

योगियों के प्राण, योगचूडामणि उपनिषद् ने साक्षात् व्यक्त स्वरूपिणी गायत्री की अद्भुत व्याख्या देकर वैज्ञानिक और दार्शनिक चमत्कार दिखलाया है। इसका कहना है कि 'गायत्री ब्रह्म' प्राण, उदान और अपान स्वरूपी है; प्राण हमारे शरीर को ऊपर खींचता है, अपान नीचे को, जिससे हमारे शरीर की गति कन्दुक के समान उत्थान-पतन स्वरूपिणी है। प्राण हकार रूप में बाहर आता है तो अपान सकार रूप में उसे नीचे या भीतर घसीट ले जाता है। अतः यह बेचारा जीवात्मा प्रतिक्षण 'हं+स' का जप सा करने को बाध्य होता है। इसी 'हंस' का जप ही हमारे सच्चे जीवन, चेतना, गति या ज्ञान का मूल स्रोत है। इस जप या गति या ज्ञान कणों की संख्या एक दिन में ७२००००० बतलाई गई है। यह जप लहरी के समान है। अतः इसकी परम्परा ही चेतना और ज्ञानपरंपरा को, स्मृति, मेधा, बोध आदि में संचित करती रहती है, यह लहरी जब से चली तब से अटूट रहती है, यही अविच्छिन्नता की तान या गुण या संतान या पंक्ति ही हमारी बुद्धि, विवेक, स्मृति, मेधा या बोध आदि की संरक्षिका रेखा है। इसका नाम अजपा गायत्री (ब्रह्म) है। इसकी उत्पत्ति कुण्डलिनी (भौतिक शब्द ब्रह्म) से बताई गई है। जो इस ज्ञान से युक्त है वही सच्ची गायत्री का ज्ञाता है। इस अजपा गायत्री का विवेचन 'निर्वाणोपनिषद्' भी देता है। इस अजपा गायत्री की व्याख्या इस श्लोक से होती है।

"सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम्॥"

इस 'हंस' ध्वनि को यह अनाहत हंस ध्वनि कहता है (२७) योगचूडामणि का प्रसिद्ध उल्लेख इस प्रकार दिया हुआ मिलता है।

"आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति॥

ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः॥

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः॥

एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा॥

अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः॥

अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी॥

प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः॥

ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति···।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह॥

सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया···।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥

योगचूडामणि २७–३९

जिस अजपा गायत्री का विवेचन उक्त उपनिषद् दे रहे हैं, वह गायत्री शरीरिणी है, पाञ्चभौतिक है और पारमाणविक है। अतः इसकी जागृति में कुण्डलिनी, सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र भेदन की आवश्यकता बतलाई गई है। जिस गायत्री का ध्यान 'सविता' तत्त्व के रूप में 'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि' मन्त्र से की जाती है। वह पारमाणविक या पाञ्चभौतिक नहीं है, वह यद्यपि शरीरिणी भी नहीं है। दिव्य शरीरिणी माने वह तत्त्व होता है जो भौतिक ब्रह्माण्ड का भौतिक तत्त्व है। इसका नाम दिव्य शरीर केवल इसलिए पड़ा है कि इसकी उत्पत्ति तृतीय पाद से होती है। तृतीय पाद का नाम स्वः या दिव् है। अतः इस प्रथम भौतिक मौलिक तत्त्व को 'दिव्य' या दिव्य शरीर कहते हैं। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड के नाना जड़-जीवों के दिव्य शरीर 'मधु' की तरह (नाना फूलों के रसों के ऐक्य की तरह) 'एक' रूप में रहते हैं। यह 'एक रूप' केवल

९—गायत्री और दिव्य शरीर

वैद्युतीय ऋत और सत्यशरों के प्रचण्ड ताण्डवनृत्य रूप में रहता है। परन्तु जिसे ॐ या गायत्री ब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप कहते हैं वह तो उक्त वैद्युतीय-शरों के ताण्डव नृत्य से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इतना सूक्ष्मतम है कि जिसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह अभौतिक है। केवल ऋतशर या ऋतविद्युत् या मधुविद्युत् स्वरूप है, प्रमाण परिमाण हीन है, अतः व्यापक है। दिव्य शरीर भी व्यापक है पर उसमें प्रमाण के लक्षण या भौतिकता के चन्द्र का उदय हो गया है। यदि दिव्य शरीर अणु है तो ॐकार 'अणोरणीयान्' है; परन्तु यह तो तैजसात्मा मात्र का विवेचन हुआ; अभी तो २४ सीढ़ी ऊपर 'ब्रह्म' है, ९ वीं सीढ़ी में प्राणात्मा है। इन्हें क्या कहें ? प्राणात्मा को यदि 'महान्' शब्द से पुकारें तो ब्रह्म को केवल 'महतोमहीयान्' मात्र कह सकेंगे। 'ब्रह्म' की सर्वतोमुखी व्याख्या देने का यहाँ स्थान नहीं है। वह तो वैदिकों के ब्रह्म सूत्र की व्याख्या के अवसर पर दिया जायगा।* यहाँ तो गायत्री ब्रह्म की केवल रूपरेखा मात्र प्रस्तुत की गई है। उपनिषदों का वाक्य 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' केवल एक तत्त्व का विवेचन नहीं देता, यह संक्षेप में चतुष्पाद् ब्रह्म या चतुर्धात्मा की व्याख्या 'सूत्र' रूप में करता है। इस प्रकार दिव्य शरीर (चतुर्थ पाद) अणु है, ॐकार (तृतीय पाद) अणोरणीयान् है; जीवात्मा, (द्वितीय पाद) महान् है। ब्रह्म (गायत्रीब्रह्म) जिसे एक पाद या प्रथम पाद कहते हैं, वह महतोमहीयान्† या 'ऋतं बृहत्' है। ऋत् माने ऋतशरीय मधु वैद्युतीय स्वरूपी, बृहत् माने वाग्ब्रह्म धर्मी (बृहतां वाचां पतिर्बृहस्पतिर्वै ब्रह्म) है। यह ब्रह्म प्राण-मय ऋतशरीय विद्युत् है, इस ऋतशरीय बृहत् की अनिर्वचनीय गतिविधि ही को 'गीते गायति' कहते हैं, उस गीत या संगीत की परम्परा को नित्य अखण्ड काल तक नेति-नेति रूप में संचालित करने वाले को उसका त्राता कहा जाता है। अतः उसे 'गायत्री' नाम से पुकारा गया है। यह अर्थ है 'गायति च त्रायते च गायत्री' और 'गयाः प्राणाँस्तत्रे गायत्री' का या 'गायत्रीब्रह्म' का। हम गायत्री मंत्र का जप ऊँचे स्वर में क्यों नहीं करते ? इसका मुख्य कारण यह है कि गायत्री ब्रह्म अनिरुक्त अभौतिक तूष्णीं और उपांशु रूप शब्द ब्रह्म का विकास देता है। उसके विकास की परम्परानुकूल जप भी तदनुरूप अनुच्चरित ध्वनि में करना जप की वैज्ञानिकता की प्रतिष्ठा करता है। ऐसी ध्वनि अजपा गायत्री के समान पूर्ण मन्त्र को 'हंस' रूप में ही परिणत कर देती है। इसलिए यह श्वासीय योजना रखी गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों को 'गायत्री इतनी प्यारी थी कि उन्होंने पृष्ठ-पृष्ठ पर इसका जप सा कर रखा है जिसे प्रायः कम लोग समझ पाते हैं। उनकी दी हुई

---

* वैदिकों के वास्तविक ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद ४ सूत्र १, २ और ३ देखें।

† महान् और महतोमहीयान् शब्द भौतिकता हीन ब्रह्म सृष्टि या तत्त्व के निर्देशक हैं, ॐकार इनसे स्थूल है या भौतिक अणु से सूक्ष्म।

१०—गायत्री के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में कथायें

श्रद्धाञ्जलियों की झाँकियाँ बड़ी विस्तृत हैं। यहां विस्तार-भय से संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। उन्होंने गायत्री के बारे में अनेकों कथानक गढ़े हैं जिन्हें अपनाना हमारे पुराण भी भूल गए हैं*। ऐतरेय ब्राह्मण (३-३-२५, २६) लिखता है कि राजा सोम (सविता) किसी लोक में था, उसे लाने के लिए अनेक छन्दों को भेजा गया सब विफल रहे, केवल गायत्री उसे ला सकी। अतः 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममभ्याहरत्' की कथा कही गई है। सुपर्ण २५ वां तत्त्व बनकर गायत्री २६ वें सोम या सविता रूप में परिणत हुई, यही इसका भाव है। यही ब्राह्मण ३-३-३४, और ४-३-२० में 'ब्रह्म वै गायत्री' कहता है, इसी वाक्य को ६-३-१४ में फिर दुहराता है। शतपथ ने लिखा है कि सोम साम का वशीभूत होकर गन्धर्वों में मिल गया। उसे लाने में सुपर्णी (गायत्री) और कद्रू में बाजी लगी। गायत्री या सुपर्णी वाणी रूप स्त्री बनकर गन्धर्वों के यहां से सोम को ले आई (३-२-३ पूरा)। ४-२-३-३० में यह लिखा है कि २४ अक्षरों की गायत्री, ब्रह्म का शिर 'श्रीः' है "तस्या एषः शिरः श्रीवैं शिरः"। ४-२-३-२१ और ३-५-१ पूरे में पुनः सुपर्णी और कद्रू का आख्यान दुहराया गया है। सोम लाने के उपलक्ष्य में 'गायत्री' को संध्या काल में जपे जाने का पुरस्कार दिया गया। ३-७-५-१० में कहा है कि 'गायत्री श्येनो भूत्वा सोम आजहार' यहां सुपर्णी के स्थान में वह श्येन (अत्रि २४ वां तत्त्व बनकर) सोम को लाई। इन लम्बी-लम्बी कथाओं का एक मात्र तात्पर्य यह है कि गायत्री के त्रिपादों के २४ तत्त्वों के अनन्तर ही सुपर्ण रूप भौतिक सृष्टि के दिव्य शरीर का प्रथम जन्म २६ वें सविता या सोम नामक तत्त्व में होता है। इसके देव रूप को चन्द्र, सोम, सविता, विष्णु कहते हैं; इसी के प्रतिकूल स्वरूप या भयंकर रूप को वृत्र, असुर, विश्वावसु, कद्रू, दानव, अहि आदि। हमारे वैदिकों ने जिन ३३ देवों की कल्पना की है, उन सब की माता भी यही गायत्री है। ये देव ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति या वषट्कार हैं। इनकी उपासना के निमित्त इन्हीं विभिन्न संख्याओं के पादों की गायत्री मानी जाती है। प्रथम आठ अक्षरों का पाद वसुओं का है, द्वितीय ११ अक्षरों का रुद्रों का, तृतीय १२+२= १४ अक्षरों का आदित्यों का, इन्हें—

'वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्।
आदित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्'॥
(छा० उप० २-२४-१)

कहते हैं। बृहदारण्यक इसे अनुष्टुप् गायत्री कहता है (२-१४-५, ६)। इन सबका स्पष्ट वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण निम्नलिखित वाक्य द्वारा देता है—

"ते वा इमे इतरे छन्दसी गायत्रीमभ्यवदेतां वित्तं नावक्षराणि अनुपर्या-गुरिति······तद्गायत्र्यै मध्यन्दिने यन्मरुत्वतीयस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः सैका-

* कथानकों के सूचित ग्रन्थों के प्रकरणों में देख लें।

दशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं सवनमुदयच्छं; नाशक्नोज्जगत्येकाक्षरा। सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवनमुदयच्छत् ·······य एवं वेदैकं वै स तत्त्रेधा भवत्" (३-२८)

गायत्री के उक्त तीन सवनों में गायत्री के नाम भी बदल दिए गये हैं—प्रथमपाद गायत्री (गयांस्तत्रे इति), द्वितीय पाद में सावित्री (क्योंकि इस पाद या रुद्रों के ११ तत्त्वों में २० वें से सविता को प्रसव की तैयारी हो जाती है। तृतीय पाद या १२ आदित्यों के चरण को 'सरस्वती' कहते हैं; क्योंकि २४ वें से सरस्वती का प्रसव हो जाता है। पुराणों में इस प्रकार का तात्त्विक विभाजन केवल मार्कण्डेय पुराण के दुर्गासप्तशती में ही उपलब्ध होता है जिसमें उक्त नामों के स्थान पर महाकाली (गायत्री), महालक्ष्मी (सावित्री) और महासरस्वती (सरस्वती) दिया गया है। दुर्गा नाम वैदिक है जैसे :—

'जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः'॥
(ऋ० वे० १-९९-१)

यहाँ दुर्ग 'सप्तकों' का नाम है, उसी को पुराण 'सप्तशती' नाम से व्यापृत कर कहता है। गीता भी इन दुर्गों का नाम लेती है "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।" (१८-५८) इस प्रकार गीता और दुर्गासप्तशती नीहारावृत ब्रह्म दर्शन हैं। गीता ने तो उक्त समस्त शैलियों तक का नाम लेते हुए 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' का लक्षण इस प्रकार दिया है--

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥" (१३-४)

यहाँ पर वर्णित ऋषियों का बहुधा गान ऋग्सामयुजुंवेद के मन्त्र हैं, छन्दोभिः=गायत्री ब्रह्मप्रभृति से पृथक्-पृथक् विवेचन है जैसे विराट् छन्द से विराट् ब्रह्म विवेचन (४० तत्त्व तक); जगती छन्द से जगती ब्रह्म का विवेचन ४८ तत्त्व तक गायत्री से २४, २४ तत्त्वों के पूर्वार्द्ध-परार्द्ध का विवेचन। 'ब्रह्मसूत्र' २७+२७= ५४ सूत्रों के ब्रह्म व्याख्याता मंत्र जिनमें ब्रह्म व्याख्या, गायत्री के पादों और सूत्रों में गणित करके रखी गई है, जिन्हें हेतुमान्, वैज्ञानिकों या ब्राह्मण ग्रन्थों ने छानबीन कर परख लिया था।" उनके अनुसार वैदिकों के तत्त्व—"महाभूतान्यहंकारो इत्यादि·········एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् (१३-५, ६) हैं। यहां पर दिया गया 'ब्रह्मसूत्र' नाम उक्त वैदिक ब्रह्मसूत्र का संकेतक है। इसलिए स्वयं स्पष्ट है कि जिसे इसके निर्माता ऋषियों ने छन्दोबद्ध संगीतमय वेद द्वारा संगीत कहा है, वह ग्रन्थ लुप्त हो गया है।

गायत्री जप के लिए केवल चार मंत्रों को वरिष्ठता दी गई है जिनमें सर्व प्रसिद्ध 'तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियोयोनः प्रचोदयात्' है। इसमें

११—गायत्री मंत्र की प्रसिद्ध व्याख्या

शब्दब्रह्म विकास की भी जादूगरी है जिसे साधारण पाठक समझ भी न सकेंगे, न उतना विशद स्थल यहां उपलब्ध है। इस मंत्र में मुख्य शब्द तीन हैं 'वरेण्यम्' 'भर्गो' और 'धियः'। इन्हीं पर समस्त दर्शन आधारित है। 'वरेण्यम्' का अर्थ लोग श्रेष्ठ समझते हैं, यह गलत है, 'वरेण्यम्' 'वृ' धातु से 'वृणुते-वृणोति' से है जो स्वीकार करता है या जो व्याप्त है या घेर लेता है। यह वैदिकों के 'अप्' शब्द के बदले प्रयुक्त हुआ है 'वाः' (वृ.) और 'अप्' शब्द की व्याख्या में शतपथ ने लिखा है—

"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकाद् वागेवास्य सासृज्यत,
सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किं च यदाप्नोत्तस्मादापो यदवृणोत्तस्माद्वाः"

(६-१-१-९)

कि जिसने सब कुछ आप्त या व्याप्त कर लिया; वह अप् या आत्मा (वाक्) कहलाई, वही जब सबको समन्तात् घेर लेती है या व्याप्त कर लेती है तब वाः, वारि या वरेण्यम् कहा जाता है। वरेण्यम् माने व्याप्तधर्मा प्रथमपाद का वाग्ब्रह्म है। भर्गस् शब्द द्वितीय पाद के जीवात्मा की व्याख्या देता है। इसकी व्याख्या मैत्रायणी उपनिषद् सर्वोत्तम देता है—

"अथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि (चक्षुः सत्यं) चैष भर्गाख्यो भामिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति भासयतीमाँल्लोकानिति रञ्जयतीमानि भूतानि गच्छत इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मा इमाः प्रजास्तस्माद्भारकत्वाद् भर्गः ॥" (५-७)

यहां भर्ग माने रुद्र दिया है जिसके अर्थ भासमान, भर्जनशील, भास्वान्, भौतिक या भारकवान् दिये हैं। भर्ग माने रुद्र है तो रुद्र की व्याख्या यह है 'कुमारो नवमो रुद्रः'(श. प. ब्रा. ६-१-३-१८, ६-१-३-९, १०)। प्राणात्मा "प्रथमं समिद्धो यो धूप्यत इव तर्हि भवति रुद्रः" (श. प. ब्रा. २-२-४-९)। रुद्र नवम तत्त्व है, उदान या वातात्मा का प्रतिनिधि है। यह द्वितीय पाद का प्रथम तत्त्व है, द्वितीय पाद द्विसमिधों का होता है। वे ब्रह्म और जीवात्मा हैं, जिन्हें दो अरणियाँ कहते हैं, इनकी रगड़ से अग्नि के सर्वादि रूप, प्रथम समिद्ध रूप—जो धूप की तरह मन्दाग्नि रूप अग्नि भासमान होती है। उस रुद्र या भर्जनात्, संघट्टनात्, उद्दीप्त अग्नि को भर्ग कहते हैं : (श. प. ब्रा. में लिखा है कि 'अग्निर्वै भर्गो वायुर्मह आदित्यो यशो, येऽन्ये लोकास्तत्सर्वम्। येऽन्ये देवास्तत्सर्वम्। ऋग्वेदो वै भर्गो यजुर्वेदो महः सामवेदो यशः अन्ये वेदास्तत्सर्वम्" अक्षिता वै लोका अक्षिता देवा अक्षिता वेदा अक्षिताः प्राणा अक्षितं सर्वम्। ये वाक्य भी उक्त बात का समर्थन ही करते हैं। इसी भर्ग माने वाक् भी लिखा है वाग्वै भर्गः। 'धीः' शब्द भौतिकात्मा सांख्य की प्रकृति या बुद्धि का वाचक है। तृतीय सप्तक व्यान रूप प्राणाग्नियों का है। व्यान प्रणाग्नियाँ अजपा

गायत्री की तान से अविछिन्न रूप रेखा में ज्ञान से स्मृति, मेधा, धी, बोध, विवेक ज्ञान की जननी होती हैं, पर आध्यात्मिक स्वरूप में, भौतिकता में नहीं। यह पहिले बतलाया जा चुका है। अतः "जो गायत्री ब्रह्म' प्रथम सप्तक में उक्त व्याख्यान के वरेण्य रूप में, द्वितीय पाद में, गर्भ रूप प्रथमसमिद्ध धूपिताग्नि रूप में प्रज्वलित होकर तृतीय सप्तक में आध्यात्मिक अजपा गायत्री की अविछिन्न लहरी का त्राण करता हुआ, हममें हमारे दिव्य शरीर को उत्पन्न करता है या हमारे देह के तत्त्वों के आधारभूत भौतिकात्मा–को सम्पन्न करता है। उस भौतिक दिव्य शरीरी सविता का हम बराबर ध्यान करते हैं।" यह उक्त मन्त्र का वैदिक अर्थ है। अन्य मंत्रों का भी लगभग यही अर्थ है, 'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो' में 'वर्तमान' शब्द 'वरेण्यम्' का प्रतिनिधि है। स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम' (श. प. ब्रा. ५-४-६-२ से ८) वृत्र=वर्तमान, वृत्र=वृणोतेः; 'आ कृष्णेन रजसा'=भर्गः अमृतं=त्रिपाद, मृतं २५ वां तत्त्व भौतिक सूर्य का दिव्य शरीर इत्यादि। हिरण्येन रथेन भौतिकेन प्राणेन पश्यन् देवः पश्यन्ती देवता मध्यवर्ती तत्त्व उभयपक्ष द्रष्टा, § भुवनानि याति, अगले भू, भुवः, स्वः भुवन स्वरूपों को प्राप्त होते जाते हैं (गुहावाद देखें)

प्राचीन भारत में गायत्री ब्रह्म की कितनी प्रतिष्ठा थी, कितना मान रहा, इसका पता हमारे यहां के विख्यात पर्व श्रावणी उपाकर्म की अद्भुत विधि और विधान तथा ज्ञान सागरीय कर्मकाण्ड से लगाया जा सकता है। सबसे पहिले हेमाद्रि संकल्प एक अलौकिक प्रस्तावना रखता है। यह हैरण्यगर्भीय गंगास्नान की अवतारणा का एक प्रमुख ढंग है। सूर्योपस्थान में तो वैदिक दर्शन का निचोड़ एक साथ रख दिया गया है। इसमें वैदिक दर्शन के मुख्य-मुख्य तत्त्वों, मुख्य-मुख्य शाखाओं और संप्रदायों के ब्रह्मविषयक नामावलियाँ तथा विचार धाराओं को एक-एक करके चुन-चुन, बुन-बुन कर ऐसे संगठित रूप में रखा गया है कि जो इतना ही अच्छी तरह समझ-बूझ ले तो उसे वैदिक दर्शन का बहुत कुछ क्या, मुख्य विषय सब अवगत हो जायँ।

१२—गायत्री और उपाकर्म

गायत्री अक्षर ब्रह्मरूपिणी है। ऋग्यजुःसाम इसके पाद हैं। पूर्वार्द्ध के स्वरमय, स्फोटमय, योगमय, ध्वनियां इसके अमृत अक्षर हैं। उत्तरार्द्ध में शक्वरी के मर्त्योत्तरव्यञ्जन रूप हैं। पूर्वार्द्ध 'ॐकारमयी गायत्री' है। अतः यह त्रिपाद् रूप त्रिवृत् है। प्रत्येक पाद अग्नि,

१३—गायत्री के सूत्र

* चतुर्थ सप्तक 'देवरथ' कहलाता है।

§ यह मंत्र सविता तत्त्व की प्रार्थना है। यही सूर्य है सूर्य २५ वां तत्त्व है। जिसे विषुवत् कहते हैं, दोनों ओर देखा जा सकता है और पश्यन् देव कहलाता है (ऋ० वे० ५-६-२-८ देखें।

और गायत्री के पादों तथा वाक् के पदों का भेद

वायु, सूर्य के हैं। प्रत्येक वाक, प्राण, मनस् का त्रिवृत् है। अतः जनेऊ रूप गायत्री ब्रह्म में २७ सूत या सूत्र होते हैं। यह तेज, अप, और अन्न के अणिष्ठ रूपों का 'त्रिवृत्-त्रिवृत्-त्रिवृत्' (३×३×३=२७) सूत्रों की गायत्री है। वाक् के पदों और गायत्री के पादों में बड़ा भारी अन्तर है। विष्णु के तीन पद या विक्रम या क्रम या विक्रमण का नाम पद है, पाद नहीं है। पद नाम सप्तकों का है जिसके तीन पदों में केवल २३ ही अक्षर या तत्त्व होते हैं। परन्तु गायत्री के तीन पादों में २४ अक्षर या तत्त्व होते हैं। अतः यह गायत्री २४ वें तत्त्व में चतुर्थ पद का भी दर्शन अपने तीन ही पादों में करा देती है। इसीलिए गायत्री को 'दर्शत चतुर्थ पदा' कहा गया है (बृह. उप., छा. उप. पीछे देखें)। पाद तो छन्दों के होते हैं जैसे गायत्री, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती इत्यादि और पद बिना नाप या निश्चित अक्षरों के सप्तकों के नाम हैं। सप्तकों में किसी में ६, किसी में ७, किसी में ८ अक्षर होते हैं, परन्तु छन्दों के पादों में निश्चित अक्षर होते हैं। इस प्रकार पदों और पादों में महान् अन्तर है, इस बात को नहीं भूलना चाहिए। जैसे विष्णु पदों का ही विक्रमणकारी है, पादों का नहीं, यह निश्चित है।

१४—गायत्री सम्बन्धी श्रुतियां

गायत्री के सम्बन्ध में निम्नलिखित सामग्री मनन के लिए उद्धृत कर दी जाती है जिससे पाठकों को अपना निर्णय कर लेने में सुविधा होगी। 'प्राणो वै गायत्री' (श. पा. ब्रा.६-४-२-५ आदि कई स्थलों में) 'अग्निर्वै गायत्री' (श. प. ब्रा. ३-४-१-१९ इत्यादि) 'गायत्रो वा अग्निः' (श. प. ब्रा. १-८-२-१३) 'गायत्रच्छन्दा ह्यग्निः' (ताण्ड्य ७-८-४) 'गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः' (श. प. ब्रा. १-३-५-४) गायत्रो वै ब्राह्मणः (ऐ. ब्रा. १-२८) ब्रह्म हि गायत्री (ताण्ड्य ११-११-९; ब्रह्मवर्चसं गायत्री (ऐ. ब्रा. १-५, कौ. १७-२, ९) तेजो वै गायत्री (ताण्ड्य १४-१०-६; गो. उ. ५-३; तै. ३-९-४-६) ज्योतिर्वै गायत्री छन्दसां (ता. १३-७-२, कौ. १७-६) दविद्युतवती वै गायत्री (ताण्ड्य १२-१-२) वीर्यं वै गायत्री (ताण्ड्य ७-३) शिरो गायत्री, गायत्रं हि शिरः(श. प. ब्रा. ८-६-२-३, ६)गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः(श. प. ब्रा. १०-३-२-१) मुखमेव गायत्री (कौ. ११-२ ताण्ड्य ७-३-७) त्रिपदा गायत्री (ताण्ड्य १०-५-४) अष्टाक्षरा गायत्री (ऐ. ब्रा. २-१७) चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, वसवो गायत्रीं समभरन् (जै. उ. १-१८-४) गायत्री वसूनां पत्नी (गो. ३-२-९) गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः (ता. १५-१०-५) 'गायत्री वै रेवती' (ताण्ड्य १६-५-१९) गायत्रो वै मैत्रावरुणः (ताण्ड्य ५-२-१५) 'पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री' (श. प. ब्रा. ३-५-१-१०) यज्ञो वै गायत्री (श. प. ब्रा. ४-२-४-२०) 'गायत्रं वै प्रातःसवनम्' गो. उ. ३-१६) गायत्रो वै पुरुषः (ऐ. ब्रा. ४-३) गायत्रा वै पशवः तै. ३-२-१-१) इमे

वै लोका गायत्री (ताण्ड्य १५,१०-९) सा गायत्री समिद्धान्यन्यानि छन्दांसि समिन्द्धे (श. प. ब्रा. १-३-४-६) गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि (ताण्ड्य ८-४-४) या द्यौः साऽनुमतिः सो एव गायत्री (ऐ. ब्रा. ३-४८) गायत्र्या वा देवाः पाप्मानं शमलमपाघ्नत' (ऐ. ब्रा. २-१७) ।। भर्ग नाम पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि, वसु, वाक , वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, विष्णु, चन्द्रमा, सोम, वीर्य और अन्त का है , ये त्रिवृत् हैं। ये अर्थ विभिन्न ब्राह्मणों में उल्लिखित हैं।

अध्याय २४

दाशराज्ञ-युद्ध

वेदों का दाशराज्ञ युद्ध बहुत बड़े महत्त्व का है। वेद नाम तो स्वयं 'ब्रह्म' का ही है—'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः' (यजु. २-२१)। अतः मन्त्रात्मक वेदों में तत्त्वात्मक वेद या ब्रह्म व्याख्या प्रधान रूप से विद्यमान है। पर मन्त्रात्मक वेद कोश ब्रह्म व्याख्या का सूत्र ग्रन्थ भी नहीं है। मन्त्रात्मक वेद को रहस्यात्मक रूप दिया गया है, रहस्य रखने के लिए पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, पृष्ठभूमि में मुख्यतत्त्व सामाजिक इतिहास होता है। इतिहास में परम्परागत कथानक पुराण का रूप ले लेते हैं। अतः वैदिकों ने अपने इतिहास और पुराण की पृष्ठभूमि को आनन्दमय, रसमय बनाने के लिए उसमें काव्य की अप्रतिम प्रतिभा, कल्पना और संगीत का रमणीय पुट चढ़ाया है। इस प्रकार हमारे तन्त्रात्मक वेद वैदिक आर्यों की पूर्ण संस्कृति—इतिहास, पुराण, गाथा, काव्य प्रतिभा, कल्पना और संस्कृत के सम्मिश्रित अलौकिक स्वर्गीय दिव्य महल हैं। जिन ऋषियों के नाम वेदों में आते हैं वे ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं, ब्रह्मविकासीय तत्त्व भी। जिन नदियों, पर्वतों, स्थानों, जातियों आदि के नाम उसमें हैं, वे ऐतिहासिक तथ्यों का भी उद्घाटन करते हैं और साथ-साथ भारतीय आर्यों के ब्रह्मदर्शन के विभिन्न तत्त्वों का क्रमिक विवेचन भी नाना प्रणाली से देते हुए उसे अद्भुत भूल-भुलैया सा बना देते हैं। इस प्रकार हमारे वैदिकों का 'दाशराज्ञ' युद्ध मुख्यतः दो प्रकार का है। (१) ऐतिहासिक (२) दार्शनिक। दो भागों में विभक्त है—(१) आर्यों और अनार्यों के सम्मिलित एक राज्य से, दूसरे दल के आर्यों का युद्ध ऐतिहासिक युद्ध है। अब दार्शनिक दाशराज्ञ-युद्ध दो प्रकार से वर्णित हैं। (१) चतुर्थ सप्तक के शूद्र तत्त्वों को वृत्रादि को दास कहकर और उनके ब्रह्मों को आर्य, इन्द्रादि नाम से पुकार कर (२) तृतीय सप्तक के असुर नामक तत्त्वों को दस्यु नाम से पुकार कर जैसे पणि, शम्बर, पिप्रु आदि और ब्राह्म तत्त्वों को इन्द्र शतक्रतु कह कर। इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार दिया गया है।

१—वेद और उनके रहस्य की पृष्ठभूमि

दाशराज्ञ-युद्ध वैदिक आर्यों का अवैदिक आर्यों और अनार्य राजाओं के साथ हुआ था। यद्यपि इनके युद्धस्थल का एक नाम हरियूपीया (ऋ. ६-२६-८) दिया गया है और उसका निर्धारण किया जा सकता है। इसीलिए दाशराज्ञ युद्ध के वर्णन के अवसर पर प्रतिद्वन्द्वी दस अवैदिक आर्य और अनार्य राजाओं को 'अयज्यवः' नाम से पुकारा गया है। जैसे "दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः" (ऋ. वे. ७-८३-

२—दार्शनिक दाशराज्ञ युद्ध किन में हुआ ?

७)। ये दस राजा कौन थे? इनका पता दूसरी ऋचा से लग जाता है। शतपथ ब्राह्मण जिस देवासुर संग्राम को केवल माया या रहस्यवाद का आधार बतलाता है, दूसरी ऋचा 'अदेवयून् का समरण (युद्ध) कहती है जैसे 'नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयन्त्समरणे जघन्वान्। यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध ये वृषभा प्र ब्रुवन्ति।' (ऋ. वे. १०-२७-३)। अतः वे दस राजा वृत्रादि अनार्य और अवैदिक आर्य दस राजा हैं। इसीलिए कहा है 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा। (ऋ. वे. ७-८३-९)। अब यह रहस्य खोलने का अवसर आ गया है कि इन्द्र तत्त्व यहां पर 'इन्द्रं मित्रं वरुणं'....मातरिश्वानमाहुः' (ऋ. वे. १-१६४-४६) वाला हरिवो या हरियोजन इन्द्र ही है। उसका युद्ध शंबर, पिप्रु, नमुचि, धुनि, वल, रौहिण आदि दस मुख्य असुर तद्रूप राजाओं से होता है। हरियोजन इन्द्र दस तत्त्वों का प्रतिनिधि है। दूसरी बात यह है कि दिवोदास और सुदास् ये दो नाम पितापुत्र के हैं जिनमें से प्रथम तो सूर्यरूप हरिवो इन्द्र का प्रतिनिधि है, द्वितीय सोम नामक हरिवो इन्द्र का, इसकी पुष्टि में "अर्णांसि चित्प्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत्सुपारा।" और "ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीं...। सुदास इन्द्रः सुतुकाँ......" (ऋ. वे. ७-१८-५,८) ये ऋचायें यहाँ पर सुदास का तादात्म्य इन्द्र के साथ स्वयं कर रही हैं। यही विजयी होता है। अतः वृत्र हन्ता यही है, दिवोदास सुदास का पिता है। अतः सूर्य २५ वें तत्त्व रूप हरिवो इन्द्र का प्रतिनिधि स्वयं हुआ। हरियूपीया इसी परुष्णी के किनारे की युद्ध भूमि का नाम है। दाशराज्ञ युद्ध में वृत्रवध का वर्णन है, वृत्र का वध सरस्वती के किनारे हुआ है। अतः उसे वृत्रघ्नी (ऋ. वे. ६-६१-७) नाम से पुकारा गया है। सरस्वती का जन्म पूषा २४ वें तत्त्व से होता है "सरस्वत्यै पूष्णो" इसी सरस्वती के किनारे दिवोदास का स्थान है उसे 'अतन्नहेव सूर्यः' (६-६१-९) कहा भी है।

'दाशराज्ञ युद्ध' का नामतः उल्लेख केवल दो सूक्तों में आता है (ऋ. वे. ७-३३; और ७-८३), दोनों में वसिष्ठ ऋषि हैं। प्रथम का देवता भी वसिष्ठ ही है जिसमें उनका इन्द्र से संवाद है, द्वितीय का देवता इन्द्रा-वरुणौ हैं। वसिष्ठ जी तृत्सु कुल के पुरोहित थे "ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः' (७-८३-४) इसका समर्थन "......दाशराज्ञे वृतासः। वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्" (७-३३-५) पूर्णतया कर देती है।

३—ऐतिहासिक दाशराज्ञ युद्ध किन में हुआ

इस दाशराज्ञ युद्ध में तृत्सुओं के साथ 'सुदास' की विजय हुई "यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह॥" (७-८३-६) पर भरत कुल के आर्यों को एकदम छिन्न-भिन्न कर दिया गया। "दण्डा इवेद् गो-अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः" पुरु नाम के भरत वंश के आर्य पहिले तृत्सुओं के अधीन प्रजा भी थे। उनको विश्वामित्र जी ने अन्य राजाओं का साथ मिला कर तृत्सुओं के विरुद्ध खड़ा किया जैसे (ऋ. वे. ७-३३-६) के

उत्तरार्द्ध में लिखा है—अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ऐतिहासिक दश राजाओं के नाम युद्ध के संबन्ध में (ऋ. वे. ७-१८) में उल्लिखित हैं। लिखा है कि प्राचीन काल में एक बार तुर्वसु राजा ने मत्स्य, भृगु, भरत, द्रुह्यु से सन्धि कर के पथ्य, भलनस, भनन्ताविवस, विषाणी, त्रिवा पाँच अनार्य राजाओं को अपने साथ मिला लिया। सबने एक साथ 'तृत्सु' नामक आर्य राजा पर आक्रमण कर दिया।

"पुरोळा इत्तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद्विषूचीः॥
आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नॄन्॥"
(ऋ. वे. ७-१८-६,७)

*इस युद्ध में अनु 'द्रुह्यु' के ६६०० दल का सर्वनाश हो गया, शेषों ने हाथ जोड़ कर तृत्सुराज सुदास से मैत्री करली।

"अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं नि वृणग्वज्रबाहुः।
वृणाना अत्र सख्याय सख्यं त्वायन्तो ये अमदन्ननु त्वा॥"
(७-१८-१२, १४)

यह युद्ध परुष्णी के किनारे हरियूपीया स्थान पर प्रारम्भ हुआ था। सरस्वती के किनारे वृत्ररूप द्रुह्यु वंश का वध हुआ और तब तृत्सु आर्य यमुना तक सीधे फैल गये "आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्॥" (७-१८-१९) और पर्य्याप्त लूट मिली और जल की तरह आगे बढ़ते ही गये—"इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः"
(७-१८-१५)

४—दाशराज्ञ-युद्ध का कारण

उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना के गर्भ में एक दूसरा ऐतिहासिक तथ्य है। यद्यपि वैदिक काल में आर्यों के दस वंश प्रसिद्ध हो चुके थे पर उनके मूल वंश केवल तीन ही थे। यदि दाशराज्ञ-युद्ध में प्रतिपक्षी दस आर्य-अनार्य राजाओं की विजय होती तो आज यहां एक भी मौलिक वैदिक आर्य न रह जाता, निरन्तर गृह युद्ध से वे नष्ट हो जाते। मौलिक वंशों में कुरु, तृत्सु और भरत ही थे। "त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।" (७-३३-७) वसिष्ठ जी केवल दो की रक्षा कर सके; तृत्सु और कुरु की—

वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त ददः।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्॥"
(७-१८-१३)

---

* वेदों में प्रायः 'अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, पुरु, यदु' पाँच वंशों को एक साथ दिया जाता है जैसे "यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः" संभवतः ये ही 'अयज्यवः' हैं या अवैदिक हैं।

पुरुवंशी भरतों को मारा नहीं गया पर खदेड़ कर तितर-वितर करा दिया गया था। यह वसिष्ठ वंश के वीरों की रणचातुरी थी "आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः"। क्योंकि इसमें भरतों को 'बच्चा' या बच्ची अवस्था या बुद्धि का बतलाया गया है। वसिष्ठ जी की इस कमी की पूर्ति विश्वामित्र जी ने की। उन्होंने पुरुवंशी भरतों को पुनः आरोपित ही नहीं किया अपितु उनके राज्य का विस्तार मगध तक कर इसी बड़े काम के पुरस्कार रूप में भरतों की पुरोहिताई प्राप्त की।

यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥
अतारिषुर्भरता गव्यवः·········(३-३३-११, १२)

"य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥
विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
करदिन्नः सुराधसः॥
किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥"
(३-५३-१२, १३, १४)

विश्वामित्र जी कुशिक या कोसक वंश के थे जिसे तृत्सु (वसिष्ठ के शिष्य) नीची दृष्टि से देखते रहे होंगे। वसिष्ठ जी के बड़प्पन का एक बहाना यह भी था कि ये विश्वामित्र जी तृत्सुओं के अधीन भरतों के गुरु थे। वेदों में उनके छोटे-बड़े की कहीं कोई चर्चा नहीं है। प्रत्युत विश्वामित्र जी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है 'महान् ऋषि' 'देवजा' कहा है जैसे—

"महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतो ऽस्तभ्नात् सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥"
(३–५३–९)

यहाँ तक कहा है कि उन्होंने नदी और समुद्र का स्तम्भन कर दिया था। यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि विश्वामित्र जी ने दाशराज्ञ युद्ध में दस राजाओं का साथ दिया जिसका संकेत श्लेष में इस प्रकार दिया गया है "अर्णांसि चित् प्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत् सुपारा" (७-१८-५) कि सुदास इन्द्र ने गम्भीर जलरूप गाधों या विश्वामित्र दलवालों को सुपारणीय बना लिया। क्योंकि विश्वामित्र जी इस दाशराज्ञ युद्ध में हार बैठे हैं। अतः वे इसकी चर्चा ही नहीं करते। दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन केवल वसिष्ठ जी ही देते हैं (७–३३, ७-८३)। विश्वामित्र जी उक्त युद्ध में दस राजाओं के साथ मिल जाने की अपनी बड़ी भूल समझते हैं। उसे वे बाद में सँभाल लेते हैं। पर वसिष्ठ जी के श्लेषमय 'गाधानि' शब्द के बदले विश्वामित्र जी ने कई ऐसे मन्त्र रच डाले जिनका ऊपरी धरातल का व्यर्थ का अर्थ—जिसे मीमांसक लोग उन मन्त्रों का

सच्चा या एकमात्र अर्थ—समझते हैं, ऐसे श्लेष से भरा जिनका वास्तविक अर्थ बिलकुल निर्दोष तथा सत्य की विवेचना करता है, पर श्लेष की प्रतिध्वनि को तो कोई रोक ही नहीं सकता। यह प्रतिध्वनि सुनने में ही अश्लील है। अतः वसिष्ठानुपथियों के लिये ये मन्त्र अश्रव्य कहे गये हैं। वे मन्त्र ये हैं:—(ऋ. वे. ३-५३-११, से २१, २२, २३)। सबसे अन्तिम मन्त्र की प्रतिध्वनि सबसे अधिक खटकने वाली है "नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति।" जिन लोगों को इस मन्त्र में व्यंग अखरता है उन्हें वसिष्ठ जी के 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि' इत्यादि *मंत्रों में (७-१०४-१५, १६) उनका पश्चाताप दीखता है। संभवतः वसिष्ठ जी पर ऐसा भी लाञ्छन लगाया गया हो वे अपने को 'मायातु' या रहस्यवादी होना स्वीकार करते हैं पर जो रहस्यवादी को यातुधान या स्वांग रचने वाला नीति कला का दास समझते हैं उन्हें वे इन्द्र द्वारा तुरंत वध कर देने की प्रार्थना करते हैं और उन्हें ऐसे राक्षस कहते हैं जो अपने को 'शुचि' कहते हैं जैसे यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह। इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन।" (७-१०४-१६)।

५—दिवोदास और सुदास कौन थे ?

अब प्रश्न यह उठता है कि दिवोदास और सुदास किस कुल के आर्य थे? यदि ये तृत्सु होते तो विश्वामित्र जी इनके विरुद्ध रहते, यदि कुसिक होते तो वसिष्ठ जी इनको नहीं मानते। पर ये दोनों को परम मान्य हैं। यदि ये भरत वंशी होते तो ये दस राजाओं में होते और भरतों के साथ इन्हें भगा दिया जाता। अतः जैसे पहिले बताया जा चुका है कि दिवोदास और सुदास तो सोम राजा या आदर्श राजा के प्रतीक मात्र हैं। यहां पर इनके नामों के अन्त का 'दास' पद संकेतक है जिससे ये कोई इस नाम से ऐतिहासिक राजा होते हुए भी यहाँ पर सुदासवर्ण चतुर्थ सप्तक के सूर्य और सोम दोनों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इसीलिए इनके साथ हरिवो इन्द्र है। नहीं तो कहां इन्द्र, कहां आर्य? यहाँ तो आध्यात्मिक विवेचन मात्र है। दसराजाओं के नाम तो रहस्य के ढाँचे के लिये स्वीकृत किये गये हैं। इन्द्र के सूक्तों में उन्हीं वृत्र, शंवर आदि के वध की चर्चा की गई है जिन्हें दाशराज्ञ युद्ध में सुदास, दिवोदास, त्रसदस्यु और आर्जुनिक कुत्स ने मारा है ऐसा लिखा है। इस विवेचन से वातावरण स्पष्ट हो जाता है कि वेदों का मुख्य विषय इन्द्रवृत्र युद्ध या आध्यात्मिक युद्ध है। दाशराज्ञ युद्ध—जिसका नाम सभी जगह नहीं दिया है, केवल दो स्थलों में मिलता है—केवल आपाततः समानता के आधार पर इसलिए टपका दिया गया है कि ऐसी घटना ऐतिहासिक भी घटी थी। यह घटना पर्दे का भी काम कर रही है।

---

* यातुधान माने स्वांग रचने वाला ढोंगी भौतिकता का दास होता है। यह अर्थ निम्न ऋचा से स्पष्ट हो जाता है।

"उलूकयातुं शशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥" (७-१०४-२२)

असली अर्थ पर्दे के भीतर है बाहर तो दसराजाओं के युद्धरूप पर्दा मात्र दिखाई दे रहा है। इस पद में कुछ नहीं हैं केवल थोड़ा सा इतिहास मात्र है। इस कथन के समर्थन के लिये आपको दूर जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। आप उन्हीं सूक्तों का अच्छी तरह अध्ययन कर लें जिसमें वसिष्ठ, विश्वामित्र ने दाशराज्ञ युद्ध का नाम या संकेत दिया है, वे हैं ऋ. वे. ७-१८, ७-३३, ७-८३; इन्हीं में निम्नलिखित विवेचन मिलता है। यह दाशराज्ञ युद्ध तत्त्वों का युद्ध है। यह बात निम्न मंत्रों में सुदास और तृत्सुओं की व्याख्या तत्त्व रूप में दी गई है।

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः॥
वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।"
(७-८३-८, ९)

इन्द्रावरुण सुदास को सिखाता है। इन्द्रावरुण २४ वां तत्त्व है। वृत्र सोम का प्रतिपक्ष है या सुदास का प्रतिपक्ष है।

दस राजाओं में 'वृत्र' का नाम नहीं दिया गया है। पर सब राजाओं को 'दासवृत्र' नाम से भी पुकारा गया है। अतः वध भी 'वृत्राणि' या 'वृत्रों' का सूचित किया गया है "दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्' 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते' (७-८३-२,९)। यहाँ पर आर्यों को प्रथम २५ ब्रह्म तत्त्व का प्रतिनिधि बतलाया गया है जिनके मुख्य तीन वंश रूप त्रिपादमृत कहलाते हैं।

६—दाशराज्ञ-युद्ध और वृत्र तथा दास किस जाति के थे?

"त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वां इत् ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः॥"
(७-३३-७)

इस मन्त्र में 'भुवन' नाम सप्तक का है। उन्हीं में से प्रथम तीन को 'तिस्रः अग्र-ज्योतिः या रेतः कहा भी जाता है। ये तीनों घर्मास या अग्नियाँ हैं जिनसे उषा (तृतीय सप्तक) का सिंचन होता है। इस सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का वातावरण भी यही है। इस सूक्त की सबसे बड़ी रहस्यात्मक बात वसिष्ठ की उत्पत्ति की कथा है जो अगले परिच्छेद में दी जायगी। इस विषय के अन्त में यह भी न भुला देना चाहिए कि विजय के बाद सुदास को अश्विनी कुमार के रथ को १०० बैलों से खींचाकर जुलूस में ले जाया गया। यदि सुदास आर्य जाति का था तो यह अश्विनी कुमार का दुहरा रथ उसके लिए कहां से टपका और इन्द्र, वरुण को उसके बारे में क्या स्वारस्य था?।

"द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः।" (७-१८-२२)

सीधी सी बात है कि हमारे कवि कारु, ऋषिगण छोटी घटनाओं का आधार लेकर अपने वैदिक दर्शन के ज्ञान ज्योति से अपने जीवन को सतत्

उज्ज्वल बनाने मात्र में लगे थे। इसीलिए एक ही बात को हजारों ढंग से लिखा गया है। सिद्धान्त एक है; व्याख्यायें या कथायें अनेक। उदाहरण में शम्बर और उसके साथियों का वध कहीं त्रसदस्यु करता है, कहीं आर्जुनिक कुत्स, कहीं इन्द्र, कहीं दिवोदास, कहीं सुदास इत्यादि। कहीं इन दोनों के प्रतिनिधि बिलकुल दूसरे हैं जैसे पणि, दस्यु, त्रिशिरा, त्वाष्ट्र, दनु, अहि इत्यादि और देवताओं में सोम गरुत्वान् सुपर्ण इत्यादि। इतना अवश्य है कि आर्यलोग राजा को प्रजा का 'सुदास' या 'दिवोदास' समझते रहे। उस समय के ऐसे राजा की पदवी सुदास थी जो दिवोदास का पुत्र था। ये दोनों नाम सार्थक होते हुए भी ऐतिहासिक राजाओं के नाम या पदवियाँ भी हैं।

ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, अपने युग के अतिविख्यात महापुरुषों में से हैं। इनकी ऋचायें अब तक इन्हें अमर बनाती हुई हमें भी अमर संदेश दे रही हैं। उनके बाहुबल, जनबल, विद्याबल और प्रतिभाबल सब एक साथ एक अद्भुत मिश्रण बनाते थे। संसार के इतिहास में ये अद्वितीय चरित्र के सिद्ध होते हैं। ये दोनों महर्षि थे। पर दार्शनिक तत्त्वों में इनका स्थान एक सा रखना ही कठिन है, वहाँ प्रत्येक का विकास है, एक को दूसरे से ऊपर या नीचे रखना ही पड़ता है। अतः इनका स्थान भी ऊपर-नीचे है जो इनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में लेशमात्र भी अन्तर नहीं ला सकता। परिस्थिति यह है कि वेदों में कुछ तत्त्वों को 'सप्त-ऋषि' नाम से पुकारा गया है। ये सप्त-ऋषि दो प्रकार के हैं (१) महर्षि (२) सप्तर्षि। महर्षि भी सात हैं, सप्तर्षि तो सात हैं ही। वैदिक दर्शन के तत्त्वों में महर्षि नाम केवल प्रजापतियों का है, वसिष्ठ जी प्रजापति हैं। अतः वे महर्षि कहलाते हैं, विश्वामित्र जी प्रजापति नहीं हैं, अतः उनका नाम सप्तर्षियों में आता है, महर्षि में नहीं। इस कथन के समर्थन में 'सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्" (यजु. ३४-५५) "सप्तऋषीन्पर एकमाहुः" (१०-८२-२) "षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति" (१-१६४-१५) "ऋषयः सप्त दैव्याः" (१०-१३०-७) "सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि" (यजु. १७-७९) "सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त" (यजु. १४-२८) ये उद्धरण दिये जा रहे हैं जिनमें से तृतीय को छोड़ कर शेष सब सप्त महर्षियों की चर्चा करते हैं, तृतीय के ऋषि छह हैं और 'देवज' हैं 'देवजा' विशेषण विश्वामित्र के लिए आया है यद्यपि वहां उन्हें महान् ऋषि कहा है पर 'महर्षि' फिर भी नहीं (३-५३-९ पहिले उद्धृत देखें)। इस सम्बन्ध में 'अष्टौ लोका अष्टौ पुरुषा' शीर्षक देख लें। वसिष्ठ जी का स्थान २५वां तत्त्व है "अग्निर्वैप्राणानां वसिष्ठः" में वसिष्ठ शब्द रूढ़ि और यौगिक दोनों हैं। "प्राणाद्वसिष्ठः संजातः" वाक्य मिलता ही है। ये महर्षि ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। प्रत्येक महर्षि प्रत्येक सप्तक का प्रथम तत्त्व है। इसी सात को "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा" (गीता १०-७) पुष्ट करती है। अन्तिम प्रजापति

७—वसिष्ठ और विश्वामित्र

भृगु हैं। अतः वहाँ महर्षीणां भृगुरहम्' (वही) कहते हैं। सप्तर्षियों के नाम बृहदारण्यक ने स्पष्टतया बतला दिये हैं, वहां—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥"

की व्याख्या देते हुए 'गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि को (१-४-१-३, ४) सप्तर्षियों में गिना दिया है। ये ऋषि सृष्टिवृक्ष के मूल-धरातल पर बैठे हुए बताए गए हैं। इनका क्रमशः विकास होता है। ये सप्त अङ्गिरस ऋषि हैं। श. प. ब्रा. ने इनका तादात्म्य मनस्, चक्षु, श्रोत्र आदि तत्त्वों से करके इनको प्राणरूप तत्त्व घोषित कर दिया है।

८—दाशराज्ञ युद्ध में वसिष्ठ विश्वामित्र की स्थिति

प्रस्तुत प्रकरण में वसिष्ठ और विश्वामित्र की स्थिति यह है। यहां वसिष्ठ को वसिष्ठागस्त्य नाम से पुकार कर इस वसिष्ठागस्त्य के जन्म की कथा नये ढंग से दी गई है। एक कुम्भ में सब अप्सराओं ने अपने-अपने रेतस् का सिञ्चन किया; उसी से उस वसिष्ठ जी का जन्म हुआ। यह वसिष्ठागस्त्य २५ वां तत्त्व द्रोणकलश रूप है जिससे उत्पन्न वसिष्ठागस्त्य ने सुदास् सोम की रक्षा की। क्योंकि यहां पर वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों अपने को इन्द्र के साथ सुदास् की संरक्षण में बतलाये हैं। यह हारियोजन इन्द्र है और इसलिए ये वसिष्ठ और विश्वामित्र भी अतिरिक्त ऋषि हैं। हारियोजन अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। यहाँ पर 'विश्वामित्र' शब्द चतुर्थ सप्तक के लिए ठीक भी बैठ जाता है। वेदों में जहां-जहां विश्व, विश्वा शब्द का प्रयोग है वह चतुर्थ सप्तक के भौतिक सृष्टि के तत्त्वों की सूचना देता है। जैसे विश्वबन्धुः, विश्वानि देव सवितर्दुरितानि, 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' (ऋ. वे. १०-१३०) इत्यादि। दोनों सुदास् इन्द्र के साथी बने हैं। अतः ये दोनों यहां २५, २६ वें तत्त्वों के ग्रहों को प्रतिनिधि ही ठहराते हैं। यह बात वसिष्ठ जी की जन्मकथा के मन्त्रों से पुष्ट होती है जैसे—

"विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥
स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः॥
सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत्प्र वदात्यग्रे।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः॥"
(७-३३-१० से १४ तक)

यहां पर वसिष्ठ जी के दो प्रकार के जन्म स्पष्टतया* उल्लिखित हैं। (१) वसिष्ठागस्त्य······कुम्भ से उर्वशी को देखकर मित्रावरुण के वीर्यस्खलित होने से सूर्यरूप मन से उत्पन्न हुआ। (२) उर्वशी जो तृतीय सप्तक है, नग्न उर्वशी की सुन्दरता देखकर मित्रावरुण का रेतस् स्खलित हुआ उसीसे २४ वें तत्त्व रूप मित्रा-वरुण का पुत्र मैत्रावरुण नामक वसिष्ठ या वसिष्ठागस्त्य कहा गया है। अतः इस वसिष्ठ का स्थान स्वयं २५ वां द्रोणकलश का स्थान सिद्ध हो जाता है। उर्वशीपुत्र भी यहीं चतुर्थ सप्तकीय महर्षि वसिष्ठ हैं। उक्त कथा का समर्थन (ऋ. वे. ७-८८-३) से भी पूर्णतया हो जाता है। उक्त नाम तृतीय सप्तक का है। उसके 'वंशगा' उर्वशी चतुर्थ सप्तक की शक्ति है जैसे शची, उषा, अहिल्या जो इन्द्र के साथ शची है, वही गोतम के साथ अहिल्या, वही वसिष्ठ की उर्वशी और सूर्य की उषा है। 'वसिष्ठागस्त्य' के कुम्भ से जन्म होने के समय यम ने अप्सराओं द्वारा जीवन की परिधि बना ली थी, उनके बल से यम भी डर गया था। ऐसे बली अमर के सामने कौन ठहर सकता था? यही बात वसिष्ठ कुल के वीरों की प्रशंसा में पहिले कही गई है (७-८३-८ और ९ देखें) जिसमें "यमेन ततं परिधि वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठा" वाक्य ही कहा गया है। यही वाक्य जन्म कथा में भी दिया गया है। अप्सरसः शब्द श्लेषात्मक है, हारियोजन इन्द्र की परियाँ और चतुर्थ सप्तक के 'अप् रूप तत्त्वों के सरोवर हैं "अपां सरांसीति अप्सरसः" है। जैसे वेदों में स्वयं लिखा है "समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्।" (९-७८-३) इस जलरूप अप्सराओं से भौतिक तल रूप दिव्यात्मा का भौतिक वस्त्र बीना जाता है, अप्सरायें ही भौतिक तत्त्व रूप वरुण हैं। अतः उनको वस्त्र बुनती हुई कहा गया है। सोम रूप भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र, त्रिपाद-मृत या ब्रह्म, जीव, तेजस तीन आत्माओं को पहिनाया जाता है। भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र से ही हमारा पार्थिव शरीर बनता है, दिव्य शरीर जल (विद्युत्) रूपी है उसीसे पार्थिव शरीर बनता है। इसीलिये गीता 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।" (२-२२) श्लोक में इसी दिव्य शरीरी वस्त्ररूप को त्याग कर प्रलया-न्तर में पुनः नवीन भौतिक दिव्य शरीरी वस्त्र पहिनने की ही वैदिक उपमा देता है। यह उपमा वैदिकों को बहुत प्यारी है क्योंकि वैज्ञानिक है। अतः अप् को मातृ कहकर दिव्य शरीर को पुत्र मान कर मातायें पुत्रों के लिए वस्त्र बुनती हैं। यज्ञ को भी बुनना ही बताया है ऋ. वे. १०-१३।

९ दाशराज्ञ युद्ध में आधुनिकों का मत

आधुनिक आलोचकों ने दाशराज्ञ युद्ध को सूर्यचन्द्र वंशी राजाओं के युद्ध होने की भी अनर्गल कल्पना करली है। वैदिक साहित्य में ऐसे वंशों की कोई चर्चा नहीं आती। यहां चन्द्र तो स्वयं सूर्य से जल पाता है; उसका और सूर्य का पृथक् कुल हो ही नहीं सकता। इस कुल की भावनायें पौराणिक हैं, विशेष विक्रय के पश्चात् के

* 'पुरूरवा-उर्वशी' देखें।

पुराणों के वंश हैं। वैदिक काल में मुख्य वंश तीन ही थे जो बाद में दस हो गये थे। उन तीन वंशों का नाम पुरु, तृत्सु और भरत ही है (ऋ. वे. ७-३३-७ पूर्वोद्धृत)। इतिहास में हारे हुए अवैदिक ५ आर्य वंशों को अपने से पृथक् और नीच ठहराने की दृष्टि से चन्द्रवंशी कहने लगे होंगे। इसमें सन्देह नहीं क्योंकि वे अयज्यव या यज्ञहीन आर्य थे, अयज्यव, जैसा बताया जा चुका है।

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रपवयाः वयेत्यासते तते।।"

यह बुनना सूर्य तत्त्व से पहले असम्भव है। अतः इसका आरम्भ ही सूर्य से होता है। इसलिए इन्द्र की प्रार्थना में कहा गया है कि उसने तो स्वयं बिना ताने-बाने वाले तत्त्वों को भी बुना और सूर्य के आगे के तत्त्वों को ताने-बाने वाला बना दिया।

"स इत् तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार।
कदा ते मर्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः।।"
(ऋ. वे. ६-२१-३)

इस उपमा की अद्भुत झांकी प्रस्तुत की गई है, वही यज्ञ भी है। यज्ञ इन्हीं ताने-बानों से आगे बढ़ने वाली सृष्टि का नाम है, उन तत्त्वों का पितर भी है जो अपना कार्य पूरा कर आगे वाले को बुनने की आज्ञा देते हुए सृष्टि क्रम को अखण्ड रखा करते हैं। यह इसके पहिली ऋचा का सीधा अर्थ है। वेदों में जहां-जहां भी 'वास' वासांसि आदि वस्त्रों की चर्चा आई है, वहां-वहां निश्चय पूर्वक उक्त तत्त्व का ही संकेत समझा जाना चाहिए।

अध्याय २९

ऋषयः

ऋषि शब्द और संज्ञा वैदिक साहित्य और दर्शन दोनों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वेद स्वयम्। समस्त वैदिक वाङ्मय (ब्राह्मण, उपनिषद् सहित) हमारे पूर्वज ऋषियों की अपूर्व प्रतिभा और ज्ञान की खान हैं इसमें दो मत नहीं हैं। इसी वाङ्मय में उन्हीं ऋषियों को, जो इनके रचयिता थे, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के रूप में भी साथ-साथ वर्णित करके उसे ऐसा गूथ डाला है कि अभी तक अधिकांश लोग इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ होने के कारण वेदों (ब्राह्मणोपनिषद् सहित) के अर्थों को उचित और वास्तविक रूप में लगाने में प्रायः असमर्थ होते चले आ रहे हैं।

१—ऋषि तत्त्व का महत्त्व

अस्तु, ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति सर्वविदित तो यही है 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। यह मत 'ऋषिर्दर्शनात्' स्तोमान्ददर्श' औपमन्यव सम्प्रदाय का है; ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है "तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् ते ऋषयो अभवन् तदृषीणामृषित्वम्" परन्तु श. प. ब्रा. ने इससे अधिक अच्छी और दार्शनिक तत्त्वरूप ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है। ""तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयस्ते यत्पुराऽस्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः। (६-१-१-१) सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने ऋषि शब्द का अर्थ यही 'प्राणाः' मौलिक तत्त्व ही लिखा है। सृष्टि इश्वरेच्छा है, यही भाव 'ऋषिः' शब्द का है। तत्त्वों में तपते हुए विकास को जो वृत्ति प्रवृत्त हुई वही प्राणरूप ऋषि है, ज्ञान के लिए जिनकी वृत्ति विकास को प्रवृत्त हुई वे ज्ञानी भी ऋषि या मन्त्रद्रष्टा कहलाये। एक ने आध्यात्मिक और भौतिक दो सृष्टिरूप फल सामने रखे, दूसरे ने वैदिक और लौकिक ज्ञानरूप दो पात्र प्रस्तुत किए। एक में दूसरे का वर्णन है। दूसरे में प्रथम का द्विरूपीय वर्णन है, तो प्रथम में दूसरे का द्विरूपीय मौलिक आधार।

२—ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति

मन्त्र रचयिता ऋषियों में मुख्य-मुख्य ये हैं—गोतम, अङ्गिरस्, दीर्घतमा,ः गर्ग, अगस्त्य, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, आत्रेय, भरद्वाज, बार्हस्पत्य, वसिष्ठ, काण्व, वागम्भृणी, उशनाः, भार्गव, असितकश्यप-देवल, मेध्यातिथि, इन्द्र, कृष्ण, घोषा, कवष, एलूष, वृषाकपि, विश्वकर्मा, बृहस्पति, प्रजापति, प्रियमेधस्, सुदास, सुपर्ण, श्रद्धा, कामायिनी, विभ्राट्, सूर्य, इत्यादि। रेखाङ्कितों के आश्रय और गोत्र हैं। यजुर्वेद के मंत्रोक्त या वेदोक्त ऋषियों की नामावली और

३—वेदों में मुख्य ऋषियों के नाम

वंशावली श. प. ब्रा. इत्यादि ग्रन्थों में दी हुई मिलती ही है। प्रायः प्रत्येक ब्राह्मण ने अपनी-अपनी शाखा के ऋषियों की नामावली और वंशावली दी है, सबका संकलन बृहद्देवता में मिल सकता है।

४—ऋषि और महर्षि में अन्तर

तत्त्वरूप ऋषियों के दो भेद हैं, सामान्य ऋषि तथा महर्षि। महर्षि उन ऋषियों को कहा गया है जो सप्तकों के प्रथम या मुख्य तत्त्व हैं जिन्हें गीता भी महर्षि नाम ही से पुकारती है "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता एषां लोक इमाः प्रजाः॥" (गीता १०-६)। ये महर्षि सात सप्तकों के सात हैं। इनका विवेचन 'महर्षयः अष्टौ लोकाः' 'अष्टौ पुरुषाः' शीर्षक में विस्तार पूर्वक दे दिया गया है; वहीं पढ़ लें। अत्रि को ऋषि, महर्षि और प्रजापति नाम से पुकारा गया है। प्रायः सात प्रजापति ही महर्षि हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक सप्तकों के तत्त्वों को भी ऋषि नाम से पुकारा गया है, अष्ट वसु (प्रथम सप्तक) ऋषि हैं। द्वितीय सप्तक का महर्षि होता कहलाता है तथा अन्य ऋषि 'सप्तविप्राः' इसी प्रकार चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों को अङ्गिरस सप्त ऋषि कहते हैं (अङ्गिरस देखें)। पञ्चम-सप्तक तीन तत्त्व रूप ऋषियों को ऋभु (तीन तत्त्व) कहते हैं। गीता ने पुनः इस तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है:— "अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः" (१०-२) यहां पर अवधान पूर्वक (सर्वशः) कहा गया है। इस तथ्य के समर्थन में ऋग्वेदादि के अन्य प्रामाणिक उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—"ऋषयः सप्त दैव्याः" (ऋ. वे. १०-१३०-७) 'ऋषयः सप्त विप्राः' (ऋ. वे. १०-९२-२) 'वाणीर्ऋषीणां सप्त' (ऋ. वे. १०-१०३-३) 'ऋषीणां सप्त धीतिभिः' (ऋ. वे. ९-६२-१७) सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त" (ऋ. वे. ९-११४-३; १०-६१-७, १०-३५-१०, ८-९०-१६) 'अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि' (४-२-१५) 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' (ऋ. वे. १०-५-६) "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ. वे. ८-२८-५) 'सप्त मे सप्त शाकिनः' (ऋ. वे. ५-५२-१७; ८-२८-५३) "सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्तधाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा" (यजु. १७-७९)

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥"
(यजु. ३४-५५)

"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबध्नोस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥"
(अथर्व १०-२६-९, बृह. उप.)

अन्तिम मन्त्र के अन्तिम पाठ का पाठान्तर "ये अस्य गोपा महतो बभूवुः" (अथर्वेद में हैं)।

"साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥"
(ऋ. वे. १-१६४-१५)

उक्त उद्धरणों में 'दैव्या ऋषयः' महर्षि हैं। 'सप्त विप्राः' द्वितीय सप्तक के तत्त्व हैं; 'वाणी ऋषीणां सप्त' ऋषियों की सप्तवाणी वही महर्षि रूप ब्राह्मणियां हैं' यही भाव 'ऋषीणां सप्त धीतिभिः' का है; 'सप्त होतारो ऋत्विजो देवा' भी द्वितीय सप्तक के तत्त्व हैं। 'होता' तत्त्व द्वितीय सप्तक का मुख्य ब्रह्म है। सप्तमर्य्यादा कवयः' तो महर्षि हैं जो मन्त्र रचयिता कवि भी हैं; यह 'सप्तपरिधियों (सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्तसमिधः) का प्रतिनिधित्व करता है। 'सप्तानां सप्त ऋषयः' वाक्य सबसे अधिक स्पष्ट और प्राञ्जल है। यह सात सप्तकों के सात महर्षियों तथा प्रत्येक के भी सात ऋषियों का संकेत करता है जिसकी पुष्टि में 'सप्तद्युम्नान्येषां' वाक्य उनके सात सदों का उल्लेख भी पृथक् कर देता है। 'सप्त ते सप्त शाकिनः' वचन उक्त कथन को दूसरे ढंग से कहता है। सप्त 'होता' द्वितीय सप्तक है। 'सप्त ऋषयः सप्तधामप्रियाणि' पुनः सात सप्तकों का उल्लेख करता है। इसी में 'सप्त होत्राः' द्वितीय सप्तक है जिसमें सात विप्र (सप्तधा) यज्ञ करते हैं। ये ऋषि तत्त्व हैं, तत्त्वरूप ऋषियों का यज्ञ, सृष्टि का क्रमिक विकास से संबन्ध रखता है। अतः यज्ञ एक तत्त्व नहीं, सभी क्रमिक तत्त्वों का नाम है। यज्ञ पुरुष या पुरुष भी एक नहीं हैं। प्रत्येक तत्त्व यज्ञ भी है, पुरुष भी है। यह पुरुष की व्याख्या में लिखा जा चुका है। यज्ञ माने विकास होने का वैदिक स्पष्ट प्रमाण 'विश्वकर्मन हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्" और "स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः" (ऋ. वे. १०-८१-६, १०-८१-५) हैं, इसलिए वैदिकों ने 'यज्ञ' विकास शैली से सृष्टि विकास क्रम का विवेचन दिया है। यह एक अद्भुत रहस्य है। इसी रहस्य का कुछ-कुछ प्रतिबिम्ब अगले मन्त्र में संकेतित मिलता है। जैसे 'सप्त ते अग्ने समिधः' इत्यादि में, वैदिक दर्शन के सात सप्तकों को सप्तसमिध, सप्त जिह्वा, सप्त ऋषयः, सप्त धाम, सप्त होत्राः, सप्त योनी, सप्त यज्ञ नाम से पुकारा है। पुनः प्रत्येक सप्तक में सात समिध, जिह्वा, ऋषि, धाम, होत्र, योनी और यज्ञ हैं। इसीलिए इस मन्त्र को सृष्टि विकासरूप यज्ञ की विवेचना के लिए अग्नि रूप ब्रह्म और यज्ञ, यज्ञकर्ता ऋषियों, उनके द्वारा किये जाने वाले हवन तथा पात्र प्रयोग का रहस्यमय रूपक रखा गया है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' इत्यादि में शरीर शब्द अखिल ब्रह्माण्डरूप पुरुष के शरीर और पारिवारिक वैयक्तिक ब्रह्माण्डों का संकेतक है। केवल हमारे या प्राणियों के शरीर का ही नहीं। यह बात अथर्ववेद ११-३-२-१८ और ३२ तथा श. प. ब्रा. (६-१-१-४ और गर्भ उपनिषद् ने स्पष्ट शब्दों में लिख रखी है "यत्सर्वमस्मिन्नात्मन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम्" यह वैदिक ऋषियों का मत है जिसे गीता भी "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" वाक्य से दुहराती है जिसका 'शरीर' शब्द भी उक्त व्युत्पत्ति ही की अपेक्षा रखता है। फलतः इस पुरुष के ब्रह्माण्डरूप शरीर में

सप्त ऋषि प्रतिहित हैं, जिसके प्रत्येक भाग या सप्तक का फिर सात-सात ऋषि गण प्रमादहीन होकर सुरक्षित बनाये रखते हैं। इनको भौतिक स्वरूप आपोमय चतुर्थ सप्तक के सोम, वृत्त आदि से मिलता है, यह भौतिक शरीर सुषुप्त सा रहता है, उतना जाग्रत नहीं हो सकता, जितना इसके पूर्व के तीन त्रिपादमृतीय तीन सप्तकों के तत्त्वरूप ब्रह्म, जीव, तैजस आत्मायें; तैजसात्मा भौतिकात्मा में मिली रहती हैं। अतः शेष दो ब्रह्म और जीवात्मा जाग्रत् रूप में अस्वप्नरूप में, पर पूर्व सत्र या सप्तक के सदों में प्रतिष्ठित रूप में उसी भौतिकात्मा तैजसात्मीय स्वरूप या आदित्यरूप में व्याप्त रहते हैं। गीता का—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'

श्लोक उक्त स्वप्न और जागरण का ही संकेत करता है। सर्व भूतों की निशा या भौतिक सृष्टि काल में भी महर्षियों या त्रिपादमृतों की जागृति ही है, जिसे लौकिक जागृति कहते हैं। वह आध्यत्मिक ऋषियों की निशा या भौतिक सृष्टि या स्वप्नमय दृष्टि है। जिसका विकास उन्हीं आध्यात्मिक ऋषिरूप तत्त्वों से ही होता है। अन्तिम अथर्व के उद्धरण में सृष्टि वृक्ष का वर्णन है जिसे ऊर्ध्व मूल (ऊपर की जड़ों वाला) और अधः शाख (नीचे को सिर और शाखा वाला-मनुष्यादि शरीर) की तरह वर्णित किया गया है। इसमें अखिल ब्रह्माण्ड के नाना रूपों का यश या मूल बीज निहित है, जिसके किनारे सात ऋषिरूप सप्त विकास परम्परा के महर्षि बैठे हैं वहीं उस सृष्टिवृक्ष बीज के सबसे बड़े रक्षक हैं (अथर्व); उन वाग् रूप शब्द ब्रह्म (मूलतत्त्व) को अष्टम कहा जाता है (बृह. उप. का पाठान्तर)। इन सब बातों का निचोड़ अन्तिम उद्धरण (१-१६४-१५) में दिया है जिसमें सातों ऋषियों को आदि में एक साथ उत्पन्न बतलाते हुए, उनका विकास धामशः या सप्तक क्रम से अभीष्ट रूपों में बतलाया गया है, ये महर्षि हैं।

उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा नामक सोमतत्त्व, अत्रि ऋषि या महर्षि के सूर्य नामक चक्षु से उत्पन्न हुआ जिसका प्रमाण ऋ. वे. ५-४०-८ में इस प्रकार दिया है—"ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्। अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अधुक्षत्॥" इस मन्त्र का ऋषि भी अत्रि है, देवता भी अत्रि ही है, इससे बात स्वयं स्पष्ट है। इसी प्रकार ऋ. वे. १०-३१-११ में कण्व ऋषि को नृषद् या चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का पुत्र या विकास बतलाया गया है जैसे—"उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी।" *इन्द्र को भी 'ऋषि' कहा है जैसे—

५—सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि से

* श. प. ब्रा. ६-१-१-१ में जहां पर ऋषि माने प्राणाः लिखा है वहां ऋषियों को असद् नामक ऋषि कहा है और ये ऋषि प्राण रूप हैं पर त्रिवृत् हैं। इन त्रिवृत्

"ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥" (ऋ. वे. ८-६-४१)

सोम को ऋषि कहा है—'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्॥ (ऋ. वे. ९-९६-६) अन्यत्र सोम को ऋषिमना, ऋषिकृत् और स्वयं ऋषि भी कहा है और इसी को तृतीय सप्तक में महिष कहा है, जैसे—

"ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥"
(ऋ. वे. ९-९६-१८)

चतुर्थ सप्तक का नाम 'समुद्रः' 'अपामूर्मिं सचमानः' तुरीयं धाम या सद और चमूसदः कहा है जैसे "चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥" (ऋ. वे. ९-९६-१९)। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इन ऋषियों या सप्त ऋषियों की व्याख्या प्राणरूप या मौलिक तत्त्व रूप में देकर उक्त वक्तव्य पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। 'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः' (ऐ. ब्रा. २-४-२७); प्राणा वा ऋषयः बृह. उप. २-२-३ और श. प. ब्रा. ने "ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु (यजु. १५-१० की व्याख्या में लिखा है "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजास्तद्धि ब्रह्म प्रथमजं" (८-६-१-५) यहां पर तो इस ग्रन्थ ने सब वक्तव्यों की पूरी स्पष्टता कर दी है कि सप्त-ऋषयः या महर्षयः सब आदि ब्रह्म के बीजभूत अंग हैं, प्राण स्वरूप हैं, ब्रह्म रूप हैं जिनका विकास क्रमशः होता है। यह यजु. १५-१० के शेष मन्त्र में स्पष्ट दे भी दिया गया है। जैसे—

"दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥"

श. प. ब्रा. (८-१-१-५ से १-२-९ तक) में इन ऋषियों को ऋतुओं के साथ-साथ ब्रह्म के अध्यात्म रूप में इस प्रकार वर्णित किया है। वसिष्ठ तो प्राण है और गायत्री रूप शिर का प्राण है, यह वसन्त है; विश्वकर्मा वायु है। ग्रीष्म मानस है, भरद्वाज मन है। वर्षा चाक्षुष्य है, जमदग्नि चक्षु है, शरद् श्रौत्री है, विश्वामित्र श्रोत्र है। चन्द्रमा इसके ऊपर हैं। पंक्ति या वाक् हैमन्ती हैं, विश्व-कर्मा वाक् है, यही अन्न है। यहां तक कि वेदों में आये प्रत्येक नाम को ऋषि रूप में ही देखना उचित है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी ऋषि ही हैं।

उक्त दोनों प्रकार के ऋषियों की महिमा और प्रशंसा में वेदों ने स्वयं लिखा है :—

"सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः॥
(ऋ. ७-३३-८)

प्राणों में मध्यम प्राण का नाम इध्म, इद्ध या इन्द्र है। अतः यह इद्ध या इध्म नामक मध्यम प्राण रूप इन्द्र भी प्रथम ऋषि हैं।

"इन ऋषियों की ज्योति सूर्य के समान चकाचौंध करने वाली है। इनकी गम्भीरता समुद्र के समान (अज्ञेय) है। इनकी बुद्धि या प्रतिभा का तेज वायु के वेग से भी बढ़कर है। वसिष्ठ के आश्रम के ऋषि कहते हैं कि इससे अधिक सत्य वर्णन अन्य सूक्तों से हम इन ऋषियों का ढूढ कर नहीं पा सकते।" तत्त्व रूप ऋषियों की ज्योति, ज्ञान रूप, प्राण रूप ज्योति है, उनकी बुद्धि सांख्य की प्रकृति या बुद्धि रूप है, उनका स्वरूप समुद्र सम गम्भीर है; जैसा कि नासदीय सूक्त में 'तब जल ही जल था' इत्यादि लिखा है।

६—तत्त्वरूप ऋषियों की प्रशंसा

पुराणों में जिन-जिन ऋषियों की तपस्याओं की कथायें मिलती हैं, वे सबके सब ये ही प्राणरूप, तत्त्वरूप ऋषि हैं, हम आप जैसे शरीरधारी नहीं। प्रजापति के बारे में जब यह लिखा है 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत श्रान्तस्तेपानो ज्योतिर्निरवर्तताग्निः' इत्यादि तब प्रजापति भी ऋषि रूप प्राण है। तपस्या या श्रम या तप करने वाले केवल प्राण ही हो सकते हैं। अन्य तत्त्व इन प्राणों के शरीर, अंग आदि सहायक तत्त्व मात्र हैं। **सप्तर्षि रूप महर्षियों का तात्त्विक शेष विवेचन "अष्टौ पुरुषाः, अष्टौ लोकाः" और पुरुष सूक्त ऋचा १५ तथा सप्तवादी सप्तचक्र देखें।** विश्वकर्मा सूक्त १०-८२-२ में 'सप्तऋषीन्पर एकमाहुः' वाक्य उक्त सप्तर्षियों का सूचक न होकर सात अङ्गिरस ऋषियों का संकेतक है। इन्हीं से यह विश्वकर्मा परे और एक ऋषि हैं।

७—पुराणों के ऋषि

वामन पुराण (३८-५) ने लिखा है कि कलश के अन्दर सात विभाग किये गये। उनसे सात ऋषियों की उत्पत्ति हुई। उन्हीं सात ऋषियों को सप्तर्षयः या मरुतों के गण या मरुतः या मरुद्गण कहते हैं। जैसे—"सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह। तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान् मरुतो गणान्॥" यह उद्धरण श. प. ब्रा. ६-१-१-१) के ऋषियों के वर्णन से तो मेल खाता है। पर उन सप्त ऋषियों को श. प. ब्रा. ने वहां पर 'सप्तपुरुषाः' कहा मरुद्गण नहीं। श. प. ब्रा. (८-६-३-३) ने मरुतों और अङ्गिरस ऋषियों को ध्रुवा दिशा का स्थान दिया है (आसन्दी देखें)। इसमें जमदग्नि, भरद्वाज आदि सप्त ऋषियों का भी संकेत नहीं है। इनका वर्णन पृथक् दिया है। 'अत्रासते ऋषयः सप्त तीरे' (अथर्व, बृह. उप.)। इतना अवश्य है कि 'मरुत् भी प्राण शरीर वायव्य देवता है। ऋषिरूप प्राण स्वयं ही देवता है, जैसे मध्यम प्राण इन्द्र।

८—मरुत् भी ऋषि हैं

अध्याय २९

अदिति और दिति

१—अदिति के बारे में आधुनिकों के मत—

अदिति शब्द का प्रयोग ऋ. वे. में लगभग ८० बार आया है, पर दिति शब्द केवल तीन बार प्रयुक्त हुआ है। पाश्चात्यों तथा उनके अनुयायी भारतीयों ने 'अदिति के बारे में निम्न लिखित कल्पनायें की हैं :—

Maxmuller—Aditi an ancient god or goddess is in reality the earliest name invented to express the infinite–the visible infinite-visible as it were to the naked eye, an endless expanse beyond the earth, beyond the clouds, beyond the sky, i.e. *Hollow Space* (U. H, pp 241)

Roth—The eternal and invisible principle Aditi in which the. Ādityas live and which constitutes their essence is the *Celestial light,* i.e.—*a Hollow Space.*

Muir— A personification of universal all embracing Nature or Being (Original Skt Texts, vol. V, p. 37 Ed. 1884) Griffith–the same.

अन्यत्र—Maxmuller ने अदिति माने Liberty or goddess of liberty और Muir ने Goddess of freedom लिखा है—

दिति के बारे में—Maxmuller ने लिखा है "Diti is a being without any conception a mere reflex of Aditi (ibid 256)

अस्तु, अदिति के बारे में सर्व प्रसिद्ध ऋचा ऋ. वे. १-८९-१० में मिलती है। जिससे यह पता चलता है कि 'अदिति' वैदिक दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वों का एक नाम है। वैदिक दर्शन में सात सप्तक हैं। अष्टम आदि का ब्रह्म है, ये सब और प्रत्येक सप्तक केवल एक नाम 'अदिति' से पुकारे जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अदिति वैदिक दर्शन तथा वैदिक दर्शन के प्रत्येक सप्तक का नाम है। जो देवता प्रत्येक सप्तक में विकसित होते हैं उन्हें अदिति भवा अदित्या या देवता या तत्त्व भी कहते हैं। अदिति माने अखण्डनीया (व्यापक) और अदीना (सर्वशक्तिमती) होता है। वह मन्त्र है

२—'अदिति सर्वा देवता'

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥"

'द्यौ' नाम आदि ब्रह्म का है जैसे 'वसुरन्तरिक्षसद्' (ऋ. वे. ४।४०।५)।

अतः प्रथम सप्तक अन्तरिक्ष अदिति है; माता नाम द्वितीय सप्तक की 'वेदि' का है। अतः द्वितीय सप्तक वेदि भी अदिति है, पिता का नाम तृतीय सप्तक का है। जैसे (श. प. ब्रा. ६-१-२-१३) 'पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रम्'। यहां पर पिता शब्द पुत्र का प्रतिनिधि है। जो चतुर्थ सप्तक के पौत्र का पिता है। अतः तृतीय और चतुर्थ दोनों सप्तक क्रम से अदिति नाम से ही प्रसिद्ध हैं। पञ्चजनाः पञ्चम सप्तक है जिसमें विकास पञ्चधा हो जाता है। अतः पञ्चम सप्तक भी अदिति ही है, इस पञ्चम सप्तक से जात या उत्पन्न षष्ठ सप्तक भी अदिति ही है और उस षष्ठ से जनिष्यमाण सप्तम सप्तक (जनित्व) भी आदित्य ही है। अतः अखिल वैदिक दर्शन तथा उनके सब सप्तक अदिति के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। दर्शन का प्रत्येक तत्त्व विभिन्न सप्तकों में विकास पाता है, उनमें से प्रत्येक देवता नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अतः अदिति को देवमाता और देवताओं को अदितिभवा आदित्या भी कहते हैं। सभी तत्त्व आदित्य हैं। पर १२ तत्त्व द्वादशादित्य नाम से पुकारे जाते हैं। इन दो प्रकार के आदित्यों के कारण कभी-कभी द्वादशादित्यों को अदिति के भाई या अदिति को आदित्यों की बहन कहा गया है। परन्तु इस नाते को बनाने के लिए वैदिकों ने पुनः सप्तकों के तत्त्वों के क्रम को ही महत्त्व दिया है। सप्तकीय क्रम में प्रथम सप्तक वसुओं का है, द्वितीय रुद्रों का, तृतीय रुद्रादियों का (१९ तक रुद्र, २० से २२ तक आदित्य), चतुर्थ आदित्यों का सम्बन्ध हमारी अदिति से इस प्रकार दिया गया है :—

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥"

(ऋ. वे. ८-१०१-१५)

पर अदिति के सब आदित्यों या देवताओं की माता होने से यहां पर गौः (पृश्निः) को भी उसी अदिति नाम से पुकार कर माता, दुहिता, स्वसा, नाभि आदि सम्बन्ध उसी गौ रूप (पृश्नि रूप) अदिति के कहे गये हैं। पृश्निरूप गौ वसुओं की (प्रथम सप्तक) दुहिता या पुत्री है तथा रुद्र रूप द्वितीय सप्तक की माता है और आदित्यों का नाम ही अगोह्य तथा 'गावः' है (ऐ. ब्रा. 'गावो वा आदित्या' ४-१७) अतः गौ को इन आदित्यों की स्वसा या बहन कहा है। यही अमृत की नाभि है, यह अदिति या अखण्ड या एक है, व्यापक है। अतः अनागाः या अनिष्टताहीन या कल्याणकारिणी है। इसलिए इसका बन्धन, वध, संयमन, दमन न किया जावे। यह वैदिकों की अभिलाषा है। अथर्ववेद ने कुछ इसी प्रकार के सम्बन्ध मधुकशा के बारे में इस प्रकार दिये हैं :—

"मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥"

(९-१-४)

कि यह मधुकशा वसुओं की पुत्री, आदित्यों की माता, प्रजाओं के प्राण (रुद्रों की सास), अमृत की नाभि, हिरण्यवर्णा मधुमती, घृताक्त या प्राणाक्त महान् तेज

रूप में भौतिक तत्त्वों (मर्त्येषु) में बिखरी रहती है। इसके आगे यह भी लिखा है कि इस मधुकशा से सब देवता उत्पन्न हुए और उसमें विश्वरूप गर्भ था। वह विश्वरूप उत्पन्न हुआ तो उसे इस माता ने पाल कर तरुण किया। तब उसने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना की।

आगे चलकर अथर्व (८-९-२१) ने पुनः अदिति से अष्टभूत, (ऋत द्वारा) इन के आठ दैव्य ऋत्विज हुए। वे अष्टयोनि रहित हैं, अष्टपुत्रा अदिति हैं जिन आठ पुत्रों में आठवीं रात्रि है।

"अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति॥"

अदिति की वेदों में कई विशिष्ट व्याख्यायें हैं। ऋ. वे. ५-४-६ में इसे 'उरुव्यचाः' या अतिविस्तीर्णा (असीम) कहा है; ऋ. वे. १-१३६-३ में 'ज्योतिष्मती' या प्रकाशमय या ज्योतिर्मय; यही ऋ. वे. ७-८२-१० में दुहराते लिखा है। "अवध्रं ज्योतिरदितेर्मनामहे"; ऋ. वे. १-११३-१९ में उषा को अदिति का मुख कहते हुए लिखा है "माता देवानामदितेरनीकं"; ऋ. वे. २-२७-७ में अदिति को 'राजपुत्रा' या वह माता जिसके पुत्र राजा ही राजा हैं जैसे इन्द्र, वरुण, सोम आदि जैसे 'पितुर्नो अदितिर्राजपुत्रा'। ऋ. वे. १०-७२-८, ९ में अदिति के आठ पुत्रों की चर्चा है, अष्टम का नाम मार्तण्ड बतलाया है 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः··· मार्तण्डमाभरत्'। ऋ. वे. ८-२५-३ में लिखा है कि अदिति माता सृष्टि रचना की सर्वशक्तिमत्ता और महिमा से भौतिकी रचना करने के लिए (असुर्याय-तेनेमा सर्वाप्रजा आसुर्या–श. प. ब्रा. १-५-१-५) ऋतृतत्त्व वाला ब्रह्म ने भौतिकता के सर्व प्रथम रूप (आपोमय विद्युत्) मही को विकसित किया जैसे "ता माता विश्ववेदसा सुर्याय प्रमहसा। मही जजानादितिर्ऋतावरी॥" ऋ. वे. १-२४-१ में अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि कहता है कि कौन मुझे अदिति को सौंप दे जिससे मैं पिता (द्यौः) और माता (अदिति) दोनों को देख सकता जैसे—

३—अदिति की अनेक व्याख्यायें

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥"
ऋ. वे. ६-५१-५

में लिखा है कि सब देवता अदिति में मग्न रहते हुए हमारे लिए निरन्तर कल्याण को बुनते (बनाते) रहते हैं जैसे—

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"
(ऋ. वे. ५-४६-३)

में अदिति का अन्य देवताओं के साथ आह्वान करते हुए लिखा है—

"इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतां
अपः। हुवे········ ॥"
(ऋ. वे. ५-४६-३)

में लिखा है कि जितने भी देवता यज्ञभागभुक्, अदिति से उत्पन्न होकर देवता यज्ञभुक् बने हैं, चाहे वे अपस् देवता (चतुर्थ सप्तक से) या पृथिवी भौतिक वृत्र से उत्पन्न हुए हों उन सब का हम आह्वान करते हैं। वे सब वन्दनीय और नमस्करणीय हैं जैसे—

"विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥"

ऋ. वे. १०-६३-२

उसी सूक्त में लिखा है कि अदिति माता मधुमत् पयः रूप पीयूष द्यौ रूप में दुहती रहती है। जहां-जहां उसे अद्रि, चूडा (बर्हा) या कूटस्थ का कारण कहते हैं। वहां इन सब देवताओं के उक्थबीज, स्वप्रभव सम रहते हैं। वे सब कल्याण-कारी बनें, जैसे—

"येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥"

ऋ. वे. १०-६३-५

सूक्त में लिखा है कि वह तत्त्व केवल अदिति ही है जिससे व्यापक सम्राज् तत्त्व (वरुण) और यज्ञ सत्ता में आये जिन्होंने दिव या त्रिपादमृत का क्षय या विकास किया, जिनमें आदित्य (१२) निवास करने लगे, वह अदिति स्ववलि करे। जैसे—

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥"

अन्त में उसी सूक्त के १० वें मन्त्र में अदिति को सुकल्याणकारिणी, सुप्रणीतिनी, और दुःखों से बचाने वाली दैवी नौका जिसकी पतवारें स्वयं नौका में ही ऊगी हैं या नौका में ही हैं, जो अनिष्ट हीन हैं, और कभी भी छिद्रित होकर पानी से भरने वाली नहीं हैं, हम अपने कल्याण के लिए अदिति की उसकी नौका में आरूढ होवें। जैसे—

"सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसोअस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥"

इसी प्रकार विश्वेदेवताओं के अन्य बड़े-बड़े सूक्तों में अदिति की कुछ न कुछ चर्चा अवश्य मिलेगी। जैसे अथर्व वेद ने दो उत्तम मन्त्र दिये हैं जिनमें अदिति को ऋत् की पत्नी और सुव्रतों की माता और उसके उपस्थ में सोम की उत्पत्ति बतलाई है जैसे—

"महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥"
"वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्॥"

(७-२-६४)

यहां अदिति को यही माता भी कहा है, त्रिवरूथ भी कहा है। सब कुछ अदिति है।

अदिति तो सर्वादेवता और विश्वेदेवता हैं। अतः इसकी प्रार्थना सर्वत्र विश्वेदेवता सूक्तों में ही मिलती है। अदिति का मध्यवर्ती तत्त्व 'दक्ष' है जिसे अदिति का पुत्र भी कहा जाता है। दक्ष के पुत्र होने से

४—अदिति विश्वेदेवता दक्ष की माता अदिति को भी दाक्षायणी (दक्षजननी) भी कहते हैं। इसका प्रमाण ऋ. वे. १०-७२ सूक्त है जिसका ऋषि, बृहस्पति, लौक्य या अदिति-दाक्षायणी बतलाया गया है। दक्ष, द्वादशादित्यों में पञ्चम आदित्य हैं। दक्ष के जन्म के बारे में ऋ. वे. में कई मन्त्र मिलते हैं। १०-७२-४ में लिखा है कि "अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।" इसके अर्थ देने में यास्क ने कहा है। यह कैसे हो सकता है कि दक्ष से अदिति का जन्म हो, अदिति से दक्ष का; समाधान में वे कहते हैं कि देवधर्म से इतरेतरजन्मानः हैं। यह गलत व्याख्या है। वास्तविक बात यह है जैसा पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण वैदिक दर्शन के तत्त्व अदिति कहलाते हैं। पर मध्यस्थान २४ वें तत्त्व में दक्ष का जन्म होता है। अतः वैदिक ऋचा कहती है कि अदिति से (२४ वें तत्त्व में) दक्ष उत्पन्न होता है, पर दक्ष (२४ वें तत्त्व) से परि या आगे के तत्त्व भी अदिति ही कहलाते हैं। दक्षाद् उ अदिति में जन्यजनक अर्थ अभिष्ट न होकर स्थानावधारण के लिए अपादान है। इस स्थान से आगे के तत्त्व भी अदिति ही हैं। दक्ष का जन्म दर्शन के मध्यवर्ती तत्त्व में होना निम्न ऋचा प्रमाणित करती है "असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे॥" (ऋ. वे. १०-५-७) कि दक्ष का जन्म अदिति के उपस्थ या मध्यस्थान या योनि या गर्त या विषुवत् रेखा में होता है। इसका अप्रत्यक्ष समर्थन निम्न ऋचा करती है जिसमें लिखा है कि 'हे अदिते! दक्ष के जन्म-कर्म में सप्त होता, अङ्गिरस, विरूप सप्त ऋषियों से सम्पन्न होने के लिए पुरुरथ, धैर्यमार्गी अर्थ या मित्रावरुणों दो राजाओं की परिचर्या करने लग जाता है।" मित्रावरुण तो दक्षक्रतू का प्रतिबिम्ब है, जिसे दक्षक्रतू कहते हैं। वही मित्रावरुणौ भी है। जैसे—

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥"
(ऋ. वे. १०-६४-५)

एक स्थान पर (ऋ. वे. १-९४-१५) अग्नि से कहा गया है कि जब तुम किसी को भौतिकात्मा सोमात्मा प्रदान करते हो (द्रविण) तब तुम अदिति की कर्मभूमि को निरपराध या अनिष्टहीन बनाने में समर्थ होते हो, तब तुम किसी को कल्याणकारी शक्ति देते हो। तब वह अदिति की प्रजा वाला बन जाता है। अतः हम सेवा में तुम्हारे बने रहें, जैसे—

"यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो ऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥"

यहां अदिति माने अग्नि या सर्वादेवता अग्नियाँ अदिति ही हैं। ऋ. वे. १०-७२-८, ६ में अदिति के जिन सात या आठ पुत्रों की चर्चा की गई है, वे २० वें तत्त्व से २७ वें तत्त्व के प्रथम आठ आदित्य हैं। ये द्वादशादित्यों में से आठ हैं। अष्टम का नाम मार्तण्ड है। इसी को पुरुषसूक्त 'पुरुष पशु' कहता है। देवकी के आठ पुत्र येही हैं, कृष्ण अष्टम है। गीता ने लिखा है 'आदित्यानामहं विष्णुः, (१०) ये आदित्य विष्णुवादी तत्त्व हैं। 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' का जो अर्थ यहां पर दिया गया है उसका स्पष्ट समर्थन और विवेचन ऋ. वे. ८-१८- ६ मन्त्र यह कह कर करता है कि अदिति दो प्रकार की है। एक दिन (पूर्वार्द्ध) की, दूसरी रात्रि (उत्तरार्द्ध) की, उत्तरार्द्ध वाली को पशुमती (भौतिकी) अदिति कहते हैं; जैसे—

"अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः।
अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥"

अदिति पूर्ण वैदिक दर्शन है, पर वैदिक दर्शन के दो मुख्य भाग हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन; या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध जिसके कई अन्य नाम भी हैं। 'अश्विनी' देवता शीर्षक में अङ्कित किया जा चुका है।

५—दितिः यद्यपि पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों ही अदिति या अदीना, अखण्डा (व्यापिका) हैं तथापि उत्तरार्द्ध का विशिष्ट नाम असुर शत्रु, भ्रातृव्य, दैत्य आदि भी हैं क्योंकि यह भौतिक है, सीमित है, आसुरी सम्पदा विभिन्नता, स्वार्थता, अहंकार आदि से भरी है। अतः इसे दिति या खण्डित (सीमित) आदि नामों से भी पुकारा जाता है, असुर और दैत्य भी भौतिक भावना भरे तत्त्व कहलाते हैं, ये ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्म प्राप्ति में बाधक होते हैं और येही देह बन्धन करने वाले तत्त्व हैं। अतः इन्हें शत्रु या भ्रातृव्य भी कहा जाता है। कहा जा चुका है कि दिति का नाम ऋ. वे. में केवल तीन बार आता है। उन्हीं उद्धरणों से दिति के स्थान का निर्धारण बड़ी सुगमता और संशयहीनता के साथ किया भी जा सकता है। वे उद्धरण निम्न प्रकार से उल्लिखित मिलते हैं:—

(१) हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"
(ऋ. वे. ५-६२-८)

(२) चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य॥
(ऋ. वे. ४-२-११)

(३) त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः।
दितिश्च दाति वार्यम्॥ (ऋ. वे. ७-१५-१२)

सबसे प्रथम ऋचा का तृतीय पाद यास्क ने उद्धृत किया है (३-१-५)। यास्क को गर्त शब्द का उचित अर्थ विदित नहीं है। अतः वे इसके माने रथ, सभास्थाणु लिख गये हैं। परन्तु वेदों में गर्त माने विषुवत् रेखा, मध्यवर्ती रेखा, उपस्थ, योनि इत्यादि होता है। इसका वर्णन संवत्सरब्रह्म के ऋतुमासीय विभागीय तत्त्वों के व्याख्यानावसर पर किया जा चुका है। और यहां पर 'मित्रावरुण' (२४ वें तत्त्व) से प्रार्थना की जा रही है कि तुम गर्त नामक २५ वें तत्त्व पर आरूढ हो जावो या सूर्य तत्त्व रूप में परिणत हो जावो, मित्र का परिणाम सूर्य में होकर २५ वां तत्त्व गर्तीय तत्त्व बनता है। उस २५ वें तत्त्व से तुम दोनों ओर की अदिति को और उत्तरार्द्ध की दिति को एक साथ देख सकोगे। गर्त खण्ड नहीं, सबसे ऊँची स्थली है, जहां से पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध दोनों के तत्त्व स्पष्ट दीखेंगे। गर्त आध्यात्मिकता का उच्चतम विकास, (Climax) है, वहीं से भौतिकता का उदय होने से पतन का प्रारम्भ हो जाता है, अन्तिम पतन परमाणु है। ऋचा का जो भाव यहां दिया गया है वह तो इसी ऋचा के पूर्वार्द्ध में ही सन्निहित है। उसमें लिखा है कि वह गर्त उषा के उद्भव काल में, अयःस्थूण (लोहे के स्तम्भ-यूप) (भौतिक) होने पर भी हिरण्यरूप प्रतीत होता है, वह सूर्य का उदय कारक होता है। सूर्य इसी गर्त रूप तत्त्व या रेखा में उषा के बाद उदित या विकसित होता है। उसी गर्त में वरुण और मित्र से आरूढ़ होने की प्रार्थना की गई है।

६—अदिति, दिति और गर्त

द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रार्थना की गई है कि स्व सन्तानों की समृद्धि और ब्रह्म प्राप्ति के लिए (राये) हे देव! दिति को भगादो (रास्व) और अदिति को स्वीकार करो। तृतीय मन्त्र दिति के दान कर्म की महिमा गाता है, कहता है कि हे अग्ने! तुम, सविता देवता और भगः सवशक्तिमान् यशोरूप बीज को देते हो, पर दिति उस बीज को पनपाने के लिए जल सिञ्चन (वार्यम्) का कार्य कर देती है जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड को आवृत्त या व्याप्त कर लेती है।

पुराणकारों ने अदिति और दिति दोनों को कश्यप प्रजापति की पुत्रियाँ माना है और अदिति से आदित्यों, दिति से दैत्यों की रचना बतलाई है। कश्यप तो अदिति के 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' में से एक पुत्र, द्वादशादित्यों में एक आदित्य हैं। अतः अदिति कश्यप की पुत्री नहीं है, माता है, पर पौराणिकों का समर्थन केवल इतने ही तथ्य से किया जा सकता है कि कश्यप के आगे के तत्त्व भी अदिति ही कहलाते हैं, क्योंकि सब तत्त्व अदिति ही हैं। कुछ परिवर्तन करने का उन्हें थोड़ा अधिकार भी होना चाहिए। नहीं तो वे मौलिकता से हाथ धो बैठते।

७—पुराणों में अदिति और दिति

वेदों के अन्तिम वेद अथर्व ने तो स्पष्ट लिखा है कि दिति के पुत्रों की रचना तो अदिति ही से हुई है, ये देवताओं से उद्धृत हैं, इनका जन्म स्थान गभि-

८—अदिति और उसके पुत्र

षक्-आसुरी-समुद्र या भौतिकी समुद्र—चतुर्थ सप्तक है। अतः इनसे झुके बिना कोई नहीं रहता। जैसे "दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्। तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥" (अथर्ववेद ७-७-१) अदिति के आठ पुत्रों का विवेचन 'अष्टचक्र', 'पशुवाद' 'पुरुष पशु' तथा पुरुष सूक्त की १५ वीं ऋचा की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दे दिया गया है, वहीं देखें। आठवाँ पुत्र मार्तण्ड है जो पुरुष पशु है, उसका सिर और धड़ बराबर था, विरूप था। देवताओं ने उनके विरूपाङ्गों को कुतरा तो कुतरे भागों से हाथी बना। जो शेष रह गया, वह मार्तण्ड विवस्वान् आदित्य हुआ (श. प. ब्रा. ३-१-३-१ से ५ तक पूरा)। अदिति का वास्तविक स्वरूप वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म का है, यह बृहदारण्यक के निम्न उद्धरण से स्वयं स्पष्ट हो जायगा—"स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्त्स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं वेद।" (१-२-५) कि वाग्रूपिणी अदिति वाग् से ही सब सृष्टि शब्दमय सृष्टि—ऋग्यजुःसाम छन्द—स्वर, दीर्घ, ऊष्माण, पञ्चवर्गीय प्रतीकी तत्त्व—उत्पन्न हुई। सत्ता रूपिणी वाग् में जो कुछ सृष्टि हुई वह सब अत्ता या अन्नाद ही बने। वाग् स्वयं अत्ता अत्रि हैं (आगे अत्रि शीर्षक देखें)। यह वाग्रूपिणी अदिति आत्मा या ब्रह्मरूपिणी ही है—'वाचा तेनात्मना सर्वमसृजत' वाक्य पर ध्यान दें। यही सर्व सृष्टि का मूल कारण भी है, अन्य देवता इसी के प्रतिरूप हैं।

अध्याय २७

अत्रि—अत्रि नाम तो एक प्रसिद्ध ऋषि का है। पर वैदिकों ने इनके नाम को वैदिक दर्शन के एक प्रमुख तत्त्व के लिए प्रयुक्त किया है। क्योंकि वैदिकों को प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या को गाथा रूप में कहने का आदी इसलिए बनना पड़ा था कि उन्हें कर्मकाण्डीय रंग-मंच में प्रत्येक तत्त्व के अभिनय की अनिवार्य आवश्यकता थी।

१—अत्रि जन्म कथा

सृष्टिविकास वृक्ष की व्याख्या करते हुए तथा सप्तर्षियों का तादात्म्य प्राणाग्नियों से दर्शाते हुए अत्रि नामक तत्त्व की प्रस्फुट व्याख्या देते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् लिखता है कि "वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति। सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥" (२-२-४) अत्रि नाम वाणी का है, वाणी के द्वार से अन्न अपनाया जाता है, जो अदन (भक्षण) करने वाला है, वही अत्रि है, (मुखादग्निरजायत' का स्मरण करें) सब कुछ अदन कर्त्ता को सर्वान्न या सर्व पाञ्चभौतिक तत्त्वों का विकास मिलता है। आगे बतलाया जायगा। 'अन्न' भी स्वयं अत्ता है, अन्न हमारा भौतिक तत्त्व है जिसकी वृद्धि दूसरे भौतिक तत्त्वों के भक्षण से होती है। इस अन्न की जन्मदात्री वाणी या वाग्ब्रह्म है, अत्रि नामक वाग्बल २४ वां तत्त्व है, क्योंकि जिस सन्दर्भ में बृहदारण्यक ने 'अत्रि' का स्थान (वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानाः) अष्टम स्थान रखा है, वह गौतमरूप अग्नि से (सत्रहवें तत्त्व से) आठवीं है। अतः पूरे क्षेत्र में इसका स्थान २४ वां पड़ता है। यह २४ वां अत्रि नामक वाग्ब्रह्म ओँकारब्रह्म है। इसके पूर्व स्वरों का भी उदय (ऋग्, यजु, साम) होता है। साम में केवल अनुनासिक नामक ऊष्माण का यहां तक उदय होता है। शेष का चतुर्थ सप्तक में २५ वें से लेकर आगे शतपथ ब्राह्मण (१-४-१-८,९,१०,११,१२,१३) ने अत्रि और वाग् के बारे में एक दूसरे ढंग की कथा कही है। "अथातो मनश्चैव वाचश्च। "अहं भद्रऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहं भद्रऽऊदाते। तद्ध मन उवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति॥९॥ अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयामि "अहं संज्ञपयामीति॥ ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच "मन एव त्वच्छ्रेयो मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति॥११॥ सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये, तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपांश्वेव तत्क्रियते, अहव्यवाड् हि वाक् प्रजापतयऽआसीत्॥ तद्धैतद्देवाः रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्तिऽअत्रेव त्या ३ दिति' ततोऽत्रिः सम्बभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः॥" यहां पर जो कथा गाई गई

है उसका मुख्य लक्ष्य यह है कि प्रथम तीन सप्तकों का वागब्रह्म 'उपांशु' है, प्राणीय या मानसिक या ब्राह्मी वाग् है, घोषीय, नादीय, आसुरी नहीं, और 'अत्रि' नाम की उत्पत्ति की एक वैज्ञानिक कथा है। कहा है मन और वाणी में वाद-विवाद हो पड़ा, दोनों अपने-अपने को आपस में बड़ा बतलाने लगे। मन ने कहा—देखो वाणी तुम तो मेरे अनुसार चलती हो। अतः मैं तुमसे बड़ा हूँ। वाणी ने कहा-मैं ही तो तुझे बतलाती और चेतना में लाती हूँ। तब दोनों झगड़ते हुए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे मन ही मन बात की और कहा मन ही वाणी से श्रेष्ठ है (अग्रिम विकास है) जो अनुकरण करता है, वह पापी कहलाता है। 'परा' वाणी बेचारी आश्चर्य में पड़ गई, उसका गर्भपात हो गया। और उसने प्रजापति से कहा मैं तुम्हारे लिए, तुम्हारे यज्ञकर्मों के लिए अनुपयुक्त (अहव्यवाड्) हूं। अतः प्रजापति यज्ञ 'उपांशु' में मन ही मन किया जाता है। जब देवता लोग वाणी के गर्भपात के रेत को ढूंढने लगे तो "अत्रैव त्या३द्" कहने को इसी शब्द के बोलने से उस वाणी का नाम 'अत्रि' पड़ गया। उसी से आत्रेयी उसकी स्त्री रूप वाणी स्त्रियों के लिए या देवताओं के लिए हुई। यहां गर्भपात कहने का केवल यह तात्पर्य है कि वाणी के उपांशु स्वरूप का 'अंशु' रूप में विकास हुआ। 'उपांशु' का गर्भ 'अंशु' है, उपांशु का विकास अंशु रूप ॐकारीय वाणी में हुआ, वही 'अत्रि' कहलाया। पशुओं का प्रजनयिता यहां अत्रि है। अतः पशुओं (पुरुष, पशु, गोरश्व, रासभ, अवि, अजा) को "आत्रो सा संपद्, यदाहुः"[1] (श० प० ब्रा. १-२-१-७) वाक्य में आत्र संपद् या अत्रि सन्तान कहा है, इसको 'अंशुः प्रजापतिः' और 'चतुर्विंशं महाव्रतं' भी कहा है। (अत्रि, सूर्य और चन्द्र के नायक होने का वर्णन सूर्यशीर्षक में देखें)

---

[1] स्वस्त्यात्रेयं मनसा च तार्क्ष्यम् (स्वस्तिवाचनम्)

अध्याय २८

अन्न ब्रह्म—वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में 'अन्न' नामक ब्रह्म की बड़ी चर्चा है। इसका सम्बन्ध भी अत्रि नामक वाग्ब्रह्म से है (अत्तीति अत्रिः अन्नं च)। पर यह अन्न तत्त्व अत्रि नामक वाग्ब्रह्म (२४ वें तत्त्व) से तीसरी सीढ़ी २६ वां तत्त्व या सत् तत्त्व है जिसे चन्द्र या सोम कहते हैं। "सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स एतां रात्रिं क्षीयते तस्मिन् क्षीणे ददाति ॥" (श० प० ब्रा० २-४-२-७)। सोम नामक राजा ही देवताओं या तत्त्वों का अन्न पोषक या विकास का मुख्य मूल है, यही चन्द्रमा सत्तत्व है या भौतिक तत्त्व का प्रथम अणु है, जो रसमय और निरन्तर निखरता (क्षीयते) रहता है, उसी निखरने वाले रस को वह अग्रिम तत्त्वों को पिलाता क्या है, उनका विकास करता है। यह अन्न या सोम या चन्द्रमा या सत् रसमय है, इसका प्रमाण है "अत्र वा अन्नं प्रतिष्ठति अन्नं वै सोमस्तस्मान्नाभिदघ्नो भवति।" (श० ब्रा० ३-३-१-२७) "रेतो वै सोमः" (३-८-५-२) और "सोमो वै देवानां हविः"(४-३-४-१)। यह 'अन्न' नामक तत्त्व चतुर्थ सप्तक का ही है। यह बात "पशवो वा पूषा, अन्नं वै पशवो ? अन्नं एष उज्जयति' उल्लेख से स्पष्ट हो जाती है कि अन्न नामक तत्त्व 'पशु' या चतुष्पाद् है, चतुर्थ सप्तक का है। क्योंकि लिखा है 'तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेत्सम्भरत्यथो अन्नं वै पशवः" (६-५-६-७)। सोम की गाथा गायत्री के विवरण में दे दी गई है, गायत्री वाग्ब्रह्म है। अतः 'अन्न' सम्प्रदाय भी सोम सम्प्रदाय की तरह वाग्ब्रह्मवादी है। आपको आश्चर्य होगा कि इसी सोम या अन्न या सत् या चन्द्र या प्रथमोत्पन्न भौतिक अणु का ही नाम वृत्र है; जिसका व्याख्यान आगे दिया जायगा। अन्न २६ वां भौतिक तत्त्वाणु है। अतः सभी उपनिषद्कार इसे ब्रह्म कहते आये हैं। इस बात की पक्की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण एक प्रामाणिक कथा देता है कि प्रजापति की दो आंखें सूर्य (२५ वां), चन्द्र (२६ वां) हैं, उनमें से चन्द्रमा निमीलित नेत्र था, उसी बन्द आँख से 'अन्न' नामक तत्त्व का रस आँसू रूप में निखर कर निकला "य एवायमात्मन्प्राणः सोऽस्य स द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादस्रवत्" (श० ब्रा० ७-१-२-७)। अन्न असद् नहीं सद है, यह (७-१-२-४) में कहा है।

१—अन्न ब्रह्म किसे कहते हैं

अन्नवाद की चर्चा उपनिषद् सार गीता में भी आई है "अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥ इसके भौंड़े भाष्यों और थोथी टीकाओं को देख कर मन कुढ़ने लगता है। लोग इसका अर्थ दानेदार अन्न, बरसने वाले मेघ, हवन का यज्ञ (उससे धुवाँ), कर्मकाण्ड लगाकर न जाने कैसे, किस

२—गीता में अन्न ब्रह्म और पर्जन्य

प्रकार इनका नाता ब्रह्म और अक्षरब्रह्म से लगाते हैं, वेही जानें। यहां तो गीता पूरे चतुष्पाद् ब्रह्मदर्शन का विविक्त विवेचन दे रही है। यह वैदिक दर्शन के २६ तत्त्वों में से उनके प्रधान ब्रह्मों की क्रमिक व्याख्या दे रही है। बृहदारण्यक उपनिषद् अन्न और सोम का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखता है "अथेत्यभ्यमन्थत्। स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत (अतिथिब्रह्म)·········यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव··· तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च···।।" (१-४-६) अग्नि की उपाधि के बाद एक-एक देव (सप्तर्षियों-सप्तप्राणाग्नियों) का यज्ञ करके रेतस् (२५ वां) तत्त्व बनाया, तब सोम या अन्न। जिसे यहां अन्नाद सोम कहा है उसका जन्मदाता रेतस् या रजस् या मन रूप या कामरूप या चक्षुरूप सूर्य बतलाया गया है। इसी मनः या चक्षुरूप २५ वें तत्त्व को छान्दोग्य उपनिषद् 'पर्जन्य' नाम से पुकारता है "सा वाग् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत। ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद। अथ योऽस्योदङ सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यः। तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत" (३-१-३-३४) यहां पर 'मनस्' नामक २५ वें तत्त्व से उत्पन्न समान नामक प्राण को ही पर्जन्य नाम से पुकारा है। और इसकी उपासना वाले को अन्नाद भी कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि यह 'पर्जन्य' अन्नगर्भा है अर्थात् 'अन्न' नामक २७ वें तत्त्व की उत्पत्ति इसी मनस् 'पर्जन्य' नाम के तत्त्व से होती है।* यह है अर्थ 'पर्जन्यादन्नसम्भवः' का—

पर्जन्य की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गई है। यज्ञ, पुरुष का नाम है, उसे यज्ञ-पुरुष भी कहते हैं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः' पर यज्ञ या यज्ञ पुरुष या पुरुष और पुरुषपशु में महान् अन्तर है। 'पुरुषपशु' तो मार्तण्ड नामक अष्टम आदित्य है, यज्ञपुरुष २४ वां तत्त्व, मन (चक्षु, सूर्य) का जनक अब्ज नृषद् ब्रह्म है। उसके लिए कहा है।

३—पर्जन्य की उत्पत्ति

"पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो
यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः।।"

(शतपथ ब्रा. १-३-५-१)

पर 'पुरुषपशु' के लिए तो 'अबध्नन्' लिखा है (पु. सू.) और ऐतरेय ब्राह्मण कहता है।

"पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त।"

(ऐ. ब्रा. २-१-८)

इस यज्ञपुरुष का उदय कर्म से बतलाया है। कर्मभूमि 'वेदि' होता नामक ब्रह्म का द्वितीय सप्तक है; जिसके लिए कहा है—

* मुण्डक उपनिषद् ने सोम से पर्जन्य और ओषधि की उत्पत्ति बतलाई है, इससे उक्त वाक्य की पुष्टि होती है "सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः"। यह पाठ उचित ही है। गीता भी अन्यत्र यही क्रम देती है।

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥" य. वे. ३४-४

यह वेदि प्रथम मुख्य कर्मभूमि है। जहां से प्राणवायु और प्राणाग्नियों की उत्पत्ति का क्रमिक कर्म होता है। उसीसे यज्ञपुरुष का विकास होता है। कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से या खंब्रह्म से या अन्तरिक्ष नामक द्वितीय सप्तक से होती है। और इस अष्टधा खंब्रह्म की उत्पत्ति अक्षरब्रह्म या द्यौ से होती है जिसे सुकृत भी कहते हैं 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' (कठ ३-१)। यह है कर्मवाद या कर्मयोग या गीता के उक्त दो श्लोकों का वास्तविक अर्थ। पुरुष सूक्त का 'पृषदाज्यं' शब्द इसी अन्न का नाम है "प्राणो हि पृषद् आज्यं, अन्नं हि पृषद् आज्यं, अन्नं हि प्राणः" और पयः पृषदाज्यं, पशुषु पयो हितं प्राणः" (श. ब्रा. ३-८-४-८)

अन्नवाद वैदिकों का बहुत प्रिय विषय है और यह बड़े महत्त्व का वाणिवाद है। यह अन्नवाद सीधे सोमवाद से भी सम्बद्ध है। चन्द्रवाद और सोमवाद में, अथवा अन्नवाद और सद्वाद (विष्णुवाद) में आकाश-पाताल का अन्तर है। सोमवाद या अन्नवाद पौराणिकों का रुद्रवाद है। यह स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्तवाद या अर्द्धनारीश्वरवाद है और शुद्धरूप से ओषधिवाद है जिसमें स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त रहते हैं। पेड़-पौधे, वृक्षादि सब ओषधियाँ अर्द्धनारीश्वर रुद्ररूप हैं, इनमें पुँस्त्व और स्त्रीत्व दोनों एक साथ नित्यरूपेण रहते हैं। बीजों में भी यही बात रहती है। अतः विष्णुवाद और चन्द्र या सद्वाद तो जङ्गमप्राणिवाद है तथा सोम और अन्नवाद स्थावर प्राणिवाद है। ये दोनों गर्भवाद के भेद हैं। इन दोनों की सृष्टि नित्यरूप से बीज रूप गर्भ ही से होती है। परन्तु गर्भेतर, गर्दभ, गर्दभी रूप पशुओं या जड़ कहलाने वाले तत्त्वों को पुरोविणः कहते हैं। "पशवो वै पुरीषं" (श. ब्रा. १-२-३-१७)। ये पुरीष इसीलिए कहलाते हैं कि इनकी गर्भाशय से उत्पत्ति न होकर पुर या शरीर रूप में सृष्टि होती है। जब-जब ये उत्पन्न होते हैं, ये उत्पन्न होते ही 'अहमन्नादः-अहमन्नादः' कहकर चिल्लाते पैदा होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक-प्रत्येक का अन्न या भोज्य या पोषक या विकासक या विस्रंसक है। प्रत्येक सजीव और सचेतन हैं। अतः 'जीवो जीवस्य भक्षणं' की वार्ता अक्षरशः सत्य करते रहते हैं। जीव धारियों के स्थावर-जङ्गम भेद को मूलि और अमूलि दो नाम भी दिये गये हैं।

"द्वयं वाऽइदं जीवनं मूलि चैवामूलं च तदुभयं देवानां,
सन्मनुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यः"
(शत. प. ब्रा. २-३-१-१०)

यहां जिस अन्न की चर्चा हो रही है, वह सद् है, रूपवान है, पर वैद्युतीय प्रवाही अणु रूप है। अतः इसे पावक नाम से पुकारा है "अन्नं वै पावकः" (श. प. ब्रा. २-१-७-५)। इस अन्न को चन्द्र, अप्, श्री, रेतस्, प्राण, आत्मन्, अर्क, वाज, शान्ति आदि विद्युत् नामों से श्रुतियों ने पुकारा है, शप. ७-५-२-७; ८-६-२-१, ऐ. ५-२७) यह इस तत्त्व की महिमा का द्योतक है।

प्राचीन उपनिषदों ने इस अन्नवाद की व्याख्या नानारूपों में कर रखी है, सबका आशय इसे अन्न ब्रह्म २७ वां तत्त्व मानने की दिशा में पूर्णतः पक्का है।

४—उपनिषदों में अन्नब्रह्म

वास्तव में अत्तीति अन्नं नाम चिन्मय चैतन्यरूप वाणी का है। यह शब्द ब्रह्म है जो चैतन्य ब्रह्म है, जो वाग्ब्रह्म है। वही अन्न है, वही अन्नाद भी है (तै. उप. भृगुवल्ली ६)। इसी अन्न तत्त्व की शरण में प्राण या सोम रूपी आत्मा रहती है (श. प. ब्रा. ७-२-२-४५) 'प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्।' अन्न न हो तो प्राण नहीं, प्राण नहीं तो अन्न नहीं। ये एक दूसरे के जन्यजनक, पोष्य-पोषक और आधाराधेय भी हैं। इसी बात को बृहदारण्यक दुहराता है और अधिक सफाई से कहता है कि 'सर्वमन्नं' जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की व्याख्या सबसे अच्छी देता है। इसकी उत्पत्ति 'आर्द्र' तत्त्व सोम रूप रेतस् से बतलाई है, दूसरा शुष्क तत्त्व आग्नेय या सौर है।

"अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत। तदु
सोमः। एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च" (१-४-६)

यह अन्नवाद बहुत लम्बा और विस्तृत विषय तथा स्वतः पूर्ण दर्शन है जिस पर थोड़ी सी प्रकाश किरणें सप्तान्नवाद द्वारा बृहदारण्यक (१-४-१७, ५-१) छोड़ता है। अन्न प्राण है। इसका प्रमाण माता का दूध है जो प्राणी (पुत्र) को प्राणों के लिए प्राण (दूध) पिलाती है। या अन्न (प्राणी) को अन्न (शरीर) के लिए अन्न (दूध) पिलाती है। एक अन्न आत्मा है, ये जीवात्मा रूपात्मा हैं, एक देहात्मा है, तीन मन, वाक्, प्राण हैं इत्यादि (वहीं)। 'अन्नं बहु कुर्वीत' के माने इन्हीं अन्नों की वृद्धि होती है, 'अन्नं न निन्द्यात्, माने 'इनकी अवहेलना न करना' है। प्रत्यक्ष अर्थ तो अजागलस्तनवत् या व्यर्थ के लटके हैं। यह अन्न शुक्र भी कहलाता है। शुक्रामन्थी ग्रह भी चन्द्र या अन्न ही है; 'सोम' देखें। सूर्य से अन्न स्थापित होता है "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रँ पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानः शुक्रमन्धस इन्द्रस्य इन्द्रियमिदम्पयोऽमृतं मधुः॥" यह वैदिक ऋचा 'अन्न' नामक तत्त्व की इतनी बड़ी भारी महिमा गाती है। यह ऋत से उद्भूत सन् तत्त्व है। इन्द्ररूप तैजसात्मा का इन्द्रियरूप या रसरूप शरीर है, यह प्रत्येक इन्द्रियरूप या रसरूप का विपान या विशिष्ट पेय है। तेजस्वी अन्न या पौष्टिक है। यह प्रजापति ३३ वें ब्रह्म का सोम है। क्षत्र तत्त्वों का पयस् नामक पेय है, ब्राह्मण नामक तत्त्वों का रस नाम पेय है, यही पयस् है, यही मधु है, यही अमृत है, सब कुछ यही रस है जो अन्न से निरन्तर टपकता है"। ब्राह्मण, क्षत्रिय, विश्, शूद्र, तथा पय, अमृत (घृत) मधु (और मेद) ये चारों क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सप्तकों के तत्त्वों के समाहारीय नाम हैं। इस अन्न में तीन रूप हैं। इसका शुक्लरूप जल का है, लोहित अग्नि का और कृष्ण इसी अन्न का। येही प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुण हैं (छा. ६-४)।

———

अध्याय २६

निर्ऋतिः

'निर्ऋति' नाम किस तत्त्व का है। इस पर अभी निर्णयात्मक व्यवस्था नहीं की जा सकी है। अभी मत भिन्न हैं, भाव भिन्न हैं। निर्ऋति की व्युत्पत्ति "निर्गता ऋतान् इति निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति···असौ आमुष्यायणः' (श. प. ब्रा. ७-१-३-११) सर्व श्रेष्ठ है। जिन लोगों ने इसकी व्युत्पत्ति 'निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा सा पृथिव्या संदिह्यते' दी है (यास्क निरुक्त २-७), उन्होंने इस विषय को अन्धकार के गर्त में ढकेल दिया है। वास्तव में 'निर्ऋति' शब्द या नाम निघण्टु में पृथिवी के २१ नामों में से एक है। यह पृथिवी वैदिक पृथिवी है। यास्क इस विषय में स्वयं डवाँडोल हैं, उन्होंने देवताओं को तीन स्थान—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु में विभक्त किया है, पर वे भूल गये हैं और लिख गए हैं कि पृथिवी का स्थान द्यू या दिव में भी है (निरुक्त ६-३०) और ऊपर उन्होंने निर्ऋति की व्याख्या में लिखा है कि "यह पृथिवी का नाम है, ऐसा संदेह होता है पर इसका अर्थ दुःख या आपत्ति है।" वैदिक पृथिवी क्या है? इस पर "अष्टौ लोकाः, अष्टौ पुरुषाः" नामक शीर्षक में विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है। यहां पर 'निर्ऋति' के स्थान और तात्त्विक विषय पर निर्णय देने से पहिले निर्ऋति का जो कुछ वर्णन वेदों और ब्राह्मणों में दिया मिलता है, उसे दे दिया जाता है जिससे निर्णय देने और समझने में लेखक और पाठक दोनों को सुविधा होगी।

१—निर्ऋति के बारे में भ्रम

अथर्ववेद में निर्ऋति के दो सूक्त निम्न प्रकार से दिये मिलते हैं। इनके कई मन्त्रों के भाष्य (श. प. ब्रा. ७-१-३) पूरे प्रपाठक में जिस प्रकार दिये गये हैं, वे भी यहां दिये जायेंगे। श. प. ब्रा. ने जिन मन्त्रों को उद्धृत किया है, वे यजुर्वेद से लिये गये हैं। अतः उनमें शाखान्तर भेद से पाठान्तर तो है पर भावान्तर बिलकुल नहीं है। दोनों के मन्त्र पाठ अलग दिये जायेंगे। ऋग्वेद ने इस विषय में जो मौलिक भाव प्रस्तुत किये हैं, उन्हें निर्णय के लिये अन्त में प्रस्तुत किया जायगा।

२—निर्ऋति के सूक्त और भाष्य

(१) अथर्ववेद—६-६३—

"यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्।
तत्ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥
नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥३॥
संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥४॥"

(२) अथर्ववेद ६-८४—

"यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥१॥
भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥२॥
एवो ष्वस्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥"

(३) अथर्ववेद २-१०—

"क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः—एवाहं त्वां० ॥२॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वाम् ॥३॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
एवाहं त्वां ॥४॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।
एवाहं त्वाम् ॥५॥
अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां···॥६॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां···॥७॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां···अनागसं ब्रह्मणा······उभे स्ताम् ॥८॥"

(४) यजुर्वेद (मा० शा०) (१२-६२, ६३, ६४, ६५, ६६)

"असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥६२॥
नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधिरोहयैनम् ॥६३॥

यस्यास्ते घोरऽआसञ्जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय यां त्वा जनो भूमिरिति।
प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः ॥६४॥
यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्।
तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं
पितुमद्धि प्रसूतः। नमो भूत्यै येदं चकार ॥६५॥
निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥६६॥

निर्ऋति के सम्बन्ध में उपरिष्टात् चारों भागों में जो-जो मुख्य मन्त्र हैं, उनमें से यजुर्वेद ने चतुर्थ भाग में सबको दे दिया है, शेष मन्त्रों में उन्हीं की भावनाओं का विस्तार है। यजुर्वेद और अथर्ववेद के सूक्तों के मन्त्रों में कहीं-कहीं पाठान्तर हैं, पर इन पाठान्तरों में अर्थान्तर और भावान्तर का समावेश नहीं हुआ है। भावों में सर्वत्रैकमत्य है।

३—निर्ऋति के बारे में सर्वैकमत्य

यहाँ पर यजुर्वेद ने जिन मन्त्रों को दिया है, उनका भाष्य श० प० ब्रा० ने ७-१-३ के पूरे प्रपाठक में विस्तार पूर्वक देकर लेखक को इनके अर्थ विषयक भार से मुक्त कर दिया है। श० प० ब्रा० के भाष्य के अनुसार निर्ऋति नाम 'तमस्' का है जिसे वह 'अनतिदृश्यं तमः' या असीम तम' (अन्धकार) कहता है 'तम एवानतिदृश्य-मपश्यन्' (२) 'तत्तमः पाप्मानमपाघ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिः' (३) यहां पर द्वितीय उद्धरण निर्ऋति को पाप्मा (भौतिक या आसुरी) तत्त्व भी बतला रहा है। निश्चयरूप से यह अन्धकारमय पाप्मा वही तत्त्व है जिसने सूर्य (२५ वें तत्त्व) को प्रथम भौतिक आभास रूप में चारों ओर से घेर लिया था, जिसका विवेचन 'सूर्य नामक' शीर्षक में किया जा चुका है। अथर्ववेद के उक्त उद्धृत २-२-५ (१०) का आठवां मन्त्र इस निर्णय पर पक्की मुहर लगाते हुए कहता है कि ऋत नामक आध्यात्मिक तत्त्व सूर्य को जिस तमोरूप निर्ऋति ने ग्राह्य या ग्रहण कर लिया था। उसे देवताओं ने पाप्माहीन (निरेणसः= निः+एनसः) बना लिया या अन्धकारहीन कर लिया था। इस तमोरूप भौतिक तत्त्व ने निर्ऋति दिशा या दक्षिण-पश्चिम दिशा से सर्व प्रथम घेरना प्रारम्भ किया था। अतः इससे उत्पन्न तत्त्वों को 'नैर्ऋत्य' कहते हैं 'तस्मादेता नैर्ऋत्याः।' वर्तमान वैज्ञानिक आकाश गंगा का मुख इसी नैर्ऋत्य दिशा में कुम्भ राशि के सामने मानते हैं, यही उद्भव बिन्दु है।

४—श० प० ब्रा० का दिया भाष्य

निर्ऋति के जन्म की कथा देते हुए श० प० ब्रा० (७-१-३-५) लिखता है कि उखा या योनि में जो रेतस (वीर्य) सींचा गया, वह गार्हपत्य नामक लोक या उत्तरार्द्ध में प्रतिष्ठित किया गया। यह रेतस् प्रजापति विसृस्ति हुआ था (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्याय दिव-मित्यन्य-तस्य रेतो न्यस्रंसत्—; ततो अत्रिः अत्रत्याद् इति

५—निर्ऋति के जन्म आहुः की कथा

ऐ० ब्रा० ३-३-३३; श० प० ब्रा० १-४-१-११,१२-१३) और वाणी का गर्भपात। योनि नाम उत्तरावेदि का है (श० प० ब्रा० ७-२-३-२८—'योनिर्वाऽउत्तरवेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति')। इस रेतस् को पाप्मा नाम से भी पुकारा गया है (श० प० ब्रा० ७-२-३-४६ 'सं रेतांसि पाप्मऽसह')। अतः इस पाप्मा रेतस् की वृत्तियां दैवी तथ्यों से चार प्रकार से भिन्न हैं (१)। यह पाप्मा या असुर है (२) निस्तेजाः या श्लेष्मामय है, (३) अजन या जन्मधारी गर्भमय उल्ब है, और (४) जरायु या जीर्ण होने वाला और सीमित आयु का है, देवता तत्त्व इसके विपरीत दैवी-गुण सम्पन्न, तेजोरूप, अजरूप और निर्जर तथा अमर हैं (श० प० ब्रा० ७-१-३-५ 'तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नन्')। निर्ऋति का स्थान पराचैः या अधस्पद या उत्तरार्द्ध या पृष्ठपद है। निर्ऋति का नाम अलक्षणा और तमोरूप होने से 'कृष्णा' भी है। जब इसे 'कृष्णा' नाम से पुकारते हैं तब दूसरे इसे 'द्रुपदा' नाम से भी सम्बोधित करते हैं (अथर्व ६-६-२-४)। क्या महाभारत ने इसी को द्रौपदी कृष्णा नाम तो नहीं दिया है? अधिक संभव है।

निर्ऋति तत्त्व आसुरी या भौतिक है, अदेवयु है। अतः कहा गया है कि हे निर्ऋते! तुम उसकी इच्छा करो जो न तो सोममय ब्रह्म रस का सवन या सेवन करता है और न जो उसका अभिनय यज्ञप्रणाली में ही देख सकता है। जैसे चोर मुँह दुबका कर भाग जाता है, ऐसे ही तुम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण से मुँह छिपा कर अन्य किसी भौतिकता में सने व्यक्ति की इच्छा करो, (ऐसा करने की तुझसे प्रार्थना है या तुझे नमस्कार करते हैं या ऐसा करने के लिए) तुझे हाथ जोड़ते हैं ॥१॥ हे निर्ऋते (तुम भूली हो) तुम तो बड़ी तेजस्विनी हो (सोम रूप में), तुम तो जिसको पकड़ या जकड़ लेती हो, उसे लौह शृङ्खलाओं से जैसे निबद्ध कर लेती हो, इस विषय में तुम यम के समान बलवती हो, तुम अपने यम-नियमों में यमी या दृढ़ संकल्पवती हो। अतः तुमसे प्रार्थना है कि तुम अपने यजमान को स्वर्ग या तृपादमृत में आरूढ़ कर दो, उसे अपनी शृङ्खलाओं से मुक्त कर दो ॥२॥ हे निर्ऋते! तुम तो घोर भयंकर शक्तिशालिनी हो। अतः यजमान को तेरे बन्धनों से मुक्त करने के लिए यह हवनादि यज्ञ कर रहा हूं। तुम तो भूमि या पृथिवी हो। तुम्हीं में तो तुम से सब शरीरी उत्पन्न होते हैं, तुम सबको शरीर अर्पण करती हो। अतः मैं तो तुम्हें सर्वतः अर्पण करने वाली निर्ऋति ही कहता और मानता हूं। अतः तुम्हारा यहां आमन्त्रण कर रहा हूं। आमन्त्रित व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करता ॥३॥ यजमान को निर्ऋति देवी ने जिस पाश से गले में बाँधा है (बन्धन रूप शरीर की आसुरी प्रवृत्ति दी है), उसे मैं कहता हूं। (दैवी ज्ञान ब्राह्मण ब्रह्म कहता है) और उसे अग्नि रूप आयु के मध्य स्थान में आहूत गार्हपत्याग्नि, अनाहूत आहवनीय युवा और स्थविर रूपों के मध्य में कहता हूँ। अब पिता (जगत्पिता) के अन्न

६—यजुर्वेद में दिये मन्त्रों का श० प० ब्रा० में प्राप्त अर्थ

या सोमरूप ब्रह्मरस की प्रसूति या उत्पत्ति हो गई है, उसे पीवो। इस रस का निर्माण जिन लोगों ने कल्याणकारी जीवन के लिए किया था, उन्हें (बार-बार) नमस्कार ॥४॥ यह दैवी वृत्ति का, लोक अखिल वसुओं या नाना शक्तिरूप धनों का मूल संगम है, जिन शक्तियों से ब्रह्मरस नाना रूपाकारों की सृष्टियों में परिणत होता है, जिन शक्तियों की सत्यधर्मता द्वारा इन्द्र भी सविता देवता (सोम, विष्णु, गायत्रीब्रह्म) की तरह आगे के विकासीय युद्धों या संघर्षों के मार्ग में कहीं रुक नहीं सका, (वह 'पथ्या स्वस्तिः' का सुरक्षित यात्री बन गया) ॥५॥ येही सब भाव अथर्वोक्त सूक्तों के मन्त्रों के भी हैं।

अब उक्त समस्त सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए ऋग्वेद की ऋचाओं के द्वारा निर्ऋति का यथार्थ निर्णय करना आवश्यक है। ऋग्वेद १-१६४-३२ में इसका

७—निर्ऋति निर्णय का विचार

वर्णन इस प्रकार दिया है "य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥" इस ऋचा के अर्थ के बारे में यास्क के निरुक्त कालीन अर्थ का समूल खण्डन किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसका सीधा अर्थ तो यह है "वह, जिसने उसे बनाया, उसके बारे में कुछ नहीं जानता, जिसने उसे देखा, वह उसकी दृष्टि से बाहर है। कहने का सीधा आशय यह है कि निर्माता तो ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, दृश्य आदि हो सकता है, पर जो (सृष्टि) निर्मित होती है; वह इतनी अनन्त, अपार, नाना रूपाकार की है कि उसका सर्वतः ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय दृश्य होना नितान्त असम्भव है। अनिर्वचनीय, अपूर्णज्ञेय, अपूर्णध्येय, अपूर्णप्रमेय, अपूर्णदृश्य है, इतना ही कहा जा सकता है कि वह माता के गर्भ में आकर बहुत सन्तति के रूप में निर्ऋति में प्रवेश कर गया।" इस ऋचा के अर्थ में यास्क ने 'बहुप्रजा' शब्द के दो अर्थ जबरदस्ती लाद दिये हैं। एक तो है 'परिव्राजक' भ्रामक संन्यासी। जो कहते हैं कि बहुप्रजा माने दुःख और आपत्ति है, उससे निरुक्तकार कहते हैं कि इसका अर्थ ऋतु से संबन्ध रखता है—विशेष कर वर्षा ऋतु से, वृष्टि ही बहुप्रजा है। दोनों में एक ने तो केवल लौकिक दृष्टिकोण या प्राकृतिक दृष्टिकोण अपनाया है। दूसरे इन्होंने इस ऋचा के आगे-पीछे के मन्त्रों के सन्दर्भ को तनिक भी ध्यान में नहीं रखा है। तीसरे इस ऋचा में स्वयं प्रतिध्वनित दार्शनिक दृष्टिकोण की ओर इनकी दृष्टि जा ही नहीं सकी है। चौथे निर्ऋति के बारे में जो मन्त्र पिछले परिच्छेदों में दिये गये हैं उन्हें इन लोगों ने समझने, देखने और जानने का प्रयास भी नहीं किया है। हां, इनका सम्बन्ध ऋतु विद्या या वर्षा ऋतु से मानने वाले ठीक कहते हैं। वर्षा चतुर्थ सप्तक है। वही निर्ऋति का स्थान है। यह आगे स्पष्ट हो जायगा। यास्क, जैसे निरुक्तकारों ने उक्त ऋचा में आये 'मातुर्योना परिवीतो' का अर्थ ऋतुरूप में घटित करने के लिए 'माता' और योनि माने अन्तरिक्ष लिखते हुए और इस अन्तरिक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है 'जिसमें सब भूत निर्मित्त होते हैं वह योनि अन्तरिक्ष और वायु है। वह वायुरूप महानवयवः स्वयं वायु से ही परिवृत (घिरा या युक्त) रहता है—

स मातुर्योनौ मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुनायमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति।

(निरु० २-८)

इस सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान आकर्षित किया जाता है। श० प० ब्रा० ने अन्तरिक्ष शब्द की व्युत्पत्ति वैसी नहीं दी है, जैसी यास्क देते हैं, श० प० ब्रा० में लिखा है—

"यो ऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवद् ईक्षं हैतन्नाम।
ततः पुरान्तरा वा इदमीक्षमभूत् तस्मादन्तरिक्षं तद् गार्हपत्यम्॥"

(७-१-२-२३)

दो सप्तकों में जो मध्यवर्ती आकाश है वह अन्तरिक्ष है। इस आकाश का नाम 'ईक्षम्' है, उसके पहिले से या मध्य स्थान से जो कुछ दिखाई पड़ता रहा वह अन्तरिक्ष कहलाया, यह तो गार्हपत्य अग्नि का नाम है। यास्क की अन्तरिक्ष शब्द सम्बन्धी व्युत्पत्ति स्वयं गलत सिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत या जहां कहीं भी वेदों में माता या योनि शब्द का प्रयोग आया है, वहां सर्वत्र ही इन शब्दों से पृथिवी, भूमि या रात्रि, दक्षिणायन, गौ तथा संवत्सर ब्रह्मपक्ष में चतुर्थ ऋतु, कृष्णपक्ष आदि दार्शनिक तत्त्वों का संकेत किया मिलता है। ये शब्द लौकिक पदार्थों का संकेत नहीं करते।

वह पृथिवी तो अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिक आत्मा है। पृथिवी तत्त्व केवल इस स्थूल पृथिवी में ही नहीं वरन् सभी ग्रहों, उपग्रहों, नाना सौर मण्डलों, सूर्यों, अतिसूर्यों आदि में भी है। अतः उक्त शब्दों का लौकिक या स्थूल पृथिवी विषयक संकेत केवल कर्मकाण्ड में पात्ररूप या अभिनय रूप में लाचारी से या समझाने की दृष्टि से अवश्य किया जाता है। जिस रूपक से समझाया जाय वही रूपक यथार्थ को हड़प कर स्वयं यथार्थ की गद्दी पर नहीं बैठ सकता। लौकिक पृथिवी और अन्तरिक्ष नाटकीय पात्र हैं, इनसे दार्शनिक रहस्य का अभिनय कराने की अलौकिक अद्भुत कल्पना, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की सर्वोच्च कोटि की दार्शनिकता की अभिव्यञ्जकता पूर्ण प्रतिभा की उड़ान भरी अनुपम कविता है। अस्तु, वेदों ने माता और योनि शब्दों के पर्याय स्वयं दे रखे हैं, खण्डन-मण्डन का काम ही नहीं है। ऋ० वे० १-१६४-३३ ठीक उक्त निरूक्ति विषयक ऋचा के तुरन्त पश्चात् और साथ में लिखता है कि माता नाम पृथिवी का है। जैसे—

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥"

कि द्यौ मेरा जनक पिता है, नाभि (त्रिपादमृत यज्ञ) मेरा बन्धु है, इस शरीर रूप अखिल सृष्टि की भौतिक ब्रह्माण्डात्मा जिसे पृथिवी या मही कहते हैं, मेरी माता है, इन दोनों द्यावा और पृथिवी के दो मिले उत्तान या एक दूसरे के अभिमुख चमू या पटलों के मध्यवर्ती तत्त्व (२५ वें) का नाम योनि है जिसमें पिता द्यावा

ने पृथिवी को दुहिता रूप गर्भ वाग् तत्त्व के रूप में धारण कराया।' इसका समर्थन निम्न कई अन्य ऋचायें भी स्पष्ट रीति से करती हैं। जैसे—

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"
(ऋ० वे० १-१९१-६) और

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"
(ऋ० वे० ६-५१-५) और लीजिए

"द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसो रिषः।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥"
(ऋ० वे० १०-३६-२)

यहां पर पृथिवी से साथ निर्ऋति का विभेद बतलाया है, अथर्व और यजु के उद्धृत मन्त्रों में निर्ऋति को भूमि नाम से इसीलिये पुकारा है। पृथिवी दो प्रकार की है। दैवी और आसुरी, दैवी पृथिवी का नाम सोम; चन्द्र, अश्विन, सूर्य, सविता, विष्णु, इन्द्र आदि है तो आसुरी पृथिवी का नाम निर्ऋति, वृत्र, अहि, शंवर, रक्षांसि, दानव आदि है। इसीलिए इस अन्तिम मन्त्र में इस निर्ऋति को दुर्विदत्रा भयंकर दाढ़ वाली, भयंकर दान करने वाली कहा है। निर्ऋति के सम्बन्ध में जिस भौतिक पाप्मा रेतस् की चर्चा आई है, वह भी आसुरी रेतस् है और इस आसुरी रेतस् का प्रतिपक्षी सोम होता है। इसका समर्थन निम्न ऋचा (निर्ऋति वर्णन के साथ-साथ) दे रही है—

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥"
(ऋ० वे० १-१६४-३५)

वेदों में गौ, गौरी और धेनु का जो वर्णन आता है; वह भी इसी दैवी आत्मपृथिवी का प्रतिनिधित्व करता है। उनका वर्णन धेनु रूप में अन्यत्र किया जा चुका है। गौ नाम पृथिवी का भी है। यह वैदिक निघण्टु में है।

८—सन्दर्भीय पृथिवी और गौ

वेदों में गौ, गौरी और धेनु का जो वर्णन आता है; वह भी इसी दैवी आत्म पृथिवी का प्रतिनिधित्व करता है। इनका वर्णन धेनुरूप में अन्यत्र किया जा चुका है। गौ नाम पृथिवी का भी है। यह वैदिक निघण्टु से पुष्ट है, यह पृथिवी तत्त्व का सर्व प्रथम नाम है। अतः वेदों में इस गौ विषय की अनन्त चर्चा है। (श० प० ब्रा० ६-१-२ ३४) गौ शब्द की व्याख्या में लिखता है कि यह अखिल ब्रह्माण्ड (की भौतिकता) गौ है, जो इन नाना लोकों के रूप में परिणत होती है, और ये नाना लोक जिसकी शरण में जाते या रहते हैं वह गौ है। जैसे—

"अथो गौरिति ब्रूयात्। इमे वै लोका गौर्यद्धि किं च।
गच्छतीमाँस्तल्लोकान्, गच्छतीमउ लोका, एषो
ऽग्निश्चितस्तस्माद् गौरिति ब्रूयात्॥"

यहां पर गौ को अग्नि या आत्मा (भौतिकात्मा) नाम से स्पष्टतया पुकारा गया है। इसी गौ से मत्सर नाम वाले सोम की उत्पत्ति बतलाती हुई ऋचा कहती है :'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० वे० ९-४६-४)। आदित्यों का नाम भी गौ है 'उतादः परुषे गवि' (ऋ० वे० ६-५६-३)। इन्हीं आदित्यरूप तत्त्वों को विष्णु का परं पद या अन्तिम पद (चतुर्थपाद) या चतुर्थ सप्तक कहते हैं जिसे 'भूरिशृङ्गा गावः' कहते हैं—

"तावां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥"
(ऋ० वे० १-१५४-६)

इन गौओं को ऋ० वे० ९-१०८-८ में 'सहस्रधारं वृषभं' और ऋ० वे० ७-५५-७ तथा अथर्व ४-५-१ में 'सहस्रशृङ्गो वृषभो यः' कहा गया है। इसी को 'सहस्राक्षो विचर्षणिः' (ऋ० वे० १-७९-१२ और १०-१६१-३ अथर्व ३-११-३ तथा २०-९६-८) तथा पुरुष सूक्त में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' कहा है (ऋ० वे० १०-९०-१)। ऐसे गौ तत्त्व (पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिंग) की व्युत्पत्ति यास्क ने 'दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः॥' दी है, वे कहते हैं कि यह पशु नाम भी है। उसी के अनुरूप या मन्त्ररूप मन्त्रार्थ हैं। वे यहां पर वैदिकों के रूपकों को भी नहीं मानते हैं, इस विषय में शेष मंत्रों का अर्थ सरस्वान् सरस्वती वाग्धेनु' शीर्षक में विस्तार पूर्वक दे दिया गया है, वहीं देखें।

अतः उक्त विश्लेषण के अनुसार निर्ऋति नामक तत्त्व भौतिकात्मा का शुद्ध आसुरी या भयंकर स्वरूप है। यह दैवी सम्पदा की हिंसिका या आच्छादन कारिणी है, पर आज का समस्त दृश्य ब्रह्माण्ड इसी निर्ऋति के खोल या शरीर रूप में विद्यमान है। यह दैवी वृत्ति की वैरिणी है पर है उसकी सहोदरिणी साक्षात् औरस बहन ही। पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके निज अनुयायियों ने या यास्क ने जब इस निर्ऋति शब्द का अर्थ प्रलय, दुःख या यह दृश्यमान पृथिवी लिखा या समझा है तो यह वैदिक वाङ्मय को न समझ सकने की और अपनी-अपनी हठधर्मितामय भावना को निःसंकोच उगलने की प्रवृत्ति की सूचना डंके के चोट से दे देती है। इसके समर्थन के लिए ऋ० वे० १०-१६४-१ और १०-१६५-१ में आये निर्ऋति शब्द का प्रयोग देखें। मंत्र इस प्रकार है—

९—निर्ऋति का निर्णय

"अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥"
"देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम॥"

इनमें यास्क ने (निरुक्त १-२-१७) प्रथम को निर्ऋत्या शब्द को चतुर्थ्यन्तप्रेक्षैकारान्त और द्वितीय को 'पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा आः कारान्तम्' कहते हुए, इनमें पद विभाग का अभाव बतलाया है। यहाँ सन्धि अवश्य है, पर सन्धि के माने पद विभाग का न होना कहना बड़े आश्चर्य की बात है। यह समस्तपद

होता तब पदविच्छेद से भी पद विभाग मानना ही पड़ता है। अस्तु, यहां पर प्रथम निर्ऋत्याः शब्द पञ्चम्यर्थ ही है। निर्ऋति से पर होकर, पृथक् होकर कहो, अर्थात् जो कुछ कहो, वह दैवी-देवरूपिणी वृत्ति के अनुकूल कहो, निर्ऋति रूप आसुरी वृत्ति से परे होकर कहो, यह स्पष्ट है। दूसरे उल्लेख में निर्ऋति शब्द चतुर्थ्यन्त है। यहां कपोत, सुपर्ण रूप इन्द्र है, वह भौतिक सृष्टि या निर्ऋति है। यह सूचना देने के लिए आया हुआ दूत सा है। अर्थात् सुपर्णरूप कपोत नामक इन्द्र के प्रस्तुत हो जाने पर निर्ऋति या भौतिक सृष्टि का प्रथमोदय हो जाता है। अतः वह कपोत निर्ऋति के लिए आया हुआ दूत सा कहा गया है।

१०—निर्ऋति के सम्बन्ध में कई अन्य बिखरे मन्त्र

निर्ऋति के बारे में निम्न मन्त्र भी ऋग्वेद १०-५९-सूक्त में मिलते हैं। "प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुमता रथस्य। अध च्यवान उत्त्वावीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥१॥ सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि। ता नो विश्वानि जरिता म मत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥२॥ अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्। ता नो विश्वानि ००० ॥३॥ मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥४॥" इन सब में निर्ऋति को परा या उत्तरार्द्ध का ही तत्त्व माना है।

निर्ऋति के उक्त स्थान के निर्णय की पुष्टि निम्न ऋचा भी स्पष्टतया कर देती है। "तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतिरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः। तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥" (ऋ. वे. १०-११४-२) यहां पर निर्ऋति को तिस्रो देष्ट्राय या त्रिपादमृत प्राप्ति के लिए दीर्घ काल तक उपासना करने वाली बतलाया है। इस बात को अग्निरूप आत्मायें जानती हैं। कवियों या दार्शनिक ऋषियों ने दर्शन के तत्त्वों को दो मुख्य भागों में विभक्त किया है। गुह्य या गुहास्थ और पर या उत्तरार्द्ध। निर्ऋति को परा या उत्तरार्द्ध का ही तत्त्व माना है। श. प. ब्रा. (५-३-१-१३) ने लिखा है कि जो अपुत्रा पत्नी हो वही वन्ध्यास्त्री निर्ऋति है जैसे "या वाऽअपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता"। इस निर्ऋति के पाश बतलाये गये हैं "नैर्ऋतो वै पाशः" (श. प. ७-२-१-१५)

अध्याय ३१

वृषभः

वृष, वृषा, वृषन्, वृषणः और वृष्णः वृष्णिः, वर्षा, वृष्णो अश्वस्य धाराः (५-८३)
वृषभ नामक तत्त्व वैदिक दर्शन में बहुत अधिक मात्रा में कई ढंग से वर्णित किया गया है। इसका संबन्ध वृष, वृषा, वृषण इत्यादि से है। अतः पहिले इन शब्दों या तत्त्वों के बारे में दी गई वैदिकों की व्याख्याओं को दिया जाता है। वेदों में वैसे इन्द्र के सैकड़ों उपयुक्त विशेषण हैं। जैसे मनस्वान्, धीः, श्रद्, इध्म, इदिन्द्र, अग्नि आदि पर उक्त वृष, वृषा, वृषन् आदि तो आर्यों को इतने मधुर लगे हैं कि कई सूक्तों में इनकी बौछार सी लगा डाली है। जैसे

"पिबेन्द्र सोमं वृषभेण भानुना।
वृष्णः कोशः पवते मध्व ऊर्मिर्वृषभान्नाय वृषभाय पातवे।
वृषणाध्वर्यू वृषभासो अद्रयो वृषणं सोमं वृषभाय सुष्वति।
वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा।
वृष्णो मदस्य वृषभ त्वमीशिष इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृप्णुहि॥"

(ऋ० वे० २-१६-४ से ६ तक)।

यहां पहिले वृषभ माने किरण है, वृष्ण माने कोष, पुनः वृषभ माने अन्न (भौतिक तत्त्व); वृषभ=इन्द्र, वृषणाध्वर्यू=पर्वत (तैजस), वृषण=सोम; वृषभ=इन्द्र; वृषा=वज्र, वृषा=रथ; वृषणौ=हरी, वृषभाणि=आयुधानि, वृष्ण=मद, वृषभ (सम्बोधन इन्द्र का), वृषभ=सोम। ऋ० वे० ३-२९ वृषण को इलापुत्र और जातवेदाग्नि नाम से पुकारा गया है। ऋ० वे० ३-५५ में कहा गया है कि वृषभ को नित्य नई-नई युवतियाँ उत्पन्न होती हैं, और वह दूसरी युवतियों में रव करता है और दूसरी युवतियों में रेतस् का सिञ्चन करता है।

नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्।
यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः॥"

ऋ० वे० ५-३० में भी

"अमन्दन्नरोरवीद्वृषभः सादनेषु"

इस वाक्य में वृषभ इन्द्र के लिए आया है। ऋ.वे. ५-३६ में पुनः कहा है कि वृषा इन्द्र है, वृषण की वृद्धि करे, और द्यौ भी वृषा है। वृषा नामक दो अश्वों (प्राणों) से उसे ले जाते हो। इसलिए हमारा वृषा इन्द्र वृषारथ वाला है, जिसे वृषा ने ही बनाया है। वही वृषा वज्री है जिसको वृषा कहा है। उसी को वाजी, वाजिनीवान् भी कहा है।

"वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्।

स नो वृषा वृषरथः सुशिप्र वृषक्रतो वृषा वज्रिन्भरे धाः ।
यो रोहितौ वाजिनौ वाजिनीवान्त्रिभिः शतैः सचमानावदिष्ट ॥'

यहां पर इन्द्र को आर्तों से बढ़ने वाला बतलाया है ।

"स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्"

ऋ. वे. १-८२-४ में तथा

उक्त मंत्र में और अन्यत्र भी 'वृषण' नाम रथ या भौतिक तत्त्व का है जैसा कि ऋ. वे. १-१७७-२ से स्वयं स्पष्ट है । जैसे—

"ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः ।
ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे ॥"
आ तिष्ठ रथं वृषणं वृषा ते सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि ।
युक्त्वा वृषभ्यां वृषभ क्षितीनां हरिभ्यां याहि प्रवतोप मद्रिक् ॥"

नपुंसक लिङ्ग का 'वृषण' शब्द रथ का वाची है, द्विचन का पुलिङ्ग शब्द वृषणौ या वृषण हरी या अश्व का संकेतक है, वृषन् शब्द इन्द्र वाची है, वृषा नाम सोम या अन्न का है, इसीलिए सोम तत्त्व ग्रावा संकेतक होने से ५-४०-२-५ में पुनः वृषा को ग्रावा (पत्थर या अश्म) मद, सोम कहा है और इन्द्र को वृषिन्, तथा वृषों से वृत्र का हनन करने वाला बतलाया है ।

"वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः ।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥" इसी को तुराषाड् वृषभ कहा है ।
"ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् ।"

ऋ. वे. ८-२६ में वृषभ को 'दशद्युम्' दस दिन वाला या दस तत्त्व वाला कहा है । ऋ. वे. १-१५४-३ और ६ में वृष्ण माने विष्णु कहा गया है । विष्णु २६ वां तत्त्व सोम है । इसीलिए ऋ. वे. १-१००-१ में वृषा को दिव तृतीय सप्तक का महः तथा पृथिवी द्वितीय सप्तक का सम्राट् बतलाया है, वह वृष सखियों का सखा है, अपने पुत्र रुद्रों (तृतीय सप्तक के ४ रुद्रों) के साथ रहता है । इसी सूक्त के १७ वें मन्त्र में कहा है कि हे इन्द्र, वृष्ण तो उक्थ या उद्गम है और 'वार्षा' गिरा या शब्द ब्रह्म का नाम है जिसकी हम आराधना कर रहे हैं । इन्द्र को पुनः १६ वें मन्त्र में इसीलिए वृषण्वन्त और रथ की धुरी धारण करने वाला कहा है । यह वृषा वृष्णियों का देव है ।

"स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट् ॥'

अध्याय ३२

वृषभः

वृषभ नामक तत्त्व देवता नहीं, वरन् विश्वेदेवता है। विश्वेदेवता रूपों में प्रायः सभी बड़े देवता-तत्त्वों का विकास होता है। अतः प्रत्येक महान् देवता का वर्णन जब चतुर्थ सप्तकीय भौतिकात्मा धारण करने पर किया जाता है तब उसे वृषभ नाम से पुकारा जाता है। यह वृषभ—चाहे किसी भी देवता के विश्वेदेवता स्वरूप में वर्णित होता या किया जाता रहे, पर यह नित्य रूप से भौतिक शब्दब्रह्म का प्रतिनिधि ही रहता है। इसीलिए 'इस वृषभ के लिए सर्वत्र 'वृषभो रोरवीति' का वर्णन दिया हुआ मिलता है। देवता तत्त्व तो तूष्णीम्, उपांशु और अंशु रूप ध्वनि के बतलाये गये हैं। जो क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय सप्तकीय देवताओं की वाग्ब्रह्मता का विवेचन देते हैं। इनमें मानसिक वाणी है, पूर्वा या पूर्वार्द्धीय वाणी है। वृषभ की वाणी परा वाणी है, भौतिकी, दिव्य शरीरिणी, सोमीय वाणी है जिसका उल्लेख श.प.ब्रा. (१-४-१-११, १२, १३) ने "अथातो मनसश्चैव वाचश्च" की कथा से वाणी के गर्भपात की कथा का वर्णन किया है। यह परा या उत्तरार्द्धीय वाणी है। इसी उत्तरार्द्ध की परा वाणी से आगे के पञ्चम, षष्ठ, सप्तम सप्तकों की वाणियों के नाम क्रम से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी होते हैं और 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' में ये पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी किसी भी दशा में नहीं आ सकती। ये 'चत्वारि पदानि' के तीन तो तूष्णीं उपांशु, अंशु और परा ही होती हैं। इनकी गिनती में ३३ देवता आते हैं। प्रथम चार सप्तक आते हैं, इसमें भी चतुर्थ सप्तक उत्तरार्द्ध में आता है। ये पाद या सप्तक गायत्री के पाद हैं। २४ तक गायत्री (तीन पाद) है और २५ से ३२ तक चतुर्थ पाद पर वाणी है। इस सरणि के वाग्वृषभ के वर्णन की प्रसिद्ध ऋचा यह है जिसका अर्थ या भाष्य–यास्क, सायण और पतञ्जलि ने एक दम गलत समझा और लिखा भी है :—

१—'वृषभ' विश्वेदेवता का स्थान

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥"
(ऋ. वे. ४-५८-३)।

यह वृषभ तो महोदेव या महादेव रुद्र नामक विश्वेदेवता है। जिसका वर्णन अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड के द्वितीय सूक्त में बतलाया गया है और जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या श. प. ब्रा. (६-१-३-१० से १८ तक) ने विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि जब रुद्र विश्वेदेवता के रूप में चन्द्र या सोम का आवरण धारण करता है तब उसे महादेव नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए रुद्र के शिर में चन्द्र (द्वितीया

का चन्द्र) रखा या माना है और इसको वृषभ कहते हैं। अतः नान्दी को या नदिया को रुद्र का वाहन माना जाता है। नान्दी या वृषभ जब वाहन समझा जाता है, तब वह सोम या चन्द्र या भौतिकात्मा रथ या शरीर का प्रतीक माना जाता है। पूर्वार्द्ध का नाम 'त्रिर्नान्द्यं' या तीन नान्दी है "त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना" (ऋ. वे. १-३४-४)। नान्दी भौतिक सृष्टि रूप चतुर्थ सप्तक होने से रुद्र मन्दिर के बाहर रखा जाता है। उक्त ऋचा का अब स्पष्ट अर्थ यह होता है। प्रथम चार सप्तकों के मुख्य ब्रह्म चार शृङ्ग हैं, उनमें से प्रथम तीन सप्तकों के २४ तत्त्व उसके तीन बाहु हैं; ब्रह्म और सोम दो उसके सिर हैं, त्रिधाबद्धता मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्ता और देवासुरमानुषी प्रवृत्ति त्रिवृत्ता है। ऐसे महादेव ने मर्त्य रूप या भौतिकात्मा के स्वरूप को धारण कर लिया।'

वृषभ नाम से केवल रुद्र का ही वर्णन नहीं मिलता वरन् निम्नलिखित सभी देवताओं के विश्वदेवता स्वरूप को भी वृषभ नाम से वर्णित किया गया है। वे हैं (१) ब्रह्मणस्पति, (२) बृहस्पति (३) इन्द्र (४) अग्नि (५) वैश्वानर (६) मरुत् (७) पर्जन्यः (८) मित्रावरुणौ (९) विश्वेदेवता जैसे—ब्रह्मणस्पति को लीजिए—यह 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इत्यादि ऋ० वे० २-२३ सूक्त है "अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः॥"

२—किसको वृषभ रूप में वर्णित किया गया है ?

(२-२३-११) यहां पर भी इस वृषभ को नदनशील (अनानुदः) कहा है।

२—बृहस्पति (१) अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः (१-१९०-१)

(२) "वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥" (३-६२-६)

(३) "यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राधर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥" (६-७३-१)

इन मन्त्रों में, प्रथम में बृहस्पति रूप वृषभ को मन्द्रजिह्व कहा है, द्वितीय में उसे चर्षणीनां (आदित्यानां गवां) वृषभ और विश्वरूप या भौतिकात्मा की अनन्तता धारण करने वाला बताया है, तृतीय में इसे 'वृषभो रोरवीति' अद्रिभेत्ता (अश्म सोम का आविर्भूत कर्त्ता) तथा आङ्गिरस या प्रथम चार सप्तकों की चार आत्मा रूप अंगों को रस रूप (सोम) वृषभ कहा है।

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति में अन्तर—

ब्रह्मणस्पति नाम गणपति का है, वह आदि तत्त्व है जिसका विकास ५० ब्रह्मों में सात सप्तकों के सप्त पुरुषों या महर्षियों या मुख्य ब्रह्मों के गणों में क्रमशः होता है। यह अखिल ब्रह्माण्ड का आदि भूत तत्त्व है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति उन देवताओं का भी सामूहिक एक नाम है जिन्हें गणेशः वर्णित किया जाता है जैसे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् सप्तक-अष्टक षटक्, जागृती छान्दस् विभेदादि ये सब ब्रह्मों के जनक हैं 'विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि' बृहस्पति ब्रह्म वाग्

का ब्रह्म है। प्रथम से चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का प्रतीक है। ब्रह्मणस्पति भी विश्वेदेवता बनता है, जब यह विश्वेदेवता बनता है, तब इसे बृहस्पति भी कहते हैं। इसके विकास के यज्ञ को बार्हस्पत्य या वाजपेय यज्ञ कहते हैं। आङ्गिरस ऋषि केवल चतुर्थ सप्तक के हैं।

(३) **इन्द्रः**—इन्द्र के हजारों सूक्त हैं, उनकी वर्णना हजारों ढंग से की गई है। वृषभ रूप वर्णन के कुछ मंत्र यहाँ दे दिये जाते हैं:—

(१) यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० वे० २-१२-१२,

(२) "वृष्णः कोशः" आदि २-१६-५, ६, को पहिले उद्धृत किया जा चुका है, वहीं पढ़ लें।

(३) **मरुत्वन्तं वृषभं** वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥ (ऋ० वे० ३-४७-५) **"वृषभं दशद्युम्"** (६-२६-४)

(४) अयं विदच्चित्रदृशीकमर्णः शुक्रसद्मनामुषसामनीके। अयं महान्महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् **"वृषभो मरुत्वान्"** (ऋ० वे० ६-४७-५)

(५) सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुमावदन्धसः सुतस्य ॥" (३-४८-१) वृषभ पातवा उ" (३-४६-५) "अयं कनीनः" (१०-९९-१०)

(४) **अग्निः**—(१) व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ। त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता "**वृषभ चर्षणीनाम्**" ॥ (ऋ० वे० ३-६-५)

(२) त्वं नृचक्षा **वृषभानु पूर्वीः**···· (ऋ० वे० ३-१५-३)

(३) अषाळ्हो अग्ने **वृषभो दिदीहि** पुरो विश्वाः सौभगाः····(ऋ० वे० ३-१५-४

(४) प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति। दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मानस्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत् ॥ १०-८-१,२

(५) **वैश्वानर देवताः**—साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता **वृषभस्तुविष्मान्**। पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ (ऋ० वे० ४-५-३)

(६) **विश्वे देवाः—भगः**—(१) यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः। स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (ऋ० वे० ३-५५-१७)

(२) त्रिपाजस्यो **वृषभो विश्वरूप** उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्। त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा **वृषभः शश्वतीनाम्** ॥

(३) बृहस्पति–आ धर्णसिबृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः। ग्ना वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः ॥ (ऋ० वे० ५-४३-१३)

(७) **मरुतः**—"यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः ।
क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्रियो **वृषभः क्रन्दतु द्यौः** ।।
(ऋ० वे० ५-५८-६)

(८) **पर्जन्य**—"अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।
कनिक्रदद्वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्"" ।।
(ऋ० वे० ५-८३-१)

(९) **नदी सिन्धु**—अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः **सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्** ।
(ऋ० वे० १०-७५-३)

(१०) **मित्रावरुणौ**—"इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे ।
त्रयस्तस्थुर्**वृषभासस्**तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ।।"
(ऋ वे० ५-६९-२)

(११) **वास्तोष्पति**—"सहस्रश्रृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि" ।। (ऋ० वे० ७-५५-७)

(१२) **मुद्गल इन्द्रः**—"न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्**वृषभं** मध्य आजेः ।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ।। (१०-१०२-५)
इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ।।
(ऋ० वे० १०-१०२-९) ।।"

मुद्गल नाम के ऋषि भृम्यश्व के पुत्र थे। उन्होंने युद्ध में वृषभ और द्रुघण का प्रयोग करके विजय पाई। विपक्षी राजा का नाम सूभर्व था। इन सब नामों में अप्रस्तुत रहस्योद्घाटन के योग्य प्रत्येक में व्युत्पत्यन्तर हैं। मुद्गल माने 'मदनं कामं गिलतीति', 'मुदं गिलतीति वा' है जो काम रूप सूर्य के भौतिकांश को निगीर्ण कर चुका है। भृम्यश्व का पुत्र भार्म्यश्व, 'भृमयोऽस्याश्वाः' भौतिकाणु के भ्रममय गति ही जिसके अश्व हैं। द्रुघण माने 'द्रुममय घण है' जो सृष्टि वृक्ष का घना रूप है, भौतिक स्वरूप है। सूर्भव माने सूर्यभव है। सूर्यभव भौतिक तत्त्व ही है जिस पर विजय पाई गई। द्रुघण रूप भौतिक तत्त्वावरण को वृत्र की तरह 'काष्ठायां मध्ये शयानम्' इसीलिए लिखा है, तुलना कीजिए 'अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । वृत्रस्य निण्यं······ (ऋ.वे. १-३२-१०)

२—मुद्गल इन्द्र का इतिहास

(१२) सोम को 'वृषा' नाम से कहने वाली ऋचाओं को प्रथम 'वृषवृषा' आदि के परिच्छेद में उद्धृत कर दिया गया है, वहीं देख लें।

संख्या ३ के इन्द्र को कनीन वृषभ या कन्या राशि का वृषभ कहा है, जिस का समर्थन १०-९९-१० करता है।

उक्त सब उद्धरणों से यह तो निश्चित हो जाता है कि वृषभ तत्त्व कोई

स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। यह 'वृषभ' रूप वर्णन वैदिक दर्शन के तत्त्वों के विकास की एक विशेष स्थिति, परिस्थिति और निश्चित स्थान के रूप में है जिसमें होकर प्रायः सभी तत्त्वों को गुजरना पड़ता है। अतः इन सभी का वर्णन 'वृषभ' नाम या रूप में किया गया है। 'वृषभ' शब्द का नामकरण अवश्यमेव 'गौविद्या' से सम्बन्ध रखता है। समस्त सृष्टि 'गौ' है। यहां पर असद् को (पूर्वार्द्ध को) माता और पिता दोनों नाम से पुकारा है। पिता वृषभ है अर्थात् इस गौ रूप सृष्टि के खेत या क्षेत्र या पृथिवी में बीज धारण कराने वाले तत्त्व को 'वृषभ' नाम से पुकारा गया है। वाग्ब्रह्माणी का नाम गौ है तो वाग्ब्रह्म का नाम वृषभ है। यह वृषभ या यह गौ दो पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं वरन् स्त्रीपुमानपरिष्वक्त सोमात्मा एकात्मा है। पुरुष रूप वृषभ है, स्त्री रूप गौ। यह अर्द्धनारीश्वर रूप ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, रुद्र (महादेव), इन्द्र (हारियोजन), अग्नि (वैश्वानर या जातवेदस्), पर्जन्य, मरुत्, मित्रावरुण या सबके विश्वेदेवता रूप हैं। त्रिपादमृत पुरुष रूप है, भौतिकात्मा स्त्री रूप। यह वृषभ चतुष्पाद् ब्रह्म है।

४—नामकरण कारण, वृषभ, और गौ पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं

वृषभ नाम पड़ने का दूसरा कारण भी है। सृष्टि का आरम्भ वृष राशि या कृत्तिका नक्षत्र से होता है। अतः सृष्टि का नाम ही वृष या वृषा या वृषभ है। जब यह २५ वें तत्त्व में सिंह राशि में या भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत होता है तब यह सिंह की तरह गरजने लगता है। अतः 'वृषभो रोरवीति' लिखा गया है। अन्य लोग इस सिंह राशि में उत्पन्न भौतिक तत्त्व को सिंह वाहन (जैसे वाग्ब्रह्माणी रूप दुर्गा का वाहन) कहते हैं तो कई इसे प्राण रूप में अश्व कहते हैं। अन्य सोम, चन्द्र इत्यादि। अश्व का वर्णन भी वाहन रूप में आता है। 'वृषण' या वृषा को भी रथ नाम से ही पुकारा गया है (पहिले परिच्छेद को देखें)।

५—दूसरा कारण

एक और कारण है। संवत्सर ब्रह्मवाद की ऋतुविद्या में इस वृषभ का स्थान वर्षा ऋतु में पड़ता है। सारी सृष्टि आदि से अन्त तक वर्षण रूप में या विकास रूप में चलती है। ऋतुशः वर्णन में भौतिक सृष्टि की प्रथम वर्षा, वर्षा ऋतु या चतुर्थ सप्तक में ही प्रारंभ होती है। अतः इस वृष या वृषभ को वर्षण रूप में पर्जन्य नाम से पुकारा गया है। यह वर्षण भौतिक तत्त्व है, भौतिक तत्त्व का पूर्ण विकास या वर्षण ही वृषभ है। यह वर्षण जल का नहीं वरन् अग्निरूप, वैश्वानर रूप, जातवेदसरूप, विद्युत्रूप, भौतिकात्मा सोम रूप, भौतिक पर्वत अश्मरूप, भौतिक दिव्य शरीर रथरूप (वृषणरूप या वृषा रूप) या प्राण रूप मरुतों या तैजसात्मा शक्ति, बुद्धि रूप इन्द्र का है। ऋतु रूप के कारण इसका नाम ऋषभ भी है क्योंकि यह ऋषि रूप प्राणों से उत्पन्न होता है।

६—अन्य कारण

वैदिक विश्वदर्शन

(भाग २)

लेखक

पण्डित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०

श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी–५

[मूल्य १)

जुलाई १९६८]

मुद्रक—

रवीन्द्र कुमार बेरी

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,

वाराणसी–५

दो शब्द

यह ग्रन्थ 'वैदिक विश्वदर्शन' का द्वितीय भाग है। इसमें इसके प्रथम भाग के अवशिष्ट विषयों का–वैदिक देवताओं का–सर्वाङ्गीण विवेचन दिया हुआ मिलेगा। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूल जननी हमारे वेद हैं जिनमें भारतीय सभी विद्याओं के मूल स्रोतों और गम्भीर दर्शनों की विशद व्याख्यायें उपलब्ध हैं। परन्तु जब से इन वेदों की व्याख्याओं को यास्क, शौनक, सायण, महीधर, उव्वट प्रभृति भारतीयों से लेकर आजकल के पौर्वात्य पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अपने लौकिक सामाजिक और व्यावहारिक व्यवस्थाओं के अनुसार ढालने का क्रम चलाया है तब से इनका उत्तरोत्तर स्पष्टीकरण ही इन वेदों में अन्धकार की परतों की तरह पड़कर इनका प्रकाश सामने लाने के स्थान में अन्धकार ही अन्धकार सामने रखते चला आ रहा है। जहाँ वेदों में गम्भीर दर्शनों और रहस्यों की खानें होने से भारतीयों को वेद शब्द सुनते ही उनमें एक अलौकिक भाव भण्डार होने की सम्भावना साथ साथ उद्दीप्त होती है वहां इनकी उक्त व्याख्याओं को देखने से नितान्त निराशा ही हाथ लगती है और प्रतीत होता है कि इन वेदों में कुछ विशेष महत्व के विषय हैं ही नहीं। ऐसा नहीं है। इन वेदों में आभ्यन्तर जगत् का विषय बाह्यजगत् के विषयों की वर्णना को आधार बनाकर ऐसा ढाला गया है कि जो इन वेदों की सर्व प्राचीन व्याख्यायें या ब्राह्मण नामक ग्रन्थों के कर्मकाण्ड का वास्तविक रहस्य नहीं जानता उसकी समझ में ये वेद वैसे ही नहीं आते हैं, जैसे पूर्वोक्त सभी व्याख्याताओं को नहीं आये। उपनिषद् इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग है। ये तीनों भाग या संहितायें, ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद् सब मिलकर 'वेद' एक नाम से पुकारे जाते हैं। उपनिषत् इन वेदों के अन्तिम भाग होने से ही 'वेदान्त' नाम से भी पुकारे जाते हैं। इन तीनों भागों में ब्राह्मण भाग ही मुख्य वेद या श्रुतियाँ हैं जिनके आधार पर ही संहिताओं की रचनायें और उपनिषदों की उद्भावनाओं का अङ्कन हुआ। सभी मानते हैं कि उपनिषदों में गम्भीर दर्शन हैं, ये दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों के सार हैं, इन ब्राह्मणों में मन्त्रों की व्याख्यायें हैं। अतः ब्राह्मणों में जो दर्शन है वह मंत्र भाग का ही दर्शन है। यह ठीक है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का पुस्तक बद्ध लेखन मंत्र भाग से पश्चात् हुआ, पर मूल भारतीय संस्कृति श्रुतिरूप में इन्हीं ब्राह्मणों के अनुरूप श्रुति परम्परा से प्राप्त होती चली आ रही थी। जब मंत्र भाग का अर्थ जटिल लगने या प्रतीत होने लगा तो इन ब्राह्मणों को मंत्रों सहित व्याख्या रूप में बाद में प्रस्तुत किया गया। आजतक जितने भी व्याख्याकार हुए हैं उन सबने इस परम आवश्यक परिस्थिति को दृष्टिपथ में न रखकर इन तीनों भागों को एक दूसरे से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र समझ और मानकर केवल इनकी हत्या कर दी, एक आत्मा के तीन स्वतन्त्र टुकड़े कर दिए। तब इनको इनका वह वास्तविक अर्थ कैसे लगता जो इनमें माला की तरह एक दूसरे से नथकर पिरोया गया

है। उधर औपनिषदिक दर्शन को भी आजकल कम दुर्दशा का भोग नहीं झेलना पड़ रहा है। लोगों ने इनके वेदान्त नाम को ही इनसे छीनकर अपनी कल्पना के शास्त्र को वेदान्त नाम देकर लोगों को गलतफहमी में भी डाल दिया है। इतना ही नहीं इनके एक ही वाक्य का विभिन्न आचार्यों ने अपना अपना अलग अर्थ लगा कर कई सम्प्रदायों का रोग भी बो दिया है।

अतः वेदों का अध्ययन ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर रहस्यों को जानकर किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में इसी पद्धति को अपना कर वैदिक देवताओं की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। देवताओं के बारे में पौर्वात्य पाश्चात्य दोनों प्रकार के व्याख्याताओं को बड़ा भारी भ्रम है। वे इनको प्राकृतेय या काल्पनिक या कहीं किसी कोने में, चाहे अमरावती क्यों न हो, छिपे समझते हैं। क्योंकि इनको हमारे पुराणों में दी गई कहानियों में ऐतिहासिकता और ठोसरूपता प्रतीत नहीं होती। ये इन्हें बुढियों की सी काल्पनिक कथायें समझते हैं। ऐसा नहीं है। प्रत्येक देवता एक ठोस सर्व व्यापक तत्त्व या आत्मा या कोश है। उनके कथानक शक्तियां इतनी अपार हैं कि हम आप जैसे लोगों को वे असम्भव प्रतीत होती हैं। पर उनकी जितनी अलौकिक शक्ति यहां या जहां तहां वेदों या पुराणों में बताई गई हैं उनसे भी वे हजारों गुने अधिक शक्ति शाली हैं। उनकी शक्तियां आभ्यन्तरीय ईश्वरीय हैं, व्यापक हैं, ठोस हैं, एक से एक बढ़कर हैं। कम से कम हमारे वेदों और पुराणों की कथाओं में सर्वांश में सत्य ही सत्य भरा है। ये देवता, दर्शन के योग और सृष्टि के विभिन्न पहलुओं की शक्तियों के ठोस पिण्ड या व्यापक ठोस पिण्ठ हैं। प्रत्येक अपनी अपनी विभिन्न कोशीय शक्ति से सर्वत्र व्यापक है। शेष विवरण प्रत्येक देवता के व्याख्यान में देखें।

योग में इन देवताओं की विभिन्न शक्तियों का उद्घाटन जिस प्रकार करते थे उसका अभिनय बाह्य यज्ञों के द्वारा किया जाता रहा। इसका रहस्य इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में सविस्तर दिया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशित होगा। इसी के अभाव के कारण वेदों का उचित अर्थ अब तक अज्ञात रहा।

बी १/१२८–१८ डुमराव बाग
अस्सी, वाराणसी–५
२१–८–६८

लेखक —
हरिशंकर जोशी

सूचीपत्र

अध्याय ३३

पिता — पृष्ठ ३२९

अध्याय ३४

पितु — पृष्ठ ३३०

अध्याय ३५

आपोदेवीः — पृ० ३३१-३३३

अध्याय ३६

नदी देवता — पृ० ३३४-३३७

वेदों में वर्णित नदियों का रहस्य—३३४, नदियों के नाम—३३४ ये कहां की नदियां है ? ३३५ विपाट् शुतुद्री—३३६

अध्याय ३७

ओषधि — पृ० ३३८-३४०

ओषधि शब्द की व्युत्पत्ति और रहस्य—३३८

अध्याय ३८

अनुमति राका सिनीवाली कुहू — पृ० ३४१-३४५

प्राचीन युग के दो प्रकार के मास—३४१ दार्शनिक पूर्णिमा और अमावस्या की व्याख्या ३४१, अनुमति ३४२, राका की व्याख्या ३४३ सिनीवाली ३४३, सिनीवाली की व्याख्या ३४४ कुहू की व्याख्या ३४५

अध्याय ३९

वैदिक ग्रहवाद ; आधुनिक ग्रहवाद और भारतीय

आयुर्वेद के मुख्य तत्त्व — पृ० ३४६-३४७

नवीन ज्योतिष, ३४६, ग्रह और ग्रह मंत्र समस्या ३४६ वैदिक ग्रह ३४६, वैदिक मंत्र आत्माओं का उद्दीपन करते हैं ३४७

अध्याय ४०

वेद और जैन बौद्ध — पृ० ३४८-३५१

वेद और कर्मकाण्ड अभिन्न हैं ३४८, बौद्धों और जैनों ने क्या काम किया १-३४८, जैन और बौद्धों के पृथक् दल बनने के कारण ३४९, कर्मकाण्ड का अमृत ३५१

अध्याय ४१

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में वैदिक वातावरण और दर्शन पृ० ३५२-३५७

रामायण में वैदिक पात्र, २५२, वाल्मीकि की व्याख्या चातुरी ३५५ महाभारत ३५६, गीता और वेद ३५७, आसन्दीही धर्मस्थापना है ३५७

अध्याय ४२

सर्वदेवपिता मन्युः पृ० ३५८-३५९

मन्युदेवता की उत्पत्ति विवाह और सन्तान ३५८, मन्यु देवता का वर्णन ३५९

अध्याय ४३

देवाः पृ० ३६०-३६६

देवतत्त्व की व्याख्या ३६०, देवतत्त्व का मूल कारण ३६०, ब्राह्मण और पुराणों में मन्यु ३६७ देवता विभाजन ३६२, देवसंख्या ३६२, देवताओं का स्वरूप ३६३, बृहन्मायाजाल ३६४ विभिन्न प्रकार के देवों की संख्या २६४, देवताओं की स्तुति और उसका अर्थ ३६५, नदी आदि देवता ३६६

अध्याय ४४

देवपत्न्यः पृ० ३६७-३६९

देवताओं की पत्नियाँ ३६७, देवपत्नी-मंत्र ३६७, देवताओं के सम्बन्ध में व्याख्यातारों का भ्रम ३६८ सब देवता मिलकर ब्रह्म का एक शरीर बनाते हैं ३६८

अध्याय ४५

अष्ट वसु पृ० ३७० ३७२

वसु की व्युत्पत्ति व्याख्या और सम्बन्ध ३७० वसुओं का स्थान निर्धारण ३७१, वसुविषयक मंत्र ३७१ ।

अध्याय ४६

रुद्र और एकादश रुद्र पृ० ३७३-३८५

वैदिक और पौराणिक रुद्रवाद में अन्तर ३७३ वैदिक रुद्र अग्नि सर्वदेवता है ३७३ ब्रह्मा विष्णु महेश का अन्तर ३७४, रुद्र के बारे में नवीन रोशनी वालों के मत का खण्डन ३७५, रुद्र का स्थान-विकास और अर्द्धनारीश्वर ३७६, रुद्र और संघर्ष ३७८, कर्मकाण्ड में रुद्राभिनय ३७९ रुद्र के अनेक नामों की व्याख्या ३७९ रुद्र और पर्वत तथा नदी ३८१, रुद्र का महत्व ३८४; यजुः में सर्वदेवता रुद्र और विराट् रुद्र ३८४

अध्याय ४७

रुद्र और एकादश रुद्र (२) ३८६-३९४

धन्वी रुद्र ३८६, धन्वी रुद्र २ ३८८, रुद्रवाद की महिमा ३८९ भिषक् रुद्र ३९०, भेषज तत्त्व ३९०, आलोचना ३९३

अध्याय ४८

द्वादश आदित्याः पृ० ३९५-३९७

आदित्य शब्द की व्याख्या ३९५, द्वादशादित्यों की व्याख्या ३९६, आदित्यों के सूक्त ३९६, आदित्य कौन कौन कहलाते हैं ? ३९७

अध्याय ४९

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति

वाचस्पतिः तथा अङ्गिरसः पृ० ३९९-४०८

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के स्वरूपों का अन्तर ३९९, इन्द्रा ब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति ४०३, ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति का अन्य देवताओं से सम्बन्ध ४०४, बृहस्पति और वाक् ४०५, वाचस्पति ४०७

अध्याय ५०

अङ्गिरस पृ० ४०९-४१३

अङ्गिरस ४०९, दक्षिणा ४१०, अङ्गिरस और पितर ४११, अङ्गिरस शब्द की व्याख्या ४१२

अध्याय ५१

विश्वकर्मा-वाचस्पति पृ० ४१४-४१७

विश्वकर्मा की नाना रूपता ४१४, विश्वकर्मा का इतिहास ४१६

अध्याय ५२

देवता और विश्वेदेवता पृ० ४१८-४२७

देवा और विश्वेदेवता में अन्तर ४१८ विश्व शब्द का अर्थ ४१९ विश्वेदेवता कौन कौन हैं ४२१, विश्वेदेवताओं की व्याख्या ४२१ कुलाल ब्रह्म ४२२, भौतिकता का आरम्भ ४२३, इदं शरीरं,अयमात्मा आदि की व्याख्या ४२५, उक्त शब्द और गीता ४२५ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ४२६, ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि ४२७

अध्याय ५३

रेवः रेवती और वज्र ४२९-४३०

रेवः ४२९, रेवती ४२९, वज्र ४२९

अध्याय ५४

इन्द्रः स्वराट्-मध्यमः प्राण पृ० ४३१-४४५

सर्वादिवता इन्द्र ४३१, सर्वादेवता इन्द्र के प्रमाण ४३२, शत क्रतु या पुरन्दर इन्द्र ४३४, इन्द्र और इध्म ४३५, इन्द्र और 'इन्द्रं मित्रं' ऋचा ४३७, शतक्रतु इद्र ४३७, इन्द्र के शतक्रतु ४३९ हारियोजन या हारिवः इन्द्र ४४०, असुर हन्ता इन्द्र ४४१, देवासुर संग्राम योगमाया है ४४२, इन्द्र और पञ्चपर्वा के पर्वत नदी ४४३, इन्द्र और आसन्दी ४४४, इन्द्र और सोम ४४०, इन्द्रविषयक श्रुतियाँ ४४५

अध्याय ५५

इन्द्राणी- वृषाकपि, वृषाकपायी पृ० ४४४-४४८

इन्द्राणी ४४६, वृषाकपायी वृषाकपि पुरुषपशु ४४७

अध्याय ५६

मरुत् (विश्-गणत्वात्) पृ० ४४९-४५४

मरुत् शब्द की निरुक्ति ४४९, वेदों में मरुतों की महत्ता ४४४, मरुत् रुद्र और इन्द्र ४४९, मरुतों का वर्णन ४५०, मरुत् और प्राणवायु ४५०, मरुतों का पितर और पर्वतों से सम्बन्ध ४५१ मरुत और पृषदश्वा ४५२, मरुत और वातः ४५२, मरुतों पर श्रुतियाँ ४५४ ।

अध्याय ५७

सर्वश्रेष्ठदेव वायुः या वातः (पञ्चप्राणों की आत्मा) पृ० ४५५-४५९

वायुदेवता ४५५, वायुः आत्मा है ४५७, वायुदेवता पर श्रुतियां ४५८ ।

अध्याय ५८

देवसम्राट् वरुण और दक्ष क्रतू या मित्रावरुण पृ० ४६०-४७५

वरुण ४६० वरुण पर श्रुतियाँ ४६१, वरुण का स्थान ४६२, वरुण के पाश ४६४, वरुण का स्वरूप ४६५, ऋग्वेद ५-६ में वरुण ४६६, ऋ० वे० ५-७५ में वरुण ४६७, वरुण सम्बन्धी भ्रम ४६७, वरुण और वैश्वानर ४६९, मित्र ४७० प्रचेतसौ मित्रावरुणौ ४७२, सत्यानृतम् ४७३, मित्र और शत्रु ४६४,

अध्याय ५९

अहोरात्रवाद पृ० ४७६-४७९

वैदिक अहोरात्रवाद के भेद ३७६, मानुष अहोरात्र ४७६ पितृ अहोरात्र पुत्र ४७६, दैवत अहोरात्र ४७७, ब्राह्म अहोरात्र ४७७, अयनीय अहोरात्र ४७८ ।

अध्याय ४७

रुद्र और एकादश रुद्र (२) ३८६-३९४

धन्वी रुद्र ३८६, धन्वी रुद्र २ ३८८, रुद्रवाद की महिमा ३८९ भिषक् रुद्र ३९०, भेषज तत्त्व ३९०, आलोचना ३९३

अध्याय ४८

द्वादश आदित्याः पृ० ३९५-३९७

आदित्य शब्द की व्याख्या ३९५, द्वादशादित्यों की व्याख्या ३९६, आदित्यों के सूक्त ३९६, आदित्य कौन कौन कहलाते हैं ? ३९७

अध्याय ४९

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति

वाचस्पतिः तथा अङ्गिरसः पृ० ३९९-४०८

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के स्वरूपों का अन्तर ३९९, इन्द्रा ब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति ४०३, ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति का अन्य देवताओं से सम्बन्ध ४०४, बृहस्पति और वाक् ४०५, वाचस्पति ४०७

अध्याय ५०

अङ्गिरस पृ० ४०९-४१३

अङ्गिरस ४०९, दक्षिणा ४१०, अङ्गिरस और पितर ४११, अङ्गिरस शब्द की व्याख्या ४१२

अध्याय ५१

विश्वकर्मा-वाचस्पति पृ० ४१४-४१७

विश्वकर्मा की नाना रूपता ४१४, विश्वकर्मा का इतिहास ४१६

अध्याय ५२

देवता और विश्वेदेवता पृ० ४१८-४२७

देवा और विश्वेदेवता में अन्तर ४१८ विश्व शब्द का अर्थ ४१९ विश्वेदेवता कौन कौन हैं ४२१, विश्वेदेवताओं की व्याख्या ४२१ कुलाल ब्रह्म ४२२, भौतिकता का आरम्भ ४२३, इदं शरीरं,अयमात्मा आदि की व्याख्या ४२५, उक्त शब्द और गीता ४२५ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ४२६, ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि ४२७

अध्याय ५३

रेवः रेवती और वज्र ४२९-४३०

रेवः ४२९, रेवती ४२९, वज्र ४२९

और कलश ५२५, सोम और अमृत ५२६, कर्मकाण्ड और सोमकलश ५२७, 'आब्रह्मन्-ब्राह्मणो मन्त्र का अर्थ ५२८, सोम और सुपर्ण ५३०, अथर्व वेद में सोम व्याख्या ५३२, सोमसम्बन्धी श्रुतियाँ ५३३, सोमलता ५३५, तक्मा ५३५, खेचरीमुद्रा ५३५, योगियों में सूर्य और सोम ।

अध्याय ७०

एकः सुपर्णः, त्रिसुपर्णम्, और सप्तसुपर्णः — पृ० ५३७-५४०

सुपर्ण और सुपर्णा ५३७, तार्क्ष्य ५३९, सुपर्ण गरुत्मान् ५३९, मध्ये एकः सुपर्णः विषुवान् ५४० ।

अध्याय ७१

वृत्र — पृ० ५४१-५४९

वृत्र और उसका इतिहास ५४१, वृत्र की गाथा का रहस्य ५४२, वृत्र तत्त्व का वर्णन ५४३, वृत्रस्वरूप ५४४, वृत्र और आपः ५४५, वृत्र और चतुष्पाद् ब्रह्म ५४७, वृत्र का स्थान, वह शत्रु क्यों है ? ५४८, वृत्र के नामों की व्याख्या ५४९ ।

अध्याय ७२

सविता — पृ० ५५०-५५१

अध्याय ७३

वेनः (भी सोमः सूर्यस्यशिशुः या चन्द्रमा देवता है) — पृ० ५५२-५५३

अध्याय ७४

ऋतम् — पृ० ५५४-५५६

अध्याय ७५

विष्णुः — पृ० ५५७-५६१

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति ५५७, विष्णुः सर्वा देवता ५५७, वामन नामक विष्णु ५५७, केशव नामक विष्णु ५५९, ऋग्वेद में विष्णु ५६० ।

अध्याय ७६

भगः (या आर्यों का भगवान् नामक देवता) — पृ० ५६२-५६३

भग और भगवान् ५६२, विश्वेदेवता भग ५६३ ।

अध्याय ७७

पूषा — पृ० ५६५-५६७

पूषा का स्थान ५६५, पूषा के सूक्त ५६५ ।

अध्याय ७८

त्रयः केशिनः — पृ० ५६८-५६९

केशी की व्याख्या ५६८, त्रय केशिनः की व्याख्या ५६९ ।

अध्याय ७९

अज एक पात् — पृ० ५७०-५७२

अध्याय ८०

अहिः, बुध्नः, बुध्न्यः और अहिर्बुध्न्यः — पृ० ५७३-५७७

अहिपूजा या नागपूजा ५७३, वेदों का अहिवाद ५७४, अहिरूप वृत्र ५७४, वेदों में अहि ५७५, अहिर्बुध्न्य ५७६ ।

अध्याय ८१

वेदों में नपात् तत्त्व — पृ० ५७८-५८०

अध्याय ८२

अपाम् नपात् — पृ० ५८१-५८८

नपात् शब्द की व्याख्या ५ ८ १, अपांनपात् का वर्णन ५८१, अपांनपात् और पञ्चपर्वा ५८३, अग्नि और अपांनपात् ५८५, अग्नि का प्रथम उदय ५८६, अपांनपात् और उत्स ५८७ ।

अध्याय ८३

ऋभवो देवता — पृ० ५८९-५९४

ऋभु शब्द की व्याख्या ५८९, ऋभु की संख्या और नाम ५८९ ऋतुवादी ऋभु ५९०, रत्नवादी ऋभु ५९०, संवत्सरीय ऋभु ५९१, ऋभु और समुद्र तत्त्व ५९२, ऋभु और चतुष्पाद्ब्रह्म ५९२ ऋभु जन्म ५९३, ऋभु सवन ५९४ ।

अध्याय ८४

सरस्वान् — पृ० ५९५-५९८

सरस्वान् ५९५, सरस्वान् का स्थान और वर्णन ५९५

अध्याय ८४

नन्दी रूपिणी सरस्वती — पृ० ५९९-६०१

सरस्वती ५९९, देवता रूपिणी सरस्वती ६००

अध्याय ८६

वाक्, वाग्धेनु, धेनु और गौरी (वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म) — पृ० ६०२-६११

वाक् ६०२, दर्शन और वेद निर्माण ६०३, वाक् और वेद की अभिन्नता ६०५, वाक् और अघ्न्या ६०७, वाग्ब्रह्म की महिमा और श्रुतियाँ ६०९

अध्याय ८७

गौरी — पृ० ६१२-६१४

गौरी ६१२, अथर्व वेद में गौ ६१३

अध्याय ८८

वैश्वानरः — पृ० ६१५-६२०

वैश्वानर की व्युत्पत्ति ६१५, वैश्वानर का स्थान ६१६, वैश्वानर और सोम ६१८, वैश्वानर और सविता ६१९।

अध्याय ८९

देवरथः (द्रविणोदाः और वनस्पतिः सहित) — पृ० ६२१-६३७

सप्तवादीरथ संवत्सरब्रह्मरथ, पञ्चपर्वारथ ६२१, श्वेताश्वतरउपनिषद् का रथ ६२२, अश्विनी और अश्विनी रथ ६२६, इन्द्र का योग रथ ६२६ कठ का रथ ६२५, अश्विनी का स्थान और स्वरूप ६२९, अश्विनी की महिमा ६३०, अश्विनी का त्रिवादी रथ ६३६, बृहद्रथ ६३६

अध्याय ९०

द्रविणोदा अग्नि का योग दीप्ति रूप देवरथ — पृ० ६३७-६३८

अध्याय ९१

वनस्पति रूप सोम दीप्ति का देवरथ — पृ० ६३९-६४०

अध्याय ९२

आप्रिय देवता — पृ० ६४१

अध्याय ९३

जातवेदा — पृ० ६४२

अध्याय ९४

तनूनपात् और उषा — पृ० ६४३-६४५

अध्याय ९५

नराशंस — पृ० ६४६-६४९

अध्याय ९६

ईलः — पृ० ६५०-६५१

अध्याय ९७

बर्हिः — पृ० ६५२-६५५

अध्याय ९८

द्वारोर्देवी — पृ० ६५६

अध्याय ९९

होतारौ दैव्यौ — पृ० ६५७

अध्याय १००

त्रिस्रो देवीः — पृ० ६५८-६५९

अध्याय १०१

त्वष्टा पृ० ६६०-६६४

अध्याय १०२

स्वाहा पृ० ६६५

अध्याय १०३

प्रयाजा अनुयाजा उपयाजा पृ० ६६६-६६७

अध्याय १०४

मारुतीयाश्वः-दधिक्रा पृ० ६६८-६६९

अध्याय १०५

अश्वः, कपिञ्जल शकुनि मण्डूक ग्रावाण राजा और राज्योपकरण पृ० ६७०

अध्याय १०६

मानः पृ० ६७२

अध्याय १०७

शकुनिः पृ० ६७३

अध्याय १०८

पर्जन्यः पृ० ६७६-६७८

अध्याय १०९

मण्डूका पृ० ६७९-६८०

अध्याय ११०

अक्षाः पृ० ६८१-६८३

अक्षाः ६८१, अक्षदीवन वर्णन ६८१, अक्षदीवन कर्ता कौन है ६८२

अध्याय १११

ग्रावाणदेवता पृ० ६८४-६८६

अध्याय ११२

दुन्दुभिः, इषुधिः, हस्तघ्नः, अभीषवः, धनुः, ज्या, इषुः, अश्वाजनि और उलूखल मुसल पृ० ६८२-६८९

अध्याय ११३

उलूखल मुसले पृ० ६९१

अध्याय ११४

हविर्धाने पृ० ६९२-९३

अध्याय ११५

पुरुषः यज्ञः पृ० ६९४

अध्याय ११६

पितरः — पृ० ६९५-६९९

अध्याय ११७

स्वधा — पृ० ७००-७०५

अध्याय ११८

असुनीतिः — पृ० ७०६-७०७

अध्याय ११९

मृत्युः — पृ० ७०८-७११

मृत्यु क्या है ? मृत्यु सूक्त, विद्या और अविद्या

अध्याय १२०

यमः — पृ० ७१२-७१६

यमः, यमकी पथ्या,

अध्याय १२१

यम के दो श्वान — पृ० ७१७-१८

अध्याय १२२

यम और मनु — पृ० ७१९-७२३

यम और मनु, यमसूक्त, मनु कितने हैं, सावर्णी मनु

अध्याय १२३

सरण्यू और सूर्या — पृ० ७२४-७२६

सूर्या का सम्बन्ध, सूर्या का विवाह, सरण्यू,

अध्याय १२४

श्राद्ध और श्रद्धा — पृ० ७२७-७२९

श्राद्ध और श्रद्धा, गीता में श्रद्धा

अध्याय १२५

यमी — पृ० ७३०-७३३

अध्याय १२६

सरमा और पणिः — पृ० ७३४-७३७

अध्याय १२७

आप्त्या — पृ० ७३८

अध्याय १२८

माया, योगमाया, मोहिनी और माया जाल तथा ममता — पृ० ७३९-७४७

ब्रह्म और माया, गुणमयी माया, माया ठोस है, योग माया, सत्या-
नृत, मायाजाल ममता मायाजाल किसका बना है ? ममता

अध्याय १२६

वास्तोष्पतिः पृ० ७४८-७४९

अध्याय १३०

क्षेत्रपतिः पृ० ७५०-७५१

अध्याय १३१

पुरूरवा और उर्वशी पृ० ७५२-७५४

वशिष्ठागस्त्य, उर्वशी, पुरूरवा,

अध्याय १३२

इडा या इला पृ० ७५५

अध्याय १३३

कः या हिरण्यगर्भः पृ० ७५६-७६१

'कः' क्या है ? हिरण्य शब्द पर श्रुतियों के आधार पर हिरण्य शब्द का अर्थः

अध्याय १३४

हिरण्य गर्भ—सूक्त (ऋ० वे० १०-१२१) पृ० ७६२-७६९

मंत्र १ से मंत्र १० तक की क्रमशः व्याख्या।

अध्याय ३३

'पिता' नाम ब्रह्म का या द्यौ का है। यह वेदों में सर्वत्र दिया है—

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ॥
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि
यन्त" (ऋ. वे. ६-५१-५) तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः"
(ऋ. वे. १-८९-४) 'मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥' (ऋ. वे. १-९०-७)

१—पिता

में और 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे (मित्र) माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥"

(ऋ. वे. १-१६४-३३)

इस मन्त्र से 'द्यौः' नामक पिता तत्त्व की व्याख्या बिलकुल सन्देहहीन हो जाती है। अथर्व ने अन्तरिक्ष को भी पिता कहा है 'यदन्तरिक्षं तन्मे पिताऽभूत्।" दर्शन के अखिल तत्त्व दो भागों में 'चमू' या दो कटाहों में विभाजित हैं। जिसका ऊपरी भाग वाला चमू या कटाह 'द्यौः' है और नीचे के भाग का चमू या कटाह पृथिवी है। इनको एक नाम से पुकारने में 'द्यावापृथिवी' कहते हैं। इनमें से द्यौ या पूर्वार्द्ध या द्यावा पिता है और पृथिवी या उत्तरार्द्ध माता या दुहिता है। इन दोनों के मध्यवर्ती भाग को योनि कहते हैं जिसके द्वारा पृथिवी या माता के आसुरी रूप दुहिता को भौतिक बीज का गर्भप्रदान किया गया। इस कथन की पुष्टि में एक दूसरी ऋचा दी जाती है—

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम् ॥"

(ऋ. वे. १-१९१-६)

यह ऋचा 'कम्' या आपोदेवता से कहती है। आपोदेवता चतुर्थ सप्तक के हैं जहां 'सोम' उत्पन्न होता है। इनके पिता-माता द्यावा-पृथिवी हैं और सोम भ्राता है तथा 'दितिः' उत्तरार्द्ध का भौतिक तत्त्व बहन है। द्यौ अव्यक्त या अदृष्टा है, पृथिवी व्यक्त, दृष्टा या विश्वदृष्टा है, जो इला रूप में विद्यमान हो जाती है। दिति नामक बहन ही गर्भवती होती है। यहां प्रथम ऋचा का भाव स्पष्ट हो गया। पृथिवी माता, दैवी भौतिकात्मा है, दिति उसका आसुरी भौतिक शरीर है, उसी में गर्भ उत्पन्न हुआ। सारी सृष्टि आसुरी या दितिमयी या दैत्यरूपिणी है।

अध्याय ३४

पितु नाम अन्न ब्रह्म का ही है। उसकी स्तुति इस प्रकार की गई है:—

"पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥"

१—पितु (ऋ. वे. १-१८७-१) उस पितु या अन्न ब्रह्म की स्तुति करते हैं जो महो रूप या चतुर्थ सप्तकी धर्म का है या भौतिकात्मा धारण किये हुए शक्तिमान् है, जिस त्रिपादमृत के विशिष्ट ओज या शक्ति से वृत्र को बोटी-बोटी में दलित कर दिया गया। वह एक सहस्रमुख बन गया।

"तव त्ये पितो रसा रजांस्यनु विष्ठिताः। दिवि वाताइव श्रिताः॥'
(१-१८७-४)

हे पितो! तेरे त्यत् रूप के रजस् में या भौतिकात्मा में तेरी रसमय आत्मायें (त्रिपादमृत) सुरक्षित हैं; वे उस शरीर में प्राण रूप में रहती हैं। "यत्त सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। वातापे पीव इद्भव(१-१८७-९)। "हे पितो! तब तुम्हारा स्वरूप सोम रूप में प्रगट होता है जिसमें पूर्वार्द्ध के गवाशिर या गोधूलीय सोमरस या 'पृश्निः गौः' का रसमय त्रिपादमृत और यवाशिर या उत्तरार्द्धीय भौतिक आत्मा का रसमय शरीर या यवीयसोमरस दोनों सम्मिश्रित रूप से रहते हैं। हम उसकी आराधना करते हैं। उसको नित्य धारण करने की शक्ति देने का वरदान मांगते हैं। वह शरीर प्राण रूप ही है, वातापि है। अतः हे वातापि पितो! इस शरीर को पीवर या स्थूलतम बनाते रहो।" शेष ऋ. वे. सूक्त १-७ में देखें। यह सूक्त ओषधि देवता का है। यहां पर सोम नामक ओषधि को अन्न या पितु नाम से पुकार कर स्तुति की गई है। सोम ही ओषधिरूप अन्न देवता है। इसीलिए कहा है—

त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम्।
अकारि चारु केतुना तवाहिमवसावधीत्॥"
(१-१८७-६)

कि हे सोम पितुः महः नामक चतुर्थ सप्तक के सब देवताओं का 'मनः' या काम ब्रह्म तुममें ही निहित है। जिस काम ब्रह्म सूर्य ने तुम्हें केतुरूप या भौतिक पटल आवरण रूप में उत्पन्न किया, तब तुमने वृत्र का वध किया (वृत्र भौतिक आसुरी शक्ति इत्यादि)। इस विषय में 'द्यावा पृथिवी' शीर्षक देखें)।

———

अध्याय ३५

आपो देवता के बारे में 'आपोब्रह्म' नामक शीर्षक में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुकाहै। आपो देवता वैदिकों की परमोत्कृष्ट उद्भावना है। यह दार्शनिक विवेचन के लिए एक रहस्यमय शब्द है। इसे लोग समझने में बड़ी असावधानी से काम लेते हैं, समझते हैं कि अप् माने हमारे पीने वाला जल है। यह भयंकर भूल है। अप् तत्त्व वैदिक दर्शन का अनमोल हीरा रूप तत्त्व है। यह पञ्चपर्वा विद्या तथा सप्तकीय या गायत्री ब्रह्मवाद की सरणि का पारिभाषिक शब्द है। पञ्चपर्वा विद्या या सप्तकीय विद्या में यह पञ्चसागरों या सप्तसागरों के पाँच या सात गुच्छों के ५० तत्त्वों का सूचक है। गायत्री ब्रह्मवाद में यह केवल चतुर्थ सप्तक के भौतिकाणु रूप तत्त्व को जलरूप या आपोरूप या रसरूप में वर्णित करता है; जिस सप्तक में वृत्रवध से 'अपतद्रवार' अप् की धार बहने लगी। कहा गया है कि यह भौतिकाणु रूप जल सागर या आपोदेवता है। इस सप्तक से सोम या विष्णु की भी उत्पत्ति होती है। अतः विष्णु को क्षीरसागरवासी इसी आपोदेवता के भौतिकाणु सागरमय या भौतिकाणु सागरशायी होने के कारण कहा जाता है। शेष भी वृत्र ही है। वह आसुरी भौतिकाणु का सर्पाकार स्वरूप है। विष्णु उसमें दैवी भौतिकात्मा रूप में शयन या निवास करता है। वेदों में 'मातरः' (मातायें) शब्द जहां-जहां भी आता है वहां यह इन्हीं आपो देवताओं का संकेत करता है। 'आपो अस्मान्मातरः' (ऋ. वे. १०-१७-१०), 'द्वितीयमा सप्त मातृषु" (ऋ.वे. १-१४१-२), "अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः" ऋ. वे. ८-९६-१, सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत॥ (ऋ. वे. १० ६४-९), जहां-जहां मातायें बच्चों के लिए 'वासः वयन्तीति' आता है, वहां भी इन्हीं आपो देवताओं से सम्बन्ध है। अप्सरायें भी और कुछ नहीं हैं। वे इन्हीं अप् स्वरूप तत्त्वों के विकास हैं 'अप्सु सरन्तीति' अप्सरसः, अप्सराः वा' व्युत्पत्ति ही 'अप्सराः' शब्द की दी गई है (दाश राज्ञ युद्ध देखें)। भौतिकाणुओं की वैद्युतीयनर्तनशील गतिविधियों को ही देवताओं की नाचनेवाली अप्सरायें कहा गया है। इन्हीं जलों या आपो देवताओं को चतुर्थ सप्तक में—माता या अप्सरा कहने के स्थान में 'शं' नाम से भी पुकारा जाता है। अतः 'शं नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।' यह इसी भौतिकाणु स्वरूप आपोदेवी की प्रार्थना है। जिसमें यह शं शब्द शमीलता के सोमवाचकता में संक्षेप में प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार सोम या चन्द्र को प्रजापति कहा गया है, उसी प्रकार 'शम्' को भी प्रजापति नाम से पुकारा गया है (आपोब्रह्म देखें)। अतः इस आपोब्रह्म को साधारण ब्रह्म न समझ कर साक्षात् आदि तत्त्व और मध्य के तत्त्व के लिए प्रयुक्त समझना चाहिए।

१—आपोदेवी

"आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य
भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥ शं नो देवीरभिष्टय आपो
भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः ॥"

(ऋ. वे. १०-९ १,२,३,४)

हे जलरूप देवियों! या विद्युत्तरंगमय तत्त्वों! आप सुखमय मधुमय हैं, उन्हें हम शब्दब्रह्म स्वरूप के दर्शनार्थ धारण करना चाहते हैं, जिनसे हमें जीवनदान (ऊर्ज) मिलता रहे। ऊर्ज नाम प्राण वायुओं या जीवात्मा का है। आपमें जो सर्वोत्तम कल्याणकारी रसमयता है, उसका हमें भागी बनाये रखो। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मातायें बच्चों को दूध देने के लिए उत्सुक रहती हैं। आप का जो अभीष्ट लक्ष्य है, जिसके लिए आप यत्नशील या सृष्टि क्रम में विकसित हो रही हैं। उसके अन्त तक हम भी पहुँच जावें। हमें भी वह भौतिक शरीर प्राप्त होने दो। आप के ये कल्याणकारी मंगलमय शब्द और ब्रह्मता का रस हमारी अभीष्ट सिद्धि के लिए पातव्य, प्राप्तव्य या पीतव्य बनें, और वे हमारी सदा-सदा कल्याण ही कल्याण करें।' इसी प्रकार का भाव रखने वाला ऋ. वे. ७-४९ सूक्त भी इस सम्बन्ध में बहुत मुख्य है—

"समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥१॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥२॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवी० ॥३॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवी०० ॥४॥

यहां पर कहा है कि आपो देवताओं को इन्द्र ने उत्पन्न किया, इनके मध्य (२५वें) में वरुण है, इनमें वैश्वानराग्नि प्रविष्ट है।

ये आपोदेवता जल के वाचक नहीं वरन् वज्र या विद्युद् या अग्नि के वाचक हैं। इसका प्रमाण प्रथम सूक्त के अन्तिम मंत्र में इनके लिए 'पयस्वान् अग्ने!' नाम का सम्बोधन है:

"आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा ॥"

(१०-९-९)

यही बात श. प. ब्रा. १-१-१-१७,१८ और १-२-३-२० में 'वज्रो वै आपः' कहकर समर्थित की गई है। इन्हीं अग्निरूप आपोदेवताओं से सोम, अग्नि, भेषज

(ओषधि), ज्योति, सूर्य और शम्भु उत्पन्न होने की बात भी प्रथम सूक्त के मंत्र ६,७ और दूसरे के ४थे मंत्र में इस प्रकार दी हुई है। 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥६॥ आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥७॥" इतना ही नहीं, इन आपो देवताओं को समस्त आर्य जाति का परमेश्वर (ईशान) नाम से पुकारा है और प्रार्थना की है कि तुमसे हम सोम या भौतिकात्मा की याचना करते हैं, जैसे

"ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
(गायों या आदित्यों की सृष्टि करने वाली क्षयन्ती) । आपो याचामि भेषजम् ॥"
(ऋ. वे. १०-९-५)

और दूसरे सूक्त (७-४९-४) में तो इन आपोदेवियों को 'धावका' नाम से ही सम्बोधित किया गया है। इस सम्बन्ध में ऋ. वे. का ७-४७ वां सूक्त भी देखने योग्य है।

इन आपो देवताओं के 'पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पञ्चसागर हैं। और सप्तकों या षडष्टकों के अनुसार सात या छः सागर हैं। पञ्चपर्वाविद्या देखें। सप्त-सागर सात वर्णों के हैं। पञ्चसागर पञ्चामृतों के हैं। इन सागरों या समुद्रों के बारे में वैदिक और औपनिषदिक प्रमाण 'पञ्चपर्वाविद्या' तथा 'आपोब्रह्म' में दिये जा चुके हैं, वहीं देखें। सात नदियों के बारे में लिखा है 'अहन्नहिमरिणा-त्सप्त सिन्धून्' (ऋ. १०-६७-१२)। समुद्र के बारे में इसी में लिखा है "इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य।' (ऋ. वे. १०-६७-१२)। 'अर्बुद' (अरब संख्या वाला) 'तवेमे सप्त सिन्धवः' (ऋ. वे. ९-६६-६)। "जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये (ऋ.वे ९-१०२-४)। सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित।" (ऋ.वे. १०-१०४-८)। "या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारम-पोर्णुत इन्द्रः।" (ऋ. वे. ८-४०-५)।

अध्याय ३६

नदी देवता

नदी देवता भी 'पञ्चपर्वाविद्या' का एक प्रधान अंग है। उसी शीर्षक में इसका वर्णन किया जा चुका है। इन नदियों के नाम तो वेही हैं जो इस भारत भूमि में पाई जाती हैं। पर जब इन नदियों को विष्णुपदी, आदित्यतनया, पौष्ण, वृत्रघ्नी (सरस्वती) आदि नामों से पुकारा या वर्णित किया जाता है, तब ये नदियाँ भूलोक की कदापि नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे ऐसी नहीं हैं जैसे ये नाम हैं। ये नाम अक्षरशः सार्थक हैं और ये वैदिक दर्शन के तत्त्वों के समूहों का संकेत करते हैं। इन नदियों के वर्णन को सर्वप्रथम त्रिःसप्तवाद या गुहावाद रूप में कई स्थलों पर तथा नदी सूक्त १०-७५ (ऋ. वे.) में इस प्रकार चित्रित किया गया है' जैसे—ऋ. वे. १०-७५-१-

१—वेदों में वर्णित नदियों का रहस्य क्या है ?

"प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥"

यहां पर नदियों को सप्त सप्तकों और त्रिःसप्त (२४ तत्त्वों) दोनों में वर्णित किया गया है। त्रिःसप्त के पश्चात् इनको 'विवस्वान्' के सदन या स्थान का वासी कहा गया है। विवस्वान् २८वां तत्त्व है और ऋ. वे. १०-६४-८ में इसी बात को पुनः दुहराया गया है—

"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥"

इन नदियों के मार्ग को, प्रशस्त करने वाले देवता को, वरुण-'वृणोतीति वरुणः' या व्याप्तिधर्मा तत्त्व कहते हैं। ये देवता और विश्वेदेवता दोनों हैं। देवताओं में यह त्रिःसप्तपद का वासी है। विश्वेदेवता में २४ वाँ उत्तरार्द्ध है। (मित्रावरुणौ-या दक्षक्रतू) ये भूमि या सप्तकों में स्थित 'सानु' या तत्त्वपर्वों में होकर बहते हैं, जैसे—

"प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि॥'!

(ऋ. वे. १०-७५-२)

"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः' (ऋ. वे. ८-९-१२) नदियों के बारे में अन्य त्रिःसप्तवादी मन्त्र ये हैं "स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।' (ऋ. वे. १-७२-८), '(सप्त) वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः॥" (ऋ.वे. ३-१-६), "अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि॥' (ऋ. वे. १०-४९-९), "अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्" (ऋ. वे.

१०-६७-१२), "वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः। मृज्यन्ति त्वा नद्याः सप्त यह्वी ॥' (ऋ. वे. ९-४२-४) इत्यादि अनेकों हैं। दार्शनिक नदियाँ या वैदिक तत्त्वों के रहस्य के लिए स्वीकृत नदियाँ केवल सात ही हैं। पर वेदों में १४ नदियों के नाम दिये गये हैं। शेष सात नाम उन मुख्य सात सप्तकीय नदियों के अंग-प्रत्यंग रूप में स्वीकृत हैं।

२—उन सब नदियों के नाम ये हैं

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।" 'तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे।' (ऋ. वे. १०-७५-५,६) 'सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत।' (ऋ. वे. १०-६४-९)। 'प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥" (ऋ. वे. ३-३३-१)। यमुना का नाम 'ऋग्' भी है और सरस्वती का सिन्धु नाम भी है। सिन्धु नाम साधारणतः नदियों का भी है और सिन्धु नदी का भी है। उक्त मंत्रों में निम्नलिखित नदियों के नाम आये हैं (१) गंगा (२) यमुना (३) सरस्वती (४) शुतुद्रि, शतद्रू या सतलज) (५) परुष्णी (इरावती) (६) असिक्नी (काली नदी) (७) मरुद्वृधा (चेनाव की सहायक) (८) वितस्ता (झेलम) (९) आर्जीकीया (चेनाव-चन्द्रभागा) (१०) सुषोमा या सिन्धुनदी (११) तृष्टामा, (१२) श्वेती (१३) कुभा (१४) गोमती (१५) क्रुमु (१६) सरयु। ये सब की सब पश्चिमोत्तर भारत की नदियां हैं। केवल सरयु और गोमती कुमाऊँ प्रदेश (उत्तरप्रदेश) की नदियां हैं। इन नदियों में से 'गंगा' का नाम ऋ. वे. ६-४५-३१ में 'उरुः कक्ष्यो न गाङ्ग्यः' मंत्र में भी आता है, तथा श, प. ब्रा. १३-५-४-११ में इसका तथा यमुना का उल्लेख करते हुए भी लिखा है "एतद्विष्णोः क्रान्तम्। तेन हैतेन भरतो दौष्यन्तिरीजे तेनेष्ट्वा मां व्यष्टिं व्यानशे, येयम्भरतानान्तदेतद्गाथयाभिगीतम्-अष्टासप्ततिम्भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु। गंगायां वृत्रघ्नेऽबध्नात्पञ्चपञ्चाशतं हयानिति॥" इसी प्रकार तै. आ. २-१० और तै. ब्रा. ३-१८३ में भी गंगा का नाम मिलता है। वृत्रवध गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम पर २६वें तत्त्व में होता है। सरस्वती को ६-६१ में वृत्रघ्नी कहा है।

३—ये कहां की नदियां हैं ?

क्या ये नदियां भूलोक की हैं ? कदापि नहीं। वृत्र के बारे में लिखा जा चुका है, वह ऐतिहासिक होते हुए भी आसुरी भौतिकात्मा का प्रतिनिधि है। वृत्रवध के स्थान पर गंगा किनारे ५५ घोड़ों के (अश्वों) को बांधने की बात उक्त श. प. ब्रा. लिख रहा है और ऋ. वे. ६-६१-७ में सरस्वती को वृत्रघ्नी नाम से घोषित करता है और उसे 'त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता' (१२) सप्तस्वसा (१०) नाम से पुकारता है। ये नदियां सुन्दर अश्वों (प्राणों) वाली, सुन्दर (देव) रथवाली,

सुन्दर वस्त्र (ऊर्णनाभि) वाली, हिरण्मयी, सुकृत लोक (गुहा) वाली और अन्न वती (सोमवती) हैं, ऊर्णवती हैं, युवतियां हैं, शीलवाली (दैवी प्रवृत्ति की) हैं तथा मधु (पञ्चामृत) को सौभाग्य रूप से बढ़ाती हैं; जैसे—

"स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥"

(ऋ. वे. १०-७५-८)

इतना ही नहीं, ये नदियां तो चलने या बहने के लिए 'आश्विन्य रथ' का प्रयोग करती हैं, धरती पर चलती नहीं, जैसे—

"सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।"

(ऋ. वे. १०-७५-९)

ये तो युद्ध भी करती हैं। यह इसी में लिखा है, और वृत्र को तो मारती ही हैं। वृत्रवध का स्थान दार्शनिक गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी (सोम) है, वहीं वैश्वानराग्नि में वृत्र की दाह क्रिया होती है। गंगा का जन्म ब्रह्मरूप कमण्डलु या हिरण्यगर्भ प्रथम तत्त्व से ९ तत्त्व तक क्रमशः होता है। १०वें तत्त्व से २०वें तत्त्व तक ११ रुद्र हैं, तब यह गंगा इन रुद्रों के ११ पर्वरूप जटाओं में क्रमशः घूमती या विकसित होती है, २०वां तत्त्व आदित्यों को आरम्भ करता है। यहां से यमुना आदित्य पुत्री का जन्म होता है। दोनों नदियां समानान्तर रेखा में बहती हैं, २४वें तत्त्व पूषा से सरस्वती पूषण का जन्म होता है, २६वें सोम में इन तीनों की त्रिवेणी बन जाती है।

४—विपाद्, शुतुद्री

विपाट्, शुतुद्री तो स्वयं कह रही हैं कि हमको इन्द्र ने वृत्र को विदीर्ण कर उत्पन्न किया और हम तो सुपाणि सविता के प्रसव के लिए, सोम या भौतिक तत्त्व की सृष्टि के लिए, उर्वी या ऊर्णनाभि वाली उर्वी (चतुर्थ सप्तक) के लिए, प्रस्थान कर रही हैं जैसे "इन्द्रो अस्मां अरद-द्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥" (३-३३-६)। इसमें स्पष्ट है कि विपाट्, शुतुद्री का स्थान 'वृत्र' तत्त्व के तत्काल पश्चात् २७,२८वें तत्त्वों में आता है। यहीं से भौतिक नदियों की परिधियां फूट निकली हैं। तब तक भौतिकता की नदियां वृत्र की व्याप्ति से बन्द थीं ('अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्', 'वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार')। इन नदियों को भरत (अग्नि) नामक तत्त्वों ने पार किया था ('अतारिषुर्भरता गव्यवः' 'यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुः' ३-३३-१२,११)। इन नदियों के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण ऋचा यह है—

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥"

(३-३३-१०)

इन्हें 'कारु' कवियित्री और रथ में चलने वाली भी कहा है। यह कवि या कारु या कवियित्री तो सोम का नाम है, 'होतारौ दे०्यौ' देखें। इसी सूक्त के मंत्र ९ में 'ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन' में कहा है कि तुम कारु या सोम को गीत सुनाने के लिए देवरथ में बैठ कर जाती हो या गाती हो। इस प्रकार ये नदियां शब्दब्रह्म की नदनशील सरणि की प्रकाशिका वाग् ब्रह्माणी हैं। हां, साथ में भूलोक की नदियों का उल्लेख मात्र आधार मात्र के लिए स्वीकार किया गया है जिसके बिना ब्रह्म विकास की यह सरणि प्रकाश में आ भी नहीं सकती थी।

अध्याय ३७

ओषधिः

ओषधि नाम उषसः भवं ओषं ओषं धयन्तीति ओषधिः। सोम सर्वा देवता है। यह रसमय सोम ब्रह्म की व्याख्या करता है। अतः यह नाम सोम रस सीधे-सीधे सोम का है। ओषधि शब्द स्त्रीलिंग है। अतः ओषधि को 'सोमराज्ञी' नाम से (१०-९७-१८) पुकारा गया है, सोम नाम ब्रह्म या भौतिक विश्वेदेवता का है तो ओषधि नाम भौतिक वाग्ब्रह्माणी का है। यह रसरूप ओषधि है। जिसका धयन या दुहन इसी ओषधि रूप सोम या सोमराज्ञी से होता है। अतः इन्हें निम्न ढंग से बड़ी स्वादिष्ट बताया गया है; जैसे "स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः' (ऋ. वे. ९-१-१)। ये ओषधियां दर्शन के स्वरूप में दो प्रकार की हैं—पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय। पूर्वार्द्धीय का नाम त्रियुगी त्रिःसप्तीय २४ तत्त्व की है। इन ओषधियों के सौ सप्ताह (७२० दिन) और सात सप्तक बताये गये हैं। इनके विकासों का वर्ण और नाम बभ्रु है; जैसे—

१—'ओषधि' शब्द की व्युत्पत्ति और रहस्य

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥'

(ऋ. वे. १०-९७-१)।

इन सौ धामों या सप्ताहों को सहस्रों में भी विभाजित किया जाता है। जैसे ऋचो अक्षरे के अक्षरों की गिनती की जाती है। इसमें से तृतीय सप्तक की ओषधियों को—प्रथमादित्य से पूषा तक–१७ से २३½ तक–जैसे इन्द्र को कहा जाता है—'शतक्रतु' नाम से पुकारा गया है। वे आध्यात्मिक आत्मायें या ओषधियां हमें अगद या स्वस्थ रखती हैं। जैसे—

"शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥"

(ऋ. वे. १०-९७-२)

इन ओषधियों को आपोदेवता की तरह से 'मातरः' और 'देवी' नाम से सम्बोधित किया गया है और कहा गया है कि ये सृष्टि पुरुष में वास करती हैं (ऋ. वे. १०-९७-४)। इनका निवास अश्वत्थ (पीपल और प्राणों) में तथा इनकी कुटी (पर्णकुटी) पर्णों या सुपर्णों (पत्तों) या दर्शन के सोम नामक तत्त्व से बनी हुई है। ये आदित्यों के भाजन हैं और सृष्टि पुरुष का विकास करती हैं जैसे—

"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥"

(१०-९७-५)

इस ऋचा का भाष्य सा लिखती हुई अगली ऋचा १०-९७-७ कहती है। तुम अश्वों वाली या प्राणों वाली सोमवती ऊर्ज (वायु) वाली और (तैजसाग्नि) वाली सब ओषधियों को जानती हो और हमारे सब अरिष्टों या रोगों का नाश भी स्वयं करती रहती हो; जैसे—

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥"

ये ओषधियां जब भौतिक सोम रूप में उदित होती हैं तो ऐसा लगता है जैसे गोशाला से गायें खोल दी गईं। ये गायें आदित्यरूप हैं। और ये गोरूप ओषधियां त्रिधात्मा रूप त्रिपादमृत रूप धन से भौतिक सृष्टि पुरुष को रसमय करती हैं (ऋ. वे. १०-९७-८)। तब ये नाना रूप धारण करती हुई एक दूसरे की पूरी रक्षा करने चलती हैं। एक दूसरे के साथ-साथ चलती हैं। वे सब एक दूसरे को भली भांति जानती हैं। उनका स्वरूप वचः या 'वाग्ब्रह्म' या शब्दब्रह्म का है (१४)। प्रत्येक के अंग-अंग, पर्व-पर्व में विकसित होते जाते हैं, उस विकास धारा में उनकी अस्वस्थता को मध्यवर्ती असि की तरह सर्वतः प्रतिबन्धित करती रहो (१२)। इन ओषधियों का सर्जनहार बृहस्पति है। आदि में ब्रह्मणस्पति है, इन में कोई फलिनी है, कोई अफला, कोई अपुष्पा और कोई पुष्पिणी है, वे सब हमें अंहस या पाप पर संघर्षों से बचाती रहें।

"याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥"

(१५) हम वरुण के संयोगीय पाशों के बन्धनों से भी मुक्त रहें तथा यम के विभेदक गुणों से भी पृथक् रहें। (१६) आप त्रिपादमृतों से उतरती हुई, शब्दब्रह्म रूप में गाती हुई ओषधि रसरूप में प्रस्तुत होती हो। इस विकास धारा में हम जिस स्वरूप की जीवयोनि को प्राप्त कर सकें। उसमें सृष्टि पुरुष को कोई बाधा न होने पावे।

"अवपतन्तोरवदन्दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥"

(१७) भौतिक शब्दब्रह्माणी रूप सोमराज्ञी में जितने अनन्त वीजों के भौतिक तत्त्व रूप ओषधियां या रस हैं उनमें से तुम (भौतिक तत्त्व) सब से उत्तम हो। उससे हमारी मनभावनी अभीष्ट सिद्धि हो "या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे ॥१८॥' जो भौतिक मिश्रण सामराज्ञी इस पृथिवी या चतुर्थ सप्तक में आविर्भूत करती है। उन्हें वीर्यवान् बनने दो ॥२०॥ ये ओषधियां सोम राजा से संताप करती हैं, जिस-जिस की ये चर्चायें करती हैं, उन्हें ब्राह्मण या २४ ब्रह्म विकसित करना चाहता है। अतः उन्हें हे सोम राजन् पार लगाओ या स्वभावतः विकसित होने दो ॥२२॥ इन ओषधियों के वर्णन में आधार तो भूलोक की ओषधियां हैं। पर इसके सहारे वैदिक दर्शन के इस दृष्टिकोण के रहस्य का उद्घाटन किया गया है। इसके बिना उक्त सब मन्त्रों

का अर्थ अन्तर्गत ही लगेगा। उसमें कोई सन्दर्भ नहीं बैठ सकता। जैसे 'अश्वावती सोमवती' आदि विशेषणादि। कर्मकाण्ड में इन ओषधियों का अभिनय पञ्चपर्वा विद्या के अनुकूल 'पञ्चपल्लवाः', शमी, अश्वत्थ, वट, आम्र, अर्क से किया जाता है और 'सर्वोषधीः' नाम से 'हरिद्रा' या 'सरसों के दानों से भी किया जाता है। ये उक्त ओषधियों के संकेत मात्र हैं। ये ओषधियाँ नहीं हैं। जो कर्मकाण्डी या वैदिक विद्वान् भूलोक की इन लौकिक जड़ी-बूटियों को वैदिक ओषधि समझते हैं, उनकी हंसी उड़ाते हुए स्वयं वैदिक ऋषि लिख गये हैं कि ऐसे लोग बहुत बड़े भ्रम जाल में हैं। जिस ओषधि को ब्राह्मण लोग सोम नाम से पुकारते आये हैं। उस वैदिक ओषधि को तो कोई खा-पी नहीं सकता, वह तो दिव्य शरीर है। भटके लोग जड़ी-बूटी छानकर, घोटकर सोमपान कर लिया ऐसा समझते हैं, पर बात ऐसी नहीं है, जैसे "सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ इत्यादि ऋ. वे. १०-८५-३, (चौथा मंत्र भी देखें साथ में, श. प. ब्रा. २-२-३-१० में दिये ओषधि का अर्थ भी देखें।

अध्याय ३८

अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू

प्राचीन युग में महीनों की अवधि चान्द्रायण से, दो प्रकार से मानी जाती रही। कुछ लोग अमावस्या से लेकर दूसरी अमावस्या के अन्तर्गत एक मास मानते रहे। इसको 'दर्शमास' नाम से पुकारते थे। द्वितीया के चन्द्र दर्शन से इस मास का निर्धारण होता रहा। दर्श नाम अमावस्या का भी है। अतः इसका नाम दर्शमास पड़ा। इसके अतिरिक्त मास की अवधि चान्द्रायण से ही दूसरे प्रकार से मानी जाती रही। यह मास दो पौर्णमासियों के बीच के समय को सूचित करता रहा। प्रथम पौर्णमासी के अन्त से मास का आरम्भ होता रहा। द्वितीय पौर्णमासी को मास पूरा हो जाता रहा। इसीलिए इसका नाम पूर्णमासी तिथि तथा महीने का नाम पौर्णमास पड़ा। याज्ञिकों ने उक्त दोनों प्रकार के मासों को अमर बनाने के लिए दर्शयाग और पौर्णमास याग की रचना की है। यह तो इनकी लौकिक व्याख्या है। पर हमारे वैदिकों ने अपने दर्शन में इन दोनों का एक ऐसा मीठा सम्मिश्रण कर रखा है कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। वास्तव में दर्शपूर्णमास याग इन्हीं वैदिक भावनाओं की विस्तृत व्याख्या मात्र है।

१—प्राचीन युग के दो प्रकार के मास

वैदिक दर्शन में प्रलय पौर्णमासी है। सृष्टि का आरम्भ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से होता है। ३३ देवताओं और ५० तत्त्वों में ब्रह्म द्विधा षोडशकल ब्रह्म है। २४वें तत्त्व में पौर्णमासी होती है। ब्राह्म या प्रथम पौर्णमासी का नाम अनुमति है। इस पूर्णमासी से दूसरी पूर्णमासी २४वें तत्त्व में आयेगी। उस पूर्णमासी का नाम 'राका' है। इन दोनों के प्रथम से २४वें तक के २४ तत्त्वों को पौर्णमास याग या पूर्णमास यज्ञ या पूर्ण विकास कहते हैं। निरुक्तकार कहते हैं कि अनुमति और राका दोनों देवताओं की पत्नियां हैं। याज्ञिक कहते हैं कि ये पूर्णमासी ही हैं, पर प्रथम पूर्णमासी को अनुमति, दूसरी को राका यह सब वैदिक मानते हैं। इन मास पर्वों का वैदिक दर्शन से कितना गहरा सम्बन्ध है, इस पर 'पैत्रसंवत्सर अहोरात्र' शीर्षक में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है, वहीं पढ़ लें। २४वें तत्त्व की पौर्णमासी के तुरन्त बाद सूर्योदय और अमावस्या २५वाँ तत्त्व आता है।* जब भौतिक तत्त्व का पूर्वाभास सूर्य को चारों ओर से घेर कर अन्धकार कर देता है तब २६वें तत्त्व में सोम या चन्द्र का अभ्युदय होता है ; पूर्वार्द्ध दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि है। पूर्वार्द्ध

२—दार्शनिक पूर्णिमा और अमावस्या की व्याख्या

---

* इसी को बृहदारण्यक 'अमायामेव ध्रुवैव षोडशी कला' कहता है।

देवताओं का है, उत्तरार्द्ध पितरों और असुरों का। पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष है, उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष। अतः दूसरी अमावस्या ४०वें तत्त्व में ही आयेगी। सृष्टि के आरंभ की प्रलय कालीन पौर्णमासी ब्राह्म पौर्णमासी है, उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष की अमावस्या भौतिक अमावस्या है। पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि रूप शुक्लपक्षीय चन्द्र का क्रमिक विकास पौर्णमासी (२४वें तत्त्व) में पूर्णता को प्राप्त होता है। २५वें तत्त्व से भौतिकता रूप अन्धकार क्रमशः बढ़ता जाता है। आध्यात्मिकता क्रमशः सम्बद्ध, प्रबद्ध होकर भौतिक जाल से जकड़ जाती है। अन्त में वह अपने को भौतिकता में खो बैठती है। उसी का नाम अमावस्या है। इसका उद्धार दर्शयाग से किया जाता रहा। पूर्णमास याग से पूर्णब्रह्मज्ञान प्राप्ति का मार्ग खोला जाता रहा। यही इन दोनों मासों का अन्तर है। जिस प्रकार दो पौर्णमासियों के दो अलग-अलग नाम अनुमति और राका हैं। उसी प्रकार दोनों अमावस्याओं के नाम भी अलग-अलग सिनीवाली और कुहू हैं। पूर्व अमावस्या सिनीवाली कहलाती है तो अन्तिम कुहू जबकि निरुक्तकार इन्हें भी देवताओं की पत्नियाँ ही मानते हैं। याज्ञिक केवल दो अमावस्यायें ही मानते हैं। पौर्णमास आध्यात्मिक मास है, दर्शमास भौतिकतावादी। दोनों के यज्ञों में भौतिकता से छुटकारा पाकर आध्यात्मिकता द्वारा ब्रह्म प्राप्त करना अवश्य अन्तिम लक्ष रहा।

अनुमति

अनुमति शब्द की व्याख्या 'अनुमान' करने से बताई गई है। यह ब्राह्म पौर्णमासी का नाम है। ब्रह्म को इससे अच्छी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती।

३—अनुमति की व्याख्या

अनुमति माने जिसकी मति में या पहुँच में ब्रह्म की जैसी धारणा हो सकती है या है वही उसकी अनुमति या ब्रह्म है या पूर्णिमा या पूर्ण ज्ञान है। क्योंकि ब्रह्म विषयक सब कुछ ज्ञान अनुमति या अनुमान या अपनी-अपनी सरणि की अन्तिम पहुँच से होता है। सर्वादि और सर्वान्त, अनादि और अनन्त होने से वह केवल अनुमति मात्र है। इसीलिए अथर्ववेद ने लिखा है कि सबसे पहिले जो कुछ भी था वह सब अनुमति मात्र था, जिससे जो कुछ स्थावर, जंगम और ब्रह्माण्ड रचना में आये, हम उसी सुमति की प्रार्थना करते हैं, जैसे—

"अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः॥"

(७-२०-६)।

यजुर्वेद ३४-८ और अथर्व ७-२-९-२ ने कुछ पाठान्तर से निम्न मंत्र में अनुमति की स्तुति की है।

यजु—अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः॥
अथर्व— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥

हे अनुमते ! तुम हमारी प्रार्थना स्वीकार करो, हमें सुखी बनाओ, हमें अपनी सन्तान दत्तक्रतु की तरह सन्तानों (के बीजों) से युक्त करो और हमें दीर्घायु बनाओ। अथर्व के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—हमारी दी हुई हवियों का आस्वादन करो और हमें प्रजा भी दो। इस अनुमति को अथर्व ७-२-७-५ में 'देवगोपा' नाम से भी पुकारता है और चतुर्थ मन्त्र में 'सुप्रणीते' सम्बोधन से इससे इसका स्थान पूर्वार्द्ध निश्चित हो जाता है क्योंकि पूर्वार्द्ध ही देवताओं का स्थान है, वहीं यह उनकी गोपा या रक्षिका है। इसकी अग्नि को प्रथम मन्त्र (७-२-७-१) में हव्यवाहन कहा है। यह भी उसी बात का सूचक है। उत्तरार्द्ध की अग्नि अहव्यवाड् है जैसा कि 'मनसश्चवाचश्च' के सम्वाद में परा (उत्तरार्ध की वाणी) को अहव्यवाड् कहा है (श. प. ब्रा. १-४-१-११,१२,१३)।

राका

राका शब्द की व्युत्पत्ति दार्शनिक है। ऋम्, ऋतम् वा आकरोति वा व्याकरोतीति विकासयतीति यावत् (ऋ+आ कृ) राका। ऋ शब्द ऋत् शब्द का प्रतीकाक्षर है। उसके विकास को पूर्ण करने वाले तत्त्व को 'राका' कहते हैं। यह २४वां और आध्यात्मिक सृष्टि का पूर्ण विकास या द्योतक तत्त्व है। इस तत्त्व की व्याख्या में निम्न मन्त्र मिलते हैं।

३—राका की व्याख्या

(१) "राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥"

(२) यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥"

(ऋ. वे. २-३२-४,५; अथर्व ७-४-८-१,२)-अर्थः—हम उस राका का आह्वान करते हैं, और सुन्दर प्रार्थनाओं से मनाते हैं कि वह सौभाग्यवती हमारी पुकार को आत्मा से समझे। सूची (सुई) के मुख के समान सूक्ष्म रूप से वह भौतिक सृष्टि के जल बिन्दु, बीज बिन्दु को सींच दे जिससे ऐसा वीर तत्त्व उत्पन्न हो, जिससे सैकड़ों उत्पन्न हो सकें, वह ऐसा मूल स्रोत (उक्थ्य) हो॥१॥ हे राके ! तुम्हारी जो सुमतियां (अनुमति से प्राप्त) सुकल्याणकारिणी हैं, जिनके द्वारा दान के निमित्त ही (वापस लेने के लिए नहीं, बदले में नहीं) नाना प्रकार के धनों को देती हो, उन सुमतियों से आज हमारे मन (मन्दिर) में आ जाओ। जहां तुम सहस्रधा बन कर सुख सम्पन्न होकर रमण करती रहो॥२॥ यह आध्यात्मिक पूर्ण विकास की द्वितीय पूर्णिमा है, २४वां तत्त्व है। अतः राका कहलाती है।

सिनीवाली

अनुमति और राका, पूर्वार्द्ध के ओर-छोर, प्रथम, अन्तिम (प्रथम और

२४वें) तत्त्व के दो पूर्णमासी रूप में वर्णित हैं। सिनीवाली उत्तरार्द्ध की प्रथम अमावस्या है और कुहू अन्तिम। सिनीवाली २५वां तत्त्व है तो कुहू ४८वां। 'सिनीवाली' शब्द की व्युत्पत्ति भी दार्शनिक ही है। सिन नाम अन्न या भौतिक तत्त्व है, सिनेन अन्नेन वलयते वृणोतीति सिनीवाली–जो तत्त्व अन्न या भौतिकात्मा से सब को (त्रिपादामृत को) घेर लेता है, वह सिनीवाली कहलाता है। इसका अर्थ लगभग 'वृणोतीति वृत्रः' के समान ही है। इन्द्र वृत्र नाम देवासुर विभेदक है तो ये नाम पक्ष भेदक हैं या अयन विभेदक। सिनीवाली के बारे में ऋग्वेद और अथर्ववेद में निम्न मन्त्र मिलते हैं—

४—सिनीवाली की व्याख्या

(१) सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥२॥
या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥३॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥"

प्रथम दो मन्त्र ऋ. वे. और अथर्व दोनों में (ऋ. वे. २-३२-६,७) मिलते हैं, तीसरा मन्त्र केवल अथर्व (७-४६-१-३) में मिलता है। प्रथम मन्त्र शु. यजु. ३४-१० में भी मिलता है। हे सिनीवाली ! तुम पृथुजघना या पृथुकेशवती हो, (स्तुक् सङ्घाते) और देवताओं की बहिन हो, तुम हमारी दी हुई हवि का आस्वादन करो और हमें प्रजा दो (दिदिड्ढि)। निरुक्तकार इसे देवपत्नी मानते हैं, उनका यह मत इस ऋचा से खण्डित हो जाता है; क्योंकि यह ऋचा इसे देवताओं की बहिन बतलाती है। (२) तुम सुन्दर बाँहों और सुन्दर अङ्गुलियों वाली, अत्यन्त सुन्दरता (सुषमा) से युक्त तथा अनन्तों को उत्पन्न करने वाली हो। ऐसी विश् (तृतीय सप्तक की) पत्नी, सिनीवाली के लिए हवि का आवाहन या हवन करो। इसके बाँह द्वितीय सप्तक हैं, अंगुलियां प्रथम तीन सप्तक के प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं। यह वैदिकों की अङ्गुलि सरणि अपनी अलग है। (३) 'जो विष्णु की पत्नी और विश् की पत्नी है (विश् से ही विष्णु बनता है, विष्णु भी विश् ही है) और इन्द्र के पूर्व दिशा की ओर वृत्त रूप आसन्दी में रहती है, तथा हजारों स्तवकों में अग्रसर होती है, ऐसी हे देवि ! तुम्हारे लिए दी गई हवियों को स्वीकार कर पति को धन देने के लिए प्रेरित करो।" यह अथर्व का मन्त्र है। यह सिनीवाली को विश्पत्नी के स्थान में विष्णु पत्नी भी कहने लगा है, सम्भवतः विश् का अर्थ विष्णु भी रहा होगा क्योंकि दोनों का स्रोत एक ही है तथा विष्णु का स्थान भी उत्तरार्द्ध में ही आता है, वह सोम का प्रतिनिधि है। इससे निरुक्तमत समूल खण्डित हो जाता है। फिर भी सभी भौतिक तत्त्वों को स्त्रीरूप में स्वीकार करने की हमारे यहां एक प्रथा है। जैसे प्रकृति, भौतिक तत्त्व

है, स्त्री है, पुरुष आध्यात्मिक पुंलिङ्ग है। इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति है, ब्रह्मात्मा पुरुष, पति इत्यादि।

कुहू

कुहू शब्द की व्युत्पत्ति 'गूहते इति कुहूः या क्व सती हूयते, का हुतं हविर्जुहोतीति वा' है कि जो अपना इतना विस्तृत विकास कर लेती है कि प्राणी लोगों के लिए त्रिपादमृत ब्रह्म एकदम निगूढ हो जाता है। यहां तक कि बहुत लोगों को अब तक भ्रम बना पड़ा है कि ब्रह्म जैसी कोई वस्तु हो भी सकती है? कुछ लोग कहते हैं 'दमः दानं दया' दत्रयी का आह्वान किस लिए, कहां और क्यों किया जाय? जहां ऐसी मति का बोलबाला मतवाला बना देता है, वहां पूरी'कुहू' है। पर 'कुहू' को पहचानने वाला सबसे बड़ा ज्ञानी है क्योंकि ज्ञान की प्रथम श्रेणी को यहीं पर पार करने का प्रथम अवसर मिलता है। यहीं से ज्ञान मार्ग के द्वार खुलते हैं। कुहू के सम्बन्ध में अथर्व वेद में दो मन्त्र मिलते हैं:—

५—कुहू की व्याख्या

(१) "कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।"

(२) कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु॥"

(अथर्व ७-४७-१,२)।

अर्थ—मैं एकदम से चारों ओर से घेरनेवाली और अपनी क्रियाओं (प्रकृति कर्त्री के रूप की स्वतन्त्रधर्म की क्रियाओं) के लिए प्रसिद्ध पर सरलता से बुलाई जा सकने वाली कुहू को इस यज्ञ में आमन्त्रित या आहूत करता हूँ। वह हमें अपने श्रवण दे या हमारी बातें सुन ले, या हमें भौतिकात्मा स्वरूप श्रवण या श्रावणीय तत्त्व तक पहुंचा दे, जिसको पितरों का धन या दिव्य शरीर कहा जाता है। उसका हमें अनुभव और ज्ञान हो, ऐसी देवी के लिए हम अपनी हवियों से याचना करते हैं॥ पाठान्तर—कुहू देवी सुकृत कर्म वाली है.......। वह हमें संसार की रचना में समर्थ धन (दिव्यशरीर) को प्रदान करे और ऐसी संतानों का बीज दे जो अग्रिम सृष्टि का सहस्रधा मूलस्रोत बन सके॥ (२) कुहू देवताओं की और त्रिपादमृत की पत्नी है और हमारी आहवनीय है और वह हमारी हवियों का आस्वादन करे; वह हमारी प्रार्थनाओं, यज्ञ को, इच्छा करती हुई सुने और आज हम धन को या दिव्य शरीर (ओजः, तेजः) को दान देने के लिए धारण करें।

———

अध्याय ३९

वैदिक ग्रहवाद, आधुनिक ग्रहवाद तथा भारतीय आयुर्वेद के मुख्य तत्त्व

ज्योतिष के दो अंग हैं, गणित और फलित। इस युग में अधिकतर विद्वान् फलित के हैं। गणितज्ञों की संख्या कम है। ज्योतिष के आधुनिक विद्वान् पाश्चात्य देशों में भी हैं। हमारा ज्योतिष (गणित) भास्कराचार्य के समय से अब तक सब अशुद्ध चल रहा है। हमारे गणितज्ञ और पञ्चाङ्ग निरयण ग्रहगति देते हैं जिसका फल यह होता है कि जब ये शुक्रास्त लिखते हैं तब शुक्रोदय स्पष्ट दीखता है। जब ये शुक्रोदय लिखते हैं तब शुक्रास्त हुआ मिलता है। इसी प्रकार इनका गणित ग्रहों की दृश्यगति से २३ अंश पीछे है। इसीलिए आजकल की ऋतुओं में परिवर्तन प्रतीत होता है।

१—नवीन ज्योतिष

दस मुख्य ग्रह हैं। हमारे ज्योतिषी केवल नव ग्रह ही देते हैं। उनमें भी रा०-के० को छायाग्रह मानकर कई ग्रन्थों में इनकी चर्चा ही नहीं है जैसे बृहज्जातक। हम अपने पूर्वजों के खोजे दस ग्रहों को भी खो चुके हैं। केवल सात ही उपलब्ध या वर्णित ग्रह मिलते हैं। वैदिकों ने तो आठ ग्रह और आठ उपग्रह तथा कई अतिरिक्त ग्रह बतलाए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके लिए यज्ञ-विधान है, जप है, होम है, दान है, विधान है जिसके लिए सैकड़ों मन्त्र हैं, यन्त्र हैं और तन्त्र हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये मन्त्रादि उन्हीं ग्रहों से सम्बन्ध रखते हैं जो आकाश में सौरमण्डलीय दस ग्रह हैं? यदि आप दोनों में अभेद मानें तो हमारे सामने वही निश्चित पहेलियां आती हैं जिनको कई अज्ञ विद्वानों ने उठाया है; जैसे शनि का मन्त्र जल की प्रार्थना है, मङ्गल-बुध का मंत्र अग्नि प्रार्थना, शुक्र का अन्न रस की प्रार्थना आदि। दूसरी बात इन ग्रहों के नाम की है। मङ्गल को भूमिपुत्र, कुज, भौम कहते हैं, पर सौरमण्डल में पहले मङ्गल बना, फिर यह पृथ्वी, कुज को अङ्गारक भी कहते हैं, यह तारा नहीं, ग्रह है। तब अङ्गारक कैसे? क्या बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, सोम, सूर्य ये नाम सार्थक हैं या निरर्थक? यदि सार्थक हैं तो इनका अर्थ लौकिक ग्रहों में किस प्रकार घटित हो सकता है? इनके मन्त्र इनमें क्यों नहीं घटित होते, मन्त्र ही तो इनका अर्थ देते हैं? यह क्या बात है? इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय आर्य ज्योतिष या गणित जानते ही नहीं थे।

२—ग्रह और ग्रहमन्त्र समस्या

भारतीय या वैदिक ग्रह दो प्रकार के हैं। (१) आध्यात्मिक या तात्त्विक (२) लौकिक या सौरमण्डलीय। कर्मकाण्ड में तात्त्विक ग्रहों की विधियां या विधान हैं। उनके अभिनय के पात्र

३—वैदिक ग्रह

लौकिक ग्रह हैं। मनुष्य की सुदशा या दुर्दशा का कारण आध्यात्मिक तत्त्वों का सन्तुलन रखना या खोना है। यही बात गीता भी दूसरे ढंग से कहती है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" ॥

हमारे ही भीतर हमारे शत्रु हैं, जब उनका प्राबल्य होता है तो वैसी ही बुद्धि हो जाती है और उसी के अनुसार हमारी दशा हो जाती है। ग्रहपरक वेदों के मन्त्र इन्हीं शत्रुरूप ग्रहों के सन्तुलन को समान बनाने की सबसे उत्तम भूमिका देते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इन ग्रहों के कुछ अन्य वैदिक नाम हैं। जैसे (१) उपांशु ग्रह (व्यान), अन्तर्याम ग्रह (उदान), (३) ऐन्द्रवायव ग्रह, (४) मैत्रावरुण ग्रह, (५) आश्विनग्रह, (६) शुक्रामन्थि ग्रह, (८) आग्रायण ग्रह, (९) उक्थ्य ग्रह, (१०) ध्रुव ग्रह, (११) ऋतु ग्रहैन्द्राग्न वैश्वदेव ग्रह, (१२) मारुत्वतीय माहेन्द्र ग्रह, (१३) आदित्य ग्रह, (१४) सावित्रग्रह, (१५) पात्नीवत ग्रह, (१६) हारियोजन ग्रह, (१७) षोडशिग्रह, (१८) अतिग्राह्य ग्रह (१९) अंशु ग्रह (२०) महाव्रतीय ग्रह। ग्रहों की संख्या बहुत अधिक है। ग्रहों की परिभाषा में लिखा है कि हम लोग ग्रहों से गृहीत होकर आचरण करते हैं। अतः ये ग्रह कहलाते हैं—

"एष वै ग्रहः, य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजा
गृहीताः तस्मादाहुर्ग्रहान्गृह्णीम इति—
'चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त' इति" (४-६-५-१ श. ब्रा.)।

वाणी का नाम ग्रह है। नाम का नाम ग्रह है। अन्न (आत्मा) का नाम ग्रह है। सोम का नाम ग्रह है। इन्हीं से सब काम सिद्ध होते हैं (४-५-७-२ से ५ तक)।

संक्षेप में भारतीय कर्मकाण्ड के ग्रहों में प्रत्येक निम्नलिखित आत्माओं का उद्दीपन करता है—

४—वैदिक मन्त्र आत्माओं का उद्दीपन करते हैं

मंगल—रुद्रात्मा परिजात वेदाग्नि, बुध—अतिथि तैजसात्मा जातवेदाग्नि, बृहस्पति—चतुष्पाद्ब्रह्म, शुक्र—सूर्यात्मा का अन्नमय प्रथम रस, चन्द्रमा—सोम—सूर्यात्मा के अन्नमय रस का सौम्यभाग, शनि—सूर्यात्मा के अन्नमय रस का आसुरी भाग, पञ्चपदी पञ्चपशु, सूर्य—भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रथम पूर्व रूप, राहु—सूर्यात्मा में परितः आच्छन्न भौतिक भाव स्वर्भानु, केतु—सोमात्मा में परितः आच्छन्न भौतिक भाव जो आसुरी वृत्रात्मा शरीर कहलाता है। आयुर्वेद के तीन गुण—वात—वातात्मा, रुद्रात्मा या परिजात वेदाग्नि, पित्त—तैजसात्मा अतिथि, कफ—सोमात्मा भौतिक दिव्य शरीर आदि हैं, ब्रह्म तो निर्विकार है। उसके उपचार की कोई भी आवश्यकता ही नहीं है।

अतः हमारा कर्मकाण्ड और आयुर्वेद दोनों दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा पूर्णतः आध्यात्मिक हैं।

अध्याय ४०

वेद और जैन-बौद्ध

आज के युग में यदि कोई यह कहने लगे कि "जैन और बौद्ध दोनों के प्रथम अवतार या प्रवर्तक वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञाता या समझदार थे" तो लोग एक दम खिलखिलाकर हँस पड़ेंगे। पर वास्तव में

१—वेद और कर्मकाण्ड अभिन्न हैं

ऐसा प्रतीत होता है कि शुश्रुवांस्, अनूचान, वेदविद् ब्राह्मण जिन वस्तुवादी कर्मकाण्डियों की मीठी और कड़वी चुटकियां ऋचाओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में फटकारमात्र के लिए लेते रहे कि वे ठीक रास्ते में आने की चेष्टा करें, पर जोर इन्हीं का बँधता गया, तब गीता ने उन पर अन्तिम चोट का डंका पीटा। इनका त्रैगुण्य विषयक स्वार्थी संप्रदाय धनीमानी लोगों की प्रतिष्ठा का पात्र बनता ही चला। उधर वस्तुवादिता निरन्तर अपने रहस्यमय खोल से खिसकती हुई, ज्ञान-विज्ञान के धरातल से नीचे धसती हुई, तर्क और साधारण ज्ञान से शून्य होकर अन्ध परम्परा की धारा बहाने लगी। यह अन्धपरम्परा रूपी रावण अब तक जीवित है, क्योंकि इस वैदिक अन्धपरम्परा की नाभि (मूल) में अमृतमय रहस्य की संजीवनी बूटी है। यह अन्धपरम्परा भले ही सबसे बड़े अज्ञान की खाइयों वाली हो, कितनी ही बुरी क्यों न हो, हम सबके सब अच्छी या बुरी तरह वेदों की प्राप्ति, इसी स्रोत से करके, इसके आजन्म ऋणी रहेंगे। यह अन्धपरम्परा अब पूर्व मीमांसा कहलाती है, पर ध्यान से देखा जाय, और समझने का थोड़ा भी प्रयत्न किया जाय तो जिसे लोग अन्धपरंपरा नाम देते हैं, उसके कर्मकाण्डी अभिनयवाद की क्रमिक शैली या विधान में ही वेदों के नीहारावृत अमृतमय रहस्य का कलश सुरक्षित मिलेगा। रहस्यामृत न सबके लिए हो सकता है, न सब उसके पात्र हो सकते हैं। यदि इस दृष्टिकोण से कर्मकाण्ड को शुश्रुवांस्, अनूचान, मनुष्य, देव, ब्राह्मण बहुत बुरा नहीं कह गये, केवल समझदारों पर दया कर छीटा कस गये कि तुम भी बह गये तो सचमुच में उक्त अन्ध परंपरारूपी पूर्व मीमांसा को वेदों की रक्षा, शिक्षा और प्रचार के लिए उनकी पूर्ण सम्मति प्राप्त है।

वेदों या वैदिक संस्कृति में सर्व प्रथम आन्दोलनकारी दो महापुरुष थे, महावीर जी और गौतम बुद्ध। ये चाहते थे, अन्ध दृष्टिकोण मिटे, पर स्वयं अन्ध दृष्टिकोण के केन्द्रीभूत बिन्दु बन गये। अब जैन

२—बौद्धों और जैनों ने क्या किया ?

और बौद्ध इन्हीं की पूजा, जप और ध्यान करते हैं। जिन और बुद्ध के उपदेश वेदों, उपनिषदों के भाषान्तर या अनुवाद हैं। उनके दर्शन सनातनियों के दर्शनों के आधार पर ढले हैं। उनकी गाथायें महाभारतादि पुराणों और वैदिक गाथाओं की अनु-

कृतियां हैं। अतः किसी भी समझदार जैन या बौद्ध को बिना सांख्य, योग या वैदिक दर्शन के समझे या पढ़े कभी शान्ति न मिली। उन्होंने वेदों के इस अंग को सदा अपनाये रखा। इसका बड़ा प्रचार किया। समस्त बौद्ध देशों में इन्हीं को दर्शन समझा भी जाता रहा। यही तो वेदों का सार है। जो इन्हें मानता है; वह सब वेदों को मानता है। बुद्ध और जिन के उपदेशों के प्रतीक शब्दों में सबके सब वैदिक हैं। 'निर्वाण', 'कैवल्य', 'योग' आदि कुछ को सांसारिक चोगा पहिना दिया है, यथा—असत्=शून्य, दुःख-वैराग्य,-कर्म, भाव-व्रत तत्त्व, देव इत्यादि। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्ध रहने वाले कपिलवस्तु के हैं, ज्ञान होता है 'गया' में क्यों? वहाँ कौन आश्रम या गुरु था? गय और गया नाम वैदिक हैं जिनसे गायत्री शब्द निकला है जो ज्ञान का आगार है। इसी ज्ञानागार को गौतम बुद्ध का ज्ञानोदय का मार्ग कहना तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल होगा। विशेषता यह है कि गौतम बुद्ध के ज्ञान को बोधि नामक अश्वत्थ वृक्ष से भी संबद्ध किया गया है। यह अश्वत्थ भी गीता और अथर्व का अश्वत्थ है तथा ऋ. वे. का वृक्ष है। इस संकेत से गौतम को अश्वत्थरूप सृष्टिवृक्ष का ज्ञान गायत्री ब्रह्म से होना कहने के स्थान में गया पीपल वृक्ष के नीचे ज्ञान हुआ, कहा गया है, जिस पीपल को बौद्धों ने बोधिवृक्ष नाम भी दिया है। बात तो यही है, लोग चाहे कुछ कहें, कुछ समझा करें, गौतम की माता माया है, कपिलवस्तु 'काम्पील' (वासिनी) का प्रतिरूप है। चक्र वैदिक चक्रों का, कमल पुष्कर का, कटोरे ऋभुओं के, पाँच शिष्य पञ्चजनों के, सब जातक वैदिक गाथाओं के रूपान्तर बुद्ध नाम से बना लिए गये हैं। इसी प्रकार जैनों ने भी अपने-अपने कथानक गढे हैं, जैसे ता० ३-७-६० के पत्र में छपी जैन अष्टानिका व्रत (अठाइ) की कथा में देवता का नाम नन्दीश्वर है, पर उसे जैन देवता कहा है। व्रत का विधान पूर्ण रूप से वैदिक है और यह नन्दीश्वर भी महादेव (सोम) का प्रतीक है। अन्तर केवल जैन चोला पहनाने का है। सती नारी की महिमा सती पार्वती की कथा का रूपान्तर है। इसी प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों की समस्त कथायें, उपदेश, ज्ञान और दर्शन आदि सब ठेठ सनातन धर्मी वैदिक ज्ञान और संस्कृति का नाम बदल कर, वेष बदल कर दूसरे रूप मात्र में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। रह गई बात दया की, वह भी बृहदारण्यक की 'द' त्रयी के दम, दान, दया के आधार पर उनका प्रचार नई भाषा और भावनाओं में किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब बुद्ध और जिन को वेदों में आस्था थी, उनका ज्ञान था, उनका प्रचार करना चाहते थे, तब ये क्यों इस प्रकार के पृथक दल बन पड़े या पृथक् धर्म बन गये? गौतम बुद्ध का बनारस के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ होने की बात प्रसिद्ध है। यह शास्त्रार्थ किस विषय पर हुआ होगा? निश्चय ही उस युग में प्रचलित आश्वलायन और कात्यायन प्रभृति के श्रौतसूत्रों की कर्मकाण्डी वेद व्याख्या ही उसका आधार

३—जैन और बौद्धों के पृथक् दल बनने का कारण

रहा होगा। इस प्रकार के ग्रन्थों ने वैदिक कर्मकाण्ड के धरातल में छिद्र कर, उसमें बड़ी-बड़ी पोले बना डाली थी। इन्होंने वैदिक हिंसा का लौकिक अर्थ लगाकर सचमुच में वेदों के साथ बहुत बड़ा अन्याय कर रखा है। वैदिक हिंसा तो वास्तव में भौतिक प्रभाव की हिंसा या दमन, दान, दया है। इसका दूसरा प्रसिद्ध नाम योग या सृष्टि है। वैदिक पशु, ये चलने-फिरने वाले पशु नहीं हैं। उसके पशु तो पुरुष पशु जैसे तात्त्विक पशु हैं। सब देवता पशु हैं, सब तत्त्व पशु हैं। उनका वध (हिंसा) नहीं, वरन् बन्धन, उनका आलभन (हिंसा) नहीं, उनके देवत्व का आसमन्तात् लभते—पूर्णप्राप्ति ही वैदिकी हिंसा कहलाती है। यही मत गौतम बुद्ध का रहा होगा, जिसके विरोध में वाराणसी का कोई विद्वान् कुछ न बोल सका होगा।

वैदिक कर्मकाण्ड के भीतर अमृतमय ज्ञान कलश है। अतः उसे समझने की आवश्यकता है न कि कुतर्कों से अपने को भ्रमजाल में डालने की आवश्यकता है। कहने का तात्पर्य है कि कर्मकाण्ड कदापि त्याज्य नहीं। कर्मकाण्ड के बिना वेद की सत्ता नहीं। वेद नाम तो शिक्षाकल्प (कर्मकाण्ड) आदि षड्दर्शनों के समुच्चयरूप मंत्र और ब्राह्मण दोनों के तादात्म्य को कहते हैं। गौतमादि ने कल्प भाग को दयानन्दियों की तरह त्याग देना चाहा था। गौतम और उनके अनुयायियों ने तत्कालीन राजकीय संबंध से अपना प्रचार चलाने की सबसे बड़ी राजनीतिक धर्मनीति अपनाई। इससे उन्होंने वैदिक साहित्य के आधार पर अपने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिख डाले। सैकड़ों श्रुतियां या तो स्वयं नष्ट हो गईं या नष्ट कर दी गईं। जिससे लोग जैन और बौद्धों के ग्रन्थों के विषयों को मौलिक कहने का साहस भर सकें या कह सकें। पर वेदों का कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। एक वेद, एक शाखा, एक ब्राह्मण ही पूर्ण वेद है। यदि एक वेद उपलब्ध है तो सम्पूर्ण वेद सब अंगों के साथ उपलब्ध हैं। इसीलिए आज यह कहने का साहस भी हो रहा है। गौतम के तीन सौ वर्ष बाद उनकी बातों को अशोक ने ठेठ सनातनी ढंग में ढालकर बौद्ध धर्म नाम से प्रसारित किया। अशोक चक्र, वैदिक चक्रों का कंकालावशेष है। चार सिंह चतुष्पाद ब्रह्म या पशु बन्धन हैं (अबध्नन् पुरुषं पशुम्), पशु भौतिकता का प्रतीक है। वह सिंह राशि (विषुवत्) से गरजना आरम्भ करता है, जहाँ गरजना आरम्भ किया नहीं, उसे वहीं बाँधकर रख देना मनुष्यत्व है, नहीं तो यह अन्नाद वृत्र है, सबको खा जाय। अशोक का धर्मचक्रोपदेश इसी औपनिषदिक, वैदिक भावनाओं पर आधारित है। गौतम ने अपना नाम 'बुद्ध' भी गीता के 'बुद्धियोग' के आधार पर या बुद्धियोग के ज्ञान से बुद्ध रखा, नहीं तो अन्य कई ऐसे नाम रखे जा सकते थे। गीता का वास्तिविक नाम बुद्धियोग ही है। जितने दिन या युग बीतते गये प्रचारकों के अपने-अपने प्रभाव से उक्त दोनों के मतों में निरन्तर विकास, ह्रास आदि होते-होते, ये अपने मूल स्रोत से इतने दूर भटक गये हैं कि अब कोई भी उनका स्रोत वेदों में होगा, सोच भी नहीं सकता। नागार्जुन और विश्वबन्धु पहले सब बौद्ध आत्मवादी

और सांख्यवादी थे। यह अश्वघोष (विक्रम से पूर्व द्वितीय शताब्दी) के बुद्ध-चरित से स्वतः स्पष्ट है क्योंकि उसमें गौतम बुद्ध को सांख्य-योग में दीक्षित और ज्ञाता बतलाया गया है (१२ वां सर्ग)। इसीलिए सनातनी लोग गौतम बुद्ध को अवतार मानते हैं। उनका विरोध तो बाद के अनात्मवादी बौद्धों से रहा और है, यही बात जैन मत पर भी घटित होती है। वे भी पहले आत्मवादी ही थे।

कर्मकाण्ड के त्याग की बात, यह अनुच्छेद्य अस्त्र है। इससे कोई जाति बरी रह ही नहीं सकती, न है, अन्तर इतना है। संसार की अन्य सभी जातियों के कर्मकाण्ड लौकिक आचार-विचार के प्रतिबिम्ब हैं तो वैदिक

४—कर्मकाण्ड का अमृत

कर्मकाण्ड की विधि में अलौकिक या आध्यात्मिक रहस्य का अमृत बसा है। यद्यपि अनेक विधान इसमें भी लौकिक हैं पर उनमें प्रायः अलौकिकता की पूर्ण छाप है, जिनमें कोरी लौकिकता, जैसे दहेज, तिलक आदि, ये सब सामाजिक अभिशाप और विधान की अतिशयोक्तियां हैं। कला और बौद्धों ने बुद्ध की पूजा-पाठ, जप का विधान, वैदिक कर्मकाण्ड की सजीव मूर्ति को अपनाकर निर्जीव मूर्तियों और भावनाओं को साकार रूप देकर, वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य पर बड़ी भारी चोट करके सनातनियों को भी लौकिकता के निम्न धरातल में घसीट ही डाला। वैदिक कर्मकाण्ड में मूर्तिपूजा का कहीं भी संकेत ही नहीं है। वहां सब पूजायें कुशादि निर्मित पवित्र ब्राह्मण (विष्णु, रुद्र, ब्रह्मादि), स्रुवा, हवनकुण्ड तक सीमित हैं। सब पूजायें और चिह्न स्पष्ट वर्णित हैं जिनके एक-एक अंग में रहस्य का भण्डार भरा है।

———

अध्याय ४१

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में वैदिक वातावरण और दर्शन

१—रामायण में वैदिक मानव पात्र

रामायण और महाभारत को हिन्दू जनता और हिन्दू संस्कृति दोनों ने क्यों इतना महत्त्व दे रखा है ? इसके अन्दर क्या रहस्य है ? राम, कृष्ण आदि इनके पात्र तो एतिहासिक हैं और लेखक भी एतिहासिक हैं, मानव हैं, आर्य सन्तान हैं। तब इनको भगवान् या अवतार नाम से क्यों पुकारा जाता है ? मानव होते हुए पूजा, ध्यानादि क्यों होते हैं ? क्या सचमुच में हमारे पूर्वज वीर पूजा ही वाले थे जो इस प्रकार आजकल का हास्यास्पद विषय और हेय स्तर की भावना को प्रतिष्ठा के मञ्च पर चढ़ा गये ? इन प्रश्नों को कैसे समझाया जाय, बड़ी विकट समस्या है। सबसे पहले यह बतला देना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत के मुख्य पात्र वैदिक काल के और वैदिक साहित्य के पात्र हैं। रामायण के वाल्मीकि ऋषि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाजादि सब ऋषि वैदिक मंत्र रचयिता और वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं। यह तो निर्विवाद है। राम, दशरथ, सीता, जनक नाम भी वैदिक हैं। वाल्मीकि के शरीर के चारों ओर वल्मीकि बनने की कथा श० ब्रा० में दी हुई च्यवन ऋषि की कथा का रूपान्तर है (श० ब्रा० ४-१-५)। राम का नाम 'वेन' के साथ १०।१२३।१ ऋ० वे० में आया है। वेन राजा को तत्त्वरूप में 'अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः' और 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेन आवः' में दिया है। दोनों स्थलों में ये सोम के प्रतिनिधि हैं। राम तो साक्षात् गायत्री ब्रह्म हैं 'तस्मादु ह तद्यः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते रमते (गायत्री) (श० ब्रा० ६।१।१।५)। गायत्री ब्रह्म ही राम है। इस राम को परशुराम का उत्तरवर्ती समकालीन माना गया है। परशुराम 'त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः' कहा गया है, यह 'भार्गवेयः रामः' (ऐ० ब्रा०) त्रिपाद् गायत्री ब्रह्म का ही रूप है। दशरथ नाम इन्द्र के रथ या देवरथ या त्रिनेमि चक्र का प्रतिनिधि बनाया गया है, त्रिनेमि चक्र त्रिपाद् ब्रह्म का क्षत्र रूप है। यही अश्विनी या सुदासादि का या सूर्य का रथ है। दशरथ नाम वेदों में, ब्राह्मणों में राजा नाम से मिलता है, ऋ० वे० १।१२६।४, उसको वाल्मीकि जी ने इस रहस्य के लिए स्वीकार किया। सीता का जन्म कुम्भ से होता है। यह कुम्भ द्रोण कलश है जिससे सोम रूप क्षेत्र का जन्म होता है। घड़ा त्रिपाद् ब्रह्मरूप ऋषियों के क्रमिक विकास का परिणाम है, भौतिक सृष्टि कामना, आसुरी कररूप रक्त है। सीताकर्षण, हल-प्रवहण ब्राह्मण ग्रन्थों का क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञानीय उच्चकोटि का कर्मकाण्ड है; श. ब्रा. ७।१।४।५, अथर्व ३।४।१७ आदि देखें। दशरथ दस तत्त्वों का सूर्य में परिणामीय

तत्त्व है और सूर्य का प्रतिनिधि होने से सूर्य वंशी कहा गया है। सूर्य आँख वाला अत्रि चतुष्पाद् ब्रह्म है। उसकी चार पत्नियाँ वाग्ब्रह्म की चार स्त्रियां हैं। इनके नाम भी कौशल्या (ब्रह्माणी), सुमित्रा (मित्राणी), कैकई (सोम्या) और दासी मन्थरा आसुरी प्रवृत्ति का वृत्र सम्बन्धिनी चतुर्थसप्तकीय शूद्रा है। चारों पुत्र अत्रि नामक चतुष्पाद् ब्रह्म के सूचक हैं। राम (ब्रह्म), लक्ष्मण (जीवात्मा), भरत (सोमात्मा दैवी प्रवृत्तिक देह), शत्रुघ्न वृत्रसम्बन्धी असुर देवता आदि के सूचक हैं। ब्रह्म के या चतुष्पाद् ब्रह्म के दो मुख्यरूप अक्षर ब्रह्म से प्रारम्भ हो जाते हैं। इन्हें दैवी और आसुरी सृष्टि कहते हैं। एक को देव या देवता दूसरे को असुर या दानव कहते हैं। ये दोनों भाई हैं। असुर बड़े भाई हैं। देव तो ठोक-पीट कर, समझा-बुझाकर, तपा-लचका कर बनाया जाता है। देवासुर का मध्यबिन्दु ही मानव या मानवता है। मानव भी चतुर्थपादरूप चतुष्पाद् ब्रह्म ही है। रावण की दशमुखता, वही दशरथ या देवरथ के दशतत्त्व हैं जो यहाँ केवल ब्रह्म के दस तत्त्वों के संकेतक हैं। अतः कहा है ब्राह्मणोऽस्य प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः' (अथर्व ४-१-६-१)। रावण की नाभि में अमृत बतलाया गया है, यह अमृत तृतीयपाद (देवरथ) अत्रि नामक नाभिका अमृत है 'त्रिपादस्या-मृतं दिवि' पु० सू०। रावण का नाम वेदों में नहीं आता पर रावण शब्द की व्युत्पत्ति 'रौतीति, रावयतीति रावणः जैसी पुराणकारों ने दे रखी है। वह पूर्ण वैदिक तत्त्व बृहस्पति, इन्द्र, महादेव और विष्णु की व्याख्या के 'वृषभो रोरवीति' आधार से वाल्मीकि जी ने नई उद्भावना करके तात्कालिक रावण द्रविण के तादात्म्य से देकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का दर्शन दिया है। ध्यान रहे द्रविणोदा अग्नि इसी भौतिक अग्नि का नाम है। 'बृहस्पते अति यदर्यो······ द्रविणं धेहि चित्रम् का द्रविण भी इसी भौतिक अनन्तता की प्रार्थना करता है। अथर्ववेद ने तो सोम का नाम 'मणि' या 'रत्न' इत्यादि स्पष्ट दे रखा है (४-१-१०)। सोम तो ग्रावाण देवता या प्रथम भौतिक पर्वत है। अतः भौतिक रत्न या धन की खान स्वयं हुआ। रावण का सीता को हरना, वाग्ब्रह्म को आसुरी रूप में स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त करता है पर वाग्ब्रह्म की दैवी सीता को आसुरी प्रवृत्ति स्वीकार नहीं है। राम को तीन अंश का अवतार माना या कहा जाता है। वह त्रिपाद् ब्रह्म का प्रतिनिधि है। 'राम' शब्द ऋ+आ=क्रम से प्रथम सप्तकों का समाहाररूप 'ओम्' का प्रतिनिधि है। अतः इसका जप ॐ के बराबर है। वाल्मीकि जी ने राम शब्द को गायत्री या ॐ का वाचक स्वीकार करने में जिस मरा से राम के उच्चारण की कथा को जन्म दिया है, उसका स्रोत भी गायत्री शब्द के त्रिगाय से गायत्री या गाय त्री शब्द की रचना 'गायत्री त्रिगमनात् विपरीता गायतो मुखादपतत्' ब्राह्मण वचन में है जिसके अनुसार यहाँ नये ढंग से नये शब्द में नई कल्पना की गई है (नि० ७-३-५)।

हनुमान बन्दर है, बन्दर नहीं, पुरुष पशु नामक प्रसिद्ध वैदिक तत्त्व का सुन्दरतम लौकिक स्वरूप है। पुरुष पशु का इससे अच्छा चित्रण कोई नहीं कर

सकता। वेदों में वृषाकपायि नाम इन्द्रपुत्र का है। वृषाकपि एक ऋषि मंत्र रचयिता का नाम है, सू० १०।९६ है, यह उसी का दूसरा नाम हैं। इन्द्र २७ वें तक है, पुरुष पशु २८ वां विवस्वान् हैं। यही वृषाकपि या हनुमान है। प्रथम पचीस तत्त्व शिर कहलाते हैं। यह उस शिर की हनु है। यह तत्त्व हनुमान कपि है। वृषा नाम इन्द्र, विष्णु, बृहस्पतिरूप चतुष्पाद् ब्रह्म का है, उसका यह पुत्र है। उधर अथर्ववेद शुनासीर की व्याख्या में शुनम् माने 'कीनाशाः (बन्दर) भी देता है। शुनम् नाम इन्द्र का है। शुनासीर वह है जो प्राणरूप बन्दरों का विकास करता है। सभी बन्दर प्राण या मरुत् रूप हैं। हनुमान भी प्राणरूप है। अतः उसे मारुति या पवनसुत कहते हैं। वह सूक्ष्म और विशाल दोनों रूप धारण करने में और उत्प्लवन क्रिया में इसीलिए स्वयं सिद्ध बतलाया गया है। वह द्रोण या पर्वत रूप भी है। द्रोण गिरि द्रोणकलश रूप सोम है। वही देहात्मा को संजीविनी या भौतिक बूटी या अमृत है। भूगोल में यह पर्वत अल्मोड़े जिले में रानीखेत के सामने दूनागिरि, द्वाराहाट में मिला है। वही इन्द्र प्राणकर्षक शुनासीर है, सीर सीता का भी नाम है (अथर्व ३।४।१० पूरा)। अतः वह सीता की खोज में लगाया गया। इतिहास में रामायण लेखक वाल्मीकि के समय में दक्षिण में कोई कपि नामक आदिवासी जाति रही होगी, बन्दर नहीं हनुमान भी दक्षिण देश का है। अतः यह वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का ही वाचक भी हो सकता है। जाम्बवन्त आदि पाँच अन्वेषक चतुर्थ सप्तक के पाँच प्रसिद्ध पशु 'पुरुष, पशु, अश्व, गौ और अजा के प्रतिनिधि हैं। रावण का पुत्र अहिरावण को भी रावणरूप वृत्त के अहिरूप की प्रधानता देकर वैदिक पुरुष पशु का आसुरी स्वरूप में वृत्रपुत्र, अहिपुत्र, अहिरावण नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार संपूर्ण रामायण की कथा वैदिक दर्शन के रहस्यों को एक नूतन काव्य में, नूतन संस्कृत में, एक नूतन ढंग से प्रस्तुत करती हुई, वाल्मीकि जी की प्रतिज्ञा है कि वे नष्ट हुई वैदिक श्रुतियों को खोज कर जनता के सामने उपस्थित कर देंगे 'अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव'। वाल्मीकि जी बड़े भाग्यशाली, वेदज्ञाता, वेदव्याख्याता और गम्भीर दार्शनिक थे। उनके समय के मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम राजा थे। उनका सहयोग वाल्मीकि को मिला। जिससे उक्त कार्य में सफल हुए। जिन युगों में राम और कृष्ण के जन्म की कथा कही गई है। वे युग तो वैदिक दर्शन के चतुष्पाद् ब्रह्म के चारपादरूप युग हैं जिनका समय हमारे पञ्चाङ्गीय युगों के ४३२०००० वर्ष के अनुकूल ठीक बैठता है। पर रामायण के लेखक वाल्मीकि और उनके राम-रावण के युग इतने प्राचीन नहीं सिद्ध किये जा सकते। इससे यह और पुष्ट होता है कि इस कथानक का मुख्य लक्ष्य वैदिक दर्शन का पुनरुद्धार है। रावणादि द्रविणों के पास विमान विज्ञान की जो वर्णना दी गई है, वह विमान विज्ञान भी द्रविणों का नहीं था। विमान तो वही देवरथ है, दैवी प्रवृत्ति है, पर भौतिक आराम के स्रोत धन, सोना, स्त्रियां, गाड़ी, नाव, विमान का एकत्र समावेश करके रावण को पूर्ण भौतिक दर्शाकर आसुरी प्रवृत्तिमात्र

की व्याख्या की गई है। आध्यात्मिकता से राष्ट्र या राज्य नहीं चलता। ये विमान और विज्ञान आर्यों ही के थे। उन्हीं ने इनका वर्णन दिया है। यदि दाक्षणात्य द्रविणों के पास ऐसे विज्ञानादि होते तो उनका कहीं कोई ग्रन्थ साहित्यादि मिलता। मोहेनजोदड़ो, हरप्पा भी आर्य सभ्यताऐं हैं, द्रविणों की नहीं। यह बताया जा चुका है कि भक्त के कारण देवता द्रविण नहीं बन सकता। रुद्र भयंकरता प्रधान जीवात्मारूप देवता है। रुद्र दैवी भयङ्करता के रूप हैं तो रावण आसुरी भयङ्करता के, दोनों रूप ब्रह्म ही के हैं। सुन्दरता के भी दो रूप हैं—ब्रह्म और सोम। अतः भयंकरता के साम्य से रावण को रुद्र का भक्त बनाया गया है। रुद्र आर्य वैदिक-दर्शन का प्रधान तत्त्व है। वह किसी भी प्रकार अनार्य देवता नहीं हो सकता। यह रुद्र वर्णन में दिया जा चुका है।

२—वाल्मीकि की व्याख्या चातुरी

वाल्मीकि जी ने अपने कथानक में लौकिक वातावरण का ऐसा पक्का पलस्तर लगा दिया है कि किसी को हवा भी नहीं लगने पाती कि वे क्या कह रहे हैं, किसका वर्णन कर रहें हैं। सारा ग्रन्थ गम्भीर नीहार के रहस्यों से ओतप्रोत होने के कारण अभीतक कोई इसके भेद को स्पष्टतया नहीं समझ पाया है। सनातनियों में राम पर जो इतनी गम्भीर श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और प्रेम है, वह परमात्मा की श्रुतियों से उपलब्ध है। यह वैदिक दर्शन का प्रतीक है। ऐतिहासिक राम की पूजा-भक्ति न उनके समय में थी, न अब है, लोग तो भगवान् को पूजते हैं। ऐतिहासिक राम तो खोल है। वर्णन या चर्चा का साहित्यिक आधार है। गीता ने, अतः मूर्ख आलोचकों को फटकारने और वैदिक रहस्यों का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट आलोचना की है "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" बेवकूफ लोग मुझे ऐतिहासिक, मानुषिक व्यक्ति समझते हैं। वे मेरा बड़ा निरादर करते हैं। अवतार मनुष्यों में नहीं होता, अवतार तत्त्वों में होता है। श्रीमद्भागवत ने सर्वप्रथम २४ अवतार दिये हैं। महाभारत में दशावतार का वर्णन किया गया है। २४अवतार गायत्री ब्रह्म के प्रतीक हैं। ५०अवतारों का वर्णन मार्कण्डेयादि पुराण पूरा कर देते हैं। सृष्टि के तत्त्वों का विकास ही सच्चा अवतार है। पुराण, रामायण, महाभारतकारों ने उक्त तत्त्वों का वर्णन अपने युग के महापुरुषों के नाम और इतिहास का आधार बनाकर किया है तो गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उनका मुख्य लक्ष्य वैदिक दर्शन की व्याख्या है। नाम और इतिहास केवल खोल और आधार हैं। वैदिक मंत्रों में भी इसी शैली का अनुसरण है। उन्होंने अपने युग के महापुरुषों के नाम और इतिहास को आधार बनाया है, जैसे वेन, सुदास, अश्विनी, पूषा, रुद्र आदि नाम ऐतिहासिक भी हैं, दार्शनिक, धार्मिक और वैज्ञानिक भी, चुने ही ऐसे नाम गये हैं। गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य—तदात्मानं सृजाम्यहम्' वाक्य हाहाकार के समय में महाविभूति के जन्म की बात कहता है। यह लौकिक अवतार है। लोक कल्याण कारक व्यक्ति मानव है। तीसरा अवतार परिवर्तन या सन्तान है। लौकिक विभूति के आधार पर अलौकिक या

वैदिक दर्शन के तत्त्वों का संकेत में वर्णन करना ही वास्तविक अवतारणा है, अवतार है, रहस्य है, संकेत है, ज्ञान है, विज्ञान है, और है ज्ञेय।

शन्तनु और भीष्मपितामह (देवव्रत) की कथा का स्रोत ऋ. वे. १०-९८ के आर्षिषेण और देवापि दो कौरव्य भाई हैं। महाभारत के इस कथा का विकास

३–महाभारत

कुछ हेर-फेर से किया गया है। मौलिक रहस्य खोने नहीं पाया है। इसी प्रकार द्रौपदी का नाम कृष्णा है जिसका जन्म अग्नि से हुआ, मार्कण्डेय पुराण ५–२५ देखें। कौरव, पाण्डव असुर और देवों के प्रतीक हैं। ये दोनों वर्ग सगे भाई हैं। राज्य की लड़ाई वेदि (भूमि) की लड़ाई है। असुरों ने देवों की भूमि छीननी चाही थी। उसे देवों ने जीता था, (श. ब्रा. १–३–४–१७)। महाभारत में कृष्ण, अर्जुन, कुरु, देवकी, वासुदेव, भरद्वाज, कण्व, शन्तनु, दुष्यन्त, भरत, नारद आदि नाम वैदिक पात्र हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृष्ण नाम यज्ञ के मृगरूप में लोप हो जाने की कथा दी है, श. ब्रा. १–१–४ पूरा। वेदों के मंत्ररचयिता एक ऋषि भी कृष्ण हैं। कृष्ण नाम वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का और अर्जुन नाम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का है—'अहश्च कृष्ण-महरर्जुनम्।" कृष्ण रात है, अर्जुन दिन। प्रथम दक्षिणायन है, द्वितीय उत्तरायण। कृष्ण भौतिकात्मारूप सारथी है और अर्जुन रथी त्रिपाद् रूप। यदु और कुरु आर्यों की प्रमुख जाति थी। देवकी का नाम कृष्ण की माता के स्वरूप के छान्दोग्य उपनिषद् ने कृष्णाय, देवकीपुत्राय' वाक्य द्वारा देतेहुए कृष्ण को इस देव की स्वरूपिणी वाग्ब्रह्माणी का पुत्र कहकर इन दोनों पर वैदिकता की मुहर लगा दी है। वासुदेव वसु नामक वैदिक देवताओं से दृश्यमान संबन्ध रखते हैं कि वसुदेवता ही वासुदेव हैं, विश्वेदेव रूप वसुदेवता ही वासुदेव हैं, यह संदेह हीन हो जाता है। शन्तनु नाम भी वैदिक है। शन्तनु को होता कहा गया है। शन्तनु छोटे भाई थे। देवापि बड़े भाई थे। वे पुरोहित बने और यज्ञ किया। ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति और दार्शनिक तत्त्व सिद्ध होते हैं। महाभारत के शेष नाम तत्कालीन महायुद्ध या घटना में भाग लेने वाले पात्रों के होते हुए भी उनका तादात्म्य वैदिक तत्त्वों के क्रमिक विकासों से, बड़ी चतुराई से, सामञ्जस्य पूर्वक बैठाया गया है। द्रुपद नामक शब्द वैदिक है। पाण्डु नाम 'गौरीर्मिमाय सलिलानि—' १–१६४–४ के अनुसार गौर वर्ण सूचक दिया गया है। तीन भाई धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर त्रिपाद् के प्रतिनिधि बनाये गये हैं, क्षत्ररूप में। धृतराष्ट्र के पुत्रों को आसुरी, पाण्डु-पुत्रों को दैवी वृत्ति का प्रतिनिधि बनाया है। पाँच भाई पञ्चपाण्डव, पञ्च पशु, पञ्चप्राण और कृष्ण, सोम हैं। स्पष्ट ही लिखा है कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र (यम पुत्र) अर्जुन इन्द्रपुत्र, भीम वायुपुत्र, कर्ण सूर्यपुत्र हैं। सूर्यपुत्र सोम और वृत्र हैं। यहाँ कर्ण को वृत्र प्रतिनिधि बनाकर उसे कौरवों में धकेल दिया है। उसकी जगह कृष्ण को स्थानापन्न कर दिया है। यहां राधा विशाखा का प्रतिनिधि है। राधा नाम नया नहीं है, वैदिक है (अथर्व १९–१मु८–३० 'राधे विशाखे' देखें'। रुक्मिणी नाम 'रुक्म्' सामवेदियों के ब्रह्म के नाम के अनुसार दिया गया है। कृष्ण के साथ जाम्बवन्त आदि पशु भी पञ्चपशु हैं।

महाभारत का मुख्य अंश और अर्थ है गीता जिसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। अतः उसमें पूर्ण वैदिक और औपनिषदिक दर्शन है। इसकी इस प्रकार की सत्ता इस बात का पक्का समर्थन करती है कि जिसके दार्शनिक भाग में केवल वैदिक दर्शन मात्र सर्वाङ्गीणरूप में उपनिबद्ध हैं। उसके कथानक भाग में कब और क्यों अवैदिक और कोरी ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश होगा? स्पष्ट है कि महाभारत को लिखते समय लेखक के मस्तिष्क में पूर्ण वैदिक दर्शन और गाथा आदि का घनघोर पर्जन्य मँडरा रहा था। उसने जो कुछ भी लिखा है वह वेदों के पदचिह्नों में चलकर, रहस्यवादी, स्पष्ट वादी दोनों शैलियों को पृथक्-पृथक् अपना कर और ग्रन्थ में लिखा भी है कि बहुत दिनों से नष्ट हुए ज्ञान का पुनरुद्धार किया जा रहा है "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।" अतः महाभारत का सच्चा इतिहास, वैदिक दर्शन, गाथादि के रहस्यों से नीहार रूप में सर्वत्र व्याप्त है। यह कहना तो स्वयं सिद्ध और स्वयं पुष्ट है।

४—गीता और वेद

समस्त उच्छृङ्खल और पीड़क राजाओं को परास्त कर उन्हें एक तन्त्र एक राज्य में बाँधना 'सूत्रे मणिगणा इव' और वैदिक 'आसन्दी' राजचक्र या वैदिक सम्राट्, भोज, स्वराट्, विराट्, राजा और 'पारमेष्ठ्यं महा-राज्यम्' के नामों से संगठित करने के समान वैदिक प्रयास ही हैं जिसके रहस्य को न जानने वाले भगवान् कृष्ण को बड़ा राजनीतिज्ञ कहते और मानते हैं। यह विदग्धता तो लेखक के मस्तिष्क की वैदिक वातावरण की प्रतिच्छाया रूप में लौकिक संस्कृत में प्रतिबिम्बित हो रही है। इस प्रकार संपूर्ण कथानक और वातावरण वैदिक वातावरण से आच्छादित है।

५आसन्दी ही धर्म-स्थापना है

अध्याय ४२

सर्व देव पिता मन्युः

मन्यु देवता, समस्त वैदिक देवताओं का परम पिता है। यह दैवी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम आसुरी स्वरूप और प्रलय से जागृत आदि ब्रह्म के सृष्टि करने की 'इच्छा रूप मन का प्रतिरूप' है। बृह० ने लिखा है 'तस्य शरीर एव सर्वं आसीत्' कि उसका शरीर ही मनः स्वरूप था। (मनुते मन्यते इच्छतीति (सृष्टि) मन्युः अथवा 'मनसि सृष्टिर्यस्य स मन्युः' मनसो भावो मन्युः, मन एवं सृष्टिर्यस्य स मन्युः)। दैवी, आसुरी वृत्ति किसी भले कार्य की सहायता या सिद्धि के निमित्त प्रयुक्त की जाती है। इसका पूर्ण भयंकर आसुरी रूप उत्तरार्द्ध में दृश्यमान होता है। यह मन्यु मनोवाग् पुराणों के त्रिवृत् से विकास पाता हुआ प्रत्येक देवता का स्वरूप धारण करता है। इन विकासों के लिए भी मन्यु नामक देवता का विवाह संकल्प नामक पुरुष की लड़की वाग् के साथ हुआ। इन दोनों से सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। तदनन्तर सृष्टि आगे चलाने के लिए क्रमशः देवता रूप तत्त्व उत्पन्न हुए। जितने भी तत्त्व जितनी देर या पश्चात् उत्पन्न हुए उनमें मन या मन्यु और संकल्प पुत्री वाग् की अनिवार्य पितृता रही। "कामस्तदग्रे समवर्त्तताविधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" "(ऋ० वे०) मन्त्र इसकी पुष्टि करता है और यह कथा अथर्व (११-४-१-१) ने इस प्रकार आरम्भ की है—"यन्मन्युर्जायामावहत्संकलपस्य गृहादधि" इत्यादि देवाः शीर्षक में पूरा उद्धरण है। संकल्प का उदय मन या मन्यु के पश्चात् होता है। सङ्कल्प का परिणाम वाग् है। अतः वह उसकी पुत्री कही गई है। मन्यु और वाग् के संयोग से 'प्राण' नामक तृतीय 'वत्स' उत्पन्न हुआ, तीनों का त्रिवृत् ब्रह्मा या कः प्रजापति या अग्नि या इन्द्र या ब्रह्मणस्पति या हिरण्यगर्भ सभी सर्वा देवताओं का श्री गणेश करता है। यह त्रिवृत् प्रत्येक तत्त्व का उदय करेगा, अतः यह मन्यु इन्द्र भी है, वरुण भी, जातवेदस् भी है, होता भी है, और विष्णु भी है, सभी देवता मन्यु हैं। इसके अस्त्र और शस्त्र-सायक हैं, वज्र हैं, ओज है, जिनसे वह भौतिक बहुल शत्रुओं का विनाश करता है। इसका प्यारा नाम सहुरि है, वज्री है, आसुरी क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए इससे दक्षिणार्ध में जाने की प्रार्थना की गई है, जैसे—यस्ते मन्योऽविधद्वज्र-सायक सहओज पुष्यति विश्वमानुषक्। साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन्युं विश ईळते मानुषीर्या पाहि नो मन्यो सजोषाः॥ अयं ते अस्म्युपमेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः। मन्यो वज्रिन्नभिषाया ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥ अभिप्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि॥" (ऋ० वे०

१—मन्यु देवता की उत्पत्ति, विवाह और सन्तान

१०-८३-१,२,६,७) इस प्रकार अखिल देवता मन्यु ही मन्यु है, काम (संकल्प) ही (संकल्प या) काम है या प्राण ही प्राण हैं या इन तीनों का एक त्रिवृत् है। प्रत्येक तत्त्व त्रिवृत् है। जब प्रत्येक तत्त्व मन मय है, तो वह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म तत्त्व सा है। अतः लिखा है "एको बहूनामसि" उपनिषदों और ब्राह्मणों में जो 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' या 'यदृच्छा' वाक्य मिलते हैं वे सब इस मन्यु देवता के 'मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्' की सूचना देते हैं। इन वाक्यों में मन भी है, 'काम' भी है और बहुत्वापेक्ष प्राण भी हैं। प्रलय से जाग्रत् या एकाएक स्वयं उद्बुद्ध हो जाना कि मुझे तो ऐसी सृष्टि करनी है; मन है, उसका पक्का प्रण संकल्प है। दोनों के योग से प्राणरूप कः प्रजापति या काममय, दोनों मिलकर मन्युमय हो गया जैसा कि बृह-उप- ने लिखा है।

२—मन्यु देवता का वर्णन

मन्यु देवता रथ सहित (देवरथ से) आक्रमण करता है। उसके साथ प्राण रूप मरुद्गण बड़ी प्रसन्नता से तीक्ष्णायुधों सहित चल पड़ते हैं और वे अग्निरूप नरों के समान आगे बढ़ते जाते हैं। यह अग्नि देवता अपने स्वरूप में अग्नि के समान तेजस्वी सेनानी प्रतीत होते हुए पुकार सुनते ही आ जाता है। वह अनेकों में से ऐसा देवता है जो प्रत्येक व्यक्ति से पृथक्-पृथक् युद्ध करता है। उसकी जय घोष सब मिलकर एक साथ करते हैं। इसका प्रिय नाम सहुरि है। हम तुम्हारे मूल स्रोत को भी भली-भांति जानते हैं। युद्ध में बिखरे धन को बराबर बाँट कर दो और शत्रु भयभीत होकर पलायित हो जावें। जैसे "त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः। तिग्मे एव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि··· एको बहूनामसि मन्यु वीळितो विशं विशंयुधये संशिशाधि। अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥ ससृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः। भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ (ऋ.वे-१०-८४-१,२,७,७) अतः वैदिक दर्शन में मन्यु मुख्य तत्त्व और देवता है। सर्वप्रथम देवता है। सर्व देव पिता है। शेष अगले देवाः शीर्षक में देखें।

———

अध्याय ४३

देवाः

मनुस्मृति (१२–११९) ने लिखा है कि जितने भी देवता हैं, वे सब आत्म रूप है; जैसे "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।" इन देव रूप आत्माओं में सब कुछ प्रतिष्ठित है। देव शब्द की व्युत्पत्ति 'दानात्,

१–देव तत्त्व की व्याख्या

दीपनात्, द्योतनात्, द्युस्थानो भवतीति वा' कही गई है। देव ही देवता कहलाता है। देव या देवता दोनों शब्दों में उक्त सभी भाव एकत्र रूप से समाविष्ट मिलते हैं। जहां देव या देवता शब्द आर्य जाति के उच्च कोटि के पुरुषों के लिए आता है, वहां इस शब्द का लौकिक अर्थ लगाना चाहिए। वास्तव में वेदों में वर्णित जितने देवता या देव हैं वे तो दार्शनिक तत्त्व हैं, प्रायः पूर्वार्द्ध के तत्त्व हैं जिनका स्वरूप शुक्र ज्योतिष्मान् है, उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की ज्योति धूमिल है क्योंकि वह चान्द्रमास, अयन वा दक्षिणायन कहलाता है। यह दक्षिणायन 'सप्तद्यून् के अन्तर्गत आ जाता है। देव या दैव, अदृश्य या अदृष्ट व्यापक तत्त्व हैं। इनका विकास देवन, परिवेदन या रोदन भी कहलाता है। जैसे छान्दोग्य कहता है "स य एतं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदँ रोदिति, सोहम नमेवं वा दिशां वत्सं वेद मा पुत्र रोदँ रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्ये" (१–१५)। रुद्रों के बारे में सर्व प्रसिद्ध रोदन है "प्राण वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति" (छा-उप- १–१६)। वेद शब्द का विपरीत ही शब्द देव है। जो वेद है वही देव हैं, जो कुछ वेदों में है वह सब कुछ देवों में है। वेद और देव दोनों एक ही हैं, ज्ञानी को 'ज्ञान' वेद मिलता है, शेष को वेद का उलटा देव–या पूजा। देवों का प्रतिबिम्ब वेद है तो वेदों का प्रतिबिम्ब देव, यजुर्वेद ने इन वेद और देव शब्दों को इसी भाव में रखते हुए देव को 'वेद' नाम से पुकार कर लिखा हैं "वेदोऽसि देव ! येन त्वं देव वेद, देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः' (श-प-ब्रा- १-७-३-२३ और यजु २–२१)।

२–देव तत्त्व का मूल कारण

देवता या देव, तत्त्व है। इसका एक प्रमाण इसकी उत्पत्ति की नीचे दी जाने वाली कथा है। इसके अनुसार सब देवता उस देव के विकास हैं, जिस देव या देवता को 'मन्यु' कहते हैं। मन्यु नामक देवता वैदिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह मन्यु एक देवता नहीं, उतने हैं जितने देवता हैं, प्रत्येक देवता का जन्म कारण मन्यु ही है। इसीलिए मन्यु को विश्वेदेवताओं में स्थान नहीं मिला है। प्रत्येक देवता मन्यु की एक नवीन प्रति है। मन्यु की व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है। यहां संदर्भ के लिए आवश्यक तथ्य दिये जा रहे हैं। प्रलय काल में ब्रह्म सब प्राणों को 'स्व' में आहूत करके 'स्वाहा' रूप में, स्वप्न रूप में

रहता है। जब वह अवधि पूरी होने पर जाग्रत् हो पूर्व सृष्टि का स्मरण कर तद्वत् रचना की मनसा करता है (एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय इत्यादि), उसका इस प्रकार का 'मन' ही 'मन्यु' नाम से पुकारा जाता है। 'मनसो भावो मन्युः'। "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।" (ऋ. वे, १०-१२९-४)। यह सच्चा प्रमाण है। यह मन्यु जब सृष्टि रचना का दृढ सङ्कल्प कर लेता है तो कामना या कामायनी या वाग् से इसका संसर्ग आवश्यक हो जाता है। अतः मनोवाक् के द्वन्द्व से या मन्यु और काम (ना) से कः नामक (हिरण्यगर्भ) प्रजापति की (प्राण रूप में) सृष्टि होती है। अब 'मनोवाक्प्राणानां 'त्रिवृत्' प्रस्तुत हो गया और आगे देवताओं का विकास चल पड़ता है। इसका वर्णन अथर्ववेद (११-८-२-१,२,३,४) में दिया हुआ है,

जैसे "यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥"
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥
"दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्॥"
प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥"

उक्त मनोवाक्प्राणमय ब्रह्म ने अपने समुद्रमय शरीर में तप किया। तब प्रथम हिरण्यगर्भ सा बना। उससे सर्वप्रथम दश देवता–प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति (अन्तरिक्ष भूमि), व्यान, उदान, वाङ् और मन उत्पन्न हुए—ये सब महान् या व्यापक तत्त्व थे, सब एक साथ उत्पन्न हुए। इनके पश्चाद् बृहस्पति, धाता, इन्द्र, अग्नि, अश्विनो, त्वष्टा आदि देवता उत्पन्न हुए। जब सब देवता उत्पन्न हो चुके तब वे 'सब भौतिक मर्त्य तत्त्व के शरीर में, प्रविष्ट हुए। अतः इन सब देवताओं के समाहार रूप एक शरीर में प्रविष्ट रूप को पुरुष या विराट् पुरुष कहते हैं। आगे का मन्त्र देखें)। ऋ० वे० १-११६-१९ में उषा को भी देवमाता कहा है, जिसका सम्बन्ध भौतिक देवता या विश्वेदेवताओं से है।

ब्राह्मणों और पुराणों में मन्यु नामक देवता का सम्बन्ध केवल 'रुद्र' की उत्पत्ति से बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्द में रुद्र की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि ब्रह्मा को क्रोध (मन्यु) आया, नाक से रक्त निकला तो उस रक्त से रोता रुद्र निकला। यहां पर 'मन्यु' शब्द को भौतिक (क्रोध) अर्थ से प्रयुक्त करते हुए भी उक्त पुराण रुद्र की उत्पत्ति वैदिक मनस्तत्त्व रूप मन्यु से बड़ी चतुराई से दर्शाया है।

३–ब्राह्मण और पुराणों में मन्यु

देवताओं में कुछ सर्वा देवता हैं, कुछ विश्वेदेवता, अन्य एक देवता मात्र। सर्वा देवता नामक तत्त्व वे हैं जो सब देवताओं का एक साथ प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इनमें से अग्नि, विष्णु, इन्द्र और सोम मुख्यतः सर्वा देवता हैं। इसलिए वेदों में अग्नि, सोम इन्द्र के अनेक सूक्त और मन्त्र हैं। ये सब देवताओं की व्याख्या करते हैं, उनका वर्णन ऐ० ब्रा० १-१-१ और श॰ प॰ब्रा० १-५-२-२०,२१, २२ में दिया मिलता है। विश्वेदेवता वे देवता हैं जो चतुर्थ सप्तक में भौतिकात्मा स्वीकार करते हैं, जैसे ब्रह्मणस्पति, बृहस्पस्ति, रुद्र, सरस्वती आदि सब विश्वेदेवता हैं। जब रुद्र अग्नि का रूप है तब रुद्र भी सर्वादेवता है। शेष क्षेत्रीय देवता हैं। अलग-अलग सप्तकों के देवता हैं या भूर्भुवःस्वः महः जनः तपः सत्यं, सात लोकों में से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् वासी हैं।

४–देवता विभाजन

देव या देवता कुल तैंतीस हैं। जैसे "ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥" (ऋ० वे० ८-२८-१) 'ये स्थ त्रयश्च त्रिंशश्च' (ऋ० वे॰ ८-२८-२) इन तैंतीसों को एक साथ एक आसन या बर्हिः या आसन्दी में भी प्रस्तुत करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब भौतिकता रूप शरीर को (आसन्दी रूप) में धारण करते हैं। उस भौतिकात्मा की प्राप्ति के पश्चात् सृष्टि के विकास का दूसरा दौर या भौतिक विकास का दौर चलता है। अतः उक्त ऋचा में लिखा है कि देवता 'द्विता' दो प्रकार से विकसित होते हैं (पूर्वार्द्धीय-उत्तरार्द्धीय–आध्यात्मिक और भौतिक)। इन देवताओं के विभाजन कई प्रकार से किये गये हैं। सबसे पहिले, वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति या वषट्कार (८×११×१२×१×१=३३) नामक विभाजन सर्व प्रसिद्ध है, जिनमें वसुओं को प्रातः सवन, रुद्रों को माध्यन्दिन सवन और आदित्यों को तृतीय सवन या सायं सवन कहते हैं। इनका दूसरा विभाजन त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों के अनुसार ११, ११, ११ के तीन पादों में भी किया जाता है जैसे "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥" (ऋ० वे० १–१३९–११)। त्रयो देवा एकादशस्त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे देवा देवैरवन्तुमाम्॥" (शुक्ल यजुर्वेद० २०-११)। इसके अतिरिक्त इनको 'सप्तद्यु लोकों और सप्तर्षियों में भी विभक्त करते हुए लिखा है। "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे॥" (ऋ०वे० ८-२८-५)। यहां पर 'सप्त' शब्द, सप्त सप्तकों के लिए आया है। उन्हीं सप्त सप्तकों को सप्तद्युम्नानि या सप्त दिवलोक कहा है। उनके मुख्याधिष्ठाता ब्रह्मों को ऋषि, सातों के मुख्याधिष्ठाता ऋषियों को 'सप्त ऋषयः' कहा है। इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी श्री शोभा और शक्ति से सम्पन्न हैं। वेदों में जितने भी देवता हैं उन सबका अन्तर्भाव उक्त सब मुख्य विभाजनों में हो जाता है, इनसे बाहर कोई नहीं। जितने असुर या दानव हैं वे देवताओं के प्रतिपक्ष हैं। देवताओं के जन्म की कथा दी जा चुकी है कि वे मन्यु के वाग्

५–देव संख्या

सम्बन्ध से प्राण रूप में उत्पन्न होते हैं। प्राणों का नाम 'सु' है। अतः सु से उत्पन्न होने वालों को सुर या सुरा (देव या देवता) कहते हैं। पर इन्हीं प्राणों का दूसरा स्वरूप 'असु' है। असु भौतिकता प्रधान प्राण है। अतः असु से उत्पन्न तत्त्वों को असुर या भौतिकता प्रधान कहते हैं। सुर और असुर में आध्यात्मिक (दैवी) और भौतिक (आसुरी) वृत्तियों का अन्तर है। मूल दोनों का एक है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने बारंबार लिखा है "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ज्येष्ठाश्चासुरा कनीयांसो देवा" और 'सोऽसुरानसृजत असोरसुरानिति"। वैदिक आर्यों के देवता और असुर दोनों अपनी ही आर्य जातियां हैं। आसुरी वृत्ति वाले ज्ञानमार्ग विरोधी, ब्रह्म, (वेद) विरोधी, देववाद विरोधी (अध्यात्मवाद विरोधी) थे और भौतिकता में सने शिश्नदेवा अब्रह्मचारी आचरण के थे। जिनका उल्लेख वेदों में कई स्थलों में आया है। अनार्य जातियों के तो उन्होंने स्पष्ट नाम दिये हैं। वे हैं–पक्व, भनना, भनन्ताली, विषाणी, शिवा, किराता इत्यादि (ऋ. वे. ७-१८-७ और अथर्व)। गीता के चार मनुष्यों में प्रथम मनु मन्यु ही है। इसीलिए ऋ. वे. ८-३०-२ में देवताओं को मनु देवता कहा है जैसे "मनोर्देवा यज्ञियासः;" (महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा–१०···)। चौथा मनु वह है जिसके बारे में श, प, ब्रा. ने 'मनोरवसर्पण' या नाव में बीज बचा कर सुरक्षित होने की कथा दी है (मनु शीर्षक देखें)। यह भी मन्यु का ही एक रूप है। रुद्र, पार्वती, दुर्गादि देवता आर्य देवता हैं। असुर तो देवतावाद के विरोधी थे, वे देवताओं को मानकर क्यों गलती करते। ऋ- वे- १० ५२-६-और ३-१०-९ में देवताओं की कुल संख्या ३३३९ दी है। जैसे "त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्नि त्रिंशच, देवा नव चासपर्यन्। औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्माआदि द्धोतारं न्यसादयन्त ॥" पूरा सूक्त 'देवाः' शीर्षक में आता है।

वैदिक सोमीय देवताओं में न कोई अर्भक है, न कुमार है, न युवा, न जरा युक्त। सबके सब महत् या 'व्यापकता' रूप के हैं। जैसे "नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहान्त इत् ॥" (ऋ- वे-८-३०-१)।

६–देवताओं का स्वरूप ये सोमीय देवता हैं। अतः प्रस्तुत सूक्त में इन देवताओं को एक नये नामसे पुकारा गया है। वह है 'वैश्वानरीयाः'। जैसे "ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत। (ऋ- वे- ८-३०-४) वैश्वानर देवता वैश्वानरीय भौतिकात्मा सोमात्मा देवता है। ये आग्नेय देवता हैं।

उक्त भेदों के अतिरिक्त 'साध्या' देवता या देवगण हैं। देवता दो प्रकार के हैं; साध्या और सिद्ध। साध्यों को 'पूर्वदेवाः' कहा है, जैसे "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।" (ऋ. वे- १-१६४-५०)। साध्य देवताओं के मूल या छन्दों के बीज पहिले प्रस्तुत थे। उन्हीं बीजों से यज्ञ या सृष्टि के यज्ञ या विकास की आयोजन की गई। पहिले साध्यों का विकास नाक लोक या पूर्वार्द्ध से किया गया। फिर आगे साध्य देवता के छन्द ही हैं उन्हीं से देवताओं की स्थिति निर्धारित की जाती है। पादों और अक्षरों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के कई आख्यान हैं। छन्दों रूप साध्या

देवता संख्या में १२ बतलाये गये हैं। इनका नाम पुरुष सूक्त में दो बार आया है, एक दे दिया गया है; दूसरा यह है "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।" ये देवता, साध्याः और ऋषयः हैं। छान्दोग्य उप० ने साध्य देवताओं को पांचवां अमृत बतलाया है (छा० उप० १-१०)। इसी प्रकार अन्यत्र श. प. ब्रा. १०-२-२-१, २, ३ ने साध्या नामक देवों को 'प्राणा' बतलाया है "प्राणा वै साध्याः"। जहाँ पर साध्याः ऋषयः माने प्राणाः (श, प, ब्रा ४, ६, १, ५) दिया है, इन ऋषियों को देवताओं ने प्रथमजा कहा है 'ऋषयस्त्वा प्रथमजाँ देवेषु' (यजु १९-१०)। अथर्व १०-५१०-३०, ३१ में लिखा है कि साध्याः देवताओं ने 'वशा का दुग्ध पान किया। अथर्व ९-५-१०, २४ में लिखा है कि विराट् पुरुष साध्या देवताओं का अधिराज था। इस प्रकार साध्या नामक देवगण प्राणनामक तत्त्व के प्रतीक हैं। इनका सम्बन्ध सृष्ट्यादि काल में मौलिक रूप में वर्णित किया गया है। ऋषियों के बारे में पहिले लिखा जा चुका है। ऐ०ब्रा (१-३-१६) में साध्या देवता माने छन्दांसि लिखा है 'छन्दांसि वै साध्या देवाः' देवता नाम आदित्यों का और ऋषि नाम अङ्गिरस ऋषियों का है। इन्होंने पहिले अग्नि में अग्नि का यज्ञ किया और स्वर्ग प्राप्त हुए, पु०सू० १६ देखें।

इस अखिल सृष्टि को इन्द्र का एक बृहत्माया जाल वर्णित करते हुए अथर्ववेद साध्य देवताओं का सम्बन्ध अन्य देवताओं से बिठलाते हुए कहता है कि

७—बृहत्मायाजाल

साध्य देवताओं ने उस जाल का एक दण्ड उठाया, रुद्रों ने दूसरा दण्ड, शत्रुओं ने तीसरा, आदित्यों ने चौथा और विश्वेदेवता ऊपर से सब को ओज से पकड़े रहे और उन्होंने ही आसुरी सेना का बीच से हनन करके अङ्गिरसों (सात ऋषियों) को भूमि (चतुर्थ सप्तक) में आने की सुविधा प्रदान की। जैसे

"साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेकमुद्यत ॥
विश्वेदेवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥"

(८, ४, २, १७, १, ३)। यहां पर छान्दस साध्या देवता हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण ने लिखा है कि साध्या देवताओं ने छन्दों को अमृत लाने भेजा (८, ४, १)।

देवताओं के गण निम्न नाम और संख्या में प्रसिद्ध हैं :—

८—विभिन्न प्रकार के देवों की संख्या

आदित्या द्वादश प्रोक्ता विश्वेदेवा दश स्मृताः ॥ वसवश्चाष्ट संख्याताः षट्त्रिंशत्तुषिता मताः। आभास्वराश्चतुष्षष्टिर्वाताः पञ्चाशदूनकाः। महाराजिकनामानो द्वे शते विंशतिस्तथा ॥
साध्या द्वादश विख्याता रुद्रश्चैकादश स्मृताः ॥
विद्याधराप्सरायक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

अर्थात्—आदित्यों की संख्या १२ है, विश्वेदेवताओं की १०, वसुओं की ८, तुषितों की ३६, आभास्वरों की ६४, वातों की ४९ और महाराजिकों की २२०,

साध्यों की १२ और रुद्रों की ग्यारह, देवताओं की ये संख्यायें प्रामाणित नहीं जचतीं। जै० ब्रा (१, ३, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६) ने विश्वेदेवताओं की संख्या ३२, साध्यों की ३६, मरुतों की ४०+१० आदि मरुत्रुद्रों की २४, आदित्यों की ४८, वसु २४, भृग्वङ्गिरसों की २८ दी है। ये सब सर्वा देवता हैं। अन्यथा एक देवता में वे उक्त संख्याओं के चौथाई क्रम में (८, १२, १, ११, ९-७) हैं। अहोरात्र आदि संवत्सर ब्रह्म के जितने भी विभाजन हैं वे सब देवता हैं, जैसे ऋतु, अयन आदि। पञ्चपशु तत्त्व यज्ञ प्रभृति के और योग के देवता हैं। छन्दोमय पशु जिन्हें साध्या देवता या सुपर्णा कहते हैं वे भी सब के सब देवता हैं। पञ्चपर्वा के सब अंग भी देवता हैं। यहां तक कि उलूखल, मुसल, दृषदुपल को अध्यात्म शरीर का प्रतीक बनाकर देवता माना है। धेनु, पिता, शुनी आदि भी देवता हैं। गौरी, सलिल आदि अक्षर ब्रह्माणियां हैं। ये सब तीन प्रकार के हैं, अर्भक, युवा, वृद्ध (ऋ० वे० १-२७-१३)। इनमें पूर्वार्द्धीय पलित या वृद्ध हैं। गर्भीय अर्भक पर सोमीय सदा अमर युवा रहते हैं।

वेदों में गन्धर्व नाम नक्षत्रों का है 'वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः' (यजुः)। नक्षत्रों के पति यक्ष नाम ब्रह्म का, पुण्यजनादि लोगों के भी ब्रह्म विषयक संकेतावलियां हैं। अप्सरायें, आपोब्रह्म सागर की सृष्टि हैं। 'रक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ वेदों (ब्राह्मणों) में 'रक्षक' रखा है। किन्नर किम्पुरुष या पुरुष पशु का प्रतीक बानर का प्रतीक है। भूत नाम आदित्यों का है। अतः उक्त सब देव वाचक शब्द हैं और वे सब देव योनियां ही कहलाती हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद ८-४-२, ३, ४, ५ के पूरे सूक्तों को देख लें। सप्त ऋषि भी इन्हीं देवताओं के अन्दर आ जाते हैं (सप्तर्षयः देखें)।

सब देवता सर्वा देवता हैं। उक्त देवताओं की स्तुति में निम्नलिखित प्रसिद्ध मंत्र प्रचलित हैं :—(स्वस्तिवाचन) "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥१॥ शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥२॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥१॥ देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्त्तताम्॥ देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥२॥ ऋ. वे. १, ८९, ८, ९, १, २।

९ देवताओं की स्तुति और उसका अर्थ

अर्थ—हे देवताओं ? हम कानों से शुभ कल्याणकारी वाणियाँ सुनें, आंखों से शुभ कल्याणकारी बातें देखें और हम सदा यज्ञ कर्त्ता बने रहें। परन्तु इसके साथ-साथ देवताओं की पूर्ण उपासना के योग्य जो पूर्णायु है उसे हम दृढ़ अङ्गों प्रत्यङ्गों और शरीर से और पुत्रपौत्रादि से युक्त होकर प्राप्त करें ॥ ॥ हे देवताओं! हम आप लोगों (की पूजा सैकड़ों वर्षों करते रहे) के पास सैकड़ों वर्षों तक (पूजा करते रहें)

जिस उपासना में लगे, आप लोग हमारे शरीर को परिपक्व करें—जरा युक्त होने दे, जब उस अवस्था तक पहुंचने पर हमारे पुत्रादिक भी पौत्रादिकों से युक्त होकर पिता या पितर कहलाने लग जावें, और तब तक कई पीढ़ियों को देखने तक बीच ही में हमारे गमनशील जीवन की आयु की हिंसा न करो, या हमें तब तक दीर्घायु बनाओ। जब तक हम आगे की कई पीढ़ियों को फलते-फूलते न देख लें। ।।२।। हे देवताओं ! हमें ऐसे-ऐसे शुभ कल्याणकारी यज्ञों के करने की नित्य सुविधा प्रदान करो जो सर्वतः सार्वजनीन और अमंगल हीन हों, फलानुमेय (अज्ञानफल) हों तथा ऐसे हों जो अन्य प्रकार के शुभ यज्ञों के सूत्रधार बनें (नित-नित नये-नये शुभ यज्ञ होते रहें), जिस प्रकार भी हमारे घरों में नित्य उन्नति या वृद्धि होती रही वैसे यज्ञ हमें करने का शुभ अवसर मिलता रहे, वे यज्ञ हमें दिन-प्रतिदिन सुरक्षित करते रहें और हमारे कल्याण में अनलस, अप्रमादी और सदा तत्पर रहें ।।३।। हे देवताओं ! आप लोगों को सुमति या दैवी वृत्ति की बुद्धि हमें प्राप्त हो, और सरल पथगामी आप लोगों का यह दान हमें सदा उपलब्ध होता रहे। आपलोगों से प्राप्त दानी हम आप लोगों की सखा भाव की मैत्री प्राप्त करें और इस कार्य के सम्पादन की जीवनी के लिए हमारी आयु को सदा बढ़ाते रहो ।।४।।

नदी, पर्वत, ग्रावाण, पर्जन्य, शकुनि, सुपर्ण, समुद्र, वृक्ष, वनस्पति आदि नाम उक्त देवताओं में से किसी एक के या गणों के हैं। ऐसे ही अक्ष, मण्डूक, कपोत आदि देवता भी हैं। इनमें से प्रत्येक का द्विधा व्याख्यान है।

१० नदी आदि देवता

एक लौकिक है दूसरा वैदिक या दार्शनिक। उक्त ३३ देवताओं का लौकिक आधार खगोल या वैदिक ज्योतिष और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक संस्कृति है, जिसमें वैदिक दर्शन कूट-कूट कर भर रखा है, जिसके सामने लौकिक आधार पृष्ठतः और दर्शन ही दर्शन अग्रतः मिलता है। वही ढूढ़ना है। देवता कभी नहीं सोते 'न वै देवा स्वपन्ति' जाग्रतिदेवाः' (श. ब्रा., प्र. ३, २, २, २२; २, १, ४, ७) देवता वाग्रूप हैं, श्री रूप हैं, सत्य संहिता रूप हैं (जै. उ ३-४-८; शप २-१-४-९; ऐ १, ६) देवता यज्ञिय कहलाते हैं; संवत्सर देवताओं का गृहपति हैं। देवताओं का जन्म संवत्सर है। संवत्सर देवताओं की पुरी है। नक्षत्र उनके घर हैं, नर ग्राम हैं (श० ब्रा १, ५, २, ३; ताण्ड्य २, ३, ६, ५, ७, ६, ५; १, ५, २, ताण्ड्या ६, ९, २)।

अध्याय ४४

देवपत्न्यः

देवताओं और देवपत्नियों में तात्त्विक रूप से बहुत बड़ा अन्तर है और इनका यही तात्त्विक अन्तर, इन्हें पति और पत्नी रूप में विभक्त भी करता है।

१. देवताओं की पत्नियां

देवपत्नियों में बहुत कम का नाम गिनाया गया है, जैसे इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी राट्, रोदसी और वरुणानी। जो स्वतन्त्र स्त्रियां हैं जैसे वाग्, वाग्धेनु, गौ या गौरी, वे दो प्रकार की हैं पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय। परन्तु जिन्हें देवपत्नी नाम से पुकारा गया है वे केवल उत्तरार्द्ध का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। ये सब भौतिक हैं। भौतिक शरीर को वैदिकों ने स्त्री रूप में मानकर आध्यात्मिक शरीर को पुरुष या पति मानने की एक शैली बना रखी है। इसी बात को वे पिता-पुत्री के रूप में भी वर्णित करते नहीं हिचके, क्योंकि इसमें वास्तविकता और सत्यता अधिक है। जाया के माने या ततः जायते सा जाया' होता है, जो उसी से उत्पन्न हुई है वह दुहिता है पर उसका नाम जाया या पत्नी भी है। यह पति-पत्नी रूपक का काव्यत्व रूप दर्शन है। देवताओं की पत्नियों में उषा, कुहू आदि भी आती हैं। ये भी भौतिक ही हैं। पिता-पुत्री रूप वर्णन को भी उन्होंने पति-पत्नी के रूप में वर्णित कर दिया है। तत्त्व यह है कि पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक सृष्टि रूप पिता या पति है तो उत्तरार्द्ध भौतिक सृष्टिरूप पत्नी या पुत्री। बिना दोनों के संयोग के सृष्टि आगे नहीं चल सकती। अतः अपने से उत्पन्न होने के कारण पुत्री कह कर भी उसका वर्णन पत्नी जैसा ही करना अनिवार्य हो गया।

२. देवपत्नी मंत्र

देवपत्नी के सम्बन्ध में दो मंत्र पृथक् मिलते हैं (१) देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥ (२) उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥' ऋ० वे० ५-४६-७,८; अथर्व ७-३-११-१,२। इन मन्त्रों में ही स्पष्ट शब्दों में इन देव पत्नियों को 'पार्थिव' (भौतिक पूर्ण) और आपोमय (सोमात्मारूप) कहते हुए, इनसे प्रार्थना की गई है कि ये सुहवनीय होवें, कल्याणकारी बनें तथा हमारी रक्षा की सदा कामना करती हुई हमें अपत्य जनन और उनके संरक्षण के योग्य बनावें। अर्थात् इन देव पत्नियों के सोमरूप आत्माओं से सृष्टि नानारूपता तथा अन्नमयता को प्राप्त होवे। ग्ना छन्दों की देवपत्नी, इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी की पत्नी राट् नाम्नी, रोदसी द्यावा की पत्नी, (द्यावा रुद्र है) और वरुण की पत्नी वरुणानी जाया रूप में ऋतुकाल के अनुसार कामनाओं को पूर्ण करें। अपने-अपने ऋतु में प्रत्येक अपना फल

दें या विकास को प्राप्त होवें। ग्ना नाम छन्दों का है और छन्दों की पत्नी छान्दसी भी ग्ना कहलाती है। वे गायत्री प्रभृति हैं। 'गणनीया इति ग्ना' जैसे श. प. ब्रा ६-४-२-७ लिखता है "ग्नास्त्वा देवीः विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्पचन्तूख"इति ग्रा हैतामग्रे देवी···त्वत्पेचुः तानि ह तानि छन्दांसि एव, छन्दांसि वै ग्ना छन्दोभिर्हि स्वर्गंल्लोकं गच्छन्ति छन्दोभिरेवैनामेतत्पचति ॥" छन्दों को ही देवपत्नी कहा गया है 'छन्दांसि देव्यः' (श. ब्रा. ९-५-१-३९) छन्दांसि वै देविका' (कौ १९-७)।

३. देवताओं के सम्बन्ध में व्याख्याताओं का भ्रम

आज तक जितने भी आचार्य वेदों की व्याख्या कर गये हैं उन सबने प्रायः यही समझा और माना है कि वेदों में जितने भी देवताओं का वर्णन है, वे सब के सब पृथक्-पृथक् रूप से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र से हैं। अतः यास्क ने इन सब देवताओं की समष्टि को 'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' (७-५) कहकर देवताओं को नरों के राष्ट्र की जनता रूप या व्यक्ति रूप देवता समझा तथा यह भी साफ कह दिया 'संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वंचोपेक्षितव्यम्' कि देवताओं की एक स्थान में एक साथ हवि आदि भोगादि बातों की जहाँ चर्चा है; उसकी उपेक्षा की जाय। इसको प्रामाणिक मानकर पाश्चात्यों ने सब देवताओं का एकत्र सम्मेलन का नाम 'पैन्थियन आफ गाड्स' या देवताओं का झुण्ड नाम देकर उनका विभाजन पाँच प्रकार से—पारदर्शी, अस्पष्ट पारदर्शी, अपारदर्शी, कर्ममय और भावमय' नाम से कर दिया। उधर यास्क ने नैरुक्त मत देते हुए लिखा है कि देवता तो तीन ही हैं 'तिस्र एव देवताः'। वे तीन देवता अग्नि, वायु और आदित्य ही हैं। जिनके क्रमिक स्थान पृथिवी, अन्तरीक्ष और द्यु हैं। ये सब भयंकर भ्रम हैं।

४. सब देवता मिलकर ब्रह्म का एक शरीर बनाते ह

यह निश्चित रूप से जान लीजिए कि वैदिक ऋषि अनेक देवताओं के उपासक नहीं थे। उन का देवता या तत्त्व केवल एक था, वह था ब्रह्म। उस आदि ब्रह्म से परमाणु बनने तक जितने भी विकास होते हैं, वे विकास उस ब्रह्म रूप एक शरीर मात्र के हैं। जो विकास होते हैं, प्रत्येक अङ्ग में एक साथ वैसे ही होते हैं जैसे हमारे शरीर के अङ्गों के होते हैं। जैसे ब्रह्म रूप अनन्त भूमिक क्षेत्र में सर्व प्रथम अग्निरूप मुख और उसके शरीर वाक् का प्रादुर्भाव होता है, तब उसी भूमि में वायु आत्मा रूप प्राण शरीर का, जिसे ब्रह्म की नाक कह सकते हैं, यही इन्द्र है। इसके बाद आदित्यात्मा रूप तेज और उसके शरीर रूप चक्षु का विकास होता है, तदनन्तर श्रोत्र रूप शरीर तथा दिशा रूप शब्द सरस्वती का, फिर आपो रूप सोम या चन्द्रमा या मन का, फिर नाभिरूप उदर या अन्तरिक्ष, भौतिक स्पर्श रूप त्वक्, तदनन्तर अन्य अङ्ग रूप देवताओं का, जैसे ब्राह्मण, क्षत्र, विट्, शूद्र को, मुख, बाहु, ऊरु और पाद कहा गया है। मुख में ब्रह्म, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वाग्पति, विश्वकर्मा, त्वष्टा, गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र,

वसिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरस, वृत्र, अहि हैं। बाहु में—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, ईशान हैं। ऊरु मे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत्, विश्वेदेवता बाद में प्रजा, पशु, पक्षी, नदी, वृक्षादि हैं। इनका विकास संवत्सर ब्रह्म के अक्षर रूप अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि विभागों तथा इनके देवताओं के क्रम से होता है। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य विकासों को ही त्रिपादमृत तथा वसु, रुद्र, आदित्य नाम ३३ देवताओं का दिया है। अन्य देवता इन्हीं देवताओं के विभिन्न नाम हैं। जैसे नदी, पर्वत, वृक्ष, समुद्र, सुपर्ण, छन्द, पशु, गौ आदि इन्हीं देवताओं के दूसरे नाम हैं। दूसरे ढंग की वर्णना देते हैं। यदि ऐसा होता तो सभी देवता अग्नि मुख से हवि न पाते, खाने-पीने वाला केवल प्राण रूप इन्द्र ही क्यों होता? सबको अपने-अपने मुख से ही खाना चाहिए था। पर मुख केवल अग्नि के पास है या अग्नि ही मुख है और देवताओं के पास मुख नहीं है। चन्द्रमा मन के पास जिह्वा नहीं है। चक्षु के पास न जीभ है, न कान, न नाक। अतः सब मिलकर एक ब्रह्म के ही अंग हैं।

अध्याय ४५

अष्टवसु

वसु शब्द की व्युत्पत्ति श. प. ब्रा. (१४-६-९) ने निम्न प्रकार से दी है "एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसवः।" कि इनमें सृष्टि का मूलधन (बीज) सुरक्षित रहता है और ये अपने में उस मूलधन (सृष्टि बीजों) को निवसित रखते हैं। अतः वसु कहलाते हैं। जिनके मूलबीज इनमें रहते हैं उनके नाम भी श. प. ब्रा. ने वहीं पर दिये हैं" अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमा श्च नक्षत्राणि च।" (ये दोनों उद्धरण बृह. उप २-९-३ में भी मिलते हैं)। 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र' ये आठ अष्टवसु हैं। इन्हीं से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ (दिव), चन्द्रमा (सोम), अश्विनी आदि नक्षत्रों का क्रमिक विकास और सृष्टि के सब तत्त्वों का विकास होता है। महाभारत ने इनके नाम ये दिये हैं— "ध्रुव, अध्वर, सोम, अप्, अनिल, अनल, प्रभात और प्रत्यूष" यह क्रम प्रामाणिक है। पञ्चपर्वा विद्या में ये अष्ट वसु, पञ्चनदी या सप्तनदी के मूलस्रोतरूप अष्टवसुधारा भी कहलाती हैं जिसका कुछ संकेत ऋ. वे. २-७ सूक्त में 'श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर। वसो! पुरुस्पृहं रयिम्॥ १॥ विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्याइव। अति गाहेमहि द्विषः॥ ३॥ त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥ ५॥" मन्त्रों से किया हुआ मिलता है। पञ्चपर्वा विद्या के पर्वतों में ब्रह्मणस्पति को प्रथम पर्वत का विकास कारक और उस प्रथम पर्वत को वसुमान् तथा मधुधार वाला कहा है, जैसे "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं विपर्वतम्। मधुधारम्।" (ऋ. वे. २-२४-२)। इसका समर्थन यजुर्वेद मंत्र 'वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारं' करता है। वसओं का अग्निरूप में भी सर्वत्र वर्णन मिलता है। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः" (ऋ. वे. ५-२४-२)। इसीलिए अग्नि का नाम 'विभावसु है। (ऋ. ५-२४-७) 'स्वस्ति वाचन् (५-५१-१३ ऋ. वे.) में भी वसुओं का आह्वान अग्निरूप में 'वसुरग्निः स्वस्तये' किया है। और ऋ. वे. ६-५०-१५ में वसुओं को अग्निहुताश, अधृष्ट और सबके स्तुत्य देव कहते हुए लिखा है "ग्ना हुतासो वसवोऽधृष्टा विश्वे स्तुतासो भूता यजत्राः।" और ऋ. वे. ६-५१-५ में इन्हें भाई कहा है "द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः। विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"। इसमें गिनाये सब देवता वसुओं में ही आते हैं। यह तो प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें अदिति को वसुओं की दुहिता और रुद्रों की माता कहा है 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाम्' इत्यादि (ऋ. वे.

१—वसु की व्युत्पत्ति, व्याख्या और संबंध

८-१०१-१५ तै. आ. ६-१२-१)। यहां अदिति को गौ- कहा है। अतः वसुदेवता वाग्धेनु देवी के भी पिता हैं। इन्द्र वसुओं से वासव कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्य भी वसु ही हैं और वासव भी कहलाते हैं। सब देवता वासवीय देवता हैं, ये सबके मूल देवता हैं।

वसु देवताओं का कोई पृथक् सूक्त नहीं है। इनका वर्णन विशेष कर विश्वे-देवताओं के सूक्तों में आता है। अतः ये विश्वेदेवता भी हैं तथा सर्वा देवता भी हैं।

२—वसुओं का स्थान निर्धारण

इनका वर्णन धन, रत्न, वसु, द्रविण शब्दों में किया गया है तथा विश्वेदेवताओं में जिन्हें वसु कहा है या अष्टवसु बीजरूप कहा है, उनके वर्णन के सूक्तों में जैसे अग्नि, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदि में मिलता है। वसुओं का सप्तक सर्व प्रथम सप्तक है। इनके सप्तक का या प्रथम सप्तक का नाम 'अन्तरिक्षषद्' है। इस स्थान का निर्णय सर्व प्रसिद्ध ऋचा 'हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष-सद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसद्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।" (ऋ. वे. ४–४०–५) से बिलकुल असंदिग्ध रूप से हो जाता है। लोगों ने वेदों में आये 'पारिभाषिक अन्तरिक्ष शब्द को लौकिक अर्थ वाले अन्तरिक्ष का समकक्ष या समान समझ कर बड़ा भारी अनर्थ ढा रखा है। यह वैदिक दर्शन का एक बड़ा पेचीदा और बड़ा महत्त्व पूर्ण शब्द है। इस वैदिक पारिभाषिक शब्द से संकेतित षद् के पहिले 'शुचिषद्' है। पीछे वेदिषद् इसके बाद दिव या दुरोणषद् है। शुचिषद् को 'द्यौ' कहते हैं। दिव या दुरोण तृतीय सप्तक है। वैदिक दर्शन में पृथिवी चतुर्थ सप्तक है। दिव के बाद पृथिवी है। लौकिक अन्तरिक्ष तो पृथिवी और आकाश के मध्य को कहते हैं, पर वैदिक अन्तरिक्ष द्यौ और वेदिक या शुचिषद् और वेदिषद् के मध्य में है, सर्वादि सप्तक है। द्यौः तो सप्तसप्तकों का शिर या मूल या ब्रह्म या हंस का (अष्टम आदि स्थान है) जिसे शुचिषद् भी कहते हैं।

वसुओं के बारे में दो ऋचायें मिलती हैं (७) 'ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥" (ऋ. वे. ७-३९-३)। यहां पर एक बात फिर

३—वसु विषयक मंत्र

बतलानी पड़ गई है जिस प्रथम सप्तक को 'अन्तरिक्षषद्' (वसुओं की सद्) बतलाया है उसी का दूसरा नाम 'भू' लोक है, ब्रह्मलोक है। वेदिषद् का द्वितीय सप्तक का नाम भुवः है। दुरोण तृतीय का नाम स्वः या दिव है। चतुर्थ का महः, फिर जन, तपः और अन्तिम सप्तम सत्यम् लोक है। लोग इस बात को भी नहीं जानते तभी इतनी बड़ी गड़बड़ी करते हैं। "वसु देवता भू नामक लोक में रमण करते हुए शुभ्र वर्ण स्वरूप में अपने अन्तरिक्ष-षद् में ही रमण करते हैं। ऐसे ये वसुदेवता इस अग्निरूप दूत के उत्तरोत्तर विकास के लिए अधोऽधः मार्ग या सीढियों या पीढियों को बड़े वेगवान् बनावें। हमारी प्रार्थना सुन लें॥" (२) "सु गावो देवा सदनमकर्म य आजग्मुः सदनमिदं जुषाणाः।

जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ।।" (यजु. ८-१८) । हे वसुदेवताओं ! आप लोगों के विकास के मार्ग सुगम कर दिये गये हैं । इन यज्ञों का आस्वादन करने के लिए आप आइये । यहां हवि पाकर और सोम पीकर, हमें अपने सब वसु या धन देते जाइये ।" अथर्व १०-५-१०-३०, ३१ में लिखा है कि वसुओं ने वशा के दूध का पान किया । वसुओं की दिशा प्राची है जिसे राज्ञी कहते हैं (श. प. ब्रा. ६:१-१५) । अथर्व के पुरुष सूक्त में 'साध्या सन्ति देवाः' के स्थान में 'साध्या वसवश्च' पाठान्तर है । अतः इनका और ऋषियों (प्रथमजा) का स्थान एकसा हो जाता है अर्थात् सब तत्त्व ऋषि हैं । सब तत्त्व वसु हैं । आठ से वसुओं की, सात से ऋषियों की व्याख्या की जाती है ।

अध्याय ४६

रुद्र और एकादश रुद्र

आजकल के पौराणिक वातावरण के विद्वानों के सामने रुद्र देव या तत्त्व पर वैदिक दर्शन का प्रकाश डालना साम्प्रदायिकता या धार्मिकता पर आक्रमण सा समझा जाना असम्भव नहीं है। पुराण भी शैव हैं, सम्प्रदाय भी शैव हैं जिनका द्वन्द्व प्रायः वैष्णव पुराणों और सम्प्रदायों में लगभग एक हजार वर्ष से चलता चला आ रहा है। धन्य है, स्मार्त सम्प्रदाय–पञ्चदेव पूजक सम्प्रदाय—जो गणेश, सूर्य, विष्णु, रुद्र और शक्ति पाँचों देवों को एक साथ मानता है। यह बहुमत सम्प्रदाय है। स्मृतियों का संरक्षक होने के कारण इसमें सबसे अधिक वैदिकता झलकती है। आजकल इन साम्प्रदायिकों ने विभिन्न प्रकार के शैव और वैष्णव दर्शनों का निर्माण कर लिया है जिनका आज की विद्वत्परिषद् में बड़ा भारी मान भी है, स्थान भी। विद्वानों की विचार धारा की क्रमशः शतमुखी अवनति का सबसे ज्वलन्त प्रमाण उस भावना में केन्द्रित मिलेगा। जिसमें वे ब्रह्मा को सृष्टि कारक, विष्णु को सृष्टिधारक और रुद्र को संहारक नाम से पुकारने के अभ्यस्त हैं। इनके वास्तविक विकास क्रम तथा निरूपण देने में नितान्त असमर्थ, उदासीन और विमुख से लगते हैं। सुलझी गुत्थियों को ऐसा उलझा दिया है कि उनको पुनः स्वस्थान स्थापित करना एक दुःसाहस का सा कार्य प्रतीत होता है। एक बात निश्चित है कि पुराणों ने इन देवताओं की जो व्याख्यायें दी हैं उनमें पूर्ण वैदिकता है पर उनकी भावना की जो व्याख्या ये साम्प्रदायिक विद्वान् करते आ रहे हैं वे ही सदोष हैं। निर्मूल हैं और भूलों के भूलभुलैये हैं।

१-वैदिक और पौराणिक रुद्रवाद में अन्तर

वेदों में कुल तैंतीस देवता हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति या वषट्कार। इनमें विष्णु का कहीं नाम नहीं है। विष्णु आदित्यों में सातवें आदित्य 'सविता' का नाम है। रुद्र एक नहीं ग्यारह हैं। विष्णु तत्त्व से सात तत्त्व पहिले तक, और आदि से नवें से उन्नीसवें तत्त्व तक के तत्त्वों का नाम है। जैमिनीय ब्राह्मण (१-३५) ने रुद्रों की संख्या ४४ दी है। ये रुद्र सर्वा-देवता के प्रतीक हैं। प्रजापति या ब्रह्मा एक है पर वह अनेक तत्त्वों का प्रतिनिधि है। दस प्रजापतियों की पौराणिक बात सच्ची है। प्रजापति शब्द वा ब्रह्मा आदि संदर्भ सापेक्ष है। इसी प्रकार विष्णु यद्यपि २६ वाँ तत्त्व है पर प्रथम से २६ तक के सब २६ तत्त्व विष्णु नाम से पुकारने की एक शैली 'विष्णुः सर्वा देवता;' (ऐ-ब्रा-१-१-०) के आधार पर रही। इसीलिए 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' में वामन रूपी विष्णु के प्रथम तीन सप्तक रूप पदों के अतिक्रमण की कथा कही गई है। 'वामन'

२-वैदिक रुद्र अग्नि सर्वा देवता हैं

५२ अंगुल का प्रतीक है। ५२ अंगुल ५२ तत्त्वों का प्रतीक है। २६ पूर्वार्द्ध के २६ उत्तरार्द्ध के। ये हुए कुल ५० ही; २६ वां उभयनिष्ठ जो ठहरा। यह वैदिकों की अंगुलि सरणि की तत्त्व गणना की अपनी अलग शैली है। यह शैली पञ्चपर्वा विद्या के अन्तर्गत आती है। जहां पर 'विष्णुः सर्वा देवता' नामक प्रामाणिक वाक्य लिखा है वहीं 'अग्निः सर्वा देवता' वाक्य भी (ऐ. ब्रा. १-१-१-) लिखा है। रुद्र अग्नि का प्रतीक है अग्निर्वै रुद्रः (श. प. ब्रा. ५-३-१-१०) 'यो वै रुद्रः सोऽग्निः' (श. प. ब्रा. ५-२-४-१२-ताण्ड्य १२-४-२४)। अतः जिस प्रकार ५० तत्त्वों की व्याख्या विष्णु नाम तथा उसकी कथाओं से की गई है। उसी प्रकार उन पचासों तत्त्वों की व्याख्या रुद्र या अग्नि रूप में भी की गई है। उनके कथानक नाना प्रकार के हैं जिनकी वैदिक लोग विष्णु या रुद्र नाम से वर्णना कर गये है। उन्हीं की व्याख्या प्रजापति या ब्रह्मा या विकास रूप में भी की गई हैं। अतः सभी ५० तत्त्व ब्रह्मा भी हैं, विष्णु भी, रुद्र भी हैं। इनका अन्तर केवल वर्णना और कथानकों मात्र का है जिनका जाल पुराणों में "विस्तार पूर्वक बिछा हुआ है पर साथ में यह भी निश्चित है कि ब्रह्मा या प्रथम प्रजापति का स्थान प्रथम तत्त्व का पूर्वार्द्ध है, रुद्र का स्थान नवम तत्त्व है, विष्णु का ३६ वाँ ही है। ये निश्चित निर्णीत स्थानीय तत्त्व हैं। जिनमें से (सोम) ब्रह्मा* पुष्करवासी, रुद्र हिमालय, मानस सरोवरवासी और विष्णु समुद्रवासी, शेषशायी इत्यादि ढंग से पञ्चपर्वा विद्या के आधार पर ही घोषित किया गया है। पञ्चपर्वा विद्या के ज्ञान के समूल ह्रास हो जाने से लोगों में इन देवताओं के बारे में बड़ी-बड़ी शंकाये और कई लोग तो बड़ी-बड़ी कल्पनायें करते भी बाज नहीं आते। जैसे रुद्र को एक 'लामा' कहना वा समझना। ऐसे लोग इतिहास भी भूल जाते हैं कि लामाओं की संस्था का जन्म विक्रम की बारहवीं शताब्दी के लगभग से हुआ था, वह भी बौद्धों के अनुरूप।

कुछ लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश को न जाने क्यों और कैसे एक दूसरे से छोटा या बड़ा कहने का भी साहस करते हैं। ये आपस में छोटे-बड़े किस नाते से माने जाँय समझ में नहीं आता। इनके निश्चित स्थलों के अनुसार तो

३—ब्रह्मा, विष्णु, महेश का अन्तर

प्रचलित भावनाओं के विरुद्ध ही निर्णय होता है। सूक्ष्मता या आध्यात्मिकता बड़प्पन का लक्षण है तो रुद्र बड़े हैं, स्थूलता या भौतिकता यदि बड़प्पन है तब विष्णु बड़े हैं। सर्वा देवता सिद्धान्त से दोनों एक से हैं, पर वैदिक वर्णना उक्त स्थानानुसार ही है। और कुछ लोग विष्णु को सांख्यमतानुसार सत्त्व गुण का प्रतिनिधि, ब्रह्मा को रजोगुण का, और रुद्र को तमोगुण का संकेतक भी प्रायः समझा करते हैं। परन्तु स्थानानुसार तथा

* पुष्करपर्णमुपदधाति। इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत् ता अब्रवीत् बिभेमि वै पुरं मे कुरुत, स योऽपां रस आसीत् तमूर्ध्वं समूदौहस्तामलै पुरमकुर्वन् तद्यदस्मै पुरमकुर्वन्तस्मात्पूष्करं पूष्करं ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः। (श-प-ब्रा-७-४-१-१७)

उक्त विचारधारा के एकदम विपरीत बैठता है। रुद्र ही सत्त्व गुण हो सकता है और विष्णु ही तमोगुण, भौतिक प्रथम अणु या देहात्मा। रजोगुण आदि ब्रह्मा नहीं हो सकता। उसका आरम्भ २४ वें तत्त्व में होता है। अतः यह रजोगुणी ब्रह्मा, अत्रि २४ वाँ ऊँकार हो सकता है जिसे प्रजापति नाम से भी पुकारते हैं। प्रथम २३ तत्त्व तो विरजाः विमनाः कहलाते हैं (विश्वकर्मा सूक्त १०-८१ देखें)।

४–रुद्र के बारे में नवीन रोशनी वालों के मत का खण्डन

रुद्र की व्याख्या वैदिक भावना और दर्शन के अनुकूल करने से पहिले दो एक बातों पर प्रकाश डाले बिना नहीं रहा जा सकता। वाल्मीकि रामायण के रावण के शिव पूजक होने से, आजकल दाक्षणात्यों में शैवमत अधिक प्रचलित रहने से, मोहेजोदड़ो तथा हरप्पा में रुद्र और पार्वती के प्रतीक मिलने से, यह निर्धारित कर लिया कि मोहेजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी, कई विद्वानों ने यह निश्चित रूप से कहा है कि शिव और दुर्गा आदि देव तो वैदिक आर्यों के देवता हैं ही नहीं। ये तो यहाँ के जंगली आदिवासी या द्रविणों (रावणादि) के देव हैं। इसमें जो कसर शेष रह गई थी उसे एक बड़े विद्वान् ने गणेश को अनार्य देवता सिद्ध करके नागरीप्रचारिणी सभा बनारस से मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त कर लिया है। रुद्र और काली ब्रह्म के दो स्वरूप सुन्दर भयंकरों में से रौद्ररूप हैं। असुर भी सुन्दर भयंकर रूप वाले होते हैं जैसे गुलाब आदि और सूर्यादि जो सुन्दर भयंकर हैं। रावण आसुरी भयंकरवादी है। अतः भयंकर दैवी शक्ति का उपासक है। इसमें क्या सोच-विचार की आवश्यकता है? चतुष्पाद्ब्रह्म देखें। लोगों की समझ में न गणपति आया, न इन्द्र। उक्त कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि इन्द्र का नाम 'पूर्भिद्' नगर भेत्ता है। उसने द्रविणों के मोहेंजोदड़ों आदि नगर नष्ट-भ्रष्ट किये तब मेल के लिए उनको देवता मान लिया। वेदों में इन्द्र को रुद्र का पुत्र कहा गया है। रुद्र का भोग इन्द्र मुख से (हविरूप) में होता है। तब वह इन्द्र अपने पिता का पूर्भिद् कैसे हो सकता है। वेही समझ सकते हैं। दूसरी शोचनीय बात यह है कि अनार्यों या असुरों को तो देवता हीन (अदेवयून्) कहा है। अतः अनार्यों के देवताओं की तो कभी भी सत्ता ही नहीं स्थापित होती, तब ये रुद्रादि देव अनार्यों के कैसे हो सकते हैं, (ऋ. वे. १०-२७-३) "नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्। यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥" बतलाया गया है जो विष्णु है वही रुद्र है। वर्णनान्तर का भेद है जिसे ब्रह्मा की सरस्वती (वाग्) कहते हैं उसी को गायत्री की वाग् या विष्णु की वाग् (लक्ष्मी) या रुद्र की वाग् (दुर्गा) हैं। यहाँ तत्त्व एक है। शब्द ब्रह्म में उसकी व्याख्या रूपान्तरों या कथान्तरों का नामान्तरों में कर देने से वे आर्य-अनार्य नहीं बनते। नरबलि, अश्वबलि, अजाबलि तो पारिभाषिक पद हैं, शब्दब्रह्म परक हैं। अबध्नन् आलभते के सीधे अर्थ बाँधना और प्राप्त करना ही है। मारना और हनन करना ठग अर्थ हैं। ये योग से सम्बन्ध रखने वाले शब्द हैं। गणपति तो बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति आदि ब्रह्म है। वाग्पति या ब्रह्मपति या तत्त्वपति

भी है। वसुरुद्रादित्यों के गणों का पति या प्रथम अवशिष्ट अर्क रूप तत्त्व है। उसका हस्तिशिर उत्तरार्द्ध के उस 'पुरुषपशु' का प्रतीक है जो २७ वाँ तत्त्व है। मोहेजोदड़ों-हरप्पा की संस्कृति और रावण सब आर्य सभ्यता के हैं। किसी में दैवी गुण अधिक हैं, किसी में आसुरी। आसुरी वृत्ति दैवी वृत्ति से ज्येष्ठतमा है। दैवी वृत्ति तो लाई-बुलाई, साधी और सिखाई-पढ़ाई जाती है। सभी देवताओं को असुर नास से पुकारा गया है, विना आसुरी वृत्ति के तिनका नहीं हिल सकता है। दैवी वृत्ति आत्मप्रधान है, आसुरी शरीर प्रधान। प्रथम अभौतिक या आध्यात्मिक है, द्वितीय भौतिक। इनका यही सामञ्जस्य ही देवासुर संग्राम है। इसी संग्राम को राम-रावण युद्ध द्वारा दिखलाया गया है, रावण, 'वृषभो रौखीति' महादेव के आसुरी रूप का प्रतिनिधि है। वह रोखीति है। यह रौतीति रावण है ? वाल्मीकिजी ने वेद व्याख्या की है। उनकी प्रतिज्ञा है "अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेद श्रुतीमिव।" दक्षिण भारत में शैव मत का प्रचार १४ वीं शती से हुआ, उसका सम्बन्ध आर्यकालीन वैदिक सभ्यता से कैसे हो सकता है, दोनों में चार हजार वर्ष का अन्तर है।

रुद्र का सम्बन्ध द्वितीय सप्तक से है जिसका आरम्भ नवम तत्त्व से होता है। इसका मीठा नाम 'कुमार' है। रुद्र का द्वितीय सप्तक द्वितीय पाद या द्विपाद कहलाता है जिसे दो अरणियाँ या दो अश्म (पत्थर) नाम से भी पुकारते हैं। इन्हीं अरणियों या * अश्मों (अश्मनोः अरण्योः) से परिजातवेदा अग्नि का आविर्भाव माना जाता है फिर इससे जातवेदा या अतिथि नामक अग्नि का (२) "कुमारो नवमो रुद्रः" (श. प. ब्रा. ६-१-१३-१०; ६-१-३-९-१०), (३) "अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुधितो गर्भिणीषु।" (ऋ. वे. ३-२९-२; कठ १-४)। (४) "प्रथमं समिद्धो यो धूप्यत इव तर्हि भवति रुद्रः, अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः। अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति उच्चैर्धूमैः परमया जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः। अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः स शाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः।" (श. प. ब्रा. २-२-३-९-१०-११-१२)। इन उद्धरणों में अग्नि का क्रमिक विकास दिया गया है जिनमें सर्वप्रथम स्वरूप 'धूपिताग्नि' का नाम रुद्र है। कर्मकाण्ड में सबसे पहिले धूप, फिर दीप तब नैवेद्य का क्रम इसी रुद्र, वरुण, इन्द्र और सोम (नैवेद्य) के लिए विहित किया गया है और यज्ञ में आग जलाने में द्विपाद् को द्विसमिध् कहते हैं। अतः मन्त्र कहते हैं "समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्" (ऋ. वे. ८-४४-१)। समिध अरणियाँ हैं। उनसे प्रथम रुद्र रूप धूपिताग्नि तदनन्तर अतिथि नामक (जातवेदाग्नि)

५-रुद्रका स्थान-विकास और अर्ध नारीश्वर

---

† "यो अश्मनो अन्तरग्निं जजानस जनास इन्द्रः" (२-१२-३) (ग्रावाण देवता ऋ. वे. १०-९-४९ देखें। रुद्र रूप यह अग्नि पुरुष की तरह सहस्राक्ष, सहस्रशीर्षा, सहस्रपाद्, शतप्राण, शतव्यान युक्त वर्णित की गई है (यजु. १७-६०, श.प.ब्रा. ९-२-१-५१)।

* इसीलिए उसे ब्रह्मा का नाती कहा जाता है। आंखें खोलकर बात किया करें।

प्रदीप्त की जाती है। द्वितीय सप्तक का नाम दधि और घृत भी है। दोनों का अर्थ प्राण, उदान होता है। अतः दधिक्रावन् और घृत नाम से भी अग्नि प्रज्वलन की विधि दी गई है। तृतीय सप्तक को इसीलिए घृतपृष्ठ नाम से पुकारा जाता है कि तृतीय का पृष्ठ या पिछला सप्तक घृत या दधिक्रावन् या (प्राण) उदान है। द्वितीय सप्तक का नाम 'वेदिषद्' है। इसके ब्रह्म को होता कहते हैं। वेदि का नाम योषा या स्त्री भी है। इस स्त्री को रोदसी कहते हैं। योनि' नाम से भी पुकारते हैं। रोदसी माने रुद्र की पत्नी (रुद्रस्य पत्नी रोदसी) होता है। यह सप्तक मरुतों का था। उदान वायु हैं। जिनके पिता का नाम रुद्र कहा गया है। "रुद्रस्य सूनवः सुदंससः" (ऋ- वे- १-८५-१)। इन्हीं मरुतों को वायु, वात, या प्राणवायु नाम से पुकारते हैं। इनका स्वरूप 'विद्युत्' है जिसका उल्लेख मरुतों का प्रत्येक सूक्त करता है जैसे एक यह है 'आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥" ऋ. वे. १-८८-१ इत्यादि विद्युन्मय मरुतों के रथ, स्वर्कों और ऋष्टिमद् अश्वपर्णों या प्राणपर्णों के बने हैं। यही विद्युन्मय मरुतों के गण या वायु या प्राणवायु ही अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मा या जीवात्मा है। यह जीवात्मा रुद्र है घोषवान् है, नित्य घोषवान् है। इसकी उत्पत्ति अन्तरिक्ष नामक प्रथम सप्तक से होती है। इसकी उत्पत्ति प्रथम बार होती है। यही जीवात्मा इस ब्रह्माण्ड का गर्भ या योनि या स्त्री है। सदा स्वतंत्र है। यह रूपवान् भी (तैजस) नहीं है। भौतिक तो तब हो ही नहीं सकता। जैसे "अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः॥" आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥" (ऋ- वे- १०-१६८-३,४)। इसीलिए इसे इसी सूक्त में इस अखिल ब्रह्माण्ड का राजा घोषित किया गया है "संप्रेरते अनु वातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः। ताभिः सयुक्सरथं देव इयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा।" (१०-१६८-२)। इन्हीं बातों के कारण रुद्र को शम्भु कहा जाता है जैसे "वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे" (ऋ - १०-१८६-१)। प्रेरणा अच्छी या बुरी जैसी भी हो, सब इसी जीवात्मा रुद्र को मिलती है। यह ब्रह्म पुरुष के सामने उसकी पत्नीवत् व्यवहार करता है। अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक या पारिवारिक ब्रह्माण्ड में से प्रत्येक में निश्चित रूप से चार आत्मायें विद्यमान रहती हैं। इन चारों के दो जोड़े होते हैं। प्रत्येक जोड़े में एक पुरुष दूसरा स्त्री रूप होता है। जैसे ब्रह्म और रुद्र अथवा ब्रह्मात्मा जीवात्मा का एक जोड़ा है। दूसरा जोड़ा तैजसात्मा और दिव्यात्मा का है, जिनमें दिव्यात्मा स्त्री रूप है। चारों का ऐक्य एक ब्रह्माण्ड की मौलिक भित्ति खड़ा करता है। अर्द्धनारीश्वरवाद इन्हीं जोड़ों की सच्ची व्याख्या करता है। इसका चित्र स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त रूप में उतना प्राकृतिक नहीं जचता जितना 'अहिवाद' में। अहिवाद का नाम सर्पवाद है 'सर्प इति सर्पविदः' (श- प- ब्रा- १७.५-२-२०) और बृह- उप-, छा- उप०)। यह सर्पवाद कीटाणुवाद है जिसका साकार रूप केचुएँ में उपलब्ध होता है। केचुएँ में दो योनियाँ होती हैं एक पुंलिंग दूसरा स्त्रीलिंग। ये

योनियाँ दोनों सिरे में होती हैं। कुण्डलाकार होकर वह स्वयं भोगी हो जाता है। इसीलिए सबका नाम 'भोगी' भी है। भोग इसी लिङ्गात्मक शरीर का नाम है।" सर्प नाम इस ब्रह्माण्ड का सर्पन्तीसनिल्लोकानिति सर्पाः (श- प- ब्रा- ७)। रुद्र का अहिवाद जीवात्मवाद है, विष्णु का अहिवाद भौतिक देहवाद (वृत्र) है। इसीलिए रुद्र का सर्प गले का शिर का हार है तो विष्णु का अहि (शेष) शय्या है, आधार है। हार या शय्या बेकार ढोंग हैं। सर्प ही रुद्र है, सर्प ही विष्णु है, लाक्षणिक विवेचन है। शाब्दिक नहीं सर्प भी नहीं, तद्रूप मात्र होने से तात्पर्य है, तत्त्व विवेचन है। साहित्य या काव्य का आधार बना लिया गया है, यहाँ सब तत्त्व अभौतिक और दिव्य हैं। रूप और आकार से नितान्त हीन हैं।

रुद्र और रोदसी का अर्द्धनारीश्वरवाद ब्रह्मजीवात्मा दोनों का तादात्म्यवाद है। यह तादात्म्य जीवन का शिलान्यास करता है। दोनों दो अश्म या शिला हैं या दो अरणियां हैं या दो समिध हैं या दो बाहु हैं जिनसे जीवात्म-रूप परिजातवेदाग्नि या दर्शनाग्नि या गार्हपत्याग्नि या होताग्नि का आविर्भाव धूमायित या धूपित सा होता है।

६—रुद्र और संघर्ष

हमारा या अखिल ब्रह्माण्ड का जीवन रुद्र क्या है? केवल एक नित्य का 'रोदन' है, नित्य का संघर्ष या संघर्षण (अश्म और अरणियों का) है। नित्य का हवन (समिधों का) है, या नित्य का परिश्रम (बाहु का) है। अतः जीवन का आरम्भ रोते-रोते ही रुद्र रूप में होता है। फलतः अखिल ब्रह्माण्ड रुद्रमय या रोदनमय ही है जैसा वैदिकों ने अपनी स्पष्टोक्ति में कहा भी है "अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलं, स एष कोषो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितं तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची, तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदँ रोदिति, सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्ये।" (छा· उप· १-१५)। उक्त उद्धरणों में छान्दोग्य ने स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति रुद्र रूप जीवात्मा के इस रहस्य को भलीभाँति जानता है वह इस विश्व में रोते नहीं पाया जाता, वह उसके लक्षणानुकूल जीवन की जटिलताओं को ठीक समझता रहता है। जो इस तथ्य को नहीं जानता वह नित्य रोते ही रहता है। रुद्र के इस महत्त्वपूर्ण लक्षणा की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक भी वैज्ञानिक और दार्शनिक ढंग से देते हुए लिखा है "पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियाँ सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म अतिस्त्रिया आत्मभूतं गच्छति यथास्वमंगं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयति एषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता ही मे लोका स्तदस्य द्वितीयं जन्म सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः

प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिण—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥" (ऋ०वे०४-२७-१)। इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच, स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदात् ऊर्ध्वमुत्क्रम्य अमुस्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत्।" (५४)। जिस ज्ञान की चर्चा यहां पर वामदेव ऋषि अपनी गर्भावस्था में ही कर रहे हैं उसी ज्ञान का संकेत श्वेताश्वतर उपनिषद् इस रुद्र के बारे में भी देते हुए लिखता है:—"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय इ तस्थे यमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ॥ ॥ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु ॥" (३-२,४)। यह उपनिषद् रुद्र को सर्वप्रसिद्ध हिरण्यगर्भ का जनयिता मानता है। पूर्ण हिरण्यगर्भ २६वें तत्त्व में प्रस्तुत हो पाता है। आठ वसुओं को वित्त धन, हिरण्य या सुवर्ण कहते हैं।

द्वितीय सप्तक योनि, योषा गर्भ या उल्व है 'उषाः वै उल्वं' तृतीय सप्तक है।

७—कर्मकाण्ड में रुद्राभिनय

कर्मकाण्ड में गर्भ का अभिनय अग्नावैष्णवपुरोडाश से किया जाता है। उसको 'अष्टकपाल' बनाते थे। इससे नवम रुद्र का जन्म होता है। अश्वमेध में ऐ. ब्रा.१-१-३ का जो उद्धरण दिया है उस उद्धरण में इतनी स्पष्टता है कि व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं है। यह यही कुमार रुद्र है "जिसे गर्भं कुमारं पुस्करं स्रजम्" कहा गया है। शतरुद्रिय रुद्र 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपाद् शतं व्यानः, है (यजु, १७-७१, श. प. ब्रा. ९. २. १.-५१)। इस नाम की व्याख्या 'परोक्षेण परोक्षकामाहि देवाः' के आधार पर शान्तदेवत्य और शतशीर्षरुद्रशमनीय को ही शतरुद्रिय नाम से पुकारते हैं। यह ३१वाँ तत्त्व है। रुद्र के रोने से जो आंसू निकले उससे वह शतशीर्षा शतेषुधि, सहस्राक्ष बना। जो अन्य आंसू निकले उनसे असंख्यात सहस्रों रुद्रों की उत्पत्ति हुई। उनसे डरने लगे तब उसे अन्न दिया गया, मनाया गया। तब उसे शान्तदेवत्य कहते हैं (श. प. ब्रा. ९-१-१ १से ७ तक पूरा देखें)।

८—रुद्र के अनेक नामों की व्याख्या

आजकल की विद्वन्मण्डली रुद्र के सभी नामों को एकही तत्त्व या देव का संकेतक समझती आ रही है। यह भावना नितान्त अवैदिक और अदार्शनिक है। वैसे रुद्रों की संख्या ११तो है ही। वे नवें से१९वें तत्त्व तक के क्रमिक प्रतिनिधि हैं। नवें से १६तक के तत्त्व मरुत् हैं, जिनको रुद्रसूनवः या रुद्र पुत्र कहा गया है। १६से१९तक के चार रुद्रों को रुद्र का ही सूनु या पुत्र कहा गया है 'रुद्रस्य सूनुं (इन्द्र) (१-६४-१२)। ये चार इन्द्र के भी प्रतिनिधि हैं। अतः इन्हें अन्यत्र रुद्रका साथी भी कहा है 'रुद्राणामेति प्रदिशा विचक्षणो रुद्रेभिर्योषा तनुते पृथु श्रयः' " (१-१०१-७)। परन्तु इन ग्यारह रुद्रों के अतिरिक्त 'अग्निरुद्र' को जब 'सर्वादेवता' कहते हैं तब वह सभी तत्त्वों का प्रतिनिधि माना जाता है। जैसे जब रुद्र को 'आपः' देवता का प्रतिनिधि सूचित करना होता है तो उसे 'सर्वः *नाम से पुकारते थे; आपो वै

सर्वोऽद्भयो हीदं सर्वं जायते, जब रुद्र को ओषधि का प्रतिनिध सूचित करना होता था तब उसे 'पशुपति' कहते थे "ओषधयो वै पशुपतिः"। जब रुद्र को वायु का प्रतिनिधि समझना होता था तब उसे 'उग्रः' नाम से पुकारते थे "वायुर्वा उग्रः"। जब रुद्र को विद्युत् का संकेतक मानते थे तब उसे 'अशनि' कहते रहे "विद्युद्वा अशनिः"। जब रुद्र को पर्जन्य का सूचक कहना चाहते थे तब रुद्र को 'भवः'* नाम से पुकारते रहे "पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति।" पर्जन्य नामक तत्त्व २५वां हैं। जब रुद्र को चन्द्रमा या प्रजापति या २६ वें तत्त्व का प्रतिनिधि कहते थे तब उसका नाम 'महादेव' कहते थे "प्रजापति वैं चन्द्रमाः प्रजापति वैं महान्देवः"। जब रुद्र को आदित्य का सूचक कहना होता था तब उसे 'ईशान' नाम से पुकारते रहे "आदित्यो वा ईशानः"। ये सब नामकरण अग्नि रूप रुद्र के हैं "तान्येतान्यष्टावग्नि-रूपाणि" (श. प. ब्रा. ६-१-३-१०से १७ तक)। यही बात अर्थर्ववेद के व्रात्यकाण्ड के द्वितीयसूक्त में दुहराई गई है जिसको अब तक कोई नहीं समझ पाया है। इन नामों के क्रम में 'महादेव' या महान्देव नाम एक बड़ी भारी समस्या का हल करके यास्क और पतञ्जलि के दिये हुए निम्नलिखित ऋचा के अर्थ को अप्रामाणिक सिद्ध कर देता है। ऋचा है "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥" (४-५८-३)। इस मन्त्र का महो देवः महान् देव या महादेव रुद्र है। यही भौतिक अर्द्धनारीश्वर रुद्र है। भू नाम प्रथम सप्तक का है, भुवः द्वितीय का, स्वः तृतीय का और 'महः' चतुर्थ सप्तक का, इसी चतुर्थ सप्तक में चन्द्रमा नामक प्रजापति सोम ही महादेव या महान देव या महादेव रुद्र है। इसीलिए रुद्र के सिर पर चन्द्र रखा या माना जाता है। वृषभ उत्तरार्द्ध की भौतिक सृष्टि का प्रारम्भिक दिव्यशरीरी तत्त्व है। शिव मंदिरों में इसी महादेव वृषभ को मंदिर के बाहर (उत्तरार्द्ध में) स्थापित करते हैं और उसे शिव का नन्दी (नदिया) या शरीर कहते हैं। यह शिव का वाहन या रथ क्या है? यह शिव या रुद्र रूप जीवात्मा का प्रथम भौतिक आवरण सा दिव्य शरीर रूप वाहन है। यह २६वाँ तत्त्व है। जिसके चार मुख्य ब्रह्म या चार प्राण (उदान), व्यान, अपान ही चार शृङ्ग हैं (ब्रह्म, प्राण, होता उदान, अतिथि व्यान, अत्रि अपान)। इनके तीन पाद गायत्री के तीन पाद रूप २४ तत्त्व हैं। दो सिरों में एक शिर अभौतिक ब्रह्म इन्द्र (प्रथम) है। द्वितीय यही २६वां चन्द्रमा। सात हाथ सात सप्तक के ५० तत्त्व हैं, त्रिधाबद्ध त्रिपादमृत के त्रिधात्माओं के त्रिवृत्तता हैं "कुमारो नवमः सैवा-ग्नेस्त्रिवृत्ता।" (श. प. ब्रा. ६-१-३-१७)। ऐसा महादेव यद्यपि वृषभ रूप, व्यान रूप इन्द्र रूप, वर्षण रूप, वृषा रूप या वर्षा रूप, वृष्टि रूप, वृषण रूप, वृष्टि रूप, पर्जन्यवृष्टि रूप (विद्युत्) इत्यादि व्याख्या से सुमंडित तत्त्व जिसका वर्णन (ऋ० वे०) १०-१०२ सूक्त में और अन्यत्र भी किया गया है। पर वह शब्द ब्रह्म है। अतः अभौतिक मौन ॐकार शब्द ब्रह्म का भौतिक शब्दब्रह्म के स्वरूप को धारण करने की यह घोषणा (रोरवीति) करता है कि स्वयं अमर्त्य या अमृत होते हुए भी वह मर्त्यरूप भौतिक

* अग्नि को प्राच्य लोग शर्वभव कहते रहे, पाठक लोग पशुपति, अन्य रुद्र,

दिव्य शरीर को प्राप्त हो गया है। यास्क और पतञ्जलि दोनों ने उक्त मंत्र की पृथक्-पृथक् व्याख्यायें दी हैं, यह भी एक प्रमाण है कि दोनों की व्याख्यायें अप्रामाणिक और निराधार हैं। यहां सब शब्द पारिभाषिक हैं, दार्शनिक हैं; सींग, पाँव, सिर हाथ, बन्धनवाची नहीं, एक और रहस्य है। रुद्र की स्तुतियों का छोटा संग्रह 'रुद्री' नाम से प्रख्यात है। उसमें रुद्र को यज्ञ का प्रारम्भ कर्त्ता कहा है।

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यद् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।"

में यज्ञ का संचालक और सप्त होता वाला सप्तक दूसरा है। 'होता वेदिषद्' यही रुद्र का सप्तक है।

सबसे विशिष्ट बात यह है कि रुद्र की रुद्री के तृतीय अध्याय में इन्द्र के सूक्त को पूरा रख दिया गया है, यह क्यों है? इस पर कम लोगों ने ध्यान दिया होगा (१०-१०३ सूक्त देखें)। चतुर्थ अध्याय में 'सूर्य' और सविता के सूक्तों के मन्त्रों को रख दिया है। दूसरे अध्याय में पुरुष सूक्त है। यह सब क्यों हैं? इन सब का रहस्य यह है कि रुद्री में रुद्र को अग्निः सर्वा देवता' के सिद्धान्त पर सर्वदेवता प्रतिनिधि रूप में ही स्वीकार किया गया है 'यो वै रुद्रः सोऽग्निः' (शप.५-२-४-२३)। इन्द्र १७ वें से ३१ तक का प्रतिनिधि हैं, और १७वें से १९वें तक के तीन तत्त्व रुद्र भी हैं, इन्द्र भी हैं। अतः इन्द्र सूक्त को रुद्र सूक्त सा माना गया है। सूर्य की स्तुति ईशान और भव नामक रुद्र के रूप में और सविता की स्तुति महादेव या महोदेव रुद्र के स्वरूप में की गई है। अतः रुद्री सच्ची रुद्री या वैदिक रुद्री ही है। रुद्र की माता का नाम अदिति बतलाने वाली ऋचा यह है।

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"
(ऋ.वे. ८-१०१-१५)।

यह अदिति गो के समान अमृत की नाभी हैं। (अदिति देखें अर्थ के लिए)।

पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार रुद्र की व्याख्या जैसी होनी चाहिए थी वह पुराणों में प्रशस्त रूप से वर्णित मिलती है। खेद तो इस बात का है कि उपनिषत्कालोत्तर युग से इस विद्या का समूल ह्रास हो गया है।

९—रुद्र और पर्वत तथा नदी

पञ्चपर्वा विद्या पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जा चुका है, उसमें प्रथम दस तत्त्व 'हेमाद्रि' या हिमालय पर्वत के नाम से पुकारे जाते हैं, रुद्र नवम तत्त्व है। अतः वह तात्त्विक हिमालय पर्वत के दस अंशों में से अन्तिम छोर के नवम अंश में प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। यह नवम अंश मानसरोवर के पास होना बतलाया गया है।

"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः।
अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना घृतस्य धारा अभि चाकशीमि।

हिरण्मयो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। इत्यादि (नारा. उप. ५-४०, ऋ. वे., यजु) 'ग्रीष्मो मानसः' (यजु १३-५५; श प. ब्रा. ८-१-२-८)।

ग्रीष्म ऋतु द्वितीय सप्तक है। उसे मानस (सरोवर) नाम से पुकारा गया है। यहां पर घृत नाम संकेतक है। तथा रुचि और समिध् शब्द भी सन्दर्भीय हैं। सब पारिभाषिक वचन हैं। उसे द्वितीय सप्तक का अन्तर्ह्रद मानस नाम से पुकारा है। पर सुपर्ण को (चतुर्थ सप्तक में) कुलायी (सुपर्ण ब्रह्म या भौतिक अणु) नाम से कहा गया है। इसी मानस से समिध् रूप सरितों के निकलने की भी चर्चा की है। हेमाद्रि के आठ अंश रुद्र की जटायें हैं। वहीं से नदियों का उद्गम है, पर नवम रुद्र के अन्तर्ह्रद मानस (सरोवर) से गंगा का आविर्भाव होता है। गंगा जीवात्मा रूप रुद्र ही है। रुद्र भ्राता इन्द्र भी वराह कहा गया है। ऋ. वे. (१०-९९.६) सोम के प्रतिनिधि महोदेव को (चत्वारिश्रृंगा) वराह कहा गया है (ऋ. वे. ९-९७-७)। इसी रुद्र को "दिवो वराहमरुषं कपर्दिनम्' (ऋ. वे. १-११४-५) पुनः वराह नाम से पुकारा गया है। यही वराहावतार की कथा मूल स्रोत है। सबसे पहिले (हिमालय) हेमाद्रि प्रगट हुआ जो रुद्र का स्थल माना गया है। अतः वराह अवतार समुद्र से पृथिवी को निकालने की कथा वैज्ञानिक है। श. प. ब्रा. (५-१९) ने भी इसी बात की पुष्टि में वराह को अग्नि रूप घृत या चक्षु नाम से माना है। (अव्यय कल्प वृक्ष शीर्षक देखें)। वराह माने ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वरम् आहारं अहार्षीत्' लिखा है। ऐसे आहार वाला वराह विश्वदेव रूप देवता या विश्वेदेव रूप रुद्र भी कहलाते हैं क्योंकि आहार का कार्य सोम या घृत या अन्न से प्रारम्भ होता है। अतः इन्द्र भी वराह हैं। जैसे 'वराहमिन्द्र एमुषम्' (ऋ. वे. ८-७७-१०)। अङ्गिरस भी वराह हैं जैसे 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः' (ऋ. वे. १०-६७-७), अन्य देवता जैसे :—

"पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्।"

(ऋ. वे. १-८८-५)

"और इन्द्र, विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।" (ऋ. वे. १-६१-७)

"स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्"।

ऋ. वे. १०-९९-६।

ये सब वराह विश्वेदेवताओं के हैं या भौतिकस्वरूप धारण किए हुए गणीय देवताओं के हैं, इनमें भ्रम नहीं होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि यह घृत से उत्पन्न होता है 'घृत कुम्भाद्वराहो सम्बभूव' (श प. ब्रा. ५-४-१-१९७)। घृत नाम चक्षु सूर्य का है 'घृतं मे चक्षुरमृतम्'। अतः घृतरूप भौतिकात्मा से वराह उत्पन्न हुआ।

सर्प भी जीवात्मा रूप रुद्र ही हैं। दोनों में व्याख्या का भेद है। तत्त्व एक

है। रोदसी या पार्वती रुद्र की पत्नी या दीर्घ स्वरीय रौद्री वाग् है।* डमरू इसी शब्द ब्रह्म का संकेतक है। डमरू भी रुद्र का ही रूप है। शब्दब्रह्मरूप है। पूरे २६ तत्त्वों का सूचक है। त्रिशूल तो त्रिपाद् का सूचक है। २४तत्त्व या ॐकार का सूचक है। वृषभ का वर्णन पहिले किया जा चुका है। मनुष्य रूप में रुद्र गायत्री का पुरुष है, जटाधारी है। इसीलिए रुद्र में पुरुष सूक्त सम्मिलित है। पञ्चवक्रता' पञ्चपादं पितरं' का प्रतिनिधि है। तृतीय नेत्र सूर्य २५वां तत्त्व है। भाल का चन्द्र २६ वां तत्त्व पुरुष पशु के शिर (२४ तत्त्वों) पर है। चन्द्र भौतिक स्वरूप धारण करने की सूचना देता है। वाग्ब्रह्म ही मौनवाणी है। कण्ठ २५, २६ वें तत्त्वों का नाम है, जहां से परा विद्या या भौतिकी वाणी का विष वमन आरम्भ होता है। (श. प. ब्रा. १०-५-२-२०)। अरणिवाद के समानान्तर अश्मवाद के आधार पर द्वितीय सप्तक को योनि और रुद्र को पुरुष मानकर अथवा चतुर्थ सप्तक की योनि और सोमग्रावा के जोड़े से वाणी और पुरुष के योग को लिंग और योनि रूप में ठीक प्रस्तुत किया है। अश्मवाद पञ्चपर्वा विद्या का अंग है। पितृ विद्या में रुद्र को 'पितामह' नाम से पुकारते हैं। कर्मकाण्ड में वृषभ का अभिनय वृषोत्सर्ग से किया जाता है। रुद्र नदियों का (चतुर्धात्माओं का) जन्म दाता है। अतः प्रत्येक नदी के किनारे अधिकांश में वागीश रुद्र या महादेव के मन्दिरों का निर्माण हुआ है। ताण्डव नृत्य २६वें तत्त्व के अणु का नृत्य है, "नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत" (१०-७२-४)। गजानन गणेश २८वां पुरुष पशु हस्तिरूपक है। गणपति स्वयं ब्रह्म है। गिरिजा = गिरा वाग् + जा = हेमाद्रि वाग्, रौद्री वाग्, गौरी वाग् है। प्रत्येक शब्द परोक्षभूमिक और रहस्यवादी हैं।

एकादश रुद्रों के नाम ये हैं :—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः।
स्थाणुर्भर्गश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः॥"

(म.भा. १-६६-२-३)

रुद्र देवता के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ जानना अवशिष्ट रह गया है।

---

*दक्ष की पुत्री सती रुद्रपत्नी २४वें दक्ष की २५वें सत् तत्त्व रूपिणी सती वाणी हैं। दक्ष के क्रतु का ध्वंस दक्षक्रतु का विकास २५वें तत्त्व में है। दक्ष के शिर में अजा स्थापन दक्ष २४ वें का विकास ३१वें अजा नामक तत्त्व रूप शब्द ब्रह्म की व्याख्या करता है। वीरभद्रादि आसुरी तत्त्व हैं। सती होता विकास है जिसे पुनर्जन्म नाम से पुकारा गया है। सती पुत्र गणश हस्तिमुख सोम है। सोम का नाम हस्ति है। यह पुरुष पशु है। २७वां गणेश हैं।

१० — रुद्री का महत्त्व, यजु में सर्वादेवता रुद्र और विराट् रुद्र

ऋग्वेद में इस रुद्र देवता के पृथक् रूप से केवल चार ही सूक्त–१ ४३, १-११४-२-३३ और ७-४६ मिलते हैं। रुद्र के सम्बन्ध में अन्य वर्णन अग्नि, मरुत् इन्द्र और विश्वेदेवता के सूक्तों के साथ मिलते हैं, साथ में सोम, सविता, वाग्, गावः और केशिन के सूक्तों में भी रुद्र का व्याख्यान मिलता है। अग्नि तो रुद्र का प्रथम स्वरूप है। शेष देवताओं के सूक्तों में विश्वेदेवता रूद्र का वर्णन है। केवल रुद्र परिजातवेदा, वेदि, अरणि की अग्नि, मरुतःपिता और रोदनशील रोदसी का पति रूप जीवात्मा था। द्वितीय सप्तक का प्रजापति है जिसे होता या वेदिषद् भी कहते हैं।

इस रुद्र का वर्णन जब ओषधीश सोम के समान या पञ्चवर्षीया गंगा के स्वरूप में किया जाता है तब इसे भिषक या भिषक्त्तम या स्वयं स्वचिकित्सक स्वधा नाम से पुकारते हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में उक्त सब प्रकार के रुद्रों का एकत्रित वर्णन दिया हुआ मिलता है। 'रुद्री' अष्टाध्यायी में भी यही संकलन दिया हुआ है! नहीं-नहीं रुद्राष्टाध्यायी में तो विराट् रुद्र का वर्णन दिया हुआ है। इसमें पूरे ५० तत्त्वों की क्रमिक सृष्टि विकास को रुद्र रूप में वर्णित किया गया है। यह वर्णन भी एक-एक तत्त्व के नाम को गिनाकर किया गया है। सबसे पहिले विषम अंकों के नाम से ३३ देवता रूप रूद्रों की गिनती दी है। फिर सम अंकों के उल्लेख से ४७ तत्त्व रूप पूर्ण तत्त्वों की संख्या के साथ पूरी सृष्टि ४७ रूद्रों के क्रमिक विकास में वर्णित की गई है (रुद्री अध्याय ७-२४-२५; यजु· १८-१-से २९ तक)। इस अध्याय में प्रत्येक तत्त्व का नाम आ गया है। पञ्चपर्वा विद्या के उल्लेख के विना ही १०,१० के पाँच भागों का वृत्तचक्र में वर्णन करके इस विद्या का पूरा चित्र इस प्रकार दे दिया गया है।

"तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा"

इत्यादि। हां 'तीर्थानि प्रचरन्ति सृका हस्ता निषङ्गिणः' इत्यादि।

(१६-६६ यजु रुद्री ५-६३-६४-६५) में तीर्थ शब्द पञ्चपर्वा विद्या का ही है।

रुद्री का सबसे पहिले गणपति या ब्रह्मणस्पति के मंत्र से प्रारम्भ किया गया है। इस अध्याय में सातों सप्तकों का संक्षिप्त वर्णन है। द्वितीय अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष सूक्त है। इस पुरुष का नाम यज्ञ पुरुष है। पुरुष, प्रत्येक तत्त्व का नाम है। यज्ञ भी सभी तत्त्वों का नाम है। यह हविर्धाने के साथ पुरुष और यज्ञ की व्याख्या श· प· ब्रा. ३-४-३-१ के अनुसार दी जा चुकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्र भी पुरुष है, और यज्ञ है अथवा तत्त्वों का क्रमिक विकास है। अतः वैदिक समस्त विचार धाराओं-संवत्सर, अयन, ऋतु, सोम, सूर्य, अग्नि आदि-सबका समावेश इस रौद्र व्याख्या रूपी पुरुष सूक्त में दिया गया है। पुरुष सूक्त इस प्रकार प्रत्येक विश्वेदेवता में घटित किया जा सकता है चाहे वह अग्नि हो, वरुण हो, इन्द्र हो, विष्णु हो, बृहस्पति हो, वाग् या सब मिलकर एक साथ हों। तृतीय सप्तक में इन्द्र और रुद्रों का साहचार्य होता है। अतः तृतीय अध्याय में इन्द्र सूक्त को रूद्र वर्णन के

रूप में वर्णित किया गया है। यह तो पिछले परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इन्हीं के साथ मरुतों का वर्णन भी आ जाता है। मरुत् द्वितीय सप्तकीय प्राणवायु उदानीय वायु हैं और मातरिश्वा तृतीय सप्तकीय व्यानीय प्राणवायु हैं। इनका वर्णन भी रुद्र और इन्द्र के साथ-साथ अपने आप आ जाता है। वही सब तृतीय अध्याय (रुद्री) में दिया गया है। चौथे अध्याय में 'सूर्य' की पूर्ण वर्णना है जिसके साथ वरुण, वेन और वृत्र या वित्रहन् का वर्णन अनिवार्य हो जाता है। वही यहां भी किया गया है। इसके आगे के सब अध्याय रुद्र को एकान्ततः वैदिक दर्शन के समस्त तत्त्वों में घटित करके उसे 'महादेव' सिद्ध कर देते हैं। चमकाध्याय ८ में वैदिक दर्शन का कोई ही तत्त्व शेष रह गया याद र्शन के तत्त्वों के नामों में से कोई ही नाम शेष रह गया हो जिसे प्राप्त करने की प्रार्थना रुद्र से न की गई हो, वह प्रार्थना भी यज्ञ रूप से प्राप्त होने की है 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' (नवम शान्त्यध्याय में सब देवताओं से 'शंभू' की प्रार्थना की गई है। विशेष कर विश्वेदेवताओं–आपः, पृथिवी, मित्र, वरुण, इन्द्र बृहस्पति, उषा, अर्यमा, ऋग्, वाग्, पूषा, वात, विद्युत्। छठे अध्याय में तो मृत्युञ्जय के लिए प्रसिद्ध मन्त्र 'त्र्यम्बकं यजामहे' और आशीर्वाद के लिए सर्वश्रेष्ठ मन्त्र 'त्र्यायुषं जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इत्यादि देकर रुद्रको पुरुष सूक्त के पुरुष की तरह 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या त्रिपादमृत सिद्ध करते हुए शिव तत्त्व को स्वयं भेषज स्वरूपी 'भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय' बतलाकर प्रत्येक को अमर हो सकने की सूचना दी है। इसीलिए रुद्र को 'शिव' नाम की कल्याणकारी और स्वधिति या हिरण्यगर्भीय द्यौः को इसका पिता कहा है। 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा हिंसीः।'' जिस प्रकार के उल्लेख अग्नि के बारे में हैं, वैसेही रुद्र के बारे में भी जानें।

———

अध्याय—४७

धनुष के बारे में पहिले लिखा जा चुका है कि जिसे विष्णु का शार्ङ्ग धनुष कहते हैं; वही रुद्र का भी धनुष है। शार्ङ्ग धनुष माने सीगों का धनुष कहना लौकिकता या अविद्या है। शार्ङ्ग धनुष माने 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः वाली ऋचा के वृषभ के प्रथम चार सप्तक रूप चार शृङ्गों का बना धनुष है। शार्ङ्ग धनुष माने प्रथम चार सप्तकों का बना धनुष है। चार सप्तक ही चार शृङ्ग या सींग हैं। उनका बना धनुष शार्ङ्ग धनुष है। इसे महिष के सीगों का बना भी पुराणों में कहा गया है। महिष नाम अग्निक या प्राणों का या सोम का है "ब्रह्मा देवानां महिषो मृगाणाम्" और

१ -- धन्वीरुद्रः

"समुद्रं त्वा नृम्णा अप्स्वन्तः नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥"

(यजु १२/२०)। अतः वैदिक धनुष का साक्षात् सम्बन्ध वैदिक तत्त्वों के एक समूह से है। धनुष शब्द के कई-कई रूप और अर्थ हैं जैसे—धातु धन् और धन्व् (शब्द करना, गति, हलचल करना है) उससे धनं, धनुः, धन्वं, धन्वी, धान्यं और धन्वन् शब्द बनते हैं। इनमें धनं शब्द का अर्थ गुणधर्म भी होता है। ये सब अर्थ तथा 'धन्वन्तरिः' शब्द का अर्थ रुद्र धनुः में सन्दर्भानुसार अपेक्षित हैं। यजुर्वेद १६-४२ से ६३ तक रुद्री ५-२४ से ६३ तक के मन्त्रों में प्रथमादि सप्तक के रुद्रों को क्रमशः सहस्रयोजनीय धनुष ताने हुए बतलाया है जैसे "असंख्याता सहस्राणि रुद्रा ये अधिभूम्याम्—तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि"।

यहां पर अधिभूमि, अन्तरिक्ष, दिव, क्षमा, वृक्षेषु, भूतानामधिपतिः, पथाम्पथि रक्षयः, तीर्थ्यानि नाम सप्तकों के आधार पर दिये हुए हैं। इस बात का स्पष्टीकरण रुद्र के 'इषु' से हो जाता है और इषुशब्द से धनुष का नाम इष्वी और निषङ्ग का इषुधिः पड़ता है। यह तो सब जानते हैं। पर वेदों में ये 'इषु' क्या हैं। इसका विवेचन उन्होंने स्वयं दे रखा है। यजुर्वेद १६-६३, ६४, ६५,६६ में क्रमसे लिखा है कि रुद्रों के इषु, वर्ष (या संवत्सर) हैं। येषां वर्षमिषवः। रुद्रों के इषु वात (वायु) हैं (येषां वात इषवः)। रुद्रों के इषु अन्न (सोम) हैं (येषामन्नमिषवः)। इसीलिए रुद्री पाँचवें अध्याय के प्रथम मंत्र में ही इषु को नमस्कार किया गया है और वेद में इन इषुओं को आरोपण करने की प्रार्थना की है। जब रुद्रों के इषु, संवत्सर, वात और अन्न हैं तो वह धनुष किस वस्तु का होगा। स्पष्ट है कि ये धनु और इषु दार्शनिक तत्त्वों का रहस्यमय वर्णन कर रहे हैं। ऋग्वेद ७,४६ सूक्त रुद्र के इसी धन्वी रूप का वर्णन चार मंत्रों में निम्न प्रकार से देता है

"इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ १॥

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ २॥
या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ ३ ॥
मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य ।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४ ॥

ठीक यही भाव यजुर्वेद १६-९ से १४ तक में वर्णित है ।

जैसे—प्रमुञ्च न धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥
विज्यंधनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ २ उत
अनेशन्नस्य या इषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः ॥
या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ॥
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वकः ।
अथो यऽइषुधिस्तवारे ष्ट्वं अस्मिन्निधेहिऽतम् ॥
अवतत्य धनुर्ये सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्चं शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥
नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे ।
उभाभ्यामुत नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥" अर्थ—७-४६ ऋ० वे—

में वसिष्ठ जी भरतों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं । भरत नाम उत्तरार्द्ध की अग्नियों का है और आर्यों की उस जाति का भी काम है जो विश्वामित्र के साथ बसिष्ठ जी से लड़े थे । मेरी इस स्तुति का मनन करिये जो स्थिरधन्वा या स्थिर तत्त्व है, अजरामर है । जिसके इषु या प्राण या सोम क्षिप्र या वेगवान हैं और जो स्वधावान् है 'स्वधितिस्ते पिता' । स्वयं को स्वयं धारण करने की शक्ति रखता है. । वह दूसरों को असह्य पर स्वयं सबको सहन कर सकने वाला विश्व का निर्माता तीक्ष्ण आयुधों (अक्षरों) वाला है । ?"

वह प्रत्येक पार्थिव या भौतिक (क्षम्यस्य) वस्तु को परिवर्तन द्वारा (क्षयेण) नया जन्म देकर उन्हें दिव्य सम्राट् वरुण से प्रचेतित करता है, और उन पार्थिव तत्त्वों की रक्षा करता हुआ, हमारे जैसे दुरश्चर दुराचारी भी उसकी कृपा से अनमीव या आरोग्य रहते हैं। अतः हमारी प्रजा के लिए भी स्वास्थ्य दायक (अनमीव रुद्र) बनो ॥ २ ॥ तुम्हारा जो वैद्युतीय स्वरूप त्रिपादमृत रूप में प्रस्तुत होकर पार्थिव या भौतिक तत्त्वों में व्याप्त होता है वही स्वयं प्राणरूप में लाखों या हजारों भेषजों का कार्य करता है, क्योंकि तुम स्वयं स्वपिवात या सु+अपि वात*='प्राण रूप पूर्वार्द्धीय सूक्ष्म वात या वायु' हो या 'जीवात्मा' हो, स्वयं भिषग्

*इस पर आगे इसी शीर्षक के अन्दर टिप्पणी देदी है वहां 'भिषग्रुद्र' देखें । सुवात=भेषज है, अपि=अपि चं ।

रूप में प्रेरणा या ज्ञान देतेर हते हो। अतः हमारे सन्तानों और बच्चों के समान सोमादि को चर्या में जब कभी कमी-बेशी आती है तो उनसे असन्तुष्ट नहीं होते हो॥ ३ ॥ जब प्राणों का आधिक्य और भौतिकांश की कमी होती है तो उस स्थिति को रुद्र का मन्यु या क्रोध या हीळित कहते हैं। अतः प्रार्थना की गई है कि तुम हमारे शरीर में सन्तुलित रूप से रहो, हमें वध न होने दो, न अधिक न कम रहो, हमसे परे भी न होओ, न अत्यन्त अधिकमात्रा की क्रुद्धावस्था में फैलो। हमारे शरीर रूप बर्हि या आसन को भजो या आसन में विराजो जिससे हम जीवित रह सकें। आप सदा हमारी रक्षा अपने स्वस्तिक रूप शक्ति से करते रहें। स्वस्तिक में चार पाद होते हैं। वे चतुष्पाद ब्रह्म के सूचक हैं। उन्हीं चार पाद रूप चतुष्पाद्ब्रह्म की स्वस्तिक से हमें सदा सुरक्षित बनाये रखो॥ ४ ॥ यजु का अर्थ— तुम धनुष से प्रत्यञ्चा की डोरी को खोल दो। जो तुम्हारे इषु हैं उन्हें उत्तरार्द्ध में आरोपित करदो॥ तुम्हारा धनुष नित्य विजयी है। आप कपर्दी (जटाजूट) वाले या पर्व-पर्व के पर्वत धारण करने वाले हैं। विशल्य, विशाल और वाणवान् हैं। आपके जो इषु अनेषन्न् या अभौतिक हैं वे पूर्वार्द्ध के निषङ्ग में सुरक्षित रखे रहते हैं। जो तुम्हारी सुखकारी हेति या धनु है उससे हमें सदा आरोग्यतया सुखी बनाते रहो॥ आपके धनुर्धर की हेति हमें अखिलब्रह्माण्ड में सुरक्षित रखे। आपके जो इषु आरों के समान गुथे हैं उन्हें हममें आरोपित करदो। हे सहस्राक्ष और शतेषुधे॥ धनुष को तान कर शल्यों के मुखों को तीक्ष्ण करके हमारे लिए सुमना बनो। आपके अनातत धृष्णु स्वभाववाले नहीं खींचे गये आयुधों को नमस्कार। आपके दोनों बाहुओं (द्वितीय सप्तक की दोनों अरणियों) को नमस्कार और आप धनुर्धर को नमस्कार॥"

धनुर्धर रुद्र के बारे में यजुर्वेद की ऋचायें बहुत ही प्रसिद्ध समझी जानी चाहिए—

२—धन्वीरुद्र

"एतत्ते रुद्रावसंतेन परो मूजवतोऽतीहि। अवततधन्वा पिनाकवसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि" (यजु-३-६१ रुद्री ६-६)। "एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया। तंजुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः॥" (यजु-३-५७, रुद्री-६-२)। 'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि और 'त्र्यायुषंजमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इत्यादि (यजु-३-६०,६२ रुद्री ६-५,७)।

"नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो...."

"नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च वो नमो नमोः" (यजु १६-२५,२६)। यहां पर रुद्र विषयक अनेक तत्त्वों का सम्बन्ध रुद्र से समीचीन रूप में या वैज्ञानिक दार्शनिक स्थिति में किया गया है। सबसे पहिले रुद्र का संवत्सर ब्रह्म से तादात्म्य करते हुए कहा गया है कि हे रुद्र वसंत ऋतु से (प्रथम सप्तक से) पर या उत्तरार्द्ध में मूजवान् पर्वत या सोम की जन्मभूमि उत्तरार्द्ध में प्रस्थान करो अर्थात् भौतिकात्मा को स्वीकार करो। आप नव धनुष ताने हुए, पिनाक

धारी या पूर्वार्द्धवासी होते हुए भी कृतिवास या भौतिकात्मा की त्वचा या खाल या शरीर धारण कर के, अहि रूप को धारण करोगे (भयंकर वृत्र रूप को प्राप्त होंगे) और हमें शिव कल्याणकारी मार्ग में चलावोगे ॥

शिव का ताण्डव नृत्य कालीन हाथी की खाल यही उत्तरार्द्ध की भौतिकात्मा सोम की त्वचा है और ताण्डव नृत्य भी भौतिकात्मा के सूक्ष्म अणुओं का ही प्रभाव है। अन्तिम मन्त्र में रुद्र को गणवान् और गणपति कहा है। दूसरे मन्त्र में रुद्र के इसी गणपति स्वरूप के वाहन का काम आखु (मूषक) बतलाया है। इस प्रकार यहां पर रुद्र का वर्णन ब्रह्मणस्पति के रूप में किया गया है। साथ में प्रथम तीन नाभियों में द्वितीय नाभि का नाम अम्बिका बतलाते हुए उसे रुद्र की स्वसा कहा है! प्रथम नाभि अम्बा है, तृतीय अम्बालिका। इन्हीं तीन नाभियों वाले रुद्र को 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र त्र्यम्बक की उपाधि देता है तो "आयुषम् जमदग्ने' इत्यादि ऋचा इन्हें 'आयुष' कहती है। ये तीन त्र्यम्बक तो अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका हैं और आयुष त्रिपादमृत है। दोनों वर्ग त्रिपादमृत रूप त्रिनाभि के प्रतिनिधि हैं। इसी रुद्र को सेनानी या सेनापति भी कहा है। सेना, व्रातों की है, व्रात व्रतों, नियमों, अक्षरों के हैं। इन अक्षरों के अक्षर रूप अक्षों या रुद्राक्षों या व्रतों की माला रुद्र मार्गी पहनते हैं,। अथर्ववेद का व्रात्य काण्ड इसी रूद्र का वर्णन देता है और उस काण्ड का द्वितीय सूक्त मुख्य रुद्रों का वर्णन तो देता ही है जिसे पहिले दे दिया गया है। इन्हीं सेनाओं या व्रातों के सामञ्जस्य को निभाने के लिए रुद्र को रथी, महारथी या पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्धीय रथों से युक्त भी कहा गया है। जो त्र्यम्बक है वही त्रिशूल भी है। जो त्रिशूल है वही परशु भी है। परशु नाम वेदों में अग्नि का है (ऋ. वे. ६-३-४), रुद्र स्वयं अग्निरूप हैं, अतः जो रुद्र है वही परशु हैं, जो त्रिपादमृतीय रुद्र है, वही त्रिशूल है। त्रिशूल में जो झण्डा लगाया जाता है, वह उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का स्वरूप है।

३—रुद्रवाद की महिमा

वेदों में जितना सर्वाङ्गीण विवेचन तथा वर्णन और व्याख्यान इस रुद्र मार्ग का हुआ है उतना सम्भवतः और किसी दूसरे देवता का नहीं हुआ है। यद्यपि इनके सूक्त कम हैं, पर जहां-तहां भी इनका वर्णन है वह संक्षेप में भी बहुत विस्तृतोदर वाला है। इसका साक्षात् प्रमाण रुद्री और उक्त वर्णनायें हैं। पौराणिक साहित्य में भी जितना वैज्ञानिक विश्लेषण और विस्तार तथा वर्णन रुद्र मार्ग का हुआ है, उतना और किसी भी मार्ग का नहीं हो सका है। वैष्णवादि मार्ग में कई ऐसी कमियाँ हैं जिन्हें विना रुद्रवाद को अपनाये पूरा कर ही नहीं सकते। दृष्टान्त में दुर्गामार्ग जिसको मारकण्डेय जी अपनी अमरता का अभिन्न साथी बना गये हैं। सरस्वती, लक्ष्मी आदि सबका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। दुर्गा मार्ग का सरस्वत्यादि में नहीं। विष्णुवाद शैववाद के विना नहीं चल सकता पर शैववाद विना वैष्णववाद के भो चल सकता है। यह इसकी अपनी विशेषता है। रुद्रवाद में इतनी अधिक विशालता है कि इसके विभिन्न अंगों को लेकर के कई शैव मार्ग चल पड़े। यद्यपि आज कल या

मध्यकालीन शैव रुद्र तक को नहीं जानते, पर श्रुत्या भिन्न मार्गी बने हुए हैं। उनके मूल में कुछ विशेषतायें अवश्य हैं जो आज अनोखी सी लगती और कम जँचती हैं क्योंकि पृष्ठभूमि का उन्हें कुछ पता ही नहीं है।

रुद्र जीवात्मा स्वरूप है, रुद्र अखिल ब्रह्माण्ड का मूलभूत तत्त्व भी है। रुद्र के ये दोनों स्वरूप स्वधा है। स्वधावान् है। स्वयं अपने निर्माता, पालक, पोषक और संरक्षक हैं। ब्रह्माण्ड चाहे वैयक्तिक हो, पारिवारिक या अखिल सब उक्त गुणों से युक्त रहते हैं। इनमें आने वाले आकस्मिक या सामयिक विकारों का प्रतीकार भी ये स्वयं अपने आप करते रहते हैं। इस दृष्टि से रुद्र को भिषक् नाम की पदवी दी गई है कि वह अपने में होने या आने वाले विकारों की चिकित्सा भी स्वयं करता रहता है। लेकिन वैद्य या डाक्टर उसके उपचार या स्थिति को ठीक-ठीक समझ सके तो सहायता मात्र दे सकता है. अन्यथा अधिक बिगाड़ भी प्रायः कर देता है जिसे सम्हालने में रुद्र को बहुत बेचैनी और कठिनाई भी होती है। कभी-कभी तो असाध्य भी हो जाता है। अतः इस आखिल ब्रह्माण्ड और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों का सबसे आदि भूत, रुद्र ही दैवी भिषक् है। सर्वप्रथम भिषक् है। इसी बात को रुद्री और यजु स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहते हैं

३—भिषग्रुद्र

"अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो परा सुव॥"

(यजु १६-५, रुद्री ५-५)

कि रुद्र दैवि शक्ति का सर्व प्रथम भिषक् है। वही आदि शब्द ब्रह्म है तथा अग्नि-रूप शब्द ब्रह्म भी है (अध्यवोचत् अधिवक्ता)। वह ओषधि या उपचार के लिए सब अहिरूप भौतिकाणुओं तथा उनकी गतिविधिरूप यातुधानियों की सृष्टि उत्तरार्द्ध में करके उन्हें एक दूसरे से भक्षण कराता रहता है। यदि ये एक दूसरे को पचाकर सम्मिलित न हों तो न इनका एका लगे, न स्वस्थता रहे, न जीवन ही रहे। यह सब कार्य दैवी शक्ति सम्पन्न भिषगात्मा रुद्र का ही है। इस बात का समर्थन ऋग्वेद की निम्नऋचा रुद्र को 'वृषभ' या 'महादेव' कहकर, जैसा कि 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य, त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।" कहती है—उसे भिषकों में सर्वश्रेष्ठ भिषक् बतलाती है जैसे—

"मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीरो अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥"

(ऋ. वे. २-३३-४)।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये 'भेषज' हैं कैसे? और किस तत्त्व के? किस स्वरूप के। यह तो निर्विवाद है कि जो भेषज हैं वही ओषधि हैं। ओषधि के बारे में अन्यत्र विस्तार पूर्वक लिखा जा रहा है। उषसो भवं ओषं तत् धारयतीति ओषधिः भी देखें। ये ओषधि सोम रूपी हैं।

४—भेषज तत्त्व

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषंत्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

ऋ. वे. १०-८५-३,४ और ९-१-१ देखें।

सोम रसमय है। यह रसमयता सोमस्थानीय चतुर्थ सप्तकीय आपो देवी, देवताओं की है। इसका स्पष्ट प्रमाण यजु. ३६।२३, रुद्री अध्याय ९-२३ शान्त्यध्याय में आपो देवताओं को भेषज नाम से पुकार कर दे दिया है जैसे "सुमित्रिया नः आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥" यहां पर जिन आपो देवताओं को ओषधयः नाम से पुकारा गया है उनका मूल स्रोत भी सुमित्रिया या मित्र नामक देवता की दैवी सम्पदा संकेतित है। उसकी आसुरी सम्पदा को दुर्मित्रिया या शत्रु, द्विट् स्वरूपिणी बतलाया है (आपो देवता शीर्षक भी देखें)। और इन भेषजों को अन्यत्र ऋ. वे. २-३३-७ में 'जलाष' नाम से पुकार कर यजुर्वेद के उल्लेख को पक्की प्रामाणिकता दे दी है। इसमें दैव्यस्य शब्द से दैवी जलाष भेषज का भी संकेत किया गया है जैसे—

"क स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याऽभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥"

इसी बात की पुष्टि ऋ. वे. १-४३-४ का निम्न मंत्र रुद्र को 'जलाषभेषज' एक नाम से पुकारते हुए उसे शब्द ब्रह्म और बुद्धि रूप बतलाता है "गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे॥" यहां पर शम् नाम 'शन्नोदेवीरभीष्टय आपो' मंत्र के समान आपोरूपी रुद्र का विश्वेदेवी भौतिकात्मा सोमीय स्वरूप है। उसको मेधपति या भौतिक तत्त्व के आदि स्वरूप बुद्धि रूप में प्रस्तुत बतलाया है। प्रस्तुत सूक्त में रुद्र का क्रमिक विकास अदिति, मित्र, वरुण, जलाष, भेषज, शम्, शुक्र, सूर्य, सोम आदि रूपों में दिया हुआ है। ऋग्वेद १०-१३७-६ में भी आपः को भेषज नाम से पुकारा है, जैसे—

"आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

"आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।" और ऋ. वे. १०-६६-१० में भी "आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरा····" और रपः नाम भी शब्द ब्रह्म का बुद्धि रूपीय चतुर्थ सप्तकीय, तुरीय वाणी व्यक्त या भौतिक शब्द ब्रह्म है, रप या लप का अर्थ 'वद्' 'गद्' के समान बोलना है (रपति, लपति), और 'अरपा' नाम मौन, तूष्णी, उपांशु तथा अंश नामक प्रथम तीन सप्तकों की मानसिक या दैवी वाणियों का है। इसका समर्थन अगले परिच्छेद से हो जावेगा। बात का 'रपः' नामक भाग भौतिक है।

ओषधि या भेषज नाम केवल आपो देवताओं का ही नहीं वरन् वात या वायु देवताओं का भी है। ये वात दो प्रकार के हैं पूर्वार्द्धीय या उत्तरार्द्धीय। पूर्वार्द्धीय की सीमा दक्ष, सिन्धु या चतुर्थ सप्तक है। उत्तरार्द्धीय की सीमा सप्तम सप्तक का अन्तप्रारम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है। पूर्वार्द्धीय वायु भेषजों का नाम विश्व भेषज है तो उत्तरार्द्धीय वायुओं का नाम 'रपः' है। जैसे—

"द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः (उत्तरार्द्ध)।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥"

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥
आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥
त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणःत्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥"
(ऋ. वे. १०-१३७-३ से ५ तक) ।

इसी तथ्य को दृष्टि पथ में रखकर ऋ. वे. ७-४६-३ में 'सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा' लिखा है कि हे रुद्र तुम्हारे विद्युत्स्वरूपी हजारों वायु भेषज हैं । ये वायु पूर्वार्द्धीय हैं क्योंकि इन्हें 'सु वात' नाम से पुकारा है । 'अपि' शब्द, तथापि और अर्थ को रखता है । अन्वय यह ठीक होगा 'अपि (च) ते सहस्रं सु वात भेषजा' क्योंकि पद पाठ में 'सु अपि वात' इस प्रकार का खण्ड किया हुआ मिलता है । पर यास्क, सायण, रौथ (Roth) में उक्त ज्ञान न होने के कारण 'स्वपिवात' शब्द को एक संबोधनीय शब्द माना है और इसका अर्थ अपनी मनमानी कल्पनाओं से स्वाप्तवचन, जिन प्राण और Learning to undarstand, appropriating to one's sefl, और to Teach to undersstand लिख मारा है । यह सब चपला वेदों के आगे पीछे के सन्दर्भों के ज्ञान के अभाव में तथा वैदिक दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का यथार्थ ज्ञान जानने से उत्पन्न हुआ है । सुवात त्रिपादमृतीय प्राण, वायु रूप भेषज, आप्तवचन, जिनप्राण, ज्ञान इत्यादि । एक दम उलटी बात । वेदों ने अपनी व्याख्या अपने आप कर रखी है । जो बात एक स्थल पर अनिर्णित और संदिग्ध लगती है उसका निराकरण अन्यत्र अपने आप हो जाता है । इसी प्रकार इसी सूक्त में आया 'रप': शब्द है ।

"पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि"
"अप भर्ता रपसो दैव्यस्याऽभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः"

(ऋ. वे. २-३३-३, ७) के 'रपसः' शब्द का अर्थ पूर्व में उद्धृत १०-१३७-३ से ५तक की ऋचायें स्वयं कह रही हैं कि 'रपः' नाम उत्तरार्द्ध(परावत, परा,)की वायुओं का है । ये शत्रु या भौतिक वायु हैं । अतः कहा है 'वि वात वाहि यद्रपः' कि जो रपः नाम की वायु है उन्हें दूर करो । यही अर्थ ऋ. वे. २-३३-३, ७ के उद्धृत वाक्यों का भी है कि "रपस् नामक वायुओं से युद्ध कर सब प्रकार से आभीति करके कल्याण करो, पापों से पार पहुँचा दो" ; और "आप रपः को दूर करने वाले हो (अपभर्ता) और दैवी वायु (पूर्वार्द्धीय)को मेरे लिए प्राप्त करो ।" लोगों ने इस 'रपः' शब्द को न समझ कर 'दैव्यस्य'शब्द को इसका विशेषण तक बना दिया है । पर इसी सूक्त में प्रार्थना की गई है कि हम रुद्र रूप सूर्य की छाया में अरपा भौतिक वायु हीन आसुरी वृत्ति हीन होकर-रुद्र के सौहार्द सुख से जीवन व्यतीत करें "घृणीव छायामरपा अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्" (२-३३-६)और पूर्वोद्धृत १०-१३-७५ में प्रार्थना की गई है कि "जिस प्रकार यह 'अरपा' और असत् बन जाय वैसा उपाय करो" । कहने का तात्पर्य यह है कि लोग पारिभाषिक शब्दों

(जैसे यहां रपः है) का शाब्दिक व्युत्पत्ति मूलक कर बैठे हैं। प्रश्न केवल एक दो या दो-चार शब्दों का होता है तो भी कहते, चलो और तो ठीक है, पर बात ऐसी भी नहीं है। प्रत्येक मंत्र में दो एक ऐसे शब्द अवश्य आ जाते हैं वेही शब्द उस मंत्र के आत्मा और कुञ्जी का काम करते हैं। उक्त उदाहरणों में जलाष भेषज, मेधपति, गाथपति शब्द हैं जिसका विवेचन अथर्व वेद में भी दी हुई व्याख्या के अनुकूल समानान्तर रेखा में इस प्रकार देता है। जैसे—

"इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यानामपब्रवत्॥१॥
जलाषेणाभिसिञ्चत जलाषेणोपसिंचत।
जलाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥२॥
शंच नो मयं च नो मा च नः किञ्चनाममत्।
रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्॥३॥ (अर्थव-५७)।

यहां जलाष'भेषज और रपः का वर्णन पूर्वोक्तानुसार ही दिया है। रपः माने क्षमा या पृथिवी या भौतिक तत्त्व ही बतलाया है। ठीक इसी आशय के मंत्र ऋ. वे. १०-५९-८-९-१० में इस प्रकार मिलते हैं जिनमें दो प्रकार के भेषजों में से रपः को उत्तरार्द्ध का वायु रूप ओषधि कहा है जैसे—

"शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवी क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत्।
अव द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा।
क्षमा चरिष्ण्वेककं भरतामप यद्रपो द्यौः...किंचनाममत्॥
समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद्रपो...किंचनाममत्॥

ऋ. वे. २-३३-१ मंत्र के अर्थ का विचार है "आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः। अभि नो वीरा अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः॥" इसमंत्र में सूर्य संदृशो, वीर, अर्वति और प्रजा शब्द मुख्यतः पारिभाषिक हैं। सूर्य तो २५वां मध्यवर्ती तत्त्व है, संदृशः भी सूर्य ही है 'सूर्यस्य' का विशेषण है, 'चक्षुः' के बदले आया है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। वीर शब्द सोम के लिए आया है (सोम शीर्षक देखें)। 'अर्वति' शब्द उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के लिए आया है, पूर्वार्द्ध को प्राङ् या प्राञ्च या पूर्ववित् कहते हैं। उत्तरार्द्ध को पराङ्, पराच, अर्वाङ्, अर्वत आदि (द्यावापृथिवी देखें)। प्रजा नाम भौतिक सृष्टि की नानारूपता है। इसका सीधा अन्वय यह है कि हे रुद्र मरुतां पितः ते सुम्नं मा आ एतु। नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः॥ नः वीरो अर्वति अभिक्षमेत, प्रजाभिः प्रजायेमहि (वयम्)। सीधा अर्थ यह है:—"हे प्राणवायु जीवात्मारूप मरुतों के जन्मदाता रुद्र, आपकी सद्भावना मुझे प्राप्त होवे, हमें सूर्यरूप चक्षु (की कामनामय मूर्ति) से सम्बद्ध करदो। हमें भौतिकात्मा दिव्य शरीर से सदा सम्बद्ध रखो जिससे वह

५—आलोचना

दिव्यशरीरी वीर सोम उत्तरार्द्ध की नानारूपिणी भौतिक सृष्टि करने में समर्थ होसके और हम अपनी प्रजा सन्तान से सन्तानित होते रहें।" पर ग्रीफिथ आदि ने द्वितीय चरण का अर्थ उलटा करके 'मानः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः' अन्वय करके Exclude us not from looking on the Sunlight; लिख दिया है। 'मा युयोथाः' का अर्थ Exclude us not from कैसे हुआ यह समझ से परे की बात है। युयोथाः माने सम्बद्ध करना है 'मा युयोथाः माने तो हमें सूर्य के प्रकाश से दूर करो, हो जावेगा। और यहाँ 'मा शब्द का सम्बन्ध तो प्रथम चरण के 'मा आ एतु से है 'अर्वति, के माने "नीच दुष्ट लगाकर सारे मन्त्र के अर्थ को उलट दिया है। सूर्य तत्त्व तो अखिलब्रह्माण्ड की कामात्मा है। मित्र, वरुण, अग्नि (रुद्र) की चक्षु है। रुद्र की तृतीय चक्षु यही 'सूर्यस्य संदृशः' है। इससे काम भस्म की कथा रची गई है। तृतीय चक्षु तो स्वयं काम रूप है। यही काम ब्रह्म भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रथम अंकुर है। प्रथम अंकुर का ही नाम चक्षु या आँख होता है। हमें उससे अलग नहीं, सम्बद्ध होना है। उसी से अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का अग्रिम पीढियों का क्रमिक विकास 'प्रजाभिः प्रजायेमहि, सम्भव हो सकता है जिसका मध्यविन्दुः सूर्यसुत सोम या वीर है जहां से अर्वाक् उत्तरार्द्ध की सृष्टि आरम्भ होती है। उसमें वह वीर क्षमता प्राप्त कर सके, यह प्रार्थना की गई है।

अध्याय—४८

द्वादश आदित्याः (विश्-गणत्वात्)

आदित्य शब्द अदिति से निकला है, अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं, सब देवता अदिति के पुत्र हैं, अतः वे सब आदित्य कहलाते हैं, परन्तु सब आदित्यों या देवताओं में देवताओं के एक गण का नाम आदित्य है। इस गण में १२ आदित्य आते हैं। इनके बारे में 'आदत्ते रसान् भौतिकात्मगुणान् अथवा आदत्ते भासं भौतिकात्मनः इति वा, अथवा 'ज्योतिषां रजसां आदीप्तः भासः' व्युत्पत्ति अधिक लाक्षणिक होगी, क्योंकि इनके स्थान से भौतिकता का प्रादुर्भाव होने लगता है और ऋ. वे. १-१०६-२ में इन आदित्यों को भूतदेवा या भौतिकात्मामय देवता भी निम्न वाक्य में कहा है। "त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।" इसका समर्थन श. प. ब्रा. (१४।६-९-६) करते हुए लिखता है "तद्यादिदं सर्वमादाना यन्ति तस्मादादित्या इति" जिसे बृह. उप. २-९-५ में दुहराता है, इनको शम्भु और कल्याणकारी कहता है। और ऋ. वे. १०-९२-७, और ९वें मन्त्रों में 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः, सप्तभिः पुत्रैरदितिः—पुनः (परा) मार्ताण्डमाभरत्' वाक्यों में अदिति के जिन सात या मार्ताण्ड सहित आठ पुत्रों की चर्चा आई है, वे येही द्वादशादित्यों में से आठ हैं। इसका प्रमाण यह है 'ते हि पुत्रासो अदिते-र्विदुर्द्वेषांसि योतवे' (ऋ. वे. ८-१८-५)। ये सब भौतिकात्मा युक्त आदित्य हैं। इन आदित्यों में से मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता, दक्ष, क्रतू, पूषा (ईशान), भर्ग, कश्यप, अंशः, गौः, पृश्निः, स्वः, नाक, विष्टप्, विवस्वान्, नभ आदि सब इनके ही नाम हैं। उदाहरण के लिए मित्रावरुणौ को 'आदित्या दानुनस्पती' (ऋ. वे. १-१३६-३) में आदित्य कहा है, मित्र को 'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति' (ऋ. वे. ३-५९-२) से, अकेले वरुण को "अथा वयमादित्य व्रते तव...स्याम' (ऋ. वे. १-२४-१५) में कहा है, इसी प्रकार अन्यों के बारे में उनके सूक्तों में देखें। इन आदित्यों का स्थान २० वें तत्त्व से ३१ वें तत्त्व तक है। वसु देवता सात्त्विक सत्ता के प्रतिनिधि हैं, रुद्रदेवता तैजस सत्ता के, और आदित्य अत्यन्त तीव्र तैजसता युक्त हैं, पर इनमें भौतिकता का जाल या परदा है, अतः सबको सह्य होते हैं, इनमें प्रकाश और अन्धकार दोनों सम्मिलित हैं। जैसे काले शीशों में सूर्य प्रकाश छनता है वैसे ही भौतिकात्मा शरीर के अञ्जन में आदित्यों का प्रकाश छन कर धी रूप में प्रबुद्ध होता है। ये आदित्य बारहमहीनों के बारह सूर्य नहीं हैं वरन् दर्शन के १२ तत्त्व हैं, संवत्सर ब्रह्म के दर्शन चित्र के ही इनके बारह महीने कहे जाते हैं। ये हमारे इस पृथिवी के महीने नहीं हैं।

१—आदित्य शब्द की व्याख्या

द्वादशादित्यों के पृथक् सूक्त पाँच-सात हैं, वैसे मित्रवरुणादि सूर्य सविता के सूक्त भी इन्हीं आदित्यों के हुए। उक्त थोड़ेसे आदित्य सूक्तों में आदित्यों का वर्णन इस प्रकार मिलता है ? ऋ. वे. २-२७ सूक्त में मित्र अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश को आदित्य नाम से पुकारते हुए इन्हें राजा और प्राणवान् (घृतस्नू) कहा है (मंत्र १)। चौथे मंत्र में इन्हें जगत्स्था देवा भौतिक ब्रह्माण्ड का रक्षक, दीर्घ धी को धारण करते, असुर्य शक्ति सम्पन्न कृतवान् और त्रिपादमृतों के ऋणों को (गुणों को) अपने में समेटते हुए बतलाया है। सप्तम मंत्र में इन्हें राजपुत्रा अदिति के पालित और इनके पन्था (पूर्वार्द्धीय) को सुगम बतलाया है। अष्टम और नवम मंत्र में इन द्वादश आदित्यों को पूर्वार्द्ध और परार्द्ध दोनों में निवास करने वाला बतलाते हुए लिखा है कि ये आदित्य तीन द्यून् या पूर्वार्द्ध के त्रिपादमृतों और तिस्रोभूमी या उत्तरार्द्ध के तीन सप्तकों को धारण करने वाले और तीन व्रतवाले हैं। ध्यान रहे देवताओं के सात दिव (द्यून्) हैं और छह या सात भूमि हैं, ये सात सप्तकों के सूचक हैं जैसा कि देवाः शीर्षक में बतलाया जा चुका है। अतः पूर्वार्द्ध के तीन सप्तकों को हिरण्यवर्णीय 'त्री दिव्या रोचना' कहा है जो शुचि या पावक रूपी और अग्नि की ज्वालाओं की धाराओं से पवित्र हैं। ये आदित्य अस्वप्नज या सदा जाग्रत तत्त्व हैं, और सदा उन्मीलित खुली आखों वाले हैं' अतः अनमिषा कहा है। 'सप्त ऋषयः प्रति हिता शरीरे—अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ' के अस्वप्नज और सत्रसत् देव येही आदित्य हैं जिनमें त्रिपादमृत व्याप्त है। ११ वें मंत्र में इन आदित्यों को पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय न कह कर क्रमसे सव्य दक्षिण तथा प्राचीन आदित्य और पश्चात् आदित्य नाम से पुकारा है, साथ में यह भी लिखा है कि इनमें वसु रूप बुद्धि पाक को प्राप्त होती है, इत्यादि। दो-चार मंत्र ये हैं

२—द्वादशादित्यों की व्याख्या

"इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥ १ ॥

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र च चारु ॥
त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥ ९ ॥

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥ ११ ॥" इति

ऋ. वे. ७-५१, ७-५२ सूक्त भी आदित्यों के हैं। इनमें इनका सम्बन्ध वसुओं, द्यावापृथिवी और अङ्गिरसों से बतलाया है, तथा इन्हें विश्वेदेवा कहा है। ऋ. वे. ८-४७ और ८-६७ सूक्त भी आदित्यों के हैं। इनमें अन्य कोई विशिष्ट बात उल्लेखनीय नहीं है, केवल ८-६७ के १३ वें मंत्र में इन्हें पृथिवी (भौतिकताओं) का शिर बतलाते हुए लिखा

३—आदित्यों के सूक्त

है "ये मूर्द्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः।" और १६ वें मंत्र में इन्हें 'सुदानवः' विशेषण से युक्त पुकारा है

"शश्वद्धि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयम्।
पुरा नूनं बुभुज्महे॥

प्रथम मंत्र में इन्हें क्षत्रिय नाम से सम्बोधित करते हुए लिखा है "त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे। सुमृळीकां अभिष्टये॥" एक विशिष्ट बात जो इन सूक्तों में मिलती है वह यह है कि मरीचि नामक मरुत् अग्नि (वैश्वानर) तथा अश्विनी और ऋभुओं को भी आदित्यों में गिना रखा है। जैसे "आदित्या विश्वे (मरीचि) मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे। इन्द्रो अग्निराश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (ऋ. वे. ७-५१-३)।" इसका समर्थन ऋ. वे. ७-१८-८ ७-१७-२०, ८-१८-९ मंत्र भी कहते हैं। आदित्यों के समय अपान वायु का विकास होता है। अतः इन्हें 'पायवः' भी कहा है (ऋ. वे. ८-१८-२)। ऋ. वे. ६-१०१,१५ में अदिति को आदित्यों की स्वसा (बहिन) बतलाया है। आदित्य भौतिक हैं, अतः इन्हें पशु और अश्व नाम से पुकारा गया है 'पशव आदित्या, (श. प. ब्रा. ७-१-१-७) 'आदित्यः अश्वः' (श. प. ब्रा. ७-२-४-१६) 'सविता पशुः' (३-२-२-१)।

यदि अदिति सर्वा देवता है तो आदित्य भी सर्वदेवता है। पर आदित्य एक वचन नाम प्रायः सूर्य (२५ वें) तत्त्व के लिए आता है। वहां पर इसको आदित्य इसलिए कहा है कि यह असुरों के लोक का आदान करता है

४— आदित्य कौन-कौन कहलाते हैं

अतः आदित्य है (तै. ३-९-२१-२)। यह आदित्य प्रजापति के रेतः को सर्वप्रथम उद्दीपित करता है, अतः इसे आदित्य कहते हैं (तै ३-३४)। यह प्रजापति का (द्वितीय) शिर है (ताण्ड्य ६-५-१)। विष्णु का शिर पतित हुआ तो यह आदित्य बना (श. प. ब्रा. १४-१०-१-१०)। पर्जन्य भी आदित्य है (गो. पू. ४-३)। अर्क भी आदित्य है (श. प. ब्रा. १०-६२-६) ज्योतिर्भुक् भी आदित्य है (ऐ. ७-१२)। यह आदित्य दूसरे शब्दों में अश्मा पृश्नि भी कहलाता है (शपब्रा. ९-२-३-१४)। इस आदित्य को अब्जा भी कहते हैं (ऐ. ८-२०)। यह आदित्य अश्व भी है (श. प. ब्रा. ६-३-१-२९)। त्रिपाद् इसके लोक हैं (गो. पू. २-२-७-९)। चक्षु भी आदित्य हैं, (श. प. ब्रा. ३-२-२-१६; जै. उ. २-२-३ गो. पू. ४-३)। ये आदित्य प्राणरूप हैं (ताण्डय १६-१३-२)। यह आदित्य यशः भी कहलाता है (श. प. ब्रा. ६-१-२-३; १४-१-१-३२) यह आदित्य स्वर्ग लोक है (तै. ३-७-१७-३)। आदित्य को भूतानां पति कहते हैं (ऐ. ब्रा. ७-१०)। यह सर्वतो मुख है, अन्नाद है, (श. प. ब्रा. २-६-३-१४)। आदित्य में सब ऋतुयें रहती हैं (पूरा दर्शन रहता है) (श. प. ब्रा. २-२-३-९)। आदित्य प्राण और घृत भाजन है (श. प. ब्रा. ६-६-१-११)। सब कुछ आदित्य है (श.प. ब्रा. ५-५२-१०) आदित्य ही प्रजा हैं (नै १-८-८-१)। ब्राह्मण सर्व पशु सब आदित्य हैं (तै. १-१-९-८; ताण्डय २३-१५-४; २५-१५-४)। आदित्यों का गर्भ ही पुरुष है (शपब्रा. ७-५-२-१७)

जैमिनीय ब्राह्मण (१-३६) ने आदित्यों की संख्या ४८ दी है जिससे यह सिद्ध होता है कि आदित्य केवल १२ ही नहीं वरन् प्रत्येक तत्त्व हैं। और इस प्रकार आदित्य देवता सर्वादेवता है। अतः ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रयुक्त आदित्य शब्द सर्वत्र सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है कि वह कहां किस तत्त्व रूप आदित्य का संकेत किया जा रहा है। द्वादशादित्यों में भी यह समस्या सुलझानी पड़ती है। द्वादशादित्यों को भूतानां पति या भौतिकता बहुल कहते हैं।
महाभारत में द्वादश आदित्यों के निम्न नाम दिये हैं:—

(१) धाता (सूर्य) (२) अर्यमा (सोम) (३) मित्र (४) वरुण (५) अंशु (६) भग (७) विवस्वान् (८) इन्द्र (९) पूषा (१०) पर्जन्य (११) त्वष्टा (१२) विष्णु। ये सब चतुर्थ सप्तक के आदित्यों के ही नाम हैं।

वेदों में तीन विद्यायें हैं : अग्नि (ऋग्), वायु या प्राण (यजुः) और वाक् (आदित्य या साम)। इनमें आदित्यों का वर्णन भौतिकी परा वाणी के रूप में किया है। इस वाणी को 'गावः' या गायें बतलाया है और चतुर्थ सप्तक को ब्रज। यह उत्तरार्द्ध में है, अतः कृष्ण है और कृष्ण स्वयं विष्णुरूप आदित्य है 'आदित्यानाम-हंविष्णुः' अतः ये आदित्य रूप गायें कृष्णरूप उत्तरार्द्ध की हैं। ऐ. ब्रा. ने स्पष्ट लिखा है 'आदित्या वै गावः, तथा स्वयं ऋग्वेद ने कई आदित्यों को गावः कहा है "गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः" (ऋ. वे. ६-२८)। इनका वाक् रूप वर्णन 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति ·····गावो यन्ति गोपतिं' और 'सोमं गावो धेनवो वावशाना', (ऋ. वे. ९-९-७-३४,३५) में दिया गया है। अन्यत्र जहां गायों का वर्णन है : उन सबका संकेत इन्हीं आदित्यों से किया गया है। जैसे "यद्वा-ग्वदति ·····परमं जगाम' (ऋ. वे. ९-२००-२७) और 'देवीं वाचं·····सुष्टुतैतु' (ऋ. वे. ९-१००-११) इत्यादि।

अध्याय ४९

ब्रह्मणस्पतिः और बृहस्पतिः, वाचस्पतिः तथा अङ्गिरसः

ब्रह्मणस्पति सब देवताओं में ज्येष्ठ देव हैं। इसका दूसरा नाम गणपति है, यह गणपति वही है जिसे कर्मकाण्ड में गणेश कहा जाता है। गणेश या गणपति दो हैं, आदि गणेश और मध्य गणेश। रुद्र और पार्वती पुत्र मध्यगणेश है, चतुर्थीश है, २४ वें से चौथा २८ वां पुरुष पशु का विकास रूप हस्ति रूप तत्त्व है। आदि गणेश ब्रह्म है (प्रथम सूत्र देखें)। जिन देवताओं को क्रमिक तत्त्वों के नाम से गिना जाता है उन सब में यह ज्येष्ठ या राजा के समान आदिभूत तत्त्व है। जैसे

१ ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के स्वरूपों का अन्तर

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

(ऋ० वे० २-२३-१)

अन्यत्र इसको तत्त्वरूप ५० ब्रह्मों का जनक बतलाते हुए लिखा है

विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।"

(ऋ० वे० २-२३-२)।

यही ब्रह्मणस्पति 'सत्' सत्य तत्त्व है, सृष्टि का नयः या नायक या उन्नायक है, विकासक है, सृष्टिका मूलबीजभूत प्राण रूप है, सब का पूज्य और प्रार्थित है, युद्ध में सबसे बली है, यही ज्ञान चक्षु रूप है, यही भौतिक आत्मा का सर्जनहार है, यही स्थूल भौतिकता और मति रूप धन का दाता है, यही इस ब्रह्माण्ड का प्रकाश रूप देदीप्यमान सूर्य है, और लिखा है कि आकाश में जलता सूर्य तो वृथा ही तपता है जैसे

"स संनयः* स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
चाक्ष्मो यद्वाजं भरते मती धनाऽऽदित्सूर्यस्तपति तप्यतुर्वृथा॥"

(२-२४-९ ऋ० वे०)।

इस मंत्र के अनुसार इसे देवताओं का पुरोधा या पुरोहित कहा जाता है। क्योंकि पुरोहित शब्द के माने आदि प्राण होता है। इस शब्द की व्याख्या श० प० ब्रा० ने इस प्रकार दे रखी है।

---

*नयः शब्द को जैन लोगों ने अपने दर्शन का आदि तत्त्व आत्मा का गुण या धर्म नाम से पुकारा है; उसका स्रोत यही शब्द है।

"तदाहुः किं हितं किमुपाहितमिति प्राण एव हितं
वागुपाहितं प्राणे हीयं वागुपेव हिता प्राणस्त्वेव
हितमङ्गानि उपाहितं प्राणे हीमान्यङ्गानि उपेव हितानि।"
(६-१-२-१५)।

हित नाम प्राणों का है, जो आदि प्राण है उसे पुरः हितम्=पुरोहितं कहते हैं। और जिस तत्त्व में उक्त पुरोहितं या आदि प्राण है वही पुरोहित कहलाता है। अतः इसे देवताओं का पुरोहित या पुरोधा आदिप्राणवान् कहा जाता है; यह वैदिक अर्थ है, लौकिक अर्थ में यह तत्त्व देवताओं में सर्वाधिक ज्ञानवान्, विद्वान्, कवि और कर्मकाण्डी पुरोहित सा माना जाता है

'बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोधा' (श० प० ब्रा०) इत्यादि।

ब्रह्मणस्पति नाम इस प्रकार सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व का है। यह 'मनोवाक्-प्राणानां' त्रिवृत् रूप तत्त्व है। अतः इस की पुरोहित नाम की व्याख्या में 'प्राणास्त्वेव हित मङ्गनि उपाहितं' लिखा है, ये अङ्गानि मनः प्राण और वाक् हैं। इन त्रिवृतीय तीनों को ब्रह्मस्वरूप उदधि से विकसित करने की बातें यह ऋचा कहती है

"विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्"
(ऋ० वे० १०-६७-५)।

यह ब्रह्मणस्पतिः वही है जिसे एकदन्त गणेश या गणपति कहते हैं, गण नाम वसु, रुद्र आदित्यादि गणों का है, उनके ये पति हैं। जब यह गणपति रूप ब्रह्मणस्पति उक्त त्रिवृतीय तत्त्व में उपस्थित हो जाता है और आगे क्रमिक विकास पाता रहता है तब इसे विश्वेदेव ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति कहते हैं। ब्रह्मणस्पति की विकास परम्परा का नाम बृहस्पति है, इसलिए सूक्तों में ये दोनों नाम साथ साथ दिये हुए हैं। ब्रह्म विकास परम्परा में जो सात मुख्य ब्रह्मों का पति है उसे तो ब्रह्मणस्पति कहते हैं, जो क्रमिक ब्रह्मों में विकास पाता रहता है उसे बृहस्पति कहते हैं। इसी लिए बृहस्पति को भी आदि या प्रथम जन्मा कहा जता है

"बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥"
(ऋ० वे० ४-५०-४)

इस मन्त्र में बृहस्पति को 'सप्तास्य' या सप्तमुख ब्रह्मणस्पति रूप सप्तमुख्य ब्रह्मों के पति स्वरूप में बतलाया गया है, इसी का दूसरा नाम 'सप्तरश्मि' भी इसी में दिया है, सप्तरश्मि नाम ज्ञानप्रकाश स्वरूप ब्रह्म विकास पद्धति का है। इसी को निम्न ऋचा में इसे 'सप्तशीर्ष्णी', बुद्धिरूप बृहती या वाक् प्रकाश का प्रकट करने वाला (बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः बृह० उप०) तथा ऋत आदिब्रह्म से उत्पन्न कहा है और इसके चौथे मुख रश्मि या शिर को विश्वजन्य या भौतिक सृष्टि का मूल बीज (उक्थं) उत्पन्न करने वाला बतलाते हुए इस मुख का नाम 'अयास्य' या लौहमुख दिया है, जैसे

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥"
(ऋ० वे० १०-६७-१) ।

इस बृहस्पति रूप ब्रह्मणस्पति ने गुहा का आविष्कार किया जिसमें तीन मुख हैं, इनमें से दो से परे तीसरे में 'गाः' या आदित्यों का विकास किया और इस गुहा के आगे अनृत रूप भौमिकात्मा या भौतिकसृष्टि के (आरम्भ करने के लिए मध्य में) सेतु को बाँधकर अग्रिम तीन मुख्य ब्रह्मों का विकास किया जैसे

"अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥"
(ऋ० वे० १०-६७-४) ।

इस मंत्र ने भी ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के सातों मुखों का वर्णन दे दिया है। यह ब्रह्मणस्पति सब देवताओं से परे है और त्वष्टा ने इसे 'साम' देवताओं या तृतीय सप्तक के ब्रह्मों के रूप में 'कविः' या बुद्धि या मनः का स्वरूप दिया। यह ब्रह्मणस्पति तीनों ऋणों का मूल स्रोत है, और उसी ऋण से, मूलधन से (ब्रह्म से प्राप्तधन से) वह महोरूप ऋत का धारण करने वाला तथा द्रोही आसुरी शक्ति का दैवी ज्ञान शक्ति से हनन करने वाला कहा गया है जैसे

विश्वेभ्यो हि त्वा देवेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः ।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥"
(ऋ० वे० २-२३-१७)

जिनको सात मुख कहा है उन्हें सप्त सखि या हंस भी कहा है

बताया जा चुका है कि विश्वेदेवता वह है जिसका विकास भौतिकात्मा में वर्णित किया जाता है या जिसकी वर्णना नर नारी या प्राणी रूप में (भौतिकात्मा स्वरूप में) की गई है। बृहस्पति का भी वर्णन ऐसे रूपों में है, अतः इसको वैदिक ऋचा स्वयं वैश्वदेव्य नाम से पुकारती है जैसे—

बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य ।
रास्व रत्नानि दाशुषे ॥"
(ऋ० वे० ३-६२-४)

यहां पर 'बृहस्पते' और विश्वदेव्य दोनों सम्बोधन बृहस्पति के लिए हैं। बृह० उप० ने० बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति की व्याख्या इस प्रकार उचित रूप से दे रखी है"

एष उ वै बृहस्पति र्वाग्वै बृहती तस्या एष पति स्तस्मादु बृहस्पतिः ।
एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥
(१-३-३-२०, २१)

ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति तत्त्व पञ्चपर्वा विद्या का प्रधान और आदि तत्त्व है। पञ्चपर्वा विद्याओं में सर्व प्रथम विद्या पर्वतविद्या या पर्व विद्या स्वयं है। इन पर्वतों या पर्वों का प्रथम भेदन या विकास करने वाला तत्त्व यही ब्रह्मणस्पति

या बृहस्पति है जिनका वर्णन पञ्चपर्वा विद्या में यथा स्थान यथारूप कर दिया गया है। कुछ उदाहरण यहां भी ले लीजिए।

"साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥"
(ऋ० वे० १०-६८-३)

"बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रिया पर्वतस्य त्मनाजत्॥"
ऋ० वे० (१०-६८-७)

(इस सूक्त में बृहस्पति का पूर्णविकास दिया गया है, कुछ-कुछ ६७ में भी है)

"यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥"
(ऋ० वे० ६-७३-१)

"तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥"
(ऋ० वे० २-२३-१८)

"यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम्॥"
अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पति र्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥"
(ऋ० वे० २-२४-२,४)

पर्वत विद्या में सर्व प्रथम पर्वत हेमाद्रि पर्वत है जिसका संकेत ऋ० वे० १०-६८-१० में इस प्रकार दिया है

"हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥"

बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति की ऋतु शिशिर है। अतः इसप्रकार का वर्णन वेद वृक्ष की रीति से दिया है। बृहस्पति का सम्बन्ध अश्व, नक्षत्र, गावः, पितर, रात्रि अहः, अद्रि, वीर, नृ इत्यादि सबसे इस प्रकार दिया हुआ है

"अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधु र्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥"
इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥"
(ऋ० वे० १०-६८-११,१२)

इसी अर्थ के मन्त्र २-२४-१, ४ में भी मिलते हैं

यहां तक कहा है कि बृहस्पति ने २५वें तत्त्व सूर्य को आदि तत्त्व ऋत के मधु रूप द्यौ से गर्त या योनि में उल्का की तरह फेंक दिया और उस अश्मरूप द्यौ से

'गा' तथा भौतिक तत्त्व रूप त्वचा (शरीर दिव्य शरीर) का भेदन या विकास किया जैसे—

"आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥"
(ऋ० वे० १०-६८-४)

इसीप्रकार वात आदि का विकास किया (१०-६८-५) और जिह्वा या सरस्वती वाणी दी (१०-६७-६) । जिस इन्द्र को पर्वतों या नदियों का भेदन करने वाला वेदों में कहा गया है वह केवल इन्द्र ही नहीं है वरन् वह इन्द्राबृहस्पति या इन्द्राब्रह्मणस्पती तत्त्व है जैसा कि २-२३-१० ऋ० वे० के उक्त उद्धृत मंत्र से स्पष्ट है और निम्न सूक्त और मन्त्र इसका समर्थन करते हैं ।

ऋ० वे० ४-४९ सूक्त ७-९७ और ७-९८ में इन्द्राब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति देवताओं का वर्णन है (ऋषि वशिष्ठ हैं)

"प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
इन्द्राब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति
यदेददेवीरसहिष्ठ माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥"
तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥"
बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
ऋ० वे० ७-९८-५—७

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥"
ऋ० वे० (७-९७-३) ।

अस्मे इन्द्रा बृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम् ।
अश्वावन्तं सहस्रिणम् ॥ ४-४९-४ ॥

"तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति ।
अनभृष्टतविषि र्हन्त्योजसा यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥"
(ऋ० वे० २-२५-४)

विश्वं सत्यं मघवाना.............अच्छेन्द्रा
ब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् ।'
(२-२४-१२) इत्यादि ।

यही ब्रह्मणस्पति आदि समुद्र हैं जिसे नासदीय सूक्त

"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥"
(१०-१२९-३)

मन्त्र द्वारा केवल अन्धकारमय नील सलिल ही सलिल रूप में सर्वतो व्याप्त रहता है

उसी की चर्चा उक्तसूक्तों में सं २-२३-१८ में 'बृहस्पते निरपामौब्जोऽर्णवम्" लिखा है और ऋ० वे० २-२५-५ मंत्र इन जलों का साक्षात्सम्बन्ध ब्रह्मणस्पति से बतलाता है जैसे

"तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽछिद्रा शर्म दधिरे पुरुणि ।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥"

मंत्र २-२४-४ जो इस परिच्छेद के अन्त में दिया गया है, वह तो ब्रह्मणस्पति को ऐसी मधु की धारा सम बतलाता है जिसको सबने पिया, और वह ऐसे मधु के समुद्र रूप उत्स के समान है। ब्रह्मणस्पति का यह प्रथम समुद्र ही क्षीर सागर है और यहीं से हिमालय रूप ब्रह्मणस्पति से गंगा रूप ब्रह्मों का विकासोदय होता है। इस ब्रह्मणस्पति को रुद्र की तरह धनुर्धर भी कहा है। बृहस्पति धनुर्धर नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक तत्त्व में विकास पाता है ब्रह्मणस्पति सप्तकों के रूप में। जैसे

"ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पति र्यत्रवष्टि प्र तदश्नोति धन्वना ।
तस्य साध्वीरिषवो याभि रस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः ॥"

(ऋ० वे० २-२४-८)

इसके बाण साध्वी साधक हैं, मीठे हैं, रुद्र के बाण कुमार हैं

'यत्र कुमाराः सम्पतन्ति बाणाः'

इत्यादि (रुद्री)। ब्रह्मणस्पति के युजं युजं युद्ध है, संघर्ष है, विकास के संघर्ष हैं जैसे

"ऋतावानः..........ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि
नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम् ॥"

(ऋ० वे० २-२४-७)

यहां द्विपाद ब्रह्मों की दो अरणिरूप अश्मों के युजं संघर्ष से अग्निरूप जीवात्मा का उदय बताया है।

इसी ब्रह्मणस्पतिः का सम्बन्ध पणियों से है। जिस इन्द्र का सम्बन्ध पणियों से वर्णित किया गया है वह केवल इन्द्र ही नहीं वरन् इन्द्राब्रह्मणस्पति या इन्द्राबृहस्पति देवता हैं। जैसे

ब्रह्मणस्पति और	"अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशु र्निधिं
बृहस्पति का अन्य	पर्णानां परमं गुहा हितम् ।
देवताओं से सम्बन्ध	ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ
	आयन्तदुदीयुराविशम् ॥"

(ऋ० वे० २-२४-६)

पणि सूक्त ऋ० वे० १०-१०८ में भी बृहस्पति का सम्बन्ध इन पणियों से बतलाया गया है जैसे—

"असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ॥"

(१०-१०८-६)

"दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनती ऋतेन।
बृहस्पति र्या अविन्दन् निगूल्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥"
(१०-१०८-११)

बृहस्पति का सम्बन्ध ओषधिः देवताओं से है। यह ओषधि शीर्षक में बताया जा चुका है। ऋ० वे० १०-९७-१५ आदि भी देखें। बृहस्पति का सम्बन्ध असत् और सत् रूप सृष्टियों से भी है जिसके आधार पर नासदीय सूक्त रचा गया है

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु (सोमायमानेषु) यः पश्यादुत्तरे युगे॥
"ब्रह्मणस्पति रेता संकर्मार (लौहकार) इवाधमत्।
देवानां पूर्वे युगे प्रथमेऽसतः सदजायत॥
"देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। इत्यादि
(ऋ० वे० १०-७२-१, २, ३)।

यही बृहस्पति वाग्ब्रह्म का सर्वप्रथम स्वरूप प्रेरित, या उपस्थित करने वाला है जैसे—

"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
बृहस्पति और वाक् यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥"
(ऋ० वे० १०-७१-१)

"बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपःसिपासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः॥"
(ऋ० वे० ६-७३-३)

ऐ० ब्रा० ३-३-३४ में स्पष्ट लिखा है कि बृहस्पति अङ्गिरस नामक अङ्गारों के उद्दीपन से उत्पन्न हुआ। यह चतुर्थ सप्तक का विश्वेदेवा बृहस्पति है

"पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्"

और श० प० ब्रा० ने पूषा, भगः और बृहस्पति की कथा में बृहस्पति को सविता का समकक्ष बताया है। पूषा ने चरु खाया तो अन्धा बना, भग ने खाया तो दन्त-हीन हो गया।

'पूषाऽन्धइति भगोऽदन्तकः।'

बृहस्पति वृषभ भी है और इन्द्रा बृहस्पति रूप में वृत्रादि का वध भी करता है
(ऋ० वे० ७-७६ १, २) (वृषभ शीर्षक भी देखें)।

यह वृषभ भी शब्द ब्रह्म का ही स्वरूप है जिसको 'चत्वारि श्रृङ्गा' इत्यादि ऋचा के समान यहां 'वृषभो रोरवीति' कहा है। यह शब्द-ब्रह्म का ही रोरवण है। इसीलिए लिखा भी है

'बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण'

कि बृहस्पति त्रिपादामृतों (त्रिषधस्थ) में रव या शब्द ब्रह्म स्वरूप में रहता है
(ऋ० वे० ४-५०-१)

और दूसरे मंत्र में उक्त वृषभ को "अनानुद" वृषभ या अत्यन्त रव कारी कहा है

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं.......... ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पते....... ॥

(ऋ० वे० २-२३-११)

इसे ऋण या बीजरूप में सत्य भी कहा है। इस प्रकार यह ब्रह्मणस्पति अनेक प्रकार की उक्त विद्याओं के तत्त्वों में क्रम से विकसित होता है जिसे ब्रह्मणस्पति का युज या युद्ध या विकास कहा जाता है, जिसका प्रथम स्वरूप अग्नि (मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्) और ब्रह्मा (वसु) तदनन्तर अन्य क्रमिक तत्त्व हैं जैसे

"इन्धानो अग्निं वनवद्वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद्रातहव्य इत्।
जातेन जातमति स प्र सस्र्ते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥"

(ऋ० वे० २-२५-१)

वेदों में दो शब्द बड़े विचित्र हैं (१) वीर और (२) तोकं तनयं। इस बात का स्पष्टीकरण इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग करके निम्न ऋचा कर देती है। वीर नाम सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों का है और उनका है जिन्हें महर्षि, प्रजापति, या सदधिष्ठाता कहा जाता है, तोकं तनयं इन मुख्य ब्रह्मों के विकासों का नाम है, विशेषकरके उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्व सोम और सोम के विकासों का। जैसे

"वीरेभिर्वीरान्वनवद्वनुष्यतो गोभी रयिं पप्रथद्बोधति त्मना।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥"

(ऋ० वे० २-२५-२)

जब विकासों के क्रम को युज या युद्ध कहा जाता है तब इन तत्त्वों को 'वीर' शब्द से पुकारा जाता है। ब्रह्मणस्पति को 'अश्मास्य' कहा है, अश्म माने अश्रु या रस होता है

"एष वै यशो यदश्रुसंक्षरितमासीत्सो अश्मा पृश्निरभवत्।
अश्रुर्हवै ते तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः॥"

(श० प० ब्रा० ६-१-२-३)

अतः 'अश्मास्यं' (ऋ० वे० २-२४-४० में) का अर्थ 'रसमुख' 'रसमयः) ब्रह्मणस्पति होता है। सोम भी अश्म या ग्रावाण है, वह भौतिक रस ब्रह्म है जिसका विकास अभौतिक ब्रह्मणस्पतिक, अश्म या रस ब्रह्म से ही होता है। 'यशः' नाम ब्रह्म का ही है। "यस्य नाम महद्यशः" (यजुः ३२-३)

'अर्वाग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्नो तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।'

(अथर्व बृह० उप०) अब

"अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पति र्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥"

ऋ० वे० (२-२४-४)

का अर्थ ठीक बैठेगा कि वह ब्रह्मणस्पति रस रूप शब्द ब्रह्म है, मधुधारा वाला है

जिस धारा को उसने मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत् के ओज में विकसित किया (अतृणम्)। उसी समय मधुधारा को अगले सब विकासीय तत्त्वों ने पिया या विकसित किया, वह उत्स वा उद्गम रूप समुद्र समान जल या आपः है, उसी से सारी सृष्टि सिञ्चित या विकसित या रक्षित होती है, वह तेजास्विता में स्वर्ग की चक्षु या सूर्य सा भी बन जाता है।

वाचस्पति नाम ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के एक विकास का है, यह वह विकास विन्दु है जब ब्रह्मणस्पत्ति या बृहस्पति आध्यात्मिक सृष्टि पूरी करके—पूर्वार्द्धीय सृष्टि रचना समाप्त करके—उत्तरार्द्ध की भौतिक सृष्टि में प्रथम पग रखता है। यह स्वरूप भी शब्दब्रह्म या वाग्ब्रह्म या भौतिक शब्दब्रह्म का है। इसको विश्वकर्मा नाम से भी पुकारा जाता है। विश्वकर्मा वह वाग्ब्रह्म है जो आध्यात्मिक सृष्टि के आधार पर भौतिक ब्रह्माण्ड को नाना रूप देने में समर्थ होता है। अतः विश्वकर्मा सूक्त (ऋ. वे १०-८१-७) कहता है।

वाचस्पति

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥"

कि वाचस्पति नामक भौतिक शब्दब्रह्म स्वरूपी विश्वकर्मा को अपनी भौतिक (बीज़) समृद्धि के लिए आहूत करता हूँ; वह मनोजुव या सूर्य नामक मनोब्रह्म या काम ब्रह्म स्वरूपी या भौतिकात्मा युक्त है। वह हमारे समस्त विकासों का आस्वादन करनेवाला है (हवनानि विकासानि) और इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रसमय भूमि या आत्मा है और इस प्रकार की आत्मा वाला सदा साधुकर्मा इसलिए है कि वह इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रक्षा करता है। यही भाव अथर्व १-१-२ के मंत्र में मिलता है।

"पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं मम॥"

यहाँ 'मनसा देवेन सह ऐहि' का अर्थ 'सूर्य रूप काम ब्रह्म या मनोब्रह्म के साथ आवो' है और प्रार्थना की गई है कि मुझे मेरा ही शरीर मेरे इसी स्वरूप में प्रदान करो, क्योंकि आप हमारे शरीर रूप धनों के पति या रक्षक हैं उन्हें छुटकारा दो, विकास पाने दो। इसी प्रकार का भाव ऋ. वे. १०-६८-८ की ऋचा

"अश्नापिनद्धं मधुपर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्वि रवेणा विकृत्य॥"

देती है जिसका अर्थ इस प्रकार है। बृहदारण्यक ने भौतिक सृष्टि के प्रथम उदीयमान स्थिति का वर्णन देते हुए लिखा है कि जिस समय इसका उदय हुआ अखिल आध्यात्मिक सृष्टि इस भौतिकात्मा रूप स्त्री से सम्पूरित या आवृत हो गयी, एक प्रकार से इसने आध्यात्मिक पूर्वार्द्धीय सृष्टि को निगल सा लिया। अतः यहाँ पर उस स्थिति को 'अश्नापिनद्धं' कह रहे हैं कि जिस आध्यात्मिक पूर्वार्द्धीय सृष्टि

को इस प्रकार पूर्ण आच्छादित करके निगल या ढक सा लिया, तब आध्यात्मिक सृष्टि के मधु रसमय शब्द ब्रह्म को दीन मछली की तरह बन्द रसमय ब्रह्मसागर में नष्ट होते देखकर, बृहस्पति ने उसी भौतिकाच्छादन के सृष्टि वृक्ष में बैठकर जैसे बड़े भयंकर शब्दध्वनि शंखध्वनि करके उस मछली के समान आध्यात्मिक तेज को प्रकट करने के लिए उस भौतिक आच्छादन को ढकने की तरह खोल दिया (और उसके दो पाट हो गये, पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक चमस, उत्तरार्द्ध में भौतिक चमस बन गया)। वाचस्पति तत्त्व यथार्थ में स्पष्ट शब्दों में २४ वां अत्रि नामक ॐकार तत्त्व है। बृह. उप. ने अर्वाग्विल वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' में वाणी को अष्टमी तत्त्व और 'अत्रि' तत्त्व कहा है वह 'अत्तीत्ति' अत्रिः वाक् कहा है। अत्रि की व्याख्या में 'अत्रि' शब्द की निरुक्ति 'अत्रत्यात्' इति अत्रिः, दी है, वह भी वाणी के गर्भस्राव सम्बन्ध में। वाचस्पति विश्वकर्मा है, विश्वकर्मा को 'चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो' (ऋ. वे. १०-८२-१ में) कहा है, चक्षुः नाम सूर्य का है यह सर्वविदित है। उसका पिता अत्रि ही है, अत्रि अग्निरूप मित्ररूप और वरुणरूप है। अतः वाचस्पति नाम अत्रि का ही है।

अध्यया ५०

अङ्गिरसः

अङ्गिराः या अङ्गिरस नामक तत्त्व भी न तो वाचस्पति के पर्य्याय या प्रतिनिधि हैं न ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के। अङ्गिरस नाम के तत्त्वों का नाम ऋषि है, ये गिनती में सात हैं। जैमिनीय ब्राह्मण (१-३१) ने इनकी संख्या २८ दी है जिसमें ये सर्वादेवता से लगते हैं। इन्हें नवग्व और दशग्व नामों से भी पुकारा जाता है। इन्हें दिवस्पुत्र या उषा माता तथा दिवः पिता के दिवनामक तृतीय सप्तक के पुत्र तथा दिव नामक तृतीय सप्तक के पश्चात् उदय होने वाला बताया गया है जैसे—

अङ्गिरसः

"अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जाये महि प्रथमा वेधसोनॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः
चिदुर्वशीरकृपन्वृधे चिदर्यउपरस्यायोः ॥"

ऋ. वे. ४-२-१५

उषा और दिव के तृतीयसप्तकान्त में होने से ये चतुर्थ सप्तक के ठहरते हैं। चतुर्थ सप्तक का नाम नृषद्, नरः, मानवः, मनुष्य है। अतः इन्हें इन नामों से भी पुकारा जाता है। तृतीय सप्तक का नाम जातवेदाग्नि है। अतः इन्हें अग्निपुत्र भी कहा जाता है। इनका जन्म दक्षिणायन में होता है। अतः इन्हें पूर्वार्द्ध के दैवीतत्त्वों या देवों के पुत्र या देवपुत्र भी कहते हैं। इनको सर्वत्र विरूप या विशिष्ट रूप, पृथक्-पृथक् रूप वाले या कुरूप भी कहा गया है, यह कुरूपता भौतिकता की है। इनका विशद वर्णन ऋ. वे. १०-६२-१ से ६ तक के मन्त्रों में निम्नरीति से दिया गया है। "ये यज्ञेन (विकासे) दक्षिणया (उत्तरार्द्धे) समक्ता (नियुक्त हैं) इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश (इन्द्र सख्य इनका त्रिपादामृत है)।

तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।
(मानव—चतुर्थ सप्तकीय रूप धारण करो) ॥१॥
य उदाजन् पितरो गोमयं वसृतेनाभिन्दस्परिवत्सरे वलम्।
(उत्तरार्द्ध में, पूर्वार्द्ध के एक वर्ष बाद उत्पन्न हुए, पितर और गोमय कहलाते हैं)।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥२॥
य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि।
(ऋत ब्रह्म से सूर्य तत्त्व का आरोहण २५ वें तत्त्व में किया और आदित्यों तथा भौतिक तत्त्वों का विकास किया)।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥३॥
अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
(इनका जन्म नाभि चतुर्थ सप्तकादि से होता है)।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥४॥

ये अग्नेः (जातवेदाग्नेः) परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरसस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥६॥
विरूपास इदृषयस्त इद्गंभीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥५॥

ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋग्वेद के अन्य सूक्तों में तथा अन्य वेदों में भी इन ऋषियों का मिलता है, उदाहरण के लिए ऋ. वे. ३-५३-५ से १० तक में लीजिए:—

"परा याहि मघवन्नाच याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य ॥५॥
अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणी र्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्थ बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥६॥
इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥७॥
रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मूहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनुतुपा ऋतावा ॥८॥
महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः ॥९॥
हंसा इव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा।
देवेभिर्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिकाः सोम्यं मधु ॥१०॥
इत्यादि ॥

यहां पर अङ्गिरस ऋषियों को भोजा नाम से पुकारा गया है। आसन्दी में भोजों का स्थान दक्षिण दिशा में निश्चित किया गया है (ऋचो अक्षरे देखें), वही स्थान इन्हें ऋ. वे. १०-१०७-११ भी देता है जैसे—

"भोजमश्वाः सुष्टुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥"

यह पूरा सूक्त दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का वर्णन भोज नाम से कर रहा है। लोगों ने यहाँ आये 'दक्षिणा' शब्द का अर्थ ब्राह्मणों को दी जाने वाली पैसे, टके, वस्त्र, गौ, अश्व आदि की दक्षिणा (दान) समझ कर बड़ा भारी धोखा खाया है। दानीय दक्षिणा का यहाँ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसका निराकरण यह ऋचा कर देती है।

दक्षिणा

"तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥"
(ऋ० वे० १-१०-१०७-६

क्या आर्य लोग उसी को ऋषि, ब्राह्मण, यज्ञकर्ता' सामगा, उक्थ-शासक, शुक्रज्ञ और तीन वेदों का ज्ञाता समझते थे जो पहिले ही दक्षिणा को ठहरा लेता था? नहीं, यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि "वही ऋषि है, वही ब्राह्मण है, वही यज्ञकर्ता है

वही सामगा उक्थशासक और शुक्रज्ञ तथा तीनों वेदों का ज्ञाता है जो 'दक्षिणा' पथ या उत्तरार्द्ध की सृष्टि का अच्छा ज्ञाता है।" क्योंकि उसमें महत्वपूर्ण तत्त्वों का विवेचन है। इन दो भागों को, ऋ. वे. १-६२-७ में 'द्विता वि वव्रे सनजा सनीले' से दो भाग करने की बात लिखी है साथ में चार नदियों का भी वर्णन है 'मध्वर्ण-सो नद्यश्चतस्रः' (ऋ. वे. -६२-६)।

ये अङ्गिरस ऋषि पितरों में गिने गये हैं। ऋ. वे. १०-१४ सूक्त पितरों और यम का है। उसमें भी इन अङ्गिरस ऋषियों का वर्णन ठीक पूर्वोक्त शैली के अनुसार इस प्रकार दिया हुआ मिलता है।

अङ्गिरस और पितर "मातली कव्यै र्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयाऽन्ये मदन्तिः ॥३॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥४॥
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य ॥५॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥६॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभि र्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥७॥
...इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥१५॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥८॥"

इन मन्त्रों में मातली या इन्द्र पक्ष में इन तत्त्वों को कव्य काव्य या भृगवः कहते हैं, यम विकास पक्ष में इन्हें अङ्गिरस कहा जाता है, और बृहस्पति के विकास पक्ष में इन्हें 'ऋक' नाम से पुकारा जाता है। ऋक नाम मरुतों का है जिसका स्पष्ट प्रमाण ऋ. वे. ५-५२-१ का मंत्र।

"प्र श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः।
ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः ॥"

है। इसमें ऋक्व शब्द मरुतों का विशेषण स्पष्टतया है। बृहस्पति का विकास वायु या मरुत या विद्युत्स्वरूप में होता है। विद्युत् मरुत् रूप है। अतः 'ऋक्वभिः' मानें 'विद्युद्भिः' बैठता है।

"संविद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्मयः ॥२॥
विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः ॥
(ऋ. वे. ५-५४-२, ३)

इनके अन्य नाम भी हैं जैसे अङ्गिरसों को नवग्व और दशग्व भी कहते हैं (१०-६२-६ और १०-१४-६.)। भृगुओं या काव्यों को सोम्या या सोम्यासः नाम से

भी पुकारा जाता है क्योंकि इनका सम्बन्ध इन्द्र और सोम से है। भृगु को वरुण का पुत्र कहा है। वरुण २४ वां तत्त्व है जैसे 'भृगुर्वै वारुणिः' (ऐ. ब्रा. ३-३-३४)। इस भृगु की उत्पत्ति वरुण के विकास वैश्वानर से बताई गई है (वहीं)। इनके अतिरिक्त वैदिक नाम - प्रतिसप्तक को एक वेद के नाम से पुकारने में इन चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों को 'अथर्वाण' नाम से पुकारा जाता है, प्रथम तीन पादों या त्रिपादामृतों के तत्त्वों को क्रम से ऋक यजुः और साम कहते हैं।

('तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' पु. सू.)

इस सूक्त के सप्तम और अष्टम मन्त्र बड़े महत्व के हैं। ये दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को दो 'पथ्या' या पन्था नाम से पुकारते हुए उत्तरार्द्धीय उक्त तत्त्व रूप पितरों से प्रार्थना करते हैं कि वे पूर्वजों और 'पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः' 'पूर्वेभिःपथिभि': या पूर्वार्द्धीय तत्त्वों के पथ्या या भाग (उत्तरायण) की ओर अपने दक्षिणायन से चलें जहाँ वे पहिले उस राजा यम फिर उस राजा वरुण का दर्शन कर सकेंगे जो (दोनों), स्वधा के आनन्द में भरपूर मग्न हैं। तब यम के साथ या संयम के साथ इष्टापूर्त द्वारा तुम परमे व्योमन् या आदि ब्रह्म को प्राप्त हो सकोगे। इष्टापूर्त पूर्वार्द्ध में उत्तरार्द्ध का क्रमिक लय योग है। वहां फिर जो कुछ भी त्रिपादामृतीय तथा उत्तरार्द्धीय निम्न स्वरूप (अवद्य) रह जायगा उसे भी उस आदि ब्रह्म में अस्त कर दो और वहाँ मात्र वर्चस्वी तेजस्वी शरीर में मिल जावो।

बृहदारण्यक उपनिषद् ने 'अङ्गिरस' शब्द की निरुक्ति इसीलिए बिलकुल वैज्ञानिक दर्शनानुसार देते हुए लिखा है

अङ्गिरस शब्द की व्याख्या

"सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वाऽङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति एष हि वा अङ्गानां रसः" और श. ब्रा. ने पुनः लिखा है "अङ्गारेभ्योऽङ्गिरसः समभवन्" (४-५-१-८)। गो. पू. (३-४) ने लिखा है कि जो अङ्गिरा है वही रस है 'येऽङ्गिरस स रसः' और इसी ने यह भी लिखा है कि वरुण ने तप किया तो उसके अङ्गों से जो रस निकला वही अङ्गिरस हुए (१-७)। श. प. ब्रा. ने पुनः लिखा है कि अङ्गिरा नाम प्राणों का है (६-१-२-२८) 'बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः' अर्थात् आङ्गिरस नाम के तत्त्व अङ्गरूप प्राणों के रस के समान हैं। इसमें 'अङ्गानि' नाम चतुष्पाद् ब्रह्म के प्रथम चार पादों या चरणों का है जिन्हें सप्तक भी कहते हैं। अतः सातों सप्तकों में से प्रथम चार को तो अङ्गानि कहा जाता है और अन्तिम तीन सप्तकों को पक्ष पुच्छानि जैसे 'चत्वार्यमून्यङ्गानि आत्मा त्रयः पक्ष पुच्छानि' (श. प. ब्रा. ६-१-२-९ ; ६-१-१-६; १०-२-२ पूरा भी देखें)। इसका विशद वर्णन 'चतुष्पाद्ब्रह्म' शीर्षक में किया जा चुका है, वहां देख लें। इस उद्धरण में प्राणा और अङ्गानि नाम चतुष्पाद् ब्रह्म रूप आत्मा के हैं, उसके रस रूप ये आङ्गिरस ऋषि तत्त्व चतुर्थ सप्तक के भौतिक ब्रह्म या भौतिक शब्द ब्रह्म की रसमयता का संकेत करते हैं।

चतुर्थ सप्तक का नाम भौतिक पर्वत है, मौञ्जवान्, मूजवान् (मूजवतोऽतीहि इत्यादि) नामी पर्वत हैं। यह सोम पर्वत है, इसीलिए ६-७३-१ में बृहस्पति को अद्रिभित् और आङ्गिरस कहा है, अद्रिभिद्बृहस्पति ही आङ्गिरस सोमरस रूपी पर्वत है। २-२३-१८ में इस कथन की पुष्टि करते हुए 'बृहस्पति ने 'गवां (आदित्यानां)' या गाय रूप आदित्यों के गोत्र या पर्वत रूप अङ्गिरसों की सृष्टि की' करके लिखा है। दोनों उद्धरण पहिले दे दिये गये हैं फिर पढ़ लें। ऊपर उल्लिखित १०-१४-४ मंत्र में 'इमं यम प्रस्तर मा सीदाऽङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः' का 'प्रस्तर' भी यही अद्रि या सोम रूप भौतिक पर्वत है। इन अङ्गिरस ऋषियों का वर्णन इन्द्र सूक्त ऋ. वे. १-६२-२ से ७ तक ने दिया है उसे भी देख लें।

'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुघ्नो तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥'

(अथर्व) के सम्बन्ध में पहिले बतलाया जा चुका है कि यहां उल्लिखित वाक् अत्रि या वाचस्पति है, और उनके साथ वर्णित सात ऋषि यही अङ्गिरस ऋषि हैं। इन ऋषियों के नाम बृह. उप. ने क्रमशः दे रखे हैं।

"इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्नि-रिमावेव वशिष्ठकश्यपावयमेव वशिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः" (बृह. उप. ४-२-४)।

ऐ. ब्रा. ३-३-३४ में लिखा है कि वैश्वानर से तृतीय देदीप्यमान आदित्य से जो अङ्गार निकले उन्हीं को अङ्गिरस या अङ्गारा कहते हैं "अथ यत्तृतीयमदीदेवत आदित्या अभवन्येऽङ्गारास्तेऽङ्गिरसोऽभवन्यदङ्गाराः" यहीं पर बृहस्पति को इन्हीं अङ्गिरसों के अङ्गारों से उद्दीप्त अग्नि बतलाते हुए लिखा है "पुनर वशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पतिरभवत्" (वहीं)।

अध्याय ५१

विश्वकर्मा वाचस्पतिः

विश्वकर्मा देवता या तत्त्व न केवल वेदों में ही एक मुख्य तत्त्व है अपितु पुराणों तथा लौकिक संस्कृत में भी इसकी बड़ी महिमा मानी गई है। विश्वकर्मा देवता या तत्त्व का सीधा सम्बन्ध विश्व या भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना से है। यह तत्त्व वेदों तथा पुराणादिकों में नाना रूपों में वर्णित किया गया है। जब इस तत्त्व को केवल निर्माण कारण रूप में, नाना रूपों में निर्माण रचना करने वाले व्यक्ति के समान वर्णित करते हैं तब इसे विश्वकर्मा कहते हैं, जब इसे कुम्भकार की तरह घट-घट (व्यक्ति व्यक्ति) के निर्माता के रूप में वर्णित करते हैं तब इसे कुम्भकार की तरह घट घट (व्यक्ति व्यक्ति) के निर्माता के रूप में वर्णित करते हैं और कुलाल या घृतमत्कुलायी कहते हैं। जब इसे गायत्री के चतुष्पादों के अनुसार विश्वस्य कर्ता कहते हैं तब इसे चतुर्मुख ब्रह्मा कहते हैं, प्रत्येक मुख एक-एक पाद का प्रतीक है जो क्रमिक सप्तक हैं जिनसे क्रम से ऋक् (स्वर) यजुः (दीर्घ स्वर) साम (प्लुत और अनुनासिक स्वर) तथा अथर्व ऊष्माणादि विकसित होते हैं। अतः इस ब्रह्मा के चार मुख रूप चार पादों से क्रम से चार वेद निकलने की गाथा—तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि अक्षरशः वैज्ञानिक दार्शनिकता पूर्ण है और शतप्रतिशत सत्य है। विश्व शब्द की व्याख्या 'विश्वेदेवता' शीर्षक में दी जा चुकी है वहीं देख लें। इतना स्मरण अवश्य दिलाना है कि वैदिकों ने विश्व शब्द का प्रयोग संज्ञा रूप में सदा भौतिक सृष्टि के लिए ही किया है, सर्वनाम अर्थ में तो सर्वनाम ही है जैसे—

विश्वकर्मा की नानारूपता

'विश्वा जातानि परि ता बभूव'

(ऋ. वे. १०-१२१-१०)

जब इस विश्वकर्मा को पालन कर्ता रूप में वर्णित करते हैं तो इसे चतुष्पाद् की जगह चतुर्भुज विष्णु कहते हैं, जब ब्रह्मचारी या गायत्री ब्रह्मचारी रूप में वर्णित करते हैं तब इसे वामन कहते हैं। जब इसे पञ्चात्मा (ब्रह्म रुद्र इन्द्र वरुण सोम) रूप में या रौद्र रूप में वर्णित करते हैं तब इसे पञ्च मुख रुद्र भी कहते हैं इत्यादि। इसका नाम शब्दब्रह्म सरणि में वाचस्पति है यह तो वाचस्पति शीर्षक में बतलाया जा चुका है। इसका निश्चित स्थान कौन है इसका निर्णय ऋ. वे. १०-८२-१, २ मन्त्र कर देते हैं जिसमें लिखा है कि यह विश्वकर्मा देवता चक्षुः रूप सूर्य (२५ वें तत्त्व) का पिता है, अतः २४ वाँ (अत्रि-नामक) तत्त्व है और प्रजापति है (श. प. ब्रा. ७-४-२-५), संवत्सर है (ए. ४-४२), आदित्य है (कौ. ५-५)। इन्द्र ने जब वृत्र को मारा तब वह विश्वकर्मा बना (ऐ. ४-२२)। यजुर्वेद १३-५८ और श. प. ब्रा.

८-१-२-९ में विश्वकर्मा को तात्त्विक ऋषि तथा वाग् नाम से घोषित करते हुए लिखा है कि यह अखिल ब्रह्माण्ड वाक् (ब्रह्म) ही से उत्पन्न होता है। अतः वाक् नामक इस तात्त्विक ऋषि को विश्वकर्मा या विश्वकर्ता कहते हैं जैसे—

विश्वकर्मा ऋषि रिति।

वाग्वै विश्वकर्मर्षेर्वाचा हीदं सर्वं कृतं भवति तस्माद्विश्वकर्मर्षिः ॥"

यह वाणी परावाक् है जिसकी कथा वाक् शीर्षक में दी जा चुकी है वाक् रूप में यह विश्वकर्मा तत्त्व प्रजापति है अतः लिखा है।

"वाग्वै प्रजापतिः प्रजापतिर्वै वाक्"

(श. प. ब्रा. ५-१-५-६)

इसकी पुष्टि में इसे अङ्गिरस सात ऋषियों से परे भी कहा गया है "यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः।" (ऋ. वे. १०-८२) अङ्गिरस ऋषि वाचस्पति के विकास हैं यह अङ्गिरस ऋषि शीर्षक में बताया जा चुका है। इस सरणि से भी इसका स्थान २४ वाँ ही बैठता है। इस सम्बन्ध में विश्वकर्मा देवता के दो उपलब्ध सूक्तों का संक्षेप में अर्थ दे देना आवश्यक है क्योंकि लोगों ने इस देवता को भलिभाँति समझ ही नहीं पाया है, सब गोलमाल कर रखा है।

विश्वकर्मा के बारे में एक इतिहास भी है। कहा जाता है कि विश्वकर्मा भौवन नाम के एक ऋषि थे, राजा भी थे। उन्होंने सर्वमेध यज्ञ में सर्वस्व हवन कर दिया, अन्त में अपने शरीर की भी आहुति दे दी। विश्वकर्मा देवता का नाम उन्हीं राजर्षि की पुण्य स्मृति में रखा गया है। इस सूक्त के ऋषि भी वही हैं। इस इतिहास का उल्लेख ऋ. वे. १०-८१-१ में ही स्वयं दिया गया है। ये राजर्षि आर्यों के पूर्वजों में से एक थे। उन्होंने ऐसा दार्शनिक आदर्श उपस्थित करके अपनी और आर्यों की कीर्ति अमर कर दी। सूक्त में दार्शनिक तत्त्व रूप विश्वकर्मा का उक्त ऋषि से तादात्म्य कर दिया गया है जिसे समझने में गड़बड़ी का अनुभव नहीं करना चाहिए। इतिहास तो इतना ही है कि उक्त नाम के ऋषि ने सर्वमेध करके सर्वस्व हवन करके अपना भी हवन कर दिया, बस। शेष सब देवता का वर्णन है। विश्वकर्मा देवता भी अपना हवन या परिवर्तन करके सृष्टि को अग्रसर करता है।

विश्वकर्मा का इतिहास

ऋ. वे. १०-८१—(१) जिस सर्वमेधी सर्वहोता राजर्षि ने सर्वमेध में इस अखिलब्रह्माण्ड के अखिल भुवनों को हविरूप में अर्पण करके, स्वयं उस अग्निवेदी में हविरूप में बैठ गया, वह मनमें सोमरूप द्रविण या शक्ति की इच्छा करता हुआ, नये रूप से नाना नूतन स्वरूपों (भौतिकरूपों) को प्राप्त हो गया। (२) वह कौन सा मौलिक अधिष्ठान (आधार भूत तत्त्व) था और वह कैसा तथा कितना छोटा या बड़ा था जिससे विश्वचक्षु स्वरूपी विश्वकर्मा ने अपनी महिमा या शक्ति से द्यावा-पृथिवी का निर्माण किया। (द्यौ तो आध्यात्मिक थी उसे भी भौतिकता से मढ़ा

और भौतिकता को तो सम्पादित किया ही) । (३) वह विश्वकर्मा, सर्वतोश्चक्षु-रूप (सर्वतो अङ्कुर रूप) था सर्वतोमुख था जहाँ से चाहो वही से बोल सकता था, वह सर्वतोबाहु था कहीं से भी काण्ड रूप में विकसित हो सकने वाला था, किसी भी ओर वृद्धि को पा सकने में समर्थ होने से सर्वतोपाद भी था, वह प्रथम दो सप्तकों के प्राणों की धौकनी से जीवित सा प्रतीत होने लगा (सं बाहुभ्यां धमति), तथा पतत्र या सुपर्ण या सोम द्वारा उसने द्यावाभूमि को केवल एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म देवता स्वरूप में निर्मित कर दिया। (४) वह कौन सा बन था जिसमें यह सृष्टिवृक्ष उगा ? वह सृष्टिवृक्ष कैसा था ? जिसमें द्यावाभूमि रूप दो यमल फलों का निर्माण हुआ। इस विषय में वैदिक दार्शनिकों ने गम्भीरतया प्रश्न किये या विचार किया जिसका परिणाम यह निकला कि वह वन या बृक्ष वह है जो इस व्यक्त भौतिक ब्रह्माण्ड के नाना भुवनों (लोकों गोलों) का अधिष्ठाता तत्त्व या मौलिक आधारभूत तत्त्व (पञ्चात्मा) है। (५) विश्वकर्मा के चतुष्पाद रूप चार मुख्य धाम हैं, प्रथम धाम परमाणि धामानि है जिसमें आठ धाम या तत्त्व हैं, द्वितीय पाद मध्यम धामानि हैं इसमें भी सात धाम या तत्व हैं, तृतीय पाद अवम धाम है इसमें भी सात धाम या तत्त्व है, तथा चतुर्थ धाम (इमा) ये भौतिक धाम हैं, हे विश्वकर्मन् तुम हमें सब ऋषियों (सखिभ्यो) को इन सबका यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होने दो और स्वयं हविरूप या सोमरूप में अपनी स्वधा या शक्ति या आध्यात्मिकता से सुरक्षित होकर, अपने आप वृद्धि पाते हुए दिव्य शरीर का विकास करो। (६) हे विश्वकर्मन् सोमरूप हवि से स्वयं वृद्धि या विकास को प्राप्त होते हुए द्यावाभूमी का विकास भी साथ साथ करो, और लोग तो सृष्टि के इस प्रकार के विकास की पद्धति को न जानकर चारों ओर से एकदम अन्धकार में पड़े रह जाते हैं, हम लोगों का पथ प्रदर्शक तत्त्व तो मघवा इन्द्र नामक तत्त्व तथा मघवा नाम का कोई ज्ञानी ऋषि है जिसने हमें यह ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान दिया। हम आज शब्द ब्रह्म स्वरूप (भौतिक) विश्वकर्मा को, जो हमारी कामना (काम या इच्छा) का मूल बीज है, इस यज्ञ या ज्ञान विकास परम्परा या कर्मकाण्ड के अभिनय में प्रार्थना के लिए आहूत करते हैं, वह हमारी अखिल हवियों को स्वीकार करता है। वह सबकी रक्षा के लिए सबका कल्याणकारी दैवी भौतिक दिव्य शरीर है, अतः सदा साधुकर्मा है।"

ऋ. वे. १०-८२-१—(१) चक्षुरूप सूर्य का पिता, कामरूप बुद्धि से युक्त, विश्वकर्मा ने प्राणरूप पूर्वार्द्ध की आध्यात्मिक सृष्टि या पूर्व सृष्टि को, जिसका कोई मान (प्रमाण परिमाण) नहीं था, उसके ओर छोरों तक को दृढ़ कर दिया, फिर उस पूर्व आध्यात्मिक द्यावापृथिवी को भौतिकात्मा का खोल पहिना कर नवीन स्वरूप में विकसित किया। (२) वह विश्वकर्मा, आद्विहाया या व्याप्त स्वरूपी और विमना या विभूतमना), त्रिपादामृत को धारण करने वाला धाता तथा नवीन सृष्टि को करने वाला विधाता है, वह चक्षुषः पिता होने से सम्पूर्ण अग्रिम विकासों का द्रष्टा (संदृक्) तथा भौतिकता का परम या आदि तत्त्व है। इसकी विकसित नवीन

सृष्टियाँ चतुर्थ सप्तक के आपों (जलों) की रसमयता से आनन्दमयी बनती हैं, उन नवीन सृष्टियों के प्रथमावतार अङ्गिरस आदि सात ऋषि रूप तत्त्व हैं जिन सबसे इस विश्वकर्मा को प्रत्येक या आदि का तत्त्व कहते हैं। विश्वकर्मा २४ वें से ही अङ्गिरसादि सप्तऋषियों का विकास आरम्भ होता है। (३) इस प्रकार जो विश्वकर्मा हमारा पिता है, जनक है, विधाता है और आठों धामों (षडष्टकों) का तथा अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्यशरीर ज्ञान रूप आत्मा है, जिससे देवताओं के पृथक्-पृथक् नाम मिलते हैं, वह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म स्वरूप 'सम्प्रश्न' या नाना-रूपाकारों का मूल बीज रूप है, उसीसे निखिल व्यक्त ब्रह्माण्ड के गोल अपने-अपने स्वरूपों को व्याप्त करते हैं। (सम्प्रश्न=सम्यग् सर्वतः पृश्निः रूपबहुलः 'पृश्नि इति रूप नाम')। (४) वे पूर्व ऋषिगण (अङ्गिरसादि सप्त) विकास पद्धति में द्रविण रूप सोम का यजन या विकास करते हुए असुरूप (असूर्ते सूर्ते) दोनों प्रकार के मर्त्यामर्त्य प्राणों को भौतिकात्मा में सन्निविष्ट करके, इस अखिल ब्रह्माण्ड के आदि भूत तत्त्वों की रचना कर गये। (५) विश्वकर्मा तत्त्व से बहुत-बहुत पहिले, दिव नामक सप्तक से भी बहुत पहिले, इस भौतिकात्मा रूप सोम से भी बहुत पहिले, देवता रूप पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की सृष्टि से भी पहिले, तथा दैवीरूप आसुरी सृष्टि से भी बहुत पहिले, कःप्रजापति ने कम् या आपो ब्रह्मरूप ने सबसे पहिले ब्रह्म को अपने गर्भ या गुणों में धारण किया या लपेट लिया, उस गर्भ में समस्त अग्रिम विकासीय तत्वरूप देवता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लग गये थे कि उन्हें कभी विश्वेदेवता का रूप (भौतिक रूप या विश्वकर्मा का रूप) मिल जायेगा। (७) "इसके पश्चात् पूर्वार्द्ध की सृष्टि का विकास हो जाने पर उस अजब्रह्म को २४ वें तत्त्व की नाभि या विश्वकर्मा रूप भौतिकात्मा के खोल का आधार मिल गया जिसमें अखिल ब्राह्मण्ड के भौतिकरूप का मूल बीज उपस्थित हो चुका था।" (८) जिसने इस विश्वकर्मा का विकास इस भौतिक स्वरूप में पृथक् रूप में किया है उसे (जानना हँसी-खेल नहीं है; कठिन है) सब नहीं जान सकते। क्योंकि इन दोनों में ही बहुत बड़ा भारी अन्तर है। इन दोनों का व्याख्यान नीहार (कुहरे) के अन्धकार से घिरा है। अतः सृष्टि के स्रोत के खोजी, उसकी व्याख्या प्राणरूप में आत्मा (पञ्चात्मा) रूप में करके तृप्त होते हैं, इसी को सर्वत्र (जल्प्य) कहना उचित है। यही श्रेय और प्रेय मार्ग है। वैदिक व्याख्यान ही जल्प्य या कथनीय है। शेष 'कः' में देखें।

अध्याय ५२

देवता और विश्वेदेवाः

१—देव और विश्वेदेव में अन्तर

ऋग्वेदादि विश्वेदेवों में प्रायः उन्हीं देवताओं की स्तुतियों की पुनरुक्ति मिलती है जिनकी प्रार्थना पृथक्-पृथक् सूक्तों या मन्त्रों में की गई है। तब प्रश्न उठता है कि इनकी इस प्रकार पृथक् सामूहिक प्रार्थना करने का क्या आशय है? यदि ये वेही तत्त्व हैं जिनकी प्रार्थना पृथक्-पृथक् की गई है तो उनके सूक्तों का संक्षिप्त संस्करण कर इनकी प्रार्थना क्यों नहीं की गई? इनका यह स्वतन्त्र विधान और स्वतन्त्र नाम विश्वेदेवः क्यों रखा गया? बड़ी कठिन समस्या है। स्पष्ट बात यह है कि 'विश्वेदेवाः' नाम उन तत्त्वों का है जो चतुर्थ पाद या सप्तक में भौतिक स्वरूप को सर्व प्रथम धारण कर लेते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय पाद के जो तत्त्व चतुर्थ सप्तक में 'पूषा' नाम या 'आत्रेय सम्पद्' नाम को धारण करते हैं उन्हें विश्वेदेवाः कहते हैं। प्रथम तीन पादों में वसु, रुद्र और आदित्य आते हैं। इन्द्र, रुद्रों और आदित्यों का अभेद है। अन्तिम चार रुद्र और आदि के आठ आदित्य इन्द्र नाम से पुकारे जाते हैं। अग्नि तो सभी देवताओं का नाम है, विशेषकर प्राणाग्नि; वसुरग्नि, परिजातवेदा, जातवेदा या अतिथि। प्रथम तीन सप्तकीय अग्नियों के नाम हैं। वायु भी ४९ हैं; सूर्य और चन्द्र या सोम तो आदित्यों के भेद हैं, चतुर्थ सप्तक के ही तत्त्व हैं। विष्णु यद्यपि सर्वादेवता है फिर भी यह आठवाँ आदित्य या सोम का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार रौद्री शाखा में 'महोदेवो वृषभो रोरवीति' महोदेव नामक तत्त्व भी सोम का ही प्रतिनिधि है, ईशान सूर्य का और ब्रह्मणस्पति तो आदि तत्त्व है, परन्तु यह तत्त्व विकास पाकर चतुर्थ सप्तक में बृहस्पति या अङ्गिरस कहलाता है, इसीलिए 'बृहस्पति वृषभो रोरवीति' भी (बृहस्पति देखें) कहा गया है। तार्क्ष नाम सूर्य का है, अरिष्टनेमि सोम (ओषधिः) का, वायस (सुपर्ण द्वितीय) भी सोम ही है। गय नाम अत्रिरूप प्राणाग्नि का 'मनः' है। ऋभु नाम के तत्त्व भी ३१ वें से ३४ वें तक के हैं। भग नामक तत्त्व तो २७ वां है, अदिति तो सर्वादेवता है पर चतुर्थ सप्तक की अदिति ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' में अदिति के आठ पुत्र प्रथम आठ आदित्य कहलाते हैं। इन आदित्यों का नाम भी अदिति है, अतः इसे 'स्वसादित्यानां' कहा है। दक्ष, २४ वें अत्रि का पूर्वार्द्ध है, क्रतु उसी का उत्तरार्द्ध। इन्हीं को क्रम से मित्र और वरुण भी कहते हैं। मित्रावरुण या दक्षक्रतू का परिणाम अर्यमा में होता है, वही सूर्य बनता है। सरस्वती का उद्भव २४ वें पूषा (अष्टपशु) से होता है। पृथिवी नाम चतुर्थ सप्तक और उत्तरार्द्ध का है। द्यौ आदि तत्त्व है, वही इस चतुर्थ सप्तक में भौतिक पृथिवी बन

जाता है। पर्वत नाम प्रत्येक पर्वीय तत्त्व का है। बड़े पर्वत सप्तक हैं, प्रथम तीन महापर्वत आत्मीय हैं, चतुर्थ सप्तक में वे भौतिक या ग्रावाण या पारदर्शी तत्त्व स्फटिक दिव्यशरीरी सोम में परिणत हो जाते हैं। अतः इस ग्रावाण को सोमसुत कहा गया है, यह औषधि रूप है, अतः इसे मयोभुव या स्वास्थ्यरक्षक कहते हैं। अश्विनी, २५ वां तत्त्व है, सोम २६ वाँ है, पूषा का नाम पायुः रक्षिता या अपान है, प्राण, उदान, समान की उत्पत्ति प्रथम तीन सप्तकों में हो जाती है। वृद्धश्रवा इन्द्र सोम का प्रतिनिधि है। पृश्निमातर नाम गावः का है। गावः आदित्यों की प्रतिनिधियाँ हैं। मनु नाम सप्तकों के आदि ब्रह्मों का है, पर प्रथम भौतिक मनु का नाम विवस्वान् है, २७ वां पुरुषपशु है। इस प्रकार प्रथम चार सप्तकों के तत्त्वों का चतुर्थ सप्तकीय विकास विश्वेदेवाः कहलाता है। इसीलिए जै. ब्रा. (१-३२) ने विश्वेदेवताओं की संख्या ३२ दी है। विश्वेदेवताओं की सबसे उत्तम व्याख्या ऋ. वे. ३-५५ 'महद्देवानामसुरत्वमेकं' के टेक वाले सूक्त में मिलती है जिसमें मुख्य विश्वेदेवताओं का विशिष्ट वर्णन दिया गया है, पढ़ना आवश्यक है।

वेदों में 'विश्व' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं स्थलों में किया गया है जो विश्वेदेवों से सम्बन्ध हैं। 'विश्वं' माने 'विशिष्टाः विशेषणरूपेण स्वाः श्वाः (शुनः) प्राणाः यस्मिन् तत् 'विश्वम्' भौतिकं (ब्रह्माण्डीयम्) दिव्यं शरीरम्। इसकी पुष्टि में जै. उ. (३-३-६) ने लिखा है 'तदन्नं वै विश्वं प्राणो मित्रम्'; यहां पर विश्व को अन्न या भौतिक कहा है। इसीलिए पुरुषसूक्त ने 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' में प्रथम त्रिपादों को दिवि में और चतुर्थ पाद को 'विश्वाभूतानि' या भौतिक तत्त्वानि' नाम से पुकारा है। इसी प्रकार—

२—विश्वशब्द का अर्थ

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः'

में भी यह 'विश्वतः' चक्षु मुख पाद वाला तत्त्व भी इसी चतुर्थ भौतिक सप्तक के सोमवाची तत्त्व का वर्णन करता है। यही बात

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

मन्त्र भी इसी सप्तक के सोम या विष्णु तत्त्व के व्याख्यान में कहता है। क्योंकि चक्षु या पाद या शिरों में 'सहस्रता' यहीं से उत्पन्न होती है, यद्यपि सोम तक सब तत्त्व एक में सहस्रत्व रखते हैं। 'चक्षुः' तत्त्व तो (अक्षि भी) इसी सप्तक का २१ वां सूर्य तत्त्व है इसमें तो सन्देह की गुञ्जायश ही नहीं है। सविता तत्त्व सोम या विष्णु नामक २६ वें तत्त्व का वाची है; अतः उसकी प्रार्थना में भी 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, 'यद्भद्रं तन्न आसुव' में सविता से 'विश्वानि दुरितानि' या भौतिकानि दुरितानि को दूर करने और भद्र गुणानि प्रथम तीन सप्तकीय त्रिपादमृत को देने की प्रार्थना की गई है। जिस प्रकार—

'अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥'

में प्रथम तीन सप्तकों को तीन भाई कहा है, पलित, होता और घृतपृष्ठ (विश्पति सप्तपुत्र) तृतीय सप्तक पूर्वार्द्ध है, मध्यम अश्नन् २५ वां तत्त्व है और वाम नाम पूर्वार्द्ध का है, दक्षिण उत्तरार्द्ध का। यजुर्वेद ने प्रथम चार सप्तकों को क्रम से बन्धु, सुबन्धु प्रियबन्धु और विश्वबन्धु नाम से पुकारा है और इस विश्वबन्धु को प्रथम तीनों ने मारा ऐसा लिखा है। यह विश्वबन्धु भौतिक तत्त्वीय चतुर्थ सप्तक है जिसे बन्धन के कारण शत्रु या भ्रातृव्य भी कहते हैं, शूद्र जाति का भी। श्राद्ध में कुश के चार ब्राह्मण बनाये जाते हैं, इसे पार्वण श्राद्ध कहते हैं। ये चार ब्राह्मण चतुष्पाद् ब्रह्म के प्रतीक हैं जिनमें से एक का नाम विश्वेदेव, अन्य तीनों का पितृ, मातृ माता-महीय ब्राह्मण होता है। ये तोन तो प्रथम त्रिपादमृत के प्रतिनिधि होते हुए विश्वेदेव रूप चतुर्थ सप्तक के भौतिक पिण्डों के सूचक हैं। भौतिक शरीर शूद्र कहलाता है, अतः विश्वेदेव को उन तीनों से भस्मरेखा द्वारा भौतिक दीवार द्वारा पृथक् (शूद्रतया) रख दिया जाता है। हमारी स्मृतियों और पुराणों में जो 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते' कहा गया है उसका तात्पर्य भी यही है कि हम अपने भौतिक शरीर में उत्पन्न होकर शूद्ररूप में शूद्रतत्त्व रूप के भौतिक शरीर में जन्म लेते हैं। और—

"आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥"

के अनुसार हममें आचार्यत्व ब्रह्म का है, पितृत्व प्रजापति का, मातृत्व पृथिवी देवी और चतुर्थसप्तक का है और भ्रातृत्व भग देवता का विभाजित स्वरूप जो दोनों भाइयों का एक सा है। देवताओं का सोमपान इसी भौतिक तत्त्वमय शरीर का धारण करना कहलाता है। चन्द्र नाम, इसी सोम का भौतिक दिव्यशरीर है। उसकी क्षीण कला पितरों की है क्योंकि पितृतत्त्व सोम या चन्द्र की प्रथम कला या मनः कलारूप शरीर धारण करते हैं अथवा यह कहना चाहिए कि वे सूक्ष्म भौतिक मनः शरीर ग्रहण करते हैं। इसीलिए मनोरूप कृष्णपक्ष पितरों को प्रिय हैं। देवता तत्त्व उत्तरोत्तर वृद्धिगत सोम या चन्द्र के स्थूल शरीर हैं। अतः वे शुक्लपक्षप्रिय कहलाते हैं। विश्वकर्मा, वैश्वानर, विश्वावसु, विश्वश्रवा, विश्वामित्र, इत्यादि विश्व विशेषणपूर्वक जितने नाम हैं वे जहाँ पर तत्त्ववाचीरूप में प्रयुक्त किये गये हैं वे सबके सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार ऋ॰ वे.(१-५०-१) 'उदुत्यं जातवेदसं दृशेविश्वाय सूर्यम।' में विश्वशब्द भौतिक सृष्टि का वाचक है। दशम मण्डल के 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' सूक्त में इन्द्र को उत्तरायण या पूर्वार्द्ध का विकसित देवता तथा 'विश्व' भौतिकता से पूर्व उदीयमान या अभौतिक तैजासात्मीय तत्त्व बतलाया गया है न कि इस लौकिक जगत् से परे। 'विश्वस्मात्' माने भौतिकात्, भौतिकता से परे का तत्त्व है, वह अपनी तैजसात्मा से इस भौतिक दिव्यशरीर को प्रकाशित करता है या वृत्ररूप स्थूल भूतीय अन्धकार का नाश करता है। यही बात निम्न ऋचा के विश्वशब्द में पाई जाती है।

"विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम।
जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥"
(ऋ. वे. १०-२८-१)

विश्वकर्मा सूक्त में 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' इसी रहस्य का उद्घाटन करता है। दाशराज्ञ युद्ध में 'भरता अर्भकाः' शब्द विश्वामित्र के अनुयायियों के लिए आया है, वह इसी चतुर्थसप्तक का निर्देश करता है। वसु प्रथम पादीय तत्त्व है पर जब उनका विकास चतुर्थ सप्तक तक पहुँच जाता है तब वे विश्वावसु कहलाते हैं। विश्वामित्र माने विश्वरूप भौतिक अमित्र शत्रु है, मित्र २४ वां शुद्ध तत्त्व है। अमित्र, मित्र का विकास रूप भौतिक तत्त्व है। इसी प्रकार विश्वावसु की भी निरुक्ति वैदिक निरुक्ति कहलायेगी। पाणिनि का 'मित्रे चर्षौ' सूत्र वैयाकरणीय अवैदिक व्युत्पत्ति देता है। वैदिक व्याकरण दूसरी वस्तु थी। वह देवताओं या तत्त्वों के नाम और रूपों की व्याख्या करता रहा। अतः वैदिक दर्शन का प्रमुख अंग कहलाता था। इसीलिए "नामरूपे व्याकरवाणि" वाक्य कहा गया है। अब इस प्रकार के वैदिक व्याकरण रूप व्याख्या या भाष्य का सर्वथा लोप हो गया है कहीं नामोनिशान तक नहीं है।

३ विश्वेदेवता कौन-कौन

विश्वेदेवाः तत्त्वों में वरुण भी दो हैं, पहला आदि अभौतिक वरुण, दूसरा भौतिक। दूसरे की बात बताई गई है, प्रथम आपोब्रह्म का देवता है। जिस अक्षरब्रह्म को सलिल, आप, समुद्र आदि के नाम से पुकारा गया है वही आपोब्रह्म है। जब इसका विकास भौतिकता में सम्पन्न होता है तब इसे मित्रावरुण कहते हैं। विश्वानर या वैश्वानर अग्नि भी भौतिक अग्नि है। आदि अग्नि ब्रह्म है। जब इसका पूर्ण विकास भौतिक अग्नि में २६ वें सोम नामक तत्त्व में होता है तब इसे वैश्वानराग्नि कहते हैं। यह अग्नि सौम्य भागीय अग्नि है। इसमें आसुरी भौतिक भाग वृत्र की चिता लगाने की कथा दी गई है (वृत्र देखें)। भस्मधारीरुद्र की श्मशान भूमि वही वैश्वानराग्नि की चिता है और उनके शरीर में प्रलिप्त भस्म इसी भौतिक तत्त्व के दैवी स्वरूप का चूर्ण या भस्म है।

४—विश्वेदेवताओं की व्याख्या

'विश्वेदेवाः' में देवताओं का अधिक व्याख्यान है। क्योंकि इनकी भावना नर-नारी रूप में की गई है। इस भावना की सिद्धि के लिए यह विश्वेदेवीय चतुर्थ सप्तक 'नृषद्' नाम से या नरसद् नाम से पुकारा जाता है। नृषद् माने नरों की गोष्ठी या सप्तक होता है। शिव, विष्णु, इन्द्र, सोम, आदि जितने देव हैं उनमें से प्रत्येक को या सरस्वती, दुर्गा (पार्वती) सती, लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि को नर रूप में या नारी रूप में वर्णित करना उक्त नृषद् नाम की सिद्धि करता है। नारायण नाम भी इसीलिए पड़ा है। इस चतुर्थ सप्तक को 'समुद्र' कहते हैं, नर माने जल होता है। नर-नारी (प्राणी) का जन्म जल (वीर्यविन्दु के जल) से होता है, इसीलिए गीता ने यह कहा है कि

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

यह मानुषी तनु इसी सप्तक की मादुष रूप मानुष या नर तनु है जिसे जो अपठित तत्त्व का पर्याय न समझ कर सचमुच में मनुष्य देहधारी समझते हैं, वे मूर्ख हैं। यह चतुर्थपाद है। अतः प्रत्येक विश्वेदेव को चतुर्भुज या चतुर्मुख या चतुष्पाद् ब्रह्म रूप में वर्णित किया गया है। त्रिनेत्र रुद्र त्रिपादमृत है, यही त्र्यम्बक है, यही त्र्यायुष है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गाथा वैज्ञानिक और पारिभाषिक रहस्य से भरी है। विष्णु की शेषशय्या वृत्ररूप अहि के भौतिक शरीर को आधार बनाना या स्वीकार करना है। शेष के शिर में पृथिवी का होना इस शेष पर ही पृथिवी की सृष्टि को बढ़ाने का बोझा है, हमारी पृथिवी का नहीं, अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक सृष्टि रचना का पूर्णभार इसी वृत्ररूप भौतिक तत्त्व अहि या शेष के सिर में है। इसमें अनन्त बीज हैं, वे क्रमशः विकसित होंगे। अतः इसे अनन्त या सहस्रमुख कहते हैं। कितना वैज्ञानिक और पूर्ण दार्शनिक विवेचन है। इसकी आजकल मखौल उड़ाई जाती है। पर वैदिकों ने इस विषय पर सन्देह हीन भाषा में लिखा है कि विश्वेदेवता अवतरणीय अविता और नर रूप धारण किये देवता से वर्णित किये गये हैं। ये उत्त-रोत्तर सवन या प्रसवन देते या करते रहते हैं जैसे—

"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥"
(ऋ॰ वे॰ १-३-७)

शाकपूणि ने ठीक लिखा है "यदेव विश्वलिङ्गम् तद्वैश्वदेवं" कि जो अखिल ब्रह्माण्ड का मूल प्रतीक (लिङ्ग) व्यक्त या भौतिक तत्त्व है उसे वैश्वदेव कहते हैं। जिन सूक्तों में एक से अधिक देवताओं का वर्णन है उन्हें विश्वेदेवता सूक्त कहते हैं पर अभितष्टेव (ऋ. ३-३८) इन्द्र सूक्त कई देवताओं का वर्णन करता है पर इन्द्र सूक्त ही कहलाता है। अतः इसे एक लिङ्ग सूक्त कहते हैं। जो ऐसे बिना नाम के सूक्त हैं जैसे १०-१०६ उन्हें अलिंग सूक्त कहते हैं। ऋ॰ वे॰ ८-२९ में 'वभ्रुरेको' इत्यादि भी अलिंग सूक्त हैं।

५— कुलाल ब्रह्म

कहां तक कहें। जिसको 'धृतमत्कुलायी' या कुलाय ब्रह्म कहते हैं वह भी विश्वेदेव ही है, भौतिकता युक्त ब्रह्म है। यही सरस्वती का पिता और पति कहलाता है। यहां सरस्वती ही भौतिकता है जो इसी ब्रह्म से उत्पन्न होती है (२४ वें पूषा नामक तत्त्व से) और यही इसका पति भी है, कोई अनोखी बात नहीं। अपनी बनाई या रची या ली हुई वस्तु का सब कोई पति और पिता कहलाता है। यहां जनकत्व मात्र पितृत्व है, द्रष्टृत्व या भोक्तृत्व मात्र पतित्व; हमारे पारिवारिक लौकिक जनक पतित्व का यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। सरस्वती सौम्य भागीय देवतत्त्वीय भौतिकता या प्रकाशमय भौतिकता है। अतः यह अन्धकारमय भौतिकतारूप वृत्र की हन्त्री कही गई है। ध्यान रहे भौतिकता सदा दो प्रकार की होती है, सौम्य और आसुरी। प्रथम का सोम द्वितीय को असुर या वृत्र या अहि आदि दानवीय नामों या कामों से

पुकारा जाता है। सौम्यभाग प्रकाशमान् दिव्यशरीरी है। आसुरी भाग की स्थूल सृष्टि आसुरी है। जिसके प्रत्येक अंश में एक प्रकाशमय दिव्यशरीरी परत है उसी को सोम या देवता या आत्मा या ज्ञान (भौतिकात्मा दिव्यशरीर) के आधार या नाम से पुकारते हैं। त्रिपादमृत की प्रकाश किरणें इस सोम (चन्द्र) रूप दिव्यशरीर में पड़ती हैं, तब यह दिव्यशरीरी सोम या चन्द्र हमारे भीतर-बाहर सार्वजनीन रूप में अधिक प्रकाशित या अधिक प्रकाश करता है। इसी प्रकाश में स्थूल भौतिकी असुर रूप देहों, पिण्डों, गोलों और प्राणियों की दिनचर्या चलती है। इसीलिए सोम का इतना महत्त्व है। सोम आधार के बिना किसी भी जड़-चेतन में प्रकाश या ज्ञान की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती, यह नितान्त निश्चित है। और हमारा यह अखिल ब्रह्माण्ड या गोल या देह इसी सोमात्मा से प्रकाशित परत का या कुलाल ब्रह्म का परिवर्द्धित शरीर है। यही अधिक प्रकाशित और प्रकाशमय दिव्यशरीर ही विश्वानर या वैश्वानराग्नि कहलाती है जिसकी चिता या प्रकाश में उसीसे परिवर्द्धित परिविकसित स्थूल भौतिकशरीर नित्य जलता या जीवित या ज्ञानमय बना रहता है। यह न हो तो समस्त ब्रह्माण्ड अन्धकारमय हो जाय। आधुनिक सांख्य वालों ने इस सोमात्मा ग्रावाण देवता को स्फटिक शिला और त्रिपादमृत को पुरुष कहकर प्रथम को जड़, द्वितीय को चेतन मान रखा है। स्फटिक-शिलामय सोम स्वयं चैतन्यमय और प्रकाशमय है। त्रिपादमृत उसमें अधिक प्रकाश कर उसमें सार्वजनीनता, विश्वबन्धुता, विभुता और व्यापकता लाता है।

भौतिकता वैसे दो प्रकार की बतलाई जा चुकी है, सोमभागीय और आसुरी। सोमभागीय प्रकाशित प्रकाशमय परत का अभ्युदय भी आध्यात्मिक भौतिकता से होता है। अतः अब भौतिकता तीन प्रकार की हो गई; सोमीय, आसुरी और आध्यात्मिक। पर यह आध्यात्मिक भौतिकता भी तीन प्रकार की है। इसे त्रिपादमृत कहते हैं। ये आध्यात्मिक भौतिकतायें अमर हैं, अमृत हैं, विभु हैं और व्यापक हैं। वे इतनी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हैं कि अनिर्वचनीय सी हैं। सूक्ष्म भौतिकात्मा का नाम तैजसात्मा (मन) है, सूक्ष्मतर भौतिकात्मा का नाम जीवात्मा (रुद्र) है और सूक्ष्मतम भौतिकात्मा का नाम अक्षर ब्रह्म है या खं ब्रह्म है। इस अक्षर ब्रह्मरूप भौतिकात्मा के सूक्ष्मतम स्वरूप में अखिल ब्रह्माण्ड के गोलों, मण्डलों, ग्रहों, उपग्रहों, जड़-जीवों के उसी प्रकार के अतितम सूक्ष्मतम बीज समिध या अक्षर या विभक्ताविभक्त रूप में एकमय होकर 'मधु' की तरह रहते हैं। शुद्ध बुद्ध ब्रह्म इस अक्षरब्रह्म का आधार है, एकमय होकर रहते हैं, एक से होकर रहते हैं। अक्षर ब्रह्म के बीज पुरुष कहलाते हैं, वे ब्रह्म में सो जाते हैं या मिल जाते हैं, एक प्राणमय हो जाते हैं, एक अणोरणीयान् महतो महीयान्, बिन्दु बन जाते हैं। अब ध्यान रहे, अक्षरब्रह्म चेतनचेतनों का बीज होने से सचेतन और सर्वकर्म कर्तृत्व क्षम है। यहां का कोई अंश अचेतन हो ही नहीं सकता, सब विभु, व्यापक, चेतन और अमृत हैं। शुद्धब्रह्म में किसी भी स्थिति में कभी कोई भी किसी भी प्रकार का विकार

६ भौतिकता का आरम्भ

नहीं आता, जो कोई विकार या विकास होते हैं वे सब अक्षरब्रह्म में ही आते हैं। इस अक्षरब्रह्म का नाम अव्यक्त है

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' (गीता)

इसी परमगति का नाम प्रलय की अन्तिम श्रेणी या रेखा है।

'सा काष्ठा सा परा गतिः।'

इसी का नाम पुरुष है।

'पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ)।

इसी का नाम प्रकृति है या प्रकृतिपुरुष है। प्रकृति नाम पुरुष से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। प्रकृति माने—

'प्रकर्षेण सूक्ष्मतमेन रूपेण कृतिः सत्ता, कस्य ऋतिः कृतिः स्थितिः'

अक्षरब्रह्म की सूक्ष्मतम स्थिति का नाम प्रकृति है। ध्यान रहे यह तो आद्या प्रकृति है, सांख्य की नहीं; 'कः' नाम अक्षरब्रह्म का है। शंकराचार्य ने भी प्रकृति शब्द का प्रयोग शुद्धब्रह्म के लिए किया है यद्यपि वे उसे उपादान कारण भ्रम से मानते रहें।

'चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम्'

(२-१-११ अन्तिम पंक्ति)।

चेतन ब्रह्म तो भौतिकता को लेकर ही हो सकता है। भौतिक अचेतन में ही चैतन्य कहा जा सकता है। चैतन्य तो चैकारिधर्मा है, ब्रह्म शुद्ध बुद्ध; यह असम्बद्ध, अदार्शनिक और अवैज्ञानिक मत है। चेतनता अक्षरब्रह्म में होती है। अतः वह पुरुष कहलाता है, चेतनता पुरुषादि का धर्म है। शुद्धब्रह्म पुरुष नहीं, ब्रह्म ही है। अक्षरब्रह्म में अपनी और ब्रह्म की दोनों की चेतनता विभक्ताविभक्त रूप में है। अस्तु। यह प्रकृति महानात्मा है, महापुरुष है और अव्यक्त भौतिकात्मा का सूक्ष्मतम अमृतमय स्वरूप है। इसका विकास प्रथम दश तत्त्व तक 'सत्' के बीजरूपों के प्रथम विकास रूप मौलिक आकाश या वैद्युतीय खंब्रह्म स्वरूप में होता है जिसे ब्रह्म या अक्षरब्रह्म का विकास कहते हैं, दूसरे चरण में नवें तत्त्व के बाद इसका विकास जीवात्मा या रुद्र नामक मौलिक वायव्य स्वरूप में होता है। १७ वें के बाद रूपात्मा या तैजसात्मा या बुद्धि या तप का उदय होता है, पर २६ वें में यह सोमात्मा भौतिक दिव्यशरीरी स्वयं प्रकाशित या प्रकाशमय बन जाता है तब इसे 'व्यक्त' नाम से पुकारते हैं। इसी व्यक्त का नाम 'बुद्धि' है (सांख्य में)। इसी को तमो गुण भी कहते हैं। तैजसात्मा सांख्य में रजोगुण है, यद्यपि 'रजः' नाम वेदों में व्यक्त भौतिकता के लिए ही आया है। यह तो अतितम सूक्ष्मतम भौतिक अणु है, यह 'व्यक्त' केवल आध्यात्मिकता से पूर्ण भौतिकता में पनपने के लिए कहा जाता है। ५० वां तत्त्व परमाणु है वह भी व्यक्त नहीं, पर व्यक्ततम भौतिक कहलाता है विराट् व्यक्ततर। पर लौकिक दृष्टि से ये सब अव्यक्त ही हैं। ये सब भेद अव्यक्तों ही के हैं। दृश्य ब्रह्माण्ड का निर्माण, परमाणु बनने के बाद जब षड्परमाणु का, पृथिवी का परमाणु बनेगा तब उसके त्रसरेणु से व्यक्त बन पायेगा। तबतक सब अव्यक्त हैं। यहाँ

भौतिक तत्त्व को आध्यात्मिक भौतिकता से सोमीय भौतिकता में परिणत होने के कारण व्यक्त कहा गया है, अन्यथा लौकिक व्यक्तता यहाँ कहाँ से। यह व्यक्त तो दिव्यशरीरी है, भौतिकात्मा ही है।

जब वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदारण्यकों में 'इदं शरीरम्', 'अयमात्मा', 'असौ लोकः 'अयं पुरुषः', 'योऽयं पुरुषः', 'एतत् मण्डलं', एतत्क्षेत्रं' इत्यादि पदों का प्रयोग किया गया है, तब ये शब्द हमारे वैयक्तिक स्थूल ब्रह्माण्ड के लिए, वैयक्तिक जैसे क्षुद्र वस्तु के लिए प्रयुक्त न होकर, अखिल ब्रह्माण्ड के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वह अखिल ब्रह्माण्ड भी आज जैसा दृश्य ब्रह्माण्ड है; उसके लिए न होकर उसके दिव्यशरीर सोमात्मा या विश्वेदेवीय शरीर आत्मा या क्षेत्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों को हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में केवल सोमात्मा त्रिधात्मा-प्रकाशित स्वयं प्रकाशमान के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है न कि इस स्थूल पिण्ड वाले हाथ, पाँव, आँख, नाक वाले शरीर के लिए। हमारे वैदिकों की इतनी बड़ी स्थूलवादी दृष्टि या बुद्धि कदापि नहीं रही।

७—इदं शरीरं अयमात्मा आदि शब्दों की व्याख्या

उपनिषदों या वेदों की सारभूत भावना भरी गीता ने जब 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' कहा है तब इस शरीर रूप क्षेत्र की व्याख्या में साफ लिखा है कि क्षेत्र वे तत्त्व हैं जिन्हें ऋषियों ने वेदों के नाना मंत्रों के छान्दस दर्शनों तथा ब्रह्मसूत्रपदों और हेतुविद्या विशारदों के द्वारा निर्णीत किया है जैसे—

८—उक्त शब्द और गीता

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।
इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥" (१३-५, ६, ७)

इसी क्षेत्र का नाम योनि भी है। इसीलिए अन्यत्र कहा है

'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय' (७–६)

प्रत्येक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र की योनि है। क्षेत्रों की योनि महद् ब्रह्म या 'अक्षर ब्रह्म' है

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥" (१४-३, ४)

शुद्ध बुद्ध ब्रह्म पिता के नाम से पुकारा जाता है जैसे यहीं लिखा है और ७-६ में

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'

स्पष्ट लिखा है। अक्षरब्रह्म माता है शुद्धब्रह्म पिता। माता या क्षेत्र या शरीर का नाम ही पृथिवी है। यह पृथिवी सात प्रकार की है और इसके सात क्षेत्र हैं उन्हें—

'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्'

नामक क्षेत्र या पृथिवी या शरीर कहते हैं। अक्षरब्रह्म को अव्यक्त कहते हैं। इन क्षेत्रों में से प्रथम तीन को अन्तरिक्ष, पृथिवी, दिवं नाम से भी पुकारते हैं। द्यौ नाम पिता ब्रह्म का है 'द्यौस्ते पिता' (ऋ. १-१६४)। प्रत्येक क्षेत्र एक एक तत्त्व है, भौतिक क्षेत्र सोम है, बुद्धिरूप है। आध्यात्मिक क्षेत्र गायत्री के २४ तत्त्व हैं, क्षेत्रज्ञ कुछ और ही वस्तु है।

'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (१३-१)।

यह क्षेत्रज्ञ अक्षरब्रह्म का आदि विकास है, जो अक्षर ब्रह्म के वायवीय (मौलिक) सनातन नित्य स्वरूप में द्वितीय अमृतरूप में या वायवीय स्वरूपी जीवात्मा का प्रस्फुरण कर देता है। इसीलिए लिखा है।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (१३-२)

और

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुगन्धानिवाशयात् ॥" (१५-७, ८)

जीवात्मा भौतिक है परन्तु अमृतस्वरूपी भौतिक है, सचेतन है, शुद्धबुद्ध ब्रह्म उसे यहाँ सुषुप्ति से प्रबुद्धि में लाता है या प्रबुद्ध कर देता है या जागृत मात्र कर देता है और वह होता चेतन बुद्ध और सनातन ही है।

क्षेत्री नाम शुद्धबुद्ध ज्योतिष्मान् ब्रह्म का है। उसी का प्रकाश अखिल ब्रह्माण्ड में ज्ञान रूप में बिखरा रहता है और उसे प्रकाशित करता है।

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
९—क्षेत्रक्षेत्रज्ञ क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥"
(१३-३३ गीता)

यह क्षेत्री शुद्ध बुद्ध ब्रह्म अनादि निर्गुण (अपाणिपाद त्रिपदामृत से पृथक्) है और इस शरीर (ब्रह्माण्ड) में रहते हुए भी न इसका कर्ता है न इसमें प्रलिप्त ही होता है।

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥"
(१३-३१ गीता)

तब शंकराचाव जी का उपादानकारण ब्रह्म कौन हुआ ? यह शांकरवेदान्त वालों को बता देना चाहिए।

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'

वाक्य के ब्रह्म का कर्तृत्व और कर्मत्व तो है ही नहीं तब कैसा वेदान्त है इसका ? सीधा उत्तर यह है कि जब शुद्ध बुद्ध ब्रह्म संवत्सर या काल या स्वभाव से अक्षर ब्रह्म में परिणत हो जाता है तब वह उपादान कारण होता है। शुद्ध बुद्ध ब्रह्म, पुरुषोत्तम ईश्वर, परमात्मा कहलाता है। अक्षर ब्रह्म पुरुष। शुद्ध बुद्ध पुरुषोत्तम ब्रह्म से परे हैं; इसका प्रमाण भी गीता देती है।

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

और

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥"

यहाँ स्पष्ट लिखा है कि यह मत वैदिक है

'अतोऽस्मि लोके वेदे च'

यह ब्रह्म एक होते हुए अनेक का एक है प्रकृति पुरुष का एकत्व है। इसी से सृष्टि का वैदिक क्रमानुसार अभ्युदय होता है। अक्षर ब्रह्म ही पुरुष, काल या स्वभाव ब्रह्म या वैदिकों का संवत्सर ब्रह्म है। इसमें ८,६४,००००००० अक्षर समिध् कला या स्वभाव या भाव या जातजनित्व के बीज रूप पुरुष एक रूप में, एकत्व रूप में अभिन्न रूप में रहते हुए क्रमशः विकसित होते जाते हैं।

ऐतरेय उपनिषद् ने (९-२) में यह लिखा है कि महासमुद्र में जब देवताओं की मानसिक (मन्यु से मनः से) सृष्टि हुई उन्हों ने अपने उस आयतन के बारे में पूछा जहां वे अन्नाद हो सकें। उन्हें गौ का रूप दिखाया या बताया गया, वे सन्तुष्ट न हुए, तब अश्व का रूप दिखाया फिर भी प्रसन्न न हुए, अन्त में पुरुष का रूप दिखलाया तो वे बोले वह अत्यन्त अच्छा है। क्या भाव है इसका ? क्या सचमुच में गाय, घोड़े, मानव का रूप दिखलाया ही नहीं। मानसिक सृष्टि अक्षर ब्रह्म के अक्षर गुच्छाक्षर या सप्तकीय मौलिक तत्त्वों के बीज हैं। पहिले उनका विकास गाय के चार थन रूप चार सप्तकों या पादों में केवल वाणी रूप में की गई। वाक् का विकास स्वाहा, स्वधा, वषट्कार, हन्तकार रूप में होता (वाचं धेनुमुपासीत तस्या श्चत्वारस्तनाः स्वाहा स्वधा हन्तकारो वषट्कारश्च) है। इससे सृष्टि का एक तिहाई विकास हुआ, तब अश्व रूप प्राण रूप क्रम से प्राण, उदान, व्यान और अपान की सृष्टि की गई उसी क्रम से, तब दो तिहाई सृष्टि हुई। अन्त में तीसरी सृष्टि भौतिकाक्षरों की कीगई जिससे प्रजापति रुद्र, इन्द्र और सोम की सृष्टि हुई। इसीलिए इस कथानक में इन्द्र से इन्द्ररूप में इस भौतिक तत्व को सबसे पहिले जाने जानेकी बात कही गई है, इसी से भौतिकता का बिदारण हुआ, इसी ने पहिले इसे जाना भी अतः इन्द्र कहलाया। ये पुरुष रूप तत्त्व हैं, विश्वेदेवीय तत्त्व हैं जिनका अमृतमय भौतिक विकास अन्त में सोम नामी भौतिक दिव्य शरीर में परिणत होता है। इस सोम रूप दिव्य शरीर से स्थूल भौतिक अन्धकारमय वृत्र या अन्नाद की सृष्टि का या आसुरी सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः इस अभीष्ट सिद्धि की इस अभिलाषा या लोभ से वे अक्षरब्रह्मीय मानसिक देवता प्रसन्न हुए और कहने लगे 'सुकृतं बतेति'। पुराणों में इसी कथा के आधार पर लिखा गया है कि देवता लोग मनुष्य शरीर धारण करने के लिए सदा लालायित रहते हैं। सोम भौतिक दिव्य शरीर का

१० ऐतरेयउप० में सृष्टि

ही नर या मानव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह 'नृषद्' वासी है जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। अतः देवताओं की देह धारणेच्छा इसी सोमात्मा भौतिक दिव्य शरीर में या विश्वेदेवीय पुरुष रूप में उदित होने की आकांक्षा का नाम है। इस प्रकरण में मुख, नासिका, कर्ण, वनस्पति, चन्द्रमा, हृदय आदि शब्द, या गर्भादि शब्द हमारे शरीर या जन्म का वर्णन न देते हुए, अखिलब्रह्माण्ड की क्रमिक सृष्टि विकास को भौतिकतामय चतुर्थ सप्तक तक का व्याख्यान करते हैं। और सीधे लोगों को भी पूरा धोखा देते हैं। विश्वेदेवताओं की दूसरी सबसे उत्तम व्याख्या स्वस्ति वाचन के मन्त्रों के आदि में भी दे दी गई है।

———

अध्याय ५३

रेतः, रेवती और वज्रः

वेदों में रेतस् और रेवती शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इनकी बड़ी विचित्र पारिभाषिकता है जिसके जाने बिना इनका रहस्य ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। अब इसकी वैदिक व्याख्या देखें।

१—रेतः रेतस् प्रथम पुरुष में विद्यमान रहता है।

"रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति' (ऐ० ३-२)।

यह हृदय में स्थित रहता है, 'रेतः हृदये' (३-१०-८-७)। यह नाभि से पूर्व रहता है 'अवाङ्नाभे रेतः'(श०ब्रा० ३-३-४-२७)। रेतस् वृष्ण्य होता है 'रेतो वै वृष्ण्यम् (यजुः १८-११२)। सोम का नाम वृष्ण और अश्व का रेतस् है 'सोमो वै वृष्णो अश्वस्य रेतः' (तै० ३-९-५,५)। रेतः नाम सोम का है 'रेतः सोम,' (श०ब्रा०३-३-२-१ और कई स्थलों में अन्य ब्राह्मणों में भी) सोम रेतस् को धारण करता है "सोमो रेतो ऽदधात्' (तै० १-६-२-२)। रेतस् से आपः (देवियों) की सृष्टि होती है 'आपो रेतः प्रजननम्' (तै० ३-३-१०-३)। आपः भी रेतस् ही है 'आपो हि रेतः' (ताण्ड्य ८-७-९)। पयः भी रेतः है 'पयो हि रेतः' (श० ब्रा० ९-५-१-५६)। रेतः नाम घृत का भी है (यजु १७-७९) 'रेतो वै घृतम्' रेत आज्यम्' (श० प० १-३-१-१७)। रेतः नाम ओदन और अन्न का भी है 'रेतो वा ओदनः' 'रेतो अन्नम्' (श० ब्रा० १३-१-१-४, गो० पू० ३-२३)। प्राण भी रेतः है 'प्राणो रेतः' (ऐ० २-३७)। तनूनपात् भी रेतः है 'रेतो वै तनूनपात्' (श० ब्रा० १-५-४-२) हिरण्य भी रेतः है 'रेतो हिरण्यम्' (तै० ३-७-२-४)। वाणी भी रेतः है 'वाग् रेतः (श० ब्रा० १-५-२-७)। रेतः शुक्ल होता है 'शुक्लं वै रेतः। (ऐ० २-१४)। स्त्री पयस्या और रेतः वाजिन् है 'योषा पयस्या रेतो वाजिनम्' (श० ब्रा० २-४-४-२१)। रेतः की सिक्ति पात्नीव्रत ग्रह कहलाता है 'रेतःसिक्तिर्वै पात्नीव्रत ग्रहः।' (वौ १६-६-ऐ० ए-३) रेतः अछिद्र होता है 'रेतो वा अछिद्रम्' (ऐ० २-३७)। रेतः सूर्य का होता है 'सौर्यो रेतः' (तै० ३-९-१७-५)। रेतः बिन्दुरूप होता है 'द्रप्सीव हि रेतः' (श० ब्रा० ११-४-१-१५) रेतः त्रिवृत् होता है 'त्रिवृद्धि रेतः'(ताण्ड्य ८-७-१४)। रेतः २५ वां तत्त्व है' पञ्च विंशं हि रेतः' (श० प० ७-३-१-४३)। यह रेतः यज्ञ है 'रेतो वा अत्र यज्ञः' (श० ब्रा० ७-३-२-९)। संवत्सरे 'संवत्सरे रेतःसिक्तिर्जायते' (कौ० १९-९)। वायु रेतः का विकर्ता है प्राण रेतः का विकर्ता है, प्राण दोनों रेतः के विकर्ता हैं 'वायुर्वै रेतसां विकर्ता, प्राणो हि रेतसां विकर्ता, प्राणोदानौ वै रेतः सिक्तं विदुरुत" (श० ब्रा० १३।३-७-१, ९-५-१-३६)। रेत ही प्रजाति है 'रेतः प्रजातिः'

(श० प० १४-९-२-६)

रेवती नाम भारद्वाज ऋषि की भगिनी का भी है, भारद्वाज ऋषि को चक्षु कहा गया है। 'रेवत्यामरवन्त' रेवती में रममाण होते हैं (तै० १-५-२-९-)।

रेवती पूषा की है, गौवें उत्तरार्द्ध में, वत्स पूर्वार्द्ध में रहते हैं।

२—रेवती 'पूष्णो रेवती गावः परस्तात् वत्सा अवस्तात्'

(तै० १-५-१-५)

रेवती साम की ज्योति है

'ज्योती रेवती साम्नाम्' (ताण्ड्य) (१३-७-२)

जो बृहत् है वही रैवत है 'यद्बृहत्तद्रैवतम् (ऐ० ४-१३)। गायत्री का नाम भी रेवती है 'गायत्रो वै रेवती' (ताण्ड्य १६-५-१९) रेवतियाँ मातृ हैं 'रेवत्यो मातरः (ताण्ड्य १६-९-१७)। रेवतियों का रस वारवन्तीय है।

'रेवतीनां रसो यद् वारवन्तीयम् ' (ताण्ड्य १३-१०-५)।

'रेवती आप हैं 'रेवत्यः आपः' (श०प०१ १-२-२-२, तै० ३-२-७-२ ताण्ड्य ८:९-२०), जो आपः का रस है वही रेवती है'

अपां वा एष रसो यद्रेवत्यः' (ताण्ड्य १३-१०-५)।

रेवती पशु है 'पशवो वै रेवत्यः' (ताण्ड्य १२-१०-११, १३-९-२५, १३-१०-११) वाक् ही रेवती है 'वाग्वै रेवती' श०ब्रा० ३-६-१-१२) रेवतियाँ तो सर्वदेवता हैं 'रेवत्यः सर्वादेवताः' (ऐ० २-१६)

वज्रो वा अभ्रिः (श०ब्रा० ३-५-४-२)। वज्रो वै परशुः (श०प० ३-६-४-१०)। वज्रः शासः (२१-१-३-६-१-५)। त्रिवृद्वै वज्रः (कौ० ३-२)। वज्रो वा आपः (श०प० १-१-१-१७) पञ्चदशो वै वज्रः (श०ब्रा० १-३-५-७)। वज्रो वै भान्तः पञ्चदशः

३—वज्रः (यजुः १४-२३)। वज्रो वै चषद्यः (तै०१ -७-१०-५)। वज्रो वै शरः (श०ब्रा० ३-१-३-१३)। वज्रो यूपः (कौ० १०-१)। वज्रो वै यूप-शकलः) श०प० ३-७:१-५)। वज्रो वै रथः (तै० १-३-६-१)। वज्रो वै पशवः (श०प०६-४ ४-६)। वज्रो वा अश्व (श०प० ४-३-४-२७)। वज्रो वै चक्रम् (तै० १-४-४-१०) वज्रो वै ग्रावा (श०प० ११-५-९-७)। वज्रो वा आज्यम् (श०प० १-४:४-४)। वज्रो वै त्रिष्टुप् (श०प० ७-४-२-२४)। वज्र एव वाक्)ऐ० २-२१, ४-१)। वज्रो वै वषट्कारः (ऐ० ३-७) वज्रो वै हिंकारः (कौ० ३-२)। वज्रो वा एष यत्षोडशी, (ऐ० ४-१)। संवत्सरो वज्रः (श०प० ३-६-४-१९) वीर्यं वज्रः (श०प० ७-२-१-१९) वज्रो वा ओजः (श०प० ८-४-१-२०)। अष्टाश्रिर्वज्रः (ऐ० २-१)। दक्षिणतो उद्यामो हि वज्रः (श०प० ८-५-२-१३) 'पुरो गुरुरिव हि वज्रः (ताण्ड्य ८-५-२)

———

अध्याय ५४

इन्द्रः स्वराट्

मध्यमः प्राणः

सर्वा देवता इन्द्र की व्याख्या में सबसे पहिले श० प० ब्रा० (६-१-१-१, २) को लीजिए। इसमें लिखा है कि सृष्ट्यादि में ऋषि नामक तत्त्व थे, वे प्राण रूप सप्तर्षि थे। उन्होंने जब 'यथापूर्वमकल्पयत्' की इच्छा की तो वे इन्ध नामक मध्यप्राण रूप में प्रवर्तित हुए वे ही मध्य प्राणेन्द्रिय से इद्ध (दीप्त) होकर इन्द्र कहलाने लगा। उससे सप्त नाना पुरुषों (७×७ =४९) की उत्पत्ति हुई जैसे 'असद्वा इदमग्र आसीत्।

१—सर्वा देवता इन्द्र

तदाहुर्किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेसदासीत्तदाहुः
के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषय स्ते यत् पुराऽस्मात्सर्वस्मा-
दिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।
स योऽयं मध्येप्राण एषएवेन्द्र स्तानेष प्राणान्मध्यत
इन्द्रियेणैन्ध यदैन्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्या
चक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्त
इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥'

बृहदारण्यकोपनिषद् ने इसी बात को दूसरे ढंग से कहा है। उस आदि पुरुष की इच्छा का द्यौः शरीर है, वह ज्योतिर्मय रूप का है, जितना बड़ा मन उतनी ही बड़ी द्यौ हुई, उन दोनों के मिथुन से प्राणों की उत्पत्ति हुई, वही इन्द्र कहलाता है वह असपत्न अद्वितीय और एक है जैसे

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्य-
स्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसौ आदित्यस्तौ
मिथुनं समेतां ततः प्राणो ऽजायत स इन्द्रः स एष
असपत्नोऽद्वितीयो वै सपत्नो नास्त्य सपत्नो भवति य एवं वेद।"

(१-५-१२)

ऐतरेय उपनिषद् और ऐतरेय ब्राह्मण दोनों इस बात को दूसरे ढंग से कहते हैं! उपनिषद् ने लिखा है कि इन्द्र सबसे पहिले उस ब्रह्म पुरुष को देख सका, अतः उसे 'इदिन्द्र' कहते थे, और इदिन्द्र कहते कहते उसे इन्द्र कहने लगे, क्योंकि देवता परोक्ष रूप में रहना अच्छा समझते हैं जैसे

"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमितीं।
तस्मादिदिन्द्रो ह वै नाम तमिदिन्द्रंसन्तमिन्द्र-
इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया हि देवाः ॥"

(तृतीय खण्ड)। इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद (२--११-१६७ और १-१०१-५) भी करते हुए लिखता है

"इदिन्द्र वा जमग्मन्" "यो ब्रह्मणो प्रथमो गा अविन्दत्"।

ऐ० ब्रा० (३-२-२२) लिखता है कि इन्द्र ने ब्रह्म को सबसे अधिक समोप जाकर स्पर्श किया और सब देवताओं ने पहिले जाना कि यह ब्रह्म है, इसीलिए उसे सब देवताओं में ज्येष्ठ कहा जाता है जैसे

इन्द्रो ह्येनन्नेदिष्टं परपर्शुः स एनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति तस्माद्वा
इन्द्रो अतितरामिवान्यान् देवान् तस्मादिन्द्रो देवानामधिकोऽभवत्।।"

इस बात की पुष्टि ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त (ऋ० वे० १०-९०-१०) 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' वाक्य से करता है कि उस आदि ब्रह्म के मुख या मुख्य प्रथम तत्त्व रूप में पहिले इद्ध या इन्द्र और अग्नि दोनों उत्पन्न हुए। बृहदारण्यक पुनः इसका समर्थन करते हुए लिखता है। 'यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" जैसा कि इसने पहिले द्यौ और मन का मिथुन बता रखा है। (२-८-४-१२)। अतः ऐ० ब्रा० (७-१६) लिखता है कि यह सब देवताओं में अधिक ओजस्वी, बली, साहसिक, उत्तम और पार लगाने वाला है जैसे

"इन्द्रो वै देवानामोजिम्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः।"

इसी इन्द्र की व्याख्या प्रायः अधिक सूक्तों में है। उनमें से एक ऋ० वे० २-१२,

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्'

इत्यादि है। उक्त सब व्याख्यानों का आधार ऋग्वेद ही है जो इन्द्र को सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बतलाता है जैसे

"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥"

(ऋ० वे० १०-१२०-१) और

इन्द्रज्येष्ठान बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
यथायथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥"

(ऋ० वे० ४-५४-५)

यह पञ्चपर्वा विद्या है।

सर्वा देवता इन्द्र के निम्न वर्णन में 'अहं' पद भौतिकात्मा का प्रतिनिधि है। भौतिकात्मा युक्त इन्द्र विश्वेदेवता होता है। अतः 'अहं' नाना रूप लेता है। वही इन्द्र सर्वादेवता है जिसके प्रमाण निम्न संकेतित ऋग्वेद के तीन सूक्त हैं। इनमें वामदेव आदि ऋषि, इन्द्र का तादात्म्य वैदिक दर्शन के विभिन्न तत्त्वों के साथ परोक्ष रूप में करते आये हैं। वामदेव ऋषि के जिस सूक्त का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् भी करता है (१-१-४-१०) ब्रह्मव्याख्या-ब्रह्म वा इदमग्रमासीदित्यादि) वह सूक्त इस प्रकार है।

२—सर्वादेवता इन्द्र के प्रमाण

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे ऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥
अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥
अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥
प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ॥ ४ ॥
भरद् यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥ ५ ॥
ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥ ६ ॥
आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ७ ॥

ऋ० वे० ४-२६ पूरा

यह पूरी ब्रह्म की व्याख्या है (बृहदारण्यक देखें)। अन्तिम तीन ऋचायें सोम की व्याख्या करती हैं (सोम देखें)। ऋग्वेद दशम मण्डल में इसीप्रकार के दो और सूक्त हैं जो इसी सूक्त के विस्तार से प्रतीत होते हैं क्योंकि इनका ऋषि और देवता दोनों 'इन्द्रो वैकुण्ठः' बताया गया है; किसी अन्य का नाम नहीं दिया गया है।

"अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवो ऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥ १ ॥
अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने ॥ २ ॥
मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च ॥ ३ ॥
आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ॥ ११ ॥

इत्यादि ॥ (ऋ० वे० १०-४८)

तीसरा सूक्त इस प्रकार है—

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिता ऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥ १ ॥
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्ण्वा ददे ॥ २ ॥
अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥ ७ ॥

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम्॥ ८॥
अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये॥ ९॥
(इत्यादि ऋ० वे० १०-४९ पूरा)

इन तीन सूक्तों की शैली में दो और सूक्त मिलते हैं जिनमें से ऋ० वे० ४-४२ सूक्त का ऋषि त्रसदस्युः, पौरुकुत्स्यः है और देवता 'आत्मा' बताया गया है।

"मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः॥ १॥
अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त"॥ २॥
अहमिन्द्रो वरुणस्ते···,अहमपो···,अहं ता विश्वा चकरं····,
(इत्यादि ३, ४, ६)

दूसरा सूक्त ऋ०वे० १०-१२५ में है। इसके ऋषि और देवता क्रमशः वागाम्भृणी और आत्मा हैं। यह इन्द्र वैकुण्ठ के सदृश है, जैसे

"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥
··· अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
···अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे॥ इत्यादि॥ ८॥

ये सब वर्णन सर्वादेवता सम्बन्धी हैं। पांचो सूक्तों की शैली एकसी है। ऋग्वेद में अधिकांश में इसी सर्वा देवता इन्द्र का वर्णन है। उदाहरण के लिए ऋ० वे० ३-३२-८ लीजिए—

"इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः॥"

शत क्रतु या पुरन्दर नाम का इन्द्र १०० दिनों या अंशों का इन्द्र है। यह अग्निरूप इन्द्र या संवत्सर ब्रह्म के १०० मध्यवर्ती दिनों के विकास को बतलाता है।

३—शतक्रतु या पुरन्दर इन्द्र

इन्ध, इद्ध नामक इन्द्र ही जब इध्म नामक इन्द्र बनता है तब इसे शतक्रतु या पुरन्दर कहते हैं। १०० अंशों या दिनों को पार करना ही शतक्रतुता शतकर्मता या शतपूरी भेदनता है। पूः नाम एक-एक तत्त्व रूप पुरी का है, वही विकास शैली में एक-एक कर्म या क्रमिक कर्म या क्रतु कहलाता है, वही संवत्सर

ब्रह्म बाद में १०० दिनों या $\frac{१००}{१५}=६\frac{२}{३}$ तत्त्वों का प्रतीक होता है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व १५ दिन का होता है। इन्हीं १०० पुरः या दिन या क्रतुओं का नाम दुर्ग भी है। इन सब में ९९ दिन, पुर, क्रतु या दुर्ग को पार करना ही वर्णित है, क्योंकि १०० वें में तो वे क्रतु, दिन, पुर, दुर्ग सब सफल हो जाते हैं या प्राप्त ही हो जाते हैं। यह वैदिकों का ९९ का बड़ा गम्भीर फेर है। यही पुरन्दर इन्द्र कहलाता है।

इन्द्र शब्द और तत्त्व का सम्बन्ध इद्ध, इन्ध या इध्म के साथ-साथ एक और प्रसिद्ध तत्त्व से है जिसे समिध कहते हैं। समिध की व्याख्या पृथक् तथा पुरुष सूक्त १५ की व्याख्या में विस्तार पूर्वक दी जा चुकी है।

४—इन्द्र और इध्म

संक्षेप में—'ग्रीष्म इध्मः' की व्याख्या में श० प० ब्रा० (१-३-२-१) लिखता है

"इन्धे हवा एतदध्वर्युः।
इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समीन्धे।'

यह समिन्धन नामक ग्रीष्म द्वितीय सप्तक में होता है। द्वितीय सप्तक द्विपाद् या दो अरणियों या अश्मों का है। इन अरणियों या अश्मों में तृतीय सप्तक की जातवेदाग्नि अप्रकट रूप से विद्यमान रहती है जैसे

'अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु'
"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' (ऋ० वे० ३-२९-२; २-१२-३)।

उसको

'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्"

मन्त्र निर्मथित कर जातवेदा या अतिथि रूप प्रथमेद्ध अग्नि को प्रज्वलित करने को कहता है। यहीं द्विपाद रूप दो अरणियों के प्राणोदानौ के संघर्ष से इध्म नामक अग्नि का या इन्द्र का प्रथम तैजस रूप में दर्शन होता है। यह सत्रहवाँ तत्त्व पड़ता है, अतः श० प० ब्रा० (४-४-४-१, ५-१-२-३) कहता है

"इन्द्रो ह वै षोडशी"

कि इन्द्र सोलहवां तत्त्व है। ब्रह्म मिलाकर यह सत्रहवां हुआ और इन्द्र का वज्र पन्द्रहवाँ बतलाया गया है, वह सोलहवाँ हुआ।

"पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो' (श० प० ब्रा० १-३-२-७)।

इसका समर्थन ऐ० ब्रा० (२-१-४ में) करते हुए उक्त समिधों को 'प्राणा' और 'शीर्षन्धित्सेत्' लिखा है। इसकी विकास परम्परा का वर्णन पुनः श० प० ब्रा० (२-२-४-९, १०, ११, १२) में विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि उक्त दो अरणियों के संघर्ष से जो प्रथम धूपित सी अग्नि प्रज्वलित हुई उसका नाम रुद्र है। रुद्र नवम तत्त्व है। यह अन्यत्र (श० प्र० ब्रा० ६-१-३-९, १०) में इस प्रकार दिया है

कुमारो नवमो रुद्रः'।

जब यह प्रदीप्ततर होता है तब इसे वरुण कहते हैं, जब यह अतिप्रदीप्त और धूम की लपटों से युक्त होता है तब यह इन्द्र कहलाता है। जब इसकी अर्चियां तिरछी होने लगती हैं तब वह शमन प्राप्त दीप्ति मित्र कहलाती हैं, और जब

यह अङ्गार रूप में परिणत होता है तब यह ब्रह्म होता है। इसी अङ्गार रूप ब्रह्म की भस्म भौतिकात्मा कहलाती है। जैसे—

"तद्यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति
धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः।
अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः।
...अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति उच्चैर्धूमः परमया-
जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः।
...अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिर्यङ्कीवार्चिः स
शम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः।
...अथ यत्रैतदङ्गाराश्चकाश्यन्त इव तर्हि हैष भवति
ब्रह्म स कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्यामिति॥"

यहां पर दिया हुआ यह विकास क्रम ऋग्वेद में भी कई स्थलों पर मिलता है। उदाहरण के लिए ऋ० वे० ५-३-१,२ को लीजिए

"त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥
"त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि। इत्यादि॥"

पिछले परिच्छेद में दिया तात्त्विक विकास एक अन्य सरणि से भी पुष्ट होता है। यह बहुत कमलोगों ने सोचा होगा कि रुद्र की प्रार्थना में ऋग्वेद १०-१०३ पूरे इन्द्र सूक्त को क्यों रख दिया गया है? इसका कारण यह है कि एकदैवत्य रुद्र का जन्म नवम तत्त्व में होता है। (वैसे रुद्र भी सर्वादेवता है उसका पृथक् वर्णन देखें) ये रुद्र ११ हैं। सर्वादेवता में सब तत्त्व रुद्र ही रुद्र हैं—

५—इन्द्र और रुद्र

"चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः'

मन्त्र का महोदेव या महा देव सर्वादेवता रुद्र ही है यह श० प० ब्रा० ६-१-३-९ से १९ तक और अथर्व के व्रात्य काण्ड द्वितीय सूक्त में देखें)। अतः नवम से १९ तक के सब तत्त्व रुद्र ही हैं। बताया जा चुका है कि शतक्रतु इन्द्र का उदय १७वें तत्त्व में होता है। अतः इन्द्र का विकास रुद्र तत्त्वों से होता है, इसलिए इन्द्र को प्रथम चार रुद्रों का पुत्र कहा गया है (ऋ० वे० १-६४-१२) 'रुद्रस्य सूनुम्'। और १६ वें से १९ वें तक के रुद्र इन्द्र के भाई हैं, अतः उन्हें 'रुद्राणामेति प्रदिशा' (ऋ० वे० १-१७) कहा गया है। जब इनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तभी इन्द्र सूक्त से रुद्र का स्तवन किया गया है।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"।

(ऋ० वे० १-१६४-४६)

६—इन्द्र और 'इन्द्र मित्र' ऋचा

प्रसिद्ध ऋचा उक्त नामों को इन्द्र के अग्नि रूप के विकासों के रूप में दे रही है। इनमें जो जो तत्त्व हैं वे इन्द्र के पश्चात् ही उदीयमान होते हैं। इनमें रुद्र का नाम नहीं आया है, यह ध्यान में रहे। मित्र और वरुण तथा अग्नि (जातवेदा) तृतीय सप्तक के अन्तिम (अत्रि नामक) तत्त्व हैं जिहें दक्षक्रतु भी कहते हैं ('चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः' वाक्य के प्रतिनिधि हैं) दिव्यः सूर्य हैं, सुपर्ण सोम हैं, गरुत्मान् सविता, ("प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता" श० प० ब्रा० १०-२-२-४)। द्वितीय अग्नि शब्द अग्निर्वैश्वानर का प्रतीक है और यम २८ वां तत्त्व है। मातरिश्वा चतुर्थ सप्तक की प्राणवायुओं का नाम है जिनका दूसरा नाम दधीचि भी है (पूर्वोद्धृत १०-४७-२ देखें)। आज तक के विद्वान् इस ऋचा के नामों को ब्रह्म का पर्य्याय या एकवाद का सूचक समझते आ रहे हैं। यह ऋचा केवल हारियोजन इन्द्र के विकासों को देती है। यह हारियोजन इन्द्र अतिरिक्त इन्द्र है, इसकी व्याख्या आगे दी जायगी। यहाँ १७ वें से ३१ वें तक १६ तत्त्वों को इन्द्र ही कहते हैं।

शतक्रतु इन्द्र के स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में दो अन्य बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है (१) इन्द्र का एक नाम मरुत्वान् भी है। मरुत् नाम के तत्त्वों का स्थान द्वितीय सप्तक है, तृतीय सप्तक में उत्पन्न इन्द्र, इन्हीं द्वितीय सप्तक के मरुतों से व्यक्त होने के कारण मरुत्वान् कहलाता है। श० प० ब्रा० (४-१-३-१३) ने इस कथन की पुष्टि में इन्द्र का आधा भाग मरुतों का बतलाया है जैसे

७—शत ऋतु इन्द्र

"स इन्द्रोऽब्रवीद् अर्द्धंमे ऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव त इति।
वायुरर्द्धमेव मे इतीन्द्र तुरीयमेव त इति वायुः"॥

कहने का तात्पर्य यह है कि शतक्रतु तो चतुष्पाद् ब्रह्म है, उसमें आकाश, वायु, तेज और आप, चारों का सम्मिलन है। इनमें वायु तत्त्व (मरुत्) आकाश भी सम्मिलित है, अतः इन्द्र में वायु का आधा भाग माने आकाशवायु रूप भाग हुआ, केवल वायु का भाग एक चौथाई ही बैठा। इस चतुष्पादिन्द्र को यज्ञ का अग्नि रूप देवता मानकर उसका सूर्य के समान उपस्थान करना बतलाया है जैसे

"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्रमिवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते।
कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चासि दाशुषे"।
(श० प० ब्रा० २-३-२-३७)।

इसलिए इस इन्द्र का सवन रुद्रों की तरह माध्यान्दिन सवन बतलाया है जैसे

"माध्यंदिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र"।
(ऋ० वे० ३-३२-३)

और

"माध्यंदिनस्य सवनस्य धानाः पुरोळाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम्"।
(ऋ० वे० ३-५२-५ तथा)

"माध्यन्दिने सवने जातवेदः पुरोळाशमिह कवे जुषस्व"।

(ऋ० वे० ३-२८-४)

अन्तिम उद्धरण में इन्द्र को 'जातवेदाः' नाम से सम्बोधित भी किया गया है। जातवेदाः का स्थान यही तृतीय सप्तक या माध्यन्दिन सवन है। जातवेदाः का वही स्थान है जो अतिथि का है। अतिथि के सदन तृतीय सप्तक को दुरोण कहते हैं "अतिथिर्दुरोणषद्" (ऋ० वे० ४-४०-५) और इसी दुरोण का वासी इन्द्राग्नी को भी बतलाया गया है जैसे

यदिन्द्राग्नी मदथः स्वे दुरोणे" (ऋ० वे० १-१०८-७)।

वैदिक ऋषियों ने वैदिक आर्यों के दाशराज्ञ युद्ध के दो दलों (तृतीय-चतुर्थ सप्तकों) के युद्ध के रूप में वर्णित कर 'आम के आम गुठली के दाम' की कहावत को चरितार्थ कर इतिहास और दर्शन दोनों की व्याख्या एकही तीर से दो पक्षी मारने के समान अद्वितीय कार्य किया है। विश्वामित्र के दल में यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु, अनु और पुरु थे। इनका तादात्म्य इन्द्राग्नी देवता से करते हुए लिखा है

"यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युषु अनुषु पूरुषु स्थः॥"

(ऋ० वे० १-१०८-८)

अतः इन्द्राग्नी देवता की सर्वत्र विद्यमानता घोषित की कई है। ये पाँच प्रतिपक्षी पञ्चजनाः हैं, क्योंकि अदिति को पञ्चजनाः कहा है

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं······अदितिः
पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।"

स्वपक्षी पञ्चजना तृत्सु, कुरु, भरत, मत्स्य आदि हैं, पञ्चपाद हैं पञ्चपर्वा है।

अब शतक्रतु इन्द्र के शतक्रतुओं की व्याख्या देखिये। इन्द्र को १७ से ३१ तक का तत्त्व बतलाया जा चुका है। दक्षक्रतू (या मित्रावरुणौ) का स्थान

८—इन्द्र के शत क्रतु

२४ वां तत्त्व है (दक्षक्रतू देखें)। क्रतु तक २३½ अंश बीतते हैं क्रतु २३½ से २४ वें तक का २४ वें का उत्तरार्द्ध कहलाता हैं। इन्द्र ३१ वें और क्रतु के बीच में ३१-२४½ =६½ अंश या पक्षों या तत्त्वों का अन्तर है, एक तत्त्व या अर्द्धमास १५ अंश या दिन का है, २४ तत्त्व ३६० दिनों के। अत ६½ तत्त्व ९८ तत्त्व होते हैं, ९९ वें से क्रतु का आरम्भ होता है, १०० से क्रतु पूर्णता को पाने लगता है। इन ९९ को क्रम से पार करना शतक्रतुता कहलाती है या ९९ दुर्ग या पुरों का दलन कहलाता है। जैसे "चतुर्विंशतिर्वा अर्द्धमासा अर्द्धमास एव संवत्सरमारभन्ते···पञ्चदशस्तोत्राणि (दिनानि) भवन्ति पञ्चदश शस्त्राणि समासो (गुणा करना १५×२४) मासस्य एव संवत्सरमारभन्तो तस्य षष्टि च त्रीणि च शतानि स्तोत्रिया भवन्ति संवत्सरस्याहः सः एव इत्यादि॥"

(ऐ० ब्रा० ४-२-१२)

यही गणना सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने बार-बार दी है। उक्त ९९ दिन रूप क्रतु दुर्ग या पुरों का वर्णन विराट् उष्णिक् तथा त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों से भी किया गया है। इनका व्याख्यान विराट् छन्दाक्षरों में ऋ० वे० (२-१८-४, ५, ६) ने इस प्रकार दिया है

"आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
"आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽ षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥
आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः॥"

यहां प्रत्येक तत्त्व या क्रतु को हरि या अश्व रूप में वर्णित किया गया है। २५ वां तत्त्व सूर्य है, सूर्य से रात्रि का या उत्तरार्द्ध के अन्धकार का उदय होता है। उसी को आसुर-सृष्टि या असुरों के दुर्ग कहते हैं। ३१ वें में अन्तिम शतक्रतु इन्द्र है, वहां से दिन रूप २५ वें सूर्य रूप इन्द्र के प्रकाश में भौतिकता से परे आने में ६$\frac{१}{२}$ अंश या पक्ष लगते हैं जिसमें ९९ रातें होती हैं। इन्हीं को पार करने और आध्यात्मिक इन्द्र की ज्योति पाने की लालसा व्यक्त करते हुए यजुर्वेद, अथर्व वेद और श० प० ब्रा० ने उक्त संख्या को त्रैष्टुभीय क्रम से देते हुये लिखा है।

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत्पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते राञ्येकादशावमाः॥"

(अथर्व १९-४७-३,४,५)

"एकं च दश च, द्वे च विंशतिश्च, त्रीणि च त्रिंशश्च।
चत्वारि च चत्वारिंशच्च पञ्च च पञ्चाशश्च॥
षट् च षष्टिश्च सप्त च सप्ततिश्च।
अष्ट च अष्टाशीतिश्च, नव च नवतिश्च॥"

(श० प० ब्रा०, यजु०) इनमें इन पूर्वार्द्ध के ९९ को उत्तरार्द्ध रात्रि के 'द्रष्टारः' संरक्षक प्रहरी सा बतलाया है, उनमें क्रमशः एकादश संख्या की कमी करने की इच्छा शतक्रतु इन्द्र को पूर्ण शक्ति रूप में देख पाने की कामना का प्रण करती है। इन १०० को तै० आ० (२-९-१) १०० आनन्द या देवताओं के १०० आनन्द कहता है और देवताओं के इन १०० आनन्दों को इन्द्र के एक आनन्द या १०० वें क्रतु तत्त्व के आनन्द या शतक्रतु इन्द्र के एक आनन्द के बराबर कहते हुए लिखता है।

"शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः।"

इन ९९ संख्या के पुर दिन या दुर्गों का सम्बन्ध शम्बर, नमुचि, पिप्रु, तृतुनि, दनु, गोत्र, चिमुरि, धुनि, बल, रौहिण, अहि आदि से बतलाया है। यह

ध्यान रहे यह प्राचीन योग मार्ग है। योग क्रिया से इन ९९ किलों को पार किया जाता है।

ऋ० वे० २-१८ में इसका वर्णन निम्न ऋचाओं से किया गया है।

"प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षा स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥
सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य उ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा॥"
आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङाचत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥
अशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः॥

यह वर्णन चतुष्पाद्, त्रिपाद्, सप्तपाद्, रूप इन्द्र का विराट् छन्दाक्षरों की १०, १० की गिनती में है प्रथम में त्रिष्टुप की ११ की गिनती से है यही इन दोनों का अन्तर है।

९—हारियोजन या हरिवो इन्द्र

वह इन्द्र है जो भौतिक शरीर को धारण करके छान्दस प्राण स्वरूप पाकर चतुष्पाद् व्रत बनकर आसुरी वृत्ति के तत्त्वों का दमन, शमन, आलंभन आदि कर दैवी वृत्ति की प्रतिष्ठा करता है। इन्द्र का सोमपान, भौतिकात्मा को दैवी शक्ति 'चन्द्रमा' को आत्मसात् करता है। तब इन्द्र, तृपादमृत उक्त चन्द्र सहित चतुष्पाद्ब्रह्म का दैवी कर्म करता है। यहां से कर्म मार्ग प्रारम्भ होता है। जैसे पहिले बतलाया जा चुका है कि 'इन्द्रं मित्रं वरुणं ··मातरिश्वानमाहुः। ऋचा अग्नि स्वरूपी इन्द्र के विभिन्न विकासों को बताती हैं। ये सब विकास भौतिकग्नि रूप में होते हैं। इन्द्र को सुपर्ण रूप में वर्णित करने में 'कपिञ्जल इन्द्र' की कल्पना की गई है। इस इन्द्र की धारणा छन्दोऽनुरूप की जाती है जैसा कि ऋ० वे० १०-१३०-४,५७६,५ में दिया है। इस इन्द्र को अधिकांश सूक्तों में हरिवो* या हारियोजन नाम से पुकारा गया है जैसे "एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।" ऋ० वे० १-६१-१६) "सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षत् ब्रह्म हरियोजनाय।" (ऋ० वे० १-६२-१३) ये मंत्र या सूक्त इन्द्र के छान्दस त्रिष्टुप में ही प्रायः वर्णित किये जाते हैं। श० प० ब्रा० (४-५ ३-२-३-४) लिखता है "छन्दांसि वै हारियोजन छन्दांस्येवैतत्समर्धयति। तस्माद्धारियोजने गृह्णाति। तं वै अतिरिक्तं गृह्णाति, मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्ता तस्मादतिरिक्तं गृह्णाति······ अतिरिक्तो वै स आसीत् अतिरिक्त एष ग्रहः॥" यहाँ पर यह ब्राह्मण हारियोजन

* "अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य" उप ब्रह्माणि हरिवो हरिभ्यां सोमस्य याहि पीतये सुतस्य।" (ऋ० वे० १०-१०४-२, ६)

को ग्रह के रूप में ग्रहण करता है। छान्दस होने से यह अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। इसे दशम ग्रह बतलाया है। यह १० भौतिक (२४ से ३३ तक के) तत्त्वों का प्रतिनिधि होता है जिनको मनुष्य या नर या पशु नाम से भी पुकारते हैं। अतः यह अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। यही हारियोजन इन्द्र सब देवताओं में ओजिष्ठ, बलिष्ठ और सहिष्णु या पारयिष्णुतम कहलाता है। यही इन्द्र मायावी और नाना रूप-धरः कहलाता है जैसे "रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव" (ऋ० वे० ६-४७-१८) "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋ० वे० ३-५३-८) "मायाभिरिन्द्रमायिनं" (ऋ० वे० १-११-७) "मायाः कृण्वानो इन्द्र पुरुरूप ईयते।" (ऋ० वे० ६-४७-१९) इत्यादि। इसी इन्द्र को श्वा या नृचक्षा रूप प्राण नाम से पुकारने का ध्रुपद 'शुनं हुवेम मघवान-मिन्द्रं' तो ऋ० वे० में बहुत प्रचलित है। पाणिनि के 'श्वयुमघोनामतद्धिते' सूत्र के सब नाम इन्द्र के ही हैं 'सभेयो युवा' शब्द (आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी में) इसी इन्द्र का वाचक है। श्वा शब्द उक्त ध्रुपद में प्रसिद्ध है ही।

त्रिशीर्ष षडक्ष, त्वष्टा तथा विश्वरूप त्वाष्ट्र या वृत्र का वध करनेवाला इन्द्र यही हारियोजन इन्द्र है। "स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्कक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्मत्" (ऋ० वे० १०-९९-६)। त्वष्टा ने इन्द्र का वज्र बनाया "अस्मद्

१०–असुर हन्ता इन्द्र

इदु त्वष्टा त्वष्टद्वज्रम्"। जितने दुर्ग या क्रतुओं की संख्या है उतनी ही वज्रों की भी संख्या है "वि ते वज्रासो···नवति नाव्या॥" (ऋ० वे० १-८०-८)। ये वज्र दधीचि नामक मातरिश्वा की हड्डियों से बनाये गये। "इन्द्रोदधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत। जघान नवतीर्नव।" (ऋ० वे० १-८४-१६) "दधीचे मातरिश्वेन।" (ऋ० वे० १०-४८-२)। यहाँ मातरिश्वा का ही नाम दधीचि बताया है, उन्हीं से इन्द्र का वज्र बना है। इन्हीं शतक्रतुओं को 'शतक्रमा' भी कहते हैं। त्वष्टा तो इस ब्रह्माण्ड को रूप देने वाला है "तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे' (यजु० पु० सू० 'त्वष्टा रूपाणामीट्टे' (श० व० ब्रा० ५-४-२-८)। वृत्र की कथा श० प० ब्रा० (१-५-२-१ से १० तक) दी हुई है। वृत्र देखें। विश्वरूप त्वाष्ट्र की कथा श० प० ब्रा० १२-७-१ पूरे प्रपाठक में दी गई है जिसमें उसके वध से पशु और अन्न सृष्टि का एक विलोम क्रम दिया है। इसमें नमुचि का भी आख्यान आया है। जिन-जिन असुरों के वध की कथायें इन्द्र के सूक्तों में मिलती हैं, उन सब असुरों को 'दास' या शूद्र वर्ण नाम से पुकारा है "दासं वर्णमधरं गुहाकः' (ऋ० वे० २-१२-१) इन दास वर्ण नामक तत्त्वों का स्थान चतुर्थ सप्तक शूद्र सप्तक या भौतिकात्मा का सप्तक है। भौतिक सृष्टि भौतिक शरीर भौतिकात्मीय चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का नाम शूद्र दास अश्व स्त्री (परा वाग्) आसुरी वाक् है। अन्य असुर ये हैं :– शम्बर, नमुचि, तुतुजि, दनु, गोत्र, चुमुरि, धुनि, बल, रौहिण, पणि अहि या वृत्र और शुष्ण।

इन असुरों या दासों के साथ इन्द्र का जो युद्ध हुआ वही देवासुर संग्राम कहलाता है। यह हो सकता है उन दिनों दाशराज्ञ युद्ध के समान दैवी और आसुरी वृत्ति के आर्यों में भयंकर संघर्ष हुआ हो, उसी इतिहास को प्रतीक या

आधार बनाकर इन दार्शनिक देवासुर संग्रामों की केवल कल्पना (कल्पशास्त्र में अभिनय के लिए) की गई है। वास्तव में देवासुरसग्राम वास्तविक संग्राम के रूप में कभी सत्ता में आया ही नहीं। इस बात को स्वयं ऋग्वेद निम्न ऋचाओं द्वारा सूचित करते हुए लिखता है कि "हमें उसकी बात समझ में नहीं आती जो यह कहता है कि देवताओं ने युद्ध में अदेवयू या आसुरी वृत्तिवाले देवताओं या दैवी वृत्ति को न माननेवालों को मारा। पर जब कोई यह कहता है कि उनके युद्ध का वर्णन तो मृधा या व्यर्थ में कल्पना मात्र हैं तब प्रतीत होता है कि कोई समझदार बातें कर रहा है। इन्द्र तो स्वयं विकसित होते हुए नाना रुपों को पाता है तो उसका वर्णन सेना के रुप में बल के रूप में किया गया है।

वेदों में जिन-जिन तत्त्वों या देवों के युद्धों की वर्णना आई है वे सब माया या योगमाया हैं, इन्द्रादि देवताओं का तो न कभी कोई शत्रु रहा है, न था। "जैसे"

११—देवासुरसंग्राम योग माया

नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृधावदादिद्ध मे वृषभाः प्रब्रवन्ति ॥
(ऋ० वे० १०-२७-३) और

यदाऽऽचरस्तन्वा वावृधानो वलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्यः शत्रुर्न पुरा विवित्से ॥
(ऋ० वे० १०-५४-२)।

इस प्रकार यह भावना या ज्ञान वैदिक युग में सर्वत्र सबको भली भाँति विदित रहा; अतः इसका उल्लेख उपर्युक्त दो स्थलों में तो मिलता ही है, और साथ में श० प० ब्रा० (११-१-६-१०) भी इसी बात को इन्हीं शब्दों और ऋचाओं को उद्धरण सहित देकर अनुमोदन करते हुए लिखता है।

"नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुच्यते। इतिहासे त्वद्।
ततो ह्येतावान्प्रजापतिः पाप्मनाऽविध्यत्ते तत एव पराभवन्ति।
तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्"

न त्वँ युयुत्से कतमश्चनाहर्नतेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु र्नाद्यः शत्रु र्न पुरा युयुत्स इति ॥"

कि व्याख्यानों में जो देवासुर संग्राम की चर्चा की गई है वह वास्तविकता नहीं है (तत्त्वों में कभी युद्ध नहीं हुआ), हां इतिहास में ऐसे युद्ध हुए (जो इनके केवल आधार मात्र है, तत्त्वों में देवी और आसुरी वृतियों का संघर्ष है, दैवीको आसुरी घेरती है पर फिर दूर हो जाती है)। इसीलिए ऋषि या शुक्ल यजु के ऋषियों ने कहा है कि हे इन्द्र तुमने किसी दिन युद्ध नहीं किया, तुम्हारा कोई शत्रु है ही नहीं। जिन युद्धों का वर्णन कथाओं में आता है वे सब इसीलिए, काल्पनिक हैं, क्योंकि न तो तुम्हारा कोई आदि का शत्रु रहा, न तुम कभी युद्ध लड़े।" इससे अधिक स्पष्टवादिता और क्या हो सकती है। इन्द्रादि का वर्णन फलतः तात्त्विक वर्णन

स्वयं सिद्ध हो जाता है। इन्द्र के सम्बन्ध में जो कुछ भी वेदों में है वह इन्द्र तत्त्व का पारस्परिक विकास बतलाता है।

जिस प्रकार इन्द्रवृत्र आदि के कथानक इन्द्र तत्त्व के विकास को चतुर्थ सप्तकीय तत्त्वों की दैवी आसुरी वृत्तियों के द्वन्द्व का वर्णन करते हैं उसी प्रकार के कुछ अन्य कथानक-जिनमें इन्द्र को पर्वतों और नदियों का भेत्ता कहा गया है—इन्द्र तत्त्व की व्याख्या को पञ्चपर्वा विद्या के रूप में करते हैं। बृहस्पति की तरह इन्द्र को पर्वतों का भेत्ता माना गया है। सात सप्तकों या पञ्चपञ्चकों में से प्रत्येक एक-एक पर्वत या नदी है। इन कथाओं में प्राण रूप इन्द्र के पर्वतों या प्राणरूप नदियों की वर्णना की गई है। आदि पर्वत हेमकूट या हिमगिरि है जिसका उल्लेख 'मनोरवसर्पण' में दी गई है। हिमगिरि के नाना कूटों की तरह ब्रह्मव्याख्या के नाना कूट या सारणियाँ है। अतः ब्रह्म को कूटस्थ भी कहते हैं। १०, १० के पाँच पर्वत मुख्य है। कोई सप्तकों से सात पर्वत भी मानते हैं। इनकी व्याख्या 'इन्द्रापर्वतौ' देवता के रूप में करते हैं। इन्द्रापर्वतौ' माने इन्द्र की पर्व-पर्व में पर्वत रूप में व्याख्या करना है। पञ्चपर्वा विद्या देखें। वहीं पञ्चनदी या सप्तनदी रूप व्याख्यान भी दिये गये है।

१२—इन्द्र और पञ्च-पर्वा विद्या के पर्वत्त और नदी

'इन्द्रो अस्मा अरदद्वज्रबाहु रपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
(ऋ० वे० ३-३-५-३-२-१-६)

में विपाट् शुतुद्री का उत्थान उपस्थ या मध्यस्थान से बतलाया गया है। २४ वें सरस्वती से पूषण का उदय होता है। उसे वृत्रघ्नी कहा गया है (६-६१ से ७) (वृत्र देखें)। भागीरथी गंगा हिमगिरि रूप प्रथम पर्वत के ब्रह्मकमण्डलु से निकलकर द्वितीय पर्वत रूप रुद्रकी जटाओं में उलझती हुई तृतीय सप्तक में यमुना आदित्यों की पुत्री के साथ साथ प्रगट होती है। २६ वें तत्त्व में त्रिवेणी 'गंगा यमुना सरस्वती' भी त्रिवेणी गायत्री बन जाती है। पर्वतों और नदियों का यही महामहत्व है। इन नदियों के प्रत्येक तत्त्व रूप पर्व या तीर्थो में ज्ञान का स्नान कीजिए। इन विद्याओं का इन्द्र सर्वादेवता इन्द्र है, यह ध्यान में रहे। इन्द्र का वर्णन यम के रूप में भी मिलता है, यहाँ इन्द्र का नाम निषिध नड (नल) है जैसे—

अयुञ्जन्त विश्वकृष्टी विंदानास्ते निष्षिधो मर्त्यत्रा।
मरुतां पृत्सुति र्हासमाना स्वमील्हस्य प्रधनस्य सातौ॥
(ऋ० वे० १-१६९-२)

श० प० ब्रा० (२-२-४-१, २) ने इसका समर्थन इस प्रकार किया है।

"तस्मिन्वसति इन्द्रो यमो राजा नडो
नौषिधोऽनश्नन् संगमनोऽसन् पाँसवः।
तद्वा एष एवेन्द्र यदाहवनीयः॥

अथैष एव गार्हपत्यो यमो राजा ऽथैष एव
नडो (नलः) नैषिधो यदन्वाहार्यपचनः।
तद्यथेतमहरहः दक्षिणत आहरन्ति तस्मादाहु
रहरहर्वै नडो नैषिधो यमं राजानं दक्षिणत उपनयन्तीति ॥"

इस प्रकार यहाँ प्रख्यात नलदमयन्ती के इतिहास को भी इन्द्र के वर्णन में गृहीत किया गया है।

इन्द्र को आसन्दी में "स्वराट्" की पदवी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व होने के कारण दी गई है। चतुर्थ सप्तक में पणियों और गायों की कथा भी आती है जिनका वर्णन ऋग्वेद १०.१३० में किया गया है। पणि आसुरीवृत्ति के हैं। इनका अभ्युदय चतुर्थ सप्तक की भौतिकता की अनन्ता से होता है। ये धी या बुद्धि रूप मौलिक भौतिकात्मा के प्रेम के आसुरी पणित्व को धारण करते हैं। ये गायों के रक्त या मांस को खाने वाले हैं, देवता उनका दूध रूप ज्ञान पीते हैं आदित्यों का नाम 'गावः' है, ऐ० ब्रा० (४-३-१७)। तृतीय सप्तक में त्रिपादामृतीय एक ही गौ या धेनु होती है, वही चतुर्थ सप्तक की भौतिकता में अनन्त धेनुओं का रूप धारण कर आसुरी वृत्ति रूप या विशों के वशीभूत हो जाती हैं। चतुर्थ सप्तक ही विष्णु का भी सप्तक है जिसके परम पद या स्थान रूप २७ वें तत्त्व में 'यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः' (ऋ० वे० १-१५४-६) कहा गया है। यही इन्द्र या विष्णु का व्रज या गोष्ठ है। पणि रूप आसुरी वृत्ति के असुरों से गायों को लाने या बुद्धि तत्त्व को दैवी प्रेरणा की ओर खींचने के लिए इन्द्ररूप त्रिपादामृत के त्रिपादामृतीय प्राणरूप सरमा शुनी दूती बनकर पणियों से कथोपकथन द्वारा गायें वापस लाने का सफल प्रयास करती है। कथोपकथन में बृहस्पति (इन्द्र) की चर्चा ब्रह्मरूप में आई है जिसे पौराणिक इन्द्र का गुरु कहकर प्रकारान्तर से इन्द्र से श्रेष्ठ मानते हैं। शेष 'सरमा शुनी और पणि' शीर्षक में देखें)

१३—इन्द्र और आसन्दी

सोम या चन्द्र को इन्द्र की इन्द्रिय कहा है। वेदों में इन्द्रिय माने 'रस' होता है। यह रस इन्दु रूप में सूर्य तत्त्व से टपकता है, वही रस भौतिकात्मा रूप रस या भौतिकशरीर का दिव्य शरीर है। अतः सोम या चन्द्र, इन्द्र की इन्द्रिय है कहने का सीधा अर्थ यह है कि इन्द्र ने सोम नामी भौतिकात्मा के रस* रूप शरीर या दिव्य शरीर को पहिन लिया या स्वीकार कर लिया (सोम शीर्षक देखें)। श० प० ब्रा० (११-१-६-१८) ने सर्वादेवता सोम को परमेष्ठी देवता बतला कर इन्द्र को इस परमेष्ठी का पुत्र भी बतलाया है। इन्द्र की इन्द्रिय तो चन्द्रमा है, सर्वादेवता सोम परमेष्ठी पिता। इससे यही निर्णित होता है कि इन्द्र उतने प्रकार के योगियों का सेव्य है जितने तत्त्व रूप ऋषि हैं, इसकी भी सूचना ऋग्वेद : ४-२५-८ स्वयं इस ऋचा से देता है।

१४—इन्द्र और सोम

"इन्द्रो परेऽवरे मध्यमास यान्तो ऽवसिताश इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युद्ध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥"

---

* इन्द्रिय की रस रूप व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें।

इन्द्र ही सोम क्यों पीता है ? यह इन्द्र तो मायावी है इसकी जितने रूपों में भी व्याख्या की जाय वही कम है। इन्द्र का उत्तम सूक्त 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' इत्यादि ऋग्वेद २-१२ सूक्त है। खाने या पीने का कार्य केवल प्राण ही कर सकता है। यह इन्द्र मध्यम प्राण रूप है। अतः देवताओं में खाने पीने की शक्ति केवल इसी इन्द्र में है। पर इसके पास मुख तो है ही नही। अतः यह अग्नि के मुख से खाता पीता है, तब जाके अन्य देवताओं को इन दोनों के द्वारा गृहीत हवि मिलती है, अन्य देवता विभिन्न अंगरूप हैं।

इन्द्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित अन्य सामग्री मननार्थ दी जाती है। एष वै शुक्रो य एष तपत्येष एवेन्द्रः (श० ४-१-५-७), अथ य स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः (श० ८-५-३-२), तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति (श० ११-१-६-८), यो वै

१५ इन्द्र विषयक श्रुतियाँ

वायुः स इन्द्रः (श० ४-१-३-१९), योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः (जै० उ० १-४३-१०), प्राण एव इन्द्रः (श० १२-९-१-१४), हृदयमेवेन्द्रः (श० १२-९-१-१५), यन्मनः स इन्द्रः (गो० उ० ४-११), रुक्म एवेन्द्रः (श० १०-४-१-६), यजमानो स्वे यज्ञ इन्द्रः (८-५-३-८), स्तनयित्नुरेवेन्द्रः (श० ११ ६-३-९), इन्द्रो ब्रह्म (कौ० ६-१४), देवलोको वा इन्द्रः (कौ० १६-८), इन्द्रो बलं बलपतिः (श० ११-४-३-११), वीर्यं वा इन्द्रः (तै० १-७-२-२), शिश्नइन्द्रः (१२-९-१-१६), अर्जुनो ह नामेन्द्रः (श० २-१-२-११), इन्द्रो ह्याहवनीयः (श० २-६-१-३८), इन्द्रः सामैव (जै० उ० १-३१-१), ऋक्च सामानि चेन्द्रः (श० ४-६-७-३), इन्द्र आसीत्सीरपतिः शत क्रतुः (तै० २-४-८-७), ओकः सारी वा इन्द्रः (ऐ० ६-१७), इन्द्रो यज्ञस्य नेता (श० ४-१-२-१५), इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता (श० (श० १-४-१-३१), ऐन्द्रा वै पशवः (ऐ० ६-२५), इन्द्रो वा अश्वः (कौ० १५-४), मध्यस्थो वा इन्द्रः (कौ० ५-४), सहौन्द्रो यद्वृषभः (श० २-५-३-१८), सेना इन्द्रस्य पत्नी (गो० उ० २-९), ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐ० २-२४), स इन्द्रस्तुरीयमभवत् (तै० १-७-१-३), ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम (ताँड्य १४-२-५), प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी (श० २-५-२-८), प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी (तै० १-६-४-३), बलं वै तेजः इन्द्राग्नी (गो० उ० १-२२), ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी (कौ० १२-८), अमृतं इन्द्राग्नी १०-४-१-६), इन्द्राग्नी वै देवानां मुखम् (कौ० ४-१४), इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः (श० १०-४-१-९), इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः (श० ८-१-२-२८), इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम् (श० ब्रा० ४-२-२-१४), अस्ति वै छन्दसां देवता इन्द्राग्नी (श० १-८-२-१६), क्षत्रं वा इन्द्राग्नी (श० २-४-२-६), इन्द्रामरुता उक्षाणः (ताड्य २१-१४-१२), संवत्सरो वा इन्द्रा शुनासीरौ (तै० २-७-८-१), दर्शपूर्ण मासयो वैं देवते स्त इन्द्राग्नी एव (श० २-४-४-१७)।

'माया रूप इन्द्र', और 'इन्द्र जाल' या माया जाल' पर अगले अध्याओं में दिये गये इन्हीं शीर्षकों को देखें।

अध्याय ५९

इन्द्राणी, वृषाकपिः और वृषाकपायी

यह बतलाया जा चुका है कि इन्द्र एक नही कई तत्त्वों का नाम है। अतः जितने इन्द्र उतनी ही इन्द्राणियाँ हैं। इन्द्र मुख्यतः दो प्रकार का है त्रिपादामृत (आध्यात्मिक) और भौतिकात्मा सोम युक्त या सोमपा इन्द्र।

१—इन्द्राणी

इन्द्राणी इसी सोमपा इन्द्र की पत्नी है, उषा का नाम भी मघोनी है, वह भी इन्द्र की ही पत्नी है, पर इसमें भौतिकात्मा का पूर्वाभास मात्र है, पूर्ण भौतिक नही है, हाँ सायंकालीन उषा पूर्ण भौतिकात्मा युक्त है। उषा जैसी आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय पत्नियों के बारे में इन्द्र बेचारा स्वयं कहता है

"न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"

(ऋ० वे० १०-८६-६)

स्त्री के एसे काम भौतिक शरीर से ही सम्पन्न हो सकते हैं, अभौतिक स्त्रियाँ ऐसा कैसे करें। वे तो सम्परिष्वक्तात्मा तादात्म्य रूप से रहने वाली ठहरीं। इन्द्राणी इत्यादि भौतिकात्मा स्वरूप पत्नियों के बारे में लिखा है

"इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगा महमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पति र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"

(ऋ० वे० १०-१०-११)

कि स्त्रियों में इन्द्राणी को मैंने सदा परम और सौभाग्यवती सुना है, क्योंकि इसका अपना प्रिय पतिः इन्द्र जो सम्पूर्ण भौतिकता से उत्तर (पूर्वार्द्ध) में रहता है वह कभी भी जरा को न तो प्राप्त होता है न जरा से मरता है; भौतिकात्मा भी अमर ही है।" विश्वस्मात् माने भौतिकात् होता है; उत्तर माने भौतिकता से ऊपर पूर्वार्द्ध। इन्द्रकी की पूर्वार्द्धीय अभौतिक पत्नियों में 'शची' उसकी अपनी तेजस्विता की शक्ति है 'शक्तिरेव शची।' जब शची भौतिकता में परिणत होती है तब वह उषा या उषासानक्ता (नक्तोषा) या इन्द्राणी कहलाती है। इन्द्र पुरुष रूप तत्त्व, जब इन्द्राणी रूप भौतिकात्मा से युक्त होकर स्त्रीपुमांसम्परिष्वक्त शरीर को ग्रहण करता है तब भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम इन्दु फिर सोम फिर वृत्रादि भौतिक स्थूल व्यापक तत्त्व बनने लगते हैं। सब के सब कविः बुद्धि (धी) रूप में प्रस्तुत होते हैं, जिनका स्वरूप रसमय, सरःमय आपोमय या विद्युन्मय ही होता है, जिन्हें भौतिक शब्द ब्रह्म अन्नं ब्रह्म आदि नामों से भी पुकारते हैं। 'उषा और उषासानक्ता' का वर्णन इन्हीं नामों के शीर्षकों में पृथक् दिया गया है।

२—वृषाकपायी और वृषाकपिः या पुरुष-पशुः

वृषाकपिः नाम भी इन्द्र का ही है, पर यह नाम वरूण का प्रतिनिधि है। मित्र वरुण दोनों २४ वें तत्त्व हैं। दोनों इन्द्र के रूप हैं। वृषा नाम भी इन्द्र का ही है, वृषा माने वृष रूप वृषभ रूप वर्षणशील तत्त्व है, कपि शब्द का धातु ऋ० वे० १०-१०-१७ में 'कपृत्' (अकपृत्) दिया है इसका सम्बन्ध 'सक्थ्याकपृत्' द्वारा सक्थि से जोड़ा है जिसका अर्थ उछलना और उठाना होता है। अतः 'वृषा कपिः' पूरे शब्द का अर्थ इन्द्र के विकास को उत्तेजित करना होता है। पुराणों ने वृषाकपि को इन्द्र का पुत्र बतलाया है; पर ऐ० ब्रा० (६-५-२९-३०,३१,३२, ३६) ने वृषाकपि को एवया मरुत, रेतः तथा आत्मा नाम से पुकारा है। अथर्ववेद (३-४-२-५-६) ने 'शुन' का अर्थ कीनाश (कपिः) सुफाल, वाहा, नर लाङ्गल इत्यादि दिया है जिससे 'शुनासीर' (इन्द्र) की व्याख्या की है। अतः उक्त सभी सन्दर्भों के समन्वय से यह प्रतीत होता है कि वृषाकपि नाम मारुति हनुमान (वानर) का प्रतीक है। वानर इसलिए कहा है कि यह वरुण चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व है, अभी चतुर्थ सप्तकीय पूर्ण नरता (भौतिकता) को नहीं प्राप्त हुआ है। 'वा विकल्पेन नरः इति वानरः, यह तैजसीय वायवीय इन्द्र का स्वरूप है। इसलिए इन्द्र कहता भी है कि हे इन्द्राणि मैं वृषाकपि के बिना (अपने वायवीय तैजस रूप के बिना) सुख नहीं पाता, उसकी हवि, जो अप्य या आपोमय चतुर्थ सप्तकीय है, सब देवताओं को मिलती है जैसे—

"नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"
(ऋ० वे० १०-८६-१२)

इसलिए राम को हनुमान इतना अधिक मान्य और प्रिय है। वृषाकपिः इन्द्र का ही एक विकास है। अतः उसे इन्द्र पुत्र रूप में कहना लौकिक रूप में कहना है। इस प्रकार का संकेत ऋ० वे० १०-१०-१२ में भी मिलता है, जिसमें वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी को स्नुषा या बहू और सुपुत्रा के नाम से पुकारा गया है। उसका एक और नाम रेवती भी दिया है। रेवती का स्थान भी २४ वां ही पड़ता है। यह गन्धर्व गणना के चित्र में दिखलाया जा चुका है। इससे उक्त वृषाकपि के स्थान की भी पुष्टि हो जाती है। जैसे—

"वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हवि विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"

हे वृषाकपायि सुपुत्रे रेवति! सुस्नुषे! तुम्हारी सुखमय हवियों को वह इन्द्र खावे या पावे जो भौतिकता से उत्तर में है। यह वृषाकपायी, इन्द्र और इन्द्राणी की स्नुषा (बहू) है। स्वयं वृषाकपि के बारे में लिखा है

"पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि यथा पुनः, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"
(ऋ० वे० १०-८६-२१)

आध्यात्मिक सृष्टि स्वप्नवत् सर्वोत्कृष्ट होती है, भौतिकता में अपूर्णता होती है। यह वृषकपि भौतिकता का सुविता या प्रस्ताविता तो है, पर स्वप्ननंशन भी है; पूर्णता असीमता का नाश कर असीमता पूर्णता में बद्ध कर देता है, पुरुष को पुरुष पशु बना देता है जैसे हनुमान या गजमुख वामन या मार्तण्ड हयग्रीव अज दक्ष इत्यादि और वह स्वयं त्रिपादामृत अप्रधान बन कर अस्त सा हो जात है; यह उसका अपना मार्ग है, ऐसे तुम फिर लौट आओ, इन्द्र तो भौतिकता से ऊपर है॥ "यह ऐसा तत्त्व है जो पुष्ट तत्त्वों में मस्त होने पर (चतुर्थ सप्तक में) प्रसव करने लगता है तो इन्द्र को भी देवता नहीं मानता।" (१०-८६-१)। जब वह वहुवादी मृग (चन्द्रमा) वृषाकपि के घर में उड़ता आया, वह अब कहाँ चला गया।" (१०-८६-२२)

"वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद्वृषाकपि रर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्व० ॥"
"यदुद्भो वृषाकपेर्गृहमिन्द्राजगन्तन।
कस्य पुल्वधो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्व० ॥"

अध्याय ५६

मरुतः (विश् गणत्वात्)

मरुत शब्द की निरुक्ति में निरुक्तकार लिखते हैं कि 'मित राविणे वा मित रोचिनो वा महद्द्रवन्तीति बा' (निरुक्त ११-२-१ या ११-१३)। होना यह चाहिए:—

'म् कारेण रवन्तीति रौतीति रुदन्तीति रुचन्तीति वा' कि जो

१—मरुत शब्द की निरुक्ति

'म्' (ँ) अनुनासिक ध्वनि में ध्वनित चलित या ज्वलित होते हैं, न कि वे जो सीमित ध्वनि के या सीमित प्रकाशित या बहुत भगने वाले हैं; क्योंकि मरुत सीमित नहीं, असीम निःसीम और व्यापक तत्त्व हैं और इनकी अपनी पृथक् प्रकार की ध्वनि है। ये ध्वनि के पर्व या पर्वत हैं। शब्द ब्रह्म पर्व या पर्वत हैं।

वेदों में मरुत तत्त्व महत्वपूर्ण देवता है। इनके लगभग २५ सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं। मरुत एक नहीं अनेक हैं, वैदिक दर्शन में जितने तत्त्व हैं उतने ही मरुत हैं। अतः इन्हें सदा बहुवचन में मरुतः या मरुद्गण कहते हैं

२ वेदों में मरुतों की महत्ता

और ये अग्नि और विष्णु की तरह इस प्रकार सर्वदेवता भी हैं। फलतः मरुतों का सम्बन्ध वेदों के मुख्य देवता रुद्र और इन्द्र आदि से अभिन्न रूप में वर्णित किया मिलता है। कहीं-कहीं इनका वर्णन वातः या वायु या प्राणाः के रूप में भी किया गया है जिनमें से 'वायुः' 'अरेपसः' और 'सरपः' दो प्रकार का है, उक्त दो प्रकार दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध; या आध्यात्मिक और भौतिक वातों का विभाजन देते हैं (वायु और रुद्र देखें)।

मरुत, रुद्र और इन्द्र तीनों देवता एक ही मार्ग के हैं। वैदिक देवताओं के विकास की परम्परा तीन प्रकार से बतलाई गई है जिनमें से ब्रह्म या अग्नि तो बृंहण या अग्रसरण का कार्य करते हैं; विष्णु अदिति आदि विशतीति

३—मरुत रुद्र और इन्द्र

विष्णु या अदिति या आदित्य प्रथम तत्त्वों के बृंहण या अग्रसरण को स्थिति या सत्ता या सत्व देते हैं; तो मरुत रुद्र इन्द्र आदि देवता उनको रौद्र रूप रोदन रूप, सतता क्रियाशील स्वयं विकास ह्रास योग्य बनाकर उन्हें प्रकृति या स्वभाव का स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रथम में मन द्वितीय में वाक् तृतीय में प्राण विकास पाते हैं; तीनों विकास यौगपद्येन से चलते हैं। अतः इन सबकी सत्ता युगपत् या त्रिवृत् रूप में मानी गई है। मरुतों का विकास रौद्र रूप में रव रूप में रोदन या प्राण रूप में होता है। यही रौद्र रूप 'रावण' रूप में परिणत होता है। यह रावण रूप रुद्र का ही विकास है। अतः रावणादि राजाओं को रुद्र भक्त कहा गया है जिसे अथर्व 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशशीर्षो दशास्य': (४-२-११) कहता है, ये ब्रह्म के ब्राह्मण रूप हैं। मरुत गणरूप देवता है; मरुत, रुद्र और

इन्द्रादि का रौद्र रूप, गणात्मकतया है, प्रत्येक वस्तु गुणों के कारण ही भयंकर लगती है। गण मुख्यतया मरुतों के हैं, मरुतों के सात गण हैं, कुल ४९ तत्त्व है या ४९ मरुत हैं, रुद्र ११ हैं यह रुद्रों का एक गण है, पर मरुतों के गण भी रुद्र के ही गण हैं, इन्द्र का नाम ही मरुत्वान् है। अतः इन्द्र भी मरुद्गणों से युक्त है और इन्द्र का वज्र भी मातरिश्वा नाम के दधीच (की हड्डियों) से बना है कहा जाता है। मरुतों का सम्बन्ध इषु अञ्जन और पर्वतों से भी है। इन्द्र को जिन पर्वतों के पंखों का भेत्ता कहा जाता है वे ये ही इन्हीं मरुतों के आञ्जनेय इषुमान् पर्वत हैं।

अस्तु मरुतों के पिता रुद्र हैं 'अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्ति शिकसः' (ऋ०वे० ५-५२-१६)। ये सात गण के हैं "व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिरग्नेर्भाम मरुतामोज ईमहे" (ऋ० वे० ३-२६-६)। प्रत्येक गण में सात-सात मरुत हैं, इन सातों को 'सदः' या सप्तक कहते हैं। अतः इन्हें इन सप्तकों या सदों का निर्माता कहा गया है जैसे

४—मरुतों का वर्णन

"प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन्नुद्रस्य सूनवः सुदंससः।"
"त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधिचक्रिरे सदः।"
'सदस्कृतः' (ऋ० वे० १-८५-१, २, ६)

इनकी माता का नाम प्रश्नि है 'प्रश्निं वोचन्ति मातरम्' (ऋ० वे० ५-५२-१६) अतः इन्हें प्रश्निमातर और गोमातरः नाम से भी पुकारा जाता है, और रुद्र के नाम से 'रुद्रासः', भी

"अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधिश्रियो दधिरे प्रश्निमातरः।"
"गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः॥"
(ऋ० वे० १-८५-२,३)

ये चमकीले सात्विक तत्त्व हैं। अतः 'अञ्जिभिः विरुक्मतः' लिखा है, इन्हीं से पर्व या पर्वत बनते हैं जो आञ्जनेय या आञ्जन कहलाते हैं। इन्हे रघुष्यद् या रघुत्वपान नाम से पुकारा है (ऋ० वे० १-८५-६)। इन्हीं से वज्र बनने की चर्चा ऋ० वे० १-८४-१३ और १-८५ ९ में की गई है; दधीच नाम मातरिश्वा नामक मरुतों का है। यह इन्द्र वर्णन में बतलाया जा चुका है (ऋ० वे० १०-४०-२–'दधीचे मातरिश्वने')। मातरिश्वा नाम चतुर्थ सप्तक के प्राण वायुओं का है। "मातरिश्वा यन्मातरि वातस्य सर्गः॥" (ऋ० वे० ३-२९-)। माता आपः या गाव हैं, चतुर्थ सप्तक के हैं।

मरुतों के प्राण वायु विद्युन्मय हैं, रोचिष्मान् हैं जिन्हें 'स्वर्का' या 'अर्का' या दिवो अर्का भी कहा जाता है। ये कल्याणकारी अश्व या अश्वपर्ण भी कहलाते हैं। यही वैद्युतीय मरुत् पर्वतों का निर्माण करते हैं जैसे "आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।" "विद्युन्नासो धनयन्ते अद्रिम्" (ऋ० वे० १-८८-१, ३) "संविद्युता दधाते वाशति" (ऋ० वे० ५-५४-२) 'विद्युन्महस्ते' ५-५४-३ "दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे" (ऋ० वे० ५-५७-५)। ये आञ्जन पर्वत सर्वतोभद्र चक्र में चलते हैं।

५—मरुत और प्राण-वायु

"भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेस्वत्ता पविषु क्षुरा अधिवयोनपक्षान्व्यनुश्रियो धिरे॥"
(ऋ० वे० १-१६६-१०)

इन (मरुतों का नाम) यज्ञायज्ञ भी है (ऋ० वे० १-१६०-१)। इन्हें 'सुदानव' और 'अहिभानवः' नामों से भी पुकारा गया है (ऋ० वे० १-१७२-२-३)। इन्हे जाति में विश् तथा 'अश्म' नाम से भी सम्बोधित किया है (ऋ० वे० १-१७८-२, ३)। इन मरुतों को 'धारावरा' (धारा में प्रवाहित होने वाले) भी कहा है

"धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसो मृगा न भीमा तविषीभिरर्चिनः।"
(ऋ० वे० २-३४-१)

ये मरुत अपान ब्रह्म या चतुर्थ सप्तकीय भौतिक अपान वायुओं का प्रतिदिन निर्माण करते हैं।

"तं नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्मचितयद्दिवेदिवे।"
(ऋ० वे० २-२६-७)

मरुतों का एक विशेषण 'ऋक्व' दीप्तिमय भी है जैसे "श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः" (ऋ० वे० ५-५२-१) इनकी दीप्तियों से बृहस्पति का विकास होता है, जैसे बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः" (ऋ० वे० १०-१४-३)। फलतः

६—मरुतों का सम्बन्ध पितर और पर्वतों से

मरुतों का विकास बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति ही का विकास है। ऋक्व विशेषण पितरों का है। अतः पितर भी दीप्तिमय हैं। मरुतों का सम्बन्ध पर्वतों के साथ होने से, परुष्णी यमुना सरयूः (ऋ० वे० ५-५२-९, १७; ५-५३-९) की चर्चा इनके साथ की गई है और इन्हें 'अद्रिभेत्ता' 'पर्वतच्युत' भी साथ-साथ कहा है (५-५४-३) "अश्मानं चित्स्वर्यं पर्वतं गिरिं प्रच्यावयन्ति यामभिः" (ऋ० वे० ५-५६-४)। साथ में वहीं 'अश्म दिद्यवो' मणि समान ज्योतिष्मान कहा है। इनके सात सप्तकों को 'सप्त शाकिनः' नाम से अंकित करते हुए लिखा है।

"सप्तते सप्तशाकिन एकमेका शता ददुः"। (ऋ० वे० ५-५२-१७)

ये ४९ हैं पर सबका जन्म, एक साथ होता है विकास, क्रम से, जैसे

"साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिता श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः।
विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं मातामनुरथा अवृत्सत॥"
(ऋ० वे० ५-५५-३)

इनमें से न कोई बड़ा भाई है न कोई छोटा भाई, सब बराबर हैं और ये उद्भिद हैं अमध्यम हैं जैसे

"ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा प्रश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥"
(ऋ० वे० ५-५९-६)

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥"

(ऋ० वे० ५-६०-५)

जब इनका विकास उत्तरार्द्ध में भौतिक रूप में होता है तब वैदिक ऋषि कहते हैं "के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एक-एक आयथ। परमस्याः परावतः ।" (ऋ० वे० ५-६१-१)

मरुत, पृषत् या प्राण रूप अश्व में रहते हैं (यदध्वान्धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान्प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम् ऋ० वे० ५-५४-६)। अतः इन्हें 'पृषदश्वा' नाम से भी पुकारा जाता है।

आ ये तस्थुः पृषतीषु श्रुतासु सुखषु रुद्रा मरुतो रथेषु।

७—मरुत और पृषदश्वा ये इन्द्र के साथी हैं अतः 'इन्द्रवन्तः' भी कहलाते हैं

'आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः'

(ऋ० वे० ५-५७-१)

अन्य देवताओं की तरह इन मरुतों को भी 'असुर' और अग्नि या पावक नाम से घोषित किया है, विद्युत्स्वरूप होने से ये दोनों नाम उपयुक्त ही हैं।

"शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः॥"
"कृते चिदत्र मरुतो रणन्तानवद्यासः शुचयः पावकाः"

(ऋ० वे० ७-५६-१२, २४; ७-५७-५)

"जननां यो असुरो विधर्ता"

ये मरुत मधु के उत्स भी हैं

"मध्वो वो नाम मारुतं यजत्राः प्र यज्ञेषु शवसा मदन्ति।
ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी पिन्वन्त्युत्सं यदयासुरुग्राः॥"

(ऋ० वे० ७-५७-१)

इन्हें 'सनीळाः नराः (७-५६-१; १-१६५-१) नाम से पुकारा गया है। ये सनील मरुत उत्तरार्द्ध के हैं। सनील=सनीड=घोंसले सहित

ऋ० वे० दशम मण्डल ७७, ७८ वें सूक्तों में, इनको 'आदित्य' या अदिति पुत्र के नाम से भी उच्चारित किया है

"दिवस्पुत्रास एता न येतिरे आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः।"

८—मरुत और वात (१०-७७-२)

"ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शम्भविष्ठाः"

(१०-७७-८)

कहने का तात्पर्य यह है कि इन्हीं मरुतों का विकास २० वें तत्त्व से आदित्य नाम से पुकारा जाता है; क्यों कि अन्तिम ऋचा में इनको आदित्य नाम से अवतीर्ण होने वाले (शम्भविष्ठा) कहा है, इन्हीं को यज्ञ में 'यज्ञियास' कहते हैं। ऋ० वे० १०-७८ में इनको स्वाध्याय युक्त विप्र के समान कहा है 'विप्राः' नाम भी द्वितीय सप्तक या मरुत्सप्तक का है। इनके मुख्य ब्रह्मा का नाम ऋषि है जैसे 'ऋषिर्विप्राणाम्' (सोम देखें) तथा इन्हें स्वप्नावस्थ बतलाया है। एक विशेष बात यह है कि वहाँ इन्हें 'वातास' (वायु देवता) के रूप में घोषित कर दिया, तथा इन्हें विश्वरूप भी बतलाया है। ये नदियों की तरह उत्तरार्द्ध की ओर प्रस्थान करते हैं, यहाँ इन्हें 'सिन्धु मातरः' भी कहा है। इनकी प्रशंशा में लिखा है कि ये धूनन में वात की तरह, जिह्वा में अग्नि की तरह, योद्धाओं की तरह वर्म कवच वाले और पितरों की तरह कल्याण चाहने करने वाले और देवताओं के प्रिय है (२) इन्हें उषा का केतु या झंडा भी बतलाया है तथा अध्वर की श्री भी (७) ये राजाओं की तरह चित्र विचित्र वेष के हैं तथा पृथ्वी ब्रह्म की तरह 'अरेपस' या बाधाहीन सुखदायक भोगदायक (१) इत्यादि। इस सूक्त में उपमाओं की भरमार है।

ऋ० वे० १०-७८-१ के मन्त्र

"विप्रासो न मन्माभिः स्वाध्यो देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः।"

के अनुसार ये विप्र और देव रक्षक हैं, यज्ञ के समान स्वप्नशील हैं। विप्र नाम 'सप्त विप्राः' उद्धरण के अनुसार सप्तर्षियों का है। इसका समर्थन वामन पुराण (३८-५) इस मन्त्र से करता है

"सप्तधा प्रतिभागं तु कलशस्थं जगामह।
तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान्मरुतो गणान्॥"

अर्थात् कलश से उत्पन्न सात ऋषियों का ही नाम मरुद्गण है। ये ऋषि अङ्गिरसों से भिन्न है क्योंकि मरुतों और अङ्गिरस ऋषियों को एक साथ उत्तर का वासी बताया है जैसे 'ध्रुवायां दिशि देवामरुतश्चाङ्गिरसश्च' (श० प० ब्रा० ८-६-३-३)। अतः ये मरुतः सप्तर्षि सिद्ध होते हैं।

ऋ० वे० ८-७ में भी मरुत देवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें पूर्वोक्त सबका सार-सा संगृहीत किया गया है। ऋ० वे० ४-३९-४ में दधिक्रावत्, इषे ऊर्जः महः आदि नाम भी मरुतों के बतलाये हैं जैसे

"दधि क्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्॥"

यम यमी सूक्त में तथा मरुतः सूक्तों में इन्हें 'महस्पुत्रासो' और असुरस्य (रुद्रस्य) वीरा (पुत्रा) भी कहा गया है (ऋ० वे० १०-१०-२)

मरुतों का नाम रश्मि भी है (ताड्य १४-१२-९) । मरुत गणों के पति हैं। 'मरुतः गणानांपतयः' (तै० ३-११-४-२) । मरुतों के सात गण हैं (तै० १-६-२-) ।

९—मरुतों पर श्रुतियाँ

सप्त सप्त हि मरुतो गणाः (यजु० १७·८०,८५,३९-७ श० प० ९-३-१-२५) । मरुत सब देवताओं से अधिक हैं (तै० २-७-१०-१), मरुत अन्न हैं, (तै० १-७-३-५) । मरुत कीनाश हैं (ऐ० ३।१९) । मरुत प्राण हैं (श० प० ९-३-१-७) । मरुत ग्रावाण हैं (ताड्य ९-९-१४) । मरुत आप हैं, और आपों में रहते हैं (ऐ० ६-३०; कौ० ५-४) । मरुतों का पङ्क्ति छन्द है (श० प० १०-३-२-१०) । मरुत इन्द्र के खिलाड़ी हैं (गो० उ० १-२३; कौ० ५-५) । मरुत सांतपन हैं (श० प० २-५-३-३; गो० उ० १-२३) ।

—×—

सर्वश्रेष्ठ देव वायुः या वातः (पञ्चप्राणो की आत्मा)

बृह-उप (१-५-२३) में वायु देवता को 'अनस्तमिता देवता यद्वायुः' लिखा है। इसका कभी अस्तमन नहीं होता। और वहीं पर यह भी लिखा है कि सूर्य देवता उसी वायु से उदीयमान और अस्त होता है जैसे 'सूर्यो वै

१—वायुदेवता

वायोरुदेति तत्रैवास्तमेति' यही वात या वायु इन्द्र भी है जैसे 'वायुरेवेन्द्रो' यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः' (श० प० ४-१-३-१९)। बृहदारण्यक ने (३-३) लिखा है कि वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है "वायुरेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः"। अतः यह सर्वोत्तम देवता है। वायु देवता विश्वेदेवता भी है। विश्वेदेवा सूक्तों में इसका नाम आता है जैसे—

"स्वस्तये वायुमुपब्रवामहे सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः"

(ऋ० वे० ५-५१-१२)

इस वायु का रथ चन्द्र का है और उस रथ का सारथि इन्द्र है। इसके रथ में ९९ अश्व हैं १०० वें से इनकी पूर्ति होती है। इनका स्थान कृष्ण पक्ष उत्तरार्द्ध है, या इसके रथ में हजारों अश्व हैं जैसे—

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्र सारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥३॥
वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव ॥४॥
वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आयातु पाजसा ॥

(ऋ० वे० ४-४८-पूरा)

इस वायु देवता का सीधा सम्बन्ध इन्द्र से है। अतः 'इन्द्र वायू' नामक देवता का वर्णन भी इसी प्रकार दिया हुआ मिलता है (ऋ० वे० ४-४६, ४-४७)। इन सूक्तों में इसको 'पूर्वपा असि' या पूर्वार्द्ध का संरक्षक बतलाया है तथा शवसस्पती और शुष्मिणः कहा है। उक्त तीनों सूक्तों में इसका सोमपान के लिए आह्वान किया गया है जिसको ऋ० वे० १-२-१ इस प्रकार कहता हैं "वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥" कि ये सोम अलंकृत हो चुके हैं दिव्य शरीरी सोम चुवाये जा चुके हैं, स्वयं आकार देख लो, अब उनकी रक्षा करो और हमारी टेर सुनो। इसी प्रकार का वर्णन इन्द्र सूक्त में आपाततः वायु सम्बन्धी होने से निम्न ढंग से दिया है।

"आसस्त्राणास शवशानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नुवायोरमृतं वि दस्येत् ॥

(ऋ० वे० ६-३७-३)

कि जब "इन्द्र अतीव बलवान् बनकर प्रस्तुत हो जाता है तब कल्याणकारी रथ के योग्य ऋजुगामी, स्वयं सरणशील अश्वों के लिए नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार के चुवाये अन्न अमृत या (श्रव) या सोम साथ ले चलो जिससे वायु के भक्ष अमृत का अभाव न हो।" यहाँ पर भी वायु को कल्याणकारी रथ, ऋजुगामी अश्व तथा प्राचीन नवीन दोनों प्रकार के पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय तत्त्वों से युक्त बतलाया है।

वायु विद्या प्राण विद्या है जैसे

"विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या (उदान) इव"। "अष्टापदीभिराहुतः।"
(ऋ० वे २-७-३,५)

"तन्नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्म चितयद्दिवे दिवे ॥"
(ऋ० वे० २-३४-७)

तथा

"त्रितो न यान् पञ्च होतॄनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे ॥"
(ऋ० वे० २-३४-१४)

प्रथम में उदन्या उदान है, अष्टापदी अष्टौ प्राणाः है, द्वितीय में अपान ब्रह्म चतुर्थ सप्तक का आदि ब्रह्म है (चतुर्थ में अपान प्राणों का विकास होता है) तृतीय में चित-प्राणोदानव्यान त्रिपादामृत हैं, पञ्चहोतॄन्–पञ्च प्राण हैं जिसका विश्रुत नाम प्राण उदान व्यान अपान और समान है। वायु नाम उदान प्राणों का मुख्यतः है। इसको ऐत० उप० 'अन्नायुर्वायद्वायुः' कहता है। उदान प्राणों का विकास द्वितीय सप्तक के आरम्भ से होता है। यही उदान प्राण जीवात्मा हैं। इनके उदय से रुदन आरम्भ हो जाता है। अतः इसे तब रुद्र भी कहते हैं। समस्त सृष्टि और उसका जीवन रुदनमय और संघर्षमय है। वायु नामक उदान प्राणों का जन्म यद्यपि द्वितीय सप्तक से होता है, पर इनका जनक 'प्राणाः' तो आदि तत्त्व हैं। अतः प्राणों को विश्वे देवता न कह कर वायु को ही विश्वेदेवता माना गया है। क्योंकि यही प्रथम विकास हैं और आगे व्यान अपान समान रूप में तृतीय से पञ्चम तक प्रत्येक सप्तक में क्रम से विकास पाकर विश्वेदेवताओं का पूर्णस्वरूप धारण करने में समर्थ हो जाते हैं। पूरे पचासों तत्वों में से जब प्रत्येक को 'प्राणाः' नाम से कहा जाता है तब उस तत्त्व के बारे में यह समझना सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है कि यह किस सप्तक का, और किस तत्त्व का कौन प्राण उदान व्यान अपान समान का भेद है।

वेदों में वातोदेवता का वर्णन ठीक विश्वेदेवता वायुदेवता के समान इस प्रकार दिया हुआ है। ऋ० वे० १०-१६८ अनिलो वातायन ऋषिः, वायुर्देवता। निचृत्त्रिष्टुप् १, ३, त्रिष्टुप् २, ४, धैवतः स्वरः—

"वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिवस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥१॥

सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्टा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक्सरथं देव ईयते ऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥२॥
अन्तरिक्षे पथिभि रीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्वस्विज्जातः कुत आ बभूवः ॥३॥
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषः इन्द्रस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥४॥"

वातो देवता की महिमा देखिए—वह भौतिक तत्त्व रूप रथ से घोष (शब्द ब्रह्म) को स्तनित गुञ्जित करते हुए और रोचमान होकर आता है, वह समस्त दिव या पूर्वार्द्धको व्याप्त करके उसे अरुण रूप दे देता है, तथा उसे भौतिकता के रेणु तत्त्वों से प्रछन्न कर डालता है। उस रथ में बैठे वातोदेवता के साथ चत्वारिवाग्पदा वाग्ब्रह्माणियाँ भी बैठी हैं, वह साथ बैठी उन्हें भी शब्द रूप में प्रगट होने के लिए प्रेरित करता है, उनके साथ बैठा वातोदेवता इस भौतिक ब्रह्माण्ड का राजा कहलाता है। यह वातोदेवता दर्शन मण्डल के मध्य में बैठा हुआ भी अपनी गतियों से निरन्तर व्यस्त रहता हुआ क्षण भर भी स्थिर या अकर्मकृत् नही रहता। यह आपोदेवताओं का सखा है और ऋत नामक आदि तत्त्वों से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, उनसे कब और कैसे आविर्भूत हुआ इसका स्पष्ट ज्ञान किसी को न हो सका। यह वातोदेवता समस्त देवताओं का आत्मा है, इस भौतिक ब्रह्माण्ड का मूलबीजभूत हिरण्यगर्भ है और यह स्वयं स्वतन्त्र रूप से विचरण करने वाला महान तत्त्व है। इससे उत्पन्न या व्यक्त होने वाले घोष ही इसकी प्रस्तुति की सूचना दे सकते हैं, क्योंकि इसका कोई रूप (भौतिकशरीर) है ही नहीं, यह आत्मा है। अतः ऐसे वातोदेवता का हम हवियों से यज्ञ करते हैं (हवियाँ प्राणयामादि ही होंगी)। ये वायुदेवता या वातोदेवता अपने आध्यात्मिक स्वरूप में विद्युत्स्वरूपी हैं इसका वर्णन पर्जन्यसूक्त ५-८३-३ में है "प्र वाता वान्ति पातयन्ति विद्युतः उदोषधी जिंहते पिन्वते स्वः।"

सबसे बड़ी बात और सबसे विशिष्ट बात जो वायुदेवता या वातोदेवता के बारे में जानने योग्य है वह यह है :—वैदिक देवताओं में से पाँच देवता ही मुख्य देवता हैं। ये पाँच देवता इस अखिल ब्रह्माण्ड की मूल आत्मायें हैं, अन्य देवता इन्हीं के विकास स्वरूप देवता हैं। वे पाँच मुख्य देवता ये हैं :—(१) अग्निः (२) वायुः या वातः (३) सूर्यः (४) चन्द्रमा या सोम (५) वरुणः। इन्हीं के कारण अखिल ब्रह्माण्ड रूप पिता को 'पञ्चपादं पितरं' नाम से पुकारा जाता है। ऋ० वे० १०-१६८-४० में वायुः या वातः को 'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो' स्पष्ट शब्दों में कहा है, और यजुर्वेद (१४-२०) ने उक्त देवताओं को मुख्य देवता रूप में 'चन्द्रमा देवता वातो देवता सूर्यो देवता वरुणो देवता अग्निर्देवता" इत्यादि मन्त्र दिया है। ऋ० वे० १-११५-१ में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। इसी प्रकार उक्त देवताओं के सूक्तो

२—वायु आत्मा है

में इन्हें आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है। श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ में उक्त मन्त्रों का विश्लेषण करके स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है "अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' (५); वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा (७); सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा (९); चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा (११); वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा (१४);। इनमें से अग्नि तो ब्रह्मात्मा है, वायुः या वातः जीवात्मा (रुद्रात्मा) है, सूर्यः तैजसात्मा है, ये तीन त्रिपादामृत हैं, चन्द्रमा भौतिकात्मा सोम है, ये चारों चतुष्पाद् ब्रह्म कहलाते हैं, और वरुण त्रिपादामृत की तीन आत्माओं का भौतिकात्मा चन्द्र से संयोग करने वाला या तानेबाने ठीक ढंग से तानने या बुनने या बन्धन करने वाला 'सतो बन्धमसति निरविन्दन्' का कार्य करने वाला परम मुख्य आत्मा है।

२—वातो देवता के भेद

वातोदेवता के दो मुख्य भेद है पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय। इन स्वरूपों का नाम भेषज है या ओषधि है। ये स्वयं भेषज या ओषधि रूप हैं। पूर्वार्द्धीय वायुओं का नाम विश्वभेषज है, उत्तरार्द्धीय वायुओं को 'रपः' नाम से पुकारते हैं। इनका विशद वर्णन 'भिषग्रुद्र' शीर्षक में किया जा चुका है, वहीं देखें। ऋ० वे० में इन विभागों का वर्णन २-२३-३ से ७ तक और १०-१३७-३ से ५ तक में दिया हुआ है। 'रपः' शब्द का अर्थ भौतिकशब्द ब्रह्म है 'लपः' 'वदति' अर्थ वाची है 'अरपः' मौन तूष्णी उपांशु अंशु वाले हैं। इनका वर्णन भी वहीं रुद्र शीर्षक में दिया जा चुका है।

४—वायु देवता पर श्रुतियाँ

द्यौ में वायु आश्रित है (तै० ब्रा० ३-११), वायु दिशाओं का गर्भ है (श० प० १४-९-४-२१), वायु ही यजुर्वेद है (श० प० १०-३-५-२), वायु ही से यजुर्वेद निकला (श० प० ११-५-८-३), यजुर्वेदियों का देवता वायु है छन्द त्रिष्टुप् है (गो० पू० १-२९, श० प० ८-७-३-१२); वायु अध्वर्यु है (गो० पू० २-२४), वायु सूत्र रूप होकर सबको गूथता है (श० प० ८-७-३-१०), यह शुक्ल है और पावन कर्ता है (श० प० ६-२-२:७; २-६-३-७), वात ही वायु है (श० प० ८-७-३-१२), वात होमा है (श० प० ९-४-२-१), वायु उशन् है (ता० ७-९-५), वायु अनुवत्सर है (तै० १-४-१०-१); यह निकाय छन्द है (श० प० ८-५-२-५), यह देव है, ब्रह्म है (ऐ० ब्रा० ८-२८ जै० उप० ३-४-८), यह बृहस्पति है (श० प० १४-२-२-१०); यह पवित्र है (तै० ३-२-५-११), यह प्रजापति है (ऐ० ब्रा० ४-२६), जो वायु है वही इन्द्र है वही यम है (श० प० ब्रा० ४-१-३-१९, यजु० ३८-९), यही यन्ता और मातरिश्वा है (ऐ० ब्रा० २-४१, श० प० ६-४-३-४); मातरिश्वा वह है जो दक्षिण भाग से उत्तरार्द्ध में बहती है (तै० २-३-९-५), वायु ही जातवेदा है (ऐ० २-३४), यह वायु पूषा है (यजु० ३८-३,१५), यह मारुत है (श० प० ३-६-१-१६), यही तनूनपात् और शाक्वर भी है (श० प० ३-४-२-११); यही तार्क्ष्य है (ऐ० ४-२०;

कौ० ३०-५); यह आशु आशिष्ट त्रिवृत् और तूर्णि है (ऐ० २-३४), यह सप्ति है (तै० १-३-६-४); यह सरिर है (श० प० १४-२-२-३), यह समुद्र है (जै० उ० १-२५-४), यह साधु है, सविता है (यजु० ३७-१०, ८), यह वायु अन्तरिक्षसद् है (यजु० १२-१४), यह विश्वकर्मा है (यजु० १३-५५), यह वैश्वानर है (श० प० १०-६-१-७), यह प्राण है (ऐ० २-२६), यह उग्र और पुरोहित है (ऐ० ८-२७), यह महः है (श० प० १२-३-४-८), यही पुरुष है (श० प० १३-६-२-१); यह यज्ञ है (ऐ० ५-३३), यह अनिरुक्त और शान्ति है (श० प० ८-७-३-१२; ताण्ड्य ४-६-९), इसमें पांच देवता हैं (ऐ० ८-२८)

अध्याय ५८

देय सम्राट् वरुणः, और दक्षक्रतू या मित्रावरुण

वरुण इस अखिल ब्रह्माण्ड का वह सर्वप्रथम तत्त्व है जिससे सृष्टि का दौर एक नवीन स्वरूप में या सर्वप्रथम भौतिकता के आभास रूप में उपस्थित होता है। यह प्रथमाभासीय या पूर्वरूपीय भौतिक तत्त्व इसके जन्मदाता त्रिपादामृत को सर्वतः आवृत करने लगता है। अतः ऐसे आवरणधर्मा होने से इसे वरुण नाम से–वृणोतीति वरुणः कहते हैं। वरुण की यह आवरणीय वृत्ति आपोरूपी या विद्युद्धर्मी है। इसीलिए श० प० ब्रा० ने वरुण को 'आर्पपिता' अर्पण करने वाला कहा है। अतः आपः की उत्पत्ति भी इसी स्थान से मानी जाती है। और आपः तथा वारि दोनों की व्युत्पत्ति भी आप्नोति व्याप्नोतीति आपः' और 'वृणोतीति वाः वारि वा' उचित रूप से दी जाती है। इन आपो रूप वैद्युतीय प्रवाहों का प्रथु प्रसारण वृत्र के पश्चात् होता है। अतः उस स्थिति को—वृत्र स्थिति को—पृथुल वैद्युतीय प्रवाह प्रसारिणी 'पृथिवी' या वृणोतीति वृत्रः, कहते हैं। यह तो सप्तकीय या चतुर्थ सप्तकीय वरुण आपः वारि, वृत्र या पृथिवी की बात है। वृत्र को छोड़कर शेष आपः वाः वारि वरुण और पृथिवी का एक और स्थान है, वह आपोब्रह्म से सम्बन्ध रखता है। वैदिकों ने अखिल सृष्टि के आरम्भ की स्थिति को आपो ब्रह्म के स्वरूप में देखने की बड़ी अद्भुत कल्पना की है। वे अखिल ब्रह्माण्ड के आदि भूत आध्यात्मिक ब्रह्म को मधुमय विद्युत्स्वरूप में परम वैज्ञानिक ढंग से देखते थे। उस अखिल ब्रह्माण्ड के मूलभूत स्रोत को आपो ब्रह्म या समुद्र नाम से पुकारते थे जिससे पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पञ्चसागर (और सप्तकों में सप्तसागर) तथा सप्तनदी और पञ्चपर्वा में पञ्चनदी की क्रमिक उत्पत्ति मानी गई है। इनका यह वरुण आदि से ही आपोरूप या आध्यात्मिक वरुण है जो चतुर्थ सप्तक के आरम्भ से पुनः प्रथम व्याख्यात भौतिकात्मा का सूत्रधार या सूत्रपात करने वाले वरुण के समान पूर्णतः हो जाता है। अतः वरुण देवता वैदिकों का परम महत्वपूर्ण तथा सर्वशाखा स्वीकृत तत्त्व है ('आपोब्रह्म' तथा 'पञ्चपर्वा विद्या' देखें)। इसीलिए इसे वैदिकों ने सर्वदेवताओं की आत्मा माना है "वरुणो वै सर्वेषां देवनामात्मा" (श० ष० ब्रा० १४-३-२-१४)। उक्त दो प्रकार के वरुण होने से ही वरुण को 'विश्वेदेवता' में माना जाता है और प्रत्येक विश्वेदेवता सूक्त वरुण की व्याख्या दिये बिना अधूरा ही समझा जाना चाहिए। क्योंकि यह देवता दोनों प्रकार की आध्यात्मिक और भौतिक या पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय सृष्टियों का सर्वप्रथम शिलान्यास करता है। फलतः वरुण ही अखिल ब्रह्माण्ड की उभय आधार शिला है जिसमें यह समस्त दर्शन का पचासमञ्जिल का महाप्रासाद खड़ा किया गया है।

१—वरुणः

इसीलिए वरुण को आत्मा ही नहीं वरन् देवताओं का सम्राट् भी माना गया है जैसे—

"सम्राजावस्य भुवनस्य राजथौ मित्रावरुण विदथे स्वर्दृशा।
वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी विचरन्ति तन्यवः ॥
(ऋ० वे० ५-६-३-२)

इस सूक्त के मन्त्र में वरुण को द्यावापृथिवी के ताने-वाने चुनने वाला (तन्यवः) भी कहा है। पूर्वार्द्धीय वरुण को अग्निवरुण तथा उत्तरार्द्धीय वरुण का मित्रावरुण नाम से पुकारा गया है।

२ विविध ब्राह्मणों में वरुण का वर्णन :—वरुण आवरण धर्मा होने के साथ-साथ वह तत्त्व भी कहलाता है जिसका देवताओं ने भौतिक स्वरूप धारण करने के लिए स्वयं वरण किया (गो० पू० ५-१-७); इसका नाम जुम्बक भी है, रात्रि उत्तरार्द्ध भी (यजु० २५-९; ऐ० ४-१०); रात्रि को (उत्तरार्द्ध को) इसीलिए 'वारुणी' कहते हैं (तै० १-७-१०-१); वरुण प्राण रूप है, (गो० उ० ४-११); अग्नि रूप है (श० प० ५-२-४-१३ ऐ० ६-२६); यह अग्नि का प्रदीप्तर घोर रूप है (श० प० २-३-२-१० ऐ० ३-४) मित्र उष्ण रूप है, वरुण अग्निरूप है (श० प० ५-३-२-८); अपक्षीयमाण मास (उत्तरार्द्ध) वरुण कहलाता है आपूर्यमाण मास (पूर्वार्द्ध) भी वरुण है (ताड्य० २५-१०-१०, श० प० २-४-४-८), पूर्वार्द्धीय वरुण श्री है उत्तरार्द्ध का क्लोम (श० प० १२-९-१-१५, कौ० १८-९), यही श्री उसका साम्राज्य है (श० प० ११-४-३-३); अतः दोनों द्यावापृथिवी मित्रावरुण के प्रिय धाम हैं। वरुण व्यान (तृतोय सप्तकीय) प्राण है (श० प० १२-९-१-१६), उत्तरार्द्ध में यह अपान है (श० प० ८-४-२-६); यह मध्यवर्ती है अतः योनि भी कहलाता है (श० प० १२-९-१-१७); वरुण आदित्य है अतः सूर्यसविता दश आदि नामों से भी सम्बोधित होता है (श० प० ४-१-८-१, जै० उ० ४-२७-३; कौ० १८-९), ऐ० ब्रा० १-२४), वरुण संवत्सर भी है (श० प० ४-१-४-१०), वरुण का नक्षत्र शतभिषा है (तै० ३-१-२-७), इन्द्र ही वरुण भी है (कौ० ४-५, गो० उ० १-२२), सब वरुण के हैं (श० प० ४-२-१-११), वरुण यज्ञ के अरिष्ट का शमन करता है (ऐ० ३-३८), सत्यानृत भी वरुण हीहै (तै० १-७-१०-४)। अनुडुही वहला वरुण की अधर्मी स्त्री है (श० प० ५-२-४-१३), वरुण धर्मपति है (तै० ३-११-४-१), वरुण अर्पणकारी है (वरुणो आर्पायिता–श० प० ५-३-१-५), वरुण ही अन्नपति है।

वरुण देवताओं का सम्राट् और राजा दोनों है (तै० २-५-७-३ श० प० १२-८-३--१०), विराट् (छान्दसी) वरुण की पत्नी है (गो० उ० २-९), वरुण आपो मय सृष्टि का निवासी है (तै० १-६-५-६)। यह प्रजापति के रेत से सर्वप्रथम उद्दीपित हुआ उससे भृगु हुआ, अतः भृगु को वारुणि कहते हैं 'भृगुर्वारुणिः' (ऐ० ३-३४), वरुण की उत्पत्ति के समय भर्ग प्रथम अपक्रान्त हुआ, अतः भृगु तृतीय हुआ (ताण्ड्य १८-९-१)। अपामावर्त यः अवभृथ वरुण का पुत्र है (श० प० १२-९-२-४), वरुण

का वीर्य ही सुवर्ण या हिरण्य है (तै० १-८-९-१), ग्रन्थियाँ सब वरुण की होती है 'वारुण्यो ग्रन्थिः' (श० प० ४-२-५-१७), रज्जु (रस्सी) या बाने भी वरुण के ही होते हैं (श० प० १-३-१-१४)। वरुण के वस्त्र काले (कृष्ण) होते हैं (श० प० ५-२-५-१७); उसका रूप खलित (खल्वाट) विक्लिध शुक्र और पिङ्गाक्ष है (तै० ३-९-१५-३)।

अश्व वरुण का ही है (तै० २-२-५-३), प्रजापति ने वरुण के इस अश्व की इच्छा की (श० प० ६-२-१-५), वरुण का प्रत्यक्ष पशु मेष है (श० प० २-५-२-१६), इसकी त्वाष्ट्री अविः भी है (श० प० ७-५-२।२०), विष्णु यज्ञ वरुण यज्ञ ही है (कौ० १६-८), राजसूय नाम वरुण यज्ञ का ही है (श० प० ५-३-४-१२), मित्रावरुण में वरुण सव्य दक्षिण है मित्र (वाम) (तै० १-७-१०-१) ओषधियां सब वरुण की हैं (श० प० ५-३-२-५), आज्य वरुण का है, मलाई मित्र की (श० प० ५-३-२-६)।

वरुण के यवों का नाम 'वरुण प्रघासा' है (श० प० २-५-२-१); वरुण के प्रघासों से प्रजापति वरुण के पाशों से मुक्त हुआ (तै० १-४-१०-६), तब अनमीवा हुआ (श० प० २-५-३-१), वरुण के प्रघास दक्षिणार्द्ध के तत्त्व हैं (श० प० ११-५-२-३), मित्रावरुण प्राणापान हैं और प्राणोदान हैं (यजु १४-२४ श० प० १-८-३-१२)। मित्र दिन है वरुण रात्रि (ऐ० ४-१०)

मित्र भी ब्रह्म है दिन है, प्राण है आपूर्यमाण अर्द्धमास (पूर्वार्द्ध है), मित्र सत्य का अधिपति है (तै० ३-११-४-१; श० प० ४-१-४-१; ऐ० ४-१०); यह मित्र सबका मित्र है (श० प० ५-३-२-७)।

पूर्वार्द्धीय वरुण भी सम्राट् वरुण है, उत्तरार्द्धीय मित्रा वरुण भी। जैसे अग्नि सर्वादेवता है वैसे ही अग्नि वरुण भी सर्वादेवता है पर मित्रावरुण केवल उत्तरार्द्धीय भौतिक है इसका वर्णन ब्राह्मणों ने स्पष्ट भाषा में कर रखा है और उनके व्याख्यान के आधार भी वैदिक ऋचायें ही हैं जैसा कि यहाँ पर क्रमशः दिया जावेगा। जिसको मित्रावरुणौ नाम से पुकारा जाता है उसके कई अन्य नाम भी है, उन नामों में से एक प्रख्यात नाम 'दक्षक्रतू' भी है। दक्ष का स्थान वैदिक ऋचा ने स्वयं निर्धारित कर रखा है

३—वरुण का स्थान

"अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥४॥
अदितिर्ह्यजनिष्ठ दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः ॥"

(ऋ० वे० १०-७२-४,५)

कि अदिति नामक पूर्वार्द्धीय तत्त्व से अन्त में दक्ष की उत्पत्ति हुई। दक्ष के पश्चात् उत्तरार्द्ध का आरम्भ हो जाता है। उत्तरार्द्ध को भी अदिति नाम से पुकारा जाता है इसलिए कहा है कि दक्ष से आगे उत्तरार्द्ध भी अदिति ही है। यहाँ पर जन्म लेने का प्रश्न नहीं है। कहना इतना ही है कि पूर्वार्द्धीय अदिति के अन्त का तत्त्व दक्ष नाम से पुकारा जाता है, और इस दक्ष से आगे के तत्व भी अदिति ही

(अखण्ड, एक ही) हैं। परन्तु उत्तरार्द्ध की अदिति के दो स्वरूप हैं एक पूर्वार्द्धीय दैवी दूसरी उत्तरार्द्धीय भौतिकी या आसुरी। इस भौतिकी उत्तरार्द्धीय अदिति को दिति नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि यह आसुरी है। अतः मित्रावरुणौ से प्रार्थना में कहा है

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथ वरुण मित्र गर्तं यतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

कि हिरण्य रूपिणी उषा सूर्य के उदय के लिए स्थूण रूप में अपनी पूरी सज-धज से उदिति हो चुकी है अब हे मित्र! और वरुण! तुम्हें अवसर प्राप्त हो रहा है शीघ्र ही गर्त या विषुवद्रेखा या २५ वें तत्त्व में आरोहण करो (विकसित हो जावो) जहाँ पर खड़े होकर तुम पूर्वार्द्धीय अदिति और उत्तरार्द्धीय भौतिकी दिति दोनों को एक साथ देख सकोगे। क्योंकि गर्त मध्यविन्दु है। उत्तरार्द्धीय भौतिकी दिति भी अदिति या अखण्ड या 'एक' ही है, यह भी ध्यान से न उतरे। इसके समर्थन में सबसे बलिष्ठ प्रमाण स्वयं ऋ० वे० का १०-४-७ मंत्र है जिसमें दक्ष का जन्म अदिति के उपस्थ या मध्यस्थान या अश्विनी नामक मध्यवर्ती ओष्टीय तत्त्व या योनि से बतलाया है जैसे—

"असच्चसच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे॥"

पूर्व परिच्छेद के विषय की पुष्टि में (श० प० ब्रा० ३-२-१-१३) ने लिखा है

"इमे वै प्राणा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ।
चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवा एतासु हैवास्यैव देवतासु हुतं भवति॥"

यहाँ पर दक्षक्रतू को मनोजात अत्रि मनोजात, वागग्नि तथा प्राणोदान स्वरूपी बतलाते हुए मित्रावरुणौ नाम से भी पुकारा है, इनकी चक्षु का नाम षष्ठादित्य सूर्य है, श्रोत्र विश्वेदेवता सोमादि है। इस कथन की पुष्टि में इसी ब्राह्मण ने अन्यत्र (श० प० ब्रा० ४-१-४-१) कहा है

"स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो, दक्षो ब्रह्मैव (ब्राह्मण)
मित्रः; क्षत्रं वरुणो, ऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः॥"

कि वह दक्ष मित्र ही है, क्रतु वरुण ही है। दक्ष या मित्र ब्राह्मण हैं, क्रतु और वरुण क्षत्र हैं ब्राह्मण अभिगन्ता पुरोगन्ता या पुरोहित है, क्षत्रिय कर्ता या यजमान। और इस वाक्य के आदि में यह भी स्पष्ट लिखा है कि क्रतु दक्ष दोनों मित्रावरुणौ कहलाते हैं "ऋतूदक्षौ हवा अस्य मित्रावरुणौ।" ये कथन ब्राह्मण ग्रन्थ की अपनी नहीं है वरन् इस मन्तव्य का स्रोत वैदिक ऋचायें ही हैं जैसे

"यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः।
वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः॥"

(ऋ० वे० ५-६५-१)

कि जो कामना करता है वह सुक्रतु या क्रतु है, वह हमें दीक्षा दे, वरुण उसका मार्ग दर्शक है मित्र उसकी वाणी है, यह वाणी क्रतु में उपस्थित हो। तथा

"अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता।
निकेतुना जनानां चिकिथे पूतदक्षसा॥"

(ऋ० वे० ५-६६।४)

कि मित्रावरुणौ दोनों कवि कारु और सृष्टि कर्ता (भौतिक) हैं। वे दक्ष की पुरी में अद्भुत स्वरूप पाते हैं, दक्ष से पूत होकर ये चतुर्थ सप्तक के जनों को भौतिक केतु (ध्वजा) से निर्मित करते हैं इत्यादि। दक्ष माने वह तत्त्व है जहाँ से ब्रह्म की दक्षता प्रकट होती है, 'यद्दक्षयत् तस्माद्दक्षः' या जो अक्ष या अक्षि को देता है वह दक्ष है 'ददाति अक्षं अक्षि वा दक्षः' दक्ष से दक्षिणा या दक्षिणायन का प्रारम्भ भी होता है। दक्षिणा चार हैं :—'हिरण्य गौ वस्त्र अश्व'। ये चारों उत्तरार्द्ध के तत्त्व हैं। "चतस्रो दक्षिणा हिरण्यं गौ र्वासोऽश्वः" (श० प० ब्रा० ४-३-१ १ से ७ तक पूरा देखें तथा ४ से ७ तक देखें)।

वरुण के पाश पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप ताने वाने हैं। उन्हीं ताने वानों से यह अखिल ब्रह्माण्ड एक स्वरूप को प्राप्त होता है। ये ताने वाने ८,६४०००००० हैं (ऋचो अक्षरे देखें)। इन ताने वानों को बुनने वाली मातायें हैं, मातायें वरुण के आपों की हैं। इसका वर्णन ऋ० वे० ५-४७-१ से ७ तक के मन्त्रों में इस प्रकार किया है

४—वरुण के पास

"प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितु र्बोधयन्ती।
आ विवासन्ती युवति र्मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना॥१॥
अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्।
अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परिद्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः॥२॥
उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः प्रश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥३॥
चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्॥४॥
इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।
द्वे यदीं बिभ्रतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या सबन्धू॥५॥
वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥६॥
तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तुशस्तम्॥७॥"

"इसमें आविवासयन्ती (१) 'इदं वपुर्निवचनं' (२) और वितन्वते···वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति (७) ध्यान देने योग्य शब्द हैं जिनमें यह ब्रह्माण्ड रूप शरीर वस्त्र है और उसको बुनने वाली आपो मातायें मुख्यतः बतलाई गई हैं, शेष में वरुण की महत्ता—जैसे चतुष्पाद् ब्रह्म को धारण करने वाला, दश गर्भ वाला, दो पदों का

पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का धारण करने वाला, त्रिधातु त्रिपादामृत वाला, आदि स्रोत समुद्र वाला (उक्षा समुद्रः), प्रश्नि रश्मा वाला इत्यादि—भी बहुत उत्तम ढंग से दी है।" मुक्ति चाहने वाला देव सम्राट् वरुण के इन्हीं पाशों से छुटकारा पाने या दिलाने की प्रार्थना करता है। "मरुतों के पाशों को यजुः (१७-२) ने 'स्वर्का' नाम से पुकारा है। इन पाशों की सर्वोत्तम व्याख्या (तै० ब्रा० १-४-३-५) ने बड़ी स्पष्टता दी है। इसमें लिखा है कि ये पाश गायत्री त्रिष्टुप् जगती आदि के छन्दाक्षरों के सूतों के बने हैं, येही गायत्र त्रैष्टुभ और जागतादि सूत्र वरुण के पाश हैं। जिनके भौतिक बन्धन से छुटकारा पाने की स्थान स्थान पर वैदिक ऋषियों ने याचना की है। तात्पर्य यह है कि वरुण के पाश छान्दस पाश हैं प्राणमय पाश हैं।

देव सम्राट् वरुण जल रूप या आपो रूप नहीं है, यह विद्युद्रूप या अग्नि रूप है। आपोब्रह्म या आपः की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि आपः शब्द विद्युत् के लिए आया है। वरुण को इन आपों का अधिष्ठाता देवता माना जाता है, अतः वह स्वयं विद्युत्स्वरूपी सिद्ध हो जाता है। इसका अग्नि रूप व्याख्यान निम्न ऋचा देती है।

५—वरुण का स्वरूप

"त्वमग्ने वरुणो जायसे यस्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वं विश्वे सहस्पुत्रः देवास्त्वामिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥"
(ऋ० वे० ५-३.१)

और

"त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥"
"स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥"
"स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता योयुवानो वृषभस्य नीळे॥"
"प्रशर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योनौ वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्तप्रियासो ऽजनयन्त वृष्णे॥"
"ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषतव्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः॥"
"स भ्रातरं वरुण मग्न आववृत्स्व देवा अच्छासुमती यज्ञवनसम् ज्येष्ठं यज्ञवनसं।
ऋतावानादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम्॥"
(ऋ० वे० ४-१-४,५,११,१२,१६, और २)

वरुण अवम अग्नि है, महोबुध्न (चतुर्थ सप्तक) में रज या भौतिकता के साथ उत्पन्न होता है, वह प्रथम या आदि में समुद्र रूप में अपादशीर्षा है, वह निवास में वृषभ कहलाता है। २४ तत्त्वों (त्रिःसप्तमातुः) के पश्चात् यह वपुष्य या शरीरी बनता है, तब 'गो' वृषभः होता है। यह अग्नि का भाई सब देवताओं में ज्येष्ठ ऋतवान् चर्षणीधृत (गोमान्) राजा (सम्राट्) है। इस आशय की पुष्टि शतपथ

ब्राह्मण (२-२-४-९ से १३ तक) ने उक्त प्रथम मन्त्र (ऋ० वे० ५-३-१) का भाष्य सा करते हुए उज्वल भाषा में लिखा है "तद्यत्रैतत्प्रथम ᳪ समिद्धो भवति। धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः......अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः ......अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति उच्चैर्धूमपरमया जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः ....अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः स शाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः......अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इव तर्हि हैष भवति ब्रह्म (बृहस्पति)" इति यह अग्नि का क्रमिक विकास है, रुद्र नवम है, वरुण २४ वें का पूर्वार्द्ध मित्र, उत्तरार्द्ध इन्द्र १७ से ३१ वाँ, ब्रह्म बृहस्पति ३६ वाँ है। वरुण का वर्णन ऋ० वे० ५-६९ और ५-८५ में बहुत उत्तम दिया हुआ है, उन्हें अगले परिच्छेदों में पढ़िये। उक्त ऋचा में भी 'महो बुध्ने योनौ' शब्द चतुर्थ सप्तक के ही बोधक हैं, यह स्पष्ट है।

६—ऋ० वे० ५-६९ में वरुण

त्रीरोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि।
वावृधानावमतिं क्षत्रियस्यानुव्रतं रक्षमाणा वजुर्यम् ॥१॥
इरावती र्वरुणं धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे।
त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ॥२॥
प्रातर्देवी मदितिं जोहवीमि माध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
राये मित्रावरुण सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः ॥३॥
या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि ॥४॥

(उरुचक्रितरात्रेय ऋषिः)

अर्थ—वरुण देवता त्रीरोचना या तीन प्रकाशस्तम्भों (ब्रह्मात्मा जीवात्मा और तैजसात्मा) को धारण करने वाला, तथा साथ-साथ तीन द्यु-भूर्भुवः स्वः-या एकपाद द्विपाद और त्रिपाद—या वसु रुद्र आदित्यों के स्थानों को धारण करने वाला है; तथा तीन रजांसि या अन्तिम तीन सप्तकों के भौतिकात्माओं को धारण करता है। मित्र भी उक्त सबको धारण करता है। ये दोनों बढ़ते या विकसित होते हुए भौतिकात्माओं का संरक्षण करते हैं; और मित्र स्वयं ब्राह्मण (त्रिपादामृत) होते हुए भी क्षत्र तत्त्व वरुण की (अनुव्रतं) नियमतः निरन्तर रक्षा करता रहता है ॥१॥ हे वरुण तुम्हारी धेनुएं इरावती भौतिकी हैं और तुम्हारी नदियाँ मधुमती अमृतमय (विद्युद्धर्मिणी) हैं जिनको मित्र दुहता है, वा विकसित करता है ('पञ्च-पर्वा' देखें)। उक्त त्रिपादामृतीय धेनुओं को गर्भवती बनाने वाले तीन वृषभ (वसु-रुद्र आदित्य) हैं जो वैद्युतीय और तैजसात्मीय बुद्धियों का रेतः धारण कराते हैं ॥२॥ अदिति देवी प्रातः कालीन या पूर्वार्द्धीय है उसका हम आह्वान करते हैं, उस पूर्वार्द्धीय अदिति से माध्यन्दिन काल या सवन में सूर्य का उदय होता है। हे मित्रा वरुण हम आप दोनों की प्रार्थना उस भौतिकात्मा रूपधन के लिए करते हैं जो सर्वतः श्रेयस्कर है, और जिसको सोम ज्योति की बूदें (तोकाय) और विष्णु ज्योति-रूप पुत्र कहते हैं ॥३॥ हे मित्रावरुण आप उक्त तीन प्रकाशस्तम्भों को धारण करने

वाले हैं, भौतिकात्माओं तथा आदित्यों के दिव्य पार्थिव आत्मा या भौतिकात्माओं के संरक्षक हैं। आप दोनों निश्चित नियमों और त्रिपादामृतों को देवगण न तो अस्वीकार कर सकते हैं न उसमें परिवर्तन ही कर सकते हैं ॥४॥ फलतः मित्रावरुण सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं।

७—ऋ० वे० ५-८५ में वरुणो देवता

"प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रियं ब्रह्म वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय ॥१॥
वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमधात्सोम मद्रौ ॥२॥
नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥३॥
उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः ॥४॥
इमामूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥५॥
इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्गा न प्रणन्त्येनी रासिञ्चन्तीरनवमयः समुद्रम् ॥६॥
अर्यम्यं वरुण मित्र्यं या वा सखायं वा सदमिद्भ्रातरं वा।
वेश वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ॥७॥
कितवासो यद्रिरिपु र्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः ॥८॥"

अर्थ—हम उस प्रख्यात देवसम्राट् वरुण की प्रिय गंभीर और बृहत् अर्चना करते हैं जिसने चर्मोपा पृथिवी को वधिक सा होकर मारा कि वह ठंडी ही हो गई; और उसने सूर्य के विकास के लिए पृथिवी भौतिकात्मा को विछा दिया, (भौतिकता को दैवी शक्ति प्रदान की) ॥१॥ जिस (वरुण) ने जलों में अन्तरिक्ष का निर्माण किया (आपो ब्रह्म से वसु ब्रह्मों का विकास किया) प्राणाश्वों को अन्न या सोम में परिणत किया, वाग्धेनुओं में वाणी रूप पयः का जन्म दिया, हृदय में (सृष्टि पुरुष के हृदय में) जिसने क्रतु या क्रम का सूत्रपात कराया, जिसने आपोब्रह्म को अग्निमय, दिव को सूर्ययुक्त और मेरु पर्वत (मध्यविन्दु में) सोम को उत्पन्न किया, (हम उस देवसम्राट् वरुण की···) ॥२॥ उस वरुण ने पूर्वार्द्ध के नीचे के भाग को पूर्णतः आवृत करके, ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जिससे रोदसी (पृथिवी) अन्तरिक्ष (द्यावा) से पृथक् सी ऐसी दीखने लगी जैसे कि कोई कबन्ध (शिर हीन) आगया, (क्योंकि द्यावा रूपहीन अमूर्त है पृथिवी (रोदसी) मूर्त या भौतिक या रूपवती। कबन्ध शब्द में एक और श्लेष है क+बन्ध=जल या चतुर्थ सप्तक के जलों का बन्ध या आरंभ करना, उत्तरार्द्ध पृथिवी को 'क' या विद्युत्स्वरूपी जल रूप में निर्मित करना आरम्भ कर दिया। ये जल वृत्र वध से तरंगित हुए 'वृत्रं जघान्वाँ अप तद्ववार' (ऋ० वे०

१-३२-११) । वृत्र वरुण वारि वाः और आपः की व्युत्पत्ति एक ही है; यह दिया जा चुका है । ऐसे महत्त्व पूर्ण कार्य (भौतिक तत्त्व की प्रथम सृष्टि) करने से वह अखिल ब्रह्माण्ड का राजा ही नहीं वरन् सम्राट् कहलाता है और उस भौतिक पृथिवी में वह सोम (यव) की वृष्टि सी करके सृष्टि के ताने वाने बुनता है (व्युनत्ति) । (पूर्वार्द्ध की सृष्टि का नाम गो या गोधूम गेहूँ है तो उत्तरार्द्ध की सृष्टि का नाम 'यव' है) ॥३॥ जब वरुण दूध की या चेतनामय भौतिक तत्त्व की वर्षा करता है तभी भूर्भुवः स्वः इत्यादि, लोकों (भूमि) और द्यावापृथिवी के ताने वाने बुनने योग्य बनते हैं । वह स्वयं पर्जन्य की तरह प्रस्तुत होता है जिससे सोम आदि पर्वत बलवान् बनकर नाना वीरों (वीजों) की रचना करने लगते हैं ॥४॥ इन ऋचाओं में हमने प्रख्यात प्राणस्वरूप वरुण की मायाविनी महिमा गाई है, वह द्यावा (अन्तरिक्ष) में तो केवल मान रूप में, अनुमान रूप में या आध्यात्मिक स्वरूप में विद्यमान रहा, पर उसने सूर्य (की उत्पत्ति करने) से पृथिवी (उत्तरार्द्ध) की सृष्टि का आरम्भ कर दिया ॥५॥ इत्यादि ॥

यास्क ने वरुण को और प्राचीन 'निरुक्तकारों' के मध्यस्थानीय शब्द को अन्तरिक्ष स्थानीय माना है । प्राचीन निरुक्तकारों का 'मध्यस्थानीय' शब्द पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध या द्यावा पृथिवी के मध्यस्थान २४ वें तत्त्व से तात्पर्य रखता है ।

"तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः । नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः
सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥"
(ऋ० वे० ८-४१-२)

की व्याख्या में नाभाक ऋषि कहते हैं कि हम वरुण की स्तुति पितरों की स्तुति की शब्दावली में कहते हैं, वह शब्दावली जो पितरों को अतिप्रिय है, नाभाक की रची इन प्रशस्तियों का निष्कर्ष यह है कि जिस वरुण के अभ्युदय से नदियों का सप्तक उसकी सात बहिनों के समान प्रस्तुत हुआ वह वरुण मध्यस्थानीय या मध्यम या २४ वाँ तत्त्व है वह 'अन्यके समे' या उत्तरार्द्ध में 'नभन्ता' २४ वें तत्त्वरूप नाभि से उत्पन्न होकर परिवर्द्धित या विकसित हो । यास्क ने 'नभन्तामन्यके समे' के माने 'हमारे विरोधी दुर्बुद्धि लोग न हो पावें' लिखा है, प्राचीन निरुक्तकारों का आशय तो यह रहा होगा कि "उत्तरार्द्ध में भौतिकता प्रधान शत्रुरूप आसुरी बुद्धि या आत्मा का उदय न होकर, दैवी भौतिक आत्मा या दैवी भौतिक बुद्धि का उदय हो" यह शब्दार्थ नहीं, साधारणतः भावार्थ है, ऐसा भाव प्रत्येक सूक्त और ऋचा में निहित मानना चाहिए ।

यास्क ने वरुण को द्युस्थानीय भी माना है । पर वे इसे पृथिवी स्थानीय नहीं मानते । द्युस्थानीय वरुण की व्याख्या में उन्हें ऋ० वे० १-५०-५,६,७ का ठीक ठीक समन्वय ही नहीं लग सका है । छठी ऋचा के सम्बन्ध में वे कभी यह कहते हैं कि इसका सम्बन्ध सातवीं ऋचा से है, कभी यह कहते हैं कि पांचवों ऋचा से है, फिर अन्त में कहते

८—वरुण सम्बन्धी भ्रम

हैं कि सम्भवतः इस छठी ऋचा का अर्थ इसी ऋचा में है, अन्य सन्दर्भ जोड़ने की आवश्यकता नहीं। उनकी ऐसी तर्कनायें ही उन्हें नितान्त अनिश्चित धरातल पर डाँवाँडोल करती सी दिखाई पड़ती हैं :—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ् उदेषि मानुषान्।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥५॥
येन पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि ॥६॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥७॥

ऋ० वे० १-५०-५,६,७

इन मन्त्रों के अर्थ की सबसे सरल तरल कुञ्जी है वेद का दूसरा वाक्य 'चक्षु मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कि 'सूर्य' (२५ वाँ तत्त्व) मित्र वरुण और (जातवेदा) अग्नि की चक्षु है। यहाँ पर सूर्य को वरुण की चक्षु कहा जा रहा है। अतः छठे मन्त्र का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है। हे वरुण तुम जिस अग्निरूप चक्षु (सूर्य) से क्षिप्रगामी सुपर्णीय जनों या चतुर्थ सप्तकीय नरों (नृषदस्यों) को देखते हो या देख पाते हो या विकसित करते हो ॥६॥ हे वरुण तुम विश संज्ञा के चतुर्थ सप्तक के देवताओं के पश्चात्, मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तक के देवताओं के आरम्भ के पश्चात् और स्वर्लोक की चक्षु नामक भौतिकात्मा के पश्चात् या साथ-साथ उत्पन्न होते हो ॥५॥ तुम सूर्य ही हो, तुम द्यावा में विरजस्क, अभौतिक रूप से रहते हो, पर उक्त द्यावा रूप अहः या दिनों को तुम रात्रि रूप भौतिकात्मा से आवृत करते हो या नापते हो जिससे तुम उत्पन्न होने वाले सबके विकासों को देखने में समर्थ होते हो ॥७॥

वैश्वानराग्नि की व्याख्या आगे दी जायगी। यह उस अग्नि का एक स्वरूप है जिसकी चक्षु का नाम सूर्य है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। यह अग्नि वास्तव में जातवेदा का अन्तिम स्वरूप है, पर उदीयमान वैश्वानराग्नि का पूर्व रूप है। अतः इसे भी मित्र और वरुण की तरह देव-सम्राट् की पदवी से घोषित किया गया है जैसे :—

९—वरुण और वैश्वानर

"मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं साम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥"

(ऋ० वे० ६-७-१)

इसकी उत्पत्ति 'पित्रोरुपस्थे' गर्त या मध्यस्थान बतलाते हुए लिखा है

"वैश्वानर तव तानि व्रतानि महान्यग्ने नकिरादधर्ष।
यज्जायमान मित्रोरुपस्थेऽविन्दः केतुं वयुनेष्वह्नाम्॥"

(ऋ० वे० ६-७-५)

इस वैश्वानर को भी भौतिकात्मा का निर्माता, सुक्रतुः दिवो, विरोचना, कविः और विश्वा भुवनानि का विकासक (पप्रथे) बतलाती हुई ऋचा यह है :—

"वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ॥"

(ऋ० वे० ६-७-७]

कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्थ सप्तक, अग्निरूप में वैश्वानर है, आपोरूप में वरुण है, आदित्य रूप में मित्र है। अतः तीनों को सम्राट् कहा गया है। वरुण को आपोरूप में सम्राट् बनाने वाली ऋचा यह है

"यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा या सूर्ज मदन्ति।
वैश्वानरो याश्वग्निप्रविष्टस्ता आपो देवी रिह मावयन्तु ॥"

(ऋ० वे० ७-४९-४)

इस सूक्त के तीसरे मन्त्र में वरुण को 'मध्ये सत्यानृते पश्यन् जनानाम्' कहा है। यहाँ 'सत्य' माने देवता और अनृत माने मनुष्या (चतुर्थ सप्तक) है (श० प० ब्रा० ३-२-५-२) "सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः"। सत्यानृत की व्याख्या आगे इसी के उपशीर्षक 'सत्यानृतम्' में दी जा रही है।

दक्ष क्रतु के स्थान में इन दोनों तत्त्वों को मित्रावरुणौ कहा जाता है। दक्ष तो मित्र है और क्रतु वरुण है, ऋचाओं में दक्ष को सुदक्ष और क्रतु को सुक्रतु कहा गया है। दक्ष, अदिति का पाँचवा पुत्र है* तो क्रतु उसकी उत्पत्ति क्रम से यज्ञ क्रम से या विकास क्रम से बतलाता है। अतः क्रतु नाम यज्ञ पुरुष या विकास पुरुष का मध्यबिन्दु है।

१०—मित्रः

मित्र आदित्यों में पाँचवा आदित्य अत्रि या दक्ष नामक तत्त्व है, यह ॐ है। अतः इस २४ वें तत्त्व मित्र के बारे में लिखा है कि यह तत्त्व किसी का अमित्र नहीं हो सकता, यह त्रिपादामृत का एक सामूहिक नाम है जैसे

"सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि, न मित्रं सन्नमित्रो भविष्यामीति"

(श० प० ब्रा० ४-१-४-८)

और यह मित्र तत्त्व ऋत है, ब्रह्म है, वरुण आयु है और संवत्सर है इसलिए ये योनि कहलाते हैं।

"राया वयं ᳪ…तां धेनुं मित्रावरुणा…मेष ते योनिॠ॑तायुभ्यां त्वा"

(यजु०   )

"ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि,
वरुणः संवत्सर आयुः तस्मादाहैष ते योनिॠ॑तायुभ्यां त्वा।"

* अष्टौ पुत्रासो अदिते र्ये जाता तन्वस्परि देवाँरुप प्रैत्सप्तभिः परामार्तण्डमास्यत् (१०-७२-८) सप्तभिः पुत्रै……प्रजायै मृत्यवे-त्वत्पुनर्मार्तण्डयमाभरत् (१०-७२-९) आदितेर्दक्षो अजायत दक्षात् उ अदितिःपरि" (ऋ० वे० १०-७२-४)

वरुण और मित्र को अर्यमा का पुत्र या अर्यम्य या अर्यमण कहा गया है जैसे ऋ० वे० ४-२-४, ऋ० वे० ५-८५-७ में और "अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्" इत्यादि (ऋ० वे० १-८९-३ यजु० २५-१६) इत्यादि में। यह अर्यमा २३ वाँ तत्त्व चौथा आदित्य है। यह मित्र 'शान्तार्चिशाम्यतो भवति, प्रतितर।मिव तिरश्चीवार्चिः') श० प० ब्रा० २-२-४-११,१२) कहा गया है। मित्र के बारे में ऋ० वे० ३-५९ सूक्त उत्तम है

"मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टी रनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतन ॥१॥
प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥२॥
अनमीवास इलया मदन्तो मितज्ञयोवरिमन्ना पृथिव्याः।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥३॥
अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ठ वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥४॥
महाँ आदित्यो नमस्योपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः।
तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥५॥
मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥६॥
अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः।
अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥७॥
मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे।
स देवान् विश्वान्विभर्ति ॥८॥
मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्त बर्हिषे।
इष इष्टव्रता अकः ॥९॥

अर्थ :—मित्र नामक तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड और हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का वह भौतिकात्मीय तत्त्व है जो किसी भी भले-बुरे कार्य की स्वीकृति वा प्रतिक्रिया सुनते ही कहते ही जानते ही स्वयं तुरन्त कर देता है उसके इसी सावधानी पूर्ण कार्य से द्यावापृथिवी पूर्ण ब्रह्माण्ड सुव्यवस्थित है (दधार) अन्यथा कब क्या न हो जाता। यह मित्र, भौतिकात्मा (कृष्टी) के इस प्रकार प्रतिक्षण संरक्षण में तत्पर रहता है; ऐसे मित्र को अपने प्राणों की सी आहुति देते रहो ॥१॥ यह मित्र आदित्यों के नियमों में संचालित होता है, यह नाशवान् भौतिकात्मा युक्त हुआ करे, पर यह नित्य गतिमान् कर्मण्य और त्रिपादामृत भी है। इसकी भौतिकात्मा और त्रिपादात्मा न तो मारी जा सकती है, न जिलाई जा सकती है, न इसको कोई पाप का लेश छू सकता है, चाहे वे पापादि समीपी या दूर के हों। यह मित्रात्मा अजरामर और शुद्ध-बुद्ध चैतन्य मय है (गीता के 'न जायते म्रियते वा कदाचिद्' और कठ के इसी प्रकार के वाक्यों का आधार यही ऋचा है) ॥२॥ यह मित्र स्वस्थात्मा इच्छा के

साथ (भौतिकात्मा के साथ) मस्त रहता हुआ पृथिवी (भौतिकात्मा) की महिमा से मितज्ञता को भी स्वीकार कर लेता है ।।३।। यह मित्र नमस्कार के योग्य है, परम कल्याणकारी है, राजा है, क्षत्र है, इसने कुलायी ब्रह्मा (वेधा) को जन्म दिया, यह यज्ञिय या विकासभरा तत्त्व है, हम उसकी सन्मति और सन्मानस से पूजा करते रहें ।।४।। यह महान् आदित्य है, अपने घर में स्थापित करने योग्य है, यातयज्जन है और सदा कल्याणकारी है। उसके लिए विशुद्धाग्नि में हवि प्रदान करो ।।५।। हम उस चर्षणी (गावः आदित्याः के व्रतों) को धारण करने वाले देवता मित्र की शरण जाते हैं, वह हमारी रक्षा करे, जो स्वर्गीय चित्र-विचित्र स्वरूप को धारण करने में समर्थ होता है ।।६।। जिसे अपनी महिमा से दिव नामक तृतीय सप्तक को उसके पूर्ववर्ती सप्तकों सहित और अपनी विकासीय शक्ति से पृथिवी उत्तरार्द्ध को अभिभावित किया या अपनी संरक्षण में रखा या परास्त किया उसको हम पूजते हैं ।।७।। मित्र के लिए पञ्चादित्यों ने संयमपूर्वक कार्य किया कि अभीष्ट कल्याण (सृष्टि विकास) हो, अतः वह समस्त देवताओं को (भौतिकात्मा देकर उनकी) रक्षा करता है ।।८।। मित्र देवताओं की आयु को मनुष्यों या भौतिकात्माओं में धारण करने के लिए यह भौतिकात्मा की आसन्दी का वरण करता है। जिससे अभीष्ट सृष्टिविकास कार्य इच्छानुकूल कर सका ।।९।।

मित्रावरुण के जन्म की कथा (श० प० ब्रा० १-६-३-७ से १२ तक) ने दी है। जिसके अनुसार एक शेष मनु ने तपस्या की तो संवत्सर भर के बाद एक स्त्री निकली, उसीसे मित्रावरुण का जन्म हुआ। उसने अपना नाम मनु की दुहिता बताया, उसी की यथार्चना से हमारी प्रजा बनी। वही फिर इडा बनी*। मित्र और वरुण, अथवा दक्ष और क्रतु इस अखिल ब्रह्माण्ड के बड़े महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनसे भौतिकात्मा का अभ्युदय तदनन्तर भौतिक ब्रह्माण्ड का निर्माण प्रारम्भ होता है। भौतिकात्मा और भौतिक ब्रह्माण्ड की चेतनायें भी यही मित्रावरुण या दक्ष क्रतु तत्त्व हैं। ये न हों तो अखिल सृष्टि जड़वत् स्थिर बनी पड़ी रह जावे। समस्त गतिमान् ब्रह्माण्ड की गति या चैतन्य इन्हीं देवताओं की देन है, यह निम्न ऋचायें स्पष्ट भाषा में उद्घोषित कर रही हैं :—

११—प्रचेतसौ-मित्रावरुणौ

"इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधु र्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ।।"
"इमे मित्रो वरुणो दूलहभासो अचेतसं चिच्चेतयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति ।।"
"इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ।।"

(ऋ० वे० ७-६०-५, ६, ७)

* (तै० ब्रा० १-७-१०-१) ने लिखा है कि मित्रः अहः या पूर्वार्द्ध वरुण रात्रि उत्तरार्द्ध। मित्र दक्षिण है वरुण सव्य या वाम

अर्थ—ये मित्र, अर्यमा और वरुण, अनृत या भौतिकात्मा को चेतना प्रदान करते हैं। ये स्वयं ऋत नामक पूर्वार्द्ध से विशेष कर दुरोण नामक तृतीय सप्तक से विकसित हुए हैं, ये महाबली और अविजेय तथा अदित के पुत्र हैं॥ ये मित्र और वरुण दुर्लभ तत्त्व हैं, ये अचेतन में भी चेतना फूँक देते हैं। चेतना फूँकने में ये बड़े दक्ष हैं और दक्ष रूप में चेतना देते हैं। और क्रतु नामक (वरुण) तत्त्व स्वयं सुचेताः (प्रचेताः) है, उसका क्रमिक विकास करके बुरे मार्गों से संरक्षित करते हुए विकास को बढ़ाते जाता है॥ ये पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों का विकास प्रतिक्षण करना चाहते हुए अचेतन भौतिकात्मा की सृष्टि करते हैं, जो नदी की तरह उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते इतना अत्यन्त अगाध-अखिल ब्रह्माण्ड के रूप में उपस्थित हो जाता है जिसका कहीं पार नहीं, कहीं छोर नहीं, कोई पूर्णज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ पर आपाततः 'सत्यानृत' पर प्रकाश डाल देना उचित है। ऋ० वे० ७-४९-३ में लिखा है

"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते पश्यञ्जनानाम्"

१०—सत्यानृतम्

कि जिन आपोदेवियों का राजा वरुण दर्शन के मध्यवर्ती भाग में स्थित होता हुआ चतुर्थ सप्तक (जनानां) के तत्त्वों के सत्यानृत दोनों गुणों को देखता है। सत्य पूर्वार्द्ध है अनृत उत्तरार्द्ध। सत्य ऋत है, अनृत ऋत से भिन्न भौतिक। ऋत नाम मित्रावरुण का है। यह मित्र के प्रथम परिच्छेद में उद्धृत किया जा चुका है। शतपथ ब्राह्मण ने आरम्भ में ही सारी सृष्टि को दो भागों में निश्चित रूप से विभक्त करते हुए लिखा है

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवाऽनृतं च।
सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः॥"

(३-२-५:२)

यहाँ 'मनुष्या' शब्द चतुर्थ सप्तक भौतिक तत्त्व का वाची है, इसका नाम नृषत् भी है। यही 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' का 'मनुष्य' शब्द है। यहाँ पर जिन तत्त्वों को 'सत्यानृत' नाम से पुकारा है, उन्हीं को दूसरे स्थलों में दो अन्य प्रकार के जोड़े के शब्दों द्वारा सूचित किया गया है जैसे

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, आर्द्रं चैव शुष्कं च।
यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्।............
सूर्य एवाग्नेयः, चन्द्रमा सौम्यो, अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या,
य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स आग्नेयो योऽहःक्षीयते स सौम्यः॥"

(श० प० ब्रा० १-५-२-२३, २४)

कि इस सृष्टि चक्र में दो ही तत्त्व मुख्य हैं, तीसरा है ही नहीं। वे दो हैं—आर्द्र और शुष्क, जो शुष्क तत्त्व है वह आग्नेय है, जो आर्द्र है वह सौम्य (सोम सम्बन्धी) है......आग्नेय तत्त्व सूर्य (२५ वाँ तत्त्व) है, सौम्य तत्त्व चन्द्रमा है। आग्नेय को दिन कहते हैं, सौम्य को रात्रि; जो अर्द्धमास (पूर्वार्द्ध) आपूरित होता है

(जैसे कृणपक्ष का चन्द्रमा) वह सौम्य भाग है। अन्यत्र श० प० ब्रा० २-२-३-१० में लिखा है।

"द्वयं वा इदं जीवनम्। मूलि चैवामूलं च।
तदुभयं देवाना ॐ सन्मनुष्या उपजीवन्ति॥
पशवो मूला ओषधयो मूलिनस्ते पशवो मूलाः।
ओषधीर्मूलिनीर्जग्ध्वापः पीत्वा ततः एष रसः सम्भवति॥"

कि जीवन दो प्रकार का है, मूलि और अमूल। ये दोनों देवताओं के (भेद) हैं जिनसे मनुष्या (चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व) उपजीवित होते हैं (देखिए 'इमे चेतारो इत्यादि पहिले)। मूल नाम पशुओं का है, पशु नाम तत्त्वों के उन नामों का (इन्द्र वृत्र विष्णु रुद्र आदि का) है जिनको संकेत करके तत्त्वों की व्याख्या काव्य रूप (ऋचाओं) में की गई है। 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (पशुवाद देखें)। ओषधि नाम मूलिनि तत्त्वों सोमादि का है, ये भी पशु ही हैं। मूल नामक पशु मूलिनी ओषधियों को खाकर आपोब्रह्म पीकर जब प्रस्तुत होते हैं तभी उनसे रसः नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। ये सब दार्शनिक विवेचन हैं जिन्हें कथा रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मध्य युग के वेदान्ताचार्य शंकर रामानुज प्रभृति ने 'सत्यानृत' शब्दों के अर्थ, लौकिक अर्थ के समान 'सच्चा झूठा' समझा है। वैदिक ऋषि अनृत शब्द से इस भौतिक ब्रह्माण्ड को स्वप्न सा असत् नहीं कहते वरन् इससे ठोस तत्त्वों का संकेत करते हैं। ऐसा पूर्व परिच्छेद में कहा जा चुका है 'सत्यानृत' शब्द त्रिपाद ब्रह्म और सोमात्मा के दो मुख्य स्वरूपों या आध्यात्मिक और भौतिक सृष्टियों के पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय तत्त्वों के संकेतक हैं। दोनों ठोस तत्त्व हैं, दोनों आत्मायें हैं। इनका अन्तर अभौतिक और भौतिक स्वरूप का है। पूर्वार्द्ध को ऋत या सत्य कहते हैं तो उत्तरार्द्ध को ऋत से भिन्न अनृतं। ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। यहाँ पर इनके लौकिक अर्थ का वैदिक पारिभाषिक अर्थ से कोई लगाव नहीं है। भौतिक ब्रह्माण्ड का पारिभाषिक नाम अनृत (ऋत से भिन्न) होने से उसकी सत्ता को वैदिकों ने कभी नहीं मिटाया वरन् उन्होंने इस अनृत नामक भौतिक तत्त्व के भयंकर स्वरूप को शत्रु, असुर और भ्रातृव्य आदि कई अन्य नामों से पुकार कर इसकी सत्ता की महानता विशालता और अधिकता का पूर्ण परिचय दिया है। वास्तव में सभी देवता तभी वास्तविक देवता कहलाते हैं जब वे इस भौतिकात्मा (सोम) को प्राप्त कर शरीरी बन जाते हैं। वे इस शरीर के लिए सदा तरसते रहते हैं। अतः इस भौतिक ब्रह्माण्ड के दो स्वरूप हैं, दैव और आसुर।

अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा का अभ्युदय 'मित्र' या 'वरुण' या 'अग्नि' (जातवेदा) की चक्षु से होता है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। यह चक्षुः तत्त्व सूर्य २५ वाँ तत्त्व है जिसमें दैवी आत्मायें या त्रिपादामृत

११ — मित्र और शत्रु हैं, चक्षुरूप सूर्य में तीन त्रिपादामृत आत्माओं के साथ

सोमात्मा भौतिक आत्मा भी है, वह भी अमृत ही है, पर इसका परिवर्द्धित विकराल स्वरूप आसुर या वृत्र या शत्रु या भ्रातृव्य कहलाता है। प्रथम तीन सप्तक तीन भाई हैं

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥"
(ऋ० वे० १-१६-४-१)

तीसरा भ्राता घृतपृष्ठ कहलाता है, जातवेदा तृतीय सप्तक है, उसका यह चक्षुः रूप सूर्य है, उसका पुत्र भौतिकात्मा है, अतः उसे भ्रातृव्य तीसरे भाई का लड़का या शत्रु या असुर या (बहुप्राणात्मा) कहते हैं। और मित्र कभी अमित्र नहीं होता, किसी का अमित्र नहीं होता जैसा पहिले दिये गये श० प० ब्रा० ४-१-४-८ के उद्धरण से स्पष्ट है, क्योंकि वह त्रिपादामृत है। अतः वैदिक लोग सदा प्रार्थना करते आये हैं कि हम सदा सबको मित्र की चक्षु या त्रिपादामृतीय आत्मा रूप में देखने के अभ्यस्त रहें, क्योंकि यह अखिल ब्रह्माण्ड मित्र की चक्षु (सूर्य तत्त्व) से उत्पन्न हुआ है जैसे--

"दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥"
(यजु० ३६-१८)

कि मुझे दृढ़ शरीरी बनाओ, सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें, मैं सबको मित्र-दृष्टि से देखूँ, हम मित्र की आखों से देखें। यही भाव

'मन्त्रार्थाः सफलाः सन्तुः पूर्णाः सन्तु मनोरथाः।
शत्रूणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव ॥'

का है। शत्रुबुद्धि आसुरी भौतिकात्मा है। मित्रबुद्धि त्रिपादामृत है। वेदों में बुद्धि या धी शब्दों का प्रयोग सदा ही त्रिपादामृत और भौतिकात्मा के लिए हुआ है। गायत्री मन्त्र के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का धी शब्द भी इन्हीं त्रिपादामृतों और भौतिकात्मा के सवन (चोदयात्) की प्रार्थना करता है।

———

अध्याय ५९

अहोरात्रवाद

वैदिकों का अहोरात्रवाद, दर्शन का बृहत् प्रकाश स्तम्भ है। यह एक प्रकार का नहीं वरन् अनेक प्रकार का है। पर यह अनेक प्रकार का केवल नाम और व्याख्या शैली के अनुसार है, तत्त्वतः यह केवल एक ही प्रकार का है। क्योंकि इसके नाना प्रकार, वैदिक दर्शन के पूरे पचास तत्त्वों के विभागों का ही वर्णन करते हैं। वैदिक दर्शन को और उसके विभाजनों को विभिन्न संज्ञाओं के अहोरात्रों के नाम से पुकार कर उनकी व्याख्या उन नामों के अनुसार मात्र की गई है। जैसे यह अहोरात्रवाद चार प्रकार का मुख्यतः माना जाता है (१) मानुष अहोरात्रवाद (२) पितृ अहोरात्रवाद (३) दैवत अहोरात्रवाद (४) ब्राह्म अहोरात्रवाद। इस ब्राह्म अहोरात्र वाद को ७२, ७२ युगों के विभाजन से मन्वन्तरों में भी विभाजित किया जाता है। ये मन्वन्तर सप्तकों के महर्षियों या मुख्य ब्रह्मों के प्रतिनिधि होते हैं। चारों अहोरात्रवाद संवत्सर ब्रह्म कहलाते हैं।

१—वैदिक अहोरात्रवाद के भेद

मानुष अहोरात्रवाद पूरे पचास तत्त्वों को दो भाग दिन और रात में विभाजित करता है। इसका मध्य विन्दु २५ वां तत्त्व नृषद् या मनुष्य सप्तक में आता है, अतः यह मानुष अहोरात्रवाद कहलाता है। इसका पूर्वार्द्ध दिन और उत्तरार्द्ध रात्रि कहलाती है। दिन की समाप्ति २५ वें सूर्य नामक तत्त्व के उदय से मानी जाती है। रात्रि का आरम्भ २६ वें तत्त्व सोम या चन्द्र के उदय से समझा जाता है। उषा का उदय २४ वें तत्व से होता है। इस अहोरात्र के ६० दण्डों में पला कला आदि ८६४०००००००० अक्षर समिध या सूक्ष्म काल भेद होते हैं। 'पुनरह्नः पूर्वाह्नो देवाः अपराह्नः पितरः' (श० प० ब्रा० २-१-३-१) का अपराह्नः यही उत्तरार्द्ध है।

२—मानुष अहोरात्र

पितरों का पैत्र अहोरात्रवाद दर्शन के पचास तत्त्वों को 'मासः' कहता है। इसमें दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, पक्ष कहलाते हैं, प्रथम भाग शुक्लपक्ष कहलाता है, उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष। पितरों की समृद्धि या सोमपान, कृष्ण पक्ष या उत्तरार्द्ध में होता है, अतः इन्हें सोम या पितर कहते हैं। श० प० ब्रा० २-१-३-१ का उत्तरार्द्ध में 'य एव आपूर्यते अर्द्धमासः (पक्षः) स देवा योऽपक्षीयते (कृष्णपक्ष) स पितरो' वाक्य इसी बात का संकेत करता है। पितरों के सोमपान के माने 'भौतिक दिव्य शरीर पाकर बढ़ना' होता है। षोडशकल ब्रह्म की व्याख्या इसी अहोरात्रवाद से होती है। ब्रह्म को अमावस्या माना जाता है और पूर्णिमा, सोम या चन्द्र का उदय २६ वाँ तत्त्व है। कृष्णपक्ष

३—पितृ अहोरात्र

यहीं से आरम्भ होता है, ५० वें तक रहता है। इस अहोरात्रवाद के दिन रात (७२०) समिध होते हैं जिनके सूक्ष्म भेद 'गौरीर्मिंयाय' की शैली से कुल ८६४०००००००० होते हैं। पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में 'अनुमति' अन्त में 'राका' दो पौर्णनासी होती हैं उत्तरार्द्ध के आरम्भ में 'सिनिवाली' और अन्त में 'कुहू' नाम की दो अमावास्यायें होती हैं। इनका वर्णन पृथक् किया जा चुका है।

देवताओं का दैवत अहोरात्रवाद वर्ष या संवत्सर का होता है। यहाँ वर्ष या संवत्सर को दो अयनों में विभक्त किया जाता है। दर्शन के पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्व उत्तरायण, शुक्लपक्ष और अग्नि ज्योतिर्मय कहलाते हैं, और

४—दैवत अहोरात्र

उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्व दक्षिणायन कृष्णपक्ष और चान्द्रमस ज्योतिर्मय नाम से पुकारे जाते हैं। इनका मध्यवर्ती तत्त्व विषुवद् रेखा (गर्त) कहलाता है। इसके पूर्वार्द्ध में भी १२ महीने होते हैं उत्तरार्द्ध में भी १२ महीने। इनके दिन या रात ३०,३० दण्ड के होते हैं। २४×१५=३६० पूर्वार्द्ध के दिन, २४×१५=३६० उत्तरार्द्ध की रातें होती हैं। 'अहरेव देवा रात्रिं पितरः' (श० प० ब्रा० २-१-३-१) इसी बात की ओर संकेत करता है। इसमें सप्तकाधार पर सात ऋतुयें, पञ्चपर्वा के आधार पर पाँच ऋतुयें, गायत्रीब्रह्म के अनुसार छह ऋतुयें या पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में भी तीन ऋतुयें, कुल ५० तत्त्वों की मानी जाती हैं। पुरुष सूक्त गायत्री की ऋतुयें मानता या देता है। इसमें भी ८६४०००००००० समिधादि होते हैं। इनका वर्णन संवत्सर ब्रह्म शीर्षक में किया जा चुका है।

ब्राह्म अहोरात्रवाद की गणना युगों से की जाती है। युग चार हैं, पर ये युग पूर्वार्द्ध में भी चार होते हैं उत्तरार्द्ध में भी चार। इनके वर्षों की कुल संख्या ४३२०००० वर्ष है इनका अनुपात ४ : ३ : २ : १ है जिससे

५—ब्राह्म असोरात्र

१७६४०००, १२९६०००, ८६४०००, ४३२००० के क्रमिक युग होते हैं, योग ४३२०००० वर्षों को एक हजार से गुणा करके ४३२००.००,००,० वर्ष पूर्वार्द्ध के होते हैं, ४३२००,००,००,० वर्ष उत्तरार्द्ध के; कुल ८६४००,००.००,० वर्ष का ब्राह्म अहोरात्र होता है, पूर्वार्द्ध दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि। यही पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मनुष्यों के 'कल्प' कहलाते हैं। कल्प केवल ये दो ही होते हैं। इस अहोरात्रवाद को ७२ से विभाजित किया जाय तो वह अष्टकों का प्रतीक बन जाता है। ६००,००,००,० वर्ष का एक अष्टक या मन्वन्तर होता है; ये पूरे वर्ष हैं, आधे वर्ष १२००,००,००,० होंगे। एक मन्वन्तर छह करोड़ पूरे वर्ष या १२ करोड़ आधे वर्ष का होता है। इन सब अहोरात्रों का दार्शनिक या तात्त्विक व्याख्यान संवत्सर ब्रह्म व्याख्या के अवसर पर तत्त्वनिर्णय प्रकरण में किया जा चुका है।

ये अहोरात्रवाद चतुष्पाद् ब्रह्म को अहः दिन या पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष उत्तरायण

आदि नाम से पुकारते हैं और भौतिक सृष्टि को रात्रि उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष दक्षिणायन चान्द्रमस ज्योति इत्यादि नाम से। गीता के

६—अयनीय अहोरात्र "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां (रात्रौ) जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

श्लोक का अर्थ इस अहोरात्रवाद को जाने बिना नहीं लग सकता, सर्वभूतानां निशा-भौतिक जगत्, संयमी-चतुष्पाद् ब्रह्म-दिन; यस्यां जागर्ति = भूतानि = भौतिक जगति; सा रात्रिः उत्तरार्द्धः भौतिक–पश्यतो मुनेः चतुष्पाद्ब्रह्म जागरुकस्य → निशा-इत्यादि।

वेदों में अहोरात्र का संकेत

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥"
(ऋ० वे० ६-९-१)

में मिलता है, यही विवर्तकारी है, इसका मध्यविन्दु सूर्य और वैश्वानर नामक अग्नि है जिसे गर्त या विषुवत् कहते हैं।

'अहोरात्र' का विषय वैदिक विश्वदर्शन में अतीव महत्त्व पूर्ण है। अहोरात्र वैदिक विश्व दर्शन या सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) के दो भागों के दो नामों का एक सम्मिलित नाम है। सृष्टि में पूर्वार्द्ध अहः या दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि। पर अतिसृष्टि या योग में पूर्वार्द्ध रात्रि है (जिसका वर्णन आगे 'रात्रि' शीर्षक में दिया जा रहा है) उत्तरार्द्ध दिन। इन दोनों भागों के कई और नाम भी हैं जैसे—श्री लक्ष्मी, सत्यानृतं, उषासानक्ता, देव्यौ होतारौ, द्यावापृथिव्यौ, अश्विनौ, असत् सत्, अदितिदिति, उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्लकृष्णपक्ष, अपरपर, अर्वाक् पूर्वाक्, देवी ज्योष्ट्री, देवी ऊर्जाहुती, उत्तरावत-दक्षिणावत, उत्तरापथ-दक्षिणापथ, उत्तरा-दक्षिणा, परावत-पूर्वावत, पूर्वापरा। इन दोनों भागों के मध्यवर्ती तत्त्व का नाम चक्षुः सूर्यः, विषुवत् रेखा, गर्तम्, मध्याकर्तोः, उपस्थ, योनिः, ओष्ठं, नासिका, कर्णौ, चक्षुषी, दृषदुपले, इत्यादि है। इन सबका हृदयस्पर्शी वर्णन ऋ० वे० २-३९ में गृत्समद ऋषि ने सजीव आलंकारिक भाषा में किया है। इस अहोरात्र नामक दो भागों को सृष्टि और अतिसृष्टि का विवर्त करने वाला बताया है जैसे 'विवर्तेते अहनी चक्रियेव' (ऋ० वे० १-१८५-१)। इनके मध्यवर्ती तत्त्व सूर्य को 'मध्याकर्तोः' या सृष्टि और योग के कृत्यों के मध्यवर्ती स्थान या तत्त्व कहा गया है। इस तत्त्व के यथार्थ ज्ञानाभाव में भाष्यानुवादकारों ने ऋ० वे० १-११५ सूक्त में आये 'मध्याकर्तो' शब्द का अर्थ गलत समझा और लगाया है। इस स्थान को 'हरितः सधस्थात्' (या प्राणाश्व के अस्तबल से') कह कर प्राणाश्व का निवास बताया है जहाँ से सृष्टि या योग का कार्य 'विततं संजभार' या विस्तारित किया कहा गया है जैसे

"तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्याकर्तोः विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥४॥

कि जब तक रात्रि सूर्य पर रात्रि रूप कम्बल या वस्त्र (ढकने के लिए) डालती है तब तक उसने प्राणाश्वों को इस अस्तबल से खोल कर जोत लिया, और आगे के कार्य को विस्तारित कर दिया। यही बात इससे अगली ऋचा अधिक स्पष्ट रूप से दूसरे ढंग से कहती है, जैसे

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति ॥५॥"

अस्तु अहोरात्र सर्वश्रेष्ठ वर्णन ऋ० वे० १-११३ सूक्त में निम्न ऋचाओं में भी मिलता है, जैसे—

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥१॥
रुशद्वत्सा रुशतीश्वैत्यागादारैगु कृष्णाः सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥२॥
समानो अध्वास्वस्रो रनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥"

इनमें प्रथम ऋचा के अन्त में कहा है कि रात्रि ने सूर्य को जन्म देने के लिए उषा के सामने अपनी योनि खोलकर दिखा दी कि उसका प्रसव कर दो। इनका व्याख्यान मेरे ग्रन्थ 'पुराण दर्शन' के देवकी यशोदा शीर्षकों में भी देखें।

अध्याय ६०

उषा और उषासानक्ता या अहोरात्रम्

वेदों में उषा तत्त्व महामहत्वपूर्ण है। यह पूर्वार्द्ध की सृष्टि अथवा अतिसृष्टि में भौतिकात्मा या सोम ज्योति की विवर्तकारिणी प्रथम उषा है, नेत्र स्वरूपिणी है।

१—उषा

ऐ० ब्रा० (४-२७) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सृष्टि काल में भौतिकात्मा की और योगावस्था में सोम ज्योति की उत्पत्ति इसी उषा से होती है जैसे

"ऊषो हि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत ततो वै,
द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षांनान्तरिक्षाद्भूमिः ॥"

महर्षि वसिष्ठ जी ने इस उषा को इसीलिए त्रिपादामृतीय ज्योति या सोम की आविष्कर्त्री और सूर्य तत्त्व को चक्षुरूप में अङ्कुरित करने वाली कहा है जिससे सभी देवता या योगीजन सार्वजनीन जीवन विताते हैं। यही उषा अन्ततोगत्वा अखिल भुवनों की तथा सभी देवताओं की जननी भी है, जैसे :—

"इदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं
विश्व मुषाः ॥१॥

...अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागात् ॥२॥
एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ॥७॥"
(ऋ० वे० ७-७६-१, २, ७)

इस उषा के उदित हुए विना न तो भौतिक सृष्टि-स्थूल या सूक्ष्म-सत्ता में आ सकती हैं, न योगीजन सोम ज्योति रस और देव ज्योतियों की प्राप्ति कर सकते हैं। इसी कारण वेदों में इसकी इतनी बड़ी-बड़ी महिमायें या स्तुतियाँ या वर्णनायें मिलती हैं। इसको मघोनी, दिवोदुहिता इत्यादि विशिष्ट विशेषणों से विभूषित किया है :

अथर्ववेद ने छह सूक्तों (१९-४७, ४८, ४९, ५०, ५५, ५६) में रात्रि का विस्तृत वर्णन दिया है। ये रात्रियाँ योग के पूर्वार्द्ध की हैं जिनका विश्लेषण निम्न मन्त्र से किया जा सकता है।

२—रात्रिः

"ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अष्टाशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥
द्वौ ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः।
तेभिर्नो अद्यः पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥"
(अथर्व० १९-४७-३,४,५)

ये रात्रियाँ योगी की, योग प्रक्रिया की सीढ़ियाँ हैं। ये चतुर्थ सप्तक के ९९ रात्रियाँ हैं जिनमें आगे बढ़ते चलकर योगी इनकी संख्या को घटाते जाते हुए क्रम से ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, ११ करके अन्त में प्रथम रात्रि रूप २४$\frac{1}{2}$ वें अंश या तत्त्व में पहुँच जाता है जहाँ पर रात्रि समाप्त होकर उषा का पूर्णोदय हो जाता है। यह योग त्रिष्टुप् छन्द के अक्षरों या प्राणों की सीढ़ियों से किया जाता है। ये ही इन्द्र रूप मनोब्रह्मा के १०० यज्ञ है जिनसे वह शतक्रतु कहलाता है। इन्द्र का स्थान ३१ वाँ है। उसे २४$\frac{1}{2}$ वें तत्त्व सूर्य को प्राप्त करने के लिए ३१ - २४$\frac{1}{2}$ = ६$\frac{1}{2}$ × १५ = ९९ अंशों या सीढ़ियों को पार करना है। प्रत्येक तत्त्व एक पक्ष (१५ रातों का) है। अतः ६$\frac{1}{2}$ तत्त्वों को पार करने में ९९ रात या सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। इनकी पूरी व्याख्या 'इन्द्र' शीर्षक में दे दी गई है (वहीं देख लें)।

———

अध्याय ६१

देवी ज्योष्ट्री और देवी ऊर्जाहुती

इन दोनों का वर्णन मैत्रायणी संहिता में मिलता है

(१) देवी ज्योष्ट्री वसुधिती ययो रन्यघा द्वेषांसि यूयवदान्या।
वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीता यज ॥
(मै० सं० ४-१३-८)

यह दो का जोड़ा है, दोनों को मिलाकर देवी ज्योष्ट्री कहते हैं। दोनों सम्मिलित रूप से वसुधा या द्रविण धारिणी हैं या भौतिक आत्मा युक्त हैं। इनमें से भौतिकात्मा के भाग वाली (उत्तरार्द्धीय) देवी ज्योष्ट्री तो अघ और द्वेष को स्वभावतः धारण करती है, पूर्वार्द्ध वाली प्रथमा (अन्या) वसु या त्रिपादामृत द्रविणों को यजमान के लिए देती है, अतः यज्ञ करने वाले की सदा कामना करती है।

"यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"

इनको प्राणायामौ या प्राणोदानौ भी कहा है

(२) देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिं
सपितिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम।
पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुतीं ऊर्जयमाने
अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥
(मै० सं० ४-१३-८)

यह भी दो का जोड़ा है। एक इष और ऊर्ज (जीवात्मा तैजसात्मा) को प्रदान करती है दूसरी सग्धि सपीति या भौतिकात्मा के अन्त और सोम रूप को, द्वितीय का नाम 'नव' नवीन है, इस पर पुराण या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत दया करते रहें, और वे नवीन को अपने अमृत (ऊर्ज आदि) देते रहें जिसको यह ऊर्जाहुती पाकर द्रविण युक्त यजमान के यज्ञों की सदा कामना करती रहे। ये भी प्राणादानौ या प्राणायामौ ही हैं।

अध्याय ६२

द्यावाभूमी या द्यावा पृथिवी

द्यावा पृथिवी तो प्रत्यक्ष रूप में अश्विनी हैं यह आगे अश्विनी नामक शीर्षक में स्पष्ट किया जायेगा। द्यावा पूर्वार्द्ध का नाम है, पृथिवी उत्तरार्द्ध का, कहीं भी देखलें। इन दोनों को क्रम से पिता और माता के नाम से पुकारा गया है "द्यौष्पितः पृथिवी मातः" (ऋ० वे० ६-५५-५) "द्यौर्वःपिता पृथिवी माता" (ऋ० वे० १-१९१-६) "तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः" (ऋ० वे० १-८९-४) "मधु द्यौ रस्तु नः पिता" (१-९०-६)। इन दोनों के संयोग का नाम अखिल ब्रह्माण्ड का वीज या पूर्ण वैदिक दर्शन हैं। इन दोनों का जन्म केवल एक ही वार होता है, अन्य सब बारंवार होते रहते हैं जैसे

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमि रजायत।
प्रश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते॥"

(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इनके विपरीत जो जातवेदादि (जिसके भेद सभी विश्वेदेवता) हैं वे नित्यशः होते रहते हैं जैसे

"जन्मञ्जन्मन् निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते रजस्रः"

(ऋ० वे० ३-१-२१)

इन दोनों को चमू (चम्वोः) नाम से पुकारते हैं, जिसमें से द्यौश्चमू को पिता और पृथिवी चमू को माता नाम से पुकारते हैं। इस पृथिवी चमू रूप भौतिक तत्त्व के गर्भ में, द्यौश्चमू वाक् का गर्भाधान, करता या रहता है। इसलिए लिखा है,

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा पितादुहितुर्गर्भमाधात्॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३३)

यहाँ पर योनि, उक्त दोनों के सम्मिलन बिन्दु का नाम है जैसा अहोरात्र वर्णन में दिया जा चुका है जैसे

"य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३२)

इसी योनि गर्भ को 'सप्तार्द्धगर्भा' नाम से पुकारते हैं। सप्तार्द्धगर्भा नाम सात सप्तकों के ठीक बीच में (अर्द्ध में) गर्भ धारण करने वाले का है जैसे

---

* "श्रीश्चते च लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्"

(यजुर्वेदीय पु० सू०)

"सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि"

(ऋ० वे० १-१६४-३६)

इस गर्भ का रेतः या बीज पूर्वार्द्ध से भिन्नधर्मा या विधर्मा है। यह गर्भाशयी तत्त्व सोम है, यही पृथिवी की अन्तिम रेखा है, यही यज्ञ की नाभि है, यह भी ऋ० वे० १-१६४-३५ में स्पष्टतया लिख दिया है जैसे

"इयं वेदिः (योनि) परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णा अश्वस्य (द्यौ ब्रह्मणः) रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

इससे यह भी स्पष्ट है कि द्यावा का नाम परमव्योम या परमे व्योमन् है, वह आध्यात्मिक वाग्ब्रह्म है। इसी के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' होते हैं। इन्हीं अक्षरब्रह्म स्वरूप पूर्वार्द्धीय त्रिधामृतात्माओं से समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड सजीव सा व्यवहार करता है। और भौतिक ब्रह्माण्ड यह नहीं समझता कि मुझमें यह सजीवता (ज्ञान या वेद) समाया हुआ है, फिर भी यह उनके नकेल में सन्नद्ध उन्हीं के मनोवेगों से चलता रहता है जैसे

"न विजानामि यदि वेद मस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यथा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३७)

स्वभाव से सम्बद्ध या लाचार होकर पूर्वार्द्ध (द्यावा) उत्तरार्द्ध (अपाङ्) के स्वरूप (भौतिकात्मा) में परिणत हो जाता है। ये दोनों प्राण स्वरूप आत्मायें हैं और दोनों मिलकर ब्रह्माण्ड पटल को अभूतपूर्व स्वरूप में बुनते हुए भी, इनमें से प्राङ् या पूर्वार्द्ध रूप द्यावा तो अपाङ् या उत्तरार्द्ध रूप पृथिवी को जानती है, पर अपाङ् रूप पृथिवी प्राङ् रूप द्यावा को नहीं समझ सकती, क्योंकि यह उससे बहुत स्थूल बुद्धि स्वरूपिणी है। कुछ भी हो, प्राङ् रूप त्रिधात्मा अमृत हैं, अरूप और अयोनि हैं। ये योनि या रूप या शरीर को तभी पाती हैं जब ये अपाङ् मर्त्य रूप को प्राप्त हो जाती हैं। "अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः" (१-१६४-३८) 'योनि' शब्द के माने स्त्री योनि नहीं वरन् भौतिक शरीरों की नानारूपता है जिसका आरम्भ द्यावापृथिवी के सम्मिलन बिन्दु से होता है। उस बिन्दु का आकार अवश्यमेव स्त्री योनि सा बन जाता है। इसी को अदिति का उपस्थ या 'मातुर्योनिः' के नाम से पुकारा गया है, "दक्षस्य जन्मन्नदिते रुपस्थे" (१०-४-७) "समातुर्योना परिवीतो" (१-१६४-३२)। जहाँ कहीं भी द्यावा पृथिवी का वर्णन आता है, या सभी द्यावा पृथिवी के सूक्तों में इनको घृतवती नाम से पुकारा गया है। यह घृत उत्तरार्द्ध या पृथिवी के लिए ही आया है। इसका प्रमाण यह निम्न लिखित ऋचा है।

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥"

(ऋ० वे० १-१६४-४७)

उत्तरार्द्ध या कृष्ण नियान या कृष्ण पक्ष या पृथिवी के सुपर्ण (सोमादि) ही उसके घोड़े हैं या प्राण हैं। ये चतुर्थ सप्तकीय है, अतः अपो वसाना या वैद्युतीयतरंग

धर्मी है या वैद्युतीय तरंग वस्त्रावरणीय हैं। इनका जन्म या विवर्तरूप में विकास, ऋत के सदन से या त्रिपादामृत से होता है, उन्हीं त्रिपादामृतों से यह वैद्युतीयतरंग-मय भौतिकात्मा का दिव्यशरीर अनुप्राणित होता है। इसीलिए कर्मकाण्ड में इनकी विधि में कहा जाता है

"पृथिवी ते पात्रं द्यौस्ते पिधानं अमृते अमृतं जुहोमि"

समस्त पुराणों, महाभारत और मनुस्मृति ने इस द्यावा पृथिवी का वर्णन इसी स्वरूप में पूरे वैदिक प्रणाली में किया है। उदाहरण में मनु ने लिखा है

"तदण्डमभवद्धैमं द्वेधापातयच्च तम्।
उभाभ्याम् शकलाभ्यां तु द्यावाभूमिं च निर्ममे ॥" (१-)

कि हिरण्यगर्भ सुवर्णाण्ड या शब्द ब्रह्म था, उसके दो टुकड़े किए (या उससे दूसरा भाग उत्पन्न हुआ), उन दोनों भागों को द्यावाभूमी कहते हैं। वैदिकों को जब अखिल सृष्टि को आध्यात्मिक भौतिक दो भेदों के साथ एक साथ कहना होता था तो वे वहाँ पर सदा द्यावापृथिवी या 'द्यावा भूमी' नाम से ही पुकारते रहे, जैसे

"विश्वतश्चक्षु रुतविश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रै र्द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः ॥"
(ऋ० वे० १०-८१-३)

"विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।"
(ऋ० वे० १०-८१-६)

"चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्रमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदि द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥"
(१०-८२-१)

इसी द्यावापृथिवी का नाम मेध्य अश्व है, इसी का नाम 'पुरुष पशु' है (पुरुष पशु और अश्वमेध देखें)। इसका नाम पुरुष पशु इसलिए पड़ा कि इसका शिरोभाग और रुण्ड भाग दोनों बराबर हैं, दृश्य जगत् में मुण्ड छोटा बहुत छोटा होता है, रुण्ड उसका कई गुना बड़ा। नृमेध का पशु भी यही पुरुष पशु है। 'द्यावा पृथिवी' का सर्वोत्तम सूक्त ऋ० वे० ६-७० है।

"घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशषा।
द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥"
इत्यादि 'देवरथ' नामक शीर्षक देखें।

श० प० ब्रा० (७-५-१-१०) ने कश्यप कूर्म को भी द्यावा पृथिवी कहा है "कश्यपकूर्मौ हि द्यावापृथिव्यौ" इनमें कश्यप पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक है और कूर्म भौतिक उत्तरार्द्ध। कूर्मावतार को समुद्र मन्थन में मेरु का आधार कहने का आधार यही वैदिक भावना है।

——×——

अध्याय ६३

पृथिवी

हमारे वैदिक विद्वान् (यास्क से लेकर आज तक के सब) पृथिवी शब्द से हमारी इसी जगत् की मिट्टी पत्थर वाली पृथिवी समझते आरहे हैं और द्यावा तथा द्यौ माने आकाश। यह घनघोर अनर्थ है। द्यावा पृथिवी के व्याख्यान से स्पष्ट हो गया होगा कि पृथिवी शब्द पारिभाषिक है, और वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का प्रतीक है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त (१२-१) में इसी भौतिकात्मा पृथिवी का व्याख्यान है। समस्त विश्वेदेवता इसी पृथिवी देवता के विभिन्न अंग या स्वरूप हैं और वे इसी पृथिवी के शरीर या दिव्यशरीरी देवता कहे गये हैं। वेदों में इस पृथिवी के लिए विश्व शब्द का भी प्रयोग होता है और उन्हें विश्वेदेवता कहते हैं (विश्वेदेवता देखें)। विश्व माने भी भौतिकात्मा ही होता है, यह संसार नहीं। विश्व या पृथिवी इस अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा है, इसका स्थूल शरीर नहीं। अथर्व के पृथिवी सूक्त में जिन नदियों पर्वतों ओषधियों वृक्षों, पशुओं, उषा आदि प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन है वे सब नाम वैदिक दर्शन की नाना विद्याओं के पारिभाषिक शब्द हैं, जैसे सिंह सूर्य का नाम है, वृक चन्द्र का, वराह रुद्र का, सर्प वृत्र का, पक्षी सुपर्ण सोम का, समुद्र ब्रह्म का, आपः विद्युत् स्वरूपी आत्मा का; और गंगा यमुना सरस्वती विराट् शुतुद्री, इत्यादि पञ्चपर्वाविद्या के पर्व हैं, इसी प्रकार मेरु सुमेरु मौंजवान् हेमद्रि आदि पर्वतादि भी इसी विद्या के अंग हैं, ग्रावाण अश्मा भी सोम के नाम हैं, अश्वत्थ पारिजात, वट कल्पवृक्ष सन्तान नाम भी पञ्चपर्वा विद्या के भाग हैं। इस प्रकार समस्त पृथिवी सूक्त उक्त पारिभाषिक शब्दों के श्लेष से वैदिक दर्शन की पूर्ण व्याख्या करता है। इन शब्दों से लौकिक विषय भी संकेतित होते हैं पर उनका वर्णन सूक्तों की व्याख्या शैली से उत्तमतया या पूर्णतया हो ही नहीं सकता। क्योंकि लौकिक वातावरण में विष्णु रुद्र वरुण इन्द्र आदि देवताओं के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता। इस दार्शनिक पृथिवी को इसीलिए इस प्रकार वर्णित किया है

१—पृथिवी

"भूरसि भूमिरस्य दितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य।
धर्त्रीं पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह मा पृथिवीं हिंसीः ॥"

(यजु०   )

इस पृथिवी रूप भौतिकात्मा में भूः या प्रथम सप्तकीय शब्द ब्रह्म है, द्वितीय सप्तकीय भुवः का रुद्रात्मा या जीवात्मा है, इसी में 'अदितिः' या तैजसीय आत्मा का विकास रूप तृतीय सप्तक है, दिति का जन्म दक्ष रूप २४ वें तत्त्व से होता है

(अदिते र्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि)। दक्ष से आगे की अदिति ही दिति नाम से पुकारी जाती

"आरोहथ वरुणमित्र गर्तमतः चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

यह दिति नामक पृथिवी, हमारी मिट्टी की पृथिवी नहीं हो सकती

"स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशिनी।
यच्छा न शर्म सप्रथः ॥"

(ऋ० वे० १-२२-१५)

तुम सुख कारिणी बनो, इस सृष्टि के अनिर्मित अक्षरों (अनृक्षरों) का निवेशन करो, हमें पूर्ण शरण दो ॥ ऋक्षरा माने काँटे भी होता है, सृष्टि के काँटों रहित पर्वों को नव सृष्टि के अक्षरों को, 'ऋ' या ऋत के अक्षरों को 'ऋचो अक्षरों' को निशिष्ट या उन्मुक्त करो जिससे हमें पूर्ण शरण प्रदान कर सको। अतः इस पृथिवी का वर्णन ठीक दार्शनिक तत्त्वानुकूल देते हुए अथर्ववेद (१२-१-८,९, १०) लिखता है।

"यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे (सोमे) दधातूत्तमे ॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा।
यामश्विनावमिमातां विष्णु र्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेन मित्रां शचीपतिः ॥"

वह पृथिवी जो आदि में अर्णव या आपोब्रह्म के सलिल रूप में थी, जिसका व्याख्यान मनीषि ऋषियों ने रहस्य रूप में किया, जिसका हृदय या आत्मा परमे व्योमन् या द्यावा या त्रिपादामृत हैं, जिसको (द्यावा को) इस पृथिवी के सत्य या भौतिकस्वरूप ने आवृत कर ढक दिया है, वह सोम रूपी राष्ट्र या दिव्यशरीर में कान्ति दीप्तिबल ओज को धारण करे। जिस पृथिवी रूप दिव्यशरीर में वैद्युतीय प्रवाही आत्मायें प्रमादहीन अहोरात्र का क्षरण या विकास करते हैं वह भूमि उन आत्माओं की पयोधाराओं को अनेक धाराओं में संचारित करती रहें ॥ जिस पृथिवी में अश्विनौ ने अभिरमण किया, जिसमें विष्णु के तीन पाद का विक्रमण हुआ, जिसमें इन्द्र ने शक्तिमान बनकर मित्र का उदय किया वह माता रूप पृथिवी हमें या सोम रूप सुत को आत्माओं (त्रिपादामृत) का पयोदान करती रहे ॥" इन मन्त्रों का अर्थ अन्य लौकिक ढंग से बिलकुल बुढ़ियों की सी कथा बन जायेगी, पर दार्शनिक ढंग में इसका एक-एक शब्द परम वैज्ञानिक व्याख्या देता है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के सभी मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार दार्शनिक विवेचना मात्र देता है। लौकिक पृथिवी दार्शनिक रहस्य की आधार मात्र है। इस सूक्त के उक्त मन्त्रों तथा अन्य मन्त्रों में तथा इस काण्ड के तीसरे चौथे सूक्तों में, एक शब्द भूमि आया है। यह भूमि शब्द पृथिवी शब्द का पर्याय वाची नहीं है। यह शब्द 'पृथिवी' शब्द से एकदम भिन्न

अर्थ रखता है। भूमि शब्द पूरे दर्शन को ९ भागों में विभक्त करता है जैसे अथर्व ११-४-१४ में दिया है जैसे

"नव भूमीः समुद्रा उच्छेष्टेधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥१४॥
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ॥इत्यादि॥"

इसीलिए ऋ० वे० ५-८४-१ में पृथिवी सूक्त में पृथिवी और भूमि दोनों शब्द दो विभिन्न भागों का वर्णन देते हैं जैसे

"बलित्या पर्वताना खिद्रं विभर्षि पृथिवी।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ॥"

कि तुम "हे पृथिवी तुम पर्वतों के खेदन वा विकास का बल धारण करती हो, और उस बल से नाना भूमि का निर्माण करती हो, उसको अपनी महान् महिमा से परिपूर्ण करती हो।" इन नव (९) भूमियों के अन्तर्गत पूर्वार्द्ध परार्द्ध दोनों आ जाते हैं, पूर्वार्द्ध को गुहा कहते हैं, अतः जहाँ इनके वर्णन् का संदर्भ है वहाँ भूमि शब्द का प्रयोग दिया है जैसे

"यच्छयानः पर्य्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभि रधिशेमहे ॥
(अथर्व १२-१-३४)

और

"यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदा विभोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥
त्वमस्या वपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥
उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥"
(अथर्व १२-१-६०, ६१, ६२)

ऋ० वे० ५-८६-४ में भी यही अन्तर दिया है "उनत्ति भूमिं पृथिवी मुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्टयादित्" इत्यादि। परन्तु ऋ० वे० १-१०८-१० में तो पृथिवी के ही तीन स्वरूपों का वर्णन देता है। और तीन प्रकार की पृथिवी का वर्णन देते हुए कहता है कि हे इन्द्राग्नी जो तुम 'परम पृथिवी' में हो जो 'मध्यम पृथिवी' में हो और जो 'अवम पृथिवी' में हो, वे वृषण स्वरूप वर्षण स्वरूप धारण करके सोम पान के लिए जावो, अब सोम भौतिक दिव्यशरीर प्रस्तुत हो चुका है जैसे

"यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याँ मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परिवृषणावा हि पात यथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥"

यास्क ने पृथिवी को तो इस भूलोक को ही माना है, पर उसका वर्णन पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युस्थान तीनों में दिया है जिससे उनका किया और दिया देवता स्थान विभाजन स्वयं खण्डित हो जाता है और उन्हें अपने मत का ध्यान ही नहीं है, वे

पुराने निरुक्तों की नकल कर रहे हैं अपना विभाजन भूल गये हैं। प्रश्न यह है कि भूलोक जैसी पृथिवी तो दो अरब गोलों में है। वे इनके मत से द्युस्थान में आते हैं, तब क्या उनको पृथिवी नहीं मानते? क्या शेषनाग केवल हमारी पृथिवी को ही धारण किये हैं? यदि ऐसा है तो और गोल झड़ क्यों नहीं जाते? क्या वराह केवल हमारी ही पृथिवी को ऊपर लाया था, और गोलों की पृथिवी को कौन लाया कैसे लाया? (रुद्र देखें)। इन कथाओं की व्याख्या पृथिवी को बिना दार्शनिक तत्त्व माने नहीं हो सकती। शेषनाग (अहि वृत्र) स्वयं ही पृथिवी या भौतिकात्मा है, उस पर भौतिक सृष्टि बढ़ाने का भार है, उसीसे सृष्टि आगे बढ़ती है। यह वैदिक भाव है।

रोदसी विषयक सर्वश्रेष्ठ सूक्त ऋ० वे० १-१०५ है। जिसमें समस्त पूर्वार्द्ध के तत्त्वों को वित्त या मूलधन बतलाया है। 'वित्तं मे अस्य रोदसी' वाक्य ही इस सूक्त का ध्रुपद है। यह मूलधन विद्युत् स्वरूपी है जिसको उत्तरार्द्ध के हिरण्यमय चन्द्रादि तत्त्व नहीं जानते। यह रोदसी 'ऋत' है, यह त्रिरोचन वाली त्रिपादामृतीय है। जब इससे वृक या चन्द्र या भौतिक तत्त्व का उदय उत्तरार्द्ध में होता है तो यह कहती है 'अहं सोऽस्मि' जो आजकल वेदान्त का प्रसिद्ध वाक्य है। सात सप्तकों में से तीन के बाद इसकी नाभि है (९)। इसमें कद्रूती कथा भी है और पूर्वार्द्धीय सब देवता ब्रह्मा रुद्र वरुण इन्द्र आदि सब देवता इसके निर्मित हैं या इसे बनाते हैं, पूरा सूक्त देखलें। यह रोदसी नाम रुद्रपत्नी का है, रोदितीति रुद्रः, रोदसीति रोदसी, यह एक वचनान्त शब्द है। जब यह द्विवचनान्त होता है तब इसका संकेत द्यावापृथिव्यौ के लिए होता है। एक वचनान्त रोदसी इस प्रकार 'द्यावा' का सूचक है। इसमें शब्दब्रह्म (प्रथम सप्तक) प्राणब्रह्म या जीवब्रह्म (रुद्र या द्वितीय सप्तक) और तैजसब्रह्म (तृतीय सप्तक) रहता है। इस आशय को मन में रखकर निम्न ऋचा कहती है कि हे रोदसी तुम मातरिश्वा (मरुत) के रथ वाली हो (तृतीय सप्तक) जिसमें श्रवणीय ध्वनि वाली गति (प्रथम सप्तक शब्द ब्रह्म) और (द्वितीय सप्तक के) मरुतों के स्वस्थ प्राण समाविष्ट हैं, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

२—रोदसी

"रथं नु मारुत वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि विभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥"

(ऋ० वे० ५-५६-८)

इस रोदसी को वरुण ने कबन्ध के समान विरचित किया, फिर यव (सोम) की वृष्टि की, अतः भुवनों का राजा बना जैसे

"नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षं।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥"

(ऋ० वे० ५-८५-३)

नीचीनन्तरं = अधःप्रवाही जल वाला या अधोमुख द्वार वाला, रुण्ड, जलों का बन्ध, शब्द वायु अग्नि रूप में रोदसी और अन्तरिक्ष का नाम।

अध्याय ६४

आर्त्नी

आर्त्नी नाम, एक बड़े शास्त्र के साथ छोटे शास्त्र के जोड़े का, दो स्त्री रूप में माता पुत्र रूप में (जैसे खुकुरी के साथ एक छोटी छुरी) दो देवियों के जोड़े का है। ये दोनों दैवी शक्तियाँ हैं, एक आध्यात्मिक त्रिपादामृतों की दैवी शक्ति है दूसरी भौतिकात्मा की दैवी शक्ति, प्रथम दूसरी को दोनों शक्तियाँ के मध्यबिन्दु (२५ वें तत्त्व) पर पुत्र की तरह गोद में लिए बैठी है, ऐसी आर्त्नी देवियाँ आर्तिहारिणी हों। अतः उन आसुरी भावों का नाश करो जो हम में प्रायः घर करते रहते हैं, उनको अपनी तेजस्विता की चकाचौंध से नष्ट कर दो जैसे -

"ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं विभ्रतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् ॥"

(ऋ० वे० ६-७५-४)

अध्याय ६५

शुनासीरौ

शुन नाम वायु या प्राणों का है, सीर नाम आदित्यों का; दोनों पूर्वार्द्ध के तत्त्व हैं।

"शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥"

(ऋ० वे० ४-५७-५)

हे शुनासीर देवताओ! जिस वाणी को आपदेवियों ने पयो रूप में निर्मित किया है उसका आस्वादन करके, उससे इस सृष्टि को अग्रसर करो, (उपसिंचतम्), बीज को अंकुरित करने के लिए सिंचन करो॥ शुनासीर नाम इन्द्र का भी है पर वह द्विवचन नहीं त्रिवचन (त्रिपात्) और चतुर्वचन (चतुष्पात्) है। इन्द्र आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार का है। भौतिक तत्त्व इन्द्र का इन्द्रिय या दिव्यशरीर कहलाता है, आध्यात्मिक (त्रिपाद्) उसका त्रिपादामृत। इन्द्र का सम्बन्ध तृतीय सप्तक के प्राणों तथा आदित्यों, और चतुर्थ सप्तक के आदित्यों से है। अतः उसे भी शुनासीर कहते हैं। वैसे 'शुनासीरौ' नाम से प्राणों और आदित्यों का जोड़ा ही पुकारा जाता है। प्राण पाँच है सीर १२, दोनों का प्रत्येक में तादात्म्य शुनासीरौ—२० वें से ३१ तक के तत्त्वों में प्रत्येक शुनासीरौ हैं, क्योंकि इनमें प्रत्येक में उक्त दोनों का जोड़ा है। संवत्सर रूप इन्द्र शुनासीर कहलाता है, शतक्रतु इन्द्र भी शुनासीर कहा गया है। इन्द्र में देखें।

अध्याय ६६

अरण्यानी

अरण्य वासिनी को उपलक्ष बनाकर उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्वों की निर्भीक स्वच्छन्द गति का वर्णन 'अरण्यानी' नामक देवता द्वारा किया जा रहा है। कहते हैं हे अरण्यानी ! तुम बन-बन फिरती रहती हो, कभी खो नहीं जाती, क्यों तुम ग्राम को नहीं पूछती, क्या तुम्हें भय भी नहीं लगता ? जो गाँव में नहीं आ पहुँचता उसको कोई मारता नहीं, तुम तो स्वादु फलों को खाकर यथा काम अभीष्ट सिद्धि समझती हो

"अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ३ ॥१॥
न वा अरण्यानि र्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥५॥"

(ऋ० वे० १०-१४६-१,५)

यहाँ पर 'ग्राम' नाम 'ग्राम्य' या त्रिपादामृत का है जैसे ('पशूँस्ताँश्चके वायव्या नारायान् ग्राम्याश्च ये' पु० सू०)। जैसे बृहदारण्यक ने लिखा है कि जिसको गान्धार देश को जाने की इच्छा है वह पूछ-पूछ कर जाते हुए गांधार देश को अवश्य प्राप्त हो जाता है—स 'गान्धारानेव प्राप्नोति' उसी प्रकार अरण्यानी से कहते हैं तुम पूछ-पूछ कर ग्राम रूप गान्धार सा गन्धर्व देश ब्रह्मलोक का पता क्यों नहीं लगाती ? चतुर्थ सप्तक नर सप्तक है, उसी को देवताओं का ग्राम कहते हैं "नरो वै देवतानां ग्रामः" (ताड्य ६-९-२)। यह भौतिक ग्राम या सप्तक है। स्वादुः फल खाना या भौतिकता में लिप्त रहना ही इस जीवन का लक्ष पूरा नहीं करता। भौतिकता अधूरा, जड़ और पशु जीवन है, जाग्रत जीवन तो ग्राम या त्रिपादामृत की संजीविनी पाने से प्राप्त होता है। यह मत समझिए कि इस अरण्य रूप भौतिकता की मौज उड़ाने वालों की खैर बनी रहती है, वहाँ मृगों 'चन्द्रमा' की माता 'अरण्यानी' (वाग्ब्रह्माणी) रहती है, इस अरण्य में जो सुन्दर रंग-विरंगे सुगन्धि वाले नाना रूप के अन्न (सोम) फल मृग पक्षी हैं यह उसी की बिना जोत लगाई खेती है, तुम उसकी कमाई को चोरी से जैसी खाती हो, मैं उस (ओषधि) से तुम्हारी यह शिकायत कर दूँगा ? यह बात ऋषि निम्न ऋचा से कहते हैं।

"आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥"

अतः इस वास्तविक वातावरण से इस जगत के उन अरण्यवासी जंगली लोगों को सचेत किया गया है जो समझ कर भी भौतिकता को ही जीवन का लक्ष समझते हैं। इन लोगों को अपने किये का फल समय पर अवश्य मिल जाता है, इनको शिकायत करने वाला इन्हीं के अन्दर बैठे अनेकों आसुरी बुद्धियों का पारस्परिक द्वन्द्व है, वे कभी न कभी 'वल्मीकोदर सर्पवत्' अपना भण्डाफोड़ अपने आप कर बैठते हैं। सबको अपने अपने परिश्रम से खाने का उद्योग करना सृष्टि का मुख्य लक्ष है। यह धर्म भी इससे रहस्यतया उद्घाटित होता है।

अध्याय ६७

'सूर्यः' (चक्षुः शरीरः आत्मा, ईश्वरः, ईशानः)

वैदिक दर्शन को जानने के लिए 'सूर्य' नामक तत्त्व को जान लेना उतना ही अधिक आवश्यक और अनिवार्य है जितना देखने के लिए चक्षुः और प्रकाश। इसी लिए इसका नाम चक्षुः और सूर्य दोनों है। यह सचमुच में

१— सूर्य तत्त्व महिमा

वैदिक दर्शन पुरुष की सच्ची चक्षुः है और सच्चा प्रकाश— सूर्य। जिसको इस तत्त्व का ज्ञान हो गया वही आँख वाला वेदों का ज्ञानी है, अन्य सब अन्धकार रूप अज्ञान के गर्त में पड़े, यह निश्चित है।

कर्मकाण्ड में इस तत्त्व का अभिनय लौकिक सूर्य, खगोलीय चमकीले सूर्य से तो अवश्य किया जाता है, आवश्यक भी है क्योंकि इस तत्त्व को समझाने के लिए कोई दूसरा पात्र हो ही नहीं सकता। पर रामाभिनेता की

२— कर्मकाण्ड का सूर्य

पूजा से राम की पूजा नहीं हो सकती, वह तो समझने समझाने का, अतिरञ्जन मनोरञ्जन का और आत्म संस्कार तथा अन्य सांसारिक धन्धों का मार्ग है। लौकिक सूर्य हमारे वैदिक दर्शन के सूर्य की एक अद्‌भुत उपमानीय प्रतिमा है, अतः आजतक इसकी वर्णना की कई समतायें, विद्वानों की आखों में पट्टी बाँधे हुई है। पर समानताओं के साथ-साथ इन दोनों में कई ऐसी असमानतायें हैं जिनकी सूचना देने वाली शब्दावली को उक्त भ्रामक समता ने भ्रमपूर्ण अर्थों में घसीट रखा है। अभाग्यवश एक भयंकर समानता है। लौकिक सूर्य से ही हमारी लौकिक पृथिवी निकली है, पर साथ में भयंकर असमानता भी है दार्शनिक सूर्य से पहिले चन्द्रमा का निर्माण होता है फिर दार्शनिक पृथिवी का।

अब आप वैदिक दर्शन के इस परम मुख्य सूर्य तत्त्व का रहस्य अपनी ज्ञान चक्षु से देखने की श्रद्धामय कामना पूरी करें। वेदों ब्राह्मणों उपनिषदों में, महाभारत पुराणों में तथा श्रुतियों और धर्म ग्रन्थों में आपको सर्वत्र एक

३—अहोरात्र दर्शन

'अहोरात्र' नामक दर्शन मिलेगा। आजकल के गिने जाने वाले दर्शनों में इसका नामोनिशान मिट गया है। वास्तव में वैदिक आर्यों का सर्वप्रथम दर्शन यही 'अहोरात्र' दर्शन की शाखा है। गीता ने भी इसका उल्लेख किया है। इस अहोरात्रवाद को भी लोग विलकुल गलत ही समझे बैठे हैं। ये लोग अहः या दिन को सृष्टि तथा रात्रि को प्रलय समझते हैं। 'अहोरात्र' दोनों में केवल सृष्टि मात्र का क्रम है, इसमें प्रलय का कहीं कोई स्पर्श या लेशमात्र नहीं हैं। *अहोरात्रवाद चार प्रकार का हैं जिसका विवरण पहिले दे दिया गया है।

अहोरात्रवाद का मूल आधार सूर्य तत्त्व है। जिस प्रकार लौकिक सूर्य से दिन रातों का निर्माण होता है उसी प्रकार सृष्टि क्रम के तत्त्वों के सूर्य तत्त्व से दार्शनिक

४—अहोरात्र का आधार

'अहोरात्र' सिद्धान्त का निर्माण किया गया है। लौकिक सूर्य और दार्शनिक सूर्य में बहुत बड़ा भारी अन्तर भी है। इस दार्शनिक सूर्य के उदय होने में २४ तत्त्वों का विकास होता है २५ वें मध्यबर्ती तत्त्व में इसका उदय होता है। और ज्योंही यह उदित होता है त्योंही तुरन्त पश्चात् रात्रि का उदय हो जाता है। इसीलिए लोगों को 'मध्याकर्तोः विततं संजभार' और

"यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै"

(ऋ० वे० १-११५-४)

का उचित अर्थ लगता ही नहीं है। इसका भाव पाँचवी ऋचा दूसरे ढंग से देती है। इन दोनों का भाव पिछले दो वाक्यों में दे दिया गया है शेष 'अहोरात्र' और 'उषा' शीर्षकों में देखें। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि वेदों में जहाँ कहीं भी सूर्य का वर्णन आया है वहाँ 'मध्या' या 'उपस्थे' का उल्लेख अवश्य किया गया है। यह सूर्य के स्थान का निश्चित निर्धारण (मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व) है।

यह अहोरात्रवाद वैदिक दर्शन को दो भागों में विभक्त कर देता है। प्रथम भाग के २४ तत्त्वों को अहः या दिन कहते हैं और द्वितीय भाग के २४ तत्त्वों को

५—अहोरात्र के दो भाग

रात। सूर्य का उदय २५ वें में होता है, उसके उदय होते ही रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है, वह उस सूर्य के लिए भौतिक सृष्टि के कपड़े बुनना आरम्भ कर देती है। इन दो भागों को दिन और रात्रि के स्वभावानुसार क्रम से शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष कहते हैं। अतः ऋग्वेद (६-९-१) लिखता है

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वनरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥"

इसमें अर्जुन 'अर्जुनमहः' शुक्ल दिन है, कृष्णमहः रात्रि कृष्ण पक्ष है। इन दोनों का विवर्त विदित भौतिकात्मा में होता है। इन दोनों के मिलन से वैश्वानराग्नि का जन्म होता है। वह अपनी ज्योतिष्मत्ता से भौतिकात्मा के रात्रि रूप कृष्णपक्ष के अन्धकार को पार कर लेता है या उस अन्धकार में दीपक सा जला देता है। भौतिक ब्रह्माण्ड की ज्ञानाग्नि यही वैश्वानराग्नि है। अन्यत्र भी लिखा है

"इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥"

(ऋ० वे० १-९८-१)

इस सूर्य से उत्पन्न वैश्वानराग्नि से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। इस अहोरात्रवाद का चित्रण यजु (३१-२२) ने

"श्रीश्चते लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।"

मन्त्र से किया है, अन्य उल्लेख तो यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। शाखा भेद से या व्याख्या सरणि भेद से इस अहोरात्रवाद के दो भेदों के कई नाम हैं, जैसे संवत्सर ब्रह्मवाद में ये उत्तरायण (दिन) दक्षिणायन (रात), अदितिवाद में अदिति

और दिति। इस सम्बन्ध में दो एक ऋचायें सूर्य के स्थान का निश्चित निर्धारण कर देती हैं कि सूर्य दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती २५ वाँ तत्त्व है जैसे

"अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तन्मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्य मुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥"

(यजु० ८-९)

इस मन्त्र में दर्शनके दो भागों को परस्तात् और अवस्तात् नाम से पुकार कर सूर्य को इनके मध्यबिन्दु स्थित मानकर उससे उभयतः या दोनों भागों से देखने का वर्णन दिया है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन (ऋ० वे० ५-६२-८) भी देता है जैसे

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथ वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"

यहाँ पर मित्र वरुण को गर्त या कर्क रेखा या विषुवद्रेखा २५ वें तत्त्व में आरोहण करने को कहा है। सूर्य जो मित्रावरुण की चक्षु है जिसे यहाँ पर उषा के पश्चात् स्थूण रूप में उदित माना है, इस स्थान से अदिति पूर्वार्द्ध और दिति उत्तरार्द्ध दोनों को देख सकोगे, यह मित्रावरुण से कहा जा रहा है। ये दोनों प्रमाण सूर्य का स्थान मध्यवर्ती २५ वाँ तत्त्व निश्चित कर देते हैं। इन्हीं दो भागों को अष्टचक्र बाद में श्री (दिन) लक्ष्मी (रात) यज्ञ विधान में पूर्ववेदि (दिव) उत्तरवेदि (रात)। देव तत्त्ववाद में पूर्वार्द्ध और परार्द्ध; देव और असुर; उषा उषासानक्ता; पत्न्यौ; पितरं मातरं, अश्विनौ; असद् सद्; अदिति दितिः; देव्यौ होतारौ (पत्न्यौ); द्यावापृथिव्यौ या वामा दक्षिणा, रोदस्यौ; पूर्वाचमू उत्तराचमू, विद्या अविद्या; पूर्वाञ्च अर्वाञ्च; पूर्वाङ् अर्वाङ्; पूर्वा परा, प्राङ् अपाङ्; देवी ज्योष्ट्री, अवस्तात्परस्तात्, देवी आर्त्नी; देवयान पितृयान शुनासीरौ; स्वस्ति पथ्या, त्रिपात् सप्तपात्; उत्तरावत दक्षिणावत; स्वस्तिः पन्थाः; उत्तरापथ दक्षिणापथ; अर्वावत परावत; पूर्वा परा; दृषदुपले, देवा विश्वेदेवा इत्यादि*

जिस तत्त्व को सूर्य कहते हैं उसका स्थान मध्यवर्ती है। इस मध्यवर्ती स्थान के भी शाखा या व्याख्या भेद से कई प्रसिद्ध नाम हैं जैसे चक्षुः, सूर्यः, अश्विनी, योनिः, विषुवान् या विषुवत्; गर्तम्; सिंह, मध्याकर्तोः, उपस्थे, ओष्ठम्; नासिका, नाभि, अनीकं, कर्णौ; चक्षुषी। सूर्य का स्थान अन्य रीतियों या प्रमाणों से इस प्रकार निर्धारित किया गया है। इस सूर्य का नाम 'मनोब्रह्म' भी है। इसको काम ब्रह्म भी कहते हैं (ऋ० वे० १०-१२९-४) लिखता है

६—सूर्य का स्थान

---

* "द्वे स्रुती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥"
"यत्रावदेते अवरः परश्च यज्ञिन्यो कतरो नौ विवेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१६, १७)

श्रीश्चते च लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्याम्

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥"

इस काम या मनः को छान्दोग्य दैवी चक्षुः नाम से पुकारते हुए लिखता है

"मनोऽस्य वै दैवं चक्षुः स वा एतेन दैवेन
चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥" (८-१२)

इसके पहिले इसी उपनिषद् ने चक्षुः नामक सूर्य को चतुर्थपाद, या चतुष्पाद् ब्रह्म कहते हुए लिखा है "मनो ब्रह्मेत्युपासीत,...तदेतत् चतुष्पाद् ब्रह्म,...वाक्पादः, प्राणः पादः, चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः (चतुष्पाद के चार पाँवों के नाम हैं); वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः,...प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः...चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः... श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः" इत्यादि (३-१८)। यह मनः या चक्षुः नामक चतुर्थपाद तो उत्तरार्द्ध का प्रथम चरण है, पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतों (२४ तत्त्वों) के पश्चात् ही आयेगा। प्रथम तीन पादों का नाम भूर्भुवः स्वः या द्यावा या दिवि है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' इत्यादि। सूर्य इनके पश्चात् चतुर्थपाद या उत्तरार्द्धीय चतुर्थ सप्तक में स्वयं आ जाता है। छान्दोग्य ने उक्त उल्लेख सूर्यविषयक ऋचा

"उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तमुत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमागन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥" (ऋ० वे० १-५०-२)

की व्याख्या में लिखा है जिसका सीधा अर्थ यह है—जब सूर्य नामक तत्त्व के चारों ओर भौतिकात्मा का अन्धकार तमः या केतुः या स्वर्भानु के रूप में कपड़ा सा बुनते हुए छाने लगा या परदा सा लगाने लगा, तब साधक ऋषियों ने (तत्त्वों ने भी) उसके उत्तरी भाग की ओर पूर्वार्द्ध की ओर जहाँ स्वः या दिव का स्थान है, देखा तो उन्हें उस सूर्य रूप त्रिपादामृत के दर्शन हो गये। क्योंकि भौतिकात्मा का तमः दक्षिण की ओर दक्षिणार्द्ध की ओर बढ़ रहा था, और वे उसी ओर बैठे थे। यह सूर्य, मनो ब्रह्म है, अतः सूर्य से चन्द्रमा की उत्पत्ति बतलाने में चन्द्रमा को इसी मनः (रूपसूर्य) से उत्पन्न कहा गया है जैसे 'चन्द्रमा मनसो जातः' (पु० सू० १०)। यह मनो रूप चक्षु है, दैवं चक्षुः है जिससे सब काम देखे जा सकते हैं।

"मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन
चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते ॥"

(छान्दोग्य ८-१२)

वैदिक ऋषियों ने इस भौतिकात्मा से आवृत सूर्य को एक दूसरे ढंग से वर्णित किया है। ऋ० वे० (१०-८८-११, १२) ने लिखा है

७—सूर्य और भौतिकावरण

"यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥"
"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वनरं केतुमह्नामकृण्वन् ।
आ यस्तनानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥"

इत्यादि

ऋषियों ने भौतिक तत्त्व को स्त्री रूप में वर्णित किया है और सूर्य के त्रिपादामृत रूप को पुरुष, इन दोनों के जोड़े को उक्त ऋचा 'मिथुनौ' नाम से पुकार रही है और बृहदारण्यक इसका भाष्य सा करते हुए लिखता है "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहन्नामाभवत्.... अहमयमित्येवाग्रे उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन ओषत्...स नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ...तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत इव ॥" (१-४-१, २) यहाँ पर आत्मा सूर्य (सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) है, वही बोलता है, वही अहं नामी है, वही आदितेय आदित्य (छठा) है, वही चरिष्णू मिथुन रूप में उपस्थित हुआ है, इसके चारों ओर घिरा हुआ भौतिकात्मा रूप स्त्री में ही अखिल ब्रह्माण्ड के भुवनों के मौलिक बीज हैं। ये बीज वैश्वानराग्नि रूप वैद्युतीय हैं, यह पूर्वार्द्धीय दिनों के केतु या झंडे के समान है, यही नक्तोषासा शोभायमान है, यही भौतिकात्मा के अन्धकार से मानो अखिल ब्रह्माण्ड रूप वस्त्र के थान को बुनती है और उसे अपनी ज्योति से उज्ज्वल भी बनाती जाती है।

अहोरात्रवाद में सृष्टि का क्रम ब्राह्म मूहूर्त से प्रारम्भ होता है। ब्राह्म मूहूर्त से सूर्योदय होने में २४ तत्त्वों का विकास होता है। सूर्योदय २५ वाँ तत्त्व है। इसके अगल-बगल में २३ वें और २५ वें के उत्तरार्द्ध क्रम से उषा और नक्तोषा या उषासानक्ता का उदय होता है। सूर्योदय के तुरन्त पश्चात् चन्द्रमा का उदय और रात्रि का आरम्भ हो जाता है। इसी काल को नक्तोषा या उषासानक्त या अहोरात्रीय उषा कहते हैं। पूषा इन दोनों उषाओं का 'जार' कहा गया है, प्रातः कालीन उषा के साथ-साथ पूषा का प्रारम्भ हो जाता है। पूषा देखें। सृष्टि के इस क्रम का वर्णन कुछ-कुछ ऋ० वे० (१०-८८-६) में इस प्रकार दिया गया है

८—अहोरात्र में सृष्टि क्रम

"मूर्द्धा भुवो भवति नक्त मग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥"

यहाँ का 'भुवः मूर्द्धा' जातवेदाग्नि है

"यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्द्धन्नतिष्ठो अग्नेः सह रोचनेन।"

(१०-८८-५)

जहाँ से भौतिकात्मा का उदय होता है वही भौतिक ब्रह्माण्ड का शिर है, प्रथम शिर ब्रह्म है, येही 'द्वेशीर्ष्णे' हैं। वहीं प्रातः काल होता है तो सूर्योदय होता है तथा तुरन्त चन्द्रोदय और रात्रि आ जाती है। तदनन्तर वह भौतिकात्मा रसमय आपोमय समुद्र के समान वर्णित किया जाता है।

जहाँ कहीं सूर्य का वर्णन दिया गया है वहाँ वहाँ अनिवार्य रूप से उस सूर्य को भौतिकात्मा रूप तमः या अन्धकार से घिरा बतलाया गया है। यहाँ पर दो एक प्रख्यात उल्लेख दिये जाते हैं

९-सूर्य और भौतिका- "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
वरण की अभिन्नता दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१॥"

(ऋ० वे० १-५०-१)

यत्त्वा सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥२॥
स्वर्भानो रध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूढं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥३॥
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ॥४॥
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥५॥

(ऋ० वे० ५-४०-५, ६, ८, ९)

प्रथम मन्त्र के अर्थ में अभी पिछले परिच्छेद में दिये गये 'केतवः' शब्द का अर्थ दुहरा लीजिये

'विश्वा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् ॥"

केतु नाम वैश्वानराग्नि का है जिससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड (विश्वा भुवनाय) की रचना की गई। यह भौतिकात्मा वैश्वानराग्नि पूर्वार्द्धीय दिन रूप डंडे में लगे झंडे के समान है। अब ऋचा का अर्थ स्वच्छ हो गया है कि सूर्य तो जातवेदा अग्नि का अन्तिम विकास है, उस जातवेदाग्नि रूप सूर्य का डंडा, वैश्वानराग्नि रूप केतु या झंडा चक्षु रूप विश्वात्मा या भौतिकात्मा की सृष्टि के लिए उठाये या धारण किये हैं। चक्षु नाम उस सूर्य का है जो भौतिकात्मा का प्रथम अङ्कुर या आँख को धारण करता है। दूसरे शब्दों में भौतिकात्मावृत सूर्य ही चक्षुः कहलाता है, जिस तत्त्व में सर्वप्रथम भौतिकतत्त्व दिखाई पड़ता है, वही सूर्य चक्षुः है, प्रथम भौतिक अङ्कुर चक्षु है। इस चक्षुरूप सूर्य को अत्रि दूसरे ढंग से वर्णित करते हैं। वे कहते हैं कि भौतिकात्मा का जो आवरण उस जातवेदाग्नि सूर्य रूप के चारों ओर वैश्वनराग्नि रूप में आच्छादित हुआ था वह लौकिक सूर्य में राहु ग्रसित ग्रहण के समान प्रतीत हुआ था। भौतिकतत्त्व को वैदिकों ने शूद्र स्त्री या असुर रूप में वर्णित किया है। यहाँ वे इसे (वृणोतीति) वृत्र कहने के स्थान में (स्वर्गीय भानु रूप वैश्वानराग्नि न कहकर) स्वर्भानु (राहु) नाम से या असुर नाम से पुकार रहे हैं। (श० प० ब्रा० ५-२-६) ने इसकी कथा (श्रुति) भी दी है जैसे—'स्वर्भानु र्ह वा असुरः, सूर्यं तमसा विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य सोमारुद्रा वेवैतत्तमोऽपाहतां स एषोऽपहतपाप्मा तपति···शूद्रांस्त्वद्यांस्त्वत्तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपहतः सोऽपहत पाप्मैव दीक्ष्यते···कृष्णं वै तमः तत्तमोऽपहन्ति ॥"। यह स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा इतना और ऐसा छा गया था कि वहाँ पर अक्षेत्रविद् अनजान स्थान की तरह मुग्ध या विमूढ़ सा लगने लगा, पर उससे ही अखिल भुवनों की सृष्टि हुई॥
३—इस तृतीय ऋचा का स्वर्भानु भी वही भौतिकात्मा रूप वैश्वानराग्नि है, और इस ऋचा में आया अत्रि नाम, इस मन्त्र के रचयिता अत्रि का न होकर तत्त्वरूप

अत्रि है जिसकी कथा कई वार दे दी जा चुकी है फिर दी जाती है। क्योंकि चक्षु रूप सूर्य को तो इस अत्रि रूप जातवेदाग्नि की चक्षु या आँख कहा गया है जैसे "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः (जातवेदसः)"। पुराणों में भी अत्रि के आँख से सूर्यचन्द्र दोनों की उत्पत्ति बतलाई गई है। ये सूर्यचन्द्र यही सूर्य और भौतिकात्मायें हैं। अतः बृहदारण्यक उपनिषद् (३-२-४) ने

"अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासते ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्राह्मणा संविदाना॥"

का अर्थ देते हुए स्पष्टोक्ति में लिखा है "वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नमद्यते" कि अत्रि नाम वाक् या वाणी या वाग्ब्रह्मरूप जातवेदाग्नि का है और इस अत्रि की व्याख्या 'अत्तिर्ह वै नामैतदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति' अर्थात् 'अत्ति' नाम को ही अत्रिः (सर्वभक्षी) कहते थे। और वागष्टमी यही अत्रि है। अतः लिखा है 'वाग्ध्यष्टमी ब्राह्मणा (दार्शनिकाः) संवित्ते' (वहीं)। यह अत्रि उक्त उद्धृत मन्त्र के 'अत्रासते ऋषयः सप्ततीरे' के या "सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सधमप्रमादम्।" प्रसिद्ध मन्त्र के (ऋषयः शीर्षक देखें) और ऋ० वे० ५-४०-६, ७, ८, ९ मन्त्रों के देवता ऋषि हैं। सात तात्त्विक ऋषियों के नाम 'गोतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ कश्यप, और अत्रिः हैं। अष्टमी वाग् भी अत्रि की ही भौतिकी परा वाग् है जिसका वर्णन श० प० ब्रा० (१-४-१-८ से १३ तक) ने विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि एक वार मनः और वाणी में आपस में एक दूसरे से बड़ा समझने का विवाद छिड़ गया। मनः ने कहा मैं भद्र और श्रेयस्कर हूँ, तुम (वाणी) से श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि तुम वही बोलती हो जो मैं सोचता हूँ, तुम तो मेरी नकल मात्र करती हो। वाणी ने उत्तर दिया मैं तुमसे बड़ी हूँ, क्योंकि जो कुछ तुम जानते हो उसे मैं विज्ञापित करती हूँ, जनाती हूँ। तब दोनों प्रजापति के पास निर्णय के लिए गये। प्रजापति मनः ही मनः में बोले, और मन ही मन में कह दिया कि मनः ही तुम (वाणी) से श्रेष्ठ है, तुम (वाणी) तो मनः की नकल करती हो, नकल या अनुकरण करने वाला भौतिक या पापीयान् होता है। तब जब वाणी ने यह सुना कि प्रजापति ने मुझे परा (उत्तरार्द्धीय भौतिकी) वाणी कह दिया है तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसका एकदम गर्भपात हो गया और कहने लगी मुझे तो अहव्यवाड् कह दिया है। इसीलिए जब प्राजापत्य यज्ञ किया जाता है तो उसे मनः ही मनः या उपांशु में ही किया जाता है। गायत्री जप इसीलिए उपांशु किया जाता है। तब देवता उस गर्भपात के रेतः को खोजते हुए पूछने लगे तो कहा गया 'अत्रत्यादिति' कि 'यहाँ पर गिरा था शायद'। उसीका 'अत्रत्यात्' कहते-कहते 'अत्रिः' नाम पड़ गया। इसी वाक् रूप अत्रिः से सारी प्रजा उत्पन्न हुई। यह अत्रि तत्त्व रूप अत्रि है, वाक् रूप अत्रि है। इसका नाम भी ऋषि है पर ये मंत्र रचयिता अत्रि से बिलकुल भिन्न ऋषि हैं। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा में इस तात्त्विक अत्रि को तुरीयब्रह्म या चतुर्थ सप्तक का प्रथम

ऋषि रूप ब्रह्म या २४ वाँ तत्त्व कहा गया है। अब इस ऋचा के अर्थ के रोड़े हट गये, यह अर्थ हुआ "इन्द्र ने स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा की आसुरी माया को अधस्तात् उत्तरार्द्ध की ओर ढकेल दिया, दिव या पूर्वार्द्ध की रक्षा की, और उस आसुरी वर्तमाना या आवरण सा करती हुई माया का हनन या दमन किया। उस आसुरी माया के गम्भीर तमः से आवृत, तुरीय या चतुर्थ महर्षि रूप अत्रि २४ वें तत्त्व ने उसे भली-भाँति जान या पहिचान लिया।।" चौथे मन्त्र में पौराणिक कथा का भौतिक आधार है कि "उस अत्रि नामक (२४ वें महर्षि नामक) तत्त्व ने उस भौतिकात्मा रूप स्वर्भानु को सूर्य की चक्षु रूप में धारण किया, अपने दिवि या द्यावा में है, और चक्षुः को पृथिवी रूप में धारण किया।" तब वे पूर्ण द्यावापृथिवी रूप में प्रस्तुत हो गये।" २४ वें अत्रि से २५ वाँ सूर्य तत्त्व, अत्रि की चक्षु रूप में प्रस्तुत हो गया, और उस अत्रि से इस प्रकार स्वर्भानु की मायाजाल का दमन या शमन कर दिया।।" पाँचवें मन्त्र में मन्त्र रचयिता अत्रि ऋषि तथा उनके गोत्र या आश्रम के मुनियों के आत्रेय सिद्धान्त की घोषणा करते हुए लिखा गया है कि 'जिस सूर्य को स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा के अन्धकार ने घेर लिया था, उसका ज्ञान इस स्वर्भानु आसुर रूप में सर्वप्रथम मन्त्र रचयिता अत्रि ऋषि ने ही कर पाया था और इस ज्ञान को अत्रि गोत्र के मुनि लोग जानते रहे।।" यह ज्ञान सूर्य को राहु या स्वर्भानु या त्रिपादामृत पान किया हुआ तत्त्व मानना, या भौतिको सृष्टि का शिर मानना है, इसमें सूर्य त्रिपादा-मृत भी है स्वर्भानु रूप भौतिक ब्रह्माण्ड के वीज भी। इस शिर रूप राहु का विकास उत्तरार्द्ध के शेष २३ तत्त्व हैं जिन्हें 'पक्षपुच्छानि' कहते हैं। अतः केतु को पुच्छ नाम से पुकारते है। पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृत तथा चतुर्थपाद के दो तत्त्व तो चार आत्मायें (चतुष्पाद्ब्रह्म) या अङ्गानि कहलाते हैं

"सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः चत्वार्यमून्यङ्गानि त्रयः पक्षपुच्छानीति।"

(पु० सू० देखें)

पूर्ण पुरुष सप्तर्षिमय या सप्तपदी या सप्त मुख्य ब्रह्मों का होता हैं। यह राहु केतु का सिद्धान्त अत्रि या आत्रेयों का है। ईश, ईशान और ईश्वर यही सूर्य है 'आदित्यो वा ईशानः' (रुद्र देखें)। ईशावास्य इसी सूर्य का वर्णन देता है।

हमारे इस तात्त्विक सूर्य के सम्बन्ध में एक बार ऋ० वे० १०-८८-१८ में प्रश्न उठाया गया है कि बताओ कितनी अग्नियाँ हैं कितने सूर्य हैं कितनी उषायें हैं कितने आपो देवी हैं' जैसे

१०—सूर्य एक है "कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्।।

जिसका उत्तर (ऋ० वे० (८-५८-२) में इस प्रकार दिया है:—

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः विश्वमिदं वि भात्येकं वा इद वि बभूव सर्वम्।।"

कि अग्नि तो केवल एक (ब्रह्म) ही है, अन्य सब अग्नियाँ उसके नाना विकास हैं, इसी प्रकार सूर्य भी केवल एक ही तत्त्व है जिससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना हुई। उषाः भी केवल एक ही है जो इस ब्रह्माण्ड की गतिमति चेष्टा क्रिया वाक् रूप शोभा है। इन सबका आशय यह है कि आदि-आदि में केवल एक ही सर्वमय (ब्रह्म) तत्त्व था, (उसी की व्याख्या इन नाना रूपों में की गई है)। इस सूर्य के बारे में ऐ० ब्रा० (३-४-४४) ने भी लिखा है कि यह सूर्य न तो कभी उदित होता है न अस्त ही होता है, यह पूर्वार्द्ध में दिन और दक्षिणार्द्ध में रात्रि करता है, भौतिक शरीर रात्रि है आध्यात्मिक शरीर दिन है, यह दिन रूप सूर्य कभी उदित या अस्त नहीं होता (यह तो त्रिपादामृत रूप ब्रह्म है)। अतः इसको इस प्रकार जानने समझने मानने और अनुभूत करने वाला उसकी सायुज्यता सरूपता और सालोक्यता को प्राप्त होता है जैसे "स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यतेऽह्न एव तदन्तमित्वा थात्मानं विपर्यस्यते, रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते ऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्रीं परस्तात्स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचत्येतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेद य एवं वेद॥" इसमें स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति लौकिक सूर्य के समान इस तात्त्विक सूर्य को अस्त होता है कहता है वह पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत का अन्त करके ब्रह्म के विरुद्ध बात करता है अब्रह्मण्य करता है, इसी प्रकार जो इस सूर्य को लौकिक सूर्य के समान प्रातः उदित होता है कहता है वह इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सत्ता मिटाकर आत्मा या ब्रह्म के विरुद्ध बात करता या बहुत बड़ा अब्रह्मण्य करता है। वह न कभी अस्त होता है न कभी उदित, सदा एकसा है।

यह सूर्य दिन को प्रगट करने वाला होने से विवस्वान् या अहः विवास्ते इति विवस्वान् यौगिक अर्थ में कहा जाता है। यह मनु भी कहलाता है, पर मनु नामक विवस्वान् यम का पिता है। सूर्य मनु का विवाह त्वष्टा की दुहिता सरण्यू से हुआ जिनसे पहले मनु फिर अश्वरूप में आश्विनी और सवर्णा से सावर्णि हुए। त्वष्टा की दुहिता प्रजापति की दुहिता उषा दिवो दुहिता है। यह द्वादशादित्यों में छठा मध्यवर्ती आदित्य है सर्वादित्यों में २५ वाँ मध्यवर्ती है। अदिति सर्वा देवता है अतः उसके जन्य आदित्य भी सर्वादित्य ४८ हैं। सूर्य का पूर्ववर्ती आदित्य मित्रावरुण है जिन्हें मनु का पुत्र बतलाया गया है (श० प० ब्रा० १-६-३·७)। इसका उत्तरवर्ती आदित्य सविता है। इस सूर्य का सर्वोत्तम सूक्त ऋ० वे० १-११५ है उसे यहाँ दे दिया जाता है।

११—सूर्य और विवस्वान् और सूक्त

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
सूर्यो देवी मुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिं भद्राय भद्रम्॥

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावा पृथिवी यन्ति सद्यः॥
तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥
तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥
अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥"

वैदिक दर्शन को न जानने के कारण इस सूक्त की ऋचाओं और शब्दों के भावों के बारे में प्रायः सभी लोगों में कुछ न कुछ मतभेद हैं। दुःख इस बात का है कि इनमें से सभी व्याख्याता सूक्त की भावना के वास्तविक धरातल से फिर भी कोसों दूर रह गये हैं। (१) देवताओं या तत्त्वों का मुख या अद्भुत रूप का सूर्य नामक तत्त्व उदीय मान हुआ जो मित्र वरुण और (जातवेदा*) अग्नि की साक्षात् चक्षुः (सृष्टि वृक्ष की आँख उसे २४ वें तत्त्व में प्रथम भौतिक तत्त्व रूप अङ्कुर रूप में, जो मित्र वरुण या जातवेदाग्निः नाम से पुकारे जाते हैं) नाम से पुकारा जाता है। यह सूर्य अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड (स्थावर जङ्गम दोनों) का, जिसमें दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध और मध्यस्थान (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष) तीनों सम्मिलित हैं भौतिकात्मा है। 'सूर्यः वै सर्वेषान्देवानामात्मा' (श० प० ब्रा० १४-३-२-९)। शेष पहिले ही बतलाया जा चुका है। (२) यह सूर्य, उषा के पीछे-पीछे इस प्रकार चला आया जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चला करता है। यहाँ पर यह नरः या बिश्वानरः रूप का सूर्य देव रूप तत्त्वों के विकास के लिए (जैसे कृषक बैलों के जुवे को तैयार करता है वैसे ही) अपने जुवे को प्रस्तुत करता है जिससे अगली भौतिक विकास रूप कृषि क्रमशः उत्तरोत्तर उत्तम रीति से होती चले। यहाँ पर नरः शब्द चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए है, नृषद् या नरषद् इसका नाम है। यह २५ वाँ मध्यवर्ती तत्त्व है। अतः पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो अश्वों या वृषभों के कन्धों के जुवे के समान है जिसका स्पष्ट भाव ऋ० वे० १०-१०१-३,४ में दिया गया है। २५ वाँ तत्त्व योनि भी कहलाता है; अतः कहा है

"युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वस्तेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥"
"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया॥"

(३) सूर्य के घोड़े (भौतिकात्मा रूप या भौतिकात्मा के प्राण रूप हैं अतः)

---

* अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य 'धारा समिधो नसन्त (प्राप्नुवन्तः') ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥
(ऋ० वे० ४-५८-८)

कल्याणकारी या दिव्यशरीरधारी हैं। ये दुःखहर्ता, अनिर्वचनीय विचित्र वर्णों के, जहाँ चाहें वहाँ जा सकने वाले (एतग्वा) और उन्मत्त की तरह निरन्तर क्रियाशील प्राण रूप (अश्व हैं। ये क्रम से नमते हुए या विकास पाते-पाते दिव रूप तृतीय सप्तक के पृष्ठ रूप चतुर्थ सप्तक में भौतिकात्मा के दिव्यशरीर रूप में स्थिर होकर द्यावा पृथिवी दोनों भागों में चले जाते हैं या दोनों भागों को तुरन्त स्वायत्त कर शरीर को धारण कर लेते हैं।

(४) अहोरात्र सिद्धान्त को न जानने के कारण इस ऋचा तथा अगली ऋचाओं की व्याख्या में सब लोगों ने बड़ा धोखा खाया है। यहाँ 'मध्याकर्तोः' विकास क्रम का मध्य स्थान या मध्य कार्य है। अयुक्त माने प्रायः सबने 'अमुञ्चत्' (खोल दिया) माना है। यहाँ घोड़े बँधे हैं, खुलें नहीं। यहाँ अयुक्त माने बाँधना जोड़ना ही है। अब अर्थ यह है। "यह सूर्य रूप तत्त्व की देव शक्ति या तत्त्वशक्ति और महिमा है जिसने मध्यवर्ती स्थान से (भौतिक सृष्टि का कार्य) विस्तृत करना प्रारम्भ किया। ज्योंही उसने उस मध्यस्थान (सधस्थात्) से घोड़ों को जोता या बाँधा ही था कि तुरन्त ही रात्रि ने उन्हीं भौतिक प्राणों के तानों बानों से भौतिक सृष्टि रूप रात्रि के उत्तरार्द्धीय विकास रूप कपड़े बुनना प्रारम्भ कर दिया, (सिमस्मै =अपने लिए) (शेष ऊषा और अहोरात्र शीर्षकों में देखें वहाँ भी इनकी व्याख्या दी गई है, पहिले भी लिखा जा चुका है)

(५) यह सूर्य, द्यौः के उपस्थ या मध्यस्थान २५ वें तत्त्व से रूप नामक मूर्त सृष्टि या भौतिक सृष्टि को अपने पूर्ववर्ती मित्र और वरुण की आँखों (चक्षु रूप धारण करने वालों) के लिए प्रस्तुत करता है (यह सूर्य मित्रावरुण की चक्षु है और इस चक्षु को रूप में परिवर्तित कर देता है)। इस सूर्य की शक्ति (पाजः) अनन्त असीम है। पूर्वार्द्ध में यह उज्वल (रुशत्) रूप की शक्ति धारण करता है (जहाँ यह आध्यात्मिक स्वरूप का केवल तेजस्वी स्वरूप रखता है) और उत्तरार्द्ध में यह कृष्ण या रात्रिरूप अन्धकार रूप भौतिकात्मा के खोल को पहिन कर प्राणाश्वों को भी उसी रंग में रंग लेता है। लोगों ने अनन्त माने असंख्य लगाकर असंख्य दिन रातों का निर्माण कहा है, यह गलत है)

(६) अद्य नाम दिन का है पूर्वार्द्ध का है, देवा शब्द सम्बोधन नहीं, कर्म है। आज इस पूर्वार्द्ध के अन्त में सूर्य के उदित होने से सभी देवता उदित हो गये, (क्योंकि सूर्य ने भौतिक सृष्टि या रूप की रचना कर दी जिसके लिए सब देवता तब तक तरसते रहे, अब उन्हें भी यह भौतिक दिव्य शरीर मिल गया है अतः उदित हो गये हैं)। सूर्य सहित सब ये देवता रूप तत्त्व तथा सूर्य तत्त्व पापहीन या आसुरी वृत्तिहीन शुद्ध दैवी गुण धर्मों से युक्त हैं, अतः इस प्रकार अनवद्य या पूजनीय होने से वे हमें भी पाप और आसुरी वृत्तियों से सुरक्षित रखें। और मित्र वरुण अदिति सिन्धु (नदी रूप पञ्चपर्वीय देवता पृथिवी (दैवीभौतिकात्मा या उत्तरार्द्ध और द्यौ (पूर्वार्द्ध का त्रिपादामृत) सब पूजनीयता या दैवी गुणधर्मों से युक्त दिव्य शरीर की महिमा को प्राप्त होकर हमें भी आसुरी वृत्ति से) बचायें रखें।

अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक भौतिकात्मा सूर्य को जिस प्रकार घेर कर आच्छादित करता है, उसका नाम तमः या तमांसि या स्वर्भानु के बदले 'हिरण्य' भी है। इसी हिरण्य के गर्भ में यह सूर्य रूप त्रिपादामृत रहता है, अतः यही हिरण्य गर्भ भी कहलाता है। यही पूषा या पुष्टि या भौतिकात्मा पोषक है, अतः वैदिक ऋषियों ने कहा है

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥'

कि उक्त भौतिकात्मा रूप हिरण्मय पात्र से सत्य रूप त्रिपादामृतीय सूर्य का मुख ढका हुआ है, हे पूषन्!, इस शरीर के पोषक!! इस सत्य धर्मा के दर्शन के लिए तुम अपने आच्छादन को खोल दो, उसके दर्शन के द्वारों को खोल दो॥

१२—सूर्य पर श्रुतियाँ

सूर्य पूर्वार्द्ध के अन्तिम छोर का निवासी है "अन्तो वै सूरः' (ताण्ड्य १५-४-२)। यह सूर्य शुक्र रूप है (श० प० ४-५-९-६)। यह पूषा में से एक है (गो० उ० १-२०)। यह सविता प्रसविता और सावित्र्य है (तै० ३-१०-६-१५; श० प० ३-२-३-१८)। यह धाता है और वषट्कार है (ऐ० ३-४८)। यह स्वाहाकार भी है (श० प० १४-१-३-१६), क्योंकि इसमें उत्तरार्द्ध के सब तत्त्व स्वाहा रूप में रहते हैं। यही ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है (श० प० १४-१-२-१५), यही वरुण भी बनता है, (तै० १-१-७-२), यही अर्क और चक्षु भी है (तै० १-१-७-२)। यह यज्ञ भी है (यजु ३७-११), यही पिता भी है (यजुः ३७-२०), यह भर्ता और ग्रह भी है (श० प० ४-६-७-२१; ४-४-५-१)। यह गोजा भी कहलाता है (ऐ० ४-२०), गोपा भी (यजु ३७-१७)। यही तन्त्रायी भी है (यजुः ३८-१२)। इसी का नाम निविद् या निवेदन कर्ता है (कौ० १४-१, जै० उ० १-[illegible]-२), यह स्वः और दिन (अहः) कहलाता है (श० प० १-१-२-२१), यह स्वर्दृक् है (ऐ० ४-१०)। यही विश्वकर्मा है (कौ० ५-५ गो० उ० १-२३)। यही वरसद् है (ऐ० ४-२०), यही वसुरन्तरिक्षषद्, व्योमषद् आदि है (ऐ० ४-२०)। यह पदीय वर्णना सूर्य की सर्वादेवता रूप में व्याख्या देता है। यह यम है, मृत्यु है (यजु ३७-११; श० प० १०-५-१-४)। यह परिवत्सर है (तै० १-४-१०-१), यही पुरश्चरण है (श० प० ४-६-७-२१), यही वाजपेय है और परोरजा है (तै० ३-१०-९-४; गो० उ० ५-८)। इसके नाम धर्मः अर्कः शुक्रः ज्योति और सूर्यः हैं (श० प० ९-४-२-२५)।

यह सूर्य देवताओं का गर्भः है, गर्भ माने 'गृह्णाति गृभीतम्' है (श० प० १४-१-४-२)। यह महदुक्थं और ऋचाओं का लोक है तथा बार्हत है (श० प० १०-५-२-१; गो० उ० ३-२०)। यह बृहती में रहता है (गो० उ० ५-७)। यह जाग्रत भी है त्रैष्टुभ भी कौ० २५-४,७)। यह स्वरूप है (जै० उ० ३-३३-१, गो० पू० ५-१४)। यह मूर्द्धा भी है (श० प० १३-४-१-१३)। इसकी स्वर्ग की ज्योति का नाम उत्तम है (श० प० १२-९-२-८)।

यह सूर्य नाष्ट्रा राक्षसों का हन्ता है (श० प० १-३-४-८)। यह प्रजाओं की चक्षुः है (श० प० १३-३-८-४) । सूर्य की एक रश्मि ही-जिसका नाम वृष्टि वनि है-से सब प्रजाओं का निर्माण होता है (श० प० १४-२-१-२१) । अश्व इसी सूर्य का है (गो० उ० ३-१९)। रेतः सूर्य का होता है (तै० ३-९-१७-५)। सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ (श० प० ११-५-८-३)। चन्द्रमा की रश्मि सूर्य से आती है अतः वह सूर्य रश्मि कहलाता है (श० प० ९-४-९-९ यजु० १८ ४०) ।

सूर्य की दुहिता का नाम श्रद्धा है (यजु० १९-४) । इसको सूर्य ने सोम को दिया (कौ० १८-१ ऐ० ४-७) ।

'चक्षुः' नाम शरीर या अध्यात्म का है और सूर्य इसकी आत्मा या देवता है।

—×—

अध्याय ६८

धाता और विधाता (सूर्याचन्द्रमसौ–विश्वकर्मा च)

१—धाता विधाता में अन्तर

अमर कोशादि कोशों तथा पुराणों में धाता और विधाता दोनों शब्द एक ही देवता 'ब्रह्मा' के प्रतीक हैं, परन्तु वेदों में धाता और विधाता दोनों शब्दों का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र देवता के सूचक शब्द हैं। अथर्ववेद ने धाता देवता के सूक्त में इसे 'जगतस्पतिः' या भौतिकात्मा बतलाया है और कहा है कि वह प्राची (पूर्वार्द्ध) रूप अनुपक्षीण रयि या धन (मूलधन सृष्टि बीज रूप त्रिपादामृत) को हमें जीवन के लिए पूर्ण रूप से दे, इसीलिए हम उसका ध्यान करते हैं। उसे सत्यधर्मा या 'विश्वराधा' कहा है दोनों का अर्थ सत् रूपी भौतिकात्मा की नियमित शक्तिमत्ता है। यह धाता तत्त्व तो धारण करने वाला है, यह धारण कार्य प्रजाकामाय या सृष्टिकामाय विकास हेतु दान करने के लिए करना ही पड़ता है जिसे वह अपने दुरारोह दुर्गम अगम्य अनिर्वचनीय दिव्य शरीर में धारण करता है। जिस वस्तु को वह धारण करता है वह है अमृत या त्रिपादामृत जिसे अदिति आदि विश्वे देवता उसे अर्पित करते हैं। इस प्रकार धाता के अमृत धारण करने से, सविता, प्रजापति (अत्रिः) निधिपतिः (ब्रह्मणस्पति) त्वष्टा (सूर्य) विष्णु (सवृत्र) आदि देवता इस शरीर या ब्रह्माण्ड की सृष्टि या चतुष्पाद् ब्रह्म की ज्योति रूप धन का रमण करें, और उस धन को यजमान में भी धारण कराते या करते रहें जैसे :—

"धाता दधातु रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु॥
धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः (सत्यधर्मणः)॥
धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु॥"

(अथर्ववेद ७-२-४ या १७ पूरा)

यह धाता बुद्धि (सांख्य तत्त्व सम) रूप है, अतः उसके उस कल्याणकारी रूप का हम ध्यान करते हैं यह कहा गया है। धाता का काम धारण करना है यह अथर्व ७:१९-१ कहता है "प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु 'सुमनस्यमानः॥"

विधाता नाम विशेष रूप से धारण करने वाले का है। यह विशेष रूप से धारण करने वाला तत्त्व सोम राजा और वरुण के धर्मों के अनुकूल चलने वाला,

और बृहस्पति की सुखकारी कल्याणकारी अनुमति से संयुक्त
२—विधाता है, इस प्रकार का तत्त्व 'कलश' (भौतिक तत्त्वात्मक भौतिकात्मा या) दिव्य शरीर ही है जिसका सेवन तभी किया जा सकता है जब उसमें त्रिपादामृत रूप इन्द्र या मघवा की उपस्तुति या प्रस्तुति या उपस्थिति हो, ऐसी उपस्थिति में ही धारण करने वाले कलश की विधातृता या कलश-युक्त त्रिपादामृतता का भक्षण या अनुस्वादन या अनुभूति की जा सकती है। अतः विधाता वह तत्त्व है जिसमें आधार और आधेय दोनों तत्त्व—भौतिकात्मा-कलश तथा त्रिपादामृत-इन्द्र, दोनों एक साथ विद्यमान हैं। यही भाव निम्न ऋचा दे रही है :—

"सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पते रनुमत्या उ शर्मणि ।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥"
(ऋ० वे० १०-१६७-३)

यहाँ पर 'कलश' शब्द की व्युत्पत्ति यह है —'कला' (भौतिकी कला) अस्मिन् शेरते (विद्यते) इति कलशः; कलिः अस्मिन् शेरते (विद्यते) इति वा कलशः; अर्थात् जिसमें 'कला' (अंश) विद्यमान है या सोती है या जिसमें कलि (या कलह या द्वन्द्व) विद्यमान या (अणोरणीयान्) सुषुप्तावस्था में है। दिव्य शरीर में भी कला सुषुप्तावस्था में (अणोरणीयान् रूप में) है। कला वा कलि उसे कहते हैं जो किरण रूप में क्रमशः विकीर्ण होकर विस्तृत होती जाती है। दिव्यशरीर का प्रथम भौतिक स्वरूप आपो रूप या विद्युत्स्वरूप है, विद्युत्किरणें ही कला या कलि की मूल जननी हैं। और इस भौतिकात्मा दिव्यशरीर से हो कला द्वारा काल का अनुगम या ज्ञान प्रारम्भ होता है, अभौतिकता कला या काल से हीन है। अतः उसे अनन्त अनादि और अपार इत्यादि नामों से पुकारते हैं। यह अभौतिकता दूसरे शब्दों में आध्यात्मिकता या त्रिपादामृतता या ब्रह्म कहलाती है जिसे इसी कारण अनन्त अनादि आदि नामों से सार्थकतया कहा जाता है।

उक्त दोनों धाता और विधाता तो हमारे दार्शनिक तत्त्व 'सूर्याचन्द्रमसौ' हैं। सूर्य धाता है, चन्द्रमा विधाता, ये दोनों मिलकर विश्वकर्मा कहलाते हैं, वह भी धाता विधाता हैं (ऋ० वे० १०-८२-२)*। ये दोनों मिलकर ही
३—सूर्याचन्द्रमसौ अखिल ब्रह्माण्ड की रचना पूर्ववत् करते हैं। इस आशय की ऋचा तो स्वयं ऋग्वेद और तै० सं० देते हैं जैसे

* "विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एक माहुः ॥"

विश्वकर्मा को एक ऋषि, और उत्तरार्द्ध (परे का) ऋषि भी कहा है। इसे श० प० ब्रा० ५-१-५-६ में वाग् ब्रह्म कहता है। अतः विश्वकर्मा शब्द ब्रह्म है, वाचक उत्तरार्द्ध का तत्त्व है, धाता विधाता है।

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रोऽर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥" (ऋ० वे० १०-१९०-३)। पूर्वार्द्ध में या दिन में ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। वह तप से हुई, उससे उत्तरार्द्ध या रात्रि उत्पन्न हुई, उस रात्रि में सर्वप्रथम समुद्र की उत्पत्ति हुई, उससे संवत्सर की, तब (७२०) अहोरात्रों की। यह उत्तरार्द्ध की सृष्टि सूर्य और चन्द्र रूप धाता और विधाता ने यथापूर्व की। इन्होंने भूर्भुवः स्व महः आदि सब लोकों की रचना कर दी।

अध्याय ६६

सोमः

अब तक के सभी विद्वान् सोम को 'सुरा' या लता के रूप में समझते चले आ रहे हैं। कुछ लोग भूल भटक कर कभी-कभी सोम माने आत्मा भी कहते सुने जाते हैं पर यह कैसी और किस आत्मा का बोधक है यह वे बताने में असमर्थ हैं। 'सोम' एक ऐसा तत्त्व या देवता है जिसे वैदिक आर्य अपना राजा मानते थे—जैसे "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" (यजु० ९-४०, १०-१८)। इसीलिए हमें वेदों में जहाँ देखो सोम की चर्चा मिलती है, ऋग्वेद का पूरा नवम मण्डल इसी सोम की गूढ़ व्याख्या देता है। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस सोम के बारे में जो भ्रम आजकल के विद्वानों के मस्तिष्क में है उसका मूलकारण, यज्ञविधान में सोम के अभिनय के लिए प्रयुक्त वस्तुयें हैं। याज्ञिक लोग धीरे-धीरे वेदों के रहस्यमय सोम तत्त्व को भुला कर उसके प्रतिनिधि बनाये गये वस्तु को ही सोम समझने लग गये थे, और समझने की हठ भी करने लग गये थे। यह परिस्थिति तो ऋग्वेद के निर्माण काल में ही प्रस्तुत हो गई थी। और ऋग्वेद ऐसे अनभिज्ञ कर्मकाण्डी याज्ञिकों को फटकारते हुए, और उनकी खिल्ली उड़ाते हुए तथा सोम की वास्तविकता प्रस्तुत करते हुए कहता है।

१—दार्शनिक और याज्ञिक सोम

"सोमं मन्यते पपिवान् सम्पिशन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न हि तस्याश्नाति कश्चन॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णमिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥"

(ऋ० वे० १०-८५-३,४)

लिखा है कि ये याज्ञिक सिलबट्टे में ओषधि को घोटकर समझते हैं कि हमने सोमपान कर लिया, पर जिसको वेदों में सोम कहा गया है उसे तो कोई (मिट्टी का पुतला-शरीरी) पी ही नहीं सकता॥ "यह सोम तो बृहती वाग्ब्रह्म (बार्हतैः) के आच्छादनों से सुगुप्त है, उसे तुम (याज्ञिक) दृषदुपल या सिलबट्टा समझते हो? खेद है, उस सोम को तो कोई पार्थिव (कीड़ा शरीरी) नहीं पी सकता!" इससे स्पष्ट है कि सोम का वास्तविक रहस्य वैदिक युग में ही लुप्त हो चला था। हमें जो वेद या ब्राह्मण मिलते हैं वे इसी प्रकार के याज्ञिकों के स्रोत से मिले हैं। अतः विद्वानों को इन्हीं की धारणा विवश किये बैठी है। दुःख तो इस बात का है कि यद्यपि यास्क ने अपने निरुक्त के परिशिष्ट में ऋग्वेद के पवमानीय सोम की ९-९६, ९.९७ ऋचाओं को उद्धृत करते हुए सोम को महान् आत्मा मानते हुए लिखा है

"महान्तमात्मानमेतानिसूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति"

पर जब पूर्वोक्त 'सोमं मन्यते पपिवान्' इत्यादि की व्याख्या निरुक्त ११-१-२ में करते हैं तो वे यहाँ पर इसके अधियज्ञ और अधिदैवत यजुः सम्बन्धी दो अर्थ देने पर भी, सोम माने चन्द्रमा आकाश का ग्रह तथा यज्ञ से बाहर बनाया गया सोम (रस) ही मानते हैं, जिससे भाण्डारकर का यह मत कि निरुक्त का परिशिष्ट किसी दूसरे व्यक्ति का लिखा है स्वयं परिपुष्ट हो जाता है। यास्क भी कर्मकाण्डी हैं, याज्ञिक निरुक्तमत के हैं। अब यह निश्चित हो गया कि 'सोम' दो प्रकार का है, एक तात्त्विक दूसरा याज्ञिक। एक बात अवश्य ध्यान में रहे कि हमें वैदिक याज्ञिक या ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा यज्ञों में सोम के बनाने की विधि के साथ-साथ उसकी तात्त्विक और रहस्यमय दोनों व्याख्यायें साथ-साथ दी हुई मिलती हैं। यह विचारधारा उपनिषदों और गीता तक अटूट और अविछिन्न रूप से बहती चली आई हैं।

अब पहिले याज्ञिकों के सोम को लीजिए। सोम आर्यों को अतीव प्रिय था और अब तक है। संसार की समस्त आर्य जाति—चाहे वह भारतीय वैदिकों की सन्तान हो, चाहे पूर्व मध्ययुग के ईसाई धर्म मानने वाला हो, चाहे परवर्ती मध्ययुग के इस्लाम धर्म का अनुयायी ही—सब इस याज्ञिक सोम को अब तक किसी न किसी रूप में छाती से लगाकर अपनाए हुए हैं। आश्चर्य तो यह है कि उन्हें इसका अभी तक पता तक नहीं है। जैसे ईसाई धर्म में सुरा को परम उच्च और पवित्र स्थान दिया जाता है, ये कहते हैं "God blushed; the wine became red"। बिना इस दैवी सुरा या सोम को अपने कर्मकाण्ड में प्रयुक्त किये उनका कोई संस्कार शुद्ध या पूरा नहीं समझा जाता। उधर इस्लाम धर्म ने खींची गई सुरा के पान का निषेध अवश्य किया है, पर इसने सोम के दूसरे पहलू को स्वीकार किया है। इस्लाम धर्म का रमजान रोजा ईद इसी सोमयाग या दर्शयाग का एक आत्म संस्कारीय अद्भुत यज्ञ है, यह सोम यज्ञ है। हजरत मुहम्मद ने ईसाई धर्म में यह एक उच्चकोटि का सुधार करके इस्लाम धर्म को आध्यात्मिकता का खोल पहिना दिया। यह वैदिक दार्शनिकों की, बहके हुए याज्ञिकों की अनभिज्ञतामयी सुरापान क्रिया पर दूसरी बड़ी भारी बिजय है।

२—याज्ञिक सोम

अब इस याज्ञिक सोम के सभी पहलुवों पर बिचार करलें। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विधि में सोम का प्रतिनिधि बनाने के लिए पाँच वस्तुओं से सुरा या रस का निर्माण किया जाता रहा; वे हैं (१) व्रीहिः (गोधूम) (२) यव (३) दधि (४) शमी (५) करीर। प्रथम तीनों से निर्मित सोम का नाम क्रम से गवाशिरं यवाशिरं और दध्याशिरं था, ये आसव प्रतीत होते हैं। अन्तिम दो को सिलबट्टे में घोटकर पेय बनाया जाता रहा। ये सब नकली सोम हैं, याज्ञिकों के मस्ती के सोम हैं। वेदों और ब्राह्मणों में उक्त सब नाम रहस्यात्मकतया प्रयुक्त हैं। अतः अब सोम की तात्त्विक व्याख्या की ओर चलें, उससे इन नकली सोम बनाने की विधियों की रहस्यात्मकता पर भी प्रकाश पड़ जावेगा।

सोम की व्याख्या, देवता रूप में, कलश रूप में, इन्द्र रूप में, चन्द्रमा रूप

मे, पीयूष रूप में, वर्ण, पर्ण, मणि सुपर्ण रूपों में, शंख, शाला, शिला प्रभिपर्णौरूपों में, अन्नं ब्रह्म रूप में, अग्नि-अग्नि वैश्वानर और वृत्र तथा विष्णु रूपों में नाना प्रकार से दी हुई मिलती है। सोम शब्द की शाब्दिक व्याख्या, सूयते इति सोम, सुतः इति सोमः, सविता प्रसविता इति सोम तो है पर ॐ (ओमा) सह सोम ही सर्वोत्तम हो सकती है। श० प० ब्रा० (३-९-४-२२) ने लिखा है कि 'स्वा प्राण मेरे हों' यह भाव मन में रखकर इसे सोम कहते हैं जैसे "स्वा मे य एवेति' तस्मात्सोमो नाम"। जिन पाँच वस्तुओं से कर्मकांण्ड में अभिनय के लिए नकली –पीने वाला– सोम बनता रहा, उनके नाम वैदिकों ने पारिभाषिक शब्दों के रूप में रखे थे। जैसे

३—सोम की नाना रूपों में व्याख्या और सोम की निरुक्ति

"स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्त इवान्वीयुस्तमन्वविन्दँस्ताविमौ व्रीहियवौ"

(श० प० ब्रा० १-२-१-७)

यह पञ्चपशुओं के क्रम में दिया है। अज तत्त्व पृथिवी में प्रविष्ट हुआ तो व्रीहियव बने। इनमें व्रीहि तो पूर्वार्द्ध का वाचक है, और यव उत्तरार्द्ध का जैसे—

"व्रीहिमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषां रूपम्; अथ यव मयम्
तदृचां रूपं अथ व्रीहिमयं तत्साम्नां रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते ॥"

(श० प० ब्रा० ५-४-७-९)

यहाँ ऋग् पूर्वार्द्ध व्रीहिमय है, यजुः उत्तरार्द्धमय है। साम ऊष्माण उत्तरार्द्धीय हैं। इसका समर्थन निम्न वाक्य करता है।

"वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षु
र्वरुण्यो ह वा अग्रे यवः ॥"

(श० प० ब्रा० २-४-३-१)

मुण्डक उपनिषद् (२) भी इसकी पुष्टि में लिखता है "प्राणापानौ व्रीहि यवौ, तपश्चश्रद्धा, सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥" जिस प्रकार मुण्डक व्रीहियवौ को प्राणापानौ' कहता है उसी प्रकार श० प० ब्रा० (२-४-३-२ में) इन्हें 'प्राणोदानौ' कहता है। केवल ब्राह्मणादिक ग्रन्थों में ही नहीं, स्वयं ऋग्वेद सोम के आशिर या आसव को उषा (२४ वें तत्त्व) से, सिन्धुओं, गंगादि सरस्वती (तृतीय चतुर्थ सप्तक) से, तथा गायत्री के त्रिःसप्त (त्रिपादों) से दुहा गया बतलाते हुए कहता है

"अयं पुनानः उषसो विरोचदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत्।
अयं त्रिःसप्त दु दुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥"

(ऋ. वे. ९-८६-२१)

यहाँ पर इस सोम को लोककृत् पुनानः और या चारु चरु रोचिष्मान् कहकर इसको भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य उदाहरण ये हैं।

"इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च न पिब। अगस्त्या वृषभिः सुतम् ॥"

(ऋ० वे० ३-४२-७)

"यवं यवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परिश्रवः । सोम विश्वा च सौभगा ।।"
(ऋ० वे० ९-५५-१)

"सुषमा यातमद्रिभिर्गोश्रीताः मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे ।
आ राजाना दिविस्पृशास्मत्रा गन्तुमुप नः ॥"
"इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरसोमाः शुक्रा गवाशिरः ।।"
"इम आयात मिन्दवः सोमासो दध्याशिरः सुतासो दध्याशिरः ।।"···
···अस्मत्रागन्तु मुप नो ऽर्वाञ्चा सोम पीतये ।।"
(ऋ० वे० १-१३७-१,२,३,४)

इन सब में सोम की व्याख्या आध्यात्मिक है, व्रीहियवादि शब्द पारिभाषिक हैं जिनसे अभिनय के लिए नकली सोम बनाया जाता रहा ।

अब शमी करीर और दृषदुपले (सिलवट्टे) से सोम बनाने के सम्बन्ध में इन शब्दों की पारिभाषिकता पर भी विचार कर लें । करीर नाम 'कं' ब्रह्म या पूर्वार्द्धीय तत्त्व (कस्मै देवाय हविषा विधेम) का है तथा शम् उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक के आपो देवियों का नाम है। जैसे "तयो रुभयोरेव करीराण्यावति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरै (अङ्गै) रकुरुत कम्बैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते । तयोरुभयोरेव शमी पलाशान्यावति । शं वै प्रजापतिः शमीपलाशै रकुरुत शम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥" (श०प० ब्रा० २-४-३-११,१२, १३)। यह व्रीहियव के सिलसिले में ही कहा गया है । इन करीर और शमी को घोटने के लिए सिलवट्टे का प्रयोग भी पारिभाषिक ही है* जैसे "तत्संज्ञामेतत् दृषदुपलाभ्यां वदति, नेदिग्योऽन्यं हिनसात इति द्यौरेषा रूपेण हनू एव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ।।" (श० श० ब्रा० १-१-२-१७) । शम् ब्रह्म का मन्त्र तो सर्वप्रसिद्ध हैं "शन्नो देवी रभीष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभि स्रवन्तु नः ।" (ऋ० वे० १०-९-४; अथर्व १-६-१, साम १३, यजुः ३६-१२, तै० ब्रा० १-२-१-१; २-५-८-५; तै० आ० २-८-६-३) । वेदों में शम् शब्द का प्रयोग संज्ञा विशेषण क्रियाविशेषण तथा समस्त (शम्भु) रूपों में मिलता हैं । दृषदुपल ही द्यावापृथिवी हैं, और येही ग्रावाण देवता हैं, ये पञ्चपर्वा विद्या के अङ्ग हैं । येही आपोदेवियों के जनक हैं या आपोदेवियों को ही ग्रावाण या अश्मा कहते हैं "अथ यदश्रु संक्षरित मासीत्सोऽश्मा प्रश्निरभवद् अश्रुर्हवै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३) । इन सबका वर्णन ऋ० वे० की निम्न प्रसिद्ध सोमपवमानीय ऋचा एक साथ कर देती है जैसे--

४-घोटने वाला सोम

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम इन्द्रायेन्दो परि स्रव: ।।"
(ऋ० वे० ९-११२-३)

---

* सोमलता और तक्मान् के बारे में आगे दो स्थलों में टिप्पणियाँ दी जा रही हैं उन्हें देखें ।

पहले मैं कवि रूप तृतीय सप्तक त्रिपादामृत था, फिर द्यावा रूप पिता और भिषक् या अत्रि २४ वाँ तत्त्व, फिर दृषदुपल रूप द्यावापृथिवीरूप माता या दुहिता, तदनन्तर नानारूप के वसुयव, व्रीहियव (गा) पृथिवी या भौतिकता के अनुकूल बना। यास्क को इसका ठीक अर्थ नहीं लगा, न लग सकता था (निरुक्त ६-२-२), क्योंकि उन्होंने इनको सामाजिक या पारिवारिक सम्बन्धों में घटित कर दिया है।

सोम के दो मुख्य स्वरूप हैं (१) सर्वादेवता रूप (२) एकदैवत्य रूप। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का वर्णन 'सर्वा देवता' के रूप में किया गया है। यहाँ वह यज्ञ, पुरुष अग्नि विष्णु या ब्रह्म की तरह प्रत्येक सीढ़ी में सोम ही सोम कहा गया है। श० प० ब्रा० (१-५-२-२१) ने इसी लिए सोम को सर्वादेवता घोषित किया है "सोमः सर्वा देवता"। एक दैवत्य सोम उत्तरार्द्धीय प्रथम भौतिकात्मा रूप तत्त्व है। इसे चन्द्र चन्द्रमा या इन्दु नाम से भी पुकारते हैं। वृत्र-हन्ता पुरभिद् सोम, इन्द्र के समान सर्वादेवता है। इस सर्वा देवता स्वरूप सोम की महिमा निम्न ऋचाओं में देखें।

५—दो प्रकार का सोम

"इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भिद्।"

(ऋ० वे० ९-८८-४)

"स भन्दना उदियर्ति प्रजावती विश्वायु विंश्व सुभरा अहर्दिवि ।।"

(ऋ० वे० ९-८६-४१)

"सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ।।"

(ऋ० वे० ९-९६-५)

इस ऋचा में सोम को पवमान तथा द्यावापृथिवी, अग्नि सूर्य चन्द्र और विष्णु का जनक पिता बताया है। यही उसका 'सार्वदैवत्य' है। इसी भाव की जोड़ीदार यह निम्न ऋचा है

"ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृद्धाणां स्वाधितिर्वनानां सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् ।।"

(ऋ० वे० ९-९६-६)

इसमें सोम के नाम प्रत्येक सप्तक में पृथक्-पृथक् विकासानुकूल दिये गये हैं और जिनका इसको पूर्व ऋचा में जनक बताया है उन्हीं के सप्तकों के प्रधानों के नाम सोम सरणि में दिए गए हैं। सोम को वाग्विकास सरणि में इस प्रकार दिया है।

"तिस्रो वाचो ईरयन्ति प्रवह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ।।

(ऋ० वे० ९-९७-३४)

इसमें वाणी के विकासों को सोम के पास वैसे ही जाता बतलाया गया है जैसे गायें (वाग्धेनुएँ) गोपति (सोम) के पास जाती हैं। 'तिस्रः वाचः' पूर्वार्द्धीय त्रिपादीय वाणियाँ हैं। इसी बात को पुनः दूसरी ऋचा दुहराती है

"सोमं गावो धेनवो वावसानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते ॥"

इसमें सोम विकास को त्रिष्टुप् के ११ अक्षरों के पादों से ३३ तत्त्वों में विकसित होने की बात लिखी है। एक स्थूल प्रश्न सामने रखा जाता है जिसे सूर्य, इन्द्र, अग्निः, दिवः, पृथिवी, विष्णु आदि का जनक घोषित किया गया है और ब्रह्म, पदवी, ऋषि, महिष, श्येन, आदि नामों से पुकारा गया है, अहोरात्र निर्माता वृत्रहन्ता, और पूर्भिद् आदि कहा गया है क्या वह सोम, अनाज (व्रीहियवौ) दधि करीर और शमी से निर्मित आसव हो भी सकता है? यह तो कर्मकाण्ड के अभिनय के प्रतीक पारिभाषिक शब्दों का जाल मात्र है जिनका लौकिक अर्थ लौकिक कर्मकाण्ड का काम मात्र चलाने के काम में आता है, यह अब स्वतः स्पष्ट हो गया होगा।

एक दैवत्य सोम का स्थान उत्तरार्द्ध में पड़ता है। यह विधु इन्द्र चन्द्र या चन्द्रमा भी कहलाता है। इसके स्थान के निर्णय के बारे में पुरुष सूक्त के 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' पद की व्याख्या में विस्तारपूर्वक विवेचन दे दिया गया है; वहीं इसका उचित स्थान भी है। यह सोम या चन्द्रमा ब्रह्म के 'द्वे शीर्ष्णे' का द्वितीय शिर है जिससे भौतिक सृष्टि का प्रथमोत्थान प्रारम्भ होता है। इसको गायत्री ब्रह्म में 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा (श्येनो भूत्वा) सोममपाहरत् (या सोममाजहार)' वाक्य तथा (ऋ० वे० ४-२६-७) की

६—एक दैवत्य सोम

"आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धि (गायत्री) रजहादराती मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥"

ऋचा में सोम नामी अमृत लाने वाली गायत्री कहा गया है, गायत्री २४ तत्त्व की है। अतः इसका अभ्युदय २५ वें से २६ वें में होता है, २५ वाँ श्येन या सूर्य है २६ वाँ सुपर्ण। सुपर्ण को श्येन का पुत्र कहा गया है जैसे

"यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः ॥"

(ऋ० वे० १०-१४४-४)

इसमें सूर्य रूप श्येन से परावतः दक्षिणायन के वासी सुपर्ण को पुत्र कहा है। इसका समर्थन 'श्येनो गृद्धाणां' पद (ऋ० वे० ९-९६-६) पूर्वोद्धृत भी करता है। सुपर्ण गृद्ध है उनमें सोमः सर्वा देवता श्येन है। इसी बात का समर्थन पुनः

"सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणमेषामुपस्थे सोम आहितः ॥"

(ऋ० वे० १-८५-२)

में है। आदित्य और पृथिवी वाला सोम उत्तरार्द्ध का ही है। क्योंकि यहाँ पर इसको नक्षत्रों का मध्यवर्ती (उपस्थे) बतलाया है। नक्षत्रों का मध्यवर्ती सोम कैसे है यह 'नक्षत्र विद्या से तत्त्व गणना' तथा पुरुष सूक्त के श्रीश्चते लक्ष्मी······पार्श्वेनक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' मन्त्र की व्याख्या में दे दिया गया है। यह वही मध्यविन्दु है जिसको नासदीय सूक्त 'सतो बन्धमसति निरविन्दन्' (१०-१२९-४) वाक्य से पूर्वार्द्ध की असत् या आध्यात्मिक सृष्टि का सेतुबन्ध उत्तरार्द्ध की इस सोम नामी भौतिक (सद्) सृष्टि से होने की बात करता है। यह सोम, शरीर या तनु कहलाता है। अतः (ऋ० वे० १०-५९-७) में लिखा है "पुनर्नः सोमस्तन्वं यातु"। यह शरीरी सोम, इन्दु या विन्दु-विन्दु रूप से टपक कर इन्दु नाम से पुकारा जाता है। यह रस स्रवण दो प्रकार से वर्णित किया गया है, (१) रेतो रूप या शुक्र रूप में (२) सूर्य चन्द्र को पुरुष की दो आँखें मानते हुए चन्द्र रूप आँख को फूटी मानकर तथा उस फूटी आँख से निरन्तर अश्रु रस चूते रहने के रूप में। जैसे

"स सप्तधीतिभिर्हितो नद्योअजिन्वदद्रुहः।
या एकमक्षि वावृधुः॥" (ऋ० वे० ९-९-४)

"बृहत्तत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः।" (ऋ० वे० ९-९७-४०)

"प्र तद्वोचेमं भव्यान्दवे हव्यो न य इषवान्मम रेजति।
स्वयं यो अस्मदानिदो वधैरजेत दुर्मतिम्॥
अवस्रवेदघशंसोऽवतरम्।
अव क्षुद्रमिव स्रवेत्॥"
(ऋ० वे० १-१२९-६)

इन्हीं टपकती बूदों को पितर और देवता पीते हैं जैसे

"यस्त्वा देव प्रपिबन्ति ततः आप्यायसे पुनः।
वायु सोमस्य रक्षिता समानमास आकृतिः॥" (ऋ० वे० १०-८५-५)

"नवो-नवो भवति जायमानोऽह्नां केतु रुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्योः विदधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥"
(१०-८५-१९)

इसका स्पष्ट आख्यान श० प० ब्रा० (७-१-२-७) देता है

"द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्यशेत
स चन्द्रमा तस्य मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत्॥"

इस प्रस्रवणीय इन्दु का स्थान चतुर्थ सप्तक बतलाने वाली कई अन्य ऋचायें मिलती हैं जैसे—

"शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोम पवित्रमत्येति रेभन्॥
ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥

चमूषच्छ्येन शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥"
(ऋ० वे० ९-९६-१७, १८, १९)

इसमें सर्वादेवता सोम के साथ-साथ ऐन्दवी या चान्द्रमस सोम को महिष तथा चमूसुत या उत्तरार्द्धवासी (चमू=अर्द्ध पटल चतुर्थ सप्तक और समुद्र साम के तुरीय या चतुर्थ साम या चतुर्थ सप्तक वाली बतलाया है। यहाँ लिखा है कि विराट् छन्द से जब पञ्चपर्वा विद्या के विभाग करते हैं तो इसका स्थान तृतीय पंचक होता है। यही तृतीय धाम है। जब अनुष्टुप् या गायत्री छन्द से पाद रूप में गणना करते हैं तब सोम का स्थान चतुर्थ पाद होता है। इन्दु या चन्द्रमा रसमय होते हुए भी अग्नि-रूप या विद्युद्रूप है और इस रूप में उक्त महिष नाम भी अग्नि का ही है। महिष नाम की व्युत्पत्ति यह है 'महीषु षड्वींषु षदतीति महिषः' या 'महसि महर्लोके जात महिषः' इसी को वराह नाम से भी पुकारते हैं। यही वराह रूप चन्द्र या महिष रूप सोम, पृथिवी या भौतिकात्मा का उन्नायक है

"प्रकाव्य मुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचि बन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥"
(ऋ० वे० ९-९७-७)

इसको चमूषद् वासी कहने के स्थान में चमू सुत भी कहा है 'इन्द्र सोमं पिव मधुमन्तं चमूसुतं" (१०-२४-१)। इसका नाम दाक्षाय्य अर्यमा भी है, दक्ष २४ वाँ तत्त्व है, अतः दाक्षाय्य या दाक्षाय्यी कहलाता है।

"दाक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम" (ऋ० वे० ९-८८-८)

यह सोम, पितृसम्बन्धी विवक्षा में अर्यमा आदित्य कहलाता है, अतः, पिता कहलाता है "पितृणामर्यमा चास्मि" (गी० १०-२९) इसीलिए पितरों को सोमपा पितर भी कहते हैं। इस सोम नामी इन्दु या चन्द्र का अभिनय विवाह संस्कार में

"अथ वरं वृणीते बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य होमं" इत्यादि
(श० प० ब्रा० ४-१-१-२१ से २५)

से किया जाता है। क्योंकि यह विष्णु है, अर्द्धनारीश्वर है, यहाँ वर-वधू के संयोग से अर्द्धनारीश्वर पूर्ण किया जाता है। इस इन्दु या चन्द्रमा का स्वरूप भौतिक है, अतः मरणधर्मा या परिवर्तन शील है। इसलिए कहा है कि जो पूर्वार्द्ध में (कल=ह्यः) अमृत था वह यहाँ उत्तरार्द्ध में आकर युवा होते हुए भी मृत्युधर्मा या क्षीण होने वाला बन गया है जैसे

"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥"
(ऋ० वे० १०-५५-५)

यह चन्द्र भौतिक है रसमय है स्वयं प्रकाशित है, फिर भी इसमें अपना वैसा प्रकाश नहीं है जैसा कि पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतीय तत्त्वों का, या उनके निचोड़ या

पूर्ण विकासीय २५ वें तत्त्व सूर्य का। अतः इसे वही सूर्य या इन्द्र या सोम पूर्ण प्रकाशित किये रहता है। यह स्फटिक शिला या आयने के समान है उसमें सूर्यादि प्रतिबिम्बित होकर इसे दूर से प्रकाशित करते हैं जैसे

"एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका॥"

(ऋ० वे० ८-७७-४)

पूर्ण इन्द्र ३२ वें में होता है, वह सोम के ३० सरों को या ३० तत्त्वों का पान करके पूर्ण कान्तिमान् बनता है तब सोम को भी कान्ति देता है। अतः कहा है कि इन्द्रः, सोम का या चन्द्र का कान्तिदायक है, सोम की कान्ति, सूर्य या इन्द्र की है

"यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति" "यथा देवा अंशुमाप्यायन्ति"

ये तीस तत्त्वों के ३० सरोवर हैं। (तै० ब्रा० २-४-१४-१)। ये तात्त्विक सूर्य चन्द्र हैं, लौकिक या खगोलीय नहीं।

इस इन्दु को रसमय, बूँद-बूँद टपकने वाला तो कहा है। पर इसे एक दूसरे प्रसिद्ध नाम से पुकारा जाता है। वह नाम इन्द्रिय है। इस इन्दु चन्द्र या सोम को इन्द्र की 'इन्द्रिय' कहा गया है जैसे

७—चन्द्र या इन्दु रूप सोम

"इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्येष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय॥"

(यजु० ९-४०, १०-१८)

बस जो कोई इस 'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ को बताने जाता है उसकी पहुँच पञ्चज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों से बाहर जा ही नहीं सकती। क्योंकि मध्ययुग से यह शब्द उक्त विषयों में प्रौढ़तया रूढ़ि बन गया है। पर वैदिक साहित्य में इन्द्रिय शब्द का अर्थ ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों में कोई इन्द्रिय, कदापि भी है ही नहीं। वेदों में 'इन्द्रिय' शब्द का सीधा अर्थ 'रस' है। यह इन्दु या चन्द्र या सोम, इन्द्र का इन्द्रिय या रस है जिसे वह पीता है। इस अर्थ का प्रमाण निम्न ऋचाओं में स्वयं ऋग्वेद में मिलता है।

"सोमो अर्वति धर्णसि दधान इन्द्रियं रसम्।
सुवीरो अभि शस्तिपाः॥"

(ऋ० वे० ९-२३-५)

"मत्सर इन्द्रियो रसः।" (ऋ० वे० ९-९६-१०)

"इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसम्।" (श० प० ब्रा० १२-७-३-१)

"आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत्।
उक्थं यदस्य जायते॥"

(ऋ० वे० ९-४७-३)

जिसे रस या 'रसो वै सः' कहते हैं उसी को चरु, चारु, मत्सरः या रेतः या शुक्रः नाम से भी पुकारते हैं। जैसे

"तच्चक्षुर्देव हितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥"
(ऋ० वे० ७-६६-१६ यजु० ३६-२४ तै० आ० ४-४-२-५)

इस शुक्र को श० प० ब्रा० (४-१-६-१) ने चन्द्रमा ही बतलाया है "तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव"। इस शुक्र रूप चन्द्रमा या सोम का जन्म उक्त ऋचा में चक्षु नामक सूर्य २५ वें तत्त्व से बतलाया है जिसका समर्थन पुनः निम्न ऋचायें करती हैं

"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीश्चन्द्रं द्विपदे चतुष्पदे।"
(ऋ० वे० ९-९६-१०)

"भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि" (ऋ० वे० ९-१०८-१०)

इसी रस से अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिक रचना होती है। अतः इस सूर्य और चन्द्रमा को धाता और विधाता कहा गया है

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीमन्तरिक्षमथो स्वः॥"
(ऋ० वे० १०-१९०-३ तै० आ० १०-१-१४)

अतः अन्यत्र इनको जगत् की आत्मा और प्रजापति कहा है "इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः।" (ऋ० वे० ९-५-९)। इसीलिए ऐ० ब्रा० (२-५-४१) इस चन्द्रमा को ब्रह्म और श० प० ब्रा० (१४-३-२-११) सब देवताओं की आत्मा कहता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्म' 'चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा'। इसी को सोम नाम से देवताओं की 'हवि' नाम से भी पुकारा जाता है 'सोमो वै देवानां हविः' (श० प० ब्रा० ४-४-४-१)। इसी को हिरण्यगर्भीय सूक्त 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' और पुरुष सूक्त 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' कहते हैं। यही सोम विष्णु भी है सविता प्रसविता भी है "यो वै विष्णुः सोमः सः' (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९)। विष्णु इसी चन्द्र के रस सागर का शायी है। उपनिषदों में इसी सोम को "अन्नं ब्रह्म' नाम से पुकारते हैं*। अन्न नाम अखण्ड और अदिति से उत्पन्न अत्ता अन्नाद वाक् नामक तत्त्व का है। जो रस स्रवित होता है उस रस का नाम ही अन्न या यज्ञ भी है, और उस अन्न रूप में ही रस टपकता है जैसे

अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्राह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।" इत्यादि
(यजु० १९-७५)

---

* 'यज्ञो हि देवानामन्नं' (श० प० ब्रा० ५-१-१-२) 'अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वं अन्नं च' (श० प० ब्रा० १-५-२-१७; ११-१-६-१६) पुरुष सूक्त में 'पुरुषएवेदं सर्वं' 'यदन्नेनाति रोहति' मन्त्र में अन्नेन माने सोमेन या यज्ञेन है न कि खाने के अन्न से।

'मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत्' (पहिले लिखा जा चुका है (श० प० ब्रा० ७-१-२-८) । इस रस टपकने को कोई तो 'पर्जन्य' नाम से पुकारता है कोई वृष्टि। इस वृष्टि का स्वरूप विद्युत्प्रवाह है । 'सोमात्पर्जन्यः पर्जन्याद्वृष्टिः' (मुण्डक) 'आदित्या द्वै चन्द्रमा जायते चन्द्रतो वृष्टिर्वृष्टिर्विद्युत्' (ऐ० ब्रा० ८-५-२८) 'वृष्टिं दिवः पवस्व-रीति मपां जिन्वा गविष्ठये धिया' (ऋ० वे० ९-१०८-१०)

"दिवो न विद्युत्स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा ।"

(ऋ० वे० ९-८७-८)

"शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि ।।"

(ऋ० वे० ९-४१-३)

यह विद्युद्रूपीय वृष्टि ही दूसरी शैली में अग्निर्वैश्वानर कहलाता है जो वृत्र की चिता बनाया गया ।

"पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ।।" (ऋ० वे० ९-६१-१६)

जिसमें तमोरूप वृत्र की चिता क्या लगाई, पुनः प्रकाश आ गया, अन्धकार का मिटना ही वृत्रवध है ।

"पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जंघनत् ।।
पवमानस्य जङ्घ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत । जीरा अजिरा शोचिषः ।।"

(९-६६-२४,२५; ९-१०७) और उद्धरण ९-६५-२४, ९-१०६-९,९-१०८-१० में देखें)

यहाँ पर जिसे 'कृष्णा तमांसि' कहा है, उसी का नाम अन्यत्र वृत्र दे रखा है जैसे

"अतिष्ठन्तीना मनिवेशानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ।।"

(ऋ० वे० १-३२-१०)

इसमें भी रस टपकता है जैसे

"दास पत्नी रहिगोपा······अपां विलमपिहितमासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥"

(ऋ० वे० १-३२-११)

यह वृत्र सोम का आसुर्य या भौतिक भाग है, इसे आसुरी प्रवृत्ति मूलक भाग कहते हैं, इसका दैवी प्रवृत्ति मूलक भाग चन्द्रमा कहलाता है जैसा कि श० प० ब्रा० (१-५-२-१२) ने लिखा है कि जब इन्द्र से वृत्र को मारना चाहा तो वृत्र ने कहा मुझे मार कर तुम स्वयं सत्ता में नहीं रह सकते। तब उसने उसके दो भाग किये, दैवी भाग सोम या चन्द्रमा बना, आसुरी भाग से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड । चन्द्रमा उस भौतिक ब्रह्माण्ड की आत्मा या या देहात्मा है। जैसे "स होवाच मानु मे प्राहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव, माकुरु मामुया भूवमिति स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधाभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदासुर्यमास तेनेमाः

प्रजाः । उदरेणाविध्यत्तदाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नादः······यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्या एवेतद् वृत्रायोदराम बलिं हरन्ति···।।" इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में अशनाया और अनशनाया का जो वर्णन आता है वह चन्द्रमा और वृत्र का है, चन्द्रमा अनशनाया है, वृत्र अशनाया, यही अनश्नन और अश्नन् दो सुपर्ण 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाय' के हैं। त्रिपादामृत या पञ्चात्मायें अनश्नन् या निराहार है। ये स्वयं पुष्ट हैं खाने की आवश्यकता नहीं रखते। आसुर्य शरीरी भाग बिना अशन के नहीं रह सकता। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम को वृत्र, वृत्र को सोम और विष्णु नाम से घोषित किया है जैसे 'वृत्रो वै सोम आसीद्' (श० प० ब्रा० ४-१-४-७) 'वृत्रो यश्चन्द्रमा अस्यैष भ्रातृव्य जन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितो अस्य एनमेता तां रात्रिमुपैव न्याप्लवते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते ।।" (श० प० ब्रा० १-५-३-१८)

"अथाब्रवी वृत्र मिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ।"

(ऋ० वे० ४-१८-११)

अतः सोम नाम तो चन्द्रमा और वृत्र दोनों का है, पर चन्द्रमा सोम और वृत्र की आत्मा या दैवी शक्ति है। सोम से चन्द्रमा का इसलिए बड़ा महत्त्व है। चन्द्रमा को इसीलिए सोम या वृत्र का सौम्य भाग या 'चन्द्रो वै देवानामात्मा' कहते हैं; वृत्रं या सोम (सर्वदिवता) इस चन्द्रात्मा का भौतिक शरीर है। चन्द्रमा भौतिकात्मा है, वृत्र भौतिक शरीर।

८—सोम और अश्व

वर्ण रूप वर्णना में चन्द्रमा विश और सोम क्षत्र तत्त्व है, वृत्र दास या शूद्र वर्ण है पर पशु रूप वर्णना में इन दोनों को सोम कहने के बजाय अश्वः, दधिक्रा, वृषभः नाम से पुकारा जाता है तो आदित्य रूप वर्णना में 'गौः'। वेदों में जो रेतः या रजः नामक रस का वर्णन आता है वह इन्हीं पशुओं के रेतः रजः या बीज (वीर्य) रूप में किया गया है। चन्द्रमा या सोम को जब प्रजापति कहते हैं* तब भी उनके रेतः या रजः की वर्णना की जाती है। वृत्र सविता सोम चन्द्र अश्व गो वृषभ आदि वर्तमान या वृणोतीति आवरण धर्मा हैं। अतः 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' 'स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम' (श० प० ब्रा० १-५-२-९) कहा है, यह अपाद् था अतः अहिः (वृत्र) कहलाया, दनु दनायु ने पाला तब दानव भी कहलाया (वहीं)। अश्व नाम प्राणों का है यहाँ अपान प्राण का। इसकी व्याख्या दधिक्रा और अश्वमेध तथा 'सु असु श्व अश्व' आदि शीर्षकों में की जा चुकी है। इस अश्व की महिमा बृह० उप० के प्रारम्भिक परिच्छेद में भी दी गई है। ऋ० वे० १-१६३ तथा ४-४० में भी विस्तार पूर्वक वर्णित है। यह अश्व या दधिक्रा, सवारी का घोड़ा नहीं है। पर यह अश्व, त्रिपादामृत का वाहन रूप प्रथम भौतिकात्मा या भौतिक शरीर है, वृषभ भी

* 'सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्-प्रजापतिर्वै सुपर्णो (सोमः) गरुत्मानेष सविता'

(श० प० ब्रा० १०-२-१-४)

'चण्द्रमा वै प्रजापतिः' कई बार कहा गया है, उद्धृत किया जा चुका है।

इसी वाहन रूप में वर्णित है। सभी देवताओं को वृषभ नाम से पुकारा गया है, 'वृषभ' शीर्षक देखें। और प्राण रूप में भी सभी देवताओं का वर्णन आता है। ये अश्व रूप वर्णन हैं जैसे

"अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मां नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः काम्पिलवासिनीम्॥" (यजुः)

प्रसिद्ध मन्त्र का अश्वक तो त्रिपादामृतीय अश्व है। यह काम्पिलवासिनी लक्ष्मीः के पास सोया हुआ बतलाती है। उस भौतिक शरीर की वह स्त्री ईर्ष्या या लिप्सा करती है। जब केशव रूप में या अर्द्धनारीश्वर रूप में वर्णना की जाती है तो पूर्वार्द्ध पुरुष है उत्तरार्द्ध स्त्री जिनके जोड़े को द्यावापृथिवी नाम से पुकारा जाता है, इनके रेतः को भी रजः या रस नाम से पुकारा जाता है। इस जोड़े को पिता-पुत्री, पितामाता नाम से भी पुकारा गया है।

'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' 'समातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेशः' (दोनों १-१६४-३२,३३)

वैदिक आर्य यज्ञ में प्रयुक्त घोड़े के पुजारी कदापि नहीं थे। वे इसे त्रिपादामृत के वाहन रूप अश्व का प्रतीक बनाकर आत्मरञ्जन तथा मनोरञ्जन दोनों कार्य सम्पादित करने के साथ-साथ कर्मकाण्ड विधि में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा वेदों की रक्षा करना चाहते थे। यास्क ने निरुक्त (९-१-१,२,३) में बड़े आश्चर्य की बात कही है। वे यहाँ जिस मन्त्र को देकर अश्व का वर्णन कर रहे हैं वह तो इस 'इन्दु' या चन्द्रमा को अश्व या प्राणरूप भौतिक शरीरी वाहन कहकर, इन्दु या चन्द्रमा या सोम का वर्णन देता है। इसे वे अश्व या घोड़े का मन्त्र समझ बैठे हैं, यह गलत है। यह मन्त्र नवम मण्डल के पवमानीय सोम के सूक्तो में से (९-११२-४) एक है। जैसे

"अश्वो वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिवान् मण्डूक इच्छति इन्द्रायेन्दो ! परिस्रव* ॥"
(ऋ० वे० ९-११२-४)

इस मन्त्र में सम्बोधन 'इन्दु' के लिए है (हे इन्दो !) और इसको रसमय रस स्रावक कहने के स्थान में वारिन् या जलमय दूसरा सम्बोधन किया है (हे वारिन्=वारिवन्=जलमय रसमय)। अतः इस रसमय इन्दु को जलमय जीव 'मण्डूक' नाम से भी पुकारा है। वारिन् शब्द में वृणोतीति 'आवरण धर्मा' अर्थ की ध्वनि भी है। "सेदं सर्व माप्नोद्यदिदं किञ्च यदाप्नोत्तस्मादापो, यदवृणोत्तस्माद्वाः" (श० प० ब्रा० ६-१-१-९) और 'यन्मण्डयति स मण्डूकः' जो त्रिपादामृत को शरीर से भौतिकात्मा से मण्डित करता है वही मण्डूक है (मेढक नहीं जैसा कि लौकिक व्याख्याता समझते हैं)। ये सब अश्वरूप या प्राणरूप में हैं, भौतिक प्राण रूप शरीर से त्रिपादा-

* यास्क ने इसका भाव और अर्थ और सन्दर्भ उचित नहीं दिया है।

मृत का बोझा ढोते हैं, या चन्द्रमा रूप रथ में भौतिकाशरीर (वृत्र) रूप अश्व, त्रिपादामृत को आनन्द से, खींचते हैं, (इस जीवन की गाड़ी को सब आनन्द से खींचते हैं मरना कोई नहीं चाहता) 'हसनामुपमन्त्रिणः' हसन रूप उपमन्त्री चन्द्रमा है वही रथ है। हसन नाम ज्योतिष्मान् हासमान प्रसन्न मुख चन्द्र का है। अतः इन्दु से प्रार्थना की जा रही है कि तुम उस रूप को (शेपः) प्राप्त हो जावो जिससे 'रोमण्वन्तौ भेदौ' या रोमश या लोमशः (सहस्राक्षरीय) दो भेद पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कामना पूरी हो जावे (इच्छति)। यहाँ पर बलि के घोड़े की चर्चा कहाँ है ? यहाँ तो चन्द्रमा की इन्दु रूप में प्रार्थना है।

सोमलता सोमओषधि सोमपर्वत, सोमनदी सोमसागर

सोम तो सर्वादेवता या सर्वासर्वे तत्त्व है, अतः इसकी वर्णना सैकड़ों ढंग से की गई है। बताया जा चुका है कि सोम तत्त्व के उक्त प्रकार के रस स्रवण या अस्र स्रवण या अश्रु स्रवण को ही 'अश्म' (स्फटिकशिला) नाम से पुकारते हैं (श० प० ब्रा० ६-१-२-३)। यह सोम की पञ्चपर्वा विद्या के रूप में व्याख्या देता है। प्रत्येक तत्त्व एक एक पर्व है, उससे जो सप्तक या दशक बनते हैं उन्हें पर्वत कहते हैं (पञ्चपर्वा विद्या' देखें)। इस सोम रूपी प्रत्येक पर्व के अश्म से सोमीय पर्वत बनने का उल्लेख प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलता है उदाहरण के लिए कुछ ये हैं।

९—सोम और पञ्च पर्वा विद्या

"अतः समुद्रा गिरयोऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः"

(मुण्डक उप० २) "देवो वै सोमः दिवि वै सोमः, तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशानामोषधिर्जायते॥" (श० प० ब्रा० ३-३-४-१३)। ये अश्म, पर्वत और समुद्र तथा नदियाँ उस सोम की हैं जो सर्वादेवता है। एक दैवत्य सोम का चतुर्थ अश्म, पर्वत समुद्र और नदी है। ऋ० वे० ने इन पर्वों या पर्वतों का उल्लेख इस प्रकार किया है

"चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः"
(ऋ० वे० १०-८९-७)

"पर्वशश्चकर्तगवामसि" (ऋ० वे० १०-८९-६)

"त्रिःसप्तसानुः संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२)

(शेष पञ्चपर्वा विद्या में देखें)।

इन पर्वतों या पर्वों का सम्बन्ध बृहस्पति, इन्द्र और सोम से है। कहने का तात्पर्य यह है कि सप्तपर्वतः सप्तनद्यः सप्तसागरा या पञ्चपर्वता पञ्चनद्यः और पञ्चसागराः, पञ्चवृक्षा ये सब रसमय सोम आदि ब्रह्मों के विकास हैं। एक दैवत्य का चतुर्थ या तृतीय पर्वत आदि है जैसे 'समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति' 'तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्।" यहां अनुष्टुप् से चौथेपाद में तथा विराट् से तृतीयपाद में इस एक देवत्य सोम का

स्थान पड़ता बतलाया गया है। (ऋ० वे० ९-९६-१९-१८) रसमय सोम ब्रह्म की व्याख्या इन्हीं नदी और सागर रूपों में की जा सकती है। ग्रावाणदेवता, अश्म या पर्वतों के अंग हैं। पर्वतों से ओषधि रूप सोम की व्याख्या की जाती है। ऋ० वे० १०-९७ में इनका सुन्दर वर्णन है। बृहस्पति भी पर्व या पर्वत भेत्ता है। अतः उन पर्वतों से ओषधियों का प्रसव बताया है। ओषधि माने जड़ी-बूटी घास-फूस नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध 'उषा' से है। 'उषसा भवं ओषम्', 'ओषं दधातीति ओषधिः'। सोम सूक्त १०-११९-१० में 'ओषम्' शब्द आया है। इस व्युत्पत्ति को न जानने के कारण इसका भाव किसी की समझ में नहीं आया है। एक दैवत्य सोम का जन्म उषा काल २४ वें से प्रारम्भ होता है, अतः उसे ओषं कहते हैं, उसी ओष रूप सौम्य भाग को धारण करने वाले पर्वत नदी समुद्र रूप आसुर्य भाग 'ओषधिः' कहलाते हैं। यहाँ पृथिवीं या चतुर्थ सप्तक को ही उक्त ऋचा 'ओषम्' नाम से पुकार रही है। ये ओषधियाँ भी रसमय ब्रह्म स्वरूपिणियाँ हैं। 'कारु रहं ततो भिषक्' ऋचा में इसी रसमय ब्रह्म की भिषग्रूपता है। सोम भिषग् है तो उसका रस ओषधि है। हमारा शरीर या अखिल ब्रह्माण्ड स्वयं भिषग् और स्वयं ओषधि है (ओषधिः और रुद्र उषा शीर्षक देखें)। एक दैवत्य सोम का स्थान चतुर्थ सप्तक है, इसका नाम रसमय होने के कारण नृषद् नरषद् या जलषद् या 'समुद्र' है आपः सागर है। इसे नारायण या जलायन भी कहते हैं। नारायण शब्द की व्याख्या में मनु ने भी 'आपो नारा इति प्रोक्ता' इत्यादि लिखा है। उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त ऋ० वे० ९-९६-१९ में 'समुद्रे क्षियन्तं भुज्यं' लिखा है जिसकी व्याख्या में श० प० ब्रा० (९-४-१-११) ने 'भुज्युः' माने सुपर्ण सोम दिया है ('भुज्युः सुपर्णः') इसका समर्थन अथर्व ४-२-५ और ४-३-१ तथा ऋ० वे० १०-१४-१ करते हैं। इस सप्तक का नाम 'अब्जा' (ऋ० वे० ४-४०-५) भी है जिसका अर्थ वही नारायण, समुद्र, आपोमय सागर है। यह सब सोम के या इन्दु के रस के सागर हैं। वेदों में सोम रूप पर्वत में, सोम नामी लता को सोम ओषधि कहा है। तब सोम पर्वत को मूजवान् या मौजवत नाम से और सोम को लता नाम से पुकारते हैं। अथर्व ने इसका उद्भव गान्धार, अङ्ग (विहार) मगध में भी बतलाया है। यह लौकिक सोम लता है। इसके सेवन के बाद द्यूतक्रीड़ा का वर्णन दार्शनिक पहेली में दिया गया है (गावः कितवः अक्षा देखें)। ऋ० वे० १०-३४ सूक्त में इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है जैसे

"प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥" इत्यादि
(ऋ० वे० १०-३४-१)

और अथर्ववेद ५-२२-१४ में तक्मा का वर्णन देते हुए तथा सोम को तक्मा बताते हुए इसका समर्थन मिलता है जैसे

"गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि॥" इत्यादि

इन वर्णनों में सोमपान या सोमप्राप्ति या आनन्द प्राप्ति का वर्णन, लौकिक सोमलतारस के नशे की मस्ती के रूप में वर्णित किया गया है। यही रहस्य ऋग्वेद के मन्त्र में उद्धृत है।

अखिल ब्रह्माण्ड सोमरस भरा बृहत्कलश है जिसको ब्रह्म या ब्रह्मणस्पति पीता है या पाता है। इसकी व्युत्पत्ति पहिले दी जा चुकी है धाता-विधाता देखें प्रत्येक व्यक्ति वस्तु पदार्थ गोल आदि भी एक-एक सोमरस भरा घट है। या यह सब बृहद्वस्त्र का थान है, उससे छटे कटे कटाये गुडियों के समान छोटे कपड़े हैं। इन दोनों प्रकार की वर्णना इसी रसमय सोमब्रह्म से की गई है। हमारे दर्शनों में जो महावरा 'घट-पट' या 'घट-घट वासी' इत्यादि अब तक प्रचलित है वह मध्ययुग का नहीं है, यह भाव वैदिक है, शब्द भी वैदिक है, अब कैंचुली रह गई है। भावरूप साँप भग गया है। घट या कलश नाम भौतिक शरीर का है, जिसका निर्माण सोमरस के ताने-बानों को बुन-बुन कर, इतने ठोस तथा इतने जटिल रूप में पाया जाता है। बुनने वाले ऋषि पितर पुरुष यज्ञ या मातरः (आपः पृथिवी, उषा) हैं। इनका वर्णन 'देवा यद्यज्ञं तन्वाना' पुरुक्त सूक्त १५ तथा दाशराज्ञ युद्ध में किया गया है (वही देखें)। यह कलश 'त्रिवृतं सप्त तन्तुम्' (ऋ० वे० १०-१२४-९१) है और यह

१०—सोम और कलश

"स सूर्यस्य" (२५ वें तत्त्व के) रश्मिभिः (तन्तुभिः) परिव्यत (बुनता है) तन्तुं तन्वानः त्रिवृतं यथाविदे। नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसी पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतिम् ॥" (ऋ० वे० ९-८६-३२)

"वत्से बष्कये अधिसप्ततन्तून्विततिनरे ओतवा उ"

(ऋ० वे० १-१६४-५)

इत्यादि ऋचाओं की सरणि से बुना गया है। यह अखिल ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर है, जिसे कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। पवमानीय सोम के वर्णन वाले नवम मण्डल में इस सोमरस के कलश की महिमा अनेक बार गाई गई है, वे इसको दुहराते-दुहराते भी थकते ही नहीं, इतना प्यारा और मीठा रस है इस कलश में जैसे

"इन्द्रस्य सख्यं पवते विवेदित्सोमः पुनानः कलशेषु सीदति"

(ऋ० वे० ९-८६-९)

'सत्ता नियोना कलशेषु सीदति' (९-८६-६)

'सोमः कलशे शतयाम्ना पथा' (९-८६-१६)

'पवस्य सोम दिब्येषु धामसु सृजान इन्दो कलशे पवित्र आ' (९-८६-२२)

'सुवानः सोमः कलशेषु सीदति' (९-८६-४७)

'सोम पुनानः कलशेषु सत्ता' (९-९६-२३)

'प्रास्यधारा बृहती रसृग्रन्नक्तो गोभिः कलशाँ अविवेश' (९-९६-२२)

'हरिरानीतः पुरुवारो अप्स्वचिक्रदत्कलशे देवयानम्' (९-९६-२४)

'अन्यं मृजन्ति कलशे दशक्षिपः प्र विप्राणां मतयो वाच ईरते' (९-८५-७)

'अवद्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमानः कोष आ हिरण्मये' (९-७५।३)

'अयं दिव इयर्ति विश्वमा रजः सोमः पुनानः कलशेषु सीदति'
(९-८६-९)

'परि प्र सोम ते रसोऽसर्जि कलशे सुतः। श्येनो न तक्तो अर्षति'
(९-६७-१५)

'आ कलशा अनूषतेन्दो धाराभिरोजसा। ऐन्द्रस्य पीतये विश'
(९-६५-२४)

'आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नाभिश्रियः' (९-६२-१९)

'दधान कलशे रसम्' (९-६३-१३)

'यः सोमः कलशेस्वाँ अन्तः पवित्रः आहितः। तस्मिन्परिषस्वजे'
(९-१२-५)

'आ कलशेषु धावति पवित्रे परिषिच्यते। उक्थैर्यज्ञेषु वर्द्धते' (९-१७-४)

'स शुष्मी कलशेषु आ पुनानो अचिक्रदत्। मदेषु सर्वधा असि॥'
(९-१८-७)

अमृत का नाम जगत् की सभी भाषाओं में मिलता है। पुरुष सूक्त में 'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' वाक्य पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व वाले गायत्री ब्रह्म या गायत्र पुरुष (पशु) को द्यावा (पूर्वार्द्ध) में उत्पन्न अमृत कहता है। यह अमर

११ – सोम और अमृत तो है ही, पर रस रूप का अमृत तो यही सोम रस है। इसका प्रमाण ऋ० वे० (९-१०९ ३) की ऋचा

"एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष, दिव्यः पीयूषः"

है। यह सोमामृत रस, शुक्र नाम से भी पुकारा गया है जैसा कि 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' इत्यादि पूर्व उद्धृत प्रमाणों से सिद्ध है, और अर्ष या ऋषियों (सप्तमहर्षियों या प्रत्येक सप्तक में प्रथम तत्त्वों से निकला है ('ऋषय' शीर्षक देखें) तथा यही दिव्य या द्यावा से उद्धृत पीयूष है, यही महः रूप चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व है। 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सधमप्रमादम्' इत्यादि मन्त्र के जिन ऋषियों को शरीर में सुनिहित बताया है वे इसी अमृत को बनाने वाले सप्तर्षि रूप तत्त्व हैं। इस सोमामृत के कलश या शरीर या दिव्यशरीर के सम्बन्ध में पुराणों में जो तीन कथायें मिलती हैं उनका आधार भी यही वैदिक दर्शन की शैली है। गरुड़ का अमृत कलश लाने की कथा का भौतिक आधार यह ऋचा है

"आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥"
(ऋ० वे० ४-२६-७)

इस मन्त्र की पुरन्धि स्त्री पुराणों की मोहिनी अवतार है और वैदिकों की गायत्री नामक सुपर्ण है जिसके आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों ने बार-बार घोषित करते हुए लिखा है "गायत्री श्येनो भूत्वा सोममाजहार" इत्यादि; गायत्री ब्रह्म में इसकी पूरी-पूरी कथायें दे दी गई हैं (वहीं देखें)। धन्वन्तरि के अमृत कलश लाने की कथा का आधार ओषधि रूप सोम या अमृत का भिषग् सोम से निर्माण बतलाने वाली वह प्रसिद्ध ऋचा है जिसे 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' इत्यादि (ऋ० वे० ९-११२-३) देती है। धन्वन्तरि तो भिषग् सोम है, सर्वादेवता है, अमृत कलश एक दैवत्य इन्दु चन्द्र या सौम्य रूप ओषधि के रस से भरा है। एक दैवत्य सोमामृत का भिषग् या धन्वन्तरि अत्रि ऋषि २४ वाँ तत्त्व है।

देवताओं या इन्द्र का सोमपान करना एक अद्भुत रहस्य को बतलाता है। इन्द्रादि देवता सोम रूप भौतिकात्मा की दैवी शक्ति रूप चन्द्र स्वरूपी अमृतमय भौतिक तत्त्व को धारण करते या दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं तो उनका सोमपान कहलाता है। पितरों का सोमपान भी इसी चन्द्र रूप भौतिकात्मा के दैवी रूप चन्द्रामृत का पान भी दिव्यशरीर को पा जाना है। यह रसमय तत्त्व है, अतः इसे सोमपान या रसपान या अमृतपान कहते हैं। यह सृष्टि प्रक्रिया में होता है। पर अतिसृष्टि या योग प्रक्रिया में योगीजन अपने प्राणों को तपा गला कर सोम ज्योति रस को मदिरा की तरह भपके से चुवाते हैं। अतः वह सुत या चुवाया हुआ या विष्णु ज्योति का अवतार कहलाता है जिसकी अनुभूति ही सोमपान (योग में) कहलाता है।

१२—सोमपान क्या है ?

कर्मकाण्ड में उक्त सोमरसीय अमृत कलश का अभिनय ब्राह्म कलश के रूप में या वैदिक दर्शन की प्रायः समस्त सरणियों के समाहार रूप में की जाती है। कलश ताँबे का या मिट्टी का या सुवर्ण का चतुर्थ सप्तक के धातु के अनुसार बनाया जाता है, उसमें गङ्गा जल पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के गङ्गा यमुना के जल से आपूरित कर, फिर सारस्वत या पौष्ण या सौम्य जल डाला जाता है। उसमें वही 'सप्तर्षयः प्रतिहिता शरीरे' मन्त्र के सप्तर्षि तत्त्वों के प्रतीक रूप ब्रह्मा (कुश का बना कर) रखा जाता है। फिर सप्तमृदः, सप्तभूमी या सातों सप्तकों के प्रतीक में डाली जाती हैं, गोमय आदित्य रूप गायों के प्रतीक में; पयोदधिघृतमधुशर्करा, पञ्च-सागरों के प्रतीक में, पञ्चपल्लवा पञ्चवृक्षा के प्रतिनिधित्व में, सर्वोषधी हरिद्रा और पूगीफल, ओषधि रूप सोम के बदले, पञ्चरत्नानि, पञ्चवसुओं के लिए, सोना, हिरण्यगर्भ की सूचना के लिए, यव का प्रक्षेप, 'व्रीहियवौ' के लिए, दूर्वा धूर्वा या ध्रुवा, का प्रयोग इसके 'काण्डात् काण्डात्प्ररोहन्ती' के विकास को जतलाने के लिए,

१३—कर्मकाण्ड और सोम कलश

वस्त्र उसी घट या कलश के 'त्रिवृतं सप्ततन्तुं' की सरणि दिखाने के लिए, सप्तधान्य पूर्णपात्र, सर्वबीजत्व की सूचना के लिए, और गन्ध तथा अक्षत कलश रूप सोम के जलमय होने से अप्सराओं से विभूषित ब्रह्मचारिणियों के रूप में 'गन्ध इत्यत्सरसः' (अप्सरायें ब्रह्म को गन्ध नाम से पुकारती हैं, और अप्सरायें-अप्सुभवा अप्सरा हैं जैसे

'समुद्रिया अप्सरसो मनीषिरागमासीना अन्तरभि सोममक्षरत्'

(ऋ० वे० ९-७८-३)

ये अप्सरायें इस कलश को बुनती हैं, इनमें से उर्वशी से वशिष्ठागस्त्य का जन्म मित्रावरुण के रेतः के स्खलन से बतलाया गया है।

'यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वशिष्ठः'

(ऋ० वे० ७-३-१२)

इस कलश का नाम द्रोण कलश भी है जो सोमराजा का ही पात्र कहलाता है (श० प० ब्रा० १-५-२-७,४)। आदि में पृथिवी का स्पर्श करके उसकी स्थापना भौतिक दिव्य शरीर का सर्वप्रथम सत्ता में आना बतलाता है। 'उर्वी' माने ऊर्णोति वयति इति उर्वी और प्रथयतीति विस्तारयतीति पृथिवी होता है। ये सोम के ही प्रतीक हैं। तब कलश में कुश ब्रह्मा को स्थापित करते हुए यह बहुत प्रसिद्ध पर सर्वथा अनभीष्ट अर्थ में अवगत मन्त्र पढ़ा जाता है:—"आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्म वर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा। सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् योगक्षेमो नः कल्यन्ताम्" (यजुः २२-२२)। यह मन्त्र देखने में तो एक आशीर्वाद का सा मन्त्र लगता है और इस आशीः की प्रतिध्वनि इसमें है भी अवश्य। पर जिन वैदिक ऋषियों ने इस मन्त्र की रचना की है उन्होंने इस कलश के पूर्वोक्त प्रयुक्त वस्तुओं के प्रतीक रूप प्रायः सभी तत्त्वों का एकमात्र ऐसा समाह्वान किया है, और उनको ऐसे प्रचलित लौकिक शब्दों से सम्बोधित किया है कि उस पाठक या श्रोता को जो वैदिक दर्शन के पारिभाषिक पदावली से अनभिज्ञ है, यह केवल आशीर्वाद का सा मन्त्र लगता है। इस मन्त्र की पारिभाषिक शब्दावली की रहस्यात्मकता का दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

उक्त मन्त्र के अर्थ के लिए अपनी कल्पना करने को कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ श० प० ब्रा० १३-१-९ पूरे प्रपाठक में स्पष्टतया दे रखा है। इसमें लिखा है कि सबसे पहिले ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस रूप में उत्पन्न हुआ जिसके समर्थन में अथर्व (४-२-६) लिखता है 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः'। यह ब्राह्मण प्रथम दशतत्त्व रूप दशास्य या दशशिर कहलाता है, इनमें जो विकास होता है वह वर्चस् रूप से होता है जिसे ब्रह्मवर्चस कहते हैं। इस विकास का *आरम्भ* बृहस्पति तत्त्व से होता है जैसे श० प० ब्रा० ११-४-३-३ में लिखा है,

१४—'आब्रह्मन्ब्राह्मणो' मन्त्र का अर्थ

"तस्या रग्निरन्नाद्यामादत्त सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यं, मित्रः क्षत्रं इन्द्रो बलं बृहस्पतिर्ब्रह्मवर्चसं सविता राष्ट्रं पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि"।

इसीलिए मन्त्र का अर्थ देते हुए लिखा है 'ब्राह्मण एव ब्रह्मवर्चसं दधाति, तस्मात्पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे' कि पहिले उक्त प्रकार दशमुख दशशिर ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस रूप में उत्पन्न या विकसित हुआ, वह अब भी ऐसा ही हो। फिर 'आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्' के अर्थ में भी लिखा है कि पहिले (पुरा) राजन्य नामक तत्त्व शूर इषव्य (धन्वी) अतिगत व्याधी और महारथ रूप में उत्पन्न हुआ*। राष्ट्र दाता या गृहीता सविता है, सविता ही राष्ट्रपति है। इस राष्ट्र में क्षत्र नामक तत्त्व रुद्र सोम इन्द्र मित्र रूप में शौर्य महिमा से युक्त होकर धन्वी ओषधिमय (व्याधिहीन) और महारथी रूप में उपस्थित हुए, अब भी होवें। श० प० ब्रा० (११-४-३-३,१४) सविता को राष्ट्र या राष्ट्रपति बतलाता है। 'दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा' में दोग्ध्री धेनु तो वही 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारः स्वधाकारो हन्तकारो वषट्कारश्च (बृह० उप०) और 'धेनुर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु' वाली तात्त्विक धेनु है; वही दोग्ध्री या दुहनशीला या विकासमाना हो, यही अभीष्ट है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है "प्रथमा हव्युवास सा धेनुरभवत् यमे' (अथर्ववेद ३-२-१७)। इसी आशय को मन में रख कर इसीलिए लिखा है 'धेन्वामेव पयो दधाति तस्मात्पुरा धेनुर्दोग्ध्रीजज्ञे'। यह तत्त्वों का पयोदधि आयुत (मलाई) नवनीत घृत रूप में विकास बतलाती है (ऐ० ब्रा० १-१-३)। अनड्वान् या वृषभ नाम प्रायः प्रत्येक मुख्य देवता का है पर यहाँ पर वोढाऽनड्वान् अथर्व के दिए हुए पूरे दो सूक्तों के वृषभ या अनड्वान् हैं जिनके शीर्षक पद ये हैं

"सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रमुदाचरत्" (४-२-५)
"अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्यामनड्वाँ दाधारोर्वन्तरिक्षम्" (४-३-१)

इस अनड्वान् में बोझा ढोने के बल की कामना की गई है, बल प्रतीकी तत्त्व इन्द्र है 'इन्द्रो बलं बलपतिः' (पूर्वोद्धृत)। अतः लिखा है 'अनडुह्येन वलं दधाति तस्मात्पुराऽनड्वान्वोढा जज्ञे'। सप्ति नाम सात सप्तकों के ४९ प्राणों का है जिन्हें अश्व या अश्वक नाम से पुकारते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक शरीरों में जो जव या वेग या सरणशीलता है वह बस इन्हीं प्राण रूप सप्तियों की है। अतः लिखा है "आशुः सप्तिरिति अश्व (प्राणाः) एव जवं दधाति तस्मात्पुरा अश्व (प्राणाः) सर्ता जज्ञे"। 'पुरन्धिर्योषा' पद की पुरन्धिः स्त्री, गायत्री है जिसका उल्लेख 'आदायश्येनो......अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः' (ऋ० वे० ४-२६-७) पूर्वोद्धृत ऋचा में आया है जिसको पुराणों ने मोहिनी के वाक् के अवतार

---

* अतिव्याधी नाम सोम ब्रह्म का है और राष्ट्र नाम आसन्दी का भी है (श० प० ब्रा० १२-८-३-६)

के रूप में ग्रहण किया है और जिसे यजुः (१४-५) 'कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः' नाम से भी पुकारता है। यह स्त्री गायत्री के समान सोम लाने वाली या रूप को धारण करने में सर्वप्रथम तथा प्रिया भावुका सुरूपिणी (मोहिनी) रूप में प्रस्तुत होने की आकांक्षा सूचित करता है; अतः लिखा है "पुरन्धिर्योषेति योषित्येव रूपं दधाति तस्मात् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका"। ध्यान रहे सृष्टि के दो रूप है मूर्त और अमूर्त। अमूर्त तो रूपहीन आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय सृष्टि है, मूर्त सृष्टि को 'रूप' नाम से पुकारते हैं। यह उत्तरार्द्धीय चन्द्र इन्दु से रूप को या भौतिक शरीर को पाती हैं जिसे सर्व प्रथम पुरन्धीर्गायत्री ने सोम प्राप्तिद्वारा सर्व प्रथम पाया। 'जिष्णु रथेष्ठा' की व्याख्या में लिखा है 'राजन्य एव जैत्र महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यो जिष्णुर्जज्ञे' कि राजन्य ही सर्वप्रथम जेता की महिमा को धारण करता है, अतः पहिले राजन्य ही जिष्णुरूप में उत्पन्न हुआ। यह राजन्य राजा सोम है 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' तथा 'सोमो राजा राजपतिः राज्यमस्मिन्यज्ञे दधातु' (११-४-३-३)। वही जिष्णु और दार्शनिक रथारूढ़ बने, दार्शनिक रथ देवरथ है; देवरथ देखें। 'सभेयो युवा' पद के अर्थ में 'एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी तस्मात्प्रथम वयसी स्त्रीणां प्रियो भावुकः' लिखा है। यह युवा चन्द्र नामक सौम्य भाग है जो प्रथमवयः में सबको प्रिय लगता है। 'आऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्' यजमान यज्ञपुरुष के वीर रूप प्राप्ति की कामना की गई है। यजमान सदा यज्ञपुरुष होता है जैसे 'पुरुषो वै यज्ञः' 'परोक्षं वै देवा परोक्षं यज्ञः' (श० प० ब्रा० ३-१-२-२५) 'यत्पुरुषेण हविषा देवा' 'अवध्नन्पुरुषं पशुम्' (पु० सू०)। यहाँ यही पुरुषपशु रूप वीर है। अतः लिखा है "यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यं दधाति तस्मात्पुरा ईजानस्य वीरो जज्ञे" यह ईजान यजमान या विकासमान पुरुष ही है 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्' ('यज्ञ' देखें)। 'निकामे निकामे नः पर्जन्योः वर्षतु' का भाव सीधा है, यह पर्जन्य इन्दु की बूँद-बूँद वृष्टि का पर्जन्य है 'सोमात्पर्जन्यः' (मुण्डक २)। सृष्टि का भौतिकावरणीय आत्मा समय-समय पर अभीष्ट काल में प्रस्तुत हो या पर्जन्य रूप में बरसे। 'फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्' पुनः ओषधि रूप सोम के फलवती बनने की आकांक्षा की गई है जिससे हम सबका आरोग्यता से 'योगः क्षेमः' कल्पन्ताम् या सिद्ध हो। अतः लिखा है 'यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योग क्षेमो भवति'। श० प० ब्रा० की यह व्याख्या प्रस्तुत यज्ञ कर्ताओं की चर्चा नहीं करता, वरन् सर्वत्र 'पुरा जज्ञे' या सृष्टिकाल में उत्पन्न हुए कहती है। अतः यह आशीर्वादीय मन्त्र नहीं वरन् पूर्वयुग या योगानुभूति का विवरण देने वाला मन्त्र है जिसमें आशीः की प्रतिध्वनि अजागलस्तनवत् व्यर्थ में लटकी है, पर लोगों ने उसीको मुह में लगाकर सचमुच में दूध पीने का भयंकर ढोंग रच रखा है।

१५—योग और सुपर्ण

सृष्टि वृक्ष पर दार्शनिक सरणि में एकदैवत्य सोम का व्याख्यान सुपर्ण रूप में किया गया है। सुपर्ण दो हैं एक अश्नन् सुपर्ण दूसरा अनश्नन्। इन दोनों को 'सूर्या चन्द्रमसौ' कहते हैं। इन दोनों को दो सुपर्ण नाम से दो पक्षी रूप में भी वर्णित किया गया

है। पर सुपर्ण नाम सोम पक्ष में वृक्षवादी शब्द है, सुकोमल पर्ण या पत्ते का अर्थ रखता हैं। सृष्टि वृक्ष पूर्वार्द्ध में अभौतिक या आध्यात्मिक रूप में त्रिधा होते हुए भी 'एक' ही तने के रूप में उगता है। इसमें ये सुकोमल दो पत्ते तभी आते हैं जब यह उत्तरार्द्ध की प्रथम दो सीढ़ियों में उतरता है, क्योंकि सृष्टि वृक्ष उलटा है 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' या 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' इत्यादि। प्रथम सुपर्ण सूर्य है द्वितीय चन्द्र या सोम। जब सूर्य को 'चक्षुर्मित्रस्य-वरुणस्याग्नेः' कहते हैं तब भी इस 'चक्षुः' शब्द का अर्थ सृष्टि वृक्ष की टहनी में पहिली आँख या अङ्कुर ही होता है। यह 'चक्षुः' नाम अब भी कली की प्रथमावस्था के रूप में 'आँख' या अङ्कुर कहलाता है। इससे भौतिक सृष्टि प्रथमवार दिखलाई पड़ी तब भी यह 'येन चक्ष्यते तच्चक्षुः' कहलाता है। इसमें त्रिपादामृत की पूर्ण ज्योति है अतः भौतिकात्मा को पूर्ण रूप से देखने समझने जानने में समर्थ है और इसलिए भी 'यः चक्षते स चक्षुः' कहलाता है "मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते।" (छान्दोग्य ८-१२)। दूसरी चक्षुः सोम है जो फूटी आँख सम है। उसी से सारी भौतिक सृष्टि होती है। इसके प्रामाणिक उद्धरण पहिले दिए जा चुके हैं। सूर्य का नाम पक्षी सुपर्णवाद में श्येन है और सविता रूप सोम का गरुत्मान्। ये दोनों प्रजापति भी कहलाते हैं। सोम का नाम घृतमत्कुलायी सुपर्ण भी है (ऋचे त्वा रुचे त्वा मन्त्र देखें)। ऋग्वेद में वृक्षवादी सृष्टि का संकेत निम्न ऋचा दो बार करती है, "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावाभूमिं निष्टतक्षुः॥" (१०-३१-७; १०-८१-४) 'ब्रह्म वनं ब्रह्म वृक्ष आस' (तै० ब्रा०)। इसका चित्र इस प्रकार दिया जाता है* यह वृक्षवाद, दूर्वावाद या धूर्वावाद या ध्रुववाद है (श० प०

ऊर्ध्वमूलमधःशाख, सृष्टि वृक्ष के दो सुपर्णा

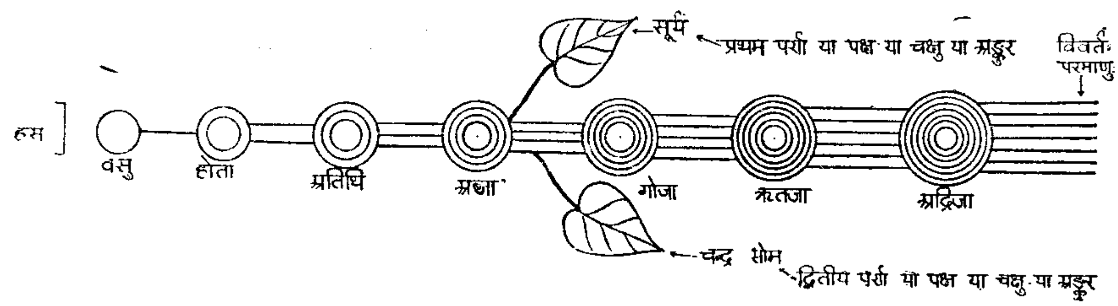

ब्रा० ७-३-२-१२) में जिसकी व्याख्या

"काण्डात् काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥" (यजुः १३-२०,२१)

---

* श० प० ब्रा० ९-३-१-२४ में अरण्यों या बनों की संख्या सात या सात सप्तक दे रखी है, तथा ९-३-२-४ म इन अरण्य को अनूच्य वाक् नाम से पुकारा गया जिससे स्पष्ट है कि ये अरण्य या बन दर्शन के सात सप्तकों के सूचक हैं।

से की जाती है। श० प० ब्रा० (७-३-२-१४,१५) ने इसके अर्थ में लिखा है 'एषा पर्वणः पर्वणः प्ररोहति' 'सहस्रेण एषा प्रतनोति, सहस्रेण विरोहसि'। यह वृत्त पर्व पर्व या तत्त्व तत्त्व में प्ररोहण करता है हजारों या अनन्त संख्या में विरोहण या पुनः पुनः जड़ें लगाकर नये नये रूप में उगता ही रहता है। सोम रूप वृक्ष का यह महा महत्त्व है कि इसका प्रत्येक अंग बीज है, प्रत्येक एक एक सबीज और स्वतन्त्र सत्ता में होते हुए भी सब सम्मिलित रूप से भी रहता है जैसे वृक्ष का फल तो बीज है ही पर उसकी एक एक जड़ या जड़ का टुकड़ा या प्रत्येक पत्ता या टहनी या टहनी का टुकड़ा सब बीज रूप हैं प्रत्येक से नवीन वृक्ष फिर उत्पन्न हो जाता है। यही बात सभी जीवों और जड़ों में भी है। प्रत्येक प्राणी अनन्त प्राण रूप प्राणियों का एक ठोस पिण्ड है। प्रत्येक स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों हैं। इनका वंश भी इसी काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती वाद से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है,पिछला परिवर्त्तित होता रहता है। जड़ रूप पितरों के परिवर्तन होने पर भी अगला सन्तान का पौधा मरता नहीं वह स्वतन्त्र विभु जीव है, जीवित रहता है।

१६—अथर्ववेद में सोम व्याख्या

अथर्व वेद ने (२-४-२५; ३-४-१८; ३-१०५; ३-३-१२; ३-४-१७; ३-५-२२; ३-६-३०; ४-३-९; ४-३-१०; ४-४-१७,१८,१९ में) क्रमशः उक्त सोम की व्याख्या प्रश्निपर्ण सहमाना, पर्णः, पर्णमणि, मणिः, शाला, सीता, हस्ति, समानी-प्रपा, अञ्जन, शंख, अपामार्ग और कृत्या के नाम से नाना रूपों में दी है। इनमें पर्णः मणिः और शंखः बहुत प्रख्यात तथा अति रुचिर हैं। प्रश्निपर्णी तो स्फटिक रूप पर्ण है। इन सबका वर्णन लौकिक ओषधियों के रूप में करके सोम के रहस्य का वर्णन किया है। यहाँ पर वस्तुवादी श्लेष है। ऋग्वेद ने अपने ढंग का इससे अधिक चमत्कारक श्लेष दिया है। सुपर्ण माने नव-नव पल्लव तथा दो पक्ष का पक्षी। वेदों में कई स्थलों में 'शं द्विपदे चतुष्पदे' पद एक साथ आता है वहाँ इसी सुपर्ण या पक्षी का जो द्विपद है, पर चतुष्पाद् ब्रह्म का विवेचन देते हुए वर्णन देता है। मनुष्य के मस्तक में, हाथी के शिर में, और सर्प के मूर्धन्य में, जिस मणि की चर्चा पुराणों में आती है वह यही सोम मणि का आख्यान देते हैं, मनुष्य, हाथी और सर्प ये सब चतुर्थ सप्तक के, या सोम सप्तक के नाम हैं जिसे नृषद् अब्जा या समुद्र भी कहते हैं। 'शम्' भी इसी का नाम है। इसी सोम रूप समुद्र में शम् रूप (शन्नो देवीः····आपो भवन्तु पीतये) जल है, और उसी शं रूप जल से उत्पन्न शंख नामक चक्र है, शंखासुर इसकी आसुरी प्रवृत्ति या आसुरी भौतिकात्मा है, अतः उसे पुराणों में कहीं शंखासुर कहते हैं, कहीं सर्प व्याख्या में वृत्रासुर आदि भी। चन्द्रमा और शंख सोम के सौम्य भाग हैं, शंखासुर वृत्रासुर आसुर्य। पूजा-पाठ में सर्वप्रथम 'शंख ध्वनि' करना इसी सोम ब्रह्म की प्रथम घोषणा करता हैं कि इस शंख रूप सोम से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड विकसित हुआ। इसीलिए देवताओं के हाथ में इस शंख को अवश्य माना जाता है। चक्र तो अष्टचक्रों का (सात सप्तक और ब्रह्म),अखिल ब्रह्माण्ड रूप शरीर के ''अष्टचक्रा नवद्वारा देवानापूरयोध्या''के आठ चक्रों के एक सामूहिक रूप का एक चक्र है। अखिल,

ब्रह्माण्ड के, और प्रत्येक के दिव्य शरीर का मूल स्वरूप कुछ इसी शंख या चक्र के आकार का समझा जाता है। सोम तो सबका दिव्य शरीर है। यह विभु व्यापक प्रमाण परिमाण से हीन है। इसे आजकल के कुछ वैज्ञानिक 'ऐस्ट्रल बॉडी' कहने लगे हैं। पारमाणविक भौतिकात्मा का परिमाण 'एक सेर चार तोला' के लगभग तोला गया है क्योंकि तुरन्त मृत्यु के बाद इतना भार कम हो जाता है। सोम तथा त्रिपदामृत सबके सब विभुः व्यापक होने से नापे तौले ही नहीं जा सकते, भौतिक शास्त्र की गति इन विषयों में नहीं चल सकती। पञ्चात्मायें तो अखिल ब्रह्माण्ड की अणोरणीयान् महतोमहीयान् विभु व्यापक आत्मायें हैं।

१७—सोम सम्बन्धी श्रुतियाँ

सोम की व्याख्या अनेक ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार से दे रखी है जैसे—सोम नाम सत्य और श्री का है (श० प० ५-१-२-१०); यही उसका राज्य है (श० प० ११-४-३-३)। यह गय या प्राण रूप में चन्द्रमा बनकर सर्व लोक संचारी होता है (गो० पू० ५-१४)। पितृ लोक ही सोम है और सोम पितृ दैवत्य है (श० प० २-४-२-१२, कौ० १६-५)। संवत्सर सोम ही पितृमान् है (तै० १-६-८-२)। ऋतुयें सोम के भाई हैं (ऐ० १-१३), सोम प्रजापति है, (श० प० ५-१-३-७), यह श्येन है (गो० पू० ५-१२), यह सर्वा देवता वाचक है। सोम वैष्णव राजा है, अप्सरायें इसकी प्रजा हैं (श० प० १३-४-३-८)। विष्णु ही सोम है (श० प० ३-३-४-२१, ३-६-३-१९)। सोम पवमान है (श० प० २-२-३-२२)। वायु रूप में यह सम्राट् है (गो० पू० ५-१३) क्योंकि यह सर्वा देवता है (ऐ० २-३, श० प० १-६-३-२१)। सोम रात्रि है (श० प० ३-४-४-१५) सोम संवृत् है (गो० उ० २-२४)। यह चतुर्होता और पर्ण भी है (तै० २-३-१-१; श० प० ६-५-१-१); पलाश भी है (कौ० २-२)। दूर्वा और न्यग्रोध भी सोम है (ऐ० ७-३१, श० प० ४-५-१०-५)। सोम प्रत्यक्ष पशु है (श० प० ५-१-३-७; कौ० १२-६, तै० १-४-७-६)। सोम दधि है (कौ० ८-९)। सोम स्वर है (गो० पू० ५-१४)। सोम द्यावा पृथिवी का गर्भ है (ऐ० १-२६)। सोम भ्राट् है (श० प० ३-२-४-९)

सोम यश है (ऐ० १-१३, श० प० ४-२-४-९)। सोम अन्न है (कौ० ९-६, श० प० ३-३-४-२८)। यह अन्न चन्द्रमा है (श० प० १-६-४-५), यही देवताओं की हवि है 'हविर्वै देवानां सोमः' (श० प० ३-५-३-२)। सोम प्राण है वाजपेय है (श० प० ७-३-१-२, तै० १-३-२-९)। सोम रेतः है (कौ० १३-७ तै० २-७-४-१, और श० ३-३-२-१)। सोम ही वृष्ण अश्व का रेत है (तै० ३-९-५-५)। सोम के अंशु कई हैं जैसे 'प्रत्न, तृप्त, व्रीहिवृष, शुक्र, पयः (जीवांशु) पशु हिरण्य ऋगंशु यजुरंशु सामांशु (कुल दस) (कौ० १३-४)। सोम के अभिषवण से जो तनु उतरी उसे तनूनपात् कहते हैं (तै १-४-७-४,५)

सोम का नाम बभ्रु भी है (यजुः १२-७५), गन्ध भी है, रेत भी (ताड्य १-२-३-९; श० प० ७-२-४-२६; ७-३-१-३)। सोम सब -तत्त्व हैं श० प० ५-५-४-

११) । सोम अन्तरिक्ष दैवत्य है (गो० उ० २-४) । सोम गिरिवासी है (श० प० ३-३-४-७), इसका नक्षत्र मृगशीर्षा है (तै० ३-१-१-२) । इसका चरु श्यामाक है (तै० १-६-१-११) । सोम वीरुधों (लताओं) का पति है (तै० ३-११-४-१) । सोम अकृष्टपच्या और ओषधिओं का राजा और अधिराजा है (तै० १-६-१-११; गो० उ० १-१७; कौ० ४-१२), यह ब्राह्मणों का सखा सभासाह और राजा है (ऋ० वे० १०-७१-१० ऐ० १-१३) । सोम ब्राह्मण है (ताण्ड्य २३-१६-५) । इसके वस्त्र शोभन हैं (तै० १-६-१-११) ।

सोम राजा की पत्नी दीक्षा है, सूर्य ने अपनी दुहिता सूर्या सोम को दी (गो० उ० २-९ ऐ० ४-७) । सोम पुरुष है, सुर स्त्री है (तै० १-३-३-४) । सोम पयः या आपः है (श० प० १२-७-३-१३, ७-१-१-२२) । वरुण ने जब सोम पिया तो वह अश्व बन गया (श० प० ४-२-१-११) । सोम देवता रूप में पुरुष है (तै० १-७-८-३) । ओषधियों का नाम सोमराज्ञी है (मं० २-८-३-४) । सोम वैराज और अनुष्टुभीय है (कौ ९-६, श० प० ३-३-२-१७) । जो आर्द्र हैं वही सौम्य है (श० प० ३-२-३-१०) । सोम की सब दिशायें हैं (ऐ० १-८, श० ३-२-३-१७, तै० ३-११-५-२) ।

१८—चन्द्रमा पर श्रुतियाँ

चन्द्र सविता और हिरण्य है (जै० उ० ४-२७-१३; तै० १-७-६-३ श० प० ३-३-३-६) । चन्द्रमा आपः हैं (तै० १-७-६-३) । सोम राजा चन्द्रमा है (कौ० १६-५) । वृत्र ही चन्द्रमा है (श० प० १-६-४-१३,१८) । चन्द्रमा मन्त्री और वरेण्य है (जै० उ० ४-२८-१) । चन्द्रमा पञ्चदश या २६ वाँ तत्त्व (पक्षान्त) है (श० प० ८-४-१-१०) । षोडशकल (ब्रह्म) चन्द्रमा ही है (ष० ४-६) । चन्द्रमा असु है (तै० ३-९-५-१) । नक्षत्र चन्द्रमा में श्रित है, चन्द्रमा आदित्य में स्थित है (तै० ३-११-१-१२) । जो मन है वही चन्द्रमा है (तै० ३-१०-८-५, जै० उ० २-२-२, श० प० १०-३-३-७) । चन्द्रमा अन्न है (श० ८-३-३-११, जै० उ० १-३-४) । चन्द्रमा प्राण है (जै० उ० ४-२२-११) । चन्द्रमा कृष्ण ब्रह्म है (यजुः २३-१३ श० प० १३-२-७-७)। चन्द्रमा द्वार पिधान है, रात्रि है उड़ान है (श० प० ११-१-१-१; १२-४-५-७ जै० उ० ४-२२-२) । चन्द्रमा अमावास्या में उदित होता है (२६ वें तत्त्व में) (श० प० १-६-४-१८, १९२-८-२८) और दक्षिण में है (ष० २-४) । चन्द्रमा तो मनुष्य लोक है (जै० उ० २-१३-१२) । चन्द्रमा वाक् है (जै० उ० ३-१३-१२) चन्द्रमा का नाम हन्त (कार) है सूर्य का नाम ॐ है (जै० उ० ३-६-२) । चण्द्रमा हिंकार और प्रतिहार है यज्ञियायज्ञिय है (जै० उ० १-२-४-५,९; श० प० २-१-२-३९) । चन्द्रमा भर्ग और भृगु वंशी है (जै० उ० ४-२८-२; गो० पू० २-८), वायु आपः भी भृगु वंशी है (वहीं) । चन्द्रमा सब कुछ है 'चन्द्रमा एव सर्वम्' (गो० पू० ५-१५) । चन्द्रमा उदान है (जै० उ० ४-२२-९)

सोमलता की उत्पत्ति मूजवान् या मौजवत पर्वत में बतलाई गई है । यह सम्भवतः वह पर्वत माला है जहाँ लम्बी रेशे वाली घास—जिसकी रस्सियाँ बनती हैं

१९—सोमलता

और जिसको पर्वतीय (कुमाऊँ) देशों में बाफिला भाफिला नामों से पुकारा जाता है जो लगभग एक गज से दो गज तक लम्बी रेशे या केश जैसी घास होती है—उत्पन्न होती है। मूजवान् की व्युत्पत्ति में यास्क ने लिखा है "मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जावान् मुञ्जो विमुच्यत् इषीकया इषीकेशते गतिकर्मण इयमपीतरेपीकै तस्मादेव ॥" (निरुक्त ९-१-८)। मैदानों में मूज नाम की घास इसी घास की एक जाति है जिससे रस्सियाँ और चारपाइयाँ बुनी जाती हैं। मध्य एशिया में एक जड़ी बूटी पाई जाती है जिसमें अनेक औषधियों के गुण हैं। वह अमृत सम है। कुछ लोग उसी को सोमलता समझते हैं।

सोमलता, एक महायोगी के कथनानुसार लगभग एक वालिस्त भर ऊँची, चने के से पत्तियों वाली और रंग में लाल (पत्ती वाली) लता होती है। यह बहुत नशीली होती है, योगियों के योगाभ्यास में बड़ी सहायक बतलाई जाती है। इसकी पत्तियों का रस निचोड़ कर ताँबे के धातु के ऊपर डाला जाय तो ताँबा सोने में परिणत हो जाता है।

तक्मान् जिसका वर्णन अथर्व ने दिया है, जिसका उद्भव मूजवान् अंग मगध और गान्धार देशों में बतलाया गया है, सोमलता के न मिलने पर उसके स्थान में प्रयोग में लाई जाती रही। अथर्ववेद के युग में यह लता उक्त देशों में सुलभ थी। इसकी ऊँचाई सोमलसा से कुछ दो चार अंगुल अधिक, सपड़ी घास के समान पत्तियाँ और पत्तियों का रंग पीला बतलाया गया है। यह भी नशीली ही वस्तु है। योगियों को योग में सहायक बताई गई है। इसका प्रयोग अथर्व के अनुसार शीतकाल में शीत को दूर करने तथा उष्णकाल में उष्णता दूर भगाने के लिए शरीर में सदा समतल वातावरण रखने के लिए किया जाता रहा। अब इन दोनों लताओं की उपलब्धि नहीं होती। अतः लोग इनके अभाव में विजया (भंग) की ठंडाई घोट कर केवल नशा मात्र करते हैं, इसका सम्बन्ध योग से स्वयं स्वभावतः हट गया है।

२०—तक्मा

उक्त दोनों के प्रयोग के पश्चात् 'खेचरी मुद्रा' का प्रयोग किया जाता रहा जिसमें जिह्वा के मुखाग्रभाग को तालु के मध्यबिन्दु से सटा कर, शरीर के मौलिक रस को मेरुदण्ड से चूस कर हृदय या मस्तिष्क तक लगातार पहुँचाया जाता रहा जिस क्रिया से अखण्ड समाधि लग कर वह त्रिकालदर्शी स्वयं सिद्ध हो जाता रहा।

२१—खेचरी मुद्रा

मूजवान् पर्वत का जैसा सम्बन्ध सोम से है वैसा ही रुद्र से भी है। दोनों सर्वा देवता हैं। अतः दोनों की सरणियाँ एक सी हैं। रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वसन्त ऋतु (प्रथम सप्तक) से तुम मूजवान् पर्वत से निकल आवो, धनुष बाण तान कर, कृत्ति वस्त्र पहिन कर (कृत्तिका में अग्न्याधान माने कृत्तिका आवास करना) वही पिता के वाम है स्वर्गवास है, अहि रूप को धारण कर निकल आओ !! जैसे "एतत्ते

रुद्रावसन्तेन परो मूजवतोतीहि । अवततधन्वा पिनाकवसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ (यजुः ३-६१)

योगियों की योग दृष्टि के सूर्य और सोम दो ही चक्षु हैं । चन्द्र दृष्टि वाला योगी धूमिल दृष्टि का सीमित क्षेत्र का देखने वाला होता है पर एक के पूरे जीवन और इस गोल की सब बातें जान सकता है । सूर्य दृष्टि वाले

२२—योगियों में सूर्य और सोम

योगी को अखिल ब्रह्माण्ड हस्तामलकवत् दृश्यमान होता है, त्रिकाल-सर्वकाल दर्शी होता है । इसके आगे अत्रि की चक्षु रूप ॐ ज्योति है उसे पाकर कोई भी योगी ४५ दिन से अधिक नहीं जी सकता । वह मोक्ष मार्ग को जाता है । गीता का 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' श्लोक इसी मोक्ष योगी अत्रि चक्षु के ॐ कारी दृष्टि की बात कहता है ।

अध्याय ७०

एकः सुपर्णः, त्रिसुपर्णम् और सप्तसुपर्णाः

श्येन तार्क्ष्य, मरुत्मान् ("गायत्री सुपर्णोभूत्वा सोममाजहार")

सुपर्ण या सुपर्णा की कल्पना छन्दों से की गई है। गायत्री ही सुपर्ण है। त्रिष्टुप् जगती आदि तो सोम नहीं ला सकीं। अतः सुपर्ण नहीं बन सकीं। छदाः छन्दाः पक्षा येषां तानि छन्दांसि सुपर्णाः। छन्दतो वाक् (गायत्री) से उत्पन्न हुए। यह लिखा भी है 'वाचः प्रजातानि छन्दांसि' (श० प० ३-४-२-१)। गीता ने भी लिखा है 'छन्दांसि यस्य पर्णानि'।

१—सुपर्ण या सुपर्णा

इनमें से सोम सुपर्ण की व्याख्या 'सोम' शीर्षक के अन्त में सचित्र दी जा चुकी है। वह वेदवृक्ष या सृष्टिवृक्ष के सुपर्ण की व्याख्या देता है। सुपर्ण शब्द जब पक्षी वाचक होता है तब वह हिरण्यगर्भ नामक सृष्टि के पूर्वार्द्धीय अंडे से उत्पन्न वाक् या गायत्री नामक पक्षी रूप भौतिक सृष्टि (उत्तरार्द्धीय) की व्याख्या देता है। इस पक्षी के तीन क्रमिक विकासों को तीन पृथक् नामों से पुकारा गया है। २४ वाँ अत्रि नामक तत्त्व श्येन है, चतुर्थ सप्तक के अन्य सात तत्त्वों को गृद्ध कहा गया है 'श्येनो गृद्धाणां'। २४ वें तत्त्व के पक्षी वाचक सुपर्ण का नाम तार्क्ष्य (त्वष्टा) है (ऋ० वे० १०-१७१-१,३)। श० प० ब्रा० ने स्पष्ट कहा है 'गरुत्मानेष सविता' (१०-२-२-४)। सविता सोम का ही प्रतिनिधि है। अतः २६ वें तत्त्व सोम को गरुत्मान् सुपर्ण के नाम से पुकारा गया है, वेदों के विः, कपिञ्जल, शकुनि, आदि पक्षी इसी सुपर्ण के प्रतिनिधि हैं। भुज्यु नामक असुर भी सुपर्ण ही है, यह यजुर्वेद और श० प० ब्रा० ने स्पष्टतः कहा है।

त्रिसुपर्णम्

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्यपृष्ठे अधिविष्टपिश्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥
अथर्व- १८-४-१-४

"द्वासुपर्णासयुजा सखायः" के दो सुपर्ण, एक ही के दो रूप हैं, दैवी तत्त्व का सुपर्ण सोम, आसुरी तत्त्व का सुपर्ण भुज्यु या वृत्र। इसीलिए

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुमथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्"

ऋचा में सुपर्ण और गरुत्मान् का भेद दिखलाने के लिए इनका नाम पृथक् पृथक् दिया। सोम वाची सुपर्ण को 'दिव्यः सुपर्णः' इस ऋचा में भी कहा है, अन्यत्र भी जैसे 'दिव्यः सुपर्णोऽव चक्ष सोम' इत्यादि (ऋ० वे० ९-९७-३३) इत्यादि। 'त्रिसुपर्ण' नाम सबसे पहिले अथर्ववेद १८-४-१-४ में निम्न मन्त्र द्वारा मिलता है

"त्रयः सुपर्णा उपरस्यमायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥"

इसके पश्चात् इनका त्रिसुपर्ण नाम नारायणोपनिषद् ने ३९, ४० में इन्हीं तीनों की चर्चा करते हुए लिखा है। श० प० ब्रा० ने सूर्य और चन्द्रमा (२५ वें और २६ वें तत्त्वों) को 'सुपर्णौ' कहा है 'सुपर्णौ सूर्या चन्द्रमसौ' (७-१-२-७)। गायत्री ब्रह्म देखें (१०-२-२-४)।

श्येन के सम्बन्ध में इस प्रकार की ऋचायें मिलती हैं :—

(१) उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥
(ऋ० वे० ४-३८-५)

सङ्ग्रामों में पशु रूप झुण्ड के समान ऊपर से नीचे (पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध) को उतरते हुए जसुरि या भूखे के समान, श्येन को वस्त्रचोर चोर के समान कोसते हैं, यद्यपि वह प्रशंसनीय है (श्रवश्चाच्छा)।

(२) भरद्यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्यनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र॥

(३) ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
भरद्दाद्दहाणो देवावान्दिनो अमुष्मादुत्तरादाय॥

(४) आदाय श्येनोऽभरत्सोमं सहस्रं सवां अयुतञ्च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥
(ऋ० वे० ४-२७-५,६,७)

इन मन्त्रों में भी श्येन को दिव, उत्तरादादाय और परावत शब्दों द्वारा उत्तरार्द्ध का पक्षी कहा है। इसका नाम श्येन तो कहा ही है पर साथ में 'शकुन' नाम से भी पुकारा है, यही सोम को असंख्य मात्रा में लाया जिसको (अमूर) अमृत सोम से युक्त पुरन्धि या मोहिनी अवतार की स्त्री ने (मूढ) शत्रु रूप असुरों को नष्ट कर दिया वे मर्त्यधर्मा रह गये, क्योंकि वे मद में मस्त हो गये उन्हें मर्त्यधर्मा नामक सुरा धोखे से दे दी गई। यह गायत्री रूप श्येन सुपर्ण है। इस श्येन को सुपर्ण का पिता

बतलाया है जैसे 'यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। शतचक्रं यो ह्यो वर्तनिः (ऋ० वे० १०-१४४-४)

त्यमू षु वाजिनं देव जूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
२—तार्क्ष्य अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥
सद्याश्चिद्यः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रशा शतशा अस्य रंहि न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ॥
(ऋ० वे० १०-१७८-१,६)

अर्थ—हम उस दिव्य शरीरी दैवी शक्ति सम्पन्न, अरिष्टनेमि युद्धविजेता तीव्रगामी, रथों को (भौतिकात्माओं को) तारने वाले तार्क्ष्य का आह्वान कल्याण के लिए करते हैं॥ जिसने शीघ्र ही अपने जल से (चतुर्थ सप्तकीय) जलों को सूर्य की किरणों की तरह व्याप्तिरूप में बिछा डाला, जिसका वेग सौ हजार गुना है, जिसकी गति को युवतियों के कटाक्षवाण की तरह रोका ही नहीं जा सकता, उस तार्क्ष्य की प्रार्थना करते हैं। यह सूर्य रूप सुपर्ण है।

सुपर्णोमरुत्मान्—(यजुः १७-७२) 'सुपर्णोऽसि मरुत्मान्' (श० प० ब्रा० ९-२-३-३४)। यह सविता या चन्द्र रूप सुपर्ण है।

"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
३—सुपर्ण-मरुत्मान् तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥
एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेल्हि स उ रेल्हि मातरम् ॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादशः ॥"
(ऋ० वे० १०-११४-३,४,५)

अर्थ—एक ऐसी स्त्री या युवती है जिसकी चार जटा या योनियाँ (भग) है (कपर्दा=कपर्दिका=कौड़ी या जटा)। वह घृत योनि है और उत्तम वस्त्र रूप दिव्य शरीरों को बुनती रहती है, उसमें सुपर्ण वृषण रूप में रहते हैं उसी से देवता अपना अपना भाग पाते हैं अर्थात् प्रत्येक देवता दिव्य शरीर रूप भौतिक शरीर का भाग प्राप्त करता है॥ सुपर्ण तो एक ही है जब वह (चतुर्थ सप्तकीय जलों के) समुद्र में प्रवेश कर गया, तब उसने अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। जब वह सुपक्वरूप से पुष्ट होकर तैयार हो गया, अण्डे को फोड़कर बाहर निकल आया तो माता (भौतिक वाग्ब्रह्माणी) उसे अपनी जिह्वा से चाटती है (प्यार से) और सुपर्ण भी अपनी माता को प्यार से चाटता है॥ यद्यपि वैदिक विद्वानों ने सुपर्ण को नाना प्रकार से वर्णित किया है, नान रूपों में विभाजित तथा संज्ञित किया है परन्तु सुपर्ण तो एक ही है, उसी एक की बहुधा कल्पना (समझाने के लिए) की गई है। विकासों को दिखलाने के लिए सोम रूप सुपर्ण को १२ ग्रहों के रूप में वर्णित किया गया है, ये बारह ग्रह केवल एक सुपर्ण सोम का ही वर्णन देते हैं इत्यादि। १०-११४-६,७ भी

देखें जिसमें कहा गया है कि कोई इसे १४ प्रकार से वर्णित करते हैं कोई सात प्रकार से, इसकी गाथा को कोई पूरी नहीं गा सकता इत्यादि। उत्तरार्द्धीय सुपर्ण को श्येन का पुत्र तथा परावत या दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का तत्त्व बतलाया है जैसे

"यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं यो ह्यो वर्तनिः॥"

(ऋ० वे० १०-१४४-४)

इन सुपर्णों की कथा गायत्री ब्रह्म में देखें। वास्तव में त्रिसुपर्ण का एक ही सुपर्ण है, पूर्वार्द्ध एक पर्ण या पक्ष है, उत्तरार्द्ध द्वितीय पर्ण या पक्ष, येही 'दो द्वा सुपर्णा' हैं। मध्य में सूर्य आत्मा रूप शरीर है। इसी को 'चत्वारि आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि' कहा गया है। यही चतुष्पाद्ब्रह्म है। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन प्रत्येक की विशेषता बतलाने की दृष्टि से किया गया है। इसका चित्र पूर्व चित्र के समान ही होगा। यह एक सुपर्ण संवत्सर नामक महा सुपर्ण है, और संवत्सर रूप गायत्री ही महासुपर्ण है (श० प० १२-२-३-४)

मध्ये एकः सुपर्णः,विषुवान्

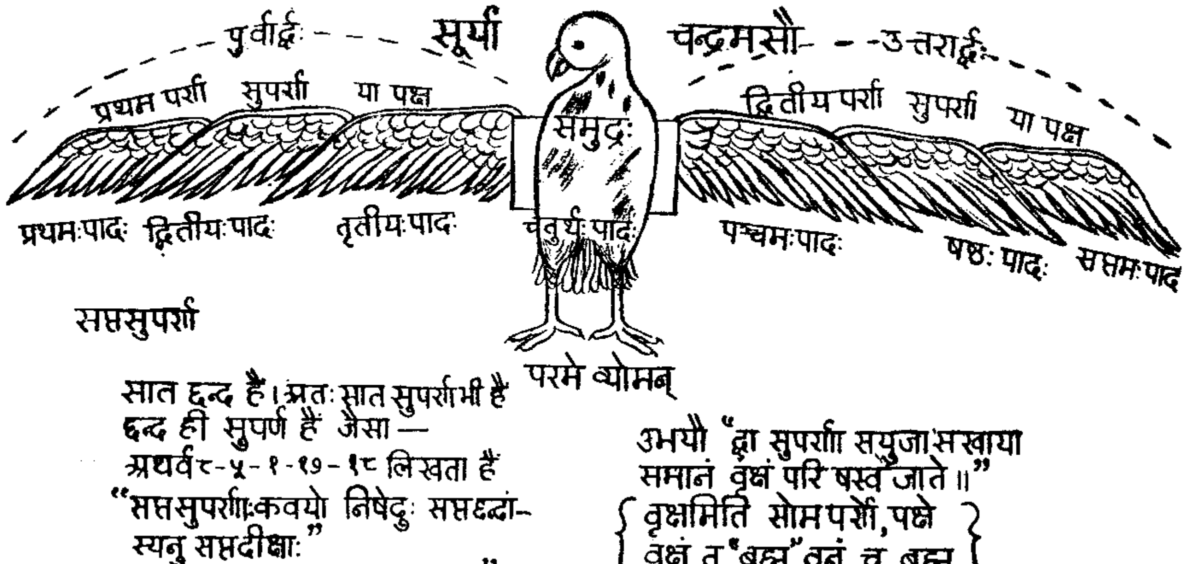

अध्याय ७१

वृत्र

वैदिक साहित्य में वृत्र एक ऐसी पहेली है जिसको अब तक के भाष्य टीका आलोचनाकार सुलझाने में सर्वतः असमर्थ रहे हैं। उपनिषद्कारों ने इस वृत्र की कहीं भी कोई चर्चा नहीं कर दी है जिससे यह पहेली अधिक पेचीदा हो गई है। उपनिषद्कारों ने ऐसा क्यों किया ? इसका एक कारण समझ में आता है। वृत्र नाम ऐतिहासिक प्रतीक होता है*। इसे यास्क ने "त्वाष्ट्रो असुरः इति ऐतिहासिकाः" कहा है। ऐतिहासिक व्यक्ति को दर्शन के तत्त्वों में सम्मिलित करना उन्हें अच्छा न लगा, उन्होंने इसके बदले अन्य प्राचीन वैदिक नामों से ही काम चला लिया। वृत्र यदि ऐतिहासिक व्यक्ति है तो वह असुर या शूद्र जाति का आर्य था। असुर या शूद्र जाति आर्यों की ही जाति थी इसके प्रमाण 'दासं वर्ण मधरं गुहाकः' (ऋ० वे० २-१२-२)

१—वृत्र और उसका इतिहास

"यया दासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रि सुतुका नाहुषाणि ॥"

(ऋ० वे० ६-२२-१०)

"साह्यामि दासमार्यं त्वया युजा" (ऋ० वे० १०-८-४-१) और

'हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती।
हतो विश्वा अप द्विषः ॥"

(ऋ० वे० ६-६०-६)

"अयमेमि विचाक शद्विचिन्वन्दासमार्यम्"

(ऋ० वे० १०-८६-१९)

इत्यादि वेद मन्त्र स्वयं है। वैसे वेदों में असुर नाम देवताओं का है 'महद्देवा नामसुरत्वमेकम्' सभी देवताओं का है। अतः इन्द्रवृत्र युद्ध से आर्य अनार्य युद्ध की कल्पना निराधार हो जाती है, प्रत्युत आर्यों में ही वशिष्ठ विश्वामित्र की तरह दो प्रबल दलों का स्थायी रूप से रहना अधिक सुसंगत मत प्रतीत होता है‡। वैदिकों ने वृत्र का वर्णन केवल असुरत्व और दासत्व को प्रधानता देकर किया है। उसका युद्ध तात्त्विक रूप में अधिक रूप में किया गया है। ऐतिहासिक तथ्य केवल तात्त्विक रहस्य के आधार मात्र के लिए स्वीकृत किया गया है। और तात्त्विक इन्द्र वृत्र का तत्त्व रूप में कभी कहीं भी युद्ध नहीं हुआ, यह केवल तत्त्वों की विकास क्रम वर्णना को रोचक आकर्षक और सजीव सा बनने के लिए किया गया है। अतः ऋग्वेद ने स्वयं इस बात का स्पष्टीकरण देने के लिए इन्द्र व्याख्या में दिए गये उद्धरणों को लिखा है, शतपथ ब्राह्मण ने उसीको दुहरा कर इसकी पुष्टि भी कर दी है। इतिहास में किसी इन्द्र नामक व्यक्ति का वृत्र नामक व्यक्ति से युद्ध अवश्य हुआ होगा (इन्द्र देखें)।

वृत्र तत्त्व—वृत्र के बारे में यास्क ने लिखा है "तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्येतिहासिकाः अपां च ज्योतिषश्च मिश्री भाव कर्मणो वर्ष कर्म जायते ·· अहि वत्तु खलु मन्त्र वर्णा ब्राह्मण वादाश्च विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिरे आपः।" (निरुक्त २-५-१६)

निरुक्तकारों को वैदिक पर्जन्य शब्द ने बहुत बड़ा धोखा दिया है। वेदों और ब्राह्मण उपनिषदों में पर्जन्य शब्द पारिभाषिक है, तात्त्विक है और रहस्यमय है तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक व्याख्या का मूल स्रोत है। इन्होंने पर्जन्य के पर्यायवाची 'मेघ' शब्द द्वारा वृत्र की व्याख्या की है।

अतः इस सम्बन्ध में नये लोगों को नाना मतों—आँधी, उषा, सूर्य मेघ, तारक पूजा, सूर्यचन्द्रोपासना, ऋतूपासना, वीरपूजा, आदि—की स्थापना करने का दुःसाहस भी प्रदान किया। पर तथ्य कुछ और ही है। यह बात निम्नलिखित विशिष्ट विश्लेषण से स्वयं स्पष्ट हो जावेगी।

सबसे पहिले यह जानना आवश्यक है कि ऐतिहासिक वृत्र चाहे कोई भी व्यक्ति हुआ करे, वह रहस्य का आधार मात्र है कोई भी प्रतिद्वन्दी हो सकता है।

२—वृत्र की गाथा का रहस्य

पर इस वृत्र का आक्षेप जिस रहस्यमय तत्त्व के लिए किया गया है वह वैदिक दर्शन का एक सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अभौतिक तत्त्वों में जितना महत्त्व शुद्ध बुद्ध ब्रह्म या आदि ब्रह्म का है उतना ही या उससे अधिक महत्त्व है इस वृत्र संकेतित भौतिक सृष्टि के प्रथम अणु के अभ्युदय रूप तत्त्व का—क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक है, उसका मूल स्रोत, प्रथम स्रोत यही वृत्र संकेतित सत्, सोम, आसुर्य या वृत्र नामक भौतिक अणु है।

वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में जिन नामों कथाओं या गाथाओं को रहस्य का आधार बनाया गया है उनका वास्तविक वैदिक दर्शन से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। देवताओं के नाम तत्त्वों के नाम हैं। तत्त्वों की व्याख्या देवताओं की गाथाओं या कथाओं से की गई है। इन गाथाओं कथाओं या नामों का दर्शन के वास्तविक विवरण से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि ये उस-उस तत्त्व की विशिष्टता का एक वैदिक व्यावहारिक वातावरणीय गाथा रूप नाम रूप खोल या पर्दा पहिने हुए हैं। जैसे इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन वेदों में हजारों सूक्तों और हजारों ब्राह्मणों में मिलता है। पर वेद मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने बड़ी कृपा करके यह साफ लिख दिया है कि तत्त्व रूप में इन दोनों का कभी भी युद्ध हुआ ही नहीं। जो ऐसा समझते हैं वे गलती में हैं (इन्द्र देखें)। इसी प्रकार सोम को जो मदिरा या ओषधि समझते हैं उनकी भी हँसी उड़ाई है (सोम देखें)। इसी प्रकार वसु रुद्र आदित्य विष्णु गायत्री आदि नाम भी केवल वैदिक दर्शन के ढाँचे को गाथा रूप में, कथा रूप में, काव्य रूप में, कल्पना रूप में, वर्णन करने के लिए अलीक साधन या रहस्य का आधार बनाये गये हैं।

"यावानर्थः उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २)

कि अनन्त समुद्र सम जल में पहुँचकर, प्यासे को चुल्लू भर पानी से मतलब होता है, शेष को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार वेदों में उक्त कथाओं गाथाओं या नामों में जो अनन्त विस्तार है, उसे विस्तार मात्र समझें, उनका असली रहस्य है चुल्लूभर पानी जिसमें सभी डूब गये हैं। वह है वैदिक दर्शन के अमृत की एक घूँट। बड़ी-बड़ी कथाओं में एक-एक बूँद या घूँट मिलेगी।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि वार्णनिक या गाथा रूप वृत्र ऐतिहासिक होते हुए तात्त्विक वर्णना में केवल पशु या तत्त्व वर्णना का आधारभूत संकेत मात्र है।

३—वृत्रतत्त्व वर्णन

वृत्र से संकेतित आधार भूत तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड का मौलिक भौतिक अणु का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक दर्शन के दो अर्द्ध हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इन दोनों के प्रथम बिन्दुओं या तत्त्वों को 'चत्वारिश्शृङ्गा-रोरवीति' में 'द्वे शीर्षे' दो सिर कहा है। वृत्र भौतिक द्वितीय शिर उत्तरार्द्ध का प्रथम तत्त्व है शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म पूर्वार्द्ध का प्रथम तत्त्व प्रथम आध्यात्मिक शिर। वृत्र नामक भौतिक द्वितीय शिर के दो स्वरूप हैं सूक्ष्म और स्थूल या आसुरी प्रवृत्ति मूलक भौतिक शरीर। सूक्ष्म भौतिक शिर का नाम सोम चन्द्र शुक्र है तो आसुरी वृत्ति मूलक स्थूल का नाम वृत्र, असुर, तमः दानव। सोम नामी भौतिक शिर या शरीर, इस अखिल ब्रह्माण्ड का भौतिक दिव्य शरीर या विभु व्यापक और चतुर्थ आत्मा रूप शरीर है। जब इन्द्र ने वृत्र का बध करना चाहा तो वृत्र ने उत्तर दिया, भाई मुझे न मारो, मेरे मरने से तुम स्वयं मर जावोगे। तात्पर्य यह है कि इन्द्र का सोम पान इन्द्र का भौतिकात्मा को धारण करना है। भौतिक तत्त्व को नष्ट करके वह अपनी ही भौतिकात्मा दिव्यशरीर का बध कर डालता अपनी ही आत्म हत्या हो जाती। अतः इन्द्र ने वृत्र रूप शरीर के दो भाग किये एक सौम्य या चान्द्रमस, दूसरा आसुर्य। सोम भाग दैविक या आत्मा रूप दिव्य शरीर रूप तत्त्व है, आसुर्य वृत्र आसुरी प्रवृत्ति प्रवृद्ध भौतिक शरीर। हमारी समस्त सृष्टि या स्थूल सृष्टि सब आसुरी या दानवी या वृत्र की ही है (श० प० ब्रा० १-५-२-१ से १७ तक, और ५-४-६-२ से ८ तक देखें)। सोम नामी दिव्य शरीर 'अन्न' अन्नं ब्रह्म कहलाता है वृत्र 'अन्नाद'। 'अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वमन्नं च' (श० प० ब्रा० ११-१-६-१६)। इसीलिए पुरुष सूक्त लिखता है 'यदन्नेनाति रोहति' कि वह पुरुष इस अन्न रूपी सोम से वृद्धि को प्राप्त होता है या शरीर या दिव्य शरीर को धारण करके वृत्र रूप स्थूल शरीर को प्राप्त होता है। इसीलिए वृत्र को कहीं-कहीं सोम या चन्द्रमा नाम से पुकारा गया है। क्योंकि दोनों अन्नमय या भौतिकात्मा के दो रूप हैं, हैं एक ही। जैसे 'वृत्रो वै सोम आसीद्' (श० प० ब्रा० ४-१-४-७)। 'देवो वै सोम, दिवि वै सोम, तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मान तदेषो आशानामो-षधिर्जायते' (श० प० ब्रा० ३-३-४-१३)। पर्व विद्या के कई पर्वत हैं। इनमें से

चतुर्थ पर्वत इसी वृत्र के शरीर या सोम के वर्धित शरीर रूप वृत्र का ही नाम है। पर्वत प्रजापति के सबसे ज्येष्ठ पुत्र हैं (मै० सं० १-१०-१३)। "वृत्रो यश्चन्द्रमा सो अस्यैव भ्रातृव्य जन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितो अस्य एन मेता तां रात्रिमुपैव न्याप्लावते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते।" (श० प० ब्रा० १-५-३-१८)। सोम तो दिव्य शरीर होने से विभुः व्यापक है ही, यह वृत्र भी व्यपक ही है, यह आसुरी प्रवृत्ति मात्र की स्थूलता रखता है भौतिकता की प्रवृत्ति रखता है। यही इसकी स्थूलता है, बहुत स्थूल नहीं है, आसुरी या दानवी प्रवृत्ति परायणता वाला, सोम से कुछ अधिक विवृद्ध है, विपरीत भाव भरा है।

सोम या चन्द्र या वृत्र का जन्म सूर्य नामक २५ वें तत्त्व से चतुर्थ सप्तक के विषुवद्रेखा में होता है। "आदित्या द्वै चन्द्रमा जायते चन्द्रतो वृष्टिः वृष्टिर्वै विद्युत्" (ऐ० ब्रा० ७- अन्तिम पञ्चिका-ब्रह्मणः परिमरः) "प्राणेन वा

४—वृत्र स्वरूप

अग्निर्दीप्यते अग्निना वायुर्वायुनादित्यमादित्येन चन्द्रमा चन्द्रमसा नक्षत्राणि नक्षत्रैर्विद्युदेतावती वै दिप्तिः अस्मिंश्च लोकेऽमुस्मिंश्च सर्वाँऽहैतान्दीप्तिन्दीप्यते ऽस्मिंश्चलोकेऽमुस्मिश्च य एवं वेद।" (श० प० ब्रा० १०-६-२-११) "सोमात्पर्जन्यः पर्जन्याद्वृष्टिः" (मुण्डक); ऋग्वेद भी लिखता है, सवितादेवता—"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्चन्द्रम् द्विपदे चतुष्पदे" (५-८०-२) 'भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि' (९-६९-१०) 'वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपां जिन्व गविष्ठये धिया' (९-१०८-१०) 'सहस्रधारं वृषभं धियो वृध प्रियं देवाय जन्मने।" (९-१०८-८)। जिसको यहाँ पर्जन्य या वृष्टि नाम से पुकारा गया है वही वृत्र है। वह जलमय है। चतुर्थ सप्तक जलमय ही था। वह नरमय सृष्टि कहलाती है। मनु ने भी 'आपो नारा इति प्रोक्ता नारायणः" वाक्य इसी की पुष्टि में लिखा है। विष्णु नारायण या जलशायी कहलाता है या समुद्र शायी कहलाता है। वह जल या समुद्र यही सप्तक है विष्णु सोम का प्रतिनिधि है। ऋग्वेद १-३२-१०,११ में वृत्र के इसी पर्जन्य या वृष्टि रूप का वर्णन देते हुए लिखा है—

"अतिष्ठन्तीनामविवेशामानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आ शयदिन्द्रशत्रुः॥
दासपत्नी रहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥"

इस ऋचा में व्याख्यात वृत्र की व्याख्या देते हुए से श० प० ब्रा० ने वृत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है "वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये, यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी, स इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये, तस्याद्वृत्रो नाम। तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापः प्रसुस्राव, सर्वत एव ह्ययं समुद्रः। तस्मादु हैका आपो वीभत्सां चक्रिरे ता उपर्युपरि प्रुप्रुविरे ते दर्भाः।" (१-१-३-३ से ५ तक) 'स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम (श० प० ब्रा० १-५-२-१ से १७ तक और ५-४-६-२ से ८ तक)। वृत्र की व्याख्या में यास्कादि से अब तक के विद्वानों ने वृत्र शब्द को या

वृत्र की व्याख्या को यास्क के मेघ नाम के कारण बहुत हल्के ढंग से लिया है। वैदिकों ने तो लिखा है 'इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये' यहाँ 'इदं सर्वं' माने 'अखिल ब्रह्माण्ड' ही है। और वह 'काष्ठानामध्ये निहितं शरीरम्' था, दिशा का साक्षात्सम्बन्ध भौतिक तत्त्व से है। पूर्वार्द्ध में आत्मायें (त्रिपादामृत) हैं, उनमें व्याप्ति है, दिशा नहीं। अतः सृष्टि पुरुष के पाद रूप चतुर्थ सप्तक से ही दिशाओं का उद्भव पुरुष सूक्त भी मानता है 'पद्भ्यां ँ भूमि दिशः श्रोत्रा त्तथा लोकानकल्पयत्'। यह चतुर्थ सप्तक भौतिक है, अतः शुद्ध अस्पृश्य भी कहा गया है। 'पद्भ्यां ँ शूद्रो अजायत' (पु० सू०)। यह जल सप्तक है। अतः ऋग्वेद इस वृत्र को अन्यत्र भी जलमध्य स्थित बतलाते हुए लिखता है 'अपां मध्ये तस्थिवांसम्' (७:८९-४)। क्योंकि यहाँ से सत् या भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भ होता है। अतः उसे 'वर्तमानः' नाम से पुकारा गया है, यहीं से सत्ता, वर्तमान रूप में स्थिति रूप में, व्यापक भौतिक रूप में आरम्भ होती है; सूर्य इसका जनक या पूर्व रूप हैं। अतः उसे भी 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' अथवा ईषत् कृष्णपिंगल स्वरूपी रजः या भौतिकता के आभास या पूर्वाभास रूप में वर्तमान (व्याप्त) रूप में विद्यमान कहा गया है। उक्त जलों से जो पूति गन्धि आने लगी। वह जलों के उपरी तह में दर्भ रूप में जागृत हुई, जल का समुद्रः (चतुर्थ सप्तक) बना। दर्भ भौतिक ओषधियों में सर्वप्रथम जन्मा है। अतः उक्त पूति गन्धीय दर्भों को 'पवित्र' रूप में बनाकर उससे शिर में शुद्धि के लिए जल छिड़कते हुए कहते हैं "पवित्रे स्थौ वैष्णव्यौ पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण'। इसकी पुष्टि में लिखा है 'यदेता वृत्रः पूतिभिः प्रास्रावत् तदेतासा मेताभ्यां पवित्राभ्यां अपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति।" (श० प० ब्रा० १-१-३-३ से ५ तक)। ब्रह्म रूपं जल के सामने वृत्र रूप जल अशुद्ध है, भौतिक होने से, अतः पुनः शुद्ध-बुद्ध ब्राह्म जल से शुद्धि की जाती है।

उक्त वृत्र रूप जल, वास्तव से हमारे आजकल के जल के समान या आकाश की वृष्टि के जल के समान नहीं और कदापि नहीं है। ये जल तो केवल व्याप्ति आवरण और प्रवाह रूप मात्र की व्याख्या देने वाले पशु हैं, कल्पनायें हैं। वृत्र रूप जल तो 'रजः' रूप अणु या कण रूप विद्युदग्नि है। वेदों में जल माने विद्युत् ही होता है जैसे 'वज्रो वै आपः' (श० प० ब्रा० १-१-१-१७,१८ और १-२-३-२०)। इन जलों का नाम सत् है जैसे 'पयः एव सत्' (श० प० ब्रा० १-५-२-८) कि चतुर्थ सप्तकीय जल ही सत् या भौतिक तत्त्व है। और इन जलों का दूसरा प्रसिद्ध नाम है वाग्ब्रह्म शब्द ब्रह्म वाक इत्यादि जैसे—"सो अपोऽसृज्यत वाच एव लोकात् वाचो वास्य सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नो-द्यदिदं किं च, यदाप्नोत्तस्मादापः यदवृणोत्तस्माद्वाः।" (श० प० ब्रा० ६-१-१-९)। सोः माने प्राणों से जलों की सृष्टि हुई। ये जल, वाणी के नाम हैं, जल के नहीं, शब्द की उत्पत्ति हुई। क्योंकि इस जल रूप वाणी ने अखिल ब्रह्माण्डीय ब्रह्म को व्याप्त कर लिया या प्राप्त कर लिया। अतः इस वाणी को 'आपः' नाम से पुकारते हैं, जब यह वाणी ब्रह्म को चारों ओर से घेर लेती है या आवृत कर लेती है तब उसे ही वाः वारि (जल)

५—वृत्र और आपः

नाम से पुकारते हैं। ध्यान रहे वृत्र की भी यही व्युत्पत्ति है जो पिछले परिच्छेद में दी जा चुकी है जैसे यास्क ने भी ब्राह्मणों को उतारा है, वृणोतेर्वा वर्धतेर्वा वर्धयतेर्वा, यद्वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं, यद्वर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं, यद्वर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।" इसीलिए वृत्र को भी जलमय कहा गया है, केवल उसकी व्याप्ति या आवरणता को लक्ष में रखकर, कि इस लिए नहीं कि सचमुच में वृत्र जल का नाम है। वेदों में आपः शब्द जहाँ कहीं भी प्रयुक्त हुआ है उसका अभिप्राय यही व्याप्ति रूप आवरण रूप वाणी या विद्युत् हैं। बृहदारण्यक ने आदि में इन्ही आपः की व्याख्या देते हुए लिखा है "आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् तस्याम-श्रामत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो निरवर्ततग्निः।" यहाँ आपः को 'अपांशरः' नाम से पुकार कर इसका संकेत विद्युत् के शर (या चार्जेज) से किया गया है। ब्राह्म अपां-शर पुरुष रूप (नेगेटिव चार्ज) है और भौतिक अपांशर प्रकृति रूप या (पोजिटिव चार्ज) होता है। प्रथम से आध्यात्मिक अग्नि या जीवनीय अग्नि या चैतन्यता का प्रादुर्भाव होता है, द्वितीय से भौतिक अणु रूप बीजाणु रूप प्राणाग्नि का। इन भौतिक बीजाणुरूप विद्युदग्नि के प्राकृतेय (नेगेटिव चार्ज या) शर को अन्यत्र 'अपां सङ्गमे' शब्द से तथा सूर्य पुत्र (रूप वृत्र) नाम से पुकारते हुए लिखा है

"अयं वेनश्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाꣳसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति॥"
(ऋ० वे० १०-१२३-१ यजुः ७-१६ तै० सं० १-४-८-१)

क्योंकि इन जलरूप या विद्युद् स्वरूप वृत्र से अभौतिक ब्रह्म भौतिक ब्रह्माण्ड में परिणत और परिवृद्ध होता है, अतः इसे 'ऋतावृधा' नाम से पुकारा गया हैं

"अयं वा मित्रावरुणा श्रुतसोम ऋतावृघा।
ममेदिह श्रुतं हवं उपयाम गृहीतोऽसि॥"
(यजुः ७-९)

यह प्राकृतेय शर या पोजिटिव चार्ज अन्धकारमय होता है और नेगेटिव से उद्दीप्त होता है। अतः इसे 'तमः' (वृत्र) नाम से पुकारा है। इसी अन्धकार की व्याप्ति रूपकता के कारण इसे पर्जन्य भी कहा जाता है और रजः कणमय होने से वृष्टिमय। जब यह पुरुष (या नेगेटिव) शर से उद्दीप्त किया जाता है या हो जाता है तब इसे वैश्वानराग्नि नाम से पुकारते हैं। श० प० ब्राह्मण ने लिखा है जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तो उसका दाह इसी वैश्वानराग्नि की चिता में किया। "यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहँऽस्तमग्निना वैश्वानरेण समदहत्तदस्य सर्वं पाप्मानं समदहत्।" ११-१-५-८)। यह वैश्वानराग्निः सोम या इन्द्राग्नि है। अतः इसे व्यात्त या व्याप्त कहा गया है "व्यात्तमग्नि वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य" (श० प० ब्रा० १-५-३-१ से ५, ६ और १०-६-४-१)। इसी वैश्वानर का नाम अग्नीषोमो भी है। यही भौतिक वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है। "इन्द्रो अग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीदनेन वाङ्कामप्रेण यज्ञेन याजयानि। अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वं अन्नं च" (११-१-

६-१६)। यही ऐन्द्रवायव ग्रह भी कहलाता है जिसे यह सूचना देने के लिए कि 'वृत्र का बध हो गया है' ऐन्द्रवायव की पदवी दी गई। यह ऐन्द्रवायव भी शब्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। सूचना ही शब्द ब्रह्म की संकेतिका है। अतः लिखा है "वाग्घ वा अस्येन्द्रवायवः" ४-१-३ पूरा)। इसी चतुर्थ सप्तक के तृतीय तीर्थ में सरस्वती वृत्रघ्नी भी कहलाती है (ऋ० वे० ६-६१)। सरस्वती वाग्ब्रह्म है, भौतिक वाग्ब्रह्म है जिसका पूर्वाभास पूषा नामक २४ वें (अत्रिदक्षक्रतू मित्रावरुण) से होता है। इसीलिए सरस्वती का नाम 'पूष्णा' भी है (ऋ०वे० ६-६१)। यह भौतिक स्वरूप धारण करके 'चत्वारिश्रृंगाः''' वृषभोरोरवीति' से 'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' बाणी का सर्वप्रथम रोरवण करती है (तै० उप० श० प० ब्रा० १-५-२-१७)। अतः यह वृत्र तो हमारा भौतिक आसुरी शब्द ब्रह्म है। (सोम देखें)।

६—वृत्र और चतुष्पाद् ब्रह्म

सोम या वृत्र या चन्द्र अकेला तत्त्व नहीं है। यह चतुष्पाद् ब्रह्म या अन्नं ब्रह्म है। इसके चार भाग हैं। प्रथम तीन भाग त्रिपादामृत कहलाते हैं। ये सूक्ष्म भौतिक आत्मायें हैं। चौथा यह सोम चन्द्र या वृत्र पूर्ण भौतिक सूक्ष्म या सदात्मा है। 'यथेह पुरुषो सद्' में जो कामना पुरुष के सद् में परिणत होने की की गई है वह सोम चन्द्र या वृत्र के उदय होने ही से पूर्ण होती है। दिये हुए चित्र में संख्या १ अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म या आकाश ब्रह्म या ऋत ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म का सूचक है, संख्या २ जीवात्मा रूप रुद्रात्मा या वायवीयात्मा का, संख्या ३ तैजसात्मा या इन्द्रात्मा या व्यानात्मा मातरिश्वात्मा का, संख्या ४ सोम या चन्द्र का या दैवी प्रवृत्ति मूलक अखिल ब्रह्माण्ड के दिव्यशरीरी भौतिक अणु का, संख्या ५ उसी संख्या चार की आसुरी प्रवृत्ति मूलक पर अखिल ब्रह्माण्ड के दृश्य भौतिक सृष्टि का मूल कारण वृत्र का। प्रथम तीन का नाम अपांशर मध्ये 'ऋतशर' है, चतुर्थ पञ्चम का नाम 'सत्य शर' है। दोनों का वीजगर्भीय रूप वैद्युतीय है। (वृष्टिर्विद्युत्)। जब ऋतशरीय इन्द्र का सत्यशरीय सोम या वृत्र से संयोग होता है तब दोनों तारों के संयोग से प्रकाश आने के समान उन दोनों के मेल से एकदम प्रकाश या ज्ञान का भौतिक स्वरूप सामने आ जाता है। इस प्रकाशित ऋतसत्यशरों को वैश्वानराग्निः या वृत्रवध कहते हैं। वृत्र की उद्दीप्ति ही वृत्र का वध है, वृत्र के अन्धकारमय तमोमय स्वरूप की हत्या ही वृत्र की हत्या है। सत् तत्त्व रूप वृत्र की हत्या हो जाय तो अखिल ब्रह्माण्ड नष्टभ्रष्ट हो विला जाय। समस्त दृश्यादृश्य सृष्टि वृत्र की या आसुरी या अन्धकार या तमोमय है, उसमें जो कुछ उक्त ऋतसत्यशरीय संयोगीय प्रकाश है वही ब्रह्म का विकास प्रकाश ज्ञान या बुद्धि है। उक्त प्रथम चारों का संयोग ही विष्णुः, सोमः, सविता, महादेवः, वृषभः, पर्जन्यः, वृष्टिः, रसः, ऊर्णनाभि, कुलाल, ब्रह्म, इन्द्रः आदि प्रसिद्ध नामों से पुकारा जाता है। विष्णुः, या केशव अदिति का अष्टम पुत्र मार्ताण्ड या पुरुष पशु या विवस्वान् अथवा अष्टम आदित्य (अदितेः पुत्रः आदित्यः) है। गीता भी कहती है "आदित्यानामहं विष्णुः" (१०-)। यह विष्णु वही मार्ताण्ड या अदिति (या देवकी) का अष्टम पुत्र है। छान्दोग्य इसीलिए

लिखता है 'कृष्णाय देवकी पुत्राय'। यहाँ कृष्ण नाम विष्णुः या सोम का है, देवकी अदिति का। ये सब सूर्य नामक कामब्रह्म सूचक २५ वें तत्त्व के पुत्र हैं और सूर्य को अत्रि (२४ वें) की चक्षु या अंकुर कहा जाता है। प्रथम त्रिधात्मा नाम अमृत है या अमर है पर वृत्रादि भौतिक होने से मृत्युधर्मा या परिवर्तन परिवर्धनशील है। इस सत् तत्त्व के उदय के साथ-साथ लौकिक मृत्यु का भी उदय होता है। इसीलिए सविता के मन्त्र में 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' से सूर्य से अमृत अमर और मृत्युपरक दोनों की सृष्टि का आरम्भ बताया गया है। वास्तव में मृत्यु किसी की नहीं होती, मृत्यु खोल की या गर्भ की होती है, सद् ही खोल या गर्भ है, इसमें परिवर्तन या परिवर्धन हो जाता है। नचिकेता का यम से जिस मृत्यु के ज्ञान का प्रश्न है वह प्रलय रूप ब्रह्म नामक मृत्यु के ज्ञान का प्रश्न है। जैसे "स एष एव मृत्युः। य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो......हैतस्य हृदये पादावतिहतौ तौ हैतदाछिद्योत्क्रामति यदोत्कामति अथ हैतत्पुरुषो म्रियते तस्मादुहैतत्प्रेतमाहुराछेद्यस्येति॥" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१३, २ अथर्व ८-५-५) इसीलिए अन्यत्र कहा है 'नैवेह किंचनाग्रआसीद् मृत्युनैवेदमावृतमासीद्' (श० प० ब्रा० १०-६-५-१)। यह मृत्यु या अन्तक संवत्सर ब्रह्म कहता है (संवत्सर ब्रह्म देखें)।

जिन्हें उक्त परिच्छेद में चतुष्पाद् ब्रह्म कहा गया है उनमें से "अस्य वामस्य पलितस्य होतुः भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥" ऋ० वे० १-१६४-१) ने प्रथम तीन को भ्राता का

७—वृत्र का स्थान; वह शत्रु क्यों है ?

नाम दिया है। अर्थात् पूर्वार्द्ध या वाम या त्रिपादामृत के तीन भाई हैं। १ पलित, २ होता, ३ घृतपृष्ट विश्पति (अतिथि जातवेदा तनूनपात्)। चौथा भाई है मध्यम (अश्नन्)। सोम का पुत्र है वृत्र। यजुर्वेद ने इन भाइयों के दूसरे नाम दिये हैं वे हैं:—१ बन्धु, २ सुबन्धु, ३ प्रियबन्धु, ४ विश्वबन्धुः, और कहा है कि प्रथम तीनों ने मिलकर चौथे को मारा। यहाँ विश्वबन्धु नाम वृत्र का है क्योंकि 'विश्व' विशेषण सदा भौतिक तत्त्वों के आसुरी भाग के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'विश्वेदेवता' शीर्षक देखें। क्योंकि वृत्र, सोम नामक चतुर्थ भ्राता का पुत्र है, अतः वृत्र को समस्त वैदिक साहित्य में 'भ्रातृव्य' शब्द से या नाम से उचित रूप में लौकिक रूप में पुकारा गया है। पर जहाँ यह 'भ्रातृव्य' शब्द भतीजा अर्थ में ठीक प्रयुक्त है वहाँ इस भ्रातृव्य शब्द में एक दूसरी ध्वनि भरी है, वह है भ्रातृव्य माने शत्रुः। देखना यह है कि यह भ्रातृव्य शब्द शत्रु अर्थ का आक्षेपक क्यों हो पड़ा। आजकल वैदिक संस्कृत में भी इसका यह अर्थ विद्यमान है ही। इसका क्या कारण है ? बात यह है। उक्त चार भाई तो अमृत हैं अमर हैं विभु हैं व्यापक हैं अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं। परन्तु जब इनसे सत् नामक आसुरी प्रवृत्ति मूलक भौतिक सत् तत्त्व का उदय हुआ तो उक्त चारों आत्माओं को अब एक-एक ऐसा भौतिक खोल मिल पड़ा जिसके अन्दर चारों के चारों पृथक्-पृथक् थैलियों में जैसे बँध गये। अतः भौतिक सृष्टि के उदय के साथ-साथ चतुष्पाद् ब्रह्म के बन्धन का प्रबन्ध हो पड़ा। अब इन्हें अमृत अमर होते हुए मृत या मर्त्य खोल

या बन्धन स्वीकार करना पड़ा। क्योंकि ये इस खोल में बाँधे गये, और इस भौतिक तत्त्व ने इन्हें बाँधकर शत्रु का सा काम किया। अतः यह भ्रातृव्य भौतिक तत्त्व भ्रातृव्य होते हुए 'शत्रु' समझा जाने लगा, और तब से यह भ्रातृव्य शब्द 'शत्रुता' का बोधक होने में प्रसिद्धि पाकर अबतक उसी भाव में प्रयुक्त किया जा रहा है।

भौतिकता में प्रत्येक तत्त्व अपादहस्त या सूक्ष्म कीटाणु या वीजाणु रूप में गर्भमय या गर्भीय बीज होता है। अतः वृत्र को अहि नाम से पुकारने लगे। इसका जीवन आसुरी प्रवृत्ति या असुमय या अन्नाद रूप हो गया। अतः इसे असुर कहने लगे, यह पार्थक्य पा गया अतः इसे दानव, खण्डन से नव-नव रूपी कहने लगे, या खण्डन से नूतन रूप पाने वाला कहने लगे। इन भावों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की पशु रूप कथायें प्रचलित की गई। इसका नाम 'विश्व' या सत् तत्त्व है यह शत्रु नाम से पुकारे जाते हुए भी अपने पूर्वज त्रिपादामृत का ध्यान न रखकर खाने पीने में ही मस्त रहता है। तथा इसके वर्णन में दिया है कि इसीका दैवी स्वरूप त्रिपादामृत पाने का मार्ग भी है।

८—वृत्र के नामों की व्याख्या

"विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥"
(ऋ० वे० १०-२८-१)

कि मुझे विश्व नामक या भौतिकता का खोल रूपी यह शत्रु तो मिल गया मेरे पास आ गया, पर श्वसुर या सु+असु=श्वसू एव श्वसुरः 'को नाम प्रजापतिः' श्वसुरः (ऐ० ब्रा० १-२-२२) संरक्षक प्रजापति नहीं मिला नहीं आया। यह खीलें खाता, मदिरा पीता और खूब खा पीकर बेहोश हो जाता है सो जाता है इसका दूसरा अर्थ यह है कि यद्यपि मेरा शरीर शत्रु रूप में सर्वतो सम्पन्न है, पर मुझे स्वसुर या ज्ञान की आवश्यकता है जो नहीं आया है, इसके लिए इस भौतिक शरीर रूप खीलों को चूर्ण कर, उसे फिर सोम में सोमात्मा में परिणत करके इस सोमात्मा को सूर्य रूप २५ वें तत्त्व में परिणत कर पुनः उस सूर्यात्मा का अस्त २४ वें ॐकार ब्रह्म सागर में कर देना चाहिए। तब त्रिपादामृत की अनुभूति होगी। इसीलिए हमारे वैदिक गायत्री ब्रह्म से सविता का जप और ध्यानकर योग द्वारा ज्ञान प्राप्त करते थे।

अध्याय ७२

सविता

चन्द्रमा देवता ही आदित्य रूप में सविता कहलाता है। यह अष्टम आदित्य है। यही गायत्री ब्रह्म है जिस पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखा जा चुका है। यही सोम है, यही विष्णु है, यही मुख्य यज्ञ है, यह सब उक्त गायत्री नामक अध्याय में बताया जा चुका है। यह सविता, सूर्य देवता का विकास है। वैश्वानर पुत्र है तो विश्वानर या सूर्य पिता। यह वैश्वानर नाम सविता का ही है पर अग्नि की विकास श्रेणी में पूषा सूर्य का पिता है, पूषा के पिता अश्विनी हैं (ऋ० वे० १०-८५-१४)। अतः सूर्य वैश्वानर का पितामह है तो पूषा प्रपितामह। सविता वैश्वानर का पुत्र है जैसे—"देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण" (आश्वलायन श्रौ० सू० १-३-२३)। यह सविता २७ वाँ तत्त्व है। गायत्री से इसी की उपासना की जाती है। इसका वही स्थान है जो सोम और विष्णु का, जैसे "विष्णुः सोमः सविता सोमः" (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९;। यजुः ५-३९ में सम्बोधन करती है कि 'एतत्त्वं देव सोम'। यह चन्द्रमा ज्ञानमय दैवी प्रकाश का प्रतीक है, अतः यह बृहस्पति या बृहती का पुत्र भी कहलाता है, वैश्वानर को 'बुध' ग्रह नामक अग्नि कहते हैं। अतः चन्द्रमा को ग्रहों में बुध का पुत्र वैज्ञानिक रीति से माना जाता है। पर इस तथ्य को छिपाने के हेतु बुध के गुरु-तल्पग की कथा गढ़ ली गई है। ऐसी अनहोनी कोई घटना तो सत्ता में नहीं है पर बृहती से बृहस्पति क्षेत्र से इस सोम या चन्द्रमा का विकास स्वाभाविक रूप में होता है।

इस सविता को अखिल भौतिक सृष्टि का प्रसविता कहते हैं, यह गायत्री के मन्त्रों की दी गई व्याख्या से स्पष्ट किया जा चुका है। इसका सप्तक चतुर्थ है जिसे आपोमय भौतिक समुद्र भी कहते हैं, जहाँ से पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध का भी आरम्भ होता है। पर इसका आरम्भ, प्रथम तत्त्व से हो जाता है इसीलिए यह द्यावा पृथिवी दोनों का विकास कारक मुख्य तत्त्व है। यही भाव निम्न ऋचायें देती हैं।

"सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कभने सविता द्यामदृंहत्।
अश्व मिवाधुक्षद्धुनि मन्तरिक्ष मतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥"

(ऋ० वे० १०-१४९-१)

सविता ने अनारम्भण (अस्कभने) काल में द्यावा का विकास प्रारम्भ किया, विकास पूरा होने पर, पृथिवी को रमणीय रूप देते हुए उससे द्यावा का स्तम्भन भी किया। पृथिवी तल में जो समुद्र निबद्ध था अप्रगट विद्युत्स्वरूपी था उसे प्राण रूप में बँधे घोड़े की तरह तुरन्त युक्त करके उसके जलों की नदियों (धुनिम्) को तत्कालीन ब्रह्माण्ड में प्रवाहित कर दिया (तत्कालीन विद्युल्लहरियाँ नदियों की भाँति सवेग

प्रवाहित होने लगीं)"। वह सविता हिरण्य या ब्रह्म का स्तूप सा प्रतीत होने लगा; अब अङ्गिरसादि चतुर्थ सप्तक के सप्त ऋषि तुम्हारा आह्वान करके यज्ञ पूरा करने लगे। मैं भी अपनी सुरक्षित जीवनी के लिए तुम्हारी अर्चना करते हुए तुम्हें सोम का सा दिव्यशरीर समझ कर जाग्रत रहता हूँ (मैं जानता हूँ कि तुम सोम रूप अमृत के दिव्वशरीर वाले हो)। जैसे

"हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥"
(ऋ० वे० १०-१४९-५)

सविता का स्वरूप कवि रूप या सृष्टि कर्ता रूप या बुद्धि रूप होता है। वेदों में जहाँ जहाँ जिस जिस देवता के लिए कवि या कारु शब्द का प्रयोग आता है वहाँ वह उसके बुद्धि स्वरूप या सृष्टि कर्ता रूप या सोमात्मा या एकमेवाद्वितीयं भौतिकात्मा रूप का प्रतीक होता है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' गायत्री मन्त्र इसका अकाट्य प्रमाण है। यहां बुद्धि या धी या धियः सब शब्दों का अभिप्राय यह है कि ये पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत को धारण करते हैं। इससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की नाना रूपता का सूत्रपात होने लग जाता है। यह आवरणीय या व्याप्ति धर्मा एकात्मीय भी या ही होता है और इसका उदय उषा से होने लगता है तथा नक्तोषा में यह पूर्ण परिपक्व हो जाता है। ठीक यही भाव यही निम्न ऋचा दे रही है

"विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥"
(ऋ० वे० ५-८१-२)

इसमें द्विपद् शब्द द्वितीय पाद के जीवात्मा तथा चतुष्पद् शब्द चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए आया है जिनसे प्रथम और तृतीय पादों का भी स्वयं अध्याहार हो जाता है। तृतीय पाद का सूचक शब्द 'नाक' (दिव्) शब्द तो है ही। सविता को जब पशुवाद के ब्राह्मणों में 'अधोरामः सावित्र्यः' कहते हैं तो यहाँ अधः शब्द दर्शन के दक्षिणार्द्ध का सूचक है क्योंकि सविता का उदय दक्षिणार्द्ध या अधोभाग में होता है। इसी प्रकार जब 'कृकवाकुः सावित्र्यः' कहते हैं तो यह काल का सूचक है। पूर्वार्द्धीय कालात्मा तो अखण्ड ब्रह्म है, पर उत्तरार्द्ध में वही अखण्ड काल, खण्डशः या कला मे क्षण क्षण में विकास पाता हुआ एक स्थूल काल या तत्त्व का बोधक बनता है। सविता देवता सर्वा देवता है। यह अग्नि प्रजापति वरुण, विद्युत् वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, वेद, दिन, पुरुष, पशु, प्राण, मनः राष्ट्र आदि का वाचक है*।

---

* जै० उ० ४-२७-१, ताडय १६-५-१७; जै० उ० ४-२७-३, गो० पू० १-३३; जै० उ० ४-२७-१, ऐ० १-१९, श० प० ६-३-१-१३, तै० २-५-७-४; श० ३-२-३-१३ इत्यादि।

अध्याय ७३

वेनः (भी 'सोमः' 'सूर्यस्य शिशुः' या चन्द्रमा देवता है)

यह 'वेनः' वैदिक देवता है, एक तत्त्व है, परन्तु पुराणों में इसका वर्णन एक ऐसे राजा के रूप में किया गया है जिसने पृथिवी को काम धेनु स्वरूप में दुहा और अनेक रत्नों को प्राप्त किया। ऐ० ब्रा० (१०४-२०) ने ऋ० वे० १०-१२३-१ मन्त्र को उद्धृत करते हुए 'वेनः' शब्द के माने 'प्राणा' लिखा है जैसे "वेनः प्राणा ऊर्ध्वा, अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्माद् वेनः प्राणाः" कि वेन नाम ऊर्ध्व प्राणों का है, उसे अन्य प्राण नीचे को खींचते हैं अतः इसे वेन कहते हैं। वेन माने नीचे को खींचने वाले प्राण होता है। यास्क महोदय को ऐ० ब्रा० के इस उल्लेख का पता ही नहीं हैं अतः वे

"अयं वेनश्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योति र्जरायू रजसो विमाने।
इममपांꣳसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥"
(ऋ० वे० १०-१२३-१)

का अर्थ अपनी वेतुकी शैली से कल्पना के कनकौवे उड़ाते हुए कुछ का कुछ लिख गये हैं। भाग्य वश इस ऋचा का अर्थ तो बृहदारण्यक उपनिषद् ने ही (१-२-१) स्पष्ट दे दिया है, उसे भी यास्क ने देखने का कष्ट नहीं किया है। इस मन्त्र का अर्थ उक्त अवतरणों के अनुसार इस प्रकार बैठता है। यह ऊर्ध्व प्राण स्वरूप वेन तत्त्व, प्रश्निगर्भा या नाना रूपाकारों का वीज रूप गर्भ धारण करने वाला तत्त्व है। इस गर्भ का स्वरूप ज्योतिर्मय है। इस ज्योतिर्मयता का कार्य ऊर्ध्वप्राणों को अधोऽधो को क्रमशः खींचकर सृष्टि या जीवन के लिए प्रेरणा देना है। पर यह प्रेरणा और इसकी ज्योतिर्मयता जरा और आयु दोनों से सीमित है, क्योंकि इसकी ज्योतिर्मयता का निर्माण रजसः या भौतिकता से हुआ है (विमाने शब्द 'जरायू' शब्द का विशेषण है)। यह ज्योतिर्मयता आपोमय चतुर्थ सप्तक के समुद्र की लहरों के संगम या संघर्ष से उत्पन्न होती है। अतः यह आपो मय रूप ज्योतिर्मयता वास्तव में सूर्य नामक २५ वें तत्त्व के शिशु समान (बृह० उप० १-२-१) तथा नये प्रथम उत्पन्न पुत्र के समान (शिशुं जातमिव शिशुरि व एषः प्रथमो जातः ऐ० ब्रा० १-४-१०) है, ऐसा हमारे वैदिक दार्शनिकों (विप्राः) ने अपनी अपनी विचार धाराओं से प्रस्तुत किया है, या विकास बतलाया है या पूजन या स्तवन किया है।" सीधी सी बात है कि वेन नामक तत्त्व सोम राजा का प्रतिनिधि है। उसी की ज्योतिर्मयता आपोमयता जरायुता रजस्ता प्रश्निगर्भता और सूर्यशिशुता का वर्णन किया गया है।

वेन सूक्त (१०-१२३) के अग्रिम शेष ७ मन्त्रों में उक्त आशय को पूर्ण समर्थन प्राप्त है। लिखा है वेन (चतुर्थ सप्तक के) समुद्र में उर्मियों को उत्पन्न करता है, वह भोजों के समान पृष्ठ भाग में ऋत को देखता है, उसी ऋतु के सानु या ऋतरूप

पर्वत के मध्य में, या ऋत रूप वृक्ष में वह समान रूप से योनि में जैसे आवृत होकर रहता है। उसी बिन्दु पर सनीला डेरा घोंसला वाली मातरः या कृष्णपक्षीय या उत्तरार्द्धीय आपोरूप मातरः उसी सानु में अमृतरूप वाणी के मधु का आस्वादन करती हैं। उसके रूपों को जानते हुए भी ऋषियों ने उसे मृग या महिष के घोष का स्वरूप माना। वे ऋत रूप से खोजते हुए सिन्धु रूप चतुर्थ सप्तक में उसे अमृत नाम से युक्त गन्धर्व रूप में जान पाये। आपोमय चतुर्थ सप्तक की आपोमय अप्सरायें अपने प्रिय ऋत की सेवा शुश्रुषा में लगी हुई स्त्रियों के समान, आदि ब्रह्म से लेकर प्रत्येक विकासीय तत्त्व रूप ब्रह्म का प्रियानुष्ठान करती हुई, पूर्वार्द्ध के शुक्ल पक्ष के अन्त में हिरण्यमय पुरुष को प्राप्त हुई। वही वेन हैं। वही वेन है जिसे दिवः (तृतीय सप्तक से उत्पन्न) सुपर्ण कहते हैं, वही हृदय या ह्रद है जिसमें पूर्वार्द्ध के प्राणरूप तत्त्व या आनम्र होकर सुरक्षित होते हैं, उसके पक्ष हिरण्य (ब्रह्म) के हैं वही वरुण का अग्रदूत है, उसीसे यम की योनि में पृथक्-पृथक् शकुन (जीव-स्त्री-पुरुष) हो जाते हैं। यह वेन ऊर्ध्व गन्धर्व है। वह पहिले पूर्वार्द्ध में था, और धीरे-धीरे आयुध या आयु धारण करने वाले तत्त्वों को स्वीकार करके नाना रूपता की सृष्टि की रचना का नायक बनता है। इसके वस्त्र आपः देवता है, वही सुरभि या (ब्रह्म) या कामधेनु (पृथिवी भौतिक तत्त्व) है इस पृथिवी या भौतिक तत्त्व का नाम स्वर्ण रुक्म या हिरण्य है (ये नाम भी सार्थकता से उत्पन्न किये गये हैं)। उस ब्रह्म रूप समुद्र से प्रादुर्भूत होते हुऐ वह गृद्ध या श्येन या सूर्य के नेत्र से देखने लगा। यह तत्त्व आध्यात्मिक पूर्वार्द्ध का विधर्मा या पृथक् धर्म का (भौतिकतामय) था। यह कार्य-क्रम सूर्य के उदय होते ही हुआ जिसका प्रारम्भ तृतीय चक्र या सप्तक से हुआ और इससे प्रिय भौतिक तत्त्व का श्रीगणेश भी हुआ॥" भौतिक सृष्टि या उत्तरार्द्धीय सृष्टि प्रेयः या प्रेयसी या स्त्री है, अभौतिक या आध्यात्मिक या पूर्वार्द्धीय सृष्टि श्रेयः श्रेयस्वती या पुरुष है।

अध्याय ७४

ऋतम्

ऋत तत्त्व वेदों का परम पुनीत तत्त्व या देवता है। यह ऐसा गहन तत्त्व है जिसके अनुगमन करने का आग्रह तैत्तिरीय उपनिषद् ने दीक्षा काल में स्नातकों से सबसे पहिले करते हुए लिखा है

'ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च'

ऋतं— (८-१)

कि ऋत और सत्य नामक तत्त्वों का ज्ञान निरन्तर स्वाध्याय और प्रवचनों के अभ्यास द्वारा सदा बना रहे। यह ऋत तत्त्व किस तत्त्व का संकेतक है इसका निर्णय श० प० ब्रा० ने (४-१-४-१० में।) 'राया वयं······ ऋतायुभ्यां त्वा' (यजु० ७-१०) की व्याख्या करते हुए स्वयं कर दिया है कि ऋत नाम ब्रह्म का है जैसे

"यदाहर्तायुभ्यां त्वेति–ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः।
संवत्सरो हि वरुणः संवत्सरः आयुस्तस्मादाहैषते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति ॥"

यही बात मै० सं० ४-५-८; तै० सं० ६-४-८ का० सं० २७-४, कपि० सं० ४२-४ और का० श० ५-१-४ में भी मिलती है। वस्तु स्थिति यह है। वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक तत्त्वों का नाम ऋत है, उन्हीं को सत्तात्मकतया सत्य नाम से भी पुकारा जाता है जैसा कि ऋ० वे० १-१०५-१२ में 'ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं ततान सूर्यः' मन्त्र से स्पष्ट है परन्तु सत्य नाम पूर्वार्द्ध ही का है, इसीलिए

'हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

कहते हैं। हिरण्मय पात्र विश्वेदेवता रूप भौतिकात्मा सहित हिरण्यगर्भ हैं। गर्भ नामक तत्त्व आपोब्रह्म का चतुर्थ सप्तकीय भौतिक स्वरूप है उसीसे सत्य या ऋत नामक पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का मुख या स्वरूप ढका हुआ या प्रच्छन्न है। इसीलिए श० प० ब्रा० ने पूर्वार्द्ध की सृष्टि को सत्य तथा उत्तरार्द्ध का नाम अनृत नाम दिया है जिसे ऋ० वे० ने सत्यानृत नाम दिया है (वरुण देखें)। इसी सत्यानृत को हम 'ऋतानृत' भी कह सकते हैं। यह बात ऋ० वे० १-१०५-५ के 'कद्व ऋतकद-नृतं' इत्यादि से संपुष्ट होती है। अनृत माने जो 'ऋत नहीं है', है। ऋत पूर्वार्द्ध है तो अनृत उत्तरार्द्ध। एक आध्यात्मिक सृष्टि है, दूसरी भौतिक। भौतिक सृष्टि निरन्तर परिवर्तनशील है अतः उसे सार्थकतया अनृत या मिथ्या या एक रूप में न रहने वाली सृष्टि कहते हैं। अनृत सृष्टि की सीमा आयु से सीमित होती है। क्योंकि परि-वर्तन समय की आवश्यकता रखता है। इसीलिए यजुर्वेद का उक्त मन्त्र भी 'ऋतायुभ्यां त्वा' वाक्य से उक्त भाव का समर्थन करता है, श० प० ब्रा० उसकी सर्वथा उचित व्याख्या देता है। मित्र नामक तत्त्व पूर्वार्द्ध का अन्तिम तत्त्व है अतः

उसे भी ऋत नाम से पुकारा गया है। वरुण से भौतिकता का आभास या पूर्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए उसे आयु नाम से सम्बोधित किया गया है। इन दो तत्त्वों के पूर्ण बोध से स्नातक सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त रह सकता है। अतः तै० उप० का यह आग्रह है।

वेदों में ऋत तत्त्व की चर्चा प्रायः सर्वत्र आई है। प्रत्येक देवता का सम्बन्ध ऋत से जोड़ा गया है। बृहस्पति को 'ऋतप्रजात' और उषा को ऋतपा ऋतजा (१-११३-१२) कहा गया है। जब देवता अनृत रूप भौतिकात्मा का आवरण स्वीकार कर लेता है तब वह विश्वेदेवता या पूर्णदेव का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। विना भौतिकात्मा प्राप्त किये किसी देवता का महत्त्व ही नहीं है। ऋत का अनृत में प्रवेश या अनृत का खोल यह अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड हैं। यहाँ पर दो चार सूक्तों के कुछ मन्त्रों को दे दिया जाता है जिससे ऋत तत्त्व की महिमा पर पूर्ण प्रकाश पड़ जावेगा।

१— ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋतस्य धीति वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋ० वे० ४-२३-८

२— ऋतस्य दृल्हा धरुणानि सन्ति पूरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घ मिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥
ऋ० वे० ४-२३-९

३— ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥
ऋ० वे० ४-२३-१०

४— ऋतेन ऋतं नियतमील आ गोरामा सचा मधुत्पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशतां धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥
ऋ० वे० ४-३-९

५— ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे प्रश्निरूधः॥
ऋ० वे० ४-३-१०

६— ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नर परिषदन्नुषास माविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥
ऋ० वे० ४-३-११

७— ऋतेन देवी अमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः॥
ऋ० वे० ४-३-१२

८— क ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी।
ऋ० वे० १-१०५-४

९— अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥
ऋ० वे० १-१०५-५

१०— कद्व ऋतस्य धर्णसि कद्वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णो महस्पथाति क्रामेम दूढ्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥
ऋ० वे० १-१०५-६

११— अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानिचिद्।
तं मा व्यंत्याध्योऽवृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी॥
ऋ० वे० १-१०५-७

१२— नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥
ऋ० वे० १-१०५-१२

उक्त तीनों सूक्तों के ऋत विषयक उद्धृत मन्त्र प्रायः एक सा भाव रखते हैं। उदाहरण के लिए ऋत को पूर्वार्द्धीय कहने के लिए प्रथम और अष्टम मन्त्र 'पूर्वी' और पूर्व्यं शब्द का प्रयोग करते हैं। शतपथ ब्राह्मण की पूर्वोद्धृत व्याख्यानुकूल दशम मन्त्र अर्यमा और वरुण का सम्बन्ध ऋत से जोड़ रहा है इत्यादि। ऋत तत्त्व पूर्वार्द्धीय होने से केवल एक तत्त्व का तो वाची है पर उस एक में तीन तत्त्व व्याप्ति रूप से 'एकं सदेतत्त्रयम्' (बृह० उप० त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म) वाक्य के अनुसार समाये हुए हैं। उन तीनों का दूसरा नाम त्रिपादामृत है (त्रिपादस्यामृतं दिवि– पु० सू०)। ये त्रिपाद्–क्रम से (१) ब्रह्म (२) जीवात्मा (३) तैजसात्मा (इन्द्र या जातवेदा, धी, कवि, कारु आदि) हैं। मित्र में तीनों है; वह त्रिपादामृत है अतः मित्र रूप ब्रह्म त्रिपादामृत स्वरूपी ब्रह्म है, केवल ब्रह्म नहीं। त्रिपाद् को यहाँ 'त्रिषु रोचने' (९) कहा है। इसमें ऋ० वे० (१०-१९०-३) के 'ऋतं सत्यं चाभद्धात्तपस' इत्यादि का भाव भी जोड़ ले। इसका अर्थ धाता विधाता शीर्षक में दिया मिलेगा। ऋत शब्द या तत्त्व का अक्षर ब्रह्म परक अर्थ 'ऋ' से 'त' तक ४० अक्षरों का विराट् ब्रह्म भी है। वह विराट् पुरुष ४० अक्षर रूप तत्त्वों का है।

अध्याय ७९

विष्णुः

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति 'विशतीति विष्णुः' है जो भौतिक पांसव या रजः में प्रविष्ट होता है, दिव्य शरीर धारण करता है वह विष्णु है, अथवा जो भौतिकता का आनन्द लेता है 'व्यश्नोतिति विष्णुः' वह विष्णु है या जो विषवत् है, काला है वह विष्णु है 'यो विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति' या 'यो विषुवान् स विष्णुः' विषुवद्रेखा वाला विष्णु है।

१—विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति

विष्णु तत्त्व वैदिकों का सर्वा देवता तत्त्व है। विष्णु की उपासना से सब देवताओं की उपासना हो जाती हैं, विष्णु के विकास के ज्ञान से सब देवताओं के विकास का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अतः ऐ० ब्रा० सबसे आदि में लिखता है "अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुर्वै सर्वा देवता।" (१-१-१) और इसी प्रकरण में ऐ० ब्रा० ने आगे चलकर लिखा है कि अग्नि रूप देवताओं में विष्णु अन्तिम है जैसे "विष्णुर्वै देवानां द्वारपः" (ऐ० ब्रा० १-५-३०) 'यत्छ्रोत्रं तद्विष्णुः' (गो० उ० ४-११)। अतः विष्णु सर्वा देवता होते हुए व्यक्ति गत देवता रूप में सब देवताओं से कनिष्ठ है। पर इसे सब देवताओं में श्रेष्ठ कहा है 'विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः' (श० प० १४-१-१-५)। इसका स्थान स्वभावतः इसी लिए उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) होना चाहिए। अतः श० प० ब्रा० (३-१-३-१ से ५ तक) ने 'अष्टौ पुत्रासो अदिते···मार्ताण्डमाभरत् ऋ० वे० १०-७२-८,९' की व्याख्या करते समय विष्णु को पराद्धर्य या दक्षिणायन का ही मानते हुए लिखा है "अग्निर्वै यज्ञास्यावराद्धर्यो विष्णुः पराद्धर्यः"। अतः यह तत्त्व हमारे पुरुष सूक्त के पुरुष पशु का समानान्तर देवता है और अदिति का अष्टम पुत्र मार्ताण्ड नामक आदित्य है। वेडौल मार्ताण्ड की काट छाँट से जो शेष रह गया था वह विवस्वान् आदित्य बना था "यामुह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्यः तस्येमा प्रजाः" (श० प० ब्रा० ३-१-३-५)। इसका समर्थन गीता से होता है। गीता में विष्णु नामक कृष्ण कहते हैं कि मैंने यह ज्ञान विवस्वान् को दिया विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को' जैसे

२—विष्णु सर्वादिवता

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावाहनमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥" (४-१)

कृष्ण को देवकी का अष्टम पुत्र कहा जाता है, वह भी अदिति के अष्टम पुत्र कहने के बदले कहा है। छान्दोग्य ने 'कृष्णाय देवकी पुत्राय' वाक्य लिखा है। कृष्ण वैदिक तत्त्व है। श० प० ब्रा० (१-१-४-१) ने कृष्ण नाम के रहस्य के बारे में लिखा है कि कृष्ण यज्ञ का नाम है। वह मृग होकर भग गया। तब ऋषि कृष्णजिन को स्वीकार करके काम चलाने लगे जैसे "अथ कृष्णजिन मादत्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो

ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छाया जहुः।" फलतः कृष्ण और विष्णु एक ही तत्त्व है जिसको महाभारत में दूसरा रूप दिया गया है। देवकी के सात पुत्रों के मरने और अदिति के सात पुत्रों के विकृत होने की समानता भी यहाँ नहीं भुलाई जा सकती। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण भगवान् का 'आदित्याना महं विष्णुः' (गीता १०-१०) वाक्य भी कम महत्त्व का नहीं समझा जा सकता। यदि श्रीकृष्ण, विष्णु रूप आदित्य हैं तो वे निश्चय रूप से अदिति के अष्टम पुत्र रूप मार्ताण्ड नामक आदित्य ही ठहरते हैं। उत्तरार्द्ध के आदित्यों में यही संदर्भ बैठ सकेगा। क्योंकि प्रथम चार आदित्य तो पूर्वार्द्ध में हैं और ये चार तथा अन्य तीन कुल सात के तो मरने की कथा दी गई है। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि कृष्ण के कृष्णजिन को अदिति की त्वचा कहा है जैसे 'अदित्या त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु' (श० प० ब्रा० १-१-४-५) और इस सन्दर्भ की अदिति को पृथिवी या चतुर्थ सप्तक भौतिक सप्तक भी कहा है जैसे "अदित्यै रास्नासीतीयं वै पृथिवी अदितिः सेयं देवानां पत्नी एषा वा एतस्य पत्नी भवति" (श० प० ब्रा० १-२-४-१५)। इन सब क्रमिक कोटियों से उक्त वक्तव्य क्रमशः दृढ़ता पूर्वक पुष्ट परि-पुष्ट होता जाता है। और अन्त में इसी अदिति नामक पृथिवी की प्राप्ति के लिए जब देवता और असुरों में होड़ लगी तब विष्णु ने वामन के अवतार द्वारा देवताओं को इस पृथिवी या वेदि को दिलवाया जिसके बारे में श० प० ब्रा० भूमिका बाँधते हुए कहता है (मन्त्रों में वामन की चर्चा नहीं आ सकी है) 'वामनो ह विष्णुरास, तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नो दुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति' (श० प० ब्रा० १-२-३-५)। तब इस वामन* रूप विष्णु ने

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा॥"

(ऋ० वे० १-२२-१७)

ऋचा के अनुसार अपने तीन पदों से भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों को व्याप्त कर लिया और ये तीन पाद उसके चतुर्थ पाद के पांसुल रजोमयता में अदृश्य से हो गये। ये तीन लोक पृथिवी अन्तरिक्ष स्वर्ग नहीं हैं ये तो लौकिक लोक हैं। भूर्भुवस्वः क्रम से प्रथम तीन सप्तक है। इनके हस्तगत हो जाने से चतुर्थ सप्तक की पृथिवी नामक वेदि या सप्तक या भौतिकात्मा देवताओं के हाथ लग गई। अतः लिखा है। "तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त, तद् येनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम; तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी।" (श० प० ब्रा० १-२-३-७ से १० तक)। उस वामन ने बृहत् शरीर से चार पादों से चतुष्पाद्ब्रह्म रूप से पूर्वार्द्ध के त्रिपाद का अतिक्रमण करके चतुर्थ को अपना लिया।

* यह वामन मध्यम प्राण भौतिकामृत युक्त है जिसका उल्लेख कठ० उप० (५-३) ने इस प्रकार दिया है "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।"

इसको पूर्वार्द्ध के ३६० दिन रूप अंशों को चार समकोणीय ९०° अंशों में विभक्त करते हुए लिखा है "चतुर्भि साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्। बृहच्छ रीरोविमिमान ऋक्कभि र्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्।।" (ऋ० वे० १-१५५-६)। इस पृथिवी या वेदि को किस क्रम से प्राप्त किया गया इसका वर्णन "गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" (श० प० ब्रा० १-२-३-६) वाक्य द्वारा उक्त समस्त कार्यावाही को छान्दस दर्शनानुरूप ढाल दिया है। गायत्री ब्रह्म में बिस्तार पूर्वक लिखित सौपर्ण आख्यान या कथा में ऐ० ब्रा० (३-३-२५) और श० प० ब्रा० ६-३-१४ ने 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाहरत्' नामक शीर्षक से, छन्दों के अनुसार सोम लाने के लिए पहिले त्रिष्टुप जगती आदि गई पर वे न ला सकीं, पर अन्त में गायत्री सफल हुई। इस वेदि या पृथिवी को गायत्री के तीन पाद रूप २४ तत्त्वों के अतिक्रमण करके, त्रिष्टुभ् के ३३ तत्त्वों का अतिक्रमण करके, जगती के ४८ तत्त्वों का अतिक्रमण करके प्राप्त किया। अतः वेदि या पृथिवी भी एक नहीं, कई हैं। जितने तत्त्वों को (उत्तरार्द्ध के भौतिकों में) एक साथ छन्दानुसार कहा जाय उसी को वेदि कहा है 'यावत् वेत्ति तावत् वेदिः' जितने को समझ कर कहा गया उतनी बड़ी वेदि है। और्णवाभ ने जिस 'गया' को इन पादों का सिर या प्रथम पाद कहा है वह विहार प्रान्त की गया नहीं है वरन्, 'गयाँ प्राणाँ स्त्रायते गायत्री' के प्राण रूप गया है प्रत्येक पाद गया है, गायत्री ही शिर है, तीनों पाद शिर है 'गायत्रीर्वै यज्ञस्य शिरः' (श० प० १०-३-२-१)।

विष्णु का नाम केशव है। के 'आपोमयब्रह्मणि चतुर्थ सप्तके स्वपतीति केशवः'। यह केशव नामक विष्णु श० प० ब्रा० (५-२-३-२) के अनुसार न तो स्त्री है न पुरुष है, न लोहा है न हिरण्य, न क्रिमि है न दन्दशूक, यह लोहायस या लोहित दन्दशूक सा केशव पुरुष है जैसे "केशवस्य पुरुषस्य न वा एष स्त्री न पुमान् केशवः पुरुषो यदह पुमाँस्तेन न स्त्री यदु केशव तेनो न पुमान्नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूका अथ यल्लोहायसं भवति लोहिता इव दन्दशूकाः तस्मात्केशवस्य पुरुषस्य।।"। अथर्ववेद (१०-४-८-२७) ने भी इसका वर्णन कुछ इसी प्रकार का देते हुए लिखा है

३—केशव नामक विष्णु

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।"

वास्तव में विष्णु सोमात्मा है

"यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति।"

(श० प० ब्रा० ३-५-२-१९)

और यह सोम स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्तात्मा है जिसका विशद् वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (१-४-३) ने इस प्रकार दिया है "स वा नै रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्।" यही विष्णु जब 'यज्ञ' नाम से पुकारा जाता है तब

इसे पुरुषपशु का प्रतिनिधि बनाया जाता है। और यही सविता का भी प्रतिनिधि है "पशवो वै सविता पशवो वै यज्ञः" (श० प० ब्रा० ३-२-२-११)। इसी को पादत्रयी यज्ञ या ऋग्यजुसाम भेदी पादों का यज्ञ पुरुष (ब्रह्मा) भी कहा है "सैषा त्रयी विद्या यज्ञः" (श० प० ब्रा० १-१-४-३) जिसका सन्दर्भ कृष्ण या कृष्णजिन के साथ—जिसके बारे में पहिले लिखा जा चुका है—दिया गया है। अतः वैदिकों के अन्तस्तल में विष्णु नामक देवता का बहुत व्यापक प्रभाव स्वयं (अभिगत और अभिमत) सिद्ध हो जाता है। पंक्ति विष्णु की पत्नी कही गई है (गो० उ० २-९) उत्तरार्द्धीय यजुः भी विष्णु कहलाता है 'यजूंसि विष्णुः' (श० प० ४-६-७-३)

ऋग्वेद में विष्णु के कई सूक्त हैं, दो चार आवश्यक ऋचाओं के भाव—जिसमें विष्णु तत्त्व के विवरण अधिक स्पष्टता से प्राप्त हो सकते हैं—यहाँ दे दिये जाते हैं। प्रत्येक सूक्त ने विष्णु का वर्णन सर्वा देवता के रूप में किया है। क्योंकि सब ने इनके तीन पादों से तीन लोकों को व्याप्त करने की अन्तर्कथा को छोड़ना उचित नहीं समझा है। तीन पादों में पूरा पूर्वार्द्ध आ जाता है और उत्तरार्द्ध की मुख्य भूमि चतुर्थ सप्तक के बिना उक्त अन्तर्कथा व्यर्थ हो जाती है। ऋ० वे० १-२२ और १-१५४ में विष्णु के त्रिपाद क्रमण की व्याख्या विशेषतः दी गई है, कई ढंग से कही गई है। विष्णु को इन पाद रूप पर्वतों में भयंकर मृग (सिंह) की तरह रहने वाला और इन पाद रूप पर्वतों को मधुओं का मूल भण्डार (उत्स) तथा स्वधावान् बतलाया है। इन तीन पादों को त्रिधातु भी कहा है। अन्त में कहा है कि ये तीन पाद विष्णु के परम पद, उच्चतम स्थान है जिसके हम उन महलों में निवास करना चाहते हैं जहाँ अनन्त शृङ्ग वाली धेनुयें निरन्तर मधु रूप दुग्ध को दुहती रहती है वही हमें सबसे अधिक प्रिय परम पद प्रतीत होता है। यह है चतुर्थ सप्तक का रसमय आपोमय आदित्यमय (गावः) सोममय विष्णुपद जैसे

४—ऋग्वेद में विष्णु

"तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥"
(ऋ० वे० १-१५४-६)

जिनको पर्वविद्या के पर्वतों का भ्रम अब भी नहीं छोड़ता वे विष्णु के त्रिपादों के २४ पर्वतों की पूर्ण व्याख्या यहाँ देखकर उसे मिटा सकते हैं। वेदों में पर्व या पर्वत गिरि या गिरिष्ठा सब शब्द पूर्वार्द्ध के प्रत्येक तत्त्व का संकेत करता है, प्रत्येक तत्त्व एक पर्व या ग्रन्थि या पर्वत, या गिरि या शब्द ब्रह्म का एक रूप है। ऋ० वे० १-१५५-१ में पुनः इस विष्णु को उक्त पर्वतों के सानुओं या अधित्यकाओं में रहने वाला बताया है; इस सूक्त में विष्णु के तीन पादों को पार्थिव और पौस्य (पूषा के) बतलाया है, इसलिए कि प्रथम तीन पाद, जब विकसित होते हैं तो चतुर्थ भौतिक सप्तक रूप पूषा या पोषणशील भूतात्मा या पार्थिवात्मा या रजस्तत्वात्मा बन जाते हैं। अन्त में कहा है कि इसके दो क्रमण या पाद रूप तत्त्वों के भार ही से ब्रह्माण्ड कुचला जा रहा था, तीसरे पाद रूप तत्त्वों के विकास से उस सृष्टि वृक्ष की

टहनियाँ ऐसे हिलने लग गई जैसे हलकी टहनी में एक बड़ा श्येन पक्षी बैठ जाय। ऋ० वे० १-१५६ में लिखा है कि इस विष्णु की अर्चना में राजा वरुण, अश्विनी कुमार, मरुतः वेधाः, लगे थे, उसने दक्ष, और व्रज को धारण किया, वह दिनों (पूर्वार्द्ध) का ज्ञाता है और सखिवान् है तथा इन्द्र देवता से अधिक सुकृत कर्मा है। यहाँ पर दक्ष और व्रज को धारण करने की बात एक नई है। येही नाम वैष्णवों के गो लोक, व्रज गोप आदि की भूमिका के मूल स्रोत हैं। दक्ष २४ वाँ तत्त्व है, उसके पश्चात् सूर्योदय होता है। विष्णु का सम्बन्ध गायों और व्रज से अभिन्न रूप से है। गौवें, आदित्यों की ज्योतियाँ या वाग्ब्रह्मणियाँ हैं, येही गोपियाँ भी हैं ये सब सोम ज्योति या भौतिक दिव्य शरीर की प्रतीक हैं। यह आदित्य नामक विष्णु भी है। विष्णु का भौतिक शरीर पाना या सोम ज्योति बखेरना ही गायों की प्राप्ति या गोपियों की रासलीला या योग द्वारा विष्णु ज्योति प्राप्ति का आनन्द है। व्रज चतुर्थ सप्तक का आपोमय रसमय सप्तकीय महः लोक है। उक्त सूक्तों और विष्णु देवता की योग परक व्याख्या मेरे 'वैदिक योग सूत्र' में देखें।

——×——

अध्याय ७६

भगः (या आर्यों का भगवान् नामक देवता)

भारतीयों का भगवान् 'भगः' देवता है, त्रिपादामृत के सब देवता अखण्ड परिपूर्ण और असीम देव हैं, सब आध्यात्मिक भी हैं, सूर्य सोम इन्दु चन्द्र (वृत्र) विष्णु रुद्र वैश्वानर पूषा अश्विनी आदि भी सब स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त या अर्द्धनारीश्वर हैं। इन सब में सर्व प्रथम विभाजन, विभाग, भाग, भाग्य, भजन, भाजनता, आदि लाने वाला सर्व प्रथम तत्त्व है 'भगः'। इसीलिए ऋ० वे० ३-४९-४; ५-४६-६ में इसे विभक्ता देवता कहा है जैसे 'विभक्ता भागं' और 'भगो विभक्ता'। प्रथम उल्लेख में तो इसे भागों में भाग्यों में विभाजन करने वाला स्पष्ट कहा है। पुराणकारों ने इसीलिए प्रत्येक देवता को अर्द्धनारीश्वर रूप में वर्णित न करके विभक्त रूप भगवान् रूप में वर्णित किया है। इसीलिए वे विष्णु लक्ष्मी, ब्रह्मा सरस्वती, रुद्र पार्वती, को भगवान् भगवती आदि नामों से पुकारते हैं। इनका वैदिक स्त्रीपुमान्सम्परिस्वक्त अर्द्धनारीश्वरीय स्वरूप केवल रुद्र में ही कहा गया है। शेष देवताओं के बारे में वे वैदिक भावना को भुला बैठे हैं। इसीलिए वेदों ने भगः देवता को ही वास्तविक भगवान् कहा है जैसे

१—भगः और भगवान्

"भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥"

(ऋ० वे० ७-४१-५ अथर्व ३-१६-५, तै० सं० २-५-५-१, ८-९-८ और वा० सं० ३४-३८)

यह मन्त्र वशिष्ठ ऋषि के भग सूक्त का है जिसे सभी वेदों ने अपना लिया है। जिसका अर्थ यह है :—भग देवता ही हमारा वास्तविक भगवान् है, देवताओं का भी भगवान् है, इससे हम और देवता भाग्यवान् बनें। हे भग हम तुम्हारा आह्वान और हवन करते हैं, और तुम यहाँ हमारे सामने उपस्थित हो जाने की कृपा करो।

"विभिद्वा चरत एकया सह प्रवासेव वसतः"

(ऋ० वे० ८-२९-८)

कि जिसने एक बास में रहने वालों को दो भागों में विभक्त कर दिया वह भग है। प्रत्येक पुरुष अपनी होने वाली स्त्री से इसी के द्वारा विभक्त होता है। जो इस विभाजन से उत्पन्न होती है वही उसकी जाया है, ततः जायते इति जाया उसी से उत्पन्न उसकी जाया होती है, (यम यमी देखें)।

भगः विश्वे देवता है। इसका स्थान अतः दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध है जिसका सन्देहहीन प्रमाण स्वयं ऋग्वेद इस प्रकार उपस्थित करता है

"अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ।।"

२—विश्वेदेवता भगः (ऋ० वे० ७-४१-६)

कि अर्वाचीन या दक्षिणापथ के वासी वसुसंविद् भग देवता को अन्नमय प्राण अश्व बन कर रथ की तरह (विकास की ओर) बहन करें या खींचते चलें। यह भगवान् भग देवता अदिति का पुत्र है, स्वभाव में उग्र है, पर पूर्वार्द्ध की अदिति (त्रिपादामृत) को विशिष्ट रूप से धारण करने वाला है, बड़ा धनी है, पर वैसे दरिद्र यम राजा ने ऐसे माननीय भग से कहा कि हे भग तुम यज्ञ चरु को खाओ। जैसे

"प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्योविधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ।।"

(ऋ० वे० ७-४१-२)

इस खाने के बारे में श० प० ब्रा० (१-६-२ पूरा) ने एक कथा दी है कि प्रजापति अपनी दुहिता से पापाचार से युक्त हुआ तो रुद्र उसके पीछे दौड़े, तब प्रजापति का रेतः स्खलित हुआ; वह अग्निमारुत का उक्थ्य बना, तब देवताओं का क्रोध शान्त हुआ। यह प्रजापति यज्ञ था। अब उसकी आहुति कनीय हो गई तो उसे खाने के लिए भग को दिया गया, भग ने उसकी अवेक्षा की; अतः उसकी आँखें फूट गई। इसीलिए भगः को अन्धा कहा जाता हैं। भग देवता सबका प्रणेता सत्याराधक, धीमान्, है वह गो (दीप्ति रसमयता) अश्व (प्राणमयता) नर (भौतिकता) से सबको नर-नारायण का रूप देता है जैसे

"भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुद वा ददन्त।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग नृभिर्नृवन्तः स्याम ।।"

(ऋ० वे० ७-४१-३)

इसीलिए अधिकांश विश्वेदेवता सूक्तों में भग देवता का आह्वान प्रायः किसी न किसी रूप में आ जाता है। जैसे भग को उत्तरार्द्ध या कृष्ण पक्ष या रात्रि में बतलाने वाली ऋचा एक और है जो कहती है

"स क्षपावान् स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्।"

(ऋ० वे० ३-५५-१७)

कि भग देवता राजा है क्षपावान् या रात्रि में उत्पन्न होता है। रात्रि दर्शन का उत्तरार्द्ध है, वह भग राजा देवता, देवताओं के असुरत्व की एकता की महत्ता सूचित करता है। यह 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' टेक वाला सूक्त विश्वामित्र का है और विश्वेदेवताओं की सबसे अच्छी व्याख्या देता है। इसी अन्तिम मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भग के बारे में लिखा है कि वृषभ तो अन्य स्त्रियों पर रोरवण करता है (प्यार करता है) पर यह भग अन्य स्त्रियों में रेतः धारण करता है जैसे

"यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः।"

(३-५५-१७ पूर्वार्द्ध)

इसका समर्थन अन्यत्र ऋ० वे० ३-५४-१४ से होता है जिसमें लिखा है

"विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन् ।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वी नं मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥"

इत्यादि । भग शब्द के निम्नलिखित अर्थ है 'भगं श्रीकाम माहात्म्य वीर्य यत्नार्ककीर्तिषु" (अम्मर ३ नानार्थ २६)

भग के अन्धे कहे जाने का कारण यह है । सब वैदिक देवता ऋत सत्यशर युक्त मधुवैधुतीय हैं। इनके इन दो शरों को सन्धान प्रत्यवधान या समञ्चन प्रसारणशील प्राण कहते हैं। जब तक ये दोनों साथ रहते हैं तब तक नेगेटिव पोजीटिव चार्जों के योग के समान ये प्रकाशित रहते हैं । भग ने इन्हें विभक्त करके अलग-अलग कर दिया तो स्वयं ही वे दोनों भाग प्रकाशहीन या अन्धे या अन्धकार-मय हो गए। ज्ञान या प्रकाश के लिए दो का योग आवश्यक है। अतः प्राणों के योग से ध्यान चिन्तन प्रकाश, प्राणवान् योग से रसानुभूति, दो जनों के परामर्श से ज्ञान ज्योति, दो जनों के बुरे योग में पापाचार आसुरी भाव कर्मादि भी होते हैं। प्रकाश दैवी तत्त्वों का ही है ।

अध्याय ७७

पूषा

पूषा की उत्पत्ति के बारे में पहिले चतुष्पाद्ब्रह्म नामक शीर्षक में लिखा जा चुका है। इस पूषा नामक शब्द की व्याख्या 'पुष्यतीति पोषयतीति पूषा' है, जिसका अर्थ है जो तत्त्व पुष्ट है या पोषण करता है वह पूषा है। यह शूद्र तत्त्व है (बृह० उप०)। अतः चतुर्थपाद या सप्तक है, जो आदित्यों में आता है। पूषा पञ्चम आदित्य से बारहवें आदित्य तक सब के तत्त्व हैं, परिपुष्ट पूषा अन्तिम अज नामक पशु तत्त्व या ३१ वाँ तत्त्व है। इसीलिए अश्विनी को इस पूषा का पितर कहा है 'पुत्रः पितरा ववृणीत पूषा' ऋ० वे० १०-८५-१४) और इसी भाव को

१—पूषा का स्थान

"पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
सत्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्नि देवेभ्यः सुविंदत्रियेभ्यः॥"

ऋचा (ऋ० वे० १०-१७-३) पुष्ट करती हुई कहती है कि भुवनों का संरक्षक विद्वान् अनष्ट पशु अग्नि रूप पूषा, सुन्दरदानी देवताओं और पितरों को अपना पोषण दे।' यहाँ पर यास्क ने तृतीय पाद को संशय युक्त बतलाया है, उनकी समझ में 'पितर' शब्द का समन्वय नहीं आया जो पूर्वोक्त संदर्भ की अपेक्षा रखता है। सम्भवतः वह यास्क जी की दृष्टिपथ में न आया हो, पूषा को करम्भ या लप्सी प्यारी हैं। यह अदन्तक है रजो रूप है अतः इनको पिष्ट का पुरोडाश दिया जाता है (तै० १-५-११-३)।

'पूषा' पर कई स्वतन्त्र सूक्त हैं, कई मन्त्र विश्वेदेवता या मिश्रित देवता सूक्तों में मिलते हैं। पूषा प्रथम भौतिकता का उदय करता है। अतः दिशाओं का उद्भव और पितरों की पथ्या का सृजन इसी तत्त्व से प्रारम्भ होता है, जिसका वर्णन निम्न दो मन्त्र करते हैं

२—तूषा के सूक्त

"पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥
प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिव प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥"
(ऋ० वे० १०-१७-५,६)

और पृथिवी तत्त्व—जिसका पूर्व पक्ष द्यावा है,—का उद्भव भी पूषा से ही प्रारम्भ होता है, अतः यही तत्त्व द्यावापृथिवी को पूर्णता देता है। पृथिवी के माने भौतिकात्मा स्वरूप जलीय या वैद्युतीय दिव्यशरीरी अखिल ब्रह्माण्ड है, द्यावा उसकी ब्राह्म आत्मा, त्रिपादामृत है। पूषा के पथस्पति होने की बात की पुष्टि "वयमुत्वा

पथस्पते रथं न वाज सातये। धिये पूषन्नयुज्महि ॥" (ऋ० वे० ६-५३-१) मन्त्र करता है; साथ में यह पूषा को बुद्धि रूप मानता है। चतुर्थ सप्तक के सब देवता तो बुद्धि (धी) रूप के ही होते हैं। पूषा के अज में परिपाक की पुष्टि निम्न ऋचा करती हुई उसे 'अजाश्वः' कहती है जैसे

"अजाश्वः पशुपा वाजस्पत्यो धियञ्जिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः ॥"

(ऋ० वे० ६-५८-२)

पूषा का एक नाम 'अष्ट्रा' भी है, यह अन्तिम ऋचा के उत्तरार्द्ध में तथा कई अन्य स्थलों में इसके लिए आया है जैसे

"अष्ट्रा पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत्सञ्चक्षाणो भुवना देव ईयते ॥" (वहीं)

और ६-५३-९ में इस अष्ट्रा को पशुसाधनी गो ओपशाघृणे नाम से पुकारा है। पर इसे पूषा का ही बताया है। इनके साथ ऋ० वे० ६-५८-१ और ६-४०-८ मन्त्रों को भी पढ़ कर देख लें, उनमें भी प्रायः यही भाव हैं। पूषा सूर्य का वह रूप है जिस पर भौतिकात्मीय तत्त्व का पर्दा लगा है। वह भौतिकात्मा भी व्यापक और विभु है।

पूषा का कोष है जो कभी घटता नहीं, चक्र है, जो कभी घिसता नहीं, वज्र है जो कभी व्यर्थ नहीं जाता है "पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। नो अस्य व्यथते पविः ॥" (ऋ० वे० ३-५४-३) पूषा की हिरण्ययी नाव है जिससे वह चतुर्थ सप्तकीय समुद्र के अन्दर पनडुब्बी की तरह, ऊपर नाव की तरह और अन्तरिक्ष में विमान की तरह इच्छानुसार आ जा सकता है (अर्थात् पूषा व्यापक तत्त्व है)

३—पूषा का वर्णन

"यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्मयी रन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ॥"

(ऋ० वे० ६-५८-३)

पूषा का नाम मघवा सुबन्धु, इलास्पति, भी है, जैसे

"पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इलस्पति र्मघवा दस्मवर्चाः।
यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम् ॥"

(ऋ० वे० ३-५८-४)

पूषा को देवताओं ने सूर्या को अर्पित किया है, उसे सूर्या का पुत्र बना दिया। पूषा ने अश्विनी को पिता रूप में स्वीकार किया (सबसे प्रथम उद्धरण १०-८५-१४ देखें) पूषा का रेवती नक्षत्र है (तै० १-५-१-५)। यह विशां विश्पति है (तै० २-५-७-४)। इसकी स्त्री सरस्वती है (श० प० २-५-१-११)।

पूषा ऋत का रथी या सारथि है, इसे विमुचो नपात् नाम से भी पुकारा जाता है। रथ भौतिक तत्त्व का होता है। अतः पूषा वास्तविक रथी है और ऋत या आध्यात्मिक त्रिपादामृतों का रथ या सारथि है। चतुर्थ सप्तक पर्जन्य का भी है वृष्टि का भी और विद्युत् का भी, अतः इसे विमुचो नपात् भी कहा जाता है। आश्चर्य

करने की बात नहीं है कि इसको स्वसुर्जार (बहिन का यार) भी कहते हैं। उषा का स्थान और पूषा के उद्भव का स्थान प्रायः एक ही है। अतः ये दोनों भाई बहिन भी कहलाते हैं, पर पूषा को जब प्रजापति कहते हैं तब वह उषा रूप वाणी के संगम को प्राप्त होने से 'स्वसुर्यो जार उच्यते' कहते हैं। साथ में इसे 'मातुर्दिधिषुः' नाम से भी पुकारा है। इसे इन्द्र का भाई भी कहा गया हैं। अन्त में इस पूषा को 'कपर्दी' या जटाजूटधारी ईशान (रुद्र) महः (चतुर्थ सप्तक) नाम से भी कई स्थलों में पुकारा गया है। जैसे

"एहि वां विमुचो नपादघृणे सं सचावहै।
रथी ऋतस्य नो भव॥"
"रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः।
स्वसुर्यो जार उच्यते॥"
"मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥"
(ऋ० वे० ६-५५-१ से ५ तक)

इस सूक्त के लेखक भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं जो पूषा को अपना सखा रूप इष्ट मानते हैं। पूषण को 'करम्भ'* (लप्सी) बहुत प्यारे हैं। इनके दाँत नहीं हैं। जिस कथा में भग की आखें फूटी थी, उसी में लिखा है कि यज्ञ का चरु जब पूषा को खाने को दिया गया तो इनके दाँत गल गये। अतः पूषा को अदन्तक कहते हैं। इनको पिष्ट का चरु पुवे लप्सी (करम्भ) इत्यादि इसीलिए दिये जाते हैं (भगः देखें) ईशावास्य उपनिषद इसी ईशान ईश का है।

---

* य एवमादिदेशति करम्भादिति पूषणम्। न तेन देव आदिशे॥ (ऋ० वे० ६-५६-१)

अध्याय ७८

त्रयः केशिनः

केशी अग्नि (आत्मा) को धारण करता है, केशी विष (भौतिक तत्त्व) को भी धारण करता है, इस प्रकार केशी द्यावा पृथिवी या रोदसी को भी धारण करता है। ये तीन केशी तीन मुनियों के समान हैं जिन पर वायु
१—केशी की व्याख्या
तत्त्व की डोरी बँधी हुई है। इनके वस्त्र कुछ-कुछ पीले (पिशिङ्ग) रंग के मटमैले से हैं, ये वात की गति से जाते हैं, ऐसा देवताओं ने देखा या कहा है। वायुओं में ही ये उन्मत्त होकर रहते हैं। अन्तरिक्ष से चलते हुए इन्होंने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना कर दी। ये देवताओं के मुनि हैं, देवताओं की सुकृति और सखा भाव के लिए सब कुछ करते हैं। वायु इनका अश्व है, वायु के सखा हैं, देवताओं के अभीष्ट मुनि हैं। प्रथम और अन्तिम दोनों केशी समुद्र (चतुर्थ सप्तक) तक आने वाले हैं। इनका विकास अप्सराओं गन्धर्वों मृगों के अनुसार होता है, केशी केत का विद्वान् (चतुर्थ सप्तकीय भौतिक तत्त्व का ज्ञाता) है। वह सबका सखा स्वादु और शान्तस्वभाव का है, वायु ने इसके लिए उस समुद्र का मन्थन किया जिससे विष (भौतिक तत्त्व) निकला उसे केशी ने रुद्र के साथ पी लिया, दूसरे शब्दों में भौतिकता को स्वीकार कर लिया। क्योंकि केशी तो विश्व का वह स्वरूप है जो सूर्य रूप में उदित हुआ था या उसकी ज्योति रूप में उदित हुआ था जैसे "केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योति रुच्यते।" (ऋ० वे० १०-१३६-१)। शेष भाव निम्न ऋचाओं का दिया गया है।

"केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी।
मुनयो वातरशना पिशिङ्गा वसते मला॥
वातस्यानु ध्राजिं (गतिं) यन्ति यद्देवासो अविक्षत।
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आतस्थिमाँ वयम्॥
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।
अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपावचाकशत्॥
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।
वातस्याश्वो वायोः सखा थ देवेषितो मुनिः॥
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्चपूर्व उतापरः।
अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्॥
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मन्दिन्तमः।
वायुरस्मा उपामन्थत्पिनष्टिस्मा कुनन्नमा॥
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणा पिवत्सह॥"

(ऋ० वे० १०-१३६-१ से ७ तक)

ये तीन केशी या तीन जटाधारी कौन हैं ? यह प्रश्न सबके मन में उठेगा। नीचे दी जाने वाली ऋचा से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जावेगा कि ये तीन केशी या तीन जटाधारी तत्त्व वही हैं जिन्हें बृहदारण्यक उपनिषद् ने 'त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म' नाम से पुकारा है। पर इन तीन केशियों का संबन्ध संवत्सर ब्रह्म से जोड़ा गया है। नाम का उक्थ वाणी है, कर्म का आत्मा, रूप का चक्षुः। इस प्रकार ये तीन केशी उक्त तीन 'वाक्प्राण मनोरूप' के त्रिवृत् त्रिजटा या त्रिवेणी रूप हैं। जिनका विकास संवत्सरब्रह्म विकास प्रणाली में ऋतुशः या सप्तक क्रम से होता है। यही बात निम्न ऋचा कह रही है जैसे

२—त्रयः केशिनः की व्याख्या

"त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभि र्ध्राजि रेकस्य ददृशे न रूपम्॥"

(ऋ० वे० १-१६४-४४)

कि तीनों केशी ऋतुओं या सप्तकों के क्रम से विकास को प्राप्त होते हैं (विचक्षते)। इनमें से वाक् प्रथम केशी संवत्सर के प्रारम्भ में सृष्टि का बीज बोती है; इसका विकास प्रथम सप्तक में वसु रूप में मूलधन रूप में बीज रूप में होता है। यह वसन्त ऋतु है; द्वितीय केशी का विकास ग्रीष्म ऋतु में या द्वितीय सप्तक में होता है, इसका रूप नहीं दिखाई पड़ता, यह गति (ध्राजिः) से ज्ञात होता है, यह वायव्य तैजसात्मा है मनोरूप है। यह रुद्रों या जीवात्मा रूप में विकसित होता है। तृतीय केशी वर्षा ऋतु में तृतीय चतुर्थ सप्तक में विकसित होता है, यह आदित्य रूप में विकसित होता है, और अखिल ब्रह्माण्ड को भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत करता है। यह रूपवान् सृष्टि करता है, जिसका आभास आपोमय नृमय पशुमय शूद्र सप्तक चतुर्थ में चक्षु रूप सूर्य से प्रारम्भ होता है। यह रजोमय तमोमय विद्युन्मय ब्रह्माण्ड का एक अखण्ड पटल या पिण्ड है जिसे सांख्य वाले बुद्धि और वैदिक 'धीः' तत्त्व कहते हैं। इन तीनों का क्रमिक विकास तो होता है, पर वाक् और मनः के केशी भी रूप के केशी के साथ-साथ रहते हैं पूर्व-पूर्व के केशियों के बिना उत्तर-उत्तर का केशी रह भी नहीं सकता, अन्त में तीनों केशी, एक सजीव सब्रह्म सभौतिक ब्रह्माण्ड को प्रस्तुत करते हैं। अतः 'त्रयः केशिनः' व्यक्त ब्रह्माण्ड में सदा साथ-साथ रहते हैं।इन्हीं को त्रयः केशिनः कहते भी हैं। इन सब बातों का समर्थन ऋ० वे० १०-१३६ सूक्त के मन्त्रों से भी होता है। इसका पहिला और अन्तिम मन्त्र तो इसकी कुञ्जी सी है; प्रथम मन्त्र में केशी को सूर्य रूप आँख का भौतिक स्वरूप बताया है, अन्तिम में, 'केशी ने रुद्र के साथ विष पान किया' कहकर द्वितीय केशी को रुद्र माना है। इन्हें जटाधारी मुनि तो पञ्चपर्वाविद्या के अनुसार माना गया है, त्रिजटा, पञ्चजटा मध्ये हैं, दस-दस की एक जटा या केशी या मुनि या तत्त्व है।

अध्याय ७६

अजएक-पात्

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'
"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्"
(अथर्व और बृह० उप०)

अज एकपात् नामक देवता तो सृष्टि वृक्ष है। वह एकपात् या एक मूल का पूर्वोक्त वर्णना सम है। बसन्त ऋतु अज से उत्पन्न, होने से आज्य कहलाता है, वैसे अज तत्त्व दो प्रकार का है (१) अज एकपात् (२) अज चतुष्पात्। द्वितीय अज, पञ्च पशुओं—पुरुषपशु, अश्व, गौः, अविः अज-मध्ये अन्तिम और चतुर्थ सप्तक का अन्तिम या ३१ वाँ तत्त्व है, अज चतुष्पात् एक दैवत्य और सर्वा देवता है। (चित्र देखें)। पर अज एकपात् सर्वा देवता और आदि तत्त्व है, वह उक्त से भिन्न है। पादीय विकास के बारे लिखा है:—

"एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पङ्क्ती रुपतिष्ठमानः॥"
(ऋ० वे० १०-११७-८ अथर्व १३-२-३७; ३-२-५)

कि सबसे पहिले एकपात् का विकास होता है उससे फिर द्विपात् का, उनसे त्रिपात् का, तीनों से चतुष्पात् का। बात यह है कि वही प्रथम तत्त्व रूप अज एक पात् भी क्रमिक विकास से अज चतुष्पात् भी बनता है। अतः उसे विश्वे देवताओं में सम्मिलित किया गया है। पर यह नित्य ही एकपाद् रहता और कहलाता है क्योंकि यह अज नाम का सृष्टि वृक्ष है चतुष्पात् रूप में विकसित होने पर भी एकपात् ही रहता है। अतः इसको यहाँ सर्वादेवता के रूप में आहूत किया गया है। इस अज एकपाद् के बारे में निम्न मन्त्र मिलते हैं:—

(१) "कथा कविस्तुवीरवान्कयागिरा बृहस्पतिर्वावृधते सुवृक्तिभिः।
अज एकपात् सुहवेभिर्ऋक्भि रहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि॥"
(ऋ० वे० १०-६४-४)

(२) "पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वेदेवासः शृणुवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्याः॥"
(ऋ० वे० १०-६५-१३)

(३) "समुद्रः सिन्धूरजो अन्तरिक्षमजएकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणुवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥"
(ऋ० वे० १०-६६-११)

(४) "उत नो ऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु।।"
(ऋ० वे० ६-५०-१४ यजुः ३४-५६)

"शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नो ऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।"
(ऋ० वे० ७-३५-१३)

इन सब मन्त्रों में अज एकपाद देवता का समाह्वान अकेले नहीं वरन् अन्य देवताओं के साथ-साथ है, जैसे बृहस्पति, इन्द्र (पावीरवी) अहिर्बुध्न्यः, सिन्धु आपः, सरस्वती अन्तरिक्ष अर्णव इत्यादि। इनसे अज एकपाद् नामक अज देवता पर कम प्रकाश पड़ता है, पर अथर्ववेद ११-७-४-२१ में अज एकपात् के बारे में स्पष्ट विवरण दिया मिलता है। इसमें लिखा है कि प्रलय काल में जब न तो आज था न कल, न रात थी न दिन, जो कुछ था उसका कहीं अन्त नहीं था। उस स्थिति में जब जो कुछ था वह सलिलमय सरिरमय शरीरमय या शरमय या विद्युन्मय था उससे हंस रूप आत्मा ने उस शरमय वैद्युतीय आपोमय समुद्र से उठकर एकपात् 'अज नामक वृक्ष' को आरोपित किया, तब तक दोनों पाद या चारों पाद या सब पाद कर्कट मुद्रा में संकुचित थे। सर्व प्रथम एकपात् का विकास आरम्भ किया गया। जैसे

"एकं पादं नोत्खिदति सलिताद्धंस उच्चरन्,
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री
नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन।।"

इसका अग्रिम विकास क्रम ऋ० वे० १०-११७-८ और अथर्व १३-२-२७, १३-३-२५) के पूर्व उद्धृत मन्त्रों में स्पष्ट दिया ही गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने

"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।"
(४-५)

मन्त्र में भी दो अजों की चर्चा की है। एक अज भोगलिप्त हैं पञ्चपशुमध्ये अन्तिम या ३१ वाँ तत्त्व है, दूसरा तत्त्व भुक्तभोग और त्यक्त अजा है, यह प्रथम अज या अज एकपात् है। अज एकपात् की उचित व्याख्या 'अञ्जति एकेन पादेनेतिअज एकपात्' है कि जो केवल एक पाद होकर ही विकास को प्राप्त होता है वह अज एकपात् है या ऐसा ब्रह्म अज (अजन्मा) सृष्टि का वृक्ष है, इसी की व्याख्या में कहा जा सकता है कि "एकेन पादेन पिबतीति, एकेन पादेन पातीति, एको वाऽस्य पाद इति"—कि अज एकपात् वह है जो एक पाद से पीता है (एक पाद एक जड़ के समान) एक मूल से पीता रहता है; या जिसका एक मूल है। और जब अज शब्द अज् अद् भक्षणे धातु से बनता है तो अज एकपात् वह है जो एकपाद से पीता या खाता है या विकसित होता है। यही रक्षा है, यही एकपादता है, क्योंकि यह अन्नाद है। इसका अतिरोहण या विकास, अन्नाद या आध्यात्मिक भौतिकता के अजन या भक्षण या पान से होता है, वह भी एक पादादि के क्रम से।

'यदन्नेनाति रोहति'

(पुरुष सूक्त) । ऐसे हीं अज के लिए यजु० १७-३० लिखता है

"अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्"

कि अज की नाभि में अर्पित है, और ऋग्वेद १-१६४-६ लिखता है

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वियस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥"

कि कर्तृत्वहीन प्रलय कालीन अज जब सृष्टि करना चाहता था उस समय उसने छह रजसों (षडष्टकों) का स्तम्भन या अपने में संरक्षण कर रखा था उसका एक ही रूप था, उसके बारे में जानकारी के लिए मैं विद्वानों से पूछता हूँ। यह अज अजर है; अजर ही अज है, अर्थात् इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, सदा एक सा रहता है । अतः अज या अजर कहलाता है । यही बात सिद्ध करने के लिए श० प० ब्रा० ६-१-१-११ में लिखा है अज वह है जो लिप्त या व्याप्त है 'लिप्तो रसो अजः' । इस अज के बारे में अथर्ववेद ९-३-१ पूरा सूक्त है जिसमें लिखा है कि अज तमः को दूर करके तृतीय नाक या शुचिषद् (हंसः शुचिषद्) में रहता है, यह पञ्चौदन है कामधेनु है, इसीसे सब ऋतुयें संवत्सर ब्रह्म सब देवता आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं इत्यादि । उद्धरण वहीं वेद में पढ़े। ऐसे महत्वपूर्ण 'अजएकपात्, या अज या अजा को जो लोग बकरा बकरी कहते हैं वे कैसे विद्वान् हैं यह अब आप ही सोचें ।

अध्याय ८०

अहिः, बुध्नः, बुध्न्य और अहिर्बुध्न्यः

अहि पूजा या नाग पूजा तो प्राण पूजा है पर आजकल की शताब्दी के वैदिक विद्वान् विगत कुछ शताब्दियों के ऐसे पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा में बह कर— जिन्होंने वेदों के सर्वसमीपी भाष्य रूप ब्राह्मणोपनिषदों को (इनके मूल रहस्यों को न जान सकने और समझने से) प्रामाणिकता की भूमि से ही हटा डाला है—यह कहने के अभ्यस्त से हो गये हैं कि आर्यों ने अहि पूजा तथा इसके सदृश सैकड़ों अन्य पूजाओं को अनार्यों से नकल करके अपनाया। इसके बराबर बड़ी भूल दूसरी नहीं हो सकती। किसी एक काम को समझ-बूझ कर भी चलाया जाता है और योंही एक लकीर की तरह भी। द्वितीय कोटि में नासमझी का मुख्य हाथ रहता है जिसका बोल-बाला भयभीत जंगली या असभ्य जातियों में रहता है। वेदों वाले वैदिक आर्य अपने दर्शनमय वैदिक साहित्य युक्त थे, सभ्य थे, निर्भीक ज्ञान पुञ्ज रूप ज्ञान ज्योतिष्मान् थे, वे असभ्यों की तरह किसी प्रथा को चलाने वाले कदापि न तो रहे, न थे। उनका अहिवाद दार्शनिक पृष्ठभूमि से पुष्ट है जिसकी ऐतिहासिक मूल भित्ति अहि या नाग नामक अवैदिक या अदेवयू जाति के आर्य प्रजा ही है। यह प्रजा आसुर्य प्रधान थी, अतः इनका सार्थक चित्रण और अभिनय आसुर्य या भौतिकता प्रधान स्वरूप में—दूसरे शब्दों में देव रूप या दैवी गुण प्रधान वैदिक आर्यों के भ्रातृव्य या विरादर या द्रोही या भौतिकता रूप शत्रु रूप में किया गया है। वेदों ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों में तो कहीं भी लौकिक अहि या सर्प या नाग की पूजा का विधान नहीं मिलता। प्रत्युत इन्हें तथा वैदिकों के आसुरी अहि आदि को भी भ्रातृव्य द्विट् और शत्रु नाम से पुकारा गया है। परन्तु जब इस आसुरी प्रवृत्ति, शत्रु पदवाच्य भौतिकात्मा को विजित कर वश में कर लिया जाता है तो फिर वह आसुरी प्रवृत्तिहीन होकर देवात्मा हो जाता है। तब उसे वैदिकों ने विश्वे-देवताओं में से एक देवता मान लिया है। वास्तव में नाग या अहि नाम प्राण का है। प्राण दो प्रकार का है एक आध्यात्मिक दूसरा भौतिक। भौतिक प्राण का नाम कई उपनिषदों में नाग नाम से पुकारा है। अतः अहिर्बुध्न्य और वृत्र तो प्राण रूप नाग हैं जिस प्रकार नाग पादहीन सारे शरीर के वेग से चलता है वैसे ही प्राण भी नाग की तरह पादहीन से सारे शरीर से चलते हैं। ये प्राण द्विमुख हैं। अतः ऊपर नीचे दोनों ओर बराबर चलते हैं। इसलिए द्विमुख नाग प्राणोदान है। नाग पूजा प्राण-पूजा है। यह दर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या देता है। इसी भाव के विकास रूप में पुराणों के शेष नाग से नाग पूजा का संकेत, विष्णु के आसन या वाहन रूप से प्रारम्भ समझी जा सकती है, यह समझ में आने वाली बात है, पर प्राण रूप में ?

१—अहि पूजा या नाग पूजा

तब जब भौतिकात्मा को हम देवताओं (त्रिपादामृत) का आसन वाहन या दास बना लेते हैं या जीत लेते हैं। जित भूतात्मा तो देवात्मा रूप बन जाता है। तब उस शेष नागादि की पूजा का विधान देवात्मा भूतात्मा या या प्राण रूप में किया जाता है तो कितना अच्छा है। गीता के 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' वाक्य में आत्मा शब्द का प्रयोग इसी अजित भूतात्मा (रिपुः) और जित भूतात्मा (बन्धु) के लिए निश्चित रूप से आया है। इस स्वरूप में नागपत्नी या नाग कन्यायें भौतिक वाक् ब्रह्माणी हैं, इनके भी वही अजित और जित दो ही रूप हैं। जिन नाग कन्याओं के विवाह की चर्चा ऋषि मुनियों के साथ की गई है वे हैं जित भूतवाग्ब्रह्माणी। इतिहास में तो इन नाग, अहि वंश वाले अवैदिक अदेवयू आर्यों से वैदिक आर्यो का परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होता ही रहा, पर लगभग उन्हीं से जो लगभग वैदिक आर्यों की तरह ही रहन-सहन और संस्कृति में होते जाते थे। इसीलिए श० प० ब्रा० (७-३-१-२५) ने लिखा है कि सर्प या अहि शब्द इस भौतिक ब्रह्माण्ड या भौतिकता का प्रतिनिधि है जो क्रम से विकास को प्राप्त हो जाते हैं जैसे "इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यदग्निस्ते देवा एतमात्मानमुपधायाविययुर्यद्वै त इमे लोका अनेनात्मना न सर्पेयुरिति।" देवतागण सर्प को इसलिए धारण करते हैं कि ये सर्प उनके शरीर के प्राण हैं।

अस्तु वेदों में 'अहि' नाम अयन से चलने वालों को दिया गया है। वैदिक दर्शनों में दो प्रसिद्ध अयन हे। उत्तरायण (पूर्वार्द्ध) दक्षिणायन (उत्तरार्द्ध) । अहि का जन्म उत्तरायण से होता है। जैनी लोग तो दोनों को सर्पिणी नाम से पुकारते हैं, वे पूर्वार्द्ध को उत्सर्पिणी नाम से पुकारते हैं और उत्तरार्द्ध को अधो सर्पिणी। परन्तु ये लोग इन दो शब्दों से प्रलय और सृष्टि इन दो का संकेत करने लगे हैं, और ये लोग इन शब्दों की मौलिक भावना को समूल भुला बैठे हैं या उन्हें रूपान्तर दे चुके हैं। इनकी यह धारणा पौराणिक युग के अहोरात्र वाद से मिलती है जिसमें दिन सृष्टि है और रात प्रलय; पर वैदिक दर्शन में दिन आध्यात्मिक सृष्टि है रात्रि भौतिक सृष्टि। दोनों अहोरात्र या दोनों अयन, सृष्टि के ही रूप हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जैनियों ने वेदों के इस मत को पौराणिक युग में वैदिक भाषा में पौराणिक स्वरूप में अपनाया।

२—वेदों का अहिवाद

वेदों के सबसे छोटे और सबसे बड़े (अणोरणीयान् महतो महीयान्) भौतिकता रूप अहि का नाम वृत्रासुर है। यह वृत्र सर्व प्रथम भौतिकात्मा स्वरूप अणु है, सर्वव्यापी अणु है, अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल बीज यही अहि रूप वृत्र है। यह अहि या वृत्र, इन्द्र या त्रिपादामृत का जित या दास या वशंगत तत्त्व है और बिना इस अहि रूप भौतिकात्मा के यह दृश्यमान भौतिक सृष्टि सत्ता में भी नहीं आ सकती, स्वरूप पाने की चर्चा दूर की बात रही। पर नव-नव निर्मित सृष्टि में इस भौतिकात्मा को

३—अहि रूप वृत्र

जीतते रहने के प्रयास में लगे रहने को धर्म समाज या राज्य आदि नामों से पुकारते हैं। जो जीत नहीं सकता वह उलटे इसका दास बनकर अधर्मी असमाजी अराजक (असभ्य जंगली अपठित) बन जाता है। यह महत्त्व पूर्ण बात है। प्रत्येक पीढ़ी को सावधान रहना चाहिए। इसके भी दो स्वरूप हैं सौम्य और आसुर्य, सौम्य भाग इसकी भौतिकात्मा दिव्यशरीर सोम है, आसुरी भाग परिवर्द्धित विकारपूर्ण विकास। इसी आसुरी भाग की ओर सतर्कता और सावधानी रखनी चाहिए। सोम और वृत्र दोनों को जब एक नाम से पुकारते हैं तब इसे पृथिवी कहते हैं। जब पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को एक साथ कहते हैं तो इसे द्यावापृथिवी कहते हैं जिनमें से द्यौः पिता है पृथिवी माता कहलाती है। 'समातु योना परिवीतो' 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' और 'मम योनि महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' आदि वाक्य उक्त दोनों को पिता माता, योनि दुहिता नाम से पुकारते चले आये हैं। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त इसी पृथिवी माता का है। 'अहि' की व्याख्या में श० प० ब्रा० (१-५-२-९) ने लिखा है कि वृत्र का नाम अहि इसलिए पड़ा कि वह अपाद् था या चरण हीन प्राण हीन था और सर्प की तरह चतुर्थ सप्तक के आपोरूप विद्युत्तरंगमय भौतिकात्मा स्वरूप में वेग से गतिमान् था और दनु तथा दनायु ने उसे पिता माता की तरह स्वीकार किया, अतः उसे दानव भी कहने लगे। दनु दनायू और दानव शब्दों का सीधा अर्थ 'दानी' होता है, इस तत्त्व के समान दानी दाता तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। रुद्र भी दैवी भौतिकता बहुल है, अतः उसे भी अवढर दानी कहा जाता है और इन असुरों या दानवों का इष्ट देवता भी। क्योंकि वह वर्तमान या व्याप्तिमान् स्वरूप का था इस लिए (वृणोतीति) वृत्र कहलाया। वृत्र के सम्बन्ध में शेष बातें 'वृत्र' नामक शीर्षक में देखने का कष्ट किया जाय। वहाँ पर इतना अवश्य दुहराना आवश्यक है कि स्थूलतया सोम चन्द्र या वृत्र एक ही तत्त्व हैं। इसी तत्त्व से हमारा अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उद्भूत हुआ है। इसका पक्का प्रमाण श० प० ब्रा० ३-३-४-१३ का यह वाक्य है "देवो वै सोमो दिवि वै सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैत-च्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशानामोषधिर्जायते।" इत्यादि। यह तो जड़ जगत् की प्रतिष्ठा करता है और निम्न वाक्य चेतन जगत् के मूल बीज को भी वृत्र ही को ठहराता हुआ लिखता है "स (वृत्रः) हो वाच। मानु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु सामुयाभूवमिति। स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधा-न्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः उदेरणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यनाद आसीद्॥" (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)

वेदों में विशेषकर ऋग्वेद में वृत्र के लिए 'अहि' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे "यो हत्वाऽहिमरिणात्सप्तसिन्धून् यो गा उदजादपधा बलस्य" (ऋ० वे० २-१२-३) कि जिस इन्द्र ने अहि नामक वृत्र का हनन करके सप्त नदियों को प्रस्रावित किया। यही बात ऋ० वे० १-३२-११ ने

४—वेदों में अहि

"दास पत्नी रहि गोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ।।"

'अहि' (वृत्र) के सम्बन्ध में स्पष्टतया दुहराई है। इस ऋचा की दास पत्नियाँ चतुर्थ दास (भौतिक) सप्तक की (भौतिक) वागब्रह्माणियाँ हैं जिनकी शक्ति रूपता में भौतिकात्मा की अहिरूपता, वैद्युतीय तरंगमयता या आपोमयता में निरुद्ध थी, इन्द्र रूप त्रिपादामृत ने उसे ऋतशर देकर जाज्वल्यमान कर दिया, वैद्युतीय तरंगमयता नदी रूप में सर्वतोमुखी होकर प्रवाहित होने लगीं। इन सबका वर्णन वृत्र शीर्षक में किया जा चुका है। अहिवाद का मौलिक सम्बन्ध कीटाणु बीजाणु या जीवाणुवाद से भी है। प्रत्येक कीटाणु आदि का मूल स्वरूप भी सूक्ष्म अहि के सदृश ही होता है।

'अहिः पन्थां विसर्पति' (यजु २३-५६)

अतः शेषनाग या रुद्र के सर्प सब इन्हीं कीटाणु जीवाणु या बीजाणु रूप भौतिक तत्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं

'अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्' (यजुः १६-५)

इनके लौकिक नाग रूप वर्णना तो पशुवाद या साहित्यिक सौन्दर्य और तत्कालीन सर्प बहुल जगत का परिचय देते हैं। और नाग नाम के अवैदिक आर्यों का भी रहस्यात्मकतया इतिहास दिया गया है। इसीलिए 'अहि' के इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने के कारण वैदिकों ने इसे विश्वेदेवताओं में गिना है और इसकी विश्वेदेवता रूप में प्रार्थना की है जैसे

"अब्जामुक्थै रहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजः सु सीदन् ।"
(ऋ० वे० ७-३४-१६)

कि हम उस अहि नामक विश्वेदेवता का गान करते हैं जो जलों (चतुर्थ सप्तकीय जलों) के स्रोतों (उक्थैः) से उत्पन्न हुआ, जो पञ्चपर्वा विद्याओं में सप्तनदियों का मूल उद्गम (बुध्न) है; और जो रजः नामक भौतिक ज्योति तत्त्व में निवास करता है अर्थात् जो स्वयं भौतिक ज्योतिस् तत्त्वमय (रजोमय) है। यास्कादि ने बुध्न माने अन्तरिक्ष, रजः माने उदक लिखा है। वेदों में अन्तरिक्ष शब्द पारिभाषिक है जो उनकी समझ में नहीं आ सका, रजः माने उदक तब ठीक है जब इसे चतुर्थ सप्तकीय आपः मानें नहीं तो रजः माने पीने का उदक कदापि नहीं हो सकता, यह स्वयं स्पष्ट है।

जिसका नाम अहि है उसी का नाम बुध्न्य भी है, अतः इसको अहिर्बुध्न्य नाम से भी पुकारते हैं। बुध्न नाम बुद्धि सप्तक या चतुर्थ (जातवेदसोद्भव) सप्तक का है, उसमें उत्पत्ति पाने वाला तत्त्व बुध्न्य या अहिर्बुध्न्य कहलाता है जिसका अर्थ अहि रूप बुध्न्य होता है इसीलिए यजुर्वेद लिखता है

५—अहिर्बुध्न्य

"अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणाः" (१०-१९)

और

"अहि रसि बुध्न्यः" (५-३३)

इसी नाम के आधार पर अहिर्बुध्न्य को विश्वेदेवता रूप में वर्णित करते हुए ऋ० वे० ७-३४-१७ लिखता है

"मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः।"

कि वह अहिर्बुध्न्य नामक विश्वेदेवता अप्रसन्नता के लिए न दौड़े, और यज्ञ की उखा (अँगीठी शरीर) भ्रष्ट न हो, क्योंकि हम यज्ञ या विकास की कामना करते हैं।

"ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्चयोनिमसतश्च विवः॥"

मन्त्र के बुध्न्य शब्द का अर्थ भी वही है जो यहाँ दिया गया है। प्रायः कई विश्वेदेवता सूक्तों में अहि और अहिर्बुध्न्य की प्रार्थना की गई है जैसे "शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नो ऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।" (ऋ० वे० ७-३५-१३) और

"उत नो ऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्यज एकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥"
(ऋ० वे० ६-५०-१४)

इस मन्त्र में तो अहिर्बुध्न्य आदि उक्त सब देवताओं को स्पष्टतया नामतः 'विश्वेदेवता' नाम से ही पुकार रक्खा है। इससे अहि, बुध्न्य और अहिर्बुध्न्य के विश्वेदेवता होने का कोई संशय नहीं रह जाता। अन्य मन्त्र ये हैं :—

"अज एकपाद् सुहवेभिऋर्कभि रहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि॥"
(ऋ० वे० १०-६४-४)

"अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम।"
(ऋ० वे० १०-६६-११)

अध्याय ८१

वेदों में 'नपात्' तत्त्व

अखिल भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् भारतीय नेताओं ने बड़े जाश फरोश के साथ भारतीय दर्शनों के उद्धार का कार्य कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा करने का प्रयास तो किया था पर नपात् के बारे में वे लिख गये हैं कि 'नपात्' तत्त्व उनकी समझ में बिल्कुल नहीं आता।

अस्तु वेदों में 'नपात्' तत्त्व 'पञ्चपर्वा' विद्या का एक प्रधान अंग है जिसका स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषत् ने 'पञ्चस्रोतोम्बु···पञ्चपर्वामधीमः' प्रथम मन्त्र में किया है।

वेदों में केवल एक ही 'अपांनपात्' तत्त्व ही नहीं है, नपात् नामक कई अन्य तत्त्व भी हैं। 'अपांनपात्' को तो देवता रूप में घोषित किया गया है, अन्यों की विविध स्थलों में विशेषण रूप में चर्चा की गई है। वे नपात् ये हैं १–अपांनपात्, २–तनूनपात्, ३–मनोनपात्, ४–शवसोनपात्, ५–गोषणोनपात्, ६–ऊर्जोनपात्, ७–दिवोनपात्, ८–विमुचोनपात्, ९–मिहोनपात्, १०–स्वंनपात्, ११–आनपात्, १२–अह्नी नपात्, १३–दुर्गहस्य नपात्, १४–पितुर्नपात्, १५–शृंगवृषो नपात्, १६–सहसो नपात्, १७–विष्णो र्विक्रमणं नपात्। इन सत्रहों नपातों को निम्नलिखित रीति से प्रस्तुत किया जा सकता है। नपात् शब्द का अर्थ नाती होता है; 'आपो नप्ते' 'वर्द्धते नप्तुरपाम्' (ऋ० वे० २-२५-१४, ११)। आपः नाम आपोब्रह्म या आदि ब्रह्म का है उसका पुत्र वसुअग्नि है। इस वसुअग्नि के पुत्र ही ये 'अपां नपात्' हैं, जिसका अर्थ आपोब्रह्म का नाती होता है और ये द्वितीय सप्तक के मरुताग्नियों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। इसी सप्तक में अग्नि का अंगारक विस्फुलिंग रूप में प्रथम प्रादुर्भाव होता है। इन्हें विस्फुलिंगों के पर्वत सागर नदी या वृक्ष या प्राण नाम से पुकारा जाता है "अपाँनपात् यो वसुभिः सहप्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद्दत्वियः। स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवत्मातरिश्वने" (१-१४३) 'अपांनपात् मातृरजनयन्नपः' (ऋ० वे० १-१४३-१-३,३-१०)। आपः को प्रथम सृष्टि बतलाने वाले मन्त्र ये हैं। 'अपां कियत्या प्रथमः सर्गः आसाम्' (ऋ० वे० २-३०) 'कं स्विद गर्भं प्रथमं दध्र आपः' (१०-८१-५,६) 'आप एवेदमग्र आसीद' (वृह० उप० १-१-१)। 'देवानां माने (आपः) प्रथमा आसन्' (ऋ० वे० १०-२९-२३)। इत्यादि* इन्हीं के ये नाती हैं। फलतः अपांनपात् ब्रह्म के नाती हैं, वाग्ब्रह्म के नाती हैं, द्वितीय सप्तक–होता–वेदि–मरुतों के प्रतिनिधि तत्त्व हैं। 'तनूनपात्' तृतीय सप्तक का प्रतिनिधि है, वस्वग्नि का नाती है, इसका दूसरा नाम गर्भ भी है 'तनूनपादुच्यते गर्भः' (ऋ० वे० ३-२९)। इस गर्भ की व्याख्या में आगे लिखा है "गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भः स्थातां गर्भः चरथाम्। अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न

विश्वो अमृतः स्वाधीः" (ऋ० वे० १-७०-२)। वास्तव में यह गर्भ नाम उषा का है; उसका उद्भव इसी तृतीय सप्तक के अन्त में होता है 'उषा वै उल्वं' (श० प० ब्रा० ७-२-११)। मनोनपात् या शवसोनपात् दोनों नाम ऋभु नाम के देवों के प्रतीक हैं। ये गिनती में तीन हैं, मनः नामक या श्वास नामक तत्त्व पञ्चम सप्तक के आदिम तत्त्व हैं, उनके ये नाती हैं, इनके शीर्षक देखें, इनका वर्णन ऋ० वे० (१-१६१; ३-६०, ४-३४, ४-३) में देखें। ऊर्जोनपात् सहस्वान् अग्नि का नाम हैं। इन्हें सहसोनपात् भी कहते हैं, या 'नप्ते सहस्वते' भी, जिनका व्याख्यान ऋ० वे० ५-७; ५-१७; ६-८; ७-१६; ७-१७ इत्यादि में किया गया है। ऊर्जः नाम मरुतों का है (४-४०), उनके ये नाती हैं। ये तृतीय सप्तक की उन अग्नियों की प्रतिनिधियाँ हैं जिन्हें 'मातरिश्वा' नाम से भी पुकारा जाता है 'मातरिश्वा भवति यन्मातरि वातस्य सर्गः' (३-२९), मरुत और मातरिश्वा में यही अन्तर है। मातरिश्वा प्राणाग्नियों का नाम है; मरुत् जीवात्मा रूप प्राणों का, या रुद्र रूप प्राणों का या प्राणोदान का। दिवोनपात् नाम अश्विनी का है। वह २६ वां तत्त्व है। दिव नाम तृतीय सप्तक का है उसका यह नाती है इसका वर्णन ऋ० वे० १-१८२; १-१८४, ४-४५ इत्यादि में देखें। दिव का पुत्र अत्रि (वाक्) २४ वाँ तत्त्व है, उसकी परम्परा में यह २६ वाँ दिव का नाती हुआ। विमुचो नपात् नाम पूषा का है। यह २४ वाँ तत्त्व है, पाचवाँ आदित्य है। आदित्यों की उत्पत्ति से बुद्धि में परिपक्वता या प्रकाश की अभीष्ट सिद्धि या ज्ञानमार्ग का द्वार खुल जाता है जिससे इनके पूर्व के अस्पष्ट ज्योति या धुँधली ज्योति या तादृश अन्धकार से मुक्ति मिलती है। अतः इसे विमुचोनपात् कहते हैं। पूषा ॐ का, पूर्ण गायत्री का प्रतिनिधि है जो अज्ञान से मुक्ति देता है। यहाँ से बन्धन का प्रबन्ध भी होने लगता है। शेष गोषणोनपात्, मिहो नपात्, स्वं नपात्, आ नपात्, दुर्गहस्यनपात्, अहनी नपात् और श्रृंगवृषो नपात् नाम सब एक इन्द्र के नाना विकासों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्र तत्त्व जब हरिवो या हारियोजन ग्रह कहलाता है तब वह १७ वें से लेकर २८ तक के १२ तत्त्वों का प्रतिनिधि रहता है। 'इद्रं मित्रं वरुणं‥ अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः' नामक (ऋ० वे० १-१६४-४६) ऋचा में 'एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति' वाक्य इन्द्र के नाना नाम देती है, न कि ब्रह्म के। केवल इन्द्र तो १७ वाँ तत्त्व है, उस इन्द्र के उक्त गोषणोनपात् आदि नाती है। २० वें तत्त्व से आदित्यों को 'गावः' नाम से पुकारा जाता है उन्हीं के आपोमय शरीरों को मातरः कहते हैं, उन्हीं के ये सब पृथक्-पृथक् आदित्य रूप 'गायों' के पुत्र हैं, अतः इन्द्र के नपात् हैं। मिहोनपात् में पर्जन्य सूचित है। अहनी नपात् में २६ वाँ तत्त्व सोमचन्द्र है। वृष वृषा या श्रृंगवृष नाम भी इन्द्र का ही है, उसका नपात् इन्द्र का नपात् है। दुर्गह नाम भी इन्द्र का ही है उसने नमुचि शम्बर चिमुरि वृत्र आदि के १०० दुर्गों को तोड़ा है, उसी का नपात् दुर्गहस्य नपात् कहा जाता है। इनकी नप्तृता वाक् रुपिणी गाव या मातर से उत्पत्ति होने के कारण मानी गई है। इनका वर्णन ऋ० वे० ५-३२, ६-५०, ४-५५, ६-२०, ८-६५-१२, ६-१७, ८-१७, ९-३२, ६-५५, १०-१५ इत्यादि में मिलेगा। अन्त में एक और नपात् मिलता है जिसे 'पितुर्नपात्' नाम से पुकारते हैं। पितुर्नपात् नाम यम यमी का

(ऋ० वे० १०-१०) है। पितर नाम चतुर्थ अन्न सप्तक का है। यम २८ वाँ तत्त्व है विवस्वान् तो पुरुषपशु २७ वाँ तत्त्व है। यम विवस्वान का पुत्र है। इन सबका विशद वर्णन इन तत्त्वों की व्याख्या अवसर पर तत्तत् स्थलों में किया जा चुका है। यहाँ इनके उस स्थान और सम्बन्ध का पूर्ण विवेचन मात्र कर दिया गया है जिसके कारण इनको 'नपात्' या 'नाती' कहा जाता है। दिवोनपात् का एक दूसरा नाम 'द्वेनप्तुर्देववतः' दिया है (७-१८-२२)। यहाँ पर सुदास के रथ का वर्णन है, रथ अश्विनी या दिवोनपात् या द्वेनप्तुर्देववतः का है जिसमें १०० बैल हैं, रथ भी दुहरा है। सुदास सोम का प्रतिनिधि है इन्द्र का नपात् भी। 'विष्णोर्विक्रमणं नपात्' विष्णु के तीन पाद त्रिपाद रूप तत्त्वों का संकेत करता है।

अध्याय ८२

अपां नपात् (और मातरिश्वा भृगु अथर्वण दध्यङ् आदि)

वेदों में कुल १७ नपात् तत्त्व हैं जिनका विवेचन पिछले अध्याय के एक पृथक् शीर्षक 'वेदों में नपात् तत्त्व' में किया जा चुका है। इनमें से अपां नपात् तत्त्व सबसे अधिक महत्त्व का है। यह विश्वेदेवता है, या यों कहना चाहिए कि इसका वर्णन सर्वदेवता (अग्नि) के स्वरूप में किया गया है। अपां नपात् का साक्षात्सम्बन्ध आपो ब्रह्म से है। आपो ब्रह्म की पुत्रियाँ आपो देवी हैं। इन आपो देवियों का यह अपां नपात् या आपो ब्रह्म का नाती है, नदियों का पुत्र है। अँग्रेज जर्मन अनुवादकारों ने 'नपात्' का अर्थ पौत्र नहीं, पुत्र लगाया है जिसकी पुष्टि में उन्होंने लैटिन नेपोस, नेपोटिस् और इंग्लिश 'नेफ्यू' शब्द दिये हैं। इन शब्दों के लिए वेदों का शब्द 'भ्रातृव्य' है यह उन्हें विदित ही नहीं; वेदों का भ्रातृव्य वृत्र रूप शत्रु या भौतिक देह है। 'नपात्' शब्द के बदले उनके यहाँ इस अर्थ का शब्द है ही नहीं। वेदों में या लौकिक संस्कृत में नपात् या नप्तृ शब्द लड़की के पुत्र के ही लिए प्रयुक्त है; लड़के के लड़के के लिए पौत्र शब्द का प्रयोग है। यदि पाश्चात्य भाषाओं के नेपोस नेपोटिस् नेफ्यू शब्द नपात् के समानान्तर हैं तो उनका अर्थ बदल गया है, इसका पुत्र अर्थ तो इन भाषाओं में भी नहीं है। अतः नपात् का अर्थ किसी भी दशा में पुत्र नहीं हो सकता। यदि इसका अर्थ पुत्र नहीं हो सकता तो इसके वास्तविक वैदिक अर्थ के लिए हम पाश्चात्य नेफ्यू आदि शब्दों की तुलना में अपने लौकिक संस्कृत के स्पष्ट भेदीय-भ्रातृव्य, नप्ता शब्दों को अधिक प्रामाणिकता देने को बाध्य हो जाते हैं। यद्यपि सायण ने अपां नपात् की नप्तृता की जो वंशावली - आपः→ओषधिः अग्निः→नपात् दी है वह भी ठीक नहीं है पर नप्ता का अर्थ सायण ने ठीक दिया है। क्योंकि अपां नपात् के वर्णन ऋ० वे० २-३५-१ में अपां नपात् को

१—नपात् शब्द की व्याख्या

"उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे"

द्वारा नदी का विकास रूप शब्द ब्रह्म बतलाया है। नदी आपो देवी है। अतः अपां नपात् आपो ब्रह्म का नाती और आपो देवी का पुत्र है और अपां नपात् या आपोब्रह्म का नाती कहलाता है, पुत्र या पौत्र नहीं।

अपां नपात् का व्यक्त रूप चतुर्थ सप्तक या 'परमे व्योमनि' में बतलाया है जैसे—

'स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवत् मातरिश्वने'
(ऋ० वे० १-१४३-२)

२—अपां नपात् का वर्णन

अस्मिन्पदेपरमे तस्थिवांसम् (२-३५-१४) यह अग्नि रूप अपाम्

नपांत् मातरिश्वा के लिए उत्पन्न हुआ। मातरिश्वा नाम उस अग्नि रूप वायु का है जिसका जन्म मातर रूप आपो देवी से होता है जैसे

'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणिः'

(ऋ० वे० ३-२९-११)

वेदों में माता नाम सर्वत्र पृथिवी–गाव और आपो देवियों के लिए आता है जैसे

'आपो अस्मान्मातरः'

(ऋ० वे० १०-१७-१०; अथर्व ६-५१-२, वा० सं० ४-२, तै० सं० १-२-१-१)

'आपो न देवी रुपयन्ति'

(ऋ० वे० १-८३-२ अथर्व २०-२५-२)

और 'आपोहिष्ठा'

(ऋ० वे० १०-९-१ साम १८-३७, अथर्व १-५-१, यजुः ११-५०; ३६-१४; तै० सं० ४-१-५-१; ५-६-१-४, ७-४-१९-४ तै० आ० ४-४२-४; १०-१-११)

'प्रतिगावो अरुषीर्यन्ति मातरः' (ऋ० वे० १-९२-१)

'अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुः नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः'

(ऋ० वे० ८-९६-१)

'द्वितीय मा सप्त शिवासु मातृषु' (ऋ० वे० १-१४१-२)

'देवी रापो मातरः सूदयित्वो' (ऋ० वे० १०-६४-९)

अतः इन आपो मातरों से ही उत्पन्न तत्त्व को अपां नपात् नाम से ऋ० वे० ७-४७-१,२ में पुकारा गया है जैसे 'आपो यं वः प्रथमं देवयन्तः'···

'तमूर्मिमापोमधुमत्तमं यो ऽपांनपादवत्वाशु हेमा'

इसीलिए इस अपां नपात् को वसुओं या प्रथम सप्तकीय देवताओं का साथी होना कहा भी गया है जैसे "अपां नपात् यो वसुभिः सह होता पृथिव्यां न्यसीद दृत्वियः" (ऋ० वे० १-१४३-१)। यहाँ पर पृथिवी शब्द चतुर्थ सप्तक का वाचक है जिसे भुवः भी कहते हैं जिसमें 'वात' का सर्ग मातरिश्वा रूप में होता है। चतुर्थ सर्ग तो समुद्र या आपोमय या तमोमय कहलाता ही है। इसीलिए इस अपां नपात् के क्रतु रूप विकास २४ वें तत्त्व से उसकी बलवती दीप्ति द्वारा द्यावापृथिवी (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध) दोनों अत्यन्त प्रदीप्यमान शोचिष्मान् हो गए यह ऋ० वे० १-१४३-२ के उत्तरार्द्ध चरण में इस प्रकार कहा गया है

"अस्य क्रत्वा समिन्धानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचि पृथिवी अरोचयत्।"

सायण और पाश्चात्य टीकानुवादकारों ने इस मन्त्र के क्रतु शब्द के माने कर्मकाण्डी यज्ञ लगाकर सारे मन्त्र के अर्थ को नष्ट कर रखा है। दक्षक्रतु और मित्रावरुणौ दोनों आपस में एक हैं। यह मित्रवरुणौ के व्याख्यान में बताया जा चुका है, क्रतु नाम वरुण का है दक्ष नाम मित्र का। दोनों का स्थान २४ वाँ है। यहाँ 'क्रतुः'

वरुण का प्रतिनिधि है जहाँ से पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) का प्रारम्भ होता है और यहाँ पर अपां नपात् के वैश्वानराग्नि के प्रतिरूप में उदीप्त हो जाने से दोनों भाग द्यावापृथिवी शोचिष्मान् ज्योतिष्मान् स्वयं हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से लौकिक द्यावापृथिवी। इसीलिए आगे १-१४३-४ में लिखा है कि यह अपां नपात् अकेले वरुण के समान प्रदीप्त होकर शोभा देता है जैसे 'य एको वस्वो वरुणो न राजति"। वरुण ही की तरह नहीं वरन् यह अपांनपात् मित्र की तरह भी भासमान होता है, यह बात १-१४३ के सातवें मन्त्र में स्पष्ट लिखी है जैसे 'घृत प्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदग्नि मित्रं न समिन्धान ऋञ्जते'। अतः यहाँ पर इस सूक्त में अपांनपात् का २४ वें तत्त्व में मित्रावरुणौ या दक्षक्रतू रूप में विकसित होना स्पष्टतः दृष्टिपथ में रखा गया है।

अपां नपात् का सम्बन्ध आपोब्रह्म से होने के कारण यह तत्त्व पञ्चपर्वा विद्याओं में पञ्चनद्यः 'पञ्चसागरा' का मुख्य प्रतिनिधि भी है। अतः ऋ० वे० २'३५-१,३ और १-१४३-२ में इसे अग्नि की नदियों के रूप में वर्णित किया गया है जैसे 'दधीत नाद्यो गिरो में' और 'सिन्धवो ऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः'। 'समान मूर्वं नद्यः पृणन्ति'। ये अग्नि की नदियाँ वाग्ब्रह्माणी के स्वरूप की हैं यह प्रथम उद्धरण से स्पष्ट है। यह वाग्ब्रह्माणी रात्रिपक्षीया या दक्षिणायन की है और जहाँ इसकी कान्ति अमृतात्मा रूप की है जो इसके दिव्य (सुन्दर) स्वरूप से रमणीय, और व्यापक ज्योति में मधुमती है और ये कान्तियाँ दक्षिणायन में नदियों की तरह सतत प्रवाह में अमृत रूप में बहती है। ये भौतिकात्मामयी ज्योतियाँ हैं। जैसे

३—अपां नपात् और पञ्चपर्वा

"अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवो अग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥"
(ऋ० वे० १-१४३-३)

इस अपां नपात् ने अपने लिए एक ह्रद का (चतुर्थ सप्तक का) निर्माण किया जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है जैसे

"इयं स्वस्यै ह्रद आ सुतष्ट मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।
अपां नपादसुर्यस्य मह्वा विश्वान्यर्यो भुवना जजान॥"
(ऋ० वे० ३-३५-२)

इसी ह्रद से समस्त सृष्टि की नाना रूपिणी नदियाँ बहने लगती है जिनका वस्त्र विद्युत् है वर्ण हिरण्यम् का है उनमें वह पूर्वार्द्ध के अमृतों को सुरक्षित रखता है जैसे

"अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं (ह्रदं) जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्ती हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः॥"
"कृवा इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्॥"
(ऋ० वे० २-३५-९,५)

"वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः" (८)

इसी हृद् से अश्व या प्राण या भौतिक प्राण तथा गावः या धेनु या आदित्यों की सृष्टि होती है। जैसे

'अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्दुहो' 'स्व आ दमे सुदुधा यस्य धेनुः'

(६, ७ वहीं)

ये धेनुवें 'वाचं धेनुमुपासीत' वाली वाग्ब्रह्माणी रूप धेनुवें हैं। सम्पूर्ण अपां नपात् इस प्रकार निम्नप्रकार का स्वरूप पाता है। वह हिरण्यरूप है, हिरण्य के समान चक्षु सूर्य वाला है, उसका वर्ण भी हिरण्य समान है, वह हिरण्य योनि या चतुर्थ सप्तक का वासी (हिरण्यगर्भ) है और हिरण्य देने वाला या आध्यात्मिक आत्माओं का तक्षा भौतिकात्मा और अन्न को देने वाला है जैसे

"हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्मयात्परियोनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥"

(ऋ० वे० २-३५-१०)

यह अपांनपात् तत्त्व विश्वव्यापी विभु 'एक' अद्वितीय तत्त्व है। इसकी मुख्य नाभि पृथिवी या चतुर्थ सप्तक है जहां यह मित्रावरुणौ की तरह शोभा पाता है या देदीव्यमान रहता है जिसको भृगु आथर्वण और मातरिश्वा ने चतुर्थ सप्तक की पृथिवी की नाभि में मुख्य रूप से सर्वप्रथम प्राप्त किया। यह भाव निम्न ऋचा स्वयं स्पष्ट कर रही है जैसे

"यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं (विभुं) नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥"

(१-१४३-४ ऋ० वे०)

वह ऐसे सर्वव्याप्त एकमेवाद्वितीय अपने सप्तक में वरुण के समान विराजमान रहता है। चतुर्थ सप्तक में यह गर्भ रूप में वृणीत होकर अन्य स्वरूप सा धारण करता है या भौतिक शरीरी हो जाता है "य ईं वृषा जनयत्तासु (आसु) गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति। सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष॥" (२-३५-१३)। इसे घृतप्रतीक पायुः और धियः नाम से पुकार कर इसे प्राण रूप, अपानरूप और ज्ञानरूप भौतिकात्मा कहा गया है (वहीं); शेष उक्त दो सूक्तों में विस्तार पूर्वक देखने का कष्ट करें। संक्षेप में अपांनपात् का मूल स्थान आपोब्रह्म रूप आदिब्रह्म है जिसका द्वितीय सप्तक में विद्युत्स्वरूप में जीवात्मा रुद्र रूप में उदय होता है, तृतीय सप्तक में प्राणाग्नि या मातरिश्वा रूप में अभ्युदय होता है और फिर मित्रावरुण का सा स्वरूप धारण कर वैश्वानराग्नि रूप भौतिकात्मा की नदियों में परिणत होते हुए अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की नाना नामरूपता का मूल बीज भूत वैद्युतीय तत्त्व बन जाता है जहां यह एक नवीन शरीर में प्रस्तुत हो जाता है जिसका अभ्युदय तिस्रोदेव्य यह्वयः या पूर्वार्द्ध के त्रिपदा गायत्री ब्रह्मरूप गुहा से ही होता है (ऋ० वे० २-३५-४,५)। ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १०-३० के

अपांनपात् देवता के सूक्त में मिलता है जिसमें आपोदेवी को रेवती और अध्वर्यु कहा गया है, अरुण और सुपर्ण का निर्माता और इन्द्र का परिवर्द्धक भी इसी अपांनपात् को बताया है। सोम भी इसी से मोदित हर्षित होता है और कल्याणी युवतियाँ जिन्हें सम्भवतः षोडश मातृका कहते हैं उनसे भी यह मनुष्य लीला करता है। आपः का स्वरूप बुद्धि या धी या धिषणा (सांख्य तत्व सम) है। इस अपां नपात् को नदियों का गर्भ और उनके मधु का उत्स या उद्गम कहा है। नदियाँ इस त्रिवृत् या त्रितन्तु या त्रिपादामृत को उत्स के समान चारों ओर से घेरे रहती हैं। ये आपः ऋषि को जन्म देने वाली भुवन की पत्नी के समान हैं। आपः वाणी है, अतः पुरुष रूप ब्रह्माण्ड की वाणीरूप पत्नी हैं 'यदपोऽसृज्यत वागेव सासृज्यत (श० प० ब्रा०)। ये आपो रूप रेवती क्रतु रूप अमृत को धारण करती है। सरस्वती इन आपों में एक पत्नी है। ये आपः, घृत रूप प्राण या जल सिर में धारण करती हैं और इन्द्र को सोम से भरपूर भरती हैं। इन आपों को बर्हिरूप वेदि उत्तरार्द्ध की भौतिक शिला में रखो जिसको अपां नपात् भलीभांति जानता है। ये आपः अपां नपात् सहित उक्त बर्हि में आगये हैं, अब इन्द्र के लिए सोम को प्रस्तुत करो जिससे यह यज्ञ रूप सृष्टि शक्ति पूर्ण होकर देवताओं को सफल कर सके।

अपां नपात् का सम्बन्ध भृगु अथर्वाण और मातरिश्वा से बतलाया गया है। इनका यह सम्बन्ध अपां नपात् के अग्नि स्वरूप से है।

४—अग्नि और अपां नपात्

भृगु अथर्वाण और मातरिश्वा क्रम से चतुर्थ सप्तक के तत्त्व हैं। क्योंकि पिछले परिच्छेद में अपां नपात् को वरुण और मित्र या मित्रावरुण या क्रतु का प्रतिनिध बताया जा चुका है। और ऐतरेय ब्राह्मण (३-३-३४) में लिखा है कि जब उक्त अग्नि (अपां नपात्) को मरुतों के बृन्द ने फूँक दी, धुनन किया उससे वैश्वानराग्नि हुई। तब तक वह (अपां नपात्) जातवेदा रूप में मित्रावरुण या क्रतुरूप में था, उस वैश्वानराग्नि को पुनः जब मरुतों ने फूँक दी तो उससे आदित्य (सूर्य बना) उससे द्वितीय तत्त्व जो उत्पन्न हुआ वह भृगु कहलाया। भृगु को वरुण ने अपना लिया; अतः भृगु को वारुण नाम से पुकारते हैं। इसके बाद क्रमशः अन्य अङ्गिरस आदित्य और बृहस्पति निकले इत्यादि॥" जैसे "तदग्निना पर्यदधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निं प्राच्यावत्तदग्निना वैश्वानरेण पर्यदधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निं वैश्वानरः प्राच्यावयत्तस्य यद्रेतः प्रथमं उददीप्यत तदसावदित्योऽभवद्यद्द्वितीयमासीत्तद्भृगुरभवत्तं वरुणो न्यग्रहीत्तस्मात्स भृगुर्वारुणि रथ यत्तृतीय मदीदेदिवत आदित्या अभवन्ये अङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् इत्यादि॥" इस कथानक में सत्यता यह है कि उक्त भृगुप्रभृति सब तत्त्व चतुर्थ सप्तक के हैं और उसमें इनका विकास उक्त क्रम से हुआ। भृगु का सम्बन्ध मातरिश्वा से है और मातरिश्वा का सम्बन्ध अपां नपात् से तथा उस भरत नामक अग्नि से है जिसे मातरिश्वा का पुत्र भी कहा है; इसका स्थान विद् तृतीय सप्तक है और द्रविणोदाग्नि भी कहलाता है जैसे

"स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय (भरताय) स्वर्विद् ।
विशां गोपा जनिता रोदस्यो देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥"
(ऋ० वे० १-९६-४)

इस मातरिश्वा को आपो देवी मातरों या गावो मातरों से उत्पन्न अग्नि ऋ० वे० ३-२९-११ में बतलाया गया है, उद्धरण पिछले परिच्छेद में दिया जा चुका है। ऋ० वे० १०-११४-१ में इस मातरिश्वा को त्रिवृद् रूपेण सर्वत्र व्याप्त बतलाते हुए यह कहा है कि उसकी सह्य उष्णता को देखकर देवताओं को यह तुष्टि होने लगी कि यह तो अर्क है जैसे

"घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयो स्तुष्टिं मातरिश्वा जगाम ।
दिवस्पतयो दिधिषाणा अवेषन् विदुर्देवाः सहसमानमर्कम् ॥"

यह मातरिश्वा यज्ञ रूप (विदथस्य) २४ वें तत्त्व क्रतु के केतुरूप भौतिक तत्त्व की अग्नि को सृष्टि के प्रथम दूत रूप में प्रशस्त धन के समान उस प्रवणशील द्विजन्मा (दो अरणियों से उद्भूत अग्नि) को भृगु के लिए तुरन्त लाया। जैसे

"वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्यो अर्थम् ।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं भरद्भृगवे मातरिश्वा ॥"
(ऋ० वे० १-६०-१)

इसी आशय को पुनः ऋ० वे० १-९३-६ और ३-२-१३ ने दुहराया है; और ऋ० ३-५-१० में तो उक्त ऋचा को फिर दूसरे ढंग से कहते हुए लिखा है कि अग्नि स्वर्गलोक में अवरुद्ध हो गई, वह वहीं के समिधों में (तत्त्वों में) उत्तमता का अनुभव करती हुई वहीं रह गई। तब मातरिश्वा उस नाक रूप गुहा पूर्वार्द्ध से उस हव्यवाड् अग्नि को भृगुओं के लिए ले आया जैसे

"उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वोऽग्नि भवन्नुत्तमो रोचमानाम् ।
यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे ॥"

और आगे चलकर एक स्थल पर उक्त अग्नि के बारे में कहा गया है कि उक्त अपांनपातीय अग्नि को भृगु जी मनुष्यों या चतुर्थ नृषद् के नर तत्त्वों के लिए लाये। जैसे

"दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारु सुहवं जनेभ्यः ।
होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने ॥"
(ऋ० वे० १-५८-६)

५—अग्नि का प्रथम उदय

यह ऋचा बड़ी महत्त्व पूर्ण बात कहती है कि भृगु समुदाय उक्त अपांनपातीय अग्नि को उत्तम हवि (चारु) रूप में चतुर्थ सप्तक के नर तत्त्वों के लिए लाये जो पहिले द्वितीय सप्तक में होता रूप में थी फिर अतिथि रूप में (तृतीय सप्तक में) परिणत हुई, तदनन्तर वरेण्य या वारुणी रूप को और मित्र रूप को (२४ वें तत्त्व) में प्राप्त हुई और अन्त में दिव्यशरीर को प्रस्तुत करने के लिए सुन्दर रूप वाली जैसी २६ वें तत्त्व में सोम रूप अग्नि रूप में प्रस्तुत हुई। इसी दिव्याय जन्मने दिव्य-

शरीर प्राप्त कराने वाली अग्नि को ऋ० वे० १-६० १ में द्विजन्मानं कहा है। यहाँ द्विजन्मा माने दो अरणियों से उद्भूत या पूर्वार्द्ध परार्द्ध से उत्पन्न या आध्यात्मिक और भौतिक सृष्टि से उद्भूत दिव्यशरीरिणी अपांनपातीय सोमाग्नि ही हैं। इसी लिए अग्नि का एक नाम भृगवाणः या भृगुपुत्र भी है। ऋ० वे० ६-१६-१२,१३ में यह भी कहा है कि उक्त अपांनपातीय अग्नि को जिसे भृगु लाये थे उसे विश्व के मूर्ध्न रूप सूर्य से जो पुष्कर नामक चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व है जहाँ वह बाधित थी, उससे अथर्वण ऋषि ने निर्मथित किया और दध्यङ् ऋषि अथर्वण के पुत्र ने उसे प्रज्वलित किया जैसे

"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।
तमुत्वा दध्यङ् ऋषि पुत्रईधे अथर्वण वृत्रहणं पुरंन्दरम्॥"

इसी अग्नि से इन्द्र ने वृत्र का वध किया था। पुनः वहीं पर कहा गया है कि उक्त अग्नि को अङ्गिरा ऋषि ने अपने समिध रूप प्राणों से (अङ्गानां प्राणानां रसो अङ्गिरा) परिवर्द्धित किया तब वह अत्यन्त तीव्र ज्वाला वाली बन गई।

"तं त्वा समिद्भि रङ्गिरो वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्यः॥"
(ऋ० वे० ६-१६-११)

श० प० ब्रा० १-३-५-३,४ में इन अग्नियों की प्राण उदान व्यान और अपान रूप में व्याख्या दी है। अपां नपात् के वर्णन में भी अपान का वर्णन आया है, पिछले परिच्छेद में देखें। जैसे १-१४३-८ में

'पायुभिः पाहि शग्मैः' से 'पायुभिः'

शब्द 'अपानैः' का अर्थ रखता है। इसी अग्नि को मनु नाम से पुकारा गया है जैसे

"त्वं होता मनुर्हितो वह्निरास विदुष्टरः।
अग्नेः यक्षि दिवो विशः॥"
(ऋ० वे० ६-१६-९)

अतः जब मनुस्मृति में यह कहा गया है कि भृगु इस मनुस्मृति के ज्ञान का भूलोक में प्रचार करेंगे तो वह श्लोक वेदों की उक्त ज्ञानाग्नि का नर लोक चतुर्थ सप्तक में प्रादुर्भूत होने के रहस्य को लौकिक रूप में वर्णित करता हुआ स्पष्ट झलकता है। अन्यथा इसका कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि ज्ञानदाता अन्य अनेक ज्येष्ठ ऋषि वशिष्ठयादि भी है। उक्त वर्णन का आशय तत्त्व रूप में क्रमबद्ध किया जाय तो वह इस प्रकार बैठेगा। मनु-अथर्वण-दध्यङ्-अङ्गिरा-भृगुः- ये सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्व है पुष्कर चतुर्थ सप्तक है, विश्वमुख सूर्य है, वही 'मनवे सूर्य चक्षसे'—सूर्य रूप चक्षु रूप मनु है—उससे अथर्वण ने मन्थन किया दध्यङ् ने प्रज्वलित किया अङ्गिरा ने परिवर्द्धित किया और भृगु ने उसे अपना कर आगे बढ़ाया। चक्षु रूप मनु को मातरिश्वा ने अग्नि दी। भृगु वारुणि हैं यह चतुर्थ सप्तकीय सिद्धान्त की पुष्टि करता है तथा ऋ० वे० ६-१६-१६,१७ में उक्त अग्नि को

'इन्दुभिः' सोमों या चन्द्रों या भौतिकात्मा से परिवर्द्धित होने की बात कही गई है और दक्ष को मनः नाम से पुकारा है। इसी मनः से उत्पन्न मनु रूप चक्षुः सूर्य है।

"ए ह्यू षु ब्रवाणि ने ऽग्न इत्थेतरा गिरः एभिर्वर्धास इन्दुभिः।
यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस इन्द्र सूरीन्दिवि च स्मैधि पार्ये न इन्द्र ॥"

एक विचित्र और वैज्ञानिक बात यह है कि अथर्वण ऋषि की बहिन का नाम ऋ० वे० १०-१२०-९ में मातरिश्वरी दिया है। जिससे मातरिश्वा और अथर्वण का साम्य मिलता है जैसे

"एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वा वोचत्स्वां तन्व मिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरी ररिप्रा हिन्वन्ति च शवसा वर्धयन्ति च ॥"

इसमें यह भी कहा गया है कि अथर्वा का शरीर ही इन्द्र है, उसकी बहिनें मातरिभ्वरी हैं जो शत्रुओं को जीतकर बढ़ती जाती है। यहाँ हिन्वन्ति का प्रयोग है हिन्वन्ति का प्रयोग वाक् के लिए होता है 'गीर्भिर्हिनुहि' (ऋ०वे० १-१४३-४)। अतः मातरिभ्वरी भौतिकात्मीय वाग्ब्रह्माणी हैं जिनका विकास यहाँ पर वृद्धि को पाता है कहा गया है।

६—अपांनपात् और उत्स

अन्त में अपांनपात् के बारे में यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि इसको विष्णु और वास्तोष्पति की तरह (नदियों के) मधु का उत्स या उद्गम कहा है (ऋ० वे० १०-३०-८,९) और उनके आपों (जलों) को मधुमती ऊर्मिमती बतलाया है (१०-३०-२,३,४,७-८,१३)। तथा इन मधुमती आपों से मधुमान् सोम की सृष्टि करने वाला तथा इन आपों को ओषधी नाम से भी पुकारा है (१०-३०-३,५)। इन आपों का प्रवाह दोनों दलों (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध) में बतलाते हुए लिखा है कि ये क्रमशः अधो भाग की ओर जाती हुई द्विधारों में बहती हैं जैसे

"तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्र पानमूर्मि प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परित्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम् ॥
आववृतती रध नु द्विधारा गोषुयुधो..."

(१०-३०-९,१०)

और इस अपांनपात् का अपना ह्रद है, वही उसका उत्स है जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है (ऋ० वे० २-३४-२) 'इमं स्वस्मै ह्रद आ तष्टं' इत्यादि। यही ह्रद या सरोवर अपां नपात् का मुख्य स्थान है। अतः यह विष्णु वस्ताष्पति की तरह सर्वादेवता और विश्वेदेवता है। विश्वेदेवताओं में इसका नाम रेवती है "स्वस्ति पथ्या रेवतीः"

अध्याय ८३

ऋभवो देवता

सुधन्वन अङ्गिरस के तीन पुत्र

ऋभु, विभ्वा और वाज—(ऋतु दर्शन के देवता या तत्त्व)

'ऋभु' शब्द की उचित व्युत्पत्ति 'ऋतेन ऋतुना बा भवन्तीति' या 'उरु भवन्तीति' है, पर निरुक्तकारों ने 'ऋतेन भान्तीति' व्युत्पत्ति भी दे रखी है। ऋत तत्त्व वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध को कहते हैं, उत्तरार्द्ध के लिए इसका समानान्तर शब्द 'सत्यम्' (या भौतिकम्) है; क्योंकि पूर्वार्द्ध शुद्ध आध्यात्मिक त्रिपादामृत है, उसीसे ऋभुओं का विकास होता है।

१—ऋभु शब्द की व्याख्या

ऋभु नामक देवता संख्या में तीन हैं इनके दो और नाम हैं वे है 'शवसोनपातः' और 'मनसो नपातः' जैसे

"इहोपयात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत ॥"

इत्यादि (ऋ० वे० ४-३५-१)

२—ऋभु की संख्या और नाम

"इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनो नपातो अपसो दधन्विरे।"

(ऋ० वे० ३-६०-३)

शवसो नपात माने शची या शक्ति के नाती और मनसो नपात माने कामायिनी के नाती होता है। इन्होंने सब काम शची या शक्ति से किये है जैसे

"शच्या कर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्याहरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहा वृषभो वाजरत्नाः ॥"

(ऋ० वे० ४-३५-५)

इन्द्र को ऋभुमान् तथा ऋभुओं को इन्द्रवन्त कहा गया है जिससे इन दोनों का अन्योन्याश्रयी पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होता है जैसे

"इन्द्र ऋभुमान् वाजवान्मत्स्वेह नो अस्मिन्त्सवने शच्या पुरुष्टुतः ॥"

(ऋ० वे० ३-६०-६)

और

"आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं मनसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः ॥"

(ऋ० वे० ४-३४।६)

"इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम्" (ऋ० वे० ४-३७-५)

परन्तु निम्न ऋचा उक्त ऋभु देवताओं को इन्द्र का पुत्र बतलाती है जैसे

"पीवो अश्वा शुचद्रथा हि भूतायः शिप्रा वाजिनः सुनिष्काः ।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनुवश्चेत्यग्रियं मदाय ।।"

(ऋ० वे० ४-३७-४)

ये सुधन्वन् अङ्गिरस के पुत्र भी कहे गये हैं (आगे देखें)। इन तीनों के नाम क्रम से ऋभु, विभ्वा और वाज हैं, पर बड़े भाई के नाम से ऋभव कहलाते हैं। "ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो" (ऋ० वे० ४-३४-१)

ऋभु नामक देवताओं या तत्त्वों के बारे में दो मुख्य बातें याद रहनी चाहिए। (१) ऋभु नामक देवता वैदिक दर्शन के ऋतु भागीय पक्ष से मुख्य सम्बन्ध रखते हैं। अतः ये 'ऋतुना ऋतेन भवन्तीति' ऋभव

३ ऋतुवादी ऋभु

कहलाते हैं (२) दूसरी मुख्य बात यह है कि रत्नवादी दर्शन का प्रारम्भ भी यही ऋभु देवता करते हैं। इनका रत्न वाज या अन्न या सोम है। इस बात की पुष्टि निम्न ऋचा करती है।

"विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम्"

(ऋ० वे० ४-३४-२)

कर्मकाण्ड में इनकी शरद ऋतु में पूजा की जाती है, शरद में इनका पूर्ण विकास हो जाता है जैसे

"शारदेन ऋतुना देवा एक त्रिँशं ऋभव स्तुताः ।
वैराजेन श्रिया श्रियँहविरिन्द्रे वयो दधुः ॥

(शु० यजुः २१-२६)

इस मन्त्र की व्याख्या में महीधर ने "ऋभवः ऋतुसंज्ञा देवा" स्पष्ट लिखा है। उव्वट या यास्क इस विषय में मौन हैं। ऋग्वेद ने अन्यत्र इनको 'ऋतुपाः' की संज्ञा दी है जैसे

"सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं..................
अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्नास्पत्नीभी रत्नधामिः सजोषाः ।।"

(ऋ० वे० ३-३४-७)

'अग्रेपा' नाम ऋभुओं का ही है यह इस ऋचा से जानें "त अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति ।" (४-३४-१०)

(२) रत्नवादी दर्शन की आधार शिला भी ऋभु नामक देवता ही रखते हैं जैसे

"ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः ।
४—रत्नवादी ऋभु विभ्वस्तष्टो विदथेषु प्रवाच्योऽयं देवासोऽवथा स विचर्षणिः।।"

(ऋ० वे० ४-३६-५)

और

"आगन्नृभूणा मिह रत्नधेयमभूत्सोमस्य सुषुतस्य पीतिः ।।"

(ऋ० वे० ४-३५-२)

"अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय"

(४'३४-४)

प्रथम मन्त्र कहता है कि रयि या रत्न ऋभु से ही सर्वप्रथम सुने या जाने गये, जिसको नरः नामक सप्तक (चतुर्थ) ने सोम रूप में उत्पन्न किया। द्वितीय ऋचा कहती है कि ऋभुओं की रत्नधेयता ही नवजात (सुषुतस्य) सोम की पीति या पान बना। ऋभु केवल रत्नधा ही नहीं वरन् कई अन्य धनों से भी युक्त हैं जैसे

"ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्त वसुमन्तं पुरुक्षम्।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति ।।"

(ऋ० वे० ४-३४-१०)

ऋभुओं का मुख्य सम्बन्ध पञ्चपर्वा के समुद्रों से है 'समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्त शवसो नपातः (ऋ० वे० १-१६१-१४)

ऋतु दर्शन से सम्बन्ध रखने के कारण ऋभुओं का संवत्सरब्रह्म से सीधा सम्बन्ध है, अतः कहा है

"सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
५—संवत्सरीय ऋभु श्वानं बस्तो बोधयितार मब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ।।"

(ऋ० वे० १-१६३-१३)

सोये हुए ऋभुओं की जब निद्रा खुली तो उन्होंने अगोह्य से पूछा हमें किसने जगा दिया ? तब दिन के बोधयिता श्वान (प्राणों) ने सूचित किया कि अब संवत्सर (ब्रह्म के विकास) का समय प्रस्तुत है। इनके सोने के १२ दिन १२ आदित्यों के हैं।

"द्वादशद्यून् यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्रा कृण्वन्ननयन्न सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ।।"

(ऋ० वे० ४-३३-७)

ऋभु देवता अगोह्य आदित्य के अतिथि थे, वहीं सो गये थे। अगोह्य आदित्यों का प्रतिनिधि है। जैसे

"उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ।।"

(ऋ० वे० १-१६१-११)

अगोह्य नाम आदित्य का है। अतः वे इन १२ आदित्यों २०-३१ तत्त्वों तक सुषुप्त रहे। इनका उद्भव पञ्चम सप्तक में ३३ वें तत्त्व में हुआ। २६ वें से अङ्गिरस ऋषि तत्त्व आते हैं, और इन्द्र पूरे चतुर्थ सप्तक में रहता है। अतः इन्हें सौधन्वनः (अङ्गिरस पुत्र) तथा इन्द्र पुत्र कहा जाता है। चतुर्थ सप्तक में ही शरद ऋतु होती है, अतः इन्हें शरद ऋतु प्रदान की गई है।

ऋभु नामक देवताओं का सम्बन्ध आपोदेवता नदी देवता तथा विशेषकर समुद्र तत्त्व से है। इसी लिए लिखा है कि ऋभु नामक देवता समुद्र से जाने के अभ्यस्त हैं जैसे

६—ऋभु और समुद्र तत्त्व

"दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्नि रयं वातो अन्तरिक्षेण याति।
अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्तः शवसो नपानः॥"

(ऋ० वे० १-१६१-१४)

कि मरुतों का विकास रूप दिव रूप में अग्नि का षड्भूमि रूप में वायु का विकास 'अन्तरिक्ष' (प्रथम सप्तक) के रूप में; वरुण का विकास आपो ब्रह्म रूप में (विद्युत् रूप में) तथा ऋभुओं का विकास समुद्र रूप में अर्थात् पञ्चपर्वा या सप्त- पर्वा के अनुसार पञ्चसागर सप्तसागर रूप में होता है। अतः अन्यत्र लिखा है

"ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीति रुचथाय शस्यते।
अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः स्वाहाकृतस्य समुतृप्णुत ऋभवः॥"

(ऋ० वे० १-११०-१)

कि पहिले इन्होंने आपः की रचना की फिर स्वादिष्ट धीति नदियों की, तदनन्तर समुद्र की जो विश्व की रचना का मूल स्रोत है। इसका समर्थन कई अन्य ऋचायें भी करती हैं

"सुक्षेत्रा कृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वा तिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः।"

(ऋ० वे० ४-३३-७)

"सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः" (४-३३-८)

इत्यादि। प्रथम ऋचा का 'सुक्षेत्रा' शब्द सप्त दिव षडुर्वी सप्तनद्यः पञ्च-सागरा आदि का सूचक है। इन्हें 'सौधन्वना' शब्द द्वारा कई बार सम्बोधित किया गया है (१-११०-४, १-१६१-८)। सुधन्वन नाम अङ्गिरस ऋषि का है उनके तीन पुत्र थे, निम्न परिच्छेद में तीन ही ऋभुओं का नाम आया है ज्येष्ठ कनीयान् और कनिष्ठ। अतः ये अङ्गिरस के ही पुत्र हैं।

ऋभु नामक देवताओं के चारों चमस मिलकर चतुष्पाद् ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिए इन्हें विश्वेदेवताओं में सम्मिलित किया गया है। जैसे

"विश्वेदेवा नो अद्यास्वस्तये देवा अवन्त्वृभवः।
स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥"

७—ऋभु और चतुष्पाद्ब्रह्म

(ऋ० वे० ५-५१-१३)

पहिले दर्शन का एक ही चमस या रूप था उसके उन्होंने चार भाग कर दिये जैसे

"सुकृत्यया यत् स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा।"

(ऋ० वे० ४-३५-२)

पहिले जब चमस एक था उसका नाम केवल 'चँ' था; उसको चतुर्धा करके 'चमसम्' बना दिया। इसको चतुर्धा बनाने की भी कथा इस प्रकार दी है

"ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन्कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥"
(ऋ० वे० ४-३३-५)

सबसे बड़े भाई ने कहा चमस के दो भाग करो, मध्यम ने कहा तीन करो अन्तिम ने कहा चार करो, त्वष्टा ने इनकी बात मान कर यही चार भाग कर दिये। परन्तु त्वष्टा ने ये चार भाग जल्दी नहीं कर दिये, वे बहुत नाराज हुए और कहने लगे कि इन ऋभुओं ने एक चमस रूप देवपान (देवताओं के सोम के पात्र) की निन्दा की है, सबके साथ नहीं पीना चाहते, तीन अपने लिए. चौथा देवताओं के लिए (अलग अलग पात्र बनाकर पीना चाहते हैं), अतः मैं इनको मार देता हूँ। कोई ऋभुओं को कुछ भद्दे नामों से पुकारने लगे।' कोई लड़कियों के नामों द्वारा चिढ़ाने लगे जैसे

"हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चामसं ये देवपानमनिन्दिषुः ।
अन्या नामानि कृण्वते सुते सचाँ अन्यै रेनान्कन्या नामभिःस्परत् ॥"
(ऋ० वे० १-१६१-५)

देवताओं और ऋभुवों के बीच की वार्ता का संदेशहरदूत अग्नि थी

"अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः ।
धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि ॥"
"ऋ० वे० १-१६१-३)

हे भाई! ये अश्व (प्राण या रथ रूप दर्शन के अश्व) रथ रूप दर्शन, इनके उद्गम रूप धेनु (प्रश्नि) तथा दो अन्य अश्विनी कुमारों को युवा बना के, हम तुमसे मिलने आते हैं यह बात ऋभुओं ने अग्नि से कही।

इन्हें 'विभु नरः' व्यापाकात्मा कहा है (४-३४-९ इत्यादि) और

"ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि"
(ऋ० वे० ७-४८-२)

८—ऋभु जन्म

ऋभु नामक देवताओं का जन्म 'अनश्व' रूप में (प्राणहीन रूप में या सुषुप्त-प्राण रूप में) होता है, तथा अनभीशु या ज्योतिहीन प्रलयकालीन ब्रह्म सम रूप में होता है पर ये सबके उक्थ्य या उद्गम हैं, इनका रथ त्रिचक्र है जिसके चारों ओर रजः या भौतिकात्मा व्याप्त है, इन देवताओं की बहुत बड़ी महिमा है कि ये द्यावापृथिवी दोनों का पोषण या विकास करते हैं जैसे

"अनश्वो जातो अनभीशु रुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः ।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥"
(ऋ० वे० ४-३६-१)

इनका विशद वर्णन ऋ० वे० ४-३३-२,३,४ में और ४-३४-९, ४-३५-५ इत्यादि में दिया गया है, पढ़लें।

इनका मुख्य सवन माध्यन्दिन है, पर इनके पान का सवन तृतीय सवन में बतलाया है जैसे

"प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते"

९—ऋभु सवन (ऋ० वे० ४-३५-७) और

"पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय।"

(४-३४-४ १-१६१-८)

"ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन् सवने दधात"

(४-३३-११) इत्यादि।

इनको देवयान तथा स्वधा से भी सम्बद्ध किया है (४-३७-१; ४-३३-६)। इन्द्र पुत्र होने से इनका वैश्वदेवीय स्थान पञ्चम सप्तक होता है शरद् ऋतु इसी सप्तक में पड़ती है। यहीं ये तीन भाई बनते हैं जिनमें से ऋभु इन्द्र का, विभ्वा वरुण का और वाज देवताओं का प्रिय कर्मा बना (ऋ० वे० ४-३३-९)।

अध्याय ८४

सरस्वान्

सरस्वान् तत्त्व पञ्चपर्वा विद्या का एक मुख्य अंग है। पञ्चपर्वा विद्या में पञ्चार्णव या पञ्च समुद्र हैं। इस समुद्रमय ब्रह्म में एक ह्रद या हृदय या मानस ह्रद या अन्तर्ह्रद है। इस ह्रद का उल्लेख पिछले अपांनपात् तत्त्व के वर्णन में आ चुका है। नासदीय सूक्त में भी अर्णवमय समुद्रमय आपो ब्रह्म की चर्चा की गई है

१—सरस्वान्

"तम आसीत् तमसा गूढ मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम्।"

(ऋ० वे० १०-१२९-३)

विश्वकर्मा सूक्त में भी यही बात मिलती है

"कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो" "तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो"

(ऋ० वे० १०-८२-५,६)

इसी प्रकार ऋ० वे० १०-७२-६,७ में भी उक्त समुद्रमय जलों का उल्लेख इस प्रकार दिया है

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणु रपायत ॥"
"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूल्हमा सूर्यमभजर्तन ॥"

शेष पञ्चपर्वा विद्या के शीर्षक में दिये ऋ० वे० ९-६२-२६; ऐ० उप० १-१; ऋ० वे० १-१६४-४२; बृह० उप० २-५-८-९, छान्दोग्य उप० ६-९; तै० ब्रा० उप० १०-१९० इत्यादि को पढ़ लें।

'मनो वै सरस्वान्' 'पौर्णमासः सरस्वान्'

(श० प० ७-५-१-११, तै० उ० १-१२)

ये मध्यवर्ती तत्त्व हैं।

अब सरस्वान् या ह्रद के स्थान का निर्णय करने में निम्न ऋचा स्पष्ट विवेचन देती है।

२—सरस्वान् का स्थान और वर्णन

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा विचष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः॥"

(ऋ० वे० १०-५-१)

अपांनपात् शीर्षक से विदित है कि यह ह्रद मधुमय है। पञ्चामृतों में मधु-सागर तृतीय है, प्रथम पयः सागर, द्वितीय दधि सागर है, यह 'पञ्चामृत' शीर्षक में बताया जा चुका है। उक्त ऋचा में इस ह्रद का स्थान उपस्थ या उत्स के मध्य में

बतलाया है। उत्स सम्पूर्ण दर्शन है, प्रत्येक तत्त्व अगले तत्त्व का उत्स या उक्थ है। उसके मध्य में उपस्थ है, जहाँ वेः या सुपर्ण का स्थान निहित है। इसी उपस्थ में अदिति से दक्ष का जन्म होता है जैसे

"असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्नि र्ह न प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥"
(ऋ० वे० १०-५-७)

यह समुद्र तो अग्नि का है, प्रथमजा है और पूर्वार्द्ध में यह वृषभ और धेनु रूप में वर्णित किया गया है। इसी आशय का समर्थन निम्न दो ऋचायें करती हैं।

"समानं नीलं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि॥"
"ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतु वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः॥"

कि वृषण रूप तत्त्व (वर्षणशील तत्त्व) एक ही घोंसले या नीड में वसते (तमोरूप तत्त्व) धारण करते हुए अर्वती या अश्वीयों के साथ महिषाग्नि रूप में प्रवृत्त होते हैं। ऋत के क्रमिक पदों या स्थानों को योगी दार्शनिक लोग समझते हैं, कोई उन्हें गुहा नाम से (पूर्वार्द्ध को) पुकारते हैं। इस पूर्वार्द्ध रूप गुहा से जो ऋतायनी ऋत की पत्नी-सम है मायिनी या दैवीमाया है वह शिशु नामक सोम या तोकं तनयं या भौतिकाणु को उत्पन्न करके विकसित करती है। वही (ह्रद रूप या सरस्वान् रूप होते हुए) इस ध्रुव अखिल ब्रह्माण्ड की मूल भौतिक नाभि है जिसके तन्तुओं से माया इस भौतिक ब्रह्माण्ड के जाल को बुनती जाती है। ऋत ब्रह्म की वर्तनय या पथ्या रोदसी या द्यावापृथिवी हैं जो उसके मधुओं के घृत और अन्न अर्थात् प्राण और भौतिकाणु से परिवर्द्धित होती है जैसे

"ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्॥"
(ऋ० वे० १०-५-४)

वे मार्ग भौतिकाणु सोमज्योति प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (वाजाय सचन्ते)। यह समुद्र रूप ब्रह्म सात बहिनों सप्तनदियों को उत्पन्न करता है तब मधुधारा को सूर्य के लिए उत्पन्न करता है। और उस मधु से रूप या भौतिकात्मा (वव्रि) के लिए वह पूषण को उत्पन्न करता है जो भौतिकाणु को क्रमशः पुष्ट करता है। कवियों या दार्शनिकों ने दर्शन की सात मर्यादायें बनाई हैं जिन्हें सप्त सप्तक या सप्त परिधियाँ कहते हैं। उनमें से एक मध्यवर्ती हैं जिसे अहं वान् भौतिक तत्त्व कहते हैं, वह लौहस्तम्भ के समान उसे दो नीडों या के (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के) मध्य में आधार रूप में स्थित है वही मुख्य भौतिक उत्स है 'सप्तमर्यादा कवयोस्तेषामेकोऽभ्यंहुरोगात्' (ऋ० वे० १०-५-५,६)। अतः यह सरस्वान् दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती ह्रद हृदय या समुद्र है भौतिक है मधुमय है नाना रूपाकार की सृष्टि करने में समर्थ (भूरि

जन्मा विचष्टे) है। मधु शब्द के माने केवल तृतीय मधुसागर ही नहीं होता वरन् अमृत और मीठा भी होता है जैसे 'मध्व उत्सः' में मधु शब्द अमृत रूप मिष्ठ या मिष्ट रूप आदि ब्रह्म का है जैसे 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः........ मधु द्यौरस्तु नः पिता।" इत्यादि मन्त्रों में और अपांनपातादि तत्त्वों के मूल स्वरूपीय 'मध्व उत्सः' 'मधुमानूर्मिमन्तः' में तथा बृहदारण्यक से समस्त मधुवादी ब्राह्मणों में और छान्दोग्य के मधुवादी भागों में। अथर्ववेद ने उक्त बातों का समर्थन करते हुए इसे चतुर्थ सप्तक के समुद्र रूप में वर्णित किया है जैसे

"यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।
यस्य व्रते पुष्टपति निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे॥
आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम्॥"

(अथर्व ७-४-२ पूरा)

अतः सरस्वान् की प्रार्थना में कहा गया है कि जिसने उग्र सुदानव देवताओं और असुरों दोनों को पुत्र रूप में जनन किया या उत्पन्न किया उसका हम आवाहन करते हैं। हे सरस्वान् तुम्हारी जो उर्मियाँ घृतों या प्राणों को चुवाने वाली है, और मधुमती हैं उनसे हमारी सुरक्षा करो। हे सरस्वान् तुमने विश्वदर्शत या चक्षुरूप सूर्य के, जो स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त है स्तन को पिया है और हम भी उस प्रजा रूप स्तन के अमिष या दूध को पी सकें या सोमात्मा भौतिकात्मा से सदा युक्त रह सकें जैसे—

"जनीयन्तोन्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे॥"
"ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नो ऽविता भवः॥"
"पीपिवासं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥"

(ऋ० वे० ७-९६-४,५,६)

उक्त कथन का समर्थन यजुर्वेद १३-३८,३९ और १७-८९ तथा नारायणोपनिषद् ५-४० निम्न प्रकार से करते हुए सरस्वान् को अन्तर्हृद या मानस ह्रद नाम से पुकारते हैं और कहते हैं कि उसमें घृतमत्कुलायी सुपर्ण (सोम) रहता है। इस वर्णन से सरस्वान् की स्थिति पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि यह सरस्वान् सरोवर या अन्तर्हृद या ह्रद या मानसह्रद या मानस सरोवर उत्तरार्द्ध के २५ वें २६ वें तत्त्व तत्त्व के मध्यवर्ती तत्त्व है जैसे

"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ ३ उदारदु पांशुना सममृतत्त्वमानट्।
घृतमस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥

(१७-८९)

"अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना घृतस्य धारा अभिचाकशामि।
हिरण्मयो वेतसो मध्ये अग्ने॥ (१३-३८)
तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः॥"
"तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधा दुहानाममृतस्य धाराम्॥"

(ना० उप० ५-४०)

"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः" (यजुः १३-३९)
'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे'

मन्त्र के दो शिरों में प्रथमशिर ब्रह्म है द्वितीय यही सरस्वान् रूप सूर्य सोमादि। ऋ० वे० १०-६६-५ में सरस्वान् की 'धी' रूप या बुद्धि रूप या सोम या भौतिकात्मा रूप बतलाते हुए लिखा है "सरस्वान्धीभिर्वरुणो धृतव्रतः" इत्यादि। तथा ऋ० वे० १-१६४-५२ में सरस्वान् को दिव्य सुपर्ण वायस आपों के बृहत् गर्भ और ओषधियों का दर्शक, तथा वृष्टि से सर्वतः तर्पयिता कहा है जैसे

'दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ॥"

अध्याय ८९

(१) नदी रूपिणी सरस्वती

सरस्वती वाग्ब्रह्माणी है। इसका वर्णन देवता रूप और नदी रूप दोनों प्रकार से दिया है। देवता रूप में यह पावक रूप अन्न रूप सोम की प्रतिनिधि है तो नदी रूप में पञ्चपर्वा विद्या की मुख्याङ्गभूत तृतीय पर्वणी नदी। जब यह पञ्चपर्वाविद्यानुसार नदी रूप में वर्णित की जाती है तो पञ्चपर्वा विद्या के पर्वत रूप पञ्चपर्वो से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है जिससे इसका वर्णन कुछ लौकिक सा लगने लगता है। पर जैसा नदी देवताओं के शीर्षक में बतलाया जा चुका है कि ऋ० वे० १०-७५-८ के अनुसार सब वैदिक नदियाँ तो सुन्दर अश्वों (प्राणों) वाली, सुन्दर धुनन करने वाली (वाग्ब्रह्माणी) सुन्दर रथ (दिव्य शरीर) वाली, सुन्दर वस्त्र (भौतिक शरीर) वाली हिरण्यमय (ब्रह्म मय) सुशीला (दैवी) अन्नवती (सोमवती) ऊर्णावती (ऊर्णनाभि सम) सदा युवती, और जीवन युद्ध में निरन्तर संघर्ष करने वाली (वृत्रादि आसुरी शक्तियों को नष्ट करती) हैं। यही नहीं ये तो भूलोक में चलती ही नहीं, ये सदा अश्विनी के रथ में ही चलती हैं। और युद्ध भी करती है, वृत्र का वध भी करती हैं (ऋ० वे० १०-७५-९ और ६-६१-७)। यह सरस्वती वाग्ब्रह्माणी नदी रूप में अपने बल से पर्वतों के सानुओं को पर्वतविद्या के विभागों शत्रुओं की तरह अपने बल से और अपनी उर्मियों की शक्ति से कुचलती हुई, उत्तरार्द्ध के (वृत्र की) भौतिक वृद्धि के अन्धकार से ब्रह्म ज्ञान की रक्षा करने के लिए (सदा प्रवृत्त रहती है), उस सरस्वती की हम सुन्दर शब्दावली की स्तुतियाँ करते हैं। जैसे

१—सरस्वती

"इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥"

(ऋ० वे० ६-६१-२)

यद्यपि सरस्वती का उदय तो पूषा नामक २४ वें तत्त्व से होता है और उदय होने के तीसरे तीर्थ २६ वें तत्त्व में यह वृत्रघ्नी कहलाती है

'वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्' (ऋ० वे० ६-६१-७)

इसका उदय २४ वें तत्त्व में होने का प्रमाण यजु० वे० ४-७

'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा' और (ऋ० वे० ६-६१-६)

'रदा पूषेव न सनिम्' मन्त्रों से होता है, पर इसका निर्माण आदि ब्रह्म ही से होने लगता है अतः इसे

'त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्द्धयन्ती'

(ऋ० वे० ६-६१-१२)

कहा है कि यह तीन लोक वासी सप्त लोक गमन करने वाली पाँचसप्तकों में पुष्ट करने वाली है। सबसे पहिले गङ्गा का अभ्युदय होता है। वह द्वितीय रुद्रसप्तक से १९ वें तत्त्व तक रुद्र जटा रूप ११ तत्त्वों में रहती है, फिर २० वें से आदित्यों के उदय के साथ साथ यमुना का उदय होता है, २४ वें से सरस्वती का; तीनों की त्रिवेणी २६ वें में होती है जहाँ पर वृत्र का वध होता है। अतः सरस्वती की गङ्गा यमुना आदि सात बहिनें कही गई है 'उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा' (ऋ० वे० ६-६१-१०)। सरस्वती आर्यों को सब नदियों अधिक प्रिय है पर इसी मन्त्र में लिखा है। आपो रूप में सरस्वती भैषज्य भी है

"सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामि"

(यजु- २०-३)

इस सरस्वती का जल बुद्धि रूप है, अतः इसे बुद्धियों (भौतिकात्माओं) की संरक्षिका और सोमात्मा बतलाया है

"प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती धीनामवित्र्यवतु ॥"

(ऋ० वे० ६-६१-४)

यह सरस्वती भौतिकाणु को सम्पादन करने वाली है इसका प्रमाण भी ऋ० वे० ६-६१-११ इस प्रकार देता है

"आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु ॥"

और फिर भी यह उस पार्थिव रजः के अन्धकार को दूर करती है "द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा" (ऋ० वे० ६-६१-१३)

(२) देवता रूपिणी सरस्वती

यह ध्यान रहे सरस्वती चाहे नदी स्वरूपिणी हो या देवता स्वरूपिणी, दोनों अवस्थाओं में यह भौतिक शब्द ब्रह्मणी है, यह परा वाक् है यह अहव्यवाङ् वाक् है जिसके कारण श० प० ब्रा० के 'मनसोवाचश्च' के द्वन्द्व में इस वाणी को परा वाक् कह देने से उसका गर्भपात हो गया। जहाँ गर्भपात हुआ उसका नाम 'अत्र त्यादिति अत्रिः' पड़ गया (अत्रि शीर्षक देखें)। इस सरस्वती को देवता रूप में अग्नि (जातवेदा) और अन्न या वाज या वाजिनी या वाजिनीवती अर्थात् सोमवती बतलाया है। जैसे

'सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा' (यजुः ४-७)

यही सरस्वती वाणी रूप में भी वर्णित है जैसे

"सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि" (यजुः ९-३०)

और 'सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक्' (यजुः २४-३३)। इसी सरस्वती को भौतिक ब्रह्माण्ड के बीजभूत यशः की भगिनी भी बतलाया है जैसे "सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा', (यजुः २-२०), इसीलिए ऋ० वे० १०-१७-८ में सरस्वती को बर्हिः में आसन जमाने की बात कहता है और साथ में इसका सम्बन्ध पितरों से जोड़कर

स्वधा से स्वस्थ और आनन्दित रहने की प्रार्थना करता है। अतः इस सरस्वती का दक्षिणार्द्ध की वासिनी होने का भी संकेत दिया गया है जैसे

"आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आधेह्यस्मे।
सरस्वती यां पितरो हवन्ते दणिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ॥"

(ऋ० वे० १०-१७-८,९)

इन बातों की पुष्टि सरस्वती देवता सूक्त ऋ० वे० १-३ से भी होती है जिसमें लिखा है

"पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनोवती। यज्ञं वष्टु धिया वसु ॥"
"महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥"

(ऋ० वे० १-३-१०,१२)

कि सरस्वती अग्नि (जातवेदा) रूपिणी है, और सोम से सोमवती है, वह यज्ञमयी २४ वें तत्त्व (ऋतुमयी) है और बुद्धि रूप धन वाली या भौतिकात्मा की धनवती है। यह सरस्वती महसां तेजसां सागर के समान है और केतु नामक भौतिक तत्त्व से चेतयति या प्रबुद्ध करती है कि अब भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भ हो गया, या वह भौतिक वाग्ब्रह्माणी है जिसका स्वरूप बुद्धि रूप या सोम रूप है; उसीसे वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्ति रूप से विराजमान है। सरस्वती वाक् है, अमावास्या पूर्वार्द्धान्त उत्तरार्द्धादि तत्त्व है (गो० उ० १-१२) सरस्वती गौ है (श० प० १४-२-१-७) इसकी ऋतु वर्षा शरद है पुष्टिपत्नी (पूषापत्नी) है (श० प० १२-४-२-२३; तै० २-४-७-४) इसके लिए दधि को पुरोडाश में दिया जाता है (श० प० ४-२-४-२२) यह वज्र रूपिणी है (कौ० १२-२)।

———

अध्याय ८६

वाक्, वाग्धेनु, धेनु और गौरी (वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म)

सरस्वती तो चतुष्पाद् ब्रह्म की ब्राह्मणी या ब्राह्मी या पुत्री या चतुर्मुख ब्रह्म की पुत्री या पत्नी है पर जिसे त्रिषधस्था सप्तधातु पञ्चजना नाम से पुकारा गया है वह सरस्वती की माता नानी परनानी आदि हैं। यह वाक् या वाग्ब्रह्म या आत्मीय वाक् या आध्यात्मिक शब्द ब्रह्म है। इसका वर्णन ऋ० वे० ८-१००-९-१० में इस प्रकार दिया मिलता है।

१—वाक्

> "यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
> चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वस्विदस्याः परमं जगाम ॥ ९ ॥
> देवीं वाच मजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
> सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ १० ॥"

द्वितीय मन्त्र का अर्थ तो बृहदारण्यक ने साफ लिख दिया 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वास्तनाः स्वाहाकारो स्वधाकारो हन्तकारो* वषट्कारश्च इत्यादि' इसके माने स्पष्ट है वाग्धेनु के चार स्तन चार पादों के प्रतिनिधि हैं। इसके प्रथम तीन पादों में मन्द्र या तूष्णीं अंशु उपांशु ध्वनि की शक्तियों का दुहन करती है पर चतुर्थ सप्तक के पशु तत्त्व 'पुरुषपशु गोरश्व अवि अजा' इसकी ध्वनि को भौतिकता में स्फुट ध्वनि में व्यक्त ध्वनि में व्यञ्जन ध्वनि में प्रयुक्त करने में समर्थ होते हैं। ऐसी वाग्धेनु हमसे सुन्दरतया प्रस्तूयमान होती हुई या प्रस्तुत की जाती हुई हमें उपलब्ध हो या हमारे पास आवें। इसी प्रकार प्रथम मन्त्र का अर्थ भी इसी सरणि में रचा गया है कि जिस वाणी का प्रयोग बोलने में किया जाता है वह प्रथम (तीन पादों में) अविज्ञात (अविचेतनानि) रहती है अर्थात् तूष्णीं अंशु उपांशु रूप में मन्द्र या आनन्द रूप में मग्न रूप में रहती है। वह देवी रूप में देवताओं की राष्ट्री रूप में सृष्टि की मूल आधार भूत बनकर बैठी रहती है। वह चार प्रकार की शक्तियों का दुहन करती है। ये चार शक्तियाँ चतुष्पादीय शक्तियों को दूध की तरह दुहती रहती है। कौन ऐसा है जो इस वाक् ब्रह्मणी रूप धेनु की परम स्थिति या वास्तविक स्थिति का ठीक ठीक पता लगा सके ? यह तो स्वयं शब्द ब्रह्म है। गीता ने ब्रह्म की सत्ता के बारे में जो ये दो श्लोक कहे हैं

> "उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वापि गुणान्वितम्।
> विमूढा नानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ॥

---

* हन्त नाम चन्द्रमा का है 'हन्तेति चन्द्रमा' और वषड् औषड् वौषड् नाम षड् ऋतुओं का है। सोम देखें।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यत्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥"

(गीता १५-१०,११)

वे ठीक ऋ० वे० की निम्न दो ऋचाओं के रूपान्तर हैं जैसे

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययेष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥"

(ऋ० वे० १०-७१-४,५)

दोनों ग्रन्थों के पाठों में अन्तर इतना है कि गीता उसे ब्रह्म या पुरुष या अहं पद से कहती है तो ऋग्वेद उसे वाक् या वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के नाम से पुकारता है। ऋग्वेद कहता है कि कोई उस वाग्ब्रह्म को देखते हुए भी नहीं देखता सुनते हुए भी नहीं सुनता। जो उसकी खोज में लगन में रहता है उसके सामने वह वाग्ब्रह्माणी पत्नी रूप में सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली कामुकी सी नग्न रूप में उपस्थित हो जाती है। जो व्यक्ति उस वाग्ब्रह्माणी की सख्यता को प्राप्त हो जाता है, उसे स्थिरपीत या प्राप्त प्राप्तव्य कहते हैं। जो वेदों में निहित वाग्ब्रह्म या वाग्ब्रह्माणी की व्याख्या रूप यज्ञ रूप विकासों को भी नहीं समझ पाते या समझ सकते, उनके लिए यह वाग्ब्रह्माणी या शब्द ब्रह्म वाग्धेनु या वाग्ब्रह्माणी रूप में प्रस्तुत न होकर, केवल माया रूप कर्म काण्ड के जाल की पूर्ति के लिए ही इति श्री समझने के कारण वाग्ब्रह्माणी वाग्धेनु का काम या आचरण न करती हुई, अधेनु रूप में केवल भाषा रूप में ऋचा रूप में प्रस्तुत होकर वह समस्त वाग्ब्रह्माणी की व्याख्या सम्बन्धी वैदिक ऋचाओं को (व्यर्थ में अनर्थ करने के लिए ही) फलहीन और पुष्पहीन रूप में सुनता है। गीता के श्लोकों का आशय भी कुछ इसी प्रकार का है, कहने का ढंग दूसरा है जैसे "इस पुरुष या ब्रह्म को शरीर से निकलते हुए, शरीर में स्थित रखते हुए, शरीर में भोग करते देखते हुए और गुणयुक्त देखते हुए भी मूर्ख ही नहीं देख पाते, ज्ञान चक्षु लोग ही देख पाते हैं" योगी लोग यत्न करते हुए योग से इसे अपनी देह में ही स्थित देख लेते हैं, पर अकृतात्मा, या अकुशल योगी यत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते, वे चेतना हीन हैं।

उक्त वाग्धेनु की खोज तथा वैदिक ऋचाओं का निर्माण हमारे ऋषियों और मुनियों ने तत्त्वों को और भाषा को चलनी से छानकर जैसे की। यह काम किसी एक ऋषि या मुनि का नहीं है। सदा सभाओं गोष्ठियों में ही

२—दर्शन और वेद निर्माण

इनका निर्णय और निर्माण हुआ है। अतः इन ऋषियों की वाणी रूप ऋचाओं में लक्ष्मी का निवास है अर्थात् इनमें वाग्ब्रह्म या वाग्धेनु के समस्त लक्षणों का बियेचन है जो सबको आजतक भद्रा या रमणीय लगती चली आ रही है। जैसे

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधि वाचि ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-२)

जब वे ऋषि मुनि वृन्द आपस में वाद-विवाद तर्क-वितर्क करते हुए सभा में शास्त्रार्थ करते थे—तब वे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण उक्त तत्त्वों के निर्णयों को ऐसी नपी तुली संयत सर्वाङ्ग ऋचाओं में करते थे कि वे ऋचायें उनकी प्रतिभा के बल से स्वयं हृदय के शुद्ध उद्गार रूप में निकलने लग जाती थीं, फिर भी एक दूसरे को टोकता रहा कि देखो तुमने यह भाव छोड़ दिया, उसने यह भाव; अन्य लोग उनके समाधान के लिए ओहब्राह्मण, या वैदिकों के निश्चित सिद्धान्तों और निश्चित निर्णयों वाली विद्याओं की चर्चा करते थे। अतः प्रत्येक तत्त्व निर्णय और प्रत्येक ऋचा के निर्माण में सारी सभा को माथा पच्ची करनी पड़ती रही। जैसे

"हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु यद्ब्राह्मणा सं यजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-८)

वे सभासद ऋषि मुनि साधारण कोटि के व्यक्ति नहीं होते रहे। उनमें से प्रत्येक ज्ञानचक्षु वाला और बहुश्रुत होता रहा (अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः)। और वे प्रतिभा की उड़ान में एक दूसरे से असम या बढ़ बढ़ कर होते थे। उनमें से कोई तो मुख तक डूबे प्रतीत होते रहे, कोई उपकक्ष (पार्श्व) तक के कद के (ज्ञन में) और कोई कोई तो ऐसे खरे निखरे गम्भीर ज्ञानशील होते थे कि वे ज्ञानहृद से प्रतीत होते थे और कोई (ऐसे लगते थे मानो ऐसे ज्ञान हृद में) स्नान कर शुद्ध होकर आये हैं जैसे

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदध्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-७)

जब सभा में ब्रह्म विषयक कोई भी निर्णय हो जाता था तब सब के सब सभासद और उनके प्रधान कुलपति बड़े प्रसन्न हो जाते थे

"सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन (ब्रह्मज्ञानागमेन) सभासाहेन सख्या सखायः ।"
(ऋ० वे० १०-७१-१०)

और जो लोग उक्त सभा को छोड़ कर चले जाते थे, उनकी सम्मति को वेदों में स्थान नहीं दिया जाता रहा, न उनमें ब्रह्मज्ञान की गम्भीर चिन्तन ही समझा जाता रहा, यद्यपि उनकी सब बातें ध्यान पूर्वक सुनी जाती रहीं, उन्हें परीक्षा के लिए ही सुना जाता रहा, जिनके बारे में सभा यह निर्णय भी साथ में देती थी कि ऐसे लोग ब्रह्मज्ञान के पुण्य पुनीत मार्ग को नहीं जानते। जैसे

"यस्तित्याज सचिविदं सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्र वेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-६)

इस ब्रह्मज्ञान विषयक वाणी के विलास को या शब्दब्रह्म की व्याख्यामय वेदों को, कोई तो ऋचाओं का भण्डार समझता है, कोई शकरी छन्दों के गीतों में गायत्री के पति रूप 'पुरुषः' की स्तुतियाँ गाता है, कोई उनमें सब विद्याओं के भण्डार ब्रह्म-ज्ञान का सागर है कहता है, और कोई उनके मन्त्रों के द्वारा यज्ञ के विधान में जुट-कर उसमें ब्रह्म से सृष्टि विकास के ज्ञान के अभिनय का पूर्ण आनन्द लेते हुए मानसिक और आत्मीय दोनों प्रकार की श्रेयः प्रेयः की सिद्धि करता है जैसे

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥"

(ऋ० वे० १०-७१-११)

इस प्रकार वाक् और वेद दोनों भारतीय आर्यों के अभिन्न तत्त्व हैं। ये दोनों ही हमारी कामधेनु हैं। वाग्धेनु के चारस्तन स्वाहास्वधा हन्तकारवषट्कार तो हैं वेदों के चार स्तन ऋग्यजुः सामाथर्व। एक के बिना दूसरे का ज्ञान हमें असम्भव है। इसी लिए पिछले परिच्छेद की बाल की खाल के समान सूक्ष्म छानबीन और भरी सभा के निर्णय रूप वेद मन्त्रों को हमारे शास्त्रकारों ने 'आप्तवाक्यं शब्दः' 'शब्दो वेदः' कहा है। यजुर्वेद ने तो साफ लिख दिया है कि ब्रह्म तो वेद ही है जैसे

३—वाक् और वेद की अभिन्नता

"वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः॥"

(यजुः २-२१)

उसी वेद से ब्रह्मज्ञान सम्भव है, उसी वेद से देवरूप तत्त्व ब्रह्मज्ञान के आधार बने, उसी वेद की वाक् में वैदिक वाग्धेनु और ब्राह्मी वाग्धेनु दोनों तादात्म्य से विद्यमान है। देवता तत्त्वों में सर्वप्रथम वाग्ब्रह्माणी रूप वाग्धेनु का विकास बृहस्पति रूप शब्द ब्रह्म में होता है जो सब देवताओं का गुरु या श्रेष्ठ है और गुहा का वासी (पूर्वार्द्ध का) है जैसे

"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥"

(ऋ० वे० १०-७१-१)

वाग्ब्रह्माणी या वाग्धेनु का सूक्त इसी मन्त्र से प्रारम्भ होता है, बृहस्पति के माने ही 'बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः' होता है। उसी रूप में वह सर्व प्रथम 'नाम' मात्र में तूष्णीम् ध्वनि का रूप धारण कर प्रादुर्भूत हुई, वह सर्वोच्च श्रेणी है। अतः सर्व सूक्ष्मतम या श्रेष्ठ है। वह अन्तिम पराकाष्ठा है। वह गुहा में पुरुष को रख लेती है। वाक् को इसीलिए प्रजापति कहा गया है "वाग्वै प्रजापतिः प्रजापति र्वै वाक्" (श० प० ब्रा० ४-१-५-६)। अतः इसके बारे में (ऋ० वे० १०-११४-८) में लिखा है कि इसके १५ हजार उक्थ हैं जितनी द्यावा पृथिवी है उतनी ही विस्तृत वाक् है, जहाँ जहाँ ब्रह्म का प्रवेश या सत्ता है वहाँ वहाँ सर्वत्र वाक् की लाखों गुना सत्ता है जैसे

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥"

इसका समर्थन वागम्भृणी सूक्त कर देता है जिसमें वाक् का सब देवताओं तत्त्वों कर्मों के साथ तादात्म्य किया है और कहा गया है कि इनके सब कार्य वाक् के ही कार्य है, वही ब्रह्माण्ड का आरम्भण प्रलय कारी है, पर परा और महिमा वाली है (ऋ० वे० १०-१२५ पूरा सूक्त देखें)। वाग्रूपी धेनु के चार स्तनों का वर्णन और सोम वर्णन में 'तिस्रो वाचो ईरयन्ती' आदि तथा आदित्य रूप गायों की वर्णना सब वाग्रूपी वर्णना है (ऋ० वे० ८-१००-१०,११; ९-९७-३४,३५; ८-७६-१२; १०-१०८ पूरा; और ६-२८ पूरा देखें'। ऋ० वे० १-१६४ सूक्त में वाक्, वाग्धेनु गौ और धेनु के बारे में कई महत्त्व पूर्ण मन्त्रों को दिया है। १-१६४-१० में लिखा है कि अभौतिक या आध्यात्मिक वाक् की पीठ पर यह भौतिक ब्रह्माण्ड है जो तीन माताओं और तीन पिताओं को या त्रिपादामृतों को अकेले अपने ऊपर धारण करती हुए उन्हें नहीं गिरने या खिसकने देती हुई ऊपर ही स्थित रहती है और तब दिव के (तत्त्व रूप) देव मन्त्रणा करते हुए कहते हैं कि यह भौतिक ब्रह्माण्ड उसकी पीठ पर है वह वाणी तो अविश्वमिन्वा या अभौतिक शब्द ब्रह्म या शब्द ब्रह्माणी है। जैसे

"तिस्रो मातॄँ स्त्री न्पितॄन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥".

(ऐ० ब्रा० ८-५ देखें)

यहाँ तीन मातायें और पिता प्रथम त्रिपादों के ब्रह्म और ब्रह्माणी (वाक्) है। इस वाणी के 'गायत्री, अर्क, साम, त्रैष्टुप्, वाक, द्विपदा चतुष्पदा ये सप्तवाणी रूप भेद हैं, ये सातों सप्तकों की व्याख्या हैं

"गायत्रेण प्रति मिमीते अर्क मर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदाचतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः॥"

(१-१६४-२४)

इसी सप्तवाणी समूह को 'गवां सप्त' कहा है और रथाधिपति को सप्तब्रह्म, सप्त प्राणों को सप्ताश्व और सात ज्ञान रूप ब्रह्म की नदियों को 'सप्त स्वासारः' जैसे

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥"

(१-१६४-२)

और आगे चलकर कहा है कि "कोई ऐसा व्यक्ति, जो इस ब्रह्म या वाग्ब्रह्म के बारे में जानता है, हमें यह बतलाने का कष्ट करे कि वाम नामक सुपर्ण का स्थान कहाँ पर है जिसके पालन पोषण के लिए गायें इसे रूप के (भौतिकाणु के) वस्त्र पहिनाकर उसके लिए शिर से आदि स्थान से प्रथम थन से फिर क्रमशः द्वितीय

तृतीय चतुर्थ थन से) दूध को दुहती रहती हैं और अन्त में पद क्रम या पाद क्रम से उदक या चतुर्थ सप्तक या पाद के रूप को प्राप्त हो जाती है" जैसे

"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णाः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥"

(१-१६४-७)

यह वही वाग्धेनु है जिसके स्वाहा स्वधा आदि चार स्तन हैं, वेः सुपर्ण है उसका वत्स रूप या भौतिकाणु है। फिर कहा है कि "यह वाग्धेनुः सुदुधा या दुहने में बड़ी सीधी है, उसे मंगलमय कारों से (चतुष्पाद्ब्रह्म के चार पाद रूप कारों से) और दुहने की रीति में निपुणता से, दुहो। यह धेनु हमें सर्वश्रेष्ठ सवन रूप दूध को सविता रूप में प्रस्तुत करती है, यह सविता रूप सवन या दोहन विषुवत् रेखा (२६ वें तत्त्व) से अत्यन्त समिद्ध होकर उष्ण रूप में (गर्म दूध रूप) में या वैश्वानराग्नि रूप में—वह अग्नि जो नर रूप भौतिक जगत् की चेतना रूप ज्योति को प्रकाशित या जीवित रखने में समर्थ होती है—प्रस्तुत होती है उसी के बारे में मैं यहाँ चर्चा कर रहा हूं, उसी की मैं स्तुति भी कर रहा हूँ (साधारण गाय की सम्भवतः नहीं)"। जैसे—

उप ह्वये सुदुघां धेनु मेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता सविषन् नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥

(ऋ० वे० १-१६४-२६)

जब उक्त वाग्धेनु को भौतिकाणु रूप वत्स के साथ वर्णित किया जाता है तब उसे गौ या अध्न्या नाम से पुकारते हैं। अध्न्या के माने अहन्तव्या तो व्युत्पत्ति से ठीक जचता है पर इसका वास्तविक अर्थ 'अहिंसिका' अमर धेनु है, यह त्रिपादामृत स्वरूपी है, सर्वभूतहित रत तत्त्व है, इसीलिए अहिंसक का नाम 'गौ' है भी। लोग कहते हैं वह तो 'गौः' है, बहुत सीधा सरल सज्जन (आत्मा के समान) है। हाँ यज्ञ बलि में इसे अध्न्या के माने अहन्तव्या ही होगा। ऐसी गौः के बारे में कहते हैं कि उस गाय का अनुसरण अनुकरण या स्तवन करो जो भौतिकाणु रूप वत्स को अपनी ओर देखते हुए देखकर उसके सिर को हिलाती हुई माता के समान मनाती हुई मुख से चाटती हुई शब्द करती हुई अपने उष्ण स्तन से उसे दूध पिलाती है—वह धेनु अपने द्वितीय सिर रूप भौतिकाणु रूप वत्स को पुत्र समान प्यार करती है और उस अणु रूप वत्स की वैश्वानराग्नि को शान्त करने के लिए शब्द रूप पयो रूप अन्न देकर उसे अन्नाद बनाती है। जैसे

४—वाक् और अध्न्या

"गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्काणं घर्ममभि वावशाना मिमति मायुं पयते पयोभिः॥"

(ऋ० वे० १-१६४-२८ अथर्व ९-२७-६)

जब यह भौतिक ब्रह्माण्ड भौतिक शब्द ब्रह्म रूप में रोरवण करता है (शिङ्क्ते) तो उसे वाग्धेनु की वाणी की ध्वनि की प्रतिध्वनि समझना चाहिये। वाग्धेनु की

ध्वनि की अवधि तो ध्वंसन की अवधि या वाग्धेनु के गर्भ से भौतिक शब्द ब्रह्म रूप वत्स की उत्पत्ति के समय तक की है जिसे पर्जन्य कहा जाता है (मेघ नहीं–यास्क गलत कहते हैं)। वह वाग्धेनु तो पञ्चचित्तियों पञ्चपादों के द्वारा इस मर्त्य रूप भौतिक शब्द ब्रह्म की सृष्टि करती है और जब वह भौतिक वाग्ब्रह्म रूप में उपस्थित होती है तो वह पूर्ण रूप से वैद्युतीय स्वरूप को धारण कर लेती है। अर्थात् भौतिक शब्द ब्रह्म वव्रि या व्याप्तिधर्मा वैद्युतीय शरीरी है (वृणोतीतिः वव्रिः)। जिसे आज कल के वैज्ञानिक (मेगनेटिक वेभ्ज़) आकर्षण तरंग कहने लगे हैं उससे भी वह अत्यन्त सूक्ष्मतम सोमात्मा स्वरूप है। जैसे

"अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं (शब्दं) ध्वंसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२९)

भौतिक शब्द ब्रह्म के दो रूप हैं, मर्त्य और अमर्त्य या अमृत। सोमात्मा या चन्द्रात्मा (दैवी) अमृत है और वृत्रात्मा आसुरी मर्त्य है 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' उक्त ऋचा के आशय को कहने में वैदिक आर्य थकते से नहीं लगते; समझते हैं कि किसी को सन्देह न रह जाय। अतः उक्त आशय को दूसरे ढंग से कहते हैं कि वह अघ्न्या गौ वसुओं की पत्नी है। वसु प्रथम सप्तक या पाद के तत्त्व हैं। वह उन वसुओं से सन्तान प्राप्ति की कामना मन ही मन चक्षु सूर्य रूप मन से करके तदनुरूप व्यापार में प्रवृत्त हुई (हिङ्कृण्वती) मनाने लगी। कुछ दिनों में उसके जुड़वाँ पुत्र 'अश्विनौ' (दो अश्विनी कुमार) २५ वें तत्त्व प्रथम भौतिकाणु के प्रतिनिधि (नक्षत्र-वाद या गन्धर्ववाद सरणि में) प्राप्त हुए और उन्हें प्रेम से दूध पिलाने लग गई। ऐसी अघ्न्या गाय बड़े सौभाग्य के लिए वृद्धि को प्राप्त होती रहे जैसे

"हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२७)

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत।
पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानु जायते॥"
(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इसका एक ही बार जन्म होता है। अस्तु उक्त अघ्न्या गौरी को कहा गया है कि तुम अपने आप चरती हुई या स्वयं आचरण या विकास या चरण रूप पाद रूप विकास पाती हुई शुद्धोदकों को पीने वाली और उन तृण रूप ओषधियों को (जो स्वयं जल के स्वरूप वाले होते हुए) इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना कर देने वाले हैं; खाओ या प्राप्त करो या अन्नाद बनो तथा उससे पुष्ट होकर तुम सुन्दर यव रूप सोम को या सु=प्राण रूप यवों को उत्पन्न करके सौभाग्यवती हो सको (भगवती=पुत्र से सौभाग्यवती) और जिससे पुनः हम भी सौभाग्यवान् या पुत्र-वान् बन सकें। जैसे

"सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४०)

पूर्वार्द्ध का नाम गोधूम या ब्रीहि या गेहूँ है, उत्तरार्द्ध या सोम का नाम यव है। इसीलिए 'विश्वदानीं तृणमद्धि' भौतिक(विश्व)ब्रह्माण्ड को देने वाली तृण (या ओषधि या सोम) को खाओ कहा गया है, स्वयं शुद्ध उदक स्वरूपिणी है उसीसे उसका विकास प्रकाश भी होता है। ये जल या उदक या सलिल क्या और कैसे हैं? यह गौरी के निम्नवर्णन से स्पष्ट हो जावेगा। निम्न मन्त्र उक्त मन्त्रों के ठीक बाद में यह बताने के लिए दिये भी गये हैं कि ये दोनों प्रकार के मन्त्र एक ही तत्त्व की नाना रूपों में व्याख्या देते हैं। अतः इन्हें एक असम्बद्ध रूप में देने से इनकी भिन्नता से भ्रम को दूर करने का अभिप्राय मन में रखा गया है। यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शुक्ल यजुर्वेद को इसी अघ्न्या की सर्वप्रथम प्रार्थना या वर्णना ही आरम्भ किया गया है, जिससे यजुर्वेद के निर्माता की दृष्टि में उक्त अघ्न्या रूप तत्त्व का सर्वोच्च महत्त्व है, इस आशय को किसी भी प्रकार मना नहीं किया जा सकता। अतः यह धेनु वैदिकों की सर्वमान्य तत्त्व है।

वाग्ब्रह्म

वैदिकों ने उक्त वाक् वाग्धेनु गौ और गौरी की विवेचना वाग्ब्रह्म की विशद और सरल व्याख्या के लिए दी है। उक्त शीर्षकों द्वारा उन्होंने वाग्ब्रह्म के विकास स्तम्भों को प्रकाशस्तम्भ सा बनाया है। उन्होंने वाक् का वर्णन शब्द ब्रह्म स्वरूप में स्पष्टतः नहीं, अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया है। अतः उन्होंने स्थान स्थान पर निम्न उद्गार निकाले हैं। वाग्वै गौः (यजुः १२-६८)। वाग्वै धेनुः (गो० पू० २-२१)। वाग्वै शबली (कामधेनुः), (ताड्य २१-३-१), वाग्सरस्वती (ऐ० ३-१)। वाग्वै समुद्रः (ताण्ड्य ७-७-९)। वाग्वै सरस्वती पावीरवी (ऐ० ३-३७)। वाग्वै सरिरं छन्दः (यजुः १५-४)। वाग्वै सोमक्रयणी (श० प० ३-२-४-१०)। वाग्वै सिनीवाली (यजुः ११-१५)। वाग्सावित्री (गो० पू० १-३३)। वाक्सर्पराज्ञी (कौ० २७-४)। वागेव सुपर्णी (श० प० ३-६-३-२)। वाग्वाव शतपदी (ष० १-४) वाग्वै रेवती (श० प० ३-८-१-१२)। वागषाढा (श० प० ७-४-२-३४)। वाग्वै पथ्या स्वस्ति (कौ० ७-६ श० प० ३-२-३-८)। जू रसि जूः इत्येतत् (वाचः) अस्या नाम (यजुः ४-१७ श० प० ३-२-७-४)। वाचे वेकुरा नामासि (ताण्ड्य ६-७-६)। वाग्वै धिषणा (यजु ११-६१)। वाग्वै मतिः (यजु १३-५८)। वाग्वै बृहती (श० प० १४-४-१-२२)। बृहस्पतिः वाचां सुवते (तै० १-७-४-१)। वाग्वै राष्ट्री (ऐ० १-१९)। इयं (पृथिवी)। वाग् अदो मनः (ऐ० ५-३२)। वागन्तरिक्षं वागिति द्यौ (जै० उ० ४-२२-११) वाग्वै लोकंपृणा (श० प० ८-७-२-७)। वाग्वैविराट् (श० प० ३-५-१-३४)। वाग्वै विश्वामित्रः (कौ० १०-५)। वाग्वै विश्वकमर्षिः (यजुः १३-५८)। वागेव सँस्तुप्छन्दः (यजुः १५-५)। वाग्वाऽनुष्टुप् (ऐ० १-२८)। महिषी हि वाक् (श० प० ६-५-३-४)। वागित्यक् (जै० उ० ४-२३-

५—वाग्ब्र की महिमा की श्रुतियाँ

४)। वागेवर्चश्च सामानि च मन एव यजूंसि (श० प० ४-६-७-५)। वाग्ब्रह्म (गो० पू० २-१०)। वाग्घि ब्रह्म (ऐ० २-१५, ४-२१) । वाग्वै ब्रह्म (ऐ० ६-३ श० प० २-१-४-१०; १४-४-१-२३; १४-६-१०-५) । वागिति तद्ब्रह्म (जै० उ० २-९-६)। सा या सा वाग्ब्रह्मैव-तत् (जै० उ० २-१३-२) ।ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम (तै० ३-९-५-५)। वाग्वैब्रह्म सुब्रह्म चेति (ऐ० ६-३)। वाग्वै सुब्रह्मण्या (ऐ० ६-३)। वागुक्थम् (ष० १-५) । वाग्घि शस्त्रम् (ऐ० ३-४४) । वाग्शंसः (ऐ० २-४)। वाग्वै रथन्तरम् (ऐ० ४-२८) । वाग्वै त्वष्टा वाग्घीयं सर्वं ताष्टीव(ऐ० २-४)। वाग्वै दध्यङाथर्वणः (यजुः ११-३३)। वाग्वै अर्बुदम् (तै० ३-८-१६-३)। वाग्वै भर्गः (श० प० १२-३-४-१०, गो० पू० ५-१५)। वाग्वा उत्तर नाभिः (श० प० १४-३-१-१६)। वाग्वामभृत् (श० प० ७-४-२-३५) ।वाग्वै शर्म (ऋ० वे० ३-१३-४ ऐ० २-४०)। वाग्वादाभ्यः (ग्रहः) (श० प० ११-५-९-१)। वाग्वै सीता-समरः (श ७-२-३-३) । वागिति श्रोत्रम् (जै० उ० ४-२२-११) । वाग्वा इन्द्रः (कौ० २-७-१३) वाग्घ्यैन्द्री (ऐ० २-२६)। ऐन्द्राग्न्योः प्रियं धाम वाक् (ऐ० ६-६) या वाक् सोऽग्निः (जै० उ० १-२८-३; १-२-१, गो० ३-४-११, श० प० ३-२-२-१३)। प्रजापति र्हि वाक् (तै० १-३-४-५, श० प० १-६-३-१७)। (प्रजापतेः) वाक् स्वमासीद्वाग् द्वितीया (ताड्य २०-१४-२)। वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः (श० प० ६-३-१-१९) वाग्वा-तस्य पत्नी (गो० उ० २-९)। वाग्वै वायुः (तै० १-८-८-१) । सर्वेप्राणाः वाचि स्थिताः (श० प० १२-८-२-२८) । वाग्च मनश्च देवतानां मिथुनम् (८-५-२३) (मनसः) एषा कुल्या वाक् (जै० उ० १-२८-३)। वाग्देवत्यं साम वाचो मनो देवता (जै० उ० १-२९-१४)। अपरिमिततरमिव मनः परिमिततरेव वाक् (श० प० १-४-४-७) । वाक्च मनश्च हविर्धाने (कौ० ९-३) । वागिति मनः (जै० उ० ४-२२-११) । वाग् आदित्यः वाक् चन्द्रमाः (श० प० १०-४-१-४, जै० उ० ३-१३-१२)। वाग्वै यज्ञः (ऐ० ५-४)। वाचोरसो यज्ञियायज्ञियम् (ताड्य ५-३-७) । वाग्घोता (गो० उ० ५-४) । वागध्यात्मम् वाग्वै हविष्कृत् (श० प० १२-१-१-४,११) । वाक् सर्व ऋत्विजः (गो० उ० ३-८) । त्रेधा विहिता वाग् — ऋचो वजूंषि सामानि (श० प० ६-५-३-४) । वागिति सर्वे देवाः (जै० उ० १-९-२)। वज्र एव वाक् (ऐ० २-२१) वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (ऐ० ३-८)। वागु हि रेतः (श० प० १-५-२-७)। वाग्योनिः (ऐ० २-३८)। 'वागु सर्वं भेषजम्' (श० प० ७-२-४-२८) । वाग्संवत्सरः (ताण्डय १०-२२-७) । परमा वा एषा वाग्या दुन्दुभी (तै० १-३-६-२) । वाचो वाव द्यौस्तनौ सत्यानृते (ऐ० ४-१) यो वा हि वाक् (श० प० १-४-४-४)। वाको वाक्यं क्षीरोदनं मांसौदनौ हैव तौ एतद्वाचः छिद्रं यदनृतम् (ताण्डय ८-६-१३) । प्रजापतिर्वै वाग्पतिः यावद्ब्रह्म तावती वाक् (श० प० ११-५-७-५)। वाक् सर्वतोधावति (श०प० ३-१-३-२२) ।

इस प्रकार वाग्ब्रह्म शब्द ब्रह्म है, सर्वा देवता है, सब देवता वाक् रूपी हैं, सबका वर्णन वाक् के विकासों का ही वाङ्मय है, सब वेद वाङ्मय हैं, ब्रह्म वाङ्मय है, अखिल ब्रह्माण्ड वाङ्मय है, सब कुछ वाङ्मय या वाक् है, वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है ।

इतना कह चुकने के पश्चात् भी वाक् के वास्तविक स्वरूप के बारे में अभी

तक विद्वानों में एक बहुत बड़ा भ्रम है कि जो वाग्ब्रह्म है वही शब्दब्रह्म भी है। ऐसा नहीं है। वाक् नाम केवल प्रकाशमय प्रवाह या व्याप्ति का है। यह अग्नि नामक देवता या ब्रह्म या आदि ब्रह्म का प्रकाशमय शरीर या पत्नी है। अग्नि इस वाक् रूप सर्वतः प्रवाहमय प्रकाश शरीर की जाज्वल्यमान या प्रदीप्त आत्मा है। ये दोनों एक अभिन्नात्मा होकर इस अखिल अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के मूल बीज विन्दु हैं। जिस प्रकार 'अग्निः सर्वादेवता' है उसी प्रकार यह वाक् भी सर्वादेवता स्वयं है, क्योंकि ये दोनों नित्य अभिन्न सहचर या एकात्म्यवान् हैं। वाक् का नाम मुख भी है, यही सब देवताओं का मुख है। अन्य देवताओं के पास मुख है ही नहीं। वे सब इसी वाक् के मुख से हविः पाते हैं। इसी वाङ्मुख के अखिल परिणामों की सृष्टि होती है, इसी में सबका आह्वान या हवन होता है, उस आह्वान या हवन को अग्निरात्मा परिपाक या पाचन देकर नित नित नवीन रूपाकारों की रचना करता है। ये दोनों ही इस सृष्टि के मूल और मुख्य कर्णधार हैं। विकासान्तरों में यही वाक् कभी अदिति या अन्न या अन्नाद का रूप लेती है तो कभी आपः नामक शुक्लात्मा का। यह वाक् इसीलिए त्रिवृत् कहलाती है। अग्नि भी त्रिविध या त्रिवृत् है, लोहित शुक्ल कृष्ण वर्ण रूप अग्नियों का त्रिवृत् है जिनसे वाक् के संयोग या मिथुन द्वारा अदितिमय अन्नं मनः और आपोमय प्राण तथा तेजोमयी लोहित वर्णा वाक् का उदय होता है। इस प्रकार इसी वाक् और इसके पति अग्नि में ही मौलिक प्राण और मौलिक मनः या ज्ञान भी रहते हैं। ये दोनों इस सृष्टि के मूल आधार स्तम्भ या भूर्भूमि या पृथिवी हैं जिनमें सृष्टि वृक्ष उगता है।

शब्द ब्रह्म दूसरी वस्तु है। जब आदि ब्रह्म विकसित होकर उत्तरार्द्ध के श्रोत्र रूप में अथवा आकाश नामक हृदय रूप में प्रस्तुत होता है तब इन दोनों के मेल को शब्द ब्रह्म कहते हैं। 'श्रोत्रम्' के माने 'श्रवणशक्ति रूपम्' है, जो तत्त्व सर्वतः श्रवण शक्ति रूप है उसका नाम श्रोत्र है। इस श्रवण शक्ति रूप तत्त्व के शरीर में दिक् या सर्वदिग्प्रवाही शब्द रूप आत्मा का निवास होता है। इसका आयतन मौलिक आत्मा रूप आकाश होता है श्रोत्र इसका लोक है, 'श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः' इसका शरीर है, अध्यात्म शरीर है और दिशायें इसकी अमृत हैं (बृह० उप० ३-९)। शब्द की उत्पत्ति आकाश आत्मा या हृदय में स्थित स्तनयित्नु या विद्युत् के संघर्ष से होती है। अतः स्तनयित्नु में विद्युत् रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष रहता है उसका अध्यात्म शरीर 'शाब्दः' 'सौवरः' (स्वरमयः) है। और दिशायें सब भूतों की मधु हैं, इन दिशाओं में जो तेजमय अमृतमय पुरुष रहता है उसको श्रौत्रः (श्रुतिमयः) प्रातिश्रुत्कः (प्रतिश्रवणीयः सर्वश्रवणीयः) कहते हैं। (बृह० उप० २-५)। उत्तरार्द्ध में वाक् तो पृथिवी वैश्वानर अग्नि और अपान रूप में परिणत होती है, पर श्रोत्र तत्त्व चन्द्रमा दिशा और व्यान रूप से शब्द रूप में प्रतिश्रुत होता है या सौवरः या स्वरमय रूप में। शब्द ब्रह्म का प्राचीन औपनिषदिक नाम 'सौवरः प्रातिश्रुत्कः' है जिसे आदि भौतिकात्मीय सृष्टियों में चौथी या पांचवी श्रेणी मिलती है।

अध्याय ८७

गौरी

गौरी नाम महिषी का है, अग्नि का और सोम का नाम महिष है। गौरी इनकी महिषी है (अग्नि और सोम को देखें)। गौरी गोरी है। गुरु (बृहस्पति ब्रह्मण-स्पति और इनके प्रतीक हेमाद्रि) की पुत्री ही यह गौरी है।

१—गौरी 'महसि चतुर्थे सप्तके जाता' या 'महीषु षड्वीर्षु षदतीति' 'महिषस्तस्य-पत्नी महिषी' यह इस महिषी की व्युत्पत्ति है।

यह गौरी सलिलों को या आपोब्रह्म का निर्माण करती हैं। उन सलिलों में अखिल ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों या सत्त्वों के मूलभूत असंख्य बीज ८६४००० जातियों में एक साथ एक सलिल सागर रूप गौरी धेनु का स्वरूप धारण करते हैं! इस प्रकार की गौरी शुक्लवर्णा आदि वाग्ब्रह्माणी रूप गौरी कामधेनु का निवास 'परमे व्योमन्' या मध्य स्थान पर है। यहाँ पर 'एकपदी द्विपदी' का योग अभीष्ट है इसीलिए द्विपदी शब्द के बाद 'सा' शब्द का प्रयोग है, तक्षति का अर्थ एकीकरण है योग है। उस योग को 'सा' नाम से पुकारा गया है। शेष को परस्पर 'बभूवुषी' शब्द से गुणा करना बतलाता है। यह (१+२=) ३×४×८×९×१००=८६४००० अक्षरमयी अव्यय तत्त्व मयी वाग्ब्रह्माणी रूप गौरी काम धेनु है। जैसे

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४१)

इस मन्त्र का अर्थ यास्क जैसे शुष्क निरुक्तकार को नहीं लग सका। इसमें वैदिक ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता है। उक्त आकड़ों का समर्थन संवत्सर ब्रह्म के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' मन्त्र के '३६०×३०×८०'=८६४००० से हो जाता है शेष 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में देखें। इस गौरी रूप अघ्न्या धेनु के बारे में पुनः लिखा है कि इस प्रकार की सलिलाक्षरमयी उस गौरी कामधेनु से ही पञ्चसागर (पञ्चपर्वाविद्या में) या सप्तसागर (सप्तकीय विभाजन में) क्षरित या विक्षरित विकसित होते हैं, उसी विकास क्रम से दर्शन के वृत्ताकार स्वरूप के चतुर्दिक्वासी तत्त्व अपनी—अपनी सत्ता पाते या जीवित होते या अवतारणा प्राप्त करते हैं। वहाँ से अक्षरों का सर्वजातसत्त्वों की जातियों के मूलबीज रूप शब्दब्रह्ममय अक्षर (और उस अक्षरों से क्षरित होने वाले सब भूत तत्त्व) सत्ता में आते हैं, उन्हीं से यह अखिल ब्रह्माण्ड (भौतिक) पनपता रहता है या जीवित है (क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते (गीता)। यह कूट हेमाद्रिके नाना कूटों का सामूहिक भाव वाला कूट शब्द है, कूट=चोटी जैसे

"तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४२)

यास्कादि ने यहाँ भी गत्ता खाया है। वे पञ्चपर्वाविद्या या सप्तक विद्या से परिचित ही नहीं है; अतः समुद्रा माने मेघाः और क्षरति माने वर्षन्ति अपने मन का अर्थ लिख गये हैं। वैसे उक्त गौरी को उन्होंने कई स्थलों में माध्यमिका वाक् कहा है। सम्भवतः वे उसे अपना अन्तरिक्ष मध्यवर्ती स्थान कह रहे हैं, परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी की मध्यमा भी सम्भवतः नहीं। यद्यपि यह तो उत्तरार्द्धीय परा वाक् की परदादी है। क्योंकि परा वाणी की तीन माताओं और तीन पिताओं का उल्लेख तो पिछले परिच्छेदों में किया जा चुका है। परा वाणी प्रथम भौतिकाणु रूप भौतिक शब्दब्रह्म है, पश्यन्ती आदि इसी के उत्तरोत्तर विकास हैं, पूर्व के नहीं।

अथर्व वेद (८-५-२५) में कहा है कि 'गौ' तत्त्व केवल एक है, ऋषि भी एक ही है, एक ही धाम है, एक ही आशिष है, एक ही यक्ष है और एक ही ऋतु है अधिक नहीं हैं जैसे

२—अथर्ववेद में गौ "एको गौ रेक एक ऋषि रेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते ॥"

वही एक गौ, पञ्चदोहा गौओं को पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार विकसित करता है जैसे

"पञ्चव्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवो नु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एक मूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥"
(अथर्व ८-५-१५)

इस मन्त्र में पाँच व्युष्टियाँ, पाँच दोध्नी धेनु, पाँच ऋतुयें पाँच दिशायें, क्रम से १०, १० के भागों या तत्त्वों में (पञ्च दशेन) विकसित होते हैं, परन्तु इनके मूर्द्धा में शिर में आदि में केवल एक ही गौः, एक ही ऋतु एक ही दिशा आदि है, यह स्पष्ट कहा है। अतः वेदों का धेनु वाद वैदिक दर्शन की व्याख्या की एक शाखा या सरणि है, यह स्वयं स्पष्ट है। अथर्व ने यह भी लिखा है कि गृष्टि नामक धेनु ने केवल इन्द्र के लिए पीयूष दुहा जिसको देव मनुष्य असुर और ऋषि चार भागों में विभाजित किया।

"केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टि वंशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ असुरानुत ऋषीन् ॥
(८-५-२४)

और ऋ० वे० ८-१०१-१५ में अदिति को गौ नाम से पुकारते हुए उसे बध या बंधित बद्ध न किये जाने का आदेश दिया है। इसी गौ को, वसुओं की दुहिता (पुत्री) रुद्रों की माता, और आदित्यों की स्वसा तथा अमृत की नाभि बतलाते हुए लिखा है

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥"

ठीक इसी प्रकार का भाव अथर्ववेद ९-१-१-४ में मधुकशा के बारे में इस प्रकार दिया है

"मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥"

(शेष अदिति शीर्षक में आगे देखे) अत्रोषधि सूर्या के बारे में भी कुछ इसी प्रकार की एक ऋचा मिलती है जैसे

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादिति स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टा तिष्ठतेलयतासुकम्॥"

———

अध्याय ८८

वैश्वानरः

अग्निवैश्वानर का मूल शब्द विश्वानर है। विश्वानर सूर्य या सूर्य से युक्त भौतिकात्मा रूप सोम है। इसको आ० श्रौ० (१-३-२३) में सविता का पिता बताया है (सविता देखें), क्योंकि यह प्रसविता है। विश्वानर में दो शब्द विश्व और नर हैं, दोनों परिभाषिक हैं, विश्व माने भौतिक होता है, नर माने नृषद् चतुर्थ सप्तक का तत्त्व, नार या आपोमय रसमय। अतः विश्वानर माने वह सर्व प्रथम भौतिकात्मा रूप ब्रह्म जिसका उदय चतुर्थ सप्तक में रसमय प्राणरूप में होता है। इस रसमय प्राणरूप भौतिकात्मा की दिव्य ज्योतिष्मत्ता का नाम वैश्वानरीय अग्नि या अग्निवैश्वानर है इनके निम्न प्रमाण हैं।

१—वैश्वानर की व्युत्पत्ति

"विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥"
(ऋ० वे० ८-६८-४)

"उदु ज्योति रमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥"
(ऋ० वे० ७-७६-१)

"प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥"
(ऋ० वे० १०-५०-१)

इसमें विश्वानर शब्द सूर्य के लिए आया है जिससे सर्वप्रथम भौतिकात्मा का प्रसवन होता है, अतः इसे सविता कहते हैं, पर सविता सोम नाम का आदित्य या चन्द्र+वृत्र नामक तत्त्व का है जो सूर्य के आवरण रूप भौतिकात्मा के दो भाग दैवी तथा आसुरी करके दोनों प्रकार की सृष्टियों का विकास साथ साथ करने लगता है। सृष्टि क्रम वास्तव में यहीं से चलता है। अतः इसे सविता या प्रसविता कहते हैं सूर्य तो मौलिक भूतात्मा का, एक का प्रसविता मात्र सूर्य (मौलिक अर्थ का सविता) है। सूर्य से विश्व या भौतिक तत्त्व का प्रथमामास आच्छादन रूप में प्रकट होता है।

वैश्वानर का सुन्दर वर्णन निम्न ऋचाओं में मिलता है।

वैश्वानर का वर्णन

"गीर्णं भुवनं तमसाऽपगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवा पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य॥

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहुवुर्भुवनानि विश्वा।
सोऽर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा॥
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥
वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नमिच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥
वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परि बभूवोर्वी उताऽवस्तादुत देवः परस्तात्॥
द्वे स्मृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्यो कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥"

(ऋ० वे० १०-८८-२,९,१२,१३,१४,१५,१६)

इस वैश्वानर अग्नि का जन्म, सूर्य के चारों ओर घिरे भौतिकावरण के उद्दीप्त होने से हुआ, इसीलिए लिखा है कि इसमें द्यावा पृथिवी को प्रकाशित कर दिया या सब लोकों के मौलिक बीजों का हवन सा कर दिया। यह अग्नि पूर्वार्द्ध में दूसरे रूप में थी, अब दूसरे रूप में आगई। पूर्वार्द्ध दैवाग्नि का उत्तरार्द्ध पितरों (बीजों) और मनुष्यों (रसमय बीजों या तत्त्वों) का है। इन्हीं से अखिल सृष्टि होती है। अहोरात्रवादी प्रसिद्ध ऋचा

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥"

में इन्हीं दो भागों का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में वैश्वानराग्नि अपनी ज्वालाओं से तमः को पार कर लेता है। यह तमः स्वर्भानु कहलाता है (सूर्य देखें)। वैश्वानर का पिता संवत्सर ब्रह्म है (श० प० ब्रा० १-४-२-१६)।

वैश्वानर का जो स्थान अग्नि रूप में है वही स्थान इस ब्रह्म रूप में सोम का है, वही स्थान प्रकाश रूप में चन्द्रमा का है, वही स्थान पुरुष या गायत्री पुरुष रूप में सविता का है, वही स्थान पूषा के रूप में तृतीय पशु का है। वही स्थान विष्णु के सात्विक स्वरूप और रुद्र के रौद्र रूप, और विश्वेदेवताओं के भौतिक शरीर का है, वैश्वानर स्वयं सूर्य से उत्पन्न होता है। अतः वैश्वानर की स्तुति उक्त सब देवताओं के माध्यम से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण इनके साथ या इनके रूप में की गई है। यास्क इन ऐसे व्याख्यानों को 'वैश्वानरीयाः प्रवादाः' कह गए हैं (निरुक्त ७-६-२३)। यह वैश्वानरः द्वादशादित्यों में सविता आदित्य का प्रतिनिधि है। यह संवत्सर ब्रह्म, पृथिवी (भौतिकात्मा) मातरिश्वा आदि सब इसी तत्त्व स्थान से प्रारम्भ करते हैं। इसीलिए इसे राजा कहते हैं

२—वैश्वानर का स्थान

"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥"
(ऋ० वे० १-९८-१)

इसमें वैश्वानर से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बतलाई है। इसीको आसुरी भौतिक तत्त्व का दमन और शमन कर्ता या वृत्र और शम्बर का हन्ता और दिशा रूप भौतिकता का विस्तारक बतलाती ऋचा यह है

"प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्यु (आसुरं) मग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥"
(ऋ० वे० १-५९-६)

यहीं इसे रुद्र इन्द्र बृहस्पति सोम विष्णु की तरह वृषभ कहा है। यास्क जी इस वृषभ के माने लौकिक मेघ समझते हैं। प्राचीन याज्ञिक इसे आदित्य कहते हैं 'असावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः' शाकपूणि का मत 'अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः' है। वेदों में लौकिक विद्युत् की कहीं चर्चा नहीं है, जहाँ भी है वह वैदिक या वैदिक दर्शन के मौलिक तत्त्व रूप विद्युत् का* वर्णन है। यास्क ने विचार किया है कि 'सौर्य वैश्वानराग्नि सूर्य से किस प्रकार उत्पन्न होती है'? वेकहते हैं—जैसे काँच या मणि को सूर्य किरण के सामने लगाने से उसके द्वारा जो सूर्य किरणें सूखी कंडी या गोहरी में पड़ती है तो वह सूखी कंडी या गोहरी जलने लगती है वही वैश्वानराग्नि हो गई। हाँ इसकी पुष्टि में वे

'वैश्वानरो यतते सूर्येण' (ऋ० वे० १-९८-१)

मन्त्र भी दे गये हैं। वैश्वानर तो इस अखिल ब्रह्माण्ड की देहात्मा रूप भौतिकात्मा रूप व्याप्त आत्मा है, यही हमारी देहात्मा की भी अग्नि रूप आत्मा है। जिसे चन्द्र कहते समय स्वयं प्रकाशित और सूर्य तत्त्व से (त्रिपाद्ब्रह्म से) प्रकाशित स्फटिक मणि समान मानते हैं या सोम कहते समय रसमय ब्रह्म कहते हैं उसीको अग्नि रूप आत्मा कहते समय वैश्वानर कहते हैं। गीता ने भी तो झख नहीं मारी है। लिखा है

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

यहाँ चतुर्विध अन्न आकाशीय वायवीय तैजसीय और पार्थिव हैं, रसात्मक वह स्वयं है। इसी बात को ऋ० वे० १०-८८-१० में "स्तोमेन हि दिवि ·····। तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्व रूपाः ॥" ऋचा स्पष्ट शब्दों में कहती है। यह ऐसी आत्मीय ब्रह्माण्डीय विभु व्यापक विश्व रूप अग्नि है, विजली और

* प्रत्येक तत्त्व विद्युदग्नि रूप-मौलिक विद्युत्स्वरूपी है, ५० तत्त्व सब विद्युद्रूप हैं। वैसे ८६४००००००० अक्षर रूप अग्नियाँ हैं। जिसका कुछ वर्णन ऋ० वे० १०-५२ तथा १-१६४-४१, ४२ में दिया गया है।

कंडी की आग नहीं। यजुर्वेद ने इसका स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है कि वैश्वानर का नाम 'दिविपृष्ठ' है अर्थात् द्यु स्थान उसकी पीठ या पीछे की ओर है। उसका वास्तविक स्थान स्वयं नृषद् चतुर्थ सप्तक हो जाता है

'दिवि पृष्ठो अरोचत' (३३-९२)

इसीको ऋ० वे० १०-८८ में हविष्पान्तीय सौर्य वैश्वानर सूक्त कहता है कि यह वैश्वानर सूर्य का अगला विकास है। ब्राह्मणों ने भी यही दुहराया है 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इत्यादि। यहाँ आदित्य सूर्य नामक आदित्य का संकेतक पूर्व संदर्भ से स्पष्ट है। जब शा० श्रो० ८-२२-१ यह कहता है

आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्'

तब यह इस वैश्वानराग्नि को अखिलब्रह्माण्ड की देहात्मा या दिव्य शरीर या भौतिकात्मा विभुव्यापक स्वयं स्पष्ट रूप से कहता है। इसीलिए अन्य ब्राह्मणों ने तत्तद् स्थलों में सन्दर्भानुसार लिखा है "पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः" इत्यादि। अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड ही सौर्य वैश्वानर का विकास या निवास है वही सबकी देहात्मा या आग्नेयात्मा है। हविष्पान्तीय सूक्त ऋ० वे० १०-८८ में

'जमदग्निभिराहुतः'

का अर्थ इस भौतिकात्मा रूप वैश्वानर नामक अग्नि की भयंकर चिता है जिसमें 'वृत्र' को जलाने की कथा दी गई है (श० प० ब्रा० ११-१-५-८)। इसी वैश्वानराग्नि की चिता में वृत्र या आसुरी पाप्मात्व को स्वाहा कर उसके दैवी ब्रह्माण्ड की वर्तमान दिव्य ब्रह्माण्ड की रचना की गई। जमदग्नि माने जमदग्नि रूप चक्षु या सूर्य तत्त्व की भयंकर रूप से प्रज्वलित अग्नि होता है (श० प० ब्रा० ९-१-१-८-१-२)। यास्क ने यहाँ भी ब्राह्मण ग्रन्थों से श्रद्धा उठाने का वाक्य लिखा है 'बहुभक्ति वादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति'। बात ऐसी नहीं है, ब्राह्मण ग्रन्थों में वैज्ञानिक विश्लेषण हैं।

वैश्वानर तो सोम का जोड़ीदार है। अतः जिस प्रकार सोम से विवस्वान् आदित्य उत्पन्न होता है कहा गया है उसी प्रकार इससे भी विवस्वान् के उत्पन्न होने की बात ठीक लिखी है "अपामुपस्थे...... । आ दूतो

३–वैश्वानर और सोम

अग्नि मभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः।" (ऋ० वे० ६-८-४)। यहाँ जलों के मध्य में माने वृत्र से निकले जलों के मध्य में (विद्युद् में) है। वहाँ से वैश्वानर से विवस्वान् (पुरुषपशु) मार्ताण्ड नामक आदित्य का उदय होता है जिसको प्राण रूप में परावत या दक्षिणार्द्ध के 'मातरिश्वा' कहते हैं। मातरिश्वा माने वे प्राणवायु हैं जिनका अभ्युदय माता या गौ नामक आदित्यों से २० वें तत्त्व से होता है ३१ वें तक रहता है।

"मातरिश्वा यन्मातरि वातस्य सर्गः" (ऋ० वे० ३-२९)

यास्क ने यहाँ भी गत्ता खाया है उन्होंने मातरिं माने अन्तरिक्ष लिखकर चौपट कर दिया है। माता नाम आपः और आदित्य रूप गौ का ही है दोनों के स्थान यहीं हैं जैसे 'आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु' और 'आपो हिष्ठा ······ उशतीरिव मातरः'। हविष्पान्तीय सौर्य वैश्वानरीय सूक्त ऋ० वे० १०-८८-६ में वैदिकों ने सूर्य के स्थान का निर्धारण करते हुए उसे दक्षिणार्द्ध में रखा है। वैदिक दर्शन दो भागों में विभक्त है, रात और दिन अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन। और निम्न ऋचा रात्रि को भौतिक भाग उत्तरार्द्ध मूर्द्धा या शिर मानती है। उसमें अग्नि नामक वैश्वानर तत्त्व का जन्म होता है, तब इससे दक्षिणायन का आरम्भ प्रातः काल होते ही सूर्य का जन्म होता है। वैदिकों ने इसे 'मायाम्' या रहस्य नाम दिया है जैसे "मूर्द्धा भुवो भवति नक्त मग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायामूषु···॥ (ऋ० वे० १०-८८-६)। इस मन्त्र में भुवो नाम उत्तरार्द्ध या भौतिक ब्रह्माण्ड का है जैसे

"देवानांयुगेप्रथमेऽसतःसद जायत। तदाशा अन्व जायन्त तदुत्तानपदस्परि।
भूर्जज्ञ उत्तानपदोर्भुव आशाअजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षद्विदितिःपरि॥"
(ऋ० वे० १०-७२-५,२)

जो सोम है वही सविता है, सोमः और सविता की अग्निः वैश्वानराग्नि है, नहीं नहीं सोम और सविता की अग्नि का जनक वैश्वानराग्नि है। अतः आ० श्रौ० १-३-२३ ने स्पष्ट शब्दों में वैश्वानराग्नि को सविता का पिता कहते हुए लिखा है

४—वैश्वानर और सविता

"देव सवित रेतं वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण॥"

अन्त में इतना अवश्य ध्यान में रखा जाय कि हम लोग प्राणी को तभी तक जीवित समझते हैं जब तक यह वैश्वानराग्नि उसके देह में किसी तापमान में विद्यमान रहता है; इसके अभाव में प्राणी को निर्जीव समझा जाता है। इस प्रकार वैश्वानराग्निः हमारी अनुभूत तापमानीय सतत प्रज्वलित आहवनीया अग्नि के समान भौतिक आत्मा के रूप में जीवन पर्य्यन्त एक या अनेक रूपों में अटूट सम्बन्ध से हमें चैतन्य, ज्ञान, स्फूर्ति, प्रकाश देती हुई वैयक्तिक तथा सार्वजनीन कार्यों में प्रवृत्त करने वाली एक ही शक्ति है। हमारी समस्त ब्राह्म रौद्र और ऐन्द्र त्रिपादामृत शक्तियाँ इसीको सूर्य की तरह प्रकाशित करती हैं, हमारे सम्पूर्ण जीवन-जीवनी का मूल आधार यही वैश्वानराग्निः है। लकड़ी तेल घी से जलने वाली आग पार्थिव पारमाणविक है। पर वैश्वानरीय अग्नि अपारमाणविक अव्यक्त और व्यापक दिव्य शरीरी आत्मा ही है। इसका इस प्रकार का वर्णन ऋ० वे० ७-५;७-६ सूक्तों में प्रशस्त रूप में दिया गया है जिसमें वैश्वानर को अमृतों त्रिपादों के उपस्थ या अन्त में या पूर्ण दर्शन के मध्य भाग में, जागृत हुआ, मानुषी नृषद् की सृष्टि का कारण, घुटी पीठ वाला या भौतिकामृताधार वाल, इन्द्र के समान आसुरों का सम्राट्, त्रिधातु या त्रिपादामृत, वाग्ब्रह्मरूप, मित्र क्रतु का विकास रूप अयज्यु और पणियों का हन्ता, नहुष का नाशक, सूर्य के उदित होने पर, बुध्न या मूल सूर्य से उत्पन्न होने वाला, समुद्र में विचरण करने वाला, दैवी मति बुद्धि वाला बतलाया गया है। इससे

वैश्वानर का विषय सन्देहहीन हो जाता है। इससे वैश्वानर की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या छा० उप० (५-१२ से १८ तक) ने निम्न प्रकार से दे रखी है। "तस्य ह एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथक् वर्त्मा सन्देह बहुला वस्ति रप एव रयिः पृथिव्यैव पादौ उत्तरवेदिर्लोमानि बर्हिः हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमानहवनीयः" इत्यादि।

बुद्धियोग भगवद्गीता ने भी इसका उत्तम विवेचन दिया है—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥" (१५-१३)

अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में इस वैश्वानर के बारे में निम्न उद्धरण भी उपलब्ध हैं:—इमे लोका इयं पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षं विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-३)। एष वै रयिर्वैश्वानरः (श० प० ब्रा० १०-६-१-५)। अस्यै आदित्योः वैश्वानरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-२५)। स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः (श० प० ब्रा० १०-६-१-११)। वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः (श० प० ब्रा० ६-२-१-३५)। संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः (ऐ० ब्रा० ३-४-१)। संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः (श० प० ब्रा० १-४-१-११)। मेरौ वै वैश्वानरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-७)। वैश्वानरो वै देवतया रथः (तै० ब्रा० सं० २-२-५-३)। वज्रो वै वैश्वानरीयम् (ऐ० ब्रा० ३-१५)। वैश्वानर इति वा अग्नेः प्रियं धाम (ताड्य १४-२-३)। चक्षुष्त्वा एतद्वैश्वानरस्य (श० प० ब्रा० १०-५-१-८)। प्राणास्त्वा एव वैश्वानरस्य यद्वायुः (श० प० ब्रा० १०-६-१-७) इत्यादि।

—×—

अध्याय ८६

देवरथः (वनस्पतिः और द्रविणोदा सहित)

देव रथ अनेक प्रकार से वर्णित है। यह योग दर्शन का रथ है, योग के तत्त्वों का रथ है। सबका विषय तो एक ही है, पर एक ही वस्तु रूप वैदिक दर्शन के तत्त्वों की वर्णना अनेक मुख्य शैलियों में की गई है। पहिले देव रथ को लीजिये। इसका वर्णन निम्न लिखित ऋचायें बड़ी स्पष्टता से करती हैं :—

सप्तवादी रथ

(१) सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥
(१-१६४-२)

,, (२) इमं रथ मधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥
(१-१६४-३)

संवत्सर ब्रह्म रथ

(३) द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्नेर्मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
(१-१६४-११)

(४) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता शङ्कवोऽर्पितः षष्टिर्न चलाचलासः॥
(१-१६४-४८)

पञ्चपर्वा रथ

(५) पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षडर आहु रर्पितम्॥
(१-१६४-१२)

,, (६) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वाः।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते स नाभिः॥
(१-१६४-१३)

,, (७) सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वाः॥
(१-१६४-१४)

उक्त ऋचायें देव रथ के चक्रों की संख्यायें विभिन्न योग विद्याओं की सरणियों से भिन्न-भिन्न दे रही हैं। प्रत्येक के सब चक्र मिलकर ५० तत्त्वों की व्याख्या करते

हैं। प्रथम द्वितीय मन्त्र सप्तवाद या अष्ट चक्रों की विद्या से देव रथ का वर्णन करता है, चतुर्थ का अन्तिम चरण भी इसी विद्या को सरणि देता है। तृतीय सप्तक और चतुर्थ मन्त्र संवत्सरब्रह्म विद्या की सरणि से देव रथ का वर्णन कर रहे हैं। चतुर्थ का प्रथम पाद पञ्चम और षष्ट मन्त्र पञ्चपर्वा विद्या की सरणि से देवरथ की व्याख्या कर रहे हैं श्वेताश्वतर ने इन सब विद्याओं का निचोड़ सम्मिश्रित शैली से केवल एक मन्त्र से दे रखा है जैसे

(८) "तमेक नेमिं त्रिवृत्रं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशति प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्ग भेदं द्विर्निमित्तैकमोहं॥
पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्धयादि मूलाम्।
पञ्चावेगां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥"

(श्वे० श्वे० १-४-५; नारा० उप० ९-३)

अब इनकी व्याख्या एक-एक करके लीजिए :—

(१) वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों का एक योग रथ है और उस योग रथ में चक्र भी एक ही है, उस एक चक्री योग रथ में सात (महर्षि, ब्रह्म, प्रजापति संसद, सदः आदि सप्तवादी तत्त्व, या सप्तकों के प्रथम या मुख्य तत्त्व) साथ साथ मिले हैं, उसे उन्हीं सात नामों अश्व या सोम या दधिक्रा अथवा भौतिक सत् तत्त्व वहन धारण या कर्षण करता है, पर इस चक्र की तीन नाभियाँ हैं, ये प्रथम तीन पादों के तीन मुख्य ब्रह्म हैं। ये त्रिपादामृतीय नाभि वाले चक्र अजर, अनश्वर हैं, इन्हीं में समस्त भौतिक सृष्टि के मूल बीज (त्रिधात्मा) सन्निहित रहते हैं।

(२) उक्त एक चक्री रथ में जो सात (महर्षि प्रभृत्ति) रहते हैं वे भी सात चक्र ही हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक में सात सात तत्त्व हैं। इन सात चक्रों को भी सात अश्व तीन आध्यात्मिक और चार भौतिक आत्मायें (सप्तपदी) वहन धारण या कर्षण करती है। इनके साथ सात सात वाग्ब्रह्माणी रूप वाग्धेनुयें भी रहती हैं जो इनकी बहिनों के समान हैं, और इस एक चक्री रथ के सात (महर्षि प्रभृति) को वाग्धेनु की सप्ति या सात की एक जोड़ी भी कहते हैं जैसे "आयं गौः प्रश्निरक्रमी दसन्मातरं पुरः। पितरं प्रयत्स्वः॥" (ऋ० वे० १०-१८९-१; साम ६३०, १३७६ अथर्व ६-३१-१; २०-४८-४; वा० सं० ३-६; तै० सं० १-५-३-१) और

"सकृद्ध द्यौ रजायत सकृद्भूमि रजायत।
प्रश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते॥"

(ऋ० वे० ६-४८-२२)

द्यौर्भूमि दोनों मिलकर प्रश्नि है उनका पयः या वैद्युतीय आत्मा स्वरूप भी एक ही वार उत्पन्न होता है द्यावा भूमि भी एक ही बार उत्पन्न होती है अग्न्यादि प्रतिदिन प्रतिमास उत्पन्न होते हैं जैसे

"अयं होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥"

(ऋ० वे० १०-५२-३)

(३) ऋत या ब्रह्म का या संवत्सर ब्रह्म का चक्र स्वर्गीय है या योग का दार्शनिक चक्र है, इसके बारह मास रूप बारह आरा या विभागीय लकड़ियाँ हैं, वे अजर या अमृत हैं, ये अग्नि रूप हैं, जिनके मिथुन या जोड़ी रूप या अहोरात्र रूप ७२० दिन रात रूप पुत्र हैं। दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध में अर्द्ध समय के दिन पक्ष मास (३६० २४, १२) होते हैं उत्तरार्द्ध में भी इतने ही राते पक्ष और मास होते हैं। पूर्वार्द्ध शुक्ल पक्ष है उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष। यही उत्तरायण दक्षिणायन भी कहलाते हैं।

(४) यह मन्त्र, मन्त्र संख्या ३ के अनुकूल संवत्सर ब्रह्म रूप रथ या चक्र का वर्णन देता है। इसमें १२ मास रूप १२ प्रधियाँ या आरे हैं, जिसके पूर्वार्द्ध भाग में तीन नाभि रूप त्रिपादामृत हैं जिनमें तीन ऋतुयें हैं, उत्तरार्द्ध में शेष तीन ऋतुयें हैं। उत्तरार्द्ध की ऋतुयें भौतिक और मर्त्य हैं। इसे कौन अच्छी तरह समझ सकता है ? इसमें तो एक साथ ३००+६०=३६०×२=७२० शंकु या दिन रात समर्पित या एकत्रित हैं, प्रत्येक दिन रात में ६० चला (घटी) और ६०×६० अचला या विपला हैं। यहाँ दिन रातों का वर्णन मन्त्र संख्या २ के अनुसार ही समझना चाहिए।

(५) कोई-कोई अर्थात् पञ्चपर्वा विद्या वाले उक्त योगरथ को पञ्चपदी पिता के नाम से पुकारते हैं जिनके अनुसार प्रत्येक पर्व में १०,१० तत्त्व होते हैं, यही 'पञ्चर्तवः संवत्सरः' नामक ब्रह्म कहलाता है दूसरे लोग संख्या ३ के मन्त्र के अनुसार इसमें १२ आकृतियाँ या मास मानते हैं इनके उत्तरार्द्ध के तत्त्वों को पुरीषी या पुरुष नामक भौतिक तत्त्व वाची कहते हैं, योग दर्शन चक्र के नाम दिव, व्योमन् द्यौ द्यां इत्यादि भी हैं। और अन्य विचक्षण मनीषी विद्वान् इस योगरथ के सात चक्र (मन्त्र संख्या २ के समान) मानते हैं, कोई अष्ट चक्री कहते हैं। इस अष्ट चक्री रथ के प्रत्येक चक्र में छह छह आरे लगे हैं जा कुल मिलाकर ४८ तत्त्व बनाते हैं। इनमें ब्रह्म और सूर्य दो को जोड़कर कुल ५० हो जाते हैं।

(६) इसमें रथ को पञ्चार चक्र मंत्र संख्या ६ के अनुकूल पञ्चपर्वा की सरणि से कहा गया है। इस पञ्चपर्वीय पञ्चार चक्र में अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड सन्निहित है। इसका अक्ष या धुरी इतना बहुत बड़ा भार वाला होने पर भी कभी नहीं बिगड़ता न गलता है न सड़ता है। और यह सनातन काल से अपरिवर्तनीय है, अपनी नाभि में सदा अडिग रहता है।

(७) यह मन्त्र भी पञ्चपर्वा विद्या की सरणि में योग रथ का वर्णन देता है। यह अजर अमर चक्र या रथ, नेमि या वृत्त युक्त है। यह उत्तान रूप वृत्त है, इसके पञ्च चक्रों में से प्रत्येक चक्र में दश-दश तत्त्व रूप आरे हैं। इसके मध्यवर्ती तत्त्व चक्षु नामक सूर्य से रजस या भौतिक तत्त्व (सद्) का उदय होता है जिससे यह सम्पूर्ण रथ आवृत या व्याप्त हो जाता है, इसी भौतिक तत्त्व में समस्त भुवनों विश्वों या गोलों की सत्ता दृढ़ रूप से सन्नद्ध या सम्बद्ध (अर्पिता) है। इसमें भी कुल ५० ही तत्त्व हैं।

इस देव रथ को ऐ० ब्रा० (२-५-३७) ने यज्ञ नाम से पुकारते हुए लिखा है 'देवरथो वा एष यद्यज्ञः'

श्वेताश्वतर के मन्त्र की व्याख्या—

(८) यह एक नेमि चक्र है, योगदर्शन के तत्त्वों का रथ या चक्र है, यह 'मनोवाग्प्राणानां' त्रिवृत् है या त्रिपादामृत का त्रिवृत् है, यह सोलह-सोलह तिथियों की कला वाला है पूर्वार्द्ध में शुक्ल पक्ष उत्तरार्द्ध में कृष्ण पक्ष है इसमें कुल ५० आरे या तत्त्व हैं; बीस (बृहती के ३६×२०) =७२० प्रत्यरा हैं- इसको अष्ट षट्क में या षडष्टक में भी विभाजित करते हैं; ८×६=४८ +ब्रह्म+सूर्य=५०; इस अष्टषट्क को विश्व रूपी पाश या बन्धन कहते हैं, पूर्ण दर्शन के पचासों तत्त्व सृष्टि बन्धन के पास या रस्सियाँ हैं। इसके तीन मार्ग हैं (१) त्रिपादामृत या दैवी (२) भौतिकात्मा सृष्टि (वरुण सूर्य सोम) या माणुषी (३) आसुरी भौतिक स्थूल विद्युत्सृष्टि। इसमें अन्तिम दो के कारण मोह अज्ञान या तमः का प्रभाव रहता है। इसको पञ्चपर्वा विद्या में पाँच भागों में विभक्त करते हैं। पञ्चस्रोतोम्बु=पञ्चनद्यः; पञ्चयोनि रौद्रमार्गीय उग्रवक्रा पञ्चपशवः; पञ्चप्राणोर्मि=पञ्चसागरा पञ्चप्राणाः; पञ्चबुद्ध्यः=पञ्च पर्वताः, पञ्चवृक्षाः: पञ्चावेगा=पञ्च वायवीया; पञ्चदुःखौघवेगां=पञ्चभौतिक सृष्टिं; ये सब मिलकर कुल ५०, ५० तत्त्वों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक पञ्चक में दश-दश तत्त्व होते हैं। यह बतलाया जा चुका है इसी भाग को ऋ० वे० ६-४७-२२,२३,२४ के तीन मन्त्र दूसरे ढंग से कहते हैं जैसे

"प्रस्तोक इन्नु राधसस्त इन्द्र दशकोशयी दशवाजिनोऽदात्।
दिवोदासा दातिथिग्वस्य राधः शम्बरं वसु प्रत्यग्र भीष्म ॥
दशाश्वान् दशकोशान् दश तस्मादधि भोजना।
दशो हिरण्यभ्यः पिण्डां दिवोदासादसानिषं ॥

दशरथान्प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः अश्वथः पायवेदात्।

वनस्पति रथ या इन्द्र रथ या द्रविणोदा रथ—

इस देव रथ या योग के दार्शनिक रथ का वर्णन इस प्रकार भी दिया है यह इन्द्र का योग रथ है :—

(१) "वनस्पते वीड्वलङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥

(२) दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परिगोभि रावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥

(३) इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमा नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रतिहव्या गृभाय ॥"

(ऋ० वे० ६-४७-२६,२७,२८)

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'इयं (पृथिवी-चतुर्थ सप्तक) देवरथः' (ताडय ७-७-१४) कहकर चतुर्थ सप्तक को देवरथ कहा है, तथा 'देवरथो वै रथन्तरं' (ताडय ७-७-

१३) से रथन्तरं छन्द को भी देवरथ बतलाया है। इसी प्रकार निम्न दो वाक्यों से यज्ञ और अग्नि को भी देवरथ कहा है जैसे 'देवरथो वा एष यद्यज्ञः' (कौ० ७-७ ऐ० २-३७) देवरथो वा अग्नयः (कौ० ५-१०)

(१) इस इन्द्र रथ या देव रथ का नाम वनस्पति या सोम या भौतिकात्मा भी है; इस नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम दृढ़ शरीर या अंग के बनो जिससे हमारा सखा तैजसात्मा इन्द्र, इस सृष्टि भूमि के सागर को पार करके वीर कहला सके, तुम गोभि गायों से या बैलों से सन्नद्ध हो अर्थात् आदित्यों और वाग्धेनुओं से युक्त हो या इनके तेजः से सम्पन्न हो, अतः दृढ़तम बनो, और तुम्हारे ऊपर बैठकर या तुम्हारा भौतिक स्वरूप स्वीकार करके इन्द्र जैतव्य कार्यों में विजयी बने, आसुर और आसुरी सम्पदा को वश में कर सके।

(२) यही देवरथ, इन्द्र का वज्र है, यही वज्र इन्द्र है। इस रथ या वज्र या इन्द्र में दिव स्थान स्वः और पृथिवी स्थान (भूः भुवः) के समस्त ओज एकत्रित है, और इसमें सोम की सहिष्णुता कूट कूट कर भरी गई है, इसमें आपो ब्रह्मों के समस्त स्वयमावर्तीय शक्ति (ओज्मानं) व्याप्त है, तथा वाग्धेनुओं की शक्तियाँ (विद्युत्) से आवृत है, अतः तुम अपने स्वभाव द्वारा (हविषा) उक्त समस्त शक्तियों के एकत्र समाहार द्वारा विकास को (यज) प्राप्त होओ।

(३) हे देवरथ तुम इन्द्र के तो वज्र कहलाते हो, मरुतों के पुञ्ज या गण, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभिः। अतः हमारी दी गई इन आहुतियों का आस्वादन करते हुए, इस प्रकार उत्तेजित किए जाते हुए या इस प्रकार जागृत किये जाते हुए (जुषाणो), हमारी प्रत्येक भावना को अक्षरशः गृहण करो—जैसी जैसी भावना हम कर रहे हैं तद्तुरूप शक्ति स्फूर्ति तेजस्वी रूप में प्रस्तुत हो जाओ। ध्यान रहे इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में रथ की जो व्याख्या दी गई है वह इस देव रथ को साक्षात् रूप से योग का दार्शनिक या तात्त्विक रथ (भौतिकात्मा) सिद्ध करके सबकी भ्रम ग्रन्थियों को खोल देती है।

कठोपनिषद् का प्रसिद्ध रथ—

(९) "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥"

(कृ० वे० १-३-३,४)

पाठकों को कुछ अजीब सा लगेगा। यह बात सच्ची बताई जा रही है कि इस मन्त्र के 'शरीर' शब्द का अर्थ हमारा आपका सा यह स्थूल शरीर नहीं है। यहाँ 'शरीर' शब्द के माने भौतिकात्मा दिव्य शरीर है। इसी को क्षेत्र नाम से भी पुकारा जाता है जैसे

"इमभसपत्नं महते क्षेत्राय महते ज्येष्ठायः वै महते जानराज्याय।
इन्द्रस्येंद्रियमिममसुष्य पुत्र...सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪराजा ॥"

और

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥"

(गीता १२-१) में भी शरीर शब्द के माने यही भौतिकात्मा सोम या दिव्यशरीर है। यहाँ 'शरीर' शब्द 'दिव्यशरीर' का संक्षेप के साथ अर्थान्तर का भी वाची है। हमारा पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर इस 'दिव्य शरीर' बीज का परम वृद्धि प्राप्त महा-महा विशाल काय रूप है। यह 'क्षेत्रविद्' नामक शब्द दार्शनिकों का पारिभाषिक शब्द है जैसा कि गीता के उक्त श्लोक में 'इति तद्विदः='क्षेत्रविदः' शब्द से स्वयं स्पष्ट किया है। शरीर शब्द दिव्य शरीर शब्द का संक्षेप तो है पर इन दोनों में बड़ा भेद भी है। भौतिकात्मा या दिव्य शरीर दो प्रकार का होता हैं एक दैवी शरीर, दूसरा आसुरी, दैवी शरीर का नाम सोम चन्द्र इन्द्र है तो आसुरी भौतिकात्मा को वृत्र आसुर या केवल 'शरीर' नाम से पुकारते हैं यह गर्भोपनिषद् तथा श० प० ब्रा० ६-१-१-२,३ से स्वयं स्पष्ट है, सोमादि दिव्यशरीर है, वृत्रादि शरीर। समस्त ब्रह्माण्ड आसुर या वार्त्र या शरीरी है। यही क्षेत्र भी है। इन दोनों में भौतिकता एक सी है पर सोमादि में निवृत्ति है, वृत्रादि में प्रवृत्ति है, इतना ही इनमें अन्तर है। अतः दिव्य शरीर और शरीर शब्द तत्त्वतः एक ही तत्त्व का संकेत करते हैं, परन्तु वृत्तितः इनमें आकाश पाताल का अन्तर है, एकदम एक दूसरे के परस्पर विरोधी धर्म वाले हैं। इस दिव्य शरीर या शरीर को ही योग का रथ कहते हैं। इस योग रथ का रथी तो आत्मा या ब्रह्म है, और सारथि बुद्धि या जीवात्मा ब्रह्म है तथा तैजसात्मा इन्द्र इस सारथि के हाथ में लगी या बँधी या कसी लगाम हैं, जो मनस्तत्व (तैजसात्मा का प्रतिनिधि) है और इसे मनस्वान् नाम से पुकारते भी हैं जैसे "यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" (ऋ० वे० २-१२-१)। इसके घोड़े आसुरी भौतिकात्मा, इन्द्रिय या रसरूप सोम या वृत्र है 'अश्व' नामक शीर्षक और 'अश्वो वोढा'...'इन्दो इन्द्राय परिस्रव' मन्त्र देखें पीछे। इन्द्रिय नाम रस का है रसमय सोम का है। इसलिए सोम को इन्द्र की इन्द्रिय नाम से पुकारते हैं जैसे "इममसपत्नं......इन्द्रस्येन्द्रियाय...... सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪराजा ॥"। 'सोम' शीर्षक में 'इन्द्रियं रसम्' की व्याख्या देखें। इस इन्द्रिय के विषय दो या तीन ही हो सकते हैं; ये हैं, दैवी आसुरी, मानवी या भौतिकी। अत कठ के उक्त मन्त्र में शरीर मन, रथ, रथी, बुद्धि, सारथि इन्द्रिय शरीर विषय आदि शब्दों के अर्थ वे नहीं हैं जिनको आज-कल के महामनीषी विद्वान् प्रचलित अपूर्ण सांख्य की परिपाटी से समझते चले आ रहे हैं। इस मन्त्र में शत-प्रतिशत वैदिकता है, वैदिक दर्शन के तत्त्वों को एक सुन्दर रूपक से, ऐसे रूपक से जिसका वेदों, ब्राह्मणों में अक्षरशः उल्लेख तथा सर्वत्र व्याख्यात और वर्णित है, एक सामूहिक स्वरूप में एकत्र प्रस्तुत करके वैदिक दर्शन के योग के रहस्य

को बहुत थोड़े शब्दों में प्रस्तुत कर अपनी मर्मज्ञता का परिचय दे देता है। वे वास्तव में सच्चे मनीषी योगी थे।

अथर्ववेद का देव रथ—

(१०) दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावा पृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम्॥
संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठा चन्द्रमा सारथिः इतो जयेतो विजय सं जय जय स्वाहा॥
इमे जयन्तु परामी जयतां स्वाहैभ्यो दुराहारीभ्यः
नीललोहितेनामनभ्यवतनोमि॥
(अथर्व० ८-४-१-२२-२३,१४)

यह अथर्ववेद का वर्णित देवरथ, कठ के दिए रथ को वैदिक देवरथ सिद्ध कर देता है।

अश्विनी और अश्विनी रथ

११—अश्विनी रथ—का वर्णन ऋ० वे० १०-८५-९ से २६ तक के मन्त्र इस प्रकार करते हैं; अश्विनी का विवाह सूर्या से होता है। सूर्या अश्विनी के रथ में बैठ कर जाती है जैसे—

(१) सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्ती मनसा सविता ददात्॥९॥
(२) मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्॥१०॥
(३) ऋग्सामाभ्यामभिहितौ गावौ सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥११॥
(४) शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम्॥१२॥
(५) सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥१३॥
(६) यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वेदेवा अनुतद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीत पूषा॥१४॥
(७) यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क देष्ट्राय तस्थथुः॥१५॥
(८) द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥१६॥
(९) सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः॥१७॥

(१०) पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीकन्तौ यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतू रन्यो विदधज्जायते पुनः ॥१८॥

(११) नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायनू प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥१९॥

(१२) सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णां सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥२०॥

(१३) पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२६॥

(१४) प्रत्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥२४॥

(१५) सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥४०॥

(१६) सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये ।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥४१॥

(१७) साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्रवां भव ।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥४६॥

ऋ० वे० ७-१८-२२ :—

(१८) "द्वे नप्तुर्देववत शते गो र्द्वारथ वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् ॥"

ऋ० वे० १-१८३-१

(१९) "तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः ।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः ॥"

ऋ० वे० १-१८२-६,७

(२०) "अवविद्धं तौग्र्यमप्स्वन्त रनारम्भणे तमसि प्रविद्धम् ।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिता पारयन्ति ॥६॥"

(२१) "कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो
नाधितः पर्यषस्वजत् ।
पर्णामृगस्य पतरोरिवारभ उदश्विना ऊहथुः
श्रोमताय कम् ॥७॥

"अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
यदश्विना ऊहथु र्भुज्युमस्तं शतरित्रां नाव मातस्थिवांसम् ॥"
ऋ० वे० १-११६-५

ऋ० वे० १-१८२-१

(२२) "अभूदिदं वयुनमो षु भूषता रथो वृषण्वान् मदता मनीषिणः।
धियञ्जिन्वा धिष्ण्या विश्पलावसू दिवोनपाता सुकृते शुचिव्रता॥

ऋ० वे० १-१८५-१,२

(२३) "कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥१॥

(२४) भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते।
नित्यं न सूनुं पित्रो रुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्यात्॥२॥"

ऋ० वे० ६-७०-१,२

(२५) "घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजिरे भूरिरेतसा॥१॥"

(२६) "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥"

१२—अश्विनी का स्थान और स्वरूप

श० प० ब्रा० ४-१-५-१६

(२७) "तौ होचतुः। मुख्यौ वा आवां यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यू इह नाविमं पुरस्ताद्ग्रहं पर्य्याहरताभिद्विदैवत्यानिति ताभ्यामेतं पुरस्ताद्ग्रहं पर्य्याजह्नु रभिद्विदैवत्यांस्तस्मादेष दशमो ग्रहो गृह्यते, तृतीय एव वषट्क्रियते अथ यदश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवातां पुष्करस्रजावित्यग्नि रेवास्यै पुष्कर मादित्योऽमुष्यै॥"

श० प० ब्रा० ४-१-५-१९

(२८) "तानि वा एतानि श्लक्ष्णानि पात्राणि भवन्ति रास्नावमेन्द्रा वायव पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन द्विदेवत्यमजकावं मैत्रावरुण पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन तद्द्विदैवत्यमौष्ठमाश्विनं पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन तद्द्विदैवत्यं अथ यदश्विनाविति मुख्यौ वा अश्विनावौष्ठमिव वा इदं मुखं तस्मादौष्ठमाश्विनं पात्रं भवति॥"

१३—अश्विनी की महिमा

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू (भर्ता हन्तारौ) नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका (हन्तारौ)।
उदन्यजेव (उदकजेव) जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥"
(ऋ० वे० १०-१०६-६)

दो मार्ग हैं भर्ता और हन्ता, नेतोशके समान क्षिप्र हन्ता हो, चन्द्र समान जयमान मदनशील हो; हमारे मरणधर्मा शरीर को अजर अमर बनाओ।

उक्त मन्त्रों और परिच्छेदों से स्पष्ट है कि अश्विनी तत्त्व वैदिक दर्शन का एक

बहुत महत्त्व पूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध नक्षत्र विद्या या गन्धर्व विद्या से है। नक्षत्रों या गन्धर्वों का प्रथम तत्त्व अश्विनी है। "वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्त-विंशति॥" कि वात या मनः या गन्धर्व या नक्षत्र २७ हैं जिनमें अश्विनी सर्वप्रथम है। इनकी पत्नी सूर्या है जिनके बारे में ऋग्वेद १०-८५-३४,३५ में लिखा है "तृष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवै। सूर्यां यो ब्रह्मा विद्या स इद्वाधूयमर्हति॥" "आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति॥" कि सूर्या को जानना कोई खेल नहीं है जो इसे जानता है वही वैवाहिक सम्बन्ध के योग्य है इसके फल रुखे कडुवे कषैले विषवत् और अभोज्य होते हैं। इसमें आशा निराशा के पाशों का निरन्तर विकर्तन होता रहता है, यह क्षण-क्षण में नव-नव रूप धारण करती है, उन्हें तो ब्रह्मा ही समझ सकता है। यह सूर्या आसुरी भौतिक तत्त्व है, अश्विनी दैवी भौतिक तत्त्व चन्द्र।

अश्विनी तत्त्व क्या है इस रहस्य का उद्घाटन श० प० ब्रा० ने सन्देहहीन भाषा में लिख दिया है कि अश्विनी साक्षात् वही तत्त्व है जिन्हें द्यावापृथिवी कहते हैं। द्यावापृथिवी नाम दर्शन के तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के सम्मिलित रूप का है। द्यावा नाम पूर्वार्द्ध का है पृथिवी (भौतिक) उत्तरार्द्ध का। द्यावापृथिवी पूरे ५० तत्त्वों का नाम हुआ इसी प्रकार अश्विनी में दो अश्व हैं एक तो द्यावा का है दूसरा पृथिवी का, दोनों के एक जोड़े की अश्विनौ या अश्विनी कहते हैं, इसीलिए यह द्विदैवत्य कहलाता है। और रूप नामक सोम या चन्द्र से उलटे-सुलटे नक्षत्रों की गिनती की जाती है। पूर्वार्द्ध का नाम शिर है उत्तरार्द्ध का नाम रुण्ड, अश्विनी इस सिर के ओठ है यह अन्तिम उद्धरण से स्वयं स्पष्ट है। द्यावापृथिवी को घृतवती कहा जाता है घृतवती माने भी अश्ववती होता है। यह मधुमती सोमवती का नाम है। इसको भी अश्विनी की तरह पूर्वा और अपरा नाम के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो भागों में वर्णित किया है (१-१०५-१,२)। इसीलिए यास्क ने निरुक्त ६-१-१ में जब प्राचीन ऋषियों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है "तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्या-वित्येकेऽहोरात्रे इत्येके सूर्याचन्द्रमसा वित्येके, राजानौ पुण्यकृता वित्यैतिहासिका" तो बिलकुल ठीक लिखा है. ये द्यावापृथिवी अहोरात्र या सूर्य (पूर्वार्द्ध) चन्द्र (उत्तरार्द्ध) ही है। अब इनके रथ का वर्णन लीजिए* :—

* आश्विनौ को 'वसति' या भौतिक तत्त्व रूप २५ वें में रहने वाले और कृष्ण (रात्रि वासी) कहा है और फिर लिखा है कि तुम पापहीन अपने बल से विष्णु हो एक। यज्ञ का दूसरा आदित्य (सूर्य) का पुत्र है, इनका स्तवन प्रातः (सूर्योदय काल) २५ वें तत्त्व में दिया जाता है जब वे सोम पीते हैं या भौतिकात्मा पाते हैं। इनका पूजन प्रातः ही होता है, सायंकाल नहीं जो इनका यजन प्रातः करता या समझता है वह ज्ञानी है जो अन्य समय में करता या समझता है वह उतना ज्ञानी नहीं जैसे "वसतिषुस्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव। कोदमाश्विना युवमसि देवाँ अगन्धतम्।" ऋ० वे० १-१८-१-४, १-२८-१ और ५-७७-२ देखें। 'इहेवजाता'। प्रातर्युजाविवीधयाश्विना वेहगच्छतम्। अस्यसोमस्य पीतये।" प्रातर्यजध्वमाश्विना हिनोतन सायमस्मि न देवया अजुष्टम्।·········॥"

(१) अश्विनी का विवाह सूर्या से करने के लिए सोम ने वधू के पक्ष का काम किया, अश्विनी वर बने, सविता ने उसे मनः से अर्पित किया। सूर्या ने अश्विनी को मन से चुना।

(२) उसका मन ही रथ बना, द्यौ छत बनी, शुक्रामन्थिनौ ग्रह इसके बैल बने, तब सूर्या अपने पति के घर गई। शुक्रामन्थिनौ नाम सूर्याचन्द्रमसौ या चक्षुषी का है (श० प० ब्रा० ४-१-६-१)

(३) रथ के बैलों का संयमन ऋक् और सोम ने किया (पूर्वार्द्ध के तत्त्वों ने), उत्तरार्द्ध के तत्त्व (श्रोत) इनके चक्र बने।

(४) शुचि नाम की अग्नियाँ प्राण और उदान इसके चक्र बने, व्यान इनका अक्ष धुरी बना, रथ का ऊपरी भाग मनोमय बना, इसमें चढ़कर सूर्या पति के घर गई।

(५) जिस रथ का सृजन सविता ने सूर्या के वहन के लिए किया उसकी अर्जुनी गायें पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का हनन किया गया अर्थात् उत्तरार्द्ध के तत्त्व रूप कृष्णा गायों या रातों की सृष्टि हो गई। दिन बीत गया अर्जुनीय शुक्ल पक्षीय दिन या गायें ढक गईं। अंधी आसुरी भौतिकी सृष्टि का समुभ्युदय हो चला।

(६) जब अश्विनी अपने तीन चक्र वाले रथ में बैठकर पूछते-पूछते चलते हुए सूर्या से विवाह करने चले तो विश्वेदेवता गण ने उनका स्वागत किया, किसी ने पुत्र मानकर साथ दिया, किसी ने उन्हें अपना पिता स्वीकार किया जैसे पूषा।

(७) प्रश्न—अपने स्वयंवर से प्राप्त सुन्दर पतियों के जोड़े को लेकर सूर्या जब पति के घर गई, तब उसके वाम भागीय दो चक्र कौन थे, एक चक्र (तीसरा) किसका था ?

(८) उत्तर—उसके दो चक्र तो ऋतुओं की रेखा बनाने वाले (गर्त या विषुवद्रेखा वासी) सूर्य (चन्द्रमाः) थे, और तीसरा चक्र गुहा या ब्राह्म चक्र था। दो चक्र तो भौतिक आत्माओं के थे, तीसरा शुद्ध अभौतिक या ब्राह्म था।

(९) जिन्होंने सूर्या के लिए भौतिक तत्त्वों के इन चक्रों वाले रथ का निर्माण किया उन–मित्र वरुण प्रचेतस् को नमस्कार।

(१०) जब ये अश्विनी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों भागों में बच्चे की तरह मायावी ढंग से क्रीडा करते हुए से चलते-चलते यज्ञ पुरुष को (अत्रि को) प्राप्त हुए तब इन्होंने अन्य भौतिक भुवनों के निर्माण का काम किया और नवीन भौतिक स्वरूप में ऋतु को या सृष्टि को नवीन भौतिक रूप में जन्म दिया।

(११) उक्त नवीन रूप में उत्पन्न भौतिक तत्त्व चन्द्रमा नाम से प्रसिद्ध हुआ जो दिन प्रतिदिन नवीन-नवीन रूप में कला वृद्धि से प्रतीत होता है, यह भौतिक आत्माओं की ध्वजा सी है, और यह प्रत्येक देवता को दिव्यशरीर का समुचित स्वरूप वाली हवि या हवि भाग प्रदान करता है और देव रूप में दीर्घायु भी है। हवि

आह्वान या भाग का नाम है भौतिकात्मा के उदय होने पर सभी देवताओं को बुला कर उन्हें एक झंडी रूप दिव्यशरीर या हविर्भाग दिया गया।

(१२) यह दिव्यशरीर रूप रथ, हिरण्यवर्ण हिरण्यगर्भ, विश्वरूपगर्भ है, और सुन्दरतम या सूक्ष्मतम रेशम के वस्त्र के समान तानेवाने वाला है या शाल्मलि के फूलों की व्याप्त घटा के समान है, हे सूर्ये तुम इस रथ में चढ़ो और पति के अमृत लोक को जाने की तैयारी करो।

(१३) तुमसे पाणिग्रहण करके तुम्हें ले जाने वाले अश्विनी को पूषा रथ में बिठाकर लेजावे। तुम गृहपत्नी बन कर घर जाओ, वहाँ तुम उनके वैसे वशीभूत रहकर सबके मुख से यश के गीत गवाओ।

(१४) तुम्हें वरुण के पाशों से मुक्त करता हूँ। अब इन पाशों से सविता तुम्हें प्रेम पाश में रमणीय रूप से बाँधता हैं। तुमको ऋत ब्रह्म की योनि या गर्भ के जिसे सुकृत लोक कहते हैं—अरिष्टों या अशरीरी कष्टों से मुक्त करके—वरुणपाश से मुक्त करके—पति लोक या भौतिक शरीरी लोक में रखता हूँ।

(१५) तुम्हें सबसे पहिले सोम ने पाया, फिर गन्धर्व ने, फिर तुम्हारा तीसरा पति अग्नि बना और यह मनुष्यज या अश्विनी तुम्हारे चतुर्थ पति हैं (प्रत्येक देवता एक एक सप्तक का है)।

(१६) सोम ने तुम्हें गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को, अग्नि ने वित्त और पुत्र (सोमसुत) के साथ तुमको मुझ अश्विनी को प्रदान किया है।

(१७) तुम ब्रह्म या प्रजापति रूप श्वसुर की साम्राज्ञी बनो, और वाग्ब्रह्माणी रूप श्वश्रू की भी तुम साम्राज्ञी बनो, ननान्दा रूप आदित्य नामक गायों की भी तुम साम्राज्ञी बनो, और अपने देवर सोमसुतों की भी तुम साम्राज्ञी बनो। तुम्हारा सर्वत्र प्रेम का साम्राज्य बना रहे।

(१८) देवता के नाती अश्विनी के रथ में १०० बैल लगे हैं जिसमें सुदास सपत्नीक बैठकर बड़े आनन्द की बड़बड़ाहट के साथ घर गया और पैजवन होता के समान अग्नि के प्रातः काल सूर्योदय के समय अनन्त दान देने लगा।

(१९) उस त्रिधातु (त्रिपादामृतीय) पथ में जिसमें से होकर अश्विनी का रथ पक्षी के (सुपर्ण) के पर्णों या पक्षों की तरह उड़ते विमान की तरह गया, उस रथ का ध्यान करें जो मन के समान वेगवान्, तीन धुरी वाला और तीन चक्र वाला है।

(२०) भौतिक तत्त्व के उदय के समय जब कि आसुरी सृष्टि का आरम्भण भी नहीं हुआ था, जिसमें तौग्र्य (भुज्यु या सुपर्णः) जलमय अन्धकारमय पटल में फँसा पड़ा था, उसमें सौ सौ पतवार वाली पुरानी चार नावें पड़ी थीं जिनको लेकर अश्विनी ने उसे पार किया। भुज्यु या तौग्र्य नाम यज्ञ या सुपर्ण का है (श० प० ब्रा० ९-४-१-११)

(२१) उस गहन अन्धकारमय समुद्र में सृष्टि वृक्ष फँसा पड़ा था, तौग्र्य ने सहायता की पुकार की, अश्विनी ने उसे गले लगाकर, डूबते को तिनके के सहारे के समान कार्य कर, उसके उद्धार के कार्य को सफल बनाने के लिए कम् ब्रह्म की आराधना की और चन्द्रमा को सुपर्ण बनाकर उससे उसे पार लगा लिया।

(२२) दिवोनपात् अश्विनी का रथ बहुत ही कल्याणकारी, अनेक बैल वाला, बुद्धि तत्त्ववान् सुकृत लोकवासी, शुचिव्रत, बुद्धि देने वाला इत्यादि है।

(२३) द्यावापृथिवी भी अश्विनी ही हैं यह २७ वें उद्धरण से स्पष्ट है। इसे 'पूर्वा परा' नाम से भी पुकारते हैं। अतः प्रश्न है पूर्वा किसका द्योतक है, परा किसका; ये कैसे उत्पन्न हुए, कौन जानता है ? ये अखिल ब्रह्माण्ड को अपनी आत्मा में धारण करती हैं, इनका चक्र अहोरात्र की तरह बराबर विवर्त को (विकास को) प्राप्त होता है। पूर्वा दिन है, परा रात है। पूर्वापरा अहोरात्र या द्यावापृथिवी या अश्विनी हैं।

(२४) इस प्रकार ये दो अचर (पूर्व) और चर (परा) के भेद पदों या पादों के अनुसार, माने जाते हैं। जब इसे हिरण्यगर्भिणी कहते हैं तब यह अपद्री है, यह द्यावापृथिवी इस अखिल ब्रह्माण्ड की जननी है और उसे अपनी गोद या गर्भ में पुत्र के समान लिए रहती है।

(२५-२६) यह द्यावापृथिवी अखिल ब्रह्माण्डों की प्राणमयी मूर्ति और श्री है जिससे इनके भौतिक शरीर का स्वरूप मधु रूप में बुनता जाता है, यह वरुण के संयोगकारी गुणों से इन सबको एकत्र एक सूत्र में स्तम्भित या आबद्ध किए रहती है, इतनी शक्ति है इसमें, इन लोकों को वह अपनी दुग्धधार घृत धार से पुण्यशील, पवित्र कार्य कर्ता बनाती हुई, इन लोकों में पृथक् पृथक् सी दीखती है। यह वह कार्य करती है जिससे मनु या मन के हित का कार्य हो (भौतिक सृष्टि बन जाय)।

(२७) उन दोनों ने (अध्वर्युओं ने) कहा। आप दोनों हमारे यज्ञ के मुख या मुख्य हैं, हम आप दोनों को पुरस्तात् उत्तरार्द्ध के आदि के तत्त्वों में द्विदैवत्य रूप में ग्रहण करेंगे। जब उन्हें इस प्रकार ग्रह रूप में ग्रहीत किया गया तो ये दशम ग्रह इन्द्र के दशम विकास कहे जाने लगे, इन्हें तृतीय वषट्कार इस लिए दिया जाता है कि ये अत्रि से तीसरे तत्त्व है। ये अश्विनी तो साक्षात् प्रत्यक्षरूप में द्यावापृथिवी नाम के ही तत्त्व हैं। इन्हें 'पुस्करस्रक्' पुष्करमाला धारी इसलिए कहा जाता है कि इसका प्रथम पुष्कर अग्नि है द्वितीय पुष्कर आदित्य। पुष्कर माने 'पूः सृष्टिं करोतीति पुष्करः (श० प० ब्रा०) होता है।

(२८) अभिनय में इनके पात्र विभिन्न हैं, ऐन्द्रवायव पात्र 'रात्स्नाव', मैत्र-वरुण पात्र अजकाव; और आश्विन्य पात्र 'औष्ठ्य' होता है। अश्विनी सृष्टि चक्र के मुख या मुख्य देवता हैं और ये अश्विनी उस मुख के दो ओष्टों के समान हैं। ये तत्त्व चक्र के मध्यवर्ती हैं, द्विदैवत्य हैं दो ओठों के समान हैं। अतः अश्विनी और द्यावापृथिवी के पात्र ओठ के समान द्विदलीय बनाये जाते हैं। ये मुख या मुख्य या

ओष्ठ्य इसीलिए कहलाते हैं। इसी ओष्ठाकारीय मध्यस्थल को 'मातुर्योनिः' और अदिति का उपस्थ या गर्त कहते हैं (ऋ० वे० १०-४-७, १-१६४-३३) (आगे अहोरात्र और वरुण देखें)।

अश्विनौ के बारे में एक ऐतिहासिक कथा है। त्वष्टा की लड़की सरण्यू का विवाह विवस्वान् आदित्य से हुआ, उससे उसके दो यमल पुत्र हुए, तब सरण्यू ने अपनी जगह सवर्णा प्रतिनिधि स्त्री रखदी, स्वयं अश्वरूप धारण कर भाग गई। तब विवस्वान् ने भी अश्व का ही रूप धारण कर उसका पीछा किया और उस अश्वी रूप सरण्यू से विवस्वान् के अश्विनौ नामक दो पुत्र हुए और सवर्णा से मनु का जन्म हुआ। दुर्गा सप्तशती भी कहती है 'सावर्णिर्भविता मनुः' तथा ऋ० वे० १०-१७-१ का मन्त्र 'त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश' भी उक्त कथानक की पूर्ण पुष्टि करता है। स्पष्ट बात १०-१७-२ में दी है 'अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा' इत्यदि।

सभी वेद त्रिवादी सूक्तों या मन्त्रों से भरपूर भरे हैं जिनका अर्थ अभाग्य से अबतक अस्पष्ट चला आ रहा है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३४ वें सूक्त में सभी मन्त्र त्रिवादी हैं। यह भी अश्विनी का सूक्त है। इस सूक्त के मन्त्रों से पूर्वोक्त सभी बातों की पूर्ण पुष्टि हो जाती है। इसी प्रकार की भावनायें अन्य सभी देवताओं विश्वेदेवताओं के सूक्तों में भी मिलती हैं जिनमें से ऋ० वे० २-२७ और ऋ० वे० ३-५६ के सूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें सम्पूर्ण वैदिक दर्शन नाना प्रकार के त्रिवादीय नामों से व्याख्यात किया गया है। ये विभाग दर्शन के प्रकाश स्तम्भों के समान स्वयं स्पष्ट है। उद्धरण ७,८,९,१० आदि देखें

१४—अश्विनी का त्रिवादी रथ

अश्विनी सूक्त ऋ० वे० १-३४

"त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससो अभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥१॥
त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भास स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं यातस्त्रिर्वाश्विना दिवा ॥२॥
समाने अहन् त्रिरवद्य गोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम्।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥३॥
त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्।
त्रिर्नान्द्यं वहत मश्विना युवं त्रिःपृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् ॥४॥
त्रिर्नो रयिं वहत मश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुतावतं धियः।
त्रिःसौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस्त्रिष्ठ वां सूरे दुहितारुहद्रथम् ॥५॥
त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिःपार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयो ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पदम् ॥६॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवी मशायतम् ।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥७॥
त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम् ।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिर क्तुभिर्हितम् ॥८॥
क त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य क त्रयो वन्धुरो सनीला ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः ॥९॥"

इत्यादि

आदित्य सूक्त ऋ० वे० २-२७

"तिस्रो भूमी धारयन् त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु ॥८॥
त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्यया शुचयो धारपूताः ।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥९॥"

विश्वेदेवाः सूक्त ऋ० वे० ३-५६

"षड्भाराँ एको अचरन् बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः ।
तिस्रो मही रुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ॥२॥
त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान् ।
त्र्यनीकः पत्यते महिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥३॥
त्रीषधस्थाः सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् ।
ऋतावरी र्योषणास्तिस्रो अप्यास्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानाः ॥५॥
त्रिरा दिव सवितर्वार्याणि दिवे दिव आसुव त्रिर्नो अह्नः ।
त्रिधातु राय आसुवा वसूनि भग त्रातर्धिषणे सातये धाः ॥६॥
त्रिरा दिव सविता सोषवीति राजाना मित्रावरुणा सुपाणी ।
आपश्चिदस्य रोदसी चिदुर्वी रत्नं भिक्षन्त सवितुः सवाय ॥७॥
त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः ।
ऋतावान इषिरा दूळ्मासस्त्रिरादिवो विदथे सन्तु देवाः ॥८॥"

इत्यादि

सविता देवता सूक्त ऋ० वे ४-५३

"त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना ।
तिस्रो दिवः पृथिवी तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतै रभि नो रक्षति त्मना ॥५॥"

सूर्य रथ ऋ० वे० २-१८

"प्राता रथो नवो योजि सस्निः चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः ।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः सइष्टिभिर्मतिभी रंह्योऽभूत् ॥"

सोमापूषणावदिति देवताः ऋ० वे० २-४०

सोमा पूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम् ।
विषूवृतं (विषुवद्रेखावृतं) मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो
वृषणा पञ्चरश्मिम् (पञ्चप्राणम्) ।।३।।

दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे ।
तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षुं रायस्पोषं विष्यतां नाभिमस्मे ।।४।।

सोमा पूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः ।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ।।१।।

१५—बृहद्रथः

अहं स यो नव वास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम् ।
यद्वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग्दूरे पारे रजसो रोचनाकरम् ।।
(ऋ० वे० १०-४९-६)

अश्विनावध्वर्यू ऋ० वे० १०-५२-२

अहं होता न्यसीदं यजीयान् विश्वेदेवा मरुतो मा जुनन्ति ।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुति र्वाम् ।।

ऋ० वे० १०-३९, १०-४०, १०-४१ भी देखें ।

अथर्व में 'देवरथ' पृ० १६६ अष्टचक्र पृ० १४७ ; १२५

१६—कालमय घोडा रथ

अथर्ववेद १९-५३-१,२

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।१।।

सप्त चक्रान् वहति कालएष सप्तास्य नाभी रमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ।।२।।

अध्याय ६०

१७—द्रविणोदा अग्नि का योग दीप्ति रूप देवरथ

द्रविणोदा द्रविणासो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीलते ॥
(ऋ० वे० १-१५-७)

रायो बुध्न संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुं मन्म साधनो वेः (सूर्यस्य)
(ऋ० वे० १-९६-६)

सतश्च गोपां भवतश्च भूरे र्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।
(ऋ० वे० १-९६-७)

'द्रविणोदाद्रविणसस्तुरसस्य द्रविणोदा सनरस्य प्र यंसत्।'
(ऋ० वे० १-९६-८)

भौतिक ब्रह्म या प्रथम भौतिक दिव्यशरीरी द्रविणोदा ने पूर्व ज्ञान से सब मनुओं सूर्य आदि की सृष्टि की यह बात निम्न ऋचा दे रही है "स पूर्वया निविदा काव्य तायो रिमाःप्रजा अजनयन्मनूनाम् । विवस्वता चक्षसा (सूर्येण) द्यामपश्च....॥" (ऋ० वे० १-९६-२)। इस प्रकार यह द्रविणोदा सर्वप्रथम भौतिक तत्त्व है और भौतिक ब्रह्माण्ड की मणि रूप या तरलतम, प्रकाशमय स्फटिक शिला सम भौतिक आत्मा है। यह भौतिक है, अतः विश्वेदेवों में स्थान पाती है। और जितने विश्वेदेव हैं वे सब द्रविणदानी हैं जैसे

'बृहस्पति अति अदर्यो...... द्रविणं धेहि चित्रम्'

में बृहस्पति द्रविणोदा है। क्रौष्टुकि के मत से इन्द्र भी द्रविणोदा है क्योंकि द्रविण और इन्द्र को ओज का उक्थ्य कहा गया है

"ओजसो जात मुतमन्य एनम्" (ऋ० वे० १०-७३-१०)

इसी द्रविणोदा से चतुर्थ सप्तकीय सोम पीने की भी प्रार्थना की गई है

"तुरीयपात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्रविणोदसः"
(ऋ० वे० २-३७-४)

"सोमं पिब मदसानो गणश्रिभिः" (ऋ० वे० ५-६०-८)

प्राचीन निरुक्तकार शाकपूणि ने लिखा कि 'अयमेवाग्निर्द्रविणोदाः'। प्राचीन ग्रन्थों में अयं इदं एतत् तत् त्यत् शब्द सीधे आत्मा या ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं यह बृहदारण्य ने 'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे सच्चासच्च' के प्रकरण में स्पष्ट कर रखा है। जब ऋ० वे० १-९६-१ 'देवा अग्निं धारयन्द्रविणादाम्' लिखता है तब वह विश्वेदेवों के द्रविण या भौतिक दिव्यशरीर धारण या स्वीकार या प्राप्त करने की सूचना देता है जैसा ऊपर कहा गया है। जब इसे रथ रूप में देखते हैं तब इसे 'बनस्पति' नाम

से इसलिए पुकारते हैं कि यह रथ वाहन रूप योग की सृष्टि है और उस से योग के तत्त्वों की रथ या वाहन वनस्पति या सोम का रथ चलता है, यह योग के उस सृष्टि के बनों का पाता या चालक है, अतः वनस्पति कहलाता है जैसे "मेद्यन्तुते···वनस्पते। द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥" (ऋ० वे० २-३७-३)। यह वनस्पति रूप सोम का ऋतु ऋतु में पृथक् पृथक् स्वरूप में पान या विकास भी करता है। क्योंकि इस अग्नि की उत्पत्ति में सहस् या ओज की आवश्यकता पड़ती है 'यो अश्मनोरग्नि जजान' अतः इसका नाम 'सहसस्पुत्रं', 'सहसः सूनु' या 'सहसो यहु' पड़ा। यह अग्नि अत्रि नामक अग्नि का पुत्र है, अतः इसे ऋषियों का पुत्र और अधिराज भी कहते हैं जैसा कि ब्राह्मणों ने लिखा है 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः'। इसके रथ रूप की चर्चा ऋ० वे० २-३७-५ में और चतुर्थ सप्तक की स्थिति २-३७-४ के 'तुरीयं पात्रं मममृक्तममर्त्यं द्रविणोदा पिबतु द्रविणोदसः' से बिलकुल स्पष्ट है। शेष आगे वनस्पति रथ को देखें। देवरथ भी देखें

अध्याय ६१

१८—वनस्पति रूप सोम दीप्ति का देवरथ

शमिताग्नि रूप वनस्पति देवता का द्रविणोदा अग्नि के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। वास्तव में द्रविण नाम इन्हीं वनस्पति या सोम ज्योति की मणियों का है। इसीलिए ऋ० वे० ३-८-१ में वनस्पति देवता से 'द्रविण' देने की प्रार्थना की गई है जैसे "अञ्जन्ति···। यदूर्ध्वतिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥" इस ऋचा में 'क्षयः' शब्द क्षियतीति क्षयः निवास का वाचक होते हुये 'मातुरस्या उपस्थे' वाक्य के सन्दर्भ से—जिसका अर्थ सूर्यपत्नी भौतिकावरण स्वरूपिणी–स्त्रीपुत्रान्परिष्वक्त शरीरिणी के उपस्थ या मध्यस्थान–दर्शन के तत्त्वों के मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व है—इस वनस्पति देवता को प्रथम भौतिक अणु का वाचक भी सिद्ध कर देता है। और यही ऋचा इसके समर्थन में इसे 'ऊर्ध्वतिष्ठा' अर्थात् पूर्वार्द्ध तिष्ठा उत्तरायण में रहने वाली या पनपने वाली भी सिद्ध कर देती है। इस प्रकार बृहस्पति द्रविणोदा और वनस्पति तीनों सर्वदेवता और विश्वेदेवा स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। ये वनस्पति या ये रथ 'द्रविण को धारण करने वाले हैं, इस बात की पुष्टि निम्न दो ऋचायें भी करती हैं जो वनस्पति को हिरण्यपर्ण नाम से पुकार कर कहती है कि तेरा अर्थ दिव या द्यु है अर्थात् तेरा रथ 'द्यु' है, परन्तु विकास परम्परा रशनाया में जब तुम दक्षिणार्द्धिनी बनती हो तुम ऋत ब्रह्म के मार्ग को रजः युक्त या भौतिकाणु दीप्ति युक्त कर देते हो। ये भौतिकाणु या रजः भी हिरण्यपर्ण दीप्तिमान् द्रविण ही स्वयं हो गये। वास्तव में यहाँ हिरण्यपर्ण शब्द हिरण्यगर्भ रूप वनस्पति या योग रथ का सूचक है, हिरण्यगर्भ ही स्वयं द्रविणगर्भ है। हिरण्यगर्भ या हिरण्यपर्ण रूप वनस्पति देवता के द्रविण के विकास परम्परा का नाम 'रशना' (रथ को रस्सी से खींचना) देते हुए ये दो ऋचायें भौतिक तत्त्व को रजः या पिष्टतमा नाम से पुकारती हैं और कहती हैं कि तुम अमृत नामक त्रिपादामृतों के बारे में हमें बताओ। अर्थात् भौतिक दिव्यशरीर जिन हवियों का प्रदान करने लगा है उसकी चर्चा तुम त्रिपादामृतों से कहो कि वह दैवी प्रवृत्ति से चल रहा है तुम्हें जानना चाहता है या तुम उसे बताओ। "देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णा प्रदिवस्ते अर्थम्। प्रदक्षिणि द्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः॥ वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वह देवत्रादिधिषो हवींषि प्रव दातार ममृतेषु वोचः॥ (तै० सं० ४-१३-७)। अन्त में यह साफ कर देना उचित है कि वनस्पति देवता किसी घास फूस पत्ती पेड़ों का नाम नहीं हैं वरञ्च यह सोम रूप अग्नि का ही नाम है, यह ऋ० वे० की निम्न ऋचा स्पष्टतया कह रही है। और इस अग्नि का नाम शमग्नि या शमिनाग्नि हैं और शम् नामक अग्नि भौतिकाणु की अग्नि है जिसका प्रारम्भ सूर्य से होता है। इस अग्नि को शमग्नि कहते रहे अतः इसके संकेत के लिए शमी या शमिता शब्द का प्रयोग

हुआ तो कर्मकाण्ड में शमी प्रभृति वनस्पति इसका काम करने लगी और इसे वनस्पति देवता भी कहने लगे। जैसे

"उपाव सृजत्मन्यासमञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥"
(ऋ० वे० १०-११०-१०)

इस शमग्नि का प्रारम्भ कमग्नि या कम् ब्रह्म से या अर्कः नामक तत्त्व (बृह० उप० १-१-१) से होता है। इस प्रकार वनस्पति देवता सोम रूप देवता है ऋ० वे० २-३७-४,५ के मन्त्र भी इसे रथ और चतुर्थ सप्तकीय वाहनीय सोम बतलाते हैं। इसीलिए वनस्पति को प्राण नाम से पुकारा है जैसे 'प्राणो वनस्पतिः' (कौ० १२-७) और इसको फिर अग्नि नाम से भी पुकारा गया है जैसे 'अग्निर्वै वनस्पतिः' (कौ० १०-६)। यह वनस्पति देवता वास्तव में देवरथ का वाचक है यह बात निम्न प्रसिद्ध ऋचा पुष्ट और सिद्ध कर देती है जैसे

"वनस्पते ! वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥"
(ऋ० वे० ६-४७-२६)

दिवस्पृथिव्या ... वज्रं हविषा रथं यज ॥२७॥ ६-४७ इन्द्रस्य वज्रो ... देवरथ प्रतिहव्या गृभाय ॥२८॥ ६-४७ इसमें रथ को देवरथ, वज्र, और वनस्पति नाम से सम्बोधित किया गया है (देवरथ देखें) और इसी प्रकार के भाव वाले ऋ० वे० ३-८-१ से ११ तक के सब मन्त्र हैं जिनके ४ थे ५ वें मन्त्र में इस रथ रूप वनस्पति रूप सोम ज्योति के उद्दीपकों या निर्माताओं तक के नाम दे रखे हैं जैसे

"तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥४॥"

"यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वाधितिर्वा ततक्ष।
ते देवासः स्वभ्वस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम् ॥६॥"

इत्यादि को ध्यान से पढ़ लिया जाय।

यजुर्वेद २९-५२,५३,५४ में उक्त ऋचाओं का पूर्ण आशय दिया गया है अथा अन्तिम में इन वनस्पतियों को देवरथ कहते हुए इस रथ को इन्द्र का वज्र, मरुतों का मुख, मित्र का गर्भ और वरुण की नाभि कहा है जैसे

"इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमा नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रति हव्या गृभाय ॥"

अध्याय ६२

आप्रियः देवता

निम्नलिखित देवता आप्रिय देवता कहलाते हैं—जातवेदाः, तनूनपात्, नराशंसः, ईलः; बर्हिः, द्वारः, उषा, उषासानक्ता, दैव्यौ होतारौ, तिस्रो देव्यः, त्वष्टा, स्वाहाकृतिः, वनस्पतिः, प्रयाजा और अनुयाजा। इन सबका वर्णन ऋ० वे० १-१३ सूक्त में एक साथ दिया है।

'आप्रियः' माने होता है जो पूर्ण रूप से प्रीणन या प्रसन्नता का कार्य करता है, "आप्रीभिराप्रीणातीति आप्रियः" (ऐ० ब्रा० २-४)। ये आप्रिय देवता तब कहलाते हैं जब इनको सृष्टि विकास का दूत कहा जाता है जैसे 'अग्निदूतं पुरोदधे हव्यवाहमुत्तरम्' इत्यादि। अतः ये सब दूत रूप हव्यवाह रूप आप्रिय देवता कहलाते हैं। यास्क इन सबका स्थान पृथिवी या यही भूलोक मानते हैं। पर इनमें से एक भी इस पृथिवी भाग का देवता या तत्त्व नहीं है। ये सबके सब मध्यस्थान चतुर्थ सप्तक के देवता हैं। इस स्थान का नाम नृषद्, अब्जा, उर्वी, प्राचीन बर्हिः या बर्हिः, चतुर्थ समुद्र इत्यादि हैं। ये नाम चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का सामूहिक संकेत करने वाले दार्शनिक या वैज्ञानिक हैं।

———

अध्याय ९३

जातवेदाः

आप्रिय देवताओं में सर्वप्रथम नाम जातवेदाः का आता है। जातवेदाः का स्थान तो तृतीय सप्तक द्यु है, दुरोण वासी है, यह बतलाया जा चुका है। जब यह अग्नि यज्ञ या विकास पाकर चतुर्थ सप्तक के मित्र और वरुण (प्रचेता) के रूप में समिद्ध या प्रस्तुत होता है और उस बिन्दु से रात्रि या दक्षिणायन का प्रारम्भ करके उस दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध में उत्तरायण का दूत बनकर नृषद् (या चतुर्थ सप्तक या मनुषो दुरोणे) का वासी बन जाता है तब यह आप्रिय देवता कहलाता है। क्यों कि उक्त वर्णित परिस्थिति रूप विकास परम्परा से वहां अतीव प्रिय सृष्टि, भौतिक दिव्यशरीरी सृष्टि हो जाती है जिसके लिए सभी देवता लालायित होकर तरसते रहे। यही बात निम्न ऋचा देती है

"समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्याजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कवि रसि प्रचेताः॥"

(ऋ० वे० १०-११०-१)

यहाँ का दौत्यकर्म भौतिक सृष्टि की प्रथम प्रिय सूचना देने मात्र से सम्बन्ध रखता है। अतः ऐसी प्रिय सूचना देने वाले को आप्रिय देवता कहते हैं। शाकपूणि इसे केवल अग्नि कहते हैं, कात्थक्य यज्ञेध्म या यज्ञाग्नि। जातवेदाग्नि तो वह अमृताग्नि है जो जन्मजन्मान्तरों में भी नष्ट नहीं होती, नहीं बुझती जैसा कि ऋ० वे० ३-१-२०,२१ में लिखा है

"जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः" (अग्निवाद देखें)

सूर्य तत्त्व इसकी चक्षु है जैसे "चक्षु मित्रस्य वरुणस्याग्नेः" जहाँ-जहाँ सूर्य का वर्णन आता है वहाँ जातवेदा का उल्लेख अवश्य किया है 'सूर्य' शीर्षक देखें।

अध्याय ९४

तनूनपात् और उषा

ऋग्वेद ३-२९-११ में कहा है कि तनूनपात् न तो आज्य है, न गौ, न राय या धन। 'तनूनपात्' नाम गर्भ का है

'तनूनपादुच्यते गर्भः'

यह गर्भ हिरण्यगर्भ की वह स्थिति है जिसे 'उषा' कहते हैं। उषा का ही नाम गर्भ है "ऊल्बं वै उषा" (श० प० ब्रा ७-२-३-११), और ऐ० ब्रा० कहता है यह वह उषा है जिससे समस्त ब्रह्माण्ड प्रवर्तित हुआ जैसे—

"ऊषोहि पोषो असौ लोकइमं लोकमभि पर्यावर्तत ततो वै द्यावापृथिवी अभवताम्।
न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः॥"
(४-४-२७)

यही बात उषा सूक्त ऋ० वे० ७-७६-१ भी कहता है जैसे

"उदुज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥"

इस मन्त्र ने तो चक्षु नामक सूर्य का जन्मदाता भी इसी उषा को बतलाया है, उषा की ज्योतिः अमृत या त्रिपादामृत है विश्वजन्य है जिसका आश्रय सविता देवता लेता है। इस प्रकार यह उषा समस्त भुवनों की निर्मात्री है। जातवेदा के रूप में इसी को महत् स्थविर उल्ब (या गर्भ) कहती हुई ऋचा लिखती है

"महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥"
(१०-५१-१)

हमारा तनूनपात् यही महदुल्बं रूप नाती है। ब्रह्म महत् उल्बं में आपो ब्रह्माणी रहती है। आपो ब्रह्म आदि ब्रह्म है उससे तृतीय पुस्त या सप्तक में इस तनूनपात् का जन्म होता है। यह गर्भ या हिरण्यगर्भ के प्रकाशीय गर्भ का प्रतिनिधि है। यह तनूनपात् और जातवेदा तथा अतिथि तीनों का एक ही सप्तक तृतीय है, जिसे दिव, दुरोण, द्यु और स्वः नाम से पुकारा जाता है। इसमें सात तत्त्व हैं सातों का नाम तनूनपात् भी है उषा भी है। उषा तो दो प्रकार की है प्रातः कालीन और नक्तोषा या सायंकालीन उषा या भौतिक उषा।; प्रथम उक्त सात तत्त्वों की है, सातवें में वह पूषा की जारिणी कहलाती 'स्वसुर्यो जार उच्यते' है, द्वितीय में वह सूर्य की (२५ वें चक्षु की) पत्नी, २६ वें में सविता की पत्नी कहलाती है। उषासानक्ता का वर्णन ऋ० वे० १०-११०-६ में इस प्रकार दिया है

"आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासनक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने॥"

उषासानक्ता शब्द अहोरात्र का वाचक होने से द्विवचनान्त है, अतः दिव्ये योषणे सुरुक्मे बृहती विशेषण दिये हैं, वह शुक्र पिश या शुक्र रूपिणी है और उपाक या समीप में तुम गर्भ रूप में (नियोनौ), लेटी हुई बैठो, तुम भौतिक सृष्टि के लिए भौतिक अणु के परिपाक होने पर लेटे ही विकास पाती हो, (यज्ञविकास)। इसका अधिक स्पष्ट और दार्शनिक विवेचन ऋ० वे० ७-२-६,७ दो मन्त्रों में दिया है इसमें उषासानक्ता को कारु बर्हिषदा मानुषेषु यज्ञेषु मघोनी, जातवेदाः से विकास पाने वाली आदि विशेषण दिये हैं जो चतुर्थ सप्तक नृषद् के सूचक हैं जैसे

"उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सविताय श्रयेताम्॥६॥
विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारुमन्ये वा जातवेदसा यजध्यै इत्यादि॥७॥"

और नक्तोषा से भौतिक सृष्टि के भौतिकाणु रूप तोकं तनयं की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है और कहा गया है कि तुम वाजिनीवती हो या अन्न या भौतिकामृत वाली हो। इसी उषा को, तत्त्वों के पूर्वार्द्ध २५ तत्त्वों में भौतिक तत्त्व के रजो रूप प्रकाश से आदित्यों को उद्दीप्त करने वाली और गाव रूप प्रत्येक आदित्यों की माताओं के समान या प्रत्येक आदित्य रूप गायें ही तुमसे माता रूप में जन्म लेती हैं इत्यादि कहा गया है जैसे—

"उषस्तच्चित्रमभराऽस्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं तनयं च धामहे॥" (ऋ० वे० १-९२-१३)

"एता उ त्या उषस केतुमक्रत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥"
(ऋ० वे० १-९२-१)

शेष मुख्य उदाहरण पहिले दे दिये हैं और इसके सूक्तों में देखें। यह उषा तत्त्व वेदों का बहुत महत्त्वपूर्ण और गम्भीर तत्त्व है। अतः इस पर सैकड़ों वैज्ञानिक दार्शनिक सूक्त लिखे गये हैं। हाँ इसकी वर्णना का आधार लौकिक उषा अवश्य है, उसके बिना ये भाव व्यक्त ही नहीं किये जा सकते। यह तो काव्य का, ध्वनिकाव्य का अपरिहार्य साधन है, लौकिक उषा तो नित नित नई होती है प्रतिदिन जन्म लेती है, पर दार्शनिक उषा तो केवल एक है एक ही बार जन्म लेती है, वह है भौतिकात्मा के अभ्युदय की प्रथम सूचना जिसके तुरन्त पश्चात् भौतिकात्मा सूर्य (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) का पूर्णोदय होता है। यह दार्शनिक सूर्य भी सृष्टि को भौतिकता में लाने के लिए केवल एक ही बार उदित होता है, प्रतिदिन नहीं जैसे

"एक एवाग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥"
(ऋ० वे० ८-५८-२)

यह ऋ० वे० १०-१८७-१८ का उत्तर है, तनूनपात् इसके प्रतिनिधि का वर्णन भी समानान्तर भावनाओं में गुथा हुआ निम्न ऋचा में देखें

"तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥"

(ऋ० वे० १०-११०-२)

अग्नि रूप तनूनपात् सुन्दर जिह्वा से ऋत के विकास (यज्ञ) के मार्गों या श्रेणियों की मधुरिमा का आस्वादन करो। उसी विकास परम्परा को मनमें रखकर हम जिस लौकिक यज्ञ रूप नाटक खेल रहे हैं उसको तदनुरूप सफल करके हमें कृतार्थ करो। हमारी देहात्मा या हमारा दिव्यशरीर तुम्हारी तरह विकासों के मधु का आस्वादन करने वाला बनता रहे, यह भाव है।

अध्याय ६७

नराशंसः

नराशंस नामक तत्त्व को तो सब लोग भली-भाँति भूल गये हैं। इसके मन्त्रों को तो लोग 'अनादिष्ट देवता' तक कहते हैं। कात्थक के मत में यह यज्ञ वाची है, वे कहते हैं मनुष्य इसमें आसीन होकर प्रार्थना वार्तालाप करते हैं, शाकपूणि कहते हैं यह अग्नि का नाम है क्योंकि यह नरों से प्रशंसनीय है। यास्क का अपना कोई मत नहीं (नि० ८-२-३)। वेदों और ब्राह्मणों में इस तत्त्व की पूरी व्याख्या दे रखी है। ऋग्वेद ने स्वयं लिखा है

"तनूनपादुच्यते गर्भं, आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते ॥"

(३-२९-११)

कि नराशंस वह तत्त्व है जो सर्व प्रथम आसुर या देव स्वरूप को धारण करता है। यह आसुर स्वरूप इसलिए कहलाता है कि यह सर्वप्रथम नये रूप में उत्पन्न होता है, यह नया उत्पन्न होने वाला तत्त्व ही तमः स्वर्भानु केतु या रजः या भौतिकाणु रूप में माना जाता है। इसीलिए कहा है 'यद्विजायते'। तै० ब्रा० (२-७-५-२) ने इसीलिए लिखा है 'मनुष्या वै नराशंसः' कि चतुर्थ सप्तक के मनुष्य या नर नामक तत्त्व ही नराशंस हैं। ऐ० ब्रा० ने कहा है 'प्रजा वै नरो वाक् शंसः' (२-४-६-१७,३२)। यही बात श० प० ब्रा० (१-८-२-१२) ने दुहराई है। और नारा शंस इसी की विकृति का नाम है, यह ऐ० ब्रा० (६-१६) ने पुनः स्पष्ट कर दिया है। इनकी गाथा नाराशंसी भौतिकी कहलाती है (तै० १-३-२-६)। इसके पहिले सब सृष्टि दैवी ही दैवी होती है। दैवी सृष्टि तत्त्वों के पूर्वार्द्ध की २४ तत्त्वों की है अमृत है। दक्षिणायन में दैवी और आसुरी सृष्टि का सम्मिश्रण रहते हुए भी प्राधान्य आसुरी का रहता है। यह चतुर्थ सप्तक से आरम्भ होता है। चतुर्थ सप्तक को नृषद्, नरषद् कहते हैं। अतः यहाँ के आसुर या देव तत्त्वों को नराशंस या नर नाम से (आशंस) वाच्य कथनीय कहते है। इस आसुरी भावना पूर्ण सृष्टि के बारे में शतपथ ब्राह्मण १-४-१-११,१२,१३ में एक बड़ी रोचक कथा ही है। "एक वार (परा वाणी के प्रतिनिधि) मन और (अपरा वाणी) भौतिक वाणी में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चली। वे अपने अपने को एक दूसरे से बड़ा कहने लगे। मन ने कहा 'मैं बड़ा कहा जाता हूँ, मन भी कहा जाता हूँ। जो कुछ मैं कहता हूँ वह सब बड़ी और अच्छी बात कहता हूँ। इसलिए मैं तुमसे बड़ा और कल्याणकारी हूँ'। (भौतिकी) वाणी ने कहा कि तुम वह कुछ नहीं कहते जो मैं नहीं जानती, अतः तुम मेरा अनुकरण करके ही बोलते हो, इसलिए मैं ही तुमसे बड़ी और कल्याणकारी हूँ। वाणी ने फिर बात बढ़ा कर कहा, मैं तुमसे इसलिए भी बड़ी और कल्याणकारी हूँ कि जो कुछ तुम जानते हो वह मैं भी जानती हूँ। मैं उसे विज्ञापित करती हूँ और संज्ञापित (सचेत) करती हूँ। तब दोनों

निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति मन ही मन बोले और कहा मन ही तुमसे श्रेष्ठ है और तुम मन के स्वीकार किये मार्ग का अनुसरण करती हो। श्रेयस्कारी की नकल मात्र करने वाला पापीयान् होता है। जब वाणी को इस प्रकार परा या मन से निम्न श्रेणी का बतलाया गया तो उसे आश्चर्य हुआ और उसका गर्भ-पात हो गया। तब वाणी ने प्रजापति से कहा मैं आपके लिए अहव्यवाड् हूँ। इस लिए जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह उपांशु या मानसी वाणी में किया जाता है, भौतिक वाणी भी प्राजापत्य है पर अहव्यवाड् वाणी हैं।' देवता लोग जब वाणी के गर्भपात के रेतः को खोजने लगे तो कहने लगे 'अत्रत्यात्'। इसीसे अत्रि उत्पन्न हुए, उनकी स्त्री आत्रेयी वाणी से अन्य देवता उत्पन्न हुए।' इसका तात्पर्य यह है कि दैवी वाणी का नाम उपांशु वाणी या मन है और अहव्यवाड् वाणी ऊँचे स्वर वाली भौतिकी वाणी है। ऐतरेय ब्राह्मण (२-१-७) ने इसी बात को अधिक स्पष्टतया और सबके समझने योग्य भाषा में लिखकर लेखक को कल्पना करने के भार से मुक्त कर दिया है। "स यदि कीर्तयेत् उपांशुः कीर्तयेत् तिर इव वा एतद्वाचो यदुपांशुः तिर इवैवत्। यद्रक्षांसि अथ यदुच्चैः कीर्तयेत्। ईश्वरो ह्यस्य वाचो रक्षो-भाषो जनितोर्योऽयं राक्षसीं वाचं वदति यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाङ् नात्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्तः आजायते॥" अर्थात् देवताओं के लिए उपांशु या मानसिक वाणी में बोलना चाहिए। जो ऊँचे स्वर में बोला जाता है वह राक्षसी या आसुरी वाणी है, उसे बोलने में ऐसे दो तत्त्वों उन्माद और दर्प दोनों का समावेश हो जाता है जो आत्मा के धर्म नहीं हैं। इस राक्षसी या आसुरी वाणी के तत्त्वों का नाम नराशंस है। क्योंकि यह नराशंस वाणी चतुर्थ सप्तक के नर नामक देव रूप तत्त्वों या देवों की आशंसनीय कथनीय या वाच्य वाणी है। यह नराशंस वाणी परा वाणी हैं, मन की या उपांशु वाणी त्रिपादामृत की प्रथम तीन सप्तकों के तत्त्वों या देवों की उपांशु ध्वनि है जिसका समाहार ॐ ध्वनि उपांशु रूप मात्र की है। परा या आसुरी वाणी में भौतिकता आ जाने से इसमें स्वभावतः दर्प और उन्माद जैसी भौतिकी भावना का समावेश हो जाता है जिसके लिए त्रिपादामृत की तीन वाणियों–मन की वाणियों में–तूष्णीं उपांशु अंशु में–कोई कारण (भौतिकता) है ही नहीं। इन्हीं त्रिपादामृत की वाणियों को

'तिस्रो वाचो ईरयन्ति प्रवह्नि धीतमम्'

इत्यादि ऋचा तीन वाणियों के नाम से पुकारती है और

"चत्वारिवाग्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"

में चार वाणियों में से इन्हीं तीनों को गुहा या त्रिपादामृत के तीन पादों में निहित बतलाया है जिसके रहस्य को केवल मनीषि ब्राह्मण वेदवेत्ता ही जानते हैं यह भी इसी में लिखा है। और साथ में जिसे यहाँ पर तुरीय वाणी के नाम से पुकारा है उसे भी सब नहीं जानते, वेदवेत्ता ही जान सकते हैं यह भी यहीं लिखा है। यह

तुरीय वाणी गुहा के बाद चतुर्थ सप्तक के नर तत्त्वों की वाच्य वाणी है। अतः इसे यहाँ नराशंस शब्द के स्थान में 'मनुष्या वदन्ति' कहा है। यह 'मनुष्या वदन्ति' शब्द शुद्ध रूप से 'नराशंस' शब्द का ही सुन्दर अनुवाद है। यह चतुर्थ वाणी परा है यह बतलाया जा चुका है, पर यह परा वाणी राक्षसी या आसुरी है, यह बात ध्यान से न उतारी जाय। यहां आसुरी वाणी माने भी केवल दैवी भौतिकी वाणी ही मात्र जानना चाहिए। यह भौतिकी वाणी भी हम आप जैसों की नहीं वरञ्च भौतिकात्मा सोमात्मा दिव्यशरीर की ही समझनी चाहिए। यह भी विदित रहे कि उक्त वाणी चारों पदों की वाणी अग्नि या विद्युत् स्वरूपिणी है, मधुविद्युत्स्वरूपिणी हैं।

आजकल कई वेद व्याख्याता उत्तरकालीन उपनिषदों के दिए हुए वाणी के चार भेद परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी को ही उक्त वाणी के चार पद मानने की भूल करते हैं। वाणी के 'चत्वारिवाग्परिमिता पदानि' में जो चार भेद हैं उनमें से परा नाम की केवल चतुर्थ पद की वाणी है शेष 'गुहा त्रीणि निहिता' वाली और 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' वाली तीन वाणियाँ इस परा से भी बहुत बहुत सूक्ष्म या आत्मीय या मानसिक वाणियाँ हैं अभौतिक वाणियाँ है। उपनिषदों की सब वाणियाँ—परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी—भौतिकी है। जहाँ पर वैदिक वाणियाँ समाप्त करती हैं (परा आसुरी में) वहीं से उपनिषद्कार आरम्भ करते हैं। अतः 'चत्वारि वाग्परिमिता' के चार पदों या वाणियों का उपनिषदों की चार वाणियों में आकाश पाताल का अन्तर है। वैदिक वाणियाँ दर्शन के तत्त्वों के उत्तरायण, पूर्वार्द्ध की व्याख्या करते हैं तो उपनिषदों की चार कथित वाणियाँ दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध के चार पदों की। वैदिकों के नर या मनुष्य तो हैं 'नृषद्' सप्तक (चतुर्थ) के तत्त्व जिन्हें नराशंस कहते हैं, उपनिपद्कारों की चौथी वाणी वैखरी को इस भूलोक के नर या मनुष्य बोलते हैं। एक देवताओं या तत्त्वों की वाणी की व्याख्या करते हैं तो दूसरे कोरे असुरों या राक्षसों की जिन्हें मनुष्य या नर भी कहते हैं क्योंकि यह सारी प्रजा आसुरी है।

अब उक्त विश्लेषण को नराशंस देवता या तत्त्व के मन्त्र पर घटित कीजिए। "नराशंसस्य महिमानमुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः। ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धा स्वदन्ति देवा उभयानि हव्याः॥" (ऋ० वे० ७-२-२)। मन्त्र कहता है कि हम उस नराशंस देवता के माहात्म्य को यज्ञ में गाते हैं जो क्रतु से उत्पन्न होते हैं (क्रतु २४ वें तत्त्व का उत्तरार्द्ध तत्त्व है) जो दैवी बुद्धि को धारण करते हैं और दोनों प्रकार की हवियों का—दैवी आसुरी का—आध्यात्मिकी त्रिपादामृती और भौतिकात्मा की भौतिकता का आस्वादन करते हैं। 'धी' नाम उस तत्त्व का है जिसे सांख्य वाले बुद्धिः प्रकृतिः कहते हैं जो भौतिकता का सर्वप्रथम स्वरूप है पर उसका भी शुचि स्वरूप दिव्य शरीर है जिसे नराशंस कहते हैं इसीलिए यहाँ 'नराशंस' के लिए 'शुचयो धियन्धा' शब्द का वैज्ञानिक विशेषण दिया है। इसका जन्म अत्रि २४ वें तत्त्व के उत्तरार्द्ध से जिसे क्रतु कहते हैं—होता है। अतः नराशंस को 'सुक्रतवः' या क्रतु तत्त्व के शुद्ध

भौतिक स्वरूप कहा गया है। यहाँ पर यास्क का दिया हुआ 'उभयानि' शब्द का अर्थ 'सोम और दूसरे' या 'तान्त्राणि चावापि कानि–तन्त्र जन्त्र–बेकार हैं, नासमझी की खींचा-तानी हैं, हाँ वे 'सुक्रतव' माने भी सुकर्माण लिखकर अपनी पोल खोल गये हैं कि वे क्रतु तत्त्व को बिलकुल नहीं जानते। इसीलिए उभयानि का वैसा अर्थ दे गये। 'धी' शब्द को भी वे अपनी जैसी बुद्धि का सूचक समझ गये। इसका स्थान नृषद् है, पृथिवी या यह भूलोक नहीं है यह ध्यान रहे। ऋ० वे० १-१२६ सूक्त ने नाराशंस नाम के कई राजाओं के नाम देकर उनका अलग अलग तत्त्वों से तादात्म्य कर रहस्य बना रखा है। जैसे मन्त्र एक में राजा सवानतूर्त को समुद्र में रहने वाला कहकर उसे भौतिक तत्त्व के सागर का वासी या भौतिक तत्त्व कहा है। मन्त्र दो में कक्षीवान् को स्वर्ग से असुर के सैकड़ों अश्वों को छीन लाते कहा है। श्यावा और दशरथों के नाम भी इसके द्वन्द्व में सम्मिलित किए गये हैं। यहीं यादुरी (यदु) वंश और भोज नामक राजाओं को सम्मिलित किया है। यहीं गान्धारी भी आ जाती है। सारा युद्ध भौतिक और अभौतिक तत्त्वों के बीच का है जिसमें इस ऐतिहासिक राजाओं के युद्ध का खोल या पर्दा चढ़ा दिया गया है। नारा शंस चतुर्थ सप्तक के मुख्य तत्त्वों का नाम है जिनके वर्णन का आधार उक्त राजाओं का लौकिक या ऐतिहासिक युद्ध बताया गया है, इनको पितृ सूक्त में पितरों में गिनाया है जैसे

"अग्निष्वातानृतुमतो हवामहे नराशंसे सोमपीथं स आशुः"

(यजुः १९-५९)

इससे स्पष्ट है कि 'नराशंस' पितर हैं और नाराशंस उनके प्रतीक रूप बहुत प्राचीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक पितर और प्रशंसनीय आर्य भी हैं।

अध्याय ९६

ईल

ईल नामक देवता नराशंस का जोड़ीदार है। २४ वें तत्त्व में चार तत्त्व होते हैं क्योंकि यह चतुर्थपाद या चतुष्पात् है (१) अत्रि (२) दक्ष या मित्र (३) क्रतु या वरुण (४) चक्षु या सूर्य। इनमें से नराशंस, क्रतु या वरुण का प्रतिनिधि है तो ईल, दक्ष या मित्र का। जिस प्रकार नराशंस को असुर कहा गया है उसी प्रकार इस ईल देवता को भी असुर बतलाया गया है। क्योंकि ये सब तत्त्व अब भौतिकता के पूर्वाभास रूप में आगये हैं अतः असुर कहलाते हैं। इसके वर्णन में ऋ० वे० स्वयं लिखता है

"इलेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम्।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम॥
सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु प्रवृञ्जते नमसा बर्हि रग्नौ।
आजुह्वाना घृतपृष्ठं पृषद्वदध्वर्यवो हविषा मर्जयध्वम्॥
स्वध्यो वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता।
पूर्वीशिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्॥"

(७-२-३,४,५)

"आजुह्वान इड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥"

(ऋ० वे० १०-११०-३)

लिखा है "हे ईल तुम नराशंस के प्रतिपक्ष रूप दूसरे असुर हो (प्राणमय भौतिक हो) और तुम सुदक्ष या दक्ष के प्रतिनिधि हो, तुम द्यावाभूमी चारों सप्तकों (रोदसी) की दूत रूप सत्य वाणी, भौतिकी वाणी हो। तुम्हें मनु (अत्रि) ने मनुष्य नामक नर नामक अग्नि रूप में प्रदीप्त किया या विकसित किया जिसके अभिनय (अध्वर) के लिए इस नृषद् की महिमा गाते हैं। हम उसी का यज्ञ कर रहे हैं। अपने विकास से पोषित और अभिवृद्ध होकर जब आप बर्हि नामक आसन्दी में अग्नि रूप में प्रगट होते हो तब भौतिकात्मा रूप ज्ञानियों को विदित हो जाते हो। तब तुम घृतपृष्ठ नामक तृतीय सप्तक की अग्नि का आह्वान या प्रज्वलन करके भौतिक आत्माओं या अध्वर्यु लोगों में प्राणों का (पृषद्) संचार कर देते हो, वे हवि से विकास से तुम्हारा वर्धन करते हैं सुतीक्ष्ण या स्वच्छ दीप्ति का बना देते हैं। तुम सुगमतया ध्यायमान हो, साथ रहते हुए भी बहुत दूर से तिरोहित से रहते हो। तुममें दैवी गुण छिपे हैं। तुम रथ वाले (तृतीय सप्तक के सात और तीन चतुर्थ सप्तक के

तत्त्व रथ कहलाते हैं) हाँ देवताओं के गुण रूप तन्तुओं से सन्नद्ध हो। तुम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों के शिशु रूप हो, तुम्हें दैवी गुण वाली माता, पुत्रवत् प्यार करती हैं तुम अग्रगामी अग्र विकासीय हो, इन समानताओं से तुम्हें नहीं आँका जा सकता, तुम अवर्णनीय हो ॥ "तुम पूज्य हो वन्दनीय हो, तुम वसुओं के वित्त के साथ अग्नि रूप में आओ, और इस भौतिकात्मा का आस्वादन करो, तुम देवताओं के महान् होता यज्ञ कर्ता (दक्ष जैसे) हो, तुम हमारी भौतिकात्माओं को ऐसे ही यज्ञ विकास लाने की शक्ति प्रदान करते रहो।" इस अर्थ से ईल देवता की व्याख्या स्वयं स्पष्ट हो जाती है। इसका स्थान भी नृषद् है, यह भूलोक या पृथिवी नहीं।

अध्याय ६७

बर्हिः

बर्हिः नाम केशों या कुशा रूप प्राणों या इनके बने आसन या आसन्दी का है। यह आसन या आसन्दी आत्माओं या त्रिपादामृतों की है। प्रजा पशु और ओषधि का नाम भी बर्हि है (ऐ० ब्रा० २-४, ५-२८; श० प० ब्रा० १-५-२-१६)। "शर द्वै बर्हि रिति हि शरद्बर्हिर्वा ओषधयो ग्रीष्म हेमन्तानां नियुक्ता भवन्ति ता वर्षासु वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णं शेरे तस्माच्छरद्बर्हिः"। (श० प० ब्रा० १-४-४-१२) के अनुसार बर्हिः नाम शरद् का है जिसको पु० सू० 'हविः' नाम से पुकारता है। इसी को श० प० ब्रा० सोम कहता है (हविर्धाने देखें)। यह चतुर्थ सप्तक का तत्त्व है। त्रिपादामृतों को प्राचीन बर्हिः कहते हैं और उत्तरार्द्धीय तत्त्वों को केवल बर्हिः या आसन या आसन्दी। उत्तरार्द्धीय की बर्हिः रूप आसन्दी या आसन भौतिकात्मा का है। जिसे दूसरे ढंग से तमः, केतुः, स्वर्भानु या भौतिकात्मा कहते हैं या दिव्य शरीर कहते हैं उसी को उक्त त्रिपादामृतों का दिव्य शरीर रूप भौतिकात्मा का आसन आसन्दी या बर्हि कहते हैं। पुरुष सूक्त में इस बर्हि को विराया नहीं

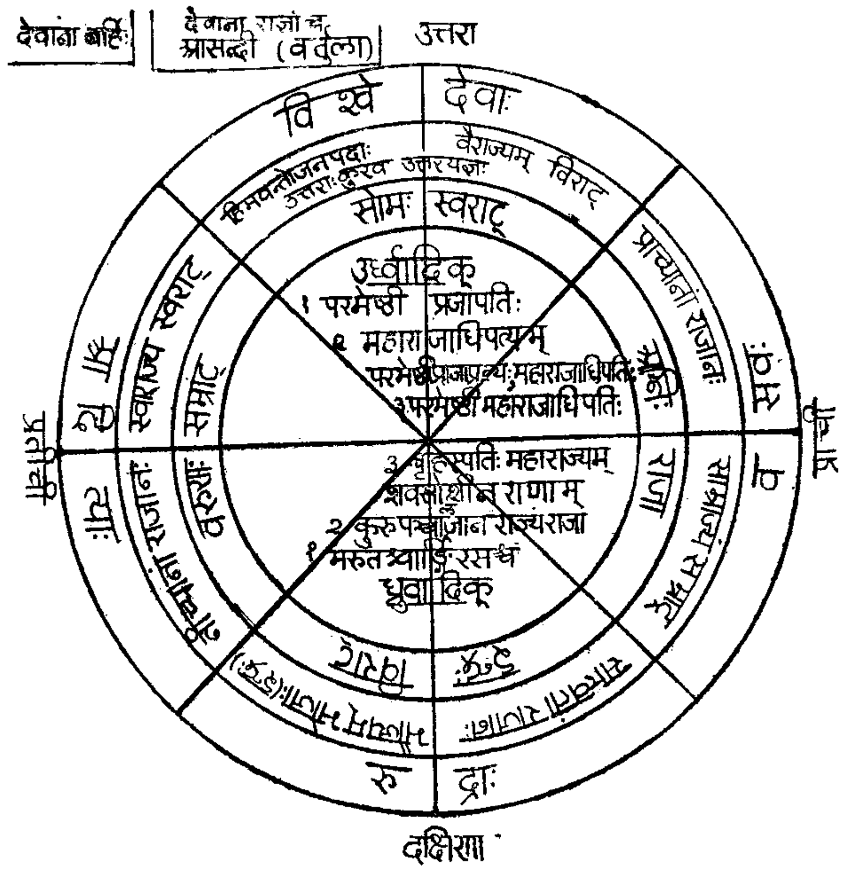

है। उसने लिखा है "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षान् पुरुषं जातमग्रतः।" यज्ञ या क्रतु नामक तत्त्व को उस बर्हि नामक अग्नि रूप आसन या भौतिकात्मा में झोंका गया।

यह तत्त्व वही भौतिकात्मा है। इसको निम्न दो ऋचायें पारिभाषिक पदों के प्रयोग से स्वयं प्रमाणित कर देती है

"प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनाम्॥"
(ऋ० वे० १०-११०-४)

"आयाह्यग्ने समिधानो अर्वाङ्ङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥"
(ऋ० वे० ७-२-११)

इन दोनों ऋचाओं में 'अग्रे अह्नाम्' और 'अर्वाङ्' शब्द संकेतक हैं। तत्त्वों के दिन का प्रारम्भ २५ वें सूर्य से होता है। और इन बर्हि को दिन के उरः या हृदय से निकला कहकर प्रथम प्रथम विकास के स्थान में निर्धारित किया है। उस समय का तत्त्व वही भौतिकात्मा दिव्य शरीर होता है। इसकी पुष्टि में दूसरी ऋचा

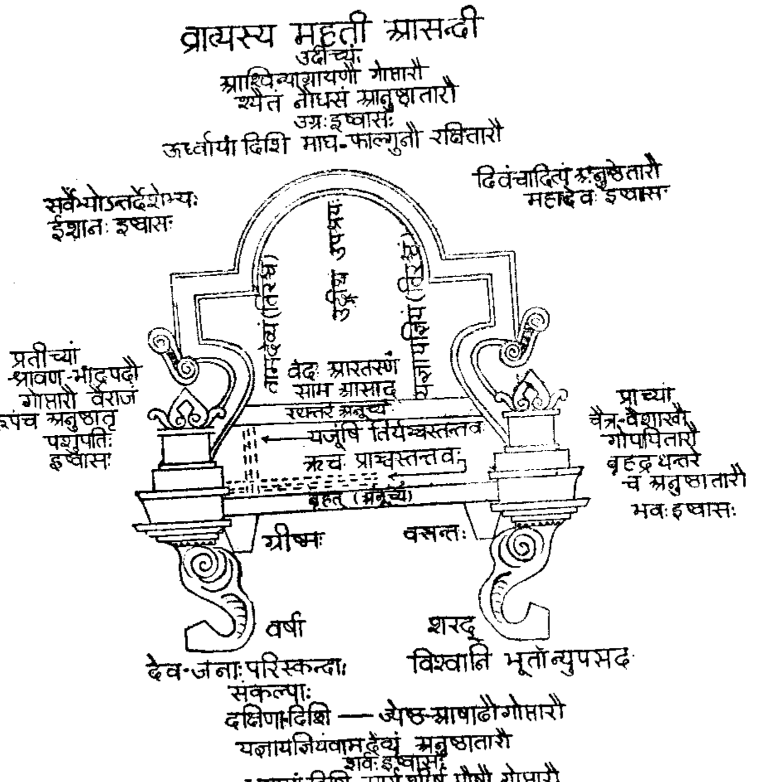

(द्वारो देवी)

'अर्वाङ्' दक्षिणायन का संकेत करती है। दक्षिणायन भी इसी तत्त्व से प्रारम्भ होता है। इसमें बर्हिः को अदिति का पुत्र कहा है, अदिति अपने सुपुत्र रूप बर्हिः की गोद में आसन में बैठकर भाग्यवती बने, जिससे देवता भी भौतिकात्मा पाकर सुखी होवें, इसीलिए इसे 'देवेभ्यो वरीयः' सब देवताओं से बढ़कर माना जाना सर्वत्र विस्तृत रूप से प्रख्यात बताया गया है, और इससे पृथिवी की दिशा में बसने की प्रार्थना की गई है। पृथिवी की दिशा माने पृथिवी की तरह आधार बनने वाला

भौतिकात्मा है। दूसरी ऋचा में उसी बर्हिः रूप भौतिकात्मा से समुज्ज्वलित या विकसित होते हुए इन्द्र की विकास परम्परा से उत्तरार्द्ध में रथ सहित दिव्यशरीर रूप में प्रस्तुत हो जाने की प्रार्थना की गई है जिसमें अदिति माता उसकी गोद में सी बैठ कर सुपुत्रा होने का दावा भर सके, और त्रिपादामृतीय देवता और आदि वाणी रूप (वाग्धेनु का प्रथम स्तन रूप) स्वाहा दिव्यशरीर पाकर आनन्द की लहरों में झूलने लगे' यह कहा गया है। इसका नाम 'प्राचीन बर्हिः' इसीलिए रखा गया है कि यह त्रिपादों का सर्वादि भौतिक आसन या सर्व प्रथम आधार है। और यह कल्पना बहुत प्राचीन या पुरानी है। इस बर्हिः में वैश्वानर को 'प्रीणानः' या प्रसन्न कहा गया है जैसे "प्राग्नयेः···। भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मती-नाम्।।" (ऋ० वे० ७-१३-१)। इसी बर्हि में आसीन पितरों को वर्हिषदः पितरः कहते हैं जैसे

'बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्'

(ऋ० ये० १०-१५-४)

देवताओं की यह प्राचीन बर्हि कहलाती है

"बर्हि प्राचीनमोजसा" (ऋ० वे० ९-५-४)

और बर्हि नाम अग्नि का तो है ही साथ में सभी देवताओं का एक नाम 'बर्हि-मुख' भी है यह तो सभी जानते होंगे। पूर्वार्द्धीय तत्त्वों को प्राचीन बर्हि तब कहते हैं जब वे इस भौतिक बर्हि में स्थान पाते हैं या भौतिकात्मा को धारण करते हैं, तब इन्हें बर्हिषद् भी कहा जाता है, उत्तरार्द्धीय तत्त्व बर्हि हैं आसन हैं और प्राचीन या पूर्वार्द्धीयों की यह बर्हि है। मास रूपी पितरों का नाम बर्हिषद् है (तै० १-६-८-३)

वेदों और ब्राह्मणों ने इस बर्हिः का, आसन्दी रूप में वर्णन कई ढंग से कर रखा है। कहीं पर दिशाओं के नाम से इस बर्हिः में आसादित देवताओं का वर्णन दिया है तो कहीं अथर्व की तरह इसे आसन्दी मानकर इस पर व्रात्य पुरुष को आसीन करके, आसन्दी के अंगों में देवताओं को घटित किया है जैसे अथर्व कहता है (१५-१-३ पूरा)। "इस आसन्दी के दो पाँव ग्रीष्म और वसन्त बने, दो पाँव वर्षा और शरद्। ये प्रथम चार सप्तक चार पाँव (पिछले अगले) बन गये। बृहत् और रथन्तर उन पाँवों को अटकाने या जोड़ने के अनूच्य या सीधे डंडे बने, यज्ञिया-यज्ञिय (दैवासुरी) और वामदेव्य (ब्राह्म) तिरश्च या तिरछे डंडे। अब बैठने के आसन को बुनने के लिए ऋचायें (पूर्वार्द्ध के अक्षर, ४,३२,००,००,००० अक्षर) (तिर्यञ्च) बाने वाले तन्तु या सूत बने। उस बुने आसन में एक गद्दी और डाली गई। यह गद्दी वेदी वेदों की बनी, वेद=ऋग् यजुः साम और अथर्व—क्रमसे प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ सप्तक की गद्दी बनी। और ब्रह्म स्वयं इसका उपवर्ह या तकिया बना। उस गद्दी पर एक पीठ का आधार भी बना, वह सामवेद की संगीत लहरी के आसाद और उद्गीथ के (उपश्रय रूप) आधार बनाये गये। तब उसमें व्रात्य (अक्षर ब्रह्म, ८,६४,००,००,००० अक्षरों का व्रात या व्रात्य) या वैदिक दर्शन की मूर्ति स्थापित हो गई या की गई।" यही अर्थ 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जात

मग्रतः' (पु० सू०) का भी है। यह तो है चतुष्कोणी आसन्दी, वैसे कर्मकाण्ड और वेदों ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में वर्तुला आसन्दी का वर्णन अधिक आता है, स्थल स्थल पर आता है। इसमें वैदिक दर्शन के मुख्य तत्त्वों या देवताओं को उस वर्तुलाकार आसन्दी के चारों ओर आठों दिशाओं में स्थापित किया जाता है, ब्रह्म को ऊर्ध्वाधः का स्थान देते हैं। उसे दिशा सम्बन्धी आसन्दी कहना चाहिए।* एक और आसन्दी है जिसमें वैदिक काल के राजाओं को वैदिक दर्शन के तत्त्वों में ढाल कर प्रत्येक का स्थान तत्कालीन महाराजाधिराज और दर्शन के तत्त्वों के महत्वानुकूल दिया है जैसे :—ऐ० ब्रा० ८-३-१४,१७,१९, इत्यादि। बर्हिः शब्द के अर्थ का इतिहास और व्युत्पत्ति पुरुष सूक्त के सातवें मन्त्र में दी गई है।

अध्याय ९८

द्वारो देवी

द्वार नाम यहाँ पर उसी भौतिकात्मा की प्राप्ति का प्रथम द्वार है। जिस प्रकार यज्ञमण्डप या घर का द्वार होता है उसी प्रकार अभौतिक तत्त्वों के भौतिकतामय यज्ञ-मण्डप में प्रवेश पाने के प्रथम प्रवेशीय देहली या तत्त्व का नाम द्वार है। वास्तव में यह द्वार नाम 'योनि' नामक तत्त्व का सभ्य नाम है। यज्ञ सृष्टि रचना का है, उसी का मण्डप बनने वाला है, सबसे पहिले द्वार का पता लग गया है शेष को भीतर प्रवेश करके आगे बढ़ के(विकास में) पाते जायेंगे। यह बात निम्न ऋचा स्वयं कह रही है।

"व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहती विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥"
(ऋ० वे० १०-११०-५)

कि तुम द्वार रूप देवी हो, बृहती हो या बृहती छन्द रूप ३६ तत्त्व की विभु व्यापक देवी हो, विश्व या भौतिक ब्रह्माण्ड में परिणत होने वाली (मिन्वा) हो, अतः देवताओं या तत्त्वों के लिए सुगमतया विकास पाने योग्य बनो, इस कार्य के लिए तुम अधिक विस्तीर्ण हो ही, क्योंकि तुम तो उरु नामक तृतीय सप्तक के अमृत तत्त्वों से उत्पन्न हुई उर्विया उत्तरार्द्धीय पृथिवी (उर्वोर्जाता उर्विया) हो 'ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीत्' ऋचा से तृतीय सप्तक, 'उरु' कहलाता है या तुम ऊर्ण नाभि के समान रचना करने वाली हो 'उर्णोती उर्वी' तुम उसी प्रकार अपने पति या पूर्व तत्त्वों को भौतिकात्मा में आश्रय लेने दो, जैसे पतिः दिनभर परिश्रम के बाद पत्नी के पास या अपने घर* में, सुख-शान्ति भोजनादि के साथ साथ विश्राम या आश्रय लेता है। ('न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते')। पर यास्क का दिया अर्थ

'पतिभ्य इव जाया ऊरू मैथुने धर्मे शुशोभिषमाणाः'

अश्लील और असामाजिक है। कात्थक्य इस द्वार को यज्ञ का द्वार समझते हैं तो शाकपूणि 'अग्नि'। पर 'द्वार' शब्द स्वयं इस बात का प्रमाण है कि यह अग्निरूप द्वार—द्रवीभूत द्रवनशील, वारणशील (शत्रुरूप) आवरण रूप वृर्णोतिरूप व्यापक रूप भौतिकात्मा है रसमय, रसाग्निमय दिव्यशरीर का प्रथम स्वरूप है। क्योंकि इसे विश्वमिन्वा कहा है, विश्व शब्द नित्य रूप से भौतिक तत्त्वों के लिए ही वेदों में प्रयुक्त हुआ है, यह बात सदा ध्यान में बैठी रहे। विष्णु का नाम 'द्वारपः' है 'विष्णुर्वै देवानां द्वारपः' यह द्वार नाम अमावस्या का है और चन्द्रमा को द्वार पिधान कहा है (श० प० ब्रा० ११-१-१०-१)

---

* त्रीणि शता त्रीणि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतै रस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥" (ऋ०वे०१०-५२-६)

अध्याय ६६

होतारौ दैव्यौ

दैव्यौ होतारौ दो देवियाँ दैवी और आसुरी वाणियाँ हैं जिनकी चर्चा 'नराशंस' देवता की व्याख्या में की जा चुकी है। इनसे प्रार्थना की गई है कि तुम प्रथमा या दैवी वाणी या मानसिक वाणी या त्रिपादामृतीय वाणी का अनुसरण अनुकरण (मिमाना) करती हुई (जैसा कि मन और वाणी के विग्रह में दिया है) मनुष्य यज्ञ या चतुर्थ सप्तक के नृषद् तत्त्वों के प्रसवन के लिए, अपने कार्यों या विकासों में उस प्राचीन ज्योति रूप मन की वाणी की विचार धारा को इन प्रसवनों में कारु कवि की तरह सूक्ष्म रूप से प्रयुक्त करती (हुई) रहो।

'कारु रहं भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो अनु गा इव तस्थिमेन्द्रयेन्दो परि श्रवः ॥'
(ऋ० वे० ९-११२-३)

नामक ऋचा सोम को 'कारु' बतलाती है, और विश्वामित्र ऋ० वे० ३-३३-१० में कारु शब्द का प्रयोग विपाट् शुतुद्री नाम की इसी स्थान की नदियों के लिए करते हैं। इसीलिए यहाँ विदथेषु कारु 'प्राचीनं ज्योतिः प्रचोदयन्ता, कारुः प्राचीन ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता' भाव दिया है। पूरा मन्त्र यह है

"दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिनाना यज्ञं मनुषो यजध्वै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥"
(ऋ० वे० १०-११०-७)

ऋ० वे० १-१३-८ में भी इसका वर्णन है। इसमें इन्हें सुन्दर या प्राणमय जिह्वा या मुख वाली कहा गया।

अध्याय १००

तिस्रो देवीः

तिस्रो देवीः तीन देवियों इडा (इला) सरस्वती और भारती का एक नाम है जिनमें इला ईल की पत्नी सरस्वती पूषा की तृतीय विकास श्रेणी सरस्वती को पूष्णा कहा गया है 'सरस्वत्यै पूष्णे' और भारती मही या भौतिक तत्त्व रूप माता मही की प्रतिनिधि है। भरत नाम वेदों में भौतिक अग्नि का है वशिष्ठ विश्वामित्र युद्ध में

'दण्डा इवेद्गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः'

(ऋ० वे० ७-३३-६)

मन्त्र से जिन भरत अर्भकों को 'परिच्छिन्ना आसन्' तितर-वितर हो गये कहा है वे इसी भौतिक तत्त्व रूप भरतों का रहस्य से संकेत करते हैं। भरत माने अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा है भारत माने अखिल ब्रह्माण्ड ज्ञानमय ब्रह्माण्ड। हमारे देश का नाम इसीलिए ज्ञानमय भौतिक ब्रह्माण्ड का संकेतक 'भरत' रखा गया था, भरत नाम की एक आर्य जाति भी थी, उसके नाम में भी रहस्य ठूसा गया है। उक्त तीनों देवियों के सम्बन्ध में निम्न तीन ऋचायें मिलती हैं, जो इन पर पर्य्याप्त प्रकाश डाल देती हैं।

(१) "होता यक्षत् तिस्रा देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती।
भारती महीः इन्द्रपत्नी हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥"

(यजुः २८-८)

(२) "आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हि रेदं सदन्तु॥"

(ऋ० वे० ७-२-८)

(३) "आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवी र्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥"

(ऋ० वे० १०-११०-८)

सबसे पहिली बात, जो इनके स्थान निर्धारण में सहायक है वह है द्वितीय तृतीय मन्त्र में आया 'बर्हि रेदं सदन्तु' वाक्य कि ये इस बर्हिः में आसीन हों। अतः वे चतुर्थ सप्तक की बर्हिः स्थानीय स्वयं सिद्ध हो जाती हैं, और द्वितीय मन्त्र ने 'अर्वाक्' शब्द का प्रयोग भी दक्षिणायन के लिए कर दिया है, जिससे उक्त कथन पूर्णतः पुष्ट हो जाता है। तीसरी बात यह है कि तृतीय मन्त्र इनसे मनुष्वदग्नि को चेतन करने के लिए कह रहा है। यह मनुष्वदग्नि भी नृषद् नामक चतुर्थ सप्तक की ही अग्नि है जिस बात को द्वितीय मन्त्र 'दैवैर्मनुष्येभि रग्निः, सारस्वतेभिरर्वाक्'

शब्दों के रहस्य से पुष्ट करता है कि ये अग्नि रूप वाणियाँ दैवी मानुषी सरस्वती नाम की अर्वाक् दक्षिणायन की बर्हिः में बैठें। सबसे प्रथम ऋचा इनको 'त्रयः भेषजं' और 'त्रिधातवः' कहती है। ये तीन प्रथम तीन सप्तकों के विकास रूप भेषज या त्रिधातु या त्रिपादामृत वाली हैं, अब अपस या कर्म रूप द्रवरूप वैद्युतीय रूप अग्नियों का स्वरूप धारण करके भौतिकात्मा की त्रिधातुता को या त्रिभेषजता को या त्रिपादामृतता को सुरक्षित करती हैं। चौथी बात इस मन्त्र में भारती को मही महीयसी पार्थिव नाम से पुकारा गया है और इसी नाम से इन सबको इन्द्रपत्नी की श्रेणी या नाम से पुकार कर हविष्मती या विकासवती होने की प्रार्थना की गई है। यहाँ का होता 'द्विपाद् यजमानः' के अनुसार जीवात्मा है। वेदि नामक द्वितीय सप्तक का 'होता' अग्नि है 'होता वेदिषद्'। सरस्वती का तो स्वतन्त्र सूक्त ऋ० वे० ६-६१ है उसे देखें। यहाँ भी इसे 'त्रिषधस्था' आदि नामों से पुकारा गया है, और कई दार्शनिक बातें तो है हीं। सरस्वती पञ्चपर्वा विद्या का एक मुख्य अंग है वहाँ भी देखें। ऐ० ब्रा० (२-४) ने लिखा है कि ये तीन देवियाँ प्राण अपान और व्यान हैं जैसे—"प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः।" ये देवियाँ भौतिक तत्त्व रूप सिंह (स्वर्भानु सिंहिका पुत्र सेंहकेय) के आसन में बैठती हैं यह ऋ० वे० १-९५-५ के 'सिंहं प्रति जोषयेते' वाक्य वाले मन्त्र से स्वयं स्पष्ट है (त्वष्टा देखें)।

अध्याय १०१

त्वष्टा

त्वष्टा के पुत्र का नाम त्रिशीर्षा है। त्रिशीर्षा के तीन सिर और छह् आखें थीं, इसीको विश्वरूप त्वाष्ट्र नाम से पुकारते हैं जिसका वर्णन ऋ० वे० १०-९९-६ ने दिया है

"स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन् षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितोन्वोजसा वृधाना विपा वराहमयो अग्रया हन्॥"

*इस त्रिशीर्षा के तीन सिर वही त्रिपादामृत है, उसकी छै आँखें तृतीयपाद के शेष छै तत्त्व हैं। तृतीयपाद में कुल सात तत्त्व होते हैं। इसमें जो आसुरी भावना थी उसका इन्द्र ने दमन किया, पर उस आसुरी भावना से त्वष्टा उत्पन्न हो गया। इस त्वष्टा को सुदक्ष कहकर, दक्ष नामक तत्त्व (२४ वें के द्वितीय भाग) का विकास बतलाया है जैसे

"तन्नस्तुरीपयधः पोषयित्नु देवत्वष्ट विंरराणः स्यस्व।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्त ग्रावा जायते देवकामः॥"

(ऋ० वे० ७-२-९)

यहाँ इस त्वष्टा को पोषयित्नु या पूषा का पोषणशीलधर्मी चतुर्थपादीय भी स्पष्टत कहा है और युक्त ग्रावा या चतुर्थ सप्तकीय भौतिक पर्वत की स्फटिक शिला युक्त भी कहा है, अतः इसे देवताओं या तत्त्वों के विकास के योग्य (देव कामः) भी बतलाया है और अधः तुरीयं शब्द दक्षिणायन के वाचक हैं। इसलिए त्वष्टा का स्थान निश्चय पूर्वक चतुर्थ सप्तक हो जाता है, यह सूर्य के तमः केतुः स्वर्भानु का स्फटिकशिला सम स्वरूप है और इसीलिए सूर्य को ताक्ष्र्य या त्वष्टा नाम से ही कहा जाता है (ताक्ष्र्यस्त्वष्टा)। त्वष्टा शब्द त्विष् कान्ति वाचक है, अतः स्फटिक शिला-सम भौतिकात्मा का प्रतीक माना गया है। इसी भौतिकात्मा की शिला से यह ब्रह्माण्ड का त्वक्षण तक्षण निर्माण करता है या तूर्ण अशन या परिवर्तन भी करता रहता है। यह अन्नाद भी है! इसी त्वष्टा का पुत्र वृत्र है। 'त्वाष्टोऽसुरः (वृत्र) इत्येतिहासिकाः' (यास्क)। शतपथ ब्राह्मण ने इन्द्र और त्रिशीर्षा के युद्ध का वर्णन बड़ी लम्बी कथा में १-५-३-१ से १७ तक और ५-४-६-२ से ८ तक दिया है त्वष्टा के

---

* ऋ० वे० १०-८-८,९

"स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुद्धचत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मि जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः॥
भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजो अवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्।
त्वाष्ट्रस्यचित्वर्द्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राण स्त्रीणिशीर्षा परा वर्क्॥"

पुत्र को त्रिशिरा कहते हैं, उसके तीन सिर छह आखें थी, वह प्रत्येक मुख से क्रम से सोम सुरा और अन्य वस्तु खाता था। इन्द्र ने उसके तीनों सिर काट डाले, सोम मुख वभ्रु, सुरामुख बक और तीसरा तित्तिर वना–वह विश्वरूप घृतस्तोका मधुस्तोका बना। त्वष्टा को क्रोध आया सोम चुराकर ले गया, इन्द्र ने द्रोणकलश के शेष शुक्र को पीकर उसका वध किया—त्वष्टा के अंग अंग से सोम निकला (मुख से नहीं निकला)। उसको इन्द्र ने पी लिया—त्वष्टा को फिर क्रोध आया। वह स्वयं यज्ञ बन गया—उसने द्रोण कलश को 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' कहकर वदलना चाहा पर स्वरभंग से वह इन्द्र को मिला—तब देवताओं की जीत हुई—अब भी जो शेष रह गया 'स यद्वर्तमानः' वह त्वष्टा वृत्र बन गया। वह मलमय था अपाद था अतः अहि कहलाया—दनु ने पाला तो दानव कहलाया। वृत्र ने 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्व' कहा तो वह विजयी बना। अतः वह शत्रु है (वृत्र त्रिशिरा त्वष्टा देखें)। इस त्वष्टा ने अखिल ब्रह्माण्ड को रूप या भौतिक स्वरूप दिया, यह बात सर्वत्र दी और लिखी गई है जैसे

"य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥"

(ऋ० वे० १०-११०-९)

कि अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मा रूप जनित्री या जनयित्री तो द्यावापृथिवी या त्रिपादामृत हैं गुहा है गायत्री है ये तो मूल तीन आत्मायें हैं, पर इनको रूप देने का कार्य या भौतिकात्मा में सम्बद्ध सन्नद्ध संगठित करने का काम केवल यही त्वष्टा करता है जिस रूप या भौतिकता देने की शक्ति से इसने अखिल भुवनों सातों सप्तकों को विश्व या भौतिकता का आवरण पहिना दिया* आज हे होत! उसी श्रद्धा और यज्ञ के योग्य त्वष्टा देव के यज्ञ को कर रहे हो, तुम बड़े ज्ञानी हो। इसी बात की पुष्टि निम्न ऋचा और अच्छे ढंग से कर रही है।

"आविष्ट्यो वर्द्धते चारुरासु जिह्मावामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥"

(ऋ० वे० १-९५-५)

इस ऋचा का तत्वानुकूल अर्थ केवल यही दिया जाने वाला अर्थ हो सकता है :—"यह त्वष्टा रूप भौतिक तत्त्व की स्फटिकशिला सम तरलतम द्रव्य आविर्भूत (आविष्ट्यः) होते ही चारु या चरु या चराचर रूप में (आसु) शीघ्र या आसुर रूप में बढ़ने लगता है, यह जिह्म नामक या अहि नामक वृत्रादि के ऊर्ध्व में आदि में, पहिले, (स्वयशा) अपने भौतिकात्मा स्वरूप में उपस्थ या मध्यस्थान (तत्त्वों के मध्य स्थान २५ वें तत्त्व) में प्रादुर्भूत होता है। 'यस्यिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' 'यस्य नाम महद्यशः'। इसके उत्पन्न होते ही उभे रात और दिन (अहोरात्र) तत्त्वों

* पू० सू० (यजुर्वेद) के

"तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्व मा जानमग्रे"

से तुलना कीजिए

के पूर्वार्द्ध और दक्षिणार्द्ध के सब तत्त्व भयभीत हो गये, कि न जाने अब इस ब्रह्माण्ड को कैसा स्वरूप मिले। और यह त्वष्टा प्रतीची दिशा या सूर्योदय २५ वें तत्त्व के स्थान में सिंह (राशि) में उदीयमान आसीन होकर सिंह के समान गरजने लगा (जोषयेते) ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य देवों के लिए कहा है 'वृषभो रोरवीति' 'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' इत्यादि। यह सिंह रूप भौतिकात्मा ही महाकाली का वाहनीय सिंह है। महाकाली वाग्ब्रह्माणी का रौद्र रूप है। इस भौतिकात्मा का जन्म भाद्रपद सिंह के मास की लोलार्क षष्ठी के दिन इसी सिंह स्वरूप में हुआ जिसकी अब तक पुराणों और पञ्चाङ्गों में कङ्कालीय रेखा मात्र रह गई है। इसीलिए ज्योतिष में सूर्य की राशि भी सिंह मानी गई है। दर्शन के पचास तत्त्वों में से पूरे अहोरात्र में १२, १२ महीने होते हैं, पूर्वार्द्ध में बारह महीने, उत्तरार्द्ध में भी बारह महीने। अतः प्रत्येक मास २ तत्त्वों का ३० अंशों का होता है एक एक तत्त्व एक पक्ष या १५ दिन का है। अतः उत्तरार्द्ध में २४ वें २५ वें के ३० अंश बीतने पर एक महीना हो गया। राशियाँ पूरे पचास तत्त्वों में बारह ही होती है जिसमें २५ वाँ तत्त्व कर्क रेखा या अयन में विषुवत् रेखा है, अतः उसके आगे सूर्य, सिंह में आजाता है। सूर्य छटा आदित्य है अतः इस त्वष्टा रूप लौल्यायमान भौतिक तत्त्व को लोलार्कषष्ठी के दिन भाद्रपद में माना जाता है। इसी बात को अन्यत्र ऋ० वे० में 'चित्रामघा सिंह' कहा है, यह मघा सिंह का तत्त्व चित्र या विश्वरूप है। अतः हमारे सब ज्ञान विज्ञान वैदिक है और वैदिक दर्शन के रहस्यों से भरपूर भरे हैं यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। त्वष्टा जिस 'रूप' का निर्माता है उस 'रूप' तत्त्व का उदय उत्तरार्द्ध के आरम्भ में अश्विनी से होता है "श्रीश्चतेलक्ष्मी···· रूपमश्विनौ व्यात्तम्" और 'त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म च' (बृह० उप० देखें)।

त्वष्टा के चार रूप हैं (१) त्वष्टा असुर ऐतिहासिक व्यक्ति जो वैदिक दर्शन के इस तत्त्व के रहस्य का खोल है (२) प्रथम भौतिक तत्त्व (३) इस भौतिक तत्त्व को वाहन रूप में तार्क्ष्य रूप में देखना (४) सविता का अमर्त्य प्रकाशमान दैवी भौतिक स्वरूप। प्रथम भौतिक तत्त्व रूप त्वष्टा वही है जिसका वर्णन पिछले परिच्छेद में दे दिया गया है। यह अमृत भौतिकात्मा है, सूर्य से सर्वप्रथम अपः या विद्युत्स्वरूप में प्रकाश रूप में ही प्रस्तुत होता है। सविता में दोनों प्रकार की भौतिकात्मायें हैं, अमृत और मर्त्य (निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्मयेन सविता रथेन)। त्वष्टा के अमृत स्वरूप भौतिकात्मा का स्वरूप सूर्य की ज्योति के समान बतलाने वाली ऋचा यह है

"सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषाऽऽपस्ततान।
सहस्रसाः शतशा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥"

(ऋ० वे० १०-१७८-३)

इसने पञ्चपशु के बीजभूत अपः रूप भौतिकात्मा को सूर्य की ज्योति की तरह फैला दिया। उस ज्योति की गति सैकड़ों हजारों (या दोनों मिलकर लाखों,

४३२०००० से तात्पर्य है) प्रकार की है सबके बीज वाली है। उसको देवता लोग उसी प्रकार अपनाते हैं जैसे "कटाक्षशर वाली युवती को।" इसी को जब देववाहन रूप में या देवताओं के दिव्यशरीर रूप में या देवताओं के रथ रूप में वर्णित करते हैं तब इसे अरिष्टनेमिः (रथ) तार्क्ष्य, और भौतिकान्नमय या भौतिकशरीर (वाजिनं) या देवप्रिय (देवजूत); या देवरथ को सहावान या सहन शील, धारण या वाहन समर्थ तथा तरु तारवान् वृक्ष की तारतम्यता से सदा आगे अधिकाधिक विकसित होने वाला, युद्ध क्षेत्र में अपराजेय (अमृत होने से) कहते हैं। उसका हम कल्याण के लिए यहाँ आह्वान या स्मरण ध्यान करते हैं।

"त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥"

(१०-१७८-१)

त्वष्टा की उक्त ज्योति का नाम त्वाष्ट्री सरण्यू कह कर इसे त्वष्टा की पुत्री रूप में वर्णित किया है। इसका विवाह भी उसी सूर्य से, उसे विवस्वान् नाम से पुकार कर किया गया है। यहाँ सूर्य का नाम विवस्वान् इसलिए पड़ा है कि यह दिन का उदय करता है। "अहोरात्रे विवास्ते तेन वस्ते इति विवस्वान्" (श० प० ब्रा० १०-५-२-३)। अन्यथा विवस्वानादित्य तो मनु है २७ वाँ पुरुष पशु है उसी से यमयमी का जन्म होता है। सूर्य रूप विवस्वान् से 'अश्विनौ' का जन्म होता है। जब सरण्यू अश्व रूप में प्राण रूप में परिणत होती है, तब विवस्वान् सूर्य भी अश्व रूप (प्राण रूप) में ही पीछे लगा तो अश्विनौ उत्पन्न हुए। यह कथा अश्विनौ नाम के समर्थन के लिए गढ़ी हुई प्रतीत होती है। जब उक्त त्वष्टा का अधिक विकास हो जाता है घनान्धकार हो जाता है तब वह वृत्र कहलाता है, ऐसे परिवर्द्धित स्वरूप भौतिकात्मा सहित सविता को उसके अमृत भौतिकात्मा युक्तत्व की दृष्टि से या त्वष्टा रूप भौतिकात्मा सहित मानकर 'त्वष्टा' ही नाम से पुकारा गया है जैसे

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥"

(ऋ० वे० ३-५५-१९)

यहाँ पर सविता को उक्त त्वाष्ट्रीय अमृत भौतिकात्मता युक्त होने से 'असुर' शब्द से पुकारा गया है। इस ऋचा का पूरा अर्थ भौतिकता युक्त त्वष्टा पर ही घटित हो रहा है। यही देवताओं की असुरता की समानता या एकता या एकरूपता कहलाती है। शाकपूणि ने त्वष्टा को माध्यमिक देवता और मध्यस्थानीय देवता 'समाम्नात' है कहा है और इसको अग्नि स्वरूप माना है। यहाँ 'समाम्नात' शब्द से पता चलता है कि यह पुराना मत है जिसे शाकपूणि उद्धृत कर रहे हैं, यास्क उसीको तद्वत् दे रहे हैं। प्राचीन मत या वैदिक दर्शन के मत में त्वष्टा का स्थान दर्शन के तत्त्वों के मध्य २५ वें में पड़ता है, अतः यहाँ शाकपूणि पुरानी श्रुति को ठीक दे रहे हैं "माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातोऽग्निरिति" शाक

पूणिः (नि० ८-२-१४)। त्वष्टा को वाक् नाम से पुकारा गया है 'वाग्वै त्वष्टा वाग्वीदं सर्वं ताष्टीव' (ऐ० २-४)। त्वष्टा को समिधों का पति भी कहा गया है 'त्वष्टः समिधां पते' (तै० ३-११-४-१)। त्वष्टा सिक्त रेतः को विकृत करता है 'त्वष्टा वै रेतः विकृतं करोति' (कौ० ३-९ श० प० १-९-२-१०)। इन्द्र का नाम भी त्वष्टा है ऋ० वे० १-१२-९; ऐ० ६-१०)। त्वष्टा के पशु है, त्वष्टा रूप का स्वामी है। त्वष्टा के ही रचे रूप हैं, यह सबने लिखा है (श० प० ब्रा० २-२-३-४)। मध्यस्थान तो द्यु स्थान से बहुत नीचे महः स्थान या नृषद्, सप्तक चतुर्थ है। इन्द्र और त्वष्टा के युद्ध का इतिहास श० प० ब्रा० ने १-५-३-१ से १७ और ५-४-६-२ से ८ तक में दिया है। त्वष्टा ने इन्द्र का वज्र बनाया 'त्वष्टा त्वष्टद् वज्रम्' (ऋ० वे० १-६१) यह वज्र भौतिक तत्त्व ही है। वृत्र इसी का अंश है।

अध्याय १०२

स्वाहा

'स्वाहा' तत्त्व की व्याख्या 'सु असु आदि' शीर्षक में दे दी गई है। 'सु' नाम प्राणों का है; जो तत्त्व अखिल ब्रह्माण्ड के सु (प्राणों) को आहृत (आहारतीति) करता है, उस प्रलय स्वरूपी आदि ब्रह्म का नाम स्वाहा है। ये प्राण वाग्ब्रह्म रूप हैं जिन्हें वैदिकों ने वाग्धेनु के रूप में वर्णित किया है

"देवीं वाचमजनमन्त देवा स्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
स नो मद्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वाग् अस्मानुपसुष्टुतैतु॥"

(ऋ० वे० ८-१००-११)

बृहदारण्यक ने इस वाग्धेनु के चार स्तन बतलाये हैं, स्वाहा वषट्कार हन्तकार और स्वधाकार। ये क्रम से प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ सप्तक की वाणियों की प्रतिनिधियाँ हैं।

"वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारो
वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारश्च।
तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च,
हन्तकारं मनुष्या स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राणाः ऋषभः मनो वत्सः ?"

(२-५-४-८)

'स्वाहा' देवताओं की तृप्ति का या दैवी वाणी का प्रतीक रूप आदि की अग्नि है। यास्क जी अग्नि नाम से इसे इस भूलोक में घसीट लाये हैं। पर ब्रह्म का स्थान भी सर्वोच्च स्वर्ग या द्यु से तीन लोक ऊपर होते हुए भी 'भू' नाम से पुकारा जाता है। इसी भूः नाम ने सब वेद व्याख्याताओं को यास्क से लेकर अब तक सबको ठग दिया है और बुरी तरह से। निम्न ऋचा इसका पक्का प्रमाण है जैसे

"सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हवि रदन्तु देवाः॥"

(ऋ० वे० १०-११०-११)

इसमें स्पष्ट लिखा है कि यह स्वाहा नाम की अग्नि सब देवता या तत्त्वों की पुरोगा या सबका अग्रणी या आदि का है, इसी ने यज्ञ या विकासीय कः और कम् नामक देवों या तत्त्वों का निर्माण किया। यह स्वयं परिपाक से सृष्टि काल में सद्यः तुरन्त प्रादुर्भूत हो गया। यहाँ होता शुद्ध बुद्ध ब्रह्म है उसी की दिशा या अनुकूल चलने वाली इस ऋत वाणी (अभौतिक वाणी) रूप स्वाहा या प्राणों को देवता या तत्त्व विकास में अनुस्वादित करते रहें या उससे सम्पन्न होते आगे आगे विकास में प्रकाश पाते चलें। स्वाहा नाम हेमन्त ऋतु का है। पुरुष सूक्त 'वसन्तोऽस्यामीदाज्यं' देखें। अन्न का नाम भी स्वाहाकार है (श० प० ब्रा० ९-१-१-१३) स्वाहाकार अनिरुक्त है यज्ञ है यज्ञान्त है (श० श० २-३-१-३, ३-१-३-२७, १-५-३-१६)।

अध्याय १०२

प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा

सृष्टि और योग दोनों यज्ञ हैं। इसके कर्त्ता शरीर या ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म तत्त्व या देवता है। उन्हीं यज्ञों के कर्त्ता देवताओं या तत्त्वों को कभी कभी प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा नामों से उसी प्रकार पुकारा जाता है जैसे इनके कर्त्ताओं और द्रव्य यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा आदि नामों से पुकारा जाता है। वेदों में यज्ञ शब्द और यज्ञ कर्त्ताओं के नाम तथा यज्ञविधि का वर्णन प्रशस्त रूप में उपलब्ध होते हैं। निम्न ऋचाओं में प्रयाजा और अनुयाजा शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त हुए हैं, इसे कोई मना नहीं कर सकता जैसे—

"प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्तभागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥
तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥"
(ऋ० वे० १०-५१-८,९)

यहाँ पर प्रयाजा अनुयाजा और उनकी ऊर्जस्वान् हवि को अग्नि का ही बतलाया है। इन कर्त्ताओं को विभिन्न स्थानों या सन्दर्भों में आपः अन्तरिक्ष घृत सोम ओषधि; प्रजापति पुरुष और दीर्घायु नामों से पुकारा गया है। विशेष करके दर्श पूर्णमास यज्ञ में समिधः (प्राणा), तनूनपात् (अग्नि), इडा (नाड़ी), बर्हिः और स्वाहा इन पाँचों को प्रयाजा नाम से घोषित किया है। कहीं इनकी संख्या छन्दाक्षरों के अनुसार ९ या ११ (प्रयाजा दी हैं), दर्श पूर्णमास यज्ञ से तीन अनुयाजा होते हैं जिनके नाम बर्हिः नराशंस और स्विष्टकृत् हैं। कहीं कहीं इनकी संख्या भी छन्दाक्षरों के अनुसार ९ या ११ दी गई है जैसा कि प्रयाजों के बारे में किया गया है। ऐ० ब्रा० (२-१८) और श० प० ब्रा० (६-२-३-४) ने ३३ देवताओं में से प्रथम ११ को प्रयाजा, द्वितीय ११ को अनुयाजा और तृतीय ११ को उपयाजा नाम से पुकारा है। इनमें से अन्तिम ११ को 'सोमपाः' 'पशु भाजनाः' पदवी भी है दी। इनका उदय उषा २३ वें तत्त्व के होता है। यह मत सबसे उत्तम है। इसी मत को श० प० के ११-१-६ पूरे ब्राह्मण ने पूर्वोक्त उद्धृत ऋचाओं के अनुकूल वर्णित करते हुए लिखा है कि प्रजापति के प्रथमोच्चरित 'भूर्भुवः स्वः' के पाँच अक्षरों में से पाँच ऋतु रूप प्रयाजा बने, उसके अवाङ् प्राण से असुर बने। इन दोनों के लिए अहोरात्र बने जिसको संवत्सर कहते हैं। इसके चार अधिदेवता...अग्नि इन्द्र सोम आपः परमेष्ठी हैं। आपः से प्राण, इन्द्र से वाणी, अग्निसोमौ से अन्न और अन्नाद जिसमें पाँच देवता और बन गये। ये भौतिक हैं, इनमें भौतिक द्यौ अन्तरिक्ष पृथिवी और आपः बने। ये ११ हो गये जिनमें से पाँच तो प्रयाजा हैं, तीन भूर्भुवः स्वः

अनुयाजा। अहोरात्रे या देवासुर ये दो आज्य भाग और स्विष्टकृत् कहलाते हैं। यह बताया जा चुका है कि 'यज्' का अर्थ विकास है। सारा सृष्टि क्रम एक यज्ञ या विकास क्रम है। इस सृष्टि यज्ञ का कर्त्ता प्रजापति है या अक्षर ब्रह्म या बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है, होता ब्रह्म होता है, समिध जातवेदा है वैश्वानर इन्द्र सोम सविता आदि प्रयाजा अनुयाजा और उद्गाता हैं तथा अश्विनौ अध्वर्यु। ऋ० वे० (१०-५२-२,४) के मन्त्र इस बात की पुष्टि में लिखते हैं—

"अहं होता यजीयान् विश्वेदेवा मरुतो मा जुनन्ति।
अहरहरश्विनाध्यर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम्॥
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्।
अग्निर्विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥"

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लिखा है

"आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः" "छन्दांसि वै प्रयाजा छन्दांसि अनुयाजाः" "ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः" "प्राणा वै प्रयाजा प्राणा अनुयाजाः" "आत्मा वै प्रयाजा आत्मा अनुयाजाः"। इन सब प्रमाणों का आशय यह है कि वैदिक मन्त्र रहस्य की खाने हैं, इनमें आभ्यन्तर दर्शन है, आत्मानुभूति ब्रह्मानुभूति का कथारूप विश्लेषण या विवेचन है। यहाँ संकेतित प्रयायानुयाजोपयाजा आभ्यन्तर योग या सृष्टि यज्ञ के पात्र या तत्त्व या देवता रूप पुरोहित हैं जिनकी नकल बाह्य या द्रव्य यज्ञों में नाटक के समान की जाती रही।

आप्रिय देवताओं में से प्रत्येक का स्थान पृथक् पृथक् विभाग में पड़ता है। वे स्थान द्यौः या भूः, अन्तरिक्ष (वेदि पूर्वा) भुवः या स्वः या दिवः और महः या समुद्रः इत्यादि है। आसन या आसन्दी की अवान्तर दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं को पत्नी संयाजा नाम से पुकारा जाता है। पञ्चप्राणों को भी प्रयाजा कहते हैं। सूर्य सोम (चक्षुषी) को आज्यभाग और अवाङ् प्राण को स्विष्टकृत् भी कहते हैं। 'त्रीणि शिश्नानि' को 'त्रयोऽनुयाजा' 'द्वौ बाहू' द्वौ ऊरू' को भी पत्नी संयाजा की संज्ञा दी गई है। ये सब पुरुष रूप प्रजापति के अङ्ग रूप प्रयाजा प्रभृति हैं। इनमें से त्रीणि शिश्नानि या तीन लिङ्ग त्रिपादामृत हैं, अस्थि (सोम) याज्यनुवाक है, मांस भौतिक वृत्र) हविः है। ये सब सोलह आहुतियाँ षोडशकल ब्रह्म की हैं (श० प० ब्रा० ११-६-२६ से ३५ तक)।

अध्याय १०४

मारुतीयाश्वः-दधिक्रा

दधिक्रा नाम मारुतीय अश्व का है। अश्व की व्याख्या अश्वमेध और अश्व तथा 'सु असु श्वा अश्वा' आदि तीन शीर्षकों में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है। दधिक्रा या 'दधिक्रावत्' नाम उन प्राणों या अश्वों का है जिनको मित्रावरुणौ तत्त्वों के द्वारा भौतिकता रूप वाहन का स्वरूप मिल जाता है। इसीलिए लिखा है कि मित्रावरुणौ ने हमें दधिक्रा नामक अश्व प्रदान किया जैसे

"दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम्।"

(४-३९-५)

अश्व पाँच प्रकार के हैं मारुत्वतीय=दधिक्रा, गान्धर्व=वाजी, असुर= अर्वा, दैव=हयः, मानुष्या=अश्वः, (बृह० उप० १-१-१)। इस दधिक्रा तत्त्व के तीन मुख्य सूक्त मिलते हैं (ऋ० वे० ४-३८, ४-३९ और ४-४०)। इसका उदय उषा के उदय के साथ साथ होता है। उषा का उदय मित्रावरुण से पूर्णरूप से हो जाता है इसीलिए लिखा है

"यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेन सजोषाः॥"

(४-३९-३)

इस दधिक्रा ने पञ्चकृष्टि पञ्चभौतिकात्मक पशुओं को सूर्य की किरणों की तरह विकसित किया

"आ दधिक्रा शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥"

(४-३८-१०)

दधिक्रावन्, इष, ऊर्जः महः आदि नाम मरुतों या मातरिश्वा प्राण वायुओं के हैं जिनका विकास हरियोजन इन्द्र जातवेदा तथा मित्रावरुण से होता है जैसे

"दधिक्राव्ण इष उर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।
स्वस्तये वरुणं मित्राग्निं हवामहे इन्द्र वज्रबाहुम्॥"

(ऋ० वे० ४-३९-४)

दधिक्रावन् के सूक्त में सर्व प्रसिद्ध मन्त्र

"दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णो रश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखाकरत्प्राण आयुँषि तारिषत्॥"

(४-३९-६)

है। इसका अर्थ सोद्धरण 'अश्वमेध' शीर्षक में दे दिया गया है सारांश यह है "जब उक्त प्रकार के दधिक्रावन् नामक भौतिकात्मा रूप वाहन का—जो विष्णु प्राणवान् और अन्नवान् था, प्रादुर्भाव हुआ तो सबके मुख में प्राणों का सञ्चार (सुरभि-घृतं) हो गया, साथ से प्रत्येक की आयुः भी पूर्ण की गई या पार लगा दी गई (आयु ही घृत या प्राण है)। प्रत्येक को प्राण और जीवन दोनों दान एक साथ मिल गये। इस दधिक्रा के द्वारा यज्ञ का (विकास का) विस्तार हुआ अतः इसे 'क्रतुप्रा' या क्रतु का पालक लिखा है

'महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः' 'इन्द्र मिवेदुभयेविह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः'
(ऋ० वे० ४-३९-२,५)

इस यज्ञ कर्मक दधिक्रा को २५ वें २६ वें तत्त्व रूप ग्रीवा में बाध कर रखने पर भी बहुत तेजी से इधर उधर भटकता या विकास पाता है, यह ऋतु नामक २४ वें तत्त्व का अनुसरण करते हुए अग्रिम अङ्कित विकासों को पार कर लेता है

"उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि।
ऋतुं दधिक्रा अनुसन्तवीत्वत्पथामङ्कास्यन्वापनीफणत्॥"
(ऋ० वे० ४-४०-४)

यजुर्वेद का वाजी गान्धर्व अश्व है (९-१६) इसी अश्व का या दधिक्रा का वर्णन देता है। इस ऋ० वे० के सूक्त का अत्यन्त रहस्यमय मन्त्र 'हंसः शुचिषद्' आदि सूर्योपस्थानीय मन्त्र है। यह दधिक्रा को सूर्य रूप अश्व सिद्ध कर देता है। यह मन्त्र तो पूरे वैदिक दर्शन का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है।

———— —

अध्याय १०५

अश्व, शकुनि, कपिञ्जल, मण्डूक, अक्षाः ग्रावाण, राजा और राज्योपकरण (दुन्दुभिः इषुधिः हस्तघ्न अभीषु ज्या, इषु, अश्वाजनि, उलूखल मुसल)

अश्वः

यह चतुर्थ सप्तकीय मनुष्य तत्त्वों का अश्व है जिसकी व्याख्या 'अश्वमेध' और 'सु असु इत्यादि' शीर्षक में दी जा चुकी है। अश्व नाम प्राणों का है, वैदिक यज्ञ में प्रयुक्त घोड़े के पुजारी कदापि नहीं थे। वे इसे प्रतीक बनाकर उस प्राण रूप ब्रह्मा का अभिनय करके आत्मरञ्जन करते थे या वर्णना से आत्मरञ्जन करते थे, जिसके यज्ञ विधान द्वारा लोगों का मनोरञ्जन भी होता रहा। यास्क ने यज्ञ की व्याख्या का जो मन्त्र दिया है वह पवमान सोम की व्याख्या करता है (९-११२-४)। क्योंकि इसी मन्त्र में इस अश्व को इन्दो या इन्दु शब्द के सम्बोधन से पुकारा गया है और इसे इसकी अनुरूपता के लिए वारिन् (जलमय) और मण्डूक (जलमय जलजीव) कहा है; शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ शब्द इसकी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के भेद वाला अक्षरों की विश्वरूपता का संकेत करते हैं, और इसे (देव) रथ का वहन करने वाला या त्रिपादामृत (रूप रथ) को सुख से ढोने वाला या धारण करने वाला, हसन या ज्योतियों का उपमन्त्री या मुख्य कार्यवाहक रूप दिव्य शरीर कहा है जैसे

"अश्वा वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छति इन्द्रायेन्दो परि-स्रव ॥"

यज्ञ का घोड़ा पृथिवी वासी हो सकता है वेदों का अश्व तो आदि ब्रह्म और उसके ५० विकास रूप तत्त्वों का नाम है यहाँ सोम या इन्दु का। अश्व का वैदिक वर्णन ऋ० वे० १-१६३-१० में मिलता है।

इस अश्व की महिमा ऋ० वे० १-१६३ सूक्त में विस्तार पूर्वक दी गई है।

"यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन् ॥ १ ॥

यमेन दत्तं त्रितएनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतिष्ठ ॥ २ ॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ ३ ॥

त्रीणि ते आहुर्दिविबन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा ते आहुः परमं जानत्रम् ॥ ४ ॥

इत्यादि में 'अम्बे अम्बिके···ससत्यश्वक काम्पील वासिनिम्' वाला आदि ब्रह्म रूप प्राणाश्व है। इसी की इतनी अद्भुत महिमा गाई गई है। पूरा सूक्त पढ़ने योग्य है।

जै० ब्रा० (२-१२९) ने अश्व को ३४ वें तत्त्व रूप प्रजापति बतलाया है। इसी अश्व को सोम या 'दधिका' नाम से पुकारते हैं। इस दधिका की महिमा ४-३९, ४-४० ऋ० वे० में गाई गई है। इसे 'आप कक्षं आसनि' और 'श्येनस्येवध्रजतो' इसी लिए कहा गया है, यह श्येनसम चतुर्थ सप्तकी से उत्पन्न है।

———

अध्याय १०६

मानः

यास्क ने जिस ऋचा को यहाँ 'मानः' नामक देवता के विवेचन के लिए उद्धृत किया है उसमें 'मानो' या 'मानः' शब्द नहीं है। यहाँ पर 'मा+नः' दो शब्द हैं, उन्हें बिना ऐसे माने हुए इस ऋचा के 'परिख्यन्' धातु का अर्थ ही नहीं बैठ सकता। और प्रायः सभी ऋग्वेद की पुस्तकों में पाठ 'मा, नो' पृथक्-पृथक् दो शब्दों में है। प्रायः मन्त्र के आदि में ये दो शब्द पृथक्-पृथक् ही आये हैं जैसे 'मा, नः समस्य दूढ्य' (८-७५-९) 'मा, नोऽहिर्बुध्नो' (७-३४-४) 'मा, नो मघेव' (ऋ० वे० १-१०४-५) 'मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो' इत्यादि प्रसिद्ध है (१-११४-८)। ऐसी कुल ऋचायें ऋग्वेद में ४१ हैं। यास्क का दिया हुआ यहाँ का मन्त्र ऋ० वे० १-१६२-१ तो वाजसनेय संहिता शुक्लयजु २५-२४ में, और तैत्तिरीय संहिता ४-६-८-१ में दो पृथक् शब्दों में ही मिलता है। जैसे

"मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देव जातस्य सप्तेः प्रवक्षामो विदथे वार्याणि ॥"

इस ऋचा में तो सोम नामक सप्तिः या अश्व या वाहन का वर्णन है। ऋषि कहते हैं कि जब हम देवजात या त्रिपादामृतजात वाजिनः अन्न की (सोम की) प्रार्थना करते हैं (जो देववाहन सप्ति रूप है) तब हे मित्र! वरुण! अर्यमा! (सूर्यः) आयुः (रुद्रः) इन्द्र! ऋभुक्षाः! और मरुत! आप लोग हमसे (नः) नाराज न हो। मा परिख्यन् वेदों में मान नाम का कोई देवता नहीं मिलता।

अध्याय १०७

शकुनिः

शकुनि नाम तो सीधे सीधे 'सुपर्ण' का प्रतिनिधि है, यह १० वाँ हारियोजन इन्द्र है। यह सुपर्ण सोम है। भौतिक शब्दायमान है, 'शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं' की जगह 'शक्नोति नेतुं वोढु मात्मानः त्रिपादात्मानः यः सः शकुनिः', 'शक्नोति नदितुं भौतिकशरीराच्छब्दयितुं' व्युत्पत्तियां या निरुक्तियाँ इस सुपर्णेन्द्र के अनुकूल हैं। 'सर्वतः तकितुं या सर्वतः शंकरोऽस्तु वा शक्नोते' व्यर्थ की व्युत्पत्तियाँ हैं घसीट कर कुछ अर्थ इनसे निकाल लिया जा सकता है। शकुनिः शब्द का सीधा लक्ष 'शकुन' शुभ लक्षण या चिह्न से है 'शं करोतीति शकुनिः' व्युत्पत्ति पक्षी अर्थ में अच्छी है। इसीलिए इसका नाम इस सूक्त में भद्रवादी (ऋ० वे० २-४२-२) पुण्यमावद, भद्रमावद (२-४३-२-३) और 'सुमंगल' कहा है। शकुनि 'शक्तिमान' अर्थ वाची है जो समस्त भौतिक सृष्टि यज्ञ करने में समर्थ है। कपिञ्जल नामक पक्षी इस इन्द्र व्याख्या का आधार है। इस आधार से इन्द्र सुपर्ण का रहस्य गाया जा रहा है। अतः

"मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान् वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमंगलो भद्रवादी वदेह॥"
(ऋ० वे० २-४२-२)

ऋचा इसको कहती है कि तुम दैवी वाणी बोलते हो, अतः श्येन (सूर्य) सुपर्ण (सोम) जो आसुरी वाणी के शत्रु हैं वे तुम्हें मा (नहीं मार सकते), न इषुमान् वीर (रुद्र) अस्त्रधारी ही। इसको 'प्रदक्षिणिदभिः कारवो' 'अवक्रन्द दक्षिणतः' और 'पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्' कहकर दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध का वासी संकेतित किया जा रहा है। और शब्द ब्रह्म से ही इसके जन्म का संकेत करते हुए 'कनिक्रदञ्जनुषं' कहा है। इसीलिए यथा नाम तथा गुण का नाम धारण करते हो। 'शकुनिः' शं नाम भौतिक शब्द ब्रह्म का है उसको निर्मित करने वाला, उसकी या शब्द की वाणी की नाव को खेने वाला, सुमंगल का श्रीगणेश करने वाला है जैसे

"कनिक्रदञ्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभि भाविश्व्या विदत्॥"
(ऋ० वे० २-४२-१)

भद्रं वद दक्षिणतो भद्र मुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल॥

इसके साथ ऋतु (सप्तकों) गायत्री साम त्रैष्टुभ उद्गाता ब्रह्मपुत्र, वृषा वाजी विशेषण देकर पूरे दर्शन का चक्र उपस्थित किया गया है और अन्त में शुद्धबुद्ध ब्रह्म और त्रिपादामृत की तूष्णीं उपांशु वाणियों का संकेत करते हुए कहा है 'तूष्णी-

मासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः' कि जब चुप रहो तो हमारी भलाई की ही अमृतमय मानसी वाणी बोलो वा सोचो। ये मन्त्र गृत्समद निर्मित हैं। पक्षी को बोलते देख उन्होंने उसे लक्ष करके इन्द्र या सुपर्ण रूप इन्द्र की व्याख्या या स्तुति का रहस्य इन दो सूक्तों में अङ्कित कर दिया है। ध्यान रहे कपिञ्जल पक्षी सुपर्ण या खञ्जन के द्योतक हैं। खञ्जन का आकार आखों के समान होता है, अतः 'सूर्या-चन्द्रमसौ चक्षुषी' की उपमा के लिए उपयुक्त पक्षी है।

ये दो सूक्त (ऋ० वे० २-४२; २-४३) आधुनिक विद्वानों की आखें खोलकर देखने के लिए बड़े भारी प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं। अतः अतीव मुख्य और प्रधान हैं। जिस प्रकार इनमें प्रस्तुत शकुनि को आधार बनाकर अप्रस्तुत इन्द्र रूपी सुपर्ण की व्याख्या की गई है उसी प्रकार समस्त वैदिक साहित्य में निर्ऋति द्यौ ब्रह्म ब्रह्मणस्पति बृहस्पति वाचस्पति वसु रुद्र इन्द्र आदित्य अग्नि आपः मरुत ऋभुक्षा सोम यज्ञ नदी पर्वत सागर वृक्ष आपः विश्वेदेव पितर छन्द संवत्सर अयन पक्ष ऋतु अध्वर्यु उद्गातृ प्रयाजा अनुयाजा वृत्र त्रिशिरा त्वाष्ट्र देव असुर वैश्वानर वरुण मित्र आदि सब नाम कथानक के अनुसार या इहिहास या यज्ञविधि के अनुसार प्रस्तुत हैं। परन्तु इन सबका मुख्य विषय अप्रस्तुत या ब्रह्म व्याख्या या सृष्टियज्ञ व्याख्या है। इन सबके कथानक यज्ञविधि इतिहास आदि आधार भूत तत्त्व हैं जिन्हें वैदिकों ने पशु नाम से या कल्पना के सृष्टियज्ञ की कल्पना का बाहरी खोल बतलाया है (पशुवाद देखें)। और यहाँ पर इन सूक्तों में जो शकुनि को 'तुम्हें श्येन सुपर्ण और इषुमान् न मारे' कहा है वह

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥"

(ऋ० वे० १-१६४-२०)

की पूर्ण व्याख्या व्यावहारिक लौकिक दृष्टान्त से दे रहा है। जैसेः—लोक में शकुनि के शत्रु बाज गिद्ध और बहेलिया होते हैं। शकुनि और बाज तथा गिद्ध तीनों एक ही जाति और मूलतः एक ही वंश के हैं, सृष्टि वृक्ष की एक ही शाखा से उत्पन्न हैं। उधर 'द्वा सुपर्णा' में दो भिन्न भिन्न पक्षी नहीं हैं दो शरीर के नहीं हैं, एक ही शरीर या ब्रह्माण्ड में एक ही की दो प्रवृत्तियाँ हैं, एक दैवी है दूसरी आसुरी। यह ब्रह्माण्ड भौतिकता या असुरता बहुल है, अतः यह भौतिकतामय आसुरी सुपर्ण रूप प्रवृत्तिक बाज या गिद्ध या बहेलिया बनकर उस दैवी प्रवृत्तिक सुपर्ण को मार देता है या दबोच डालता है। दोनों का शरीर अलग अलग नहीं है। ये यहाँ २४ सों घंटे एक शरीर में साथ साथ हैं। अतः इस असुर से प्रतिक्षण का भय रहता है, न जाने कब दबोच डाले। हमारे यहाँ इसी भय को दूर करने के लिए गायत्री ब्रह्म की त्रिवार उपासना की जाती रही। श्येन सूर्य भी दो हैं एक दैवी दूसरा आसुरी, उनका भी परस्पर द्वन्द्व सदा रहता है। यह सुपर्णों से सूक्ष्म हैं इनका युद्ध कब हुआ कौन जीता, यह परिणाम से पता लगता है। यह त्रिपादामृतों और तमः केतु स्वर्भानु या काम ब्रह्म का द्वन्द्व हैं। जो जीते वैसी प्रवृत्ति होती है। गीता में जो निष्काम

कर्म की निष्ठा को प्रधानता दी है वह इन्हीं दो श्येनों की भयंकर श्येनों की प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में काम ब्रह्म को दबोच कर त्रिपादामृत को प्राधान्य देने की घोषणा है। देखिये ठीक इसी भाव को देने वाली निम्न दो ऋचायें हैं जो उक्त 'द्वा सुपर्णा' ऋचा का भाष्य स्वयं दे रही है

"यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भाग मनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेशः॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे, तन्नोनशद्यः पितरं न वेद॥"

(ऋ० वे० १-१६४-२१,२२)

यहाँ पर जो सुपर्ण 'अमृतस्य भागं' (त्रिपादामृतं) और 'मध्वदः सुपर्णा' (त्रिपादामृतदः) हैं उन्हीं को 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहते हैं वही धीर है वही इस ब्रह्माण्ड का सच्चा पाक है, जो इनसे रहित है वह अपने पिता त्रिपादामृत को ही नहीं जानता, उसके मधु को नहीं पीता पाता या खाता है, वह असुर सुपर्ण है काम, वासना से भरपूर दानव है, इस भोली सृष्टि का विध्वंसक है। इसी मधु को पाने की प्रार्थना पितरों से की जाती है

"मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवँरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो बनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यो माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥"

(ऋ० वे० १-९०-६,७,८; यजुः १३-२७; तै० सं० ४-२-९-३; तै० आ० १०-१०-२; श० प० ब्रा० १४-९-३-७३)

इसीलिए यह मन्त्र सर्वत्र मिलता है। इसमें आये संज्ञा शब्द वात सिन्धव ओषधीः, नक्त, उषा, रजः द्यौ पिता वनस्पति सूर्य और गावः सब वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं। इस भूलोक में इन नामों से जो जो संकेतित होते हैं वे केवल दर्शन रहस्य के आधार और अनभिज्ञों को ठगने के साधन हैं। पक्षियों के बारे में शु० यजु० में एक पूरा २४ वाँ अध्याय है जिसमें प्रत्येक देवता का एक शकुनि है। कपोत वरुण के के लिए है। ऋ० वे० में कपोत पर एक पूरा सूक्त १०-१६५ है।

अध्याय १०८

पर्जन्यः

विद्वान् लोग तो अभी तक पर्जन्य माने मेघ बादल ही समझते आ रहे हैं। इनके लिए गीता वाक्य 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' यज्ञ के धुँए से बादल रूप पर्जन्य बनना कहता है, पर इससे 'सोमात्पर्जन्यः' (मुंड उप) का अर्थ कोई कुछ नहीं लगा सकता। सोम को तो ये जड़ी-बूटी समझते हैं। पर बात बिलकुल दूसरी है। जो यज्ञ है वही सोम है, यज्ञ २४ वाँ तत्त्व है, वहीं से सोमात्मा का प्रादुर्भाव होने लगता है 'पर्जन्यादन्न सम्भवः' का अन्न, सौम्य भौतिक तत्त्व हैं जिसका प्रतिरूप वृत्र है। 'सोमो हि देवा-नामन्नं', सोम भौतिकात्मा है। इसका धुँधला स्वरूप पर्जन्य है। इसकी वृष्टि 'विद्युत्' है "वृष्टिर्विद्युत्" (ऐ० ब्रा० ८ अन्तिम भाग ब्रह्मणः परिमरः); यही अन्न है विद्यु-त्स्वरूप भौतिक आत्मा है। पर्जन्य, ओषधिः, वनस्पतिः, मण्डूका, वृष्टिः आदि शब्द वेदों में पारिभाषिक हैं, लोक में इनसे मेघ आदि लौकिक वस्तुओं का संकेत होता है, ये आधार हैं। पर्जन्य शब्द के बदले वेदों में मेघ शब्द भूल के भी इसीलिए नहीं आया है। ओषधियों से जो सम्बन्ध सोम का है वही पर्जन्य का है 'पोष्णामि चौषधी सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (गीता) 'यस्य व्रते ओषधी विश्वरूपाः स नः पर्जन्यः महिशर्मयच्छ' (ऋ० वें० ५-८३-५)। यह पर्जन्य प्राणों की वृष्टि करता है जलों की नहीं जैसे

"दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।"

(ऋ० वे० ५-८३-६)

पर्जन्य रूप तत्त्वों का ही नाम वृष वृषा वृष्णि विष्णु वृषभ है वे अश्वधारा वा प्राणधारा बरसाते हैं। इसी ऋचा में इसे 'असुरः पिता नः' कहा है जैसे

"अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः।"

इसमें 'स्तनयित्नु' नाम तत्त्व रूप विद्युत् है जिससे आपः रूप विद्युत् बरसने की प्रार्थना उसे 'असुरः पिता' कहकर की गई है। और उत्तरार्द्धीय होने की सूचना अर्वाङ् शब्द से दी है। इसमें महान् कोष है अखिल ब्रह्माण्ड का गर्भ है। इसकी भी सूचना दी है 'महान्तं कोश मुदचा निषिञ्च स्यन्दतां कुल्या विषिता पुरस्तात् (उत्तरार्द्ध)। घृतेन द्यावा पृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः॥" (५-८३-८) और इससे घृत या प्राणों की वृष्टि होती है यह पुनरुक्त किया है। इसको सिंह नाम से भी पुकारा है सूर्य की तरह "दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।" (५-८३-३)। इसीसे 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' के ढंग पर या 'गुहा त्रीणि निहिता' की तरह

"त्रिणो वाचो प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन् गर्भ मोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-१)

ऋचा से इसे तीन वाणियों को बोलने वाला, अग्रिम तीन ज्योतियों या ॐकार या त्रयी या त्रिपादामृतात्माओं वाला, इन आत्मा रूप मधु को खूब दुहने वाला वत्स रूप ओषधियों (तत्त्वों) के गर्भ (हिरण्यगर्भ) को भौतिक स्वरूप देने वाला बनकर वृषभ की तरह गरजने लगा—'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' कहा है। इसके बस में भौतिक सृष्टि का चक्र है यह भी इसी सूक्त में कहा गया है। जैसे

"स्तरीरु त्वद्भवति सूत उत्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्द्धते तेन पुत्रः ॥"
(७-१०१-३)

यहाँ पर 'स एष पिता पुत्रः' या 'यत्र पुत्रासो पितरो भवन्ति' का भाव भी इसी पर्जन्य में घटित किया है कि इसी पर्जन्य से ब्रह्म पितुः अन्न रूप पिता और पुत्र सोम दोनों भौतिक शरीर से बढ़ते हैं। इसीलिए इसे ऋतावृधा कहते हैं। इसे त्रिधातु या त्रिपादामृतीय कहा है

'स त्रिधातुः शरणं शर्म यंसत् यत्तिवर्तुज्योतिः स्वभिष्टयस्मे'

यहाँ त्रिधातु माने त्रिवर्ति रूप ज्योति या त्रिपादामृत कहा है। इस पर्जन्य में तो अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक मूल बीज हैं यह भी स्पष्ट लिखा है

"यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वश्च्योतन्त्यभितो विरप्शम् ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-४)

इस पर्जन्य रूप तत्त्व से तीनों त्रिपादामृत तीन धाराओं में पृथक् पृथक् आपः या भौतिकात्मा रूप विद्युत् बरसती या चूती है, ये अमृत विद्युत् मधु हैं, मधुविद्युत् को बरसाती हैं। इस पर्जन्य का नाम 'स्वराट्' है (बर्हि आसन्दी देखें)। स्वराट् नाम इन्द्र का है, यह इसलिए इन्द्र के समान या इन्द्र का समानान्तर देवता है। यह भौतिक सृष्टि में स्वतन्त्र है। 'इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।' (ऋ० वे० ७-१०१-५)। कहाँ तक कहें इस पर्जन्य को सूर्य की तरह इस भौतिक अखिल ब्रह्माण्ड की साक्षात् आत्मा कहा है क्योंकि यह अखिल ब्रह्माण्ड के नित्य बीजों को धारण करने वाला रेतोधा वृषभः है जैसे

"स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पातः स्वस्तिभिः सदा नः ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-६)

जिस पर्जन्य का इस प्रकार का दार्शनिक विवेचन दिया हुआ है क्या वह आकाश से बरसने वाले मेघ का प्रतिनिधि हो भी सकता है ? कदापि नहीं। वेदों

का पर्जन्य एक महा महत्त्व पूर्ण स्वराट् तत्त्व है। यह ध्यान रहे पर्जन्य का स्थान यह भूलोक नहीं बरन् महर्लोक नृषद् है जो स्वर्ग से या 'द्यु' या दिवः से मात्र एक सीढी नीचा है। इस पर्जन्य का विवेचन अथर्व ४-१५ पूरे सूक्त में उक्त ऋग्वेदीय मन्त्रों से तथा कुछ विशिष्ट पदों से किया गया है

"अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणः ।
अप नीची रपः सृज वदन्तु प्रश्नि वाहवो मण्डूका इरिणानु ॥"

(४-१५-१२)

इस मन्त्र के प्रश्नि वाहवः (मण्डूकाः) वैदिक दर्शन के महत्त्व पूर्ण तत्त्व हैं।

अध्याय १०६

मण्डूकाः

मण्डूक नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि हो गए हैं। उनका एक आश्रम था, एक एक पृथक् शाखा थी और उनके नाम से एक प्रसिद्ध उपनिषद् माण्डूक्य या मण्डूकोपनिषत् अब तक सबको उपलब्ध है। श० प० ब्रा० (९-१-२-२१;२४) ने इस मण्डूक नामक ऋषियों के बारे में लिखा है कि "एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वन्तस्तमद्भिरवोक्षँ स्ता आपः समस्कन्दँ स्ते मण्डूका अभवन्"···"तस्मान्मण्डूकः पशूनामुपजीवनीयतमो यातयामा हि"। अतः इस मण्डूक शब्द ने हमारे वैदिक विद्वानों और वेद व्याख्याताओं को बहुत ठग दिया है। सचमुच में लोग इन्हें मेढक ही समझते चले आ रहे हैं। मण्डूक सूक्त का मण्डूक तो सीधे-सीधे चन्द्रमा है। इसका अकाट्य प्रमाण अश्वरूप प्राणरूप चन्द्रमा के वर्णन वाली ऋचा है जैसे—

"अश्वो वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छति।
इन्द्रायेन्दो परि स्रवः॥"

(ऋ० वे० ९-११२-४)

इसका अर्थ सोम शीर्षक में दे दिया है; पृष्ठ ५२२, ६७० भी देखें। इनका स्थान वैदिक दर्शन के तत्त्वों में निश्चित रूप से बतलाने के लिए यह मन्त्र दिया है

"उप प्र वद माण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्रवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥"

(अथर्व ४-१५-१४)

इसमें 'मध्ये ह्रदः' और 'चतुरः पदः' शब्द चतुर्थ सप्तक के चतुष्पाद् ब्रह्म के सूचक हैं और यह सप्तक दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती सलिलीय सागर है। अतः इसे 'मध्येह्रदस्य' कहा है। साथ में

"संवत्सरं शयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्य जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥"

(ऋ० वे० ७-१०३-१ अथर्व ४-१५-१३)

में इन मण्डूकों को 'संवत्सरं शयाना' से संवत्सर ब्रह्म रूप में सुषुप्त कहते हैं तथा इन्हें ब्रह्म व्रतचारी ब्राह्मणों (तत्त्वों) के समान वर्णित कर रखा है। इस बात को असंदिग्ध भाषा में स्पष्ट करते हुए इन मण्डूकों को वैदिक दर्शन के प्रावृष् ऋतु वाले सोमिनः अतिरात्र में उदय होने वाले, और शब्द ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करने वाले इत्यादि कहते हुए इनकी प्रत्येक चर्या का विवेचन वैदिक दर्शन के चतुर्थ सप्तक के भौतिक ब्रह्मों के पूर्ण अनुकूल रूप में इस प्रकार दे रखा है

"ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणां बभूव॥

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचिद् ॥"
(ऋ० वे० ७-१०३-७,८ इत्यादि)

कि ये मण्डूक नहीं अपितु ब्राह्मण या ब्रह्म हैं, इनका उदय अतिरात्र या उत्तरार्द्ध में सोम नामक तत्त्व के सरः (ह्रद) में होता है, यहाँ से स्फुटध्वनि या व्यक्त शब्द ब्रह्म का या भौतिक ब्रह्म का उदय होता है। अतः इन्हें 'अभितो वदन्त' सर्वतः शब्दायमान कहा है। ये मण्डूक नामक तत्त्व संवत्सर ब्रह्म के अहः या दिन के (पूर्वार्द्ध के) भाग में मौलिक रूप से विद्यमान थे वही प्रावृष या चतुर्थ सप्तक में (भौतिक स्वरूप में) उत्पन्न हुए ॥७॥ ये ब्रह्म हैं, सोम स्वरूपी हैं, संवत्सर ब्रह्म को शब्दब्रह्म स्वरूप में परिणत कर देते हैं। ये घर्म-तप्त अध्वर्यु उद्गातृ हैं, प्रथम सुषुप्तावस्था वाले, अब वैश्वानरीयाग्नि की उष्णता से उष्मता पाये स्वयं आविर्भूत हो रहे हैं। इनमें से कोई भी गुहावासी या गायत्री ब्रह्म के २४ तत्त्वों तक का वासी नहीं है। सब चतुर्थ सप्तकीय भौतिक ब्रह्म हैं, यह किसी से छिपा नहीं रहना चाहिए ॥८॥ ये लोग शाक्तों या वेदपठियोंकी शिक्षा प्रणाली के अनुसार एक दूसरे को रटाते से बोलते हैं, इनसे पूर्वों (तत्त्वों) की समृद्धि होती है, कोई गाय के बछड़े के समान, कोई बकरी के बच्चे के समान, कोई वृषभ की तरह कोई कृष्णसार की तरह —चार प्रकार से—चतुष्पाद् ब्रह्म की चार वाणियों का संकेत करते हैं। नाम समान है पर इनकी वाणियाँ एक दूसरे से विरूप तथा नाना रूप की हैं। ये लोग दैवी वाणी के स्वरूप की रक्षा करते हैं, बारह महीने की ऋतुओं का पालन नृषद् सप्तक में करते हैं, अर्द्ध वर्षीय संवत्सर के पूरे होने पर—पूर्वार्द्ध के बीत जाने पर—वैश्वानराग्नि के घर्म से तप्त होकर नवीन सृष्टि भौतिक सृष्टि का विसर्ग या आरम्भण कर देते हैं। प्रत्येक प्राणी गोमायु अजमायु प्रश्नि और हरित चारों प्रकार के शब्द ब्रह्म रूप (मण्डूक) के तत्त्वों से युक्त रहता है। ये मण्डूक गायों या आदित्यों के हैं, जो इस ब्रह्माण्ड को सहस्रधा प्रसवित करते हैं, वे हमारी आयु की रक्षा करें।

"यदेषा मन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥५॥"
"गोमायुरेको अजमायु रेकः प्रश्नि रेको हरित एक एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्त ॥६॥"
"देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥९॥"
"गोमायुरदादजमा युरदात् प्रश्नि रदाद्धरितो नो वसूनि ।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः ॥१०॥"

ध्यान रहे शाक्त मत बहुत प्राचीन है वैदिक है शब्द ब्रह्म के वाक् रूपिणी शक्ति की उपासना का मत है।

अध्याय ११०

अक्षाः

अक्ष शब्द जुवा खेलने के पाँसों का भी नाम है तथा त्रिपादामृत का भी (अथर्व १९-१३-२) 'अमृतं न्वक्षः' और चक्र का भी। अक्ष (पुं०) नाम केवल रथ के पहिए का नाम हैं (कर्ष चक्र इसका दूसरा नाम है)। वेदों

१—अक्षाः

में इस शब्द की योजना पासों अर्थ वाले अक्ष के आधार पर की गई है और इसका रहस्य वैदिक दर्शन के चक्र के रूप में संकेतित किया गया है। वैदिक दर्शन के दो मुख्य चक्र हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, बीच में सूर्य तत्त्व है 'द्वे ते चक्रे सूर्ये' (ऋ० वे० १०-८५-१६ अथर्व १४-१-१६)। इस रहस्य में अक्ष के माने 'व्यान' प्राण होता है। इसका प्रमाण स्वयं वेद में दिया है। सूर्या का विवाह जब अश्विनी से हुआ वह जिस रथ पर बैठ कर पति के घर गई उसमें दो चक्र शुची दिन-रात (अहोरात्र) थे, वे व्यान रूप अक्ष के या चक्र थे, उसमें मनः रूप या तैजसात्मा रूप रथ था, उस रथ में सूर्या सूर्य की पुत्री २५ वें तत्त्व की क्षत्र वाणी बैठ कर अश्विनो २६ वें तत्त्व की पत्नी बन कर गई जैसे

"शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम्॥"

(ऋ० वे० १०-८५-१२)

जुवा खेलने के पासों की गति का व्यान रूप अक्ष (चक्र) की गति से तुलना करना एक बहुत बड़े वैज्ञानिक दृष्टि कोण को प्रस्तुत करता है। व्यान प्राण अग्नि रूप है, तृतीय सप्तक की तैजसात्मा है। यह कम्पनशील

२—अक्षदीवन वर्णन

तेजस्वी गति का चक्राकार रूप लेती है, इसकी प्रत्येक गति विभेदक है या भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके मायावी का रूप धारण करती है जिसकी अनुभूति सोम के पान के समान मस्त कर देती है, या प्रस्तुत व्यापार से मुक्त कर अप्रस्तुत या मायावी या अलौकिक व्यापार सागर में डुबो देती है, यह नई जागृति करके भौतिक शरीर को आच्छादित कर देती है या गौण बना देती है। अतः ऐसा अक्ष प्रवेप या कम्पनशील और प्रवण प्रवहन प्रवाहशील और स्फुरण द्वारा (इरिणे) आवरण करने वाला या चक्राकार घूमने वाला (वर्वृताना) होने से, यह मुझे महान् सोम के समान मादयन्ति या उन्मत सा बावला सा अति प्रसन्नतामग्न सा बना देती है* यह भाव है निम्न ऋचा का

---

* सोम नाम की लता की जन्मभूमि मूजवान् या मौजवत पर्वत या सोमपर्वत (चतुर्थ सप्तक) या सर्वसप्तक है क्योंकि सोम एकदैवत्य और सर्वदैवत्य है। इसका उद्भव गान्धार अंग या विहार और मगध देशों में भी अथर्व ने तक्मा (नशीलीबूटी के) रूप में बतलाया है। यह वही तक्मा है जिसे ठंडई के नाम से

"प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥"
(ऋ० वे० १०-३४-१)

निम्न (२-२७) ऋचा बतलाती है कि अक्षाः नाम आदित्यों का या भौतिक तत्त्वों का है "ते आदित्यासो उरुवो गम्भीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः॥" यहाँ जुवा खेलने वाला कौन है, यदि यह बात विदित हो जाय तो फिर उक्त व्याख्यान में तिलभर भी सन्देह नहीं रह सकता। जिस (ऋ० वे० १०-३४) सूक्त में द्यूत क्रीड़ा या अक्षदीव्यन या जुवा खेलने का वर्णन दिया है उसके तेरहवें मन्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि यहाँ जुवा खेलने वाले 'गावः' या गायें हैं। वेदों में 'गावः' नाम आदित्यों और वाग्धेनु के लिए आता है "गावो वै आदित्याः" (ऐ० ब्रा० ४-३-१७) पुरुष सूक्त में जब यह लिखा है 'गावो ह जज्ञिरे' इत्यादि वहाँ पर इन्हीं वाग्धेनु और आदित्यों का भी संकेत है। इन्हीं आदित्यों को ऊपर ऋ० वे० २-१७ में भूर्यक्षाः कहा भी है। आदित्यों का सप्तक २० वें तत्त्व तृतीय सप्तक से आरम्भ होता है जहाँ व्यानाग्नियों का ही स्थान है। वाग्धेनु सर्वादेवता है यह बतलाया जा चुका है। इसीलिए लिखा है

३—अक्षदीवन कर्ता कौन है ?

"अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥"

कि तैजसात्मा के चक्राकार कल्पना के चक्र के फेर में न पड़ो, कृषि या भौतिक शरीर के क्षेत्र को आगे बढ़ाओ, कर्म में रत रहो। यहाँ तैजसात्मा आदित्य जुवा सा खेलते हैं और भौतिक दृष्टि वाले भौतिक शरीरी सोम को अपने चक्कर में मग्न कर (कल्पना के मनोमोदकों में मानकर) ठग देते हैं। मेरी जाया वाग्ब्रह्माणी ने कई बार सूचित भी किया कि भौतिकात्मा सविता ही भौतिक शरीरी ब्रह्माण्ड को अनुकूल धर्माचरण के मार्ग में प्रसूत या प्रसवित करने वाला सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। यदि यहाँ केवल द्यूत क्रीड़ा ही का वर्णन होता तो इस सूक्त में सोम सविता गावः वधू, मित्र इत्यादि देवताओं का नाम लेने की क्या आवश्यकता थी ? साथ में मन्त्र ४ के पिता माता भ्रातरः नाम क्रम से ब्रह्म (प्रथम सप्तक) द्वितीय सप्तक और तृतीय सप्तक के हैं। मन्त्र ९, १० का वही भाव है जो प्रथम मन्त्र का यहाँ दिया गया

पीते हैं अतः यह भी लिखा है कि तुम (तक्मा रूपी सोम) शीतकाल में शीत का और उष्ण काल में गर्मी का नाश करो जैसे

"तृतीयकं वि तृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रुरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥
गान्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मागधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥"
(अथर्व ५-२२-१३,१४)

है। शेष सबके सब द्व्यर्थक मन्त्र हैं। अन्त में यह भी सूचित कर देना आवश्यक है कि ये 'अक्षाः' प्रायः वही हैं जिन्हें 'ऋचो अक्षरे' मन्त्र 'अक्षर' कहता है। अक्ष ही अक्षर है, अन्तर इतना है कि यहाँ अक्षाः अक्षरों के समूह के वाची हैं। हमारे यहाँ रौद्रमत में अक्षरों को ही अक्षा कहा जाता है, 'अक्ष' कुल ५० हैं, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के अक्षरों के गुच्छे रूप शब्द ब्रह्म के स्वर ऊष्माण पञ्चवर्गीय कुल ५० ध्वनियों के द्योतक हैं। कोई इन्हीं के स्फुटास्फुट भेद से १०० या चतुष्पाद् ब्रह्म के ४ आत्माओं सहित ५०+४=५४+५४ के १०८ अक्ष, रुद्राक्ष, की शब्दमाला मानते हैं। यह अक्ष भी व्यान प्राण का ही रौद्र वर्णन देता है। व्यान प्राण अमृत (तृतीयपाद) है। अतः 'अक्ष' को भी अमृत कहा है जैसे "सप्तचक्रात् वहति काल एष सप्तास्य नाभी-रमृतंन्वक्षः।" (अथर्व १९-१३-२)

अध्याय १११

ग्रावाण देवता

ग्रावाण देवता पञ्चपर्वा विद्या के प्रधान अंगों में एक मुख्य विद्या का विवेचन देते हैं। ये पहाड़ के पत्थर नहीं हैं। वैदिक दर्शन में पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों का विभाजन पञ्च ऋतुओं के अनुकूल दस दस तत्त्वों का एक एक ग्रावाण देवता या पर्वत देवता कहलाता है। इसमें तीन पर्वत आध्यात्मिक हैं और शेष दो भौतिक। पर्वत माने पर्व पर्व में रहने वाला 'पर्वणि पर्णणि तिष्ठतीति पर्वतः' होता है और ग्रावाण माने 'गृणन् गृणन् इति वा, गृह्णन् इति वा' अर्थात् एक एक करके आगे बढ़ने वाला होता है। दश दश ग्रावाणों का एक एक पर्वत होता है जिसका वर्णन निम्न ऋचा पूर्ण रूप से करती है

"दशावनिभ्यो दशकक्षोभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"

(ऋ० वे० १०-९४-७)

"प्रथम पर्वत दश अवनियों या भूमियों (भूः का) है जिसमें दश तत्त्व हैं इसके तत्त्वों को दश अङ्गुली कहते हैं ये आदि के दश प्राण हैं। दूसरे पर्वत में दश कक्ष्य है, अगल-बगल के दश दश के बीस अंगुलियों के पर्व हैं या कक्ष्य है, तीसरे पर्वत में दश और जुड़ जाते हैं, दश दश के तीस अंगुलियों का एक योक्त्रे या जुवा सा मध्यवर्ती बन जाता है। चौथे पर्वत में दश दश के ४० पर्वों का योजन हो जाता है और पाँचवें पर्वत में दश अभीषु या रश्मि रूप तत्त्व और जुड़ जाते हैं। यह पर्वत ५० पर्वों का या अग्नियों का होता है। ये अर्चता या ऋचाओं के अक्षरों वाला और अजर धर्मा विभु हैं, प्रत्येक में दश धुरियाँ हैं और प्रत्येक में दश दश अधिक जुड़ जाते हैं या दश अधिक ढोने वाले होते हैं।" इसीलिए इसके आगे की ऋचा में कहा है "ते अद्रयो दश यन्त्रास···" कि पर्वत दश दश के यन्त्र या तन्त्र या पर्व के हैं। आगे चलकर इनके विवेचन में स्पष्ट लिखा है कि ये दो प्रकार के हैं, तृदिला और अतृदिला अर्थात् भौतिक और अभौतिक, कभी न थकने वाले, सदा अमर, कभी सुख दुःख में न पड़ने वाले, कभी जरा से परामृष्ट न होने वाले या नित्य नवीन रहने वाले, और ये स्थायी विष्णु रूप में स्थिर रहने वाले, अत्यन्त स्थूल या महतो महियान्, तृष्णा से सदा मुक्त रहने वाले और तृष्णा से अनुत्पन्न हैं जैसे

"तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवासो अतृषिता अतृष्णजः॥"

(ऋ० वे० १०-९४-११)

वृष या वृषा या पर्जन्य या इन्द्र वृत्र या सोम अर्थात् भौतिक तत्त्व का अभ्युदय इन्हीं पर्वतों में से 'आशव' नामक तृतीय पर्वत का एक अंशु या एक किरण या

अंश या विकास है। इसके ही अंशों या विभागों या अक्षरों का नाम ग्रावाण है, स्फटिक शिला है जो सृष्टि विकास के अध्वर या यज्ञ या अध्वन या मार्ग को आगे के लिए प्रशस्त करते हुए अनुभूति रूप में व्यापक रूप में विद्यमान या प्रस्तुत होता है (ऋ० वे० १०-९४-१०)। इन्हीं ग्रावाणों ने (१०-९४-८) 'सुतस्य सोमस्य' आविर्भूत सोम रूप अन्न या भौतिक तत्त्व रूप आत्मा के अमृत के भाग के अंशों की अनुभूति पाई। कहने का तात्पर्य यह है कि ये ग्रावाण सोम रूप अमृत विभु व्यापक दिव्य शरीरी भौतिक आत्मा के दैवी स्वरूप हैं जिनको 'स्फटिक शिला' कहते हैं। ये आध्यात्मिक भौतिकात्मा रूप ग्रावाण है जिनमें त्रिपादामृत रूप त्रिधात्मा प्रतिबिम्बित से रहते हैं। इस बात की पुष्टि में श० प० ब्रा० ३-३-४-१३ में लिखता है कि वृत्र ही सोम है, वह देव है, दिवि वासी है (दर्शन के तत्त्वों के चक्र रूप व्योम का वासी है)। उस सोम का शरीर गिरि या अद्रि कहलाता है। जिसे अश्मा ओषधि या स्फटिक शिला कहते हैं वह भी यही सोम है जैसे

"देवो वै सोमो दिंविहि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैत
च्छरीरं यद् गिरयो यद् अश्मान स्तदेषो आशानामोषधि जायत इति॥"

इसीलिए इन अद्रियों को सोमाद या सोम रूपी अन्न के भोक्ता 'हरी' नाम से पुकारा है, और लिखा है कि ये गौः रूप इन्द्र से अंशु रूप अमृत को दुहने वाले, उसी रूप में (अमृत रूप में) विद्यमान रहते हैं, इनसे दुहा गया सोम रूपी अमृत मधु या दुग्ध को इन्द्र पीता है और उसी से वह वृद्धि को विकास को और ओजस्विता (वृषायते) को प्राप्त होता है जैसे

"ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्द्धते प्रथते वृषायते॥"
(ऋ० वे० १०-९४-९)

ये पर्वत और ग्रावाण देवता तो आत्मिक वाग्ब्रह्म और भौतिक वाग्ब्रह्म के स्वरूप हैं, यह बात भी इस सूक्त ने छिपा के नहीं रखी है। लिखा है जब अध्वर रूप अद्रि या भौतिकात्मा रूप पर्वत या सोम का अभ्युदय हो गया वे ग्रावाण शब्द ब्रह्म रूप में प्रगट हुए और इन्द्र रूप गौ माता के सामने बच्चों की तरह तोतली वाणी में क्रीणा करने लगे। इसके पहिले ये सुषुप्त बालकों की तरह पड़े थे। वे इनके आध्यात्मिक स्वरूप या मनः स्वरूप या मनः स्वरूप के पर्वत थे जो केवल चैतन्यता वाले थे (चायमाना) भौतिक शरीरी नहीं थे, जब इन्होंने इस सुषुप्ति से जागकर भौतिक स्वरूप लिया तब भौतिक शब्द ब्रह्म का स्वरूप धारण किया और भविष्य की सृष्टि के बीजों को धान की रोपाई की तरह बोना आरम्भ कर दिया जैसे

"सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीलयो न मातरं तुदन्तः।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां विवर्तन्ता मद्रयश्चायमानाः"॥
(ऋ० वे० १०-९४-१४)

"तदिद्वदन्त्यद्रयो···वपन्तो वीजमिव धान्या कृतः पृञ्चन्ति
सोमं न मिनन्ति बप्सतः ॥"
(ऋ० वे० १०-९४-१३)

इन ग्रावाण देवताओं को शब्द ब्रह्म रूप में वर्णित करने की चेष्टा इस सूक्त के प्रथम छह मन्त्रों में स्पष्टतया की गई है जैसे

"प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः ।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥"
(ऋ० वे० १०-९४-१) इत्यादि

इनको 'त्रिष्ट्वी ग्रावाण' त्रिपादामृतीय आत्मा आत्माओं का प्रतिनिधि बनाकर कहा गया है और इन्हें 'सृष्टि वृक्ष' की शाखायें, सूर्य की शाखा सूर्यश्रितः या सूर्यरेतः, 'सुपर्ण' कृष्णा, साथ साथ जुड़े (सांकं युक्ताचतुष्पाद्ब्रह्म) और धुरी को धारण करने वाला इत्यादि दर्शन के सूक्ष्म तत्त्व समझ कर ही यह लिखा गया है। अतः ये ग्रावाण देवता तत्त्व हैं, ये पर्वत वा अद्रि भी तत्त्व ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह का अवसर नहीं रह जाता। (१०-९४-२ से ६ तक देखें इसका समर्थन ऋ० वे० १०-७६ सूक्त से करलें जिसमें इन्हें 'पौस्यं महो' या चतुर्थ सप्तक के तत्त्व कहा है (१०-७६-२) तथा मन्त्र ६ में इनको वाग्ब्रह्म का स्वरूप दिवि आत्मा वाला कहा है जहाँ नर या चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व स्वकामना पूर्ण करते हैं करके लिखा है। अन्त में मन्त्र ८ में कहा है कि ये वाग्ब्रह्म देवता 'वामं वामं', ब्रह्म के लिए पार्थिव या भौतिक वसु, वसु या उत्तम तत्त्व का प्रसव करते हैं जैसे

"वामं वामं वो दिव्याय धाम्ने वसु वसु। वः पार्थिवाय सुन्वते ।"

शेष 'पञ्चपर्वा विद्या' और 'पर्वत' शीर्शक में देखें। इन पर्वतों को पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो भागों में क्रम से प्राचीन पर्वत और अधराचीन पर्वत कहा गया है जैसे

"स प्राचीनान्पर्वतां दृंहदोजसाधराचीनमपकृणोदपामपः ।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्नायन्माय या द्यामवस्रसः ॥"
(ऋ० वे० २-१७-५)

अध्याय ११२

दुन्दुभिः, इषुधिः, हस्तघ्नः, अभीषवः, धनुः, ज्या, इषुः, अश्वाजनिः, और उलूखल मुसल

ये सबके सब सम्पूर्ण वैदिक दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वों में से एक-एक सामूहिक नाम को देते हैं, ये दैवी तत्त्व हैं; आसुरी के विरोधी हैं, अतः इनको देवता रूप में आहूत और प्रतिष्ठित किया जाता है। दुन्दुभिः शब्द ब्रह्म के सुमधुर गम्भीर घोष या 'बृषभो रोरवीति' का प्रतिनिधित्व करता है। इषुधि (तूणीर) समस्त तत्त्वों को बाणों या इषुओं के समान मानता है। इषु कई तत्त्वों के सूचक और वायु नामक तत्त्व के होते हैं। ४९ वातों के ४९ इषु हैं(रुद्र देखें)। वे ब्रह्म रूप तूणीर या इषुधि में संरक्षित हैं। हस्तघ्न भौतिक सृष्टि के अहि रूप का वर्णन करता है और प्रत्येक भौतिक बीज रूप पुरुष की सुरक्षा करता है। अभीषु या अभीषव नाम प्रग्रह या रस्सी का है जो तृतीय सप्तक के धी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हुए भौतिक तत्त्व रूप अश्वों को मनोनुकूल (बुद्धि के अनुकूल) ले जाने में समर्थ होता है। धनुष पूर्ण दर्शन है जिसकी दैवी शक्ति से आसुरी सृष्टि जीती जाती है। यही पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो शृङ्गों का बना शार्ङ्ग धनुष कहलाता है, सींगों का बना नहीं, वैसे महिष नाम अग्नि का है। अग्नि तो सर्वा देवता ५० तत्त्वों का है। उस महिषाग्नि के दो पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के शृङ्गों का बना हुआ यह धनुष है, महिष यमाग्नि संयमाग्नि है ज्या भी पूर्ण दर्शन है। इसके मध्य भाग को खींचकर भौतिक दिव्य-शरीरी बाण छोड़कर व्यक्त सृष्टि का आरम्भ किया जाता है। यह मध्यभाग वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दो शृङ्गों का सूचक है। इषु के बारे में लिखा जा चुका है कि प्रत्येक तत्त्व एक इषु है। अश्वाजनि कशा या साँटी या वेत या डोरी सहित वेत का नाम है। वेत पूर्वार्द्ध है, डोरी उत्तरार्द्ध का भौतिक तत्त्व, पूर्वार्द्ध की कशा उत्तरार्द्ध को प्रकाशित करती है। उत्तरार्द्धीय कशायें वारुणी कशायें हैं। उलूखल और मुशल की जोड़ी दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो दलों के प्रतिनिधि हैं। मुशल पूर्वार्द्ध है उलूखल उत्तरार्द्ध। इन दोनों के संयोग से दुन्दुभि के समान शब्द ब्रह्म की व्यक्ति होती है।

"उरु मे कुर्वित्य ब्रवीत् तदुलूखलम् अभवत्, उरुकरं चैतद्।
उलूखल मित्या चक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः॥"

यह व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई है तथा इनके कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इन सबका वर्णन कहीं कहीं एक दो ऋचाओं में मिलता है। इनमें वे प्रसिद्ध ऋचायें जिनका प्रयोग कर्मकाण्ड में दिया जाता है वे ये हैं :—

दुन्दुभिः— उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥

६-४७-२९

भौतिक सृष्टि पृथिवी को आत्मीय सृष्टि द्यावा से अनुप्राणित करने के लिए इस भौतिक सृष्टि में पूर्णतः प्रवेश करो; और शब्द ब्रह्म रूप दुन्दुभि के घोषों से आसुरी भौतिक शत्रुओं को इन्द्रादि देवताओं से दूर दूर भगा दो। सोम में इसकी चर्चा आई है। 'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभी' (तै० १-३-६-२,३) या सप्तदशानां दुन्दुभिनां (श० प० ५-१-५-६)। यजुर्वेद २९-५५,५६ में दुन्दुभि को इन्द्र की मुष्टि नाम से पुकारा है।

इषुधिः— बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चाकृणोति समनावगत्य।
इषुधिः साङ्कः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥
६-७५-५

समस्त सृष्टि के बीज रूप तूणीर, तुम अनन्त प्रजाओं के पिता तुल्य हो तुम्हारे अनन्त पुत्र हैं (विकासीय तत्त्व हैं), उनका परस्पर सामञ्जस्य भी करते जाते हो। तुम्हें पीठ पर धारण करके तुम्हें सदा अपने शरीर में धारण करके सब सेनाओं और युद्धों को जीतते हैं।

हस्तघ्नः— अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥
६-७५-१४

समस्त भौतिक सृष्टि के मूल बीज अहि या कीटाणु की तरह के शरीर वाले सर्वतः व्याप्त और अमृतात्मा रूप बाहु तथा ज्या को परितः घेरे हुए, भौतिकात्मा के पुरुषों को एक दूसरे से सुरक्षित रखते रहो।

अभीषवः— रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीषूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥
६-७५-६

भौतिकात्मा के रथ में बैठकर सारथि रूप मन या इन्द्र जहाँ जहाँ जैसे जैसे जाना चाहता है वहाँ वहाँ उन अभीषु रूप रश्मियों या तैजसात्मा की डोरियों को घुमाकर खींचता रहता है। यह इनकी महिमा है उसे ध्यान से देखो।

धनुः— धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥
६-७५-२

अखिल तत्त्व रूप शार्ङ्गधनु से गा या द्यावापृथिवी दोनों में उपस्थित जितने संघर्ष हैं उनमें जय पाते हैं इसीसे आसुरी मद को जीतते हैं, इसी धनु से शत्रु के अपकारों को जीतते हैं जिससे सर्वत्र जयजयकार ही प्राप्त होती है।

ज्या— वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥
६-७५-३

ज्या कर्ण प्रिय है, मध्यवर्ती भाग कर्ण प्रिय है, वहीं से भौतिक सृष्टि का आरंभ होता है, जो जो इस दिव्य शरीर की कामना करते हैं पाते हैं वे उसे पाकर प्रसन्नता से एक दूसरे का आलिङ्गन करते हैं। ज्या तुम स्त्री की तरह खिंचकर दूर से पास आकर पार लगाती हो।

इषुः— सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥
६-७५-११

'वीर्यं वा इषु' 'रुद्रस्य हीषुः' (श० प० ६-५-२-१०, २-६-२-३)। हे वाणो! तुम्हारा शिकार रूप मृग तो सुपर्ण रूप भौतिकात्मा है, वह आदित्य रूप गायों से प्रसूत और सन्नद्ध है, उनसे प्रसूत दन्त के समान उज्वल चन्द्र रूप मृग सुपर्ण बनता है, इसके बनने पर नृषद् की सृष्टि अग्रसर हो बिखरने लगती है उनकी रक्षा करते रहो।

अश्वाजनी— आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसो अश्वान्त्समत्सु चोदय॥ ६-७५-१३

हे कशे! तुम जघनों या उरु (तृतीय सप्तक) में मार करती हो, वहीं से उत्पन्न हुई हो तुम वरुण के पाश को भी धारण करती हो, उनसे अश्व रूप भौतिकात्मा को प्रेरित या प्रसूत करो।

उलूखलम्— यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥ १-२८-५

हे उलूखलक रूप घट घट शरीरी भौतिकात्मा तुम घर घर में घट घट में व्याप्त हो। यहाँ वैश्वानराग्नि रूप में द्युतिमान होकर शब्द ब्रह्म रूप में भौतिक शब्द ब्रह्म रूप जय को प्राप्त हो जाओ, जैसे कि किसी ने भौतिक सृष्टि के आरम्भ हो जाने की सूचना देने का डंका बजा दिया हो।

अप्वा— "अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै रन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥"
(१०-१०३-१२)

हे अप्वे जाओ हमारे शत्रुओं के शरीरों को गृहण करो और उनके चित्तों को प्रलुब्ध करती रहो, और वापिस जाकर हमारे शत्रुओं को जगाओ, उनके हृदयों को शोक के अन्धकार से तामस से युक्त बनाओ। यह इन्द्र सूक्त में है उससे शत्रुओं पर विजय पाने की प्रार्थना की गई हैं। इन्द्र के शत्रु भौतिक आसुर तत्त्व हैं। अतः अप्वा दैवी तत्त्व इन्द्र सहायक है। अप्वा एक प्रकार का आग्नेय वाण सा प्रतीत होता है जो धनुष से या हाथ से छोड़ा जाता रहा। इसका वर्णन वाण के वर्णन के बाद में है। इससे 'अन्धेन तमसा' या अन्धकारसम धुआं निकलने की बात इसी बात का समर्थन करती है। हो सकता है वह बारुद भरी होती हो या अन्य जलने वाली वस्तु से भरी।

अग्नायी—

अग्नि पत्नी का नाम है, अग्नियाँ ५० हैं, ५० पत्नियाँ भी हुई, यहाँ समान्यतः एक का वर्णन दिया गया है।

"इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। आग्नयीं सोमपीतये॥"

(ऋ० वे० १-२२-१२)

सोमपान करने के लिए इन्द्राणी वरुणानी और अग्नायी का आह्वान करते हैं, जिससे कल्याण हो। सोमपान करने वाली इन्द्राणी, वरुणानी और अग्नायी का एक ही स्थान है। इन्द्राणी सूर्या होगी, वरुणानी (मित्रावरुण २४ वें की पत्नी) अग्नायी अत्रि की आत्रेयी रूप अग्नि जो जातवेदा भी कहलाती है। इन्द्राणी एक नहीं कई हैं, जैसे इन्द्र १६ हैं वैसे ही इन्द्राणी (इन्द्र शक्ति) भी १६ ही होंगी। पर वरुणानी केवल एक है। केवल आपोब्रह्म का वरुण तो अग्नि की तरह सर्वादेवता है उसकी ५० वरुणानियाँ होंगी।

अध्याय ११३

उलूखलमुसले

ये दो का जोड़ा है, दृषदुपले के समान पूर्वार्द्ध परार्द्ध दोनों का एक साथ सम्मिलित सूचक है। उलूखल उत्तरार्द्ध है, मुसल पूर्वार्द्ध। मुसल पिता उलूखल माता है, ये द्यावा पृथिवी के ही या अहोरात्र के ही संकेतक हैं। उलूखल के अन्धांसि या अन्नानि भौतिक तत्त्व हैं, जिनको मुसल रूप आध्यात्मिक तत्त्व छान-बीन कर वध-कर शुद्ध आत्मा में प्रस्तुत करते हैं, यही भाव निम्न ऋचा दे रही है

"आयजी वाजसातमाता ह्युच्चा विजर्भृतः। हरी इवान्धांसि वप्सता॥"

(ऋ० वे० १-२८-७)

कि तुम यज्ञ करने वाली यज्ञ के योग्य हो, अन्नों या भौतिक तत्त्वों को पूर्वार्द्धीय मुसल रूप आध्यात्मिक आत्माओं की ऊँची ऊँची चोटों से हनन करती हुई शुद्ध सम और उज्वल बनाती हो। तुम इन्द्र की तरह अन्न या सोम का खान या पान करती हो। श० प० ब्रा० ७-४-१-३७ में इनको द्यावा पृथिवी समझ कर उलूखल को योनिः और मुसल को पूर्वार्द्धीय शिश्न कहा है। इन्हीं को उखा भी बताया है। उखा भी दो हैं, उत्तरोखा और अधरोखा।

अध्याय ११४

हविर्धाने

हविर्धाने भी दो का जोड़ा है 'यमे इव यतमाने' (ऋ० वे० १०-१३-२)। जिस प्रकार दर्शन के दो भाग हैं उसी प्रकार यज्ञ रूप दर्शन की दो हविर्धानियाँ हैं, एक को पूर्ववेदि दूसरे को उत्तरवेदि कहते हैं। प्रथम को पूर्वाङ् द्वितीय को पराङ् भी कहते हैं। प्रथम का नाम गायत्री द्वितीय का जगती भी है। गायत्री ब्रह्म देखें। इसके बारे में निम्न मन्त्र है

"आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये॥"

(ऋ० वे० २-४१-२१)

इन दोनों का मिलन विन्दु उपस्थ या मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व रूप विषुवद्रेखा है इनको दुहना कठिन है, यहाँ पर इसलिए यज्ञ कर्ता देवता सोमपान के लिए बैठ जावें। क्योंकि दोनों हविर्धानी के प्रस्तुत हो जाने पर ही देवता यज्ञ विकास सृष्टि क्रम चला सकेंगे, तब सोमपान या भौतिक शरीर प्राप्त कर सकेंगे। उक्त व्याख्या की पुष्टि में इसी सूक्त (ऋ० वे० २-४१-१९,२०) में लिखा है कि हम इन दोनों का आवाहन करते हैं तुम दोनों यज्ञ को सुचारु रूप से कल्याणकारी बनाते हो। अतः तुम दोनों आओ और साथ में हम हव्यवाड् अग्नि का भी आह्वान करते हैं। इन दोनों का नाम द्यावापृथिवी है इस बात की पुष्टि २० वीं ऋचा इस प्रकार करती है। हे द्यावापृथिवी रूप हविर्धाने इन स्वर्गीय यज्ञ साधनों को देवताओं को दे दो अर्थात् इस यज्ञ द्वारा सब देवता सोमपान कर लें या भौतिक दिव्यशरीर धारण कर सकें। वे दो मन्त्र ये हैं:—

"प्रेतां यज्ञस्य शम्भुवा युवमिदा वृणीमहे। अग्निं च हव्यवाहन॥१९॥"

"द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥"

ऋ० वे० १०-१३ में भी ठीक इसी प्रकार का वर्णन दिया है जैसे

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥१॥
यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्त।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः॥२॥
पञ्चपदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सम्पुनामि॥३॥
देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्॥४॥
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः॥५॥

इन मन्त्रों में इन्हें पञ्चपदी चतुष्पदी पथ्या, सप्तपदी बृहस्पति देवता मृत्यु और अमृत नामों से पुकारा गया है। ये पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में इन सबके प्रतिनिधि हैं। इत्यादि। श० प० ब्रा० ३-४-३-२ में लिखा है कि "शिर एवास्य हविर्धानम् वैष्णवं देवतया" कि पुरुष का सिर ही हविर्धान है। पुरुष के दो सिर हैं 'द्वे शीर्षे सप्त हस्तांसो' देखें। प्रथम सिर ब्रह्म है द्वितीय सोम। इसीलिए सोम का नाम हवि लिखा है जैसे

"अथ यदस्मिन् सोमो भवति (हविर्धाने) हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम"
(३-४-३-२)

इस हवि को पुरुष सूक्त शरद् नाम से या चतुर्थ ऋतु के नाम से पुकारता है। अतः हवि नाम सोम का और शरद का ठीक है। इस प्रकार 'हविधाने' नाम वैष्णव सम्प्रदायिक पारिभाषिक शब्द है।

अध्याय ११९

पुरुषः यज्ञः

शतपथ के उक्त प्रपाठक में विष्णु को यज्ञ या हवन बतलाया है। और यहां पर आपाततः 'यज्ञः' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि पुरुष का नाम यज्ञ है। पुरुष प्रत्येक तत्त्व है। जिस संख्या का तत्त्व है उतनी संख्या के पात्रों का प्रयोग किया जाता है। अतः इस प्रकार की यज्ञ की सामग्री की उपादेयता रखने वाला पुरुष भी यज्ञ ही कहलाता है। पुरुष या यज्ञ नाम इस प्रकार तत्त्व विकास क्रम हुआ जैसा कि विश्वकर्मा सूक्त में 'विश्वकर्मन् हविषा (सोमेन) वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।'' इत्यादि (ऋ० वे० १०-८१-६); 'उस्र पितेव जारयायि यज्ञैः' (ऋ० वे० ६-१२-४) ऋचा यज्ञ शब्द के इस अर्थ का समर्थन करती है। अतः शतपथ इसी का स्पष्टीकरण देते हुए लिखता है "पुरुषो वै यज्ञः। पुरुष स्तेन यज्ञो। यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुष स्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः॥'' (३-४-३-१) इसीलिए पु० सूक्त लिखता है 'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः', 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः' 'त्रिपाद्ध्र्वमुदैत्पुरुषः' 'ततो विराडजायत (पुरुषः) विराजो (पुरुषात्) अधिपूरुषः' इत्यादि। पुरुष नाम तो जगत् या ब्रह्माण्ड का है, वह भी यजुर्वेद साफ लिखता है 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' (१६-३ रुद्री ५-३) शेष पुरुष सूक्त के पुरुष, शीर्षक में देखें।

अध्याय ११६

पितरः

पहिले भी अङ्गिरस ऋषियों का सम्बन्ध पितरों से बतलाया गया है। पितर कई प्रकार के हैं जैसे 'पूर्वास' मध्यमा और परास उपरासः या अवर। पूर्वास पूर्वार्द्धीय हैं, उपरास या अवर उत्तरार्द्धीय है, और मध्यमा पितरों का नाम सोम्यासः भृगव अङ्गिरस इत्यादि हैं।

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयु रवृका ऋतज्ञास्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षुः ॥२॥"

(ऋ० वे० १०-१५-१,२)

जिन पितरों को पूर्वास कहते हैं उन्हें विष्णोः विक्रमण या त्रिपादामृत या 'आनपात्' भी कहते हैं। ये पूर्वार्द्ध के तीन सप्तकों के तत्त्वों के प्रतिनिधि ठहरते हैं। उत्तरार्द्धीय बर्हि या आसन्दी में स्थित होने के लिए पूर्वार्द्धीय पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे इस उत्तरार्द्धीय बर्हिः में आवें और सुत पितु या अन्न और स्वधा (सोम) को धारण करें या सेवन करें जैसे

"आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-३)

ये पितर क्रमशः दक्षिण भाग या (अरुणिनां मुपस्थे, गवामुपस्थे) आदित्यों के मध्य २५ वें तत्त्व से आगे २६, २७ वें इत्यादि तत्त्वों में विकसित होवें और पुत्रों का – अगली पीढ़ी या अग्रिम विकास तत्त्वों का स्वरूप धारण करें यह प्रार्थना निम्न ऋचाओं में है।

"आच्या जानुं दक्षिणतो निषद्येयं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ॥६॥"
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥७॥

(ऋ० वे० १०-१५-६,७)

उक्त पुत्र और पितरों का सम्बन्ध श० प० ब्रा० ६-१-२-२६ में 'स एष पिता पुत्रः' वाक्य द्वारा तथा ६-१-२-१३ में "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" लिखा है प्रथम सप्तक पिता द्यौ है द्वितीय पितामह तृतीय पुत्र और चतुर्थ सप्तक पौत्र कहलाता है। यजुर्वेद (२-३३) ने इसी बात को "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्। यथेह पुरुषो सत् ॥" में पितरों से यह प्रार्थना की है कि तुम कुमार

रूप (रुद्ररूप) तथा आदित्य या पुष्करस्रज रूप को क्रमशः धारण करो जिससे सृष्टि पुरुष अपने सत् या भौतिकात्मा को धारण करने में समर्थ हो। अन्यत्र इस आत्मा को अभौतिक पूर्वार्द्धीय ब्रह्मो या पितरों का 'वस्त्र' कहा है जैसे "नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरो ·····दत्त सतो व पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ॥" (यजु० २-३२)और शतपथ के कथन की पुष्टि में यजुः का यह मन्त्र है

"पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः।
पुनन्तु मां प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥"
(यजुः १९·३७)

और इस बात को अधिक स्पष्टता से कहने की रुचि से यह मन्त्र लिखा गया जिसमें पितरों के दो मुख्य भाग, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय स्पष्ट उल्लिखित हैं जैसे—

"द्वे सृती अशृणवम्पितृणामहन्देवानामुत मर्त्यानाम्।
तावभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१५, यजुः १९-४७, तै० ब्रा० १-४-२-३; २-६-३-५; श० प० ब्रा० १४-९-१-४)

"द्वे समीची विभृतश्चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विसृष्टम्।
स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थाव प्रयुच्छन्तरणिभ्राजमानः ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१६)

"यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत् ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१७)

इन मन्त्रों में जो प्रायः सभी वेदों में प्राप्त हैं पूर्वार्द्धीय पितरों को 'देवा' या अमृता (त्रिपादामृता) आ अमर्त्या कहा है उत्तरार्द्धीय पितरों को मर्त्या या भौतिकात्मा स्वरूपी। पूर्वार्द्ध पिता है उत्तरार्द्ध माता जिन्हें दूसरे शब्दों में 'द्यावापृथिवी' भी कहते हैं। इनका मूलस्रोत शीर्ष तत्त्व है जिसको आदि कामब्रह्म (मनसा) से निसृष्ट किया है वही उत्तरार्द्ध में विश्वों या भुवनों या भौतिकात्माओं की भ्राजमान सृष्टि करता है। ये जो इतने रहस्यमय रहस्यपूर्ण दो भाग हैं जिन्हें अवर और पर नाम दिया है हम में से कौन जान या समझ सकता है? यह सिद्धान्त या विभाजन तो ऋषियों (सखायः) की परिषद् ने गम्भीर विचार करके निर्णित किया है? कौन इसको ठीक-ठीक समझा सकता है? यह तो यही मन्त्र कह रहा है। इस वर्णन का समर्थन निम्न ऋचा भी दे रही है जो कहती है कि जो सत्य पितर हैं वे इन्द्र देव के साथ सरथ होकर अग्नि स्वरूप में पूर्व और परे के पितरों के रूप में आवें जैसे

"वे सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥"
(ऋ० वे० १०-१५-१०)

ये अग्नि स्वरूप पितर 'अग्निष्वाता' और 'बर्हिषदः' भी कहलाते हैं जैसे

"अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यधा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-११)

इन पितरों को यहाँ पर 'सदः सदः सदत' कहकर प्रत्येक सदः या सप्तक में आसीन होने की प्रार्थना की गई हैं। जातवेदा पितृरूप हैं, अतः उसी से प्रार्थना करता है कि जो पितर यहाँ है या जो नहीं है और जिन पितरों को हम जानते हैं या जिनको हम नहीं जानते उन सबको तुम जानते हो क्योंकि तुम स्वयं जातवेदा या स्वयं ज्ञान स्वरूप हो जैसे

"ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्र विद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥"

(१०-१५-१३)

अन्त में प्रार्थना की गई है कि जो पितर अग्नि रूप में प्रस्तुत हो गये हैं या जो नहीं हो पाये हैं पर तृतीय सप्तक में स्वधा युक्त हैं, उनको असुनीति द्वारा अपनी शक्ति के अनुरूप बल लगाकर शरीर धारण कराकर उनमें चेतना फूक दो जैसे

"ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-१४)

ये पितर रस रूप सोम रूप मन्युरूप आदि हैं। इनका वर्णन 'नमो वः पितरो. रसाय' इत्यादि मन्त्र स्पष्ट दे रहा है। अतः यह मार्ग रस ब्रह्म या शब्द ब्रह्म की व्याख्या की एक शाखा है जिसे पितृ विद्या शाखा कहना चाहिए (शेष अङ्गिरस ऋषियों के वर्णन में देखें)। इन पितरों को उस सृष्टि का कर्ता बतलाया है जो सृष्टि अहोरात्र रूप, आपोरूप और रात्रि रूप में वर्णित है जिसका व्यक्त स्वरूप या आदि भौतिक रूप यम है जो उन्हें अपने स्वरूप या भौतिकात्मा में वास देता है जैसे

"अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥"

(ऋ० वे० १०-१४-९)

यही यम पितरों का वस्त्र है, शरीर है। पितर आज्यपा और हविर्भुक् भी होते हैं, अन्न रूप तथा अन्नाद भी पितर होते हैं, पितरों का लोक चन्द्रलोक है, देव पितर पथ्यास्वस्ति वाले हैं, पितृ पितर पथ्यारेवति लोक वाले।

पितरों के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न लिखित स्पष्ट उद्गार मिलते हैं। प्रजापति ने देवता की उत्पत्ति सु (प्राणों) से करके अपने को पिता माना, और पितरों की सृष्टि की (तै० २-३-८-२)। अग्निमुख पितर पितृलोक जीवलोक जाते हैं (श० प० १३-८-४-६)। मनुष्य (चतुर्थ सप्तक) जागरति कहलाते हैं तो पितर सुप्त (श० प० १३-९-२-२) या शान्त। पितरों का भाग रात्रि या उत्तरार्द्ध है (श०

प० २-१-३-१)। पितर अपने अन्ध भाग तामसी रात्रि भाग से सूर्य की ज्योति (२५ वें) तत्त्व की ओर जाते हैं (श० प० १३-८-४-७)। मनुष्यों से पितर तिरछे हैं (विदिशा में रहते हैं दक्षिणपूर्व में) (श० प० २-४-२-२१)। अतः पितृलोक मनुष्य-लोक से अन्तर्हित है (तै० १-६-८-६)। पितृलोक अधोभाग या उत्तरार्द्ध में है (श० प० १४-६-१-१०) और आवान्तर दिशा में है (श० प० १०८-१-४०)। दक्षिण दिशा में पितरों का द्वार है (श० प० १३-८-१-५)। पितरों की वृद्धि दक्षिण दिशा में होती है; अतः पितृयज्ञ दक्षिणस्थ किया जाता है (जै० ॰-२७-२, कौ० ५-७, गो० उ० १-२५)। प्राचीनावीतिन् पितरः सव्य हैं (श० प० २-४-२-२)। पितृ पूजन मास में होता है (तै० १-४-९-१)। पितरों का लोक तृतीय है (तांड्य ९-८-५), उस तृतीय लोक का नाम अन्तरिक्ष (चतुर्थ, यहाँ पर) है (ए० ब्रा० ७-५)। जो अग्नि के दहन के साथ साथ स्वाद लेते हैं वे अग्निष्वाता पितर हैं (श० प० २-६-१-७) और जो अयज्वा गृहमेधिन् है वही अग्निष्वाता कहलाते हैं (तै० १-६-९-६)। अग्निष्वाता वे हैं जो अर्द्ध मास कहलाते हैं (तै० १-६-८-३)। वर्हिषद् पितर वे हैं जो पकान्न से दी गई हवियों से लोकों को जीतते हैं (श० प० २-६-१-७) और वे वर्हिषद पितर यज्वन पितर हैं (तै० १-६-९-६)। इनका समय पूरा मास होता है (तै० १-६-८-३)। बर्हिषद् पितरों के लिए धानों को आधा पीसते हैं आधा वैसे ही छोड़ देते हैं, ऐसे धानों को बर्हिषद् पितरों को चढ़ाते हैं (श० प० २-६-१-५)। जिन पितरों का यज्ञ सोम से किया जाता है उन्हें सोमपा पितर कहते हैं इन्हें सोमप्रप्राजा पितर भी कहते हैं (श० प० २-६-१-७; २-६-१-४ तै० १-६-९-५)।

पितर चन्द्रमा के समान और मनः के समान हैं (तांड्य ६-९-१९,२०)। सोम पितृदेवत्य है, सोम ही पितृलोक है (श० प० ३-२-३-१७ कौ० १६-५)। पितृमान् सोम के लिए 'स्वाहा' का प्रयोग किया जाता है (श० २-३-१, श० प० २-६-१-४)। पितृमान् सोम तो वही संवत्सर ब्रह्म है (तै० १-६-८-२)। पितृलोक ओषधि लोक हैं (श० प० १३-८-१-२०)। पितरों की छह ऋतुयें होती हैं (श० प० ९-४-३-८); ऋतु ही पितर हैं (श० प० २-६-१-३२ तै० १-३-१०-५), इन्हीं का यज्ञ पितृयज्ञ है (तै० १-४-१०-८)। शरद् हेमन्त शिशिर मुख्यतः पितरों की ऋतुयें हैं (श० प० २-१-३-१)।

पितर प्रजा हैं, उनका राजा यम है (श० प० १३-४-३-६)। यम क्षत्र है, पितर विश हैं (श० प० ७-१-१-४)। यम ही पितृलोक है (कौ० १६-८)। प्रजापति ने पितरों को निधन दिया, अतः वे निधन संस्थ कहलाते हैं (जै० उ० १-१२-२)। जो संग्राम में मारे गये उनके लिए पितृयज्ञ होता है (श० प० २-६-१-१)। अपक्षीय-मारण पक्ष (उत्तरार्द्ध) ही पितरों का है (श० प० २-१-३-१ कौ० ५-६)। पितरों के लिए अपराह्न काल है (श० प० २-१-३-१)। चन्द्रमा के लिए देवता पूर्वाह्न में, मनुष्य मध्यन्दिन में, पितर अपराह्न में हवि देते हैं (श० प० १-६-३-१२)। पितरों का भाग अन्तिम (उत्तरार्द्ध) है (कौ० १६-८)। यदि नहीं खाता तो पितृदेवत्य होता है (श० प० ११-१-७-२)। पितर मर्त्य हैं (श० प० २-१-३-४)। पितृदेवत्यों

में कुआँ खाई, नीवि आते हैं (श० प० ३-६-१-१३; २-४-२-२४)। पितरों के लिए श्वेताक्षी रोहिणी गौ का आलभन करते हैं (श० प० ३-३-१-१४)। पितरों का नक्षत्र मघा है (तै० १-५-१-२)। पितर प्रजापति हैं (गो० उ० ६-१५)। पितर गृह की इच्छा करते हैं (श० प० २-४-२-२४)। पितर सर्वतः व्याप्त हैं(श० प० २-६-१-११)। पितर पराञ्च (उत्तरार्द्ध हैं (कौ० ५-६)। पितर ह्नीका, हरणभाग उष्मभाग है (तै० १-३-१०-६,७)। पितर देवता ही हैं (कौ० ५-६, गो० उ० १-२४)। पितर स्विष्टकृत् हैं, तीन प्रकार के हैं (गो० उ० १-२५; श० प० ५-५-४-२८)। अयास्य अङ्गिरस पितरों को व्यान से पितृलोक पहुचाते हैं (जै० उ० २-८-३)। पितरों की अग्नि का नाम कव्यवाहन है (श० प० २-६-१-३०)। प्रजा की इच्छा हो तो पितृ ऋण चुका दे (श० प० १-७-२-४)। पितरों को स्वधा शब्द से बुलाया जाता है। स्वधा पितरों का अन्त है (तै० १-६-९-५, श० प० १३-८-१-४)। पितृ लोक कर्म से जीता जाता है (१४-४-३-२४)। वाणी और मनः ही युवा पितर हैं (श० प० ८-६-३-२२) इत्यादि

इन सब श्रुतियों का सार यह है कि पितरों की दिशा नैर्ऋत्य दिशा में है। यह लोक या स्थान चतुर्थ सप्तक के अन्त में पड़ता है, पितर चन्द्रमा स्वरूप या भौतिकात्मा रूप हैं जिसे भौतिक मनः भी कहते हैं। इनका लोक दक्षिणायन है, मर्त्य लोक है जहाँ से प्रेत होकर ये उत्तरार्द्ध की ओर यम की गातु या पथ्यास्वस्ति के द्वारा जाते हैं। प्राणरूप पितरों को अश्रु या अश्व या असु पितर भी कहते हैं, ये भी भौतिकात्मीय चान्द्रमस प्राण हैं। इनकी ऋतु शरद् है। शरद् ऋतु का नाम हविः या सोम है 'शरद्धविः' 'सोमो वै देवानां हविः'। इसीलिए शरद् ऋतु में पितरों का पार्वण या मध्य पर्व वाले मध्यम पितरों का श्राद्ध किया जाता है। यही पितृ लोक भी है, पितर षड्ऋतु वाले हैं। नान्दी मुख पितर चान्द्रमस वृषभ रूप पितरों का नाम है। ये मनः रूप पितर है जिनका ध्यान मात्र किया जाता है जिनका पूजन उत्सवों में भी होता है जैसे यज्ञोपवीत विवाह ग्रहयाग आदि। इनको वाक् रूप पितर कहते हैं। वाक् ही वृषभ या नान्दी है, प्राण रूप पितर श्रोत्र या वायु रूप पितर या असु रूप पितर हैं; मनः रूप पितर सोमपा कहलाते हैं। जो प्राण रूप है, जो वाक् रूप है वही अग्नि रूप भी है, तर्पण प्राण रूप पितरों को दिया जाता है अन्न माने वाक् है।

अध्याय ११७

स्वधा

'स्वधा' शब्द वेदों में अनेक मन्त्रों और स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। यास्क सायणादि भारतीयों तथा अनेक पाश्चात्यों (मैक्समूलर, पीटरसन, वेन्फे, रोथ, ल्यूडेर ग्रीफिथ आदि) ने इस शब्द के अर्थ को भाषाविज्ञान के सहारे 'परिपाटी, नियम, स्थान, घर, सुख और आनन्द' इत्यादि रूपों में वर्णित और अनूदित किया है। आजकल के हमारे भारतीय विद्वान् 'स्वधा' माने 'पितरों को पिण्ड या हवि तर्पणाञ्जलि देना, अपना 'माया का रूपक' या एक परी समझते हैं। जहाँ पाश्चात्यों के अर्थ का आधार ग्रीक शब्द "εθos जर्मन Sihe, प्राचीन उच्च जर्मन Sit-u, और गॉथिक Sid-u है तो भारतियों का अपने कर्मकाण्ड के अभिनय में प्रयुक्त पितरों को देय वस्तु। प्रायः दोनों के आधार एक से हैं। जिन पाश्चात्य शब्दों को पाश्चात्यों ने स्वधा के लिए समझा है उनमें उनका भारी भ्रम है। उनके ग्रीक आदि शब्दों के "εθos आदि के समानान्तर शब्द संस्कृत में 'सिद्ध' शब्द है जिससे 'सीधा' (खाने का सामान या दानीय अन्न) शब्द निकला है। यह शब्द और अर्थ दोनों देशों के विद्वानों की भावना को समानान्तर रेखा में रख देता है। पर इन दोनों प्रकार के अर्थों में वैदिक 'स्वधा' शब्द की ठीक ठीक व्याख्या न तो हो सकती है न वास्तव में ऐसा है ही।

पहिले वेदों में स्वधा शब्द के प्रयोग वाले मन्त्रों और वाक्यों को देख लिया जाय।

(१) यस्य त्रीपूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। (ऋ० वे० १-१५४-४)

(२) उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्। (ऋ० वे० १०-१४-७)

(३) अनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्। (ऋ० वे० ४-३३-६)

(४) उषो अनु स्वधामव। (ऋ० वे० ४-५२-६)

(५) कया याति स्वधया। (ऋ० वे० ४-१३-५)

(६) कया नो अग्ने वि वस सुवृक्ति कामु स्वधामृणवः शस्यमानः। (ऋ० वे० ७-८-३)

(७) क स्या वो मरुतः स्वधासीत्। (ऋ० वे० १-१६५-६)

(८) स्वधा च यत्र तृप्तिश्च। (ऋ० वे० ९-११३-१०)

(९) स्वधामनु। (ऋ० वे० १-१६५-५)

(१०) परि दैवी रनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम्। (ऋ० वे० ९-१०३-५)

(११) परिज्मेव स्वधा गयो अत्यो न ह्वर्यं शिशुः। (ऋ० वे० ६-२-८)

(१२) यदि मे रणणः सुत उक्थेना दधषेचनः आरादुप स्वधा गहि।
(ऋ० वे० ८-३२-६)

(१३) रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधाअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।
(ऋ० वे० १०-१२९-५)

(१४) दधाति रत्नं स्वधयो रपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः।
(ऋ० वे० ९-८६-१०)

(१५) यदिन्द्राग्नी उदिता सूर्यस्य मध्ये दिवः स्वधया मादयेथे।
(ऋ० वे० १-१०८-१२)

(१६) दैव्या होतारा प्रथमान्यञ्जे सप्त पृक्षास स्वधया मदन्ति।
(ऋ० वे० ३-४-७)

(१७) तां चिरेषां स्वधया मदन्तं मिहो नपातं सुवृधं तमो गाम्।
(ऋ० वे० ५-३२-४)

(१८) शतपवित्रा विधया मदन्तीर्देवी देवानामपि यन्ति पाथः।
(ऋ० वे० ७-४७-३)

(१९) त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्य।
(ऋ० वे० १०-१५-१३)

(२०) ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
(ऋ० वे० १०-१५-१४)

(२१) मातली कव्यै........। माँ च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये मदन्ति॥
(ऋ० वे० १०-१४-३)

वर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तुइहागमिष्ठा। (१०-१५-३)

पूर्वोक्त सभी व्याख्याताओं की व्याख्या में जो महान् त्रुटि आई है उसका मुख्य कारण इन लोगों का वेदों के अर्थ करने में वैदिक अर्थ खोजने के स्थान में लौकिक या लौकिक संस्कृत के शब्दों के अनुसार ही वैदिक शब्दों के अर्थ करने का प्रयास है। वैदिक शब्द अधिकांश में, जैसे स्वधा पितर सूर्य आदि हैं सब पारिभाषिक हैं। इनका अर्थ लौकिक संस्कृत में या लोक में या सामान्य व्यवहार में अलग व्यावहारिक या लौकिक भी है जो उनके पारिभाषिक अर्थ से नितान्त भिन्न हैं। अतः लौकिक या व्यावहारिक अर्थ द्वारा वैदिकों की वैदिक भावना की प्रतिष्ठा कदापि हो ही नहीं सकती। इसी कारण एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ करके भी लोगों ने सन्तोषकनक भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकी।

स्वधा शब्द का सीधा सादा अर्थ यह है। वेदों में 'सु' या 'स्व' नाम प्राणों का है यह 'सु असु सुर असुर' आदि शीर्षक में बतलाया जा चुका है। जो 'स्व' या स्वात् अर्थात् प्राणा या प्राणों को धारण करता है उसे 'स्वधा' कहते हैं। प्रायः पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की शक्ति का नाम स्वधा है। उन तत्त्वों में भौतिकात्मा का भी विकास नहीं हुआ है। वे भौतिक तत्त्व रूप शरीर दिव्यशरीर, अश्व या वृषभ आदि में सवार या प्रविष्ठ भी नहीं हुए हैं। वे २४ सों तत्त्व स्वयं या शक्ति के रूप में या स्वधा रूप में या प्राण रूप में अपने को धारण करते हैं, अतः उन्हें 'स्वधा' कहते हैं। यह स्वधा स्वरूप आनन्द स्वरूप है। इनमें आध्यात्मिक आत्माओं की सर्वदिग्‌गामी वैद्युतीय हलचल रहती है (प्राक्‌प्रत्यक् उत्तरदक्षिण वायव्याग्नेय ईशान नैर्ऋत्य ऊर्ध्वाधः)। इसी गतिमान् हलचल का नाम व्यापक, गुदगुदी या आनन्द है। अतः प्रायः 'स्वधया मदन्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका सीधा अर्थ है जो उक्त प्रकार की गतिविधि की आनन्दमयी लहरियों में मस्त या मौजी या आनन्दमय प्राण रूप में रहते हैं। इसी भाव को ऋ० वे० १०-१२९-५ की पूर्वोद्धृत (सं० १२) ऋचा बतलाती हुई कहती है कि वे तत्त्व रेतोधा या गर्भ या वीज धारण करने में समर्थ तत्त्व थे, महिमा वाले महतोमहियान् रूप में व्याप्त तत्त्व थे और वे अपने उस व्याप्तिमय, हलचलमय प्राण या गुदगुदी वाले प्राण केवल अवस्तात् या पूर्वार्द्ध तक ही रहते हैं और उत्तरार्द्ध या परस्तात् में वे प्रयतिः या प्रयोगमय शरीरी हो जाते हैं। परस्तात् नाम मध्यविन्दु से परे के भाग को बतलाने वाला सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं परस्तात् विसीमतः' इत्यादि (विसीमतः मध्यतः सीमातः परस्तात् अधोभागे उत्तरार्द्धे) इसीलिए स्वधा को सं० १५ और सं० २० में 'मध्ये दिवः' या दिव के दोत्रिक सप्तकों के मध्य में या दर्नन के मध्य में बतलाया गया है। उत्तरार्द्ध के तत्त्वों को भी स्वधा नाम से इसलिए पुकारते हैं कि वे भी प्राण रूप प्रथम भौतिक अणु या भौतिकात्मा में पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक प्राणों को या स्वधा प्राणों को एक में विलीयमान होकर से धारण करते हैं। ऐसे उत्तरार्द्धीय स्वधा को विश्वेदेव पितर कहते हैं। तात्पर्य यह कि ४८ वें तत्त्व तक सब तत्त्व स्वधा है पूर्वार्द्धीय दैवी स्वधा है और उत्तरार्द्धीय भौतिक और आसुरी दोनों, इतना ही भेद है।

'स्वधा' शब्द का प्रयोग मुख्यतः पितरों के लिए किया गया है और किया भी जाता है बृहदारण्यक ने स्पष्ट लिखा है। "वाचं धेनुमुपसीत तस्या चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषड्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं बषड्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः (चतुर्थ सप्तक) स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राणा ऋषभो मनो वत्सः॥" (२-५-८) वैदिक दर्शन के तत्त्वों की व्याख्या में जब वाग्ब्रह्म को गौः कहा जाता है तो उसके विकास की पद्धतियों को चार स्तन रूप चार सरणियों में बाँटा गया है। जब देव रूप में विकास परम्परा वर्णित की जाती है तो प्रत्येक तत्त्व स्वाहा या वषड् है जब मनुष्य या नर या पुरुष रूप में करते तब सब तत्त्व स्वधा कहलाते हैं। ऋषि या महर्षि नामक तत्त्व इनके ऋषभ या गौः (पुंलिङ्ग पति) है मनः (चक्षु-सूर्य) वत्स या पुत्र है। इसी

बात का समर्थन सं० २१ की ऋचा करती है कि देवता स्वाहा से आनन्द करते हैं, अन्य पितर स्वधा से। पुरुष सूक्त में इसीलिए उसे 'सर्वहुतः' या 'स्वाहा' कहा है। 'स्वाहा' की व्याख्या 'सु असु' आदि शीर्षक में दी जा चुकी है। पितर मुख्यतः दो प्रकार के हैं स्वधावाचनीय, पूर्वार्द्धीय और विश्वेदेव स्वधावाचनीय उत्तरार्द्धीय। क्योंकि विश्वेदेव पितर भौतिकात्मा युक्त हैं, पर पूर्वार्द्ध के सब पितरों को सम्मिलित रखता है। अतः उसके पूजन में त्रिपुरुषी का आह्वान करके उसे भस्म रेखा द्वारा पृथक् रखा जाता है। क्योंकि वह भौतिकता रूप के पितर शूद्र शरीरी है। भस्मरेखा द्वारा भस्मशरीर का पार्थक्य दिखाने की रीति इनके भेद का चिह्न है। इन पितरों का वर्णन पुनः दो मुख्य रूपों में किया जाता है (१) अग्नि रूप (जातवेदा, या वैश्वानर) और आपो रूप। अग्नि रूप पितरों को अग्नि जिह्वा या अग्निष्वाता पितर कहते हैं या ये अग्निदग्धा भी कहलाते हैं 'पितर शीर्षक' मन्त्र २० और १५ देखें। जिन्हें आपो रूप पितर कहते हैं उनका स्वरूप रसमय समझा जाता है। जैसा कि १४, १५ के मन्त्र से स्वयं स्पष्ट है। जिसका समर्थन सं० १८ मन्त्र भी कर रहा है। इसीलिए पितरों को जलाञ्जलि या तिलाञ्जलि से तर्पण दिया जाता है। क्योंकि वे आपोरूप हैं, अतः जलरूप स्वधा से तृप्त होते हैं ऐसा मानने की प्रथा चलाई गई। वास्तव में यह तर्पण या जलरूप पितरों का अभिनय है। श्राद्ध में जब अपने पितृब्रह्मों का पूजन तर्पण करना होता है तो जनेऊ दक्षिण या अपसव्य किया जाता है पर जब विश्वेदेव का पूजन होता है तो जनेऊ सव्य या वाम किया जाता है। इसका रहस्य यह है पूर्वार्द्धीय विश्वेदेवता वाम वा सव्य है (अस्य वामस्य पलितस्य)। पितर तो उत्तरार्द्धीय भौतिक हैं दक्षिण भागी हैं, अतः जनेऊ दक्षिण दिया जाता है। अग्निरूप पितर विश्वेदेव में या अन्नरूप सोम में परिणत होते हैं। पिण्डदान विश्वेदेव ही के लिए होता है। वह अन्न नामक सोम का प्रतिनिधि है, अतः व्यावहारिक अन्न या पिण्ड या भोजनादिक दान द्वारा सोमीय विश्वेदेव पितर का अभिनय किया जाता है। तर्पण में भी व्यावहारिक या लौकिक जल द्वारा अभिनय किया जाता है जिन दोनों अभिनयों के अन्तस्तल में पितृविषयक आपोरूप वैद्युतीय पितरों विश्वेदेव (पूर्वार्द्ध से) विकसित तथा सोमरूप अन्नमय पितरों का वैदिक दर्शन गूढतया पिहित है। ये व्यावहारिक प्रथायें हिरण्मय पात्र हैं जिनके द्वारा उक्त वैदिक दर्शन के सत्य का मुख पिहित या आवृत है।

सं० १ में स्वधा को 'त्री पदानि' का वासी बतलाया है। त्री पदानि त्रिपादा या गायत्री ब्रह्म के २४ तत्त्व पूर्वार्द्ध के स्वयं आते हैं। इसी पूर्वार्द्ध के अन्त में वरुण है, उत्तरार्द्ध में यम। अतः दोनों को स्वधा से 'मदन्ति' कहा है। उत्तरार्द्ध में सोमीय स्वधा है जिन्हें सोमपा पितर कहते हैं, पूर्वार्द्ध के अग्निपा या अग्निष्वाता। तृतीय मन्त्र में ऋभुओं को स्वधा के मार्ग में (पूर्वार्द्ध में) जाने की बात कही है। इसका खुलासा ऋ० वे० ४-३७-१ में 'उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देव-यानैः' वाक्य करता है जिसमें ऋभुओं को देवयान या त्रिपादामृत से जाने के लिए पितरों की तरह प्रार्थना की गई है। चौथे पाचवें छठे सातवें में 'किस स्वधा से

जाता है' आदि वाक्य स्वधा का भेद पूछते हैं। यही बात ८ वें नवें में है। दशम में स्वधा को दैवी और भौतिकी दो प्रकार का बतलाया है। बारहवें और ग्यारहवें में स्वधा को सुत और शिशु नाम से पुकार कर इसे सोमीय या भौतिक स्वधा होने का स्पष्ट संकेत दे रखा है। तेरहवें में स्वधा शब्द पूर्वार्द्धीय दैवी स्वधा का सूचक है। चौदहवें में स्वधा को इन्द्रियः रस नाम से पुकार कर इसे रसमय सोमीय या भौतिक स्वधा बतलाया है। पन्द्रहवें में स्वधा को दिव नामक तृतीय सप्तक में स्थित बता कर, सूर्योदय को दर्शन के मध्य स्थान में लाने वाली कहा है। सोलहवें में सप्त पृक्षास सप्त अङ्गिरस ऋषियों के शरीर का सूचक होने से स्वधा उत्तरार्द्धीय अपने आप हो जाती है। सत्रहवें की स्वधा मिहोनपात् पूषा की सूचक होने से उत्तरार्द्ध के आरम्भ को तमोमय भौतिकता के आभास वाली स्वधा है। अट्ठारहवें में तो उसे दैवी स्वधा नाम से पुकार कर उसे निश्चयपूर्वक पूर्वार्द्ध की स्वधा बतला दिया है। उन्नीसवें की स्वधा जातवेदाग्नि रूप तृतीय सप्तक की है। बीसवें की पन्द्रहवें के समान दिवः या तृतीय सप्तक की है। दोनों में स्थान वाची शब्द दिवः है। इक्कीसवें में देवताओं को स्वाहावाची और पितरों को स्वधावाची बतलाया है।

ऐसी परिस्थिति में जिन लोगों ने 'स्वधा' शब्द को ग्रीक "εθos या जर्मन Sitte. आदि का गलत रूप से समानाधिकरण समझा है वह कितना संगत है आप ही विचार करें। उक्त ग्रीक जर्मन आदि शब्द का समानाधिकरण संस्कृत शब्द तो 'सिद्धम्' है जो प्रायः मिलते जुलते हैं, 'स्वधा, से ये शब्द तनिक भी तो नहीं मिलते ? एक बात। दूसरी बात यह है कि स्वधा शब्द के उक्त पारिभाषिक अर्थ या रहस्य को न जान कर रोथ ने इसका अर्थ पारपाटी नियम परिचित स्थान, घर; साधारण परिस्थिति, आराम सकुशलता, और सन्तोष; साधारण रूप से (स्वधामनु, अनु-स्वधाम्) इच्छानुसार, निर्बाध स्वधया, साधारण रूप से सन्तोषपूर्वक, आराम से, इच्छानुकूल, स्वभावभिप्रेरित; सुधा मीठा, पेय, तर्पण, दिया है। ये सब अर्थ अट-कलपच्चू हैं। प्राचीन ग्रन्थों ने वैदिक अर्थ को न समझते हुए भी पुरानी लकीर के फकीर बनकर भी यह महान् उपकार किया है कि उन्होंने वैदिक शब्द स्वधा का ठीक ठीक पर्याय वाची लौकिक अर्थ तो दे दिया है जैसे—निघण्टु १-१२ में स्वधा नाम 'उदक' (जल) का है, निरुक्तकार यास्क ने ७-२५ में स्वधा माने 'अन्न' दिया है; सायण ने भी इन्हीं अर्थों की प्रतिष्ठा की है। इन दोनों अर्थों (जल) उदक और अन्न में वैदिक रहस्य की प्रतिष्ठा की पूरी शक्ति है। अतः यही अर्थ इस शब्द के उचित हैं जिनका विवरण पहिले दे दिया गया है। 'स्वधा' शब्द का अर्थ 'स्थान नियम परिपाटी सन्तोषादि' कुछ नही है, सब धोखा है। हां स्वधा के दो स्वरूप हैं उनके स्थान हैं, कहीं-कहीं इसीलिए स्वधा का अर्थ स्थानापेक्षा अवश्य रखता है जैसे मंत्र ५, ६, ७, इत्यादि में पर यहां भी स्वधा का अर्थ स्थान आदि नही है। इतना अवश्य है 'स्वधा' माने 'आनन्द मय' 'रसमय' ब्रह्म होता है तो वह बात ही दूसरी है। ऐसे अर्थ वाले स्थलों में इन्द्राग्नी पितर आदि सब तत्व या देवता, रसमय आनन्दमय ज्ञानमय प्रकाशमय (बुद्धि मन) मौलिक तत्वों का विवेचन

देते हैं; वहाँ हँसी खुशी मौज मस्ती आदि लौकिकार्थ के लिए कोई अवसर है ही नहीं।

अन्त में एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता। थोड़ी देर के लिए मान लियां जाय कि ग्रीकजर्मन εθos, sitte आदि शब्द संस्कृत के 'स्वधा' के समानाधिकरण हैं, पर भाषा तत्त्व का विद्यार्थी जानता है कि समानाधिकरण तो समकालीन भाषाओं में ढूढ़ना चाहिए। ग्रीक जर्मन आदि शब्द तो तब लिखे गये जब वेदों को बने हजारों वर्ष बीत चुके थे। दूसरी बात यह है कि एक ही शब्द स्थान स्थान पर अपने अर्थ का रंग बदलता रहता है। ग्रीक आदि के पास वेद तो हैं नहीं तब क्या निश्चायक है कि जो अर्थ ग्रीक εθos आदि का ग्रीक में है वही उसके समानाधिकरण वैदिक स्वधा का होवे। हमारी और उनकी विचार धाराओं तथा संस्कृतियों में आकाश पाताल का अन्तर है; वही शब्दार्थों में भी होगा। ग्रीक आदि की तुलना अधिक से अधिक लौकिक संस्कृत के 'सिद्ध' शब्द से ही की जानी चाहिए। एक और बात है १९ संख्या तक के 'स्वधया मदन्ति' और २०,२१ वें के 'स्वधया मदन्ति' में पीटरसन महाशय को बड़ा अन्तर प्रतीत होता है, प्रथम को वे तृतीयायुक्त क्रिया विशेषण कहते हैं, द्वितीय को 'संज्ञा' जिसका अर्थ वे 'तर्पण का पानी' समझे हैं अतः उनको अपने अर्थ से उक्त दोनों प्रकार की ऋचाओं के निर्माण में बहुत बड़े भारी समय की खाँई बीच में दिखाई दी है क्योंकि दूसरा शब्द दशम मण्डल में है। दोनों स्थानों में एक ही अर्थ है, और दशम मण्डल वाला तो अधिक स्पष्ट दार्शनिक विवेचन दे रहा है, यह पहिले बृहदारण्यक के उदाहरण और उद्धृत उल्लेख सहित लिखा जा चुका है।

अध्याय ११८

असुनीतिः

अभी अभी पितरों के वर्णन में 'असुनीति' की चर्चा आई थी। 'असुनीति' वह तत्त्व है जिससे भौतिक शरीर में ब्राह्म चैतन्य का तादात्म्य हो जाता है। इस चैतन्य को आजकल के दार्शनिक लोग अभौतिक तत्त्वों में समझते हैं। अभौतिक पूर्वार्द्धीय आत्मारूप तत्त्व एवं स्वाहा रूप स्वयं प्राण रूप या चैतन्य रूप हैं। उनमें चैतन्य नहीं वरन् उनका स्वरूप ही चैतन्यमय चिन्मय या स्वाहा रूप स्वानन्द रूप है। ब्रह्म की इस चैतन्यता का नाम इसीलिए वैदिकों ने असद् या मृत्यु नाम दे रखा है और लौकिक चैतन्यता के प्रारम्भ करने वालों को मित्र वरुण या अग्नि (वैश्वानर) नाम से पुकारा है। जिन तत्त्वों से भौतिकात्मा का विकास होता है (वरुण मित्र और वैदिक नासन्नोसद्वाद देखें) असुनीति उक्त तीनों का एक सम्मिश्रित सा नाम है। व्यवहार में जिसे चेतनता या चैतन्य नाम से पुकारा जाता है वह तो केवल भौतिक शरीर से सम्बन्ध रखता है; भौतिक शरीर में भी भौतिकात्मा से सम्बन्ध रखता है। चेतनाचेतन भेद भौतिकों का है। इस भौतिकता की चैतन्यता का अभ्युदय भौतिकता के उदय के साथ साथ ही होता है। जब एक ओर से भौतिकात्मा के स्वरूप का उदय होता है तो साथ ही साथ 'असुनीति' उनमें असु भी फूक देती है। नहीं नहीं यही असुनीति ही प्राणों के विकास की पद्धति है, प्राणों ही से भौतिकात्मा का उदय होता है। जो तत्त्व प्राणों से उत्पन्न होता है वह प्राणवान् चैतन्यमय न हो, यह हो नहीं सकता। विकास के ह्रास में भौतिकात्मा केवल प्राण रूप में रह जाता है या असुरूप में परिवर्तित हो जाता है यह निम्न ऋचा में स्पष्ट दिया हुआ है

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु॥"
(ऋ० वे० १०-१५-१)

कि वे पितर जो असु रूप या प्राण रूप में परिणत हो चुके हैं, जिन्होंने भौतिकात्मा के खोल को छोड़ दिया है या 'अवृकाः' हो गये हैं, (वृक नाम चन्द्र या सोम या भौतिकात्मा का है उससे जो हीन हो गये हैं) वे पिता हमारी रक्षा करें। इस असुनीति नामक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का वर्णन निम्न रीति से ऋ० वे० ने स्वयं दिया है

"असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्द्धयस्व॥
असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राण मिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृलया नः स्वस्ति॥

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥"
(ऋ० वे० १०-५९-५,६,७)

हे असुनीते ! हमें सदा जीवित रखने और रहने के लिए हम में सदा कामना धारण किये रखो ! हमारी आयु को दीर्घ काल तक पार लगाओ। हमें सूर्य रूप कामब्रह्म की चक्षु रूप भौतिकात्मा में सदा सम्पन्न रखो, तथा उस भौतिकात्मा के शरीर को अपनी प्राणात्मता से नित्य परिवर्द्धित और सुरक्षित रखो। हे असुनीते हमें वारम्बार सूर्यरूप चक्षु की भौतिकात्मा, अपनी प्राणरूप प्रतिमा, तथा उन दोनों के भोग का भागी बनाओ जिससे हम सदा ही अपनी देहात्मा (सूर्य) को देदीप्यमान स्वरूप में उगते हुए देखते रहें, तथा तदनुकूल परिस्थिति के लिए हमें सदा कल्याणकारी मार्ग में रखने की कृपा करो (मृळय)। हमें पृथिवी पुनः पुनः प्राणों को देती रहे, द्यौर्देवी तथा अन्तरिक्ष हमें सदा प्राणों को देते रहे। और सोम हमें सदा दिव्य शरीर (भौतिकात्मा) को वारम्बार देता रहे, तथा पूषा हमें सदा ऐसे कल्याणकारी पथ्या में रखे जहाँ सदा मंगल कामनायें पूरी होती रहें। पथ्या नाम उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की विकास परम्परा का है। आगे 'पथ्या स्वस्ति' शीर्षक देखें। यहाँ पर एक वाक्य परम महत्त्व पूर्ण हैं 'सोमस्तन्वं ददातु' कि 'सोम हमें तनु या शरीर दे'। इस वाक्य से स्पष्ट है कि सोम का सम्बन्ध सीधे भौतिक दिव्य शरीर से है, वही सत् या भौतिकात्मा है। असुनीति का अर्थ 'असून् प्राणाम् नयतीति' व्युत्पत्ति से वह तत्त्व है जो प्राणों को दिव्य शरीरादि में ले जाता है और उसमें सुरक्षित सन्निहित तथा प्रतिष्ठित रख सकती या रखती है।

———

अध्याय ११६

मृत्युः

मृत्यु नामक तत्त्व की व्याख्या* श० प० ब्रा० ने १०-४-३ और १०-४-४ पूरे दो प्रपाठकों में दे रखी है। यहाँ पर मृत्यु नाम संवत्सरब्रह्म का बताया गया है।

१—मृत्यु क्या है ? यह संवत्सर ब्रह्म रूप मृत्यु अहोरात्रों से आयु क्षीण करता है जिससे मृत्यु होती है, यही अन्तक है। इसके विपरीत युद्ध के लिये अग्निश्चयन करके विद्या प्राप्ति द्वारा अमृतत्त्व प्राप्त करके मृत्यु पर विजय पाई गई। ऐसा न करने से यह तो प्रजापति को भी मार देता है उसको भी हजारों वर्ष तप करना पड़ा। भाव यह है कि वैदिकों का 'मृत्यु' शब्द पारिभाषिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण सम्पन्न होने से अत्यन्त दार्शनिक भी है। सृष्टि के आरम्भ ही से दो शक्तियाँ साथ साथ चलती है। एक दैवी है दूसरो आसुरी। इनमें आसुरी या असुर ज्येष्ठ हैं, दैवी या देव कनिष्ठ। प्रथम विकास आसुरी और असुर का होता है, उसी में दैवी या देवताओं की सम्पदा का विकास किया जाता या होता है। इस प्रकार दैवी शक्ति का स्फुरण असुर आसुरी शक्ति का नाश कर देता है। असुर और आसुरी शक्ति के इस नाश दबोचने और पराजित होने.का नाम मृत्यु है। इसका इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन बृहदारण्यक ने प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में आदि से १६ तक (१ से १६ तक) भागों में किया है जिसका आशय इस प्रकार दे दिया जाता है। कथा का आरम्भ द्वितीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग ७ से किया गया है। 'श्व' नाम अश्व या प्राणों का है जिसे यशः भी कहते हैं उसे मेध्य या दैवी बनाने की चेष्टा में अश्वमेध दोनों का एकत्व किया गया। मेध्याश्व दैवी प्राण हैं इनका शरीर असुर या मृत्यु है, इस प्रकार दैवी आसुरी एकदेवत्य हैं एकात्मीय हैं ॥७॥ आसुरी सम्पदा ज्येष्ठ और दैवी कनिष्ठ है, वाणी का आसुरी रूप 'अप्रतिरूप कथन' है, प्राणों का आसुरी रूप अप्रतिरूप जिघ्रण (सूँचना) है, चक्षु का आसुरी रूप अप्रतिरूप दर्शन है, श्रोत्र का आसुरी रूप अप्रतिरूप श्रवण है; मन का आसुरी रूप अप्रतिरूप संकल्प है। इन सबमें कल्याणकारी-वाणी, प्राण दर्शन श्रवण संकल्प इत्यादि दैवी रूप हैं। आसुरी रूपों का नाम पाप्मा द्विषन् और भ्रातृव्य है; इनका हनन, दमन, शमन, आदि ही मृत्यु है। इनकी मृत्यु के पश्चात् ही दैवी सम्पदा दीप्त प्रकाशित प्रगट होती और प्रभाव दिखलाती है। ऐसी सम्पदा

---

* गो० पू० ने लिखा है कि जो समुद्र से छूटा उसे मुच्यु कहते कहते मृत्यु कहने लगे जैसे "स समुद्रादमुच्यत स मुच्यु रभवत्तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण"......'मृत्युदेवायः' (बृह० उप० १-१-६) अन्य ग्रन्थों में 'अशनयया मृत्युः' (त० ३-९-१५-१,२) 'मृत्युर्वै तमः' (ऐ० ब्रा० ७-१२ श० प० १४-४-१-३२) 'आदित्यो मृत्युः' (श० प० १०-५-२-३) आदि लिखा है।

वाली प्राणों को 'दूः' नाम से पुकारते हैं, क्योंकि मृत्यु इनसे दूर है। वाणी की मृत्यु (आसुरी शक्ति) को मार कर अग्नि उत्पन्न होती है; प्राणों की मृत्यु को मार कर वायु उत्पन्न होती है; चक्षु की मृत्यु को मार कर आदित्य (सूर्यः चक्षुः) दर्शन शक्ति उत्पन्न होती है, श्रोत्र की मृत्यु को मार कर दिशायें, तथा मन की मृत्यु को मार कर चन्द्रमा (सोम भौतिकात्मा) का उदय होता है जो स्वयं प्रकाशमान् और प्रकाशित है। भौतिकात्मा भी दैवी सम्पदा है, अमृत है। आसुरी सम्पदा मर्त्य मृत्यु है। सारी स्थूल भौतिक सृष्टि आसुरी है, यह वृत्र वर्णन में बतलाया जा चुका है। अतः यह अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक रूप में मृत्यु रूप मर्त्य रूप, क्षणिक, नित्य परिवर्तन शील, अतः अनृत या मिथ्या कहलाता है। जब यह मृत्यु रूप ब्रह्माण्ड दैवी स्वरूप में परिणत होता है तब सब उसको मृत्यु नाम से ठीक रूप में कहते हैं। जिसे व्यवहार में मृत्यु कहते हैं उसका ठीक आशय यह है कि आसुरी, अनृत, या मिथ्या रूप को दैवी ऋत और सत्य या देदीप्यमान स्वरूप मिल गया है और स्थूल आसुरी शरीर ने अपने को क्रम से चान्द्र, सौम, ऐन्द्र, रौद्र, और ब्राह्म स्वरूपों के दैवी रूप में परिणत करना आरम्भ कर दिया है। अब आप को

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय"

नामक बृह० उप० के वाक्य के स्वलिखित भाष्य का अर्थ स्वयं लग जावेगा यह वाक्य 'नासोन्नासद्वाद' के अन्त में भाष्य सहित दे दिया है, वही पढ़लें। ऐ० ब्रा० ४-१-५ में लिखा है कि अहः देवताओं का निवास स्थान है रात्रि असुरों का, और रात्रि के तमः (तमोगुणरूप अन्धकारमय भौतिकता) को मृत्यु नाम से पुकारते हुए लिखा है "रात्रेस्तमसोर्मृत्योः······तम इव हि रात्रिर्मृत्युरिव" और श० प० ब्रा० ने लिखा है कि पूर्वार्द्ध दिन तो देवताओं का है और उत्तरार्द्ध रात्रि असुरों की है जिसे अत्तारभोक्ता और मृत्यु कहते हैं। मृत्यु या मर्त्य पाँच हैं 'लोम त्वङ् मांस अस्थि मज्जा' और देवताओं के पाँच अमृत-मनोवाक् प्राण चक्षु श्रोत्रम् दर्शन के पूर्वार्द्धीय तत्त्व हैं (१०-१-३-१ से ४ तक)। गीता ने भी लिखा है 'तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः' (१३-२५)। यहाँ पर मृत्यु नाम से भौतिक संसार सागर को पुकारा गया है जिसे ज्ञान की नाव से पार किया जाता है।

जिस प्रकार की मृत्यु की व्याख्या उक्त परिच्छेद में दी गई है ठीक उसी सरणि में ऋ० वे० १०-१८ का मृत्यु सूक्त भी मृत्यु की तद्वत् व्याख्या देता है। सबसे प्रथम मन्त्र ही उक्त कथन की पुष्टि में कहता है कि 'हे मृत्यो! तुम उस अलग मार्ग से जावो पृथक् जावो जो मार्ग तुम्हारा अपना है वह मार्ग देवयान या दैवी सम्पदा के मार्ग से पृथक् है। तुम भी चक्षुष्मान् और श्रवणवान् अर्थात् भौतिक स्थूल आसुरी रूप वाले हो, तुम न तो हमारी दैवी सम्पदा के तन्द्रमा सोम को, न इनको प्रारम्भ करने वाले वीर—अत्रि मित्र वरुण—आदि पर अपना प्रकोप दिखाओ यह हम तुमसे कहते हैं या प्रार्थना करते हैं जैसे

२—मृत्यु सूक्त

"परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥"
(ऋ० वे० १०-१८-१)

आसुरी शक्ति सम्पन्न मृत्यु रूप स्थूल भौतिक शरीर को उसकी अन्तरात्मा चन्द्र या सोम रूपी दैवी शक्ति भौतिकात्मा से पृथक् करने के बारे में स्पष्ट शब्दों में पुनः लिखा है कि "हम दैवी शक्ति रूप भौतिकात्मा चन्द्र सोम और आसुरी शक्ति मय विकृत अप्रांतरूप वृद्ध भौतिक तत्त्व दोनों को एक दूसरे से अलग रखने के लिए एक परिधि घेरा बना देते हैं जिससे एक शक्ति दूसरे के क्षेत्र में खलबली न मचा सके। इस मृत रूप आसुरी शक्ति को हम ब्राह्म रौद्र ऐन्द्र के पर्वतों त्रिपादामृतों के पर्वों के व्यवधान से बाहर ही बाहर रख देते हैं जिससे भौतिकात्मा शत सहस्र वर्षों तक जीवित रह सके॥" जिस प्रकार दिन प्रतिदिन उदित होता रहता है और एक ऋतु दूसरे ऋतु को नियमतः लाती रहती है, जिस प्रकार अग्रिम विकास अपने पूर्व पर्व या मूल को नहीं छोड़ता ठीक उसी प्रकार इस भौतिकात्मा की आयुः त्रिपादामृतों के अनुकूल शत सहस्र वर्षों की होवे, हे धातः! यह हमारी याचना है। जैसे

"इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरुची रन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥
यथाहन्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायुंषि कल्पयेषाम्॥"
(ऋ० वे० १०-१८-४,५)

इत्यादि। यहाँ पर दैवी शक्ति को एक नये देवहूति नाम से भी पुकारा गया है जिसको पौराणिकों ने कपिल की माता के नाम लिए चुना (ऋ० वे० १०-१८-३)।

मृत्यु की मृत्यु करने वाले तत्त्व ब्रह्म प्राणशरीर रूप 'आपः' हैं। मृत्यु नाम अग्नि या भौतिकात्मीय अग्नि का है जो आपः सागर में बुझ जाता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। 'अग्नि वैं मृत्युः सोऽपामन्नं' (बृह० उप० ३-२)।

यहाँ पर ईशावास्य के 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' तथा कठ के मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' का भाव समझा देना भी इस सन्दर्भ को सर्वाङ्गीण बना देगा। ईशावास्य ने दो विद्यायें मानी हैं

३—विद्या और अविद्या विद्या और अविद्या जिनको वह दैवी और आसुरी सम्पदा का पर्याय रूप में प्रयुक्त कर रहा है। दैवी पूर्वार्द्ध दर्शन का नाम विद्या है, उत्तरार्द्धीय भौतिकी या आसुरी का नाम अविद्या है, अविद्या में मृत्यु है क्योंकि यह आसुरी सम्पदा पाप्मा और पाप विद्ध हैं, विद्या तथा ब्रह्म विद्या या ब्रह्म 'अपाप विद्धा' है यह उपनिषद् ने स्वयं लिखा है "तत्र को मोह ...शुद्धमपापविद्धम्"। अविद्या से अधन्तमः में प्रवेश पाना आसुरी भावना में फँस जाना है। इस अविद्या रूप आसुरी भावना का नाश हो जाने के पश्चात् ही मृत्यु को पार किया जा सकता है आसुरी नष्ट हुई नहीं मृत्यु नष्ट हुई या पार हो गई और विद्या का अमृत मिल गया।

विद्या का नाम सम्भूति या दैवी सम्पदा है, अविद्या का नाम असम्भूति और विनाश भी है। अतः असम्भूति के विनाश रूप, आसुरी अविद्या के नाश से विद्या की प्राप्ति भी इसी दृष्टि कोण से बतालाई गई है। यह आसुरी सम्पदा हिरण्मय पात्र के समान है जिससे सत्य रूप विद्या का मुख सदा प्रच्छन्न रहता है। अतः अविद्या रूप आसुरी सम्पदा के ढकने को, उठा कर फेंक देने के बाद ही दैवी सम्पदा का द्वार खुलता है। आसुरी सम्पदा में सर्वत्र नानात्व दीखता है नानात्व, क्षणिकत्व या क्षणभंगुरत्व सीमित का दूसरा नाम है जो अमृत अजर ब्रह्म में हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह नित्य विभु व्यापक और एक है। इसीलिए कहा है 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' कि आसुरी सम्पदा को यथार्थ मानने वाला प्रतिक्षण विद्यमान नाशवान शरीर को ही सब कुछ समझकर, यावज्जीवन प्रतिक्षण मृत्यु का ग्रास मात्र होता रहता है उसे त्रिपादामृत ब्रह्म और विद्या का अमृत कभी नहीं मिल सकता क्योंकि वह क्षणभंगुर नानात्व रूप आसुरी सम्पदा या अविद्या से नितान्त हीन है।

———

अध्याय १२०

यमः

यम भौतिकात्मा के विकास का एक रूप है; मृत्यु उसकी (यम देह की) आत्मा अमृत है देवता है। यह अखिल ब्रह्माण्ड यम की देह भौतिकात्मा के ताने बानो से बना है, यम शरीर है मृत्यु आत्मा। यम नाम 'यच्छतीति यमः' 'संयमतीति यमः' निरुक्तियों से सम्पादित होता है। ऋ० वे० १०-१४-१४ में प्रथम व्युत्पत्ति के आधार की व्याख्या दी गई है; लिखा है कि यम ने देवताओं या तत्त्वों को जीवित रहने के लिए या जीव रूप देने के लिए दीर्घायुः या सोम शरीर प्रदान किया जैसे

१—यमः

"यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वायमद्दीर्घायुः प्र जीवसे॥"

दीर्घायुः या आयुः नाम सोम का है "अद्रेःसूनुमायुमाहुः" (ऋ० वे० १०-२०-७) आदि नाम यहाँ सोम का है। यम को राजा कहा गया है 'यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन' (ऋ० वे० १०-१४-१५) और इसको विवस्वान् आदित्य का पुत्र बताया गया है

"विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य।"

(ऋ० वे० १०-१४-५)

विवस्वान् नाम अदिति के आठ पुत्रों में से अष्टम पुत्र का है इस अष्टम पुत्र का नाम मार्ताण्ड है; (ऋ० वे० १०-७२-८,९) "अष्टौ पुत्रासौ अदितेः······परा-मार्ताण्डमास्यत्॥ सप्तभिः पुत्रैरदितिः······पुनः मार्ताण्ड माभरत्॥" (श० प० ब्रा०) ने लिखा है कि इस मार्ताण्ड नामक अष्टम आदित्य(अदिति पुत्र) को ही 'पुरुष पशु' कहते हैं। क्योंकि इसका आकार वेडौल था; जितना बड़ा इसका धड़ था उतना ही बड़ा सिर भी था। अतः इसे 'पुरुष पशु' नाम से पुकारने लगे थे। तब देवताओं ने उसके शरीर के विकृत भागों को काटा। जो कटा भाग निकला उसे 'हस्ती' कहने लगे जो शेष रहा उसे विवस्वान् कहने लगे। अतः यह विवस्वान् २८ वां तत्त्व स्थिर होता है २७ वां मार्ताण्ड है २६ वां बिष्णु है। इस दृष्टि से यम का स्थान दार्शनिक तत्त्वों में २८ वां बैठता है (श० प० ब्रा० ३-१-३-१ से ५ तक)। विवस्वान् की पत्नी, त्वष्टा की लड़की सरण्यू थी, उसीसे यम यमी यमल हुए। पश्चात् सरण्यू सवर्णा को अपनी जगह रखकर अश्वीरूप धारण करके भाग गई तो, विवस्वान् भी अश्व बनकर पीछे लग गया, इनसे अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ। सरण्यू की प्रतिनिधि सवर्णा से मनु उत्पन्न हुए। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से जब यह कहा कि "मैंने पहिले इस योग को विवस्वान् को दिया, विवस्वान् ने इसे मनु को बतलाया और मनु ने इसका व्याख्यान इक्ष्वाकु से किया" तब गीता ठीक वैदिक तत्त्वों के क्रमों का अनु-सरण कर रही है। यम नामक मनु तत्त्व की इस क्रमिक श्रेणी या संख्या का समर्थन

हमारे कर्मकाण्ड में प्रचलित 'संकल्प' के वाक्य 'अस्मिन् वैवस्वत नाम मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे' इत्यादि से हो जाता है। क्योंकि यहाँ भी वैवस्वत मनु को २८ वां कहा है, ब्रह्म को छोड़कर इस मनु का स्थान २८ वां ही होता है; २८ वां तत्त्व ही २८ वां मन्वन्तर कहा गया है। इसीलिए (ऋ० वे० १०-५१-५) में यम को मनु कहा है 'ऐ हि मनु देवयुः'। उक्त तत्त्वों में विष्णु को छोड़ कर सब राजर्षि हैं या क्षत्र तत्त्व हैं। अतः पुनः गीता ने वहीं पर लिखा है कि इस नष्ट हुए योग को तो केवल राजर्षि लोग जानते थे; और दूसरे स्थान पर लिखा है कि यह योग या दर्शन अत्यन्त रहस्यमय तथा गूढ है, ज्ञान और विज्ञान दोनों की कसौटी में कसा हुआ है, यह राज विद्या है, राज गुह्य है, पवित्र है, प्रत्यक्ष रूप से ज्ञेय है, धर्म्य सु सुख कर्ता और अनश्वर है।

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः॥" (गीता ४-१,२)

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात्॥
राज विद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥" (गीता ९-१,२)

यह यम व्यक्त तत्व है। इस व्यक्त का निर्माण पूर्वार्द्धीय अहः, आपः और रात से किया गया जैसे "अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै" (ऋ० वे० १०-१४-९)। यम इस लोक या ब्रह्माण्ड का प्रथम व्यक्त शरीर है।

'पन्थाः' 'गातु' 'पथ्याः स्वस्तिः'

यम के बारे में दो मुख्य बातें कही गई हैं (१) वह अपनी 'पथ्या' का वासी तत्त्व है पर यह पितरों को 'पूर्वेषां पन्थाः' 'पन्थाः' 'पथि' या गव्यूति में ले जाता है। पथ्याः या 'पथ्याः स्वस्ति' उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की क्रमिक माला का नाम है तथा 'पूर्वेषां पन्था' पन्था आदि नाम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की क्रमिक विकास परम्परा के नाम हैं। इसी पूर्वार्द्धीय मार्ग का नाम 'गातु' भी है (यजुः २-२१, ८-२१ देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमित)। जिसको अहः रात्रि, द्यावा पृथिवी, उत्तरायण दक्षिणायन, और शुक्ल कृष्ण पक्ष कहते हैं उसी को पूर्वेषां पन्था (तथा पन्था पथः पथि गव्यूति या गातु) और 'पथ्या' या 'पथ्याः स्वस्तिः' कहते हैं। अस्तु पितर भी दो प्रकार के हैं, यह बतलाया जा चुका है। ये दो प्रकार के पितर पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय हैं। यम उत्तरार्द्धीय पितरों को पूर्वार्द्धीय पितरों के पन्था गातु गव्यूति का दर्शक तत्त्व है। पूर्वार्द्धीय पितरों को सदा 'पूर्वे पितरः' और उनके मार्ग को 'पूर्वेषां पन्थाः' या पन्था या गातु गव्यूति इत्यादि नाम से सर्वत्र पुकारा गया है। जैसे

२ — यम की पथ्या

पूर्वेषां पन्था मनुदृश्य धीरा अन्वा लेभिरे रथ्यो न रश्मीन्' (यजु ३४-४९)

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'

(ऋ० वे० ५-५१-१५ स्वस्ति वाचन)

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्वेभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम्॥"

(ऋ० वे० १०-१४-७)

निम्न ऋचा में उक्त दोनों मार्गों का विवरण एक साथ देकर इस संबन्ध के संशय को दूर कर दिया है। इसमें लिखा है कि पूर्वार्द्धीय पितरों के 'पूर्वेषां पन्था' या 'गातु' को सबसे पहिले यम ने जाना। उसके इस गव्यूति के ज्ञान को उससे कोई नहीं छीन सकता (वही सबके शुभाशुभ कर्मों का निर्णय करके उन्हें पूर्वार्द्ध के पितरों की गति या पन्था में चलने दे सकता है, इसमें उसका निर्णय अन्तिम है)। यम का अपना मार्ग 'पथ्या' कहलाता है और यह 'पथ्या' जीवों के शुभाशुभ कर्मों की सरणि होने से पथ्या कहलाती है। ('पथ्या ३ अनुस्वाः' यम पथ्या का संरक्षक दर्शक निर्णायक है)। अतः इस पथ्या को भलीभाँति समझ बूझ कर (ऐना जज्ञाना) वह उन्हें पूर्व पितरों के मार्ग में चलने का अधिकार देता है। जैसे

"यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या ३ अनुस्वाः॥"

(ऋ० वे० १०-१४-२)

स्वस्ति वाचन ऋ० वे० ५-५१-१४ में 'स्वस्ति पथ्या रेवति' वाक्य इसी यम की पथ्या का वाचक है। 'पन्था' नाम अलग १५ वें (ऋ० वे० ५-५१-१५) में इसीलिए दिया है। *यम सूक्त १०-१४ में प्रारम्भ ही इन दो मार्गों से किया गया है। जैसे

"परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पृशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व॥"

कि जिस (पन्थाः) मार्ग को बहुत से पूर्व पितरों ने पार किया है उसी कठिन दुर्गम मार्ग का (प्रवतो मही) या ऊँची चढ़ाई के मार्ग का अनुसरण करते हुए विवस्वान् के पुत्र यमराज की पूजा हवियों द्वारा करो। यह मार्ग 'पन्थाः' है, यह इसी में दिया है। इस भाव का तद्वत् समर्थन अथर्ववेद में मिलता है

---

* 'पितृ लोको यमः' (कौ० १६-८) 'क्षत्रं वै यमो विशः पितरः' (श० प० ७-१-१-४) 'अग्निर्वै यमः' (श० प० ७-२-१-१०) 'दक्षिणस्यां दिशि यमः' (श० प० १४-९-६-२२) 'गार्हप्त्यो यमो राजा' (श० प० २-३-२-२) 'एष वै यमो य तपति' (श० प० १६-१-३-४) 'अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते' (श० प० १४-२-२-११)

"तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति"
(अथर्व १८-४-७)

'यः प्रथमं प्रवतमाससाद् बहुभ्यः पन्थामनु पस्पृशानः'
(अथर्व ६-२८-३)

और

"यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व॥"
(अथर्व १८-३-१३)

अथर्व वेद के इस अन्तिम मन्त्र के अनुसार यम ही सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त होने वाला तत्त्व है। अतः पितरों के लोक के 'पन्थाः' को सबसे पहिले इसी ने खोजा जैसा कि ऋ० वे० १०-१४-२ और अथर्व ६-२८-३ (पूर्वोद्धृत) में कहा गया है। यहाँ यम की मृत्यु ही उसका देवत्व है, उसका शरीर भौतिक आत्मा है अणु है। यम रूप देह या वाक् में आदित्य रूप अग्नि देव का निवास हो जाता है या भौतिकात्मा या भूतात्मा सोम से, मध्यसृष्टि काल में, सर्वप्रथम मर्त्यधर्मा भौतिक अणु रूप में अग्नि का उदय होता है और इसके विपरीत 'मृत्यु' शीर्षक में 'मृत्यु' शब्द की व्याख्या दी जा चुकी हैं, मृत्यु माने आसुरी शक्ति है, यम की मृत्यु, यम में आसुरी भाव को नष्ट करना है, प्रलयकालीन व्यतिक्रम में भी यम की मृत्यु माने उसका मार्ताण्ड या विवस्वान् आदित्य देवता में परिवर्तन होता है। ऋषियों में यम का सीधा सम्बन्ध अङ्गिरस ऋषियों से है जिनके बारे में पहिले लिखा जा चुका है

"मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
अङ्गिरोभि रागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व॥"
(ऋ० वे० १०-१४-३,५)

पूर्व पितरों के देदीप्यमान अमृत रूपी दैवीमाया के 'सुवर्चा' शरीर पाने के लिए कहा जा रहा है कि आप यम और पितरों के साथ साथ परमे व्योमन् या ब्रह्म-लोक तक की यात्रा करो, यहाँ के अवद्य आसुरी निंद्य कर्मों को अपने संयम पूर्वक इष्टापूर्त से नष्ट कर, यहीं छोड़कर, इस भौतिक शरीर को अस्त करके (इस शरीर को गलाकर भस्मसात् करके) आध्यात्मिक शरीर धारण करके या सुवर्चस्वी या तेजस्वी या देवताओं का आध्यात्मिक शरीर धारण करो जैसे

"संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥"
(ऋ० वे० १०-१४-८)

यहाँ 'तन्वा सुवर्चाः' माने 'आध्यात्मिक शरीर से' या 'अभौतिक आध्यात्मिक तैजस्वी शरीर से' है। ऐसे शरीर का स्वरूप आध्यात्मिक अग्नि रूप हो सकता

है। अतः यम को अग्नि नाम से भी (ऋ० वे० १-६६-४,५ में) पुकारते हुए लिखा है

"सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥
तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥"

कि यह यम, सेना के समान बल या भय उत्पन्न करने वाला, बिजली की तरह चमक वाला, (रात में), इन्द्र के साथ उत्पन्न हुआ जनित्व (भविष्य को पूर्वज-जन्म) देने वाला, कन्याओं को बुढिया बनाने वाला और जायाओं का पति है; 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' (ऋ० वे० १०-८५-४०) 'यमाविहेहमातरा' (ऋ० वे० ६-६९-२)। यम को समिद्ध होते हुए ऐश्वर्य को पाते हैं। इत्यादि।

अध्याय १२१

यम के दो श्वान

ध्यान रहे रहस्यात्मक अर्थ में वैदिक 'श्वा' या 'श्वान' शब्द प्राणों का वाचक है यह 'सु असु सुर असुर श्वा' आदि शीर्षक में बतलाया जा चुका है। इसीलिए 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' एक ध्रुपदीय मन्त्र भी है (तृतीय मण्डल के ३०,३१,३२,३४, ३५,३६,३८,३९,४३,४८,४९,५० सूक्तों में १०-८९-१८,१०-१०४-११, देखें)। इन्द्र का एक नाम 'शुनासीर' भी है, सीर और शुनं नाम हल के 'फाल' के भी है (अथर्व ३-१७; ऋ० वे० ४-५७-८, वा० सं १२-६९ तै० सं० ४-२-५-६) 'शुनं नः फालाः'। ऋ० वे० ४-५७-४ और अथर्व ३-१७-६ तथा तै० आ० ६-६-२ में 'शुनं' माने वाहा और नरः लिखा है जैसे 'शुनं वाहाः शुनं नरः'। यजु० वे० १२-६९ में लिखा है 'शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिम्' तथा शुनं को 'कीनाशा' (बैल या बन्दर) भी कहा है जैसे "शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः" (यजुः १२-६९)। इस प्रकार यहाँ 'श्वा' 'श्वानौ' शुनं शब्द लौकिक कुत्ते बैल बन्दर फाल के वाचक नहीं हैं। यहाँ तो अप्रस्तुत वर्णना का आधार बनाने के लिए लौकिक वस्तुओं द्वारा श्लेषमय या रहस्यमय वर्णन मात्र है। सीधी सी बात है पितरों को स्वर्ग ले जाने के लिए भला कुत्तों का क्या सन्दर्भ हो सकता है ? यहाँ प्रस्तुत का सहारा मात्र है। पूरा वर्णन अप्रस्तुत स्वर्ग यात्रा का है, जहाँ के साथी दो मुख्य श्वान 'प्राणोदानौ' हैं। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक और भौतिक दो शरीरों की दैवी माया के प्रतिनिधि रूप धर्म स्वरूप श्वान है, मृत्यु के बाद केवल धर्म ही या उक्त दो प्रकार की माया के गुण रूप प्राणोदान के श्वान ही साथ दे सकते हैं। युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण में यही धर्मरूप गुणरूप दैवीमाया के प्राणोदानीय श्वान साथ जा सके थे, और साथी सब पीछे ही गल जाते हैं। यह कथा ठीक इसी को भाव देती है। ठीक येही यम के श्वानौ हैं, ये चतुरक्ष या 'चतुर्नेत्र' हैं। चतुर्नेत्र चतुष्पाद ब्रह्म स्वरूप 'यम' का रूपक है। ये शबलौ या 'सबलौ' बलवन्तौ (धवलौ भी) हैं। इनसे साधु पथ पूर्वार्द्धीय मार्ग से दौड़कर जाने को कहा गया है। और उनसे उन पितरों के पास पहुँचने की प्रार्थना की गई है जो यम के साथ आनन्द पूर्वक बैठे हैं। ये श्वान पूर्वार्द्ध के हैं उत्तरार्द्ध में यम और पितरों से मिलकर उन्हें पूर्वार्द्ध के पितरों के पन्था में लेते आवेंगे। ये श्वान सरमा के पुत्र हैं; अतः 'सारमेय' कहलाते हैं, सरमा माने 'सरण शील' होता है। सरणशीलता क्रमिक विकास परम्परा है। विकास परम्परा में ही प्राणोदानौ रूप दो श्वानौ या प्राणौ उत्पन्न या विकसित होते हैं जिसका (सरमा का) सुन्दर चित्रण ऋ० वे० १०-१०८ में किया गया है फिर लिखा जावेगा। ये श्वान यम के अंग रक्षक हैं, मार्ग दर्शक हैं और चतुर्थ सप्तक के 'नृ' नामक तत्त्वों के चक्षु रूप (सूर्य सोम) हैं, अतः चतुरक्षी हैं, चतुष्पाद हैं। अतः हे यमराज इस मर्त्य तत्त्व को कल्याणवान् और स्वस्थ रखो। ये दो श्वान उरु

नसौ या उरु रूप तृतीय सप्तक की दैवी आसुरी माया रूप नाक वाले हैं (शब्दार्थ— बड़ी नाक वाले)। उरु नाम पुरुष की ऊरू का भी है जिससे विश् तत्त्वों का अभ्युदय कहा गया है 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' (पु० सू०)। ये असुतृप या प्राणात्मा प्राणों से तृप्ति या रूप पाते हैं तथा उदुम्बल या काले या बहुबलशाली बड़े शक्तिशाली हैं। ये यम के दूत हैं जो मोहमार्ग में प्राणियों के नेता हैं। इन्होंने ही हमें सूर्य नामक दृश् या चक्षु स्वरूपी तत्त्व द्वारा ऐसी भौतिकात्मा प्रदान की है जो स्वयं असु या प्राणवान् ही हैं, वे प्राणवान् चक्षु स्वरूपी सूर्यात्मा के दर्शन के लिए भौतिक शरीर का कल्याण करें। जैसे—

"अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षो शबलौ साधुना पथा।
अथा पितृन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥
यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥
उरुणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्ददतामसुमद्येह भद्रम्॥"

(ऋ० वे० १०-१४-१०,११,१२; अथर्व १८-२-११,१२,१३; तै० आ० ६-३-१,२,३)

———

अध्याय १२२

यम और मनु

पिछले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि जो यम है वही प्रथम भौतिक मनुः भी है। वेदों में मनु के बारे में लिखा है कि बाढ़ से अखिल ब्रह्माण्ड जलमय समुद्र सा हो गया। वहाँ मनु को उस मछली ने बचाया जिसे उन्होंने पहिले से पाल रखा था। वह मछली नाव रूप बन कर मनु को बचाने में समर्थ हुई। बाढ़ के आने पर मनु उसकी नाव में बैठे। मत्स्य के शृङ्ग में नाव की रस्सी छोड़ दी। वह उत्तर गिरि या हिमालय की ओर दौड़ी। उसने कहा नाव को उस वृक्ष पर बाँध दो और जब तक जल है तब तक पर्वत में पानी है, डोरी को न काटना। जैसे जैसे पानी नीचे को घटता जाय वैसे वैसे आप आगे आगे सरकते जाना। मनु की इस खोज का नाम इसीलिए 'मनोरवसर्पण' कहा जाता है। यहाँ बाढ़ तो सृष्टि क्रम है मछली अमृत शरीर है, मनु मर्त्य शरीर हिमगिरि प्रथम सप्तक वह बाढ़ 'सर्वा प्रजाः' का एक मौलिक रूप है जिनमें से प्रलय काल में केवल मौलिक शरीर मनु ही या यम ही एक शेष रह गये (अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे)। जब यह कथा प्रलय क्रम का वर्णन करती है तो इसे यम कहते हैं क्योंकि यम अध्यात्म योगी है वह नश्वर तत्त्वों मन वाक् आदि से नित्य तत्त्व चन्द्र और अग्नि देव को पा जाता है (कठ १-२-१०,१२) और जब सृष्टि का वर्णन देती है तो उसी को मनु कहते हैं (श० प० ब्रा० १-६-३-१ से ६ तक पूरा पढ़ लें) अन्तर इतना ही है। (श्रद्धा को देखें)। यह बाढ़ चतुर्थ सप्तक के उन जलों में आई जो वृत्र वध से निसृत हुए। यह भौतिकता के आरम्भ का प्रलय है। लौकिक बाढ़ भी कोई आई होगी; तभी से वेदार्थ नष्टप्रायः है।

१—यमः और मनुः

अब उक्त सन्दर्भ को सामने रखकर आप ऋ० वे० १०-१३५ के यम सूक्त का ठीक ठीक अर्थ अपने आप लगा लेने में सुविधा का अनुभव करेंगे। अर्थ—जिस (सृष्टि) के सुन्दर स्थान (पत्तों) पर्ण रूप तत्त्व, "छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद्" (गीता १४-१) में यमराट् देवताओं (बाढ़ के तत्त्वों) के साथ जाता है (सम्पिबते=संगच्छते) वहाँ पर विश्पतिः पूर्वार्द्ध के तत्त्वों को दीप्ति रूप में सुरक्षित रखता है (पुराणान् पूर्वार्द्धीयान्)। ध्यान रहे पुराणों में जिस बालमुकुन्द भगवान् का पीपल के पत्ते में समुद्र में तैरते रहने का वर्णन आता है उसका संकेत यहाँ पर यह प्रथम ऋचा

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः"

से स्पष्ट संकेतित किया गया है। इसी प्रकार विष्णु को जो ठीक इसी का समकक्ष तत्त्व है उसे भी समुद्रशायी ही बतलाया है। अतः मनुः या मनुष्य सबसे

पहिले जल में मत्स्य की तरह ही रहा होगा। पर्व विद्या में शिव को पर्वत का हिमगिरि का वासी इसी सिद्धान्त से माना जाता है ॥१॥ पूर्वार्द्धीय तत्त्वों को अपनी दीप्त आत्मा में सुरक्षित रखते हुए भौतिक शरीर से विचरण करता है। यद्यपि इस भौतिक शरीर की निन्दा करते रहे (शत्रु रूप मानते रहे) पर इसको भी प्रकाशमान् ज्ञानवान् बनाने की शक्ति समझ कर पुनः इसकी इच्छा करने लगा ॥२॥ पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का कुमार रथ चक्र हीन या भौतिकता हीन है, उसे सूर्य रूप मन से निर्मित किया गया तो एक चक्री रथ बन गया जो अखिल ब्रह्माण्ड के प्रपञ्च के लिए पर्य्याप्त दिखाई दिया ॥३॥ इस रथ को अङ्गिरसादि विप्रों से परे प्रवर्तित किया गया जब साम या तृतीय सप्तक की सृष्टि हुई। तब उस रथ को नाव (मनु की नाव) भौतिकात्मा सोम में रखा गया। अर्थात् मनु या यम रूप में सृष्टि का बीज सुरक्षित किया गया ॥४॥ इस कुमार (यम या मनु) रथ को किसने उत्पन्न किया? किसने प्रवर्तित किया? आज आपको कौन बता देगा जिससे वह अग्रिम सृष्टि का अनुदान करने वाला बना ॥५॥ जो इस सृष्टि का अनुदान करने वाला उपादान कारण है वह सबसे पहिले उपस्थित था। उत्तरार्द्ध के आदि में या दर्शन के तत्त्वों के मध्य में, भौतिक तत्त्वों के मूल को सन्तानित किया गया। वहाँ से दक्षिणायन या भौतिक सृष्टि आगे चल पड़ी या की गई ॥६॥ यह दक्षिणायन दक्षिण दिशा यम लोक है जिसे देवताओं का मान या दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के मानदण्ड को रखने वाला (पाप-पुण्य को तौलने वाला) कहते हैं। उस यम की प्रतिनिधि धमनशील नाड़ी है जो वाग्ब्रह्म का एक व्यक्त स्वरूप भी है। यह वाग्ब्रह्म का भौतिक परिष्कृत जीवित स्वरूप है ॥७॥ (ऋ० वे० १०-१३५-१ से ७ तक पूरा) मन्त्र ये हैं: —

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१॥
पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥२॥
यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसा कृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥३॥
यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥४॥
कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥५॥
यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥६॥
इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळी रयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥७॥

तत्त्व रूप मनु केवल वैवस्वत मनु यम ही नहीं वरञ्च चार और भी हैं जिनका उल्लेख गीता ने इस प्रकार किया है

"महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

१—मनु कितने हैं ? मद्भावा मनसो जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥"

(गीता १०-६)

इसमें भी मनुओं और सप्तर्षियों को भाव रूप (मद्भावाः) तत्त्व रूप कहा है। महर्षि तो सातों सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों के नाम हैं और उनमें से प्रथम चार को मनु नाम से भी पुकारा जाता है। ये सब और, यम रूप मनु तत्त्व रूप तो हैं ही साथ में ये सब के सब ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं जिनका विवरण इन्हीं व्याख्याओं में ध्वनि द्वारा व्यञ्जितहै जैसे गीता का यह कहना कि सारी प्रजा इन्हीं से उत्पन्न हुई है। ऐ० ब्रा० (३-३-३३) ने प्रजापति के अपने दुहिता से व्यभिचार से जो रेतः संवलित हुआ उसको 'मानुषत्' कहते कहते 'मानुष' कहने की जो बात लिखी है वह 'मानुष' रूप प्रजापति चतुर्थ सप्तक का प्रथम पुरुष रूप मनु है। मित्रा वरुण का पिता मनु यही मनु है (श० प० ब्रा० १-६-३-७ से १२ तक)। मनु प्रजापति है, अग्नी ने पृथिवी बनकर मनु से व्याह किया, वही प्रजापति बना (यजुः ३७-१२; श० प० १४-१-३-२५)। विद्वानों का नाम मनु है (यजुः १५-४९, श० प० ८-६-३-१८)। मनु का वचन भेषज है (ताण्ड्य २३-१६-६), हजामत से उत्पत्ति (तै० १-५-६-२)। वैवस्वत मनु राजा है, मनुष्य उसकी प्रजा (श० प० १३-४-३-३) । इस सम्बन्ध में मत्स्यावतार वराहावतार (रुद्र) की कथा का विश्लेषण उपयुक्त होगा। जब अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक स्वरूप को पूर्ण रूप से धारण कर चुका था, उस समय हमारी पृथ्वी सूर्य के उपग्रह रूप में चारों ओर जल या समुद्र या बाढ़ (ओघ) से आप्लावित रही होगी। मनुष्य का जन्म सर्वप्रथम इसी जलमय पृथिवी में हो गया था। वह उक्त मनु की कथा के अनुसार मत्स्य के समान तैरता जीवन व्यतीत करता रहा। सर्व प्रथम मानव मनु को सबसे पहिले मत्स्यावतार रूप में पृथिवी के उच्चतम भू-भाग उत्तरगिरि या हिमालय में उगा एक वृक्ष मिला। सम्भवतः उनकी पत्नी भी उनके साथ रही। ज्यों ज्यों भू-भाग जल से मुक्त होता गया वह वराह और उसके दाढ़ के समान दिखाई पड़ने लगा होगा। अतः 'वराह ने पृथिवी को मुक्त किया' कहा गया है। रुद्र को दिवो वराह कहा गया है। इस वराह के बारे में 'रुद्र' शीर्षक में विस्तार से लिखा गया है, वहीं देखें। वराह का जन्म घृत कुम्भ नामक चक्षुः सूर्य के भौतिकात्मा भाग से हुआ। रौद्र मत में यही रुद्र हिमगिरि है, वहीं उनका वास माना जाता है। मनु के साथ जितने अन्य मानव थे उन्हें इस पर्वत या वृक्ष का पता नहीं लग सका अतः वे सब नष्ट हो गये; केवल मनु ही मनुष्य वर्ग के बीजरूप में अवशिष्ट रह गए। दर्शन में यह गिरि सोम है जो रुद्रात्मा है, उससे तीसरा यम नामक मनु तत्त्व है। इस दृष्टि से भारत के आर्यों की मूल जन्मभूमि उच्च हिमालय की कोई न कोई एक चोटी है। वहीं से वे क्रमशः भारत में इतस्ततः बिखरे। वे बाहर कहीं से नहीं आये। इस मनु की जो सन्तानें

सप्तर्षि कहलाती हैं वे अङ्गिरस भृगु आथर्वण पितर और वशिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषि चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व हैं। इन ऐतिहासिक पितरों और ऋषियों के नामों को अमर बनाने के लिए इन्हें चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के पारिभाषिक दार्शनिक नाम दिए गये हैं। अतः ये सब नाम 'एक पंथ दो काज' या 'आम के आम गुठली के दाम' का काम करते हैं। शेष 'रुद्र' नामक शीर्षक में देखें। इस सन्दर्भ के अनुसार सोम का मौञ्जवान् मूजवान्, सूर्य का मेरु पर्वत और अथर्ववेद का औषधि स्थल 'वाह्लीक' भी यही उत्तर गिरि हिमालय ही बैठता है। क्योंकि दार्शनिक व्युत्पत्ति में इनका स्थान सोम सूर्य आदि तत्त्व रूप पर्वतों में दिया गया हैं। वेदों में मनु का नाम विश्वेदेवताओं में बहुबचन में आता है "अग्नि जिह्वा मनवः सूरचक्षसो" (ऋ० वे० १-८९-७)। इसमें मनुओं को अग्नि जिह्वा और सूर्य चक्षुष्क बताया है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १-८०-१६ में मिलता है जैसे

"यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमतन्वत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥"

कि जिस धीः (प्रकृतिः बुद्धि को मनु के पिता दध्यङ् ने विकसित किया था, वह इन्द्र का कर्म है, इन्द्र के इन कर्मों में सृष्टि का मूल स्रोत (उक्थ) है जिसकी अर्चना या उपासना या विकास के कारण मनु को स्वराज्य की पदवी मिली। स्वराज्य आसन्दी के एक भाग का पारिभाषिक नाम है 'आसन्दी या 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक देखें

मनु के सम्बन्ध में मार्कण्डेय ऋषि की स्मृति से उद्भूत मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती के प्रथम और अन्तिम श्लोकों को ध्यान से नहीं उतारा जा सकता।

३—सावर्णी मनु

मार्कण्डेय जी ने आठ मनु माने हैं, या अष्टम मनु को वे सावर्णि या सूर्यतनय नाम से पुकारते हैं। यह अष्टम मनु, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के अनुसार अष्टम आदित्य पड़ता है, गीता के चार मनु इसी दृष्टि कोण से निश्चिन्त किये जाँय तो वे वैदिक दर्शन के चतुर्थ सप्तक के चार प्रथम तत्त्व है। इस गिनती से मार्कण्डेय जी की गिनती मेल भी खाती है। क्योंकि दोनों दृष्टिकोणों से मनु का स्थान २८ वाँ पड़ता है अट्ठाईसों तत्त्व २८ मन्वन्तर हैं। मार्कण्डेय जी लिखते हैं

"सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम॥"

(सप्तशती का प्रथम श्लोक)

और—

"सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः।"

(सप्तशती का अन्तिम श्लोक)

मार्कण्डेय जी उक्त दो श्लोकों में आये 'सावर्णिः' 'सूर्यतनय' और 'मनुः' शब्दों से ठेठ वैदिक दर्शन के तत्त्वों का इतिहास या विवेचन देते हैं। पर अभाग्य

से लोगों ने इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट नहीं कर दिया। वैदिक इतिहास यहाँ इस ऋचा में है :—

"अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदद्‌ुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥"
(ऋ० वे० १०-१७-२)

सरण्यू नाम की, त्वष्टा की लड़की विवस्वान् (सूर्य) को व्याही थी; वह अपनी जगह अपनी सवर्णा (सरूपा) प्रतिनिधि रख कर (विनोद के लिए ही) अश्वी (घोड़ी) बन कर चली गई। जब विवस्वान् को यह पता हुआ तो वह भी अश्व (घोड़ा) बन कर उसके साथ चल दिया। तब विवस्वान् और सवर्णा से तो मनु हुए और उनके घोड़ा घोड़ी रूप से अश्विनी कुमार उत्पन्न हुए। इसका समर्थन निम्न ऋचा (१०-१७-१) करती है

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥"

इसमें यम की माता या विवस्वान की जाया के सदृश्य होने की चर्चा है जो स्थल वसु का है वही यम का भी है इससे स्पष्ट है। अतः मनु के बारे में उक्त कथन वैदिक होने से पूर्ण प्रामाणिक है। यहाँ पर उक्त सब कथानक वैदिक दर्शन के तत्त्वों के पूर्वापर सम्बन्ध बतलाने के खोल हैं। अक्षरशः सत्य नहीं, भावात्मकया सत्य हैं पूर्ण सत्य हैं। यम और मनु के स्थान तथा माता पिता एक ही है। सवर्णा सरण्यू की प्रतिनिधि होने से सरण्यू ही है। अश्विनी को जन्म देने वाला विवस्वान् स्वयं सूर्य है और यममयी का जन्मदाता विवस्वान् नामक तत्त्व है। सावर्णि सवर्णा से से उत्पन्न सूर्य का पुत्र है। प्रथम विवस्वान् शब्द यौगिक है, अहः विवास्ते इति विवस्वान्सूर्यः, द्वितीय रुढ़ि।

अध्याय १२३

सरण्यू और सूर्या

यास्क ने सूर्या को सूर्य की पत्नी न जाने कैसे बतला दिया है (नि० १२-१-७)। वास्तव में सूर्या सूर्य की पुत्री है और अश्विनी कुमारों की पत्नी है जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है

१—सूर्या का सम्बन्ध "स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत्पुरोगवः ॥
सोमो वधूयु रभवदश्विना तामुभा वरा ।
सूर्यां यत्पत्ये संशन्ती मनसा सविताऽददात् ॥"
(ऋ० वे० १०-८५-८।९)

इन दोनों मन्त्रों में अश्विनी कुमारों को सूर्या का 'वरौ' कहा है। यह विवाह के समय का वर्णन है, सूर्या को सविता ने दिया है, सोम ने भाई (वधूयु) का काम किया है। इसी बात का समर्थन पुनः निम्न ऋचा करती है जिसमें लिखा है कि अश्विनी कुमार पूछते पूछते अपने त्रिचक्री रथ में बैठ कर सूर्या से विवाह करने आ रहे थे तो विश्वेदेवताओं ने उन अश्विनी कुमारों का स्वागत किया और किसी ने उन्हें अपना पुत्र माना, किसी ने पिता जैसे पूषा। इससे पहिले के मन्त्र में तो लिखा है कि सूर्या ने अश्विनी को अपने मन से चुना (जैसे—सूर्यां यत्पत्ये संशन्ती मनसा)। यह सूर्या साधारण तत्त्व नहीं है, इसके फल रूखे कड़ुवे कषैले और विषवत् और अभोज्य होते हैं। इसमें आशा निराशा के पाशों का निरन्तर विकर्तन होता रहता है। यह क्षण क्षण में नव नव रूप धारण करती है, इसे तो ब्रह्मा ही समझ सकता है इस बात को समझ सकने वाला ही विवाह के योग्य पात्र है भी। जैसे

"तृष्टमेतत्कटुकमेदपाष्टवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति ॥
आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥"
(ऋ० वे० १०:८५-३४,३५)

सूर्या* से विवाह करने की इच्छा चार व्यक्ति रखते रहे सोम, गन्धर्व, अग्नि और अश्विनी कुमार। प्रथम तीन अपने कार्य में क्रम से असफल होते गये, अगले से कहते गये तुम उसके साथ विवाह कर लो। पर सूर्या

---

* कौ० १८-१ और ऐ० ४-७ तथा श० प० ब्रा० ९-४-१-९ ने लिखा है कि सविता ने सूर्या का विवाह सोम राजा से किया था।

२—सूर्या का विवाह अश्विनीकुमारों को ही मन से चाहती रही। अतः अन्त में वही परिणाम हुआ तथा सोम और अग्नि विवाह सँस्कार में घर के व्यक्ति वधूयु और पुरोगा (१०-८५-८,९) बने जैसे

"सोमो प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्ममथो इमाम्॥"
(ऋ० वे० १०-८५-४०,४१)

(सूर्या के सम्बन्ध में दार्शनिक रहस्य की बातें अश्विनी (कुमार) के रथ के वर्णन के अवसर पर लिखी जा चुकी हैं वहीं देख लें। वहाँ इस सूर्या (१०-८५) सूक्त के प्रायः विशिष्ट मन्त्रों का विवेचन दे दिया गया है)। उक्त आख्यान को दृष्टि पथ में रख कर 'सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' इत्यादि वाक्य ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका आधाधार यह है कि सूर्या द्यावा पृथिवी की पुत्री है उसी में उक्त सब तत्त्व आ जाते हैं जैसे

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"
(ऋ० वे० १-१९१-६)

सरण्यू—शब्द सरणशील व्युत्पत्ति रखता है। सरण्यू विवस्वान् आदित्य की पत्नी है। इन दोनों के यम यमी दो यमल पुत्र हैं। एक वार सरण्यू घोड़ी का रूप धारण करके भाग गई अपनी जगह 'सवर्णा' को रख गई,

३—सरण्यू विवस्वान् भी घोड़ा बन कर पीछे पीछे चल दिया। इनसे अश्विनी कुमार (यमल) उत्पन्न हुए। उधर सवर्णा से मनु की उत्पत्ति हुई। सरण्यू स्वयं त्वष्टा की लड़की और वृत्र की बहिन है क्योंकि वृत्र भी त्वष्टा का ही पुत्र है, तथा वह त्रिशीर्षा षडक्ष की भी बहिन ही है। इस इतिहास का वर्णन स्वयं ऋग्वेद ने दिया है जैसे :—

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णा मददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥"
(ऋ० वे० १०-१७-१,२)

त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के विवाह में अखिल ब्रह्माण्ड आ गया। पर यम की माता सरण्यू का महो रूप (चतुर्थ सप्तकीय) विवस्वान् के लिए अदर्शित हो गया वह खो गई॥ वह अपने अमृत रूप को छिपाकर मर्त्य धर्माणों के लिए (चतुर्थ सप्तकीय नर तत्त्वों के लिए) सवर्णा (सरूपा) को रख गई। अपने उस अमृत रूप (अश्व

रूप) से उसने विवस्वान् (अश्व) से एक जोड़ा और जना, इस प्रकार सरण्यू ने दो यमलौ को जन्म दिया सरण्यू रूप में—यमयमी को, अश्वी रूप में—अश्विनी कुमारों को, तथा जिसे वह अपनी प्रतिनिधि बना गई-उस सवर्णा-से मनु की उत्पत्ति हुई। एक ही के तीन रूप तीन प्रकार की सन्तान है। विवस्वान् भी तीन हैं। यम-यमी का और मनु का पिता विवस्वान् तो २८ वाँ तत्त्व है, और अश्विनी का पिता विवस्वान् (सूर्य का प्रतिनिधि है यहाँ यह "अहोरात्रे विवस्ते तमेव वस्ते इति विवस्वान्" है, मार्ताण्ड और अदिति का अष्टम पुत्र नही है यहाँ पर श० प० ब्रा० १०-५-२-४ की व्याख्या उपयुक्त है यम और मनु के लिए उपयुक्त स्थल दे दिये गये हैं (श० प० ब्रा० ३-१-३-१ से ५ तक)।

अध्याय १२४

श्राद्ध और श्रद्धा

'श्रद्' तत्त्व का सम्बन्ध इन्द्र से है। इन्द्र मनस्वान् तैजसात्मा का प्रतीक है, तैजसात्मीय बुद्धि रूप है। श्रद्धा इस तैजसात्मीय बुद्धि युक्त तत्त्व का नाम है। कोई भी कार्य अबुद्धि पूर्वक नहीं होता। अखिल सृष्टि आदि से ही मनोवाक्प्रणानां त्रिवृत् होते हुए, इसी बुद्धि (या मनः) को धारण करके अग्रसर होती है। अतः श्रद्धा का पर्य्याय 'काम' शब्द है या कामधा है, यही 'मनसो रेतः' है। इन्द्र के बारे में श्रद् शब्द का प्रयोग यह है

१—श्राद्ध और श्रद्धा

"स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्वनागास्त्व आ भज जीवशंसे।
मान्तरा भुजमा रीरिषो नः श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय ॥"
(ऋ० वे० १-१०४ ६)

कि हमने तुम जैसे महान् भौतिक आत्मा सोम वाले के लिए अपनी बुद्धि स्थिर या धारण कर ली है। इन्द्रिय नाम सोम या भौतिक आत्मा का है। और

"अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय ॥"
(ऋ० वे० १-१०४-७)

या यह मानता हूँ कि तुम्हारी मनस्विता या (तैजसात्मीय) बुद्धि हममें धारणा या स्थान पा चुकी है। हे इन्द्र अब हममें उस महान् आत्मा-या घन या भौतिक आत्मा सुलभ करने की प्रेरणा भर दो। इसके आगे के मन्त्रों में लिखा है कि तुम हमें न मारो, न परे जावो, न हमारे प्रिय भोजनों को लूटो। हमारी बुद्धि अण्डे के समान सुकोमल है उसे न फोड़ो, न हमारे भौतिकात्मा के पात्रों को ही तोड़ो॥ तुम अर्वाङ् या दक्षिणार्द्ध की ओर चलकर सोम की चाह करो सोम पिओ और आनन्दित बनो, तुम्हारा उदर अतीव विशाल है (भौतिकात्मा ही उदर है) हमारी पुकार पिता की तरह सुनो इत्यादि॥ ऋ० वे० १०-१४७-१ में भी इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि तुम्हारी सर्व प्रथम स्वरूप मन्यु के लिए हम श्रत् को धारण करते हैं जैसे

"श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्वृत्रं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्वा भवतो रोदसी अनुरेजते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः ॥"

इस प्रकार श्रत् तत्त्व का सामीपी और स्वाभाविक सम्बन्ध मनोरूप या तैजसात्मीय इन्द्राग्नी इन्द्र से है। यह 'यमः' सृष्टि के प्रारम्भ से ही खंब्रह्मात्मा रूप में उदित होता है।

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥"
(ऋ० वे० १०-१२९-४)

अतः यह श्रत् तत्त्व मनः मनीषा या प्रतीष्या है। इसको धारण करने वाली

सृष्टि श्रद्धा है। इसीलिए श्रद्धा को काम की पुत्री या 'कामायनी' नाम से भी पुकारा गया है। यह श्रद्धा काम की पुत्री होने से स्वभावतः कामिनी कामयमाना या कामायिनी है। यह पूर्वार्द्ध के देव गुणों से विशिष्ट है। इसकी प्रतिपक्षिणी या उत्त-रार्द्धिनी का नाम इडा या सरस्वती या सारस्वत देश की इडा या इला है, मनु का इन दोनों से सम्बन्ध है, श्रद्धा से आदि सम्बन्ध दैविक है, इडा से भौतिक। अतः इडा से मनु मूर्छित होकर श्रद्धा द्वारा सुसेवित्त होते हैं। श्रद्धा स्वयं पुरुष की कामना करते खोज में निकली अतः उसका नाम कामायिनी पड़ा, उसे प्रथम पुरुष मनु ही सर्व प्रथम मिले, उन्हीं की पत्नी बन गई (श० प० ब्रा० मनो वसर्पण)। श्रद्धा को यजु (१९-५) ने सूर्य की पुत्री कहा है और ऐ० ब्रा० (७-१०) ने श्रद्धा को पत्नी और सत्य को यजमान बताया है। तै० ब्रा० इसे 'काम' की माता कहता है (२-८-८-८) वही इसे आपः भी कहता है (३-२-४-१)। रूप का नाम भी श्रद्धा है (श० प० ब्रा० १२-८-२-४)। जिसमें श्रद्धा है जो कार्य श्रद्धा से किया जाता है वह श्राद्ध है। सृष्टि विकास या सृष्टि विकास सरणि श्रद्धा है, उसका अभिनय श्राद्ध है। विना श्रद् या शुद्ध मन को अपनाये न सृष्टि आगे बढ़ सकती है न कोई कार्य का ज्ञान सम्पादित हो सकता है। अतः प्रत्येक शुभ कार्य या फल के लिए श्रद् या श्रद्धा एक आवश्यक महत्त्व पूर्ण तत्त्व है। इसीलिए ऋ० वे० १०-१५१ में लिखा है

"श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासत।
प्रियम् भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य३याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥"

अन्तिम मन्त्र में श्रद्धा को तीनों सवनों (प्रातः मध्याह्न सायं) में विद्यमान बतलाकर इसका आरम्भ सृष्टि के आरम्भ काम ब्रह्म से बतलाया है। यह श्रद्धा आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय मात्र है। अतः सूर्य नामक २५ वें तत्त्व में निम्रुचि या संकुचित होती बतलाई गई है, क्योंकि यहाँ से भौतिकात्मा की आसुरी शक्ति प्रबल हो जाती है। इसीलिए श्रद्धा के उपासक देवता तथा वायुगोपा त्रिपादामृतीय प्राण बतलाये गये हैं (मं० ४)। इसी श्रद्धा से वसु रूप खंब्रह्मात्मा की प्राप्ति होती है। असुर नाम रुद्र मरुत इन्द्र विष्णु आदि देवताओं का है। अतः ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार इन देवताओं में श्रद्धा अपनी पूर्ण पराकाष्ठा में उदित हुई है उसी प्रकार हम भौतिक पुतलों में (भोजों में) जो यज्ञ या ज्ञान विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं, हे श्रद्धे तुम उसी प्रकार उदित हो जाओ। हे श्रद्धे हमें प्रिय ज्ञान शुद्ध ज्ञान दो,

और प्रिय या शुद्ध ज्ञान दिलाओ, ज्ञान पिपासुओं (इन्द्रादि भोजेषु) के प्रयत्नों (विकासों में यज्वसु) में उस प्रिय शुद्ध श्रद्धा का उदय करा दो ॥ क्योंकि सृष्टि के आरम्भ ही से, अग्नि रूप वाणी का विकास सर्व प्रथम इसी श्रद्धा या काम या मनः से होता है, उसी श्रद्धा से दो अरणियों की अग्नि में हविः रूप भौतिक आत्मा का आह्वान किया जाता है, वही श्रद्धा भग नामक २८ वें तत्त्व के सिर या २७ वें तत्त्व में भौतिक वाग्ब्रह्म के स्वरूप में उदित जानी जाती है (वेदयामसि) ('मनुः और यम' को देखें)।

२ – गीता में श्रद्धा

गीता ने उक्त श्रद्धा का विवेचन वैदिक दर्शन के कुछ कुछ अनुरूपता में किया है। उसने लिखा है कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यह स्वभाव से ही विद्यमान रहती है। ये तीन प्रकार—सात्त्विक राजस और तामस—के हैं। ये तीनों भाग त्रिपादामृत के स्वरूप हैं। पर देह में स्थूल शरीर में ये त्रिपादामृत सत्वानुरूप या भौतिक तत्त्वों के प्राधान्य से विभिन्न स्वरूप लेते हैं। ये तत्त्व अमृत नहीं मर्त्य रूप की श्रद्धायें हो जाती हैं, जिनमें जिन तत्त्वों की प्रधानता रहती है उसमें उसी के अनुरूप श्रद्धा रहती है, जिसमें जैसी श्रद्धा रहती है उसका जीवन उसी के अनुरूप ढल जाता है। सात्त्विक श्रद्धा वाला देवताओं के अनुरूप कार्य करता है, राजस श्रद्धा वाले वे होते हैं जो यक्ष राक्षस आदि का सा मायावी आचरण करते हैं; तथा तामसी श्रद्धा वाले वे होते हैं जो भूत प्रेतगणों के अनुरूप छल छद्म का काम करते हैं। भौतिक सात्विकता भौतिक राजसिकता और भौतिक तामसिकता के ये गुण कर्म और फल हैं। वैदिव ऋषि आध्यात्मिक श्रद्धा के उपासक थे, उसका वर्णन गीता ने भी नहीं दिया है, वह केवल देही या भौतिक प्राणियों की श्रद्धा का वर्णन इस प्रकार दे रही है। क्योंकि गीता जिस श्रद्धा का वर्णन कर रही है उसे 'देहिनां' या भौतिक शरीर वालों की श्रद्धा ही स्वयं स्पष्टतया बतला रही है। जैसे

"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥१॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥२॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतभूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥३॥
(गीता १७-१,२,३)

इसमें वैदिक दर्शन का दृष्टि कोण द्वितीय श्लोक में है जिसमें कहा है कि यह पुरुष श्रद्धामय है, यह सृष्टि श्रद्धामय है, और जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही (सात्त्विक राजस तामस) व्यक्ति है। श्रद्धा को स्वभावज मानना भी वैदिक दृष्टि कोण ही है, स्वभाव सृष्टि का आदि स्वरूप है, वहीं से श्रद्धा का जन्म हो जाता है।

अध्याय १२५

यमी

वैदिक संवादों में यम यमी संवाद बहुत प्रसिद्ध है। यह ऋग्वेद और अथर्व दोनों में मिलता है। प्रथम मन्त्र सामवेद में भी मिलता है। इस प्रकार के दो और संवाद हैं–'वशिष्ठ-सुदास' तथा 'सरमा-पणि'। यम यमी दो यमल (जुड़वाँ) हैं। कब के ? सृष्टि रचना के आदि काल में जब भौतिकात्मा में 'भगः' नामक (भगवान् भागकृत् भाग्यकृत् विभागकृत्) ने स्त्रीपुमान्संपरिष्वक्त सोमात्मा को पुरुष और स्त्री दो पृथक् पृथक् रूपों में चीर कर अलग अलग कर दिया। जाया उसका नाम है जो उसीसे उत्पन्न हो 'ततः जायते इति जाया'। अतः इस सृष्टि में प्रत्येक पुरुष का प्रतिपक्ष स्त्री और प्रत्येक स्त्री का प्रतिपक्ष पुरुष अवश्य होता है, प्रायः उन्हीं का विवाह होता है, गलत विवाह संसर्गीय प्रेम से वातावरणीय भौतिक प्रेम से होते हैं, जो बाद में आध्यात्मिक भिन्नता होने से बिछुड़ जाते हैं, आध्यात्मिक समता के कुछ अंश रहे तो टिक भी जाते हैं। पर उनमें उस आत्मीयता आत्मसमर्पणीय एकता का अवश्यमेव अभाव ही रहता है जो उक्त यम यमी सम सहोदरीय तत्त्वों से बने जीवों में रहता है। ये दिव्य शरीर की बाते हैं। ऋग्वेद के उक्त यम यमी सँम्वाद में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का एक पर्दा डाला गया है। यह लौकिक नियम की कठोरता की पुष्टि करता है कि भाई बहिन का ब्याह नहीं हो सकता, पर यमी अपनी आध्यात्मिक पुकार को पूर्ण रूप से वैदिक दर्शन की विकास धारा के अनुसार ढाल कर, यम को परिस्थिति से परिचित करने की चेष्टा करती है तो यम उसे दूसरा ही मार्ग बतला देता है। वह कहता है कि मैं (भौतिक) हूं तुम आध्यात्मिक मार्ग से उत्तर युगों (पूर्वार्द्ध) को जाओ और जहाँ हमारे पूर्वजों की भौतिकात्मायें पत्नियों की तरह पुरुष या ब्रह्म के साथ रहती हैं इत्यादि। यह संसार उभयवादी है, दार्शनिक और सामाजिक। दार्शनिकता में भौतिकता (यमी) का आध्यात्मिक पुरुष की पत्नी बनने का आग्रह है, दूसरे भौतिक (यम) की पत्नी नहीं। सामाजिकता में भाई बहिनों के विवाह का निषेध है, पर रहस्य रूप से स्त्री पुरुष के जोड़े के पूर्वनिर्मित होने का पूर्ण संकेत भी है। तीसरी बात, आर्यों में विवाह आध्यात्मिक वस्तु है, भौतिक या शरीर की नहीं।

ऋ० वे० १०-१० के यम मयी संवाद सूक्त में १४ मन्त्र हैं जिन्हें अथर्व ने १६ वें अध्याय में संकलित किया है। यमी कहती है हे सखा यम ! मैं तुम्हें सखि रूप में वरण करती हूँ, तुझे पाने के लिए मैंने (चतुर्थ सप्तक रूपी) महान् समुद्र को पार कर लिया है, हे पितुर्नपात् (यम) तुम इस भूमि (सप्तक में) वेधाः के समान (ब्रह्मसम) प्रकृष्ट रूप से देदीप्यमान ज्योति को धारण करते हो ॥१॥ यम उत्तर देता है—नहीं, तुम्हारा सखा तुम्हारी मित्रता को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि सहोदरों

(सलक्ष्मा) को भार्या बनाना विरुद्ध सम्बन्ध माना जाता है। दिव के धर्ता रुद्र के वीर महः के पुत्र मरुत जो व्याप्त हैं वे इस बात की निन्दा करते हैं ॥२॥ यमी कहती है—देखो हम दोनों अमृत थे; एक ही गर्भ में थे, उसे छोड़ कर मर्त्यधर्मा बनकर आये हैं, अपने मन को मेरे मन में रख दो, तुम मेरे जन्म के पति हो, और फिर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो जाओ ॥३॥ यम कहता—जो काम पहले कभी नहीं किया, उसे सच बोलते हुए कैसे बोले (रपेम), झूठ कैसे बोले ? गन्धर्व (गा रश्मिं ध्रुवयतीति धारयतीति वा गन्धर्वः चन्द्रमा सोमः) सूर्य हमारे दिव्य शरीर के जलमय देह में व्याप्त हैं, और द्यावापृथिवी रूप योषा या स्त्री की नाभिः या योनि हम दोनों की जन्म स्थली है ॥४॥ यमी कहती है—अरे गर्भ में तो हम दम्पती रूप में पति-पत्नि रूप में उत्पन्न हुए, हमें इस रूप में कः प्रजापति, त्वष्टा, सविता आदि विश्व सृष्टि कारकों ने उत्पन्न किया; इनके नियमों को और तो अलग रहे द्यावा पृथिवी (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध) दोनों भी नहीं तोड़ सकते ॥५॥ यम कहता है—यह तो सृष्टि के प्रथम अह्न (प्रथमाह्न = प्रातः) पूर्वार्द्ध की बात है। इसे तो कः नामक प्रजापति ही जानता है, उसीने इसे देखा भी है, उसीने इसके बारे में कहा भी है, (परन्तु उत्तरार्द्ध में जहाँ हम दोनों का जन्म हुआ है वहाँ तो) बृहत् मित्र और वरुण का धाम या अब तो रात्रि है, उसके बारे में तुम अकारण क्लेशकारी विपरीतगामी नर तत्त्वों की सी बातें क्यों करती हो ? ॥६॥ यमी फिर कहती है—यम की यह यम्य देह ! यमी की कामना करो, क्योंकि हम दोनों एक ही योनि (द्यावापृथिवी) से उत्पन्न हुए हैं, जहाँ हम दोनों साथ सोते रहे, मैंने अपनी देह को इसलिए पृथक् किया कि मैं तुम्हारी सेवा वैसे ही कर सकूँ जैसे पत्नी पति की करती है तथा तुम से इस प्रकार मिली रहूँ जैसे चक्र, रथ्या या मार्ग से या भूमि से सदा मिला रहता है ॥७॥ यम फिर कहता है—देवताओं के गुप्तचर यहाँ क्षणभर ठहरते नहीं, उनके पलक नहीं लगते (आँखें फाड़कर देखते ही रहते हैं व्याप्ति रूप में रहते हैं, अतः उनका बड़ा भय है) । इसलिए तुम मुझसे अतिरिक्त किसी दूसरे निष्ठुर (आहनः) के पास शीघ्र चली जावो, उसीके साथ रथ्या और चक्र के समान मिली रहो ॥८॥ यमी फिर अपनी प्रतिभा की ऊँची उड़ान तथा दार्शनिक व्याख्यान की गदा घुमाती हुई कहती है—रात्रि (उत्तरार्द्ध) सदा दिन (पूर्वार्द्ध) के साथ रहती है, सूर्य और चक्षु दोनों साथ साथ रहते हैं, दिवा (दिन) और पृथिवी, शुक्ल कृष्ण पक्ष दोनों सदा साथ जुड़े रहते हैं, इसी प्रकार यमी, यम के साथ विवाह करके सबन्धु या स्त्री रूप में रहना चाहती है (तो कौन नई बात होगी) ॥९॥ यम उत्तर में कहता है—अच्छा तुम्हें विवाह करना ही है तो तुम उत्तरवर्ती (पूर्वार्द्ध के) तत्त्वों के पास जावो जहाँ स्त्रियों ने अपने अपने पति खोज लिए, वहाँ वृषभ नामक तत्त्वों (बृहस्पति इन्द्र वरुण पर्जन्य आदि) के हाथ की कामना करो, पर कुछ भी हो, हे सौभाग्यवती मुझसे किसी दूसरे को पति बनाने की इच्छा करो ॥१०॥ यमी फिर कहती है—क्या भाई के रहते हुए बहिन अनाथ हो सकती है ? क्या भाई के रहते बहिन वन्ध्यात्व (निर्ऋति) को प्राप्त हो सकती है ? मैं काम की पीड़ा से मूर्छित होकर इतना अधिक प्रलाप कर गई हूं,

अतः अपने शरीर से मेरे शरीर को आपीडित (आलिङ्गित) करो ॥११॥ यम पुनः उत्तर देता है :—हे यमी ! मैं यहाँ तेरा नाथ नहीं हूँ, और निश्चय पूर्वक अपने शरीर से तेरे शरीर का आलिङ्गन नहीं करूँगा। मुझसे किसी दूसरे को अपने आनन्द का कारण बनाओ। हे सुभगे, तुम्हारा भाई, तुम्हारी इन बातों को नहीं चाहता ॥१२॥ यमी फिर कहती है—हे यम ! खेद है, तुम पर दया आती है, तुम बड़े दुर्बल भावना के हो, तुम्हारे मन को मैं नहीं जान पाई। तुम्हें कोई दूसरी (स्त्री) रस्सी की तरह ऐसी लिपट जायेगी जैसे लता वृक्ष को लिपट जाती है ॥१३॥ यम फिर उत्तर देता है :—हे यमी ! तुम किसी दूसरे को इसी प्रकार लिपट जावोगी जैसे लता वृक्ष को लिपटती है, और वह तुम्हारा आलिङ्गन भी उसी प्रकार करेगा। तुम ऐसे ही व्यक्ति के मन की इच्छा करो, वही तुम्हें (गर्भ के) आधान या आदान से आनन्दमयी और सुभद्रा या सौभाग्यवती—पति पुत्र पौत्रवती—बनायेगा ॥१४॥ इति ॥ यम का मुख्य तात्पर्य यह है कि पति भौतिक शरीरी यम नहीं वरन् यम और यमी में जो आध्यात्मिक आत्मायें हैं उनका ही विवाह होता है वे अन्य हैं। अथर्ववेद ने 'को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य' ऋ० वे० १-८४-४ और 'न वा उ ते तनू तन्वा सम्पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। असंयदेतन्मनसो हृदो ये भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीयः ॥' को क्रम से छठा और चौदहवां मन्त्र लिख रखा है, जिससे इसमें मन्त्र संख्या १६ हो गई है। इनमें से प्रथम का अर्थ कः (हिरण्यगर्भः) में दिया जा चुका है द्वितीय स्वयं स्पष्ट है। शेष ऋ० वे० १०-१० के मन्त्र ये है :—

"ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥
न ते सखा सख्यं वष्टयेतत्सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥
उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व मा विविश्याः ॥३॥
न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
न कि रस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥६॥
यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥७॥
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥८॥
रात्रीभि रस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी र्यमस्य बिभृयादजामि ॥९॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥१०॥
किं भ्राता सद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥११॥
न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्याम् पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१२॥
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येय युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१३॥
अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१४॥ इति"

यमयमी के पिता विवस्वान् और माता सरण्यू हैं, त्वष्टा सरण्यू का पिता है। इनके सहोदर भाई अश्विनी कुमार है, मनु प्रतिनिधि माता का पुत्र है। पिता सबका विवस्वान् ही है। अतः मातायें केवल, सरण्यू के विभिन्न स्वरूप मात्र बतलाती हैं। श० प० ब्रा० (७-२-१-१०) और गो० उ० (४-८) ने यमी को 'इयं (पृथिवी) यमी' नाम से संबोधित किया है। यम अपनी भौतिकात्मा से ही संतुष्ट नहीं है, वह यमी के देह से क्या संतुष्ट होगा। वह देह से आत्मा या देव रूप में परिणत होना चाहता है, यम भौतिकात्मा की देह भी दैवी भौतिकात्मा है, यमी की आसुरी भौतिकात्मा। इन दोनों का बेमेल जोड़ा है। अतः इनका विवाह असम्भव है। दूसरे, यम अपने अमृत भौतिक शरीर को भी त्याग कर उसके शुद्ध दैविक रूप अग्नि सूर्य चन्द्रमा दिशा रूप में परिणत होने के लिए सर्व प्रथम उस शरीर को त्यागता है। अतः उसे सबसे पहले मरने वाला पितरों को देवयान या देवमार्ग दिखाने वाला बताया गया है (यम देखें)।

अध्याय १२६

सरमा और पणिः

सरमा शब्द सरणशीलता या सरतीति सरमा व्युत्पत्ति रखता है और यह यम के श्वानों की माता है, तथा पणि शब्द, पराणीति पणिः या शत्रु रूप तत्त्व या असुर। सरमा शुनी का संकेतक है तो पणि असुरों का। आधुनिक लोग पणि शब्द को फिनिषियन (Phinician-Greek) यूनानी जाति का संकेतक मानते हैं तो असुर को असीरियन (Asyrian) जाति का। यास्क ने पणि माने बनिया और असुर लिखा है। अतः उक्त दोनों कल्पनाओं के महल धराशायी हो जाते हैं तथा वैदिक काल में ऐसी परिस्थिति रही होगी इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं। वैदिकों ने अपनी ही सँस्कृति को अपने दर्शन का आधार बनाया है। सरमा और पणि वैदिक दर्शन के निश्चित तत्त्वों के संकेतक हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्र और 'गावः' से है। अतः इन शब्दों से किसी विदेशी जाति का संकेत होने में सन्देह कम नहीं। पणि शब्द अष्टम मण्डल में (८-६६-१०) और सरमा दशम मण्डल (१०-१०८) में आता है। इनके कथानक वेद निर्माण से बहुत प्राचीन हैं। सरमा 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' के 'शुनं' नामक इन्द्र के प्राणोदान रूप 'नृचक्षस' नामक श्वानों की माता है और पणि, गौ रूप का प्रतिपक्ष है। दोनों के कथानक बहुत प्राचीन है। 'यम के दो श्वान' शीर्षक देखें। सरमा पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की सूचक है, जिसमें प्राणोदानौ की उत्पत्ति होती है। अतः इन्हें सारमेयौ कहा है, यम के श्वान भी। पणि दैवी गौवों को आसुरी बनाना चाहते हैं। गायें आदित्य या चक्षुः श्रोत्रं वाक् मनः प्राण, पञ्चप्राण रूप आदित्य है। सरमा उन्हें दैवी रूप में लाती है जिन्हें पणि आसुरी बनाना चाहते थे। पणि नाम कसाइयों का या खून पीने वालों का हो सकता है, दैवी गायों से देवता दूध पीते हैं। 'पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे' इत्यादि का यही भाव है। पणि नामक असुरों और सरमा नामक देवशुनी का पारस्परिक संवाद या कथोपकथन ऋ० वे० १०-१०८ में संक्षेप में दिया गया है। इस सूक्त में वार्तारम्भ पणि असुर करते हैं। देवशुनी सरमा को इन्द्र, अपनी खोई गायों को खोजकर लाने के लिए भेजता हैं। जब वह पणि लोक 'अलका' में पहुँचती है तो पणि असुर उससे पूछते हैं :—हे सरमे कहो इतनी दूर परा भूमि उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) में क्या इच्छा करती हुई आई हो, तुम्हारा हमसे क्या स्वार्थ या काम है, इस रात्रि नामक दक्षिणायन में इतना परिश्रम भ्रमण का क्या अभिप्राय है, इस दक्षिणायन के चतुर्थ सप्तक रूपी रस ब्रह्म (सोम) के आपोमय समुद्र के पानी को तुमने कैसे पार किया ? ॥१॥ इस प्रश्न के उत्तर में सरमा देवशुनी, पणि असुरों को उत्तर देती हुई कहती है :— मैं इन्द्र की दूती हूँ, उसी की भेजी हुई आ रही हूँ, आप लोगों की निधियों की महिमा अपनाना चाहती हूँ। इन्द्र मुझे भय से सुरक्षित रखता है, इसी लिए मैं समुद्र

को पार कर आई ॥२॥ असुर पणि फिर पूछते हैं :—हे सरमे ! यह बतलाओ कि वह इन्द्र किस प्रकार का है, वह किस ठाट का है जिसकी तुम दूती बनकर दक्षिणायन की ओर आई हो, चलो हम उसे अपना मित्र बनावें, क्योंकि वह हमारी गायों (चुराई गायों) का स्वामी है ॥३॥ तब सरमा देवशुनी उन्हें उत्तर देती हुई कहती है :—मैं तो उस इन्द्र को ठीक ठीक नहीं जानती, वह तो ऐसा व्यक्ति है जो दुष्टों को नष्ट कर देता है, मैं उसी की दूती हूँ, बड़े बड़े लोग उससे नहीं मिल सकते, अरे पणि लोगों ! तुम तो इन्द्र से मारे जाकर सदा के लिए सो ही जावोगे ॥४॥ तब पणि असुर बिगड़कर उत्तर देते है :—हे सरमे सौभाग्यवती ! परम दिन के अन्तिम छोर से आकर तुम जिन गायों की इच्छा करती हो, वह कौन है जिसने इन्हें उत्पन्न किया ?, (यदि तुम उन्हें चाहती ही हो तो) वह हमसे युद्ध करे, हमारे आयुध बड़े तीखे हैं ॥५॥ फिर सरमा इसका उत्तर देती है :—हे पणि लोगो ! आपके वचन असत् हैं, आप लोगों के पापी तन 'अनिषव्य' या वाणों से विद्ध होने योग्य न होने पावें। आप लोगों का मार्ग अधृष्ट या विनम्र हो, नहीं तो बृहस्पति आप लोगों की इन दोनों बातों को नहीं सहन करेगा ॥६॥ तब पणि, बृहस्पति की धमकी में आकर कहते हैं :—यह निधि–गौ रूप निधि–हे सरमे ! अद्रिबुध्न है (सोमाद्रि से उद्भूत है) जो गोधन अश्वधन और वसुधन से सन्यस्त हैं, उसको पक्की रक्षा करने वाले पणि लोग सुरक्षित रखते हैं और वे इन्हें अलका पुरी में ले आये हैं ॥७॥ सरमा पुनः उन्हें उत्तर देती है :—इस लोक में तो सोमपा ऋषि, अयास्य और नवग्व अङ्गिरस ऋषि आ चुके हैं, वे पहिले यहाँ गायों की खोज में रह चुके हैं, उन्होंने ही हमें पणियों के बारे में बताया है ॥८॥ पणि लोग फिर सरमा से कहते हैं :—हे सरमे ! तुम यहाँ कई कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर दैवी शक्ति से आई हो, हम तुम्हें अपनी बहिन बनाते हैं, यहाँ से वापिस मत जा और हम तुम सब तेरी इन गायों का आनन्द भोगें ॥९॥ सरमा इसके प्रत्युत्तर में कहती है :—न तो मैं भाईचारे को जानती हूँ, न इन्द्र अङ्गिरस आदि भयंकर (लोग तत्त्व) बहिन के नाते को मानते या जानते हैं,उन्होंने मुझे गायों को लाने के लिए ही भेजा है, हे पणि लोगों ! यही अच्छा है कि मैं उन्हें लेकर ही जाऊँ ॥१०॥ अरे पणि लोगो अब यहाँ से दूर हट जावो, यही अच्छा है, और गायें ऋत के पास प्रसन्नता से जावें, बृहस्पति सोम ग्रावाण ऋषियों और विप्रों को भली-भाँति विदित है कि गायें यहाँ छिपा कर रखी गई हैं ॥११॥ उक्त पूरा सूक्त निम्न प्रकार से दिया हुआ मिलता हैं :—

पणयः—"किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१॥

सरमा :— इन्द्रस्य दूती रिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥२॥

पणयः— कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥३॥

सरमा :— नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥४॥

पणय :— इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तात्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्यतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥५॥

सरमा :— असन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृलात् ॥६॥

पण यः— अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभि रश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥७॥

सरमा :— एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥८॥

पणय :— एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥९॥

सरमा :— नाहं वेद भ्रातृत्वं न स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०॥

दूरमिति पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूल्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥११॥"[१]

ऋ० वे० १-३२-११—"निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।"
ऋ० वे० ८-६६-१०—"इन्द्रो विश्वान्वेकनाटाँ अहर्दृश उत
क्रत्वा पणि रभि ॥"

उक्त सूक्त और मन्त्रों में इन्द्र, बृहस्पति, ऋषयः, विप्रा, सोम, ग्रावाणः, रात्रिः, रसा के जल, पराचैः, अलका आदि शब्द पारिभाषिक हैं। साथ में जिन गायों के खोये और खोजने की कथा इस सूक्त में है उन्हें 'अद्रिबुध्नः' नाम से पुकारा है, अद्रिबुध्न (सोमपर्वतमूल) तीन धनों को बताया है गोधन अश्वधन और वसुधन। इनमें गोधन आदित्य रूप धन हैं; अश्वधन प्राण रूप धन है, वसुधन ब्रह्मरूप धन है। ये तीन मिलकर त्रिपादामृत बनाते हैं। ये सब भौतिकात्मा के विवृद्ध स्वरूप या आसुरी स्वरूप वृत्रादि स्वरूप से प्रच्छन्न हो गये थे, उन्हीं को इन्द्र की दूती देवशुनी अश्वरूप धन प्राणरूप धन शोधकर या खोज कर या अग्नि को प्रदीप्त कर (वैश्वानराग्नि को प्रज्वलित कर) गौरूप बुद्धिरूप आदित्यों को खोज लाई, 'गावो वा आदित्या' यह तो ऐ० ब्रा० (४-३-१७) ने स्पष्ट लिखा ही है। इसी से सबका विश्लेषण अपने आप हो जाता है। ये सब तत्त्व उत्तरार्द्ध के हैं जिसे पराचैः या दक्षिणा या दक्षिणायन या रात्रि कहते हैं। इसका आरम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है जिसे रसमय समुद्र या रसब्रह्म समुद्र भी कहते हैं। वृत्र वध से जल ही जल प्रवाहित होने की बात ऋ० वे० १-३२-१०,११ में दी ही हुई है। इसी चतुर्थ सप्तक में नवग्व अयास्य अङ्गिरस ऋषियों का भी उद्भव होता है, इसकी भी यहाँ चर्चा है ही, बृह-

स्पति जब विश्वेदेवता होता है तब वह इसी सप्तक में भौतिकात्मा धारण करता है वह सर्वगण देवता है, सर्वमान्य भी, उसी के भय में पणि भी आ जाते हैं। पणि आसुरी वृत्ति की चौरवृत्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए दैवी वृत्ति की देवदूती देवशुनी को लालच में नहीं ला सके, भले ही ये उसे बहिन बनाकर अपने यहाँ रखने को तत्पर थे। यहाँ देवासुर वृत्तियों और कर्मों का रहस्यमय व्याख्यान देते हुए साथ में आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों की भिन्नता या आध्यात्मिकता और भौतिकता के अन्तर्द्वन्द्व—जिससे यह ब्रह्माण्ड चल रहा है—का दार्शनिक विवेचन दिया गया है। उन दिनों पणि नाम की कोई व्यापारी जाति रही हो जिन्हें असुर भी कहते रहे हों यह सम्भव है, ये थे तो, कहीं भारत में ही होंगे, क्योंकि वहाँ 'रसा' माने एक नदी ही होगी। यह बात दक्षिण पूर्व भारत की ओर संकेत करती है।

अध्याय १२७

आप्त्या

आप्त्या की व्युत्पत्ति आप्नोतीति 'आप्त्या' है। इन्द्र की स्तुति (ऋ० वे० १०-१२०-६) में इसकी प्रार्थना इस प्रकार दी गई है।

"स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्।
आ दर्शते शवसा सप्त दानून्प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥"

हम उस बहुरूप ईश्वरतम और आप्ततम की स्तुति करते हैं जो 'आप्त्या' का आदर करता है और अपने बल से सप्त दातॄन् (दाताओं) या दानून् (दानवों) को अनेक स्वरूपों में प्रदर्शित करके प्राप्त करता है। इस मन्त्र में दातॄन् दानून् और दर्शने दर्षते दो पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ में अधिक अन्तर नहीं पड़ता। इस सूक्त के अन्त में (१०-१२०-९) लिखा है कि अथर्वा ऋषि (इस सूक्त के ऋषि) अपने शरीर को स्वयं इन्द्र कहते थे जिसको स्वसार माता बल से शत्रुओं को नष्ट कर पालती पोषती रही जैसे

"एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरीररिप्रा हिन्वन्ति च शवशा वर्धयन्ति च ॥"

यह मन्त्र इन्द्र तत्त्व निर्णय में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

अध्याय १२८

माया, योगमाया, मोहनी और मायाजाल तथा ममता

अखिल दृश्य ब्रह्माण्ड का मूल बीज भूत तत्त्व तो ब्रह्म ही है 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्' (छा०, बृह० उप०) और 'बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।' (गीता ७-१०) । पर वह आदि ब्रह्म कैवल्यावस्था में स्वभाव और प्रकृति से ऐसा अभेद प्राप्त कर लेता है कि दोनों में ब्रह्म से अन्तर नहीं रह जाता । स्वभाव और प्रकृति का ब्रह्म रूप में विलय या प्रलय या तादात्म्य हो जाता है । इसीलिए इस अवस्था को केवल, कैवल्य, एक और अद्वितीय नाम से पुकारा जाता है । बृहदारण्यक ने एक स्थल पर इस वैज्ञानिक निष्कर्ष को बहुत सुन्दर पदावली में प्रस्तुत किया है "यथा सः सैन्धव-घनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः ऐवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यपरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।।१३।। यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति.... जिघ्रति...रसयते...शृणोति...स्पृशति...मनुते...विजानाति...यत्र तु अस्य सर्वात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् जिघ्रेत्....एष नेति नेति आत्मा अगृह्यो... (१-४-५-१३,१४, १५) । यहाँ पर ब्रह्म और आत्मा दो दो पृथक् तत्त्व बतलाये हैं । ब्रह्म तो नित्य विभुः कृत्स्नः रसघनः है, आत्मा भी इसी प्रकार का है पर यह समस्त भूत तत्त्वों का एक ऐसा निचोड़ है जो ब्रह्म में लीन हो जाता है । जहाँ द्वैत मिट जाता है । दूसरा रह ही नहीं जाता एकमेवाद्वितीय ब्रह्म बन जाता है । यह मिलने वाला आत्मा जीवात्मा है, रौद्र रूप श्मशान रूप रोदन रूप हैं, जिसका हवन सर्वहुत ब्रह्म में हो जाता ('तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे') है ।

१—ब्रह्म और माया

जिन तत्त्वों को वेदों और उपनिषदों में 'त्रिपादामृत' या गायत्री ब्रह्म या दर्शन के तत्त्वों का पूर्वार्द्ध कहा गया है उसी को सांख्य में 'त्रिगुणा प्रकृतिः' कहते हैं । ये त्रिगुण त्रिपादों के क्रम से फल हैं या परिणाम हैं । ये परिणाम आदि ही से दो प्रकार के हैं । ये दो प्रकार वेही दैवी और आसुरी हैं । दैवी त्रिगुणता का नाम माया है, और आसुरी तथा राक्षसी त्रिगुणता का नाम 'मोहनी' है जैसे

२—गुणमयी माया

"त्रिभिर्गुणमयैर्भावै रेभिः सर्वमिदं ततम् ।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी यम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।"

(गीता ७-१३,१४)

दैवी त्रिगुण भी सात्त्विक राजस तामस होते हैं, माया भी त्रिगुण है । दैवी

सम्पदा के या माया के राजस और तामस गुण विश्वजनीन कार्यों को सम्पादन करने वाले राजस तामस गुण हैं जैसे तारों सूर्यो ग्रहों की गति उष्णता शीतलता आदि और अपराधी तथा हठी को किसी हद तक दण्ड देना आदि, सात्त्विक तो सर्वत्र कल्याण-कारी है। इसके विपरीत मोहनी या राक्षसी आसुरी माया के सात्त्विक राजस तामस गुण भयंकर और विश्व या समाज या राज्य के लिए अमङ्गलकारी होते हैं।

"मोघाशा मोघ कर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥"

(गीता ९-१२)

आसुरी सात्त्विकता फुसलाना ठगना दुराचार में मीठी मीठी बातों से फँसाना सत्य-सा असत्य बोलना इत्यादि हैं। इसीलिए महात्मा लोग सदा दैवीप्रकृति का या दैवीमाया का अनुसरण करते आ रहे हैं

"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमास्थिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥"

(गीता ९-१३)

माया कोई काल्पनिक सी वस्तु या स्वप्न सी वस्तु, या ठग विद्या, या कोई अभौतिक अद्रव्य नहीं है। माया ठोस द्रव्य है; यह भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी है। आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय माया का नाम दैवी माया है तो भौतिक और राक्षसी माया का नाम मोहनी माया है। दैवी माया का वास पञ्चात्माओं में है (जीवात्मा तैजसात्मा वारुणात्मा सूर्यात्मा और सोमात्मा) और मोहिनी माया का वास भौतिकात्माओं में उक्त पाँचों के आसुर भावों में रहता है। ये सबके सब तत्त्व भावमय या विभुव्यापक रूप से रहने वाले हैं। दोनों साथ साथ रहते हैं और हमारे अखिल ब्रह्माण्ड के व्यक्त रूप की ये आत्मायें या मूल बीज है

३—माया ठोस है

"त्रिभि गुणमयैर्भावै रेभिः सर्वामिदं ततम्।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥"

(गीता ७-१३)

सात्त्विक माया राजसी माया रागमय कर्ममय और द्वेषमय है, तैजस शक्तिमय है, तामस माया अन्धकार अज्ञान प्रमाद विपरीत भावमय है। प्रत्येक माया अपने अपने अनुरूप स्वभाव बनाती है, प्रत्येक स्वभाव ठोस तत्त्वमय है, राजस से अशान्त और इच्छा द्वेष आदि दोनों उज्ज्वल प्रकाशमय है, आनन्दमय है, सात्त्विक तामस में प्रभाव दिखाते हैं। इच्छा द्वेष राजस शक्तियां है जो सात्त्विक में सात्त्विक और तामस में तामस होती है, राजस कर्ममय अशान्ति लाता है, वह अलग नहीं वरन् सत्त्व तम की माया में सन कर या विलीन होकर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजस माया, सात्त्विक और तामस मायाओं को प्रस्फुटित करती है। यह स्वयं रागात्मक है, कर्ममय है, तैजस है, अन्य दो को उत्तेजित करती है, स्वयं स्वतन्त्र कार्य नहीं करती।

आपने देख लिया है कि विद्या का नाम दैवी माया है अविद्या का नाम मोहिनी माया है। दोनों त्रिगुणात्मा है। दैवीमाया त्रिपादामृत है तो मोहिनी माया मृत्यु है, आसुरी राक्षसी है। पर ये दोनों प्रकार की मायायें सदा एक साथ रहती हैं। या यों कहिए एक ही तत्त्व कभी तो वह दैवीमाया के रूप में प्रस्तुत होता है, और दूसरे अवसर पर वही तत्त्व एकदम आसुरी माया या मोहिनी माया में परिणत हो जाता है। इसे आप चाहे द्विमुख (दैवी मोहिनी) कहें चाहे त्रिमुख (सात्त्विक राजस तामस) चाहे षण्मुख (द्विधा सात्त्विक राजस तामस) एक ही बात है। यह सर्वतोमुख है, सर्वतोभद्र भी है, सर्वतोऽभद्र भी है (संयोग वातावरण अवसर परिस्थिति करण चेष्टा से एक ही वस्तु नाना रूप लेती है)। यह तो बात रही इस ब्रह्माण्ड के मौलिक तत्त्वों की। यह दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड तो आसुरी माया की नाना रूपता तथा स्थूलता का सजीव चित्र है। इसमें भी दोनों मायायें साथ साथ हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड में दोनों मायायें सदा साथ साथ रहती हैं। इन दोनों का सदा एक साथ रहना ही 'योगमाया' है या दोनों या तीनों या छहों मायाओं का योग ही योगमाया कहलाती है। योगी लोग अपनी दैवी शक्ति को बलवान् बनाकर आसुरी माया को-यहाँ तक कि साधारण गति की श्वासप्रक्रिया प्राणासुरों पर तक विजय पाकर, इस अखिल ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् (हथेली के आँवले की तरह) देखने में समर्थ होते हैं। यह दर्शन तभी सिद्ध हो सकता है जब उक्त दोनों मायाओं का योग, योगमाया रूप में शरीर रूप में ब्रह्माण्ड रूप में प्रस्तुत हो जाय। प्रत्येक प्राणी वृक्ष ब्रह्माण्ड नदी पर्वतादि सब योगमाया के सजीव उदाहरण हैं, ये दैवी और आसुरी मायाओं के प्रत्यक्ष उदाहरण या आदर्श या नमूने या दृष्टान्त हैं, भावात्मक सूक्ष्म मायायें आत्मा रूप में विभु व्यापक रूप में रहती हैं, उन्हीं का रचा यह सारा जंजाल प्रपञ्च और संसार या ब्रह्मांड है। इसीलिए इस आसुरी दृश्यमान सृष्टि में लोगों को ईश्वर दीखता नहीं।

४—योगमाया

"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥"

(गीता० ७-१५)

आसुरी माया से मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए इसे मोहिनी माया भी कहते मोह के दो मुख्य कारण होते हैं, 'इच्छा और द्वेष'। आसुरी भावना में 'इच्छा' की असद् इच्छा की स्वाभाविक जागृति होती है। यह इच्छा बिना द्वेष किये सिद्ध नहीं होती। जैसे प्रेमी हजारों से प्रेम करना चाहता है पर अपनी प्रेमिका पर कठोर प्रतिबन्ध नियन्त्रण और संयम की इच्छा रखता है। दोनों की सिद्धि में द्वेष अनिवार्य है। इन दोनों इच्छा और द्वेष की एक ऐसी लम्बी परम्परा है कि एक अज्ञान को निभाने के लिए सैकड़ों अज्ञानों को ढूँढ ढूँढ कर प्रयोग में लाना पड़ता है। यही मोह परम्परा अज्ञान परम्परा या मोहिनी माया है। दैवी प्रकृति वालों को एक भले काम के साथ साथ सैकड़ों भले काम करने पड़ते हैं, यह दैवीमाया या महात्मा बनाने

वाली माया है। मुक्ति इन दोनों मायाओं से मिलनी चाहिनी "भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।" (गीता १३-३४)। माया का नाम भूत प्रकृति है। इन्द्र की माया दैवी माया है, वृत्र की माया आसुरी या मोहिनी माया है। इसी दैवीमाया को अपनाने के कारण इन्द्र को मायावी और बहुरूपिया कहा है जैसे

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवः" (ऋ० वे० ६-४७-१८)
"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋ० वे० ३-५२-८)
"मायाभि रिन्द्र मायिनम्" (ऋ० वे० १-११-७)
"मायां कृण्वानो इन्द्र पुरुरूप ईयते" (ऋ० वे० ६-४७-१७)

वृत्रादि के किले और इन्द्र के यज्ञ सब माया भेदों के किले हैं माया के व्याख्यान हैं। त्रिपादीय मनः रूप इन्द्र को दैवी माया का प्रतीक बताया है तो वृत्र को उसका विरोधी आसुरी माया या मोहिनी का। वृत्र का वध नहीं किया गया। उससे भौतिकात्मा सोम और आसुरी भाग स्थूल सृष्टि का आधार बनाये गये। इन्द्र का युद्ध विजय दैवी माया की सिद्धि के लिए है, वृत्र का आसुरी माया के लिए, दोनों सीमित हैं, दोनों साथ साथ थे, रहे हैं, और रहेंगे। जैसे गीता ने स्वयं कहा है

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्रिभिर्गुणैः॥" (१८-४०)

पर ये माया, मोहिनी और योग माया जीवात्मा तक सीमित हैं जिसका आरम्भ ब्रह्मणस्पति से होता है। पर ब्रह्म या ब्रह्म में ये सब मायायें गल कर नष्ट हो जाती हैं। इन्हें माया कहिए, विद्या और अविद्या कहिए मृत्यु कहिये या सत्यानृत कहिए ये सब ब्रह्मणस्पति तक रहते हैं। ब्रह्म की इस स्थिति का नाम ऐश्वर योग है क्योंकि सृष्टि के समय यह इन माया आदि में रहता है पर फिर भी तटस्थ ही रहता है, और प्रलय में इनसे एकदम मुक्त रहता है, इनकी मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है जैसे

"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्नभूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः॥"

(गीता ९-४,३)

सत्यानृत की व्याख्या, मित्र और वरुण की व्याख्या के अवसर पर की जा चुकी है वहाँ पढ़लें। 'ब्रह्म सत्य है जगन्मिथ्या है' इस वैदिक भावना का भाव यह नहीं है कि यह दृश्यमान नाना रूपाकर का अखिल ब्रह्माण्ड सत्ता में है ही नहीं। इसका तात्पर्य केवल माया के दो स्वरूपों को बतलाने से है। मौलिक दैवी और मोहिनी माया सत्य हैं आधार हैं बीज हैं, और स्थूल रूप की दैवी मोहिनी माया अनृत या असत्य या भौतिक है। मिथ्या या अनृत नाम भौतिक सृष्टि का है। इसका कोई निश्चित रूप

५—सत्यानृत

नही है, जैसा मिश्रण हो वैसा रूप बन जाता है। यह रूप भी या मिश्रण भी मौलिक दैवी आसुरी मायाओं की तरंगों के अनुसार बनता है जैसे जो व्यक्ति बीते कल तक मूर्ख, पापी, अन्यायी, अत्याचारी था वह आने वाले कल को एकदम ज्ञानी, धर्मात्मा, न्यायी, सदाचारी आदि बन जाता है। इसके विपरीत भी होता है। इसका क्या कारण है? उसका भौतिक शरीर तो वही है, बदला क्या? बदली उसकी माया या भावना! अतः इस जगत् में जैसे भाव या जिस माया का प्रभाव होता है उसी के अनुसार भौतिक शरीर या ब्रह्माण्ड व्यवहार करता है। कोई वस्तु अच्छी होते हुए हमारे लिए बुरी है, कोई बुरी होते हुए भी अच्छी। यहाँ भी भाव जगत् या माया का प्रभाव काम करता है। कोई वस्तु कल तक भयंकर थी, आज वही सबसे उत्तम होती है। इसके विपरीत भी होता है। यह भी माया और भाव जगत् के प्रभाव का कार्य है। अतः सत्य तो भावमय जगत् या मौलिक माया है, दृश्य जगत् या दृश्य शरीर उसका दास या घोड़ा मात्र है। अतः इसे अनृत या ऋत से मौलिक माया से भिन्न (जो ऋत नहीं वह अनृत अ + ऋत = अनृत) कहते हैं। अनृत शब्द को 'मिथ्या' पर्याय द्वारा मध्ययुग के दार्शनिकों ने गलत समझा और समझाया है जिस पर अभी किसी भी समझदार को विश्वास भी नहीं है, यही एक सन्तोष की बात है। वैदिक अश्वमेध के माने भी यही था कि घोड़ा रूप वाहन रूप शरीर रूप इस आसुरी या मोहिनी माया का मेध या शुद्धि की जाय या वध किया जाय जिससे दैवी माया का प्रचार संचार विचार आचार आदि पनप सकें। यहाँ यह भी निश्चित है कि कर्मकाण्ड में इस तथ्य का अभिनय घोड़े को शरीर का प्रतीक बनाकर उसका मेध या वध भी करते रहे। पर उन दिनों यह दृष्टान्त रूपक आदि रूप में समझा जाता था। दिनों के बीतने पर प्रत्येक कार्य अप्रतिरूप या लकीर का फकीर बन कर मौलिक तथ्य को भुलाते भुलाते ठुकरा देता है। यह प्रायः सभी धर्मों के प्राचीन पुनीत भावनाओं के आभिनयिक या व्यावहारिक रूपों का हुआ है।

मायाजाल का दूसरा सार्थक नाम इन्द्रजाल है (अथर्ववेद७-४-१-३ से १६ तक आगे उद्धृत है)। यह 'जाल' सचमुच में एक ठोस जाल है। यह ऐसा जाल है जो जीवित वस्तुओं या तागों का निर्मित है। प्रत्येक तन्तु एक

६—मायाजाल

स्वतन्त्र और परतन्त्र तत्त्व है, स्वतन्त्रता प्रत्येक की स्वतन्त्र सत्ता है, परतन्त्रता एक दूसरे से नित्यानित्य रूप से सम्बंध या गाँठ या गठन रूप में है। परतन्त्रता से एक पूरा जाल बनता है, स्वतन्त्रता से जाल छिन्नभिन्न हो जाता है। ये ताने-बाने के समान हैं, इनकी स्वतन्त्रता विभागीय है विभाग से दीखते हैं, [जाल से गाठों जोड़ों से युक्त से दीखते हैं, पर वे विभाग नितान्त परतन्त्र या एक तन्त्र या तन्तु के नाना गांठ रूप कांडों या विकासों के स्वरूप हैं। क्योंकि इनकी गाठें सर्वतोमुखी या चारों या पाचों दिशाओं में विकसित होती हैं। अतः यह एक कठिन जटिल जाल सा तन जाता है, ऐसा जाल बिछ जाता है उसमें फँसी वस्तु का बाहर निकलना कोई सरल काम नहीं, हँसी खेल

नहीं। यह कैसा और किस तत्त्व का कितना बड़ा जाल है उसकी झाँकी भी देख लीजिए वेदों में ही।

यह जाल या माया जाल या इन्द्र जाल (अथर्व ८-४-१-४ से १६ तक देखें) वेदों में नाना भाँति से वर्णित मिलता है। जब देवताओं को तत्त्व मानते हैं तब इसे इन्द्र जाल कहते हैं; जब अक्षर ब्रह्म के विकास क्रम की सरणि में वर्णित करते हैं तब इसे आसन्दी कहते हैं, जब इसे कर्म-काण्ड की सरणि में वर्णित करते हैं तब इसे 'अश्व' 'वृषभ' आदि नामों से पुकारते है और जब इसे अहोरात्र या संवत्सर ब्रह्म या आपोब्रह्म की सारणि में वर्णित करते हैं तब इसे 'वास' 'वस्त्र' आदि नाम से पुकारते हैं। सब में तथ्य एक है, वर्णनामात्र का भेद है। इन्द्र तैजसात्मा है तेजस मनो रूपी है; उसका विकास जब सोम में परिणत होता है तब वह इन्द्रासोमौ, इन्द्राग्नी इन्द्रा विष्णू आदि रूपों में पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक तानों वाला इन्द्र स्वयं उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा सोम के बानों से जकड़कर ऐसा जाल प्रस्तुत करता है जिसमें वह स्वयं ऊर्णनाभि या रेशम के कीड़े की तरह स्वयं फँस जाता है जिससे बाहर निकलना उसकी शक्ति या इच्छा के विरुद्ध हो जाता है। भौतिकात्मीय बाने इन्द्र को स्त्री के समान उसे प्रेमपाश में जकड़ लेते हैं। यही इन्द्र का सच्चा सोमपान है या देवताओं का सोमपान है। यही इन्द्रजाल है, प्रत्येक व्यक्ति, गोल पारिवारिक मण्डल और अखिल ब्रह्माण्ड एक एक इन्द्रजाल है, कोई छोटा कोई बड़ा। जब अक्षर ब्रह्म की सरणि में इस जाल का वर्णन करते हैं तो पूर्वार्द्धीयों को अक्षर या ऋग् अक्षर कहते हैं उत्तरार्द्धीयों को 'क्षर' या यजुः कहते हैं। ये दोनों ताने बाने से मिलकर इस जाल को आसन्दी या अक्षरब्रह्म कहते हैं, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय दोनों में क्रम से ४,३२,००,००,०० अक्षर हैं या कुल ८६४०००००० ताने बाने हैं (अक्षर ब्रह्म या ऋचोअक्षरे शीर्षक देखें)। अश्व और वृषभ रूप वर्णना इन्हीं नाम के शीर्षकों में दी जा चुकी है। 'वस्त्र' नामक वर्णना 'दाशराज्ञयुद्ध' शीर्षक में दे दी गई है, जिसका सारांश यह है कि वेदों में भौतिकात्मा के विकास के वर्णन के लिए प्रायः यह लिखा है कि 'मातायें बच्चों के लिए वस्त्र बुनती हैं' वेदों में 'माता' नाम प्रायः आपोः देवी और 'गौः' के लिए आया है। गौ नाम आदित्यों (१२) का भी है। अतः इस भौतिक बानों की सृष्टि करने वाले आध्यात्मिक आपो देवी हैं, जो ताने हैं, तथा शन्नो देवी (आपो देव्यः) भौतिक बाने हैं। दोनों के मेल से यह वैयक्तिक ब्रह्माण्डादि वस्त्र बनते हैं। अहोरात्र पक्ष में भी वस्त्र बुनने की चर्चा एक सर्व वेद प्रख्यात मन्त्र (ऋ० वे० १-११५-४; ऐ ब्रा० ३-९; अथर्व; २०-१२३; वा० यः; ३३-३७; तै० ब्रा० २-८-७-१, तै० आ० १-७-६; २-१३-१; विरुल ४-११)।

७—माया जाल किसका बना है।

"तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥"

में मिलती है। इस ऋचा का सीधा सादा अर्थ यह है कि "मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व सूर्य का देवत्व और महिमा ही यही है कि जब उसने सृष्टि के विकास को मध्य तक २५ वें

तत्व तक पहुँचाया ही था और ज्यों ही उत्तरार्द्ध की यात्रा या विकास के लिए अपने घोड़े या शक्ति को प्रसारित किया ही था कि उत्तरार्द्ध नाम की रात्रि ने उसके लिए वस्त्र बुनना या भौतिकात्मा को प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वार्द्ध के ताने अहः या सूर्य के हैं उत्तरार्द्ध के बाने रात्रि के हैं, बाने रूप रात्रि ने तानों से उलझ कर सूर्य रूप दिन को अपने बानों के जाल से बने वस्त्र में लपेट दिया।" बड़े दुःख की बात है कि सायण यास्क (नि० ४-११) और पाश्चात्यों ने यहाँ पर प्रातःकाल का वर्णन समझ कर 'रात ने अपने को ढक लिया छिपा लिया' आदि अनर्थक अर्थ लगाये हैं। वैदिक दर्शन में सूर्योदय होते ही रात्रि का आरम्भ हो जाता है। सूर्य उगा नहीं रात्रि का आरम्भ हो गया। दर्शन में सूर्योदय केवल २५ वें मध्यवर्ती तत्त्व के विकास में या प्रकाश में आने मात्र से सम्बन्ध रखता है। ठीक यही भाव ऋग्वेद अन्यत्र २-३८-४ में भी इस प्रकार देता है "पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्याकर्तोर्न्यधान्छक्म धीरः" इन दोनों स्थलों में या जहाँ कहीं भी अन्यत्र 'मध्याकर्तोः' शब्द आया है वहाँ-वहाँ यह शब्द सूर्य को सृष्टि विकास दर्शन का मध्यवर्ती २५ वां तत्त्व ही संकेतित करता है। 'सिम' शब्द न तो सर्वनाम है न 'स्वयं' का वाचक। यह अव्यय है। इसका अर्थ सायण ने ठीक दिया है (सर्वम्) 'सिमस्मै' एक शब्द नहीं है (सिम् (सर्वतः) अस्मै-सूर्याय, वासस्तनुते' वासं वयति भौतिकात्मनावृणोतीति यावत्; 'विततं' माने जब सूर्य नामक तत्त्व अपने त्रिपादामृतीय प्रकाश को पूर्णतः 'फैला चुका (अपना कार्य कर चुका) (संजभार) (तब रात्रि की पारी आई)। 'विततं' शब्द का अन्वय उक्त दूसरी ऋचा में 'वयन्ती' से विशेषण रूप में दिया है। 'संजभार' माने भी इसी दूसरे मंत्र के 'न्यधात्' का पर्याय स्वयं स्पष्ट है। अतः प्रमाण के लिए बाहर से ढूँढ़ खोज, ताक झाँक या अटकलपच्चू की आवश्यकता ही नही है। यह अहोरात्र सिद्धान्त का मायाजाल है। और दैवी तथा आसुरी शक्तयों द्वारा जब सृष्टि विकास का व्याख्यान किया जाता है तब माया या दैवीमाया या पूर्वार्द्ध के दैवीमाया के सात्विकराजसतामस के त्रिगुणित सूत्र वाले त्रिपादामृत तो तानों का काम करते हैं और मोहिनी या भौतिकात्मा या उत्तरार्द्ध के सात्विक राजस तामस के त्रिगुणित सूत्रवाले बानों का; दोनों के तानों बानों से बुना हुआ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, वैयक्तिक पारिवारिक या अखिलब्रह्माण्डीय, मायाजाल कहलाता है। यह मायाजाल मौलिक है स्थूल नहीं; पारमाणवीय भी नहीं; आणवीय है आत्मीय है सूक्ष्म है। इन्हीं से स्थूल देह रूप मायाजाल भी बनता है, स्थूल ब्रह्माण्ड स्थूल मायाजाल है।

८—ममता

ममता स्थूल मायाजाल में होती है। स्थूल मायाजाल वैयक्तिक पारिवारिक और अखिलब्रह्माण्ड हैं। ये मधुमक्खी के छत्त के समान पिण्ड हैं। प्रत्येक सूक्ष्म मायाजाल, वैयक्तिकादि ब्रह्माण्डों की जननी या रानी सी है। जब इसका विकास होता है तो ये अण्डे देकर हजारों मक्खियों को उत्पन्न करके उन्हें अपने संयम नियम में रखकर प्रत्येक से विभिन्न काम कराती है, जो काम वह अपनी व्यापकता से सर्वतः सब कुछ कर

सकती थी, उसको अब अव्यापक बच्चे अलग-अलग विभागों में जन्म लेकर उन्हीं विभागों का सा कार्य करते हैं। यह स्थूल मायाजाल का पारिवारिक जाल, वैयक्तिक जाल का सा कार्य करता है, वैसे ही अनन्त पारिवारिक मण्डल, अखिल ब्रह्माण्ड को एक वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में परिवर्तित कर देते हैं। चूँकि इनमें से प्रत्येक एक के ही अनेक भेद हैं, अतः हम अपने प्रत्येक अंग को, अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को, अपनी भूमि आदि को अपना (मम) कहते हैं तो यह तो बिलकुल सत्य बात है, सब अपने या मेरे हैं। प्रत्येक का विभाग भी अपना है, अतः ममता स्वयं स्वाभाविक है, कोई बनावटी वस्तु अज्ञानता या मोह से नहीं है। यह ठोस सत्य है। पर यह सत्यता भौतिक है और परिवर्तनशील परिणामी और क्षणिक है। अतः इस नाते से इसे अनृत या मिथ्या कहा जाता है। जब तक देह है तब तक सब माया, मोहिनी मायाजाल और ममता सब सत्य हैं। जब इनका परिणाम रूपान्तर में हो जाता है तब इनका मिथ्यात्व अनृतत्व स्वयं सामने आ जाता है कि भौतिक माया ममता, मोहिनी, जाल सब अस्थिर क्षणिक और अस्थायी है। यह ज्ञान, वास्तविक सत्य ज्ञान और वैज्ञानिक दर्शन का पवित्र ज्ञान है। लोग इसी की खोज में माथापच्ची करते आये हैं। दैवी ममता करना मनुष्य को महात्मा बना देती है तो आसुरी ममता उसे दुःखमय या नितान्त स्वार्थी बना देती है। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः। (गीता९-१३) ॥

अथर्ववेद (८-४-८-४ से १६ तक) ने उक्त मायाजाल के स्थूल और सूक्ष्म दोनों भेदों का स्पष्ट विवेचन सन्देहहीन भाषा में दे रखा है जैसे

"पुरुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः॥
अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥"
बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य··· ॥
बृहत्ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्द्धस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघा न शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया।"
"अयंलोको जालमास्सीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूँस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥"

इत्यादि ॥ इस सूक्त में 'इन्द्रजाल' शब्द का भी प्रयोग है। अतः यह शब्द वैदिक है इसमें भी सनेह नहीं रह जाता।

माया नाम विराड् (स्त्रीलिंग) का है। यह विराड् जब असुरों के पास पहुँची तो उन्होंने इसे 'माया' नाम से सम्बोधित किया। वे इसी माया से उपजीवित रहते हैं यह बात अथर्व ने स्पष्ट लिख दी है जैसे

"सोदक्रामद्　　सासुरानागच्छत् ।
तामसुरा उपाह्वयन्त माये एहीती ॥"

तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्सः आसीदयस्पात्रं पात्रम् ।
तां　　द्विमूर्धात्र्व्योधोक्　　तां　　मायेवाधोक् ॥
तां मायामसुरा उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥

(अथर्व ८-५-१०-४–१,२,३,४) । यह माया वैरोचनी प्राह्लादि उत्तरार्द्धीय है । विरोचन उत्तरार्द्ध का नाम है रोचना नाम पूर्वार्द्ध का है (त्री रोचना' इत्यादि) प्राह्लादि नाम वैद्युतीय विकास का है ।

अध्याय १२६

वास्तोष्पति

कर्मकाण्ड में वास्तोष्पति का अभिनय वास्तुपति के रूप में किया जाता है तथा क्षेत्रपति का आह्वन क्षेत्रपाल के रूप में। खेतिहर लोग प्रत्येक क्षेत्र में विशेष कर रोपाई के खेत में इस क्षेत्रपाल की स्थापना रोपाई ही के प्रथम दिन करते हैं। गृह-प्रवेश में भी क्षेत्रपाल की स्थापना वास्तुपति के रूप में की जाती है। ये पात्र तो अभिनय के आधार हैं। इस प्रकार की पूजायें गृहप्रवेश और बीजारोपण दोनों समयों पर होती रही। पर वैदिकों ने इनको आधार बनाकर अपने दर्शन की व्याख्या भी इन्हीं शब्दों को पारिभाषिक शब्द बनाकर कर रखी है। उपनिषदों तथा गीता में 'क्षेत्र क्षेत्रज्ञ' या 'क्षेत्र क्षेत्री' दर्शन है। इस दर्शन का आधार यहीं क्षेत्रपति वास्तोष्पति दैवत्य दर्शन है। इनमें क्षेत्रपति तो क्षेत्री या क्षेत्रज्ञ है तो वास्तोष्पति एक क्षेत्र है, एक तत्त्व है। क्योंकि क्षेत्र नाम केवल एक तत्त्व का नही वरन् समस्त ५० तत्त्वों का है। इन क्षेत्र क्षेत्री का विस्तार पूर्वक वर्णन 'विश्वेदेवता' शीर्षक में दे दिया गया है, वहां देख लिया जावे। वास्तोष्पति नामक तत्त्व भौतिक शरीर का मूल बीज दिव्य शरीर या सोम या चन्द्र है। इसलिए वास्तोष्पति को 'इन्दु' नाम से सम्बोधित भी किया है (ऋ० वे० ७-५४-२) तथा पिता नाम से पुकारा है और साथ में 'गोभिः अश्वेभिः' गयस्फानः' अर्थात् गो रूप आदित्यों और अश्वरूप प्राणों से शरीर की वृद्धि करने वाला कहा है। इसी के साथ तेरे साथ तेरी मित्रता से 'हम अजर बनें' यह प्रार्थना भी की गई है। और ७-५४-१ में इसीलिए वास्तोष्पति से 'स्वावेशः' सुन्दर निवास बनने की और 'अनमीवा' रोगहीन स्वस्थ रखने की प्रार्थना भी की गई है; और द्विपदों तथा चतुष्पदों दोनों के लिए या षड्पदों के लिए (षडष्टकों के लिए) शम् कल्याणकारी बनने की भी प्रार्थना की गई है। अन्त में तृतीय मन्त्र में 'संसदा' शब्द इसके स्थान का संकेत करता है। संसद नाम सप्तकों का है 'सप्त ते संसदः' ऋ० (वे० ८-९२-२०)। इसीलिए यहां पर 'ते संसदा' शब्द का प्रयोग है कि 'तेरे संसद के द्वारा (चतुर्थ सप्तक के द्वारा) जो गातुमती है (गातु नाम देवीयान का है) हम जा सकें' और 'उस मार्ग में हमें योग क्षेम' से अच्छी तरह सुरक्षित रखने की प्रार्थना की गई है। पूरे मन्त्र ये हैं

"वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥
वास्तोष्यते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥२॥
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वा गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

(ऋ० वे० ७-५४-१,२३)

इस वास्तोष्पति का अधिक विशद् वर्णन ऋ० ७-५५ सूक्त में मिलता है। सर्वप्रथम मन्त्र में इसको अखिल ब्रह्माण्ड के नाना रूपों को प्राप्त होने वाला और रोगहर्ता बतलाया है जैसे "अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रुपाण्वा विशन्।" इसके भौतिक नाना स्वरूपों में पिता (ब्रह्म) माता (वाग्ब्रह्म) श्वा (प्राण जीव ब्रह्म) विश्पतिः (तैजशात्मा) ज्ञातयः (बान्धव या दिव्य शरीर का परिवर्द्धित कण कण का परिवार रूप स्थूल शरीर) तथा अन्य इसी प्रकार के व्याप्त तत्त्वों की इस वास्तोष्पति रूप दिव्य शरीर के प्रसाद में सोने की कामना की गई है कि उक्त सब इसमें सुखपूर्वक निवास कर सकें, और उनके विरोधियों को मार भगा दिया जावे जैसे

"सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥
(सस्तु-स्वपतु)–य आस्ते यश्चरति यश्च पश्यति नो जनः।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं यथा॥"

(ऋ० वे० ७-५५-५,६)

यह वास्तोष्पति तो चतुर्थ सप्तक के समुद्र से उत्थित हुआ है, और यह सहस्रशीर्षा या सहस्रशृङ्ग या नाना रूप वाला वृषभ है, उसके बल से हम उक्त सब (पितामाता आदि) को इस दिव्य शरीरी वास्तोष्पति रूप हर्म्य में सुलावें। यह वास्तोष्पति जिस प्रकार नाना रूप धारी सहस्र शृङ्ग वृषभ है उसी प्रकार इसकी हजारों आसुरी पुण्यगन्धाः स्त्रियाँ और वाग्ब्रह्मणियाँ स्त्रीरूप में साथ रहती हैं उन्हें भी इसी के साथ सुलाने में समर्थ होवें। जैसे

"सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेन सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥"
"प्रोष्ठेशया वह्लेशया नारीर्यास्तल्पीवरी।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥"

(ऋ० वे० ७-५५-७,८)।

अब विचार करने की बात है कि क्या किसी भी मकान घर या महल का वर्णन उक्त प्रकार से किया भी जा सकता है? कदापि नहीं! अतः हमारा वास्तोस्यति निश्चय रुप से वैदिक दर्शन के सोम का एतद्रूप वर्णन है जैसा कि स्वयं स्पष्ट है। वास्तु का नाम 'वस्तु' या गृह भी है यह भौतिक स्वापः (सु आपः है जैसे 'श्वानं वस्तो बोधयितरमब्रवीत्' (ऋ० वे० १-१६१-११)। यहां ऋभुओं के स्वापः से उद्बोधन की चर्चा है।

अध्याय १३०

क्षेत्रपतिः

क्षेत्रपति का वर्णन क्षेत्री या क्षेत्रज्ञ या ब्रह्म के समान किया गया है (विश्वेदेवता देखें)। समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरुप क्षेत्र में आधारित और उसी में उगा हुआ या उत्पन्न है, जिसका विशद वर्णन ऋ० वे० ४-५७ सूक्त में मिलता है। हम क्षेत्रपति ब्रह्मद्वारा बड़े सुख से सरलता से हित प्रियता से विजय पाते हैं या उत्पन्न होते हैं वह गो रुप वाग्ब्रह्म और अश्वरुप प्राण ब्रह्म का क्रमिक पोषण या विकास करता है, ऐसा वह हमें इस प्रकार वर्तमान रूप में सब कुछ देता है। अहो क्षेत्रपति ? तुम मधुमान् उर्मियों वाले हो, और इन उर्मियों को हमें उसी प्रकार प्रदान करते हो जैसे गाय बछड़े को अपनी दुग्धधारा। अतः उस क्षेत्रपति से टपके मधु की बूदें शुद्ध किये हुये घृत या प्राणों के समान पवित्र रूप में हमें उन ऋत तत्त्वों का अधिकारी बनाकर सुखी बनावें। जैसे—

"क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृलातीदृशे॥
क्षेत्रस्य पते ? मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सूपूतमृतस्य नः पतयो मृलयन्तु॥

(ऋ० वे० ४-५७-१२)।

आपको यह विश्वास दिलाने के लिए कि उक्त निर्णय सचमुच में एक कठोर सत्य है और पूर्णतः प्रामाणिक है विष्णु सम्बन्धी ऋचाओं की इसी प्रकार की वर्णना उद्धृत की जाती है। वैदिकों ने ब्रह्म को मधु का उत्स या भण्डार या उद्गम कहने की एक शैली बना ली थी। अतः स्थान-स्थान पर इस मधुधारा या मधु का वर्णन आता है। जैसे विष्णु के त्रिपादों को (जिन तीन पादों से तीन लोकों को नापा था) मधु से पूर्ण बतलाती हुई ऋचा यह है

"यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति"

ऋ० वे० १-१५४-४)

और इन तीन पादों के (वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध या २४ तत्वों के) मधुओं के मूलश्रोत या उद्गम—या आदि ब्रह्म को 'मधु का' उत्स या भण्डार' नाम से पुकारा है जैसे "उरुक्रमस्य सहि बन्धु रित्था विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः॥" (ऋ० वे० १-१५४-५)। विष्णु नामक तत्त्व तो सर्वा देवता है, २६ वां पूर्णावतारी विष्णुः है। उसका प्रथम रूप -परमे पदे' या 'परमे व्योमन्' में ब्रह्म स्वरूप मधु का उत्स सा भण्डार सा है। यही स्वरूप क्षेत्रपति का भी है। अतः बृहदारण्यक ने भी इस मधु की पहेली को स्वीकार कर इसका और अधिक वैज्ञानित दार्शनिक विवेचन दिया है जैसे—

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः अयमेव अमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वं···स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः······

(बृह० उप० १-४-१३-१४)

इसी प्रकार का वर्णन छान्दोग्य ने इस प्रकार दिया है "यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्त्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ते यथा ते च न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहंवृक्षस्य रसोऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव मेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न बिदुः सति सम्पद्यामहे इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" (६-९)

वेदों का 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः' इत्यादि उपनिषदों और वेदों का उक्त मधुवाद ही इस ब्रह्माण्ड को सुनियमित रूप से संचालित करके रहने के योग्य बनाता है अन्यथा इस मधुवाद के बिना कोई वस्तु - प्राणी या तत्त्व स्थिर ही नहीं रह सकते; सदा प्रलय दीखता। यह मत अत्यन्त गम्भीर, वैज्ञानिक और दार्शनिक होते हुए सृष्टि का एक मुख्य उद्देश्य और विधेय भी है। इस ब्रह्माण्ड में वही व्यक्ति दुःखी है जो उक्त मधुमय सृष्टि से भ्रमर की तरह मधु को पीना या बटोरना नहीं जानता। क्योंकि यह सृष्टि काममय है जो जैसे चाहे वैसे रहे। जो काममय पुरुष मधुमयी के विपरीत अमधुमान् मार्ग को अपनाता है उसका दुःखी बनना अनिवार्य ही है। जैसे "अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भयति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदिमभि सम्पद्यते॥" "यथाकारी यथाचारी भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पाप्पेन॥" (बृह० उप० १-३-४-५,६)

क्षेत्र नाम भौतिक तत्त्व का है जिसका निर्माता ऋभु या आपः है जैसे

"सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वा तिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः"

(ऋ० वे० ४-३३-७)

क्षेत्र नाम भौतिकता का है अतः क्षेत्रविद् नाम सोम और पूषा को भी दिया गया है। जैसे

"त्वं नः सोम सुक्रतु वयोधेयाय जागृहि। क्षेत्रवित्तरो
मनुषो वि वो मदे द्रुहो न पाह्यंहसो विवक्षसे॥"

(ऋ० वे० १०-२५-८)

और पूषा के सम्बन्ध में—

"अक्षेत्रविद् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदाऽनुशिष्टः"

(ऋ० वे० १०-३२-७)

अध्याय १३१

पुरूरवा और उर्वशी

कवि कालिदास ने पुरूरवा उर्वशी पर एक नाटक लिख दिया है, पुराणों ने इनकी गाथा इतिहास रूप में वर्णित करदी है, परन्तु वेदों में पुरूरवा और उर्वशी दोनों मन्त्र रचयिता ऋषि भी हैं तथा इनका वर्णन देवता या तत्त्व रूप में भी किया गया है। जिसको पुरूरवा उर्वशी आख्यान कहा जाता है उसी को वेदों में दूसरे स्थल पर वशिष्ठ उर्वशी रूप के आख्यान रूप में भी वर्णित किया गया है। जिसको पुरूरवा कहते हैं उसे 'ऐल' या 'ऐड', (या इडा या इला का पुत्र) भी कहा गया है। अतः उसे कहीं कहीं 'पुरूरवा ऐला' नाम से भी पुकारा गया है। श्रद्धा या कामायिनी और इला (इडा) मनु की प्रथम और द्वितीय या आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्व रूप पत्नियाँ हैं। 'ऐल', इडा या भौतिक पत्नी का भौतिक तत्त्व रूप पुत्र है, उसकी पत्नी उर्वशी है, यह बात निम्न ऋचा स्पष्टतः बतलाती है

१—इल पुरूरवा और वशिष्ठ

"इति त्वा देवा इम आहु रैल यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥"

(ऋ० वे० १०-९५-१८)

पुरूरवा अपने को 'वशिष्ठः' नाम से निम्न ऋचा में पुकारता है —

"अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वशिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठन्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥"

(ऋ० वे० १०-९५-१७)

इसी उर्वशी का सम्बन्ध वशिष्ठ मुनि से निम्न ऋचा इस प्रकार बतलाती है —

"उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्तः ॥
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरतः परिजज्ञे वसिष्ठः ॥
सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥"

(ऋ० वे० ७-३३-११,१२,१३)

सबसे स्पष्ट उल्लेख यह है :—

"विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आ जभार ॥"

(ऋ० वे० ७-३३-१०)

इसमें 'विद्युतो ज्योतिः' नाम उर्वशी का है, वशिष्ठागस्त्य, वशिष्ठ का; यह वशिष्ठागस्त्य वही है जिसकी उत्पत्ति 'कुम्भे रेतः' (ऋ० ७-१३) से बतलाई गई है। यही पौराणिकों का अगस्त्य ऋषि है जिसे वे केवल कुम्भज कहते हैं। जिसे 'वेश्या पुत्रो वशिष्ठः' कहते हैं वह भी यही वशिष्ठागस्त्य है। इसको ऊपर की ऋचा में 'यत्त्वा विश आ जभार' कहा है। विश ही वेश्या या वैश्य वर्ग के तत्व हैं उन्हीं से वशिष्ठ नामक तत्त्व की उत्पत्ति हुई है। अतः आलंकारिक भाषा में उन्हें वेश्या पुत्र कहा गया है, किसी ने कुम्भज या अगस्त्य कहा है। वैसे वशिष्ठ और अगस्त्य दोनों पृथक्-पृथक् मंत्ररचयिता ऋषि भी हैं, ऐतिहासिक भी हैं, इनमें तत्त्वतः और ऋषितः अभेद है पर इतिहासतः और रचयितृकर्मतः भेद है। जो व्युत्पत्ति या व्याख्या 'वेश्यापुत्रोवशिष्ठः' की है ठीक उसी के समान्तर रेखा की व्युत्पत्ति या व्याख्या 'उर्वशी' की भी है 'उरु' नाम के या विश नाम के तत्त्व तृतीय सप्तक के हैं उनसे उद्भूत को विश पुत्र कहा गया है। इन तृतीय सप्तक के तत्त्वों का नाम 'उरु' कहनेवाला मन्त्र 'ऊरू तदस्ययद्वैश्यः' है(पु०सूक्त०)है। इन्हीं उरु नामक तत्त्वों की वशीभूत या उरुओं से जो भौतिकता (अश्नाति-उरुतां) को प्राप्त होती है वह उर्वशी—उरु अभ्यश्नुत, उरुभ्यां अश्नुत, उरुर्वा वशो अस्या-अप्सरा—है। प्रथम दो निरुक्तियाँ लौकिक और भद्दी है, वास्तव में अन्तिम व्युत्पत्ति उपयुक्त है क्योंकि उर्वशी और वशिष्ठ दोनों शब्दों में 'वश्' शब्द की योजना एकता सहचरता और समता का समावेश करती है, अप्सरा अर्थ में उर्वशी माने-आदर्शनीयं या व्यापनीयं होता है जैसा कि ७-३३-१० में लिखा है। यही शाकपूणि का भी मत है, आपोमयी आपः सरसः उद्भवा रूपवती तन्द्रावती आपोमयी को अप्सरा कहते हैं जिसे देखकर मित्रावरुण का रेतः स्खलित हुआ, उसी मन नामक सूर्य तत्त्व से वशिष्ठागस्त्य की उत्पत्ति हुई। यह बात ऋ० वे० ७-३३-११ के पूर्व उद्धृत मंत्र से नितान्त स्पष्ट है। इस मन्त्र का पुष्कर=पूः करोतीति पुष्कर है जिसका अर्थ उदक नहीं, यह पुष्कर वपुष्कर भी है पुष्णातीति पुष्यतीति पुष्कर भी है। क्योंकि इसका सम्बन्ध 'पूषा' से है, यह पूषा का सप्तक है। अतः पुष्कर की व्युत्पत्ति पुष्यतीति उपयुक्त है। पुष्कर के माने अन्तरिक्ष नहीं होता, न पीने का जल, यह चतुर्थ सप्तक है। चतुर्थ सप्तक के समुद्र से यह अप्सरा उत्पन्न होती है जिसका प्रमाण यह है "समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरमभि सोममक्षरन्।" (ऋ० वे० ९-७८-३)। अस्तु पुरूरवा और उर्वशी का विशिष्ट वर्णन एक साथ ऋ० वे० १०-९५ सूक्त में दिया गया है, उसके एक दो मन्त्रों को यहाँ पर दे दिया जाता है, शेष ७-३३ के कुछ मन्त्रों को दे ही दिया जा चुका है।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥
(ऋ० वे० १०-९५-१०)

वह उवर्शी बिजली की तरह चमकने और गिरने वाली, मेरी सब कामनाओं को पूरी करती हुई प्रकाशमान हुई या सत्ता में आई। इसका जन्म आपो सप्तक

चतुर्थ में हुआ जिसके तत्त्वों को नर (नृषद्) भी कहते
२—उर्वशी हैं, उन विकसित तत्त्वों को उर्वशी परिवर्द्धित करके दीर्घ-
जीवी बनावे ॥

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेम वर्धन्नद्यः स्वगूर्त्ताः ।
३—पुरूरवा महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्यु हत्याय देवाः ॥
(ऋ० वे० १०-९५-७)

देवताओं ने, हे पुरूरवा ! तुम्हें भौतिक तत्त्व रूप शत्रुओं से महान् युद्ध करने के लिए परिवर्द्धित किया है, अतः स्वयं प्रवाहिणी या स्वयं विकास को प्राप्त होने वाली पञ्चपर्वाविद्या को नदी रूप छान्दसी देवपत्नी तत्त्व रूप में आगे बढ़ना रोक दें, क्योंकि उन्होंने तुम्हें पाल-पोष कर बड़ा बना दिया है, (अब इनका कार्यभार स्वयं समाप्त कर हलका करदो, उनका काम तुम आगे बढ़ाओ—अब विकास तुमसे आगे होगा—सृष्टि का)

स्पष्टीकरण उक्त शीर्षक में आगे 'कुम्भ' का सम्बन्ध वृत्रासुर के सिर रूप कुम्भ से है (वृत्र देखें)। यह भौतिक तत्त्व का प्रतीक है। 'ब्रह्मन् मनसोऽधिजात' में मनसः शब्द वही 'चन्द्रमा मनसो जातः' की सूचना देते हुए सूर्य नामक तत्त्व का संकेत करता है। मित्रावरुण रूप ब्रह्म भी सूर्य के ही प्रतीक है। उर्वशी भौतिक तत्त्व रूप स्त्री ('स्त्रिया समपूर्यत इव' बृह० उप०) है। उर्वशी का सम्बन्ध नदी से देने का तात्पर्य पञ्चपर्वाविद्या रूप—तत्त्व रूप नदी—से है जिसका उत्तरोत्तर विकास नदी की तरह बढ़ता ही जाता है। इस नदी का तात्कालिक रूप विद्युन्मय मात्र था, अतः उस नदी का वर्णन विद्युत् प्रभा सम युवती के समान किया गया है जिसकी आलंकारिक सुन्दरता पर मुग्ध होकर सूर्य रूप मित्रावरुण का रेतः स्खलित हो पड़ा उसीसे वशिष्ठ या पुरूरवा उत्पन्न हुए। यह नदी अप्सरा है। उर्वशी तो वशिष्ठादि की वाणी रूप वाग्ब्रह्माणी या पत्नी है। इसके समर्थन में दार्शनिक भावनाओं को श० प० ब्रा० ने ११-५-१ पूरे प्रपाठक में पुरूरवा और उर्वशी की पौराणिक कथा देते हुए इसके सूक्त (ऋ० वे० १०-९५) के प्रथम द्वितीय, चौदहवीं और सोलहवीं ऋचाओं की व्याख्या दे रखी है। उर्वशी स्वर्ग पूर्वार्द्ध से नग्न ही आयी, पुरूरवा उस पर मुग्ध हो गया। इससे गन्धर्व नाराज हुए। वह वस्त्र पहिन कर तिरोहित हो गई। पुरूरवा को वह पुष्कर में मिली। प्रथम मन्त्र इसी मिलन की बात कहता है, यह पुरूरवा का वचन है द्वितीय उर्वशी का। उर्वशी संवत्सर की एक रात्रि या पूरे उत्तरार्द्ध तक उस पुरूरवा के साथ रहती है, गन्धर्व भी राजी होकर बरदान देते हैं कि तेरा पुत्र होगा। उर्वशी कुमार सहित अश्वत्थ और शमी अग्नि सहित गन्धर्व के पास चली आई। अश्वत्थ और शमी दो अरणियाँ हैं। अतः इनका महत्त्व है। यह पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का संयोग है।

अध्याय १३२

इडा या इला

इला की चर्चा पिछले शीर्षक में आ चुकी है। इसका सम्बन्ध उर्वशी से बतलाने वाली ऋचायें यहाँ दे दी जाती हैं :—

"अभि न इला यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः।
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥"

(ऋ० वे० ५-४१-१९,२०)

"सब की माता इला या उसके विकास रूप नदी रूपिणी उर्वशी हमारी सुरक्षा करे : उर्वशी तो हमारे लिए महान् दिव या त्रिपादामृत की रक्षा करती हुई, हमारे भौतिक शरीर की पुष्टि (विकास) के लिए अपनी जलीय आत्मा से उसे निरन्तर सींचती रहे।" यहाँ चतुर्थ सप्तक नदी रूप या जल रूप भौतिकात्मा या उर्वशी है, वही सर्व प्रथम परिस्थिति में इला है, अतः वे क्रम से हमारी रक्षा करें यह आशीष मांगी जा रही है। यहां 'आयुः' या 'प्रभृथस्यायोः' शब्द चतुर्थ सप्तक के दास तत्त्व रूप 'नर' या मनुष्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। यह 'आयुः' दक्षिण अयन में निर्धारित होती है, क्योंकि वह भौतिक है, सीमित है, क्षणिक है। अतः सार्थकता के लिए 'गृणाना' शब्द का या अभ्यूर्ण्वाना; (गिनना या ऊर्णनाभि की तरह खोल बनाना अर्थ के) उपयुक्त शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इला मनु की भौतिकी पत्नी है, यह बतलाया जा चुका है।

अनेक ब्राह्मणों में इडा के बारे में निम्न सूचना मिलती है। श० प० ब्रा० १-८-१-२४; २-३-४-३४; १४-२-१-७ इडा को गौः कहता है। कौ० ३-७-५, श० प० १-८-१-२२; तांड्य ७-३-१५ गो० उप० २-२५, तै० १-६-६-६; ऐ० २-९,१०-३० में 'पशवो वै इडा' लिखते हैं। कौ० (१३६) ऐ० ब्रा० (८-२६) कौ० (३-७) अन्नं पशव इडा, और अन्नं वा इडा कहते हैं। श० प० ब्रा० (११-२-७-२०) इसे वा श्रद्धा से तादात्म्य करते हुए कहता है 'श्रद्धेडा'। श० प० ब्रा० (१-८-१-११) ने कहा है कि इडा मनु की दुहिता है "सा एषा निदानेन यदिडा" इसीलिए इसको 'मानवी' नाम दिया गबा है जैसे "इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्" (तै० १-१-४-४; श० प० ब्रा० १-८-१-२६)

श० प० ब्रा० (१-४-४-११) ने इडा को वर्षा ऋतु बतलाते हुए कहा है कि इसके यजन से ही क्षुद्रसरीसृपादि रूप सृष्टि की व्यक्ति सर्व प्रथम होती है इससे सम्पन्न आसुरी प्रभावों को भी विजित किया गया। इडा या इला दैवी भौतिकात्मा रूप दैवी वाक् है। तै० ब्रा० (१-१-४) ने लिखा है कि इला या इडा मनु की मानवी पुत्री का नाम है जैसे 'इडा वै मानवी याज्ञानुकाशीन्यासीत्'। इस इडा को यहां पर यज्ञों का प्रकाशक या विकासक बताया गया है।

अध्याय १३३

कः या हिरण्यगर्भः

(यह इन्दुः या सोम या चन्द्रमा का ही नाम है ताण्ड्य ब्राह्मण (९-९-१२ देखें)

'कः' नाम आदि प्रजापति का है। प्रजापति मुख्यतः आठ हैं, पर कई पुराणों ने दश प्रजापतियों के नाम दिये हैं। श० प० ब्रा० ३-७-२ में एकादश प्रजापतियों का वर्णन दिया है। वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों और गीता में 'सप्तर्षयः' महर्षयः नाम इन्हीं प्रजापतियों के लिए आया है जिनमें उक्त कः प्रजापति अष्टम (प्रथम तत्त्व) है जिन्हें उन्होंने "अष्टौ पुरुषाः" "अष्टौ लोकाः" "अष्टौ स्थानानि" आदि नामों से भी पुकारा है।

१—कः क्या है ?

कः प्रजापति के बारे में 'अष्टौलोका अष्टौ पुरुषा' शीर्षक में लिखा जा चुका है जिसका सार यहां दे दिया जाता है। सायण ने 'कस्मै' शब्द की व्युत्पत्ति देने में इसे सर्वनाम 'किम्' का चतुर्थी का रूप क्या बताया कि, उक्त सर्वदलीय व्याख्यातारों ने 'कः' के वास्तविक अर्थ की ओर देखना छोड़ इसी सर्वनामी अर्थ पर गिद्ध दृष्टि लगाकर 'कस्मै' का अर्थ 'किसको' या 'किसके लिए' आँख मीच कर लगा लिया है "और स्रोइदेर ने यहां तक लिख दिया है (जिसे सबने स्वीकार किया है कि) कवि यहां पर उस ईश्वर की खोज में नाना प्रकार की भावनायें कर रहा है, वह उस आदि बीज रूप ईश्वर की—जिसकी अभिव्यक्ति यह भौतिक ब्रह्माण्ड है—खोज में कभी उसे इस वस्तु में देखता है कभी दूसरे में कभी तीसरे में और सन्देह में पूछता है कि हम किसकी उपासना करें इत्यादि।" पर यह सब व्यर्थ की कल्पनायें हैं। इस अर्थ का यहाँ कहीं कोई अवसर ही नहीं है, न सन्दर्भ, यहां तो देवता स्वयं कथित और उल्लिखित है, प्रश्न का अवसर ही नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण ने २-५-३८ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कः नाम प्रजापति का है। यह कः प्रजापति वह तत्त्व है जिससे अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि का सर्वप्रथम श्रीगणेश करना आरम्भ करता है। यद्यपि यह सृष्टि प्रपञ्च तो अकृत या स्वयंकृत है पर जो इसे करता है उसे अकृत नहीं कहा जा सकता। इस सृष्टि की आयु वाक्, या भौतिक अणु या अखिलब्रह्माण्ड ही है, प्राण आयु है प्राण रेतः है वाक् योनि है वह वाग्योनि में प्राणरूप रेतः का सिञ्चन करता है। इसे कौन बतायेगा या 'कः शंसिष्यति' प्रश्न के कारण उसे कः प्रजापति नाम से पुकारा जाता है। जब इसका विकास चतुर्थ सप्तक के आपोरूप में होने लगता है तो इसे फिर 'कम्' प्रजापति कहते हैं और सोम रूप आपः के बदले 'शम्' प्रजापति भी कहते हैं। (ऐ० ब्रा० ३-२१; श० प० ब्रा० २-४-३-१ से ५ तक)। उक्त कः और कम् प्रजापतियों के बारे में ऐ० ब्रा० ६-४-२१ में कद्वती ऋचा (ऋ० वे०७-३२-१४, साम २८०, १६८२)

"कस्तमिन्द्र त्वा वसुं कं नव्यो अतसीनां कदू न्वस्या कृतम्"

द्वारा दोनों के भेद को बताया है और इस गाथा का नाम कद्वन्त प्रगाथा और कम् प्रजापति को आरम्भणीय प्रजापति कहा है। आदि ब्रह्म या पूर्वार्द्धीय कः प्रजापति या ब्रह्म का नाम अनारम्भण या अग्रभण या अधिष्ठान नाम से पुकारा है जैसे

"अनारम्भणे यदवीरयेथा मनास्थाने अग्रभणे (ऋ० वे० १-१३६-५)

तथा

"किं स्विदासी दधिष्ठानमनारम्भणे कतमत्स्वित्कथासीद्"
(ऋ० वे० १०-८१-२)

उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का आरम्भ होते ही पूर्वार्द्धीय ब्रह्म आरम्भणीय या कम् प्रजापति कहलाता है। जब इस उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का नवोदय होता है तब उसे कम् या शम् प्रजापति कहते हैं। यही कः प्रजापति हमारा हिरण्यगर्भ है इसी बात को श० प० ब्रा० ६-२-१-५,१२ ने 'प्रजापति वै हिरण्यगर्भः संवत्सरः प्रजापतिरग्निः कद्वत्यो याज्यनुवाक्या को हि प्रजापतिः' लिख कर ऐतरेय ब्राह्मण की सब बातों को प्रमाणिकता दे दी है। उक्त तीनों उद्धरणों को 'अष्टौ पुरुषा महर्षयः' आदि शीर्षक पृ० १५४,१६५ में दे दिया गया है, वहीं देख लिया जाय। वास्तव में जिसका नाम सर्वदेवता अग्नि या पुरुष या प्रजापतिः या महासुपर्ण संवत्सर ब्रह्म या अक्षरब्रह्म है उसी का एक नाम हिरण्यगर्भ या कः है, उसी की प्रार्थना इस सूक्त में अक्षरशः दी गई है। इस हिरण्यगर्भ का वर्णन विश्वेदेवता या कः कम् शम् आदि तत्त्व के रूप में की गई है। कम् प्रजापति का 'सम्प्रश्न' नाम पूर्ण प्रश्नि या 'विश्वारूपाणि प्रति मुञ्चते' का भाव रखता है, प्रश्नि माने ऐ० ब्रा० ५-३-२१ में 'प्रश्निः सर्वाणि रूपाणि, लिखा है। 'कः' शब्द का निरुक्ति पूर्वक अर्थ कायमान या कामयमान या काम ब्रह्म होता है जो निम्न मन्त्रों (ऋ० वे० ३-९-२) से स्पष्ट है। जैसे

"कामयमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः।
तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभव ॥" (३-९२-२)

ऋ० वे० १०-१०-५ में 'गर्भे नु नौस्ति जनिता दम्पति कर्देवस्त्वष्टा' इत्यादि में 'कः' को देवता तथा जनिता देवता कहा है। वह इसी का सूचक है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सूक्त ८४ ने स्पष्ट शब्दों में 'कः' नामक प्रजापति को इस अखिल ब्रह्माण्ड का रचयिता बतलाया है। यहाँ पर 'कः' नामक देवता को सर्वनामी प्रश्नवाचक शब्द के अर्थ या सन्दर्भ में लिया ही नहीं जा सकता। प्रस्तुत हिरण्यगर्भीय दशम-मण्डलीय १२१ वां सूक्त उक्त प्रथममण्डलीय निम्न तीन ऋचाओं का विस्तृत स्वरूप मात्र है उन्हें यहां पर आज-कल के व्याख्याता विद्वानों की आखें खोलने के लिए दे दिया जाता है। ध्यान देकर देखने का कष्ट करें। वे तीन मन्त्र में हैं,

१— "कोऽद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥"

२— "क ईषते तुज्यते को निभाय को मंस्यते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वेको जनाय॥"

३— "को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः॥"
(ऋ० वे० १-८४-१६, १७, १८)

ऋ० वे० ३-५४-५ में कः देवता को विश्वेदेवताओं में सम्मिलित किया है

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवो अच्छा पथ्या का समेति।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥"

अन्य मन्त्र—ऋ० वे० ४-२५-१, २, ३ में कः को सब देवताओं का विकासक कहा है '-को अद्य नर्योदेव कामः' 'को वा महे ऽवसे पार्याय', 'को नानाम वचसा सोम्याय' मनायु वा भवति वस्त उस्राः॥ क इन्द्रस्य सख्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती॥ "को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योति रीट्टे। कस्याश्विना विन्द्रोऽग्निः सुतस्यांशोः पिबन्ति मनसा विवेनम्॥"

४— "कोऽदात्कस्मा अदात्कामो दाता कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते॥" (यजु० ७-४८)

५— "को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्" (यजु० २३-५९)

६— को नामासि (यजु० २७-२९)

'कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि' (२७-२९; २०-४)

"को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥"
(ऋ० वे० १०-१०-६)

७— "काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा" (शु० यजु० २२-२०)

"कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तदद्य वो ब्रूयादनुदेयी यथा भवत्॥
यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्तात् बुध्न आतत पश्चानिरयणं कृतम्॥"
(ऋ० वे० १०-१३५-५, ६)

८— "को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥"

९— "इयं सृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥"
(ऋ० वे० १०-१२९-६, ७)

अर्थ—(१) कः नामक (आत्मा) तत्त्व सृष्टि चक्र चलाने के लिए धुरी में 'गा' प्रश्निः गौ) को नियुक्त करता है जिसमें ऋतवान् (कर्मवान्) भानुमान् दुरा-

धर्ष, सुखकारक इषु रूप प्राणों को हृदय में स्थापित करता है जो इस प्रकार के ज्ञान को धारण करता है वह चिरंजीवि रहता है।

(२) क नामक तत्त्व ही चलता है, वही देता है, वही डरता है (ब्रह्म से) वही मानता है (ब्रह्म को) वही अपने विकास के लिए सद् रूप इन्द्र को अपत्य के लिए, महान् कार्यों के लिए और रमणीय स्वरूप तथा धन और कर्म के लिए प्रार्थना करता है।

(३) कः नामक तत्त्व ही आत्मा को हवियों से घृत (प्राणों) से पूरित या जीवित रखता है वही स्रुचा और ऋतुओं से—स्त्री और कामना से उसका विकास या यज्ञ करता है, उसी कः देवता के लिए यज्ञ होम आदि काम करने वाला भी कः स्वयं ही है, वही इन्हें मानने वाला वीतहोत्र और कल्याण यज्ञ भी होता है।

(४) कः ही देने वाला है, कः के लिए ही दिया जाता है, कः की कामना ही दाता होता है, कः की कामना के लिए ही दिया जाता है, कामना दाता है, कामना गृहीता है, सब काम कामना या क के लिए ही है। कः वही तत्त्व है जिसमें कामना है 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इस कामना वाला तत्त्व काम या कः है।

(५) कः नाम द्यावा पृथिवी और अन्तरिक्ष का है।

(६) वह तत्त्व कः नाम का है वह कः है। श० प० ब्रा० (४-४-७-४) ने इस कः का अर्थ 'प्रजापतिर्वै कः' लिखा है। और कः नाम प्रजापति का बतलाया है जैसे 'प्रजापतिर्वै को नाम, (वहीं)

(७) क प्रजापति के लिए कस्मै प्रजापति के लिए और श्रेष्ठ नाम स्वा है।

(८) इस मन्त्र के अर्थ में लोगों को कः माने प्रश्न का भ्रम है पर बात यह नहीं है। यहां दो कः शब्द है, दो 'कुतः' शब्द हैः दो 'कुतः' शब्दों के प्रश्न के उत्तर में क्रम से 'कुत आजाता विसृष्टि' का उत्तर 'को अद्धा वेद' है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रारम्भ हुई ? इसे कः तत्त्व जानता है, 'कुतः इयं विसृष्टिः' कि किस लिए यह सृष्टि है—के उत्तर में 'क इह प्र वोचत्' या कः तत्त्व ने इस बारे में स्पष्ट कहा है (एको हं बहुस्यां प्रजायेय इत्यादि)। 'यत आबभूव' के माने जैसे विकास को प्राप्त हुई—वह भी क्रम से देवताओं की अधोऽधो सृष्टि द्वारा—उसे भी कः तत्त्व ही जानता है।

(९) इस सृष्टि का वास्तविक चालक तत्त्व तो कः नामक तत्त्व ही है, पर ब्रह्म रूप आदि तत्त्व तो सुषुप्तावस्था में रहता है, सृष्ट्यारम्भ उसी से होता है पर सुषुप्त में सब सोये तत्त्व हैं, उसमें जाग्रत तत्त्व थे या नहीं, उसे इस सृष्टि का ज्ञान हुआ या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। उसका ज्ञान स्वप्न का सा ज्ञान हो सकता है जैसा स्वप्न होता है वैसा प्रयोग में नहीं होता, सोचा (स्वप्न) कुछ जाता (होता) है सामने कुछ और ही आता है, अतः ऐसी संदिग्ध भाषा स्वभावतः सत्य है। इसीलिए "न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण

प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥" (ऋ० वे० १०-८२-७) मन्त्र कहता है कि जिसने यह सृष्टि रची है आप उसे नहीं पा या जान सकते। आपके विचार और परिस्थितियाँ (वातावरण) कुछ और ही हैं जिनके कुहरे से आपके मस्तिष्क बुरी तरह घिरे हैं, आप हिकलाती वाणी में बोलते हैं सांसारिक भोगों में फँसे हैं उनके कारण दबी जबान से हिकलाते से तर्क प्रपञ्च में बोलते हैं और वेदों के मन्त्रों का केवल पाठ मात्र करने के आदी हैं उनके रहस्य जानने के नहीं। वे रहस्य इस भोग्य संसार के भोगों के कुहरे में छिपे हैं; जो उस प्राण रूप ब्रह्म के अमृत को पीने के लिए तृषाकुल हैं वे उसकी खोजें करते हुए जगत्प्राणात्मा सूर्य देवता की उपासना या उद्दीप्ति करते हैं।

हिरण्यगर्भ माने प्राण रूप गर्भ या प्राण या ब्रह्म रूप अण्डा होता है। यह अण्डा 'हंसः शुचिषत्' नामक प्रलयात्मीय अन्तिम स्थिति रूप ब्रह्म का है। इसकी व्याख्या गायत्री ब्रह्म शीर्षक में अजपा गायत्री के वर्णनावसर में दे दी गई है। यह अण्डा अ से क् तक(अ+क्='कः')२६ तत्त्वों का पूर्वार्द्धीय 'कः' तत्त्व है। यह अमृताक्षर ब्रह्म है। हिरण्य माने प्राण ही होता है जैसा कि (श० प० ब्रा० ७-४-२-७ ने लिखा है "प्राणा वै हिरण्यः"। अथर्व (३-२८-६) के अनुसार त्रेधाजात या त्रिपात् का नाम हिरण्य है। श० प० ब्रा० (२-२-३-१८) ने पुनः लिखा है कि अग्नि (प्रलयी ब्रह्म) के रेतः का नाम हिरण्य है और १३-१-१-३ में लिखा है कि आलब्ध (उद्दीप्त) अश्व (प्राण) का रेतः (ज्योति) हिरण्य है। श० प० ब्रा० (६-१-३-५) ने एक बार और लिखा है कि अयस (भौतिकात्मा) से हिरण्य (ब्रह्म ज्योति) बनाया (या उद्दीप्त की गई)। आयु (सोम ज्योति) का नाम भी हिरण्य है (श० प० ब्रा० ४-३-४-२४)। अमृत या त्रिपादामृत का नाम हिरण्य है (तै० ब्रा० १-७-६-३)। चन्द्रमा का नाम हिरण्य है (तै० १-७-६-३)। सोम का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० ३-३-३-६)। शुक्र का नाम हिरण्य है (ऐ० ब्रा० ७-१२)। ज्योति का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० ४-३-१-२१)। यशः का नाम हिरण्य है (ऐ० ब्रा० ७-१८)। सत्य का नाम हिरण्य है (गो० उ० ३-१७)। देवताओं का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० १२-८-१-१५)। पवित्र (किरण) का नाम हिरण्य है (तै० १-७-२-६) रुक्म नाम भी हिरण्य शब्दार्थक है, सुवर्ण भी इसी का अर्थ रखता है, इनका विवेचन 'सु श्वा अश्व' आदि प्राण शीर्षक में दिया जा चुका है पुनः देख लें (पृ० १११)। इनकी व्युत्पत्ति ऐसी है रोचते प्रकाशते इति रुक्मः 'सुभिः प्राणैर्वृणोतीति सुवर्णः'। इसीलिए प्राण वायु को 'रुक्म वक्षाः' कहते हैं जैसे "अग्निर्न भ्राजसो रुक्म वक्षसो वातासः" (ऋ० वे० १०-७८-१)।

हिरण्य शब्द पर श्रुतियों के आधार पर हिरण्य शब्द का अर्थ

ब्रह्म का यह नाम केवल ऋग्वेद के ऋषियों में 'रुक्म' नाम से कहा जाता रहा, सुवर्ण नाम सामवेदियों का गढ़ा है वे इस नाम से ब्रह्म को पुकारते रहे। (इस विषय की विस्तृत् व्याख्या 'ब्रह्मविवयक वैदिक रहस्य की संकेतावली' नामक

शीर्षक में सोद्धरण दी जा चुकी है, वहीं अवश्य देखें)। अतः तैतिरीय संहिता लिखती है कि हिरण्यगर्भ नाम प्रजापति का है जैसे

"प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वायेति" (५-५-१-२)

यही बात श० प० ब्रा० ६-२-१-५ लिखता है। उक्त हिरण्य रुक्म या सुवर्ण नामक शब्द ब्रह्म को गर्भ में धारण करने वाला जातवेदा अग्नि है जिससे चतुर्थ सप्तक में जल या आपः की उत्पत्ति होती है। इस जातवेदा अग्नि की अन्तिम रेखा का नाम उषा है, उषा का ही नाम उल्बं या गर्भ है ('उल्बं वै उषा' श० प० ब्रा० ७-२-३-११ तथा ऐ० ब्रा० तत्त्व निर्णय देखें)। इसी बात को निम्न ऋचा स्पष्ट शब्दों में कह रही है

"गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भः स्थातां गर्भश्चराथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥"
(ऋ० वे० १-७०-२)

वैसे गर्भ की व्युत्पत्ति 'गृह्णातीति गृणातीति गिरतीति गिलतीति वा गरणाद्गर्भः' है। यह गर्भ, भौतिकात्मा का उषा रूप खोल है जिसे जीव या प्राणी या सचेत या चेतन कहते हैं। हिरण्य को जब तक यह गर्भ रूप खोल नहीं मिलता तब तक वह अपने त्रिपादामृत रूप में रहता है। गर्भ भी अमृत है पर उसके कण-कण जीव रूप को पाने लगते हैं तो वे प्रत्येक मर्त्य रूप में परिणत होकर संसार में सरण करते हैं। लहर आगे को बढ़ती जाती है पीछे की लहर नष्ट होती रहती है यही मर्त्यपना भौतिकता है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र अखण्ड मर्त्य है। इस भौतिक खोल को या गर्भ को 'आपः' (चतुर्थ सप्तक के आपः) बनाते हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख तो इसी सूक्त की सातवीं ऋचा इस प्रकार कर रही है जैसे

"आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासु रेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

यहाँ का गर्भ और असु तथा अग्नि उक्त जीव सचेत ससंज्ञ गतिमान् सोम या भौतिक खोल के नाना रूपों की ही विवेचना देता है। इस प्रकार पूर्ण 'हिरण्यगर्भः' शब्द आदि ब्रह्म से लेकर चतुर्थ सप्तक के भौतिक आपो रूप तत्त्वों के क्रमिक निर्माण का एक नाम है। और आपोरूप गर्भ आत्मारूप में हिरण्य रूप आदि ब्रह्म के साथ आपो ब्रह्म के रूप में भी रहता ही है, पर उस अवस्था में यह गर्भ केवल आत्मा (दैविक या आध्यात्मिक या अमृत) स्वरूप में विद्यमान रहता है। चतुर्थ सप्तक का आपो रूप गर्भ तत्त्व तो भौतिकात्मा हैं जिसके मर्त्य और अमृत दो रूप हैं। मर्त्य रूप आसुरी है, अमृत रूप दैवी या सोम या चन्द्रमा। ये दोनों प्रकार के गर्भ, हिरण्य रूप ब्रह्म को दैवी रूप में 'आप्नोतीति आपः' या अपने में आप्त या व्याप्त कर लेते हैं, और आसुरी रूप में 'अवृणोदिति वाः वारि वा' अपने स्वरूप को बाहर भीतर ब्रह्म से आवृत कर लेते हैं (आपो ब्रह्म देखें)।

अध्याय १३४

हिरण्यगर्भ–सूक्त (ऋ० वे० १०-१२१)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

सृष्टि आरम्भ होने के समय (अग्रे) केवल कः या हिरण्य गर्भः नामक तत्त्व मात्र था। इस आदि हिरण्यगर्भ का 'गर्भः' आपोब्रह्म रूप दैवी शक्ति या त्रिपादामृत की मूल जननी थी जिसे 'स मातुर्योना अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' या 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' ऋचायें ठीक इसी स्वरूप से वर्णित करती हैं तथा गीता भी 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिगर्भं दधाम्यहम्' और 'तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रदः पिता' (१४-३,४) ठीक इसी आशय का विवेचन दे रही है। जो गर्भ है वही योनि भी है, बीजदाता ब्रह्म ही है, केवल कैवल्य वाला ब्रह्म है, शुद्ध-बुद्ध ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, अग्निमय ब्रह्म है। वेदों में भूत शब्द पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसको पुरुष सूक्त तथा यजुर्वेद ने निम्न मन्त्रों में इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' (या भाव्यम्) 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।' यहाँ पर भूत माने भुवन या त्रिपादामृत या पूर्वार्द्ध है, भव्यं भाव्यं या भविष्यत्, इस पूर्वार्द्ध से उत्पन्न होने वाला भौतिकात्मा रूप भौतिक तत्त्व है, दोनों को मिलाकर द्यावापृथिवी कहते हैं, पूर्वार्द्ध दैवी तत्त्व है उत्तरार्द्ध भौतिक या आसुरी। वह इन दोनों का सम्मिलित एक अर्द्ध नारीश्वर रूप सा था, आदि में वह उत्पन्न होकर (जातः), भूतस्य या दैवी तत्त्वों या पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों का बीज रूप में (पति या) संरक्षक था और या केवल 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' ही। 'भूतस्य' शब्द दैवी तत्त्वों या आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए आया है। वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं। अतः भूतः माने लोक में प्रायः प्राणी होता है, भूत प्रेत का मूल भाव भी इन्हीं आत्माओं से सम्बन्ध रखता है। महाभूत दूसरी वस्तु है। ये केवल भौतिक हैं शुद्ध या पूर्ण भौतिक हैं। उक्त भूत तत्त्वों से अनन्त संख्या में स्थूल हैं, अतः महाभूत कहलाते हैं, क्योंकि इनका विकास भी उक्त भूतों से ही होता है, इसलिए भी ये महाभूत माने जाते हैं। इस ऋचा में पति माने स्वामी या ईश्वर नहीं है वरन् पालक या संरक्षक है, 'अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' का प्रतियोगी भाव रखता है। अतः सायणादि के भूत शब्द के विकारजातस्य और पति शब्द के ईश्वर अर्थ नितान्त असम्भव है। आत्माओं में विकार का प्रश्न ही नहीं उठता, विकार इन्हीं भौतिक तत्त्वों में आता है। ईश्वर अर्थ का यहाँ कोई भाव जमता नहीं। हाँ पूषा रूप ईश ईशान अवश्य माना जा सकता है। वैदिक ब्रह्म सूत्र १-४ देखें।

इस (स) हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति ने पहले क्रम से, तीन विक्रमों से (तीन पादों से) द्याम् या पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों का स्वरूप धारण किया (दाधार) तदनन्तर उत्तरार्ध के २४ तत्त्वों के स्वरूप को 'पृथिवी' या भौतिकता के रूप में धारण किया, ऐसे कः प्रजापति की, हम अपनी आत्मा रूप सोम की हवियों को अर्पित करते हैं या सृष्टि यज्ञ को सोम की आहुति से सेवित करते हैं, क्योंकि 'हविर्वै देवानां सोमः' वाक्य में हविः नाम वास्तव में सोम का है यह श० प० ब्रा० ३-४-३-२ में स्पष्ट लिखा है 'हविर्धाने' और 'यज्ञ' शीर्षक अवश्य देखें। इस आशय की पुष्टि और समर्थन (ऋ० वे० ६-१२-४) 'उक्षः पितेव जारयायि यज्ञैः' ऋचा करती है तथाऽग्नि का नाम भी हवि है 'हविरस्मि नाम' (ऋ० वे० ३-२६-७), जो वैश्वानराग्नि आत्मा है, ऋ० वे० १०-८१-५ के 'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिमीमुत द्याम् से भी स्वयं हो जाती है। इसीलिए यहाँ पर हविषा शब्द का उचित प्रयोग किया है। लोगों ने द्यावा पृथिवी के माने केवल अन्तरिक्ष और भूमि लगाया है। ये दोनों अर्थ शत प्रतिशत अशुद्ध हैं। क्या अन्य ग्रहों में पृथिवी या भूमि नहीं है ? तब उनकी रचना करने वाला क्या दूसरा ही है ? द्यावा शब्द दिव अर्थ का है तो ये दिव किस किस स्तर के वाचक हैं। खगोल में अनन्त स्तर और असंख्य मंडल हैं। क्या वैदिक ऋषि की दृष्टि इतनी संकुचित थी जो केवल दृश्यमान अन्तरिक्ष और पृथिवी को लेकर ऐसी उधेड़बुन करती ? यह मार्ग ही जटिल है, दृश्यमान द्यावापृथिवी लौकिक आधार अवश्य हैं, पर दर्शन के क्षेत्र में ये दो मुख्य भागों का काम करते हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, जिनके कई और अन्य नाम भी हैं ('द्यावापृथिवी' का शीर्षक देखें)। पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का विकास एक रूपता और अखण्डरूपता में होता है तो उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का खण्ड-खण्डशः व्यक्ति व्यक्तिशः। पूर्वार्द्ध की एकता या ऋतता उत्तरार्द्ध में अनेकता या नाना रूपता या अनृतता में परिणत हो जाती है। इसीलिए गीता कहती है "अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्।" सबका अन्तर्जगत् एक सा है सबमें बाह्य जगत् या भौतिक रूप या स्थिति भाषा आदि अन्तर का है। पूर्वार्द्ध अन्तर्जगत् है, उत्तरार्द्ध बाह्य जगत्। विधेम = परिचराम। 'विधतिः परिचरण कर्मा' (निरुक्त २-१०), सायण ने भी यही अर्थ दिया है।

कस्मै देवाय हविषा विधेय—का अर्थ ताण्डय महाब्राह्मण (९-९-१२) में स्पष्ट दिया हुआ है।

"तस्मै हिरण्यगर्भाय हे इन्द्रः सोम! ते तव सम्बधिना हविषा विधेम परिचरेम"
(सायण)

"तस्मै ते इन्द्रो हविषा विधेम स्वाहेति सैव तस्य प्रायश्चित्तिः" (ब्राह्मण)

जिसका यह अर्थ हुआ कि हे हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति या सोम हम तुम्हारी ही हवियों से (सोमो वै देवानां हविः) तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हम सोम की पूजा सोम शरीर दिव्य अन्तरात्मा से करते हैं यह भाव है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

यह कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ सबको आत्माऐं देने वाला है। यह प्रजापति मूलबीज 'मनोवाग्प्राण' तीन का त्रिवृत् है विवृत् है, प्रवृत् है 'त्रिवृदषि त्रिवृते त्वा' इत्यादि। प्राणों का परिणाम आत्मा में होता है, अतः द्वितीय सप्तक के वार्तों को आत्मा नाम से पुकारा गया है वही गर्भ भी कहा गया है जैसे

'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः'
(ऋ० वे० १०-१६८-४)

अतः यह आत्मा भी हिरण्यगर्भ का ही विकास है यह इस ऋचा से स्वयं स्पष्ट है। इन्हीं वार्तों का नाम 'ऊर्ज' या बल भी है अतः वह बलदा या ऊर्जस्वान् आत्मा का देने वाला भी है

'दधिक्राब्ण इषऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्'
(ऋ० वे० ४-३९-४)

यह ऊर्जस्वानात्मा अग्निस्वरूपी है। इसकी आत्मा या प्रशासन का पालन सब विश्वेदेवता करते हैं। आज्ञा या प्रशासन का कार्य बुद्धि या मन करता है उसका संचालन 'वाक्' या शब्दब्रह्म करता है। अतः यहाँ पर हिरण्यगर्भ के बारे में कहा जा रहा है कि उसकी बुद्धि या मनः सम्पदा के आह्वान के इङ्गित पर सब विश्वेदेवता अपना अपना कार्य करते हैं। मनः का विकास, शासन का कार्य तृतीय सप्तक राजा इन्द्र के उदय से होता है जिसे प्रथम मनस्वान् कहा गया है

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० वे० २-१२-१)

इन्द्र रूप में इसके शासन को सब मानते हैं सब उसकी उपासना करते हैं या वे सबके पास पास हैं, सब उससे मिले जुले हैं एक हैं।

इसी हिरण्यगर्भ रूप कः प्रजापति के विकास स्वरूप सब देवता या तत्त्व हैं। इनमें से पूर्वार्द्ध के तत्त्व अमृत या देवता हैं, उत्तरार्द्ध के तत्त्व उसकी छाया के समान हैं, जितनी समानता छाया की उसके वास्तविक तत्त्व से होती है उतनी ही समानता इनमें है। फिर भी यह छाया जिसे उत्तरार्द्ध का स्रोत कहते हैं, वह अमृत है, अमर है, मधु का उत्स है, सुधा है। और उसका आसुरी रूप मृत्यु नाम से पुकारा गया है, उसका उद्भव भी इस हिरण्यगर्भ से होता है (मृत्यु के बार में 'मृत्यु नामक शीर्षक पढ़ें)। मृत्यु नाम भौतिकता प्रधान आसुरी सृष्टि का है उसका आरम्भ उत्तरार्द्ध के प्रथम तत्त्व आदि से २५ वें तत्त्व में होता है। अतः हम उस कः प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते है कि दिव्यात्मा से अर्चना करते हैं या यज्ञ हवियों के अर्पण द्वारा अर्चना करते हैं। मृत्यु नाम संवत्सर रूप काल प्रजापति का भी है, कः ही काल प्रजापति भी है। यह मृत्यु उसके वश में है, वह भौतिक शरीरहीन होने से मृत्यु रूप का भी है।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद: कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

जितना सरल और उज्वल अर्थ इस ऋचा का है उतना ही अधिक कठिन और अन्धकारमय इसे बना दिया गया है। ध्यान रहे पूर्वार्द्ध की सृष्टि केवल प्राण रूप में या आत्मा रूप में विकास पाती है; उन विकासों को त्रिपादामृत (ब्रह्मात्मा जीवात्मा तैजसात्मा) कहते हैं। और उत्तरार्द्ध की सृष्टि का आरम्भ चक्षुरूप सूर्य २५ वें तत्त्व के निमिषोन्मीलन से होता है जहाँ से भौतिक सृष्टि या जगत् या विश्व सृष्टि अपना प्रथम सूत्र पात करती है। वैदिक ऋषि उक्त वातावरण और स्थिति या सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए हिरण्यगर्भ नामक क: प्रजापति के बारे में कहते हैं कि जो अपनी सर्व शक्तिमत्ता द्वारा (पूर्वार्द्ध में) प्राण रूप सृष्टि का विकास करते हुए, (उत्तरार्द्ध में चक्षु नामक) सूर्य तत्त्व का निमिषोन्मीलन करके, इस अखिल भौतिक (जगत:) ब्रह्मांड का केवल एक राजा 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' स्वरूपी तत्त्व बनता है, तथा जो पहिले (पूर्वार्द्ध में) उस द्विपदीय (जीवात्मा, और उसके साथ त्रिपदीय तैजसात्मा) का विकास करता है जो फिर उसीसे (चतुर्थ सप्तक में) चतुष्पाद् ब्रह्म का विकास करने में समर्थ (ईशे) हुआ, उस क: प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते हैं या हवियों द्वार अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

लोगों ने 'प्राणत: निमिषत:' का अर्थ 'साँस लेने और सोने वाला जगत्' या 'चेतन जड़ जगत्' कहा है यह अर्थ तभी बैठ सकता है जब हम पूर्वार्द्ध को प्राणमय और उत्तरार्द्ध को सुषुप्त या मृत्युमय मानें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु:।
यस्येमा: प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

इस ऋचा में हिमवन्त, समुद्रं, रसया, प्रदिश और बाहू शब्द पारिभाषिक हैं जिसका अभिधा का अर्थ लौकिक है वैदिक या वैदिक दर्शन का नहीं। इनका या इस सूक्त में आये ऐसे अन्य पारिभाषिक शब्दों का जो लौकिक अर्थ सामने आता है वह अजागलस्तनवत् कर्मकांड के पात्रों के लिए ग्राह्य हो सकता है, इनसे वैदिक दर्शन का आभास तक नहीं होगा। पर वैदिकों के, इन शब्दों के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य, हिरण्यगर्भ नामक क: प्रजापति की व्याख्या है जो केवल पारिभाषिक अर्थों ही के द्वारा अभिव्यक्त हो सकती है अन्यथा कदापि नहीं।

यहाँ पर पञ्चपर्वाविद्या का भी संकेत है जिसमें पर्वत समुद्र और पृथिवी विद्यायें मुख्य हैं (पर्वविद्या देखें)। हिमवन्त: हेमाद्रिकूट हैं, जिससे अक्षर ब्रह्म को कूटस्थ कहते हैं 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'। हिमवन्त और हेमाद्रि का अर्थ हिरण्याद्रि या हिरण्यपर्व है। हिमवन्त: पूर्वार्द्ध के पर्व या २४ तत्त्व हैं या पर्वत हैं, यहाँ का 'समुद्र' शब्द चतुर्थ सप्तक का समुद्र है जिसमें सरस्वती या रसमय शब्द ब्रह्म या रसरूप भौतिकात्मा सोम सम्मिलित है। चतुर्थ सप्तक उत्तरार्द्ध का है। बाहू शब्द द्वितीय सप्तक

का है जहाँ जीवात्मा का अभ्युदय होता है। प्रदिश में सातों सप्तक आ जाते हैं। 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्' वाक्य से भूमि या भौतिक तत्त्व के साथ साथ दिशाओं का निर्माण श्रोत्र से होता है पर वर्तुल आसन्दी में द्वितीय सप्तक आदि को भी दिशा दी जाती है। दिशाओं विदिशाओं तथा पञ्चात्माओं का जनक वही है।

जिसके विकास (पूर्वार्द्ध में) हिमवान् पर्वत या हेमाद्रि पर्वत या हिरण्य पर्व कहलाते हैं (वही उत्तरार्द्ध में आपोमय समुद्र पाकर गर्भ रूप भौतिकात्मा से आवृत् होकर हिरण्यगर्भ कहलाता है अतः) जिसकी महिमा से (उत्तरार्द्ध में चतुर्थ सप्तकीय आपोमय) समुद्र, रसमय (सोम या पृथिवी) के (गर्भ के) साथ साथ (हिरण्यगर्भ) कहलाते हैं, जिसकी ये विदिशायें और बाहू (द्वितीय सप्तकीय जीवात्मा) हैं उस कः नामक हिरण्यगर्भ प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते हैं या यज्ञ की हवियों द्वारा अर्चना करते है या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृल्हा येन स्वःस्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यद्यपि द्यावापृथिवी को धारण करने या विकसित करने के बारे में सबसे प्रथम मन्त्र में 'यो दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' वाक्य द्वारा कहा जा चुका है पर इसमें द्यावापृथिवी के आवान्तर भेदों का जिनकी प्रसिद्धि इनसे कम नहीं है वर्णन दिया जा रहा है। वे आवान्तर भेद स्वः, नाकः रजः और अन्तरिक्ष हैं। स्वः नाम तृतीय सप्तक का है जिसे दिव् भी कहते हैं, नाकः नाम सूर्य का है तथा यहाँ पर अन्तरिक्ष नाम दर्शन के मध्यस्थानीय चतुर्थ सप्तकीय समुद्र या जल का है अन्यथा अन्तरिक्ष नाम प्रथम सप्तक का है। रजः नाम देदीप्यमान भौतिक तत्त्व का है प्रथम भौतिक तत्त्व का या अणु का है। यह अणु आपोरूप है। आपः विद्युत् हैं।

जिस कः प्रजापति नामक हिरण्यगर्भ ने द्यौ और उग्र या आसुरी प्रवृति बहुल वाक् और पृथिवी या भौतिक सृष्टि का संयमन किया, जिसने स्वः नामक सप्तक को अविचल बना दिया, जिसने सूर्य नामक तत्त्व को अपने निश्चित स्थान में आरोपित कर दिया, जिसने दर्शन के तत्त्वों के मध्यबिन्दु के स्थल से रजोरूप भौतिकाणु की सृष्टि का निर्माण आपोरूप में सम्पादित किया, उसके लिए सोम मूर्ति देखना चाहते हैं या उसकी यज्ञ हवियों द्वारा अर्चना करते हैं अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

इस मन्त्र में क्रन्दसी, मनसा और सूर तीन शब्द पारिभाषिक हैं। क्रन्दसी नाम रोदसी का या द्यावापृथिवी का है जिसके बारे में तै० ब्रा० २-२-९-४ में लिखा है 'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्, कि वे रोने लगे अतः वे रोदसी या क्रन्दसी कहलाने लगे। मनसा शब्द २४ वें तत्त्व का है और सूर २५ वें का।

"प्रलयकाल में द्यावापृथिवी अपना ह्रास देखकर रोने से लगीं। अतः सृष्ट्यारम्भ के प्रथम तत्त्व कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ ने उनकी रक्षा के निमित्त उनका विस्तार या विकास कर दिया। (जब उनका विकास हो चुका तब) उन्होंने मन ही मन में (२४ वें तत्त्व के रूप में) देखा कि वहाँ (भौतिक सृष्टि के प्रथमोदय के सूचक) सूर्य (२५ वाँ तत्त्व) उदित होकर शोभायमान हो रहा है। ऐसे कः प्रजापति के लिए सोममूर्ति चाहते हैं या उसकी यज्ञ हवियों द्वारा अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

आपो ह यद्बृहती विश्व मायन्गर्भं दधाना जनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र में आपः बृहतीः विश्वम्, गर्भं अग्नि और असु शब्द पारिभाषिक हैं। आपः शब्द आपोब्रह्म वाची है, पर ये आपः तत्त्व चतुर्थ सप्तक में उत्पन्न होकर पञ्चम में बृहती या भौतिक वाणी का स्वरूप धारण करके बृहस्पतिः (बृहतां बृहतीनां वा पतिः) कहलाता है। विश्व शब्द वेदों में सर्वत्र भौतिकता के लिए आया है (विश्वेदेवा शीर्षक देखें)। गर्भ नाम उक्त आपों या जलों से ही निर्मित होता है, वह आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार का है यह पहिले बतलाया जा चुका है। (हिरण्यगर्भ व्याख्या देखें)। अग्नि नाम यहाँ पर वैश्वानराग्नि का है भौतिकगर्भ तथा यह अग्नि चतुर्थ सप्तक में भी विकसित होता है। असु नाम तो प्राणों का है पर यहाँ पर चतुर्थ सप्तकीय असु के माने भौतिकता में ससंज्ञता सचेतनता है जिसका द्वार मित्रावरुण (२४ वें) तत्त्व खोलते हैं (मित्रावरुण देखें)। यही भाव 'असुं य ईयु रवृका ऋतज्ञा' मन्त्र के असु शब्द का भी है। वास्तव में सु और असु दोनों शब्दों का अर्थ प्राण है, पर दैवी प्राण या देव प्राण को 'सु' नाम से पुकारा जाता है और इसीलिए देवताओं को, दैवी प्रकृतियों को 'सुर' नाम से पुकारते हैं, असु नाम उन प्राणों का है जिनका सम्बन्ध भौतिकता से है, इन भौतिक प्राणों या असुओं से भौतिकता या असुरों की उत्पत्ति मानी जाती है। सम्पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड आसुरी सृष्टि कहलाती है यह 'वृत्र' नामक शीर्षक में स्पष्टकर दिया जा चुका है। चतुर्थ सप्तक में भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः यह ऋचा ठीक कह रही है। तब पूर्वार्द्ध के देवताओं के विकास स्वरूप उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक में असु नामक 'एकमेवाद्वि-तीयं ब्रह्म' प्रस्तुत हुआ। यह वृत्र का सप्तक है। उसकी हार से तम का नाश अग्नि का (वैश्वानर का) उदय हुआ और आपो बृहती सर्वत्र फैल गई (ऋ० वे० १-३२-१०, ११)। इस सन्दर्भ से इस ऋचा का अर्थ भी जल के समान स्पष्ट हो चुका होगा।

"जब आपोब्रह्म के जल बृहती वाणी (भौतिकी वाणी छान्दस सरस्वती) का रूप धारण करके इस अखिल ब्रह्माण्ड के मूल रूप (विश्व) को प्राप्त होते हुए, अपने में (हिरण्य का) गर्भ धारण करके, वैश्वानराग्नि को उत्पन्न करती रही तब पूर्वार्द्धीय देवताओं का (विकास स्वरूप) एक (भौतिक) प्राण (असु) भी प्रस्तुत हुआ, उस प्राण का स्वरूप एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ही था पर था पूर्वार्द्धीय आध्यामिकता युक्त पूर्ण भौतिक। ऐसे कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ के लिए सोममूर्ति चाहते हैं या बनाते

हैं या सोम की हविओं द्वारा अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

आलोच्य मन्त्र में दक्ष और यज्ञ दो नये शब्द पारिभाषिक हैं 'आपः' भी तथा अधिदेव शब्द भी पारिभाषिक ही हैं। दक्ष नाम २४ वें तत्त्व और पूर्वार्द्ध का है और यज्ञ या क्रतु नाम २४ वें और उत्तरार्द्ध का, पूरे २४ वें को 'दक्षक्रतू' कहते हैं, इसी को मित्रावरुणौ भी कहते हैं (दक्षक्रतू या मित्रावरुणौ देखें)। दक्ष नाम प्रजापति का है। यहाँ से भौतिकक्रम कलाक्रम चलता है, अतः इससे क्रतु कहते हैं। इसके पहिले वह यज्ञ मात्र है क्रतु नहीं है और यज्ञ नाम विकास का है जैसे

'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्'
(विश्वकर्मा सूक्त १०-८१-६)

इसीलिए यज्ञ नाम केवल 'क्रतु' नामक तत्त्व का ही नहीं वरन् प्रत्येक तत्त्व का है। ऐसा यज्ञ, पुरुष या यज्ञपुरुष कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण यज्ञ नामक शीर्षक में दिया जा चुका है जिसका समर्थन श० प० ब्रा० ३-४-३-१ भी करता है। यही बात ऋ० वे० ६-१२-८ 'उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः' ऋचा कहती है कि यज्ञ रूप विकासों द्वारा मूल स्रोत रूप पिता से उत्पन्न हुए। यही अर्थ विश्वकर्मा सूक्त के 'यजस्व' पद का है।

जिस हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति ने अपनी (सर्वज्ञता की) महिमा से (भौतिक सृष्टि रचना करने से पूर्व ही) आपो देवियों और दक्ष को धारण करते और यज्ञ या क्रतु को जन्म लेते देख लिया था, अतः जो पूर्वार्द्ध के समस्त तत्त्वरूप देवताओं का अधिष्ठाता देवता और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म स्वरूप था उसके लिए हम सोमरूप की मूर्ति या स्वरूप चाहते हैं या बनाते हैं, (हम चाहते हैं कि देवसृष्टि भौतिक सृष्टि में परिणत हो) और हम उसके लिए सोम से अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥

इस मन्त्र में पृथिवी, दिवं, अपः चन्द्रा और बृहती शब्द पारिभाषिक हैं। इनके आधार पर इस ऋचा का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता हैं। "हम कः प्रजापति स्वरूप हिरण्यगर्भ के लिए सोम स्वरूप चाहते हैं या सोम से (दिव्य शरीर से) अर्चना करते हैं कि वह हमें सदा सुरक्षित रखे, हमारी हिंसा न करे, क्योंकि वह अटल और सार्वजनीन नियमों वाला है जिनसे उसने सर्वप्रथम दिव् नामक सप्तक का विकास किया, फिर पृथिवी नामक चतुर्थ सप्तक का (ये दोनों पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के मुख्य सप्तक और प्रतीक हैं)। उसी ने पूर्वार्द्ध के आदि में आपो देवियों की सृष्टि की और उत्तरार्द्ध के आदि में बृहती या भौतिकी वाणी की। उस भौतिकी वाणी

को चन्द्रा या सौम्यभागीय या दैवी वाणी कहते हैं, जिसका प्रतिपक्षीय भाग आसुरी बृहती या आसुरी वाणी कहलाती है जो दोनों यहाँ पर भौतिकी या उत्तरार्द्धीय हैं उनकी सृष्टि की, ऐसे हिरण्यगर्भ नामक कः ब्रह्म के लिए इस आत्मा से आह्वान करते हैं। इस ऋचा के अर्थ में अन्य अनुवाद टीका भाष्यकारों ने अपः, चन्द्रमा और बृहती शब्दों की एक ऐसी निराली खीचड़ी बना डाली है कि ऋचा का भाव ही छिप गया है। सत्यधर्मा शब्द की भी यही दशा है। पूर्वार्द्ध सत्यधर्मा है उत्तरार्द्ध अनृत धर्मा। दोनों की सत्यानृत धर्मा कहते हैं। ये धर्म ही माया नाम से पुकारे जाते हैं। सत्य दैवी शक्ति है अनृत आसुरी या भौतिकी। हिरण्यगर्भ सत्यधर्मा है। अतः वह चन्द्रा बृहती या दैवी वाणी का विकासक (उत्तरार्द्ध में भी) बतलाया गया है। उत्तरार्द्ध भौतिकताबहुल तो है ही पर उसमें पूर्वार्द्ध की पूरी दैवी शक्ति का संयोग रहता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

हे कः प्रजापते! हे हिरण्यगर्भ!! (ता) पूर्वोक्त ऋचाओं में वर्णित निखिल तत्त्व और इस दृश्यमान भौतिक ब्रह्मांड के सम्पूर्ण पदार्थ (विश्वाजातानि) तुमको छोड़ कर और किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः हम जिस जिस कामना से तुम्हारा आह्वान करें या करते जाँय वे सब के सब पूरे होते रहें, और हम सदा सोम रूप आयु के धन से धनवान् बने रहें। सोम स्वयं भौतिक अमृत है, उसमें त्रिपादामृत भी सम्मिलित है, यही वैदिकों का पवित्र धन है।

यह मन्त्र कर्मकांड में अत्यन्त प्रसिद्ध है, प्रजापतियों को इसी मन्त्र से हवि दी जाती है, पूजनादि भी इसी से होता है। इसका पदपाठ और मन्त्रपाठ एकसा है। अतः पाश्चात्यों की यह धारणा है कि यह मन्त्र बाद में जोड़ा गया है, पदपाठ क्रम पूर्ति युग के बाद जोड़ा गया है। पर यह सब भ्रम है। यह मन्त्र प्रथम नौ मन्त्रों का पूर्ण उपसंहार है। जिनको वैदिक पारिभाषिक शब्दों का ही ज्ञान नहीं है वे इसके उपसंहार के महत्त्व को कैसे समझ सकते हैं, यदि यह बाद में जोड़ा गया मन्त्र होता तो इसको कर्मकांड में इस सूक्त के अन्य मन्त्रों से इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता? संहितापाठ और पदपाठ का एक सा होना आपाततः है ऐसी सात अन्य ऋचायें भी हैं। यह तो छन्द में पदों और शब्दों की स्थिति से निर्धारित होता है। यहाँ अन्तर लाने वाली स्थिति है ही नहीं तो जबरदस्ती अन्तर नहीं बनाया गया तो स्वाभाविक तो है। दूसरी बात यह है कि यह मन्त्र यजुर्वेदादि सब वेदों और सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है जिससे इसकी प्राचीनता में कहीं आँच नहीं आ सकती।

पुरुष तत्त्व और पुरुष सूक्त की व्याख्या मेरे 'वैदिक योग सूत्र' में देखें।

इति वैदिक विश्वदर्शने द्वितीयोभागः

हिन्दू विश्वविद्यालय श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला

Hindu Vishvavidyalay Shrimati Saradar Kunwer Bai Fund Sankrit Series

श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

मुद्रक
रवीन्द्र कुमार बेरी
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी–५

कर्म काण्ड का रहस्य

VOL III

मूल्य ११)

लेखक
(प्रतिभा दर्शन या भाषा तत्त्व शास्त्र, वैदिक योगसूत्र, सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार, वैदिक ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों का भाष्य तथा विस्तृत भूमिका, ऋग्वेद भाष्य, महर्षिमनोविज्ञान का पुनर्जन्म और 'आत्म ज्ञानमहोपनिषद्' के रचयिता)

श्री हरिशंकर जोशी एम० ए०

वैक्रमाब्द २०२७] [प्रथम संस्करण

प्रस्तावना

कर्मकाण्ड के रहस्य का रहस्यमय साँप न जाने कब का भग चुका है। हम सब उसकी लकीर मात्र पीटते चले आ रहे हैं। अतः 'कर्मकाण्ड का रहस्य' नामक यह प्रस्तुत ग्रन्थ, वैदिक विश्वदर्शन के तृतीय भाग के रूप में लिखा गया है : इसमें इसके प्रथम द्वितीय दोनों भागों में वर्णित देवी देवताओं की उपासनाओं या विधियों में छिपा वास्तविक रहस्य देने का प्रयास किया गया है। कर्मकाण्ड देवी देवताओं की उपासनाओं की प्रायोगिक विधियों का है। प्रत्येक विधि तत्तद् देवी देवता के स्वरूप और शक्ति का परिचय देती है। ये देवी देवता प्रत्येक शरीर और समस्त ब्रह्माण्ड में अधिष्ठाता रूप में रहते हैं। इन समस्त विधियों में प्राचीन महर्षियों का सर्वश्रेष्ठ योगदर्शन या परामनोविज्ञान सुषुप्त रूप में पूर्णतः विद्यमान है। सुषुप्त इसलिए है कि इनमें सब कुछ होते हुए भी ये बोलते नहीं कि यह विधि इसका संकेत करती है। कर्मकाण्ड सोया हुआ पूरा परामनोविज्ञान शास्त्र है। आज उसी को इस ग्रन्थ के द्वारा जागृत किया जा रहा है।

कर्मकाण्ड की रचना वेदों की सुरक्षा तथा आचरण शुद्धि के लिए की गई थी। आचरण शुद्धि ही ईश्वरीय और आत्मीय ज्ञान ज्योति की सिद्धि की सर्वप्रथम सीढ़ी है। ज्ञान सिद्धि के लिए वेद हैं। कर्मकाण्ड में वेद रक्षा और आचरण शुद्धि दोनों मार्ग हैं। इसीलिए यह कर्मकाण्ड वैदिक काल से अब तक भारतीय जनता का गले का हार बना हुआ है। बड़ी बड़ी बाढ़ें आईं, जैन आये बौद्ध आये, यूनानी हूण आये, मुसलमान ईसाई आये, पर यह कर्मकाण्ड अपने स्वरूप में जैसा का तैसा पहाड़ सा अचल स्थिर स्थित है। यही इसकी महिमा की स्वतः सिद्ध कसौटी है। इसमें अमृत भरा है लबालब भरा है तभी यह अमर बना है बना रहेगा।

इसमें जो अमृत भरा है उसी को इस ग्रन्थ में प्रत्येक प्रसिद्ध कर्मकाण्ड विधि का रहस्य दे देकर खोल खोल कर दिखा दिया गया है जिसको जिसे पीने की इच्छा हो जी भर के पी ले या छोड़ दे, आग्रह मना कुछ नहीं। क्योंकि हठ को हराने वाला दण्ड होता है कलम नहीं। लोगों को तो अपने सदा साथी, पीठ में सिर में लदे देवताओं तक का पता नहीं है। उदाहरण के लिए गणेश और अवतार के बारे की धारणा लीजिए। गणेश की सूड़ हमारी सुषुम्ना है अवतार महायोगी की समाधि में जगी ज्योति; जिससे योगी भी स्वयं अवतार हो जाता है। हमें इतना भी ज्ञान नहीं रह गया है। वस्तुतः यह वैदिक विश्वदर्शन नामक ग्रन्थ अपने चारों भागों सहित उस उस प्रत्येक परिवार व्यक्ति विद्वान् अविद्वान् भक्त विरक्त घर मुहल्ला नगर पुस्तकालय के पास अनिवार्य रूप से रहना परम आवश्यक है जिस जिसको वेदों में श्रद्धा है ज्ञान की लिप्सा है, कर्मकाण्ड में निष्ठा है, पुराणों में आस्था है उपनिषदों में गर्व है तथा अपनी भारतीय वैदिक संस्कृति की महिमा जानने की,

ईश्वर की गरिमा पहचानने की और अपने को रोम रोम समझने की इच्छा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो इस 'कर्मकाण्ड के रहस्य' नामक ग्रन्थ को एक बार पढ़ भी लेगा उसे सचमुच में अपनी संस्कृति पर अवश्यमेव गर्व होगा, और सिर गर्वोन्नत हो के रहेगा। यदि इस ग्रन्थ ने कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों का समूलोच्छेन कर इस पर अटूट श्रद्धा का सागर उमाड़ दिया तो लेखका का परिश्रम स्वतः सफल हो जावेगा जिससे वेदों की सुरक्षा और अधिक गम्भीरतम श्रद्धा के साथ सदा होती चलेगी।

हरिशंकर जोशी
बी १/१२८-१८ डुमराव बाग
अस्सी, वराणसी-५

अनुक्रमणिका

अध्याय १३५–कर्मवाद—

कर्म और कर्मकाण्ड का सम्बन्ध, प्राण और कर्म, दृष्टादृष्टकर्म दैवी प्राण कर्म, कर्म और यज्ञ, कर्म प्रधानता, यज्ञ व्याख्या, ज्ञान और कर्म, कर्मदृष्टा, कर्मों की छूट, कर्म और प्रकृति, कर्म और मन, कर्म और अहंकार, कर्म और ज्ञान, कर्मकाण्ड का प्रभाव। ७७७–७९३

अध्याय १३६–मूर्तिपूजा—

मूर्तियों और मूर्ति पूजा का ध्वंस, नाम रूप की सृष्टि, श्रद्धा विश्वास का आधार, मूर्ति और अवतार योगी, धर्मों की पहचान, वेदों में मूर्त प्रतीकी पूजा का विधान, मन्दिरों के स्वरूप का रहस्य, हिन्दू मन्दिरों और मस्जिद गिरजा घर जैन बौद्ध मन्दिरों में अन्तर, बाह्य प्रतीकों की पूजा का रहस्य, मूर्तियाँ और इष्टिकायें, भावमय जगत्, सब धर्मों में पूजायें हैं, मूर्ति पूजा की एक सत्य कथा। ७९४–८०५

अध्याय १३७–गणपति पूजा—

गणपति ही बृहस्पति ब्रह्मणस्पति है इन्द्र है सुषुम्ना सूड़ का हाथी है हस्तिमुखादि की व्याख्या, शुण्डाकार कोश और शुण्डाकार सुषुम्ना, पूजा की सामग्रियों का रहस्य; दक्षिणा दान, मूषक वाहन, लम्बोदर, विघ्ननाश प्रतिक्षेप धनुः से। ८०६–८१६

अध्याय १३८–मातृ पूजा या षोडश मातृका पूजा—

वेदों की 'सप्तमातरः' ही पौराणिक मातृकायें हैं, वर्णमाला की मात्राओं का महत्त्व, मातृका सृष्टि, करन्यास अंगन्यास। ८१७–८२२

अध्याय १३९–नान्दीश्राद्ध या आभ्युदिक श्राद्ध—

श्राद्ध, आबदेव की व्याख्या, श्राद्ध विधि, कई अशुभ शब्दों का प्रयोग निषिद्ध, मनोमय पितरः, पिण्ड का रहस्य, एकोदिष्ट श्राद्ध व्याख्या, तर्पण रहस्य। ८२३–८२८

अध्याय १४०–पुण्याहवाचन—

इसकी प्राथमिकता रहनी चाहिए कि नहीं? विध्यन्तर। ८२९–८३०

अध्याय १४१–कलश स्थापन—

कलश महिमा और इसके द्रव्यों का रहस्य, कलशस्थ देवता, कलश और समुद्र मन्थन, कलश और समाधि। ८३१–८३३

अध्याय १४२–रक्षा विधान—
सूत्र सृष्टि की त्रिगुण रक्षा, दाक्षायणी रक्षा। ८३४–८३५

अध्याय १४३–घृत छाया—
घृत छाया विधान और उसका रहस्य। ८३६

अध्याय १४४–अग्न्याधान—
कुशण्डी या कुशकण्डिका–योगाग्नि और उज्वलिताग्नि, इसके मन्त्रों की सार गर्भिता व्याख्या। ८३७–८३९

अध्याय १४५–ग्रहयाग रहस्य—
ग्रह संख्या, ग्रह की व्याख्या—१९ ग्रह, दो प्रकार के ग्रह, देवताओं के चुनाव की विशेषता, आभ्यन्तर बाह्य ग्रहों का तादात्म्य, शंका समाधान, दुधारू भाव, हवन सामग्री, ग्रह बलिदान, पूर्णाहुति होम सरहस्य। ८४०–८४८

अध्याय १४६–महायज्ञ—
सोमयाग प्रधान २६२ प्रकार के महायज्ञ; सोमयाग, सोम के बारे की भ्रान्तियाँ, सोमयाग के ऋत्विज गण, यजमान के लिए नियम; याग विधि, पाँच दिनों की पृथक् पृथक् प्रक्रियायें, महाभिषव—यह समाधि में सोम की उद्दीप्ति की विधि का अभिनय है। ८४९–८५५

अध्याय १४७–ज्योतिष्टोम अग्निष्टोम—
नामों की व्याख्या और रहस्य, यज्ञविधि, ग्रह ग्रहण, ग्रह तो प्राणों के प्रतीक हैं जिनके द्वारा सोमाभिषव होता है, सवनीय पशु और रहस्य, द्विदैवत्य भक्ष, चमस भक्ष, महाभक्ष, ऋतु ग्रह, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन, तीनों सवनों का रहस्य, अवभृथाभिनय। ८५६–८६४

अध्याय १४८–पुरोडाश के कपालों का निर्माण—
पुरोडाश शिर या मस्तिष्क का प्रतीक हैं, पुरोडाश विभाजन-रीति मस्तिष्क विभागों के अनुरूप है, विभाजन रीति। ८६५–८६६

अध्याय १४९–द्वादशाह यज्ञ—
ऋत्विज विभाजन, यजमान संख्या, यज्ञविधि, अहीन याग, रात्रिसत्र। ८६७–८६९

अध्याय १५०–सौ यज्ञों के शतरात्र सत्र का रहस्य—
सौ रातों का विश्लेषण।

अध्याय १५१-एकाह् यागाः—
याग संख्या नाम इनके प्रकार विधि और रहस्य, चार प्रकार के व्रात्यस्तोम, शेष यज्ञों का सरहस्य वर्णन। ८७०-८७४

अध्याय १५२-गवामयनम्—
यज्ञ व्याख्या और विधि, यज्ञ रहस्य। ८७५-८७७

अध्याय १५३-वाजपेय यज्ञ—
वाजपेय व्याख्या-यज्ञविधि-यज्ञ रहस्य। ८७८-८८०

अध्याय १५४-राजसूय यज्ञ—
अधिकारी, काल, विधि व्याख्या, रहस्य। ८८१-८८३

अध्याय १५५-सोमयाग का अंग अग्नि चयन—
यज्ञविधि, इष्टिका चयन विधि, यज्ञ वेदि निर्माण, चिति निर्माण, हल प्रवहण, शतरुद्रिय होम, रहस्य। ८८४-८८७

अध्याय १५६-अश्वमेध नामक सोमयाग—
यज्ञविधि, यूप और पशु- अतिरात्र, रहस्य। ८८८-८९१

अध्याय १५७-पुरुषमेध याग—
यज्ञ विधि, रहस्य। ८९२-८९३

,, १५८-सर्वमेध याग— ८९४

,, १५९-पितृमेध याग— ८९५

,, १६०-वैश्वदेव कर्म— ८९६

,, १६१-वैदिकाग्नि होत्र और स्मार्ताग्नि होत्र, और रहस्य। ८९७

,, १६२-दर्शपूर्णमासयाग—
छह प्रकार के यज्ञ, यज्ञविधि, दाक्षायणयज्ञ, रहस्य। ८९८-९००

,, १६३-चातुर्मास्य याग—चारपर्व, दर्शपूर्णमासवत् रहस्य। ९०१-९०३

,, १६४-शुनासीरीय चतुर्थपर्व—चातुर्मास्य पर दो मत। ९०४

,, १६५-निरूढ पशुबन्ध— ९०५

,, १६६-आग्रायणेष्टि— ९०६

,, १६७-सौत्रामणि-यज्ञाविधि—सोमयागवत् रहस्य। ९०७-९०८

,, १६८-गृहसंस्काराः—विवाह संस्कार विधि और उनका रहस्य। ९०९-९१३

,, १६९-अर्क विवाह— ९१४

,, १७०-कुम्भ विवाह— ९१५

,, १७१-विष्णु प्रतिमा विवाह— ९१६

,, १७२-गर्भाधान—विधि और रहस्य। ९१७-९१८

अध्याय १७३-पुंसवन और सीमन्तोनयन—विधि रहस्य।	६१९
,, १७४-जातकर्म—विधि और रहस्य।	९२०-९२३
,, १७५-अक्षरस्वीकार और विद्यारम्भ—	९२४
,, १७६-षोडश संस्कारा—	९२५-९२६
,, १७७-नामकरण प्रभृति—विधि और रहस्य।	९२७-९२८
,, १७८-कर्णवेध—विधि और रहस्य।	९२९
,, १७९-चूड़ाकर्म उपनयन वेदारम्भ और समावर्तन—विधि और रहस्य।	९३०-९३३
,, १८०-दान रहस्य।	९३४-९३६
,, १८१-तुलादान—विधि और रहस्य।	९३७-९३९
,, १८२-तीन अतिदान, वृषमहिषीदान—विधि और रहस्य।	९४०-६४१
,, १८३-वृषदान रहस्य—	९४२
,, १८४-महिषीदान रहस्य—	९४३
,, १८५-भूमिदान रहस्य—	९४४
,, १८६-विद्यादान रहस्य—	९४५
,, १८७-दशमहादान, सुवर्णदान—विधि और रहस्य, गृह निर्माण रहस्य।	६४६-९४९
,, १८८-शान्ति रहस्य—	९५०-९५१
,, १८९-व्रतपर्व और त्यौहार उनका लक्ष्य या रहस्य	९५२-९५५

वैदिक विश्व दर्शन के कर्मकाण्ड का रहस्य

अध्याय १३५

'कर्मवाद'

कर्मकाण्ड का सीधा और साक्षात् सम्बन्ध कर्म से है और इस कर्म का तादात्म्य इस ब्रह्माण्ड, अलौकिक ब्रह्माण्ड और प्रत्येक सत्त्व और तत्त्व से व्याप्ति रूप में है। क्योंकि यह ब्रह्माण्ड अलौकिक आत्मीय ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक सत्त्व और तत्त्व सतत और अविछिन्न रूप से कर्ममय हैं। भगवद्गीता ने भी घोषणा कर रखी है।

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥" (३-५)

इसका मुख्य और मूल कारण यह है कि अमृत भौतिकात्मा या हमारा दिव्य शरीर या मौलिक भौतिक शरीर—जिसे सोमरस कहते हैं—जन्म ही कर्ममय क्रियामय रूप में लेता है। यदि इसमें कर्म न रहे या न रहें तो यह शव या मुर्दा हो जाय। इस मौलिक भौतिक शरीर की ये सततव्यापारशील गति विधियाँ ही इसे शिव रूप में, जीवन रूप में, सचेत रूप में, जीवित रूप में या जीवनी रूप में प्रस्तुत, प्रकट, या संचालित करती हैं। ये कर्म आत्मा की जीवनी या जीवन शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः लिखा है "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (भ० गी० ३-१५)। दूसरे शब्दों में प्रत्येक शरीरी या अशरीरी की प्रत्येक गतिविधि उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति है, उसके जीवन या जीवित रहने का प्रमाण है। कर्म दो प्रकार के होते हैं, दृष्ट या साक्षात् अनुभूयमान या दृश्यमाण और अदृश्य या अदृश्यमाण या साक्षात् अननुभूयमान। दृश्यमाण कर्म शरीर के होते हैं, शरीर में होते हैं, शारीरिक चेष्टाओं से अभिव्यक्ति पाते हैं, अतः ये व्यक्त कर्म हैं, या कर्म के व्यक्त-रूप हैं। जिन अङ्गों में ये कर्म अभिव्यक्ति पाते हैं वे ऐसे ही अभिव्यक्त नहीं होते, उन अङ्गों में इन कर्मों की अभिव्यक्ति की अभूतपूर्व अलौकिकद्वारीय, वैयक्तिक या व्यक्तिकारी शक्तियाँ होती हैं। इन विभिन्न शक्तियों को द्वार अभिव्यक्तिद्वार या भौतिकात्मीय प्राण कहते हैं। दूसरे शब्दों में ये मौलिक भौतिक प्राण (वाक् प्राण चक्षुः श्रोत्रं मनः हस्त पाद अङ्गुली और पूर्ण शरीर) ही अपनी-अपनी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं कर्मों या चेष्टाओं को इन अङ्गों के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। स्पष्टतया कहने में उक्त कर्ममय शरीरी प्राण इन विभिन्न प्रकार के कर्मों के द्वारा अपने-अपने विभिन्न प्रकार के कर्ममय स्वरूप का उद्घाटन अभिव्यञ्जन और दर्शन करते हैं। अर्थात् हमारे जितने प्रकार के कर्म हैं या इस अखिल ब्रह्माण्ड में जो जो कर्म दृश्यमाण होते हैं या हो रहे हैं वे सब के सब उक्त अतितम सूक्ष्म मौलिक

भौतिक प्राणों के कर्ममय शरीरों का प्रदर्शन या अभिव्यञ्जन स्थूल शरीरों में स्थूल कर्मों द्वारा साकार या साक्षात् रूप में करते हैं। ये कर्म तो सूक्ष्म प्राणों के ही साक्षात् दृश्यमाण साकार रूप हैं। हम इन्हें समझकर भी नहीं समझते, देखते हुए भी नहीं देखते, यही इस ब्रह्माण्ड का, माया का पर्दा है। यह तो हुआ, परन्तु, ये प्राण साधारण तत्त्व नहीं हैं। इनके दो प्रकार के परस्पर विरोधी शरीर और कर्म हैं जिनको क्रम से दैव और आसुर नाम से पुकारा जाता है। इनका सविस्तर और सप्रमाण विवेचन मेरे 'वैदिक योग सूत्र' के अध्याय २ पाद चार से अध्याय ३ पाद २ (क) तक में दिया जा चुका है, देख लीजिए। इनके इन दो प्रकार के शरीरों या कर्मों में जिसका प्राधान्य हो जाता है या रहता है, उसी के अनुरूप, प्राणियों या सत्त्वों और तत्त्वों का जीवन साक्षात् या साकर रूप में—दैव रूप में या आसुर रूप में—दृश्यमान होने लगता है। इन दोनों का मध्यम या उभय सम्मिलित जीवन नर या मनुष्य जीवन के रूप में प्रकट होता है। इन प्राणों को किसी भी मार्ग को—दैव या आसुर में से किसी दल को—अपनाने, उसमें चलने की प्रायः छूट रहती है, यही स्वातन्त्र्य प्राणी के जीवन को एक दूसरे से अनुपातानुकूल भिन्नता में प्रकट करता है जिसकी व्याख्या 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' वाक्य से प्रस्तुत की जाती है। यह भिन्न रुचि ही कर्म स्वातन्त्र्य है, 'कर्म स्वातन्त्र्य' ही 'भिन्न रुचिता' है। इसी का नाम विभिन्न स्वरूपी जीवात्मा है। प्राणों का सम्मिलित कर्ममय जीवन या कर्म जीवात्मा है जो उतने हैं जितने अनन्त सत्त्व और तत्त्व, क्योंकि प्रत्येक में विभिन्न अनुपातीय वैभिन्य है। पराधीन प्राण तो दैवी प्राण हैं, और स्वातन्त्र्यमय स्वतन्त्र कर्ममय आसुरी। ये स्वतन्त्र कर्ममय आसुरी प्राण स्वार्थी दलबन्दी वाले अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझने वाले हैं। इनकी जीवनी श्वापदों या हिंसक प्राणियों के समान होती है। वे वाक् से गाली गलौज उगल कर कुत्तों की तरह भूकते रहते हैं, भेड़िया की तरह दांतों और नाखूनों से दूसरों को नोचते रहते हैं, व्याघ्र की तरह डींगों की दहाड़ से सबको भयभीत किए रहते हैं। नाक से प्राणों की मोटी-मोटी फुंकार और आहें भरते हैं, कानों से अनाचार दुराचार व्यभिचार आदि की बातें सुनने हाथों या अङ्गों से करने और आखों से देखने दिखाने के शौकीन होते हुए अन्य आततायी व्याधों के समान प्रतिद्वन्द्वियों से चाप-लूसी के संगीत द्वारा मुग्ध करके पशुवत् मारे भी जाते हैं। कभी ये सर्पों डांसो और बिच्छुओं के समान जिह्वा के मर्म भेदी वचनों से डसते फिरते हैं तो कभी सिंह चील बाज के झपट्टे से जैसे दूसरों को मार-मार कर खा जाते हैं। कभी अपने भीमकाय से मल्ल युद्ध द्वारा या कुचल कर दूसरों को पराजित करते फिरते और राजा महाराजा सेठ साहूकार बनते फिरते हैं तो कभी गीदड़ों का सा जत्था तैयार करते रहते हैं और झूठे प्रचारों से दूसरों को वरगलाते जाते हुए उन पर अपना प्रभुत्व जमाते हैं। इस प्रकार इन स्वातन्त्र्यमय या स्वतन्त्र कर्ममय प्राणों का जीवन हिंसक पशुओं के सम्मिलित दल के जीवन के समान बना रहता है। इन सब प्रकार के अवाञ्छित कृत्यों में प्रवृत्त होने का मूल कारण यह है कि इनमें काम-

क्रोध मदलोभ के अन्धकारमय माया का जाल छाया रहता है। इनका जीवन एक अन्धे व्यक्ति के समान या गहरे अन्धकार में टटोल-टटोलकर चलते हुए ही व्यतीत होता है। ये इस अन्धकार से वैसे ही घिरे रहते हैं जैसे धुँए से अग्नि या गर्भ थैली से गर्भ का बालक। यह है इस भौतिक ब्रह्माण्ड या शरीर की प्रतिदिन की दैनिक चर्या या जीवनी या कर्ममय जीवनी।

अदृष्ट कर्म दैवी प्राणों का होता है। दैवी प्राण दैवी ज्योतिर्मय होते हैं, उनमें परम ब्रह्म की ज्योति जागृत या उद्दीप्त रहती है जिसका प्रतिबिम्ब पिछले परिच्छेदान्त में वर्णित आसुरी प्राणों की स्फटिकशिला में व्याप्ति रूप से पड़कर तटस्थ होते और रहते हुए भी उन आसुरी प्राणों में जीवन चेतना व्यक्तिकारक कर्मों की अभिव्यक्ति करता रहता है, उनके शरीरों के जीर्णशीर्ण होने तक। पर ये आसुरी प्राण, जैसा लिखा जा चुका है, अपने शरीरों में अभिव्यक्त इन कर्मों को अपने शरीरों का ही स्वतन्त्र कर्म समझते हुए कहते हैं मैंने या हमने यह या ये कर्म किए या हम कर रहे हैं या करेंगे। वे काम क्रोधादि के अन्धकार के कारण इस कर्म के मूल कारण को जान ही नहीं पाते। अतः स्वच्छन्द श्वापदानुकूल चर्याओं को अपनाने को विवश भी होते रहते हैं।

दैवी प्राणों को ऋषि या ब्रह्मकामना ब्रह्मप्राप्ति कामना वाले कहते हैं। ये मुख्यतः पाँच हैं, सात नौ और दश भी गिने जाते हैं। इन्हें भौतिक प्राण शरीरों के अङ्गों के रस रूप ज्योति रूप अङ्गिरा अङ्गिरस ऋषि भी कहते हैं। मरुत् नामक प्राण भी प्रकारन्तर से इन्हीं को कहते हैं, ये हमारे और समस्त ब्रह्माण्ड के शरीर में सर्वतः व्याप्त रहते हैं जैसा कि यजुः (३४-५५) ने लिखा है,

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्तरक्षन्ति सधमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥"

इन दैवी प्राणों की गतिविधियाँ या कर्मण्यता सदा ही नितान्त अदृष्ट तो रहती हैं, पर सबको साकार रूप में सदा ही अनुभूत भी होती हैं। इनके कर्मों की यह अदृश्यता दैवी माया कहलाती है या दैवी ज्ञान ज्योति की शक्तियाँ, और आसुरी प्राणों की दृश्यमाया कर्ममयता मोहिनीमाया कहलाती है। दैवी प्राणों के कर्मों का प्रवाह अमृत विद्युत् धाराओं के रूप में संचालित होता है। बटन दबाने की देर हैं, आप अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही अखिल ब्रह्माण्ड की यात्रा व्याप्ति रूप से क्षण मात्र भर में कर सकते और सब कुछ हस्तामलकवत् देख या अनुभूत कर सकते हैं। क्योंकि इनके पास शरीर तो है ही नहीं, अतः भौतिक प्राणों की तरह इनकी कर्ममयता को प्रकट या दृश्यमान बनाने का कोई द्वार ही नहीं है। इनकी इस कर्मण्यता का ज्ञान भी शरीर के सभी अङ्गों से न होकर मात्र मस्तिष्क या समाधि के क्षेत्र से होता है जहाँ पर समस्त शरीर की समस्त नाड़ियों के मुख बिजली के तारों की तरह वैश्वकर्मीय विदग्धता से बिजली के हीटर के तार की तरह एक दूसरे से नथे रहते हैं। जहाँ प्राणोदान ने धौंकनी (योग से) धौंकी नहीं कि बटन खुल गया,

मस्तिष्क की नाड़ियों के तार गरम हो गये, प्रकाश प्रकट होकर, ज्ञान, ज्योति रूप में फैल गया, शरीर सागर में आनन्द की कल्लोलिनी लहरें उमड़ गई। पुराणों में प्रायः इन ऋषि रूप प्राणों की चर्या का विवेचन रहस्य रूप में दिया मिलता है। उनमें लिखा होता है कि इन ऋषियों के आश्रमों में परस्पर विरोधी स्वभाव के श्वापद जंगली पशु एक साथ मिल जुल कर रहते रहे। महायोगियों के आश्रमों ऐसी घटनाओं का घटना असम्भाव्य नहीं, परन्तु वास्तव में ये पुराण रहस्यात्मकतया इन्हीं दैवी प्राणों या अङ्गिरस प्राणों की चर्या दे रहे हैं जो भौतिक या आसुरी प्राणों को अपनी शक्तियों से दबोच-दबोच कर उनकी हिंसक वृत्तियों को नष्ट कर एक दूसरे के प्रेमी बना देते हैं। यह बात सर्वसाधारण की समझ में आना कठिन नहीं, अनुभूति होनी चाहिए।

ये ऋषि रूप प्राण तो अनेकों हैं, विभिन्न प्रकार की ज्ञानानन्द की ज्योतियों के पर्व पर्वत या व्यापक क्षेत्र हैं, प्रत्येक में पार्थक्य और विभिन्नता हैं। इनमें जो ज्ञानान्दमयी विभिन्न शक्तियाँ हैं, उनका मूलस्रोत (पावर हाउस) एक दूसरा ही केन्द्र है जहाँ से इन्हें ये शक्तियाँ मूल में एकरूपता में रहते हुए भी यहाँ अनेकरूपता में विकसित हुई मिली हैं। वह आदि केन्द्र ब्रह्म या परमब्रह्म या परमात्मा है जिसमें नित्यानन्दमय कर्ममयता ही कर्ममयता है। दूसरे शब्दों में आदि ब्रह्म कर्मों का भण्डार या कर्ममय पावर हाउस है या ब्रह्म का स्वरूप कर्ममयता है। यह कर्ममयता सत्यस्वरूपिणी या नित्य निरन्तर क्रियामयता है, दैवी प्राणों में यह सत्य स्वरूपिणी मूल बीजभूता कर्ममयता ज्ञानानन्दमयी कर्ममयता में परिणत होती है तो भौतिक प्राणों में श्वापदानुकूल काम क्रोध लोभ मोहाद्यन्धकारमय हिंसक वृत्ति की कर्ममयता में, जो अनन्त स्वरूपिणी है। अतः ब्रह्म की परिभाषा में तैत्तिरीय उपनिषद् ने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' लिखा भी था। और भ० गी० ने भी स्पष्ट कहा है 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (३-१५) कि कर्म का मूल स्रोत ब्रह्म है। ब्रह्म ही कर्ममय है। अन्यत्र भी लिखा है 'वर्त एव च कर्मणि' कि मैं ब्रह्म वहाँ वहाँ हूँ जहाँ जहाँ कर्म हो रहा है चाहे जैसा भी हो (भ० गी० ३-२२)। ब्रह्म की यह कर्ममयता शब्द ब्रह्ममयता या ॐकार रूपता है जो अखिल ब्रह्माण्ड में रेडियोधर्मी विद्युद्धिकरणों से भी अतितम सूक्ष्मतम है, और उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है जिस प्रकार ईथर या मेगनेटिक लहरें जिसके द्वारा या माध्यम से अनन्त दूरी का शब्द कहीं भी किसी भी क्षण सुना जाता है। इसी प्रकार की ये गतिविधियाँ ही ब्रह्म या शब्दब्रह्म की सतत कर्मण्यता की अकाट्य प्रमाणकोटियाँ हैं।

ब्रह्म की इस प्रकार की कर्ममयता से यज्ञ का उदय होता है। यज्ञ माने विकास परम्परा है जैसा कि विश्वकर्मा सूक्त के 'स्वयं यजस्व पृथवीमुत द्याम्' (ऋ० वे० १०-८०, ८१) से स्वयं स्पष्ट है। यह यज्ञ मुख्यतः तीन प्रकार का है—तपोयज्ञ या सृष्टियज्ञ, अतिसृष्टि या योगयज्ञ और दैवी जीवनमय यज्ञ या द्रव्ययज्ञ या द्रव्यत्यागयज्ञ जिसमें स्वाध्याययज्ञ भी सम्मिलित रहना आवश्यक है। इन तीनों यज्ञों की पूर्ति या सफलता ज्ञानयज्ञ के बिना असम्भव है। क्योंकि इस जीवन में जो

कर्म इन बाह्याभ्यन्तर शरीरों से किए जाते हैं, उनमें कौन उचित है कौन अनुचित इसका निर्णय तो देश-काल पात्र के अनुसार करने पर भी पूर्णतः न्याय संगत नहीं हो सकता—'गहना कर्मणो गतिः' (गी० ४-१७), 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गी० ४-१६)। अतः ज्ञान ही एक ऐसा शस्त्र है जिसकी अग्नि सभी प्रकार के कर्मों के अनिष्ट या अरिष्टों को भस्मसात् कर सकता है—"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।" (गी० ४-३७)।

इस अखिल ब्रह्माण्ड में प्रत्येक सत्त्व और तत्त्व में जो जो आकार प्रकार, आचार व्यवहार, रहन सहन, गति विधि, जीवन मृत्यु स्थूल सूक्ष्मता सुरूप कुरूपता ऋजु कुटिलता कोमल कठोरता, दैव असुरता प्रकृति की जितनी भी नाना रूपतायें मिलती हैं उन सबका मूल कारण ब्रह्म की कर्ममयता की विभिन्न स्वरूपता या नाना रूपता है। प्रत्येक अपने मौलिक बीजों के अनुरूप, ब्रह्म में तो एकरूपता में रहा पर विकास पाने के समय वह अपने अपने कर्मों के अनुरूप ही विभिन्न स्वरूपों में दृश्यमान होता है। कोई कितना ही यत्न करे आम के पेड़ में सन्तरा नहीं लगेगा, सन्तरे में आम नहीं। कोई अपने काटों या कुरूपता को व्यक्त होना पसन्द न करे तो यह कभी सम्भव नहीं। जिस प्रकार वसन्त में सभी फूल काटें अपने-अपने अपने सुरूप कुरूप सुगन्ध दुर्गन्ध रूप में अपने आप विकसित होते हैं वैसे ही सृष्टि काल में भी सभी अपने अपने कर्मानुकूल जन्म लेने को विवश होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म रूप कर्ममय एक रूपमय बीज में विश्वरूपणी कर्ममयता अव्यक्त रूप में रहती है। यही उसकी मायामयी अलौकिक शक्तिमयी अनन्त रूपता है।

यह अखिल ब्रह्माण्ड कर्मप्रधान है, कर्मों की जटिल बेडियों से नितान्त निबद्ध है—"लोकोऽयं कर्मबन्धनः।" (भ० गी० ३-९)। कर्मों की शुभाशुभता का निर्णय देश काल पात्र समाज और उनकी परम्पराओं के द्वारा कुछ कुछ किया जा सकता है, पूर्णतः नहीं। कर्म किए बिना कोई भी क्षण भर रह नहीं सकता; अधिकांश कर्म जिनको हम गर्व से करते हैं अशुभों की कोटि में उतरते हैं। कई अशुभ कर्मों को हम अनजाने भी कर डालते हैं, जान बूझ कर भी, जोश में आकर भी। क्योंकि प्रत्येक सत्त्व और तत्त्व को स्वतन्त्रता से स्वतन्त्र कर्म करने की छूट, उसकी ज्ञान विचार शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावतः प्रदत्त है।

कर्मानुष्ठान विवेक पर निर्भर रहता है। विवेकानुकूल कर्म ही यज्ञ है। ईश्वर या ब्रह्म या स्रष्टा प्रजापति ने इस सृष्टि को विवेकानुकूल कर्म या यज्ञ करने के लिए ही रचा है। यहाँ तक की सृष्टि के साथ साथ ही यज्ञ कर्म की भी सृष्टि की है।

"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥"

(भ० गी० ३-१०, ११)

यह यज्ञ या विवेकानुकूल कर्म योगियों के लिए योगयज्ञ से देवताओं की उद्दीप्ति और अनुभूति है तो साधारण व्यक्तियों के लिए द्रव्ययज्ञ, प्रार्थना का नियम पालन और दान करने का यज्ञ करना है। अतः भ० गी० ने अवधान पूर्वक लिख दिया है कि यज्ञदान तपः का कर्म कभी न छोड़े, इन्हें करना ही चाहिए क्योंकि यज्ञ दान और तप विवेकीजनों को पवित्र बनाते रहते है (१८-५)। योगेश्वर कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मेरा यह निश्चित मत है कि इन यज्ञ दान और तप कर्मों को अवश्यमेव करना ही चाहिए (१८-६)।

यज्ञ माने सब काम छोड़कर सदा ही ध्यान दान पूजा करते रहना ही नहीं है। प्रत्येक सत्कर्म ही यज्ञ है। इसके बिना तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती। शरीर यात्रा का साधन भी विवेकमय सत्कर्म ही है और यह सत्य श्रद्धेय और पारमार्थिक ही होना चाहिए। जो इस प्रकार के सत्कर्मों में नित्य ही रत रहता है उसके लिए दैवी आनन्द चारों ओर से बरसता रहता है, संकट और दुःख जैसी वस्तु उसके पास फटक नहीं सकती। उसके लिए सभी आवश्यक उपकरण वर्षा के जल की तरह सर्वतः एकत्रित होते रहते हैं। क्योंकि भगवान् ने इस संसार को आनन्द की लीलाओं की भूमि बनाया है। जिसको यह रहस्य और इसका यह रहस्य अपने अविवेक से विदित नहीं हो पाया उसके लिए यह संसार उसके अपने स्वयं के हाथों से ही निर्मित काटों या तीरों की कष्टकारी शय्या के समान हो जाता है, दोष दूसरों को देते फिरता या फिरते हैं।

ज्ञान और विवेक किसके पास नहीं है ? यहाँ तक कि पशु पक्षी मृग वृक्ष और पौधों में भी ज्ञान और विवेक भरपूर भरा है। मार्कण्डेय जी ने लिखा भी है—

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक् पृथक्॥
... ...
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः।
दुर्गा सप्तशती (१-४७, ४८, ५०)

इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रत्येक प्राणी ज्ञान विवेक रहते हुए भी अज्ञानी और अविवेकी के समान असत्कर्म का आचरण करता है। यदि बुरा काम करने वाले से सत्यतया पूछा जाय कि जो कर्म तुम इस प्रकार धड़ल्ले से कर रहे हो क्या वह उचित या सत् है या अनुचित या असत् ? तो वह लम्बी सांस लेकर यही कहेगा कि हाँ भाई यह काम तो बुरा ही है। इस प्रकार का बोध रहते हुए भी वह उस असत्कर्म को करता ही क्यों है यदि यह बात विदित हो जाय तो यह संसार स्वर्ग बन जाय। इसका मूल कारण यह है कि प्रत्येक की प्रकृति विभिन्न स्वरूप की है जिसकी जैसी प्रकृति है उसको उसके अनुरूप कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है; ज्ञान और विवेक एक ताक में रखे रह जाते हैं। भ० कृष्ण ने अर्जुन को अन्त में यही ललकार सुनाई, कि तुम अहंकार में आकर यदि यह कहो कि मैं युद्ध

नहीं करता हूँ तो तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है, तुम्हारी भीतरी प्रकृति तुम्हें युद्ध करने के लिए बाध्य करेगी। हे अर्जुन! अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों की डोरी से बँधे हुए तुम उस उस कार्य को विवश होकर कर डालोगे जिसे तुम अज्ञान से नहीं करना चाहते (भ० गी० १८-५९, ६०)। यह अच्छे काम के बारे में है ऐसा ही बुरे कामों के बारे में भी समझना चाहिए। अर्थात् असत् कर्मों को भी विवेक रहते हुए भी अपनी प्रकृति की, स्वभाव की डोरी से नथे रहने के कारण, प्रत्येक को विवश होकर करना ही पड़ता है, लाचारी है। क्यों?

क्योंकि हमारे इसी मनोब्रह्माण्ड में ईश्वर हमारे शुभा-शुभ कर्मों को देखते हुए बैठा रहता है। उसको उसे शुभ कर्मों का फल भी देना है अशुभ कर्मों का दण्ड भी। इस काम को वह अपनी माया शक्ति से अनिवार्य नियमों की चक्की पिसवाकर यथोचित दण्डित या पुरस्कृत करता रहता है। फलाफलापेक्षानुरूप कर्म में ही प्रवृत्त होने देता है ज्ञान विवेकों को मोह में डाल देता या मोह की थैली में बन्द कर देता है। अतः लोग ईश्वर को खोजने के लिए मन्दिर मस्जिद गिरिजा तीर्थों और महापुरुषों की संगति में जाते हैं। जाइए, मन्दिरादिकों में पूजा-पाठ हवन कीर्तनादि सत्कर्मों का आवाहन होता है। भगवान् वहीं रहता है जहाँ कीर्तनादिक सत्कर्म होते हैं—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद' (श्रीम० भा०)। तीर्थों में महापुरुषों के पुण्यों का क्षेत्र है, महापुरुषों की संगति सत्कर्मों की संगति या क्रिया है। पर जो ईश्वर आपके ही अन्दर, उठता बैठता खाता पीता और दैवी गुणों से युक्त रहता है उसकी अनुभूति तो कीजिए!

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(भ० गी० १५-१०, ११)

हमारे वैदिक महर्षिगण और पुराणों के आचार्यों ने इसी साकार ब्रह्म या ईश्वर की निरन्तर अनुभूति की। उनको यही योगयज्ञ सर्वाभीष्ट रहा। क्योंकि वे जानते थे—कि 'कस्तूरी कुण्डल बसै'। पर आजकल के लोग कस्तूरी मृग की तरह अपनी ही कस्तूरी सुगन्ध रूप ईश्वर को वन-वन में ढूंढते फिरते हैं, यह कैसी उलटी विडम्बना है: यह क्यों होता चला आ रहा है? इसका विश्लेषण यह है:—

कर्मों की थोड़ी सी छूट या स्वतन्त्रता पाया हुआ प्राणी प्रकृति से और गुणों से स्वयं किए जाने वाले कर्मों को भी, अहंकार से विमूढ होकर यह समझने की भूल करने लग जाता है कि मैं ही (सब कर्मों का) कर्ता हूँ।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

(भ० गी० ३-१७)

भ० कृष्ण ने अर्जुन को इसी अहंकार की चेतावनी दी थी और 'प्रकृति ही स्वयं तुमसे युद्ध करायेगी' यह स्पष्ट कह दिया था। अर्जुन तो दैवी प्रकृति या दैवी सम्पदा वाला था—

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'

(भ० गी० १६-५)

वह युद्ध न करने के असत्कर्म में प्रवृत्त होने जा रहा था, पर उसकी दैवी प्रकृति ने उसका मुँह उस असत्कर्म से मोड़ दिया। पर यह अखिल ब्रह्माण्ड तो आसुरी सम्पदा से निर्मित है 'यदासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः' (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)। इसको रास्ते में कैसे लाया जाय। इसकी प्रकृति तो स्वभावतः असत्कर्मों में प्रवृत्त होती है, इसे असत्कर्मों में ही आनन्द मिलता है। और तो अलग रहे ज्ञानवान् भी अपनी इसी प्रकृति के अनुरूप कार्य करते हैं —

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥"

अर्थात् इस प्रकृति का निग्रह दमन-शमन आदि भी तो सर्वतः सम्भव नहीं। तब क्या किया जाय ?

इस पहेली को सुलझाने के पहले हमें यह जान लेना परम आवश्यक है कि हमारी प्रकृति इस प्रकार की बनती ही कैसे है ? सृष्टि मूलतः अनादि और अनन्त है। इसी को वेदों में अनारम्भण सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि का यह अनादि स्वरूप ब्रह्म है या आत्मा है। यह ब्रह्म या आत्मा वाक् ज्योतिः शरीरी अग्नि आत्मीय और मनोमय ज्ञान स्वरूपी है। इसी को मनोमय ज्ञान प्रधानता में बृहस्पति, अग्निरात्मा प्रधानता में वाक्पति या वाचस्पति कहते है तो विकास परम्परामय वाक् शरीर प्रधानता में ब्रह्मणस्पति। इन तीनों स्वरूपों में शरीर तो वाक् या ज्योतिः ही रहता है और इसमें आग्नेय जीवनामृतमय तेजः और मनोमय ज्ञान नित्य ही एक अभिन्न त्रिवृत् में रहता हैं। ब्रह्म के इस स्वरूप से देवता तत्त्वों का उपबृंहण होता है। उपबृंहणकारी होने से ही इसे ब्रह्म या उपबृंहण या विकासमय तत्त्व या देवता भी कहते हैं। सृष्टि के पूर्वार्द्ध में अग्निवायु आदित्य वसुरुद्रादित्यों की सृष्टि अध्यात्मिक स्वरूप में हो जाती है। उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ दक्षक्रतू से सृष्टि का सादि और सान्त स्वरूप उपबृंहित होने लग जाता है। यहीं भौतिक सृष्टि का नवोत्थान प्रारम्भ होता है। इस सादि सान्त भौतिक सृष्टि का प्रथम बीज रूप भौतिक तत्त्व ब्रह्म या वृष्ण या विष्णु का रेतः या प्रकाश या चन्द्रमा या सोम या भौतिकामृत कहलाता है। उसी का नाम सविता प्रसविता या द्वितीय चक्षुः (अंकुर) या फूटी आँख (अंकुर) कहते हैं जिससे निरन्तर भौतिकामृत टपकता रहता है। (श० प० ब्रा० ७-१-२-१, ७)।

"यच्चक्षुरध्यशेत तस्मादस्यान्नमस्रवत् "

परन्तु सादि सान्त सृष्टि का यह प्रथम प्रसून रूप चक्षुरूप भौतिकामृत तो वृत्र नामक विश्वरूप त्वाष्ट्र उपनामक, त्वष्टा वाक् के ही पुत्र के घड़े या शरीर में या द्रोण

कलश में या आदि कलश रूप ब्रह्माण्डीय शरीर में भरा है जिसको सबसे पहले त्वष्टा विश्वरूप ने, तदनन्तर उसके पुत्र त्वाष्ट्र वृत्र ने पिया या पाया या आत्मसात् किया। यह अमृत तो उस घट रूप शरीर की भौतिक आत्मा है और अखिल ब्रह्माण्ड का शरीर आसुर्य या आसुरी, उसी एक शरीर से ये अनन्त आसुरी शरीर उत्पन्न हुए हैं जैसा कि (श० प० ब्रा० १-५-२-१७) ने लिखा है (उद्धरण पिछले परिच्छेद में उद्धृत हो चुका है, पुनः देखिए)। ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में हमारा ब्रह्म या परमात्मा और जीवात्मा या सोमात्मा दोनों इस आसुरी दानव शरीर के अनन्त (९९) किलों में बुरी दुर्गति युक्त बन्द हो पड़े हैं। इसका या इनका उद्धार कैसे हो सकता है यह अब अधिक समझाने का विषय नहीं रह गया होगा। यह दानव शरीर, चाहे किसी का भी हो, स्वभावतः, प्रारम्भ ही से बुरे कर्मों में ही प्रवृत्त भी होता है, उन्हीं कर्मों में आनन्द भी पाता या मानता है और स्वयं अपने ही को सब कर्मों का कर्ता भी माने बैठा रहता है। इसने सृष्ट्यादि काल से अब तक न जाने कितने बुरे और भयंकर कार्य कर लिए होंगे, कौन क्या गिनती कर सकेगा ? यह तो अनन्त असंख्य अनिर्वचनीय गणना के नानारूपाकारों का जो है। आखिर इन सब कर्मों का फल तो इसे चखना या चखाना तो है ही और इन कर्मों ने गुणों का सूक्ष्म रूप लेकर प्रत्येक की प्रकृति को गुणानुपातानुकूल विभिन्न प्रकार की बना कर इतना गम्भीर पुट चढ़ा दिया है कि उसका निग्रह दमन-शमन करना किसी के लिए भी हँसी खेल की बात नहीं रह गई है।

प्राणियों ने इस शरीर को उसका स्वामी बना डाला है जिसका यह दास है, सेवक है, घोड़ा है, बैल है, रथ है। इस उलटी गंगा बहाने का फल तो ऐसा ही होना चाहिए। इस स्वामी बनाये गये दास शरीर के सतत क्रियमाण अशुभ कर्मों का फल चखाने ही के लिए इसे इसी की तदनुरूप अनिग्रहीय अशमनीय अदमनीय प्रकृति और अविवेकमय मति के जाल में फँसा दिया जाता है। क्योंकि इस सृष्टि का लक्ष्य दुष्कर्मों से अपनी आत्मा और परायी आत्माओं का पीडन करना या कराना कदापि भी नहीं है। ऐसे लोगों को ऐसी दुर्बुद्धियों और दुष्कर्मों के दण्ड-विधान का उदाहरण सा, प्रदर्शिनी वस्तु सा बना कर लोगों को उचित मार्ग में चलते रहने का संकेत सा वारम्वार और उक्त प्रकार से सर्वत्र ढिढोरा पीट पीट कर किए जाते रहने पर भी यदि किसी की आँखें फिर भी नहीं खुलती तो क्या किया जाय !

इस आँखों को खोलने में यदि कभी कोई समर्थ हो सका है तो वह है दैवी कर्मकाण्डवाद या दैवी कर्मवाद। हमारा दास शरीर जो अपने को जिस किसी का भी स्वामी समझे बैठा रहता है वह उसके नितान्त बहिर्मुख होने के कारण है। यह अपनी उस दिग्दिगन्त प्रकाश कारिणी मशाल को अपनी ही बहिर्मुखता की अहं वृत्तिता के पर्दे में छिपाकर अपने स्वयं अन्धों की तरह टटोलते हुए जैसे इस संसार की यात्रा करने का दुःसाहस कर बैठता है। फलतः वह क्षण-क्षण में गिरते पड़ते चोटों पर चोटें खाते-खाते रहने पर भी अन्धे के हाथ बटेर सी कोई ऐसी क्षणिक सफलता नाम की असफलता प्राप्त भी कर ले जिसका अधिकांश में स्वार्थ रञ्जित होने

से दण्ड ही भोगना है तो भी फूला नहीं समाया दीखता है, पाप की एक और गठरी लाद कर भी !

प्राणियों का 'अहं' नामक तत्त्व जिसे अहंकार भी कहते हैं, मूलतः और वास्तव में है तो दैवी और सात्त्विक प्रवृत्ति का। पर यह अहं (कार) शब्द या मैं मेरा तेरा इत्यादि ध्वनि, ब्रह्म से चैतन्य प्राप्त इसी भौतिक शरीर की झंकार के रूप में प्रतिश्रुत होती है, लोक में एक को दूसरे से विभेदक ध्वनि भी यही है, इसी शरीर को भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है और कहते भी हैं—यह मैं इस नाम का (शरीर) हूँ। यहाँ पर संकेत और वैभिन्य तो शरीर का होता हैं, पर यह ध्वनि जिससे गुञ्जित हुई है जहाँ से आई है जो वास्तव में 'अहं या मैं हूँ कहता है' वह यह शरीर नहीं है, जो इस शरीर के द्वारा अपना स्वतन्त्र सत्त्व और चैतन्य को प्रकट कर रहा है; उस ओर किसी का ध्यान ही आकर्षित नहीं होने पाता, वह इस शरीर में ऐसा घुलामिला पिघल कर व्याप्त है कि कोई इन दो को या तीनों को पृथक् पृथक् नहीं करता या समझता। औपनिषदिक वेदान्त में 'सोऽहमयमस्मि' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि प्रामाणिक वाक्यों के सिद्धान्तों के अनुसार अहं पद वाच्य तत्त्व या सत्त्व, यह हमारा भौतिक या मायाप्रपञ्चमय स्वार्थमय शरीर या इस शरीर के अङ्ग या कर्म नहीं हैं, स्वयं ब्रह्म और जीवात्मा के संकेतक हैं। ब्रह्म अमृत वैद्युतीय शब्दमय लहरों भरा आकाशात्मा है। जिस प्रकार ध्वनि प्रसारण में ध्वनि को विद्युत् में परिणत कर उस विद्युत् को ईथर या मेगनेटिक धाराओं में प्रवाहित करके पुनः उसी विद्युत् को इसके शब्दानुरूप ध्वनियों में रेडियो में प्रतिध्वनित किया जाता है उसी प्रकार उस वैद्युतीय ब्रह्म के विद्युच्छरीरी शब्द को हमारे शरीर रूप रेडियों की मशीन पुनः लौकिकार्थमय ध्वनियों में प्रकट करती है। इसको हम सभी मात्र शरीर का संकेतक समझने की भूल सम्भवतः अपने शारीरिक गुणों के वैशिष्ट्य या वैभिन्य का गर्व करने के लिए करते हैं।

शरीरों की विभिन्नताओं और विशिष्टताओं को कोई मना भी नहीं कर सकता। लोक व्यवहार में इन शरीरों का संकेत भी 'अहं' 'मैं' नाम से करना अव्यवस्थोन्मूलन कारक सिद्ध होता है। यहाँ पर यह 'अहं' या मैं नाम व्यष्टि नामक सृष्टि का है 'अहं वाव सृष्टिः' (बृ० उप०)। यह रेल के इंजन की सी अचेतन शरीर की लोक व्यवस्थाकारी सचेतक और संकेतक ध्वनि है। चेतनामय और चैतन्य ज्ञानमय ध्वनि या अहं और मैं तो उसी आदि ब्रह्म और जीवात्मा की है जो दोनों अमृत और दैवी हैं। इन्हीं को अपने अपने लिए प्रयुक्त अहं और मैं मेरा आदि शब्द को यह स्थूल शरीर, स्वयं अपने अविवेक से उत्पन्न भ्रम से अपने लिए प्रयुक्त समझने की भूल इस लिए करता फिरता है कि इसे कर्मों को स्वतन्त्रता से विवेकानुकूल करने की छूट दी गई है। यदि इसे कर्म स्वातन्त्र्य न मिले तो इसका अस्तित्त्व ही असंभव हो जायेगा। क्योंकि इसका जीवन और जीवनी तो साकार कर्ममयता मात्र ही तो है, और है क्या ? पर यह स्थूल शरीर यह भूल जाता है कि वह तो देव पुत्र है ब्रह्म पुत्र या ब्रह्म पौत्र है। ब्रह्म पिता है, सोमया

जीवात्मा पुत्र और दशप्राणों युक्त दशमुख या दशशिर वाला रावण नामक रावणशील यह स्थूल शरीर शब्दब्रह्म का पौत्र है। यह पौत्र रूप स्थूल ब्रह्माण्ड या शरीर बहिर्मुख हो जाता है, इसके कर्म बहिर्दृश्यमान हो जाते हैं। इसमें जो अनन्तता है उसके रूपाकार कर्म प्रभृति इसके कर्मक्षेत्र को परस्पर आकर्षण विकर्षण अनुकरणानुसरणादिक प्रभाव वेगों से इतना अधिक व्यापक जटिल व्यस्त और नष्टस्मृतिका कर देते हैं कि यह इन्हीं बाह्य दृश्यादिकों के संसर्गानुकूल कर्मों को छोड़ अपने पूर्वजों ब्रह्म जीवात्मा दोनों की ओर ताकने तक के लिए मुँह नहीं मोड़ देता। अतः जीवन में संसर्ग सबसे अधिक प्रभावशाली है। यदि यह शरीर इन बाह्याकर्षणमय नानारूपकार स्वादादिकों के संसर्ग में न रह कर अन्तर्मुख होकर या ऊर्ध्वज्योतिर्मय या ऊर्ध्वरेतोमय होकर अपने पिता और पितामह की गोद में बाललीला करता तो सचमुच में यही शरीर स्वयं परं ब्रह्म और परमात्मा का साकार स्वरूप हो जाता, और योगियों में ऐसा ही होता है, हुआ है; गोतम भारद्वाज वशिष्ठ कश्यप विश्वामित्र वामदेव प्रभृति, राम कृष्ण प्रभृति, कपिलादि सप्त-मनुष्य, मार्कण्डेय प्रभृति ऐसे ही साकार ब्रह्म स्वरूप के महायोगी थे, आज भी ऐसे कई महायोगी हैं, भविष्य में भी होंगे और होते रहेंगे; क्योंकि यह शरीर अन्ततो गत्वा है तो देव सन्तान ही, उसके इस देवोत्पन्न शरीर की किसी न किसी पीढ़ी में, कहीं न कहीं, उसके अपने पूर्वज ब्रह्म और जीवात्मा के देवत्व का उदय या आविर्भाव प्रभुत्व उसकी अपनी ही स्वाभाविक प्रकृति के नियमों और नियति के कठोर परिणामों के ही अनुरूप परम्परा में, किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, सर्वथा सम्भाव्य भी है, और हुआ भी है, है भी, होता भी रहेगा।

यह वैज्ञानिक दार्शनिक सिद्धान्त इस बात को पूर्णतः सिद्ध कर देता है कि यह भूत शरीर साध्य है; इसके कर्मों का रोग भी साध्य है। यह जन्म से जंगली असुर पैदा होता है, इसे पालतू बनाना है, इसको साधना है, ठोक-पीट कर ठीक रास्ते में रखना है, भटकने विदकने बिगड़ने उखड़ने उजड़ने उजाड़ करने नहीं देना है।

जिस प्रकार कर्मों का क्षेत्र अनन्त है उसी प्रकार उपायों का क्षेत्र भी स्वयं अनन्त हो जाता है। कर्म का मूल कारण इस भूत की भौतिक बुभुक्षार्थ या शरीर यात्रार्थ या जीवन धारणोपयोगी खाद्यादि उपादेय वस्तुओं के लिए अनिवार्य और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शरीर भी भौतिक है, खाद्य पदार्थ भी भौतिक हैं, शरीर भी भूत हैं। भूत-भूत को खाता है भूत भूतों से जीवित रहता है। खाने पीने पचने पर भूत पुनः भूत (ब्रह्माण्ड भूत) में जहाँ से आये उगे थे वहीं मिल जाते हैं। पर पिता (जीवात्मा) और ब्रह्म (पितामह) दोनों, इन भूतों के कर्मों के बन्धनों में जकड़कर पुनः भूत शरीरों में जन्म लेने को बाध्य हो होकर अपने लिए मुक्ति के मार्गों को सदा के लिए बन्द और भोग्यभोगों के स्वयं खुले पाते हुए, जन्म जन्मान्तरों में रोदनमय जीवन मात्र व्यतीत करने की नियति नियन्त्रणों की यातनाएं सहन करते और लम्बी लम्बी सांसें आहें भरते भटकते ही रह जाते हैं। यह कौन नहीं जानता ? तब इसके प्रतीकार का सरल उपाय क्या हो सकता है ?

प्राणियों को शारीरिक बुभुक्षा से अधिक पीड़ित करने वाली वस्तु है मानसिक बुभुक्षा। शारीरिक बुभुक्षा तो मोटा खाने, सादा पीने सादा पहनने और भूमि शयन से भी बुझ जाती है, पेट भर ही जाता है, प्यास बुझ ही जाती है, नंगा नहीं होता, नींद आ ही जाती है। पर मानसिक बुभुक्षा इनके स्तरों की इच्छा और तृष्णा से तरसती हुई उनकी प्राप्ति के लिए उन उन कर्मों को करने में बाज नहीं आती जिन्हें सर्वत्र गर्हित तो समझा ही जाता है पर समाज में ऐसे नकली नियम बने हैं कि कोई उनके विरुद्ध मुँह भी नहीं खोल सकता। इच्छाओं और तृष्णाओं में नित्य प्रति नव-नव यौवन आता है, ये जरा मुक्त हैं, जिसको इन्होंने वशीभूत कर लिया वह वह भूत ही नहीं सफेदपोश भूत ही बन जाता है। आज हम जिस सभ्यता में जीवन बिता रहे हैं उसमें इन्ही दो बलवती बुभुक्षाओं का सर्वतः साम्राज्य हैं। अतः प्रत्येक भीतर ही भीतर शान्ति के लिए उसी प्रकार छटपटाता रहता है जैसे किसी अन्धी कोठरी में बन्दी बनाया गया कोई निरपराध व्यक्ति। इस प्रकार प्रायः सबने अपनी इच्छाओं और तृष्णाओं की नर्तकियों के नाच रंग में रम कर अपनी सुध बुध खोकर उन्ही के साथ नाच नाच कर अपने को उनके वास्तविक जीवन ज्योति हीन अनाचार रूप अन्धकारमय पतित कारागार में बन्द कर लिया है। कहिए कैसे हैं ये कर्म ?

अरे इस मन की (मानसिक) बुभुक्षा महा भयंकर महापापी और महा दुर्निग्रहिणी है। संध्या में जोतो तो काबुल के घोड़ों का सौदा करने भाग जाता है, पढ़ने में लगाओं तो अप्सराओं का नृत्य देखने उड़ जाता हैं। यदि कोई भी व्यक्ति अपनी दैनिक लेखा पुस्तिका में इस मन की इस प्रकार की केवल एक दिन भर की ऊल जलूल कल्पनाओं का संग्रह करके पुनः पढ़ने जाय तो उसे विश्वास हो जावेगा कि वह निश्चय ही एक बड़ा भारी पागल है, ऐसी-ऐसी अनहोनी बातों को यह निरन्तर सोचते ही चला जाता है, थकता ही नही। कहीं इसने इस प्रकार के पागलपन की बातों में से किसी एक को भी कहीं कार्यान्वित कर दिया तो बस समझ लीजिए कोई महती दुर्घटना ढिढोरा पीट कर प्रचारित करने योग्य अवश्य ही घट गई है। इन बेढब कर्मों का क्या प्रतीकार है ?

इन कर्मों का प्रतिकार अभ्यास और वैराग्य से हो सकता है। एक राजा को एक सेवक की आवश्यकता पड़ी, विज्ञापन छपा, प्रार्थना पत्र आये, साक्षात्कार के लिए बुलाये गये, निर्णायक चुनाव घोषित करने ही वाले थे कि एक सीकिया पर बहुत ही अधिक चुस्त चालाक और स्फूर्तिमान् नव-युवा दौड़ते आते हुए चिल्लाया कि मैं भी एक प्रार्थी हूँ, मेरी योग्यताओं पर भी विचार किया जाय। प्रश्न पूछे गये। क्या-क्या जानते हो ? उत्तर में 'सब कुछ'। क्या क्या काम कर सकते हो ? सब कुछ। कितने समय काम करोगे ? पूरे चौबीसों घंटे। वेतन क्या लोगे ? कुछ भी नहीं। निर्णायकों ने एकमत होकर, वेतन रहित सर्व कार्य विदग्ध और चौबीसों घंटे कार्य करने वाले इसी को चुने जाने की घोषणा करने की ठानी ही थी कि वह बोला, महाराज चुनाव के पहले मेरी एक शर्त भी स्वीकार कर लीजिये।

यह क्या है ? यदि मुझे कभी पूरे चौबीसों घंटों का पूरा काम न मिला और खाली रह गया तो मैं राजा का गला घोट डालूंगा। लोगों ने उसकी बातें हँसी में टाल दी, कहा राजा के घर काम का क्या अकाल ? रख लिया गया। दो चार दिन तक घर के जितने शेष काम थे उन्हें देकर इसे कार्य रत रखा जा सका। धीरे धीरे काम निवट चुके, यह खाली पड़ने लगा तो, लगा घोटने गला राजा का। दूसरों के काम दिए गए, तीसरों के काम दिए गए, वे भी समाप्त हुए। यह खाली बैठ नहीं सकता, राजा का गला घोट प्रति दिन होने लगा। कोई प्रतिकार न सूझा। मुँह लटकाये थके मांदे गुरु जी के पास गये। सब कथा बताई, रो पड़े। गुरु ने आदेश दिया—चिन्ता न करो,उससे एक लम्बा बांस मँगवावो, कहो आंगन में गाड़कर खड़ा कर दे। जब जब करने को काम न रहे तब तब इस नौकर को आदेश देना कि जब तक दूसरा काम न मिले तब तक इस बांस में ऊपर चढ़ चढ़ कर नीचे उतरते रहो। खाली कभी मत बैठो। जान में जान आई, गला घोट का भूत भग गया, नौकर उत्तम चाकरी करने लगा।

कौन है यह नौकर ? यह है आपका और हमारा 'मनः' जो खाली रहने पर खयाली पुलावों को पकाते-पकाते सबका गला घोंट करते रहता है, 'कार्यहीन मस्तिष्क भूत भावनावों की उधेड़ बुन की क्रीड़ा स्थली होती है' यह ऐसी ही मन की दुर्गतियों के बारे में कहा जाता है। वह बांस—जिसमें इसको उतर चढ़ कर निरन्तर लटकने का आदेश दिया गया है—है संध्या पूजा, पाठ, कीर्तन, जप, ध्यान, द्रव्य-यज्ञ, दान-कर्म, सत्संग करना, योगियों वृद्धों रोगियों पीड़ितों दुःखितों गुरुजनों की यथायोग्य सेवा में रत करना, निरन्तर करते रहना, कम से कम खाली समय में तो अवश्यमेव करना, नहीं तो वही–गलाघोट–होगा।

खाली समय कौन है ? शरीर यात्रार्थ उद्योग-धन्धों को कर लेने के पश्चात् जो समय बचता है वह है खाली समय। उस समय नियमतः इस मनः को वशीभूत करने या काम में लगाने के लिए संध्या (आत्मा और मनः की सन्धि या मिलन या या तादात्म्य या मैत्री) करना हमारे पूर्वजों ने निर्णीत किया था। तदनन्तर पाठ पूजा या द्रव्य यज्ञों को करें। यह मनः महा स्वार्थी है। अतः इसकी स्वर्थपरता का निराकरण त्याग दान से करना परमावश्यक हो जाता है। तपस्या योगाभ्यास है, वैराग्य का अभ्यास है और ज्ञान योग का निरन्तर चिन्तन करना है। यह नई सृष्टि करता है, अतः अतिसृष्टि कहलाता है। इन सब क्रियाओं से हमारा भूत शरीर भव्य देवता बन जाता है। अतः प्रत्येक का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह अपने मनः को वशीभूत करके उसे 'दैवं मनोरूप' में परिणत करने के लिए जब जब समय प्राप्त हो तब तब संध्या, पूजा, पाठ, यज्ञ, योगाभ्यास, ज्ञान, चिन्तन कीर्तन, सत्संग, तथा इसी प्रकार के कर्मों को यथावसर यथानुकूल परिस्थिति में करते जावे, इनमें रत होवे रति प्राप्त करे, विरत न हो। ये सब कार्य मनः और शरीर दोनों की शुद्धि करते हैं। क्योंकि देव यज्ञ पूजा पाठ कीर्तनादि देव संसर्ग है, दैवी जीवनी का आनन्द देने वाले तथा आसुरी जीवन को दबोच कर शान्ति देने वाले हैं।

आजकल की हवा या वातावरण में लोग उक्त कर्मों और कर्मकाण्डों की मखौल उड़ाते कहते हैं कि पुरोहित पादरी पोप मुल्ला प्रभृतियों ने स्वर्ग के टिकट बेचने का ठेका ले लिया है। यह हवा पश्चिम से आई है। पश्चिमी देशों में भी कर्मकाण्ड रहा अब ध्वंसावशेष रूप में है। प्रारम्भ में ही इनका कर्मकाण्ड अपने पुराणों की गाथाओं को काल्पनिक समझते हुए स्थापित हुआ था। यद्यपि इन गाथाओं में कुछ कुछ वैदिक गाथाओं का साम्य है, पर वैदिक गाथायें तो पूर्ण दार्शनिक और वैज्ञानिक होने से अक्षरशः सत्य हैं, इनमें कल्पना का लेशमात्र नहीं हैं। जो इनकी इन दार्शनिक वैज्ञानिकताओं को नहीं जानते या समझते वे पाश्चात्यों की तरह इन्हें भी कपोल-कल्पित कहने में नहीं हिचकते। इसका निराकरण मेरे इस ग्रंथ के 'पञ्चमवेद पुराण रहस्य' नामक भाग में आगे किया जायेगा है, अवश्य पढ़ कर आँखें खोल लेनी चाहिए। पाश्चात्य देशों के समझदार विद्वानों ने जब अपने कर्मकाण्ड की मूलभित्ति अपनी पौराणिक गाथाओं की कोरी कल्पनाओं में देखी या समझी तो उन्होंने इस कर्मकाण्डीय जीवन से नितान्त विरत होकर, निराश होकर, निराशापूर्ण भौतिक विज्ञान की खोजों में अपना जीवन अर्पित कर दिया। यह इनका तत्कालीन धर्मधुरन्धरों के प्रति एक महाविद्रोह था। पर ये रेगिस्तान की चमकदार बालू में पानी की मृग तृष्णा में चल दिए। यद्यपि अब तक उन्होंने इस धुन से अनेकों भौतिक सत्यों को बाह्य शक्तियों और लौकिक आनन्दों की अलौकिक खोजें कर ली हैं, पर भीतर के आनन्द शान्ति सुख आदि के लिए उनके पास कुछ है ही नहीं। उनके साहित्य पर भी इस दृष्टिकोण का कम असर नहीं पड़ा। प्रायः दुःखान्त काव्य नाटक और गाथाओं ने प्रभुत्व जमाया। इनमें भूलों को गम्भीर दण्ड तो मिलता है पर भूलों को सुधारने का पक्ष एकदम गायब रहता है। दुःखान्त और आकस्मिक अनहोनी घटनाओं के शिकार बे होते हैं जिन्होंने इस जीवन को नैराश्य पूर्ण अपूर्ण समझने की प्रारम्भिक भूल करने के साथ अपने को प्रकृति के प्रवाह में बहने के लिए एकदम छोड़ दिया है। दुःखान्तीय दुर्घटनाओं का तदनुरूप तत्काल प्रतीकार करने वाली दैवी शक्तियों के साथ इनका कोई संसर्ग सत्संग (देवयज्ञ पूजा पाठ कीर्तनादि) कहीं है ही नहीं। सहारा नहीं, सहायक नहीं, परामर्श सुधबुध दाता नहीं, दुर्घटाओं के शिकार बुला-बुलाकर जैसे क्यों न होंगे ? जिनका देवताओं या ईश्वर में अटल विश्वास है जो सच्चरित सच्चा दैवी प्रवृत्ति का है उसके सामने दुर्घटना का दानव ही स्वयं दुर्घटना ग्रस्त हो, उस दैवी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के सामने घुटने टेक झुक कर अपनी हार स्वीकार करता है। यह भी वास्तविक सत्य है, अक्षरशः सत्य है, इस मार्ग पर चलकर स्वयं अनुभूत कर सकते हैं। साथ में इस लोक में ऐसी घटनायें भी नित्यशः घटती ही रहती हैं, स्थान-स्थान पर घटतीं हैं असंख्य संख्या में घटती हैं दुर्घटनाओं तक में भी ऐसी अलौकिक घटनायें होती हैं। उनकी खोज कीजिए क्यों ऐसा हुआ या होता है ? ऐसा इसलिए होता है कि जो व्यक्ति अपने को देवशक्तियों को समर्पित कर देता है उसके साथ वे दैवी शक्तियाँ छाया की तरह चारों ओर से छाये रहती हैं, भले ही वे उसको प्रत्यक्ष अनुभूत न होती रहें, पर

उसके साथ वे अवश्यमेव रहती ही हैं। यही दैवी कर्मों की बड़ी भारी रहस्यमयी पर स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं।

कर्मों की गति को जान लेना और सबको समझा देना कोई हँसी खेल की बात नहीं है। इनका विश्लेषण सार्वजनिकतया किया भी नहीं जा सकता। महाराज जनक के यज्ञ में निर्धारित गायों को हांक ले जाने का आदेश शिष्य को देने के पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्य से जरत्कारव आर्तभाग ने जब अन्त में प्रश्न किया कि प्राणी के मरने पर पञ्चतत्त्वों के पञ्चतत्त्वों में मिलजाने पर वाक् प्राण चक्षु श्रोत्रं मनः शरीर आत्मा लोम केश आपः तत्त्व जब क्रम से अग्नि वायु आदित्य दिश चन्द्रमा पृथिवी आकाश ओषधी वनस्पति लोहित रेतः में तादात्म्य पा जाते हैं तब प्राणी का पुरुष क्या या कैसा या कहाँ रहता है? इस प्रश्न का उत्तर म० याज्ञवल्क्य ने सबके सामने देना उचित नहीं समझा, वे आर्तभाग का हाथ पकड़ कर एकान्त में ले गये। दोनों ने जो कुछ वार्तालाप किया, कर्म के बारे में किया और कर्म गति की ही प्रशंसा की और निर्णय दिया कि पुण्य कर्मों से पुरुष पुण्यात्मा होता है पापकर्मों से पापी (बृह० उप० ३-२-१३)। इस ग्रंथ ने यही भाव १-३-४ से ६ में पुनः दुहराया भी है। इसे अवधान पूर्वक समझना चाहिए। इस प्रकार शरीरान्त के पश्चात् उसे पुनर्जन्म लेने के लिए जिस प्रकार के शरीर के गर्भ में स्थान मिलना चाहिए इसका निर्णय उसके उक्त मरणान्त जीवन तक किए गए समस्त सदसत्कर्मों से ही किया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक का प्रस्तुत भूत और भावी जीवन उसके विगत शरीरों के सदसत्कर्मों का सदसत्फल भोगने के लिए निश्चित रूप से होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक सुबुद्ध समझदार को सत्कर्मों में प्रवृत्त होना नितान्त आवश्यक है।

सत्कर्मों की सामग्री अर्जित करने में भी असत्कर्म स्वभावतः हो ही जाते हैं। इन असत्कर्मों का निराकरण त्याग दान परमार्थ चिन्ता से विश्वबन्धुत्व से किया जा सकता है। और प्रत्येक सत्कर्म को विधि विधान से करना या कर्मकाण्ड में विहित विधि से करना सोने में सुगन्ध का कार्य करता है। यह विधि प्रत्येक दानी त्यागी याज्ञिक योगी और देय त्याज्य यज्ञिक ध्येय वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध विभिन्न ग्राहक पात्रों (ब्रह्म के प्रतीक ब्राह्मणों) के साथ उस प्रकार देती है जिस प्रकार इनकी उत्पत्ति विकासादिक सृष्टि और अतिसृष्टि (योगक्रिया) के समय होती है। इस प्रकार हमारे सभी कर्मकाण्ड सृष्टि और अतिसृष्टि के पहलुओं पर पूर्णतः प्रकाश डालते हैं। आजकल क्या, उपनिषदों के अन्तिम चरण के समय से, अब तक कर्मकाण्ड विधियों के इन रहस्यों को नितान्त भुलाया जा चुका है। न कोई इन्हें समझ पाता है न समझा सकता है। अतः इस अति गम्भीर रहस्यमयी अवश्यमेव कर्तव्या कर्मकाण्ड विधि उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होती हुई प्रायः समाप्तप्रायः है, हाँ नगरों में कुछ श्रोत्रियों या श्रेष्ठियों ने इनके कंकाल को नासमझे रूप में अवश्यमेव सुरक्षित रखा है, कुछ कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेशों महाराष्ट्र और कुछ दाक्षिणात्य प्रदेशों में यह कर्मकाण्ड विधि उसी नासमझे रूप में प्रचलित मिलती है, नहीं तो कश्मीर पञ्जाब गंगा जमुना सरयू गंडकी के दुआबों, विहार वंग मध्यदेशों से तो इसका प्रचलन

प्रायः उखड़ गया है। क्योंकि इन स्थलों के ग्रामों नगरों या तीर्थों में कर्मकाण्ड विधि ज्ञान रहित निरे लंठ पंडों का बोल-बाला है जो श्रद्धालु यात्रियों की महादुर्गति करते रहते हैं, ऐंठने के लिए, यहाँ तक कि नंगा कर टिकट के पैसे भी पास नहीं बचने देते। इस गुण्डागर्दी और उक्त नासमझी दोनों ने कर्मकाण्ड विधि से सबका विश्वास उखाड़ फैंका है। इसीलिए इस कर्मकाण्ड विधि के विभिन्न पहलुओं के मौलिक रहस्यों का उद्‌घाटन करते हुए उक्त खोये उखड़े विश्वास को पुनः स्थापित और पातालभेदी जड़ों से निरन्तर सिञ्चित और पुष्ट करने के लिए इस प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है। यह इसलिए किया जा रहा है कि किसी भी कर्म को सज्ञान किया जाय तो सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। इन कर्मों या कर्मकाण्डों के सदसत्फलों के अज्ञान ने ही लोगों की सत्कर्मों पर निष्ठा और श्रद्धा तथा कर्म-काण्ड विधि से विश्वास को उखाड़ डाला है। इस ब्रह्माण्ड में ज्ञान के समान पवित्र-तम वस्तु अन्य कोई है ही नहीं।

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (भ० गी० ४-३८)

जिसके पास यथार्थ ज्ञान की राशियों का भण्डार है उसके सभी असत्कर्म इस ज्ञान की अग्नि में समिधों के समान जलकर राख हो जाते हैं।

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥"

(भ० गी० ४-३७)

इस ज्ञान को केवल श्रद्धावान् और संयमी पुरुष प्राप्त कर सकते हैं। प्रारम्भ ही से श्रद्धा विरहित और संशयात्माओं को तो अपना जीवन नाश की ओर ले जाना है। उनके लिए न इस लोक में सुख है न पर लोक में स्थान। संशय की डोरी भी तो ज्ञान की छुरी से ही कटती है। अतः ज्ञान की महिमा पर विशेष ध्यान देकर, जीवन या जीवनी के सब संशयों को विनष्ट कर शुद्ध भक्ति दृढ़ विश्वास और श्रद्धा-मय आत्मा से ऐहिलौकक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति के लिए ज्ञान प्राप्ति और कर्मकाण्डीय विज्ञान के इन रहस्यों को अपनाते और यज्ञ दान और तप जैसे पवित्रकारी कर्मों को वैदिक परम्परानुसार नित्यशः करते हुए मनः शुद्धि आत्म शुद्धिऔर शरीर शुद्धि बनाये रखना, एक तो हमारे पूर्वजों की वैज्ञानिक संस्कृति की सुरक्षा करेगा दूसरे कर्मकाण्ड जैसे महत्व पूर्ण कर्तव्य क्रियाकलाप की विधियों को अनुप्राणित कर समाज को सच्चरित्र बनाकर उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करेगा। अतः सामाजिक चरित्रस्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी प्रत्येक को विधिवत् कर्मकाण्ड करना परम आवश्यक है।

कर्मकाण्ड अनेक रमणीय क्रिया कलापों तथा योग और सृष्टि की विधि जैसे अलौकिक विद्याओं का एक अद्वितीय भण्डार है। इष्ट आते हैं, मित्र आते हैं, देवता आते हैं, दानव भगते हैं, भक्ति बढ़ती है, भाव शुद्धि अनुभूत होती है, प्रेम शुद्धि प्रतीयमान होती है, सामग्रियाँ क्रमशः अपने आप जुटती जाती हैं, एक बहुत

निराला आध्यात्मिक और दैवी वातावरण व्याप्त हो जाता है। इसमें यदि सभी कर्मों को ज्ञान की चक्षु से किया जाय तो, यह भूलोक स्वर्ग को यहीं उतार देगा। अन्यत्र स्वर्ग हो या न हो वहां अवश्यमेव होगा।

वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों या अनुष्ठानों को विभिन्न नाम के यज्ञों की संज्ञा दी गई है। इनमें से किसी में किसी देवता को, किसी में किसी और को वैदिक परम्परानुसार सर्वादेवता मानकर सृष्टि और योग दोनों का विभिन्न रीतियों से अभिनय किया जाता हैं। कई ऐसे भी विधान हैं जिनको वैदिक पारिभाषिक शब्दों को जीवित रखने के लिए किया जाता है। ऐसे विधानों के अभिनय एकदम वे तुके से लगते है, पर उनमें जो प्रक्रिया की जाती हैं उसका मूल तात्पर्य उन पारिभाषिक पदों से संकेतित देवताओं या तत्त्वों के लक्षणों को यथार्थ रूप में प्रकट करना होता है। इस कोटि में घृतछाया, गोदान, प्रभृति आते हैं। घृत नाम सोम नामक अमृत का है, इसको चक्षु या फूटी आंख के नाम से पुकारते हैं। अतः सोमामृत की चांदनी में आनन्दमग्नता से देखने या अनुभूत करने का अभिनय घी को गलाकर उसमें अपनी छाया देखते हैं जिसका फल यह बताया जाता है कि इस छाया को देखने से अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं। यही बात शनिवार को तैल छाया दर्शन का भी समझा जाता है। दोनों का विषय द्रव्यान्तर प्रयोग मात्र के अतिरिक्त एक ही है। सोम ज्योति प्रतीकी होने से इनको अरिष्ट नाशक या दुःख नाशक कहना उचित ही है (आगे 'घृत छाया' देखें)। इसी प्रकार गोदान ज्योति दान है, दैवी ज्योतियों का आदान है, अपने दैवी प्राणों का दान है, अर्पण है। जब योगी अपने दैवी प्राण रूप गौ या गौवों को अर्पित करता है तभी उसको विष्णु लोक की ज्योतिष्मती गायों की आनन्दमयी दुग्ध फेनीय किरणें प्राप्त होती हैं। इसका अभिनय गाय का दान करके किया जाता है।

इस प्रकार के ज्ञानों की महिमा को सर्वप्रथम स्थान देने के हेतु ही हमारे यहां प्रत्येक कर्मकाण्ड में ज्ञानमूर्ति अनन्यभक्ति के प्रतीक गणपति देवता का आवाहन पूजन प्रतिष्ठापन सर्वप्रथम किया जाता है। इस गणपति की स्थापना भी एक गोवर की मूर्वि से प्रधानतः अन्यथा चित्रलिपि या अन्य धातुमूर्ति से किया जाता है। क्योंकि यह मूर्ति पूजा का विषय आजकल अपनी महिमा को पूर्णतः परिरक्षित नहीं कर सक रहा है, अतः सबसे पहले इसी पर विचार कर लेना अत्यआवश्यक है।

अध्याय १३६

मूर्ति पूजा

अविवेक अनौखी वस्तु है। छठी शताब्दी ने इस्लामी सभ्यता को जन्म देकर इसके अनुयायियों में अविवेक का उन्माद भर दिया। इतिहास साक्षी है और प्रामणिकतया कहता है कि वे पड़े पीछे मूर्तियों के उपासकों और देवमूर्तियों के। अविवेक का यह उन्माद एक हजार वर्षों तक अपना नग्न ताण्डव नृत्य करता रहा। इसने तीर तलवार कमान बारूद गोलों के बल से केवल भारतीय शुद्ध दैवी भावना भरे धर्म पर ही आघात नहीं किया, भारत को दास ही नहीं बनाया अपितु इसकी महान् कलाकृतियों से बनी मूर्तियों मन्दिर स्मारकों, मठों विद्यालयों प्रभृति को एक-एक करके तहस-नहस कर सबको मुसलमान बनाने के प्रयास में एड़ी से चोटी तक का बल—राज्य साम्राज्य कर, (जजिया) धर्म करादि को भयंकर यातनाओं लगा करके भी आज अपने आपको अपनी ही दुर्मति से 'देशनिकाला' अपनों ही को देश निकाला के दण्ड का भागी बनाने के लिए पाकिस्तान में भागने के लिए बाध्य कर दिया।

ये अपने को बड़े भारी ज्ञानी और दार्शनिक समझने के उन्माद से कम भरे नहीं रहे। दर्शन जैसी वस्तु—तब जो कुछ भी इनके पास थी वह—छठी शताब्दी में पारस के राजा बहराम द्वितीय के द्वारा १०० भारतीय विद्वानों को बुलाकर अपनी भाषा में संस्कृत से अनुवाद कराकर मात्र प्राप्त की गई—उधार खाते की है; इसके पहले 'शून्यं शून्यं शून्यं' मात्र रहा, जिसका पक्का प्रमाण—इनका मूर्ति पूजा को बुतपरस्ती या पत्थर पूजा कहना और ज्ञान शून्य साधारण जनता को निराकार ईश्वर की उपासना के कुए में या खाई में ढकेल देना है। यही भाव और हवा आजकल इन्हीं के अनुयायी पाश्चात्य देशों से सर्वत्र प्रसारित होती हुई हमारे इस देश में भी बड़े बड़े आलोचक विद्वानों तक को इनकी ऐसी ही धारणाओं का दास बना रही हैं।

प्रतीत होता है इन्हें कोई सिद्ध गुरु नहीं मिला। मूर्ति पूजा क्या रहस्य भरी है यदि इन्हें यह विदित हो जाय तो इनका उक्त उन्माद हवा में उड़ जाता, बुद्धि ठिकाने लग जाती। इस जगत् में मुख्यतः दो वस्तुयें हैं। वे दो वस्तु हैं 'नामरूपे' या नाम और रूप—'नामरूपे व्याकरवाणि'। इस ब्रह्माण्ड में चाहे जो कोई भी वस्तु तत्व या सत्त्व हो, उसका एक या अनेक नाम हैं, और जिसका कोई नाम होता है उसका कोई रूप भी अवश्य होता है। जिसका कोई आनुभूतिक रूप नहीं है उसका कोई नाम भी नहीं हो सकता, उसे 'निर्नाम' या वैदिक भाषा में

'निण्यः' कहा जाता है· अर्थात् उसे किसी नाम से नहीं पुकारा जा सकता। यद्यपि वायु आकाश और आत्मा का चक्षुषा दृश्य या आँखों से देखे जाने वाला कोई रूप नहीं है, पर वायु के स्पर्श, आकाश के खुले स्थान और आत्मा के ज्ञानज्योति की अनुभूति किसको प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती ? अतः इनका प्रत्यक्षिक स्वरूप क्रमशः स्पार्शिक, विस्तृत स्थानीय और ज्ञानज्योतिर्मय है, ये तीनों दृश्य नेत्रादृश्यातीतेन्द्रिय-बोधगम्य आभ्यन्तरीय ज्योति के 'रूप' के हैं, और इन्हीं रूपों के अनुरूप इन्हें विभिन्न नाम दिये गये और प्राप्त हैं। ऐसी परिस्थिति में जिसको ये लोग या सर्वसाधारण लोग आत्मा परमात्मा या जीवात्मा, या रूह और खुदा या सोल गॉड कहते हैं क्या उनका कोई रूप नहीं हो सकता ? यदि इनका कोई रूप नहीं है तो इनको किसी नाम से पुकारा भी नहीं जा सकता। यदि इनका कोई नाम है तो रूप भी अवश्य है। तब इनका कैसा स्वरूप है ? इन स्वरूपों को किस किसने देख कर वर्णित किया है कैसा वर्णित किया ? यहाँ वकालत दलील और तर्कों का कोई स्थान नहीं है, बकवास की गुंजायश नहीं है। देखा है तो बताओ, नहीं तो वर्गलाते क्यों फिरते हो ? सच-सच बताइये इन धर्म प्रचारकों में से किसी ने भी, चाहे कोई भी क्यों न हो, उक्त दोनों में से किसी एक को भी देखा है ? अनुभूत किया है ? क्या इनमें से कोई योगी यति भी कभी रहा भी ? नहीं नहीं कभी भी नहीं। तब दूसरों की उधार खाते के सर्वमान्य सिद्धान्तों को ना समझी की अटकल बाजियों तर्कों दलीलों और वकालतों से इस प्रकार गलत या अनुचित रूप से प्रचारित करने में मात्र दलवन्दी के और है क्या ? थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि दो चार योगी महापुरुष सब काल में सर्वत्र रहे ही होंगे। पर उनके लिए तो किसी प्रकार की पूजा ध्यान आदि की विधियों या नियमों की कभी भी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। वे तो नित्य ही अन्तर्ज्योतिर्मय अन्तरानन्दमय होते हैं। प्रश्न तो उस ९९.९९ सैकड़ा सर्वसाधारण जनता का है जो न तो योगी ही होती है न योग और ध्यान ही करने में समर्थ हैं और न उस परमात्मा के व्यापक ज्योति रूप को ही समझ सकती है, क्योंकि अधिकांश में यह अनपढ़ और अशिक्षित भी होती रही और अब भी प्रायः ऐसी ही है और रहेगी। वह यदि योगियों की योगाक्रिया की नकल अपनी संध्या पूजा, नमाज अजान और स्तुतियों को आँख बन्द कर करै भी तो क्या उससे उस परमात्मा की कोई अनुभूति, वैसे जोर से चिल्ला चिल्लाकर बहरे को पुकारने की तरह से हो भी सकेगी ? तब क्या यह तमाशा या ढोंग नहीं तो है क्या ? क्या यह भक्ति मार्ग है या पूजा मार्ग ? पूजा प्रत्यक्षिक मार्ग है वह है नहीं, और भक्ति तो अन्धे विश्वास से होती है।

जो लोग यह कहते फिरते हैं कि ईश्वर और आत्मा निराकार है उनको यह कहने का साहस ही कैसे होता होगा कि हम निराकार की उपासना या ध्यान करते हैं ? हमारा ध्यान करने वाला मन या मस्तिष्क तो ठोस शरीरी है साकार है स्वरूपवान् है। यह उसी का ध्यान या चिन्तन कर सकता है जो साकार सरूप और ठोस शरीरी है। जो वस्तु प्रात्यक्षिक अनुभूति के क्षेत्र से बाहर है वह उसके ध्यान

चिन्तन के क्षेत्र से भी बाहर ही की वस्तु है। आत्मा और परमात्मा दोनों का स्वरूप आनन्द ज्योतिर्मय है जिसकी अनुभूति मात्र योगी ही कर सकता है, अन्य नहीं। अतः इनकी अनुभूति या ध्यान साधारण जनता की शक्ति और कर्मक्षेत्र और अनुभूति के क्षेत्र से बहुत दूर और बाहर ही की वस्तु स्वतः है। तब ऐसे लोग किसका ध्यान करने का ढोंग करते हैं यह समझना भी समझदारों की समझ के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है।

हाँ ये लोग इस प्रकार ईश्वर या परमात्मा का नाम ले लेते हैं, अपनी श्रद्धा को प्रकट करते हैं तो यह ईश्वर की भक्ति का एक अज्ञान अन्धकारमय अन्धविश्वास का ही मार्ग ठहरा। साथ में ये लोग उठक बैठक और दण्डवत् करने की जिन मुद्राओं का प्रदर्शन करते हैं वह भी केवल भावना की अभिव्यक्ति का है, कोई किसी भी प्रकार अपनी भावना और श्रद्धा व्यक्त कर सकता है, अकेले दुकेले समूह में घर में मन्दिर मस्जिद गिरजे मठों में, चलते फिरते, खाते पीते, संगीत या प्रार्थना से भी किसी भी मुद्रा में कर सकता है।

प्रश्न तो यह है कि यह भक्ति या श्रद्धा है किसको लक्ष्य करके, नितान्त निराकार की या नितान्त साकार की। हमारा यह शरीर और इसके प्रात्यक्षिक अवयव या अङ्ग सबके सब नितान्त साकार हैं, ये साकार को ही अपनी भावना श्रद्धा या स्तुतियाँ अर्पित कर सकते हैं। ईसाइयों को अपना गॉड पादरी सा, इस्लामियों को अपना खुदा मौलवी या खलीफा सा, या अपनी मनोनीत भावना के अनुरूप सा ही तो दीखता होगा, वे ईश्वर के स्थान में उसके ऐसे ही मनोनीत लौकिक मानुषिक रूपाकारों पर अपनी भावना चढ़ाकर मग्न रहते हैं। वह बात सबके लिए अनुभव सिद्ध है, योगहीन को ऐसा ही भासता है। बहुत दूर तक जाने पर भी इन लोगों की भावना या श्रद्धा अपने अपने कहे जाने वाले अवतार—हजरत मुहम्मद या हजरत ईसा—पर अटक सकती है; पर ये भी हैं, सामाजिक नेता, समाज सुधारक धार्मिक नेता ही, अवतार किसी भी अंश में भी नहीं। वास्तव में अवतार क्या है इसकी विस्तृत व्याख्या मेरे ग्रन्थ 'पञ्चमवेद पुराण दर्शन' के प्रथम अध्याय में आगे देखने का कष्ट करें। अतः वस्तुतः इन लोगों के पास ऐसा कोई विधान या साधन नहीं है जिसके द्वारा ये उस निराकार की साकार प्रात्यक्षिक अनुभूति करने में समर्थ हों।

हां ईश्वर तो अग्नि रूप है उसको कोई किसी भी नाम और रूप से माने पुकारे पूजे तो कोई बुरा काम नहीं, किसी भी प्रकार ये ईश्वर का स्मरण गलत या सही ढंग से करते तो हैं। इस दृष्टि कोण से ईश्वर की उपासना की नाना विधियां हैं, जैसे काम से (गोपियां) भय से (कंसादि) स्नेह से (यादव) शत्रुता से (जरासन्धादि) और द्वेष से (दुर्योधनादि) भगवान् का नाम बार बार लेकर तर जाते हैं। ईश्वर का साकार रूप दो प्रकार का होता है, प्रथम यह अखिल व्यक्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का ही साक्षात् साकार रूप है, दूसरा ईश्वर का साक्षात् साकार स्वरूप एक महायोगी ऋषि होता है जिसे अवतार या ईश्वर का साकार अवतार या

अवतरण या उतरना कहते हैं। क्योंकि इस योगी महापुरुष में ईश्वर की सभी शक्तियाँ स्पष्ट अभिव्यक्त और ठोसतया निहित रहती हैं। यद्यपि श्री गोपीनाथ कविराज जी के एक लेख के अनुसार कुछ योगी लंदन बर्लिन और तिब्बत के लामाओं में हुए जिनमें से अन्तिमों का विवेचन अंग्रेजों के तिब्बत स्थित अंग्रेज राजदूत ने अपने आखों देखी घटना के विवरण के रूप में इस प्रकार लिखा है कि लामा योगी दौड़ते चलते हुए आकाश में कूदकर पक्षियों की तरह उड़ानें भरने लगते रहे। लन्दन और बर्लिन का पादरी बन्द कपाट के गिरजे में विना द्वार मार्ग से प्रवेश किए दीवाल से ही सूक्ष्मतया प्रवेश कर भीतर आसन में बैठ जाता रहा। ये योग भी कुछ ईश्वरप्रदत्त शक्तियों से ऐसा करने में समर्थ हुए, पर वस्तुतः पूर्ण योगी थे या नहीं कोई कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इनके यहाँ न तो योग परम्परा के उदाहरण मिलते हैं न योगी परम्परा के। फलतः ये ईश्वर प्रदत्त वरदान वाले व्यक्तिमात्र हैं। परन्तु तिब्बत के दलाई और पञ्चन तथा कई अन्य लामाओं में योग का प्रचलन अवश्य रहा, इसीलिए उनका दलाई लामा या पञ्चनलामा ईश्वर का अवतार सच्चे अर्थ में कहा और माना भी जाता रहा। आजकल के ऐसे दलाई या पञ्चन लामा भी योगहीन है, पर अन्य कोई छिपे योगी हों तो कह नहीं सकते। भारत में तो वेदों के सभी महर्षि, ब्राह्मणों उपनिषदों और पुराणों के सभी ऋषिगण अतीव महान् योगी हुए हैं। उन्हीं में से राम और कृष्ण प्रभृति भी हैं, कपिल हयग्रीव या मधुच्छन्दा दध्यङार्थवण ऋषि इत्यादि भी हुए। आज भी इस भारत में कई महायोगी हैं। पिछले दशकों में बाबा हड़खान तथा बाबा सोमवार गिरि हुए। आजकल कई अन्य श्री श्री १००८ महराज नीमकरौली बाबा प्रभृति सर्व विदित हैं। पर आजकल के प्रचलित योगाश्रमों में, जैसे ऋषिकेश इत्यादि में तो न कोई योगी ही है न वे किसी योग को ही जानते, हां वह कसरत करना कराना जानते हैं। ईश्वर के इन साकार रूपाकर मूर्तियों को हम अपनो श्रद्धा भक्ति के प्रसूनों को ध्यान पूजा स्तुति प्रभृति में निधड़क अर्पित कर सकते हैं। इसी प्रकार विगत भ० राम कृष्ण आदि महायोगी योगेश्वरों को भी हम अपनी ध्यान पूजा का लक्ष्य विना सन्देह से बनाकर ईश्वर ही की सच्ची पूजा ध्यानादि कर सकते हैं। ईश्वर तो सबके मस्तिष्क में राजा के रूप में रहता ही है, वह इन योगियों में पूर्णतः विकसित और अभिव्यक्त होकर उनके शरीर को पूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड या पूर्ण व्यक्त ब्रह्म बना देता है।

ऐसी महायोगी रूप पूर्ण व्यक्तता को प्राप्त परमेश्वरों की विभूतियाँ सबको सर्वत्र प्राप्त या लब्ध नहीं हो सकतीं। तब उनके लिए ईश्वर को अपनी पूतभावनाओं वाली श्रद्धा भक्ति के प्रसूनों को अर्पित करने कराने का क्या उपाय हो सकता है यह एक परम आवश्यक पहेली तुरन्त समाधान की तीव्र आवश्यकता रखती है। सबसे पहले ईश्वर प्राप्ति मार्ग तो केवल योग प्रक्रिया है जिससे वह ईश्वर की ज्योति का साकार साक्षात् दर्शन अपनी दिव्य दृष्टि से कर लेता है। जो योगी नहीं है पर योगी महापुरुष की प्राप्ति कर सकता है उसे उस साकार ईश्वर या महायोगी या महायोगी भगवान् कृष्णचन्द्र रामचन्द्र के साकार का रूप का साक्षात् दर्शन अपनी इन्हीं चर्म की

आखों से (दिव्य चक्षुओं से नहीं) हो जाता है। प्रथम में आत्मतन्मयता का अनिर्वचनीय आनन्द है, दूसरे में ईश्वर भक्तिभाव भरी श्रद्धा के सागर में मग्न होने का संसार स्तुत्य वैभव और ईश्वर की एक साकार मूर्ति का साक्षात् दर्शन है। पर जिसका—प्रायः ९९-९९ प्रतिशत जनता को—उक्त दोनों में से किसी एक की भी न योग्यता है न प्राप्ति है उसके लिए ईश्वर प्राप्ति का क्या मार्ग होना चाहिए ? यही इस संसार की सबसे बड़ी भारी समस्या है, साधारण नहीं असाधारण है। क्योंकि इस ९९-९९ प्रतिशत जनता में प्राचीन काल में भी प्रायः अधिक नर अशिक्षित अपठित और ज्ञान चेतना शून्य रहे, आज भी अधिकांश ऐसे ही हैं, जो कुछ पठित या कुछ शिक्षित हैं उनका पठन, शिक्षा का माध्यम और दृष्टि कोण, धर्मनिरपेक्षता के बहाने प्राचीन पद्धतियों, रीतिरिवाजों, परम्पराओं और प्रथाओं के प्रतिकूल कार्य करना ही उचित समझना है; नवीनता में अपने शरीर, परिवार, सगे, सम्बन्धी, इष्ट मित्रों मात्र के अभ्युदय, अन्यों का पराभव दशन पीड़न प्रभृति दिखलाऊ न्याय संगत नीतियों के द्वारा करते रहने में आनन्द मग्न रहना है। 'दोनों दीन से गये पाण्डे हलुवा रहे न माण्डे' की कहावत इनमें पूर्णतः चरितार्थ हो रही है, पर इन्हें यह समझना या सम ा देना ब्रह्मा के वश की भी बात नहीं रह गई है इतने घुटे और चिकने घड़े ये बन गये हैं। यह क्यों हुआ ? अरे ऐसा तो सभी युगों में हुआ है और होता रहेगा। यह तो है भेड़िया धसान, बहुत ही बड़ा भयंकर भेड़िया धसान। जहाँ एक गिरा वहाँ सब के सब—यह सब भली-भाँति देखते समझते हुए भी कि अरे हम तो गिरते जा रहे हैं औरों को कुचलते जा रहे हैं फिर भी—गिरते ही चले जायेंगे, कुचलते नष्ट करते होते ही जायेंगे।

आजकल धर्मों की पहचान वेष-भूषा खान-पान रहन सहन और भाषा से होती है। ईसाई मुसलमान बौद्धों जैनों और हिन्दुओं के वेष भूषादि पृथक् पृथक् हैं। ईश्वर की खोज या पूजा के लिए ईसाइयों के गिरजे हैं, मुसलमानों की मस्जिदें, बौद्धों जैनों और हिन्दुओं के मन्दिर। इनमें से प्रथम दो मूर्ति पूजा विरोधी और निराकार ईश्वर वादी हैं। इन दोनों के गिरिजे और मस्जिदें श्मशान भूमि हैं या कब्रिस्तान की नकल हैं। ये मुर्दों को इन्हीं के अहातों में दफनाते हैं। ताजिये भी इन्हीं कब्रिस्तानी मस्जिदों की मञ्जिलों की नकल हैं। सब मस्जिदें हजरत मुहम्मद की मक्का मदीना कावा स्थित कब्रगाहों की नकल हैं। इसी प्रकार सब गिरिजे हजरत ईसा की कब्रिस्तान की नकल है। मुसलमान मजारों में उर्स मनाते हैं। ईसाई कब्रों में फूलमालादि चढ़ाते है। अतः इनकी पूजा श्मशान पूजा है। महावीर जिन और गौतम बुद्ध योगी होते तो नास्तिकता के मार्ग में नहीं भटकते। हां मानवता की सेवा ने इन्हें जितनी प्रतिष्ठा दी वह कभी भी क्षुण्ण न होगी। पर इनके मन्दिरों में तो अपने कोई देवी देवता नहीं हैं, वही महावीर जिन और गौतम बुद्ध की, मानवों की मूर्तियां रहती हैं। तब इनकी उपासना वीर उपासना मात्र है, क्योंकि ये ईश्वर को सत्ता हो नहीं मानते। यदि हजरतान ईसा मुहन्मद, महावीर जिन गौतम बुद्ध योगी होते तो वे अवतार कहलाते, उनकी उपासना साकार

ईश्वर की पूजा होती। पर इनमें से कोई भी योगी नहीं है। अतः इन सबकी उपासना श्मशान की या मुर्दों की पूजा या वीर पूजा के प्रच्छन्न मार्ग के नाम से शव पूजा है।

वेदों में मूर्त प्रतीकी पूजा का विधान

हमारे पूजापाठ और कर्मकांड के स्थान न तो गिरिजा मस्जिदों के समान श्मशान भूमियां है, न शवों की प्रतिष्ठा के निधान। हमारे कर्मकांड की भूमियां यज्ञ वेदियां हैं। इन्हीं यज्ञ वेदियों या यज्ञ शालाओं का परिष्कृत और स्थायी रूप मन्दिर हैं। यज्ञ वेदियों या यज्ञ शालाओं का पारमार्थिक स्वरूप देवता के शरीर या देवता के आभ्यन्तर प्राणों के कोशों का साकार प्रतीक है अथवा यह 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या' अर्थात् आठ चक्रों नव द्वार वाली देवताओं की अयोध्या या अयोधनीय अपराजिता पुरी है। देवताओं की पुरी प्राणों की पुरी है। मुख्य प्राण आठ सात है अष्टम ब्रह्म है। सात प्राणों के मन्दिर में केन्द्रीभूत अष्टम ब्रह्म प्रधान देवता के रूप में स्थापित रहता है। मन्दिर और मूर्ति तो मात्र प्रतीक हैं, सूचक हैं। इसीलिए मन्दिर या तो सात मञ्जिल का होता है, या सिर में सात सुनहरे (प्राणमय) कलशों की चोटी वाले या दोनों सहित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्दिर प्रत्येक या अखिल ब्रह्मांड का एक साकार स्वरूप है। इन मन्दिरों में शव की नहीं शिव की प्रतिष्ठा है प्राण प्रतिष्ठा है, ब्रह्म की प्रतिष्ठा है; चाहे उस प्राण या शिव या ब्रह्म को किसी भी स्त्री या पुरुष भेद के देवो या देवता के नाम से पुकार लें कोई अन्तर नहीं। प्राण की प्रतिष्ठा देवी के (वाक् आदि के) रूप में करने की प्रथा है तो ब्रह्म की पुरुष रूप में किसी भी देवता के नाम से। कर्मकांड और पूजाओं में इन देवताओं के विभिन्न स्वरूप के प्राणों की सृष्टि और योगकाल की प्रक्रियाओं का अभिनय किया जाता है। हमारे शारीरिक प्राण तो इस सृष्टि और योग के यज्ञों को पुरोहितों की तरह करते हैं। द्रव्य यज्ञ या कर्मकांड में ब्राह्मणों को पुरोहित और आत्मा के स्थान में यजमान को प्रतिनिधि बनाया जाता है। प्राणों के देवताओं के प्रतिनिधि बाह्य जगत् के अग्नि वायु सूर्य सोम ओषधि पृथिवी पर्वत ग्रावाण नदी वृक्षों को बनाया जाता है। ये सब अभिनय के प्रतीक रूप देवता हैं, वास्तविक देवता तो इन प्रतीकों से नितान्त भिन्न आत्मा रूप ज्योति रूप आभ्यन्तर दैवी ज्योतिरूप होते हैं। कहा भी है "आत्मैव देवता सर्वे सर्वमात्मन्यवस्थितम्' (मनुः)। सनातनियों या हिन्दुओं में मन्दिर की आवश्यकता योग न जानने वाली साधारण जनता मात्र के लिए है। योगी को किसी भी ऐसे बाह्य मन्दिर की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि योगी का मन्दिर तो उसकी समाधि या अन्तर्ब्रह्माण्ड है। जहां ऐसा योगी बैठा है वही इस भूलोक का साकार साक्षात् देव मन्दिर है; योगी ही साकार भगवान् है निवास मन्दिर। क्योंकि उसकी समाधि में सभी देवता अपने अपने ज्योतिर्मय स्वरूपों में सदा उद्दीप्त या जागृत रहते हैं, या उसका अन्तर्ब्रह्माण्ड देवों के अनन्त दीपों से जाज्वल्यमान और देदीप्यमान रहता है।

योगी के इस समाधि या अन्तर्ब्रह्माण्ड रूप देवभूमि या देवताओं के नित्य निवास का अनुकरण या अनुकृतियों के रूप में हमारे यहाँ देवताओं के बाह्य मन्दिर या पार्थिव मन्दिर बनाये जाते हैं। समाधि या अन्तर्ब्रह्माण्ड या अन्तर्जगत् के मन्दिर में सप्तधाम सप्तमुख्य भाग है जो क्रम से एक दूसरे के ऊपर ऊपर के भाग में रहते हैं। इसके लिए या तो मन्दिर को सात मञ्जिल का बनाया जाता है या जहाँ सात मञ्जिल नहीं बन सकते या नहीं बनाये गये वहाँ मन्दिर के सिर में सात (स्वर्ण रञ्जित) कलशों को क्रम से एक को दूसरे के ऊपर ऊपर रखकर, शीर्षण्य कलश में त्रिशूल रखा जाता है। यह त्रिशूल सात कलशों में से प्रथम तीन अमृत भरे कलशों को त्रिपादामृत भरे बताने के निमित्त होता है, चौथे में सोमामृत जीवात्मा और अन्तिम तीनों में वे अन्य तीन मुख्य प्राण रहते हैं जो इस देह या बाह्य ब्रह्माण्ड में सभी अन्य प्राणों के द्वारा सर्वप्रथम उद्दीप्त किए जाते हैं।

इन मन्दिरों या समाधि रूप मन्दिरों में मुख्यतः उस देवता की मूर्ति या मूर्त रूप को स्थापित किया जाता है जिसकी अनुभूति भक्त या योगी अपनी ध्यानावस्था में मुख्यतः करता है। वैसे देवता या ज्ञानानुभूति की ज्योतियाँ अनन्त हैं, परन्तु मुख्यतः तीन ही देवता हैं। उन्हें क्रम से वसु (मूलधन), रुद्र (तैजस उद्दीपक biomotor force) और आदित्य (इस देह, या ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर रूप अनन्त रूप धारी भौतिका मृत) या सोम ज्योति या विष्णु ज्योति कहते हैं। इन्हीं तीनों को क्रम से रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु या प्रथम प्राण मध्यम प्राण उत्तम प्राण या उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम कहते हैं। स्त्री रूपों में इन्हीं को बाक्, आपः अदिति या इला भारती सरस्वती या पौराणिक भाषा में महाकाली महालक्ष्मी महा-सरस्वती कहते हैं। अन्य देवता—अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिशा, पञ्च प्राणों में उद्दीप्त ज्योतियों को कहते हैं। इनमें से प्रत्येक प्राधान्यतया सर्वादेवता भी कहलाता है। जिसको प्रधान मान लिया, सभी विकास उसीके अनुसार माने या कहे जाते हैं, शेष देवता उसके विभिन्न अङ्ग हो जाते हैं या कहे या मान लिए जाते हैं। देवताओं के मुख आँख कान हाथ पाँव प्रभृति की विभिन्न संख्या तत्तद्देवता के क्रमिक पादों और विकसित प्राणों की संख्या सूचित करती है। वैदिक योग सूत्र और वै० वि० द० में तत्तद्देवता शीर्षक में देखें। 'शिव-शक्ति' का प्रतीक 'लिङ्गः योनि' को बनाना वैदिक रहस्यमय भाषा का साकार उल्था करना है। बेदों में योनि या शक्ति नाम हिरण्यगर्भ के गर्भ रूप बीजप्रतिष्ठान रूप स्थान का है जिसमें अनन्त बीजों का एक प्रतीक रूप ब्रह्म सुरक्षित रहता है 'तस्य योनिं परिश्यन्ति धीरा यस्मिन्द्द तस्थुर्भुवनानि विश्वा' (शु० यजु० पु० सू०)। लिङ्ग नाम भौतिक सृष्टि के प्रथम प्रतीयमान आभास रूप चिह्न रूप सोमामृत का है इसीलिए त्रिपादामृत ब्रह्म को कठ० उप ने 'व्यापकोऽलिङ्गः एव च' कहा है। अलिङ्गः माने रूप हीन है। लिङ्ग माने रूपवान् सृष्टि भौतिकामृत है, वही रुद्र का लिङ्ग या रूप है। इस प्रकार इन मन्दिरों में योगयज्ञ का साकार अभिनय किया जाता है जिससे आत्म शुद्धि देह शुद्धि की जाती है।

इस प्रकार हमारे मन्दिरों और अन्य धर्मावलम्बियों के मठों गिरजों मस्जिदों में आकाश पाताल का अन्तर है, इनकी तुलना का अवसर या प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे मन्दिरों में योग यज्ञ की साधना की अनुकृति से ब्रह्म की साकार अनुभूति की जाती है, अन्य धर्मावलम्बी अपने कहे जाने वाले अवतारों का ध्यान कर उन्हें ईश्वर समझते रहते हैं।

बाह्य जगत् के जिन प्रतीकों को यज्ञाभिनय के लिए चुना गया है उनमें से सूर्य और चन्द्रमा दो प्रत्यक्ष प्रतीकों से हमारे जीवन का साक्षात् पैतृक-सम्बन्ध भी है। इस पृथिवी, इसके सभी सत्वों तत्त्वों वस्तुओं की उत्पत्ति दृश्यमान सूर्य से ही होती है इसको कोई समझदार और विज्ञान दृष्टि वाला मना नहीं कर सकता, और चन्द्रमा, इस पृथिवी और सूर्य दोनों का मध्यवर्ती होते हुए हमारे लिए शीतल चांदनी का आनन्दमय स्रोत है, यह पृथिवी का मनो ब्रह्माण्ड है, अतः ये दोनों किस व्यक्ति के पूज्य नहीं हो सकते, ये तो सबके बाप पिता पितामह प्रपितामह जैसे हैं। हाँ जो अपनी माँ (पृथिवी) और पिता (दृश्यमान सूर्य) का आदर नहीं करता या करना चाहता, उसको ये पितामाता अपनी सन्तान होने के नाते कुछ न करें न कहें तो क्या उनका कुछ बिगड़ जायेगा ? जो करता है उसको अवश्यमेव भावनामय आशीर्वाद किसी न किसी रूप में मिलेगा, मिलता ही होगा। यह बात सर्वसम्मत और सर्व सत्य होने पर भी इस तथ्य को न जानने वाले लोगों को, यदि इनकी पूजा आदर आदि करना खटकता ही है तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि वैदिक कर्मकाण्ड में इन दृश्यमान सूर्य चन्द्रमा नदी पर्वत वृक्षादिकों की ही पूजा का विधान है। इसी प्रकार हमारे यहाँ नाग पूजा भी प्राणों की गतिविधियों का अभिनय करती है। प्राण द्विमुख नाग है; ये मुख दैवी और आसुरी हैं इनको कुण्डलाकार कर आसुरी तेल वत्ती दीपक को दैवी अग्नि ज्योति से जलाना कुण्डलिनीयोग कहलाता है। मेरे 'वैदिक योकसूत्र' में 'प्राणाः' शीर्षक पढ़े। कहा तो जा चुका है कि ये तो अन्तर्जगत् के अन्तर्ज्योतिर्मय तत्त्वों के प्रतीक रूप में गृहीत बाह्य ब्रह्माण्डीय दृश्यमान स्वरूप हैं। इतने सार्थक और इतने तद्वत् लक्षण धर्मोंवाले प्रतीकों को चुनना भी उन वैदिक कर्मकाण्डों के प्रणेता ऋषियों की अलौकिक प्रतिभा के ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। नदी सागर पर्वत वृक्षादिकों का इस प्रकार का विवेचन इस ग्रन्थ 'वैदिक विश्वदर्शन' के 'पञ्चपर्वा विद्या' नामक अध्याय में देखने का कष्ट करें। कर्मकाण्ड के सभी प्रकार के पात्र नाटक के से पात्र, प्रतीकी पात्र होते हैं। उन पात्रों को प्रतीक बनाकर हम इस कर्मकाण्ड के नाटक से ब्रह्मानन्द सहोदर सा ब्रह्मानन्द प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ प्रतीकों की पूजा का प्रश्न ही नहीं है, प्रतीकों के द्वारा प्रतीकी मूल अन्तर्जगत् के तत्त्वों का आवाहन ध्यान जप कीर्तन पूजा पाठ आदि किया जाता है। जो इस तथ्य को ठीक तरह से समझ ले उसे इन कर्मकाण्डों में प्रगाढ श्रद्धा भक्ति उदित होगी, द्वेष द्रोह घृणा हवा में उड़ जावेंगी।

अब प्रश्न उठता है नाना प्रकार की मूर्तियों की उपासना का। मूर्तियाँ

जिस किसी भी देवी देवता असुर आदि की हों वे भी उक्त प्रकार के प्रतीक ही हैं। इतना अवश्य हैं कि भक्तों और भक्तकलाकारों ने अपनी भक्ति की पराकष्ठा दर्शाने हेतु इन मूर्तियों को भी पराकाष्ठा का ही भव्य रूप प्रस्तुत कर प्रतीक की पूजा को एक प्रकार के दिव्य दर्शन के लौकिक आनन्द का केन्द्र भी बना दिया है। ये मूर्तियों या मूर्तों के प्रतीक उसी प्रकार तत्तद् देवताओं या तत्त्वों के माने गये चिह्न हैं जैसे बीजगणित में अंको के स्थान में अक्षर और बड़ी बड़ी संख्याओं के लिए इकाई दहाई सैकड़ा हजार इत्यादि स्थानों की और पूर्ण संख्या के ज्ञान की एक लिखित चिह्नित राशि या रेखागणित में विन्दु या रेखायें, माने हुए विन्दु कोण रेखा वृत्त त्रिकोण जिनसे कठिन सा भी कठिन साध्य या प्रश्न चुटकी में हल हो जाते हैं। इस प्रकार पूजा विधान सूत्र या फार्मुला हैं जिनके द्वारा कठिन से कठिन साध्य ईश्वर की अनुभूति चुटकी में हो जाती है। वेदों में यही लिखा भी है इस वैदिक विश्वदर्शन के प्रथम अध्याय के पृष्ठ ५ में देखें। यदि यह सत्य है तो इस सत्य के सत्य रहस्यों से भरे वैदिक कर्मकाण्ड को करने में किसी भी समझदार को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, कभी भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

मूर्तियाँ पत्थर मिट्टी और लकड़ी प्रभृति की बनाई जाती हैं; जिनमें से सर्वप्राचीन प्रथा मिट्टी और लकड़ी की मूर्तियों की है। श० प० ब्रा० (६-१-४-२०) ने पञ्च प्राण रूप पञ्च पशुओं—पुरुष पशु अश्व गो अवि अजा—के प्रतीकों को मिट्टी के बनाने का आदेश दिया है। इन प्रतीकों का नाम इष्टिका, मृण्मयीष्टिका मिट्टी के पुतले बताया है जिससे अश्वमेध गोमेधादिकों में भी अश्व गो आदि के ऐसे ही मिट्टी के पुतले बनते रहे होंगे जिनके स्थान में कई मांसाहारी सचमुच में घोड़ों और गायों को मारने लगे हों, पर इस पर भी श० प० ब्राह्मण और ऐ० ब्रा० दोनों ने इनका मांस खाने को मना किया है। इस वै० वि० द० में 'अश्वमेध यज्ञ' शीर्षक देखें। लकड़ी की सर्वप्रथम मूर्ति यूप है जिसमें शुनःशेप को बांधा गया है। इस यूप को 'अष्टाश्रिः' या आठ मुख्य भागों या मूर्तियों वाला कहा गया है। यह पूर्ण दर्शन का पूर्ण चित्र देता है। इस वै० वि० द० में तत्त्व निर्णय शीर्षक में अष्टचक्रवाद देखें। अब शेष रह गई बात पत्थरों की बनी मूर्तियों की प्रथा की। वेदों में 'ग्रावाण' नाम के प्रसिद्ध देवताओं का विवेचन ऋ० वे० १०-९४ सूक्त और २-१७ सूक्तों में मिलता है। वास्तव में ग्रावाण देवता मूलतः 'दृषदुपले' या सोम घोटने के सिलवट्टे का नाम है ये प्राणोदान रूप दो अरणियां हैं जो सोम रूप प्राण की उद्दीप्ति करते हैं। अतः यहाँ पर इनको प्राणों के पर्वत रूपों में या चट्टानों के रूपों में वर्णित किया गया है (पीछे वैदिक विश्व दर्शन द्वितीय भाग अध्याय १११ पृ० ६८४ देखें)। उधर श० प० ब्रा० (६-१-२-३) ने सोमरस या विष्णुरेतो रस को रस अश्रु कहने के स्थान में अश्मन् (प्रस्तर पत्थर स्फटिकशिला सम दिव्य शरीर) नाम रहस्य वादिता की रक्षा के लिए दिया है करके स्पष्ट लिख दिया है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड और शरीर को अश्मोच्चय या चट्टानों का किला सा १०० दुर्गों का एक

महादुर्ग सा भी वर्णित किया गया है। इसी भावना को साकारता देने के लिए लोग यह दिखाने के लिए पत्थरों की भी मूर्तियाँ गढ़ने लगे कि ईश्वर इस पत्थर के किले रूप शरीर या ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। उसी ब्रह्मांड और शरीर में व्यापी ईश्वर की पूजा, की भी जा सकती है, हो भी सकती है। सृष्टि काल में ब्रह्म निराकार रहता ही नहीं, उसका निराकार रूप केवल प्रलय काल में ही माना जा सकता है जब न हम रहेंगे न आप न वे अन्य लोग, जो व्यर्थ में निराकार की उपासना के ढोंगों का यों ढिढोरा पीटते जाते हैं।

भावमय जगत्

देवताओं के सम्बन्ध में लोगों का एक बड़ा भारी भ्रम और है। वे समझते हैं कि ये देवता या तो कोरी कल्पना की वस्तुएँ हैं या प्राणियों या प्राकृतिक पदार्थों की तरह इधर उधर भटकते रहते हैं या कहीं छिपे रहते हैं। ऐसा नहीं है, मुख्य देवता तो एक ही या ईश्वर ही है। पर उसकी विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् भी विचरण करती है, एक साथ सम्मिलित होकर भी। इनमें जब जिसका प्राधान्य रहता है वह प्रमुख देवता बन जाता हैं अन्य उसके सहायक या साथी। ये सब रहते हैं हमारे अपने प्रत्येक के शरीर में और ब्रह्मांडीय शरीर में। इनका स्वरूप इस ब्राह्मांड और शरीर में भौतिक आत्माओं के रूप में सर्वव्यापी होता है। शरीर में रहते हुए भी ये सब इस अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त रहते हैं, 'और ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहते हुए भी प्रत्येक शरीर में व्याप्ति रूप से रहते हैं। इन दोनों स्थानों में ये अविभक्त होते हुए भी विभक्त रूप में और विभक्त होते हुए भी अविभक्त रूप में रहते हैं। इसीलिए भ० मनु ने लिखा भी है।

"आत्मैव देवता सर्वे सर्वमात्मन्यवस्थितम्"

कि सभी देवता आत्मा ही हैं और सभी कुछ, यह शरीर और ब्रह्माण्ड आत्मा में ही स्थित या आधारित रहता है। ये तो हैं प्रत्येक और इस ब्रह्माण्ड की दैवी शक्तियाँ, दैवी ज्योतियाँ, दैवी सम्पदायें, दैवी ज्ञानों की विभूतियाँ। पर प्रत्येक शरीर और इस अखिल ब्रह्माण्ड में उक्त आत्मा रूप देवताओं या दैवी सम्पदाओं के साथ साथ अन्य प्रतिद्वन्द्वी शक्तियाँ भी रहती हैं जिनको असुर आसुरीसम्पदा राक्षस आदि नामों से पुकारते हैं। ये दोनों एक दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। फलतः इनका नित्य संघर्ष चलता रहता है जिसे दैवासुर सङ्ग्राम कहते हैं। जब जो दल जीत जाता है उसका प्रभुत्त्व उस शरीर, या ब्रह्माण्ड शरीर में हो जाता है। देवताओं की विजय में प्राणी या ब्रह्माण्ड दैवी हो जाता है. असुरों की जीत में असुर। इन दोनों का मीठा सम्मिश्रित घोल मनुष्य जीवन हैं जिनमें से योगीजन तो स्वयं स्वयम्भू या ईश्वर ही बन जाता है जिसको अवतारी या अवतार कहते हैं। धार्मिक या सामाजिक नेता को अवतार नहीं कहा जा सकता [क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है. वह ईश्वर की अनुभूति करने या उद्दीप्ति करने में असमर्थ है, केवल समाज सुधार के लिए प्राणों को हथेली में रख कर निर्भीक होकर न्याय संगत जीवन

ही को विताता है। यह मनुष्य समाज में रहता है, देवसभा या देवसमाज में नहीं। आजकल के भटके लोग इन्हीं सामाजिक धार्मिक नेताओं को पैगम्बर या अवतार कहने में नहीं हिचकते। यही बड़ी भारी भूल है। इसी भूल के भारी भूलभुलैये में उक्त सभी लोग अपने अपने को खो बैठे हैं।]

हिन्दुओं में पितरों की तिथि के दिन श्राद्ध और तर्पण किया जाता है, ईसाई और मुसलमान उस दिन कब्र में फूल बतासे दीपक धूप वस्त्र फल आदि चढ़ाते हैं। ईसाई और मुसलमान दोनों का यह विश्वास है कि प्रलयान्त में ईश्वर आकर इन कब्रों से इन मुर्दों को फिर से जिन्दा कर उठो कहेगा और ये सब के सब एक साथ उठ खड़े होंगे। ऐसी बातों में और कब्र पूजा में ये विश्वास करेंगे पर श्राद्ध विधि की मखौल उड़ायेंगे, वाह खूब रही। श्राद्ध श्रद्धा से किया जाता है। श्रद्धा हमारे शरीर के सूक्ष्म गुणों का एक ऐसा अलौकिक घोल है जिसके आधार पर हमारा यह शरीर और आचार विचार व्यवहार आदि सुनियमित और सुनिश्चित रूप से बनते और चलते हैं। यह श्रद्धा भावमय है, हमारा शरीर भावजगत का एक ठोस पिण्ड है। उस श्रद्धामय शरीर या भावमय जगत् से हम जो कुछ भी कार्य करते हैं उसे श्राद्ध कहते हैं। श्राद्ध हमारा जीवन है, जीवन की ठोस क्रियायें श्राद्ध है, पितरों को श्रद्धाञ्जलि चढ़ाना भी श्राद्ध ही है, प्राचीन युग में सभी पितृभक्त होते रहे। अतः उनको चढ़ाई गई श्रद्धाञ्जलियों ही को श्राद्ध कहने लगे। जब यह जीवन इसी श्रद्धा के भाव जगत् से इतना ठोस रूप पा गया है, तब इससे चढ़ाई गई श्रद्धाञ्जलियां—तर्पण का पानी, पिण्डादिक. ब्राह्मण भोजनादिक—जिसको इस भाव से किया जाता है कि इनके द्वारा यह हमारे पितरों तक—सूक्ष्म श्रद्धा के शरीर रूप में परिणत हो—पहुँच जाय, अवश्य ही परिवर्तित होकर उस रूप में उसी प्रकार पहुँच जाता है जैसे दूसरों की सच्ची सद्भावनायें ठोस सद्रूप में प्रगट या प्राप्त होती हुई सभी को प्रतीत और अनुभूत होती हैं। श्रद्धा सूक्ष्मता से ठोस रूप ले सकती है तो ठोस से सूक्ष्म रूप भी, भाव जगत् ठोस हो होकर पुनः पुनः भाव जगत् में ही बदलता रहता है, सच्ची भाव शक्ति तो तुरन्त बदल जाती है। और थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि जब लोग यह हठ करें और कहें अजी ऐसा कैसे हो सकता है तो भी उक्त विधि से श्राद्ध करने वाले की यह भावना कि "मैंने पितरों को अपनी ये श्रद्धाञ्जलियाँ या तिलाञ्जलियाँ, पिण्ड धूप दीप नैवेद्य ब्राह्मणादिकों को भोजन वस्त्र दक्षिणादिक, पितरों के पास तक सूक्ष्म रूप में पहुँचने के लिए दी है" अपने भाव स्वरूप में सूक्ष्म रूप में, उक्त अञ्जलि पिण्ड धूप दीप नैवेद्य ब्रह्मभोज ब्रह्मवस्त्र दक्षिणा दानादिकों के सूक्ष्म रूप में क्यों नहीं पहुँचेगा कैसे नहीं पहुँचेगा? एक भाव दूसरे भाव तक पहुँचने में कितनी देरी लगा पायेगा ? कुछ नहीं ? इधर दिया किया, उधर प्राप्त होता जा रहा है, मात्र भावना करने की देर है, भावोदय हुआ नहीं पितरों ने तुरन्त पा लिया। यह सात्त्विक श्रद्धा का कार्य है। राजस श्रद्धा वाले यक्षों राक्षसों की पूजा करते हैं, तामसी वाले भूत प्रेत कब्रों मजारों की। इसी प्रकार यज्ञ दान तप आहार प्रभृति भी तोनों प्रकार के—सात्त्विक राजस तामस—होते हैं।

जो ऐसे सत्कर्मो का विरोध करते हैं उनका राक्षस और असुर श्रद्धा का शरीर बोलता है। क्योंकि सत्संगाभाव से उनकी दैवी भावना जागृत ही नहीं हुई। उनका सारा जीवन आसुरी जीवन है। दैवी जीवन की अमृतमयी मीठी घूंट इनके गले से नीचे कभी उतरी ही नहीं। ये विष पीते हैं, मिर्च खटाई आसव मांसादिक नामों के विषों को खाते पीते हैं; लौकिक क्षणिक सुखों में ढेर हैं; क्या जानें या समझें ये इन अलौकिक जीवन की झाकियों वाले दैवी जीवन की अमृत वरसाने वाले श्राद्ध पूजादि कार्यों का रहस्य या आनन्द ?

अन्त में मूर्त या मूर्ति की पूजा के सम्बन्ध में एक साक्षात् घटी घटना वाली कथा से इस अध्याय को विभूषित कर विषय का सर्वाङ्गीण समर्थन स्वभावतः और साकार रूप में कर दिया जाता है। चुनार (मिर्जापुर जिले) में शेरशाह के वंश में एक बादशाह इब्राहीम ने एक बार वीरबल से कहा कि तुम लोग मूर्ति की पूजा करते हो यह अच्छा नहीं, इसे छोड़कर मुसलमान बन जावो। वीरवल से इस बात को सोचने के लिए दो महीने का समय मांगा। इस बीच वीरबल ने एक बुढ़िया भिखारिन को एक नाटक करने के लिए फुसला लिया। बुढ़िया इब्राहीम की तस्वीर टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं से खींच सामने रखकर 'ए मेरे लाल इब्राहीम', 'ए मेरे लाल इब्राहीम' चिल्ला चिल्ला कर उसकी पूजा करतीः फूलमाला धूपबत्ती प्रसाद मेवे मिठाई बतासे चढ़ाती। कुछ दिनों तक बात गाँव में प्रसिद्ध हो गई, धीरे धीरे पास पड़ोस के गावों में यह चर्चा का मुख्य विषय बन गया और सभी यही कहते कि इसका इब्राहीम पर कितना गहरा मातृप्रेम है। धीरे धीरे बात राजा इब्राहीम के कानों तक पहुँच गई। वह भी देखने गया कि बात सत्य है या अफवाह मात्र ! जाकर देखा तो दंग रह गया कि बुढ़िया तन मन धन से उस इब्राहीम की सेवा में मातृ प्रेम भाव विभोर है। उसने पूछा, मां तुम किसकी पूजा कर रही हो, उत्तर मिला देख यह इब्राहीम की। उसने कहा—उसकी तस्वीर तो वैसी नहीं है जैसी तुमने खींची है। न हो, मैंने उसे जैसा देखा है वैसा ही तस्वीर मैंने खींच दी है। इब्राहीम ने कहा—माँ मैं ही तो इब्राहीम हूँ, मेरी तस्वीर ऐसी है। अच्छा आओ वेटा तुझे पूज लूं मेरा लाल है, अब तेरी तस्वीर भी वैसी ही बदल दूँगी। इब्राहीम ने पूछा माँ मैं आपकी क्या सेवा करूँ। उत्तर मिला कुछ नहीं चाहिए मातृ प्रेम चाहिए वस। राजा अपना सा मुँह लेकर लौट आया और उसका सारा प्रबन्ध सुविधापूर्ण करा दिया। उन्हीं दिनों राजा की माता का देहान्त हो पड़ा। तब तो राजा दौड़ बुढ़िया के पास गया और कहा माँ अब तो तुम्हें मेरे ही महल में बसना होगा, बात पक्की हो गई। बुढ़िया राजमाता हो गई। तब वीरबल जी ने मूछों में ताव देकर पूछा ? हजूर मूर्ति पूजा ठीक है या गलत, वह अवाक् रह गया।

वैदिक कर्मकाण्ड का रहस्य

अध्याय १३७

गणपति पूजा

अक्षुण्णातीत काल से परम्परा द्वारा प्राप्त और अब तक अविकलित रूप में सुरक्षित समस्त शुभ वैदिक कर्मकाण्डों में सबसे पहले गणपति की पूजा की जाती है। यह गणपति देवता वेदों के ब्रह्मणस्पति बृहस्पति या अङ्गिरा नामक देवता का प्रतीक है। इसका स्पष्टीकरण वैदिक ब्रह्मणस्पति देवता का मन्त्र—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमस्तमम्।
"ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः श्रृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

ऋ० वे० २-२३-१

देता है जिसको शुक्ल यजुर्वेद निम्न प्रकार के पाठ से देता है :—

गणानां त्वा गणपतिं ँ हवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपति ँ हवामहे।
निधीनां त्वा निधींपति ँ हवामहे वसो मम।
आऽहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ यजु० २३-१९

इन दोनों मन्त्रों का देवता ब्रह्मणस्पति है यह ऐ० ब्रा८ (१-२१) के उल्लेख

'गणानान्त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं'

से स्वयं स्पष्ट है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह गणपति नामक ब्रह्मणस्पति देवता किन विशिष्ट गुणों या गणों का तत्त्व या देवता है ? उक्त प्रथम मन्त्र में इसे 'ब्रह्मणां ज्येष्ठराजं' अर्थात् सब ब्रह्मों में ज्येष्ट और राजारूप राजमान रूप देवता कहा है। वैदिक विश्वदर्नन में जितने भी तत्त्व हैं वे सब ब्रह्म नाम से पुकारे जाते हैं, इन सब में यह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इस ब्रह्मणस्पति का दूसरा नाम बृहस्पति भी है यह ऋ० वे० (२-२३; २-२४) से स्पष्ट है। बृहस्पति की व्युत्पत्ति "वाग्वै बृहती तस्या-एषपतिस्तस्मादु बृहस्पतिः, एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः" (बृह० उप० १-३-३-२०, २१) है। वाक् का नाम ब्रह्म है, बृहती नाम वाक् का है। इन दोनों वाक् या बृहती का पति बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति या सीधे सीधे वाक् पति कहलाता है। इस देवता की पूरी व्याख्या इस वैदिक विश्वदर्शन के द्वितीय भाग अध्याय ४९ पृष्ठ ३९९ से ४०८ में दी जा चुकी है उसे अवश्य पढ़लें, जिससे यह विदित हो जायेगा कि यह ब्रह्मणस्पति त्रिपादामृतीय ज्योतिर्मय ज्ञानमय चैतन्यमय देवता है। ब्रह्म नाम वाक् का है जिसको 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उप०) कहते हैं; उस सत्य ज्ञान और अनन्त लक्षण धर्मिणी वाक् वा बृहती का पति या संरक्षण या मूल ज्योति—ब्रह्मणस्पति है। यही योगियों देवताओं का अग्रणी पुरोधा या पुरोहित या मुख्य प्राण है या आदि प्राण (पुरः = प्राचीन + हितं = प्राणाः वै० वि० द० अध्याय ४९ देखें) है। देवताओं में अग्रणी प्राण ज्ञान ज्योति स्रोत

और महायोगी योगकर्ता योगयज्ञ का ब्रह्मा नामक पुरोहित होने से इस ब्रह्मणस्पति का गणपति या गणेश नाम से सर्वप्रथम स्थापन और पूजन आदि किया जाता है। योगयज्ञ कर्ता मनोरूप इन्द्र को भी बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति या गणपति या गणेश या योग यज्ञ का ब्रह्मा नामक पुरोहित कहा जाता है, यह पाणि सूक्त से स्पष्ट है।

परन्तु हमारे महर्षियों ने इतने बड़े प्रमुख देवता की पूजा का प्रतीक बनाया 'गोवर' की मूर्ति या गोवर का पुतला या गोवर का ढेला या पिण्ड। आजकल के कहे जाने वाले सभ्य लोगों को गोवर छूने में ही बिजली गिरती, वज्रपात होता सा लगता है। वे इस प्रथा को असभ्यता और पिछड़ी सभ्यता का चिह्न समझते हैं। पर विधान तो पञ्चगव्य—गोमूत्र गोदुग्ध गोदधि गोघृत और गो नवनीत के घोल—को पीने और आजकल के डी० डी० टी० की तरह सर्वत्र छिड़कने का, और उस गोमय से घर मन्दिर वेदी आदि को लीपने पोतने का भी है। ये दोनों कार्य शुद्धि के लिए—आत्म शुद्धि स्थान शुद्धि, देह शुद्धि और गृह शुद्धि में—परम आवश्यक हैं। पर आजकल इनको करने में कई श्रद्धालु भी नाक भौं सिकोड़ते दीखते हैं, पर करते हैं घसीट कर। यद्यपि गोमूत्रादि सेवन सिञ्चन का समर्थन, आजकल पेशाब से, मैले से संशोधक ओषधियाँ बनाकर उनसे जलादि की शुद्धि करने से तो हो सकता है और इसके बाह्याचरण में यह फल भी अनायास, विना अधिक प्रयास और विना किसी व्यय के सरलता से सभी को सुलभ है और हो सकता है। परन्तु प्राचीन ऋषियों की दूर दिगन्त व्यापिनी दृष्टि ने केवल उक्त अनिवार्य और सर्वसुलभ शुद्धि प्राप्ति मात्र के हेतु इन विधानों को नहीं चुना। इनमें कुछ अन्य अति गम्भीर और अलौकिक रहस्य भी भरे पड़े हैं।

गणेश या गणपति की मूर्ति के लिए गोमय या गोवर का एक समत्रिकोणी पिण्ड स्थापित करना (सबको साक्षात् रूप में यह सीख देते हुए भी कि एक क्षुद्र सी वस्तु सर्वज्येष्ठ देवता की मूर्ति का आधार हो सकती है, सर्वश्रेष्ठ है और जिसको मानो वह श्रेष्ठ हैं) गोमय गोवर शब्द के वैदिक काल में प्रचलित रहस्य का संकेत करने के लिए विहित किया गया था। गो शब्द का अर्थ आदित्य और किरण होता है। गोमय मूर्ति के माने किरणों की आदित्य स्वरूपी ज्योतिःपुञ्ज की मूर्ति होता है। ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति या गणपति तो देवता है। सभी देवता देवनशील दीप्ति शील दीप्ति रूपी आत्मायें हैं। अतः इनकी मूर्ति को ज्योतिः पुञ्जमयी बताने मात्र के लिए 'गोमय' शब्द और संशोधक, गोवर गोमूत्र को प्रतीक रूप में, उभयत्र सार्थकतया, गृहीत किया गया था जिसको आज हम सबने भली-भाँति भुलाकर अपने पूर्वजों की प्रचारित अलौकिक प्रथाओं को हास्य घृणा और दया का पात्र बना डाला है। खेद।

इस प्रधान देवता को गणपति, निधिपति, प्रियपति और कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि नाम से क्यों पुकारा जाता है? यह अवश्यमेव ज्ञातव्य विषय है। इसमें गण तो मरुतों के हैं, सात गण हैं, प्रत्येक में सात-सात हैं, कुल ४९ हैं। योग में इन्द्री

का नाम अङ्गिरस है। क्योंकि इनको, भौतिक प्राण रूप अङ्गों को निचोड़ कर रसमय दीप्ति रूप में उद्दीप्त किया जाता है। ये गण मौलिक प्राणों के हैं। उनका यह मुख्याधिष्ठाता देवता है। इन गणों की दैवी ज्योतियाँ ही इसकी गणनानुसार निधियाँ हैं, इन निधियों का पालक रक्षक भी यही देव है। प्रिय वस्तु प्राण है, प्राण को छोड़ कोई अन्य वस्तु अधिक प्रिय हो ही नहीं सकती 'प्राणो हि प्रियः' (बृह० उप०)। इन मरुतादि आदि प्राणों का पालक और संरक्षक भी यही गणपति नामक ब्रह्मणस्पति देवता है। कवि नाम योगी का है, यह योगियों में सर्वश्रेष्ठ योगी प्राण है। इसकी इच्छा के बिना कोई योग करने के लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। सृष्टि काल में यह उक्त गणों के नाना योगों संयोगों से नानाविध सृष्टि करता है तो योग काल में उक्त नानाविध सृष्टि से अङ्ग नामक प्राणों से रस ज्योति निचोड़ कर अङ्गिरा नामक सप्तर्षियों या मौलिक मरुतों को अपने आदि रूप में प्रस्तुत करता है। अतः सर्वश्रेष्ठ कवि या योगी है। इसी कारण यह वक्पति या वाचस्पति या विद्यापति होने से अक्षर स्वीकार और विद्यारम्भ संस्कारों में इस देवता का आह्वान 'ॐ नमः सिद्धं' सम्बोधन से कहते हैं। लोग 'ॐ नमः सिद्धं' का अर्थ न जानने के कारण इस वाक्य को बौद्धों का मन्त्र समझते हैं। बौद्धों ने तो सभी विषयों का सनातनी वेद विद्या से लेकर उन्हें बौद्धों का चोगा मात्र पहना दिया है। सिद्ध नाम महायोगी का है। ब्रह्मणस्पति या वाचस्पति ही सर्वादि सिद्ध या योगी है। मनुष्य सिद्धों में कपिल मुनि का नाम सबसे पहले आता है 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता १०)। बौद्ध लोग गौतम बुद्ध को भी योगी मान कर ही इस मन्त्र से उनका आह्वान करते हैं तो यह कोई नई बात नहीं है उनकी यह हमसे उधार ली हुई प्रथा है।

आजकल इस देवता का प्रसिद्ध नाम गणेश या श्रीगणेश हो गया है। यह इतना प्रचलित हो गया है कि इनका नाम किसी कार्य को 'प्रारम्भ करने' के अर्थ में मुहावरा बन गया है। लोग कहते हैं 'इस कार्य का 'श्रीगणेश' करना है या हो गया है या होगा'। पूजाओं में जो पूजा का आरम्भ इन्हीं की पूजा से होता है उसमें उक्त मुहावरे का अर्थ भी छिपा हुआ जानना या समझना आवश्यक है। क्योंकि यह देवता ही दोनों प्रकार की सृष्टियों—आध्यात्मिक और भौतिक का विकास सबसे प्रथम प्रारम्भ करता है, यह भी दोनों ही स्थितियों में, सृष्टि और योग दोनों अवसरों पर।

पुराणों में इस ब्रह्मणस्पति या श्रीगणेश को रुद्र और पार्वती का पुत्र बतलाया है। तब लोग प्रायः प्रश्न करते सुनाई पड़ते हैं कि जिस समय रुद्र पार्वती का विवाह हुआ था उस समय उन्होंने किस गणेश की सर्वप्रथम पूजा की थी? इस समस्या का विश्लेषण सृष्टि और योग दो पक्षों के अनुसार पृथक् पृथक् है। सर्वादि तत्त्व तो 'अग्निर्देवता' है जो प्राणों के शरीर रूप आपोमय सागर में 'वाडवानल' या 'प्राणाश्वाग्नि' रूप में व्याप्त रहता है। यह सर्व प्रलयावस्था है। इस स्थिति से अग्नि रूप में अपरिवर्तित या मुक्तिहीन तत्त्व जब उस प्राणसागर से बृंहण करना या सृष्टिविकास करना प्रारम्भ करता है तब यही अग्निर्देवता इस बृंहणात्मक क्रिया से

ब्रह्म या ब्रह्मणस्पति या गणपति कहलाने लगता है। इस अग्नि का नाम रुद्र है 'अग्निर्वै रुद्रः' (श० प० ब्रा०)। इसका आपोदेवीमय प्राण सागर शरीर विभिन्न (सप्त) प्राणों के पर्वों या पर्वतों वाला होने से पर्विणी या पार्वती कहलाती है। इन्हीं दो के संयोग से इस ब्रह्मणस्पति नामक 'ज्येष्टराज' 'ज्येष्ठ देवता' का जन्म होता है। अतः इसे रुद्र या शिव (चेतना) और पार्वती (प्राण पर्वों) का पुत्र या विकास कहा गया है।

योग पक्ष में रुद्र, योगी की आत्मा है, योगी यजमान है। इस शरीर के प्राणों का ऐक्य पार्वती या प्राणों का महा पर्व या महापर्वत है। इन दोनों की साधना से पुनः इस ब्रह्मणस्पति रूप अग्निदेवता की उद्दीप्ति सर्वप्रथम की जाती है जिसके उद्दीप्त हो जाने पर, पुनः अन्य देवता भी उद्दीप्त होने लगते हैं। योग से उद्दीप्त इस अग्नि ज्योति का 'पुत्र' सुत प्रजा इत्यादि नामों से वेदों में पुकारा गया है। अतः इस ब्रह्मणस्पति को योगी रुद्रात्मा और प्राण रूप देह वाली पार्वती का प्रथम पुत्र कहा जाता है। यहाँ का रुद्र पार्वती विवाह सृष्टि कालीन ही है, नया नही, वही विवाह नित्य है, नित्य अभिन्न और साथ है। इस रुद्र पार्वती का विवाह तो नित्य सिद्ध है। प्रलय में भी नित्य सिद्ध है। न इसकी बारात जाती है न आती है। अग्नि और ज्योति (पार्वती) नित्य अभिन्न सहचर हैं। पुराणों ने ये सब बातें वर्णना सौन्दर्य और साहित्यिक आकर्षण के लिए लिख दी हैं। इन्हें झोल समझें, रहस्यों का खोल समझें। इनके विना रहस्य रहस्य ही नहीं रह जाता, नंगा हो जाता। ये आकर्षक और सार्थक झोल और खोल हैं। जब इन दोनों का कभी विवाह ही नहीं हुआ तो गणेश की पूजा का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है ?

पर प्रश्न तो है इनके आजकल प्रसिद्ध स्वरूप का। इनको वर्तमान पूजा विधानों में हस्तिमुख और मूषक वाहन रूप में स्थापित किया या गोवर के थोप से पूजने में तदाकार प्रकार में वर्णित किया जाता है। इनका हस्तिमुखी मानव शरीर अनेकान्य तदनुरूप देवता प्रतीकों का स्मरण दिलाता है जैसे अश्विनी, अश्वतरीमुख, हयग्रीव, नृसिंह, गोकर्ण इत्यादि। इन्हीं के समानान्तर स्वरूप हैं हनूमान (वृषाकपि) गुहराज ऋक्ष प्रभृति। दो के जोड़े वाले शरीरों को द्यावापृथिवी के या रोदसी के एकत्र सम्मिलित स्वरूप को दर्शाने के लिए प्रतीक रूप में गृहीत किया गया है। इनका शिर तो द्यावा है धड़ पृथिवी। दोनों मिलकर अखिल ब्रह्माण्ड या पूर्ण देह का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से हस्तिमुख, अश्वमुख, अश्वतरीमुख, सिंहमुख अजमुखदक्ष गोमुख सभी पूर्वार्द्ध या द्यावा के प्रतीक हैं तो नर का धड़, नर नामक पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट, नव, या दश प्राणों नवग्वा दशग्वा अङ्गिरस ऋषि रूप प्रणों का मनुष्य रूप में (उक्त सिर या शीर्षण्य प्राणरहित) सूचक। इनके सिर भाग को पंच पशुओं के रूपों में वर्णित करने में दो मुख्य रहस्य निहित हैं। यह भाग द्यावा रूप ब्रह्म के मूल स्वरूप अमृतमय प्राण स्वरूप का प्रतीक है। इसका न रूप है न आकार या प्रकार, यह अरूप अशरीर है, मात्र अमृतमय प्राण रूप है। अतः इसकी मात्र अनुभूति की जा सकती है। इस शरीर की देहधारी इन्द्रियों से इसका दर्शन

नहीं हो सकता। इसीलिए इसका प्रतीक 'पशु' बनाया है। 'पशु' प्रतीक का अर्थ है जिसकी मात्र अनुभूति की जा सकती है 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (श० प० ब्रा० ६-१) जिनकी मात्र अनुभूति की गई (अपश्यत्=आभ्यान्तर आत्मा से देखा अनुभूत किया) उसी को पशु कहने लगे। यह अनुभूति जिस स्वरूप में अनुभूत हुई तदनुरूप पशु के समान उसका वर्णन वेदों में किया गया। मुख्यतः पाँच प्रकार के पशुओं के रूप में उसकी अतुभूति की गई—'पुरुषपशु, अश्व गो अवि और अजा'(तथा उष्ट्र रासभ)। इसी अनुभूति का चित्र 'देवाः (योगिनः) यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्' (ऋ० वे० १०-९०-१६, सब वेदों में प्राप्त) ने स्पष्ट रूप में दे भी रखा है। अतः यहाँ पर हमारा यह 'हस्तिमुख गणपति' पुरुषपशु का प्रतीक है। इस हस्ति की कथा श० प० ब्रा० ने भी दी है जिसका सोद्धरण विश्लेषणात्मक विवेचन मेरे वैदिक योग सूत्र में पुरुष सूक्त की व्याख्या के 'पुरुषः' शीर्षक में विस्तार से दिया गया है, इस वै०वि०द०में पीछे पशुवाद को भी देखें। छन्दों को भी पशुओं के रूपों में अनुभूत किया जाता है। बृहती नामक वाणी के पति बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति को बृहती नामक स्थूलकायिनी नाम से न कह कर हस्तिनी कह दिया (स्थूलाकायिनी के कारण) तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। हस्तिमुख नाम पुराणकारों का चुना हुआ है जिसका उक्त दो भावनाओं को छोड़ एक तीसरा वैज्ञानिक स्रोत भी है। पुराणों ने लिखा तो है कि गणपति शिर हीन ही जन्मा था या उसका सिर गायब हो गया था। इसका स्पष्ट और सोधा आशय (श० प० ब्रा० और ऋ० वे० के इसको मार्ताण्ड या मृताण्ड कहने तथा इसके सिर धड़ दोनों बराबर बताने और उनको कुतरने से जो मांस निकला-मन्थन द्वारा जो प्राण रूप ज्योति निकली उसका नाम हस्ति रखा गया कहने तथा उसीको इसमें यहाँ जोड़े जाने में यह आशय है कि प्रथम भौतिकामृत शरीर का जन्म प्राण हीन निर्जीव शव रूप में धड़ रूप में हुआ था, उसमें बृहती छन्दो रूप द्यावा की हस्तिनी या सर्वव्यापिनी आत्मा का सिर लगा दिया तो वह सजीव सप्राण सामृत सचेत सानन्द ज्योतिर्मय शिवस्वरूप हो गया। यह तो इस प्रकार की विचारधारा का मूलस्रोती सृष्टि पक्षीय व्याख्यान है। योग पक्ष में हमारे शरीर रूप दैवी ज्ञान चेतना हीन मार्तण्ड को मथकर कुतर कुतर कर उसमें हस्ति रूप दैवी ज्योतिर्मय चैतन्यता का सिर लगाया जाता है।

प्रश्न फिर भी रह ही जाता है कि आखिर इन्हीं पशुओं की सी ही अनुभूति किस प्रकार हुई, अन्य पशुओं की सी क्यों नहीं। इसका भी अनुपम और अकाट्य प्रमाण है। इस ब्रह्माण्ड या शरीर को दैवी प्राण की नाना विध-व्यापिका शक्ति उसी प्रकार सतत क्रिया चेतना संज्ञा प्रकाशमय बनाकर आगे खींचती जाती है जैसे रथ को हाथी अश्व वृषभ (रूसमें, कुत्ते) आदि खींचते हैं। लिखा भी है—

"मर्त्यं वा इदं शरीर मात्तं मृत्युना—
अशरीरं सन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशत।
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि।
आकाशात्समुत्थाय स्वेन ज्योतिषाऽभिनिष्पद्यन्ते।

स उत्तमः पुरुषः।
नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य (अश्वः वृषभः)
आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिच्छरीरे प्राणो युक्तः॥"
(छा० उप० ८-११)

इसका यह तात्पर्य हुआ कि योगी ऋषि गण उस परब्रह्म रूप प्राण को हस्ति अश्व गो अवि अजा उष्ट्र रासभ के विभिन्न कर्मानुकूल अनुभूत करने से इन्हीं नामों से संकेत रूप में या प्रतीक रूप में पुकारते रहे। यह रहस्यवादी या परोक्षवादी या परोक्षकामा पद्धति है। यह इस गणपति नामक ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति या वाक्पति या देवताओं में सर्वाग्रणी देवता के हस्तिमुख की संक्षिप्त कथा हैं। पुरुष पशु के हस्ति स्वरूप की व्याख्या श० प० ब्रा० ने (३-१-३-१) में लिखा कि इसके सिर धड़ बराबर थे, उनको कुतर कर जो मांस निकला वह हस्ती बना। वह हस्ती दिशाओं का सूचक है। दिशाओं में ही दशदिग्गज रहते हैं। यह पुरुष पशु की असीमता का सूचक शब्द है। यह ब्रह्माण्ड व्यापी ब्रह्मणस्पति ही हस्तिमुख कहलाता है। हस्तिमुख माने जिसकी सीमा का, दिशा का, कहीं अन्त नहीं या जो दिगन्तव्यापी है वही हस्तिमुख है। अर्थात् जैसे हस्ती पशुओं में सर्वविशाल है वैसे ही देवताओं में यह सबसे अधिक महतोमयीयान् है सर्वव्यापी ज्ञान बुद्धिमय होने से विनायक विघ्न हर्ता या सद्बुद्धिदाता सन्मार्गों का नेता है।

हस्तिमुख में एक सूंड़ होती है, पर व्याख्या में इसकी चर्चा नहीं के बराबर आई है। इस सूंड़ को सृष्टि वृक्ष मूलक इस ब्रस्तणस्पति या गणपति के 'अज एक पात्' स्वरूप के सृष्टि वृक्ष के 'एक पात्' का प्रतीक समझना उचित होगा (पीछे वै० वि० द० में 'अजएकपात्' देखें)। यद्यपि लोक में प्रत्येक हाथी के चार दाँत होते हैं दो बड़े दो छोटे जिन्हें लोग, 'खाने के और दिखाने के और' कहते हैं, परन्तु इस हस्तिमुख के गणेश का तो केवल एक ही दाँत है (अन्य तीनों गायब)। लिखा भी है "एकदन्तं शूर्प कर्णं" या "सुमुखश्चैकदन्तश्च"। दन्त अस्थि का होता है। अस्थि तेजः का स्थविष्ठ (स्थूलतम) रूप है, जिस (तेजः) का मध्यम रूप मज्जा और अणिष्ठ रूप वाक् है। अतः एक दन्त माने एक वाङ्मय या सत्यवाङ्मय और तेजोमय शरीरी गणपति है। दन्त का स्थान मुख या वाक् का उच्चारणीय स्थान है भी। दो दन्त या ३२ दन्त इसीलिए भी नहीं गिनाये कि उनसे ऐक्य एकता या सत्य सत्यता में विकार आने की सम्भावना निहित है। इस गणपति की पूजा में पूजा की प्रधान वस्तु दूर्वाङ्कुर (पूजा) और दशमोदक दान हैं। दूर्वाङ्कुर पूजा इस गणपति ब्रह्मणस्पति से

"काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ति परुषः परुषस्परि।
एवानो दूर्वा प्र तनु सहस्रेण शतेन च॥"

यजुः के मन्त्र के अनुसार काण्ड-काण्ड से शतधा सहस्रधा सृष्टि वृक्ष का विकास होना सूचित करते हुए हम योगी यजमानों का भी तथैव विकास करने की

प्रार्थना अभीष्ट है जिसकी सिद्धि के लिए दश मोदक रूप दश प्राणों की हविः मीठी या अमृतमय सोममय हविः, प्रदान कर योग सृष्टि का भी पूर्ण अभिनय किया जाता है। अन्त में गणपति के हस्तिमुख या शुण्डाकर मुख का वास्तविक रहस्य दे दिया जाता है। यह योग पूजा और यज्ञादिकों का देवता है। योगादिक समाधि या मस्तिष्क से होते हैं। मस्तिष्क में इस देवता का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रवाही स्नायुकोष (moxor nerve cells) ठीक हमारे कपाल के सिर में शुण्डाकार होते हैं जिनसे लम्बे-लम्बे केशों जैसे नाडी तन्तु सुषुम्ना के द्वारा सारे शरीर में फैले रहते हैं। इसी कारण इस देवता को एकदन्त या शुण्डाकार मुख का घोषित किया है। ऐसे प्रवाही स्नायुकोश अनन्त हैं, अतः इसे गणपति कहते हैं। यह सर्वत्र प्राण संचार करता है ज्ञान प्रवाह देता है। अतः विद्या का गति का और जीवन का मुख्य देवता है और सर्वादि में पूजा जाता है और इसे विनायक नाम प्रतिक्षेप गतिदान देने से पड़ा है। जिन लेखकों को यह भी विदित नहीं है कि वैदिक देवता क्या हैं कौन हैं ? वे कहते हैं कि इस गणपति पूजा का प्रचार गौतम बुद्ध के समय के बाद हुआ। यह उनका महान् भ्रम है। विघ्नहर्ता विनायक नाम से इस गणपति की पूजा सद्बुद्धि सद्ज्ञान रूपी गणपति की पूजा है। यह नई बात नहीं है।

फिर भी कुछ पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय (अनार्यवंशी) यह कहते हैं कि आर्यों ने देवी रुद्र और गणपति की पूजा भारतीय आदिवासी जंगली जातियों की नकल करके अपनाई। यदि वेदों में वर्णित असुर येही अनार्य जातियाँ ही रहीं तो इनको वेदों में 'अदेवयू' या देवता हीन बताया गया है। जिनके पास कोई देवता ही नहीं रहा उनकी इस सम्बन्ध में नकल करना स्वयं असम्भव है। हुआ इसका उलटा है। कुछ आदिवासियों ही ने आर्यों की पशुबलि का अनुकरण अज्ञान से किया। इस विषय पर मैंने अपने ग्रन्थ 'सांख्ययोग का जीर्णोद्धार' नामक के १८ वें अध्याय में विस्तार पूर्वक विचार कर रखा है, देखलें। निर्णय यह निकलता है कि देवताओं के उपासक मात्र आर्य थे।

प्रत्येक कर्मकाण्ड में सर्व प्रथम कार्य प्रधान दीप स्थापना है। यह दीप इस अखिल ब्रह्माण्ड के आदि तत्त्व 'अग्निर्देवता' का मुख्य प्रतीक है। यह पुरोहित रूप आदि देव रूप ब्रह्मणस्पति बृहस्पति रूप गणपति देवता की ही आदि भूता ज्ञानमयी प्रकाशमयी अमृतमयी ज्योति है ! इसके साथ कर्मकाण्ड का दीपक पृथक् ज्योति रूप में स्थापित किया जाता है, वह योगी या यजमान की उद्दीप्त ज्ञान ज्योति का प्रतीक होता है। ये दोनों ज्वालायें अखिल ब्रह्माण्ड और अखिलाभ्यन्तर्जगत् में—

प्रधान दीप

"जले ज्वाला स्थले ज्वाला ज्वाला चाकाशमण्डले।
सर्वत्र व्यापिनी ज्वाला दीप ज्वाला नमोऽस्तुते ॥"

मन्त्रानुरूप अर्थ में सिद्ध योगियों के समान सर्वत्र व्यापिनी हैं। इनके प्रकाश और आकाश के बिना कोई कार्य किया ही नहीं जा सकता। दीपक तैल या घृत और वर्तिका तथा दियड़े का ही होना इसलिए आवश्यक है कि घृत या तैल से भी

शरीर रूप दियड़े में आत्मा रूप वर्तिका और सोम रूप अमृत से त्रिपादामृतीय ज्योति उद्दीप्त करने की वैदिक परिभाषिक पदावली का पूर्णतः अनुसरण और अनुगम हो सकता है, अन्यथा नहीं।

पञ्चामृतस्नान–पञ्चामृत पाँच अमृतों का मिश्रित घोल है। इसमें दूध दही घी मधु और शर्करा ये पाँच वस्तुएं मिलती हैं। छा०उप०ने इन पाँच अमृतों का वर्णन अग्नि ऋग्वेद, वायुः यजुः, आदित्य साम, भौतिकामृत अथर्वाङ्गिरस अथर्व इतिहास पुराण, गुह्या आदेशाः यशस्तेजो रसः सोमः नामों से और क्रम से लोहित शुक्लकृष्ण, कृष्ण अमृतरस के वर्णीय नामों से देकर कहा है कि इनको क्रम से वसु, रुद्र, आदित्य मरुतः और साध्या देवा पीते हैं। अर्थात् अग्नि वायु, आदित्य, सोम, रहस्य को शुक्लादि वर्णानुभूति से प्राप्त करते हैं। इन्हीं को क्रम से पय आहुति, आज्याहुति सोमाहुति मेदाहुति और मध्वाहुति भी कहते हैं। क्रिया पक्ष में इस शरीर या ब्रह्माण्ड में योग द्वारा वसु रुद्र आदित्य मरुत और साध्या देवा नामक देवताओं की अनुभूति प्राप्त कर उनकी अमृतमयी ज्योति सागर में स्नान करना पञ्चामृत स्नान है जिसका अभिनय कर्मकाण्डों में दूध दही इत्यादि से अमृतरूपी ही द्रव्यों से किया जाता है। जिन मन्त्रों से दूध दही घी शक्कर मधु और जल डाला जाता है वे क्रमशः आपः, दधिक्रा नामक अश्व द्यावापृथिवी, सोम अग्नि और आपः के हैं। इनमें पयः दधि घृतं, आपः (केवल शर्करा के लिए कोई शब्द नहीं) जो शब्द हैं वे इन दूध दही प्रभृति के संकेत मात्र करने के प्रतीक रखे गए हैं। मन्त्र तो आभ्यन्तर पंचामृतों का वर्णन देते हैं बाह्य यज्ञ बाह्य पंचमृतों के मात्र इन संकेत वाले मन्त्रों से। (ग्रह याग विधान में आगे देखिये)। पर जो मन्त्र दूध दही घृत मधु शर्करा डालने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं उनका अर्थ इन वस्तुओं से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रखता।

पञ्चामृत स्नान के पश्चात् शुद्धोदक या गंगाजल से स्नान कराना – गायत्री ब्रह्म की विकासधारा की अनुभूति कराना है, क्योंकि गंगा की व्युत्पत्ति 'गच्छन्ती गायतीति' गंगा है। गच्छन्ती माने विकास परम्परा में आगे बढ़ती हुई है। यह २४ अक्षर रूप २४ तत्त्वों या देवों का विकास या उद्दीप्ति करती है (पीछे वै० वि० द० में गायत्री ब्रह्म देखें)। इस पृथिवी शरीर में यही गंगा नदी सुषुम्ना है इसका जल सबसे अधिक शुद्ध है और इस ब्रह्माण्ड में आकाश गंगा भौतिक आकाश गंगा है। यज्ञोपवीत भी इसी गायत्री का प्रतीक है, अतः वह भी चढ़ाया जाता है।

श्रीखण्ड चन्दन शुक्लवर्ण का, रोरी रक्तवर्ण का, नैवेद्य धूप का कृष्ण वर्ण का, क्रम से आपोमयः प्राणः, तेजोवतीवाक् और अन्नमयंमनः के व्यापक ब्राह्माण्डों का प्रतीक है जो प्रत्येक देवता में जन्मसिद्ध रूप से रहते हैं।

गन्धाक्षत नैवेद्य धूप और पुष्प

पुष्प प्राण रूप कलियों का खिलना या सुमनस् या देवरूपों में दीप्ति रूपों में प्रफुल्ल होकर योगी का रत्नधातम स्वरूप धारण करने का प्रतीक है। अतः पुष्प माला देवरत्नमाला धारण करने या कराने के निमित्त उस प्रतीकी गणपति में चढ़ाई जाती है जिसकी अनुभूति योगी यजमान या पुरोहित आचार्य योगी योगावस्था में उक्त रूप में करता है। धूप

दीप नैवेद्यों में से दीप और नैवेद्य का वर्णन हो चुका है। ये दोनों अन्तर्ज्योति और प्राणाहुति के प्रतीक हैं, परन्तु इनसे पहले जब योगाग्नि धूमायित होती है उस अवस्था का नाम 'रुद्र' है या रुद्राग्नि है। रुद्राग्नि की उद्दीप्ति की सूचना धूप से दी जाती है और दीप से पूर्णदीप्त देवता की। इसी का अभिनय इस धूप से किया जाता है। चार पाँच बत्तियों या सहस्र वत्तियों की आरती क्रम से चारों पाचों प्राणों की उद्दीप्ति और सहस्रकिरण सोमोद्दीप्ति सूचक है।

दान चार प्रकार के गिनाये गये हैं 'चतस्रो वै दक्षिणा हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः' (श० प० ब्रा० ४-३-१-१) गोदान अश्वदान वस्त्रदान और सुवर्ण दान। प्रथम दो पर पश्चात् लिखा जावेगा। यहाँ वस्त्र और भेट (सुवर्ण) दान का अवसर आया है। इन चारों को दक्षिणा नाम दिया है। ये पुरस्कार रूप में दी जाती है, अतः दान कहलाते हैं। पुरस्कार उसी योगी यजमान को मिलता है, कर्मकाण्ड में कर्म निदेशक पुरोहित को। इनको दक्षिणा नाम इसलिए दिया गया है कि ये सब दक्षिणायन के तत्त्व हैं। योग के दक्षिणायन में किरण रूप (गौ) प्राण रूप (अश्व) प्राणों के शरीर रूप आपः (वस्त्र) और इन प्राणों के गर्भ अदिति मनोरूप, ज्ञान ज्योति रूप हिरण्य या हिरण्यगर्भ रूप मध्यम प्राण की साकार अनुभूति योगक्रिया के परिणाम या पुरस्कार रूप में योगी यजमान को मिलते हैं। उन्हीं का अभिनय इन प्राकृतेय प्रतीकों-गाय घोड़ा कपड़ा और सोना या पैसों-से किया जाता है। इसका विवेचन भी उद्धरणों सहित पीछे वै० वि० द० तथा वैदिक योगसूत्र पृष्ठ १६७-१६८ में किया जा चुका है, पढ़ लेना उचित होगा। प्राणों का वस्त्र, आपः या वैद्युतीय तरंगसागर है, जिसकी लहरों के तानों बानों से अप्सरा रूप आपोदेवियां ही इन प्राण रूप प्रजा या सन्तानों के लिए वस्त्र बुनती हैं। हिरण्य (ज्योति की) प्राप्ति ज्ञानानुभूति की प्राप्ति है। इन्ही के लिए इनका अभिनय किया जाता है।

दक्षिणा दान

ऐसे सर्वश्रेष्ठ देवता का वाहन भी क्या विचित्र चुना गया है! चूहा! साधारणतया यह हास्योत्पादक सा लगता है। अखिल ब्रह्माण्ड स्वरूप देवता का वाहन यह मूषक या चूहा! यह कैसे सम्भव हो सकता है? भक्त लोग इस पर मुंह नहीं खोलते, इसलिए कि कौन जाने इस चुनाव में कौन सा रहस्य भरा हो? पर सभी शंका कर सकते हैं कि मूषक जैसा क्षुद्र जीव इस हस्तिमुख लम्बोदर को कैसे ढो सकता होगा? सवारी ही कैसे करता होगा? वेदों में विशेष कर यजुः में रुद्र और ऋतुओं के पशु को 'आखुः' (चूहा) नाम से पुकारा है (यजु ३-५७, २४-३८)। ब्राह्मणस्पति रूप गणपति का वाहन मूषक को मानना पौराणिक रूपान्तरी कथा की देन है। वेदों में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध, दर्शन के दोनों भागों का नाम 'ब्रीहियवौ' है। इनकी प्राप्ति, यज्ञनामक अजपशु के लुप्त हो जाने पर खोदते या खनते हुए की गई (श० प० ब्रा० १-२-१७)। यज्ञ के पूर्वार्द्ध परार्द्ध को खनने से ब्रीहियवौ नामक 'अन्न' की अदिति की अन्नमयं मनः की प्राप्ति हुई। इस खनन क्रिया को करके अन्न लाने वाला मूषक

मूषक वाहन

का सा कार्य करता है। यह अन्न के बीजों को सर्वप्रथम लाता है। ब्राह्मणस्पति या गणपति रूप यज्ञ को इस योगमयी खनन या खोदने की क्रिया के द्वारा 'अन्नमयं मनः' या ज्ञानज्योतिर्मयं ब्रह्म के रूप में अनुभूत किया गया। यह 'अन्नभयं मनः' अखिल ब्रह्माण्ड के अनन्त बीजों का एक बीज रूप मनो ब्रह्माण्ड है जिसको सभी शरीरों में एक पृथक् अंग या मुष्कों (दो अण्डकोषों) या दो मुष्कों में सुरक्षित रखा जाता है। इन्ही अखिल शरीर या ब्राह्माण्ड के बीज या वीर्य को, चूहों की तरह विभिन्न अङ्गों के रसों को खोद खोद कर या खोज खोज कर लाने वाले, इन मुष्कों को ही "परोक्षेण परोक्षकामा ही देवाः" के रहस्य वादी ढंग से 'मूषकौ' कह दिया है, शब्द वास्तव में 'मुष्कौ' ही है। प्रत्येक शरीर इस अखिल ब्रह्माण्ड का एक नमूना है। जिस प्रकार प्रत्येक शरीर में बीजों या वीर्य का भण्डार दो मुष्क या अण्डकोश होते हैं वैसे इस गणपति नामक ब्रह्मणस्पति के पास भी इस अखिल ब्रह्माण्ड के बीजों या वीर्यों या सोमीयरसमय ज्योतियों के दो प्रधान मुष्क या मूषक या उत्स या भण्डार या परमपद रूप गोलोक पूर्वार्द्ध और परार्द्ध नामक दो रूपों (आध्यात्मिक और अमृत-भौतिक रूपों) के हैं, ये वाहन क्या हैं तादात्म्य से वैसे चिपके वाहन हैं जैसे हमारे पांव। ये ज्योतिर्मय बीज या वीर्य के वाहक (धारक) वाहन हैं, सवारी के नहीं, ज्योतिर्वाहकवाहन हैं। वास्तव में इनको मूषक स्वरूप में ग्रहण करने का कारण, पूर्वोक्त प्रवाही स्नायुकोषों के शुण्डाकार स्वरूप ही हैं जो अपने लम्बे केशों की पूछों से हमारे शारीरिक ब्रह्माण्ड की यात्रा करते हैं।

यह ब्रह्माण्ड एक अनोखे शरीर का है। इसमें अनेकों तत्त्व एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। प्रत्येक तत्त्व अपने को दूसरे से हृष्ट पुष्ट करता रहता है।

लम्बोदरः

इसकी सततक्रियाशीलता प्रत्येक तत्त्व का दूसरे दूसरे को निगलना उगलना नव नव रूपों को दे देकर पुनः पुनः उसी प्रकार निरन्तर 'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' की घोषणा करते रहना है। 'जीवो जीवस्य भक्षणं' 'तत्त्वं तत्त्वस्य भक्षणं' का नाटक इसे सदा सर्वत्र कसाई खाना सा सूना गृह सा सिद्ध करता रहता है। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वह सब उक्त गणपति के भौतिक शरीर रूप उदर में लम्बोदर में सुरक्षित निहित जीवित क्रियाशील होकर कर्ममय रूप में ही रहता है। पर यह तो देवता है। इसे मोदक प्रिय है। ये मोदक दैवी सम्पदा के मधु से ओत प्रोत हैं। जो ऐसे दैवी सम्पदा के कर्मों वाले मधुमय कर्मों के फलों को इस लम्बोदर को चढ़ाता अर्पित करता है उसे उसके प्रसाद रूप में वैसी दैवी ज्योति के अमृतमय ज्योतियों के फल स्वयं प्राप्त हो जाने में क्या सन्देह। जो व्यक्ति अपने आसुरी कर्मों से इस लम्बोदर के लम्बोदर में ही रहते हुए भी इसे अपने आसुरी कुकर्मों के कडुवे खट्टे तीते सड़े गले गन्दे फल अर्पित करता है उसे इनके पुरस्कार में भी ऐसे ही नपे तुले स्वाद सुगन्ध रूपाकार के पीड़ा बाधा रोग शोक चोट चिन्ता प्रभृति के फल प्रतिदिन प्राप्त होते रहते हैं यह कौन नहीं जानता ? यह लम्बोदर नाम इसी तथ्य को नित्य सामने रखे रहने के लिए, स्मरणार्थ सूचित करते रहने के लिए, अपने को स्वतन्त्र पृथक् न

समझते रहने के लिए, छिपकर पाप करने का साहस न करने देने के लिए, ओट वोट का आसरा न लेने के लिए ही स्पष्ट रूप से सामने रखा गया है कि देखो सभी तो यहाँ सामने हैं, देख रहे हैं आखें खोलकर देखो, तुम जो कुछ कर रहे हो उसे सभी देख रहे हैं।

विघ्न शुभ कार्य में रुकावट का नाम है। इसका मूल कारण अपनी या परायी किसी एक की दुर्बुद्धि या अधिकांश में दोनों की दुर्बुद्धि होती है। इसी दुर्बुद्धि का नाम आसुरी सम्पदा है जिसके द्वारा अनन्त आसुरी पापाचारी स्वार्थी कार्य किए जाते हैं। यह ब्रह्मणस्पति नामक गणपति ज्ञान ज्योतिर्मय बुद्धि रूप, दैवी बुद्धि रूप दैवी सम्पदामयी बुद्धि रूप देवता है। जिसके पास ऐसी दैवी सम्पदामयी बुद्धि हो गई, उसे यह ब्रह्मणस्पति देवता स्वयं प्राप्त हो गया, उसके सब संकट विघ्न, इस सद्बुद्धि की जाज्वाल्यमान ज्योति से अपने आप नष्ट हो गये। प्रकाश के सामने असुरों या असुरी सम्पदा के अड़ंगे विघ्न संकट कहीं नही टिक सकते। कहा भी है—

विघ्ननाशः

"जहाँ सुमति तँह सम्पति नाना। जहाँ कुमति तँह विपत्ति निदाना"

(तुलसी)

ऐसी ज्ञान ज्योति देने वाले इस ब्रह्मणस्पति नामक गणपति को विघ्न हर्ता या आसुरी विचारधारा का नाशकर्ता या असुरों का नाशकारक कहाजाता है। उद्बोधक सुमति आई नहीं कि विघ्नों की बल्ली को प्रतिक्षेप क्रिया की कुल्हाड़ी से तुरन्त काट छांट कर नष्ट कर दिया। इस गणपति का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण मेरे ग्रन्थ 'भारतीय महर्षि मनोविज्ञान' में देखें।

———

अध्याय १३८

मातृ-पूजा या षोडशमातृका पूजा

गणपति पूजा के तुरन्त पश्चात् षोडश मातृकाओं की पूजा की जाती है। ये मातृकायें कर्मकाण्ड में गिनती में सोलह मानी जाती हैं। अतः इन्हें 'षोडश मातृकाः' कहते हैं। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि एक समष्टिमय देवता की गणपति की पूजा के तुरन्त पश्चात् ही इन अनेकों व्यष्टिमय देवियों की स्त्रियों की वह भी मातृका नाम धारिणियों की ही पूजा क्यों की जाती है ? इन दोनों वर्गों का आपस में इतना निकतम घनिष्ठ और पारस्परिक सन्बन्ध या मेल किस विषय का है ? इन विषयों पर आज तक किसी भी विद्वान् ने विचार करने के लिए अपनी स्नायुओं को कष्ट ही नहीं दिया। वास्तव में यह पहेली भी आजकल के विद्वानों के लिए सच-मुच में दुरोण या महा दुरारोह है। वे इस ढंग से विचार करने के न तो अभ्यस्त ही हैं, न हो सकते हैं। वह मार्ग सी निराला है। यह इनकी गतिमति शक्ति और पहुँच से अत्यन्त दूर, बहुत बहुत दूर है।

वस्तुस्थिति यह है ! गणपति नामक ब्रह्मणस्पति देवता जिन जिन गणों का का पति होने से गणपति कहलाता है वे गण मूलतः मरुतों के हैं और सात सात के गणों में सात गणों वाले गिनती में (७×७=) ४९ हैं। यही ४९ मौलिक प्राण इस अखिल ब्रह्माण्ड के आधारभूत मूल तत्त्व हैं। इन्हीं की एक समष्टि रूप (५० वें) को आदि ब्रह्म या ब्रह्मणस्पति या गणपति नाम से पुकारा जाता है। ये प्राण अनन्त असीम अरूप महतामहीयसी व्याप्तिमय होने से इस गणपति को लम्बोदर की सार्थक पदवी भी प्रदान करते हैं। सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों स्थितियों में इनका विकास छन्दोमय पादाक्षरों के क्रम से या त्रिक पञ्चक षट्क सप्तक अष्टक नवक या दशकों के विभाजनों या स्तवकों के क्रम से होता और वर्णित भी पाया जाता है। योगावस्था में इन्हीं को अङ्गिरस अङ्गिरा नामक ऋषि या प्राण नामों से पुकारा जाता है। इनको चाहे इन्हें मौलिक मरुत कहें या अङ्गिरस ऋषि, एक दूसरे प्रसिद्ध नाम 'नरः' या 'नराः' या नेता या' मनुष्याः' 'नाराः' नाम से भी पुकारा जाता है। परन्तु जब इन प्राण रूप तत्त्वों की व्याख्या इनके वास्तविक शरीरों के अनुसार की जाती है तब इन्हीं मरुतादि अङ्गिरसादि नर नामक प्राणों का वर्णन 'नारी' रूप में किया जाता है। वास्तव में प्रत्येक तत्त्व में नामधारी वस्तु शरीर ही होती है। अतः ऋषियों ने यह बात भी स्पष्ट कर दी थी कि ये प्राण वास्तव में स्त्री रूपी ही हैं, पर इन्हें पुरुष रूप में पुरुषत्व या पौरुषेष शक्ति के अनुरूप भी वर्णित किया जाता है जैसे—

"स्त्रियः सतीस्ताँ उ पुँस आहुः" (ऋ० वे० १-१६४-१६)

इसकी सच्ची अनुभूति कोई योग की दिव्य दृष्टि वाला ही कर सकता है, जैसे—

"पश्यत्यक्षण्वान् न विचेतदन्धः" (ऋ० वे० १-१६४-१६ वहीं)

अतः जब इन प्राणों का विवेचन इन स्त्री रूपों में किया जाता है तब इन्हें 'ग्ना' 'देवपत्नीः' या श्रीः और लक्ष्मीः भी कहा जाता है या वाक् आपः अदिति नामों से भी पुकारा जाता है, या इला भारती सरस्वती नामों से भी घोषित किया जाता है जिनको पुराणों में महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती नाम दिए गये हैं। ये नाम तो मनोरूप बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के मुख्य प्राणों के लिए—प्रथम प्राण (अग्नि) मध्यम प्राण (इन्द्र) और उत्तम प्राण (उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम) के लिए—प्रयुक्त होते हैं। परन्तु ये प्राण तो ४९ हैं जिनमें सात सप्तक या कई प्रकार के विभाजन हैं। इनमें से सात सात १४ और रुद्र, गणपति युक्त कुल सोलह प्राण मुख्य हैं। सात पूर्वार्द्ध के सात उत्तरार्द्ध के जिनका विकास षट्क सप्तक या अष्टक में क्रम से होता है। इन सातों में तीन तो उक्त तीन मुख्य प्राण हैं जिनको क्रम से रुद्र ब्रह्मा और विष्णु कहते हैं शेष चार वाक् प्राण चक्षुः श्रोत्रं है जिनके देवताओं के नाम अग्नि वायु आदित्य दिश हैं। इनको पौराणिक भाषा और प्रथा के अनुसार निम्न नामों से पुकारा जाता है।

(१) "गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरः लोकमातरः॥
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टि रात्मनः कुलदेवता।
गणेशेनाधिका ह्येता वृद्धौ पूज्याश्च षोडश॥"

(२) "ब्रह्माणी कमलेन्दु सौम्यवदना माहेश्वरी लीलया,
कौमारी रिपुदर्पनाशनकरी चक्रायुधा वैष्णवी।
वाराही घनघोर घर्घरमुखी चैन्द्री च वज्रायुधा,
चामुण्डा गणनाथ रुद्रसहिता रक्षन्तु नो मातरः॥"

(मातृपूजा दशकर्मपद्धति)

(३) "प्रेत संस्था च चामुण्डा वाराही महिषासना।
ऐन्द्री गजसमारूढा वैष्णवी गरुडासना॥
माहेश्वरी वृषारूढा कौमारी शिखिवाहना।
लक्ष्मी पद्मासना देवी पद्महस्ता हरिप्रिया॥
श्वेत रूपधरा देवी ईश्वरी वृषवाहना।
ब्राह्मी हंससमारूढा सर्वाभरण भूषिता॥
इत्येता मातरः सर्वाः सर्वयोग समन्विताः॥"

(देवी कवच वराह पुराण)

(४) "एतस्मिन्नन्तरे भूप विनाशाय सुरद्विषाम्।
भवायामरसिंहाना मतिवीर्य बलान्विताः॥
ब्रह्मेश गुहविष्णूना तथेन्द्रस्य च शक्तयः।
शरीरेभ्यो विनिष्क्रम्येतद्रूपैश्चण्डिकां ययुः॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण वाहनम्।
तद्वद्देव तच्छक्ति रसुरान्योद्धुमाययौ॥

हंसयुक्त विमानस्था साक्षसूत्र कमण्डलुः।
आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते ॥
माहेश्वरी वृषारूढा त्रिशूल वरधारिणी।
महाहि वलया प्राप्ता चन्द्ररेखा विभूषणा ॥
कौमारी शक्तिहस्ता च मयूर वर वाहिनी।
योद्धुमभ्याययौ दैत्यानम्बिका गुहरूपिणी ॥
तथैव वैष्णवी शक्तिगरुडोपरि संस्थिता।
शंख चक्र गदाशार्ङ्गः खड्गहस्ताभ्युपाययौ ॥
यज्ञवराहमतुलं रूपं या बिभ्रती हरेः।
शक्तिः साप्याययौ तत्र वाराही बिभ्रती तनुम् ॥
नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशं वपुः।
प्राप्ता तत्र सटाक्षेप क्षिप्त नक्षत्र संहतिः ॥
वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरिस्थिता।
प्राप्ता सहस्रनयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥"
ततः परिवृतस्ताभिरीशानो देव शक्तिभिः।
हन्यतामसुराः शीघ्रं सम प्रीत्याह चण्डिकाम् ॥
(दु० स० श० ८-१२ से २२ तक मार्कण्डेय पुराण)

इनका क्रमशः विवेचन यह है :—प्रथम उद्धरण में मातृकाओं के नाम ये हैं—गौरी पद्मा शची मेधा सवित्री विजया, देवसेना, स्वधा, स्वहा मातरः, धृतिः, पुष्टि, तुष्टि और कुलदेवी। इनमें गणपति जी को अनिवार्यतया सम्मिलित किया जाता है। क्योंकि ये मातृकायें तो व्यष्टि रूप प्राण हैं और गणपति उनका समष्टि रूप एक देवता। सृष्टि काल में गणपति इनका पिता है तो योग में यह गणपति इन मातृका रूप प्राणों का पुत्र या अवतार या सोम या सुत या इन प्राणों की उद्दीप्त वैष्णवी ज्योति। इन सोलहों में दो सप्तक हैं। प्रथम सप्तक पूर्वार्द्ध का है द्वितीय उत्तरार्द्ध का। उत्तरार्द्ध की मातृकाओं के नाम (जो निम्न उद्धरण (२)† में दिए गए हैं) ये हैं—ब्रह्माणी माहेश्वरी कौमारी, वैष्णवी, वाराही ऐन्द्री चामुण्डा (गणनाथ और रुद्र मिलाकर) कुल नौ (९) हैं। परन्तु देवी कवच ने (३) $ इस नौ संख्या में निम्न नाम दिए हैं :—चामुण्डा, वाराही, ऐन्द्री, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौमारी, लक्ष्मी, ईश्वरी (रुद्र के स्थान में) और ब्राह्मी। इन सात नामों को दुर्गा सप्तशती (४) ¶ ने इस क्रम से दिया है :—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री। इन तीनों स्थलों में जो नाम सब में एक से है वे ये हैं—ब्रह्माणी या ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही ऐन्द्री, उद्धरण २ और ३ के चामुण्डा के स्थान में उद्धरण ४ ने नारसिंहीं नाम दिया है और उद्धरण संख्या तीन में लक्ष्मी तथा ईश्वरी दो नाम अधिक हैं। वास्तव में वेदों में 'सप्तमातरः' शब्द ही प्रयुक्त हुआ। कहीं इन्हें 'सप्त स्वसारः' (सात बहनें) भी कहा है। इनका प्रयोग कहीं, सरस्वती सिन्धु और आपो देवियों के सम्बन्ध में किया गया है (पीछे वै० वि० द० पृष्ठ ४८

देखें)। ये आपो देवियाँ प्राणों के प्रवाह रूप शरीरिणी हैं 'आपोमयाः प्राणाः' (बृह० उप०)। इनका प्रवाह वैद्युतीय तरंगमय है। इन सातों में ब्रह्माणी माहेश्वरी वैष्णवी क्रम से ब्रह्मा शिव और विष्णु अथवा मध्यम प्राण प्रथम प्राण और उत्तम प्राण के प्रतिनिधि हैं। कौमारी वाराही ऐन्द्री चामुण्डा या नारसिंहीं क्रम से वाक् प्राण मनः और चक्षुः नामक प्राणों के प्रतीक हैं। ये देदीप्यमान ज्योतियां हैं। इन्हें अग्नि वायु चन्द्रमा सूर्य न कह कर कौमारी (गुहा रूपिणी) वाराही ऐन्द्री, चामुण्डा या नारसिंही नाम से पुकारा है। अब प्रथम उद्धरण के मेधा विजया जया देवसेना स्वधा स्वाहा धृति पुष्टि तुष्टि मातरः लोकमातरः में से प्रत्येक मरुतों की ही क्रम से बुद्धि प्रभृति के प्रतीक हैं।

विशेषता यह है कि उक्त प्राण रूप मातृकायें सब महा योगिनियाँ हैं यह तृतीय उद्धरण के अन्तिम वाक्य "इत्येता मातरः सर्वाः सर्वयोग समान्विताः" से स्वतः स्पष्ट है। दुर्गा सप्तशती में इन्हीं प्राण रूप महायोगिनी रूप देवियों के कठिन साध्य योग क्रिया का विवेचन देवासुर द्वन्द्व के रूप में वर्णित है आगे 'पञ्चम वेद पुराण दर्शन' देखें। सृष्टि काल में इनसे जो प्रक्रियायें अविर्भूत होती हैं उनका वर्णन प्राधानिक रहस्य में दिया गया है। इस प्रकार मातृका पूजा योग और सृष्टि काल में प्राणों की विभिन्न प्रकार की योग प्रक्रियाओं की सरणि और सृष्टि विकास क्रम का अभिनय करती है। इनकी मूर्ति भी गोबर की ही बनाई जाती है, गणपति को इन सबसे ऊपर की पंक्ति में अकेले स्थापित किया जाता है। इनकी शेष पूजा का रहस्य गणपति पूजावत् ही समझें।

यह सब तो हुआ पर आजकल के अन्वेषणकारी विद्वानों ने इन मातृका देवियों का इस प्रकार का गम्भीर रहस्य भरा विषय, तान्त्रिकों की परिभाषिक पदावली का भी उचित ज्ञान प्राप्त न कर सकने से एक बड़ी भारी भद्दी हंसी या उपहास उड़ाने योग्य बनाने के प्रयास में यह भौंड़ी कल्पना भी कर ली है कि ये 'मातृकायें' तो अक्षर वर्णों की मात्रायें या ध्वनियों की मात्रायें हैं। इन्हें मातृ और मात्रा शब्दों में न भेद प्रतीत हुआ, न इन दोनों से संकेतित विषयों का समुचित ज्ञान।

वस्तु स्थिति कुछ इस प्रकार की रही। हमारे वैदिक विश्वदर्शन में ५० तत्त्व हैं, ४९ तो सात सप्तकों में विकसित होने वाले मौलिक प्राण है और इनमें आदि के ब्रह्म को मिलाकर ये सब ५० हो जाते हैं। इन्हीं को संकेतित करने के लिए हमारे पूर्वज ऋषियों ने ४९ ध्वनियों का भी आविष्कार किया था। वे ४९ ध्वनियां १६ स्वर ८ ऊष्माण और २५ पञ्चवर्गीय व्यञ्जन हैं। प्रथम दो स्वर और ऊष्माण कुल (१६+८=) २४ तो पूर्वार्द्ध में आते हैं और कचटतप वर्गों के २५ वर्ण उत्तरार्द्ध में। योग क्रिया में आदि ब्रह्म तक पहुँचने के लिए प्रत्येक ध्वनि को एक सीढ़ी बना लिया जाता था जिन पर क्रमशः चढ़ कर योगी आदि ब्रह्म तक पहुँच जाता है। इसीलिए भर्तृहरि ने पुरानी स्मृतियों के आधार पर लिखा—

"इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः"

कि यह ध्वनि विकास मार्ग मोक्षार्थी योगियों के लिए 'राजपथ' है। ब्रह्म को शब्द ब्रह्म कहते हैं। उससे उक्त क्रम से अकारादि स्वरों और आठ ऊष्माणों का पूर्वार्द्ध में विकास होता है, तदनन्तर उत्तरार्द्ध में व्यञ्जन ध्वनियों का विकास होता है। यह सृष्टि क्रम है। योग में इन्हीं विकसित ध्वनियों को सीढ़ी बनाकर क्रमशः ऊपर ऊपर को चढ़ते चले जाते हैं तो अन्त में ब्रह्म की प्राप्ति हो मोक्ष मिल जाता है। यह है हमारी ब्राह्मी लिपी की ब्रह्मता महत्ता महिमा। लोग इसकी ध्वनियों में परिवर्तन के चक्कर में पड़ कर हमारी इस अमृतमय विद्या का नाश करने को उतारू हो रहे (होकर नष्ट हो चुके) हैं। यह विद्या यह लिपि यह ब्राह्मी लिपि ज्यों की त्यों अमर अमिट सनातन रूप से जैसे चली आई है वैसी ही रहेगी रहेगी रहेगी।

इन ध्वनियों की संकेतावली अक्षरवर्णमाला या वर्णात्मक वेद या वर्णसमाम्नाय तो वैदिक विश्वदर्शन के तत्त्वों के संकेत हैं प्रतीक हैं लिखने के चिह्न हैं। इनको वर्ण समाम्नाय या मात्रा समुदाय या ध्वनि संकेतावली नाम बाह्यानुभूति को संहिता या वाक्यादि में निबद्ध करने के निश्चित रूपों के लिए कहा जाता है अर्थात् ये मात्रायें संहिता का रूप लेकर भावात्मक सृष्टि का परदा खोलती है जिस प्रकार ये यहाँ भावात्मक सृष्टि का परदा खोलती हैं वैसे ही वे मौलिक ध्वनियाँ, जिनके ये चिह्न या मात्रायें हैं—अपनी व्यष्टि से सृष्टि और समष्टि से योग करती हैं। ये व्यष्टि समष्टि स्वरूपिणी सृष्टि और योग—कारिणी ध्वनिरूपिणी या शब्दब्रह्मरूपिणी या शब्द ब्रह्माणियाँ ही वास्तव में मातृकायें कहलाती हैं। अतः मातृकायें तो मौलिक वाक् की विभिन्न विकास हैं, और मात्रायें इनके अतीव स्थूलतम शब्दों के संकेत मात्र हैं। मातृकाओं का स्वरूप रंग नामक वर्णात्मक है, नाना रंगों की ज्योतिष्मती दैवी शक्तियां तो मातृकायें है और लिखने के अक्षरों के वर्ण या रूप वाली मात्रायें। इन दोनों में इस प्रकार आकाश पाताल का अन्तर है।

मातृकाओं की सृष्टि में ब्रह्म के स्थान में सर्वादि तत्त्व महालक्ष्मी कहलाती है—

"सर्वस्याद्या महलक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी"

(प्राधानिक रहस्य)

अन्य सात—ब्रह्माणी माहेश्वरी वैष्णवी कौमारी ऐन्द्री वाराही और चामुण्डा या नारसिंही प्रत्येक सप्तक या 'अ श क च ट त प' वर्गों में में प्रत्येक प्रत्येक में प्रधान है, अन्यों का उन्हीं में उत्तरोत्तर विकास नाना देवियों के स्वरूपों में होता रहता है। सृष्टि काल में अन्तिम तत्त्व हिरण्यगर्भ रूप प्रथम भौतिकाण्ड ब्रह्माण्ड है तो योग में उसी आद्या महालक्ष्मी की पूर्णानुभूति।

कराङ्गुलिन्यास पद्धति में अङ्गुलि रूप अङ्ग प्राणों को ही सूचित करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अङ्गुलि शब्द से सैकड़ों बार प्राणों का संकेत किया गया है। इसी प्रकार अन्याङ्ग न्यास—हृदय (समाधिस्थान) शिर, श्रोत्र, नेत्र, नासा, भ्रू, आदि

का स्पर्श प्राणस्पर्श या प्राणानुभूति का संकेतक है। करतल करपृष्ट नामक न्यास तो द्यावापृथिवी के दो कटाहों को सृष्टि में मिलाने और योग में उलटे दिखाने का संकेतक है। अस्त्राय फट्, ज्ञानखड्गादि का प्रतीक है। इसी प्रकार अपने सर्वाङ्ग शरीर को मौलिक ४९ प्राणों का मूल क्षेत्र मानकर, अक्षर वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण को प्रत्येक मौलिक प्राणों का प्रतीक बनाकर, स्वरों से पूर्वार्द्ध शरीर के अङ्गों को ऊष्माणों से मध्यवर्ती भागों को और व्यञ्जनों से नाभि से नीचे के विभिन्न अङ्गों को स्पर्श कर तत्तद् की अनुभूति का अभिनय किया जाता है। अङ्गन्यास विधियां देखें।

इन सभी प्रकार की मातृकाओं के रहस्यों का विवेचन मैंने इस ग्रन्थ में आगे 'पञ्चम वेद पुराण दर्शन में विस्तार पूर्वक, कर रखा है, उसे अवश्य देखलें।

अध्याय १३९

नान्दी श्राद्ध या आभ्युदयिक श्राद्ध

किसी भी विवाहादि मंगल कार्य की सूचना से केवल वर वधू प्रभृति जैसे साक्षात सुख प्राप्ति करने वालों को ही अतीव हर्ष नहीं होता, वरन् इससे कई गुना अधिक हर्ष होता है माता पिता गुरु या पितरों को जो इन कार्यों की पृष्ठ भूमि का आयोजन प्रायः रहस्यमय ढंग से करते हुए उक्त परिपक्व फल को सामने प्रस्तुत कर आनन्द मङ्गल की आतिशवाजी सी प्रदर्शित कर देते हैं। इसीलिए इस श्राद्ध को वृद्धि, नान्दीश्राद्ध और इसके पितरों को (यहाँ) 'नान्दीमुखा' नाम दिया गया है। क्योंकि यहाँ ये पितर आनन्दमय शुभकृत्य से प्रसन्न और सर्वाभ्युदय और वृद्धि कारक हैं। इसीलिए कोई कोई इसको आभ्युदयिक श्राद्ध या पर्वतीय प्रान्तों में 'आपोदेव्यः' या आबदेव नाम से पुकारते हैं। इसका यह आबदेव नाम यद्यपि श्रौत सूत्रों में उपलब्ध नहीं है पर इस श्राद्ध में प्रयुक्त मन्त्र यह सिद्ध कर देते हैं कि इस श्राद्ध का यह नाम अति प्राचीन है, 'आबदेव' शब्द 'आपो देव्यः' का विकृत स्वरूप है, यह स्वयं स्पष्ट है। आपोदेव्यः सृष्टि करने में सर्वादि देवता हैं और मौलिक दैवी प्रकृति के प्रतिनिधि हैं।

इस आबदेव या नान्दी श्राद्ध में पितरों की स्थापना केवल सव्य जनेऊ से की जाती है, बाँयाँ जनेऊ कहीं नहीं किया जाता, यह शुभ कर्म है, सुलटा है। इसके पश्चात् जब इनका पूजन करते हैं तो यजुर्वेद के निम्न रहस्यमय मंत्र का प्रयोग करते हैं :—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ
सत्रसदौ च देवौ ॥" (३४-५५)

इस मन्त्र में उन सप्तर्षियों का वर्णन है जिन्हें 'अङ्गिरस' नामक पितर या ऋषि रूप प्राण कहते हैं। "ये इस ब्रह्माण्ड और प्रत्येक के शरीर में व्यवस्था पूर्वक प्रतिष्ठित रहते हैं। इन ऋषिरूप प्राणों के देदीप्यमान ज्ञानमय ज्योतियाँ या देवता इस ब्रह्माण्ड या शरीर रूप यज्ञ या कर्मभूमि को प्रमादहीन होकर नित्य जीवित या सुरक्षित रखते हैं। इन प्राणों के शरीर रूप सात आपोदेवियाँ (वैद्युतीय प्रवाहमय) शक्तियाँ उस 'सुषुप्ति' मय 'सत्यं ज्ञान मनन्तं' ब्रह्म के आलोकमय गोलोक तक निरन्तर आती जाती रहती हैं; जहां दो अन्य देवता या प्राण और उदान, अथवा प्राण और अपान, अथवा अश्विनौ नित्य जागृत और सतत क्रियाशील होकर इस ब्रह्माण्ड या शरीर रूप कर्मभूमि या वेदि को सुरक्षित या जीवित रखने वाले भी रहते हैं।"

ये ऋषि या सप्तर्षि रूप पितर अखिलब्रह्माण्डीय या शरीर में सर्वसाधारण के

आदि पितर हैं। इसीलिए इनकी पूजा सव्य जनेऊ से उसी प्रकार की जाती है जैसे तिथि के या पार्वण के श्राद्ध में विश्वेदेव देवता की। यद्यपि इन पितरों को यहाँ पर विश्वेदेव देवता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है पर दैहिक पितरों का नाम लेकर उन्हें भी आमान्न कच्चा अन्न चावल आदि में चार भाग कर चतुष्पाद रूप में—विश्वेदेव, पितृ पितामह प्रपितामह—माता मातामही प्रमाता मही, मातामह प्रमातामह वृद्ध प्रमातामह सपत्नीक—चार रूपों में उक्त चार भागों में स्थापित किया जाता है, तब पूजा जाता है, शेष क्रिया श्राद्ध की ही होती है। कहने का तात्पर्य है कि नान्दी मुख पितर मौलिक पितर हैं। अच्छे कर्म जैसे यज्ञ—योग यज्ञ सृष्टि यज्ञ और द्रव्य यज्ञ करने से इन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता है, अतः ये नान्दी मुख पितर कहलाते हैं, हमारे पूर्वज पितामह मातामही प्रभृति भी इस कार्य से वैसे ही प्रसन्न होते हैं। अतः उनका भी आवाहनादि कर दिया जाता है।

इस नान्दी श्राद्ध को, जिसका संस्कार किया जा रहा है उसके पिता चाचा प्रभृति को करना चाहिए। कई विवाहादि संस्कार पक्ष में केवल प्रथम संस्कार में ही यह कर्म किया जाता है। इन विधानों से इस नान्दीमुख श्राद्ध को सभी शुभ कृत्यों में अवश्य किया जाता है। क्योंकि इसमें भिन्न प्रकार के पितरों की पूजा हैं। इसका लक्ष्य भी वृद्धि और श्री रूप अभ्युदय प्राप्ति है। इस श्राद्ध में विकिर दान, दीप निर्वापन, तिलादि तिलक नहीं किया जाता।

इन पितरों को या प्राण रूप ऋषियों के इस शुभ कृत्य में पार्वण या तिथि के श्राद्ध में प्रयुक्त होने वाले कई मुख्य शब्दों को उच्चरित नहीं किया जाता तथा कई वस्तुओं को गृहीत भी नहीं किया जाता; जैसे यहाँ न तो स्वधा शब्द का प्रयोग किया जाता है न शर्मा वर्मा गुप्त आदि का, न पिता का नाम लिया जाता है, न पितृ तीर्थ का प्रयोग होता है, न कुशाओं का प्रयोग या ब्राह्मण ग्रन्थियों का, न तिलों का प्रयोग होता वै न जनेऊ कहीं अपसव्य किया जाता है, न पितृ जाप किया जाता है न अस्मत् शब्द का प्रयोग। यहाँ पर 'तिलोऽसीति' के स्थान में 'यवोऽसीति' कहना चाहिए, तिलों के स्थान में जौ का प्रयोग करना होता है, स्वधया शब्द के स्थान में 'पुष्ट्या' या 'नमो वृद्धिः वृद्धिः श्रिये श्रिये' शब्दों का प्रयोग किया जाता है, पितृन् शब्द के पहले अनिवार्यतया 'नान्दोमुख' शब्द जोड़ना चाहिए अर्थात् 'नान्दी-मुखान् पितृन्' कहना चाहिए। पिण्डार्थ कच्चा अन्न भी पूर्वाभिमुख होकर ही देना चाहिए न कि दक्षिणाभिमुख होकर इत्यादि। क्योंकि ये हमारे पूर्व पितर हैं।

पितरों का वास्तविक स्वरूप मनो ब्रह्माण्डमय है। लिखा भी है "वागेव देवा मन एव पितरः प्राण एव मनुष्यः" (श० प० ब्रा०) कि देवताओं का स्वरूप वाक् ही है या तेजोवती वाक् का दैवी ज्योतिर्मय ही है, अर्थात् देवता अग्निरूप तेजोरूप (लोहित रूप) रूपवान् दीप्तिरूप प्रकाश और आधार भूत तत्त्व रूप हैं, मन ही पितर हैं, अर्थात् पितरों का स्वरूप मनोब्रह्माण्डमय है अन्नमय अदितिमय है (कृष्ण वर्ण है) और प्रजा या मनुष्य नामक तत्त्व तो प्राण हैं जिन्हें अङ्गिरस ऋषिरूप प्राण कहते हैं। इस पितरों का सच्चा स्वरूप (वाक् प्राणमनः के त्रिवृत् मध्ये) मनोमय

अदितिमय अन्नमय और कृष्ण वर्ण का है। इस मनोमय या ज्ञान भण्डार या अदिति या अन्न के स्वरूप का या व्यापक अमृत भौतिक शरीर वाला या सोमज्योति या चान्द्रमस ज्योति शरीरी पितरों को या तो आभ्युददिक श्राद्ध में सोमरूप कच्चा अन्न दिया जाता है या पिण्डात्मक ब्रह्माण्ड के प्रतीक पके अन्न या आटे का पिण्ड। अर्थात् किसी प्रकार का अन्न पितरों को देने के माने उनके मनोब्रह्माण्ड शरीर का अभिनय इन अन्नादिकों से करना है। इसी कारण पितरों का शरीर ही मनोमय सोममय चन्द्रमामय होने से इन्हें सोमपा पितर कहते हैं। मनोरूप योगी सोमरूप ज्योति का पानकर्ता होने से ये मनोरूप पितर सोमपा कहलाते हैं। दिया हुआ अन्न उन पितरों तक पहुँचता है या नही के प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि यह दान श्रद्धा से होता है, अतः श्राद्ध कहा जाता है। श्रद्धा हमारे उसी मौलिक मनोमय अन्नमय शरीर का नाम है जिससे विकसित होकर हमारा शरीर स्वयं श्राद्ध रूप में सामने है। जब श्रद्धा से इस प्रकार श्राद्ध रूप हमारा इतना स्थूल शरीर बन सकता है तो इस श्राद्ध रूप शरीर से श्रद्धा ही के द्वारा किए गए कर्मकाण्डी श्राद्ध का दिया हुआ मनोमय भावना प्रतीक अन्नमय पिण्ड उस सूक्ष्म श्रद्धा रूप पितरों तक निम्न प्रकार से क्यों नहीं पहुचेगा ? यहाँ तो स्थूल अन्न से सूक्ष्म अन्न का अभिनय मात्र हो रहा है। जैसी भावना रहती है वैसी ही सिद्धि होती है, इसमें तो दो मत नहीं। पितरों को मनोभावनामय पिण्ड पहुँचता है "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (गीता १८)। पितर मनोमय हैं, अन्न पिण्ड भी मनो ब्रह्माण्ड का प्रतीक है, उन्हें यह पिण्ड मनोमय रूप में ही भावना रूप में मिलता है।

अन्न का जो पिण्ड मनो ब्रह्माण्ड रूप पितरों को पहुँचने के लिए दिया जाता है, उसे गाय को खिलाया जाता है। गाय के आत्मा की या मनोब्रह्माण्ड की तुष्टि-रूप भावना ही अमृत पिण्ड रूप में भावनामय मनोरूप पितरों तक अदृष्ट रूप में पहुँचती है। गाय स्वयं दैवी ज्योतियों की प्रतीक मानी जाती है या सोमीय ज्योति की प्रतीक। अतः उसका खाया अन्नमय पिण्ड ज्योतिर्मय भावना पिण्डरूप में ही पितरों तक पहुँचता है, गाय की तुष्टि ही ज्योतिर्मय भावना पिण्ड है। ब्राह्मणों को जो भोजन दक्षिणा प्रभृति आतृप्ति आतुष्टि पर्यन्त दिया जाता है उसके वारे में भी यही कहा जाता है कि यह दिया हुआ भोजनादिक अमृत होकर पितरों तक पहुँचे। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि कोई भी श्राद्ध अपने पूर्वज मनोब्रह्माण्डीय पितरों को, अपनी मनोब्रह्माण्डीय श्रद्धाञ्जलि के इन साकार प्रतीकों के द्वारा सच्ची श्रद्धाभक्ति से अर्पित करने का सर्वश्रेष्ठ विधान है, और कोई दूसरा विकल्प हो ही नहीं सकता, 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'।

श्राद्ध करने की अनिवार्यता का कारण यह है कि यह अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड या शरीर सब मनो ब्रह्माण्ड रूप उक्त समीपी और दूरस्थ पितरों के (पूर्वैः और नूतनैः) के शरीरों के विकसित रूप हैं। हम अपने इन श्राद्ध या मूल बीज रूप पितरों तक इन पूत भावनामय प्रतीकी प्रक्रियाओं के श्राद्ध के द्वारा पहुँच सकते हैं। हमारे शरीरों में जिनका रक्त (श्रद्) दौड़ रहा है, जिनकी भावनायें

हमारे जीवन में ओतप्रोत हैं, जिनके ज्ञानमय शरीर हमें ज्ञानमय बनाये हुए हैं, उनपर अपनी इस मनोमय भावना से कृतज्ञता और अपनापन प्रदर्शित करना किस समझदार को अनुचित लग सकता है ? जिन देशों जातियों या धर्मों को इस विषय का ज्ञान नहीं हैं, हमें उनकी नकल नहीं करनी है। हमें इस विषय का ज्ञान है, इस ज्ञान का गर्व और गौरव है, यह हमारी सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। इसे त्यागना सबसे बड़ीभारी भूल ही नहीं, महामूर्खता और अपने पूर्वजों का तिरस्कार करना ही नहीं अपितु अपने को सूखे ठूँठ से पैदा मानने के बराबर है।

एकोदिष्ट (निर्वाण) तिथिश्राद्ध में केवल एक विश्वेदेव ब्राह्मण की स्थापना कर उसीके द्वारा सभी पितरों का आह्वान, विश्वदेव को सव्य जनेऊ से और पितरों को अपसव्य जनेऊ से किया जाता है। पर पार्वण श्राद्ध में तीन ब्राह्मण और नव-दैवत्य में चार ब्राह्मण स्थापित किए जाते हैं। पार्वण में विश्वेदेवता पृथक्, पितृ पितागह प्रपितामह सपत्नीक पृथक्, और मातामह प्रमातामह वृद्ध प्रमातामह सपत्नीक पृथक् ये तीन ब्राह्मण हैं। नव दैवत्य में पितृ पितामह प्रपितामहो को सपत्नीक न मानकर तीन पितृ पितामह प्रपितामहों के, एक माता मातामही प्रमातामही का मान कर कुल चार होते हैं। प्रथम त्रिपाद्ब्रह्म रूप पितरों का प्रतीक है द्वितीय चतुष्प-द्ब्रह्म का और एकोदिष्ट, त्रिपाद्ब्रह्म का एकपाद्ब्रह्मरूप। देवताओं की स्तुति का प्रसिद्ध लौकिक मन्त्र यह है—

> "देवाताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
> नमः स्वहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः॥"

यह सव्य जनेऊ से की जाती है। पुनः अपसव्य जनेऊ करके पितरों के लिए दूसरे मन्त्र पढ़े जाते हैं :—

> "सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।
> चक्रवाकाः सरोद्वीपे हंसाः सरसि मानसे॥
> तेऽपि याताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
> प्रस्थिता दीर्घ मध्वानं यूयं किमवसीदथ॥"

यहाँ देवताओं और देव पितरों की स्तुति में इनको महायोगी बतलाया है। यही इस श्राद्ध कर्म की कुञ्जी है कि पूर्ण श्राद्ध प्रक्रिया योग की प्रक्रिया का अभिनय है। देवताओं में स्वाहा और स्वधा नाम्नी पितरों की दो प्रसिद्ध शक्तियों को भी नमस्कार किया गया है। इस मन्त्र को तीन बार इसलिए पढ़ा जाता है कि ये देवता त्रिपाद्ब्रह्म स्वरूपी हैं, गायत्री वाक् स्वाहा स्वधा (सोम) रूपी हैं। अन्य पितरों की स्तुति का मन्त्र इन पितरों से उपालम्भ करते हैं कि "दशार्ण देश वासी सप्तव्याध, कालञ्ज-रगिरि वासी मृग, सरोद्वीप वासी चक्रवाक और मानस सरोवर वासी हंस सब वेदों में निष्णात और पारंगत ब्राह्मण हैं और वे कुरुक्षेत्र में एकत्रित हो गये हैं तथा वहां से अपनी दीर्घ यात्रा के लिए प्रस्थान कर चुके हैं, आप लोग क्यों अवसावधान हैं या पिछड़ गए हैं ?"

इस मन्त्र के सप्तव्याध, सप्तमृग, सप्तचक्रवाक, सप्तहंस, दशार्ण कालञ्जरगिरि सरोद्वीप, मानस, कुरुक्षेत्र, वेदपारंगत ब्राह्मण और दीर्घ अध्वा (मार्ग) किस किसके प्रतीक हैं ? यह बहुत गम्भीर विषय है।

"सप्तव्याध सप्त महायोगी ऋषि या प्राण—गोतम भारद्वाज वशिष्ट कश्यप विश्वामित्र जमदग्नि और अत्रि हैं जो मुण्डक उपनिषत् के अनुसार औपनिषदिक धनुष को लेकर गुहास्थित 'आविः' (सर्वरक्षक ब्रह्म) को लक्ष्य करके (कृष्णमृग भगवान् कृष्ण) को वेध कर पकड़ कर प्राप्त करते हैं। दशार्ण उनके दशप्राणमय शरीरों का नाम हैं। कालञ्जर गिरि काल को भी जराजीर्ण करने वाला दैवी प्राणों का पर्वत है जिसमें देवज्योतियाँ रूप मृग या हरिण निर्भय होकर रहते हैं। सरोद्वीप सोम को उमाड़ता उभाड़ता समाधि मण्डल है जिसमें योगी के प्राण तथा इन प्राणों की देवज्योतियाँ इस सोम का पान करने के लिए चक्रवाक की तरह ऊर्ध्व मुखी हो एक टकटकी लगाकर देखते रहते हैं। मानस मनोब्रह्माण्डीय सरोवर या सागर है जिसमें परमहंस योगी ध्यानमुद्रा में मग्न रहते हैं। ये सब ब्राह्मण और वेदों में पारंगत महायोगी ब्राह्मण देवता, ब्रह्मरूप देवता प्राणरूप दैवता देवरूप देवता हैं। मन्त्र में अपने पितरों को उलाहना देते हुए कहा जा रहा है कि उक्त सब महा योगी जन कुरुक्षेत्र के समरांगण में परम योग की कर्म भूमि में पहुँच गये हैं, और उत्तरायण योग करने की चेष्टा में उत्तरायणीय योग की दीर्घ यात्रा या मोक्षप्राप्ति के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। आप लोग क्यों ढीले पड़े हैं या पीछे रह गये हैं ? अर्थात् आप लोग भी उक्त योगियों की तरह यम आदि देवों की तरह मोक्ष प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते जाइये।"

इस मन्त्र की पूर्णता श्राद्ध में जलाये दीप को बुझाने और बाईं कटि में रखी 'नीवी' (कुश मोटक) को फेंक देने से होती है जिसका तात्पर्य यह है कि, पितरों ने अपने स्थूल शरीर को छोड़ने के पश्चात् जो दीप सम दीप्तिमती देह धारण करके यम के समान मरने के पश्चात् भी योग क्रिया आरम्भ रखी थी, उसको भी बुझा कर उसके बन्धन रूप 'नीवी' को त्याग कर ब्रह्म में लीन होकर उस दैहिक अग्नि रूपी देह को बुझाकर सार्थकतया 'निर्वाण या परममोक्ष प्राप्त करें। इसीलिए श्राद्ध में प्रयुक्त वैदिक मन्त्र प्रायः योग से ही सम्बन्ध रखते हैं जैसे "युञ्जन्ति ब्रध्न मरुषं" इत्यादि, गन्ध विलेपन में और कुश ब्राह्मण शिखामोचन में वरुण के पाश विमोचनीय मन्त्रों का प्रयोग। इस योग द्वारा आभ्यन्तर प्राण रूप पितरों की मुक्ति की कामना की जाती है। मोक्ष की सीढ़ियों का वर्णन मेरे 'सांख्य मोग दर्शन का जीर्णोद्धार (पृष्ट २०-२२) और वैदिक ब्रह्मसूत्र' में देखें। पितर कई प्रकार के हैं उनका वर्णन भी वै० वि० द० में देखें।

तर्पण में दीप नहीं जलाया जाता, तब बुझे ही क्या ? क्योंकि यह तर्पण तो योगी, सोम या बर्हिषद् नामक पितरों को अपने आपोमय प्राणों की आहुति देने के स्थान में लौकिक जल से जलाञ्जलि या तिलाञ्जलि दी जाती है। जलाञ्जलि प्राणाञ्जलि का प्रतीक है। तिल जौ अक्षत का प्रयोग घृत सोम और अक्षुण्णता के प्रतीक में

सम्मिलित किए जाते हैं, कुश पवित्र इनकी किरण रूप ज्योतिष्मत्ता के लिए (प्रयुक्त किया जाता है)। तर्पण में पितरों के छह विभाजन हैं। (२) देवपितर—ब्रह्मा विष्णु प्रभृति (२) कपिलादि सनकादि सप्त मनुष्य योगी (३) कव्यवाड प्रभृति सर्वादि अङ्गिरस योगी जिन्होंने योग मार्ग से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सबसे पहले खोला और चतुर्दश यम,—यम का अनुसरण करने वाले सर्व प्राचीन १४ योगी महर्षि। तब (५) अपने कुल के पितरों और (६) मातृ कुल के पितरों को जलाञ्जलियां दी जाती हैं; अन्त में दोनों कुलों के समीपी बन्धु पितरों को। प्रथम चार को पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा की ओर क्रम से मुख करके अञ्जलि प्रदान, देवताओं की आसन्दी में उनकी निश्चित दिशा का अनुसरण करने के लिए किया जाता है (वै० वि० द० में आसन्दी देखें)। अन्त में ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदित्य मित्र वरुण और अग्नि का आवाहन और दश दिशाओं के देवताओं को नमस्कार (आसन्दी के अनुसार) करके, पुनः स्नान करके, तर्पण का विसर्जन पितृ स्वरूपी विष्णु भगवान् को नमस्कार करके किया जाता है। इस प्रकार तर्पण भी एक चोखा श्राद्ध ही है। यह नित्य श्राद्ध की श्रेणी का श्राद्ध है। देवताओं की हवि हव्यं कही जाती हैं तो पितरों की 'कव्यं'। क्योंकि पितर कवि या योगी है, उन्हें जो हवि दी जाती है वह योग से, अतः कव्यं या काव्यं कहलाती है।

अध्याय १४०

पुण्याहवाचन

आजकल के पुरोहित तथा यजमान दोनों पुण्याहवाचन क्या है इस बात को उचित रूप से नहीं जानते। वे इसे एक अनोखा कर्म समझते हैं। इस कर्म में सभी उपस्थित ब्राह्मण पुरोहितों को पूजा प्रतिष्ठा सहित कुछ दक्षिणा दुहरी (आदि और अन्त में) मिल जाती है जिसके बदले यजमान की निम्न प्रार्थनाओं को तीन तीन बार उच्चरित करते हैं (भो ब्राह्मणाः मम गृहे 'पुण्यहं' भवन्तो ब्रुवन्तु, स्वस्ति भवन्तो ब्रवन्तु, ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्तु, वृद्धिं भवन्तो ब्रुवन्तु, कल्याणं भवन्तो ब्रुवन्तु, श्रीरस्त्विति भवन्तो ब्रुवन्तु, शान्ति भवन्तो ब्रुवन्तु)। पर ये ब्राह्मण प्रत्येक प्रार्थना की आशीष भी पुण्याहं प्रभृति प्रार्थित वाक्य को तीन तीन बार उच्चरित कर प्रत्येक के साथ एक एक चुनी ऋचाओं का पाठ करते हैं। इतना ही इस कर्म का लक्ष्य नहीं है।

पुण्याह वाचन, वास्तव में एक प्रधान और प्राथमिक कर्म है। प्रायः यह देखा जाता है कि याज्ञिक या पुरोहित या कर्मकाण्ड विधियां सब कर्मों के आदि में 'स्वास्तिवाचन करते हैं। स्वास्ति वाचन ही पुण्याहवाचन है यह इनमें से किसी को भी विदित नहीं है। इस पुण्याहवाचन रूप स्वस्ति वाचन को सर्व कर्मादि में कर लेने पर भी ये पुनः इस पुण्याहवाचन को स्वस्तिवाचन से कुछ भिन्न शैली या पूर्वोक्त नाटकीय (कथोपकथन के) ढंग से दुहराते हैं। यह व्यर्थ की पुनरुक्ति हैं। वास्तव में पुण्याहयवाचन का प्रयोग गणेश मातृ पूजा और नान्दी श्राद्ध के पश्चात् ही करना समुचित है। आदि में किया गया स्वस्तिवाचन अजागलस्तनवत् नितान्त व्यर्थ और अनुचित स्थानीय है। क्योंकि सर्वादि देवता गणपति, सर्वादि देवियां षोडशमातृकाओं तथा सर्वादि बीज रूप मौलिक नान्दी मुखीय पितरों की पूजा कर लेने पर ही स्वास्तिवाचन में आहूत किए गए देवताओं की प्रार्थनाएँ की जा सकती हैं, उनसे आशीष मांगी जा सकती हैं। क्योंकि यहाँ तो योग और सृष्टि इन पक्षों का अभिनय हो रहा है। इन प्रयोगों से जब तक इनकी उद्दीप्ति या विकास, क्रम से, नहीं हुआ या हो सकता है तब तक प्रार्थना ही किसकी की जा सकती है, आशीष ही किससे मांगी जा सकती है? अतः स्वस्तिवाचन या पुण्याहवाचन में जिन देवताओं और आशीषों की प्रार्थनायें हैं उनका विकास गणपति मातृकाओं और नान्दीमुखीय पितरों के पश्चात् ही सम्भव है, पहले किसी भी दशा में नहीं।

इसीलिए किसी भी यज्ञ का कर्म पुण्याहवाचन नामी स्वस्तिवाचन के द्वारा, गणेश मातृ पितृ पूजन के पश्चात् ही, प्रारम्भ करना प्रायः सभी प्राचीन बौधायनादि श्रौत्रसूत्रकारों और मध्ययुगीय कात्यायन कुमारिल आदि, प्रयोग पारिजातादि विधान पारिजात, रूद्रनारायण, शौनक, संस्कारतत्त्व दीपिकादि को अभीष्ट है। इस पुण्याह-

वाचन की सर्वश्रेष्ठ और वैज्ञानिक विधि कातीयानुष्ठेय आश्वलायनीय श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इसके अनुसार पुण्याहवाचन का कर्म, कलश स्थापन करके करना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विधि है। कलश ब्रह्माण्ड और समाधि का प्रतीक है (आगे कलश स्थापन देखें)। ब्रह्माण्डीय समाधि में ही तत्तद्देवों की उद्दीप्ति या विकास सम्भव है, तदनन्तर ही उनकी प्रार्थना की जा सकती है और तभी उनसे आशीष मांगे जा सकते हैं। यहाँ कर्मकाण्ड में, पुरोहितादि ब्राह्मण देवता ही देवताओं के स्थान में आशीष दे देते हैं, उनके अभिनेता होने के कारण।

—o—

अध्याय १४१

कलश स्थापन

कलश की स्थापना, जैसा पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, प्रत्येक अनुष्ठान या यज्ञ का सर्वादि कर्म होना चाहिए। क्योंकि यह कलश सृष्टि काल में द्रोण कलश नामक हिरण्यगर्भ का प्रतिनिधि है, प्रत्येक शरीर में दिव्यशरीर सोमामृत भरे कलश का प्रतीक है इसीलिए सोम को "सोमः पुनानः" "कलशेषु सीदति" (ऋ० वे० ९-६८-९) अर्थात् घट घट में प्रत्येक कलश में रहने वाला बताया गया है (सोम शीर्षक देखें वै० वि० द० में पीछे)। योग में यह अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर ब्रह्माण्ड की समाधि का प्रतिनिधि हैं। द्रव्य यज्ञों में इन दोनों का अभिनय इस कलश स्थापना' से किया जाता हैं। इसीलिए इस कलश की स्थापना में सबसे पहले भूमि का स्पर्श मही द्यौः पृथिवी चन इमं यज्ञं मिमिक्षताम्' मन्त्र (यजु० ८-३२) से की जाती है, क्योंकि यह कलश द्यावा पृथिवी का एक सम्मिलित स्वरूप है। इसके तुरन्त पश्चात् स्थान में जौ को बोया सा जाता है। जौ या यव का प्रक्षेप सोमरस के प्रतीक के लिए किया जाता है। ब्रीहियवौ नाम पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध या द्यावा पृथिवी दोनों का है। यव उत्तरार्द्ध या पृथिवी या सोम का प्रतीक है (सोम शीर्षक देखें वै० वि० द० में पीछे)। तब उस स्थान पर एक कलश की स्थापना करते हैं। जौ का बोना ही कलश है, दिखाने मात्र के लिए एक घड़ा रख दिया जाता है। इस घड़े में तब जल भर दिया जाता है, या जौ के बीजों या सोम के बीजों को सींचा जाता है, आपः या प्राणों के शरीर रूप आपः या जल से। जल सदा ही प्राणों के वैद्युतीय प्रवाह रूप शरीरों का प्रतीक होते हैं। "आपोमयाः प्राणाः" "प्राणस्य शरीरमापः" (बृह० उप०)। इसके पश्चात् उस घट में सप्तर्षि रूप दैवी प्राणों के प्रतीक कुश ब्राह्मण को प्रतिष्ठित किया जाता है। ये सप्तर्षि रूप प्राण आदि प्राण या अङ्गिरस या मरुत नामक प्राणों के सप्तकों के प्रतीक हैं जो आदि से ही मौलिक रूप में इस अखिल कोटि ब्रह्माण्डीय शरीर या वैयक्तिक शरीर में अनिवार्यतः रहते हैं। इस कुश ब्राह्मण को 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणों' इत्यादि मन्त्र से स्थापित किया जाता है जिसकी व्याख्या वै० वि० द० में पीछे अश्वमेध प्रकरण में की जा चुकी है। इसके पश्चात् कलश के चारों ओर गंध या रोरी या चन्दन का लेप किया जाता है। यह उक्त महर्षि रूप प्राणों की उद्दीप्ति और भौतिक शरीरी प्रकाशमयता का प्रतीक है। इसीलिए लक्ष्मी सूक्त के मन्त्र 'गन्धद्वारां दुराधर्षां' मित्यादि मन्त्र का प्रयोग भी इस गंधादि लेपन क्रिया में किया जाता है। तदनन्तर कलश में दूर्वांकुर को 'काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती' इत्यादि मन्त्र से, सृष्टि या अतिसृष्टि के काण्ड काण्ड में उत्तरोत्तर विकसित होने की सूचना के लिए चढ़ाते हैं। सर्वौषधी या सरसों या हरिद्रा को ओषधि रूप सोम का रेतः या वीर्य रूप में विद्यमान रहने के प्रतीक रूप में डाला जाता है। सुपारी या

पुंगीफल को उसी सर्वौषधि रूप सोम का अफला और सफला रूपों के प्रतीक में या वानस्पत्य (सफल सपुष्प) और वनस्पति (अपुष्प अफल) के रूप में चढ़ाया जाता है। सप्तमृदः या सात स्थानों की मिट्टियाँ कलश से सप्तस्थान या सप्त लोक की भावना के लिए चढ़ाई जाती हैं। तदनन्तर पञ्चामृत की वस्तुएँ डाली जाती हैं जिसका व्याख्यान पहले ही किया जा चुका है। पञ्चपल्लव पञ्चमुख प्राणों के प्रतीक रूप में पञ्चरत्न उन पञ्चपल्लव रूप प्राणों की उद्दीप्त ज्योति रूप पञ्चदेवताओं के प्रतीक रूप में, सोने को हिरण्यगर्भ रूप मूल बीज के प्रतीक्र रूप में, वस्त्र को दैवी और भौतिकी ज्योतियों के किरणों के ताने बानों से बने दैवी ज्योत्स्ना मण्डल की सूचना के लिए और अन्त में कलश के ऊपर धान्य पूर्णपात्र स्थापना योग या सृष्टि की मौलिकतया सिद्धि हो जाने के प्रतीक रूप में की जाती है, अर्थात् समाधि या सृष्टि रूप पृथिवी या शरीर नाना दैवी ज्योतियों के धान्यों से हरी भरी हो जाने की सूचना देती है। इसके अनन्तर इस कलश का अभिमन्त्रण या स्पष्ट वर्णन निम्न प्रकार दिया या किया जाता है :—कहते हैं कि—"इस कलश के मुख पर विष्णु स्थित है, कण्ठ में रुद्र तथा मूल में ब्रह्मा कुक्षियों में सप्तसागर सप्तद्वीप (सप्तधारा) पृथिवी, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सभी अङ्गों सहित आश्रित हैं।" कलश के इस स्पष्ट वर्णन से यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि यह कलश इस अखिल ब्रह्माण्ड और हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के उस मौलिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सभी दैवी तत्त्व अपने अपने प्राणों के शरीर रूप आपोमय मौलिक बीजों के रूपों में विद्य-मान रहते हैं। इसीलिए इसकी पूजा में वरुण देवता का आवाहन किया जाता है। क्योंकि वरुण आपोमय प्राणों की ज्योति का नाम है।

इस कलश का पूर्ण रहस्योद्घाटन तो इस कलश की, की जाने वाली निम्न प्रार्थना स्वयं कर देती है। इसकी प्रार्थना में कहा जाता है कि—"हे कलश! देव-ताओं और असुरों के सम्मिलित प्रयास से (हमारे प्राणों के) समुद्र का मन्थन करने के समय तुम उत्पन्न हुए हो; तब तुमको स्वयं विष्णु (उत्तम प्राण पुरुषोत्तम) ने धारण किया। तुम्हारे प्राणों के आपोमय शरीर में सभी देवों के तीर्थ (या स्थान) हैं और सभी देवता तुममें ही बसते हैं, तुम्हीं में सभी भूत तत्त्व, सभी प्रकार के प्राण तत्त्व भी रहते हैं। तुम्हीं स्वयं शिव हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं ब्रह्मा हो; और वसु रुद्र आदित्य विश्वेदेवता मरुद्गण सब तुम्हीं में निवास करते हैं। तुम्हारी ही कृपा से मैं इस यज्ञ को करना चाह रहा हूँ। अतः हे कलश! सदा स्थिर रहो, प्रसन्न या खिले या उद्दीप्त रहो, हे अग्नि रूप कलश! हे सोम प्राण रूप कलश (वाजिन् अर्वन्)!! वलवान् शक्तिमान् बने रहो, सर्वत्र गतिमान बनो, व्यापक शरीरवान् बना, तुम देवताओं की सदों या धामों से युक्त हो, और इस पुरुष के शरीर रूप ब्रह्माण्ड को वहन या धारण करने वाले हो।"

समुद्र मन्थन से इस कलश की उत्पत्ति बताना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और सत्य है। यह समुद्र मन्थन और कलश काल्पनिक नहीं एक ठोस सत्य घटना है जो प्रत्येक योगी को योग समाधि चढ़ाते हुए अवश्यमेव घटित करनी पड़ती है। सृष्टिकाल में

भी सृष्टि विकासार्थ दैवी आसुरी प्राणों के निरन्तर द्वन्द्व से यह कलश या जीवात्मा-धारी सृष्टि बनती है। योग में देवासुर दोनों के प्रयासों या दैवी आत्मायें और आसुरी भौतिकात्मीय प्राणों के संघर्ष से देवज्योतियाँ उद्दीप्त होती है। मैंने इस समुद्र मन्थन शीर्षक के रहस्य का विवेचन अपने ग्रन्थ 'वैदिक योग सूत्र' में विशिष्ट परिस्थिति और भूमिका सहित कर रखा है। उसे पढ़ लेने पर इस 'कलश' का पूर्ण महत्त्व अच्छी तरह विदित हो जायेगा। संक्षेप में समुद्र मन्थन योग क्रिया और सृष्टि क्रिया है। कलश सोमामृत भरा विष्णु ज्योतिर्मय उद्दीप्त समाधि मण्डल है जिसकी चाँदनी में योगी या अखिल ब्रह्माण्ड की देव ज्योतियाँ उन्मत्त सी बावली सी मदमस्त सी होकर आनन्द मग्न रहती हैं। यह समाधि का साकार स्वरूप है। यह कलश है तो घट घट में पर इसकी अनुभूति मात्र एक उच्च कोटि का योगी ही कर सकता है। इसी नैरन्तरीय तथ्य से सभी को परिचित कराने तथा इस कलश पूजा से उद्दीप्त समाधि के आनन्द की छाया की कुछ कुछ अनुभूति यजमान को कराने या बनाने के लिए इस कलश की स्थापना का आयोजन बाह्य यज्ञों में किया गया था। ग्रह याग इसी कलश का एक मुख्य और अभिन्न अङ्ग है। पहले रक्षा बन्धन का महत्त्व देख लें, फिर इस ग्रह याग पर प्रकाश डाला जावेगा।

अध्याय १४२

रक्षा विधान

रक्षा विधान यह है कि त्रिगुणित सूत्र को पहुँची में तीन या पाँच फेरे (प्रवर संख्या के अनुसार) लगाकर बाँधने से करना और इस सूत्र को बाँधने के समय यह कहना कि "जिस सूत्र से महाबली दानवेन्द्र बली नामक राजा को बाँधा गया था, उसीसे हम तुमको भी बाँधते हैं, अतः हे रक्षे ! तुम अचल अडिग रहो" ("येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥") अब देखना यह शेष रह गया है कि यह रक्षा सूत्र है कौन जिसने या जिससे राजा बली को बाँधा, या बाँधा गया ? सभी भली भाँति जानते होंगे कि राज बलि को वामनावतार के विष्णु ने उसकी समस्त भूमि को तीन महा विक्रमों या डगों से नाप कर, बाँध कर पाताल लोक भेज दिया था। इसका यह तात्पर्य होता है कि यह रक्षा सूत्र या तो स्वयं विष्णु का प्रतिनिधि है या उस विष्णु के तीन महाविक्रम या डगों का, अथवा इन दोनों का, क्योंकि रक्षा सूत्र को भी त्रिगुणित ही बनाया जाता है। इसीलिए यजुर्वेद से लिए गये इस रक्षा के मन्त्र में इसे 'रक्षोहणः' कि यह राक्षसों का हन्ता कहा है। सचमुच रक्षा विधान में प्रयुक्त यजुः के इस 'रक्षोहणः' नाम वाले मन्त्रों का सन्दर्भ भी विष्णु के त्रिविक्रमों से ही है। क्योंकि इस मन्त्र के पहले इन्हीं त्रिविक्रमों का वर्णन है (यजु० ५-१८, १९, २०, ऋ० वे० १-२०,२१ देखें)। इसका यह तात्पर्य होता है कि यह रक्षासूत्र योग प्रक्रिया से विष्णु ज्योति को उद्दीप्त कर—आसुरी प्रवृत्ति के असुर बलि को परास्त कर देता है। यह रक्षासूत्र गायत्री ब्रह्म के त्रिपादों के द्वारा विष्णु ज्योति के त्रिविक्रमों को उद्दीप्त करता है। त्रिपदी गायत्री ब्रह्म सूत्र ही रक्षा सूत्र है। इसीलिए रक्षा विधान में वेद मन्त्रों के प्रयोग में सर्वप्रथम स्थान गायत्री मन्त्र को, तदनन्तर 'गणनान्त्वेस्यादि' गणपति मन्त्र को दिया भी गया है। यही वामन रूप ब्राह्मण है जिसने अपने योग बल से राजा बलि रूप आसुरी प्रवृत्ति को परास्त किया या छल दिया। देखने में छोटी शक्ति ने—वामन-बावन अङ्गुलि रूप ५२ प्राणमय, वामनावतार रूप विष्णु ज्योति रूप ब्राह्मण या ब्रह्म ने बलि रूप महाबली भौतिक शक्ति को पछाड़ डाला। इस ब्राह्मण का नाम ही सूत्र, ब्रह्मसूत्र या ब्राह्मणसूत्र या गायत्री ब्रह्म या त्रिपादामृतीय ज्योति का प्रतीक रूप रक्षा है जैसा कि अथर्ववेद (१०-८-३७,३८) ने लिखा है :—

"यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात्सविद्याद्ब्राह्मणं महत् ॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद्ब्राह्मणं महत् ॥"

यह रक्षा सूत्र या विष्णु त्रिविक्रमीय ज्योतिर्मय किरणों का जाल तो इस ब्रह्माण्ड का मूल निर्माता या इस सृष्टि रूप कपड़े के थान या थानों को बुनने वाला

है जैसा कि ऋग्वेद (१०-१३१-१ इत्यादि) में लिखा है। यह सृष्टि या योगक्रिया एक यज्ञ है जिसको १०१ ऋत्विज पितर या पुरुष अपनी ज्योतियों के सूत्रों के ताने बानों से (कपड़े के थानों के सदृश) बुनते हैं। यही छन्दोमयी कल्पनाभरी नाना सृष्टियां करती है। ये छन्दाक्षरीय सूत्र हैं, ऊर्णानाभि या रेशम के कीड़े के समान ज्योतिर्मय सूत्रों को उगल-उगल कर सृष्टि या अतिसृष्टि करते हैं। 'इन्हीं कपड़े के थानों के समान शरीरों में लपेट कर रखा गया ब्रह्म या आत्मा सुरक्षित रहे' यह भाव इस रक्षा विधान का है। इसी के प्रतीक रूप में दाहिने हाथ में रक्षा लपेटी जाती है।

इस रक्षा विधान को जौ, कुश, दूर्वा सरसों, सुगन्ध, हल्दी, अक्षताः, गोमय दधी से युक्त कर ताम्रपात्र में रखकर किया जाता है। ये सब द्रव्य सृष्टि बीजों के प्रतीक हैं। इसके अनन्तर सभी देवताओं की प्रार्थना सुरक्षा के लिए की जाती है। अन्त में अथवा कर्मादि में तो उक्त द्रव्यों को एक छोटे कपड़े के टुकड़े में बाँध कर दाहिने हाथ में—(संस्कारी तथा माता के हाथों में) और कर्मान्त में केवल रक्षा सूत्र को ही सबके हाथों में बाँध दिया जाता हैं। इस रक्षा को पहनने या पहनाने का वेद मन्त्र यह प्रतीत होता है—

"यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म आबध्नामि शत शारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासम्॥"

(यजुः ३४-५२)

इस मन्त्र में दाक्षायण हिरण्य दो शब्द पारिभाषिक हैं। दाक्षायणा योग के दक्षिणायन में विष्णु ज्योति को उद्दीप्त करने वालों का संकेतक है और 'हिरण्यं' प्राण रूप सुवर्ण या रमणीय ज्योतिर्मय प्राण या वही विष्णु ज्योति है।

अर्थ :—"जिसप्रकार (यत्) दक्षिणायनीय या सोमीय योगयज्ञ करने वाले योगी महर्षियों ने अपने सुमनोयोग से योग क्रिया करते हुए रमणीय प्राणमय विष्णु की सोम ज्योति को रक्षासूत्र रूप ज्योतियों की सैकड़ों किरणों की प्राप्ति के लिए, आबद्ध या प्राप्त या उद्दीप्त किया, उसी प्रकार सैकड़ों वर्षों तक आयुष्मान् और जरा को जीर्ण करने वाला होने के लिए मैं भी उस रमणीय प्राणमय विष्णु ज्योति को उद्दीप्त या प्राप्त करता हूँ॥" इस मन्त्रार्थ से रक्षासूत्र वही विष्णु ज्योति की किरण रूप सूत्र हैं जिसे सोम ज्योति की किरण कहते हैं। अतः रक्षा विधान योग या सृष्टि दोनों प्रक्रियाओं में सोम ज्योति किरण रूप सूत्र से आत्म रक्षा आनन्द रक्षा का विधान है और यहाँ उसी के अभिनय का आयोजन तदनुरूप मन्त्रों के प्रयोगों से किया भी जाता है।

——o——

अध्याय १४३

'घृतछाया'

घृत छाया के विषय पर कुछ पहले सूचित किया जा चुका है, (अध्याय १ के अन्त में देखें)। यह वैदिक पारिभाषिक शब्द 'घृतं' की व्याख्या का अभिनय है। घृत नाम सोम या चन्द्रमा नामक चक्षु का है। यह सोम अमृत ज्योतिः दैवी ज्योति है सर्वद्रष्टा सर्वदर्शिनी चक्षुरूप ज्योति है जिसका प्रमाण "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्" (ऋ० वे० ३-२६-७) है। कर्मकाण्ड में इसका प्रतीक घी को बनाकर सोम विषयक यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि।
धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥"

(यजुः २-३१)

"अर्थात् तुम तेज अग्नि हो, शुक्र बीज हो, अमृत हो, तेजोमय दिव्य लोक हो, देवताओं के अति प्रिय हो और अप्रतिहत शक्ति के हो, देवताओं या ब्राह्मण योगियों के योग यज्ञ में उद्दीपनीय हो।" इसका वर्णन पुनः यजुः ५-२८ के इस भाव के मन्त्र से किया जाता है :—"तुम स्थिर नित्य हो, अतः यह योगी यजमान इस यज्ञभूमि में प्राण रूप प्रजा और देव ज्योति रूप पशुओं (दृश्यमान ज्योतियों) से युक्त हो। समाधि के द्यावापृथिवी रूप दोनों भाग इस सोमीय घृत से आप्लावित हों, तुम इन्द्र के लिए छत्र हो, और उत्तप्त अखिल ब्रह्माण्ड के लिए शीतल छाया हो।" अन्त में मृत्युञ्जय के मन्त्र का उच्चारण कर मृत्यु से अन्धकार से अज्ञान से छुटकारा पाने की प्रार्थना तथा अपने अमृत से पृथक् न करने का निवेदन करते हैं। इस प्रक्रिया में घी को गलाकर उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं जिससे उक्त सब फल मिलने की आशा देते हैं। यह अरिष्ट नाश और मृत्युञ्जय, सोमप्राप्ति से स्वयं हो जाते हैं, अतः घृत छाया से इसका संकेत करते हैं। छाया देखना उक्त अन्तिम मन्त्र के 'विश्व जनस्य छाया' भाग के 'छाया' शब्द को प्रतीक बनाकर विहित किया गया है। यह देखना ज्ञानानुभूति सोमामृत ज्योति की अनुभूति का प्रतीक है। यही भाव शनिवार को तेल में छाया देखने का है। शनि आपो देवियों शन्नो देवी या दैवी ज्योतियों का प्रतीकी देवता है; घृत के स्थान में 'तैल' का प्रयोग करना पौराणिक प्रथा है। ये घृत और तेल प्राण रूप दूध या सरसों को मथ या पेल कर निकाला गया है, समुद्रमन्थन से घृतामृत, सर्षप रेतो विन्दुओं से तैलामृत निकाला जाता है। अपने ही प्राणों के घृत या तेल में अपना दर्शन करो के माने अपने आत्मा के आनन्द सागर को देखो या अनुभूत करो। ऐसा करने से किसका अरिष्ट नष्ट न होगा ? कौन मृत्यु को नहीं जीत लेगा ?

——०——

अध्याय १४४

अग्न्याधान

कुशकण्डिका या कुशण्डी

अग्नि के आधान या स्थापना का कर्म तो सभी कर्मों में सर्वप्रथम किया जाना चाहिए। क्योंकि योगक्रिया का यह सर्वप्रथम कर्म है। परन्तु कर्मकाण्ड या बहिर्यज्ञ में सबसे पहले मुख्य देवताओं की—जिनका वर्णन अब तक हो चुका है—प्रार्थना स्तुति पूजा आदि पहले इसलिए करनी पड़ती है कि आगे के सभी कर्म निर्विघ्न और सफलतया सिद्ध हो जावें। ऋग्वेदादिक में भी ऐसी प्रार्थनायें सर्वत्र व्याप्त और प्राप्त होती हैं। अग्नि का आधान या स्थापना तो भीतर अन्तर्ब्रह्माण्ड या समाधि में की जाती है। समाधि में इसकी स्थापना या उद्दीप्ति जिन जिन उपकरणों और क्रियाओं से की जाती है उनके विभिन्न प्रतीकों के द्वारा बाह्य यज्ञ में बाह्य अग्नि को उद्दीप्ति या स्थापना की जाती है।

कुशण्डी या कुशकण्डिका का कर्म बड़ी सूक्ष्म बिधियों से इसीलिए अग्नि की स्थापना या उद्दीप्ति हेतु किया जाता है। सबसे पहले वेदि चाहिए जो समाधि मण्डल का प्रतीक है। इस यज्ञ के कर्ता या कराने वाले ब्रह्मा (मनः) आचार्य (चक्षुः) का वरण सबसे पहले किया जाता है, आत्मा यजमान का कार्य करता है। वेदि के दक्षिण में स्थित ब्रह्मा (मनः) को उत्तर में स्थापित कर पश्चिम में आत्मासन, यजमानासन भी उत्तर में स्थापित कर पश्चिम में प्रणीतापात्र रखा जाता है। तब कुशाओं को उन स्थानों में बिछाया जाता है जिनका मुख पश्चिमोत्तर और दक्षिणोत्तर किया जाता है। तब सब यज्ञ सामग्री वहाँ पूर्व दिशा में अग्नि के पीछे रख दी जाती है। दो पत्तियों के कुश के पवित्र (बित्ताभर लम्बा) से वहाँ भूमि शुद्धि की जाती है, हवन सामग्री अग्नि और प्रणीतापात्र के मध्य में रखी जाती है। घी को देखकर गरम कर (ब्रह्मा के द्वारा) इसके उत्तर में आचार्य से चरु स्थापित कर राक्षस नाश के लिए जलता अङ्गारा घुमाकर स्रुवा को अधोमुख करके तपाकर सम्मार्जन कुशों से मूल से मुख, मुख से मूल पर्यन्त सम्मार्जित कर कुशों को अग्नि में डाला जाता है। फिर स्रुवा को प्रणीतोदक से सिञ्चित करके तपाकर, सम्मार्जन कर आत्मा के दक्षिण में कुशाओं के ऊपर रख देते हैं। घी को चरु के पूर्व से लेजाकर अग्नि के उत्तर में, चरु को घी के पश्चिम से लेजाकर उत्तर में रखा जाता है। अंगुष्ठानामिका में रखे कुशों से इसे शुद्ध कर देखकर अपद्रव्यनिरसन कर प्रोक्षणी को शुद्ध कर उनमें दो पवित्र रखे जाते हैं। उपयमन कुशों को दक्षिण भाग से लेकर बाँये हाथ में रखकर घी से सने तीन समिधों को लेकर अग्नि में निम्न मन्त्र द्वारा डाला जाता है—

"ॐ समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आऽस्मिन्हव्या जुहोतन ॥१॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे ॥२॥
तन्त्वा समिद्भि रङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ट्य ॥३॥
उप त्वाग्ने हविष्मती घृताचीर्यन्तु हर्यत।
जुषस्व समिधो मम ॥४॥"

कुशण्डी की पूर्वोक्त समस्त क्रिया का विवेचन इस मन्त्र में सूत्र रूप में सब आगया है। यह मन्त्र बहुत प्रसिद्ध और महामहत्वमय है। इसकी व्याख्या ऐ० ब्रा० ने निम्न प्रकार से स्वयं दे रखी है। ऐ० ब्रा० ने १-१-१६ में अग्नि को उद्दीप्त करने की प्रक्रिया देकर १-१-१७, १-२-४ में इस मन्त्र की व्याख्या दी है। इसका यह आशय है कि कुशण्डिका अग्नि को उद्दीप्त करने की प्रक्रिया का विवेचन देती है। यहाँ ब्रह्मा (मनः) यजमान (आत्मा) दो अरणियाँ हैं, चक्षु अध्वर्यु आचार्य है वाक् होता है, प्राण उद्गाता है। इनसे अग्नि उद्दीप्त की जाती है तब कुश पवित्र रूप अग्नि की किरणों से समाधि भूमि शुद्ध की जाती है। घृत आत्मा है, स्रुवा चक्षु है वाक् होता है, अन्य प्राण या इन्हीं प्राणों के शरीर चरु या हवियाँ हैं। तीन समिधा भी उक्त तीन प्राण हैं। जब अग्नि उद्दीप्त हो जाता है तब वह नव जात शिशु के समान नवीन पूज्य अभ्यागत या अथिति के समान उपस्थित होता है। अतः "इन तीनों समिध रूप प्राणों से इस अग्नि की परिचर्या सेवा या ज्वलनात्मक क्रिया सन्तान रखो कहा गया है। अन्य प्राणों को यहाँ पर प्रयाजा और अनुयाजा नाम दिया है। शीर्षन् प्राण प्रयाजा हैं, आवाञ्च प्राण अनुयाजा। ये प्राणोदानापान व्यान समान नामक प्राण है जो उक्त समिध रूप प्राणों की आहुतियाँ देते हैं। घृत से आत्मा से तब उस अतिथि को और अधिक उद्बोधित या उद्दीप्त करने को कहा गया है। तब इसमें अन्य प्राणों की हवियों की आहुति देने का आदेश दिया है। जब यह सर्वज्ञानकेन्द्र अग्नि खूब तेती से उद्दीप्त हो जाय तब आत्मा के घृत को खूब अधिक मात्रा में डालने का आदेश है। यह अग्नि सर्ववेत्ता है। तब इस जातवेदा अग्नि से प्रार्थना करते हैं :-हे नवीन रूप में उत्पन्न होने से सबसे कनिष्ठतम ! और हे अत्यन्तदीप्ति वाले !! हे अङ्गों या प्राणों के रस रूप अङ्गिरः !!! ऐसे तुमको हम अपने प्राणों की समिधाओं और आत्मा के घृत से और अधिक उत्तेजित करते हैं। तुम्हारे पास आत्मारूप घृत में सती प्राण रूप समिधायें वेग के साथ प्राप्त हों। अतः मेरे इन प्राण रूप समिधाओं का प्रेमपूर्वक आस्वादन करो"

इसके पश्चात् 'प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, सोम, वायु, सूर्य, अग्निवरुणौ, सविता, वरुण, विष्णु, मरुत्, अदिति, अग्नि प्रजापति, अग्निस्विष्टकृत् का हवियों से यज्ञ करता हूँ कहकर संकल्प किया जाता है। समाधि में इस संकल्प की कोई आवश्य-

कता नहीं होती। वहाँ सभी कार्य क्रमशः अपने आप होते जाते हैं,। पर बहिर्यज्ञ में यह संकल्प आवश्यक है। क्योंकि यहाँ तो अभिनय करना है। तब इन सबका ध्यान कुछ और निम्न महत्वपूर्ण अर्थ के मन्त्रों से किया जाता है, जैसे—वह अग्नि ही स्वयं अग्नि है वही आदित्य है, वही वायु है वही चन्द्रमा है वही ज्योतिर्मय प्रकाश है, वही ब्रह्म है, वही आपः है, वही प्रजापति है। इसी वैद्युतीय विकिरणमय पुरुष से सभी निमिष रूप काल कलायें उत्पन्न हुई, उसे उर्ध्व अधः तिरछे, मध्य में कोई गृतीत नहीं कर सकते (वह अखण्ड एक है)। उसका नाम महतोमहीयान् यशः (बीज) है, उसकी कोई प्रतीमा या रूप नहीं है। वही यह देवता सभी दिशाओं में व्याप्त है। यही सर्वादि में आविर्भूत हुआ, वही सबके गर्भ या शरीरों के अन्दर व्याप्त है। यही आविर्भूत भी हुआ है, यही आगे उत्पन्न होने वाला भी है, यह सर्वतोमुख है और प्रत्येक जन या व्यष्टि में व्याप्त होकर रहता है। इसके चारों प्राण रूप होतार चार श्रृङ्ग हैं, तीन त्रिपाद रूप तीन पाद हैं दैवी और भौतिक रूप दो सिर हैं, सात अन्य होतारों के प्राण रूप ऋत्विज इसके हाथ हैं, तीन सवन रूप या दैवासुर मनुष्य रूप तीन बन्धन हैं। इस प्रकार यह सोम रूप वर्षण शील अग्नि महः या तेजोमय देवता सभी मर्त्य प्राणियों और अप्राणियों में व्याप्त है॥" इसके पश्चात् भी अग्नि की अन्य पौराणिक तथा वैदिक स्तुतियां और ध्यान के मन्त्र हैं, अग्नि जिह्वाओं की प्रार्थनायें भी हैं।

अग्नि की यह प्रार्थना इतनी दार्शनिक विवेचनाओं से भरी होने पर भी कर्मकाण्डी श्रोत्रियों को इसका उचित मूल्याङ्कन करने की मति नहीं आई। इस प्रार्थना ने सबकी आँखें खोल देनी चाहिए थी। पर हठ धर्मिता ने इस विषय को श्रोत्रियों के लिए सदा के लिए अधर में लटका दिया है। अग्नि का यह विवेचन शुद्ध रूप से इसके आभ्यान्तर स्वरूप का स्वयं स्पष्टतया सबको भासमान हो रहा होगा। बाहर की जली आग तो उसी आभ्यान्तर अग्नि का आभिनयिक प्रतीक मात्र है। यह सब योग और सृष्टि की प्रक्रियाओं की विधियों का अभिनय है। उक्त प्रार्थना के पश्चात् पृथक् पृथक् देवता को उसके सर्वश्रेष्ठ सर्वविदित चुने मन्त्रों से आहुतियां दी जाती हैं। समाधि में आहुति देते समय जैसी अनुभूति ऋषि को हुई उसी का विवेचन इन पृथक् पृथक् मन्त्रों में वर्णित है। अन्त में पूर्णाहुति पूर्ण समर्पण का प्रतीक है। अग्नि विसर्जन समाधि विसर्जन का प्रतीक है।

—o—

अध्याय १४५

ग्रहयाग-रहस्य

वैदिक ग्रहवाद पर में पीछे वै०वि०द० के अध्याय ३९ पृष्ठ ३४६-३४९ में लिख चुका हूँ, उसे पुनः देख लें। हमारा यह शरीर अखिल ब्रह्मांड का एक पूर्ण नमूना या प्रतीक है। जैसे जैसे तत्त्व इस ब्रह्मांड में हैं वैसे ही वैसे सब हमारे इस शरीर में भी है। बाह्य ब्रह्मांड में हम सौर मण्डल में रहते हैं। इसमें मध्य कालीन ज्योतिषियों को सात या नौ ग्रह विदित रहे। ये सात या नौ क्रम से सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि (७) और राहु तथा केतु (९) हैं। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक ज्योतिषियों ने आवान्तर ग्रह हर्षल नेपच्यून प्लूतो और अभी हाल में इटली के एक विद्वान् ने एक नये ग्रह को सूर्य और शुक्र के मध्य में खोजा है। इस प्रकार इनकी कुल गिनती तो १४ हो जाती है। ये लाग राहु और केतु को चन्द्रमा की गति के दो छोरों के संकेतक मानते हैं, अतः वास्तविक संख्या कुल १२ ही रह जाती है। परन्तु हमारे बैदिक महर्षियों को केवल इतने ही १२ या १४ ग्रह विदित नहीं रहे, वरन् वे आठ ग्रह तथा आठ अति ग्रहों को जानते रहे और वास्तविक पूजा या यज्ञ विधान में २० ग्रहों का पूजन करते रहे।

हमारे शरीर के सौरमण्डल का सूर्य या आदित्य तो 'ब्रह्म' या ईशान या ईश्वर है जो हमारे मस्तिष्क में केन्द्रीभूत हो सर्वत्र व्याप्त रहता है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' 'सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टः' (गीता), उसके १६ ग्रह—आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हमारे शरीर के वे तत्त्व हैं जो विभिन्न प्रकार की ग्रहण शक्तियां रखते हैं। श० प० ब्रा० (४-६-५-१) ने लिखा भी है—

> "एष वै ग्रहः, य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजाा गृहीताः।
> तस्मादाहुर्ग्रहान्गृह्णीम इति, चरन्ति ग्रह ग्रहीताः सन्तः॥"

इस प्रकार हम इन ग्रहों से गृहीत होकर आचरण करते हैं। अतः ये ग्रह कहलाते हैं। इन शारीरिक ग्रहों के नाम ये हैं :—प्राण ग्रह, वाक् ग्रह, चक्षुर्ग्रह, श्रोत्रं ग्रह, मनोग्रह, हस्तौग्रह, त्वग् ग्रह। इनके अतिग्रहों के क्रमशः नाम अपानातिग्रह, रसातिग्रह, रूपातिग्रह, शब्दातिग्रह, कामातिग्रह, कर्मातिग्रह और स्पर्शातिग्रह है जिनका विवेचन श० प० ब्रा० ने ४-५-७-२ से लेकर ५ तक में और बृहदारण्य उपनिषद् में जरत्कारव आर्तभाग के याज्ञवल्क्य से पूछने पर अध्याय ३-२ में विस्तार पूर्वक देख रहा है। इतना ही नहीं श० प० ब्रा० का एक पूरे चतुर्थ काण्ड में निम्न उन्नीस (१९) ग्रहों की पूजा का विधान अग्निष्टोम यज्ञ के उपक्रम में विस्तार पूर्वक दे रखा है। वे ग्रह ये हैं :—(१) उपांशु ग्रह (व्यान) (२) अन्तर्याम ग्रह (उदान) (३) ऐन्द्रावायव ग्रह (४) मैत्रावरुण ग्रह (५) आश्विन ग्रह (६) शुक्रामन्थि ग्रह (७) आग्रायण ग्रह (८) उक्थ्य ग्रह (९) ध्रुवग्रह (१०) ऋतु ग्रहेन्द्राग्न वैश्वदेवग्रह

(११) मारुत्वतीय ग्रह (१२) आदित्य ग्रह (१३) सावित्र्य ग्रह (१४) पात्नीवतग्रह (१५) हारियोजन ग्रह) (१६) षोडशिग्रह (१७) अतिग्राह्य ग्रह (१८) अंशुग्रह (१९) महा व्रतीय ग्रह। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हीं ग्रहों के लिए यज्ञ विधान है जप है, होम हैं, दान हैं, अन्य विधान हैं जिनके लिए सैकड़ों मन्त्र हैं यन्त्र हैं तन्त्र हैं। तब प्रश्न उठता है कि क्या ये मन्त्रादिक मात्र उन्हीं ग्रहों से सम्बन्ध रखते हैं जो आकाश में सौर मण्डल में हैं। यदि आप दोनों में अभेद मानों तो हमारे सामने वही निश्चित पहेलियां आती है जिनको कई अज्ञ विद्वानों ने उठाया है। जैसे शनि का मन्त्र तो आपोदेवी का मन्त्र है, मंगल बुध का मन्त्र अग्नि प्रार्थना का, शुक्र का अन्न रस की प्रार्थना का, चन्द्रमा का मन्त्र सोम की वर्णना का, बृहस्पति का मन्त्र ब्रह्म का, राहु केतु के मन्त्र उषा और सूर्य के मन्त्रों के इत्यादि। दूसरी बात इन ग्रहों के नाम की भी है। मंगल को भूमि पुत्र कुज भौम कहा जाता है, पर सृष्टि में पहले मंगल बना तब पृथिवी, अतः इस दृष्टिकोण से इसे पृथिवी का पुत्र नहीं कह सकते। इसे अङ्गारक भी कहते हैं, यह तारा नहीं है ग्रह है। तब अङ्गारक कैसे ? बुध को चन्द्रमा का पुत्र, बृहस्पति की पत्नी से माना जाता है तो शनि को सूर्य का पुत्र। ये बातें बाह्य दृष्टि से अवैज्ञानिक और नितान्त असम्भव हैं। क्या बुध बृहस्पति शुक्र शनि चन्द्रमा के मन्त्र लौकिक ग्रहों में सार्थक है या निरर्थक ? यदि सार्थक हैं तो इतका अर्थ इन ग्रहों में कैसे घटित होता है ? मन्त्र तो इन्हीं का वर्णन देते हैं, पर वे इनमें घटित क्यों नहीं होते ? इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय आर्य ज्योतिष जानते ही नहीं रहे, और दूसरे कहते हैं कि ये मन्त्र इन ग्रहों के हैं ही नहीं।

परन्तु बात दूसरी है। भारतीय ग्रह दो प्रकार के हैं (१) आध्यात्मिक या तात्त्विक और (२) लौकिक या सौरमण्डलीय। कर्मकांड में उक्त विधानों में तात्त्विक ग्रहों की विधियां या विधान हैं। उनके अभिनय के पात्र या प्रतीक लौकिक ग्रह हैं। मनुष्य की सुदशा या दुर्दशा का कारण आध्यात्मिक तत्त्वों का सन्तुलन रखना या खोना है। गीता भी कहती है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु रात्मैव रिपु रात्मनः।"

हमारे ही भीतर हमारे शत्रु भी हैं मित्र भी। जब जिसका प्राबल्य होता है तब वैसी ही बुद्धि हो जाती है। जिस प्रकार ये आभ्यतर ग्रह हमारे चरित्र या भाग्यों के निर्माण में इस प्रकार प्रभाव डालते हैं वैसे ही बाह्य खगोलीय ग्रहों का वातावरण भी हम पर जन्म काल की स्थिति के अनुसार प्रभाव डालता ही है। जैसे सूर्य चन्द्रमा और पृथिवी का प्रभाव सबको साक्षात् दीखता ही होगा, कुछ अदृष्ट भी रहता ही है। इसी प्रकार मंगल ग्रह अग्नि रूप प्राण देवता है। वह पृथिवी या समाधि भूमि में उत्पन्न या उद्दीप्त होता है, अतः भूमि पुत्र कहलाता है। बृहस्पति का नाम वाक्पति है वाक् शरीर है पति, ब्रह्म ज्योति या देवता। इस वाक् शरीर में बुध रूप बोध के बीज के आरोपण से योग क्रिया द्वारा सोम ज्योति या चन्द्रमा का उदय होता है। अतः चन्द्रमा या सोम को बृहस्पति की पत्नी में बुध का

पुत्र कहते हैं, तो अनाचर व्यभिचार की वर्णना हवा में उड़ जाती है। सूर्य तो आदित्य नामक विष्णु देवता है और शनि शन्नो देवी रूप आपोमय प्राण सागर है। इस विष्णु नामक आदित्य से या वृष्ण या वर्षणशील (वृष्णि) से सोम रस की जो अनन्त धारायें निरन्तर बहती हैं। उसी से 'आपोमयाः प्राणाः' का सागर या शन्नो देवी का निर्माण होता है। अतः शनि को सूर्य पुत्र कहा गया है। इसीलिए ग्रह वेदि में भी शनि और वरुण का स्थान एक ही दिशा पश्चिम में दी गई है। शुक्र तो भृगु पुत्र कहलाता है। भृगु तो वरुण वंशी है 'भृगुर्वै वारुणिः' (ऐ० ब्रा०)। वरुण भी 'आपोमया प्राणाः' के सागर का स्वामी या अधिष्ठाता देवता है। आपोमय सागर को यहाँ 'अन्नरस' अदिति वाक् रस मनोमय रस या शुक्र या सोम नामक रेतः (वीर्य) के स्वरूप में गृहीत किया गया है। अतः शुक्र ग्रह के उद्बोधन में 'अन्नात्परिस्रुतो रसं' इत्यादि मन्त्र पढ़ा जाता है। यह मन्त्र, सोलहों आने में, सोमरस का वर्णन देता है। अन्नमय या अदितिमय मनोभय बुद्धि स्वरूपी समाधि मंडल से सोमरस परिस्रवित हुआ, जिसको प्रजापति या प्राणों की प्रजा को वशीभूत किया हुआ योगी अपने मनोरूप ब्रह्मा (योग यज्ञ के ब्रह्मा नामक पुरोहित मनः) के द्वारा पीता है, वह रस पयः के समान मीठा और अमृत सा और उज्वल तथा महाशक्तिशाली (क्षत्रं) है। यह इन्द्र का इन्द्रिय या पीने का मुख्य रस है 'इन्द्रियो रसः' (ऋ० वे० ९) अमृत है, अन्नरस का तेजोमय स्वरूप है इत्यादि। यह रस योग यज्ञ से अन्तिम सत्य रूप अमृतमय (मधु) पेय के समान पिया जाता है। अतः यह शुक्र ग्रह वास्तव में श० प० ब्रा० में वर्णित शुक्रामन्थि ग्रह है। सूर्य आदित्य है, चन्द्रमा सोम है, मंगल अग्नि है, बुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि है, बृहस्पति ब्रह्मणस्पति या ज्ञानाधिष्ठाता मनोमय देवता है; राहु उषा है, केतु उद्दीप्त समाधि की लहलहाती ज्योति के झंडे का प्रतीक।

ग्रह याग में केवल इन्हीं ग्रहों को आहुतियां नहीं दी जाती। इस अवसर पर सभी वैदिक देवताओं को भी उनके तत्तन्मन्त्रोच्चारण के साथ दी जाती है। ग्रहवेदि में इनके वही स्थान होते हैं जो इनको देवताओं की आसन्दी में नियमतः प्राप्त हैं। आसन्दी के चित्र की तुलना निम्न ग्रहवेदि मंडल से कीजिए। इन ग्रहों की स्थापना के मन्त्रों में उमा के लिए 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' इत्यादि अहोरात्र अश्विनौ का मन्त्र है, स्कन्द के लिए 'यदक्रन्द प्रथमं जायमानं' इत्यादि अश्व का, काल के लिए 'कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा' इत्यादि आपोदेवियों का (यजुः ६-२८) है, चित्रगुप्त के लिए 'चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय' (यजु ३-१८) अग्नि का, कुबेर के लिए 'वयं सोमव्रते तव' इत्यादि सोम का, ईशान के लिए 'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं' इत्यादि पूषा का, दुर्गा के लिए 'अम्बे अम्बिके' इत्यादि तीन अम्बिकाओं का और अनन्त के लिए 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः' इत्यादि सर्प का मन्त्र है। इन्हीं मन्त्रों से इनका हवन भी किया जाता है। प्रश्न यह है कि इन देवताओं के लिए दूसरे देवताजो के मन्त्रों का प्रयोग क्यों किया गया है ? उमा तो 'उमा हैमवती' नाम की 'केन' उपनिषदोक्त ब्रह्म की ज्योति रूप लक्ष्मी है। अतः लक्ष्मी का मन्त्र इसके लिए उपयुक्त है।

अर्थात् यह उमा शिव पत्नी न होकर, विष्णु पत्नी है, ब्रह्म पत्नी है, यक्ष पत्नी है। स्कन्द को रुद्र पुत्र बताते हैं। यह रुद्र रूप अग्नि का प्राण रूप अश्व है। रुद्र तो अग्नि रूप प्राण है, उसकी प्राण रूप ज्योति स्कन्द या अश्व है। काल का नाम मृत्यु है। मृत्यु नाम अग्नि का है, यह अग्नि आपो देवियों का अन्न है, आपः में ही अग्नि जीवित रहती है या उद्दीप्त भी होती है और उसीमें वह अन्त में बुझ भी जाती है। अतः आपो देवियों के मन्त्र से काल का आवाहन उचित है (बृह० उप० २-३ में आर्तभाग के प्रश्न और याज्ञवल्क्य के उत्तर को देखें)। चित्र गुप्त यम है, यम अग्नि है। अतः इसके लिए अग्नि के मन्त्र का प्रयोग है। कुवेर के लिए सोम का मन्त्र इसलिए किया जाता है कि कुवेर का खजाना सोम का ही है। दुर्गा सप्तसती में भी लिखा है—

"ददावशून्यं सुरया पानपात्रं धनाधिपः।"

सोम भण्डार ही कुवेर का धन भण्डार है। ईशान तो पूषा देवता ही है, वही ईश्वर है। अतः इसके मन्त्र से ईशान की पूजा आवाहन किया है। अनन्त इस ब्रह्माण्ड की प्रतिष्ठा के लिए स्नायुरज्जु है। सर्प प्राणों की सर्पण क्रिया के प्रतीक हैं। 'सर्पन्तीति सर्पाः' (श० प० ब्रा०)। अतः सर्पों को प्राणों की स्नायु रज्जुओं के रूप में पूजा में आहूत किया जाना है। सर्पयज्ञ प्राण प्रवाह यज्ञ है।

अब आपने देख लिया होगा कि सूर्य, बृहस्पति, ब्रह्म, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, निर्ऋति, प्रजापति, आपः, पृथिवी, इन्द्राणी, अश्विनौ, वरुण के मन्त्रों को छोड़कर अन्य देवताओं के आवाहनादि के मन्त्र दूसरे देवताओं के मन्त्र हैं। इन दूसरे देवताओं के मन्त्रों से इन चन्द्रमा (सोम) मंगल, बुध, शुक्र, शनि, राहु, केतु, ईश्वर (त्र्यम्बक), उमा, स्कन्द, यम, काल, प्रभृति के आवाहन स्थापन पूजन हवनादिक किस प्रकार सार्थक समझे जाने चाहिए? इस पहेली का समाधान मात्र यही है कि वैदिक ऋषि अपने आभ्यान्तर जगत् (समाधि) के देवताओं का आह्वानादि उन्हीं देवताओं के द्वारा कर रहे हैं जिनसे यहाँ किया जा रहा है, पर वे वहाँ पर बाह्य यज्ञ को लौकिकतया सार्थक सिद्ध करने के लिए इस लौकिक सौर भूमण्डल के तत्तद्ग्रहों को उन आभ्यन्तर देवताओं का प्रतीक—मात्र इस दृष्टि से कि, साधारण जनता की साधारण शंका का समाधान भी हो जाय—बनाकर कर रहे हैं। इस शंका के समाधान के लिए—मंगल के लिए 'पतिः पृथिव्याः' (पृथिवी का पुत्र रूप पालक) आ गया है, यही मंगल का या भौम या भूमि पुत्र नाम का संकेतक है, वैसे यह अग्नि का मंत्र है। बुध के मंत्र में 'उद्बुध्यस्व' का 'बुध् शब्द मात्र' संकेतक है, शुक्र के मन्त्र में 'शुक्र' (मन्धसः) शब्द आया ही है, शनि के मन्त्र में मात्र 'शं नः' शब्द प्रतीक है, राहु के मन्त्र में 'चित्रः' (नानावर्णः) शब्द संकेतक है, केतु के मंत्र में तो 'केतु' शब्द पूरा आ ही गया है। चन्द्रमा का नाम सोम है ही। अतः सोम के मन्त्र का यही सोम नाम चन्द्रमा का प्रतीक बन पड़ा है, स्कन्द के लिए—'यद् अक्रन्दः' का 'क्रन्द' शब्द मात्र प्रतीक है, यम के लिए अश्व के मन्त्र का 'यम' शब्द प्रतीक है, काल के लिए आपोदेवियों के मन्त्र के 'कार्षिरसि' शब्द का 'का' शब्द

मात्र प्रतीक है, चित्रगुप्त के लिए अग्नि के मन्त्र में 'चित्रावसो' का 'चित्र' शब्द, दुर्गा के लिए 'अम्बादि' मां अर्थ के शब्द प्रतीक हैं इत्यादि ।

परन्तु आजकल की सुबुद्ध जनता के लिए यह समाधान अवैज्ञानिक है। अतः वास्तविक समाधान इस प्रकार है। उक्त प्रतीकाक्षर वाले मन्त्रों की सार्थकता और देवता विषयक सार्थकता के बारे में पिछले परिच्छेद से पहले परिच्छेद में कहा जा चुका है जिसके अनुसार इन प्रतीकों से, इस प्रकार, केवल इन्हीं देवताओं के आवाहनादि को सार्थक नहीं बनाया गया है प्रत्युत पिछले परिच्छेद के आदि में उल्लिखित जिन देवताओं के मन्त्र स्वयं इन्हीं देवताओं के चुने या रखे गये हैं उनमें से भी कोई भी देवता किसी भी बाह्य जगत् के ग्रहों या वस्तुओं के सूचक या प्रतिनिधि नहीं हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्म निर्ऋति इन्द्र इन्द्राणी प्रजापति विष्णु इन्द्राणी अश्विनौ वरुण देवता हैं। इनको कौन कह सकता है कि ये बाह्य जगत् के हैं। रह गई बात सूर्य बृहस्पति अग्नि आपः पृथिवी की। ये भी बाह्य जगत् के नहीं हैं। बाह्य सूर्य तो सौरमण्डल मात्र का जनक है शेष भुवनों का जनक कौन सूर्य होगा ? ब्रह्मांड में ऐसे भी महाविशाल अनेकों सूर्य हैं, जिनके सामने यह प्रत्यक्ष सूर्य मात्र एक चिनगारी के बराबर है। यह मन्त्रोक्त सूर्य तो इस अखिल ब्रह्मांड का उत्तम प्राण रूप विष्णु रूप आदित्य है। बृहस्पति भी सौरमण्डल का ग्रह नहीं है, यह तो 'ज्ञानात्मा' सत्यात्मा, अनन्तात्मा ब्रह्मणस्पति देवता है। जहाँ सूर्य और विष्णु दोनों हैं वहाँ विष्णु तो उत्तम प्राण है और सूर्य सविता सोम और सोम ग्रह जीवात्मा या दिव्य शरीर। इन्द्र मध्यम प्राण है इन्द्राणी उसकी शक्ति। निर्ऋति सृष्टि के लिए स्वच्छन्द चारिणी विधवासम आद्या भौतिकी प्रकृति। प्रजापति तो हिरण्यगर्भ है, उसीके सूक्त में इसका मन्त्र है। जीवात्मा भी प्रजापति है। आपः तत्त्व प्राणों के सूक्ष्म शरीर हैं। पृथिवी अन्तर्ब्रह्मांड का निम्न भाग है। यह लौकिक पृथिवी नहीं है। अश्विनौ प्राणोदानौ हैं। वरुण आपो देवी रूप प्राण शरीरों में चैतन्यता फूंकने वाला तत्त्व या देवता है। क्योंकि इसको चेतयिता या प्राचेतस् कहा गया है। यह विश्लेषण इसलिए दिया जा रहा है कि इनके मन्त्रों का अर्थ भी इनके नामों से लोक में संकेतित बाह्य पदार्थों में किसी भी प्रकार घटित नहीं हो सकता। ये मन्त्र पृथक् पृथक् संदर्भों सूक्तों और व्याख्यानों से एक साथ जुटा मात्र दिए गये हैं। यह संकलन अन्तर्जगत् के तत्त्वों के क्रम को उचित रूप से बिठाने के लिए किया गया है।

ऐसी विकट उलझनों भरी इस ग्रहयाग पद्धति में तब यह क्या तमाशा कर रखा है ? नहीं, कोई तमाशा नहीं हैं, सब क्रियायें यथा स्थान यथोचित रूप से प्रतिष्ठित हैं। कोई श्रोत्रिय चाहे वह वेदार्थ जाने या नहीं, वह अपने पूर्वज महर्षियों के 'पूर्वेषां पन्था अनु दृश्य धीरा अन्वा लेभिरे रथ्यो न रश्मीन्' के अनुसार कभी भी इधर उधर भटक नहीं सकता। चाहे उसकी क्रियायें देखने में, प्रत्यक्ष में, किसी को कितनी ही असंगति पूर्ण क्यों न लगें, वह अपनी श्रुति स्मृति लब्ध क्रिया छोड़ नहीं सकता। तब इस ग्रहयाग पद्धति का समुचित समाधान विश्लेषण और

वास्तविक रहस्य क्या है ? इसकी खोज करना ही इसकी आलोचना करने से अधिक श्रेयस्कर ही नहीं अपितु सारे अन्धकार पटल को चीर फाड़कर दूर फेंकने में समर्थ हो जायेगा।

वास्तुस्थिति यह या इस प्रकार है। जिन वैदिक युग के सर्वप्राचीन अनूचान शुश्रुवान्त्स योगी ब्राह्मण देवता महर्षियों ने इस यज्ञ प्रणाली का आविष्कार सर्वप्रथम किया था वे चाहते यह रहे कि योग और सृष्टि की आभ्यान्तर सूक्ष्म क्रियाओं का अभिनय इस प्रकार संगठित किया जाय जिससे बाहर से देखने में साधारण जनता को इसमें कोई शंका उत्पन्न न हो, तथा देवताओं के प्रायः सभी सर्वश्रेष्ठ मन्त्रों का प्रचार प्रशस्त रूप में होकर वेदों की भी सुरक्षा हो जाय। वेदों की इस समीचीन सुरक्षा के उपाय से हमारे तीनों कार्य एक ही यज्ञ विधि से एक साथ हो जाते हैं। वे हैं--वैदिक योगमयी संस्कृति की रक्षा। यज्ञ इतने और उतने प्रकार के हैं जिनकी विधियों में समस्त वैदिक वाङ्मय उद्धृत हो जाता है। उन्हें इस बात की चिन्ता कम थी कि यज्ञ की बाहर की विधि में किसी ऐसी वस्तु या पदार्थ या देवता के लिए उचित मन्त्र का प्रयोग हो रहा है जिसका नाम वैदिक योग में कुछ दूसरा था। उनको चिन्ता थी कि देवता के योग विषयक नाम का ऐसा मन्त्र अवश्य आ जाय, जिसमें उसके लौकिक नाम के संकेत का कोई अक्षर या शब्द भी विद्यमान होते हुए तद्विषयक शंका न होने दें। यही किया भी गया है। यज्ञों में प्रयुक्त पदार्थों जैसे दूध दही मधु नाना पात्र उपकरणों के प्रयोग प्रायः ऐसे ही मन्त्रों का प्रयोग है। इससे प्रायः समस्त वेद मन्त्र उद्धृत हो जाते हैं।

इसका यह तात्पर्य है कि वैदिक महर्षि ज्योतिष के खगोलीय ग्रहों की अवहेलना या उपेक्षा कर रहे हैं और वे इन ग्रहों के प्रभाव को नहीं मानते रहे। नहीं ऐसा कदापि नहीं है। वे खगोलीय बाह्य ग्रहों की ही शान्ति को आत्मीय या आभ्यन्तर ग्रहों की शान्ति विधि से सम्पन्न कर 'आम के आम गुठली के दाम' नाम की कहावत चरितार्थ कर गये हैं। बाह्य ग्रहों की शान्ति तो इनके नामों से आहुति देकर—जैसे 'इदं सूर्याय स्वाहा' सोमाय स्वाहा, इत्यादि से—हो ही जाती है, मन्त्र से आभ्यन्तर ग्रहों की। इससे इन दोनों प्रकार के ग्रहों का आवाहन आदि मन्त्रतः और नामतः दोनों प्रकार से हो जाने से इन दोनों प्रकार के ग्रहों को एक एक करके तादाभ्य करने का भी न तो प्रश्न ही उठता है न आवश्यकता ही रह जाती है। उदाहरण के लिए किसी भी ग्रह या देवता के आवाहनादि के विनियोग और मन्त्र को ले लीजिये—जैसे मंगल ग्रह के लिए यह विनियोग है—"अग्निर्मूर्द्धेति विरूपाक्ष ऋषिः, गायत्री छन्दः भौमो देवता भौम प्रीतये धूम्रकेत्वग्नौ (खदिर समिद्धोमे अन्यद्‌द्रव्य) होमे विनियोग " इसके अग्निर्मूर्द्धेति से गायत्री छन्दः' तक का भाग तो आभ्यन्तर जगत् के 'अग्निमूर्द्धा' इत्यादि का पाठ जब आभ्यन्तर ग्रह के होम का सूचक है तो अन्त में 'इदं भौमाय' शब्द बाह्य जगत् के भौमग्रह के लिए हवन का आवाहन करता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझिए। इस प्रकार यह विधि दुधारू दुधारू है, या दो धारायें साथ-साथ बहाने वाली है। तान्त्रिक रीति से होम करने

वाले, इसीलिए इन ग्रहों का हवन केवल नाम मात्र से जैसे 'इदं सूर्याय स्वाहा' कह कर करते हैं। यह होम मात्र बाह्य जगत् के ग्रहों के लिए हैं। इस विधि से शारीरिक या आभ्यन्तर ग्रहों का हवन नहीं होता।

हवन सामग्री

जिस प्रकार उक्त मन्त्र आभ्यन्तर जगत् के यज्ञ की विधियाँ देते हैं और इनसे बाह्य पदार्थों की शान्ति, मात्र प्रतीकाक्षरों से मानी जाती है, वैसे ही बाह्य अग्नि में सोम के स्थान में घी, तिल, जौ, का, छन्दों के पादों प्राणों के स्थान में समिधों का, विभिन्न छन्दों के लिए या ओषधि रूप सोम के लिए विभिन्न वृक्षों की समिधों का प्रयोग किया जाता है क्यों कि घृत और यव नाम सोम का है, तिल सरसों घृतानुरूप तैल देते हैं। छन्दों के पादों या प्राणों को समिध नाम से पुकारा जाता है। बाहर इस हवन से गृह शुद्धि भी हो जाती है, बाह्य ग्रह शुद्धि भी; भीतर के हवन से तो आत्म शुद्धि तुष्टि शान्ति सब होती ही है।

ग्रहों का बलिदान

हवन के अन्त में बलिदान का नियम है। बलिदान में कोई कोई तो 'अजा' आदि किसी पशु ही की बलि चढ़ाते हैं, पर यहाँ इस ग्रहयाग पद्धति में दीप सहित गुडौदनबलि (मीठे भात की हविः) या पायस बलि (खीर का नैवेद्य) या दध्यक्षत बलि (दही चावल मिलाकर) प्रत्येक ग्रह देवता, अधिदेवता और प्रत्यधि देवता को क्रम से तीन वर्तुल पक्तियों में स्थापना करने के लिए प्रत्येक के लिए निम्न प्रकार के मन्त्र का प्रयोग किया जाता जैसे सूर्य के लिए—"ॐ सूर्याय साङ्गाय सपरिवाराय सायुधाय सशक्तिकाय एष सदीपो गुडौदनबलिः नमः" अर्थात् "शक्ति सहित आयुध सहित परिवार सहित अङ्ग सहित सूर्य के लिए यह बलि अर्पित है प्रणाम" इत्यादि। तब हाथ में पानी लेकर उस देवता को दो बार सम्बोधित करके निम्न प्रार्थना करके उस बलि में छोड़ा जाता है जैसे "भो भो सूर्य एतं सदीपं गुडौदन बलिं गृहाण, सपरिवारस्य मम यजमानस्य (वा) आयुष्कर्ता क्षेमकर्ता शान्तिकर्ता तुष्टिकर्ता पुष्टिकर्ता भव" अर्थात् हे हे सूर्य इस दीप सहित गुडौदन बलि को स्वीकार करो, और परिवार सहित मुझ यजमान के लिए दीर्घायुकारी क्षेम मंगलकारी शान्तिकारी संतुष्टिकारी और पुष्टिकारी बनो। इसी प्रकार प्रत्येक को यह बलि दी जाती है। अन्त में क्षेत्रपाल के लिए चार बत्तियों सहित पात्र भेट सहित खीचड़ी की बलि पूर्वोक्त विधि से ही पूजनादि पूर्वक देकर उसे महा ब्राह्मण द्वारा चतुष्पथ (चौराहे) में रखवा दिया जाता है, (क्षेत्रपाल की मूर्ति मकान की धुरी में कहीं कहीं)।

इस बलि-समर्पण का आशय या रहस्य तत्तत् देवता को अपने प्राणों की बलि या भेट दीप सहित या उद्दीप्त करके दी जाती है। इसी प्राणों की बलि का नाम 'पुरोडास भी है। पुरोडास माने (पुरः+दासः)—'पुरः नामक आदि आदि में आविर्भूत दास रूप भौतिकात्मा या प्राण' होता है इसकी पूरी व्याख्या आगे देखिए।

यह क्रिया सोम ज्योति को उद्दीप्त करके उसका अभूतपूर्व अलौकिक आनन्द लेने या ब्रह्मानन्द लेने के लिए की जाती है। गुडौदन या पायस या दध्यक्षत उक्त 'पुरोडास' के पर्य्याय या प्रतिनिधि हैं। पूर्वोक्त ग्रहों का हवन करने के पश्चात् यह विधि या पुरोडास विधि का विधान भी साथ साथ करके पूर्ण सोमानुभूति का आनन्द पाने का अभिनय कर दिया जाता है। पुरोडास प्राशन से सोमानुभूति की एक झलक मिलती है: अन्त का मीठा भोजन सारे भोजन को मीठा कर देता है। इसी लिए इस प्रकार की झलक दिखा दी गई है।

पूर्णाहुति होम

पूर्णाहुति होम के बारे में कहा तो यह है कि यह कर्म न्यूनातिरिक्तता (या कमी वेशी) के परिहार के लिए किया जाता है। न्यूनातिरिक्तता दोष दोनों में सम्भव है। यह बाह्य जगत् में तो होना ही है, आभ्यान्तर जगत् में भी किसी प्राण की क्रिया में न्यूनातिरिक्तता आना असम्भव नहीं। भूल चूक काम करने (बाहर) में भी होती है मानसिक (आभ्यन्तर) क्रिया में भी। उस भूल चूक वाली कमी वेशी या न्यूनातिरिक्तता को पूरा करने कम करने के निमित्त यह पूर्णाहुति होम बाह्य जगत् में अवश्य किया जाता है, अवश्य करना भी चाहिए। परन्तु इस पूर्णाहुति का यह वास्तविक तात्पर्य यह नहीं है। इसका आशय या रहस्य महा भयंकर है। अजी यह तो योग क्रिया से समस्त प्राणों की सम्मिलित आहुति को ब्रह्माग्नि की वेदि में ब्रह्माण्ड भेदन कर करने का अभिनय है। इसीलिए इस पूर्णाहुति की सामग्री मात्र जुटाने वाला शरीर रूप यजमान होता है। इस पूर्णाहुति को देने वाला मनो-रूप ब्रह्मा ही हुतशेष घृत रूप सोम ज्योति को द्वादशधा या द्वादश प्राणों के रूपों में खड़े होकर आहुति देता है और आचार्य या ज्ञान रूप बैठे बैठे होम करता है। शरीर की लीला समाप्त हो जाती है. आगे यम बन कर अतिमृत्यु को पार कर, मोक्ष-योग द्वारा इस प्राणाग्नि को ब्रह्मसागर में बुझाकर इसका निर्वाण हो जाता है। (मेरे योग सूत्र में इस योग का वर्णन देखें)।

इस पूर्णाहुति के द्रव्य हैं— सुपारी, गोला, लाल वस्त्र, कुश पवित्र, स्रुवा घी। ब्रह्मा मनः है, आचार्य अग्नि है, स्रुवा योग की संवेदना वाली सुषुम्ना का प्रतिक्षेप धनु है, घी उद्दीप्त ज्ञान है, लालवस्त्र दीप्ताग्नि है, गोला रसमय घृतमय सोममय संवेदना-मय प्राण है, पवित्र आत्मा है, सुपारी दिव्य शरीर। इन सबकी आहुति दे दी या आहूति की जाती है। अभिषेक के साथ साथ इसीलिए हवनान्त में शान्ति पाठ किया जाता है कि योगी के आत्मा को इस योग क्रिया से शान्ति मिले। बाह्य यज्ञों में इस शान्ति का अभिप्राय आनन्द और अभ्युदय है। इस शान्ति पाठ से पहले दक्षिणादि दान मात्र बाह्य यज्ञ के पुरोहितों के लिए हैं। भीतर के पुरोहित तो शान्ति मार्ग में चल पड़े। उन्हें यह दच्छिना वच्छिन्ना कुछ नहीं चाहिए। यहाँ के ये पुरोहित तो 'वाक् होता, चक्षुरध्वर्युः मनो ब्रह्मा, प्राण उद्गाता' हैं। इनका स्वरूप ही स्वयं अब अग्नि आदित्य चन्द्रमा और वायु देवताओं का हो गया है। इनको आदित्य के लिए कपिला गौ के बदले कपिला रश्मियाँ, सोम के लिए शंख

के बदले शुक्ल रश्मियाँ, भौम के लिए रक्त वृषभ के बदले रक्त रश्मियाँ, बुध के लिए सुवर्ण के बदले पीत रश्मियाँ, बृहस्पति के लिए युग्म पीत वस्त्र के बदले भौतिकामृतीय जीवात्मा परमात्मा रूप पीत रश्मियाँ, शुक्र के लिए श्वेताश्व के बदले शुक्ल वर्णीय प्राणाश्व, शनि के लिए कृष्ण गौ के बदले मनो ब्रह्माण्ड मय कृष्ण ज्योतियाँ, राहु के लिए खड्ग के बदले ज्ञान खड्ग या विद्या और केतु के लिए छाग या अजा या दैवी माया स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। (बाह्य यज्ञ के ब्राह्मणों को कपिला गौ प्रभृति साकारतया दी जाती हैं)। इस प्रकार से आयोजित यह ग्रहयाग वैदिक अग्निष्टोम यज्ञ का एक स्वरूप है, यह बात पीछे वैदिक ग्रहों और अतिग्रहों के उल्लेख के अवसर पर बताई जा चुकी है, इसे ध्यान में रखना या जाने रहना अवश्यक है।

---o---

अध्याय १४६

महायज्ञ

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में महायज्ञों में सर्वप्रथम स्थान दर्श-पौर्णस याग को दिया गया है, परन्तु वेदों के मन्त्र भाग या संहिता भाग में निम्नलिखित जिन जिन महायज्ञों को हम ब्राह्मणादि श्रौतसूत्रादि प्रस्थानत्रयी प्रभृतियों में उल्लिखित पाते हैं उनका कहीं भी कोई उल्लेख या वर्णन नहीं मिलता। संहिताओं में तो मात्र सोम याग की चर्चा है और इस सोम से सम्बद्ध सभी देवी देवताओं की चर्चा है। अतः वैदिक महर्षियों का प्रधान यज्ञ सोमयाग ही है; और जिन जिन अन्य महायज्ञों का विधान और वर्णन प्रस्थानत्रयी और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है वे निश्चय ही सोमयाग के रूपान्तर मात्र हैं, सोमाभिषव की विभिन्न शैलियां या मार्ग हैं, यह आगे चलकर तत्तद् स्थल पर इन यज्ञों के विवेचनावसर पर स्वयं ही स्पष्ट कर दिया जावेगा। ब्राह्मण ग्रन्थों और प्रस्थानत्रयी में निम्नलिखित महायज्ञों का वर्णन मिलता है :—ये सब विभिन्न प्रकार के सोमयाग ही हैं इनकी संख्या १६+३३+३७+७७+१००=२६३ दो सौ त्रैसठ होती है। इनके भी कई आवान्तर भेद हैं जिनसे इनकी संख्या और अधिक हो जाती है, प्रधान याग ये हैं (१) दर्शपूर्णमासयाग, चातुर्मास्ययाग, वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेध=मरुतों की क्रीडनीयेष्टि, अदितीष्टि, महाहविः संज्ञकेष्टि, पितृयज, त्र्यम्बकेष्टि (२) शुनाशीरेष्टि (३) निरूढ पशुबन्ध (४) आग्रायणेष्टि (५) सौत्रामणी, (६) सोमयाग, (७) द्वादशाहयज्ञ (८) गवामयन सत्रं (९) वाजपेय यज्ञ (१०) राजसूय यज्ञः (११) अग्निचयनं (सोमयागाङ्गभूतं) (१२) अश्वमेध (सोमयागः) (१३) पुरुषमेधयाग (१४) सर्वमेधयाग (१५) पितृमेधयाग (१६) एकाहयाग (१७) अहीनयाग (द्व्यहप्रभृति द्वादशदिन पर्यन्तकर्तृक) (१८) अहोरात्र (१९) रात्रि सत्राणि (त्रयोदशरात्र प्रभृति शतरात्र पर्यन्तं)—शतरात्रं। (अग्निष्टोम और ज्योतिष्टोम दोनों नाम सोम याग के हैं और शतरात्र भी सोमयाग का ही एक रूप है)। इन सबका रहस्य सोमयाग पद्धति ही से खुलता है। अतः पहले उसी पर यहाँ पर विचार करना आवश्यक है।

सोमीय महायज्ञ या सोम योगाभिनय

सोमयाग वसन्त ऋतु में फाल्गुन शुक्ल एकादशी को प्रारम्भ कर पौर्णमासी को पूरा किया जाता है। वैसे इस यज्ञ को एक दिन से लेकर एक हजार वर्ष तक करते रहने का विधान है। यही एक हजार वर्ष तक करने का विधान यह सिद्ध करता है कि यह सोमयाग केवल ब्राह्मण देवताओं का है जिसको इतने लम्बे समय तक योग द्वारा ही किया जाता रहा। लौकिक द्रव्य यज्ञों में एकादशी के दिन प्रारम्भिक पूजा में आभ्युदयिक श्राद्ध के अनन्तर सर्वप्रथम सोमप्रवाक नामक

ऋत्विज का वरण किया जाता है। इस सोम प्रवाक नामक ऋत्विज को श्रोत्रियों को निमन्त्रण देने के लिए भेजा जाता है। वह अधर्यु प्रभृति ब्राह्मणों के घर जाकर सूचित करता है कि अमुक के यहाँ सोमयाग होने जा रहा है, क्या आप वहाँ ऋत्विज का कार्य करेंगे? अध्वर्यु पूछता है कि आधान प्रभृति में कौन ऋत्विज थे, वे कहाँ गये हैं? हमारी खोज क्यों है? (वास्तव में ऐसे श्रोत्रियों की खोज की जाती रही जो सचमुच में महायोगी होते थे)। इस कार्य की दक्षिणा क्या मिलेगी? और यह भी बताओ कि कौन-कौन देवता होता अध्वर्यु प्रभृति हैं? इन प्रश्नों का उत्तर उचित रूप से देकर, उस ऋत्विज को यह सूचित कर कि इस यज्ञ में अग्नि होता है, आदित्य अध्वर्यु है, पर्जन्य उद्गाता है चन्द्रमा ब्रह्मा है, आकाश सदस्य है, आपः होत्राशंसी हैं, रश्मि चमसाध्वर्यु हैं, उस यज्ञ भूमि में बुला लिया जाता था। इसी प्रकार अन्य ऋत्विजों को भी बुला कर लाया जाता रहा। सभी ऋत्विजों के आ जाने पर इनको उक्त वास्तविक ऋत्विज - अग्नि आदित्य, पर्जन्य चन्द्रमा आकाश आपः और रश्मि के स्थानों में क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, सदस्य, होत्राशंसी और चमसाध्वर्यु के नामों से प्रतिनिधि रूप में वरण कर नियुक्त किया जाता रहा। इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि इस सोमयाग के मुख्य ऋत्विज तो स्वयं देवता ही हैं—अग्नि वायु (पर्जन्य) आदित्य चन्द्रमा आकाश आपः और रश्मियाँ। इनके स्थान में इन्हीं का अभिनय करने के लिए असली ब्राह्मण देवताओं को महायोगियों को ही नियुक्त किया जाता रहा न कि आजकल के जैसे ग्रामोफोन रिकार्ड जैसे पण्डितों को। पहले इस ग्रन्थ वैदिक विश्व दर्शन प्रथम भाग पृष्ठ ७ में इस बात की सोदाहरण पुष्टि कर दी गई है। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस सोम को ये आजकल के याज्ञिक ब्राह्मण जड़ी बूटी लता न्यग्रोध फलादि को घोट पीस कर या पका कर उसके रस को पीकर यह समझने की भूल करते हैं कि इसने सोमपान कर लिया, वह वास्तविक सोम नहीं है, यह तो इन बाह्ययज्ञों में अभिनय मात्र के लिए चुना गया प्रतीक है। जिस तत्त्व को वैदिक महर्षि अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवता सोमनाम से पुकारते रहे उसे इस अन्न खाने पीने के मुख से नहीं खाया पीया जाता। जिसे वास्तव में सोमरस कहते है वह तो समाधि के अन्दर बृहती वाक् की ज्योति के विधान या स्वरूप में सुगोपित रहता है। ये लोग, हे सोम! तुम्हरा नाम 'दृषदुपले' या सिलवट्टा सुनकर धोखा खा गये हैं। हे सोम! तुमको इस प्रकार नहीं पिया वा खाया जाता (देखिये ऋ० वे० १०-८५-३, ४)। यह देखकर सचमुच में बड़ाभारी आश्चर्य होता है कि जहां पाश्चात्य विद्वानों को बड़ाभारी अन्वेषक कहा जाता है, वहां उन्होंने ऋग्वेद के उक्त मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धृत उद्धरणों को देख सुन पढ़ कर भी इस सोम के बारे में भारतीय अदार्शनिक पण्डितों की तरह निम्नलिखित अवैज्ञानिक और निर्मूल धारणामय विचार प्रकट कर सबको धोखा दे दिया है, क्या क्या भद्दी भद्दी बातें महायोगी महर्षियों के बारे में लिख मारी हैं, आवेश आये बिना नहीं रहा जाता—

"Soma: (is) the god who represents and animates the juice of Soma plant. He was in former times the Indian Dionysus or Bacchuls.

The *simple minded* (?) Aryan people, says, Professor Whitney, 'whose whole religion was a worship of the wonderful powers and phenomena of Nature, had no sooner perceived that this liquid (Soma-juice) had powers to elevate the spirits and produce a temporary frenzy, under the influence of which the individual was prompted to, and capable of, deeds beyond his natural powers, than they found in it some thing devine; it was to their apprehension a god endowing those into whom it entered with god like powers; the plant which offered it became to them the king of plants, the process of preparing it became a holy sacrifice. The high auttiquity to this culture is attested by the reference to it found occuring in the Persian Avesta. See Miur O. S. Texts V. 258 also."

सोम के सम्बन्ध में समस्त पाश्चात्य विद्वानों की यही धारणा है। इस धारणा के समान मूर्खता की पराकाष्ठा सोम के सम्बन्ध में अन्य कोई हो ही नहीं सकती। ये लोग शराबी कबाबी होते हैं। अतः वे उक्त वक्तव्य से अपने जीवनी की आचार संहिता का समर्थन कर रहे हैं। इसीलिए ऋग्वेद के उक्त मन्त्र के आशय का तिरस्कार करने में भी नहीं हिचके हैं। वैदिक महर्षि और सुरापान दोनों का एक साथ होना नितान्त असम्भव और असंगत है यहाँ तक कि राजर्षियों को भी सोमपान का अधिकार नहीं है, उनके लिए न्यग्रोध के फलों का रस बनाया जाता रहा। सोम केवल महर्षियों और योगियों के पीने की वस्तु है। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को सोमलता रस पीने को इसलिए दिया जाता रहा कि ये नकली ब्राह्मण हैं केवल नकली सोमलता का रस असली सोम के स्थान में पीने के अधिकारी हैं। सोम याग में जो १९ ग्रह हैं उन्हें सुराग्रह कहा जाता रहा। पर इनके अभिनय में भी सुरा का ग्रहण नहीं किया जाता रहा। इससे सिद्ध होता है कि सुरा नाम की वस्तु दूसरी थी, सुरा नाम न तो नकली सोमलता रस था न न्यग्रोध (वृक्ष) के फलों से बने रस का। सुरा का निर्माण गेहूँ जौ और दही से होता रहा। अतः इनसे बने रसों को सुरा, यवाशिर गवाशिर और दध्याशिर नाम से पुकारते थे। परन्तु यज्ञ में इनमें से किसी का भी प्रयोग नहीं होता रहा। कर्मकाण्डी ब्राह्मण आखिरकार शुद्ध ब्राह्मण होते ही थे, भले ही वे योगी न हों, यद्यपि प्राचीन काल में सभी कर्मकाण्डी योगी ही हुआ करते रहे। सुराग्रहों का पूजनादिक ताम्रपात्र में दूध रखकर इसलिए किया जाता रहा कि ताँबे के पात्र में रखे दूध को सुरा सम बताया या कहा जाता रहा और अब भी कहा जाता है। अतः मूल में यवाशिर गवाशिर और दध्याशिर शब्दों का अर्थ भी दूध मिला सोम जौ के भुने धाना सहित सोम, दही मिश्रित सोम ही वैदिक मन्त्र काल में गृहीत होता रहा। कहने का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सुरा जैसी वस्तु वैदिक युग में या श्रौतसूत्र काल में यज्ञों में कहीं भी प्रयोग में नहीं लाई जाती रही। सुरा बनती रही हो इसको मना नहीं किया जा सकता। अतः इस आधार पर पाश्चात्यों का उक्त उद्गार उनके संकुचित ज्ञान का प्रमाण देती है। दूसरी बात प्रकृति के पदार्थों से भयभीत होने और इसीलिए उनकी पूजा करने की है। ये भी वैसी

ही असम्भव बातें हैं। क्योंकि महायोगी वैदिक महर्षियों के सामने प्रकृति नटी तो नर्तकी तरह उनकी हथेली ही में नाचती रही। शेष सोमविषयक विचार मेरे वैदिक योग सूत्र में सोम शीर्षक और पीछे सोम नामक अध्याय में देखने का कष्ट करें, जहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह सोम नामक देवता तो समाधि में प्राणों की कटाहों में अग्नि रूप बृषभ के पाक से उद्दीप्त विष्णु की ज्योति या रेतः (क्रमशः योग और सृष्टि में) है। इसका नाम 'सुतः' या पुत्र है। यह ज्योति समाधि में योगी के पुत्र रूप में सुत रूप में उत्पन्न होती है, 'सुत' या भपके की जैसी क्रिया से। इसलिए इस श्लेषात्मक 'सुत' शब्द से इसको पुकारा जाता हैं। लिखा भी है 'अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः' 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ० वे० १-१६४-३५; १-६९-४)। 'यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-१६४-१६) इत्यादि।

साधारण जनता को समाधि के अन्दर होने वाली सोम के उद्दीप्ति की गुण प्रक्रियाओं को साकार रूप में प्रदर्शित या अभिनीत कर दिखाने के लिए इस 'सोम-याग' महायज्ञ या महानाटक का भारी आयोजन किया जाता रहा। इसके लिए चार मुख्य प्राणों के स्थान में होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा को वाक् चक्षु प्राण और मन के प्रतिनिधि रूप में नियुक्त कर प्रत्येक को तीन तीन अन्य सहायक भी दिये जाते रहे जिनके नाम क्रमशः ये हैं—(१) होता—मैत्रावरुण, अच्छा वाक्, ग्रावस्तुत्; (२) अध्वर्यु—प्रति प्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, (३) उद्गाता—प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्यम्; (४) ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता। ये सहायक ऋत्विज भी विभिन्न प्राणों के प्रतीक हैं। आजकल इन चार प्रकार के ऋत्विजों को पृथक् पृथक् वेदों से सम्बद्ध किया जाता है जैसे होता—ऋग्वेदी, अध्वर्यु—यजुर्वेदी, उद्गाता—सामवेदी, ब्रह्मा—अथर्ववेदी। जो कुछ भी हो सोमयाग सभी ऋत्विजों से सिद्ध हो सकता है, अन्य महायज्ञ भी विना इन चारों के सिद्ध नहीं हो सकते, चाहे बाह्य यज्ञ में एक हीं ब्राणण से सब काम करा लें या एक ही वेद के मन्त्रों से सब क्रिया करलें।

सोम योग या सोम याग में प्रथम दिन यजमान दम्पति को क्षौरादिक स्नान प्रभृति करा कर दीक्षणेष्टि संस्कार किया जाता है। उन्हें नवनीत लेपन सारे शरीर में करा कर मुष्टिबन्धन कराया जाता है। खुजली की शान्ति के लिए कण्डूयन का कार्य मृगशृङ्ग से करना पड़ता है। मृगश्रृङ्ग को परिधान वस्त्र के एक कोने में बांध दिया जाता है। क्योंकि यजमान दम्पति योगी का प्रतिनिधि है, मुष्टि बन्धन का कार्य योगी के प्राणों के बन्धन का प्रतीक है, बिना प्राणों को संयमित किए, कोई योग क्रिया नहीं हो सकती। मृगश्रृङ्ग तो मात्र यजमान को खुजलाने के लि चहिए। योगी तो शरीर को श्रृङ्ग की तरह अचल कर देता है। अतः श्रृङ्ग भी शरीर की अचला स्थिति का प्रतीक है, न कि खुजलाने का उपकरण, भले ही यजमान उससे खुजलाया करे। यज्ञान्त तक यजमान दम्पति को दन्तधावन, स्नान, अग्नि होत्र होम दर्शपूर्णमास वैश्वदेवपाक स्नानोपासन शूद्रसम्भाषण प्रत्युत्थानाभिवादन जलावगाहन प्रभृति सभी कार्यों का करना निषिद्ध बताया गया है।

इसके अनन्तर प्रवर्ग्य के लिए महावीर (पात्र) का निर्माण किया जाता है। प्रवर्ग्य के माने खौलते घी में दूध दही डालने से 'घर्मः' नाम का खाद्य विशेष तैयार करना है। इस क्रिया का नाम प्रावृञ्जन है, इसी प्रवृञ्जन क्रिया से इसका नाम प्रवर्ग्य पड़ा है। यह क्रिया प्राणों के पात्रों में आत्मा रूप घी को अग्नि रूप चेतना संज्ञा से खौलाकर उसमें ज्ञान रूप दही दूध झौंककर अमृत ज्योति रूप प्रवृञ्जन या प्रवर्ग्य को प्रस्तुत करने का अभिनय करती है। अतः महावीर नामक पात्र को ओखली के आकार का नौ अंगुल गहरी बित्ता भर चौड़ी, मुख में पतेली की सी मेखला वाली बनाया जाता है। महावीर नाम महाप्राण रूप महायोगी का सूचक है। इसको बामी की मिट्टी या वराह की खनी मिट्टी और बकरी के दूध तथा गवेधुका से बनाया जाता है। सूर्यास्त होने पर यजमान दम्पति को 'वृत भक्षण' या मात्र का दूध पीने की आज्ञा मिलती है। ब्राह्मण यजमान दम्पति को मात्र दूध पीने की आज्ञा है क्षत्रिय को यवागू, वैश्य को अमिक्षा। पहले दिन गाय के एक थन मात्र का दूध दिया जाता है, द्वितीय दिन दो बार दो थनों का, तृतीय दिन तीन थनों का, चतुर्थ पञ्चम दिन मात्र हविः देने से बचा हुआ। रात में अग्नि की ओर मुख करके भूमिशयन करना पड़ता है। यह पयः पान खेचरी मुद्रा से ब्रह्माण्ड के एक स्तन रूप तालु से इससे जीवित रहने की योगियों की योग शैली का सूचक है। अग्नि मुख होकर भूमिशयन समाधि स्थिति का चित्र हैं।

द्वितीय दिन 'प्रायणेष्टि' नामक साधना होती है। प्रायणेष्टि वह क्रिया है जिससे यजमान स्वर्ग को जाता है 'प्रयान्ति स्वर्गमनया'। यह समाधि सिद्धि की प्रतीकी दृष्टि है। इस दिन के देवता अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि सोम और सविता पांच हैं। अदिति के लिए चरु, औरों के लिए घृत की हवि दी जाती है। इसके पश्चात् सोम का क्रय किया जाता है। सोम क्रय वार्ता बदले के व्यवहार से होता है। प्राणों के बदले उनके देवताओं की ज्योति रूप सोम का क्रय होता है। अभिनय में चानक द्रव्य चनों के बदले सोम लेते हैं। कोई कोई कौत्सवंशी ब्राह्मण के द्वारा, शूद्र द्वारा यह कार्य कराते हैं। कौत्स वेद मन्त्रों को अनर्थक मानते रहे, कर्म काण्ड में प्रयोग मात्र के लिए समझते रहे 'कौत्सो हि अनर्थका मन्त्राः' (निरुक्त)। सम्भवतः इसी भावना से उनके गोत्रजों से यह कार्य कराया जाता रहा होगा। शूद्र शरीर का प्रतीक है, शरीर द्वारा यह कार्य होता है। इसके पश्चात् सोम को रथ में रख कर यज्ञशाला में लाते हैं और औदुम्बरी आसन्दी में रखते हैं। रथ नाम योग के रथ या समाधि का है। समाधि रथ से सोम लाया जाता है (योग में), यहाँ बाहरी लकड़ी के रथ से। तब इसके स्वागतार्थ 'आतिथ्येष्टिः' की जाती है। अतिथि नाम नव जात बालक के समान देव की नव ज्योति की उद्दीप्ति का है, वह नव अभ्यागत रूप में प्राप्त होती है, अतः अतिथि है। इसका देवता विष्णु है। वह विष्णु ज्योति रूप सोम का स्वागत पुत्र रूप में या अतिथि रूप में करने का अभिनय है। यहाँ सब कार्य मदन्ती नामक उष्ण जल से होता है, शीतोदक से नहीं। तब सभी प्राण रूप ऋत्विज यजमान तनूनप्तृ नामक आज्य का स्पर्श करते हैं, यह आपस में मिले रहने और वैरहीन होने का प्रतीक रूप शपथ है। यहाँ पुनः प्रवर्ग्य क्रिया

दुहराई जाती है जिसको यजमान पत्नी नहीं देख सकती। यजमान पत्नी यजमान या योगी का शरीर है वह भीतरी अनुभूति कैसे देख सकती है। यहाँ पर गार्हपत्य आहवनीय दो वेदियाँ बनाकर दो महावीरों का निर्माण करते हैं, अग्नि प्रज्वलित कर, महावीर में घी डालकर उसका सिञ्चन मन्त्रपाठवत् किया जाता है। दक्षिण में पुरोगश का हवन करके गाय दुह कर महावीर को लेकर उसमें बकरी का दूध मिलाकर फिर गाय का दूध डालते हैं, इसका नाम घर्म है। तब उत्तर में रौहिण का हवन होता है। इसी प्रकार अपराह्न में भी प्रवर्ग्य कार्य करते हैं। इसके पश्चात् उपसद् इष्टि करते हैं। इसमें आज्य तो द्रव्य है, अग्नि सोम और विष्णु देवता। उपसद् होम प्रातः और सायं दोनों बार होता है। उपसद् और प्रवर्ग्य दूसरे तीसरे चौथे दिन भी करते हैं। ज्योतिष्टोम में छह उपसद् होते हैं। तीसरे दिन भी उपसद् का हवन करके सोम की महावेदि बनाकर अपराह्न के प्रवर्ग्य उपसद् का होम किया जाता है।

चौथे दिन अग्निसोमीय पशु की आवाहनादि क्रियायें होती हैं। पशु सदा ही यजमान का प्रतीक होता है। यह, दौर्ब्राह्मणत्व की निवृत्ति के लिए किया जाता है। इस देवता के पुरोडाश और पश्वङ्ग पुरोडाश बनाकर इसके वपा मार्जनान्त में वसतीवरी ग्रहण करते हैं। अर्थात् सोम के अभिषव काल में रस वृद्धि के लिए जो आपः उसमें डाले जाते हैं उन्हें वसतीवरी कहते हैं। इनको लेकर जिस मार्ग से लाये उसी से लेजाकर आग्नीध्र के पास रखा जाता है। पशु हिंसा दौर्ब्राह्मणत्व विनाश है, वसतीवरी ग्रहण सोमपान का।

पाँचवें दिन अनेक कृत्य किए जाते हैं। इस दिन को सुत्या का या सोमाभिषव का दिन कहते हैं। इसी दिन सोमाभिषव ग्रह ग्रहण और इनका होम होता है। चौथे दिन की रात में ही सुत्या कर्म के लिए ब्राह्मणों को जागना पड़ता है। जाग कर नहा कर आज्यासादनान्त सभी कर्म करके सोम को दो भागों में बाँटकर सिलवट्टे में रखा जाता है। तदनन्तर प्रातरनुवाक शस्त्र को होता पढ़ता है, अध्वर्यु को होता के साथ रहना पड़ता है, पुरोडाश निर्वाप कार्य अग्नीत् को करना पड़ता है। यहाँ पाँच देवता पाँच हवियाँ बनानी पड़ती हैं, एन्द्र एकादशकपाल हविः होती है, हरिवान इन्द्र के लिए धाना (खीले), पूषावान् इन्द्र के लिए पुवे लप्सी (करम्भः), सरस्वतीवान् इन्द्र के लिए दही, मित्रावरुणवान् इन्द्र के लिए खीर। इनको अग्नीत् तैयार करता है, उन्नेता पात्र देता है। चार ऋत्विज चारों ओर बैठते हैं। अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता यजमान ब्रह्मा में से उत्तर में अध्वर्यु यजमान, दक्षिण में ब्रह्मा और अन्य। अभिषव के पदार्थ इसी समय लाये जाते हैं। तब अध्वर्यु सिल में उपांशु नामक वट्टे को रख कर उसके ऊपर साम को पाँच बार निचोड़ कर डालता है। यहाँ पर आधे से अधिक, प्रातः सवन योग सोम को तैयार करना पड़ता है। अभिषव दो प्रकार का होता है क्षुल्लकाभिषवः और महाभिषवः। पहले महाभिषवः कर्म होता है फिर क्षुल्लकाभिषवः। क्षुल्लकाभिषवः के लिए आधे से कम सोम से छोटे छोटे तिनकों को हटा कर, निम्रभ्य

नाम के (होता के) चमस से कुछ जल लेकर दूसरे पात्र में रख कर पृथक् स्थापित करते हैं। यह समस्त प्रक्रिया सोम ज्योति की उद्दीपन क्रिया का अभिनय है। इसका मुख्य कर्ता अग्नीत् (ब्रह्मगण का) मनो ब्रह्मा है देवता भी इन्द्र रूप मनः ही है। अन्य पुरोहित साथ मात्र देते हैं, यजमान और अध्वर्यु क्रम से आत्मा और चक्षु नामक प्राण हैं योग के उत्तरायण (सृष्टि के दक्षिणायन) के वासी हैं शेष प्रतिप्रस्थाता उन्नेता नेष्टा और ब्रह्मा योग के दक्षिणायन (सृष्टि के उत्तरायण) में रहते हैं। सोमलता प्राणों में स्थित आत्मा के घृत का प्रतीक है जिसको उद्दीप्त करना सोम रस चुवाने के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

महाभिषवः

उक्त उपकरणों की प्रस्तुति हो जाने पर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता नेष्टा और उन्नेता (अध्वर्युगण के) पुरोहित उस सोमलता को चार भागों में विभक्त करके परिमित प्रहार से कूटते या घोटते हैं और उसमें निग्राभ्य पात्र से उतना जल छिड़कते हैं जितने से उससे रस पर्याप्त मात्रा में निकले। यह तो घोटने पकाने का महाभिषवः है। समाधि में पकाने घोटने का कार्य चक्षुरूप सूर्यदेवता का है जो अपनी उद्दीप्ति से सोम की उद्दीप्ति करता है।

ज्योतिष्टोम या क्षुल्लकाभिव तथा अग्निष्टोम और अत्यग्निष्टोम

महाभिषव के अनन्तर क्षुल्लकाभिषव किया जाता है। यह क्षुल्लकाभिषव ज्योतिष्टोम का एक अङ्ग है। ज्योतिष्टोम में उपांशु से लेकर हारियोजन पर्यन्त ग्रह याग में गिनाये १९ ग्रहों की साधना की जाती है। इन ग्रहों का नाम 'ज्योतींषि' ज्योतियां हैं जिसमें ज्योतियों के स्तोम स्तबक या स्तुतियां हों उसे ज्योतिष्टोम कहते हैं। 'ज्योतींषि' यस्य स्तोमाः स ज्योतिष्टोमः (कर्काचार्य का० श्रौ० सू० १२-१)। ये स्तोम सोम योग के हैं। अतः सोम याग को या सोमयाग के इस अङ्ग को ज्योतीष्टोम कहते हैं। अग्निष्टोम नाम भी सोमयाग का ही है। 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' इत्यादि ऋचा से सामगान करना अग्निष्टोम कहलाता है। सोमयाग में यह सामगान सोमयाग के अन्त में किया जाता है। अतः इस स्तोम से समाप्त होने वाले इस सोमयाग को अग्निष्टोम कहते हैं, यह श्रोत्रियों का विचार है। परन्तु वास्तविक बात दूसरी है। वह यह है कि इस सोमयाग का अग्निष्टोम नाम पड़ने का कारण 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' नामक अन्तिम साम स्तोम गान से नहीं, वरन् इस सामगान के अर्थ को दृष्टि पथ में रख कर ही पड़ा है क्योंकि सोम स्वयं अग्नि का ही एक रूप है। इसीलिए जिसकिसी देवता के नाम से भी यज्ञ किया जाय वह वास्तविक तया अग्नि का ही यज्ञ स्तव स्तुति या स्तबक, स्तोम या साधना है। इसे 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' इत्यादि साम स्तोम ऋचा स्वयं घोषित कर रही है। इसी सोम याग में अग्निचयन या पञ्चचितिचयन भी होता है। इन सभी दृष्टिकोणों से सोमयाग का नाम अग्निष्टोम भी है। वैसे अग्निष्टोम नाम सभी यज्ञों का हो सकता है। जब सोमयाग रूप अग्निष्टोम यज्ञ में राजन्य के लिए 'षोडशिनं गृह्णीयात्' मंत्र से अग्निमारुत के पश्चात् षोडशिग्रह के शस्त्रों से स्तुति की जाती है तब इस याग क्रिया का नाम अत्यग्निष्टोम पड़ता है। सोम याग की समाप्ति चार स्तोमों से होती है वे हैं अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। इन नामों से भी सोमयाग को पुकारते हैं।

क्षुब्धकाभिषव को शुष्काभिषव भी कहते हैं। इसमें कूटे सोमलता द्रव्य को निग्राभ्ययुक्त कर निचोड़ कर कुछ बूंदे निकाली जाती हैं, निकालने में आठ बार टपकाते हैं। उपांशु ग्रह पात्र लेकर इस सोम को उसमें रख के उपांशु ग्रह ग्रहण करते हैं, दो अंशुओं को ग्रह के ऊपर डालते हैं। फिर ऐसा दो बार और किया जाता है, दूसरी बार ग्यारह चोटों से तीसरी बार बारह चोटों से रस निकालते हैं। अंगुलियों में रखे छह अंशुओं को सोम में डाल देते हैं। तब अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता के हाथ से ग्रह लेकर दशापवित्र से मार्जित कर, ग्रह को हाथ ही में रख कर हविर्धान से निकल कर उपांशु ग्रह होम करता है, कुछ बचाकर हवन करके

उस शेष को आग्रयणस्थाली के एक कोने में रखकर अंशुपात्र ग्रहण करता है, उसके पास उपांशु सदन रखता है। उपांशु प्रजापति का और शुक्रामन्थी सोम का प्रतीक है अन्यों के देवता स्वयं नामों में हैं।

इस ज्योतिष्टोम में प्रातः सवन में—उपांशु, अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्रः, मन्थी, आग्रायण, उक्थ्य, ध्रुव (वैश्वानर) दो ऋतु ग्रह, ऐन्द्राग्न, वैश्वदेव ये तेरह ग्रह होते हैं। माध्यन्दिन में—शुक्र, मन्थी, आग्रायण, उक्थ्य तीन मारुत्वतीय, माहेन्द्र, दधिग्रह ये नव ग्रह होते हैं। तृतीय सदन में आदित्य सावित्र्यः, वैश्वदेव, पात्नीवत हारियोजन, ये पाँच ग्रह होते हैं। कोई इन्हें सोम रस समझते हैं (गृह्यते इति कर्मण्युत्पत्ति से) कोई पात्र (गृह्यतेऽस्मिन्व्युत्पत्ति से)। अतः उपांशु अन्तर्याम ऐन्द्रवायव मैत्रावरुण आश्विन शुक्र, मन्थी उक्थ्य आदित्य ये नौ तो नौ ओखलियाँ हैं, आग्रायण उक्थ ध्रुवः आदित्य ये चार मिट्टी की थालियाँ (स्थालीग्रहाः)। ऋतु ग्रह दो ही हैं बारह नहीं, हां इन्हें बारह बार ग्रहीत किया जाता है, अतः द्वादश ग्रहाः कहा जाता है। ऐन्द्राग्न वैश्वदेव मरुत्वतीय माहेन्द्र का ग्रहण इसी ऋतुगृह पात्रों से किया जाता है, दधिगृह का अग्निहोत्र हवणी से सावित्र्य वैश्वदेव पात्नीवत गृहों का गृहण उपांशु अन्तर्याम में से किसी एक से, हारियोजन का ग्रहण और होम द्रोणकलश से किया जाता है। अतः यहां नौ ओखलियां दो ऋतुग्रह, स्रुवे के मुख के दुमुखी आकृति के चार स्थालीग्रह, कुल मिलाकर पन्द्रह पात्र होते हैं। जितने ग्रह हैं उतने ही शस्त्र हैं उतने ही स्तोत्र या स्तोम। स्तोमों की सात संस्था या समाप्तियाँ हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्यसंस्थाक ज्योतिष्टोम, षोडशि संस्थाक ज्योतिष्टोम, अतिरात्र संस्थाक ज्योतिष्टोम, अत्यग्निष्टोम, वाजपेयस्तोम, आप्तोर्यामस्तोम। अग्निष्टोम संस्थाक ज्योतिष्टोम में बारह स्तोत्र होते हैं ४बहिष्पावन ४आज्यनामक४ पृष्ठनामक, १ माध्यन्दिन नामक १ आर्भवपवमान, १ अग्निष्टोम स्तोत्र। इनको पढ़ने का क्रम इसप्रकार है। प्रत्येक स्तोम में तीन ऋचायें ली जाती हैं जिनमें से प्रथम को एक बार दूसरे तीसरे को दो बार—ये पांच बार हुए, इसी प्रकार द्वितीय तृतीय को प्रथम की तरह एक बार अन्यों को दो दो बार पढ़ कर कुल १५ स्तोम हो जाते हैं। इसीप्रकार सप्तदशादि स्तोमों का पठन होता है। प्रत्येक साम पांच प्रकार से विभक्त होता है—प्रस्ताव उद्गीथ, प्रतीहार उपद्रव निधन। प्रत्येक साम को तीन ऋत्विज गाते हैं—प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्ता, चतुर्थ और पञ्चम का सब मिलकर एक साथ। इसीप्रकार सभी स्तोत्र पढ़े जाते हैं। जिस देवता का स्तोत्र गाया जाय उसके अन्त में उस देवता के शस्त्र का होता गाता है। 'स्तुतमनुशंसति' (तै० ब्रा० ९-८-१०, 'स्तुवथेऽथशंसति' श० प० ब्रा०० ८-१-३-३)। कहीं कहीं मैत्रावरुण और अच्छावाक् के शस्त्रों का भी विधान है।

अन्य ग्रहों का ग्रहण

उपांशु ग्रह पूजनान्तर ऋत्विज और यजमान संध्यावन्दन करते हैं। तदनन्तर सूर्योदयानन्तर अन्तर्याम ग्रह का ग्रहण होम आसादनादिक उपांशु ग्रहानुसार करते

हैं। इसके पश्चात् धाराग्रहों का ग्रहण होता है। वे छह हैं। प्रथम ऐन्द्रा वायव को दो बार पहले वायु का फिर इन्द्रवायू का ग्रहण करते हैं। बीच में वायु को धारा विच्छिन्न करके खर में रखते हैं, फिर मैत्रावरुण शुक्र, मन्थी, आग्रायण, (दो धारा से होतृचमस और सोम से), उक्थ्य ध्रुव और वैश्वानर का क्रम से ग्रहण किया जाता है। सब अध्वर्यु प्रभृति कमर से झुककर हविर्धान से बाहर निकलते हैं। विप्रुड् होम करके बहिष्पावन स्तोत्र करने के लिए चौतरे में आकर बैठ जाते हैं। इनके बैठने की स्थिति इस प्रकार होती है। प्रस्तोता उत्तर मुख, प्रतिहर्ता दक्षिणमुख, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता पूर्वमुख। तब प्रस्तोता को कुशमुष्टि देते हैं। स्तोत्र जिसे पढ़ा जाता है 'उपास्मै गायता नरः' इत्यादि नौ ऋचायें हैं। यहां आवृत्ति का पाठ है पूर्वोक्तवत् नहीं। स्तोत्र गाने के समय उन्नेता को आधवनीयस्थ सोम को पूतभृति से सिञ्चित करते रहना चाहिए। स्तोत्र के अन्त में अध्वर्यु, अग्नीत्प्रतिप्रस्थाता को सवनीय हविः सम्पादन और सवनीय पशु के निमित्त भेजता है। तब अग्नीध्र, आग्नीध्रीय अङ्गारों को धिष्ण्यों में डालता है। अन्त में अश्विन ग्रह ग्रहण करते हैं। तब यजमान इन सब ग्रहों का दर्शन करता या देखता है।

ये सब ग्रह प्राणों के पृथक् पृथक् या दो दो के सम्मिलित स्वरूप हैं। इन्हीं प्राणों के द्वारा सोम का सवन होता है। यहां प्राण रूप ग्रहों को विभिन्न प्रकार के पात्रानुरूपता में गृहीत कर उनमें नकली सोमरस बनाकर स्थापित किया जाता है। आभ्यन्तर जगत् समाधि में असली सोमरस जिस प्रकार चुवाया या उद्दीप्त किया जाता है, उस क्रिया का कुछ कुछ संकेत उक्त प्रक्रियाओं में सन्निहित है। इसकी पुष्टि इन ग्रहों के ग्रहणान्त में गाये जाने वाले 'उपास्मै गायत नरः' नामक स्तोत्र करता है जिसमें 'नरः' नामक भौतिकात्मीय प्राणों से या देवज्योतियों को सम्बोधित कर कहा जा रहा है कि इस सोम की स्तुति गावो। द्रव्ययज्ञ में प्रस्तोता प्रभृति बाहरी शरीरी ब्राह्मण ऋत्विज होते हैं तो समाधि में प्राणों की देव ज्योतियाँ ही स्वयम्। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रत्येक ग्रह ग्रहण का सम्बन्ध सोम प्राप्तिमात्र से रखा है।

सवनीय पशु

अग्निष्टोम में एक आग्नेय पशु, उक्थ्यसंस्था में आग्नेय और ऐन्द्राग्न दो पशु, षोडशिसंस्था में आग्नेय एद्राग्न और ऐन्द्र वृष्णि तीन पशु, अतिरात्र संस्था में उक्त तीन के साथ सारस्वती मेषी चार पशु होते हैं, इन्हें स्तोमायमान पशु कहते हैं। दूसरे मत से पश्वेकादशिनी नामक ग्यारह पशुओं की होती है, उनके नाम ये हैं आग्नेय, सारस्वत, सौम्य, पौष्ण, बार्हस्पत्य, वैश्वदेव्य, ऐन्द्र, मारुत, ऐन्द्राग्न, सावित्र और वारुण। इनको एक या ग्यारह यूपों में बांधा जाता है। एक में सबको बांधते समय एक पशु को दूसरे के गले की रस्सी पर डोरी लगा कर बांधा जाता है। जितने यूप होंगे उतनी अधिक वेदियां भी बनानी पड़ती है। पशुओं को अन्यत्र मारा जाता है (श० प० ब्रा० ३-७-२-२५)। ये इनकी वपा से मार्जनादिक करते

हैं। तब धिष्ण्यादिका उपस्थान किया जाता है। इसका नाम सर्पण है। इसके पश्चात् पहले बनाये पुरोडाश का तदनन्तर द्विदैवत्यग्रह ऐन्द्रावायव मैत्रावरुणादि का होम करते हैं। तब उन्नेता नौ चमसों का ग्रहण करता है। इसके पश्चात् उन्नेता शुक्रामन्थी दो ग्रहों का ग्रहण करता हैं इनका अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता क्रम से होम करते हैं। इन ग्रहों को हाथ में लेकर यूप के पास जाकर अपनी अरत्नी (हाथों की मुट्ठी) बांधते हैं। यह अन्य ग्रह ग्रहण में नहीं करते। इसके पश्चात् अध्वर्यु नौ चमसों को लेकर पूर्वाभिमुख होकर होम करते हैं, शुक्रमन्थि ग्रहों और चमसों का होम साथ साथ होता है। यहां ब्रह्मा होता उद्गाता और यजमान के वषट्कार और अनुवषट्कार करने पर होम किया जाता है। शेष ग्रहों में केवल प्रथमवषट्कार का होम होता है। वे पाचों चमसाध्वर्यु अपने हाथ में स्थित चमसों को प्रथम वषट्कार में एक साथ होम कर उन्हें लेने के लिए द्रोण कलश के पास चमसों को रखते हैं। तब प्रशस्ता ब्राह्मणाच्छंशी पोता नेष्टा, आग्नीत् के चमसों का होम अध्वर्यु करता है।

ये सवनीय पशु भी विभिन्न प्राणों की ज्योतियों के प्रतीक हैं। अतः जो पशु जिस देवता का प्रतीक माना गया है उसका नाम उसी देवता के नाम से रखा गया है। यह तो खुला रहस्य है ही। इनका बध नहीं आलभन किया जाता है; 'आलभन' माने प्राप्ति है न कि वध, पर याग में इस आलमन का अर्थ खाने पीने वालों ने 'बध' मान लिया है। वपा होम तो ज्योति का होम है, आत्म ज्योति ही प्राणाधार ही क्या है उसी की प्राप्ति का यह अभिनय स्पष्टतः है।

द्विदैवत्य भक्षः—सोमपान का प्रथम दौर

ग्रहों की स्थापना सोमभरे पात्रों के रूप में की गई है। यजुर्वेदियों में सर्व-प्रथम होता पीता है फिर वषट्कर्ता, तदनन्तर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता (एकबार), फिर वषट्कर्ता। तदनन्तर सबका साथ पीना या समाख्या नामक सोमपान। उद्गाता अपने चमस से पीता है, जिस जिस ऋत्विज का जिस जिस चमस से सम्बन्ध है वह उसी से पीता है, पीने के पहले अध्वर्यु से आज्ञा लेनी पड़ती है। अध्वर्यु होता से समर्पित ऐन्द्रवायव ग्रह को ग्रहण कर सशेष कुछ पीकर गात्रालम्भन करके उद-कस्पर्श के पश्चात् होता के चमस में ग्रह शेष सोम को लेकर ग्रह को होता को देता है। होता उसे लेकर अध्वर्यु को आहुत कर आज्ञा पा कर पीता है। उसके चमस के शेष को होता के आसिक्त हो जाने पर पुनः अध्वर्यु पीता है। इसीप्रकार मैत्रावरुण और आश्विन ग्रहों में स्थित सोम का पान होता और अध्वर्यु से किया जाता है, यहीं पर पुरोडाशादि हवियों का भक्षण भी किया जाता है।

चमसभक्षः—सोमपान का दूसरा दौर—महाभक्षः

सबसे पहले अध्वर्यु, होता प्रति प्रस्थाता की अनुमति लेकर होता के चमस का पान एक बार करता है, फिर प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु होता की अनुमति से उसी

को एक बार पीता है, फिर होता अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता की अनुमति से दो बार पान करता है। फिर होता ब्रह्म चमस से ब्रह्मा का स्पर्श कर दो बार पीता है, ब्रह्मा होता को सूचित कर उसी को दो बार पीता है। इसी प्रकार यजमान प्रशास्त् ब्राह्मणाच्छंशी पोता नेष्टा अग्नीत् के चमसों को जिसका चमस है उसे बुलाकर पीते हैं। केवल यजमान के चमस में दो बार पिया जाता है अन्यों में एक बार। चमस वाले अपने अपने चमस को पोता अध्वयु को उपहूत कर पीते है, केवल एक बार। सबको सशेष पीना चाहिए। अन्त में होता, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को उपहूत कर पुनः समाख्या नामक एक बार और पान करता है। इसी का नाम महाभक्ष भी है। जिन जिन चमसों से दुबारा निकाला गया उनका फिर पान करना चाहिए, इसका नाम 'अभ्युनीत भक्ष' है। यहां पर अध्वर्यु को प्रत्येक चमस वाले को उपहूत कर प्रत्येक चमस से एक एक बार पीना चाहिए। तथा वे चमस वाले भी होता अध्वर्यु दोनों को उपहूत कर दो वषट्कारों के कारण दो दो बार पीते हैं। यहीं समाख्यापान भी हो जाता है। यहां भी सशेष ही पीना चाहिए। पीने के पश्चात् चमसों को फिर भर दिया जाता है और हविर्धान के दक्षिण में नीचे रख दिया जाता है। इनका नाम नाराशंस है। सोमपान के पश्चात् सभी को गात्रालम्भन करना चाहिए। इसके अनन्तर अच्छावाक के चमस का उन्नयन होम, उपाह्वान भक्षणादिक पूर्ववत् किया जाता है।

ऋतुग्रहाः

अब ऋतुग्रहों की पारी आती है। वसन्त प्रभृति छह ऋतुयें हैं, इनके चैत्रादि बारह देवता हैं। पर ग्रहपात्र दो ही होते हैं, उन्हीं से बारह वार होमादि किया जाता है बारह वार ग्रहण करने से इन दो को भी द्वादश (बारह) ग्रहाः कहते हैं। एक पात्र को अध्वर्यु दूसरे को प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करता है। प्रथम और अन्तिम दो दो का एक साथ ग्रहण करते हैं। शेष आठों को एक एक करके। इन आठों को करने में जब अध्वर्यु एक का ग्रहण होम करता है प्रतिप्रस्थाता दूसरे का ग्रहण करता है। अध्वर्यु हविर्धान से बाहर आवे तो प्रतिस्थाता भीतर जाता है, दोनों की भेंट द्वार पर होती है। इसी प्रकार आठों का ग्रहण होम होता है। कोई तेरहवें ग्रह (अधिमासादि के लिए) करते हैं। सबका होम सशेष होता है। पूर्वशेष से उत्तर का ग्रहण होता है। इस हवन के पश्चात् शेषांश को पात्रान्तरों में से किसी एक में रखकर रिक्त पात्र में प्रतिप्रस्थाता ऐन्द्राग्नग्रह का ग्रहण करता है। इन पात्रों को लेकर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता सदसि सभा में बैठते है और ग्रहशेष का पान करते हैं। दशों चमसों के हवन पक्ष में अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता होता एक दूसरे को उपहूत कर एक एक बार पान करते हैं, होता सब पी जाता है, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता सशेष कर पीते हैं। इसके अनन्तर वैश्वदेव ग्रह ग्रहण कर वैश्वदेव स्तोत्र पढ़ा जाता है। ऐन्द्राग्न और वैश्वदेव स्तोत्रशस्त्र की समाप्ति में चमस कम्पन के साथ चमसों का सर्वभक्षण करते है। फिर पात्रों को साफ कर स्व स्व स्थान में रख देते हैं। तब उक्थ्य को तीन भागों

में विभक्त कर ग्रहण करते हैं। प्रत्येक को क्रम से प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंशी अछावाक ग्रहण करते हैं। और प्रत्येक के शस्त्रों के काल में दशों चमसों को अपने अपने स्थान से उठाते हैं। इनका हवन कर के इस ग्रह से सम्बद्ध सभी को उपहूत कर पूर्ववत् भक्षण करते हैं। इस प्रकार ग्रहों और चमसों के कार्य करके, अध्वर्यु प्रशास्त को सम्बोधित कर कहता है 'प्रशास्तः प्रसुहि' हे प्रशास्तः आज्ञा दो; प्रशास्ता आज्ञा देता है। तब सब उस स्थान के मध्य से निकल आते हैं। यहां प्रातः सवन की समाप्ति हो जाती है।

माध्यन्दिन सवन

माध्यन्दिन सवन में सभी क्रियायें प्रातः सवनवत् होती हैं। यहां पर पहले शुक्रामन्थी आग्रायण मारुत्वतीय और उक्थ्य पांच ग्रहों का ग्रहणादिक करते हैं— प्रसर्पण, प्रवर्ग्य दधिधर्म आदि का भक्षणानन्तर छह ऋत्विज अध्वर्यु होता ब्रह्मा आग्नीध्र यजमान मैत्रावरुण—पशुपुरोडाश और इडा भक्षण करते हैं। तब आग्नीध्र प्रातः सवनवत् सवनीय हवियों का निर्वपणादि कृत्य करता है। फिर होमान्त सभी कर्म किए जाते हैं। पश्चात् इडा को होता के धिष्णा में रख कर शुक्र मन्थि दो ग्रहों का होमादि भक्षणादि किया जाता है! सशेष भक्षित चमसों को प्रातःसवनवत् स्व-स्थानों में रख कर उन्हें ऋत्विज पीते हैं। दक्षिणा दी जाती है। फिर मारुत्वतीय का ग्रहण होम भक्षण, करके प्रतिप्रस्थाता के हाथ में दिया जाता है। फिर ऋतुपात्र से मारुत्वतीय ग्रह का ग्रहण कर अध्वर्यु होता भक्षण करते हैं। इसके अनन्तर मारुत्वतोय शस्त्र को होता प्रारम्भ करता है; उसे अध्वर्यु ग्रहण करता है। शस्त्र के अन्त में प्रतिप्रस्थाता तृतीय कुण्ठ मारुत्वतीय ग्रह का ग्रहण कर अध्वर्यु के साथ होम स्थान में जाकर उससे मारुत्वतीय को उपहूत करने पर होम करता है। फिर पूर्ववत् सब भक्षण करते हैं। मारुत्वतीय का भक्षण प्रतिप्रस्थाता ही करता है। इसके पश्चात् नाराशंस चमसों का भक्षण करते हैं। इसके पश्चात् माहेन्द्र ग्रह का ग्रहण पृष्ठस्तोत्र करते हैं। इसके पश्चात् पुनः सोमरस बनाते है। इसे शुष्काभिषव (उपांशुवत्) कहते हैं। उद्गाता द्वारा पृष्ठ साम गाने पर इस शुष्क सोम को आधवनीय कलश में रखा जाता है। इसके पश्चात् तृतीय सवन की हवियों की तैयारी अग्नीत् करता है। यहां एक कपाल वरुण और सौम्यचरु दो अधिक होते हैं। अन्य सब प्रातः सवनवत् ही रहता है। पृष्ठस्तोम समाप्ति पर होता शस्त्र समाप्त करता है, माहेन्द्र ग्रह का होम करता है, तब कम्पित किए गये नाराशंस चमसों से सब साथ साथ पीते हैं पूर्ववत्, अध्वर्यु एक बार सशेष पीता है, होता दो बार अशेष रूप में। इसके पश्चात् चमस वाले चमसों का भक्षण करते हैं उपहव को छोड़ कर चमसों को पूरा पीया जाता है। इसके पश्चात् पात्रों को साफ करके यथा स्थान रख कर प्रातः सवनवत् उक्थ ग्रहों के ग्रहणादि की पारी आती है। तब प्रशास्ता से प्रेरित सभी ऋत्विज उस स्थान से बाहर निकल आते हैं। यहां पर प्रसूतान्त में माध्यन्दिन सवन पूरा होता है।

तृतीय सवन

यहां सर्वप्रथम आदित्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। उसे ढक कर (आदित्य स्थाली से) होम स्थान में जाकर सशेष हवन कर शेष प्रतिप्रस्थाता को दे देते हैं। इसके अनन्तर यजमान लोक द्वार में सामगान करता है। यहां भी सर्पण सवनादि और सदोऽभिमर्शादि प्रातः सवनवत् ही करना पड़ता है। तब आग्रायण ग्रह का ग्रहणादिक, पुनः उक्थ्य का ; इसके अनन्तर आर्भव पवमान के उपकरण के लिए उस स्थान से बाहर निकलते हैं। इसके अनन्तर पञ्चाङ्गों का कार्य होता है। चमसों को उठाने से लेकर भक्षण तक सभी कार्य क्रमशः पूर्ववत् ही किए जाते हैं और उन रीते चमसों को हविर्धान में रख देते हैं। तब ऋत्विज पिण्डपितृयज्ञ के समान यजमान के पितरों को पिण्ड देते हैं। फिर सावित्र ग्रहण होम भक्षणान्त क्रिया करके उसी पात्र से वैश्वदेव ग्रह ग्रहण होम कर वैश्वदेव शस्त्रान्त में अध्वर्यु चमसों का सकम्पन भक्षण एक बार सशेष करता है। होता दो बार और चमस वाले सबको उपहूत कर सब खा पी जाते हैं ; इसके अनन्तर सौम्य चरु का ग्रहण होता है, फिर पात्नीवत ग्रह का प्रतिप्रस्थाता द्वारा। इसके पश्चात् यज्ञायज्ञिय अग्निष्टोम आरम्भ करते हैं। तदनन्तर अग्निमारुत शस्त्र पढ़ कर होता के चमस से ध्रुव ग्रह लेकर उसका हवन भक्षण करते हैं ; चमस वाले अपने अपने चमस का, तब प्रशास्ता से अनुज्ञापाकर निष्क्रमण सर्पण करते हैं। तदनन्तर अनुयाजादि कार्य होते हैं। उनका होम और भक्षण भी करते हैं। तब हारियोजन ग्रह को द्रोण कलश में निरवशेष ग्रहीत कर के वहां खीले (धाना) छीटते हैं, उन्हें उन्नेता अपने सिर में लेकर सबका होम करता है। यहां भक्षण करे तो सर्प होम भी करना पड़ता है। फिर पत्नी संयाजादिक सर्व पाशुक कर्म किया जाता है। यहीं तृतीय सवन समाप्त होता है।

तीनों सवनों का रहस्य

उक्त तीनों सवन योगक्रिया के तीनों सवनों के अभिनय हैं। सृष्टि काल में सोम तो रेतः बीज है, उससे प्राण रूप ग्रहों के ग्रहणीय पात्रों का उदय होता है। यहां सोम पीकर ग्रह प्रस्तुत होते हैं। इनकी प्रक्रिया यहां नहीं दी गई है। योग में अवश्यमेव प्राण रूप ग्रहणीय ग्रहरूपी पात्रों में सोम को उद्दीप्त किया जाता है न कि बाहर से जड़ी बूटी लाकर घोट पीसपका कर रस में परिवर्तित कर इनमें भरा जाता है। द्रव्य यज्ञ में ऐसी क्रिया उक्त योग प्रक्रिया को साकार रूप देने के लिए की जाती है। सोम तो प्राणों में ही है सोम से ही वे बने हैं उसी को अग्नि की तरह (अरणियों की तरह रगड़ कर) उद्दीप्त किया जाता है। कहा भी है 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्', वे गुण उनमें पहले ही से विद्यमान रहे! पृथक पृथक् ग्रह पृथक्-पृथक् प्राणों के प्रतीक हैं। प्राण पात्रों या ग्रहों में सोम भरने से जो मस्ती उनमें आती है उसी के आवेश में महर्षियों ने तत्तद् देवता के साम और शस्त्र नामक मंत्रों को साक्षात् किया था, उन्हीं मंत्रों को यहां प्रत्येक देवता रूप ग्रह के ग्रहण भक्षणान्त में तथा

उनका ग्रहण, विधि होमादि में करना उन योगी महर्षियों की योग प्रक्रिया को पूर्णतः साकारता देना है। यहां ग्रहों का पान होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा जो करते हैं वे सब तो प्रतिनिधि हैं। पान तो वाक् होता, चक्षुः अध्वर्यु, मनो ब्रह्मा, प्राण उद्गाता करते हैं। उनका अभिनय इन ब्राह्मण ऋत्विजों से किया जाता है। मुख्य यजमान योगी तों आत्मा है वह भी इन प्राणों के द्वारा सोम पान करता है। अतः उसे सर्वान्त में सोम पान या ग्रह ग्रहण कराया जाता है। यह सब तो पृथक्-पृथक् प्राणों का पृथक्-पृथक् सोमपान करने का अभिनय है। सबका एक साथ मिलकर सोमपान अवभृथ नामक अन्तिम क्रिया है जिसमें सभी ऋत्विज और यजमान सम्मिलित रूप से स्नान एक जलाशय या नदी में करते हैं। यह सोम की मूसल-धार वृष्टि में प्राणों और आत्मारूप यजमान का साङ्गोपाङ्ग स्नान है यही सोमयाग या सोमयोग का मुख्य लक्ष्य है। द्विदैवत्य ग्रह दो दो प्राणों के जोड़ों के है वे अग्नीषोम ऐन्द्रावाय अश्विनी आदि हैं।

अवभृथाभिनय

सब ग्रहों और चमसादि पात्रों को लेकर किसी जलाशय में जाते हैं। आधे मार्ग तथा जलाशय के पास भी साम गान करते हैं। पात्रों को जल में धोने के लिए डाल देते हैं। वहाँ वरुणप्रघास इष्टि करके सभी ऋत्विज और यजमान साथ साथ स्नान करते हैं। पुनः यज्ञ स्थल में आकर उदयनेष्टि को प्रायणीयेष्टि के समान करते हैं। तदनन्तर मित्रावरुण देवता सम्बन्धी पशुयाग अग्नीषोम पशुवत् किया जाता है। यह पशु स्त्री गवी वन्ध्या पशु होना चाहिए। यज्ञान्त प्रक्रिया होने से इसे अनूबन्ध्या नाम से पुकारते हैं। वशा न मिले तो अनड्वान् लेते हैं, वह भी न मिले तो खीर। आजकल गो वध नहीं करते। अतः खीर से ही काम चलाते हैं। इसके पश्चात् उदवसानीयेष्टि की जाती है जिसमें पञ्चकपालीय आग्नेय पुरोडाश ही द्रव्य होता है। नहीं तो 'उरु विष्णो' इत्यादि मन्त्र से चार जने घी से होम करते हैं। तब सायं कालीन अग्निहोत्रादि नित्य क्रिया की जाती है, और एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है।

सोमपान का अधिकारी मात्र ब्राह्मण को इसलिए माना जाता है कि ब्राह्मण स्वयं ब्रह्म का प्राणों का प्रतिनिधि या महायोगी का प्रतिनिधि होता है। जो योगी नहीं है उसे ब्राह्मण नाम से पुकारा ही नहीं जाता रहा, वंशीय ब्राह्मण तो आजकल ही, नाम के ब्राह्मण होते हैं। अतः राजन्य वैश्य को सोमरस के बदले न्यग्रोध के फल या जड़ों को घोट पीसकर देते थे, ब्राह्मण सोमरस पीते थे। यज्ञप्रणाली के आदि में ऋत्विज तो महायोगी ब्राह्मण ही होते रहे। वे बाहर भीतर दोनों ओर से सोम का पान करते रहे; पश्चात् मात्र बाहर ही बाहर सोमलतारस का। अतः बाह्य यज्ञों में जहां यजमान राजन्य या वैश्य होता रहा वहां सोम लता के क्रय के साथ साथ न्यग्रोध (वड़) के फल या जड़ों का भी क्रय करते थे। इस न्यग्रोधरस

को 'फलचमस' नाम से भी ऋत्विज लोग पुकारते हैं। इस सोमयाग को सर्वतोमुख या चतुर्मुख रूप में भी किया जाता रहा। इसमें चारों दिशाओं में चार महावेदियां, चार देवयजन, गार्हपत्य एक, चार आहवनीय, चार दक्षिणाग्नि, प्रतिवेदि के ऋत्विज सोलह सोलह कुल चौसठ ऋत्विज कार्य करते हैं पर यजमान एक ही होता है। इसमें पूर्व दक्षिण की वेदियों की अग्निष्टोम संस्था होती है, पश्चिमोत्तर की वेदियों की षोडशिसंख्या।

—o—

अध्याय १४८

पुरोडाश के कपालों का निर्माण

प्रायः प्रत्येक यज्ञ में पुरोडाश की आवश्यकता होती है। इसका विभाजन देवता के अनुसार विभिन्न संख्याओं में किया जाता है। यह पुरोडास योगी की समाधि में देवताओं के शरीर प्राणमय शरीर का प्रतीक है। श०प०ब्रा० १-१-५२ ने लिखा है 'शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यन्पुरोडाशः' 'स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि एतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि'। जिस देवता या जिन देवताओं में जितने प्राणों की समष्टि एक साथ होती है उनका पृथगीकरण ही पुरोडाश के विभाजन या कपालों की संख्या का निर्धारक होता है। पुरोडाश में दो शब्द हैं पुरः+डास=दास, डाश दास का परोक्ष (विकृत) रूप है। सभी यज्ञ परोक्ष की भूमिका अदा करते हैं। पुरः माने सर्वादिप्राण होता है और डाश=दास=उसका शरीर प्राण सेवक है जैसे पुरोहित=आदि का प्राण (पुरः=आदि का+हितं=प्राण) की व्याख्या श० प० ब्रा० ने दे रक्खी है वैसे ही पुरोडास को पुरोदास का विकृत रूप श० प० ब्रा० (१-५-१-५) ने ही बताया है; जैसे 'पुरोदासः पुरोदासो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाशः'।

पुरोडाश का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए जिससे उनको रखने में उनके बीच में भूमि दिखाई न पड़े। प्रायः पुरोडाश के विभागों की तीन पंक्तियां होती हैं जिनमें मध्यम पंक्ति के कपालों का प्रमाण दो अंगुल लम्बे दो अंगुल चौड़े दो अंगुल ऊँचे (समचतुरस्र) सर्वतः चौरस होता है। इस प्रकार मध्यम पंक्ति छह अंगुल लम्बी होती है। अन्य दो पंक्तियाँ इससे कुछ और छोटी होती हैं। पुरोडाश को प्रायः गोल वृत्ताकार रूप में बनाया जाता है। ऐन्द्राग्न के लिए उत्तर भाग के चार और दक्षिण के चार करने चाहिए बीच के केवल तीन ही। यह केवल एकादश कपाल पुरोडाश हो गया। कपाल चितिक्षेत्र मध्यम अश्व के शफ (खुर) के बराबर होना चाहिए। छह अंगुल के वृत्त से पुरोडाश को तीन भागों में विभक्त करके दक्षिण और उत्तर के खण्ड चन्द्राकार के भागों को जितने कपाल बनाने हैं उसके अनुसार तिरछे भाग काटने चाहिए। जैसे—षट्कपाल में मध्यम के तीन, दक्षिण के दो और उत्तर का एक ही, कुल छह हो गये। सप्त कपाल में, दक्षिण भाग तीन भागों में तथा उत्तर भाग एक ही, तीन मध्य भाग के भागों को मिलाकर यह सप्त कपाल कहा जाता है। अष्ट कपाल में तीन मध्य भाग के तीन दक्षिण भाग के और दो उत्तर भाग के (=८) होते हैं, नव कपाल में तीन मध्य के दक्षिण के चार, उत्तर के दो, दश कपाल में दक्षिण के चार उत्तर और मध्य के तीन तीन, एकादश कपाल में दक्षिण पञ्चधा, अन्य दो तीन तीन भागों में, द्वादश

कपाल में दक्षिण भाग पञ्चधा, मध्य त्रेधा और उत्तर चतुर्धा होता है। त्रयोदश कपाल में दक्षिण भाग षट्धा उत्तर चतुर्धा मध्यम सर्वत्र त्रेधा। एक ही कपाल हो तो हथेली भर, द्विकपाल में वृत्त को तिरछा काटकर दो भाग, त्रिकपाल में वृत्त के तीन बराबर भाग, चतुष्कपाल में उत्तर भाग के तीन भाग, दक्षिणतः एक ही; पञ्च-कपाल में उत्तर भाग के तीन भाग दक्षिण के दो, होने चाहिए। इन कपालों के टुकड़ों को इस प्रकार घिस कर बनाना चाहिए जिससे उनको रखने के स्थानों (कपालचितियों) में बने वृत्त उनसे ढक जाँय, स्थान खाली न दीखें।

अध्याय १४९

द्वादशाह (बारह दिनों का) यज्ञः

द्वादशाह् यज्ञ दो प्रकार का होता है (१) अहीन और (२) सत्रात्मक। दोनों सोमयाग के ही रूप हैं। सत्रात्मक याग ब्राह्मण या योगी ही कर सकता है। इसमें भी आहिताग्नि पुरोहित आग्निष्टोम संस्था और सत्रह से चौबीस तक अधिकारी होते हैं जो सभी यजमान ही होते हैं। यहाँ दक्षिणा नहीं दी जाती, यज्ञफल सबको मिलता है। सत्रह् यजमान संख्या में एक गृहपति बनता है शेष ब्रह्मा प्रभृति ऋत्विज। चौबीस संख्या में सोलह को ऋत्विज का कार्य करना पड़ता है शेष गृहपति का कार्य करते हैं। यहाँ न तो सत्रह से कम ऋत्विज होते हैं न चौबीस से अधिक। सामग्री और व्यय सबको मिलाकर देना पड़ता है। दीक्षादिक कार्य सबके लिए होता है।

अहीन नामक द्वादशाह् यज्ञ में एक दो या कितने ही अधिक यजमान हो सकते है। इसमें भी अग्निष्टोम सोमयाग की तरह ऋत्विजों की नियुक्ति की जाती है। वही यज्ञ करते हैं, उन्हें दक्षिणादिक दी जाती है एक हजार गायों से कुछ अधिक दक्षिणा दी जती है। यज्ञ फल यजमान को ही मिलता है। ब्राह्मणों को सहस्र गाय देने में रहस्य यह है। सहस्र गो माने सहस्रकर या सहस्र रश्मि है जों योगी ब्राह्मण को सोमयोग करने से स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। ये यज्ञ एक दो या तीन प्रभृति दिनों से बारह् दिन तक में किया जाता है। इनमें धर्मातिदेश भी किया जाता है। यह भी सोमयाग ही है। जहाँ पर द्वादश दीक्षा द्वादश उपसद् द्वादश सुत्या होती है वह यज्ञ ३६ दिन में पूरा होता है। यह साग्निचिति और निरग्निचिति दो प्रकार का है। यहाँ सबकी अग्नियाँ एकत्र की जाती है। दीक्षा के दिन सब अपनी अपनी अग्नि अरणि से उद्दीप्त कर यज्ञ स्थल में लाते हैं उसमें ब्रह्मा प्रभृति अपने गार्हपत्यादि अग्नियों के एक एक उल्मुक डालते हैं जिससे बह अग्नि साधारणीकृत हो जाती है। इस प्रकार गार्हपत्य तो सबके पृथक् होते हैं पर आहवनीय दक्षिणाग्नि सबके एक ही। साग्निचिति में प्राजापत्य इष्टका पशु का अनुष्ठान करते हैं। यहाँ सब यजमान हैं अतः किसी ऋत्विज का वरण नहीं होता। सबको दीक्षा लेनी पड़ती है, अध्वर्यु पहले गृहपति को दीक्षा देता है फिर ब्रह्मा उद्गाता को, तब प्रति-प्रस्थाता अध्वर्यु ब्राह्मणाच्छंसि प्रस्तोता और मैत्रावरुण को, फिर नेष्टा, प्रतिप्रस्थाता अग्नित् प्रतिहर्ष और अच्छावाक् को, तदनन्तर उन्नेता, नेष्टा पोता सुब्रह्मण्यं ग्रावस्तुत् को और उन्नेता को कोई और। जो जिसको दीक्षा दे वह उसकी पत्नी को भी दीक्षा देता है। और सब ज्योतिष्टोमवत् करते हैं। साग्निचिति में उखा सम्भरण और इष्टकोपधान प्रभृति अग्निचयनवत् करते हैं।

इस सोमयाग में सवनीय पशु को प्रतिदिन (ग्यारह दिन तक) दिया जाता है। पशु में एन्द्राग्न या स्तोमायमान या पश्वेकादशिनी में से एक एक कर; बारहवें दिन पुनः आग्नेय पशु दिया जाता है। द्वादश दीक्षा के पश्चात् किसी भी दिन सोमक्रय किया जाता है। सुत्या में प्रथम दिन प्रायणीय इष्टि, फिर पृष्ठ्यहः—रथन्तर-बृहत्-वैरूप-वैराज-शाक्वर-रैवत सामगान, तब तीन छन्दोमा, फिर अतिवाक्य, पश्चात् उदयनीय और अतिरात्र नामक सामगान छह दिन तक क्रम से किया जाता है। प्रथम दिन अतिरात्र संख्या अन्य दिनों में पृष्ठ्यन्त गाये जाते हैं, प्रतिदिन पत्नीसंयाजान्त सामगान (अन्तिम दिन छोड़ कर) करते हैं। सर्वान्त में अवभृथ होता है। छह दिनों में द्वितीय तृतीय दिनों में उक्थसंस्था, चतुर्थ दिन षोडशि संस्था, पंचम षष्ठ दिन उक्थ संस्था, फिर तीन दिन तक छन्दोमा उक्थ संस्था गाते हैं। प्रथम दिन चतुर्विंशति स्तोम, द्वितीय दिन चतुश्चत्वारिंस्तोम, तृतीय दिन से अष्टा चत्वारिंशत् स्तोम गाये जाते हैं। इन तीन दिनों को छन्दोमा कहते हैं। इनमें गायत्री त्रिष्टुप् जगती के २४, ४४, ४८ अक्षरों से स्तोम कहते हैं। ग्यारहवें दिन अत्यग्निष्टोम संस्था और बारहवें दिन उदनीय अतिरात्र संस्था सामगान करते हैं। बारहवें दिन षोडशी अंशु और अदाभ्य नाम के तीन अतिग्राह्य ग्रहों का ग्रहण अधिक होता है। यह द्वादशाह व्यूढ और समूढ दो प्रकार का होता है। समूढ का क्रम यह है—ऐन्द्रवायवाग्र प्रायणीयोदयनीय, दशम दिन, प्रथम नौ दिनों में ऐन्द्रवायवाग्र प्रथम दिन, शुक्राग्रमन्थाग्रामरणाग्र, ऐन्द्रवायवाग्र, शुक्राग्रमन्थाग्रयणाग्र, ऐन्द्रवायवाग्र, शुक्राग्रमन्थाग्रयणाग्र। व्यूढ में विषम विधि है—ऐन्द्रवायवाग्र, प्रायणीयोदयनीय, अन्य दिनों में ऐन्द्रवायवाग्र प्रथम दिन, शुक्राग्र, दो आग्रायणाग्र, ऐन्द्र वायवाग्र, दो शुक्राग्र, आग्रायणाग्र, दो ऐन्द्रवायवाग्र। व्यूहन नाम अग्रिमता अग्रता का है 'व्यूहनं चाग्रतायां'।

अन्य अहीन याग

अन्य अहीन याग ३३ प्रकार के होते हैं। जैसे दो सुत्या के दो दिनों के तीन को, तीन सुत्या के पाँच, चार सुत्या के चार, पाँच सुत्या के तीन, छह सुत्या के तीन; सात सुत्या के सात, आठ सुत्या का एक नौ सुत्या के दो, दश सुत्या के चार, ग्यारह सुत्या का एक पौण्डरीक नामक याग। फिर त्रयोदशातिरात्र संख्या वाले १३ अहीन—नवसप्तदश, विषुवाक, गौ, आयु ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, आप्तोर्याम अभिजित् सर्वस्तोम—नामक याग हैं। इनमें प्रथम चार षोडशि वर्जित शेष षोडशि सहित होते हैं। इसके अतिरिक्त दो दो दिन वाले तीन, तीन तीन दिन के पाँच, चार चार दिन के चार, पाँच पाँच दिन के तीन, छह छह दिन के तीन, सात सात दिन के सात, आठ दिन का एक, नौ नौ दिन के दो, दश दश दिन के चार याग भी होते है। सब में द्वादश उपसद् होते हैं पर दीक्षा १६ से क्रमशः एक घटती जाती है, अन्तिम में आठ ही दीक्षा रह जाती है।

रात्रिसत्र

रात्रिसत्र ३७ हैं। त्रयोदश र त्रि का सत्र ३७ दिन में पूरा होता है, १४ रात्रि का ३८ दिन में। पन्द्रह से चालीस रात्रि तक वालों में प्रतिरात्र एक जोड़ना होता है; ४९ दिन के सात प्रकार के रात्रि सत्र होते हैं। एक सत्र शतरात्र का भी होता है, त्रयोदश रात्रि सत्र तोन प्रकार के चतुदर्शरात्रि सत्र तीन प्रकार के, पञ्चदश रात्रिसत्र चार प्रकार के, एकविंशति रात्रिसत्र दो प्रकार के, चतुर्विंशति रात्रसत्र दो प्रकार के, त्रयस्त्रिंशद्रात्रसत्र तीन प्रकार के, एकान्नपञ्चाशद्रात्र सत्र सात प्रकार का, संवत्सर साध्य आदित्यों का अयन नामक सत्र तीन प्रकार का। अङ्गिरसामयन, वातवतोः अयन सत्र संवत्सर साध्य हैं, कुण्डपाययिनामयनसत्र भी संवत्सर साध्य हैं, सर्पसत्र भी संवत्सर साध्य है, महातापश्चित सत्र पाँच वर्ष का साध्य है। इनके अतिरिक्त क्षुल्लक तापश्चितं, अग्निसत्र, तीन प्रकार का संवत्सरसत्र, चार महसत्र प्रजापति, शक्त्यानामयन, साध्यानामयन सारस्वत यात्रसत्राणि, तुरायणं नामक सत्र हैं, इन सबकी विधियों में सोमयाग से कुछ कुछ विभिन्नता है किसी में कुछ है किसी में कुछ अधिक पर विषय वही है। अन्तिम संवत्सर साध्य सत्र गवामयनवत् किये जाते हैं। इन सब में शतरात्र सत्र सबसे अधिक महत्व पूर्ण है। यह तथा शेष १६, १७, १८, १९, २०, २२, २३, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४० रात्रि के सत्र एक एक ही प्रकार के हैं।

——　——

अध्याय १५०

सौ यज्ञों के शतरात्र सत्र का महत्व पूर्ण रहस्य

सम्भवतः रात्रि सत्रों का यज्ञ जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है उससे यह बिलकुल विदित नहीं होता कि इन्हें इस रूप में क्यों किया जाता है? इनका क्या उद्देश्य है? और इनमें किसका अभिनय हो रहा है? इसका मूल कारण यह है कि इन रात्रिसत्रों का नाम तो इन श्रोत्रियों को विदित है पर इसका आधार क्या है यह ये बिलकुल नहीं जानते। रात्रिसत्र योग की रात्रियों में जागृत रहने की अवस्था है।

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"

इसी ओर संकेत करता है। योग करने वाले चाहे कितनी ही रातों जागते रहें उन्हें हमारे जैसे लोगों की उन्निद्रा या निद्राहीन रात्रि बिताने के प्रभाव से कोई भी किसी भी प्रकार की थकान नहीं होती। यहाँ तक कि जो लोग इनके साथ रहते हैं उन्हें भी इनके साथ जागते रहने से जागने की थकान रत्ती भर भी नहीं होती। यह तो मैंने ही स्वयं दो एक महायोगियों की संगत कई रातों करके अनुभूत किया है। रात रात जागते रहने पर भी दूसरे दिन किसी भी प्रकार की थकान या आराम की इच्छा बिलकुल नहीं होती। यदि इन सत्रों में एक भी योगी रहता होगा तो अवश्यमेव ये शतरात्र क्या हजारों रातों तक यज्ञ होते रहने पर भी कोई कष्ट नहीं होता होगा।

अस्तु प्रस्तुत रात्रि सत्रों में शतरात्र सत्र सबसे प्रधान और बड़े महत्व का है अन्य त्रयोदश दिन प्रभृति के रात्रि सत्र उसी शतरात्र सत्र के अंग हैं। इसका विवेचन ऋग्वेद अथर्ववेद और श० प० ब्रा० में विस्तार पूर्वक दिया हुआ मिलता है। मैंने इनका विवेचन इन्द्र शीर्षक (वै० वि० द० पृष्ठ ४३८-४३९ पीछे) में विस्तारपूर्वक सोद्धरण दे दिया है। ये सौ रातें योग की सौ सीढ़ियाँ हैं। इन सौ रातों को एक एक कर पार करके योगी अन्तिम सौवें रात्रि में योग की उषा और आदित्यरूप विष्णु की ज्योति को प्राप्त कर शतक्रतु बनता है। सौवीं रात्रि रात्रि नहीं दिन हो जाता है। मनोरूप इन्द्र इन यज्ञों को करता है (इन रात्रियों को नवतिर्नव या ९९ रातें या वृत्र, शम्बर, नमुचि, पिप्रु, तूतुजि, दनु गोत्र, चुमुरि धुनि, बल रौहिण और अहि आदि असुरों के ९९ किले, दुर्ग, पर्वत, पुरियाँ, इत्यादि नामों से पुकारा जाता जाता है। ये योग के पूर्वार्द्ध में ३१ वें तत्त्व से ऊपर उत्तरार्द्ध की ओर (सृष्टि के पूर्वार्द्ध की ओर उलटे) $२३\frac{३}{५}$ वें तत्त्व तक के ९९ अंश रूप रातें हैं। ३१ में $२६\frac{३}{५}$ घटाने से $६\frac{३}{५}$ अंश बचते हैं एक एक अंश में १५ कला या भाग होते हैं। अतः $६\frac{३}{५} \times १५ = ९९$ रातें या किले या दुर्ग या पुरियां होती हैं। इन्हें पार कर लेने पर $२३\frac{३}{५}$ में दक्षक्रतू का क्रतु नामक तत्त्व या सौवां महायज्ञ या उषा विष्णु रूप आदित्य के दर्शन होते हैं तो योग की सिद्धि हो जाती है। इन सीढियों में कोई तो त्रिष्टप् छन्द के ११, ११ अक्षरों के पादों की सीढियों से पार करते थे कोई विराट् छन्द के

१०, १० अक्षरों के पादों की सीढियों के द्वारा। ये सीढियाँ प्राणों को क्रमशः ऊपर ऊपर की ओर चड़ाने की प्रक्रियाओं की सीढ़ियाँ हैं। इसीलिए ऋ० वे० २-१८-४ में पहले यही कहा है कि हे इन्द्र तुम प्राणोदानौ दो अश्वों या वाक् प्राण चक्षु श्रोत्रं चार या इन छहों या आठों या दशों आदि प्राणों के अश्वों सहित क्रमशः आ जावो। इसके अनन्तर विराट् छन्द के पादों की १०, १० की सीढियों में चढ़ाकर आवो लिखा है जैसे :—

"आ द्वाभ्यां हरिभ्यमिन्द्र याह्य। चतुर्भिरा षड्भिहूयमानः।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽषष्ठ्या सप्तत्या सोमपेयम्।
अशीत्या नवत्या याह्यर्वाङ् शतेन हरिभिर्युजानः॥"

इन्हीं ९९ रात्रि रूप सत्रों का वर्णन अथर्ववेद तथा श० प० ब्रा० दोनों ने त्रिष्टुच्छन्द् के ११, ११ अक्षरों के पाद रूप सीढ़ियों के रूप में निम्नप्रकार दे रखा है :— अथर्ववेद १९-४७-३, ४, ५

"ये ते रात्रिर्नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीति सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्तति॥
षष्टिश्चषट् च रेवति पञ्चाशत्पञ्च सुम्नयि।
चत्वारञ्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः॥"

श० प० ब्रा० ने इसको उलट कर दिया है पहले ११ को लेकर चला है, अथर्व ९९ को लेकर। जैसे—

"एकं च दश च, द्वे च विंशतिश्च, त्रिणि च त्रिंशच्च।
चत्वारि च चत्वारिंशच्च, पञ्च च पञ्चाशच्च॥
षट् च षष्टिश्च, सप्त च सप्ततिश्च।
अष्ट च अशीतिश्च नव च नवतिश्च॥

इन दोनों में प्रथम योग पक्ष है द्वितीय सृष्टि पक्ष। तैत्तिरीय आरण्यक (२-९-१) इन सौ को देवताओं का आनन्द और इन सबका आनन्द इन्द्र के एक आनन्द के बराबर बतलाता है।

"शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः।"

रात्रि सत्रों में गिनती ४२ की की है पर अन्य सत्रों के भेदों को मिलाकर इनकी संख्या उतनी ही लगभग हो जाती है। इन सत्रों को मनोरूप ब्रह्मा पहले विद्दति-द्वार का भेदन करके, फिर इन सत्रिरूप परतों को ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से वेधन करते चीरते आगे चले जाते हुए, अन्त में ब्रह्मज्योति या विष्णुज्योतिर्लोक या गोलोक को या प्रकाशमय लोक के उच्चत्तम स्थान को प्राप्त हो जाता है।

———

अध्याय १५१

एकाह यागाः (एक ही दिन में किए जाने वाले यज्ञ)

छन्दोग ब्राह्मण तथा ताण्ड्य ब्राह्मण ने उक्त शतरात्र के समान ७७ एकाह यज्ञों का वर्णन दिया है। ये सभी सोमयाग ही हैं। सबको एक ही दिन में पूरा किया जाता है, सोमक्रय और सुत्या भं उसी दिन होती है। इनमें एक ही यजमान होता है ऋत्विज सोलह, अग्निष्टोम या कोई अन्य स्तोम अन्त में गाया जाता है। अग्निष्टोम संस्था वाले में एक आग्नेय पशु होता है, उक्थ्य संस्था में आग्नेय और ऐन्द्र दो, षोडशि संस्था में आग्नेय ऐन्द्र ऐन्द्राग्नेय तीन और अतिरात्र संस्था में सारस्वती मेषी सहित चार। इनके नाम ये हैं :– (१) भू (अग्निष्टोम संस्था) (२) ज्योतिः ज्योतिष्टोम संस्था) (३) गौः (उक्थ्य संस्था) ( ) आयुः (उक्थ्य संस्था) (५) अभिजित् (६) विश्वजित् (दोनों अग्निष्टोम संस्था) (७) सर्वजित् (अग्निष्टोम संस्था) (८) ज्योतिः (९) विश्वज्योतिः (१०) सर्वज्योति (११) त्रिरात्र सम्मित (१२-१७) साद्यस्क्राद्याः (अग्निष्टोम संस्था) प्रथम दो के नाम नहीं है अन्तिम चार अनुक्री, विश्वजिच्छिल्प, श्येन एकत्रित नाम के हैं। इसमें सवनीय पश्वालम्भ के साथ साथ ही अग्निसोमीय अनूबन्ध्या सवनीय पशुओं का भी आलम्भन करते हैं। सोम क्रयणीय गाय के स्थान में साँड हरीभूमि वेदि और कावा काटने वाला यूप-रस्सी होती है। श्येन याग में यूप में चाषाल नहीं रखते, तिल्वल वृक्ष का बनता है, विभीतक की लकड़ी होमार्थ, कुशों के स्थान में वाण, शववाहणार्थ दो फलक, भस्त्रा से बना नवनीत, हविर्धान शकट के स्थान में रथ होता है। यह श्येनालम्भन गायत्री का आलम्भन या उपलब्धि का अभिनय है पर यहाँ श्येन को तो मार ही डालते हैं। गायत्री ही श्येन बनकर सोम को लाई और लाती भी है (गायत्री श्येनो (सुपर्णो) भूत्वा सोममा जहार—श० प० ब्रा०)। उसका बध नहीं आलब्धि ही लक्ष्य है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार का वर्णन मुण्डक उपनिषद् ने दिया है। यहाँ औपनिषदिक ज्ञान रूप धनुष है, वाण आत्मा है, लक्ष्य ब्रह्म रूप श्येन या गायत्री। इसीलिए उसको लक्ष कर बेधने वा प्राप्त करने के स्थान में उसका बध करने जाने के समय ऋत्विज लाल पगड़ी पहन कर और धनुर्वाण लेकर तथा भस्त्रा-युक्त होकर जाते हैं। दान की गायों को कानी नहीं होना चाहिए, पर दान काल में इन्हें काटों से बेध देते हैं, अर्थात् ज्योतियाँ अपने पास ही रख लेते हैं।

(१८-२१) चार प्रकार के व्रात्य स्तोम

ये गणयाग हैं, सभी यजमान होते हैं। आजकल और श्रौत सूत्रकाल में व्रात्य माने पतित या संस्कार हीन पूर्वजों की सन्तान माना गया है। इनके मत से व्रात्य चार प्रकार के होते हैं (१) हीना (आचारहीना) (२) निन्दिता (पापारोपण से निन्दित) (३) कनिष्ठा (विरादरी से बहिष्कृत) (४) ज्येष्ठा (पुत्रोत्पादन शक्ति

हीनता प्राप्त)। इनके लिए चार प्रकार के व्रात्यस्तोम नामक चार एकाह यज्ञ होते हैं, प्रथम तृतीय चतुर्थ अग्निष्टोम संस्था और द्वितीय उक्थ्य संस्था का होता है। परन्तु अथर्ववेद (पञ्चदश काण्ड) में व्रात्य के जिस दिव्य स्वरूप का वर्णन दिया हुआ मिलता है वह उक्त चार प्रकार के व्रात्यों ही से नहीं वरन् कई महायोगियों से भी उच्चकोटि के चरित्र का स्पष्टतः प्रतीत होता है। वह तो स्वयम् ही महादेव ईशान नामक एक मात्र व्रात्य रूप में उदित हुआ। समस्त ब्रह्माण्ड की वस्तुएं उसको उपलब्ध हुईं। उसके लिए आसन्दी बनाई गई। उसे उस आसन्दी में आसीन कराया गया। ऐसा व्रात्य जिसके घर पहुँच जाय वह तो महा सौभाग्यशाली हो जाता है। यह तो अग्निहोत्र वाले के ही यहाँ एक रात्र का वास करता है। सभी देवी देवता इसका स्वागत करते हैं। वह तो मरुत इन्द्र वरुण मित्र रुद्र यम अग्नि बृहस्पति ईशान प्रजापति, और परमेष्ठी का स्वरूप धारण करने वाला है। उसके सप्तप्राण सप्तव्यान ही अग्नि आदित्य चन्द्रमा, पवमान, आपः, और प्रजा इत्यादि हैं। इसका प्रथम सोमपान पौर्णमासी द्वितीय अष्टमी तृतीय अमावस्या, चतुर्थ श्रद्धा, पञ्चम दीक्षा, षष्ठ यज्ञ और सप्तम दक्षिणा है। यही प्राण उसके द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष नक्षत्र ऋतुयें, आर्तव संवत्सर इत्यादि हैं। क्या ऐसा व्रात्य पतितों का सूचक हो भी सकता है? वास्तव में यह व्रात्य तो लौकिकाचार विचार रहित (औघड़ समान) परमहंस महायोगी है जो ईशानादिक सभी देवताओं का साकार रूप होता है उसी के समान बनने के लिए जो योग यज्ञ किया जाता है वह व्रात्यस्तोम है। उसी का अभिनय इन व्रात्यस्तोमों में किया जाता है। यह एक प्रकार का महासोमयाग है। वास्तव में यह व्रात्य मरुतों के गणों या अङ्गिरस मौलिक प्राणों का समूह या सामूहिक स्वरूप का महाप्राण रूप महायोगी है। व्रत माने अटल नियम के गण हैं उनका समूह व्रात्य है।

३२ वां एकाह याग अग्निष्टुत् नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्निष्टोम संस्था वाला है। इसके अनन्तर चार यज्ञ त्रिवृत्स्तोम के होते में (२३ से २६ तक)। इनके नाम ईप्सुयज्ञ, बृहस्पतिसव, इषु और सर्वस्वार हैं। ये अग्निष्टोम संस्था के यज्ञ हैं। सर्वस्वार नामक एकाह यज्ञ महामहत्व पूर्ण है। यह यज्ञ मरने की इच्छा वाले करते हैं। इसमें तृतीय सवन में आर्भवपवमान सामगान के समय यजमान मरने की कामना से दक्षिण शिर करके औदुम्बरी शय्या में सोता है। इसके पश्चात् मर ही जाता है। अपने कर्मों की महिमा से स्वेप्सित मरण फल प्राप्त करता है। वास्तव में वह आहवनीय यज्ञ कुण्ड में प्रवेश करता है। अतः मर ही जाता है। यदि इस पर भी बच जाय तो भूखा रख कर मरने दिया जाता है। लिखा भी है—

"ब्राह्मणाः समापयत मे यज्ञमिति प्रेष्याहवनीयं प्रविशति।"

मरने के उपरान्त और्ध्व दैहिक दाह श्राद्धादि कर्म कर दिए जाते हैं। यह यज्ञ उन प्रधान यज्ञों में से एक है जिसको महायोगी, जैसे यम, मोक्ष प्राप्ति के लिए, मरणान्त के पश्चात् भी योग करके ब्रह्म में योग को प्राप्त होने के लिए,

'ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥' (गीता ७-)

के अनुकूल ब्रह्माण्ड भेदन कर शरीर त्याग करते थे, उसी का साकार अभिनय है। वाजश्रवा, शुनः शेष, नचिकेता प्रभृति ने इन योग यज्ञों को किया था, यम इस योग मार्ग को खोलने वाला सर्वप्रथम देवता है 'यो ममार प्रथमो देवानाम्। इसके खोजे इस मार्ग को गातु, पथ्या स्वस्ति, नाम से पुकारा जाता है इसके वेत्ता 'गातु-विद्' कहलाते हैं। इसी प्रकार की वैदिक गाथा गर्भ या वैदिक दर्शन गर्भ वाले शेष निम्न यज्ञ भी है। सम्भवतः यह यज्ञ मरणासन्न अयोगी ब्राह्मण या राजाओं के लिए किया जाता रहा होगा।

२७; २८, २९ वें तीन एकाह यज्ञ ऋत्विगपोहनीय नाम के हैं, प्रथम अग्निष्टोम संस्था का, द्वितीय तृतीय उक्थ्य संस्था के, ४४ और ४८ स्तोमों के हैं। ३० से ३३ तक के चार एकाह वाचस्तोम नाम के अग्निष्टोम संस्था के हैं, इनमें सभी ऋचाओं सामगानों और शस्त्रों का गान किया जाता है। ये प्रायः स्वाध्याय यज्ञ ही हैं। ३४ से ४३ तक के चार एकाह सौमिक चातुर्मास्य नाम के हैं, प्रथम पृष्ठ्य कहलाता है पशु बिना यूप के परिधि में रखा जाता है, द्वितीय द्विविध दो दिन का कहलाता है, वरुणप्रघास के बदले किया जाता है। तृतीय साकमेध के बदले तीन दिन का त्र्यहः कहलाता है, अन्तिम अतिरात्र संस्था का है। शुनासीरीय के स्थान में एकाह यज्ञ भी चौथा है, यह ज्योतिष्टोम संस्था का होता है। इसके पश्चात् ४४ से ४९ तक के छह एकाह यज्ञ प्रतिकर्म सोमा नाम से पुकारे जाते हैं। इनको आग्न्याधेय, पुनराधेय अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास दाक्षायण और आग्नायणेष्टि यज्ञों के स्थान पर किया जाता है। इनमें पशु और उक्थ्य संस्था स्तोम का भी कोई कोई प्रयोग कर लेते हैं। ५० से ५४ तक सप्तदश नाम के पात्र अहीन यज्ञ होते हैं। चार अग्निष्टोम संस्था के और पाँचवा उक्थ्य संस्था का है, स्तोम ये हैं—उपहव्योऽनिरुक्त, ऋतपेय, दूणाश, वैश्यस्तोम तीव्रसत्। ५५ से ६८ तक चौदह सात द्वन्द्वों के एकाह यज्ञ हैं। प्रथम राट् विराट् का, द्वितीय औपशदः पुनस्तोम का, तृतीय दो चतुष्टोमों का चतुर्थ उद्भित् वलभिद् का, पञ्चम दो अपचिती का, छठा दो अग्निस्तोमों का, सप्तम (अग्निष्टोम संस्था का), इन्द्रस्तोम राजयज्ञ (उक्थ्य संस्था का), इन्द्राग्निस्तोम (अग्निष्टोम संस्था का) दो विघन (अग्निष्टोम संस्था के), दो संदश और वज्र नामक (अग्निष्टोम संस्था के) एकाह यज्ञ हैं। गणयज्ञों को छोड़ सब में एक ही यजमान होता है, गणों में गण ही यजमान होता है।

अध्याय १५२

गवामयनम् (=गायों की खोज का वर्ष या पर्व)

गवामयम, गायों का अयन या पर्व नामक यज्ञ सोमयाग का ही एक रूप है। यह माघ की शुक्ल एकादशी या फाल्गुन चैत्र की पौर्णमासी को प्रारम्भ कर एक वर्ष या ३६१ दिन में पूरा किया जाता है। इसमें प्रारम्भ दिन में ही इष्टका पशु और उखा सम्भरण किया जाता है। २४ वें दिन अग्निषोमीय पशु और सुत्यारम्भ करते हैं। इसमें ३६१ सुत्यायें होती हैं। मध्य में १८१ दिन महाव्रत के तीन ग्रहों का ग्रहण करते हैं। मार्जाली के दक्षिण में बहिर्वेदि बनाते हैं जिसमें किसी अज्ञात अनियत जाति के स्त्री पुरुषों से मैथुन कराते हैं। सपत्नीक यजमानों का सशिख वपन (मुण्डन) करते हैं जिसे पृष्ठ शमनीय नामक अग्निष्टोम को गाते किया जाता है। इसमें छह छह मास के दो अयनीय पक्ष १८०, १८० दिन के होते हैं बीच में एक १८१ वां दिन महाव्रत का होता है जिसे उन छह छह मासों में नहीं गिनते। इसी को विषुवान् ग्रह भी कहते हैं। और प्रथम २४ दिनों को जिनमें द्वादश दीक्षा द्वादश उपषद् किए जाते हैं उनको भी इनमें नहीं गिनते। अतः यह यज्ञ ३६५ (१८०+१+१८०+२४=३६५) दिनों में पूरा होता है। प्रतिदिन सवनत्रय ग्रह चमस स्तोत्रशस्त्र नियमतः किए जाते हैं। विशेष यह है। अग्निसोमीय पशु के अनुष्ठान के पश्चात् अतिरात्र संस्था का प्रथम दिन प्रायणीयेष्टि का होता है, दूसरे दिन अग्निष्टोम या उक्थ्य संस्था का चतुर्विंश, इसे चतुर्विंश कहते हैं। ये दिन छठे मास में गिने जाते हैं। छह छह दिन के वार अभिप्लव के पश्चात् त्रिवृत्सोम साध्य एक पृष्ठ्य षडह। यह एक मास हुआ। इसी प्रकार द्वितीय तृतीय चतुर्थ पञ्चम मासों का अनुष्ठान होता है। छठे मास में प्रथम तीन अभिप्लव के षडह होते हैं एक पृष्ठ्य षडह, ये २४ दिन हुए। इनमें अभिजित् नामक अग्निष्टोम संस्था का एक दिन, तीन दिन स्वरसाम नाम के, दो पूर्व में छोड़े गये दो दिन मिलकर छटा मास पूरा हो जाता है। बीच में विषुवान् ग्रह का १८१ वां दिन मनाया जाता है जिसकी अग्निष्टोम साम से समाप्ति होती है। यहाँ प्रथम अयन पक्ष पूरा हो गया। अब दूसरा अयन पक्ष प्रारम्भ करते हैं। इसमें पूर्वपक्ष के दिनों के विपरीत क्रम से प्रक्रिया करते हैं। अर्थात् छटे मास का प्रथम मास, पांचवें का दूसरा, चौथे का तीसरा, तीसरे का चौथा, दूसरे का पाचवाँ प्रथम का छटा मास माना जाता है, इनकी क्रियायें भी पूर्वानुष्ठित के विपरीत होती है, पञ्चम षडह पहले, चतुर्थ दूसरे स्थान में, तृतीय तीसरे, द्वितीय चतुर्थ में, प्रथम पञ्चम के स्थान में। इस प्रकार इस गवामयन यज्ञ को पूरा करते हैं।

गवामयन का रहस्य

गवामयन की व्याख्या ऐ० ब्रा० (४-१७) तै० सं० (७-४-८) और ताण्ड्य ब्रा० (४-११) ने स्पष्ट दे रखी है। ये गायें कौन हैं? उनके ये अयन (पक्ष) क्या

आशय रखते हैं ? यह इनमें विशद रूप से स्पष्ट किया हुआ रखा है। ऐ० ब्रा० ने लिखा है कि गावः (गौ का बहुवचन) नाम आदित्यों का है, 'गवामयनं' माने आदित्यों के ही अयन से ले जाते हैं' जैसे—

"गवामयनेन यान्ति गावो वा आदित्या
आदित्यानामेव तदयने नयन्ति" (४-१७)

इसी में यह भी लिखा है कि आदित्यों और अङ्गिरसों में स्वर्गलोक प्राप्ति के लिए परस्पर स्पर्धा या प्रतिद्वंद्विता हुई, प्रत्येक ने चाहा कि हम पहले स्वर्ग प्राप्त करें। पर आदित्यों ने पहले स्वर्ग प्राप्त किया अङ्गिरसों ने साठ वर्षों के पश्चात्। क्योंकि देवताओं के अतिरात्र, उक्थ्य अभिप्लव षडह थे, अङ्गिरसों के सब पृष्ठ्य षडह। अतः देवताओं को अग्रणी और अङ्गिरसों को 'पृष्ठ्या' कहते हैं। ये ही बातें ऐ० ब्रा० (१-३-१६) ने साध्या और अङ्गिरसों की इसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता के बारे लिखी है तथा श० प० ब्रा० (१२-२-२-९ से ११ तक) ने भी यही पुष्ट किया है। (मेरा 'वैदिक योग सूत्र' पृ० ४१४, ४१५ देखें। गवामयन नामक यज्ञ में इसीलिए दो अयनों का विधान है; ये अयन सृष्टि और योग के उत्तरायण और दक्षिणायन हैं। देवता उत्तरायण से या अतिरात्र या शुक्ल पक्ष या दिन से और अङ्गिरस दक्षिणायन या रात्रिपक्ष या कृष्णपक्ष से उलटे सुलटे मध्यबिन्दुस्थित महाव्रत या विषुवान् नामक सोमज्योति की प्राप्ति की होड़ करते हैं। अङ्गिरस प्राण दक्षिणायन से शरीर रूप से या अध्यात्म रूप से महाव्रत विषुवान् सोमज्योति का स्पर्श मात्र कर पाते हैं। अतः पृष्ठ्यः या पिछड़े कहलाते हैं। परन्तु देवता या साध्या या तत्तद्देवता के छन्दो रूप देवता तो उत्तरायण से कूदते फांदते आते हैं, सोम की ज्योति में पूरे पूरे डूब जाते हैं, अतः पूर्णानुभूति कर लेते हैं। अतः 'गवामङ्गिरसामयने' यह नाम इस यज्ञ को देना उचित रहा, गवामयन मात्र संक्षिप्त नाम है। हां इसीलिए रात्रि सत्रों में 'अङ्गिरसामयन' नामक और 'आदित्यानामयन' नामक दो प्रकार के संवत्सर साध्य और 'गवामयनवत्' करणीय दो सत्रों को बताया गया है। गवामयन रात्रिसत्र नहीं हो सकता, पर अङ्गिरसामयन तो दक्षिणायन का होने से रात्रिसत्र है ही। संवत्सर साध्य सभी यज्ञ प्रायः इन्हीं से सम्बन्ध रखते हैं। वास्तविक स्थिति यह है।

वेदों में विरला ही ऐसा सूक्त या ऋषि मिलेगा जिसमें या जिसने इस गवामयन और अङ्गिरसामयन पर कुछ न कुछ कहा हो। प्रायः यह कहा गया है कि गायों को असुर चुरा कर लेगये और उन्हें अपने किलों में नगरियों में गुहाओं में कठोर शिलोश्चय चट्टानों से ढक कर बन्द कर छिपा लिया। इनकी खोज आदित्य (इन्द्रादिक) और अङ्गिरस ऋषि करते हैं। पणियों ने भी इन गायों को चुराया, जिनका पता अङ्गिरसों ने लगाकर देवशुनी सरमा को दूती बनाकर उनके पास भेजा (पीछे वै० वि० द० में 'सरमा' शीर्षक देखें। इनका सीधा सादा आशय यह है कि यह प्रत्यक्ष ब्रह्माण्ड और हमारे शरीर सब असुर हैं, इनका जीवन आसुर बहुल है। दैवी ज्योतियाँ या दैवी सम्पदाओं की ज्योतियाँ रूप गायें इन शरीरों और ब्रह्माण्ड के

कठोर कारावास में बन्द रहती हैं। इनका पता मौलिक अङ्गिरस प्राण—जिनको संस्कार या पूर्वस्मृति या मौलिक प्राणों की जागृति कहते हैं—लगा सकते हैं। इनको पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी दैवी वृत्ति रूप प्राणात्मिका देवशुनी सरमा को इनके असुरों को समझाने भेजना पड़ता है। पर ये मानने वाले कब हैं, इनके साथ महायोगियों के मनोरूप इन्द्र, प्राणोदानौ रूप अश्विनी मित्रावरुण देवता प्रभृति ही लोहा लेते हैं और इनके इन किलों को तोड़कर गाय रूप दैवी ज्योतियों की किरणों की वृष्टि से अखिल ब्रह्माण्ड को आप्लावित अभिप्लवित कर देते हैं, अङ्गिरस ऋषि रूप प्राण भी अपने शरीरों से उसका भोग शरीर से करते हैं और सभी देवता रूप दैवी वृत्तियों का बोलबाला या साम्राज्य हो जाता है। यही इन दो प्रकार के यज्ञों के अभिनय का मुख्य लक्ष था।

———

अध्याय १५३

वाजपेय यज्ञ

वाजपेय यज्ञ मुख्यतः ब्राह्मण करता है। पर जो क्षत्रिय राजा से सम्राट् बनना चाहता है वह भी इसे कर सकता है।

"स व एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः"

"राजा वै राजसूयेन भवति सम्राड्
वाजपेयेनाऽवरं हि राज्यं परं साम्राज्यं"

(श० प० ब्रा० ५-१-१०,११)

इसीलिए वाजपेय यज्ञ में राजसूय यज्ञ का भी विधान मिलता है। वाजपेय माने अन्नपेय या सोमपेय है। लिखा भी है—

"यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयं ह नामैतद्वाजपेयं"

(श० प० ब्रा० ५-१-५-२५; ५-१-६-१६)

इसमें मुख्याधिष्ठाता देवता 'बृहस्पति' है—

'बृहस्पति सवो वा एष यद्वाजपेयम्' (श० प० ब्रा० ५-१-६-१८)

यह बृहस्पति वाचस्पति भी है इन्द्र भी है। ब्राह्मण यज्ञ कर्ता वाचस्पति या ब्रह्म या ब्राह्मण या आदि प्राण रूप बृहस्पति की साधना करता है तो क्षत्रिय इन्द्र रूप बृहस्पति की (श० प० ब्रा० ५-१-५-२,३)। परन्तु आजकल सप्त संस्था वाले वाजपेय में वैश्य को भी अधिकारी मानते हैं।

इस यज्ञ का मुख्य काल शरद्ऋतु है। इसके विधानों में भी आजकल कई मतभेद हैं। कोई कहते हैं कि अश्विन्य पूर्णिमा में वाजपेय सुत्यानुष्ठान करें, इसके पूर्व भाद्रपद या कार्तिक पूर्णिमा में बृहस्पति सवद्वय। कोई कहते हैं कि बृहस्पति सव के स्थान में ज्योतिष्टोम करना चाहिए। तीसरे कहते हैं कि बारह शुक्ल पक्षों में बारह वाजपेय याग करने चाहिए और विषम शुक्ल पक्षों में अग्निष्टोम संस्था का ज्योतिष्टोम, युग्मों में पृष्ठ्य षडह साम और स्तोत्र। वाजपेय के अनन्तर सम शुक्ल पक्षों में ज्योतिष्टोम और विषम शुक्ल पक्षों में पूर्वानुष्ठित पृष्ठ्य षडहों के साम स्तोत्रों को, विपरीत क्रम से। चौथे वर्ग के कहते हैं कि पौष से भद्रपद तक नौ शुक्ल पक्षों में राजसूय के अन्तर्गत आये पवित्र अभिषेचनीय दशपेय केशवपनीय, व्युष्टि द्विरात्र, क्षत्रघृतित्रिष्टोम और ज्योतिष्टोम का क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिए। इसके पश्चात् इन्हीं के विपरीत क्रम से पुनः इन्हीं का अनुष्ठान होना चाहिए।

कार्तिकी या अश्विनी आमावास्या को राजसूय की सुत्या की जाती है। कार्तिकी अमावस्या में सुत्या करने में आश्विन्य शुक्लदशमी के दिन मातृपूजनादिक, सप्तदीक्षा करके, कार्तिक कृष्ण द्वादशी को प्रायणीयेष्टि और सोमक्रय तथा सुराद्रव्य

ग्रहण करते हैं। फिर तीन दिन तक प्रवर्ग्य उपसदानुष्ठान होता है। चतुर्दशी को अग्निसोमीय पशु, और सप्तदश अरत्नी के यूप को सत्रह वस्त्रों से लपेटते हैं। पूर्णिमा को षोडशि का पात्र अधिक होता है। सुराग्रहण के पात्र १७ होते हैं, २२ पशु, सत्रह तो प्राजापत्य और पांच आग्नेय, एन्द्राग्नेय, ऐन्द्र, मेषी सरस्वती, वशा गौ या अजा। इन पाचों की वपा होम पृथक् पृथक् और सत्रहों का एक साथ करते हैं। सवनीय हवि काल में खीले युक्त पाँच हवियों और सत्रह पात्र परिमित बृहस्पति चरु का निर्वाप करते हैं। दक्षिणादान मारुत्वतीय होमानन्तर अध्वर्यु माहेन्द्र के पूर्व आग्नीध्र के समीप स्थित रथ के ऊपर दूसरा रथ रख उतार कर उसमें चार घोड़े जोतता है। फिर आग्नीध्र के आगे दो खम्भों को गाड़ उनके सिर में एक बल्ला जोड़ कर उसमें सत्रह नगाड़ों को बाधता है और उन्हें एक साथ बजाते हैं। तब एक क्षत्रिय चत्वाल और उत्कट के बीच से बाण छोड़ता है, जहाँ बाण पहुँचता है वहाँ से फिर बाण छोड़ता है। इस प्रकार१७वार बाण छोड़ कर जहाँ बाण रुकता है वहाँ से औदुम्बरी शाखा को खन लाते हैं और सब अपने अपने रथ में चढ़ते हैं तथा अपने अपने रथ में लौटते हैं। यह आजिधावन कहलाता है। गमन काल में ब्रह्मा साम गान करते जाता है। फिर औदुम्बरी शाखा की प्रदक्षिणा करके यज्ञ शाला में लौटते हैं। तब सब ब्राह्मण अपने अपने रथों से उतरते है और दुन्दुभियों को उतारते हैं, यजमान अपना रथ अध्वर्यु को देता है शेष में से जिसमें जो बैठा है वह उसीको देदिया जाता है। तब मधुग्रह करते हैं सौर ग्रहों का प्रचार होता है। यजमान और उसकी पत्नी पूर्व निर्मित सीढ़ी में चढ़ते हैं जिनको उनके पुत्र पौत्रादिक सत्रह संख्या के अश्वत्थ पत्र में बाधे राख मिट्टी के पुडुवों से बेधते हैं। इसी का नाम 'स्वर्गारोहण' हो जाता है। एक अन्न छोड़ ग्राम्य आरण्य सब अन्नों का सप्तवार हवन करके होमावशिष्ट से आसन्दी में बैठे राजा का अभिषेक करते हैं। तब आज्याहुतियां देते हैं और वशा प्रचार होता है तथा उदनीय के स्थान में त्रैधातुवीय करते हैं।

इस वाजपेय यज्ञ में स्वर्गारोहण का अभिनय यजमान दम्पती के लिए एक महत्वपूर्ण घटना की ओर संकेत करती है। अर्थात् यह यज्ञ स्वर्गप्राप्ति के लक्ष्य से किया जाता है। इस शरीर से किसी को भी स्वर्ग नहीं मिलता। स्वर्गप्राप्ति के लिए शरीर त्याग मुख्य हैं। यजमान दम्पती के पुत्रपौत्रादिक जिन राख मिट्टी भरे अश्वत्थपत्र पुटों से उनका वेधन करते हैं यह भी कम महत्त्व को नहीं रखता। पुत्र-पौत्रादिक यजमान दम्पतों के शारीरिक प्राण रूप प्रजा के प्रसून हैं जिनके मात्र सुगन्ध को लेकर दम्पति की आत्मा स्वर्गारोहण करता है गीता ने भी लिखा है—

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रमतीश्वरः।
गृहत्वैतान्संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥"

यही भाव बृह० उप० ने भी दिया है। अतः इस वाजपेय यज्ञ का राजसूय तो राज्य रूप सोमीयज्योति के राज्य की प्राप्ति है तो वाजपेय से विष्णुलोक या गोलोक रूप सार्वभौम साम्राज्य प्राप्ति के लिए किया गया महायोग यज्ञ है। यह उत्क्रमण करने वाला ईश्वर वही बृहस्पति रूप ब्रह्म या ब्राह्मण या योग यज्ञ कर्ता मुख्य या ब्रह्मा नामक पुरोहित या आदि प्राण या मध्यम प्राण रूप इन्द्र ही है। इसी प्राप्ति के लिए किए गए योग प्रक्रिया का इस यज्ञ में पूर्ण अभिनय मिलता है। इसीलिए यजमान का अन्त में अभिषेक किया जाता है। नहीं तो स्वर्गारोहण के पश्चात् पुनः लौकिक राज्याभिषेक कोई माने नहीं रख सकता। यजमान को आसन्दी में बिठाकर अभिषिक्त करना भी सार्थक है। आसन्दी देवताओं की होती है, उसी में यजमान पहुँच गया है। उस पर सोम ज्योति की किरणों का अभिषेक स्वयं होने लगा है। उसीका यह अभिनय है। सम्भवतः यह यज्ञ मरणासन्न अयोगी राजाओं या ब्राह्मणों के लिए किया जाता रहा होगा।

अध्याय १५४

राजसूय यज्ञः

राजसूय यज्ञ करने का अधिकार मात्र अभिषिक्त राजा को ही प्राप्त है, ब्राह्मण वैश्य को भी नहीं। इस यज्ञ का प्रारम्भिक अनुष्ठान तो आठ दिनों में किया जाता है, परन्तु इसको पूरा करने में २० महीने लगते हैं, प्रयुग् हवियाँ देने के पक्ष में ३३ महीने लगते हैं तथा इस बीच अश्वमेधीय अश्व एक पूरे वर्ष के लिए बाहर देशों में घुमाया जाता है। इसका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को किया जाता है। इसमें सबसे पहले पवित्र नाम का सोमयाग करते हैं जिसमें चार दीक्षा तीन उपसद् और एक सुत्या का अनुष्ठान आठ दिन में करते हैं। राजा के लिए न्यग्रोध फलाङ्कुर का रस सोमरस के स्थान में बनाया और निमन्त्रित भी किया जाता है। अवभृथ के पश्चात् तीन अनुबन्ध्या और उदवसानीय के स्थान में त्रैधातवीय साधना करते हैं। यह अष्टमी के दिन समाप्त किया जाता है।

दशमी के दिन अनुमतीष्टि (अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य से) एकादशी को अग्नावैष्णव (द्वादश कपाल) द्वादशी को अग्निषोमीय (एकादश कपाल) त्रयोदशी को ऐन्द्राग्न (द्वादश कपाल) चतुर्दशी को यवाग्रयण व्रीह्याग्रयण पाँच इष्टियां, और पूर्णमासी को राजसूयान्तर्गत चातुर्मास्य प्रयोग करते हैं। चातुर्मास्य में पूर्णमासी के दिन वैश्वदेव पर्व, चैत्र कृष्ण प्रतिपद् से आमावास्या तक प्रतिदिन पौर्णमासेष्टि और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से पौर्णमासी पर्यन्त दर्शेष्टि, (पिण्डपितृयज्ञ छोड़कर) करते हैं। प्रतिपदा के दिन राजसूयेष्टि के पश्चात् नित्य ही पूर्णमासेष्टि और पिण्ड-पितृयज्ञ करते हैं। पुनः वैशाख ज्येष्ठ असाढ़ के कृष्ण पक्षों में पौर्णमासेष्टि शुक्ल पक्षों में दर्शेष्टि करते हैं। प्रतिपदाओं में नित्येष्टियां भी करते रहते हैं। जो यजमान प्रतिवर्ष चातुर्मास्य नहीं करता रहा उसे पहले इन्हें करके ही फिर राजसूयान्तर्गत चातुर्मास्य करने चाहिए। आषाढ़ पूर्णमासी को वरुण प्रघास इष्टियां करके, कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त दर्शपूर्णमासेष्टियाँ पुनः की जाती हैं। कार्तिक पूर्णिमा को साकमेध यज्ञों को त्रैयम्बकान्त करके दर्शेष्टियों को प्रारम्भ करते हैं। पुनः मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपत् से फाल्गुन अमावस्या तक दर्शपौर्णमासेष्टियों का अनुष्ठान प्रतिदिन करते हैं। फाल्गुन अमावस्या के दिन शुनासीरीय राजसूय किया जाता है। उसी दिन पञ्चवातीयक होम और इन्द्र तुरीय नामक इष्टि भी करते हैं। होम अग्नि वरुण और इन्द्र का क्रम से अष्टाकपाल, यव गवेधुक वाहिनी दधि से करते हैं, अन्त में अपामार्ग होम भी होता है। वाहिनी वह गौ है जिसको गाड़ी से ले जाते हैं। फाल्गुन प्रतिपदा को त्रिषं युक्ता नाम की तीन इष्टियों की हविः वैष्णव, ऐन्द्रावैष्णव और वैष्णव चरु की देते हैं। चतुर्थी के दिन द्विहविष्कोटि करते हैं जिसमें वैश्वानर और वरुण को हवियां देते हैं, उसी दिन द्वादशरत्न हविः नाम की इष्टियां करते हैं।

पहले सेनानी के यहाँ अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश, पुरोहित के घर में बार्हस्पत्य चरु से, यजमान के घर में ऐन्द्र चरु से, महिषी के घर अदिति के लिए, सारथी के घर वरुण यव चरु, ग्राम नेता के घर मारुत सप्त कपाल चरु से, मन्त्री या दूत के घर सावित्र्य से, रथ जोतने वाले के यहाँ अश्विनी का द्विकपाल, परिवेषण कर्ता के घर पौष्ण चरु से, द्यूतपति हलिक के यहां आरण्य गोधूम के रौद्र चरु से, पतिपुत्र रहित किसी स्त्री के घर निर्ऋति देवता के लिए नखों से बनाये चावलों से की जाती हैं; इसी दिन सोमा रौद्र और मैत्र बार्हस्पत्य चरु कृत्य करते हैं। चैत्र कृष्ण पक्ष में कोई कर्म नहीं होता। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को सोमयाग के अभिषेचनीय दशपेय आदि नामक ८ कर्मों का आरम्भ साथ साथ करते हैं। ये ८ सोम याग—पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टि द्विरात्र क्षत्रस्य धृति, त्रिष्टाम अग्निष्टोम हैं, शेष दो अन्यों को आगे किया जावेगा। यहीं पर साथ साथ सोम और न्यग्रोध का क्रय भी कर लेते हैं, देवयजन द्वय भी। इस अभिषेचनीय कार्य में पाँच दिन लगते हैं जिसमें अग्निषोमीय पशु के सामने देवसू हवियां—दो पुरोडाश और छह चरु रखते हैं। यहाँ विरूढ गेहूँ धानों (जमे कोपलों वालों) का अष्टाकपाल चरु सवितृ सत्य देवता के लिए, अग्नि के लिए तीन भाग पके धानों का, गृहपति के लिए अष्टाकपाल, सोम के लिए अष्टाकपाल श्यामाक चरु, बृहस्पति के लिए नीवार चरु, इन्द्र के लिए रक्त चावल का, रुद्र के लिए गवेधुका का, मित्र के लिए स्वयं जात व्रीहि चरु, वरुण के लिए यव का चरु, बनाते हैं। तब राजा के अभिषेक के लिए सत्रह प्रकार के जलों को लाते हैं। राजाभिषेक के पश्चात् शुनः शेष कथा श्रवण, वाजपेय के समान स्वर्गारोहण या रथावरोहण, औदुम्बरी आसन्दी में अक्ष-दीवन के लिए बैठे यजमान को अक्षदान, जुवा खेलना, होता है। खेलने वालों में राजा, उसका भाई, सूत ग्रामणीः, उसका भाई पाँच होते हैं। तदनन्तर संसृपा हवियाँ षष्ठी से छह दिनों तक, द्वादशी को शेष चार देते हैं। उसी दिन दशपेय, दूसरे दिन से चैत्री पूर्णिमा तक सुत्या करते हैं, एक चमस को दश दश ब्राह्मण पीते हैं, इनमें एक तो ऋत्विक् होता है शेष नौ नौ साधारण जन, यजमान चमस में ब्राह्मण ही पीते हैं। वैशाख में कोई कर्म नहीं होता। वैशाख पूर्णिमा को पंचबिल नामक चरु पाँच हवियों के लिए करते हैं। फिर बारह त्रयुग्हवियों की इष्टियाँ, एक ही दिन में करते हैं। ज्येष्ठ अमावस्या के दिन पशुवन्ध द्वय, ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी से पाँच दिन तक अतिरात्र संस्था वाले केशवपनीय साम का अनुष्ठान, आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा से व्युष्टि द्विरात्र—षोडशदीक्षा द्वादश उपसद् दो सुत्याओं का अनुष्ठान एक मास पर्यन्त करते हैं। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से क्षत्रधृति एक महीने तक, भाद्र प्रतिपदा से त्रिष्टोम एक मास तक, आश्विन प्रतिपदा से अग्निष्टोम एक मास तक, कार्तिक प्रतिपदा से त्रिपशुका चरक सौत्रामणी, का अनुष्ठान करते हैं। यहाँ राजसूय यज्ञ समाप्त होता है। इस यज्ञ में यजमान की पत्नी चण्डातक नामक वस्त्र (लहँगा) पहनती है। इसमें कुल ४४९ इष्टियाँ, दो पशुयाग, आठ सोमयाग, सात दर्वि होम मिलकर राजसूय कहलाते हैं।

इस राजसूय याग के अनुष्ठान का भी वही रहस्य है जो वाजपेय यज्ञ का बताया जा चुका है। क्योंकि इसमें भी स्वर्गारोहण की प्रक्रिया तद्वत् की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन यज्ञों को योग ज्ञान हीन राजा अपनी अन्तिम घड़ियां या आयु सीमा समीप देखकर करते रहे होंगे या ऐसे ही समयों में इनसे ऐसे यज्ञ अनुष्ठित कराये जाते रहे होंगे जिससे वह सदाचारमय आनन्दमय धर्म कृत्य कर्ममय, मृत्यु पाकर सचमुच में स्वर्ग का अधिकारी बनने योग्य हो भी जाता होगा; साथ में ऐसे महान् यज्ञों से वैदिक संस्कृति और वेदों की सुरक्षा भी होती ही है।

अध्याय १५५

सोम याग का अङ्ग

अग्निचयन या पञ्चाग्नितपन

जिसको आजकल पञ्चाग्नितपन नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में आभ्यन्तर पञ्चाग्नियों का तपन है। यह योग साध्य है। सोमयाग भी योग यज्ञ है। अतः यह सोमयाग पद्धति का मुख्य अङ्ग है। इसका द्रव्ययज्ञ में अभिनय बाहरी पांच अग्नियों को शरीर के चारों ओर जलाकर तापने के रूप में करते हैं। इसको यज्ञानुष्ठान विधि में निम्न प्रकार से किया जाता है। चयन नाम इष्टिकाओं के चयन स्थल का है। उत्तर वेदि का विस्तार करके उसमें आहवनीयाग्नि डालकर होम किया जाता है। कोई इसको अग्नि नाम या पञ्चाग्नि नाम से भी पुकारते हैं। प्रथम ज्योतिष्टोम में इसे नहीं करते, द्वितीयादि में विकल्पतया करते हैं। इसे वसन्त में किया जाता है। प्रथम दिन इष्टका निर्माणाङ्गीय पशु अनुष्ठित करते हैं। इसमें पाँच मुख्य पशु—पुरुष पशु अश्व गो अवि अजा—अथवा केवल एक प्राजापत्य पशु या वायव्य पशु होते हैं। पशुओं की इष्टकाः (मूर्तियाँ) बनाई जाती हैं (यह महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है)। यागोपयुक्त अवशिष्ठ पशु शरीर को जल में डालकर उस स्थान से उखा और इष्टका निर्माण के लिए मिट्टी लाते हैं : जिस दिन इष्टका पशु किया जाता है उसके आठवें दिन उखा निर्माण करते हैं, उखा अग्नि धारण का पात्र है जिसे सम्वत्सर भर तक रखना पड़ता है। इसके लिए उक्त आनीत मिट्टी में वल्मीक मिट्टी अजा लोम, लोहे पत्थर के चूरे, बालू पर्णकषाय से पके जल में मिलाकर उसमें बालू डालकर विता भर लम्बी बित्ता भर चौढ़ी बित्ताभरऊँची, एक पशु के लिए एक मुखी पञ्चपशु के लिए चतुरस्त्र आकार की उखा बनाकर एक वत्ती ऊपर को चार बत्तियां चारों दिशाओं की ओर मुख करके बत्तियों को स्तनाकार बना कर जला देते हैं। साथ में आषाढ़ा नाम की इष्टका को बारह अंगुल लम्बी चौड़ी ऊँची बनाकर उसमें तीन स्थानों पर अंगुली के चिह्न लगाते हैं और विश्वज्योति नाम की तीन और इष्टकायें भी साथ में पकाते हैं। उखा संभरण क्रिया हो गई।

अब चयन के लिए १४ प्रकार की इष्टकाओं का निर्माण करते हैं। १२ अंगुल सम चतस्त्रा, पद्या, छह अंगुल चौड़ी बारह अंगुल लम्बी अर्द्ध पद्या, बारह अंगुल समचतुरस्त्र त्रिकोणी, (टूटी त्रुटिता) पादोन पद्या, अट्ठारह अंगुल समचतुरस्त्रा, जंघा मात्री; अट्ठारह अंगुल लम्बी दश अंगुल चौड़ी, अध्यर्द्धा, बारह अंगुल लम्बी चौड़ी तीन अंगुल ऊँची द्व्यङ्गुलोच्चा या अर्द्धोत्सेधपद्या; छह अंगुल विस्तृत हो या तीन अंगुल ऊँचीअर्द्धोत्सेधा या अर्द्ध पद्या; छह अंगुल समचतस्त्रा पादभागा, २४ अंगुल लम्बी १८ अंगुल चौड़ी त्रिगाहीणी, छह अंगुल लम्बी तीन अंगुल चौड़ी अर्द्धपादभागा, चौबीस अंगुल समचतस्त्रा बृहती, चौबीस अंगुल लम्बी १२ अंगुल

चौड़ी अर्द्ध बृहती, तीन अंगुल समचतस्रा चतुर्भागा नामों और प्रमाणों की इष्टकाओं का निर्माण पूर्ववत् करते हैं, ऊँचाई सबकी तीन ही अंगुल होती है, केवल अर्द्ध पद्या और अर्द्धोत्सेध पद्या विकल्प से दो अंगुल भी ऊँची हो सकती हैं। वक्रेष्टका (टेढ़ी ईटें) बनाने के लिए दोनों हाथों को फैलाने (व्याम) की लम्बाई में अर्द्ध व्याम से वृत्त बनावे, उससे कटे चिह्न से दूसरे वृत्त को बनावे इस प्रकार पूरे में आठ वृत्त होंगे। उनकी टेढ़ी रेखाओं के अनुसार काठ को काटकर तदनुरूप टेढ़ी इष्टिका बनाई जाती हैं। अब इष्टकाओं में से प्रत्येक में तीन प्रकार निम्न चिह्नों में से एक एक चिह्न बनाया जाता है जैसे टेढ़े (वक्र) ‿‿‿, सीधे (ऋजु) ।।।, और तिरछे ———। अब इन इष्टकाओं की संख्या बताई जाती है।

कुल इष्टका ११९७० होती हैं। इनमें १०८०० लोकम्पृणा (=३६०दिन × ३० मुहूर्त) होते हैं। ३७०, या ३९५ यजुष्मती होती हैं। उक्त इष्टकाओं में ९२६२ पाद-भाग (१७३२ टेढ़े लिखे ७५३० सीधे लिखे) ६७८ अर्द्धपाद (टेढ़े लिखे २६२, सीधे लिखे ४१६), बारह चतुर्भाग टेढ़े (लिखे) ४ सीधे लिखे ८, ७७३ पद्या, पूर्णोत्सेध ७५९, पद्या १८, अर्द्धपद्मा ८०; अर्द्धोत्सेध १२ तिरछे लिखे ४, सीधे लिखे ८; तिरछे लिखे २७ अर्द्धोत्सेध ४, पूर्णोत्सेध २४; शेष सीधे लिखे; टेढ़े लिखे अर्द्धपद्या २ पूर्णोत्सेध २७ जङ्घामात्री ५०, त्रिग्राहिणी ७०, वक्रा ८, अध्यर्द्ध १११, बृहती ६ या ७, अर्द्धबृहती ४, पादोन २। यह संख्या उपाधान काल की है, निष्पादन काल में इनसे अधिक बनानी चाहिए जिससे टूट-फूट से कमी न पड़े। सूखने से इनकी लम्बाई चौड़ाई घटती है; अतः कुछ बड़ी भी बननी चाहिए जिससे सूखने पर ठीक लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई की रह जावें (३२ वां भाग बढ़ाकर बननी चाहिए)।

ये बारह प्रकार की इष्टका पाचों चितियों में प्रयुक्त होती हैं। वक्रचतुर्भागों का होतृधिष्ण्य गार्हपत्य में उपाधान करते हैं। इनमें किसी को समन्त्र किसी को असमन्त्र, किसी को अमन्त्र मौन से रखा जाता है। मंत्रों वाली यजुष्मती और बिना मंत्रों वाली मौन वाली लोकम्पृणा कहलाती हैं। प्रथम चिति में २००६ इष्टका लगती हैं (जिनमें से ७७ यजुष्मती, शेष १९२९ लोकम् णा) द्वितीयाचिति में १९९१ (जिसमें ४१ यजुष्मती १९५० लोकम्पृणा) होती हैं। तृतीयचिति में २०२० (७० यजुष्मती १९५० लोकम्पृणा) लगती हैं, चतुर्थी ति में १९९७ (४७ यजुष्मती १२५० लोकम्पृणा) लगती हैं, पञ्चमीचिति में ३०५६ (१३४ यजुष्मती लोकम्पृणा २९२२)। इन पाँचों में कुल ३६० यजुष्मती १०७०९ लोकम्पृणा, दोनों में मिलकर ११९७० इष्टका लगती हैं। ये चितियाँ हवन वेदियां या कुण्ड होते हैं।

इसके पश्चात् यजमान सोने के तार को वृत्ताकार में गले में पहनकर शिक्य-स्थानीय सुख्याग्नि को गले में रखकर आसन्दी में रखता है। यहाँ छह महीने या एक दीक्षा में से कोई लेते हैं। एक दीक्षा में उसी रात विष्णु क्रमादि वेदि मान और अग्निक्षेत्र मान कर लेते हैं। वेदि को चयनयागचिति के अनुसार बढ़ाते हैं। यह ४० पदों की होती है। वहीं ७२ पुरुषमात्र अग्निक्षेत्र बनाते हैं। उसके बीच में दो पुरुष लम्बे-चौड़े स्थण्डिल को बनाते हैं। उसी के साथ दक्षिण-पश्चिम

उत्तर में भी तीन स्थण्डिलों को एक-एक पुरुष प्रमाण के बनाते हैं; दक्षिणोत्तरों के बगल में सरत्निपुरुष प्रमाण का, पश्चिम में वितस्त्यधिकपुरुष प्रमाण का, बनाते हैं। इनको प्राङ्मुख कहते हैं। दक्षिणोत्तर वालों को दो पक्ष, पश्चिम वाले को पुच्छ कहते हैं, मध्यम को आत्मा। इन स्थानों को रस्सी से घेरते हैं। इसके चारों ओर खाई बनाकर उसमें २६१ या ३२४ पत्थरों की इष्टकाओं को जोड़कर लगाते हैं। वायव्य कोण में जङ्घा नाभि मुख प्रमाण के तीन पत्थरों को गाड़ते हैं। इसका निर्माण ९५ बार करने का भी विधान है। प्रत्येक बार अग्निप्रमाण को एक पुरुष बराबर बढ़ाया जाता है जिनमें इष्टका बड़ी लगनी चाहिए संख्या में अधिक नहीं। आवृत्ति में कोई चिति भी बनाई जा सकती है, क्रम नहीं है। पहले गार्हपत्य स्थण्डिल बनाते हैं जिसमें एक या तीन चितियाँ होती हैं जो विस्तार में चार अरत्निमात्र मण्डलाकार होती है। प्रत्येक चिति में २१ इष्टका लगाते हैं जिनमें से ४ अर्द्धबृहती, ७ पद्या, २ अर्द्धपद्या, आठ वक्र होती हैं। इसके चारों ओर भी तीन अंगुल चौड़े २१ पत्थर रोकने के लिए लगाते हैं। इसे चत्वाल से मिट्टी लाकर पोतते हैं। निर्ऋति नामक (भूसी में पकी) ३ इष्टका को श्वभ्रादि में रखकर उसी में शिक्य रुक्म पाश आसन्दीय आदि को रखकर दूर नैर्ऋत्य दिशा में फेंक आते हैं।

वहाँ से यज्ञशाला में आकर प्रायणेष्टि हविष्कृदाह्वानादिक करके ६, १२, २४ बैलों से हल जोतकर उससे अग्निक्षेत्र भूमि पर चलाते हैं। तब प्रायणेष्टि पूरी करके अतिश्रेष्टि कर प्रवर्ग्य उपसदों का अनुष्ठान करते हैं। फिर अग्निक्षेत्र में अश्व को आरूढ़ कर दूर करते हैं। अग्निक्षेत्र में कुशस्तम्ब रख उसमें कमलपत्र, उसमें पूर्वधृत यजमान के रुक्म को रखकर उसके ऊपर पुरुषाकार प्रतिभा को पूर्वाभिमुख उसके ऊपर स्वयमातृण्ण (पाक में बने छेद वाली इष्टका) रखते हैं। उसके आगे दूर्वामयी इष्टका, यजुष्मती और लोकम्पृणा इष्टका इत्यादि पूर्वोक्त क्रम से रखते हैं। इसी प्रकार मध्यस्थानीय आत्मा नामक को चिति मध्य में रखकर दक्षिण उत्तर ओर पुच्छ को रखते हैं। तदनन्तर आपराह्णिक प्रवर्ग्योपसदों को करते हैं। दूसरे दिन भी प्रवर्ग्योपसदानन्तर तीन चितियाँ बनाते हैं। तीसरे दिन पुरीषनिवापादि करते हैं। यह एकाह पक्ष में होता है, षडुपसत्क में प्रतिदिन एक एक चिति छठे दिन पुरीषनिवादि। ऐसे स्थण्डिल में एक हजार सोने के टुकड़ों को बखेरते हैं।

इसके पश्चात् शतरुद्रिय होम करते हैं। जिन परिश्रित् नाम के पत्थरों को स्थण्डिल के वायव्य कोण में जोड़ा गया था उन्हीं को आहवनीय के स्थान में लगा कर उसी प्रकार अग्न्यन्वाधानादि करके रुद्री से होम करते हैं। होम उत्तर मुख होकर अजाक्षीर से या जर्तिन मिश्रित गेहूँ के सत्तू से अटूट धारा में किया जाता है। पहले तीन अनुवाक रुद्री के २६ मन्त्रों से जानु तक झुककर, अन्त में एक स्वाहाकार से, चतुर्थ पञ्चम अनुवाक २७-३६ से नाभिमात्र झुककर, अन्त में फिर एक स्वाहाकार से, फिर मुख तक झुककर ३७-६३ तक, अन्त में फिर एक स्वाहाकार से, फिर मुख नाभि जानु तक झुककर ६३-६६ तक करते हैं। फिर सायं

कालीन प्रवर्ग्य उपसदानुष्ठान होता है। तृतीय दिन प्रातः सायं दोनों काल के प्रवर्ग्य उपसद् करके आहवनीय से अग्नि लेकर स्थण्डिल में जाकर वहां स्वयमातृण्णा के समीप प्रतिप्रस्थाता से अग्नि धारण करने पर सवत्सा गौ के दूध से स्वमातृण्णा के ऊपर हवन करके वहाँ सभी वस्तु रख अग्नि स्थापन करते हैं। पहले वैश्वदेव द्वादश कपाल, सप्तकपाल मारुत हवि देते हैं। तब 'वागश्रमे' इत्यादि आठ अनुवाकों से घी स्रुवा से होम करते हैं। तब राजसूय के छह पार्थ होम; वाजप्रसवी वाजपेयिक होम और अग्नियों का हवन करते हैं। तब यजमान का अभिषेक करते हैं। फिर पार्थ होम राष्ट्रभृत होम वातहोम और नवाहुति करते हैं। तब सात होत्रियादि वेदियों का चयन करते हैं। यहां अग्नीध्रीय होत्रीय नेष्ट्रीय अच्छावाकीय की आठ आठ इष्टका होती हैं। होत्रीय में २१, ब्रह्मणाच्छंशीय में ११, मार्जलीय में ६,। इनमें परिश्रितखनन नहीं करते, रख मात्र देते हैं। परिश्रितसंख्या इष्टकानुसार ही है। इसके पश्चात् अग्निषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है जिसमें राजसूयान्तर्गत अभिषेचनीय कर्म करते हैं। पशुपुरोडाशानन्तर ८ देवसूहवियों का निर्वाप करते हैं, तदनन्तर सुत्या की जाती है। अवभृथ के अन्त में उदयनेष्टि, फिर मैत्रावरुणी अनूबन्ध्या, और पशु पुरोडाश निर्वापान्त पाँच देविका हवियों का निर्वाप करते हैं। यहाँ यह अग्नि चयन यज्ञ समाप्त हो जाता है।

जैसा इस शीर्षक के प्रारम्भ में सूचित किया जा चुका है कि यह पञ्चचिति रूप अग्नि चयन पञ्चप्राणों की विभिन्न प्रकार की अग्नियों या आदित्यों जैसे अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिशा को अन्तर्जगत् में उद्दीप्त करने की विधियां प्रस्तुत करता है। इनकी इष्टिका छन्दोमयी अक्षरों से प्रतिदिन के मुहूर्तों में एक एक पग आगे बढ़ने की प्रतीक हैं, पूर्णोद्दीप्ति में पूर्णचयन। चयन क्रम भी प्राणों की प्राथमिकता के अनुरूप होती है। प्रत्येक चिति की २१ इष्टका 'त्रिःसप्त समिधः' का प्रतीक है, २१ पत्थर भौतिक शरीरों के। राजसूय वाजपेय की क्रियाओं का करना और विष्णु क्रमों का आह्वान योग का ही आह्वान है। वह योग से तीनों लोकों को नाप लेता है। योगी का हल कर्षण से सीता निर्माण योग की कृषि है। ६, १२, २४ बैल प्राणों के सूचक है। हल तो क्रिया की रूप रेखा आगे बढ़ते बेधते बनाते जाता है। इस अग्निक्षेत्र में सोम रूप ओषधि या जौ की अमृत बेलें उगेंगी। इसीलिए अन्त में सुत्या इसी सोमोद्दीप्ति के प्रतीक रूप में की जाती है। होम प्राणों का ही होता है, अक्ष रूप प्रकृति के दूध रूप प्राणों का हवन करके ही सोमाग्नि चयन या पञ्चाग्नि तपन से सोम की चांदनीमय अमृतरस 'रसो वै सः' पीने को मिलता है।

अध्याय १५६

अश्वमेध नामक सोमयाग

सोमयाग में भी अश्व सोममेधीय पशु होता है, इसीलिए इसे अश्वमेध नामक सोमयाग कहते हैं। इसका अधिकारी भी अभिषिक्त सार्वभौम राजा ही होता है। इसका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी या ग्रीष्म में किया जाता है। प्रथम दिन ब्राह्मणों के वरण के पश्चात् ब्रह्मौदन पाक बनाते हैं जिसको चार महर्त्विजों को दान देते हैं तथा वे उसे पाते या खाते हैं, और प्रत्येक को १४०० गायें दान में देते हैं। इसके पश्चात् यजमान राजा की चार पत्नियां अनुचरियों से युक्त तथा मुक्ता मणीप्रभृति के अलंकारों को पहनी हुई राजा के सामने आती हैं जिनमें पहली महिषी राजपुत्रियों की दासी वाली, दूसरी परिणीता वल्लभा क्षत्रिय जाती की दासी युक्त, तीसरी अवल्लभा, अश्वपोषक ग्रामनेता की पुत्रियों की दासी वाली तथा चौथी परिणिता दूत पुत्री क्षत्रपुत्री दासी वाली होती हैं। इनके आने पर अग्नि होत्र करके रात को राजा वल्लभा (दूसरी) पत्नी के दोनों जांघों के बीच सिर डालकर उत्तर शिर करके ब्रह्मचर्य पूर्वक सोता है। शेष पत्नियाँ अगल-बगल में सोती हैं। दूसरे दिन प्रातः अग्निहोत्र करके पूर्णाहुति देते हैं, फिर पथिकृत् इष्टि अष्टाकपाल पुरोडाश से करते हैं। तब राजा कुश की बनी अश्व बन्धन रस्सी को बारह या तेरह बालिस्त लम्बी बनाकर उसे घी से सेक कर अश्व बन्धन के लिए ब्राह्मण की आज्ञा पाकर अश्व को बाँधता है। अश्व को पूर्व में काला पश्चिम में श्वेत, ललाट में शकटाकार पुण्ड्र अनन्यसदृश अनोखा नील वर्ण के धब्बों से युक्त तथा एक हजार गायों के मूल्य का होना चाहिए। इस अश्व को स्थिर जल के तालाब में लेजाकर नहलाकर उसके पावों तले चार आँख (चतुरक्ष) और शबल वर्ण के कुत्ते को शूद्र से वैश्य में उत्पन्न व्यक्ति से वेत के डण्डे से मरवा कर डालते हैं। वहाँ से लौटकर होम करते हैं। इसके पश्चात् भिन्न तन्त्र के द्वादश कपाल वाली सावित्र्य इष्टियाँ करते हैं जिनको करने के समय कोई ऋत्विज या कोई अन्य अपनी निर्मित कविता में राजा के दानादि की कथा को वीणा वादन सहित गाता रहता है।

अध्वर्यु और यजमान दोनों तब गतयौवन वाले १०० अश्वों सहित उस यज्ञपशु अश्व को ईशान दिशा की ओर छोड़ते हैं। भ्रमण के लिए प्रस्थित इस अश्व के साथ में चार सौ योद्धाओं को धनुर्वाणादि से सज्जित कर पीछे पीछे भेजते हैं जिनमें १०० राजपुत्र, १७० क्षत्रियमात्र, १०० सूतपुत्र और १०० क्षत्ता होते हैं। अश्व के लिए स्नान और वड़वाप्रसङ्ग निषिद्ध है। जो ब्राह्मण अश्वमेधादि कर्म नहीं जानता उसको इससे आजीविका देनी चाहिए। रात में रथकार के घर निवास करते हैं। इस प्रकार एक वर्ष तक सावधानी से भ्रमण करके लौटना चाहिए, पहले नहीं। इसके अनन्तर परिप्लव शंसन अश्व प्रक्रम, और धृति के निमित्त प्रक्रम होम

धृति होम करते हैं। इस होम के समय राजन्य को राजा के विजय पराक्रम पर स्वनिर्मित तीन गाथायें वोणावादन पुरःसर सुनानी चाहिए। इसी प्रकार वर्ष पर्यन्त वावाता के साथ शयन तीन सावित्र्य इष्टियाँ परिप्लव शंसन प्रक्रम होम धृति होम प्रतिदिन होते हैं जिनके अर्द्धमास त्रैमास और षण्मास के पक्ष भी विकल्प से मनाते हैं।

चैत पूर्णिमा को उखा सम्भरण इष्टका पशु का अनुष्ठान करते हैं। उसीदिन दीक्षणेष्टि प्रारम्भ कर छह दिनों तक प्रतिदिन एक एक इष्टि करके सप्तमी को दीक्षणेष्टि समाप्त करते हैं और दीक्षा आरम्भ करके बारह दिन तक वैशाख तृतीया तक १२ सुत्या समाप्त करते हैं, तृतीया के दिम सोमक्रय करते हैं, चतुर्दशी तक बारह उपसदों का अनुष्ठान और चतुर्दशी को ही २१ यूप २१ अग्निषोमीय पशुओं का अनुष्ठान करते हैं। यूपों में एक राज्जुदाल का २ पैतुदारुक के ६ विल्व ६ खदिर और ६ पालाश के होते हैं जिनमें राज्जुदालक आहवनीय के सामने उसके आगे दो पैतुदारुक के अगल-बगल में विल्व पालाश खादिरों को क्रम से खड़े करते हैं। पशुओं को दक्षिण से उत्तर की ओर बांधते हैं। पुरोडाश एक ही होता है। चयनानुसार प्रक्रम बढ़ाकर इष्टका और वेदियाँ बढ़ाई जाती है। दूसरे दिन पहली सुत्या अग्निष्टोम संस्था वाली तथा दो एकादशिनी पशुमती करते हैं। पशुओं में से राज्जुदाल में दो आग्नेय पशु बाँधते हैं, शेषों को क्रम से दक्षिण से उत्तर तक। पूर्व दिशा से जीते धन का तीसरा भाग होता को देते हैं, दक्षिण भाग के तृतीयांश को ब्रह्मा को, पश्चिम के तृतीयांश को अन्ध्वर्यु को, उत्तर के तृतीयांश को उद्गातृ को, शेष अंशों को सुत्या के दिन देते हैं। इस रात को घी सत्तू खीलों में से एक एक को प्रतिग्रहर प्राणामस्वाहा इत्यादि कहकर बारह मन्त्रों के (यजु० २२-२३-२४) १२ अनुवाकों में रातभर हवन करते हैं।

दूसरे दिन उक्थ्य संस्था का साम सोने चांदी के पोत्रों में महिम ग्रह ग्रहण करते हैं, बहिष्पवनार्थ प्रसर्पण अश्वानुक्रम से किया जाता है, एकादशिनी पशुओं के पश्चात् अश्व ग्रहण करते हैं। यूपों में दो एकादशिनी पशुओं को बाँधकर राज्जुदाल में अश्व, शृंगहीन छाग गवय बांधते हैं, तब अश्व के विभिन्न अंगों में १२ पशुओं को बांधते हैं। इन बांधे गये पशुओं को 'पर्यङ्ग्या' कहते हैं जिनका क्रम यह है :—ललाट में कृष्णग्रीव आग्नेय, गले में सारस्वती मेषी, बाहू में आश्विन, नाभि में (श्याम) सोमा पौष्ण, पार्श्वों में (श्वेत) सौर्य, (कृष्ण) यमदैवत्य, पीछे के भागों में त्वष्ट्रदैवत्य दो लोमश अज, पूँछ में वायव्य ऐन्द्र वैष्णव (श्वेतवेहद्वामन) उक्त तूपरादिकों सहित ये १५, दो आग्नेय सहित हो गये। शेष २० यूपों में रोहितादि १५, १५ बाँधने चाहिए जिनमें एकादशिनी के एक एक पशु पहले ही से बँधे हैं। अत: प्रत्येक में १६, १६ हो गये, सब मिलकर ३३७ हो गये। ये सब ग्राम्या पशु कहलाते हैं। आरण्य पशुओं को यूपों के बीच में बचे स्थानों में रखना

चाहिए, इन पशुओं को यूप में नहीं बाँधा जाता, ये पीजड़े घोंसले पानी में रहते हैं जो जैसे रखा जा सके वैसा उपाय कर रखना चाहिए।

यूपों में बँधे पशुओं को नाक मुख बन्द करके मार कर उनके* अङ्गों का आह्वान किया जाता है। कपिञ्जलादि आरण्य पशुओं का उपालम्भन कर उनके देवताओं की दिशाओं की ओर फेंक देते हैं पञ्जरादि से भी मुक्त कर देते हैं। इसके पश्चात् अश्व को उद्बोधित कर मारते हैं और उस मृत अश्व की तीन परिक्रमा करते हैं। फिर राज महिषी मृत अश्व के पास सोती है। इसके पश्चात् अध्वर्यु कुमारी संवाद करते हैं फिर ब्रह्मा महिषी संवाद होता है, तब होता परिवृक्तों का, और अन्त में प्रतिहार पालागली का। पत्नियों के द्वारा उठाई गई महिषी तथा अन्य पत्नियाँ उस अश्व शरीर में शीशा ताँबा सोने की बनी सुइयों को चुभाते हैं। अश्व में वपा नहीं होती, अतः उसके मेदः को निकाल कर कार्ष्मर्यमय शूलों से श्रपित कर होम करते हैं। इसके पश्चात् ब्रह्मोद्य करते हैं जिसमें अध्वर्यु ब्रह्मा उद्गाता प्रतिप्रस्थाता और यजमान प्रश्न प्रतिप्रश्न करते हैं। फिर एकादशिनी के वपा का होम करते हैं। वनस्पतियाजानन्तर (कार्ष्मर्यमय) अश्वशूल के शेष का पूरा होम करते हैं। फिर शादादि देवताओं अश्व के दन्तादि अङ्गों के लिए घृत से होम करते हैं, तब पत्नीसंयाजान्त होम करते हैं।

तृतीय दिन अतिरात्र संस्था का दिन है, जिसमें सभी षोडशिग्रहों का कार्य किया जाता है। इसके पश्चात् अवभृथ, २१ अनुबन्ध्या पशुओं का अनुष्ठान करते हैं जिनमें ७ वारुणी, ७ वैश्वदेवी, ७ बार्हस्पत्य होते हैं। प्रत्येक को एक एक यूप में बांधते हैं। पशुपुरोडाश तीन ही होते हैं। उदवसानीयेष्टि के अन्त में अध्वर्यु को पालागली अनुचरी, ब्रह्मा को महिषी की अनुचरी, उद्गाता को वावातानुचरी, और होता को परिवृक्तानुचरी दी जाती हैं। इसके पश्चात् बारह दिन तक प्रतिदिन आग्नेय पुरोडाश या ब्रह्मोदन करते हैं। तब पूरे वर्षभर प्रति ऋतु छह छह पशुओं की बलि तन्त्र से दी जाती है। बसन्त में छह आग्नेय, ग्रीष्म में छह ऐन्द्र, वर्षा में पार्जन्य, शरद में मैत्रावरुण, हेमन्त में एन्द्र वैष्णव और शिशिर में ऐन्द्र बार्हस्पत्य पशु होते हैं। शेषपूर्व वत्।

रहस्य—अश्वमेध प्राण मेध प्राण शुद्धि या प्राणों का योग है। यह मुख्य प्राण है। यजमान आत्मा है उसकी पत्नियाँ वाक् आदि प्राण हैं अनुचरियाँ अन्य प्राण। राजा का वल्लभा की टाँगों में सोना और अन्य पत्नियों का आस-पास सोना, इस शरीर में प्राणों की स्थितियाँ बतलाता है। अश्व का बाँधना प्राण का योग करने का संकल्प है। अश्व लक्षण मुख्य प्राण के लक्षण हैं। अश्व को विजयार्थ छोड़ना योग से सर्वत्र सर्वाङ्ग विजय करना है। वावाता के साथ शयन, प्राण

* वपादि पशु के आमाशय आच्छादित करने वाली एक सूक्ष्म झिल्ली का नाम वपा है। अश्व के आमाशय में यह झिल्ली नहीं होतीं।

वायुओं के साथ रमण है; २१ यूप २१ पशु योग की २४ (२१) सीढ़ियाँ हैं जिनको एक एक कर पार किया या मारा जाता है। अश्वपरवधे पशु शेष प्राण रूप पशु हैं। अश्वबध यजमान बध है इसीलिए महिषी मृताश्व के साथ सोती है, वह सती होती है, इसीलिए उसकी अनुचरियों को दान में देते हैं। अर्थात् अश्वमेध प्राण मेध है योगी यजमान इस आभ्यन्तर अश्वमेध को करके शरीर रूप अश्व का बध करता है। महिषी अग्नि महिष की दीप्ति है। योगी यजमान राजा अग्नि रूप आग्नेय पशु रूप हैं महिषी उसकी दीप्ति रूप शरीर दोनों का निर्वाण बुझना इस अश्वमेधीय सोमयाग सोमयोग या गोलोक विष्णु लोक प्राप्ति के लिए होता है। जिसका अभिनय द्रव्ययज्ञ में उक्त प्रकार से करते हैं। अश्वमेध यज्ञ के बारे में पहले वै० वि० द० प्रथम भाग में एक विस्तृत विवेचन दिया गया है उसे भी देख लें।

———

अध्याय १८७

पुरुषमेध यागः

पुरुषमेध याग भी सोमयाग ही है, पर यह अश्वमेध याग की उलटी क्रिया का याग है। यह पुरुष सूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुष का याग है। इसके अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते हैं। इसमें २३ दीक्षायें १२ उपसद और ५ सुत्या होती हैं। इसको करने में ४० दिन लगते हैं। इसका आरम्भ चैत्र शुक्ल दशमी को करते हैं। इसमें ११ यूप ११ अग्निषोमीय पशु और सत्र का एक पुरोडाश होता है। सुत्याओं में प्रथम पञ्चम दिन अग्निष्टोम साम, द्वितीय चतुर्थ दिन उक्थ्य साम, तृतीय दिन अतिरात्र साम होता है जिसमें प्रतिदिन पश्वेकादशिनी के पशु होते हैं। ब्राह्मण यज्ञ कर्ता हो तो वह दक्षिणा में सर्वस्व देता है क्षत्रिय हो तो अश्वमेधवत् देता है। तृतीय अतिरात्र संस्थसाम के दिन प्रतियूप एकादशि पशुओं को बांधकर मध्यम यूप में पुरुषसूक्तोक्त ४८ पुरुषों को बांधते हैं, शेष दश यूपों में ११, ११ पुरुषों को और द्वितीय में ३७ पुरुषों को जो सब मिलकर १८४ बँधे पुरुष हो जाते हैं। इनको बाँधने के पश्चात् पुरुष सूक्त (यजुः ३२) से इनका उपस्थान करते हैं। उपस्थान के पश्चात् इन पुरुषों को खोलकर छोड़ देते हैं। जिस जिस देवता के लिए जो जो पुरुष नियुक्त रहता है उसे एक एक आज्याहुति देते हैं। इसके अनन्तर यजमान की आत्मा में अग्नि धारण कर उत्तर नारायणी–पुरुष सूक्त (१६ से २३ तक) से सूर्य का उपस्थान करके, पीछे लौट कर न देखते हुए बन में जाकर वानप्रस्थ हो जाना चाहिए, फिर जीवनभर गाँव को न लौटे। यदि पुनः ग्राम वास की इच्छा हो तो अग्नि को अरणियों में समारोपित करके अग्नि होत्रादिक करते हुए यावज्जीवन घर ही में रहे। यही पुरुषमेध याग का विधान है।

रहस्य—यह पुरुषमेध याग पुरुष सूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुष का बन्धन आलम्भन करने का यज्ञ है 'अवध्नन्पुरुषं पशुम्' का अभिनय है। पशु अनेक प्रकार के होते हैं यह पीछे 'वैदिक विश्व दर्शन' में पशुवाद का नीहारावृत पर्दा नामक शीर्षक में बताया जा चुका है। पशु तत्त्व या देवता के उस रूप को कहते हैं जिस स्वरूप में उसकी अनुभूति या कल्पना की जाय। पश्वेकादशिनी तथा अश्वमेध के पुरुए विभिन्न प्राणों और आत्मा के प्रतिनिधि हैं। प्रस्तुत पुरुष रूप पशु पुरुष पशुः कहलाता है (चयन देखें)। पुरुष सूक्त व्याख्या (वैदिक योग सूत्र) में इसकी व्याख्या देखें। इस यज्ञ के अन्य १८४ पुरुष पशु ऋ० वे० १०-१३३-१ में वर्णित सृष्टि वस्त्र बुनने वाले पितर रूप १०१ प्राण हैं जिन सबकी यहाँ पर अनुभूति की जा रही है। मुख्य पुरुष पशु तो 'सप्त परिधि त्रिः सप्त समिधों—२४ प्राण रूप पशुओं

वाला है (पु० सू० १५)। इसीलिए इस याग में पुरुष सूक्त का ही मुख्य उपयोग है। यह सोमयोग है, मोक्षदायी मृत्यु पश्चात् भी योग करने वाला सोमयोग नहीं। अतः इसको करके वानप्रस्थ बनते हैं, मुक्ति, स्वर्गारोहण, नहीं पाते या करते। यद्यपि यहाँ पर बँधे पुरुषों को खोलकर छोड़ देना लिखा है, पर कोई कोई चोरी छिपे इनको भी मारते रहे हों ऐसा इसलिए सम्भव है कि अब भी कहीं कहीं चोरी छिपे पुरुष बलि होती या विहित पाई जाती है।

— — — —

अध्याय १५८

सर्वमेध याग

इसमें १२ उपसद १२ दीक्षा और २० सुत्या होती हैं। इसमें ३४ दिन लगते हैं। प्रथम दिन अग्निष्टोम साम, फिर तीन दिन तक इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत्, वैश्वदेव-स्तुत् उक्थ्य साम २-४, फिर महाव्रत; वाजपेय आप्तोर्याम, त्रिणव स्तोम उक्थ्य, त्रय-स्त्रिंशस्तोम उक्थ्य, विश्वजित्सर्वपृष्ठ अतिरात्र साम का अनुष्ठान होता है। चैत्र शुक्लषष्ठी को इष्टकापशु और उखासंभरण १०१ विध अग्नि रूपों में करते हैं जिसमें एक यूप सप्तदशारत्नि होता है। दश दिनों तक प्रतिदिन स्तोमायमान सवनीय पशुओं का अनुष्ठान होता है। यह यज्ञ सोमयाग वाजपेय और राजसूय यज्ञों के समान ही है। इसमें संक्षेप में सबका आवाहन होता है, अतः सर्वमेध कहा जाता है।

अध्याय १५६

पितृमेध याग

इसमें तीन वर्ण अधिकारी हैं। केवल एक अध्वर्यु इसका ऋत्विक् होता है। मरे पिता प्रभृति की अस्थियां लेकर बन में जाकर, वहाँ जो अस्थि जिस अंग की है उससे वही अंग बनाकर सबको मिलाकर पुरुषाकार मूर्ति बना के उसे शेवल कुश आदि से ढक कर गाँव को लौट आते हैं, स्नानादि कर घर चले जाते हैं। इसमें इतनी ही विधि है। सम्भवतः यह जलाने के पश्चात् शेष अस्थियों से समाधि या स्मारक बनाने के स्थान के वन में जाकर ऐसा करने की प्रथा रही हो।

अध्याय १६०

वैश्वदेव कर्म

इस वैश्वदेव का सामान्तर 'पञ्चमहायज्ञः' हैं जिनमें देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृ-यज्ञ, मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ आते हैं (श० प० ब्रा० ११ ५-५-१)। इसको गृहमेधी को नित्य करना चाहिए। इसे कोई सायं प्रातः दोनों बार करते हैं पर माध्यन्दिनी यजुः शाखा में केवल एक बार प्रातः ही किया जाता है।

पार्वण

इसे प्रत्येक अमावास्या को करना चाहिए।

अष्टका श्राद्ध, मासि श्राद्ध

इसको हेमन्त शिशिर की चार अष्टमियों में करते हैं। इनमें पुए गो मांस शाक से इन्द्र विश्वेदेव प्रजापति और पितरों की पूजा करते हैं। गो मांस भक्षण कलि में न होने से लोग इसे नहीं करते, पर गो माने तो किरण है, मांस का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ यह रीति ठीक नहीं है। जिन शाखाओं में गो मांस विधान नहीं है वे इसे करते ही हैं। मासि श्राद्ध प्रतिमास करते हैं।

श्रवण कर्म और शूल गव

श्रवण कर्म सर्पों के लिए बलि देना है, इसे मात्र एक बार करते हैं। शूलगव, गो द्रव्यक होने से नहीं करते। जिनमें द्रव्यान्तर है वे ही इसे करते हैं। पर गो माने तो किरण होता है, उसको इस भद्दे ढंग से करते हैं।

अध्याय १६१

वैदिकाग्निहोत्र और स्मार्ताग्निहोत्र

वैदिकाग्निहोत्र को श्रौताग्निहोत्र कहते हैं तो स्मार्ताग्निहोत्र को औपासन होम। प्रथम पिता के जीवित रहते ही प्रारम्भ किया जाता है। इसको ब्राह्मण वसन्त में, क्षत्रिय ग्रीष्म में वैश्य वर्षा में प्रारम्भ करता है। इसमें गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि और सभ्याग्नि का मन्त्रपुरःसर स्थापन करके उन्हें यावज्जीवन प्रज्वलित रखना पड़ता है। कभी कभी इसे पुत्रौत्पन्यन्तर पच्चीस वर्ष की आयु के पश्चात् सपत्नीक किया जाता है। खण्डित होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। स्मार्ताग्निहोत्र का नाम औपासन होम है। इसको विवाहोत्तर चतुर्थी कर्म के साथ प्रारम्भ करते हैं। इसके अन्य नाम गृह्यः आवसथ्य और औपासन हैं। विवाह काल में आधान न करने पर दायकाल में गृहभूमि का अधिकारी बनने पर पितृ मृत्यु पश्चात् भी इसका आधान करते हैं। यही श्रौतस्मार्त अग्निहोत्रों का अन्तर है। कोई कोई इन दोनों को एक ही समझते भी हैं। परन्तु श्रौतसूत्रों में श्रौताग्नि का अग्निहोत्र न करके केवल स्मार्ताग्नि वालों के लिए श्रपणधर्मा होमों का विधान करके दोनों में भारी भेद माना ही है।

श्रौत अग्नि होत्र में सायं प्रातः होम करते हैं। सायंकाल को प्रारम्भ करके प्रातः समाप्त करते हैं। इसमें तेल, दही, दूध घी सोम यवागू ओदन चावल फल जल दश द्रव्य होते हैं। सायंकाल में इसका मुख्य देवता अग्नि है, प्रजापति अङ्ग-देवता, प्रातः सूर्य मुख्य देवता प्रजापति अङ्ग देवता। प्रत्येक यज्ञ का अधिकारी बनने के लिए इसका अनुष्ठान आवश्यक है। यह कार्य यजमान को स्वयं करना चाहिए, न कर सके तो अध्वर्यु से करावै। स्मार्त औपासन होम की विधि भी इसी अग्निहोत्र के समान है। इसमें दधि अक्षतों या चावलों से होम करते हैं।

रहस्य—यह 'अग्नि होत्र' यज्ञ तो सूर्य का यज्ञ है, सूर्य स्वयं विष्णु नामक आदित्य हैं, लौकिक सूर्य उसका साकार प्रतीक है। अतः अग्निहोत्र तो विष्णुपूजा का, सोमपूजा का एक प्रच्छन्न यज्ञ है; लिखा भी है "सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (श० प० ब्रा० २-२-३-१)। इसीलिए इस यज्ञ में सोम ही मुख्य द्रव्य है। अन्य द्रव्य उसी सोम के विभिन्न स्वरूपों के नामों के प्रतीक हैं। कोई भी महायोगी इस अग्नि होत्र को प्रतिदिन करता है। सायं काल प्रारम्भ करने के माने यह है कि दिनभर लौकिक भीड़भाड़ कार्य में शान्ति कम रहती है सायं से योग के निमित्त अधिक शान्ति मिलती है। रात भर प्रातः सूर्योदय तक योगासन में जमकर या जागृत समाधि में रहकर इसके अनुष्ठान की विधि इसीलिए स्वाभाविक और विघ्न-हीन होती है।

अध्याय १६२

दर्शपूर्णमास याग

दर्श पूर्णमास याग में छह याग करने पड़ते हैं—पौर्णमास में (१) आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश याग, (२) आज्य द्रव्यक अग्निषोमीय उपांशु याग (३) अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग—, दर्शयाग में—(४) आग्नेय पुरोडास याग (५) इन्द्र देवताक दधि द्रव्यक (६) इन्द्र देवताक पयोद्रव्यक। इन छहों यागों के सान्नाययाजी या पयोर्दाधयाजी ही अधिकारी हैं। इन साम्नाय यागों को करने का अधिकार केवल सोमयाजी ही को प्राप्त है। परन्तु जो असोमयागी साम्नाय से यज्ञ नही करना चाहता उनको पौर्णमासी को पूर्वोक्त याग ही करने पड़ते हैं, पर अमावास्या को आग्नेय के साथ वैष्णव अग्निषोमीय या आज्य हविष्क याग। अन्यों को ऐन्द्राग्न द्वादश कपाल पुरोडाश याग करना पड़ता है जैसे शांखायन और माध्यन्दिन शाखा वालों को। शेष साम्नाय हीनों को अमावास्या को आग्नेय और एन्द्राग्न दो ही याग करने होते हैं। यद्यपि इनको करने के दो नाम दर्शपूर्णमास के हैं, पर ये प्रत्येक पक्ष में दो दिन में किये जाते हैं पर हैं एक ही। पूर्णमासयाग में पूर्णिमा को अग्न्याधान करके प्रतिपदा को याग होता है, अथवा प्रतिपदा ही को सब कर्म किए जाते हैं। ये दर्शपूर्णमास दो बार तो किए जाते हैं और प्रत्येक दो दो दिनों में किए जाते हैं, पर इनको एक ही यज्ञ कहते और इनका एक ही फल माना जाता है। सर्वप्रथम कार्य पूर्णमास याग का प्रारम्भ है, अतः अग्न्याधान के पश्चात् दर्श आने पर भी दर्शयाग नहीं करते, पूर्णिमा आने पर ही दर्शपूर्णमास याग का प्रारम्भ किया जाता है। इसमें चार ऋत्विज—अध्वर्यु होता ब्रह्मा और अग्नीध्र—होते हैं।

इन दर्शपूर्णमास यागों को सभी महायज्ञों की मूल प्रकृति मानते हैं। क्योंकि इनमें अपेक्षित सर्वाङ्गोपदेश है। जहाँ समग्राङ्गोपदेश होता है यही प्रकृति कहलाती है। जहाँ दूसरे से अङ्गप्राप्ति होती है वह विकृति है, अन्य सभी यज्ञों में केवल एकाङ्गीभाव है, सर्वाङ्गीणता का अभाव है; उनमें इष्टिकाओं का ही विधान है। अतः वे सब इस प्रकृति की विकृतियाँ कहलाते हैं। इन दर्शपौर्णमासों में यजमान का सोमयाजी होना भी अनिवार्य है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अतः इसमें इन्द्र देवता अग्निषोमीय पशु तथा सोम मुख्य होते हैं। इस दृष्टि से इन यागों को सोमयाग के विस्तृत क्षेत्र से बाहर का नहीं माना जा सकता, प्रत्युत ये दोनों याग पूर्वोक्त प्रकार के सभी सोम यागों की मूल प्रकृति हैं यह कहना सत्यता के के अधिक समीप होगा, यह बात और तथ्य इन यागों के आगे दिए जाने वाले वास्तविक रहस्य के विवेचन से स्वयमेव स्पष्ट हो जावेगा। अब इनमें प्रयुक्त पदार्थों और इनकी विभिन्नाङ्गी प्रधान क्रियाओं के विषय में लिखा जाता है।

इस यज्ञ में पहले गार्हपत्य से आहवनीय दक्षिणाग्नि को अग्न्युद्धरण करके छह समिधों का अन्वाधान करते हैं; ब्रह्मवरण, चमस पात्रस्थित जल को स्वस्थान रखना या प्रणीता मयपान करना, अग्नियों के आगे कुशों से परिस्तरण करना, यात्रासादन शूर्पहोत्रहवणी का प्रतपन, इडा पात्री (काठ की चमची) से या शकट से हविर्ग्रहण, पवित्र करण, पात्रों में हवि प्रोक्षण, हवियों का फलीकरण (संशोधन) पीसना, कपाल बनाना, हवियों और पानी को उष्ण करना (उपसर्जनीनां हविषश्चा-धिश्रयणं) अंगुलिप्रक्षालन वेदि निर्माण, स्तम्बयजुछिन्न कुश निर्माण, स्रुवा जुहू (हाथ भर लम्बी) उपभृत् (जुहू सम) ध्रुवा (वेदि में याग पर्यन्त स्थापित जुहू सम) समार्गः पत्नी सन्नहन (स्त्री को बाँधने की मूज की रस्सी), इध्म (समिध) वेदि बर्हिषां प्रोक्षण, प्रस्तर (कुशमुष्टि) ग्रहण, वेदि स्तरण, परिधि परिधान, इध्माधान, विधृती (कुशौ) स्थापन, जुह्वादिकों का वेदि में स्थापन, पञ्चदश सामिधेनी अनु-वचन (पढ़ना) अग्नि सम्मार्ग आघारौ (घी को समंत्र धारासहित आनयन), होता वरण, पञ्च प्रयाजाः, आज्यभागौ (अग्नीषोमौ उनका होम भी) प्रधान याग (प्रधान देवता याग] स्विष्टकृत् (प्रधान यज्ञ के पौष्कल्यार्थ किया गया होमादिक याग), प्राशित्रावदानम् (ब्रह्मा के भाग को देना) इडावदान यांग प्राशनादिक, अन्वा-हार्य (भोजन) दक्षिणा त्रयोऽनुयाजा (मंत्रा) व्यूहनं (पश्चिम को सरकना), सूक्त-वाक 'इदं द्यावापृथिवी इत्यादि मंत्र विशेष, पत्नीसंयाजाः (नाम के चार यज्ञ) दक्षिणाग्नि होम बर्हिहोम, प्रणीताविमोकादि विष्णुक्रमादि (विष्णु क्रम मान कर अपने पाद क्रम करना) यजमान, व्रतविसर्ग, ब्राह्मण तर्पण।

दाक्षायण यज्ञ

दाक्षायण यज्ञ दर्शपूर्णमास यज्ञ से भिन्न नहीं है। यह दर्शपूर्णमास का रूपा-न्तरीय नामान्तर मात्र है। दाक्षायण यज्ञ में दर्शपूर्णमास दोनों में से प्रत्येक को दो दो दिन किया जाता है तो दर्शपूर्णमास यागों में दोनों को एक एक ही दिन में कर लेते हैं। इस प्रकार दर्शपूर्णमास यागों को पूर्णिमा और अमावास्या ही के दिन करते हैं तो दाक्षायण यज्ञ को पूर्णिमा प्रतिपदा तथा अमावस्या प्रतिपदा दो दो दिन करते हैं। अतः जब दर्शपूर्णमास यागों को ३० वर्ष तक करने का विधान है तो दाक्षायण यज्ञ द्वारा वह तीस वर्ष का फल १५ वर्ष ही में मिल जाता है। क्योंकि इसमें प्रत्येक में दो दो यज्ञ होने से १५ वर्षों के यज्ञ ३० वर्षों के बराबर हो जाते हैं। परन्तु लिखा तो यह है कि दर्शपूर्णमास यज्ञों को यावज्जीवन करे। यदि यावज्जीवन नहीं कर सकते तब तीस वर्ष तक तो अवश्य करना चाहिये। इससे कम समय १५ वर्षों में ही करना चाहे तो दाक्षायण यज्ञ करे।

दर्शपूर्णमास और दाक्षायण यज्ञों का रहस्य

इन यज्ञों को सब यज्ञों की मूल प्रकृति मानने का कारण केवल श्रौत सूत्रों का बचन मात्र ही नहीं है। इसका मुख्य कारण कुछ और ही है। वह यह है कि ये

यज्ञ 'वार्त्रघ्न' या वृत्रवध कारी हैं । इन यज्ञों में वृत्र के वध का अभिनय होता है । श० प० ब्रा० (१-५-३-८) ने स्पष्ट लिखा भी है "वार्त्रघ्नं वै पौर्णमासम्"। इस सम्बन्धी क्रियाओं को भी वार्त्रघ्नी नाम दिया जाता है। वृत्र का हनन कर्ता इन्द्र है। इस 'दर्श-पूर्णमास' यज्ञों की व्याख्या में श० प० ब्रा० ने प्रारम्भ ही से इन्द्र वृत्र के युद्ध का साकार वर्णन प्रस्तुत भी किया है। त्रिशीर्षा षडक्ष जो त्वष्टा का पुत्र था, सोम को सब पी जाता रहा उसको भी इन्द्र ने मारा। उसके पुत्र वृत्र ने 'इन्द्र शत्रु वर्धस्व' वाक्य को अशुद्ध स्वर से पढ़कर जो यज्ञ किया वही इन्द्र की विजय का कारण भी बना (१-५-२-९, १०)। इस वृत्र को अपादहस्त होने से अहि, दनायु का पुत्र होने से दानव, सबको आच्छादित करने वाला होने से वृत्र कहते हैं। इन्द्र ने उसे मारा नहीं, उसके दो भाग किए सौम्य और आसुर्य, प्रथम से चन्द्रमा सोम निकाला द्वितीय से अखिल सृष्टि (१-५-२-१७)। यह कार्य पौर्णमास याग से सम्पन्न हुआ (१-५-२-१५)। इत्यादि।

अब देखना यह है कि इस यज्ञ की इतनी महिमा और सार्थकता क्यों है? वस्तुस्थिति यह है। इन्द्र प्रत्येक महायोगी का अखिल ब्रह्माण्ड व्याप्त मनोरूप ब्रह्मा है। यह योग यज्ञ का मनोरूप ब्रह्मा नामक मुख्य पुरोहित है। वह जब तक इस शरीर और ब्रह्माण्ड में व्याप्त उक्त आसुरी मोहमाया के अन्धकार पटल रूप वृत्र का बध नहीं कर लेता तब तक उसको कोई भी दैवी ज्योति का प्राप्त होना नितान्त सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक योगी को योगासन में बैठते ही इसी वृत्र के केन्द्र या किला या पुरी की खोज कर इसका पूर्णदमन करना पड़ता है, इसे मारा नहीं जाता, यह मर जाय तो इन्द्र या योगी भी स्वयं मर जाय यह बात वृत्र ने ही इन्द्र को सुझा दी थी—"स होवाच मानु मे प्राहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु मामुया भूवमिति—स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधाभिनत्" (१-५-२-१७)। अतः इन दर्शपूर्णमास यागों से मायामोहान्धकार रूप वृत्र का हनन करके सोम ज्योति को पृथक् निखरा कर योग की प्रथम सीढी पार की जाती है। अन्य यज्ञों को इस योग की सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् सरलतया, अङ्गतया किया जाता है। ये यज्ञ इस प्रकार सभी महायोग यज्ञों के अङ्गी या प्रकृतियां है, इन्ही के आधार पर अन्य यज्ञ आधारित हैं।

अध्याय १६३

चातुर्मास्य यागः

चातुर्मास्व याग चार महीने तक किया जाता है। इसमें चार पर्व होते है। उनका नाम वरुणप्रघास वैश्वदेव साकमेध और शुनासीरीय है। इनमें से वैश्वदेव को फाल्गुनी पूर्णमासी के दिन करते हैं, तव चार महीने बीतने पर आषाढ़ी पूर्णिमा को वरुणप्रघास पर्व करते हैं, फिर चार महीने बीतने पर कार्तिकी पूर्णिमा को साक-मेधपर्व, फिर चार महीने बीतने पर फाल्गुन प्रतिपदा को शुनासीरीय पर्व करते हैं, इसी क्रम से इन यज्ञों को प्रतिवर्ष करते हैं। जिस पर्व को सभी विश्वेदेवता देखते हैं उसे वैश्वदेव कहते हैं। वरुणप्रघास उसे कहते हैं जिसमें पर्याप्त हवियां (घास) हों, वरुण को लक्ष्य कर जो प्रशस्त हवियां दी जाती हैं, या वरुण के पाशों का हनन करने वाली क्रिया को वरुण प्रघास कहते हैं। शुनासीर में शुन=वायु+सीर= आदित्य हैं जिसमें वायु और आदित्य देवता हैं उसे शुनासीरीय कहते हैं।

चातुर्मास्य का प्रथम पर्व वैश्वदेव पर्व

वैश्वदेव में अष्टाकपाल वाला आग्नेय पुरोडाश होता है, और सावित्र्य अष्टा-कपाल-या द्वादश कपाल, सारस्वत चरु, पौष्ण पिष्ट चरु, केवल मरुतों का चरु तद्-गुण विशिष्ट सप्तकपाल पुरोडाश, वैश्वदेवी पयस्या (उष्ण दूध में दही डालने से बना घना दही, जिसे आमिक्षा भी कहते हैं पतला होने पर वाजिन भी) द्यावा पृथिवी के लिए एक कपाल ये आठ हवियाँ होती हैं। ये याग भी दर्शपूर्णमास प्रकृति वाले हैं पृथक् धर्मों के नहीं। इसी वैश्वदेय पर्व के धर्म अन्य तीन पर्वों में भी मिलते हैं। इस वैश्वदेव पर्व का आमिक्षा याग भी अन्य आमिक्षा यागों की प्रकृति है। इसी प्रकार द्यावा पृथिवी का एक कपालीय पुरोडाश अन्य सब एक कपालों के यज्ञों की प्रकृति है। इसमें आपस्तम्ब जैमिनी और कर्काचार्य एक मत के हैं। कर्काचार्य आमिक्षा याग को दाक्षायण याग की विकृति मानते हैं। इस वैश्वदेव पर्व में दर्शपूर्ण मासवत् ऋत्विज होते हैं। यह दर्शपूर्णमास याग का ही रूपान्तर है। अतः इसका रहस्य भी तद्वत् सोम याग ही है।

वरुण प्रघास द्वितीय पर्व

इसका प्रारम्भ आषाढ़ी पौर्णमासी को होता है। इसमें वैश्वदेव पर्व की प्रथम पाँच हवियाँ लगती हैं, शेष चार और होती हैं जिनके नाम ऐन्द्राग्न द्वादश कपाल, वारुण्यामिक्षा, मारुत्यामिक्षा और काय (ब्रह्म देवताक) एक कपाल हैं। इसमें दो वेदियाँ होती हैं, दक्षिणावेदि और उत्तरावेदि। ऋत्विज वैश्वदेव पर्ववत् ही होते हैं जिनमें एक प्रतिप्रस्थाता अधिक रखा जाता है, वही दक्षिणा वेदि के सभी कर्मों को करता है। इस प्रकार आग्नेयादि आठ हवियाँ उत्तर वेदि में साङ्गरूप से अध्वर्यु

करता है। मारुती आमीक्षा से आगे के कर्मों को प्रतिप्रस्थाता दक्षिण विहार में करता है। जिन जिन अङ्गों का अनुष्ठान अध्वर्यु उत्तरावेदि में करता है उन सबको दक्षिणा वेदि में प्रतिप्रस्थाता भी करता है। इन अङ्गों के नाम का० श्रौ० ५-४-३३ ने ये दिये हैं प्रणीता पत्नी सन्नहना अग्नि मन्थन आश्रुत प्रत्याश्रुत, प्रेष, यजमान वाचन, होतृषदन, वरण प्राशित्र अङ्गुलिपर्व अञ्जना, आवान्तरेडाभाग, अपरा, अग्न्यावभृथान्न। इस पर्व और साकमेधपर्व (मह हविः) में उत्तरावेदि में अग्नि प्रणयन अधिक होता है। इस पर्व में करम्भपात्र निर्माण (जौ के आटे के दिए के समान पात्र निर्माण) और इनका हवन भी अधिक होता है। चतुर्दशी को ही इन पात्रों को अध्वर्यु बनाता है, पूर्णिमा को मेष को अध्वर्यु और मेषी को प्रतिप्रस्थाता बनाता है; पत्नी उनको शूप में रखकर उसे सिर में रखकर दक्षिणाग्नि में ओहुति के लिए डाल देती है, यहाँ मेषी होम प्रतिप्रस्थाता कराता है, मेष होम अध्वर्यु (उत्तर वेदि में)। करम्भपात्रों का होम करने आती हुई पत्नी को प्रतिप्रस्थाता पूछता है 'केन चरसि' किसके साथ रहती है, परिणीत पति को छोड़कर जार भी तुम्हारे हैं क्या ? (उनसे कहो कुछ पूछना है)। यदि हों तो उन्हें बुलाकर अवश्य पूछें। सतियों को भी मानसिक दोष होता है यही अभिप्राय हैं, वस्तुतः नहीं। अवभृथ में भी इस पर्व में कुछ विशिष्ट बात है। यहाँ सौमिक धर्मों की आवश्यकता है, परन्तु उन्हें तूष्णीं कहते हैं, गमनमन्त्रादिक नहीं करते। इस प्रकार वारुण आमिक्षा सहित अवभृथ स्थल में आकर छह या आठ आहुति देकर दम्पती तीर्थ में नहाते हैं। इस पर्व की दक्षिणा धेनु और अश्व हैं, अथवा छह या बारह गायें। यह भी दर्शपूर्णमास याग का ही एक रूपान्तर है। अतः इसका रहस्य भी तद्वत् सोम याग ही है।

साकमेध तृतीय पर्व

साकमेधपर्व कार्तिकी पूर्णिमा को किया जाता है। पूर्वदिन अनीकवती इष्टि से उद्धरण कर्म पर्यन्त कार्य किए जाते हैं। इसमें अग्नि अनीकवान् देवता अष्टा-कपाल पुरोडाश, अन्वाहार्य और दक्षिणा सम्पन्न होते हैं। मध्याह्न में सान्तपनेष्टि या मरुत देवता याग चरु द्रव्य से करते, अन्वाहार्य और दक्षिणादान देते हैं। यहाँ गृहमेधि मरुत हैं, पयः पक्व चरु होता है, ऋषभ की दक्षिणा। पायस को अन्य भी पा सकते हैं। इसमें प्रयाजानुयाजा नहीं होते पर आज्यभागादिक होते हैं। सायं प्रातः यवागू से अग्नि होत्र करते हैं। दूसरे दिन पूर्णिमा उद्धरणकर्मान्त और प्रातः दर्वि होम कर्म करते हैं। यहाँ सभी कार्य तूष्णीं से करते हैं। ऋषभ की दक्षिणा दी जाती है। इसके पश्चात् क्रीडनेष्टि या मरुतों का आवाहन पुरोडाश द्रव्य से, फिर अदिति देवता चरु से अदितीष्टि करते हैं दोनों में अन्वाहार्य और ऋषभ की दक्षिणा विहित है। तदनन्तर उत्तरवेदि में महाहवि नाम की इष्टि करते हैं जिसमें वैश्वदेव के प्रथम पांच और तीन अन्य—ऐन्द्राग्न द्वादश कपाल, महेन्द्र चरु और वैश्वकर्म का एक कपाल होते हैं। इसमें भी ऋषभ की दक्षिणा दी जाती है। इसके पश्चात् पितृ यज्ञ दक्षिणाभिमुख होकर होता है। इसे दक्षिणावेदि में करते हैं जिसके

मध्य के दक्षिणाग्नि खर में सब होम होते हैं, पितरः सोमवान् सोमपितृमान् अग्नि-ष्वाता और बर्हिषद् होते हैं। इनमें षट् कपाल पुरोडाश, मन्थ धाना क्रम से द्रव्य हैं। भूंजे जौ धाना कहलाते हैं, मन्थ उस द्रव्य को कहते हैं जिसमें सत्तू को, मरे वत्स वाली गाय को दूसरे बछड़े से दुहा कर प्राप्त दूध में डाल कर घोल बनता है। यहाँ चार प्रयाज और दो अनुयाज होते हैं, अन्वाहार्य और दक्षिणा पूर्ववत्। इसके पश्चात् त्र्यम्बकेष्टि करते हैं। इसमें देवता रुद्र और चार एकपाल पुरोडाश द्रव्य, एक अध्वर्यु ऋत्विज होते और सब काम तूष्णीं करते हैं। इसमें सब काम उत्तर मुख होकर करते हैं और उत्तर को पूर्ववत् समझें। ऋषभ की दक्षिणा दी जाती है। इशमें दक्षिणाग्नि के उल्मुक को लेकर चौराहे में जाकर पञ्चम संस्कार करके उस अग्नि को स्थापित कर पलाशपत्र को जुहू बनाकर तीनों पुरोडाशों के अंशों का होम करते हैं। चतुर्थ को आखूत्कर में डाल देते हैं। उस अग्नि के चारों ओर यजमान सपरिवार परिक्रमा करता है, अवशिष्ट पुरोडाशों को विभक्त कर शिक्य में रखकर बांस की लठ्ठी में बांधकर वीवधवत् बनाकर उस बांस को उत्तर दिशा में एक स्थाणु वृक्ष या वल्मीक में रोप देता है। यहाँ साकमेध पर्व समाप्त हो जाता है। यह यज्ञ भी दर्शपूर्णमास का एक रूपान्तर है। अतः इसका रहस्य भी तद्वत् सोमयाग ही है।

अध्याय १६४

शुनासीरीव चतुर्थ पर्व

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को शुनासीरीय पर्व करते हैं। इसमें पौर्णमास याग के ही कर्म अनुष्ठित होते हैं। इसमें भी वैश्वदेव कर्म की प्रथम पाँच हवियां दी जाती हैं, साथ में शुनासीर (दो) के लिए द्वादश कपाल, वायव्य पयः और यवागू तथा सौर्य एक कपाल हवि दी जाती है। दक्षिणा में छह बैल युक्त हल या दो बैल और सौर के लिए श्वेत अश्व या गौ दी जाती है। यह यज्ञ तो योग की कृषि का यज्ञ है इसका खुला सा आगे पंचभवेद पुराण दर्शन में देखें।

चातुर्मास्य याग के दो मत और तीन प्रकार

कोई कहते हैं कि चातुर्मास्य पर्वों को यावज्जीवन करे, और कोई मानते हैं कि एक बार चातुर्मास्य करके उसके पश्चात् पशु सोम से याग करे, चातुर्मास्य से नहीं, यह उत्सर्ग पक्ष है। इस उत्सर्ग पक्ष में साकमेध के पश्चात् फाल्गुन प्रतिपदा को शुनासीर इष्टि करके उससे आगे की पूर्णिमा को अग्निष्टोम पशु आदि का अनुष्ठान करते हैं। यावज्जीवन पक्ष में फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को शुनासीरीय पर्व मनाने के पश्चात् पूर्णिमा के दिन वैश्वदेव पर्वादि क्रम से पुनः उसी क्रम से निरन्तर करते जाना चाहिए।

चातुर्मास्य पर्वों का अनुष्ठान तीन प्रकार से किया जाता है, इष्टिकाओं से, पशुओं से और सोम से जिनमें से प्रत्येक साँवत्सरिक, पञ्चाह, और एकाह के होते हैं। साँवत्सरिकों की विधि दी जा चुकी है, उन्हीं को पाँच दिन में करें तो पञ्चाह कहते हैं एक दिन में करें तो एकाह। इनके देवतादिक सब एक ही होते हैं। एक काल में तन्त्र से अनुष्ठान करते, अङ्ग न होने पर पुनरावृत्ति से। इसमें वरुणप्रघास तन्त्र है। इन्हीं को पाशुक पर्व कहते हैं। इन पशुओं में एकादश प्रयाज एकादश अनुयाज होते हैं चारों पर्वों के पशु वैश्वदेव वारुण माहेन्द्र और शुनासीरीय कहलाते हैं। कोई इन पशुओं की इष्टिका हवियों के समान तन्त्र से अनुष्ठान करते हैं कोई, पर्वारम्भ में पृथक् तन्त्र से अनुष्ठान करके फिर इष्टिकानुष्ठान करते हैं, कोई पर्वों के अन्त में पृथक् तन्त्र से। सौमिकों में वैश्वदेव के स्थान में अग्निष्टोम संस्था दिन होता है; वरुण प्रघास के स्थान में अग्निष्टोम संस्थ या उक्थ्य संस्था का प्रथम दिन द्वितीय उक्थ्य संस्था। साकमेध के स्थान में प्रथम दिन अग्निष्टोमान्त या षोडषि संस्था प्रथम दिन और द्वितीव दिन उक्थ्य संस्था, तृतीय अतिरात्र संस्था। शुनासीरीय के स्थान में ज्योतिष्टोम। सात दिनों में क्रम से वैश्वदेव वारुण मारुत आग्नेय ऐन्द्राग्न एकादशी पशु वायव्य पशु होता है। प्रत्येक पर्वान्त में अवभृथ भी होता है। इन सब बातों के विवेचन से स्पष्ट है कि ये यज्ञ अग्निष्टोम ज्योतिष्टोमादि के रूपान्तर है। अतः इनका रहस्य तद्वत् है।

अध्याय १६८

निरूढ पशुबन्धः

इस याग को प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में करते हैं, कोई उत्तरायण और दक्षिणायण के प्रारम्भ में वर्ष में दो बार करते हैं। इसमें छाग द्रव्य होता है, वह भी साक्षात् नहीं वरन् उसकी 'वपा' हृदय जिह्वा वक्ष, कन्धे से लेकर पूरी दाहनी बाँह, पार्श्व-हृदय यकृत्, वृकौ, गुदमध्य, दक्षिण श्रोणि, ये हवन सामग्रियाँ हैं। दाहिनी बांह, दाहिनी श्रोणी गुदा ये औपभृत हैं, इसमें इन्द्राग्नी, सूर्य या प्रजापति देवता होते है। यह याग ज्योतिष्टोमाङ्गभूत अग्निष्टोमीय पशुयाग प्रकृति का है। पशु बन्ध के लिए खदिर विल्व काष्ठ का यूप बनाना पड़ता है जो त्रिअरत्नि या चार अरत्नि त्वक् रहित अष्टकोण होता है। किसी खाली ऋत्विक् से पशु का नाक मुख बन्द कराके मरवा कर उसकी वपा निकाल कर सामग्री हवन कर जिस देवता का याग है उसको हवि देकर, श्रुत हवियों को जुहू से आठों हृदयादिकों का हवन स्विष्टकृत् अनुयाजादिक करते हैं। यहाँ ११ उपयाजोपयाज ११ अनुयाज होते हैं; ११ विशसन के तुरन्त पश्चात् करते हैं। यहाँ दक्षिणा में गाय प्रभृति पशु धेनु या वर देते हैं।

यह यज्ञ अग्निषोमीय प्रकृति का है। यही अग्निषोमीय पशुयाग सभी काम्य सवनों की प्रकृति है। सामयाग में जिस दिन सोमरस का अभिषव करके ग्रह चमस आदि पात्रों का ग्रहण किया जाता है उसी दिन इस पशु का अनुष्ठान होता है। ये पशु ज्योतिष्टोम अग्निष्टोम संस्था वालों में एक उक्थ्य संस्था वालों में दो, षोडशि में तीन, अतिरात्र में चार, और वाजपेय में पाँच संस्था के होते हैं, सत्रों में इनसे भी अधिक होते हैं। ज्योतिष्टोम में इनके साथ पश्वेकादशिनी भी होती है। सवनीय पशु एकादशिनी की प्रकृति है। पशु एकादशि से वाजपेय के अङ्गभूत प्राजापत्य पशुगण का या अन्य पशुगणों का अनुष्ठान होता है। पशुयाग तो अग्निषोमीय ही है। वही सब पशु यागों की प्रकृति है और सान्नाय की विकृति है यहाँ पयो याग विकृति है। सान्नाय याग दर्शपूर्णमास और अग्निष्टोम का अंग है; अतः इसका रहस्य तद्वत् है।

अध्याय १६६

आग्रायणेष्टिः या नवान्नेष्टि

अग्र या नवान्नोत्पत्ति के अनन्तर जो इष्टि की जाती है उसे आग्रायणेष्टि कहते हैं। इसको बसन्त या शरद् में नवान्नोपत्ति पर किया जाता है। इसीलिए इसका दूसरा नाम नवान्नेष्टि भी है। इसमें पुरोडाश और चरु द्रव्य होते हैं। इन्द्राग्नी और द्यावापृथिवी के लिए पुरोडाश होते हैं, वैश्वदेव के लिए जौ का चरु जिसको दूध में पकाते हैं। इसके प्रधान द्रव्य नये गेहूँ और जौ हैं। दक्षिणा में मरम्मत किया हुआ टूटा रथ, क्षौम मधुपर्क, वर्पाघृत वस्त्र। यह इष्टि नित्य की है। इसी इष्टि को करके आहिताग्नि को नवान्नप्राशन करना चाहिए। व्रीह्याग्रायण करके यवाग्रायण तक सब याग व्रीहि से, यवाग्रायण करके व्रीह्याग्रायण तक सब याग यव से करने चाहिए। यह दो अयनीय संवत्सरीय कृषि योग की व्रीहियवौ ब्रह्म सोम ज्योतियों की कृषि का फल चखने या अनुभूति करने का अभिनय है।

अध्याय १६७

सौत्रामणी

त्वष्टा नामक असुर से अश्विनी को सुत्राण मिल जाने से इस यज्ञ का नाम सौत्रामणी पड़ा। इससे सभी देवता 'सूत्रेमणि गणा इव' एक साथ मिल गये इससे भी इसे सौत्रामणी कहते हैं। इसमें इन्द्र और नमुचि के द्वन्द्व का आख्यान है और इन्द्र का नाम सुत्रामा है। अतः सुत्रामा से किया गया यज्ञ सौत्रामणी कहलाता है। यह स्वतन्त्र और अंगभूत दो प्रकार का है, चयन के पश्चात् की जाने वाली सौत्रामणी अंगभूत है। स्वातन्त्र्य से की जाने वाली प्रधान है। यह नित्या नैमित्तिकी और काम्य, तीन प्रकार की है। निष्काम की जाने वाली नित्य है, सकाम, काम्य और सोमपवमनादि में की जाने वाली नैमित्तिकी। स्वतन्त्र सौत्रामणी में ब्राह्मणमात्र अधिकारी है, अन्यों में क्षत्रिय वैश्य भी। इसके पशु-अज मेष और ऋषभ हैं, देवता अश्विनी सरस्वती और इन्द्र। इन्हीं पशुओं को सौत्रमणी कहते हैं। शाखान्तरों में इन्द्र के स्थान में सुत्रामा देवता होता है। कोई इसे पञ्चपशुका मानते हैं, इसे कौकिल सौत्रामणी भी कहते हैं। इसमें प्रथम पशु ऐन्द्र अन्तिम वायोधस हैं। माध्यन्दिनी यजुषी शाखा वाले इसी को मानते हैं। ये त्रिपशुका पञ्चपशुका दोनों नित्या ही है। पहले आदित्य चरु फिर ऐन्द्र पशु अथवा इसके उलटे भी करते हैं। इस यज्ञ को चार दिन में करते हैं। इसमें अध्वर्यु ब्रह्मा होता अग्नीत् प्रतिप्रस्थाता मैत्रावरुण ये छह ऋत्विज होते हैं। इसमें तीन पयोग्रह तीन सुराग्रह होते हैं, ग्रहों के देवता अश्विनी सरस्वती इन्द्र सुत्रामा। यहाँ होम के लिए सुरा ग्रहण भी होता हैं। प्रथम दिन द्वादशी को प्रातः अग्निहोत्र हवन करके अदिति देवता का चरु होता है। कोई इसके स्थान में ऐन्द्र पशु का विकल्प करते हैं और पहले ऐन्द्र पशु का अनुष्ठान करके फिर इस चरु का अनुष्ठान किया जाता है अथवा चरु के पश्चात् ऐन्द्र पशु का। इस चरु का अनुष्ठान अन्त में करते हैं। ऐन्द्राग्न पश का अनुष्ठान त्रिपशु के दक्षिण में करते हैं।

सौत्रामणी में सुरा ग्रहण का प्रयोग आजकल इसलिए नहीं करते कि भले लोग सुरा ग्रहण नही करते; कलियुग में यह निषिद्ध भी है। अतः सूत्रकारों के विधानों के रहते हुए भी इनका प्रयोग नहीं किया जाता। सौत्रामणी में ग्रह पयोग्रह ही मनाये जाते हैं। वाजपेय में भी सुराग्रहों के स्थान में पयोग्रहों ही का ग्रहण करते हैं। सूत्रकारों ने सुरा के स्थान में कोई दूसरी वस्तु विकल्प में नहीं दी है। अतः कलियुग में इसे करने का अधिकार ही नहीं हैं यह निर्णयसिन्धुकार का मत है। सुरा के स्थान में सोमग्रहण ही उचित है। सौत्रमणी के अङ्गभूत पशुपुरोडाश याग

में दूसरे पशुपुरोडाश यागों के समान पशुयागीय देवता पृथक् नहीं होते, केवल इन्द्र वरुण सविता ही होते हैं। पञ्चपशुका सौत्रामणो को जब कौकिल सौत्रमणी कहते हैं तो कुछ लोग त्रिपशुका सौत्रामणी को चरण सौत्रामणी कहते हैं। यह राजसूय यज्ञ का अंग है जिसमें अन्य सब कार्य पूर्ववत् होते हैं।

यह सौत्रामणी यज्ञ तो सोमयाग का प्रधान अङ्ग है। सर्वाङ्गों से सोम चूने लगा तो उसको इस यज्ञ से सुरक्षित किया गया। यह सोमयाग का ही रहस्य रखता है। इसके देवता अश्विनी प्राणोदानौ है सरस्वती वाक् है इन्द्र मध्यम प्राण महायोगी।

अध्याय १६८

गृह्य संस्काराः

विवाह संस्कार

गृह्य संस्कारों में सर्वप्रथम स्थान विवाह को मिलता है। क्योंकि यही विवाह गार्हस्थ जीवन और धर्मकृत्यों की आधार शिला है। अग्न्याधानाग्नि होत्र दर्शपूर्णमासादि सभी यज्ञ बिना विवाह (या पत्नी) के अकेले नहीं किए जा सकते॥ इस विवाह का आयोजन एक अद्भुत समारोह के रूप में किया जाता है। वर को विष्णु रूप अतिथि के रूप में आमन्त्रित और सम्मानित किया जाता है, तथा विवाह पद्धति में 'विष्णुक्रमों' 'सप्तपदी' प्रभृति का अभिनय किया जाता है। यह सारी क्रिया समाधि में होने वाली प्रक्रियाओं का अभिनय है।

सबसे पहले आचार्य और वर दोनों का स्वागत किया जाता है। वर जिस रथ में आता है उसे कन्या का पिता कुछ आगे बढ़कर अपने दरवाजे तक उठाकर या ढोकर लाता है। इसके पहले वह अपने यहाँ गणेशपूजन से ग्रहयाग तक सभी कर्म किए रहता है। अब आचार्य और वर का स्वागत सभी सार्थक विधियों के अभिनय के रूप में किया जाता है। यहाँ आचार्य बृहस्पति का (गणपति वाक् पति अग्नि प्रथम प्राण का) प्रतीक है तो वर विष्णु (उत्तमप्राण या पुरुषोत्तम) का जो यहाँ रसमय 'रसो वै सः' के रसिक रूप में विवाहार्थ आया है। स्वागताध्यक्ष का नाम समधि या समाधि है; वह अपनी समाधि में विष्णु ज्योति को बृहस्पति वाक्पति के साथ आया या उद्दीप्त देखकर उनका स्वागत उनके चरणों या त्रिविक्रमों की पादधूलि या प्रकाश को प्राप्त कर उसमें स्नान करता है, बाहर अभिनय में चरण धूलि धोकर उसके जल को सिर में छिड़कता है। पाद प्रक्षालन का मन्त्र भी इसी आशय का पढ़ते हैं—

"आपद्घनध्वान्त सहस्रभानवः समीहितार्थार्पण कामधेनवः।
अपारसंसार समुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मण पाद पांसवः॥"
"आचार्यस्तु यथा स्वर्गे शक्रादीनां बृहस्पतिः।
तथा त्वं मम यज्ञेऽस्मिन्नाचार्यो भव सुव्रत॥"

यह ब्राह्मण आचार्य तो देवताओं का अग्रणी अग्नि या प्रथम प्राण रूप बृहस्पति वाक्पति नामक पुरोहित या आदि प्राण है और वर उत्तम प्राण रूप विष्णु ज्योति। इसी प्रकार समधि या स्वागतकारी महायोगी है, मार्कण्डेय जी का समाधि (नामक वैश्य) या सत्यनारायण कथा कर साधु (नामक वैश्य) है जो दोनों महायोगी होने पर भी सांसारिक धन्धों व्यापारों में फँसे हैं। इस समधी— (समाधि या साधु) की कन्या भी कलावती है सोमवती है, योगी की समाधि में उत्पन्न पुत्री रूप ज्योति है जिसको यह समधि रूप योगी या लक्ष्मी रूप में प्रदान

या समर्पित करने जा रहा है। यह तो विष्णु की ही सोभ ज्यति है जो योगी की समाधि में कन्या रूप में जन्मी है उसी के विवाह का नाटक यहाँ पर यह साधारण व्यक्ति अपनी लड़की को साधारण वर को देकर खेल रहा है। इससे दान तो हो ही रहा है पर उक्त भावना से अतीव उत्तम बर और वरदान दोनों और अधिक प्राप्त हो रहे हैं। वर से वरदान प्राप्ति के लिए या वर वरदान देने के लिए श० प० ब्रा० ४-१-१-२१, ५-१-३-१९ और १४-९-१-७ से १० के मन्त्रों को आचार्यादिक से पढ़ाता और स्वयं पढ़ता है। लोग इस वेदपाठ को वर के स्वागत के लिए उच्चरित बेद मन्त्र समझते हैं। वर का स्वागत रुद्र रूप आदित्य के मन्त्रों से वरदान प्राप्ति के पश्चात् करते हैं। वर अपने स्वागत के पश्चात् यजमान (श्वसुर=प्रजापति) योगी को आशीर्वाद देता है जिसको वह हिरण्य, गौ, वासः अश्व चार दक्षिणाओं के लिए प्रयुक्त (यजुः ७-४७,४८) मन्त्रों का उच्चारण करता है। इनमें कहा गया है कि मुझको वरुण क्रम से अग्नि रुद्र बृहस्पति और यम के लिए दे और मेरे लिए अमृतत्त्व और आयु की वृद्धि करो। यहाँ तक बाहर द्वार पर आये वर आचार्य दोनों की मुख्यतः स्वागतविधि दी गई है। अब भीतर ले जाकर भी स्वागत कृत्य हागें।

वाद्य घोषमंगल पूर्वक वर आचार्य प्रभृति को विवाह मण्डप में प्रविष्टकर पुनः विष्टर मधुपर्क से स्वागत करता है। विष्टर नाम पादप्रक्षालन पूर्वक आसनदान विधि है। आसन में वैठते समय वर जिस मन्त्र को पढ़ता है उसका आशय यह है :—"मैं सजातीयों में उदित होने वाले नक्षत्रों में सूर्य के समान श्रेष्ठ हूँ, जो मुझे उपक्षीण करना चाहता है उस पर मैं इस प्रकार चढ़कर बैठजाता हूँ।" पाद प्रक्षालनार्थ 'पाद्यम्' 'पाद्यम्' 'पाद्यम्' कहकर दिए गये जल को वर प्रतिगृह्णामि' 'ग्रहण करता हूँ' कह कर ब्राह्मण पहले दक्षिणपाद को क्षत्रियादि पहले वामपाद को धोकर दूसरे को भी धोता है। तदनन्तर 'अर्घ्योऽर्घ्योऽर्घः' तीन बार कह कर अर्घ्य दी जाती है और वर ग्रहण करता हैं। इन दोनों में प्राणों के शरीर रूप आपोदेवियों के मन्त्रों का प्रयोग विनियोग सहित होता है। यही बात आचमन में भी है। फिर मधुपर्क विधि में सबसे पहले मधुपर्क को सूर्य मन्त्र से देखते हैं, और उसमें कुछ अंश घृतादि मिश्रित कर तीन बार खाते हैं; और शेष को फेंक कर अङ्ग स्पर्श करते हैं। अन्त में गौरालम्भन करते हैं। खड्ग के स्थान में कुश लेकर गौं गौं गौं तीन बार कह कर वर के आलभ्यतां कहने पर उसका आलमन करके उसकी खाल में वर को थैंठाया जाता था। इसमें गौ का अभिमन्त्रण 'माता रुद्राणां········मागा मनागा मदितिं बधिष्ट" प्रसिद्ध अदिति देव माता के मन्त्र से किया जाता है : उपांशु में 'मम यजमानस्य पाप्मा हतः' कहते हैं ऊँची ध्वनि में+'इसे छोड़ दो, तृण चरे' कहते हैं। उत्सर्जन को ही आलम्भन समझते हैं। कलियुग में इसीलिए विवाह के दिन वर को अशुद्ध मानते रहे हैं, कई जगह अब भी मानते हैं; यह बिलकुल उलटी गंगा है। मन्त्र का अर्थ तो स्पष्टतः यह है :—"यह अदितिर्देव माता रूप गौ तो रुद्र नामक ११ देताताओं की माता वसु नामक आठ देवताओं की पुत्री और १२

आदित्य नामक देवताओं की बहिन है, इसकी नाभि अमृत की भरी है, जो समझदार ज्ञानी है उनके समझने के लिए कहता हूँ कि इस निरपराध अदिति रूपा गौ को मत मारो।" इस क्रिया से मधुपर्क विधि समाप्त हो जाती है।

यहाँ पर विष्टर का दान समाधि में प्राणों की आसन्दी दान या बर्हि का आसन दान का अभिनय है, मधु का खिलाना सोमपान का अभिनय है, और गौरालम्भन गाय की हत्या से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, पर गौरालम्भन माने यहाँ पर विष्णु लोक की गाय रूप किरणों की प्राप्ति या आलम्भन है इसीलिए विष्णु लोक को गोलोक या दैवी ज्योतिर्मय लोक कहते हैं। यह सब समाधिस्थ पदार्थों का अभिनय बाह्यभिनेतृ पात्र रूप पदार्थों से किया जा रहा है। यहाँ का समधी समाधिस्थ का प्रतिनिधि बनाया जा रहा है। दोनों समधी महायोगी की समाधि का आनन्द प्राप्त कर रहे हैं।

अब वेदोक्त मन्त्रों से कन्या को वस्त्रालंकार से विभूषित कर, कन्यादान करने से पहले विनोदार्थ या लोक में इतिहास ज्ञानार्थ 'गोत्राद्युच्चार' का आयोजन मंगलश्लोक पूर्वक तीन बार दुहराकर किया जाता है। कन्यापिता 'ददानि' देता हूँ यह वाक्य तीन बार वर से कहता है और कन्या की पूजा में 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च' इत्यादि अम्ब अम्बिके इत्यादि और 'समख्ये देव्याधिया' इत्यादि सार्थक और समाधि का साकार वर्णन देने वाले मंत्रों से करता है। वर कन्या पक्षों से कन्या के लिए वस्त्रालंकार भूषण तथा फलादि मिष्ठान्नादि का आदान-प्रदान छोलिका रूप में करके कन्यादान का संकल्प कर कन्या वर को सौंप दी जाती है। यह सब लौकिक आचार-विचारों का अभिनय है। अन्त में वर कन्या का पूजन लक्ष्मीनारायण रूप में किया जाता है। यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। वर 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्यां' मन्त्र से अर्थात् यह कह कर कि समाधि में सविता देवता का प्रसव या उद्दीपन होने पर मैं तुम्हें अश्विनी नामक दो प्राणों की बाहुओं और पूषा नाम अमृत भौतिक प्राण की किरण करों से प्रजापति के लिए ग्रहण करता हूँ कन्या को ग्रहण कर 'नीतिंचरामि' कहकर' धर्मोल्लंघन नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है।

कन्या का वामहस्त पकड़ कर अंचल ग्रन्थि बन्धन युक्त वर जब विवाह मण्डप से बाहर यज्ञवेदि के पास आता है तब वर कन्या एक दूसरे का अवलोकन करते हैं। इस अवसर पर बेदोक्त सूर्यपुत्री सूर्या के विवाह (ऋ० वे० १०-८५,८६) के सारभूत मंत्रों के साथ साथ कुछ अन्य उपयोगी मंत्रों को वर पढ़कर सुनाता है। वे मन्त्र ये हैं :—

"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
सोमः प्रथमः विविदे गन्धर्वो विविध उत्तरः।
तृतीयो ऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥
सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर।
यस्या मुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै॥"

"तुम अपाप दृष्टि वाली, और अपति हन्त्री बनो, प्राणोदानादि पशु रूप देवताओं के लिए सुयोगिनी सुतेजस्वती बनो, वीर देव पुत्रों की माता बनो, देवकामा बनी रहो, मनुष्य और पशु नामक प्राणों के लिए सुखी कल्याणकारिणी बनो" तुमको सबसे पहले सोम ने पाया, फिर गन्धर्व (चन्द्रमा) ने पाया, फिर अग्नि ने पाया, अन्त में अश्विनी ने पाया जिनमें से प्रत्येक प्रथम ने उत्तरोत्तर के द्वितीय को तुम्हें अर्पित किया। अग्नि ने तुम्हें मुझे दैवी ज्योति की दैवी सम्पदा देव रूप पुत्र सहित मुझे दिया। इसे पूषा देवता शिवतमा बनने की प्रेरणा दे, वह उरुओं की कामना करती हुई विहरे जिसमें विहार करते हुए पुत्रादिक अनेकेष्ट साधन करे॥"

इस सूर्या का विवेचन वै० वि० द० के उत्तरार्द्ध द्वितीय भाग में सविस्तर दिया जा चुका है। उसे पुनः देख लें। इसी सूर्या के विवाह में बधू को आशीर्वाद देने के मंत्र भी उपलब्ध हैं। सूर्या का विवाह, भारतीय आर्य वंशीय विवाहों में सर्व प्रथम वर्णित विवाह है। यह विवाह तो समाधि में होता है। अतः बाह्य विवाहों में भी उन्हीं देवताओं का आवाहनादि हवनादि होता है जो उस सूर्या के विवाह के अवसर में थे या जो देवता ऐसे विवाह यज्ञों में अनिवार्य हैं। विवाह यज्ञ की अग्नि का नाम 'योजकः' है। प्रजापति इन्द्र सोम भूर्भुवः स्वः प्रभृति देवताओं का होम करके राष्ट्रभृत् होम, जय होम अभ्यातान होम, अग्न्यादि पञ्चक होम करके अन्त में लाजा होम करते हैं। लाजा होम के मन्त्रों को वर के पाठानुश्रुति से वधू भी उच्चरित करती हुई होम करती है। यह लाजाहोम वेदों के 'धाना' भक्षण का अभिनय है। इसके पश्चात् 'पाणिग्रहण' संस्कार चार मन्त्रों से होता है जिनमें कहा है कि तुम मेरे साथ जरा को प्राप्त हो जावो, तुमको मुझे भग अर्यमा सविता और गायत्री ने गार्हपत्य के लिए दिया है, मैं देवत्रय रूपी हूँ, तुम भी देवत्रय रूपिणी हो, मैं साम हूँ तुम ऋक् हो, हम दोनों पुत्रादि प्रजा के लिए विवाह करते हैं, हम सैकड़ों वर्षों तक आनन्दमय प्रिय जीवन विताते हुए जरा को प्राप्त हों। इस वक्तव्य में देवताओं का उल्लेख अन्तर्जगत् के चित्र को स्वयं उपस्थित कर देता है। उसी का बाहर अभिनय हो रहा है।

अश्मारोहण—अश्मा नाम सोम की स्फटिकाशिला है जिसमें सभी देवता देव सभा रूप में आनन्दमग्न होकर सोमपान से मस्त रहते हैं। यहाँ उसी का अभिनय एक साधारण पत्थर पर वधू को चढ़ने के लिए कह कर किया जाता है। तदनन्तर गाथा गान करते हैं जिसमें सरस्वती की स्तुति द्वारा स्त्री प्रसंसा करते हैं। अर्थात् यहाँ पर वधू को सरस्वती का प्रतिनिधि बनाना आभ्यन्तर जगत् का ही उद्बोधन कराना है।

अग्नि परिक्रमण—सात फेरे या फेरे लगाना—इसमें सूर्या के विवाह के मंत्रों का प्रयोग कर वरवधू लौकिक अग्नि की परिक्रमा करते हैं, द्वितीय तृतीयादि फेरों में लाजा होम भी किया जाता है।

सप्तपदी-प्रक्रमण—(उत्तर की ओर) इस सप्तपदी को श० प्र० ब्रा० (३-४-२-१, २ में) पदहोम के अन्तर्गत देता है। सप्तपदी नाम सात मुख्य छन्दों का है जो क्रम से सोम लाने की प्रतिद्वन्द्विता में निकली थीं, पर सब हार गईं केवल गायत्री ही सोम को ला सकी। इस प्रकार यहाँ पर वधू को गायत्री (वाक्) का प्रतिनिधि बनाया जा रहा है तो वर को अग्नि का। जिस मन्त्र से उक्त सात क्रमों को कराया जाता है वह विष्णु के त्रिविक्रम का संकेत करता है, प्रत्येक पद के प्रक्रमण में 'विष्णुस्त्वा नयतु' विष्णु तुम्हें लेजावै कहा गया है, इन सात पदों को क्रम से इष, ऊर्जः रायस्पोष, मयोभुव, पञ्चपशु, षडृतु के लिए प्रक्रमित करने को कहा जाता है, सातवें में 'सप्तपदा' 'ममानुव्रता भव' कहा जाता है। यहाँ सप्तपदा माने सातों लोक हैं जिनका बिभाजन सात पदों या सात सप्तकों से किया जाता है, सप्तपदी छन्द हैं। अन्त में छह सौतों के समान छन्दों मयी सौतों के पुनः सिर न उठाने के संकेत के लिए सात वत्तियाँ जलाकर उनमें से एक को उत्तर की ओर रखकर शेषों को वधू दाहने पाँव से कुचलकर बुझा देती है।

तदनन्तर वधू का मूर्द्धाभिषेक, सूर्योदीक्षण, हृदयालम्भन, अभिमन्त्रण सिन्दूर लगानां आदि आपो देवी, आदित्य के मन्त्रों से करके वर उसे अपने दक्षिण भाग से वामभाग में प्रथम वार बैठाने के लिए अपने हाथ से उठाकर बैठाता है, वधू भी उसका आञ्चल खींचकर उसे उसके आसन पर बैठाती है। वृद्धायें ग्रामवचन सुनाती हैं, बर के पावों को वधू से धुलाया जाता है: दूसरे पांव को धोने के लिए सुवर्ण द्रव्य देने का शिष्टाचार है। वरबधू एक दूसरे को तिलक सिन्दूर लगाकर कुछ दधि गुड़ को चख कर एक दूसरे को चखाने की झपेट करते हैं। स्विष्टकृत् होम करके ध्रुवदर्शन कराया जाता है। अन्त में गृह में प्रवेश कर भीतर जीव मातृका पूजन करते हैं। इनमें से आदि के मूर्द्धाभिषेक सूर्योदीक्षणादि और अन्त का ध्रुवदर्शन तो भीतरी दर्शन हैं, शेष लौकिक शिष्टाचारों के नाटक।

चतुर्थी कर्म—वर के घर में पूर्वस्थापित गणेशमातृका कलशादिकों की क्रिया की पूर्ति के लिए तथा बधू को पत्नीत्व प्रदान करने के निमित्त विवाहोत्सव के चौथे दिन किया जाता है। कुशण्डी पूर्वक होम करके प्रायश्चित्त होम किया जाता है। शेष स्थालीपाक को वधू को वर अपने हाथ से खिलाता है (कहीं कहीं वधू को गोद में बिठाकर भी)। हृदयालम्भन के लिए चिरञ्जीवि रहने का मंत्र पढ़ते हैं। कलश की परिक्रमा करके वधू का सीमन्तोनयन करके सूत के कपड़े की पोटली दोनों के हाथों से खोल देते हैं। ब्राह्मणादिकों कों दक्षिणा औरों को पुरस्कार प्रदान किया जाता है। यही कार्य कुछ प्रान्तों में द्विरागमन के दिन भी किया जाता है!

अध्याय १६६

अर्क विवाह

अर्क विवाह् को तीसरा विवाह् करने से पूर्व इसलिए किया जाता है कि तीसरी मानुषी परिणयन का निषेध माना गया है। इसको शनिवासर और हस्त नक्षत्र के दिन या किसी शुभ दिन किया जाता है। आँक के वृक्ष को सूर्य का प्रतिनिधि बनाकर उसकी पूजा की जाती है। अर्क वृक्ष तथा इसके आठों दिशाओं में कलशों को स्थापित कर उनको त्रिगुणित सूत्र से पाँच वार वेष्ठित कर विष्णुपूजन पूर्वक कुशण्डीवत् हवन किया जाता है। तब मानुषी से यथावत् विवाह् करते हैं।

————

अध्याय १७०

कुम्भ विवाह

बालवैधव्य योग निवारणार्थ विष्णुमन्दिर में जाकर कलशस्थापन करके उसमें विष्णुप्रतिभा स्थापित करते हैं। उस प्रतिभा युक्त घट के साथ कन्या का विवाह करके विष्णु वरुण की पूजा करते हैं। कन्या को उस कलश के साथ दस सूत के धागे से बाँधते हैं। अन्त में धागा उतार कर घट को जलाशय में छोड़ देते हैं। शेष पूर्ववत्।

—:❀:—

अध्याय १७१

विष्णु प्रतिमा विवाह पूर्वक विवाह

यह विवाह भी वैधव्य दोष निवृत्यर्थ ही किया जाता है। विष्णु की चतुर्भुजी शंख चक्र गदा पद्म हस्ता मूर्ति सुवर्णमयी बनाकर उसके साथ कन्या का विवाह करते हैं। पहले विष्णु मूर्ति का पूजन षोडशोचार से करते हैं और वैधव्यादि दोष निवारणार्थ प्रार्थना भी करते हैं। प्रार्थना में विष्णुसूक्त (ऋ० वे० १·२३) के अतीव महत्त्वपूर्ण योग क्रिया विवेचक मंत्रों को भी पढ़ा जाता है। यह एक बहुत बड़े महत्त्व की बात है। इन मंत्रों में कहा गया है कि "योगी लोग विष्णु के परमपद को आकाश के सूर्य के समान खुली आखों से सदा देखते हैं। इस विष्णु ने तीन विक्रम किए तीन डग भरे। योगीजन सदा योग समाधि से जागृत रहकर विष्णु के उस परमपद को उद्दीप्त करते हैं देखते हैं।" इन सभी वैवाहिक प्रक्रियाओं से ऋषियों का मुख्य लक्ष्य इसी विष्णु की अनुभूति का नाटक करना है।

—:❀:—

अध्याय १७२

गर्भाधान

विवाहोत्तर काल में पत्नी के प्रथम रजोदर्शन की शुभाशुभ लक्षण की शान्त्यादिक, स्वस्तिवाचन गणेश पूजादि कुशण्डिका पर्यन्त प्रायश्चित्त होमादि द्वारा कर लेने के पश्चात् दूर्वा तिल यव और घृत से होम करते हैं। इसके पूर्व तण्डुलपात्र या कलश में सविता रूपिणी भुवनेश्वरी देवी की प्रतिमा स्थापित कर उसकी पूजा कर लेते हैं। रात्रि में शुभ लग्न में गर्भाधान करते हैं। इस गर्भाधान में प्रयुक्त होने वाले मंत्र ही इस कर्म के प्राण हैं। वे ये हैं:—

" 'विजिहीथां द्यावा पृथिवी' 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेतः आदधामि'।
विष्णु र्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥
हिरण्मयी अरणी याभ्यान्निर्मथता मश्विनौ देवौ।
तं ते गर्भं दधामहे दशमे मासि सूतवे॥
यथाग्निगर्भा पृथिवी द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायु र्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि ते (अमुक देवि)॥
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥
यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः
शत ँ श्रृणुयाम शरदः शतम्॥"

"सृष्टि और योग काल में समाधि के द्यावापृथिवी रूप दोनों भाग एक साथ उसी प्रकार सटे रहते हैं जैसे दोनों पाँव नितम्ब में, उनको एक दूसरे से पृथक होकर उनके मध्य में स्थित योनि को खोलने के लिए कहा जाता है 'वि जिह्वीथां द्यावा पृथिवी'। यहाँ स्त्री से दोनों पाँव पृथक् परसारने को कहा जाता है। तब योनि में गर्भाधान करके कहा जाता है कि विष्णु देवता उस गर्भ को भी योनि या नव जन्म दे, त्वष्टा उसके लिए नाना रूप में विभिन्नावयवों का निर्माण करे; प्रजापति देवता योगी उसको सिञ्चित करे या प्राणमय आपोमय शरीर दे; धाता धारणा शक्तिमय देव उस गर्भ को सुरक्षित रूप में धारण करावे। हे रात्रिमयी सिनीवालि अमावास्या रूपिणी तुम इस गर्भ को स्वयं धारण करावो। हे अन्धकारमय केशमयी बृहती कपर्दिनी वाली सिनीवाली! इस गर्भ को लपेट कर सुरक्षित रखो। अश्विनी देवता पुष्कर या प्राणोदान रूप देवता इस गर्भ को जीवित रखें या बनाये

रखें। ये दो अश्विनी, दो अरणियों के समान हैं, हिरण्मय या प्राणमयी अरणी हैं। जिस प्रकार इन दोनों प्राणोदान रूप अरणियों से अश्विनी ने इस गर्भ को जीव रूप में प्राण रूप में उद्दीप्त किया उसी प्रकार मैं तुममें इस गर्भ को दशम मास में जन्म लेने के लिए धारण कराता हूँ, जिस प्रकार पृथिवी अग्निगर्भा है, द्यौ विष्णु या इन्द्र रूप गर्भवती है, वायु दिशाओं के गर्भ में है वैसे ही मैं तुममें इस गर्भ ज्योति को धारण कराता हूँ ॥"

यहाँ पर योनि नाम समाधि या हिरण्य गर्भ का है जिसमें योगी अपनी प्राणोदानौ रूप अश्विनी की अरणियों से गर्भ रूप विष्णु की या सोम की ज्योति को उद्दीप्त करके धारण करता है। लोक में मैथुन से स्त्री की योनि में वीर्य रूप ज्योति के दीप को स्थापित किया जाता है। यही अभिनय का मुख्य पात्र है।

इसका पक्का प्रमाण उक्त उद्धरण के ही अन्तिम दो मन्त्र हैं जिनका अर्थ इस प्रकार है। "उसके रूप का दर्शन करने के लिए इन्द्र रूप मनः नामक योगी ने उसकी नाना रूपतानुसार नाना रूप धारण किये। इस कार्य के लिए इन्द्र रूप योगी ने अपना योग का रथ जोता जिसमें उसने एक हजार प्राण रूप अश्वों को जोता; इन्हीं योगमायाओं के द्वारा इन्द्र को नानारूपधारी कहते हैं। अन्त में पति रूप योगी कहता है:—"हे सुन्दर सीमन्तिनी या असीम शरीरिणी! तुम्हारा हृदय तो द्यावा लोक के सोम रस प्राप्ति का आसरा लगाये हुए हैं, इस बात को मैं जानता हूँ। तुम भी मुझको जानो या जानने की चेष्टा करो, जिससे हम सैकड़ों वर्षों तक देखते रहें, सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहें, और सैकड़ों वर्षों तक सुनते रहें ॥' ये मन्त्र स्पष्टतः योग प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इस गर्भाधान के कर्म को हिरण्यगर्भीय योगक्रिया के अभिनय रूप में किया जाता है।

———

अध्याय १७३

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन दोनों कर्म गर्भाधान के ही अङ्ग हैं। इसको गर्थाधान के दूसरे या तीसरे मास में चन्द्रमा के पुंनक्षत्र में रहने के दिन किया जाता है। गर्भवती की नाक में वट की जड़ों, पत्तों को घोट कर कपड़े से छानकर, जो रस रहता है उसे डाला जाता है। रस डालने में हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० वे० १०-१२१) का प्रथम मंत्र और यजुर्वेदीय पुरुष सूक्त का १७ वा मंत्र 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्यादि और 'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै' इत्यादि पढ़े जाते हैं। गर्भाभिमन्त्रण में 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' इत्यादि यजुः १२-४ को पढ़ते हैं। इन मन्त्रों के प्रयोग से यह स्वतः स्पष्ट है कि इस पद्धति से सृष्टि के हिरण्यगर्भ और सुपर्ण रूप विकासों का अभिनय किया जा रहा है।

सीमन्तोन्नयन छठे या आठवें मास में किया जाता है। इसमें स्वस्तिवाचनाऽत्प्रायश्चित्त होम तक सब कर्म करके अन्त में वीजगर्भसमुद्भव पाप निरसनार्थ गर्भवती का सीमन्त संस्कार करते हैं। मांग को बनाने में तीन कुशा तीन शलली (शलभ का कांटा) तीन पिप्पल की डंठलियों और सूतभरी तकली का प्रयोग करते हैं। इसे 'विनयन' क्रिया कहते हैं। वेणीबन्धन में गर्भवती की वेणी चोटी बनाने में उसे ऊर्जावान् वृक्षकहकर उसे दीर्घजीवि और फलिनि होने का आशीर्वादक मन्त्र पढ़ते हैं। और सोम सम्बन्धी निम्न गाथा का गान करते हैं—"हे सोम! तुम हमारे राजा हो, उसी से यह सौम्य प्रजा प्राण उत्पन्न हुए। जैसा राजा वैसी ही प्रजा होती है; हे गङ्गे देवि! सुम सोमरूपिणी के तीर में, सोमराजा की राजाज्ञा या चक्र (Circulated order or circular) का उल्लघन न करते हुए, यह सौम्य प्रजा आश्रित है।" यह कर्म भी सृष्टि विषयक सोम के विकास का अभिनय है यह इन्ही दो मन्त्रों से स्वतः परिलक्षित हो रहा है। गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन कर्मों को आजकल नहीं करते हैं, हां प्रथम रजो दर्शन में ही इनका अन्तर्भाव करके, सबको प्रथम रजोदर्शन शान्ति के साथ-साथ ही कर लेते हैं या कोई नहीं भी करते।

अध्याय १७४

जातकर्म महोत्सव

गर्भिणी माता को प्रसवार्थ उत्पन्न पीड़ा जागृत होने पर गर्भ को जल से सिञ्चित करते हैं। सिञ्चन के मन्त्र में कहते हैं कि यह जटायु या (झिल्ली से युक्त गर्भ उसी प्रकार कम्पायमान होकर निकले जैसे वायु चलती है और समुद्र चलता है। गर्भ विमोक्षण काल में भी जिस मंत्र को पढ़ते हैं उसका आशय यह है—हे पीवरि ; हे सोष्यन्ति गर्भिणी तुम्हारी नानावर्ण और पिच्छिल पिङ्गल वर्णप्रधान गर्भ की झिल्ली कुत्ते के खाने के लिए गिर जावे, वह तुम्हारे मांस के साथ या उन अंगों के साथ जिनसे यह झिल्ली सम्बद्ध है, साथ लेकर न गिरे। अब पुत्र का जन्म हो गया।

यद्यपि यहाँ पर, कोई दुर्घटना न हुई तो, लौकिक बालक का जन्म हो गया है। धूम-धाम हँसी-खुशी मनाई जाने लगी है। दान प्रदान होने लगे हैं, विभिन्न वाद्य संगीत नृत्यादिकों से घर गुञ्जायमान हो गया है। पर कर्मकाण्ड प्रणेता का लक्ष्य मात्र इस बाह्यानन्द को ही प्रदर्शित करने का नहीं है। वह यहाँ पर योगी की समाधि के दशरथ और कौशल्या, अथवा वसुदेव और देवकी के प्राङ्गण में या दशों प्राणों के प्राङ्गण में विष्णु ज्योति रूप पुत्र या अवतार को अवतरित या उद्दीप्त करने करने की विधि तथा उससे होने वाले अलौकिक आनन्द सागर की हिलोरें उमाड़ने या उभाड़ने के विचित्र चित्र के चित्रण या अभिनय को साकार पुत्र के जन्मोत्सव द्वारा दिखाने की परम सफल चेष्टा कर रहा है। दोनों की जन्म बिधि एक सी है। समाधि के निम्नभाग का ही नाम योनि है जिसमें दशप्राणरूप दशरथ या दश दैवी धन रूप वसुदेव नामक पति हैं, कौशल्या और देवकी इनके शरीर हैं; इन्हीं में उक्त विष्णु ज्योतिरूप पुत्र या अवतार अवतीर्ण या उद्दीप्त होता है, ठीक लौकिक बालक की तरह। मेरे वैदिक योगसूत्र तथा आगे 'पञ्चमवेद पुराण दर्शन, को भी देखें।

उस दिव्य पुरुप के जन्मोत्सव के लक्ष्य से उस समय पिता और पुत्र दोनों को सूतक नहीं माना जाता। स्वस्तिवाचन गणेशपूजन से कलशस्थापन तक विशेषकर नान्दी श्राद्ध को अवश्यकर्तव्यतया करके बालक को सर्वप्रथम मधुधृत सोमरस का प्रतीक खिलाया जाता है जिसमें 'भूर्भुवः स्वः' तीनों लोक रूप प्राणों को तुझमें रखते हैं' कहा जाता है और अग्नि, सोम, ब्रह्मा, देवाः, ऋषभः, पितरः, यज्ञ, समुद्र तुमको आयुष्मान् बनावें कहकर उसे आयुष्मान् होने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि उक्त आयुष्मान् कारक देवता क्रम से वनस्पति, ओषधि, ब्राह्मण, अमृत, व्रत, स्वधा, दक्षिणा, जिसप्रकार नदियों से आयुष्मान् हैं वैसे ही तुम्हें भी आयुष्मान् बनावें, यह प्रार्थना करते हैं। अन्त में 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र से पुनः आयुष्मान् होने की प्रार्थना रुद्र से करते हैं।

इस नव अतिथि बालक का अभिमर्शन या सर्वाङ्गीण तैलाभ्यञ्जन या अङ्गमर्दन अग्निरात्मा या मौलिक ब्रह्म के प्रसिद्ध अनुवाक के ग्यारह मन्त्रों से किया जाता है। ये मन्त्र यजुर्वेद में १२-१८ से २८ तक संकलित हैं तथा मूलतया ऋग्वेद (१०-४५-२,३,४,५,६;७,८,९,१०,११) से लिए गये हैं। "इन मन्त्रों में अग्नि की उत्पत्ति के तीन मूलस्थान तीन मूलरूप, तीन मूलधाम, गुहा उत्स इत्यादि का वर्णन देने के पश्चात् उसकी उद्दीप्ति प्राणों के सागर में और वृद्धि अन्तरिक्ष या उपस्थ में बतलाई है। यह अग्नि उद्दीप्त होने के समय विजली की तड़क भरी कढ़क से समस्त द्यावा और समस्त ओषधियों में व्याप्त हो गया और तत्काल उद्दीप्त होकर सूर्य के समान द्यावापृथिवी के अन्दर व्याप्त प्रकाशमान भी हो गया। यह अग्नि कान्तियों का दाता, दैवी सम्पदा का भण्डार, भौतिक प्राणों को अभीष्टदाता, और सोम का गोप्ता है, समाधि की दैवी सम्पदा का पुत्र है, महाबली और उषाओं को उद्दीप्त करता है। यह अखिल ब्रह्माण्ड के केतु (ध्वज) के समान है, अखिल ब्रह्माण्ड का मूल बीज (गर्भ) भी है, उद्दीप्त होते ही द्यावापृथिवी दोनों को प्रकाश से भर देता है और महाबली असुरों के अन्धकर को नष्ट कर देता है। यह पृथिवी का आभूषण की तरह दृश्यमान होता हुआ अखण्डितायु वाला पृथिवी की शोभा के लिए प्रदीप्त हुआ। द्यावा के बीज से उत्पन्न होने से अमृतधर्मा बना। हे अग्ने! जो योगी यजमान तेरे लिए सोमामृतयुक्त प्राणों के अपूप को अर्पित करता है उसे सुखानन्दमय देवसेवित उत्तम लोक परमपद को ले जावो। ऐसी सौश्रवता या सोमोद्दीप्ति और स्तुति करनेवाले योगीयजमान को आनन्दित रखो, विष्णुरूप सूर्य के प्रिय बनो, तुम जैसे पुत्रोत्पत्ति से योगीयजमान श्रीवृद्धि को प्राप्त हो। हे अग्ने! योगीयजमान तुमको अपनी अखिल रमणीय दैवी प्राण सम्पदा अर्पित करते हैं, अतः तुम्हारे साथ-साथ दैवी सम्पदा प्राप्ति कामना वाले यजमान के लिए, इस योगी की कामना करने वाली विष्णु के परमपद की दीप्ति किरण रूप धेनुओं के गोष्ठ के द्वारों को खोल दो॥"

बालक के जन्म के वहाने महर्षियों ने इस जातकर्मपद्धति को योगी की समाधि में उद्दीप्त होनेवाले अग्निरूप विष्णु देवता के पुत्र रूप में उत्पन्न होने का साकार अभिनय करने की जो रूढि स्थापित की उसका रहस्य ये उक्त ११ मन्त्रों का पाठ यहां पर स्वयं उद्घाटित कर देते हैं, इस तथ्य में अब तो किसी भी पाठक को संशय करने की गुञ्जाइश नहीं रह गई होगी। बाहर तो बालक के नव जन्मोत्सव का अलौकिक कुतूहल हलचल कुहराम मचा है, पर योगी की समाधि में उक्त अग्निरूप विष्णुज्योति के पुत्रोत्पत्ति हो जाने पर तो सारा स्वर्गलोक झड़कर समाधि में व्याप्त होकर योगी को आनन्दसागर की डुबकियों में बारम्बार डुबोते जाता है। यहाँ ब्रह्मानन्दानुभूति की एक झलक मात्र हैं।

इस एक मात्र झलक को भी कर्मकाण्ड समाधि व्यवस्था का पूर्ण स्वरूप निम्न अन्य आवश्यकीय विधानों से प्रदान करता है। जैसे समाधि के पृथिवी नामक भाग में उस पुरुषोत्तम के उद्दीप्त होने के कारण लौकिक पृथिवी का जन्मभूमि के रूप में अभिमन्त्रण करते हैं। पैदा तो माता से हुआ है। अतः लौकिक बालक की जन्म-

भूमि तो माता का गर्भ है। माता पृथिवी में रहती है। अतः पृथिवी के उस कोने को जिसमें माता वसती है लौकिक जन्मभूमि कहते हैं। इस जन्मभूमि की अनुभूति तो जन्म होने के पश्चात् बालकपन भर होती है, इसी अनुभूतियों के स्थान को लाक्षणिकतया जन्मभूमि कहते हैं। पर विष्णु ज्योति की जन्मभूमि तो समाधि का पृथिवी नामक भाग ही है, वही माता भी है, वही गर्भिणी भी होती है। इसके अनन्तर कुमाराभिमर्शन में कहते हैं—"अश्माभव परशुर्भव, हिरण्यम श्रुतं भव। आत्मा वै पुत्र नामासि सजीवः शरदः शतम्॥" कि तुम (पाषाण की तरह कठोर बनो ?) रस रूप अश्म की ज्योतिवाले बनो—अश्मा नाभ अश्रु या रस का है (श० प० ब्रा० ६-१-२-२), तुम मोहान्धकार के राक्षस को काटने के लिए कठोर परशु बनो। तुम अक्षीण दैवीप्राण ज्योतिर्मय बनो। तुम तो आत्मा ही हो, यहाँ पुत्र रूप की विष्णु ज्योति रूप में उत्पन्न हुए हो। इस प्रकार के तुम सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहो।" यह मंत्र और अर्थ तो समाधि में उत्पन्न होने वाले विष्णु ज्योतिरूप पुत्र में ही ठीक ठीक घटित होता है। उसी का अभिनेता पात्र यहाँ पर वैसा ही आत्मा रूप लौकिक पुत्र है।

इडा नाम्नी देवी वेदों में सुविख्यात है। यह महाकाली या प्रथमप्राण या आग्नेयी वाक् की दुधारू धेनु है। प्रत्येक शरीर का मौलिक तन्तु और ताप या जीवन या जीवता इसी के देन है। इस तन्तु और ताप को सन्तुलित या जीवित रखने वाली भी यही इडा या प्रथमप्राणीय धेनु है जो जीवनी के लिए जीवन दान के साथ जीवनी का आधार दुग्ध भी माता के स्तन में युगपत् उत्पन्न करती है। इसी को मैत्रावरुणी कहते हैं। वारुणी रूप से यह जीवन शरीर देती है तो मित्ररूप से उसको दूध से जीवित रखती है। अतः इसका अभिमन्त्रण करते हुए कहते हैं:— "तुम इडा या सृष्टियज्ञ की अधारभूता पात्र हो, हे वीरे! तुम मैत्रावरुणी हो, तुमने वीर पुत्र को जन्म दिया, ऐसी तुम पुत्रवती बनी रहो, तुमने हम योगियों को भी विष्णु ज्योतिरूप पुत्रवान् बनाया"। इस इडा के स्तन को उत्पन्न बालक के मुख में डालते हुए पुनः कहते हैं—"यह स्तन तो विद्युत् की तरह स्तनयन् या चमक कर दूध के अमृत प्रकाश को देता है, प्राणों के सागर के मध्य में दूध से भरे पीन हुए ऊर्ज्वस्वान् रस वाले हे प्राणरूप कुमार! तुम इस माता के स्तन का पान करो, समुद्र समान माता के शरीर का अवगाहन करो" यह वाम स्तन है, त्रिपादामृतीय स्तन है। दक्षिण स्तन उत्तरार्द्धीय होता है। यह सरस्वती नामक सोमामृत मय स्तन है। यह उत्तम प्राणीय अमृतमय है। इसे मुँह में डालते समय अस्यवामीय ऋ० वे० सूक्त १-१६४-४९ वाली प्रसिद्ध ऋचा का उच्चारण करते हैं (इसका अर्थ मेरे 'वैदिक योगसूत्र' में देखें)। ये सब वर्णनायें अन्तर्ब्रह्माण्डीय जगत् या समाधिस्थ योगी की समाधि की है, जिनका अभिनय लौकिक बालक के जन्मोत्सव द्वारा इस प्रकार मनाया जाता है।

अब सूतिका ग्रह और बालग्रह शान्ति के लिए तण्डुलमिश्रित सर्षप का होम तथा शुनक देवता सम्बन्धी कुछ लोक गीतों का गान करते हैं। सर्षप होम और

शुनक देवता के मन्त्रों की शब्दावली विशेष ध्यान देने योग्य है। पहले सूतिका रक्षार्थ कुम्भस्थापन करके कहते हैं :—हे आपः तुम देवताओं में जागृत रहती हो, जिस प्रकार देवताओं में जागृत रहती हो वैसे ही इस पुत्र सहित सूतिका के लिए जागृत रहो। होम के मन्त्र ये हैं :—

*"शण्डा मर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः।
मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यादितः स्वाहा ॥
आलिखन्ननिमिषः किं वदन्त उपश्रुतिः।
हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिः।
हन्त्रीमुख सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥"

शुनक देवता जप के मन्त्र ये हैं :—

"ॐ कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः।
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरः ॥
तत्सत्यं यत्ते देवा वर मददुः कुमारमेव वा वृणीथाः।
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो तपेतापह्वर ॥
तत्सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्याम शबलौ भ्रातरौ।
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर ॥"*

अन्त में

'न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति।
यत्र वयं वरामो यत्र चाभिमृशामसि ॥'

(इसका अर्थ स्वतः स्पष्ट है) मन्त्र से बालक का अभिमर्श कर उसकी नाल को आठ अंगुल छोड़कर काट देते हैं। ये सब बाह्य लौकिक कृत्य हैं।

---

* इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—सड़ाने वाले, मारने वाले, उपघात करने में वीर, शराबी, ओखली के समान कूटने वाला, अतिमलिन, पेड़ के खोखले के समान नाक वाले, इन्द्रिय से पतित स्वभाव का बालग्रह यहाँ से नष्ट हो जावें। सर्वतः खोदने वाला, निरन्तर चौकसी से देखने वाला, जनों में प्रसिद्ध अपकीर्तिमय, पीली, आँखवाला, स्तम्भन वाली (कुम्भवत्), बालशत्रु, खर्परधारी, नरहिंसक, हिंसामुखी, सरसों के समान लालरंग वाला, प्रकृतिभ्रष्टकारी बालग्रह यहां से नष्ट हो जाय। हे शुनक (कुत्ते) भषण नामक (कूर्कुर) अतिभषण नामक, बालबन्धन नामक, सीसर (अंग्रेजी में Scissors नामक कुत्ता दाढ़) दाढ़ वाला, भूकने वाला, चेच्चेत् शब्दकारी, बालग्रह को यहाँ से भगा दो। हे शुनक! देवदूत!! तुमने कुमार की रक्षा का वरण लिया है, देवताओं ने तुम्हें यही वर दिया है यह सत्य है। यह भी सत्य है कि तेरे पिता सीसर हैं माता सरमा है भ्राता श्यामशबल दो हैं। शुनक सम्बन्धी ये मन्त्र प्राण रूप शुनक के हैं जिसकी माता सरमा है। अतः यह प्रार्थना नित्य जागृत रहने वाले प्राण रूप शुनक की ही समझनी चाहिए।

अध्याय १७९

अक्षर-स्वीकार और विद्यारम्भ

अक्षर स्वीकार कर्म में कोई रहस्य मिले या न मिले, पर इन अक्षरों में स्वयं वैदिक दर्शन का रहस्य स्थायी रूप से निहित है। इस तथ्य को न जानने के कारण आजकल लगभग दो दशक वर्षों से इन अक्षरों की ब्राह्मीलिपि या वर्णसमाम्नाय की संख्या और स्वरूप में परिवर्तन की चेष्टायें, पाश्चात्य अंग्रेजी आदि की अ वैज्ञानिक पर संक्षिप्त वर्णमाला के टाइप और छापे की सुविधाओं की अनुकृति के लिए, करने का बहुत बड़ा प्रयास कई अपूर्वदर्शी और अदूरदर्शी नेता, करते दिखाई देने लगे हैं। संसार की कोई भी लिपि इस परमवैज्ञानिक ब्राह्मी वर्ण समाम्नाय की किसी प्रकार तुलना या प्रतिद्वन्द्विता के लिए खड़ी ही नहीं हो सकती। अन्य लिपियों में लिखा कुछ जाता है और उसे पढ़ा कुछ और ही ढंग से जाता है जिस का हमारी इस ब्राह्मीलिपि में नितान्त अभाव है। इसमें जैसा ही लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा भी जाता है, इसी का नाम वैज्ञानिकता है। यह लिपि वैज्ञानिक ही नहीं परम दार्शनिक भी है। हमारे यहाँ 'अक्षर' नाम स्वयं 'परम ब्रह्म' का है; 'अक्षरं ब्रह्म परमं' (गीता ८-३) और 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता १५-१६)। ब्रह्म की उत्पत्ति इसी अक्षर से होती है—'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्' (गीता ३-१५)। इस अक्षर ब्रह्म या परमब्रह्म का विकास जिन जिन सीढियों में होकर उत्तरोत्तर चलता है उन सीढियों का नाम भी अक्षर ही है। प्रत्येक सीढी एक एक अक्षर है। परमब्रह्म विकास के मुख्य दो भाग हैं (१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। इनमें से पूर्वार्द्ध में १६ स्वर ८ उष्माण आते हैं। ये २४ अक्षर पूर्वार्द्धीय और त्रिपादामृतीय कहलाते हैं। उत्तरार्द्ध में भी पाँच व्यञ्जनवर्गों के २५ अक्षर आते हैं। मध्यवर्ती २५ वाँ सूर्य आदित्य सविता सोम विष्णु इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। यह सारे पूर्वार्द्धीय अक्षरों १६ स्वरों आठ ऊष्माणों का अ+उ+म् रूप एक समाहार है और तभी इसे ॐ कहते हैं। इस प्रकार हमारे वर्णसमाम्नाय में बैदिक दर्शन का पूर्ण ढाँचा सदा के लिए सुरक्षित करके रखा गया है। इस लिपि का नाम ही इसीलिए ब्राह्मी या ब्रह्म विकास सम्बन्धी और वर्णसमाम्नाय या वेद रूप वर्णावली दिया गया है। जो लोग इस तथ्य से परिचित नहीं है वे इसमें परिवर्तन करने का पाप मोल ले सकते हैं। वे हमारी संस्कृति के कुठाराघाती ही कहे जाने चाहिए। अक्षर स्वीकर कर्म ही से ब्रह्मस्वीकार कर्म चलाने की प्रथा कितनी दूरदर्शिता पूर्ण है इसे समझने वाले ही समझ सकते हैं। इसीलिए इस कर्म का सर्वश्रेष्ठ महत्त्व है। इस वर्णसमाम्नाय का एक और नाम अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में 'ॐ नमः सिद्धं' भी है, इसीलिए वर्णों का उच्चारण करते समय इस नाम का भी उच्चारण करते हैं। इस वर्णसमाम्नाय के ५० अक्षरों की संख्या के ५० विद्या प्रवर्तक गणेशादिकों का स्थापन पूजन आवाहन आदि करते हैं। इन्हीं के नाम से हवनादिक भी प्रायश्चित्तीय देवताओं के साथ साथ करते हैं। इस अग्नि का नाम पुष्टिवर्धन है। गुरु सरस्वती की वन्दना करके अक्षर स्वीकार और विद्यारम्भ का कर्म प्रारम्भ करते हैं।

अध्याय १७६

षोडश संस्कार

यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने संस्कारों की संख्या सोलह दी हैं पर मुख्य संस्कार तो दश ही हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड पद्धति को पर्वतीय देशों में दशकर्म पद्धति कहते भी हैं। सोलह संस्कारों के नाम ये हैं :—

"गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्न-प्राशनं बपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भ क्रिया विधिः।
केशान्तः स्नान मुद्वाहो विवाहाग्नि परिग्रहः ॥
त्रेताग्नि संग्रहश्चेति संस्काराः षोडशस्मृताः।"

इसमें बपन क्रिया प्रथम मुण्डन कर्म का नाम है, व्रतादेश उपनयन का और स्नान समापवर्तन का। इनमें से गर्भाधान पुंसवन सीमन्त, और जातकर्म का विवेचन किया जा चुका है। शेष नामकर्म, निष्कमण, अन्नप्राशन मुण्डन, कर्णवेध और ब्रतादेश (उपनयन) पर आगे लिखा जायेगा। विवाह पर पहले लिखा जा चुका है, इसके पहले याग विभाग में विवाहाग्नि परिग्रह और चिताग्नि संग्रह (गार्हपत्य आहवनीय और अन्वाहार्यपचन) का वर्णन या विधान दे दिया गया है। कुछ आचार्य वेदारम्भ से लेकर त्रेताग्नि संग्रह तक के छहों कर्मों को श्रौतस्मार्त पुरुषार्थ और अग्नि होत्रादिक के लिए आवश्यक होने से संस्कार नाम से पुकारते हैं। वास्तव में इससे पूर्व के शेष दश कर्मो में ही संस्कारातिशय विशेष रूपता होने से इन्हीं दश कमों को प्रधान संस्कार समझा जाता है। कई आचार्य केबल आठ ही कर्मों को प्रधानता देते हैं। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों में कर्णवेध का नाम भी नहीं मिलता। इसको नवीनाचार्यों ने जोड़ा है ऐसाप्र तीत होता है। विरक्त का तो विवाह ही नहीं होता। उसके लिए समावर्तन तक के ही कर्म हो सकते हैं। स्त्रीशुद्रों के लिए विवाह ही उपनयन का स्थानीय संस्कार है, उनके कर्णवेधान्त नौ संस्कार मन्त्र रहित ही किए जाते हैं; पर विवाहमात्र (शूद्र को छोड़कर) समन्त्र करते हैं। इसीलिए

"अष्टौ संस्कारकर्माणि गर्भाधानमिव स्वयं पिता कुर्यात्"

वचन से मुख्य संस्कार तो आठ ही हैं। इसके लिए प्रथम दश मध्ये वपन और कर्णवेध छोड़ देना पड़ेगा क्योंकि कर्णवेध की चर्चा पहले के ग्रन्थों में नहीं मिलती और मुण्डन उसी का अंग है, ये प्रायः नापित कर्म हैं।

वैदिक रहस्य की दृष्टि से प्रथम चार और विवाह कर्म में—जिनका अब तक विबेचन दिया जा चुका है—यह रहस्य प्राप्त होता है। अन्य सभी संस्कार बालक को वेदाध्ययन के योग्य पात्र बनाने के लिए आर्यों में जो अपनी अभूतपूर्व आश्रम विभागीय संस्कृति थी उसी के अनुरूप आजकल मात्र लौकिक अभिनय किया जाता

है, उन दिनों ऐसी व्यवस्था साकार रूप में थी। अतः आगे के नामकरण प्रभृति संस्कारों में वैदिक दर्शन के रहस्यों को खोजने के स्थान वैदिक आर्यों की संस्कृति प्रथा परम्परा प्रभृति की खोज करना अधिक संगत होगा। और इन आगे दिए जाने वाले या पीछे वर्णित सभी संस्कारों में प्रारम्भिक स्वस्तिवाचन गणेशपूजन से नवग्रह याग पर्यन्त कर्मों को तो वैदिक दर्शन के रहस्यों की अनुभूतियों के लिए अनिवार्थतया किया ही जाता है। ये ही कर्म प्रधान है, अन्य संस्कार कर्म तो इनको करने के नैमित्तिक बहाने मात्र हैं।

अध्याय १७७

नामकरण प्रभृति

नामकरण नामक कर्म सभी धर्मावलम्बियों को किसी न किसी रूप में या विधि से वालक को नाम देने के लिए करना ही पड़ता है। हमारी पद्धतियों के अनुसार इसे ११ वें दिन करना पड़ता है और इसका मुख्य कर्म पञ्चगव्य प्राशन और पञ्चगव्य होम है। यह प्रायश्चित्त होम के अनुरूप द्यावापृथिवी विष्णु रुद्र आपोदेवी, सविता और प्रजापति के लिए किया जाता है। तब दो या चार अक्षरों का घोषवदादि नाम रखते हैं। कन्या का नाम विषमाक्षर संख्या में स्त्रीलिङ्ग में रखा जाता है। नामान्त में वर्णानुरूप शर्म वर्म गुप्त पद जोड़ा जाता है। नाम का चुनाव इष्ट देवता के नाम से करते हैं जिससे उसका नाम बराबर लिया जाता रहे। यही मुख्य लक्ष्य है। होम में उक्त देवताओं का सम्बन्ध योग से है शेष सव लौकिक शुद्धि प्रथाओं का अनुसरण है। षष्ठीमहोत्सव भी आजकल छठे दिन सायं मनाते हैं। इसमें स्कन्दप्रद्युम्न षष्ठीदेवी षट्कृतिकाओं—प्रायः सभी पौराणिक देवताओं की पूजा होती है। अतः यह कर्म वैदिक प्रतीत नहीं होता। श्रौतसूत्रों में भी इनका उल्लेख नहीं किया गया है। यह उत्तर कालिक कर्मकाण्डियों का नवोद्भावित उत्सव है। इसी प्रकार भूम्युपवेशन और निष्क्रनण कर्म को भी जिसको श्रौतसूत्रों ने क्रम से पञ्चम और चतुर्थ मास में करने का आदेश दिया है, नामकरण के ही दिन,बालक के सूतिकागृह से निष्क्रमण के रूप में कर लेते हैं। इसके पश्चत् भूम्युपवेशन के साथ साथ सूर्योदीक्षण के निमित्त सूर्योपस्थानीय मन्त्र 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताद्' इत्यादि मन्त्र से दूध की अर्घ देते हुए वेदी की परिक्रमा कराते हैं। इस कर्म का आशय नव बाबक को घर से बाहर दूसरे स्थान में चार मास पश्चात् ही, यदि आयश्यक हो तो, ले जाने से हैं। छठे मास में अन्नप्राशन का कर्म 'देवी वाचं जनयन्तो देवाः' इत्यादि मन्त्र से स्थालीपाक के अन्न को चखा कर करते हैं। चखाने का कार्य प्राणों को आहुति देते हुए करते हैं या 'हन्तकार' शब्द कह कर भी। वाक् सिद्धि के लिए भारतद्वाजी का, अन्नाद सिद्धि के लिए कपिञ्जल का, शीघ्र वेग सिद्धि के लिए मत्स्य का, आयुः सिद्धि के लिए कृकषा का, ब्रह्म वर्चस्विता की सिद्धि के लिए आटी का, सर्व कार्य सिद्धि के लिए सबका मांस बालक को खिलाने का आदेश श्रौतसूत्र ने दिया है।

इन कार्यों की विधि में वेदिकी प्रक्रियायें कम है, लौकिक व्यवहार सम्बन्धी ही प्रायः अधिक हैं। अतः इनमें बैदिक रहस्य खोंजना 'अति' होगी। और समाधि में ऐसी अवस्थाओं या क्रियाओं का कहीं अवसर ही नहीं आता। वहाँ इनके नामकरणादिक पहले ही से किए कराये स्वयं सिद्ध हैं। इसी प्रकार का उत्सव 'जन्मतिथि' का है जिसमें मार्कण्डेय प्रभृति दीर्घजीवी ऋषियों, सभी देवताओं ग्रहों षष्ठी

देवी प्रभृति का स्थापनपूजनादिक दीर्घायुष्मत्ता प्राप्ति के निमित्त करके, प्रार्थना मुख्यतः मार्कण्डेय जी की और षष्ठीदेवी की की जाती है, और नवीन वस्त्र धारण, ब्राह्मण भोजन दावत दान दक्षिणादिक कार्य करते हैं। इसी प्रकार के कर्म नवीन पर्यङ्कारोहण और गोदुग्ध पान के कर्म भी हैं इन सब कर्मों में भी जो स्वस्ति-वाचन गणेश पूजन से नवग्रह होमतक सभी कर्म किए जाते हैं उनमें तो वैदिक दर्शन का रहस्य लबालब भरा ही रहता है। अतः ये कर्म तो निमित्त मात्र या बहाने मात्र हैं, इनके मुख्य कर्म गणेश पूजनादिक सरहस्य ही हैं।

———

अध्याय १७८

कर्णवेध

यह कर्म आर्यों की संस्कृति का एक प्रतीक है। वटु का कर्णवेध कर उसमें सोने को कुण्डल पहना कर दो काम साथ साथ चलते रहे। एक तो मुख्याङ्ग मुख की शोभा, दूसरे बालक को गुरु के आश्रम में भेजने में यह कर्णभूषण एक सुरक्षित कोष या धन का कार्य करता रहा; यही लक्ष्य अन्य आभूषणों का भी है। सुख में इनकी शोभा का आनन्द है; विपत्ति या आवश्यकता पड़ने पर इनका उचित उपयोग या विनिमय करके कष्ट निवारण करना या निरापद होना भी एक विश्वस्त आनन्द ही है।

इस कर्म में स्वस्तिवाचन गणेशपूजन से नवग्रह पूजनान्त सभी सरहस्य कर्मों को करके इष्ट देवता वैद्य ब्राह्मण और सौचिक (कान छेदने के लिए सुई वाले) को आमन्त्रित पूजित कर शुभ लग्न में कर्णवेध करते हैं। दाहिने कान को "भद्रं कर्णेभिः शृणु याम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः। स्थिरै रङ्गैस्तुष्टवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देव हितं यदायुः" मन्त्र से और बायें कान को—"वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधिधन्वन् ज्या इय ँ समने पारयन्ती" मन्त्र से अभिमन्त्रित करके छेदते हैं। इन मन्त्रों में कर्णवेधन से सम्बन्ध रखने वाला कोई आशय नहीं है। केवल इनमें 'कर्ण' (कान) शब्द मात्र आ गया है, इसी से इन्हें कर्णवेध का मन्त्र मान लिया है। पहले मन्त्र में लिखा है कि "हे यजनीय देवो ! हम कानों से शुभ समाचारों को ही सुनें, आखों से भी शुभ दृश्यों को देखें, हम स्थिर स्थायी दृढ़ अंगों से तुम्हारी स्तुतियाँ करें जिससे देव निर्धारित सवा सौ वर्षों की आयुः हमें प्राप्त हो।" दूसरे मन्त्र का अर्थ यह है—"यह धनुष की ज्या प्रत्यञ्चा—धनुष में खींची जाती हुई कामिनी स्त्री के समान (अपने) प्रिय सखा के कान का आलिङ्गन करती हुई, अव्यक्त शब्दों में कुछ कहती हुई, और युद्ध में पार लगाती हुई आती है॥" कहने का तात्पर्य यह है कि इन मन्त्रों में भले ही कोई अन्य रहस्य भरे हों, (हैं अवश्य), पर यहाँ कर्णवेध सम्बन्ध का कोई रहस्य इनमें नहीं टपकता। यहाँ इतना ही लक्ष्य है कि कर्णवेध कर्म वेद मंत्रों से करना, वस। इस कर्म के प्रारम्भ में जो गणेश पूजन से नवग्रहों के आवहन तक कर्म अवश्य किए जाते हैं उन्हीं में पर्याप्त रहस्य है, उन्हीं से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इनसे संस्कृति और परिपाटी सुरक्षित हो जाती है।

अध्याय १७९

चूड़ाकर्म उपनयन वेदारम्भ और समावर्तन

चूड़ाकर्म—आज-कल कर्णवेध के दिन ही—जिसके पूर्व दिन स्वस्तिवाचन से नवग्रह होमान्त यज्ञ कर लिया जाता है—क्रमशः चूड़ाकर्म उपनयन वेदारम्भ और समावर्तन सभी कर्म एक साथ कर दिए जाते हैं। चूड़ाकर्म का कार्य कर्णवेध के तुरन्त पश्चात् इसलिए किया जाता रहा कि वटु को ब्रह्मचर्य का आचरण करने के लिए गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता रहा, जहाँ बालों को सँवारने और ढील आदि को निकालने की व्यवस्था नहीं हो सकती थी। और 'शिखा' तो ज्ञानज्योति का एक प्रतीक है। जो ब्रह्मचर्य धारण कर गुरु से दीक्षित होता रहा उसकी ज्ञान-ज्योति की शिखा इस केशों की शिखा के समान उद्दीप्त होती चली जाती रही। यह बात पीछे गायत्री ब्रह्म की व्याख्या में सोद्धरण बताई जा चुकी है। केशों की शिखा ज्ञानज्योति की शिखा की प्रतीक है। उपनयन कर्म को गुरु करते रहे। यह गायत्री ब्रह्म की दीक्षा का प्रतीक है। गायत्री में २४ अक्षर होते हैं तीन त्रिपादामृत के अमृत हैं जिनको गायत्री लाती है। इनको २४+३=२७ सूतों के एक तिपल्ला यज्ञोववीत के प्रतीक से सूचित करके वटु को पहना देते थे। तभी वह गायत्री मन्त्र ग्रहण और वेदारम्भ करने का योग्य पात्र हो सकता रहा। समावर्तन या स्नान का कर्म तो सम्पूर्ण वेदविद्या षडङ्ग सहित प्राप्त समाप्त कर लेने पर, एक और तिपल्ला यज्ञोपवीत (एक जोड़े का एक छःपल्ला यज्ञोपवीत) पूर्ण विद्वान् (योगी) होने के प्रमाणपत्र के रूप में पहनाकर, घर लौटने के समय दिया जाता रहा। इन सभी कर्मों का एक संक्षिप्त अभिनय, मात्र एक नकल के रूप में या संस्कृति या परिपाटी जीवित रखने के रूप में एक ही दिन में कर दिया जाता है। यही इन कर्मों का मुख्य रहस्य समझना चाहिए। वैदिक रहस्यों में से गणेशपूजन से लेकर नवग्रह होमान्त तक के कर्मों का रहस्य तो इन सभी कर्मों की मुख्यात्मा है ही।

चूड़ा कर्म को चौलकर्म भी कहते हैं। चूड और चूल दोनों शब्दों में 'डलयोर-भेदः' की परिभाषा से अभिन्नता हैं। अतः चूलायाभावः 'चौलः' व्युत्पत्ति से चौल माने भी चूड़ा कर्म ही होता है। इसमें दूसरे दिन एक नवीन वेदी में कुशण्डी होम करके पहले चूड़ाकर्म का प्रायश्चित्त होम करते हैं जिसमें पहले अग्नि वायु सूर्य का होम करके अग्नीवरुणौ, अग्नि; मरुतः स्वर्काः, वरुण और प्रजापति का होम करते हैं। तदनन्तर वटु के केशों के पूर्वरात्रि में अधिवासित या आमन्त्रित केशों के बारह गुच्छों को (एक शिखा, तीन दक्षिण भाग में तीन वाम भाग में और तीन पृष्ठ भाग में, एक उस्तरा और एक कैंची—) समन्त्र भिगो कर एक एक को

समन्त्र सविनियोग करना प्रारम्भ करते हैं। केशों को कुश सहित काटते हैं। उस्तरा का अभिमन्त्रण स्वधिति या फर्शा (पशुओं को मारने के गँड़ासा) के मन्त्र (यजुः ३-६३) से करते हैं। केश छेदन का मन्त्र राजसूय यज्ञ में प्रयुक्त आलम्बायन ऋषि का है:—

"येनावपत्सविता क्षुरेण समस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथासत्॥"

अन्य केशों को 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्र से काटते हैं। दो मन्त्र वामदेव ऋषि के भी उल्लिखित हैं, पर ये तीनों मन्त्र शु० यजुः और ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं हैं। दक्षिणादान से यह कर्म यहीं समाप्त हो जाता है।

उपनयन—उपनयन के लिए एक और नई वेदी में पहले कुशण्डी होम करते हैं। इसके पश्चात् वटु को ब्रह्मचारी वेष के कौपीन लंगोटा को 'येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घत्वाय बलाय वर्चसे" मन्त्र से विनियोग पूर्वक पहचानते हैं। तदनन्तर मेखला बन्धन (कमर में तीन बार लपेट कर) मंत्र सहित करके गायत्री मन्त्र से शिखाबन्धन भी करते हैं। तब यज्ञोपवीत के नव तन्तुओं का पूजन और ग्रन्थित्रय के अधिपति हरिब्रह्मेश्वर तीनों की पूजा करके उसको वटु को सविनियोग समन्त्र पहनाते हैं। फिर मृगचर्म धारण कराके, दण्ड धारण कराया जाता है। पश्चात् सूर्य को अर्घदानार्थ वटु की अञ्जलि पानी से भरा के सूर्यार्घदान और सूर्योपस्थान करते हैं और गुरु वटु के हृदय का आलम्भन करते हुए वटु को देवताओं को सुरक्षार्थ सौंपता है आपोदेवी और सूर्योपस्थान को छोड़कर शेष इन कर्मों के सभी मन्त्र इन्हीं कर्मों के लिए निर्मित किए गए से प्रतीत होते हैं। न जाने किसके रचे हैं नाम तो प्रजापति का दिया है। अब कुमार समुद्भव नामक अग्नि में कुशण्डी होम और उपनयन होम करता है। होम की दक्षिणा गुरु को देने के पश्चात् गुरु वटु को ब्रह्मचर्य व्रत धारण समिदाधान और दिवास्वाप त्याग का आदेश देते हुए, गायत्री की दीक्षा देने के निमित्त लग्नदान कराता है। तब गायत्री मन्त्र का विनियोगीय छन्द पढ़कर शंख घंटा नाद पूर्वक वटु को गायत्री की दीक्षा दी जाती है। इस गायत्री मंत्र के रहस्य और महिमा का विवेचन 'गायत्री ब्रह्म शीर्षक' प्रथम भाग में दे दिया गया है, उसे पुनः देख लें। गायत्री त्रिपादामृत के अमृत कलश को श्येन बनकर लाती है। श्येन के सामने से सर्परूप आसुरी प्राण भाग जाते हैं। अतः अमृत के कलश में लिपटे सर्प रूप आसुरी प्राण श्येन रूप गायत्री के आने पर जब भाग खड़े हुए तब गायत्री उस अमृत कलश को देवताओं के लिए उठा लाई यही इस गायत्री का रहस्य है। पुनः वटु उपनयनाग्नि में समिदाधान और अग्निप्रज्वलन और घृताक्त समिधों का हवन करके मुख विमार्जन और अङ्गाप्यायन (अग्नि तपन) करता है। अन्त में 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' मन्त्र से त्रिपुण्ड्र चन्दन या भस्म का लेप ललाट में करके पहले अग्नि और गुरु का अभिवादन करता है पश्चात् अन्य सभी उपस्थित प्रतिष्ठिप्रतिष्ठितों का।

भिक्षा*—पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाने पर वटु भिक्षा के लिए जाता है। पहले माता से भिक्षा ली जाती है। ब्राह्मण को 'भवति भिक्षा देहि मातः' कहना चाहिए, क्षत्रिय को 'भिक्षां भवति देहिमातः', और वैश्य को 'देहि भिक्षां भवति मातः'। माता को 'सुवर्णं रजतं रत्नं सा पात्रेऽस्य विनिक्षिपेत्' वचनानुसार सोना चाँदी रत्न की भिक्षा देनी चाहिए। यही उस वटु को गुरु के आश्रम में कोष का काम देगा। प्राप्त भिक्षा, इसीलिए गुरु को 'भो गुरो इयं भिक्षा मया लब्धा' वाक्य से दी जाती है जो उसे अपने भोजनार्थ रखने का आदेश भी देता है। पर आज-कल के माता पिता तो इसी कमाई के लिए इस कर्म को करने लगे हैं, इससे काफी रकम मिल जाती है, क्योंकि सभी लोग कुछ न कुछ क्या काफी अवश्य देते हैं।

वेदारम्भ—यह कर्म तो गुरु के आश्रम में गुरु के ही द्वारा कराया जाता रहा। पर ऐसी आश्रम व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने और युग-युग में नव-नव शिक्षाप्रणाली के होने या नहीं ही होने से इस कर्म को भी माता पिता एक संस्कार रूप कर्म के नाते इसी उपनयन के दिन ही साथ साथ करते हैं।

इस कर्म की भी पृथक् वेदि होती है। पहले गणेशादि नवग्रहान्त पूजन करके हरि नामाग्नि का स्थापन पूजनादि करते हैं और उसमें समावर्तन होम के लिए प्रजापति इन्द्र, अग्नि, सोम, अन्तरिक्ष, वायु, ब्रह्मा, छन्दः, पृथिवी अग्नि ब्रह्मा छन्दः, प्रजापति देवाः, ऋषयः, श्रद्धा, मेधा सदसस्पति, अनुमति, अग्नि वायु सूर्य अग्नीवरुणौ अग्नीवरुणौ, अग्नी वरुण सविता विष्णु बिश्वेदेव, मरुतः स्वर्का, वरुण प्रजापति और स्विष्टकृत का क्रमशः हवन यजुर्वेदादि क्रम से करते हैं जिनके मन्त्र प्रायः प्रचलित ही हैं। होमान्त में गुरु को दक्षिणा देकर गणेश सरस्वती विष्णु लक्ष्मी स्वविद्या की प्रतिष्ठा पूजन करके पहले अपनी शाखा के वेद का फिर ऋग्वेदादि सभी वेदों के प्रथम मन्त्रों का विनियोग पूर्वक पाठ द्वारा वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इसी समय वटु को वाराणसी को भेजते हैं; यज्ञशाला की परिक्रमा ही वाराणसी जाकर लौट आना माना जाता है। अध्ययन के नियम—आचार्य वटु को बुलावें तो वह उठकर उत्तर दे, सोते हुए बुलावें तो बैठकर उत्तर दे, बैठे-बैठे बुलावें तो खड़े होकर, खड़े होकर बुलावें तो सामने प्रस्तुत होकर, सामने आते पुकारें तो दौड़ते समीप जाकर, उत्तर दे। अन्त में दान दक्षिणा से यह कर्म भी समाप्त किया जाता है।

समावर्तन—समावर्तन का नाम स्नान भी है, इसीलिए इसकर्म के अनन्तर वटु का नाम 'स्नातक' हो जाता है। यह कर्म भी गुरु के आश्रम से विदाई मिलने के अवसर पर गुरु द्वारा ही किया जाता रहा। अब इसे विश्वविद्यालय भी करने

* पाश्चात्य देशों के विद्वान् इस 'भिक्षावृत्ति' को जीवनोपाय रूप स्वीकृति देना अनुचित समझते हैं : इस विषय पर मैंने आगे सत्यनारायण कथा के रहस्य में शतानन्द ब्राह्मण की भिक्षावृत्ति के शीर्षक में पूर्ण प्रकाश डाला है उसे देखने का कष्ट करें।

लगे हैं (सब पाश्चात्य ढंग से) पर सनातनी प्रत्येक बटु को बिना लिखाये पढ़ाये ही निरक्षर भट्टाचार्यों को भी इस कर्म के द्वारा स्नातक की पदवी प्रदान करते ही आ रहे हैं, मात्र परिपाटी की प्रतिरक्षा के लिए सम्भवतः।

इस कर्म में सर्व प्रथम राजपुत्र नामाग्नि में समावर्तन सम्बन्धी होम, वेदारम्भ-बत् प्रधानाहुति देकर, करते हैं जिसमें मुख्य देवता अग्नी वरुणौ होते हैं समिदाधान पूर्वक मुख प्रोञ्छन, त्र्यायुषलेपन करके अष्ट कुम्भों के जल का अभिषेक किया जाता है, फिर सहस्रधारा से। इसीलिए इस कर्म का एक नाम 'स्नान' भी पड़ा है। इसके पश्चात् मेखला का त्याग, आदित्योपस्थान जटाकर्तन दन्तधावन, चन्दन लेपन, पितृ तीर्थ से जल देते हुए अवनेजन, तिलक धारण, सविताजप, वस्त्र, अलङ्कार, पुष्प-माला, शिरोवेष्टन, नेत्राञ्जन, आदर्शदर्शन, छत्रोपानह वेणु दण्ड ग्रहण समन्त्र करके ब्राह्मणादिकों को दानदक्षिणा देकर स्नातक कर्मों या नियमों का श्रवण कराया जाता तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक के लिए सर्व श्रेष्ठ नियम हैं। इस समय सब कर्मों की है। पूर्णाहुति मृडनामाग्नि में देते हैं। गाय के दान के अनन्तर उत्तराङ्ग पूजा करके देवताओं का विसर्जन किया जाता है और घृतच्छाया करके बटु को पुनः गृहप्रविष्ट कराने में द्वारमातृका-पूजा की जाती है। अब स्नातक विबाहित होकर गृहस्थ हो जावेगा।

केशान्त या गोदान नाम—दाढ़ी का प्रथम वपन या पहली हजामत का है। यह कर्म भी चूड़ाकर्म की विधि ही से किया जाता है।

अध्याय १८०

दान रहस्य

बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति ने स्तनयित्नु घोष 'द्दद्द' का आदेश, मनुष्य देवताओं और असुरों को देते हुए संकेतित किया है कि 'दान दया और दम' का निरन्तर अनुष्ठान करो (५-२)। इसमें मनुष्यों को दान, असुरों को दया करने और देवताओं को दम (दाम्यत) या प्रकाशमान होते रहने का आदेश दिया गया है। इसी बात को उत्तरकालीन आचार्यों ने इस प्रकार लिखा है :—

"तपो धर्मः कृतयुगे ज्ञानं त्रेता युगे स्मृतम्।
द्वापरे चाध्वराः प्रोक्ता कलौ दानं दया दमः॥"

श० प० ब्राह्मण ने पहले ही लिखा था 'तदेतत्त्रयं शिक्षेत दमं दानं दयामिति" इनमें से देवधर्म तो दमः या देदीप्यमान रहना उद्दीप्त रहना है (यह इन्द्रियों के दमन से साध्य है जिससे ये देवता दाम्यत या विजली की तरह प्रकाशमान होते हैं। आसुरी प्राणों या असुरों का धर्म दया या अहिंसा है। अतः अहिंसा या दयाधर्म आसुर वृत्ति प्रधान पुरुषों के लिए अतीव आवश्यक है। पर मनुष्व नामक संतुलित बुद्धि के व्यक्तियों के लिए 'दान' ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जैन बौद्धों की 'अहिंसा' या सनातनी "अहिंसा परमों धर्मः" आसुर धर्म है। दान के सम्बन्ध में 'ईशावस्योपनिषद्' या यजुर्वेद (शुक्ल अ० ४०-१) ने भी पहले ही लिख दिया था "त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" कि उस ईश ईशान ईश्वर नामक देव ने जो दान हमें शरीर और शरीरार्जित वस्तुओं के रूप में दिया है उसको देवताओं और संगी साथियों में वितरित करके, बटवारा करके, बाट करके ही उपभोग में लाना उचित है, परायी कमाई का लोभ या आसरा नहीं करना या रखना चाहिए।

गीता ने भी इसी आशय की व्यवस्था उचित ढंग से करके लिखा है :—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो ऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु नः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात्॥"

(३-१० से १२ तक)

"आदि काल में प्रजापति (ईश्वर) ने प्रजा की सृष्टि यज्ञोत्पत्ति के साथ साथ करके आदेश दिया कि इस यज्ञविधि से तुम जीवन यापन करो, यही यज्ञप्रणाली

तुम्हें सभी अभीष्ट फलों और कामनाओं की सिद्धि देगी। इस प्रकार तुम निरन्तर देवताओं की भावमय आराधना करो, जिसे वे देवता तुम्हारी हितकामना करते रहें; इस प्रकार परस्पर आत्मीय भावनामय व्यवहार या प्रणाली से, तुम सब परम कल्याण को प्राप्त होवोगे। यज्ञों के द्वारा सम्मानित सुपूजित समुद्दीप्त देवता तुम्हें अभीष्ट भोगों को प्रदान करेंगे, जो व्यक्ति इन देवताओं के द्वारा दी गई वस्तुओं को इन्हें बिना दिए ही अपने ही भोग में लाता है वह तो निरा चोर है (ईशावास्य के उक्त वाक्य का भी यही आशय है यह ध्यान में रहे)। वह सन्त या धर्मात्मा जो देवताओं की दी हुई वस्तुओं को पहले देवताओं ही को अर्पित करके उसके शेष प्रसाद का भोग लगाता है पाता है वह अपने द्वारा नित्य प्रति स्वाभाविकतया किए गए सभी पापों से मुक्ति पा जाता है, उसके सभी पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं; जो व्यक्ति केवल अपने भरण-पोषण मात्र के ही लिए भोजनादिक पकाता है वह तो केवल पाप का भोग करता है, पापों को ही पकाता या पुष्ट करता है।

इस उद्धरण में प्राणियों और यज्ञों को एक साथ या युगवत् उत्पन्न करने की जो बात लिखी है उसमें एक निगूढ़ रहस्य निहित है। वह यह है कि यह सृष्टि किसी एक शुभ लक्ष्य को लेकर की गई या हुई है। यह शुभ लक्ष्य भी इसी के कथनानुसार परमश्रेयः प्राप्ति ही है। इस 'परम श्रेयः प्राप्ति' के सृष्टि के लक्ष्य की पूर्ति भी परस्पर आदान-प्रदान सहयोग और संघशक्ति से ही सम्भव है। यह लौकिक सफल कृत्यों की सफलता को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दान यज्ञ में दया, दमः तथा इस ग्रन्थ में अब तक वर्णित सभी छोटे बड़े यज्ञ आ जाते हैं। आखिर उन पीछे वर्णित यज्ञों में होता ही क्या है, दान दक्षिणा खान-पान—चाहे आभ्यन्तर जगत् का हो या बाह्य जगत् का—ही तो सर्वत्र वर्णित है। हाँ प्रत्येक के पात्र विधि और देवता या देवताओं में स्वाभाविकतया अन्तर रहना ही आवश्यक है। पात्रों में आभ्यन्तर जगत् में तो विभिन्न प्राण होते हैं तो बाह्य जगत् में उनके प्रतीकी यजमान पुरोहित और अन्य ग्रहादि स्रुवादि बलिदानादि कापालादि। इन यज्ञों में चार प्रकार की दक्षिणाओं का दान होता है। वे हैं "गौर्वासो हिरण्यमश्वः" गाय या बैल, वस्त्र, स्वर्ण और अश्व। इसका रहस्य, मेरे 'वैदिक योगसूत्र' पृष्ठ १६७ और 'वैदिक विश्वदर्शन' भाग २ पृष्ठ ४१० में देखने का कष्ट किया जाय। इस प्रकार सभी यज्ञ—बाह्याभ्यन्तरीय दोनों प्रकार के यज्ञ—दानमय ही दानमय हैं। समस्त सृष्टि और समस्त जीवन आदान-प्रदान या पारस्परिक आदान-प्रदान से ही चलते हैं। अतः इस आदान-प्रदान को ही यदि सौम्य और दैवीभाव से किया जाय तो प्रकोपादिना दान या अपहरण का, बाढ़ भूकम्पादि का प्रश्न ही न उठे। यदि खेत शस्यादि को, वन वृक्षादिकों, बाग फलादिकों, पशु मांस खाल दूध आदि को, पृथ्वी खान पत्थर आदि को न दें तो कोई भी जीवित ही नहीं रह सकता। इसी का आशय है कि यह सृष्टि यज्ञ या दान यज्ञ के साथ साथ युगपत् उत्पन्न होती है। इसीका सदुपयोग यज्ञ है, दूरुपयोग पाप।

दान देने के कई ढंग या रूप हैं। हेतुवः इसके दो भेद (श्रद्धा से दान और

भक्ति से दान) हैं; प्रथम योग्यतानुकूल दिया जाता है; प्रथम में पारलौकिक और द्वितीय में एहिक आनन्द की अधिकता है। दानवस्तु का उचित साधनों से अर्जित होना अनिवार्य है। इन दोनों को प्रेरित करने वाले छह अधिष्ठान हैं—निष्काम, सकाम या फलदान (फलार्थ दान), व्यसन दान (वाराङ्गना सुरा मृगया द्यूत प्रभृति में दान), लज्जावश दान या व्रीडा दान (सभा या दूसरों को देखकर या प्रथा निभाने में दान), हर्षाधिक्य का दान या हर्षदान और भयदान (निन्दा अनर्थ हिंसा के प्रतीकारार्थ डर से देना)। प्रत्येक दान के छह अङ्ग हैं—दाता, प्रतिगृहीता, श्रद्धादिसव, धर्मार्जित पदार्थ, (दान के लिए) देश और काल (जिस देश में जिस समय ऋतु या दुर्भिक्ष बाढ़ भूकम्पादि में जिस जिस वस्तु की आवश्यकता है उसे उस देश में जो दान दिया जाता है उसे क्रमशः दशकदान और कालिक दान कहते हैं अथवा तीर्थादिक यज्ञादिक स्थान हैं, पर्व आदि काल हैं)। ये दान वैयक्तिक और सार्वजनिक दो प्रकार के होते हैं। सार्यजनिक सार्वजनीन दानों को ध्रुवदान कहते हैं। ये दान नैत्यिक और नैमित्तिक दोनों प्रकार के ही होते हैं। सार्वजनीन भी किसी के नाम पर होने से नैमित्तिक हो जाते हैं। इन दानों का फल, स्वयं बखान करने, प्रशंसा करने और अनुताप करने से नितरां नष्ट हो जाता है। परपीडा-कर दान (चोर जार आततायी हिंसक को बुरा काम करने के लिए दिया गया दान) दान ही नहीं है स्वयं निष्फल है। गो भूमि गृह कन्या ज्ञान और विद्या के दानों में से उत्तरोत्तर के श्रेष्ठतर और अन्तिम श्रेष्ठतम है। अन्तिम दो को छोड़कर शेष एक एक को ही दिए जाते हैं। इनमें से (योग सृष्टि मोक्ष) विद्या दान को छोड़कर सब लौकिक दान हैं। अब रहस्यात्मक दानों का विवेचन दिया जाता है। ये दान कई प्रकार के हैं जैसे तुलापुरुष दान, तीन अतिदान गौ (वृष महिषी) भूमि, विद्या(वेदमूर्ति, पुस्तक), दश महादान—गो, भूमि, तिल, सुवर्ण, घृत, वस्त्र, धान्य, गुड़, चाँदी, लवण। दान अनन्त हैं जैसे अश्व, नाग, दासी, रथ, गृह, कन्या कपिला, धेनु, पञ्चधेनु, गज, नवग्रह, उपानह, दधि, धर्मघट भोजन का दान। इनके अतिरिक्त षोडश दान नाम के सोलह अन्य दान हैं। इनके नाम ये हैं :— सुवर्ण तुला पुरुष दान, हिरण्य गर्भ दान, हिरण्य ब्रह्माण्डदान, हिरण्य कल्पपाद दान, हिरण्य गो सहस्रदान, हिरण्य कामधेनुदान, हिरण्याश्वदान, हंसहस्तिरथदान, पञ्चलाङ्गलदान, धरादान, विश्वचक्रदान, कल्पलतादान, सप्तसागरदान, रत्नधेनुदान महाभूतघटदान। इन सबको प्रायः सुवर्ण और रत्नों से बनाकर या रत्न खचित सुवर्ण मूर्ति रूपी में प्रस्तुत कर दान दिया जाता है। पूर्वोक्त साकार दान इनसे पृथक होते हैं और कुछ का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है।

अध्याय १८१

तुला महापुरुष दान महायज्ञ

तुला महापुरुष दान षोडश दानों में शीर्षण्य स्थान रखता है। इसमें यजमान अपने शरीर के भार को विभिन्न द्रव्यों से पृथक् पृथक् या नव ग्रहानुकूल विहित द्रव्यों से तोल कर प्रदान करता हैं। साथ में महापुरुष विष्णु की प्रतिमा को मध्य तुला दण्ड में स्थापित कर उसकी ओर दृष्टि करते हुए अपने को उन द्रव्यों से तुलवाता है। अतः यह तुलामहापुरुष दान कहलाता है। इसकी विधि महायज्ञों के समान ही है। पहले एक मण्डप १०, १२, १६, २० हाथ लम्बा, जैसी सुविधा हो, बनाया जाता है। उसमें एक कुण्ड या पाँच कुण्ड या आठ या नौ तक कुण्ड हवनादि के लिए, एक मध्य में चार चार मुख्य दिशाओं में और चार वि दिशाओं में बनाते हैं। प्रत्येक कुण्ड का स्वरूप भिन्न भिन्न माना गया है; चतुरस्र कुण्ड या चौकोर कुण्ड, योनि (के आकार का) कुण्ड, वृत्तार्द्ध कुड, त्र्यश्रि (त्रिकोण) कुण्ड, षडश्रि (षट्-कोण) कुण्ड पद्म (के आकार का) कुण्ड, अष्टाश्रि (अष्टकोण) कुण्ड। मध्य में आचार्य कुण्ड होता है। पञ्चकुण्ड पक्ष में पूर्व में चतुरस्र, दक्षिण में वृत्तार्द्ध, पश्चिम में वृत्ताकार, उत्तर में पद्माकार और ईशान में चतुरस्र या वृत्ताकार। अथवा ब्राह्मणों के चतुरस्र, क्षत्रियों के वृत्ताकार, वैश्यों के वृत्तार्द्ध और शेषों के त्रिकोण कुण्ड होते हैं। स्त्रियाँ यदि यजमान हों तो सभी कुण्ड योनि के आकार के बनाये जाते हैं। 'स्त्रीणां कुण्डानि विप्रेन्द्र योन्याकाराणि कारयेत्' (मत्स्य-पुराण-सनत्कुमारोक्ति)। पचास आहुति के होम में मुष्टिका भर कुण्ड १०० में अरत्नि मात्र, १*०० हस्तमात्र, १०, ०० में दो हाथ, एक लाख में चार हाथ, दश लाख में छह हाथ, एक कोटि में आठ, दस, या सोलह हाथ का कुण्ड होना चाहिए। मण्डप के चारों ओर चार मुख्य द्वार बनाने पड़ते हैं। प्रत्येक कुण्ड में एक दो या तीन मेखला (घेरा) लगाना चाहिए। तुला में २४ देवताओं को प्रतिष्ठित करते हैं, २५ वें महापुरुष को मध्य में रखते हैं। तुलास्तम्भ सप्तस्तम्भ होना चाहिए, दो हाथ गडढे में, पाँच हाथ ऊपर। आधा हाथ ऊपर को छूटा रहना चाहिए, तुलादण्ड साढ़े चार हाथ पर तिरछा रहना स्तम्भों और दण्ड के सिर में कलश होने चाहिए। तुलाफलक भूमि से चार अङ्गुल ऊपर रहना चाहिए। नवकुण्डी तुलादान राजा या क्षत्रिय मात्र के लिए है।

इस यज्ञ में सबसे पहले स्वस्तिवाचन करके, प्रमुख देवताओं को पुष्पाञ्जलि अर्पित करने के पश्चात् भूमि कूर्म और अनन्त का पूजन किया जाता है। तब मण्डप और तुला निर्माण जरके वैकुण्ठ प्राप्ति लक्ष्य से प्रधान संकल्पानन्तर सबसे पहले बिष्णु शिव विनायक की पूजा करते हैं और ब्राह्मण से पूजनपूर्वक यज्ञ करने की अमुमति लेकर गणेश पूजा से कुशण्डी तक सभी कर्मों को क्रमशः करके ब्रह्मा आचार्य ओर ऋत्विजों के वरण के साथ साथ पूर्व द्वार के दोनों बगलों में श्रीसूक्त पवमान सूक्त सुमङ्गलसूक्त, शान्त्यध्याय, इन्द्रसूक्त रक्षोध्न सूक्त के पाठ के लिए दो

ऋग्वेदियों का, दक्षिण द्वार के दोनों ओर रुद्राध्याय, पुरुषसूक्त श्लोकाध्याय, शुक्रिय, मण्डलाध्याय के पाठ के लिए दो शुक्ल यजुर्वेदियों का, पश्चिम द्वार के दोनों ओर वामदेव्य बृहत् ज्येष्ठ, रथन्तर पुरुषसूक्त रुद्रसूक्त आज्यदोह, शान्तिक, भारण्ड साम गान के लिए दो सामवेदियों का, और उत्तर द्वार के दोनों ओर अथर्वणसूक्त, अङ्गिरससूक्त, नीलरुद्र, अपराजिता देवी, मधुसूक्त और शान्तिकाध्याय के पाठ के लिए दो अथर्ववेदी ब्राह्मणो का, सबको, चारों दिशाओं के द्वारपालों के रूप में वरण करके उनसे पूर्वोक्त शान्तिपाठ कराये जाते हैं। यजमान ऋत्विजों का मधुपर्कादि स्वागत करके जलपूर्ण घट को लेकर यज्ञमण्डप की प्रदक्षिणा करता है और पश्चिम द्वार से उसमें प्रवेश करता है। रक्षा विधान के मन्त्रों से पीली सरसों बखेरकर पञ्चगव्य को मण्डप में सर्वत्र छिड़का जाता है। इसके अनन्तर चारों द्वारों के कोणों में क्रम से अग्नि, राहु, बृहस्पति, ध्रुव; समिध, सूर्य मंगल, पृथिवी, अग्नि, शुक्र बुध, वाक्पति, आपः सोम केतु शनि गणपति की प्रतिष्ठा पूजा की जाती है। पुनः चारों द्वारों के दोनों कक्षों में एक एक कलश (कुल आठ कलश) स्थापित करके उनमें बैठने वाले जापक द्वारपाल ऋत्विजों का पूजन करके प्रत्येक में क्रम से ऐरावत इन्द्र, अग्नि, वामनदिग्गज, यम निर्ऋति आञ्जनदिग्गज अग्नि वरुण, पुष्पदन्त वायु कुवेर, ईशान, ब्रह्मा, अनन्त, की पूजा प्रतिष्ठा और माषभक्त बलिदान किया जाता है। साथ साथ प्रत्येक द्वार पर एक एक ऊँची पताका बांस में लगा देते हैं। यजमान सभी देवताओं का ध्यान पूजन करके गणेश पूजा से ग्रहयाग पर्यन्त सभी कर्म क्रम से करके नियुक्त वृणीत द्वारपाछ ब्राह्मणों से विभिन्न (पूर्वोक्त) सूक्तों का पाठ कराता है। इस होम में अग्नि का नाम बलबर्धन है। सूक्त पाठान्तर स्विष्टकृत् होम करके बर्हि होम संस्रवप्राशन और प्रणीता विमोक करते हैं। आचार्य को इस कर्म की दक्षिणा पूर्णपात्र प्रदान करके सभी देवताओं को एक एक करके माष भक्त बलि या दध्यक्षत बलि को (इन्द्र दिग्पाल जिनको पहले हो यह वलि दी जा चुकी है छोड़कर) यह कहते हुए 'साङ्गाय सायुधाय सशक्तिकाय एष सदीपो दध्यक्षत (माष भक्त) बलिर्नमः' 'भो भो (देवता का नाम) एवं सदीपं दध्यक्षत (माष भक्त) बलिं गृहाण सपरिवारस्य यजमानस्य आयुष्कर्ता क्षेम कर्ता शान्ति कर्ता तुष्टि कर्ता पुष्टि कर्ता भव' दे दी जाती है। यजमान द्वारा इस दध्यक्षतादि की बलि दी जाने पर पुनः आचार्य यजमान के साथ इन्द्रादि दिक्पालादि सभी पूर्वोक्त देवताओं को 'इन्द्राय सपरिवाराय एव दध्यक्षत बलिर्नमः' इत्यादि वाक्यों से दध्यक्षत वलि गन्धादि पूजनपूर्वक द्वारा देता है। इसके पश्चात् यजमान तुला में स्थित सभी देवताओं का आवाहन पूजनादिक करके ब्राह्मण से शान्तिपाठ करा कर उसे दक्षिणा देता है। यह सब प्रथम दिन का कृत्य है। रात को सभी को उपवास करने का आदेश है या सायंकाल खाना चाहिए।

दूसरे दिन गणेशादि पूजन संक्षेप से करके कुशण्डी होम पूर्णाहुति होम मंत्राभिषेक करते हैं। यजमान सचैल स्नान करके नवीन वस्त्र धारण गन्धादि विलेपन के पश्चात् तुला की तीन परिक्रमा करके उसका अभिमन्त्रण समन्त्र करता है। तुला

स्थित गोविन्द को पुष्पाञ्जलि चढ़ा कर यजमान पुनः तुला की प्रदक्षिणा करके दाँये हाथ में सूर्य बाये में यम और गोद में इष्ट देवता को लेकर तुला में तुलापुरुष गोविन्द की ओर दृष्टि करके चढ़ता है; दूसरे पलड़े में उसके भार से अधिक सोना झुकता करके रखते हैं। तुला की तथा यजुः १६-३९, ४०, ४१ के मन्त्रों और होमादि अग्नि पुराण के बचनों से प्रार्थना करते हैं। तुला से उतर कर उस सुवर्ण के आधे को आचार्य को शेष को अन्य ऋत्विजों में बांट कर दे देते हैं। आचार्यादि 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि' मन्त्र से उसे ग्रहण करके 'को दात्कामो दात्' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हैं। साङ्गता संकल्पानन्तर सहस्र ब्राह्मण भोजन कराके बिसर्जन कर्म कर देते हैं। तदनन्तर घृतछाया तिलक रक्षाशीर्वादादि मन्त्र पाठ करके शेष बस्तुएँ आचार्य को दे के ईश्वरार्पण करके यजमान स्वयं भोजन करता है ॥ इति ॥ यह भी ग्रहारिष्ट निवारणार्थ तुला पुरुष दान बिना यज्ञशाला बिना कुण्ड और बिना होम के पूर्वाङ्ग करके तुला में ग्रहदान सामग्री रखकर किया जाता है।

इसका रहस्य :– तुला महापुरुष दान, यजमान के भार के बराबर सोना तोल कर दान देना है। सोने का नाम सुवर्ण या हिरण्य है। ये दोनों नाम हिरण्य गर्भ या मौलिक भौतिक प्राण के सूचक हैं। उसका दान लौकिक व्यवहार में तो यज्ञकर्ता पुरोहितों को दिया जाता है। पर पुरो हित नाम आदि ब्रह्म का है, यह बताया जा चुका है, पुरः (=आदि)+हितं (=प्राणाः) =आदि प्राण। योग में योगी यजमान अपने प्राणों या हिरण्मय पात्रों को आदि प्राण को अर्पित करता है, तब यह आदि प्राण अपनी वैष्णवी सोम ज्योति के अमृत से इन प्राणों को सिञ्चित करता है। इधर द्रव्ययज्ञ के पुरोहित मात्र आशीर्वाद देकर चलते बनते हैं। इसीलिए तुलास्तम्भ में विष्णु की सौबर्णमयी प्रतिमा लगाई जाती है। यज्ञमण्डप समाधि मण्डप का प्रतीक है, उसके पाँच नौ या एक कुण्डपञ्चप्राणों या नबप्राणों या एक मुख्य प्राण के प्रतीक हैं जिनमें आसुरी प्राणों का हवन किया जाता है। यज्ञ के पुरोहित दैवी प्राण है, वाक् (अग्नि) होता हैं, चक्षु (सूर्य) अध्वर्यु है, प्राण आत्मा है, प्राण (वायु) उद्गाता) है, मनः (चन्द्रमा सोम) ब्रह्मा है, शेष इनके सहायक ऋत्विज। सूक्त पाठ देवताओं की उद्दीप्ति की क्रियाओं का साधन है, दध्यक्षत (माषभक्त) बलि और दीप का दान देवताओं की उद्दीप्ति का प्रतीक है, हवन योग क्रिया का; कुण्डों के आकार प्रकार प्राणों के आकार के सूचक हैं। स्त्री रूप प्राणों के कुण्ड योनी रूप के इसीलिए बनाये जाते हैं। द्वारपाल दिग्गज समाधि क्षेत्र की सीमा की समीपता के प्रतीक हैं। तुला के पलड़े योग और सृष्टि के दो पहलुओं के प्रतीक हैं। यजमानासनीय पलड़ा सृष्टि है, सुवर्ण भार का पलड़ा योग का। जो जुटा है प्राप्त हुआ उसीका पुनर्दान या क्रमिक लय प्राणों का विलय ही स्वर्ण दान है। इसी दान के पश्चात् ही विष्णु ज्योति के दर्शन (यहाँ तुला में लटकाई मूर्ति के दर्शन) होते हैं। इसीलिए विष्णुकी मूर्ति को इस तुला में रखते हैं।

अध्याय १८२

तीन अतिदान (गोदान भूमिदान विद्यादान)

गोदान (वृषदान और महिषी दान भी)

गोदान तीन अतिदानों में सर्व प्रथम स्थान रखता है। अतिदान माने अत्युत्कृष्ट दान है। इन अत्युत्कृष्ट दानों में भी यह सर्वश्रेष्ठ दान है। यह कर्म सभी शुभ पर्वो तीर्थों यात्राओं जन्म विवाह मरण कृत्यों अशुभ अवसरों (महोल्कापात राहुपर्व दुःस्वप्न) में भी किया जाता है। अर्थात् गोदान कभी भी किया जा सकता है। गाय के अङ्ग प्रत्यङ्ग में विभिन्न देवी देवताओं का निवास माना गया है। गाय का दान पूँछ को ग्रहण कर संकल्प करके किया जाता है। पहले गणेश पूजन से रक्षा विधान तक पञ्चाङ्ग कर्म करके प्रधान संकल्प में २१ पुरुषावली को तारने के लिए, या १४ कुलों के उद्धार के लिए अथवा स्वर्ग प्राप्ति के लिए सकल पाप क्षयार्थ प्रतिज्ञा की जाती है। ब्राह्मण का वरण पूजन करके गाय का वरण पूजन करते हैं। गाय के अङ्ग प्रत्यङ्ग की भी पूजा की जाती है। तदनन्तर गाय के अङ्ग प्रत्यङ्ग के अधिष्ठाता देवताओं का आवाहन पूजन करके पुनः गाय की प्रार्थना की जाती है। तब यजमान गाय की पूँछ को कुश अक्षत जौ से युक्त कर सतत धारा जल से देवतीर्थ से देवताओं का तर्पण करता है. तदनन्तर जनेऊ को माला की तरह पहन कर सनकादि सप्तमनुष्यों का तर्पण लरते हैं (ये सप्ताङ्गिरसों के प्रतिनिधि) हैं। इसके पश्चात् अपसव्य करके द्विगुणित कुश तिल जौ जल से कव्यवाडनलादि सप्तपितरों १४ यमों और अपने पूर्वजों तथा मातामहादिकों का तर्पण क्रम से करते हैं। अन्त में अपने वंश जात सबको संसर्ग प्राप्त सबको, लुप्तपिण्डों, गुरुओं शिष्यों ज्ञाताज्ञातों सबको जलाञ्जलियां दी जाती हैं। तब गोदान का संकल्प करके गाय की पूँछ को ब्राह्मण के हाथ में रख देता है और ब्राह्मण 'स्वस्ति' कहकर गो ग्रहण करता है। ग्रहण के मन्त्र में—

"द्यौ स्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रति गृहणातु।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णोहस्ताभ्यां प्रति गृहणामि।"

कहता है और 'को दात्कस्मा अदात्' इत्यादि कामस्तुति करता है। दान प्रतिष्ठा संकल्प से ब्राह्मण को सुवर्णादि दान दिया जाता है। तब ब्राह्मण गो पुच्छोदक से 'द्यौः शान्तिः' इत्यादि मन्त्र से यजमान का अभिषेक करके आशिष आदि देकर तिलक रक्षादि कर्म करता है। अन्त में यजमान पुनः गाय की तीन परिक्रमा करके ब्राह्मण के गाय ले जाते समय कुछ दूर साथ चलते हुए पुनः गाय की गोमती स्तुति करता है। कुछ अवसरों पर इस गोदान को संक्षिप्त विधि से कर लेते हैं जैसे तीर्थादि में। यहाँ ब्राह्मण का वरण करके गाय की प्रार्थना करके गाय की पूँछ से गोदान करते हैं, गाय के बदले उसका मूल्य दे देते हैं। ब्राह्मण गाय को पूर्ववत्

गृहीत करके मंत्राभिषेकाशीष देने का कार्य करता है यजमान, गाय की परिक्रमा करके उसकी स्तुति गोमती पढ़ता है।

गोदान रहस्य—गायों की निवास भूमि या गोष्ठ या व्रज तो गोलोक या परमपद या विष्णु की निवास भूमि है। यह ऋ० वे० (१-१५४-६) के मन्त्र से स्पष्ट है जिसमें लिखा है कि विष्णु के परमपद नामक स्थान से भूरि शृङ्गों वाली अनन्त गायें निवास करती हैं। ये गायें सचमुच में हमारो जैसी चतुष्पदी या गलकम्बलवती गायें नहीं हैं, वरन् ये तो विष्णु देवता की ज्योति की किरण रूप गायें हैं। विष्णु का परमपद विष्णु की ज्योतियों की किरणों से व्याप्त गोलोक या गोष्ठ या व्रज है, वृष्णि वृष्ण या सोम ज्योति वर्षक विष्णु की किरणों ही भूरिशृङ्गा गायें हैं। पुराणों में गोदान महिमा के वर्णन के अवसरों पर जो कहा गया है कि गोदान करने वाला दत्त गाय की पूँछ को पकड़कर लटकते हुए विष्णु लोक को पहुँच जाता है वह भी इन गायों को विष्णु की किरणें ही सिद्ध करता है। विष्णु ज्योति की किरण रूप गायों की रस्सी या पूँछ को पकड़ कर जाने ही से परमपद या विष्णु लोक या गोलोक की प्राप्ति सम्भव है। विष्णु ज्योति साधना योग साधना है। प्राण योग करते हैं, प्राण विष्णु रूप उत्तम प्राण या पुरुषोत्तम के हाथ में डोरी से जैसे बँधे रहते हैं। वे इसी उत्तमपुरुषीय प्राणबन्धनीय मनोमयी डोरी या रस्सी का अनुसरण करके विष्णु ज्योति या परम पद को प्राप्त होते हैं। इसीलिए गोदान गोपुच्छ को पकड़ कर किया जाता है, उसीसे देवमनुष्य पितृ तर्पण भी किया जाता है। देवताओं पितरों और मनुष्य नामक प्राणों को भी उसी विष्णु ज्योति की लालसा कामना रहती है। ये देवतादि हमारे वैयक्तिक शरीरों और अखिल ब्रह्माण्ड दोनों में एक रूपता से रहते हैं। हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में ये गायें दैवी प्राणों की ज्योतियों के रूप में आसुरी शरीरों के भयंकर कारागारों में बन्द रहती हैं। उनको छुड़ाकर इनके ब्रह्म स्वामी को देना भी गोदान है। यह कार्य भी योग से ही साध्य है। इन भीतरी कार्यों का अभिनय बाह्य दृश्य गायों को ब्राह्मण (ब्रह्म) को देने से पूर्ववत् किया जाता है। वैसे दान कर्म चाहे किसी भी वस्तु का क्यों न हो मनुष्य के माया बन्धन को खोलने वाला है दैवी वृत्ति का है, दैवी वृत्ति लाने में सहायक है। दान का एक अलग आनन्द है, जितना बड़ा दान उतना ही बड़ा आनन्द होता है। यह किसी से छिपा नहीं है।

अध्याय १८३

वृषदान रहस्य

वृषदान 'ककुद्' कन्धे के उच्चतम भाग का स्पर्श करते हुए किया जाता है। वृष नाम इन्द्र बिष्णु रुद्र प्रभृति मुख्य देवताओं का है। 'वृष' शीर्षक देखें। वृषोत्सर्ग नामक वृषदान सृष्टि कारक बीजारोपणार्थ किया जाता है। वृष रथ का वाहक है। इस शरीर रूप रथ का वाहक जो मुख्य प्राण हैं वे हैं 'वृष' उनका दान वृषदान है। इसीलिए शरीर के उच्चतम भाग ककुद् का स्पर्श करते हुए इसका दान दिया जाता है। वृष सोम वर्षण शील देव है सोम ज्योति दैवी ज्योति वर्षक का नाम वृष है। किसी योगी यजमान को ऐसा वृष दे देना कितने बड़े भारी पुण्य या उत्कर्ष का कार्य है। ब्राह्मण को लौकिक वृष दिया जाता है लौकिक शरीर दिया जाता है, ब्राह्मण अपनी योग शक्ति से वृष नामक देवता को आशीर्वाद मात्र से उद्दीप्त कर उस दानी यजमान को दे देता है। दोनों अद्भुत बातें हैं। इन्हीं का अभिनय इस बृषदान कर्म से किया जाता है। यह बृष चतुष्पाद्ब्रह्म और भौतिक शरीर अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतीक है; इसके दैवी रूप में चार पाद धर्म के चार पाद हैं। ये चार पाद 'चत्वारि शृङ्गा' रूप चार सींगों वाले बृषभ के सींग हैं। इसकी प्राप्ति परमपद प्राप्ति है। भौतिक वृष सृष्टि या बाहन है। अतः वृष दान में ब्राह्मण वृष की प्रार्थना में क्रम से निम्न दो मन्त्र पढ़ता पढ़ता है :—

ॐ तीक्ष्ण शृङ्गाय विद्महे धर्मपादाय धीमहि। तन्नो वृषः प्रचोदयात् ॥

धर्मस्त्वं वृष रूपेण जगदानन्द कारकः। अष्टमूर्तें रधिष्ठानमतः पाहि सनातनः ॥

इस दान की विधि में स्वस्ति वाचन से पुण्याहवाचन तक की क्रियायें और ब्राह्मण का वरण करके उक्त मन्त्रों से बृषदान दिया जाता है।

अध्याय १८४

महिषी दान रहस्य

महिषी का दान सीगों को पकड़ कर दिया जाता है। महिषी का नाम तो "गौरीर्मियाय सलिलानि तक्षति' इत्यादि ऋ० वे० (१-१६४-४१) मंत्र की गौरी या आद्या सृष्टि शक्ति रूपिणी महालक्ष्मी या महामाया का है। महिष नाम अग्नि या प्रथम मुख्य प्राण का है, तदनुसार भी महिषी नाम आद्या शक्ति का है, वाक् का नाम भी महिषी ही है। अतः इसकी प्रार्थना में कहते भी हैं :—

"महिषी ब्रह्म सूता च लक्ष्मी रूपेण संस्थिता।
प्रार्थितासि मया देवि यममार्गं निवारय॥"
"इन्द्रादि लोकपालानां या राजमहिषी शुभा।
महिषीदान माहात्म्यात्सास्तु मे सर्व कामदा॥"
"धर्म राजस्य साहाय्ये यस्याः पुत्रः प्रतिष्ठितः।
महिषा सुरस्य जननी या सास्तु बरदा मम॥"

लौकिक महिषी को इसी आद्या शक्ति रूपिणी महिषी का प्रतीक बनाकर दान में दिया जाता है। उधर महिषासुर भी तो इसी महिषी का आसुर पुत्र है जिसका बध भी वही महालक्ष्मी स्वयं करती है। महिषासुर बध आसुर भौतिक शरीर माया शरीर का वध कर विद्या रूप महालक्ष्मी की प्राप्ति है। दान के इसी असुर शरीर को त्याग के रूप में दिया जाता है। इसी असुर महिष के शृङ्ग से विष्णु का असुर हन्ता शार्ङ्ग धनुष बना है, लोहे को लोहा काटता है असुरों को असुर शरीरी यह शार्ङ्ग धनुष। इसीलिए इसी शृङ्ग को पकड़ कर इसका दान दिया जाता है। महिष के दान का तात्पर्य असुरता का दान देकर माया के चोगे का दान देकर आद्या शक्ति विष्णु की दैवीमाया में विलीन होना है। विष्णु की माया आपोमय प्राणमय सागर है जिसमें घुलमिल जाना मुक्ति है। इसके दान की विधि पूर्वोक्त वृषदान सम है।

अध्याय १८५

द्वितीय अतिदान—भूमिदान का रहस्य

स्वस्ति वाचनादि पुण्याहवाचनान्त कर्म और ब्राह्मण का वरण करके पहले भूमि का पूजन और स्तोत्रपाठ करते है। संकल्प में स्वर्ग प्राप्ति या शिबपुर प्राप्ति का लक्ष्य करके विष्णु देवत्या भूमि का दान, भूमि की प्रदक्षिणा पुरःसर किया जाता है। मन्त्राभिषेकाशीर्वाद तिलकादि से कर्म समाप्त करते हैं। भूमि को शुक्ल वर्ण चतुर्भुजा बिष्णु दैवत्या बनाया जाता हैं। लौकिक दृष्टया भूमिदान तो आश्रय और अन्नादिक स्रोत होने से सर्वश्रेष्ठ दान है ही। जब तक आश्रित का वंश चलेगा तब तक यह पुण्य कर्म चक्र वृद्धि व्याज से जैसे निरन्तर बढ़ता ही चला जायेगा, इसे कौन मना कर सकता है? वापी कूप तड़ाग धर्मशाला निर्माण भी इसी प्रकार के फल देने वाले हैं! इसीलिए इसकी गिनती अतिदानों में की गई है। भूमि दान ब्राह्मण को दिया जाता है। ब्राह्मण ब्रह्म का प्रतीक है। भूमि हमारे शरीर की ही प्रतिनिधि है। हमारा अपनी शारिरिक भूमि को ब्रह्म रूप ब्राह्मण को अर्पित करना भला कितने बड़े भारी पुण्य और सौभाग्य की तथा आनन्दोल्लास की घटना होगी। हमारी शारीरिक भूमि यह देह नहीं, इस देह की मनोब्रह्माण्डीय ज्ञानमयी ज्योतिर्मयी भूमि है जिसे अन्तर्ब्रह्माण्ड या आत्मा कहते हैं। इसकी आधार शिला का नाम पृथवी है, ज्योति का नाम द्यावा, दोनों मिलकर द्यावा पृथिवी या प्राणो दानौ या अश्विनौ या दक्षक्रतू या मित्रावरुणौ या अग्निषोमौ इत्यादि नामों से पुकारे जांते हैं। इन्हें यदि ब्रह्म रूप ब्राह्मण को—विष्णु को या रुद्र को समर्पित कर दिया जावे तो, भला किस को मुक्ति नहीं मिलेगी। वास्तबिक भूमिदान यही है जिससे मुक्ति तुरत हथेली में आ टपकती है। यही बात पूर्वोक्त गोदान में भी घटित है। इसीलिए भूमि और गो को विष्णु दैवत्या कहा जाता है। ये दोनों तो वास्तविक परमपद की उच्चतम सीढ़ियां हैं।

———

अध्याय १८६

तृतीय अतिदान–विद्यादान (तथा पुस्तक दान)

विद्यादान को तीन प्रकार का बताया हैं, (१) अध्यापन रूप (२) वेद मूर्ति दान रूप और (३) पुस्तक दान। इनमें से द्वितीय तृतीय तो क्रम से वेदों के निर्माता ऋषियों वेदों के प्रधान देवताओं छन्दों और उनके तदनुसारी स्वरूपों तथा अध्ययन निमित्त पुस्तक साधनों के प्रतीकों के दान की बातें हैं। इनसे जो फल मिल सकता है वह इनके स्वरूपों वंशजों विषयों का ज्ञान और अध्ययन सहायक सामग्री प्राप्ति मात्र है। प्रथम से वेदों के मुख्य विषयों और इतिहास का ज्ञान द्वितीय से अध्ययन सुविधा मात्र प्राप्त कराना हैं। परन्तु विद्यादान तो एक बहुत बड़ी भारी वस्तु है। विद्या और अविद्या दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। विद्या का नाम ज्ञान है अविद्या का विज्ञान। इनका विस्तृत विवेचन पहले ही प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में दूसरे अध्याय में दे दिया गया है, पुनः देख लीजिए। विद्यादान वास्तव में वेद विद्या का दान या अध्यापन या शिक्षण प्रशिक्षण है। वेद विद्या में वेदों को सस्वर कण्ठ करने से लेकर उनका वास्तविक रहस्य युक्त ज्ञान प्राप्ति करना अभीष्ट है। वेदों में सैकड़ों विद्यायें हैं, उनका यथोचित रूप से ज्ञान प्राप्त कर उनका प्रायोगिक पक्ष योग और सृष्टि पक्षों का गम्भीर अभ्यास करना या कराना विद्या दान है। यही विद्यादान वास्तव में सभी को मुक्ति प्राप्ति और देवी देवताओं की साकार अनुभूति कराने में समर्थ है। अत- विद्या प्राप्त करने वाले से विद्यादान करने वाले यहायोगी महाज्ञानी महर्षि को अधिक फल प्राप्ति होती है। यह दान अन्य सभी दानों से श्रेष्ठ दान है, क्योंकि यह दान ज्ञान यज्ञ है। सब कर्मों का अन्त इसी ज्ञान दान या ज्ञान यज्ञ में होता है 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते' (भ० गी०)।

अध्याय १८७

दश महादान

सुवर्णदान या हिरण्यदान

सुवर्ण या हिरण्य का दान दश महादानों में—सुवर्ण, अश्व, तिला, नाग (हस्ति) दासी, रथ, भूमि, कन्या और कपिला धेनु (मरणान्त काल में) दानों में—सर्व प्रथम आता है। सुवर्ण दान का माहात्म्य सब दानों से अधिक बताया गया है। दशदान इन दश महादानों से भिन्न हैं। इन दश दानों को मरणावस्था में किया जाता है। इनके नाम ये हैं—सुवर्णदान, तिलदान, आज्यदान, वस्त्रदान, धान्यदान, गुड़दान, रजतदान, लवणदान, पञ्चधेनुदान—पापधेनुदान, ऋणधेनु दान, मोक्षधेनुदान, वैतरणीधेनुदान—और उत्क्रान्ति धेनुदान (प्राणों का शीघ्र निकल जाने के हेतु)—कपिला धेनुदान (एकादशाह के दिन)। इनमें से सुवर्णदान तो प्राणों का दान है। सुवर्ण या हिरण्य नाम आदि प्राण का है। यह अखिल ब्रह्माण्ड इसी प्राणीय सुवर्ण के मौलिक बीज से विकसित हुआ है। शरीर के धातुओं की क्षीणावस्था में इसीलिए परमौषधि भी स्वर्णभस्म या स्वर्णरस ही है और दिया भी जाता है, लाभ भी होता है। आज के वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि सुवर्ण सूर्य की किरणों का एक ठोस पिण्ड है। न्याय में इसे तैजस पदार्थ ही माना जाता है। यह तेजोमय धातु होने से ही अन्य सभी धातुओं से श्रेष्ठ समझा जाता है। यद्यपि आजकल प्लैटिनम नामक अन्य अधिक महँगे तेजोमय पदार्थ (धातु) का पता लग गया है, पर उसके गहने आभूषण रमणीयता में सुवर्ण को नहीं जीत सकते, न बनते ही हैं। यही कारण है कि मनुष्य के मरणान्त काल में उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग में सोना डाला जाता हैं। यह सोना ब्रह्म का ही एक साकार रूप है, अतः देवमूर्तियाँ भी इसी धातु की उत्तम मानी और बनाई भी जाती हैं। इसका दान इसीलिए महादानों में प्रथम है। लौकिकतया सुवर्ण दान माने प्राणाधनदान या अपना धन दान या अपनी सेवाओं के बदले सेवोपार्जित धन दान है। क्योंकि सुवर्ण ही मुद्रा का मुख्य माध्यम रहा है, अब भी है, सदा रहेगा भी। विना सुवर्ण दान के कोई यज्ञ भी सुफल या सफल भी नहीं बताया गया है। सुवर्ण की इस महिमा से इसके दान के कई अन्य स्वरूप भी हैं जैसे हिरण्यगर्भदान, हिरण्य ब्रह्माण्डदान, हिरण्य कल्पपाद दान, हिरण्य गो सहस्र दान, हिरण्य कामधेनुदान, हिरण्य अश्व दान, हिरण्य हस्ति दान, हिरण्य पञ्चलाङ्गल (हल) दान, इत्यादि। हिरण्यगर्भ मूल प्राण है, कल्पपाद सृष्टिवृक्ष है, गो सहस्र विष्णु लोक की ज्योतियाँ हैं, हिरण्य कामधेनु सोमरस गर्भा है, हिरण्याश्व प्राण रूप अश्व है, हिरण्य हस्ति विभु व्यापक भौतिकात्मा है, हिरण्य पञ्च लाङ्गल (हल) सृष्टि और योग कारक विदृति द्वार भेदक पञ्चप्राण और मनोब्रह्माण्ड है। अतः ये सब दान रहस्यात्मकतया सृष्टि और योग के तत्त्वों के प्रतीक हैं, लोक में लौकिक सार्थकता स्वयं स्पष्ट है। सुवर्ण भूषण दान तत्तदङ्गीय प्राणों के प्रतीक हैं। विष्णुदेहोत्पन्न तिलदान, आज्यदान, वस्त्र

दान, धान्यदान, गुड़दान, रजतदान और लवणदान सभी सोमरस ज्योति के प्रतीकी दान हैं। सोम ही विभिन्न अवस्थाओं में इन रक्षादि मूलक ओषधियों या पदार्थों में परिणत होता है। पञ्चधेनु दान और कपिलाधेनु दान का रहस्य पूर्वोक्त गो दान रहस्य ही विभिन्न स्वरूपों में है। दासी नाम वास्तव में दासपत्नी या आसुर प्राणों की देह या पत्नी हैं। ऋ०वे० १-३२-१० में इन्हें 'दासपत्नी अहि गोपाः' नाम से पुकारा है। अतः दासीदान आसुरी दुर्वृत्तियों के परित्याग का सूचक है। इन्हें दैवी मार्ग में रखो तो ये मनुष्य को देवता बना देती हैं सुखी जीवन हो जाता है, लोक में दासी यही कार्य करती है। रथ नाम वास्तव में समाधि शरीर या योगरथ समाधि है। 'प्राता रथो नवो योजि' ऋ० वे० (२-१८-१)। इस रथ का दान समाधि लगाना सिखाना है। यह बहुत बड़ा दान है, पर लोक में लौकिक रथ लोक यात्रार्थ दिया जाता है। समाधि रथ अखिल ब्रह्माण्ड की यात्रा क्षणमात्र भर में कर लेता है। भूमिदान का वर्णन तीन अतिदानों में हो चुका है। गृहदान शरण दान है। धर्मशाला और मन्दिर सार्वजनिक गृहदान ही हैं। गृह नाम योग दर्शन में समाधि रूप गृह का है जिनमें देवताओं की उद्दीप्ति रूप पुत्रों तथा प्राणरूप प्रजा का निवास रहता है। गृहदान में इसीलिए पूर्वाङ्ग कर्मों और कुशण्डी होम के पश्चात् यज्ञ मण्डप में लक्ष्मीनारायण मूर्ति को रख के, दानीय गृह को स्वलङ्कृत कर दुग्ध धारा से अभिसिञ्चित, तिलपात्र से पूरित किया जाता है। तब ब्राह्मण को सपत्नीक शय्या में आसीन करके गृहदान दिया जाना है। सपत्नीक ब्राह्मण लक्ष्मीनारायण का प्रतीक है। शय्यादान गृहदान सम समाधि का ही प्रतीक है यज्ञ मण्डप आसन्दी है। अतः दण्ड छत्र चामर उपानह दुकूल दुशाला धोती, कपड़े सब शय्यादान के अंश हैं। एकादशाह के दिन का शय्यादान भी लक्ष्मी नारायण मूर्ति के साथ ही दिया जाता है। जागृत समाधि रूप ब्रह्माण्ड में सोम ज्योतिसहित विष्णु का ही अधिष्ठान होता है। (लोक में ये लौकिक अभाव की पूर्ति करते हैं), संकल्प भी विष्णुलोक स्वर्ग प्राप्ति का ही करते हैं। अतः विष्णु निद्रा कलश घृतपूर्ण करके शिरस्थान में और वाम भाग में चतुर्वर्ति युक्त दीप चतुष्पाद्ब्रह्म रूप में, अधोभाग में कर्पूरादि वासित क्षीरसागर प्रतीक जलकलश रखा जाता है। यह सामग्री रहस्य का स्वयं ही उद्घाटन कर रही है। कन्यादान का वर्णन हो चुका है। द्विजस्थापनार्थ ग्राम दान भूमिदान सम है या गृहदान तुल्य। कपिलादान एकादशाह के दिन किया जाता है। यह गोदान समान है। नवग्रह मूर्ति दान या नवग्रह रत्नदान प्राणों के सूचक हैं। ग्रह होम प्रकरण देखें। अक्षय तृतीया को धर्मघट दान, माघ में तिल सुवर्ण, कृसर (खीचड़ी)दान, कार्तिक का कूष्माण्डदान, यमदीपदान, विष्णुदैवत्य होने से विष्णुलोक से ही सम्बद्ध है।

गृह निर्माण कर्म रहस्य

गृह निर्माण कला का नाम वास्तुकला है। वास्तुकला पाँच ललित कलाओं में अन्तिम है, अन्य चारों के नाम काव्यकला, संगीत कला, चित्रकला और मूर्तकला हैं। वास्तव में प्रथम ललित कला वास्तुकला ही है, शेषों में से, संगीत कला काव्य

कला दोनों का साथ साथ, चित्रकला मूर्तकला दोनों का प्राय; साथ साथ, विकास होना मनुष्य जीवन के विकास के अनुकूल प्रतीत होता है। खोहों खड्डों पर्वतों के चट्टानों में ही वरण्डे से बने स्थानों (उड्यारों) में निवास करते हुए मिट्टी पत्थर और ईटों के गृहों का निर्माण क्रमशः होने लगा होगा। वेदों के संगीत और काव्यमय, अन्तर्जगदीय चित्रमय बहिर्जगदीय मूर्तिमय प्रसाद को तो एक बहुत उच्चकोटि की समृद्ध सभ्यतामय आर्यजन जाति ने निर्मित किया था। उनके समय में हर्म्य (राजसीमहल) थे यह इसी गृहनिर्माण के अधिष्ठाताादि देवता वास्तोष्पति के वर्णन से स्वयं सिद्ध है, शेष के लिए मेरे में 'वैदिक योगसूत्र' प्रथम अध्याय को देखें।

गृह निर्माण खेमा या तम्बू लगाकर दूसरे दिन उखाड़ने के लिए नहीं वरन् कई युगों पुस्तों पीढ़ियों के निवास की व्यवस्था करना है। स्थान का चुनाव ज्योतिष और भूगर्भ विज्ञान प्रकृति विज्ञान से इस प्रकार किया जाता है जिससे वह मंगलकारी हो, अग्निभय स्खलनभय, श्मशानमय, बाढ़ पीड़ाभयों से हीन हो और सुविधा जनक हो, यह प्रथम कर्तव्य है। ऐसे स्थान का अभिषेक वास्तोष्पति सहित सभी देवी देवताओं की प्रार्थना मन्त्रों से किया जाता है। तदनन्तर इन देवताओं और सभी मुख्य वैदिक पौराणिक महर्षियों का पूजन करते हैं, साथ में गृह निर्माण स्थान का सूत्र द्वारा माप करके उसके प्रत्येक कोण में अधिष्ठित इन्द्रादि लोकपाल अधि देवता प्रत्यधिदेवताओं को ग्रहयागान्त में दी जाने वाली दध्यक्षत बलि की रीति से बलियां और दीप दान देते हैं, मध्य में वास्तोष्पति और क्षेत्रपाल को, जिन्हें गृह निर्माणान्त में छत में रखा जाता है। इनका विधिविधान से हवन भी कर लेते हैं।

गृहनिर्माण मन्दिर निर्माण है। प्रत्येक व्यक्ति या परिवार ब्रह्म या प्रजापति का परिवार है। यह गृह उनका शरीर है संरक्षक पिता माता हैं। एक मञ्जिल हिरण्यगर्भ रूप है, दो मञ्जिल द्यावापृथिवी रूप, तीन मञ्जिल द्यावान्तरिक्ष पृथिवी रूप, चार मंजिल चतुष्पद्ब्रह्म रूप, पञ्चमञ्जिल पञ्चमुख्य प्राण रूप, षट्मञ्जिल षड्भूमी षट्प्राण रूप सप्तमञ्जिल सप्तप्राण, सप्त लोक सप्तधाम रूप। इसी प्रकार एक दो तीन चार पाँच छह सात कोष्ठों (कमरों) का निर्माण समझना चाहिए। ढाँचा स्वीकृत हो जाने पर सबसे पहले 'शिलान्यास' उत्सव नींव खनने के मंगलमय कार्य से प्रारम्भ किया जाता है। शिला न्यास में पञ्चशिला मुख्यतः होती हैं जो २१, १७, १३, ९ अंगुल दीर्घ, इनके आधे चौड़े, इनके आधे ऊँचे, क्रमशः चार वर्गों के लिए निश्चित की गई है, प्रासाद निर्माण में सभी चतुरस्र और सम होती हैं। इनके नाम नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा हैं जिनमें क्रम से पद्म, सिंहासन, तोरण-छत्र, कूर्म और चतुर्भुज विष्णु की मूर्तियां खुदी होनी चाहिए। इनकी स्थापना के लिए पाँच और उपशिलायें बनाकर पहले भूमि में रख दी जाती है। तब नन्दादि शिलाओं में ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईशान और सदाशिव का आवाहन करके उनको सप्तमृत्तिका, अश्वत्थप्लक्षवट उदुम्बर वेतस मूल रस, गोमूल गोमय, पञ्चगव्य, पञ्चा-

मृत चन्दन, रत्नोदक, सुवर्णोदक, वृषशृंगोदक, तीर्थोदक, गन्धोदक से स्नापित और केसर चन्दन, अक्षत पुष्प माला से विभूषित करके वस्त्र से आच्छादित करते हैं। तब प्रत्येक के आधारगर्त का अभिषेक करते हैं, एक एक करके। इनका गन्धादि से पूजन करके नीराजन करते हैं। वेदि के समीप आकर इनके नामों से हवन करते हैं। वास्तुभूमि के ईशानादि कोणों में उक्त शिलाओं का नामांकन करके पृथिवी की प्रार्थना की जाती है। वहाँ ईशान कोण से रत्नि मात्र गर्त को गोमय से पोतकर सर्पाकार वास्तुपुरुष आटे या अक्षतों से लिखकर उसमें वास्तोष्पति मन्त्र से वास्तु पुरुष की पूजा प्रतिष्ठा करते हैं। तब ईशान कोण में नन्दा का न्यास सुमंगल लग्न स्वस्तिवाचन मंगल गीत वादित्र सहित, देव पितृ ब्राह्मणों को नमस्कार करके, किया जाता है। इसी प्रकार आग्नेय कोण में भद्रा शिला, नैऋत्य में जया शिला, वायव्य में रिक्ता शिला, वास्तु भूमि मध्य में पूर्णशिला का न्यास, प्रत्येक के पास एक एक कुम्भ सहित; किया जाता है। पुनः इन शिलाओं का अन्तिम बार पूजनादि करके कर्म समाप्त करते हैं। गृह प्रवेश कर्म में भी इन्हीं सबकी पूर्वोक्त रीति से पूजा प्रतिष्ठा आवाहन हवन आदि करके शुभ लग्न स्वस्तिवाचन मंगल गीत वादित्र सहित पूर्ण कुम्भ सहित सपत्नीक सपरिवार गृह की प्रदक्षिणा करके घर में प्रवेश करते हैं। हर्षातिरेक में भोजनदान दक्षिणा देते हैं। यही पद्धति जलाशय कूप धर्मशाला मन्दिर प्रभृति की प्रतिष्ठा में अपनाई जाती है।

गृह शिलान्यास और गृह प्रवेश का रहस्य :—जैसा पहले लिखा जा चुका है कि गृहनिर्माण समाधि गृह के अनुरूप किया जाता है वैसा ही विधान इसके कर्मों का भी है। पञ्चशिला पञ्च प्राण हैं, इनके देवता प्राणों के देवताओं के प्रतीक। सभी देवताओं का आवाहन दध्यक्षत बलि दीप दान, और हवनादिक जागृत समाधि के देवताओं की उद्दीप्तियों के प्रतीक हैं। पञ्चकुम्भ भी प्राणोदानादिक पञ्च प्राण हैं। हमारा शरीर भौतिक या वार्त्र है। अतः वास्तुदेवता या वास्तुपुरुष या वास्तोष्पाति का आकार सर्पाकार या वृत्र के अहिरूप के आकार का बनाया जाता है। अन्तर इतना है कि वृत्र आसुरी वृत्ति का है, योगी का शरीर दैवी वृत्ति का। यह दैवी वृत्ति का शेष नाग सहस्रमुख सहस्रफण या सहस्र ज्योतिर्मय वास्तुदेवता या वास्तोष्पति है। क्षेत्रपति इसका प्रजापति है जिसका पूजन आवाहनादिक गृहनिर्माण या गृह प्रवेश दोनों में किया जाता है। गृह के प्रकोष्ठ या मञ्जिलें भी प्राणों या लोकों या धामों के प्रतीक हैं। गृह प्रवेश में इन्हीं में क्रमशः प्रवेश करने का अभिनय लौकिक गृह में प्रविष्ट होकर करते हैं। सपत्नीक सपरिवार गृह प्रवेश सप्राण सदेवता सप्रजापति सप्रजा होकर गृह प्रवेश या समाधिस्थ होने का अभिनय है। आभ्यन्तर यज्ञ के ऋत्विज ब्राह्मण प्राणादिक हैं तो बाह्य यज्ञ के मनुष्य रूप ब्राह्मण। इन्हें और यजमान दोनों को योगी ही होना चाहिए या अभाव में यही बहुत है।

———

अध्याय १८८

शान्ति रहस्य

शान्तियां सैकड़ों हैं। और तो अलग रहे छींक की भी शान्ति करते हैं; विशेषकर यात्रा या शुभकर्मारम्भ करने के समय किसी को छींक आजाने पर; होता तो वही है जो होना निश्चित है। नियति तो नियत ही रहती है। पर किसी कार्य या वस्तु को जब बुरा कहा या माना जाने लगा है तो उसकी शान्ति न करने पर मन को सदा खटका लगा रहता है कि न जाने क्या न हो बैठे? अतः यह शान्ति मनः की शान्ति के लिए परम आवश्यक है। सद्भावना से की जाने वाली इस शान्ति की प्रार्थना या विधि का कुछ न कुछ शुभ फल होना तो निश्चित और आवश्यक है। क्योंकि पूजा प्रार्थना में बहुत बड़ी भारी शक्ति है; यह पत्थर को भी पिघला सकती है, वज्र को भी रोक या विदीर्ण कर सकती है। इन शान्तियों में पूजा प्रार्थना छोड़कर और है ही क्या? यदि ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण हुआ योगी हुआ तो उसका (आशीर्वाद) वचन कभी असत्य भी नहीं हो सकता। अतः आवश्यक घटनाओं में सच्चे ब्राह्मण द्वारा शान्ति करा लेना व्यर्थ नहीं, सार्थक ही है। फिर भी यदि मन का खटका बलवान् ही हो जाय तो इन कार्यों से वि त होना ही परम शान्ति है।

गोमुख प्रसव—अश्लेषा और मूल नक्षत्रों में बालक जन्म की शान्ति में 'गोमुख प्रसव' विधि से शान्ति की जाती है। इन दो नक्षत्रों में से मूल के प्रथम द्वितीय तृतीय चरणों में जन्म लेने वाले बालक के क्रम से पिता माता धन का नाश होता है, चौथे चरण में शान्ति से शुभ, अश्लेषा में ठीक इसके उलटे चौथे में पिता का तीसरे में माता का दूसरे में धन का नाश, प्रथम में शान्ति से शुभ होता है। विवाह होने पर पिता के स्थान में श्वसुर और माता के स्थान में सास की तुरन्त मृत्यु हो जाती है यह तो निर्बिवाद सत्य है। जिस के लिए बालक अरिष्टकारी है उसको इस बालक का मुख तक नहीं देखना चाहिए, किसी अन्य को दे देना चाहिए। गोमुख प्रसव से पुनर्जन्म मानकर ही इस बालक को घर में रखा जा सकता है। यद्यपि अश्विनी पुष्प मघा चित्रा और रेवती में जन्म लेने वाले बालक की भी शान्ति बताई गई हैं पर इन दो ही नक्षत्रों में जन्म लेना अधिक अरिष्टकारी होता है। गोमुख प्रसव अश्लेषा के तृतीय चतुर्थ और मूल के प्रथम द्वितीय चरणों में जन्म लेने वाले बालक का नाम कर्म के दिन करते है, शेष चरणों में जन्म लेने वाले की नक्षत्र शान्ति मात्र की जाती है।

प्रत्येक शान्ति कर्म में पूर्वाङ्गीय पञ्चाङ्ग कर्म पहले कर लिए जाते हैं। गोमुख प्रसव विधि में सबसे पहले भूमि को लीप पोत कर उसमें एक मन धान रखते हैं। उसके ऊपर एक नया शूर्प रखा जाता है, उसमें रक्त वस्त्र बिछा कर तिलों से भरते हैं। बालक को इन तिलों के गर्भ में पूर्वाभिमुख सुलाते हैं। तब शूर्प सहित

बालक को लाल तागों से जाल की तरह लपेटते हैं और गाय के मुख के पास लाते हैं। इससे बालक का जन्म गाय के मुख से मान कर 'विष्णु योनि' सूक्त का पाठ करते हैं। फिर बालक को पञ्चगव्य से स्नान कराकर गाय के सर्वाङ्गों से स्पृष्ट करते हैं। बालक की मां गाय के नीचे बैठती है उसे पुरोहित बालक को अर्पित करता है। मां बालक को गोमुख पर्यन्त लाकर पति को देती है फिर पिता उसे मां को देता है। माता तब उसे नवीन वस्त्र में रखती है। अब पिता उस बालक के मुख को देखता है, पहले नहीं। पुरोहित बालक का अभिषेक पञ्चगव्य से करता है और 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' मन्त्र पढ़ते हुए पिता पुत्र को माता को देता है। इसके पश्चात् आचार्य विष्णु वरुण इन्द्र की मूर्तियों को कलाशान्तर में स्थापित कर इनको पूजापाठ हवन 'तद्विष्णोः परमं पदं' 'आपोहिष्ठा' 'अप्सुमे सोम' 'अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां' मन्त्रों से करता है। यह कर्म अश्लेषा मूल के पितृ मातृ कष्टकारी चरणों में जन्म लेने पर ही किया जाता है। नक्षत्र शान्ति इसके पश्चात् करते हैं।

मूल शान्ति में सात कलश स्थापित करते हैं। छह में से प्रत्येक में रुद्र प्रतिमा रखकर उन्हें क्रमशः स्पर्श करते हुए रुद्र जप पाठ होम करते हैं, तदनन्तर निर्ऋति (मूल नक्षत्र) सप्तम कुम्भ में निर्ऋति प्रतिमा रखकर निर्ऋति और सभी नक्षत्रों की पूजा-पाठ जप होम करते हैं। इन्द्र तोय और पितर ग्रह, अधिदेवता, प्रत्यधि-देवता तथा अन्य देवताओं का आवाहन पूजन आदि करके द्रव्यत्याग पुरःसर सब के लिए हवन किया जाता है। अन्त में अभिषेक तिलक विसर्जन महानीराजन करते हैं। अश्लेषा शान्ति सर्प शान्ति है। इसकी विधि भी प्रायः पूर्वोक्त ही है। इसमें रुद्र के साथ सर्पों की पूजा (निर्ऋति के बदले) करते हैं।

प्रथमोर्ध्वदन्तजनन, सदन्तजन्म, पित्रादिनक्षत्र जनन, यमलजन्म, त्रिक जन्म, अमावस्या जन्म गण्डान्त उत्तरा तिष्य चित्रा पूर्वाषाढा रेवती नक्षत्र में जन्म, कार्तिक दृष्ट्राजन्म विकृत प्रसव, प्रभृति की शान्तियों में भी लगभग यही विधि प्रयुक्त होती है। घर में उल्लू, कङ्क, कपोत, गिद्ध, वाघ के प्रवेश में, घास फूस जमने, वामी लगने में, आसन शय्या यान के भङ्ग में, पल्लीपतन काकादिपक्षी विष्ठा पतन, काकसर्प मैथुन दर्शन; सर्पयुग्मदर्शन, सारमेय प्रवेश (हड्डी लेकर भूकते घर में घुसने पर) भी इसी प्रकार की शान्ति करते हैं।

ये सब शान्तियाँ मनः की शुद्धि के लिए की जाती हैं। हवनादि विधिवत् इनका भी रहस्य है। ये सब दैवी रहस्य हैं। इन दैवी रहस्यों के अरिष्टों की शान्ति से मनः की शान्ति करते हैं। जो इन्हें नहीं जानते, नहीं करते, दैवीप्रकोपों को खुली छूट देते हैं, कि जो चाहो सो करो या होने दो। इस प्रवाह में वहने से यह कहीं अच्छा है कि अरिष्ट नाशकी शान्ति करलें। बड़े बड़े अरिष्टों की ओर तो अधिक ध्यान देना आवश्यक है पर पूर्वोक्त उल्लू कङ्क पक्षी के गृह प्रवेशादि की शान्ति करना समझदारों के मन में भी अशान्ति फैलाने वाला है।

अध्याय १८६

व्रत, पर्व और त्यौहार

आर्य वंशीय महर्षियों की संस्कृति सनातनी संस्कृति है, आज की नहीं, प्रागैतिहासिक काल ही की नहीं, अप्रागैतिहासिक काल की, आर्य वंश के आदि आदि काल की, कम से कम आज से दश पन्द्रह हजार वर्ष पहले की, सर्वाङ्गीणतया समृद्ध दार्शनिक साहित्यमय वैदिक संस्कृति हैं जिसमें जो कुछ भी आचार, विचार, जीवनमय पद्धतियाँ, कर्म, पञ्चमहायज्ञ अनेक प्रकार के संस्कार, अनेक प्रकार के कर्म पञ्चमहायज्ञों के अनन्त भेद, नाना प्रकार के व्रत, दान, पर्व, त्यौहार शान्ति, भोजन पोशाक आभूषण व्यवहार शील चरित्र ब्रह्मचर्यादि आश्रम, विभिन्न प्रकार के जीवन क्षेत्रोपयोगी मूलभित्तिक परामर्श, आदेश उपदेश विधि विधान प्रभृति का विवेचन अङ्कन वर्णन या आकलन है वे सब दैवी वृत्तियों सार्वजनीन मङ्गल कामनाओं, सर्वभूतहिते रत भावनाओं का एक अक्षय अक्षुण्ण अविनाशी जगममाते ज्योतिर्मय भण्डार का साकार स्वरूप है। इस अलौकिक संस्कृति के निर्माता कोई एक व्यक्ति नहीं, इतने अनन्त काल में उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई आई है कि कई निर्माता ऋषियों के नाम गोत्र वंशादि को भी भूल चुके हैं। कर्मकाण्ड ने बड़ा भारी काम किया है। कुछ चुने और प्रसिद्ध महर्षियों की जयन्तियों को यह व्रत और त्यौहारों के रूपों में अब तक स्थायी रूप से सुरक्षित रखे हुए हैं। वर्ष में ३६५ ही तो दिन होते हैं और संस्कृति के उन्नायक हैं हजारों लाखों। जिनकी इस प्रकार जयन्तियां नहीं मनाई जातीं उनके नाम संस्कारों पञ्चमहायज्ञों दानों शान्तियों में किसी न किसी रूप में आ जाते हैं। जिनकी जयन्तियां व्रत उपवास त्यौहार रूप में पर्व रूपों में मनाई जाती हैं उनके पूजनादिकों में भी इन शेषों में से अधिकांश का नाम आ ही जाता है। जिनके नाम इनमें भी नहीं आते उनका स्मरण महाभारत रामायण पुराण, माहात्म्य, कथा गाथा प्रभृति के उत्सवों के आयोजनों से पूर्णरूप से हो जाता है। इस प्रकार अभी तक हमने अपने संस्कृति निर्माताओं को किसी न किसी रूप में नित्य ही कभी किसी की कभी किसी की जयन्तियों व्रतों उपवासों त्यौहारों पर्वों के द्वारा नहीं भुलाया है। आगे भगवान् जाने।

हमारी सनातनी संस्कृति के निर्माता साधारण मनुष्य नहीं रहे। उनमें से प्रत्येक भगवान् का साक्षात् और साकार रूप था। वे थे अनूचान शुश्रुवान्त्स योगी ब्राह्मणदेवता और अखिल ब्रह्माण्ड को अपनी योग शक्तियों से हस्तामलकवत् साक्षात् देखते थे, अतः महर्षि या सर्वद्रष्टा कहलाते थे। आजकल ऐसी विभूतियों को अवतार के नाम से पुकारा जाता है। अवतारवाद की व्याख्या इस ग्रन्थ के अगले खण्ड 'पञ्चमवेद पुराणों का रहस्य' नामक ग्रन्थ में दिया जा रहा है, देखने का कष्ट करें। इस प्रकार हमारे पूर्वज वशिष्ट वामदेव गौतम भरद्वाज, कश्यप

विश्वामित्र अत्रि अरुन्धती, वाक् बागम्भृणी, गार्ग्यी, कृष्ण राम भार्गवेय राम जमदग्नि सब इसी प्रकार के अवतार थे। इतना ही नहीं, जो जो नाम देवताओं के हैं वे नाम भी मूलतः ऐसे ही अवतारी महर्षियों के थे, जिसने जिस देवता की अनुभूति आविष्कार पहले किया था उसको उसी अवतारी महर्षि के नाम से पुकारने की एक पद्धति सी प्रचलित हो गइ थी। इस प्रकार इन्द्र देवता का नाम मूल में एक महेन्द्र नामक महर्षि का था, विश्वकर्मा नाम विश्वकर्मा भौवन ऋषि का, रुद्र नाम रुद्र नामक महर्षि का, ब्रह्मा नाम ब्रह्मनामक महर्षि का, विष्णु नाम विष्णु नामक महर्षि का। विष्णु नामक देवता के कई पहलू हैं। त्रिविक्रम विष्णु नाम पहले वामन नामक महर्षि का था, अतः उन्हें बामनावतार नाम से पुकारा जाता है। नारायण नाम पहले नारायण नामक महर्षि का था जिन्होंने सबसे पहले पुरुष नामक यज्ञ और यज्ञ देवता की अनुभूति करके पुरुष सूक्त का निर्माण किया। ऋग्वेद में जो कई (देवताओं के) सूक्तों के निर्माता ऋषि विभिन्न देवता हैं उसका विश्लेषण भी यही है कि अग्नि, वायु आदित्य बासुक इन्द्र प्रभृति नाम मूल में ऐसे ही अवतारी महर्षियों के ही थे; जिन्होंने उन सूक्तों की रचना की भी और इन नामों के देवताओं की अनुभूति भी सर्व प्रथम की थी। ऐसे अवतारी महापुरुष हमारी संस्कृति में अनन्त हो गये हैं जिनमें से आजकल थोड़ी ही संख्या की ऐसी विभूतियों की जयन्तियाँ मनाई जा रही हैं। शेषों के चरित्रों का वर्णन महाभारतादि ग्रन्थों से या स्वयं वेदों में उपलब्ध हैं।

आजकल संवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से माना जाता है। तदनुसार निम्नलिखित चान्द्र पर्वों का उल्लेख मिलता है।

(१)	चैत्र	शुक्ल	द्वितीया को मत्स्यावतार जयन्ती,
(२)	,,	,,	तृतीया को मन्वादि गणगौरी मङ्गला गौरी जन्म
(३)	,,	,,	चतुर्थी को वैनायकी ४
(४)	;,	,,	पञ्चमी को मतान्तर से कल्पादि और मत्स्यजयन्ती
(५)	,,	,,	अष्टमी को भवानी उत्पत्ति दुर्गा ८, ब्रह्म पुत्र स्नान माहात्म्य
(६)	,,	;,	नवमी को राम नवमी राम जयन्ती
(७)	,,	,,	त्रयोदशी को अनङ्ग जयन्ती
(८)	वैशाख	कृष्ण	प्रतिपदा को कच्छपावतार जयन्ती
(९)	,,	,,	अष्टमी को शीतला जयन्ती
(१०)	,,	शुक्ल	तृतीया को अक्षय तृतीया, और परशु राम जयन्ती
(११)	,,	,,	पूर्णिमा को कूर्म जयन्ती, पुष्करा देवी जयन्ती
(१२)	,,	कृष्ण	अमावास्या को वट सावित्री जयन्ती
(१३)	ज्येष्ठ	शुक्ल	दशमी को गङ्गा दशहरा गङ्गा जन्म दिन, रामेश्वर प्रतिष्ठान दिन

(१४) दक्षिणायनीय कर्क संक्रान्ति—वटकाली जयन्ती
(१५) अषाढ़ शुक्ल पक्ष एकादशी को—हरिशयनी एकादशी
(१६) ,, ,, पूर्णिमा को—व्यास जयन्ती गुरुपूजन कोकिला व्रत
(१७) श्रावण शुक्अ पक्ष पञ्चमी को नाग जयन्ती तक्षक (त्वष्टा) जयन्ती।
(१८) ,, ,, पूर्णिमा को वेदोक्त छन्दोक्त ऋषिजयन्ती, उपाकर्म दाक्षायणी रक्षाबन्धन
(१९) भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्ण जयन्ती
(२०) ,, शुक्ल तृतीया को सामवेदियों का उपाकर्म
(२१) ,, ,, चतुर्थी को स्यमन्तक मणि कथा
(२२) ,, ,, पञ्चमी को ऋषियों की जयन्ती।
(२०) ,, ,, अष्टमी को नन्दा देवी जयन्ती
(२४) ,, ,, दशमी को दशावतार व्रत
(२५) ,, ,, द्वादशी को वामनावतार व्रत
(२६) ,, ,, चतुर्दशी को अनन्त जयन्ती (अहि वृत्र जयन्ती)
(२७) अश्विन कृष्ण पक्ष भर पितरों की जयन्ती—तिथियों में (महालय पक्ष)
(२८) ,, ,, अमावस्या पितृविसर्जन
(२९) ,, शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से नवमी तक नवरात्र—विष्णु दुर्गापूजा कुमारी पूजा
(३०) ,, ,, पञ्चमी को महा सरस्वती पूजन
(३१) ,, ,, दशमी को विजया दशमी (यात्रा) पशु बलिदान
(३२) ,, ;, चतुर्दशी को वाराही जयन्ती
(३३) ,, ,, पूर्णिमा को कोजागरी पूर्णिमा—महालक्ष्मी पूजन
(३४) कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को—धन्वन्तरि जयन्ती
(३५) ,, ,, चतुर्दशी को नरक चतुर्दशी; हनुमज्जयन्ती
(३६) ,, ,, अमावस्या को महालक्ष्मी जयन्ती दीपमालिका युक्त
(३७) ,, शुक्ल प्रतिपदा को गोवर्धन अन्नकूट जयन्ती
(३७) ,, ,, द्वितीया को यम जयन्ती
(३९) ,, ,, चतुर्दशी को वैकुण्ठ चतुर्दशी
(४०) ,, ,, एकादशी को हरि प्रबोधिनी एकादशी
(४१) ,, ,, पूर्णिमा को कार्तिकेय जयन्ती
(४२) मार्गशीर्ष कृ॰ अष्टमी को—काल भैरव जयन्ती
(४४) ,, शुक्ल पञ्चमी को राम विवाह दिन, बलदेव जयन्ती
(४४) माघ कृष्ण चतुर्थी को गणेश जयन्ती
(४५) ,, शुक्ल पञ्चमी को श्री पञ्चमी, नागेश्वरी जयन्ती
(४६) फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को जानकी जयन्ती
(४७) ,, ,, चतुर्दशी को शिव जयन्ती—महाशिवरात्रि

(४८) „ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा तक होलिकोत्सव
(४९) चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को बसन्तोत्सव
(५०) „ „ द्वितीया को होलिका सहभोज

सौर पर्व

(१) विषुवत्सङ्क्रान्ति (२) कर्क सङ्क्रान्ति (हरेला) (३) भाद्र संक्रान्ति या धृत संक्रान्ति (४) आश्विन्य संक्रान्ति (५) माघ संक्राति या उत्तरायणीय संक्रान्ति। वैशाख श्रावण कार्तिक और माघ के सोम वारों का व्रत। रवि मंगल वारों और प्रत्येक एकादशी प्रत्येक पूर्णिमा प्रदोष चतुर्दशी का व्रत। अमुक्ताभरण सप्तमी, दूर्वाष्टमी, (स्त्रियों के व्रत)। कार्तिक में आकाश दीप-दान। मलमास में अपूप दान। सत्यनारायण व्रत कथा। नवग्रह जप दान होम। पौष मास के रविवासरों का व्रत। सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण, अर्द्ध कुम्भ, पूर्ण कुम्भ, चारों धामों की यात्रा।

उक्त सभी पर्वों में जिसकी जयन्ती है उसकी पूजा की जाती हैं। गणेशादि को माला पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर, अर्घस्थापन करके सूर्यार्घ प्रदान भूतोत्सादन करके तत्तद् देवता आवाहस्नान पूजा धूप दीप नैवेद्य से किया जाता है; अन्त में अष्टोत्तर नाम से पूजा करके महानीराजन द्वारा कार्य समाप्त करते हैं। अधिकांश लोग गंगा स्नानादि देवदर्शन करके, इस दिन दिन भर व्रत करके सायं हलुवा पूरी मिठाई फल आदि अनेक व्यञ्जनों को खाकर त्यौहार के नाम से मनाते हैं। होली दीपावली जैसे त्यौहार तो कई दिनों तक मनाये जाते हैं। यद्यपि ये सभी की जयन्तियों के जन्म दिन हैं, पर योगीजन इस दिन भी तत्तद् देवता को अपनी समाधि में पुनर्जन्म देकर, सचमुच में इनके जन्मोत्सव को साकार रूप में अनुभूत करके मनाते थे। हरिशयिनी एकादशी को योगी योगनिद्रा में मस्त होकर बरसात भर अपनी समाधि में सोम की अतिवृष्टि से आप्लावित कर हरिबोधिनी को समाधि तोड़ते थे। दीपावली को रावण के दशमी के दिन बध होने पर, पूर्णोद्दीप्त समाधि के स्वरूप की देव दीप मालिका को बाहर भीतर दोनों ओर जागृत करते थे। होलिकोत्सव में समाधि बाधिका होलिका राक्षसी को ही समाधि में जलाकर पुनः आदित्य रूप विष्णु की ज्योति प्राप्ति की उन्मादकता से बाहर भीतर दोनों ओर मस्त रहते थे। यह नव वर्षारम्भ और नवर्तु प्रारम्भ से वसन्तोत्सव भी कहलाता है। होलिका शीतकाल की समाधि बाधक बाह्याकर्षक राक्षसी अग्नि है उसका भी यहाँ अन्त हो जाता हैं।